

विषय-सूची

| पृष्ठ-संख्या | पृष्ठ-संख्या |
|---|---|
| १-एक प्रार्थना ... ५ | १२-परमात्मा और जीवात्मा (श्रीआनन्दशंकर बापूसाई भुव, एम० ए०, प्रो० वाइस-चैन्सलर हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी) ... ५७ |
| २-ईश-स्तवन (आचार्य पं० श्रीमहावीरप्रसादजी हिवेदी) ... १ | १३-धार्मिक रहस्यवादकी श्रेणियाँ (प्रो० श्रीराधाकमल मुकर्जी एम० ए०, पी०एच० डी०, कलकत्ता विश्वविद्यालय) ... ५९ |
| ३-ईश्वरविषयक उपदेश [एक जिज्ञासुके साथ श्रीउदियाबाबाजीका ईश्वरविषयक सम्भाषण] ३ | १४-एकेश्वरवाद और शिव-विष्णु (पं० श्रीभवानी-शंकरजी महाराज) ... ६५ |
| ४-सत्त्व-रहस्य-मीमांसा (श्रीगोबर्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्री ११०८ श्रीशंकराचार्य श्रीभारती-कृष्ण तीर्थ स्वामीजी महाराज) ... ४ | १५-ईश्वर-निरूपण (परिचितवर श्रीबालकृष्णजी शर्मा) ६८ |
| ५-ईश्वर-सिद्धि (श्रीकाञ्ची-प्रतिवादि-अयंकर-मठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीभगवद्भामानुज-सम्प्रदायाचार्य श्री ११०८ श्रीभनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज) ... ११ | १६-प्राचीन धर्म और आधुनिक मन (साधु श्री टी० एल० बास्वानीजी) ... ७३ |
| ६-ईश्वर-तत्त्व (श्रीमन्माध्वसम्प्रदायाचार्य दार्शनिक-सार्वभौम, साहित्य-दर्शनाद्याचार्य, तर्कज्ञ, न्यायरक्ष गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री) ... १५ | १७-ईश्वर-प्रसंग (पं० श्रीविजयेश्वर भट्टाचार्य एम० ए०, प्रिंसिपल विश्वभारती, शान्ति-निकेतन) ... ७७ |
| ७-ईश्वरमें विश्वास (पं० श्रीगोपीनाथजी कबिराज एम० ए०, प्रिंसिपल गवर्नमेण्ट-संस्कृत-कालेज, काशी) ... १७ | १८-भगवत्-सिद्धान्त (श्रीकृष्णप्रेमजी मिश्राजी) ८१ |
| ८-जगत्में सबसे उत्तम और ध्वरय ज्ञानमेयोग कौन है ? ईश्वर (महात्मना पं० श्रीमदन-मोहनजी मालवीय) ... ३२ | १९-ईश्वर क्यों और कौन ? (डा० श्रीभगवानदासजी एम० ए०, डी० लिट्, काशी) ... ९० |
| ९-ईश्वर-महिमा (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ... ४४ | २०-ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है (स्वामीजी श्रीभोलेश्वरजी) ... ८२ |
| (१) ईश्वर कल्पना नहीं भुव सत्य है । | २१-ईश्वर-चर्चा ('शिव') ... १०२ |
| (२) ईश्वरके दण्ड-विधानमें भी दया है । | २२-ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण (प्रो० श्रीफिरोज कावसजी दावर एम० ए०, एल०-एल० डी०) ११२ |
| (३) ईश्वर-प्रेम ही विश्वप्रेम है । | २३-ईश्वर भुव सत्य है (म० श्रीशान्करामजी विनायकजी) ... १२१ |
| १०-ईश्वर और उसकी प्राप्ति (श्रीआनन्दस्वरूपजी [साहेबजी महाराज] दयालबाग) ... ५४ | २४-ईश्वर और मधेश्वर (श्रीयुक्त शीरेन्द्रनाथ दत्त एम० ए०, बी० एल०, वेदान्ततरंग) ... १२३ |
| ११-ईश्वर (महात्महोबाध्याय डा० श्रीगंगाधरजी झा एम० ए०, डी० लिट्, ब्राह्म-चैन्सलर इकाहाबाद-यूनिवर्सिटी) ... ५६ | २५-पार्थिववादकी भयानकता (चौधरी श्रीरघुनन्दन-प्रसादसिंहजी) ... १२७ |
| † | २६-श्रीभगवान् और उनकी प्राप्तिके उपाय (पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ साम्बाळ) ... १३१ |

- २७-श्रीभगवद्-रहस्य (रायबहादुर राजा श्रीदुर्जन-
सिंहजी, जाबली) ... १४१
- २८-ईश्वर तर्क-सिद्ध है (आचार्यभक्त पं० श्रीविष्णु
वामन बापट शास्त्री) ... १५१
- २९-क्या ईश्वर तर्कसे सिद्ध हो सकता है ? (श्रीयुक्त
वेंकटाचलमूर्तिजी एम० ए०) ... १५६
- ३०-धनदाम (पं० श्रीरामनरेशजी त्रिपाठी) ... १६१
- ३१ जिन खोऱ्या तिन पाइया (भक्तवर श्रीयादवजी
महाराज) ... १६४
- ३२-ईश्वरकी ध्रुव सत्ता (पं० श्रीगणेशदत्तजी शास्त्री,
विद्यानिधि) ... १६६
- ३३-ईश्वर-शरणागति और प्रार्थना (श्रीराम-
दयाल मजूमदार एम० ए०, सम्पादक
'उत्सव') ... १७२
- ३४-ईश्वरका अस्तित्व ('सत्य') ... १८१
- ३५-ईश्वरवाद और समाज-धर्म (पं० श्रीसदा-
निधिजी शास्त्री मिडे, संस्थापक 'गीताधर्ममण्डल'
पूना) ... १८३
- ३६-ईश्वरप्रेम विना शान्ति असम्भव है (स्वामीजी
श्रीचिदाश्रमानन्दजी) ... १८३
- ३७-वर्तमानकाल और ईश्वर-स्मरण (ह० भ० श्री-
विनायकनारायण जोशी, नाना महाराज सायब) १८७
- ३८-जगदीश्वर वेदान्तसे ही प्रतिपाद्य है (पं०
श्रीआचार्यचार्यजी शास्त्री, वेदान्ततार्थ, वे०
शि०, वे० भू०, वि० र०) ... २०६
- ३९-आधुनिक अमीश्वरवाद (पं० श्रीलक्ष्मण
नारायणजी गर्डे) ... २१२
- ४०-ईश्वर कहाँ है कैसा है और कैसे मिल सकता
है ? (श्रीदिगम्बरदासजी कामत) ... २१६
- ४१-आत्मिकवाद अनिवार्य (म० श्रीनारायण स्वामी-
जी महाराज) ... २२१
- ४२-ईश्वर मानव-जातिके उद्धारक है (श्रीयुक्त
सदानन्दजी सम्पादक 'संसेत') ... २२३
- ४३-ईश्वर-प्रार्थनासे लाभ (बहिन श्रीकमलावती
जी पाण्डेय) ... २२८
- ४४-ईश्वर और इसका नाम (हरिमन्किपरायण
श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत) ... २२६
- ४५-प्रच्छन्न नास्तिकताका विस्तार (चतुर्वेदी पं०
श्रीद्वारकाप्रसादजी शर्मा) ... २३८
- ४६-ईश्वर-प्रार्थनामें सब आवश्यकताएँ पूर्ण हो
सकती हैं (डा० श्रीदुर्गाशंकरजी नागर,
सम्पादक 'कल्पवृक्ष') ... २४४
- ४७-आत्माके मरणधर्मे प्राप्य और पाश्चात्य
सिद्धान्त (श्रीमती जीन डिलेयर, हर्ट्स, हंगलण्ड) २४८
- ४८-ईश्वर ध्रुव सत्य है (साहिब्याचार्य पं०
श्रीरघुवर मिट्टूखालजी शास्त्री, काव्यतार्थ,
वेदान्ततार्थ, एम० ए०, एम० ओ० एल०) ... २५३
- ४९-ईश्वर-चतुर्बुद्धि (संन्यासी श्रीज्ञानानन्दजी उर्फ
श्रीजयराय योग) ... २५६
- ५०-भगवत्प्रेम (स्वामी श्रीरामदासजी) ... २६०
- ५१-ईश्वर क्या है ? (श्रीअर्जुन-एन्ट पी० होरविज, प्रो०
हयटकरालेज, न्यूयार्क) ... २६१
- ५२ नास्तिकवाद और आस्तिकवाद (श्रीयुक्तपी० एन०
जकरनारायण गुप्ते बी० ए०, बी० एल०, मद्रास) २६२
- ५३-नाम-सहिमा (प्रो० श्रीशंकरराव, बी०, टाडकर) २६७
- ५४-ईश्वरकी सत्ता (दण्डिस्वामी श्रीसहजानन्दजी
मरस्वामी) ... २७५
- ५५ प्रभुका निवास (प्रो० श्रीजयेंद्रराव भगवानलाल
दुरवाल एम० ए०) ... २८०
- ५६-ब्रह्मकी अखण्ड सत्ता (स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी) २८२
- ५७-मिश्रदेशीय मन्त मेकेरियस (फादर बी०
एल्विन मरोदथ) ... २८८
- ५८-ईश्वरके नामकी महिमा (पं० श्रीजगन्नाथ-
प्रसादजी चतुर्वेदी) ... २९२
- ५९-श्रीमद्भगवत्प्रेम और ईश्वर (पं० श्रीगुरुप, तमजी
शर्मा चतुर्वेदी, साहिब्याचार्य) ... २९३
- ६०-नवमष्टा (श्रीबालकृष्णजी बलदुवा, बी० ए०) २९६
- ६१-कल्याणका मार्ग (जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी
श्रीशीतलप्रसादजी) ... २९६
- ६२-प्रकृतिमें परमेश्वर (रेवेरेण्ड श्रीथर्ष ई० सैस्ली) ३०१
- ६३ ईश्वर नहीं तो कुछ नहीं (माधु आर्टोलेस्टॉथ,
अन०-श्रीकाशीनाथ नारायणजी शिबेदी) ... ३०३
- ६४-दर्शनमें ईश्वर (स्वामीजी श्रीदयानन्दजी) ... ३०४
- ६५-वेद और ईश्वर (पं० श्रीपाद रामोदर
सातनलेकर, सञ्जालक 'स्वाध्यायमण्डल') ... ३१४

- ६६-वैदिक संहिताओंमें ईश्वर का पुरुष (श्रीमद्भज-
देवजी शास्त्री, एम० ए०, डि० फिल, ऑक्सन) ३२०
- ६७-वेदान्तके भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंके अनुसार ईश्वर-
का स्वरूप (श्रीयुक्त श्रीधर मजूमदार एम० ए०) ३२२
- ६८-वेदमें ईश्वर (प्रो० पं० श्रीकृष्णशचन्द्र चट्टो-
पाध्याय, प्रयाग-विश्वविद्यालय) ... ३२४
- ६९-पुराणोंमें ईश्वर (श्री बी० आर० रामचन्द्र
दीक्षितार एम० ए०, मद्रास) ... ३२६
- ७०-पुराण और ईश्वर (पं० श्रीकृष्णदत्तजी
भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, बी० ए०) ... ३२८
- ७१-वेदोंमें ईश्वर (श्रीबामुदेवशरणजी अग्रवाल
एम० ए०, एल०-एल० बी०) ... ३३०
- ७२-द्वैतवादमें ईश्वर (आचार्य श्रीअनन्तलालजी
गोस्वामी) ... ३३२
- ७३-नैयायिकोंके ईश्वर (पण्डितवर श्रीपञ्चाननजी
नरकरन) ... ३३५
- ७४-श्रीमद्भगवद्गीताके ईश्वर (श्री एम० एन०
नाटपत्राकर एम० ए०, गुना) ... ३४१
- ७५-उपनिषद् और ईश्वर (श्रीमहानन्दजी मिश्र, न्ना-
लंकार, आयुर्वेदमार्तण्ड) ... ३४३
- ७६-साम्प्रत्यम ईश्वरवाद (डॉ० श्रीयशमन्त्रकुमार मजूम-
दार एम० ए०, पी०-एच० डी०, बार-एट-ला) ३४०
- ७७-योगदर्शनमें ईश्वर (पं० श्रीलक्ष्मीधरजी
वाजपेयी) ... ३४४
- ७८-हिन्दू-धर्ममें ईश्वर (सर सर्वोपली राधाकृष्णन्,
केटी०, डी०-लिट्, वाइस-चान्सेलर, बाम्बे-
विश्वविद्यालय) ... ३४८
- ७९-बौद्ध-धर्म और ईश्वरवाद (मिस्त्र श्रीमोपेन शाकु-
जापान) [स० और प्रो० सतीशचन्द्र गुह] ... ३५२
- ८०-ईसाई-धर्ममें ईश्वर (श्रीयुक्त एड्विन ग्रोस,
इंग्लैण्ड) ... ३५८
- ८१-बौद्ध-धर्ममें ईश्वर-भाव (श्रीगंगाधरमल्लालजी
खन्ना, मन्त्री भारतीय बौद्ध-मंड) ... ३६३
- ८२-इस्लाम-धर्ममें ईश्वर (जैयद काविसअली
बिशारद, साहिबगलंकार) ... ३७४
- ८३-मिथ-धर्म और ईश्वरवाद (श्रीज्ञानी लाल-
सिंहजी बी० ए०, अनु०-श्रीगुणदत्तजी स्वशा) ३७६
- ८४-थियोसोफीमें ईश्वर (श्रीमती मोफिया वाडिया) ३७८

- ८५-जूरथोरनी-धर्ममें ईश्वरवाद (प्रिंसिपल श्री एच०
ओ० एम० तारापुरवाला बी० ए०, पी०-एच०
डी०, बार-एट-ला) ... ३८३
- ८६-बौद्ध-धर्ममें ईश्वर (काव्यतीर्थ प्रो० श्रीलौट-
मिहजी गौतम, एम० ए०, एल० डी०, एम०
आर० ए० एम०) ... ३९०
- ८७-श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदायमें परमेश्वर
(दार्शनिकपञ्चानन, पंडितनाचार्य, न्याय वैशेषिक
शास्त्री पं० श्रीकृष्णवल्लभाचार्य स्वामिनारायण) ३९५
- ८८-प्रकृतिवादकी बुद्धियाँ (प्रोफेसर श्रीमोहनलालजी
आत्रेय एम० ए०, डी० लिट्) ... ३९७
- ८९-विज्ञान और ईश्वरका अस्मिन्व (श्रीगणेशजी एम०
ए०, बी० एम०-बी०) ... ४००
- ९०-विज्ञान और ईश्वर (श्रीबामुदेवशरणजी एम०
ए०) ... ४०५
- ९१-विज्ञानशास्त्रके ईश्वर (पं० श्रीशारदाप्रसादजी
मिश्र 'औपनिषद्' काव्योपनिषद्भाष्यकरणवेदान्त-
मीमांसातर्कपुराणदीप) ... ४०८
- ९२-ईश्वर-दर्शन (शुद्धादेवभूषण दे० ए० श्री-
रमानाथजी शास्त्री) ... ४११
- ९३-परमाण्वाका अस्मिन्व (आचार्य श्रीजि०-चन्द्रनाथ
ठाकुर) ... ४१६
- ९४-ईश्वर सब भूतोंके सुख (श्रीधनन्तराय
कोल्हटकर बी० ए०) ... ४१८
- ९५-शक्ति और शिव (पं० श्रीगौरीशंकरजी
द्विवेदी, साहित्यरत्न) ... ४२०
- ९६-ईश्वरके नाम पत्र (मुंशी श्रीकन्हैयालालजी
एम० ए०, एल०-एल० बी०, एडवोकेट) ... ४२४
- ९७-ईश्वर (पं० आहलमानजी शर्मा) ... ४२५
- ९८-ईश्वरका साक्षात्कार और नाम-विज्ञान
(स्वामीजी श्रीपुष्पसामन्तजी महाराज) ... ४२८
- ९९-ईश्वरीय सत्ता (श्रीपावाजी महाशय) ... ४३१
- १००-ईश्वर निगकार और गायत्रि दोनों के स्वामी
श्रीहरिनामदासजी उद्गात्री) ... ४३०
- १०१-मेरा ईश्वर (पं० श्रीदेवशर्मा 'अभय' गिलालंकार,
आचार्य गुरुकुल-विश्वविद्यालय, कांगड़ी) ... ४३३
- १०२-ईश्वर अनन्त है (पं० श्रीगंगाप्रसादजी महता
एम० ए०) ... ४३४

| | |
|---|-----|
| १०३-ईश्वर-सिद्धि (रावबहादुर श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य, एम० ए०, एल-एल० बी०) ... | ४३६ |
| १०४-स्वराज्य (स्वामीजी श्रीप्रज्ञानपादजी महाराज) | ४३८ |
| १०५-ईश्वर-स्वरूप (स्वामीजी श्रीसर्वदानन्दजी महाराज) ... | ४४० |
| १०६-ईश्वर प्रत्यक्ष हैं (स्वामीजी श्रीसोमतीर्थजी महाराज) ... | ४४२ |
| १०७-भगवान् मेरे बगीचेमें (श्रीयुत मोर्टन अलेक्जेंडर सम्पादक ह्यमानिटी, अमेरिका) | ४४३ |
| १०८-कर्मफल ईश्वराधीन (पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ) ... | ४४४ |
| १०९-ईश्वर-समर्पण (रूसी ऋषि श्रानिकोलस रॉयरिक) ... | ४४७ |
| ११०-आन्तरिक ज्योति (धर्मपत्नी स्व० जेम्स एलन) | ४४९ |
| १११-ईश्वर-मीमांसा (श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया) | ४५२ |
| ११२-ईश्वर अतर्क्य है (श्रीनृसिंहदासजी वर्मा) | ४५६ |
| ११३-ईश्वरकी महिमा (श्रीभगवानदासजी हालना) | ४६० |
| ११४-दशावतार (एक प्रेमी महाशय) ... | ४६३ |
| ११५-लोग ईश्वरको क्यों भुले जा रहे हैं ? (कु० श्रीनिवासदासजी पोद्दार) ... | ४६६ |
| ११६-ईश्वरके अटल विश्वासो भक्त (प्रि०—पं० श्री-नन्दकिशोरजी शुक्ल वाणीभूषण) ... | ४६६ |
| ११७-ईश्वर और परमेश्वरका स्वरूप (आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी) ... | ४७१ |
| ११८-ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धि (पं० श्रीमदन-मोहनजी शास्त्री, प्रिन्सिपल मारवाडी-संस्कृत-कालेज, काशी) ... | ४७४ |
| ११९-सब ईश्वर ही हैं (बाबा श्रीमाधवानन्दजी) | ४८० |
| १२०-भक्तकी परख ... | ४८० |
| १२१-ईश्वर-भक्ति (पं० श्रीगयाप्रसादजी शास्त्री 'श्रीहरि') ... | ४८१ |
| १२२-भक्तके भगवान् (भट्ट श्रीमथुरानाथजी शास्त्री, साहित्याचार्य) ... | ४८४ |
| १२३-ईश्वर-प्रेमकी विभिन्न अवस्थाएँ (पं० श्रीप्रभु-दत्तजी ब्रह्मचारी) ... | ४८३ |
| १२४-पुकार (श्रीमती यशोदादेवी धर्मपत्नी मं० बन्हेयालालजी एडवोकेट) ... | ४९० |

| | |
|---|-----|
| १२५-दार्शनिक विचारोंका केन्द्र ईश्वर (म० श्रीरघुवर/आचार्यजी वेदान्तकेसरी, न्याय-मोमांयोपाध्याय, सर्ववेदान्ततीर्थ, वेदान्त-शिरोमणि, दर्शननिधि) ... | ५०५ |
| १२६-ईश्वरकी सत्ता, स्वरूप, स्थान, प्राप्तिके उपाय और फल (पं० श्रीबानूनामजी शुक्ल पद्यार्थवाचस्पति) ... | ५०६ |
| १२७-जीव और ईश्वर (डा० एच० डब्ल्यू० बी० मोरेनो एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट्, एम० एल० सी०) ... | ५०८ |
| १२८-ईश्वर एक है (श्रीमती आर० एम० सुबालक्ष्मी अम्मल बी० ए०, एल० टी०) | ५११ |
| १२९-ईश्वर-प्राप्तिके उपाय ... | ५१३ |
| १३०-ईश्वर नहीं है, ऐसी बात न कहो (भिष्म श्री-गौरीशंकरजी महाराज) ... | ५१३ |
| १३१-प्रभा (श्री 'मोहन' जी) ... | ५१३ |
| १३२-अनीश्वरवादसे जगतका संहार (राजा बहादुर श्रीश्रीलक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगदेव एम० आर० ए० एम० पुरातत्व-विभाग, विद्या-वाचस्पति, टेक्सास) ... | ५१४ |
| १३३-ईश्वरके अस्तित्वका समर्थन (स्वामीजी श्रीतपोवनजी महाराज) ... | ५१५ |
| १३४-भगवान् (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ... | ५१७ |
| १३५-क्षमा-याचन, (सम्पादक) ... | ५१६ |

परिशिष्ट

| | |
|---|-----|
| १३६-प्रार्थना (श्री वियोगी हरिजी) ... | ५२२ |
| १३७-प्रडनावली ... | ५२३ |
| १३८-उत्तरावली ... | ५२४ |
| (१) स्वामी श्रीउडियाम्बामीजी महाराज | ५२४ |
| (२) स्वामी श्रीअव्युत्तमुनिजी महाराज | ५२९ |
| (३) स्वामी श्रीनिर्मलानन्दजी महाराज | ५३० |
| (४) स्वामी श्रीहरिबाबाजी महाराज | ५३३ |
| (५) ब्रह्मचारी श्रीरामशरणदासजी | ५३४ |
| (६) स्वामी श्रीविज्ञानपुरीजी महाराज | ५३५ |
| (७) स्वामी श्रीअनन्ताश्रमजी महाराज | ५३५ |
| (८) स्वामी श्रीचिदानन्दजी महाराज | ५३६ |
| (९) एक साधक महाशय | ५३६ |

| | | |
|--|-----|-----|
| (१०) सुलको चौईबाजे महात्मा | ... | २३७ |
| (११) स्वामी परमहंसजी, राजघाट | ... | ५३८ |
| (१२) स्वामी श्रीभक्तानन्दजी महाराज | ... | २३८ |
| (१३) स्वामी श्रीलक्ष्मणसिंहजी | ... | २३९ |
| (१४) श्रीउवाकालिंहजी | ... | ५३६ |
| (१५) स्वामी श्रीभोलेबाबाजी | ... | २४२ |
| (१६) पण्डितप्रवर श्रीपञ्चाननजी तर्करत्न | ... | ५४४ |
| (१७) रमण महर्षि | ... | २४६ |
| (१८) श्रीजयदयालजी गोयन्दका | ... | ५४७ |
| (१९) श्रीपरमहंस बाबा श्रीभवघविहारी- दासजी महाराज त्रिवेणीबाँध | ... | ५५१ |
| (२०) श्रीआनन्दस्वरूपजी 'साहबजी महाराज' | ... | २५२ |
| (२१) श्रीशोभितजी | ... | २५३ |
| (२२) गङ्गातीर-निवासी सरल | ... | २५८ |
| (२३) स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी 'कैलासाश्रम' | ... | २६६ |
| (२४) स्वामीजी श्रीकेशवानन्दजी अवधूत | ... | ५७२ |
| (२५) स्वामीजी श्रीकल्याणदेवजी | ... | ५७४ |
| (२६) स्वामी श्रीनिर्वाणप्रकाशजी | ... | ५७५ |
| (२७) स्वामी श्रीब्रह्मकेतुजी उदासीन | ... | ५७६ |
| (२८) रावबहादुर लाला श्रीसीतारामजी बी० ए० | ... | २७७ |
| (२९) महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषण | ... | ५८२ |
| (३०) सर लल्लुभाई साँवलदास | ... | २८२ |
| (३१) स्वामी श्रीअभेदानन्दजी, अप्यक्ष श्रीराम- कृष्ण-वेदान्तभाष्य | ... | २८३ |
| (३२) श्रीआनन्दधनरामजी | ... | २८४ |
| (३३) रावबहादुर श्रीचिन्तामणि विनायक बैद्य एम० ए०, एल०-एल० बी० | ... | ५८६ |
| (३४) डा० तारापद चौधरी एम० ए०, पी- एच० डी० | ... | २८७ |
| (३५) श्रीयादवजी महाराज, बम्बई | ... | २९० |
| (३६) पण्डितवर श्रीमायारामजी वेदान्ततीर्थ | ... | २९१ |
| (३७) स्वामी श्रीशिवानन्दजी | ... | २९२ |
| (३८) श्री-श्रीभीमचन्द्र चटर्जी बी० ए०, बी० एल०, बी० एस्-सी०, एम० आइ० इ० इ०, एम० आइ० इ० | ... | २९७ |
| (३९) श्रीनलिनीमोहन सान्याल एम० ए० | ... | ६०३ |
| (४०) श्रीप्रज्ञानपादजी | ... | ६०४ |

| | | |
|--|-----|-----|
| (४१) इ० म० पं० लक्ष्मण रामधन्द पाङ्कारकर बी० ए०, सम्पादक 'सुमुख' | ... | ६०५ |
| (४२) पं० श्रीमदनमोहनजी शास्त्री, प्रि० भारवाड़ी-संस्कृत-कालेज, काशी | ... | ६०६ |
| (४३) स्वामी श्रीसत्यानन्दजी तीर्थ | ... | ६१० |
| (४४) श्रीमहम्मद हाफिज सय्यद एम०, खन्दन | ... | ६११ |
| (४५) श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार | ... | ६१२ |
| १३९-चित्र-परिचय | ... | ६१५ |

पद्य

| | | |
|--|-----|-----|
| १-प्रकल्पनीयकी कल्पना (पं० श्रीअयोध्या- सिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध' प्रो० हिन्दू- युनिवर्सिटी) | ... | १४ |
| २-जतलाओ निज प्यार (पं० श्रीरमाशङ्करजी मिश्र 'श्रीपति') | ... | ६७ |
| ३-गीत (श्रीसत्याचरणजी 'सत्य' एम० ए०, विशारद) | ... | ७० |
| ४-प्रभुके प्रति (श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त) | ... | ७८ |
| ५-प्रार्थना (श्रीनवीनसिंहजी चौहान 'कंज') | ... | १२० |
| ६-ईश्वरके प्रति (साहित्यरत्न श्रीश्यामनारायणजी पाण्डेय 'इयाम') | ... | १२० |
| ७-कौन ? (प्रेमयोगी मान) | ... | १३० |
| ८-बह (श्रीरमाकान्तजी त्रिपाठी 'प्रकाश') | ... | १४० |
| ९-मेरे मातािक ! (श्रीसत्यव्रतजी शर्मा 'सुजन' बी० ए०) | ... | १८० |
| १०-ईश्वर सर्वव्यापक है (पं० श्रीभगवतीप्रसादजी त्रिपाठी एम० ए०, एल०-एल० बी०) | ... | १८२ |
| ११-ईश्वर कौन है ? (पं० श्रीरामनारायणदासजी पाण्डेय व्या० शास्त्री 'राम') | ... | २१० |
| १२-ईश्वरकी महत्ता (साहित्यशास्त्री पं० श्रीजगन्नाथरायणदेवजी शर्मा 'विविधकर' विशारद) | ... | २११ |
| १३-ईश्वर-स्तवन (श्रीकृष्णलालजी विशारद 'हंस') | ... | २३७ |
| १४-कौन कहता है ईश्वर नहीं है ? (श्रीदयाशङ्करजी 'मगन') | ... | २४७ |
| १५-हे अनन्त ! (श्रीभवन्तविहारीजी माधुर) | ... | २५२ |
| १६-ईश्वरका स्वरूप (श्रीजगदीशजी भा 'विमल') | ... | २५८ |
| १७-छीला-लावण्य (पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी 'कविरत्न') | ... | २६८ |

| | |
|---|-----|
| १८-निर्मलरूप (श्रीदेवीप्रसादजी गुप्त 'कुसुमाकर' बी० ए०, एल० एल० बी०) ... | ३५२ |
| १९ जीवन-वेष्टि (पं० श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम') ... | ४३० |
| २०-हरि-नाम (पं० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र एम० ए०, एल० एल० बी०) ... | ४७३ |
| २१-साक्षरकार (पं० श्रीमोहनलालजी द्विवेदी बी० ए०) ... | ४८३ |
| २२-स्वीकृत (श्री 'बचन') ... | ४८० |

संगृहीत लेख और कविताएँ

| | | |
|---|-----|-----|
| १-प्रार्थना | ... | ३ |
| २-वैदिक प्रार्थना | ... | न |
| ३-महिमा और स्तुति | ... | मो |
| ४-हिन्दुओंकी प्रार्थना | ... | म |
| ५-बौद्धोंकी प्रार्थना | ... | हे |
| ६-जैनियोंकी प्रार्थना | ... | हे |
| ७-सिक्खोंकी प्रार्थना | ... | इ |
| ८-पारसियोंकी प्रार्थना | ... | इ |
| ९-ईसाइयोंकी प्रार्थना | ... | ग |
| १०-मुसलमानोंकी प्रार्थना | ... | रा |
| ११-ईश्वरागधन (आचार्य श्रीविजयकृष्णजी गोस्वामी) ... | ... | ३ |
| १२-उत्तम रहस्य (श्रीअरविन्द) ... | ... | ४१ |
| १३ ईश्वर-प्रार्थना (महात्मा गान्धीजी) ... | ... | ४२ |
| १४-हमारी प्रार्थना (विश्वकवि श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर) ... | ... | ४४ |
| १५-श्रीहरिनामसंकीर्तन (प्रभु जगद्विष्णु) ... | ... | ४६ |
| १६-परमेश्वर (स्वामी श्रीदयानन्दजी) ... | ... | ४६ |
| १७-ईश्वर-प्रेम (स्वामी रामतीर्थ) ... | ... | ७६ |
| १८-ईश्वर (श्रीगणेशजी परमहंस) ... | ... | ८० |
| १९-जीवामाकी परमात्माके लिये पुकार (श्रीयुक्त जे० टी० सण्डरलैण्ड डी० डी०) ... | ... | २४० |

| | |
|--|-----|
| २०-ईश्वरमें विश्वास (श्रीआरिसम मार्हन) ... | ४१६ |
| २१-ईश्वर-भक्ता (स्वामी श्रीविष्णुकानन्दजी) ... | ४६२ |
| २२-म० श्रीचन्द्रजी और बा० जहाँगीर (प्रेमक- श्रीसन्तप्रसादजी, माधुबेल) ... | ४१८ |
| २३-प्रार्थना (सं० श्रीरामनरसिंहजी हरलालका) ... | ४२२ |
| २४-अव्यक्त (गोलीकवामी पं० श्रीमत्य- नारायणजी 'कविरत्न') ... | ३१ |
| २५-बापजी (कबीरदासजी) ... | ८० |
| २६-ईश्वर-भक्ति (गो० श्रीतुलसीदासजी) ... | ८० |
| २७-श्यामकी सुमिरा (स्वामी हरिदासजी) ... | २४३ |
| २८-श्याम अगोचर (यारी साहेब) ... | २७४ |
| २९-पार उनाओ (नरसी मेहताजी) ... | २७६ |
| ३०-लाल रत्ना (सदानाजी कसाई) ... | २८१ |
| ३१-प्रभु-विश्वास (सुन्दरदासजी) ... | २८१ |
| ३२-विनती (हरिदासादिब सायबवाले) ... | २८७ |
| ३३-मन भगवानमें (जगजीवनसाहेब) ... | ३०२ |
| ३४-ईश्वर-विश्वास (पलटसाहिब) ... | ३०३ |
| ३५-रघुका आशिक (युक्लेशाह) ... | ३१६ |
| ३६-गोपालकी भजी (सूरदासजी) ... | ३२३ |
| ३७-भगवन्-प्रेम (दयाबाई) ... | ३४२ |
| ३८-साइयो (मीराबाई) ... | ३६१ |
| ३९-कालका और जानगा (गुलाबसाहबजी) ... | ३६४ |
| ४०-त्रिभुवन-कला (तुलनदासजी) ... | ३७२ |
| ४१-प्रेम-प्याला (बुल्ला साहेब) ... | ३७५ |
| ४२-मे दास हूँ (चरनदासजी) ... | ३८१ |
| ४३-भजन करो (सहजाबाई) ... | ३८४ |
| ४४-राम (रैदासजी) ... | ३८५ |
| ४५-साइबकी याद (गरीबदासजी) ... | ४१० |
| ४६-मिरजनहार साई (दादूदयालजी) ... | ४२७ |
| ४७-कल्याण-प्रार्थना ... | ४२१ |



चित्र-सूची

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

बहुरंगे

| | |
|----------------------------|-----|
| १-भगवदाराधन | ... |
| २-भगवान् श्रीकृष्णरूपमें | ... |
| ३-भगवान् मत्स्यरूपमें | ... |
| ४-भगवान् कूर्मरूपमें | ... |
| ५-भगवान् वराहरूपमें | ... |
| ६-भगवान् श्रीनृसिंहरूपमें | ... |
| ७-भगवान् वामनरूपमें | ... |
| ८-भगवान् परशुरामरूपमें | ... |
| ९-भगवान् श्रीरामरूपमें | ... |
| १० नन्दनन्दन | ... |
| ११-भगवान् बृद्धरूपमें | ... |
| १२-भगवान् कल्किरूपमें | ... |
| १३-श्रीविष्णु भगवान् | ... |
| १४-श्रीभगवान् शंकर | ... |
| १५-भगवान् शक्तिरूपमें | ... |
| १६-भगवान् राघवपतिरूपमें | ... |
| १७-भगवान् सूर्यरूपमें | ... |
| १८-भगवान् ब्रह्मारूपमें | ... |
| १९-भगवान् अग्निरूपमें | ... |
| २०-भगवान् दत्तात्रेयरूपमें | ... |
| २१-गायत्री देवी | ... |
| २२-श्वषि-आश्रम | ... |
| २३-मोरा | ... |
| २४-विश्वाम्नी भक्त ध्रुव | ... |
| २५-जगत्-चतुष्टय | ... |
| २६-प्रेमी भक्त मूरदास | ... |

सादे

| | |
|--------------------|-----|
| २७-महर्षि वेदव्यास | ... |
| २८-महर्षि पतञ्जलि | ... |
| २९-महर्षि कपिल | ... |
| ३०-महर्षि जैमिनि | ... |
| ३१-महर्षि कणाद | ... |
| ३२-महर्षि गौतम | ... |
| ३३-देवर्षि नारद | ... |

ऊपरका मुखपृष्ठ

| | |
|-----|-----|
| ... | ६० |
| ... | २४ |
| ... | ५६ |
| ... | ८० |
| ... | १०४ |
| ... | १२८ |
| ... | १६२ |
| ... | १७६ |
| ... | २०० |
| ... | २२४ |
| ... | २४८ |
| ... | २७२ |
| ... | २९६ |
| ... | ३२० |
| ... | ३४४ |
| ... | ३६८ |
| ... | ३९२ |
| ... | ४१६ |
| ... | ४४० |
| ... | ४६४ |
| ... | ४८८ |
| ... | ५१२ |
| ... | ५३६ |
| ... | ५६० |
| ... | ५८४ |

| | |
|-------------------------------------|-----|
| ३४-महर्षि शाण्डिल्य | ... |
| ३५-राजा जनक और शुक्रदेव मुनि | ... |
| ३६-भगवान् श्रीबलरामरूपमें | ... |
| ३७-महर्षि वाहमीकि | ... |
| ३८-भक्त-रक्षा | ... |
| ३९-श्रीशङ्कराचार्य | ... |
| ४०-आदर्श हिन्दू-नारी | ... |
| ४१-श्रीनामदेवजी | ... |
| ४२-श्रीरामानुजाचार्य | ... |
| ४३-श्रीवैष्णवाचार्य | ... |
| ४४-श्रीमध्वाचार्य | ... |
| ४५-श्रीनिम्बार्काचार्य | ... |
| ४६-चैतन्य महाप्रभु | ... |
| ४७-स्वामी नित्यानन्द | ... |
| ४८-अर्द्धताचार्य | ... |
| ४९-भक्त हरिदास | ... |
| ५०-स्वामी श्रीगमानन्दजी | ... |
| ५१-श्रीकबीर साहेब | ... |
| ५२-गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी | ... |
| ५३-श्रीपयहाराजी और पृथ्वीराज | ... |
| ५४-श्रीजानेश्वर | ... |
| ५५-श्रीणकनाथ | ... |
| ५६-श्रीतुकाराम | ... |
| ५७-समर्थ श्रीरामदासजी | ... |
| ५८-गुरु नानकजी | ... |
| ५९-श्रीश्रीचन्द्रजी | ... |
| ६०-श्रीगुरु गोविन्दसिंहजी | ... |
| ६१-वनखण्डजी | ... |
| ६२-स्वामी रामतर्कजी | ... |
| ६३-स्वामी सहजानन्दजी (स्वामिनारायण) | ... |
| ६४-स्वामी मंगलनाथजी | ... |
| ६५-स्वामी मियागामजी | ... |
| ६६-श्रीरामकृष्ण परमहंस | ... |
| ६७-श्रीश्रीप्रभु जगद्गुरु | ... |
| ६८-स्वामी श्रीविवेकानन्द | ... |
| ६९-श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी | ... |

| | |
|-----|------|
| ... | ९६ |
| ... | १२० |
| ... | १६० |
| ... | १७८ |
| ... | २०८ |
| ... | २२८ |
| ... | २४८ |
| ... | २६८ |
| ... | २८८ |
| ... | ३०८ |
| ... | ३२८ |
| ... | ३४८ |
| ... | ३६८ |
| ... | ३८८ |
| ... | ४०८ |
| ... | ४२८ |
| ... | ४४८ |
| ... | ४६८ |
| ... | ४८८ |
| ... | ५०८ |
| ... | ५२८ |
| ... | ५४८ |
| ... | ५६८ |
| ... | ५८८ |
| ... | ६०८ |
| ... | ६२८ |
| ... | ६४८ |
| ... | ६६८ |
| ... | ६८८ |
| ... | ७०८ |
| ... | ७२८ |
| ... | ७४८ |
| ... | ७६८ |
| ... | ७८८ |
| ... | ८०८ |
| ... | ८२८ |
| ... | ८४८ |
| ... | ८६८ |
| ... | ८८८ |
| ... | ९०८ |
| ... | ९२८ |
| ... | ९४८ |
| ... | ९६८ |
| ... | ९८८ |
| ... | १००८ |

| | पृष्ठ-संख्या | | पृष्ठ-संख्या |
|--------------------------------|--------------|----------------------|--------------|
| ७०-स्वामी विशुद्धानन्द | ... | ४३३ ८२-सुकरात | ... |
| ७१-स्वामी भास्करानन्द | ... | ४३३ ८३-उमसेन | ... |
| ७२-तैलङ्ग स्वामी | ... | ४३३ ८४-टोलन्टोय | ... |
| ७३-सिद्धारूढ़ स्वामी | ... | ४३३ ८५-जेम्स एलन | ... |
| ७४-याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी | ... | ४५६ ८६-मक्त-वन्सलता | ... |
| ७५-श्रेयार्थी नचिकेता और यमराज | ... | ४५६ ८७-सेंट फ्रांसिस | ... |
| ७६-ईश्वरचन्द्र विद्यासागर | ... | ४८८ ८८-सेंट लुई | ... |
| ७७-प्रेमन्द्रनाथ ठाकुर | ... | ४८८ ८९-सेंट कैथरिन | ... |
| ७८-स्वामी दयानन्द | ... | ४८८ ९०-सेंट एलिजाबेथ | ... |
| ७९-केशवचन्द्र सेन | ... | ४८८ ९१-सेंट गेयो | ... |
| ८०-महात्मा ईसा | ... | ५०४ ९२-सेंट टरेसा | ... |
| ८१-महात्मा ज्ञानयोग | ... | ५०४ ९३-गज-उद्धार | ... |



ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।

कल्याणयानमधिरूढ्य बलेन यस्याश्चेतः कथं शरणमेषि न भक्तिमेनाम् ॥

वर्ष ७

गोरखपुर, श्रावण १९८९ अगस्त १९३२

मंगल्या १
पूर्ण संख्या ७३

ॐ विश्वानि देव सवितर
दुरितानि परासुव
यद् भद्रं तन्न आसुव

वैदिक प्रार्थना

ॐ वाचो मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविशामी एधि वेदस्य
म आणीस्थः, श्रुतं मे मा प्रहामीरनेनाधीतेनाहोगत्रात्मन्दधाम्यृतं वदिष्यामि ।
सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु माम् । अवतु वक्तारमवतु
वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ (ऋग्वेदीय शान्तिपाठ)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमवाव-
शिष्यते ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ (शुक्ल यजुर्वेदीय शान्तिपाठ)

ॐ मह नाववतु ॥ मह नो भुनक्तु ॥ मह वीर्यं कर्वावहै ॥ तेजस्य नाव-
धीतमस्तु, मा विद्विषावहै ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ (कृष्ण यजुर्वेदीय शान्तिपाठ)

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च
सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निगकरोदनिगकर्ण-
मस्त्वनिराकरणं मे अस्तु । तदान्मनि निगते य उपनिषन्तु धर्मास्ते मयि सन्तु ते
मयि सन्तु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ (सामवेदीय शान्तिपाठ)

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥ स्थिरैर्गङ्गैस्तुष्टु-
वांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः ॥ स्वस्ति नः पूषा
विश्ववेदाः ॥ स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः ॥ स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥ (अथर्ववेदीय शान्तिपाठ)

ॐ मधुवाता क्रतायते, मधु क्षरन्ति मन्धवः । माध्वीनः सन्त्वोपर्धाः ।
मधुनक्तमुतोषशो ॥ मधुमत् पार्थिवं रजः । मधु द्यौरस्तु नः पिता मधुमान नो
वनस्पतिः मधुमानस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ (ऋग्वेद १ । १ । १८)

ॐ यो देवाऽग्नौ योऽप्यु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।

य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥ (अथर्ववेद २ । १७)

महिमा और स्तुति

ॐ सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिः सर्वतः स्पृत्वात्यतिष्ठद्वाङ्मुलम् ॥

(पु० सू० १)

पुरुष एवेदः सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।

उतामृतत्वस्थे शानो यश्चेन्नातिरोहति ॥

(पु० सू० २)

एतावानस्य महिमाऽनो ज्यायांश्च पूरुषः ।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिधि ॥

(पु० सू० ३)

एको देवः सर्वभूतेषु गृहः

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः

साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ॥

(श्वेता० ६।११)

एको वशी निष्कियाणां बहना-

मेकं योजं बहूना यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-

स्तेषां मुग्धं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

(श्वेता० ६।१२)

नित्यो नित्यातां चेतनश्चेतनाना-

मेको बहनां यो विदधाति कामान् ।

तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपादोः ॥

(श्वेता० ६।१३)

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा

रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

(काठ० २।५।९)

यश्च किञ्चित् जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।

अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥

(नारायणोपनिषद्)

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।

सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥

(श्वेता० ३।११)

सूर्याद्भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु ।

सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च ॥

(सूर्योपनिषद्)

यस्याः परतरं नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता ।

प्रपद्ये शरणं देवीं दुर्दुर्गे दुरितं हर ॥

(देव्युपनिषद्)

आविर्भूतं च सृष्ट्यादौ प्रकृतेः पुरुषात्परम् ।

एवं ध्यायति यो नित्यं स योगी योगिनां वरः ॥

(राणपद्मोपनिषद्)

राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः ।

राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम् ॥

(राम० २० उ०)

निष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धवैरिणे ।

अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥

(गो० पू० ता०)

अहं हरे तव पादिकमूल-

दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।

मनः स्मरेतामुपतेर्गुणांस्ते

गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥

अज्ञानपक्षा इव मातरं स्वगाः

स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधाताः ।

प्रियं प्रियेव व्युपितं विपण्णा

मनोऽरविन्दाश्च दिदृक्षन्ते त्वाम् ॥

(श्रीमद्भा० ६।११।२४, २६)

त्वं त्रयाणां हि लोकानामादिकर्ता स्वयंप्रभुः ।

सिद्धानामपि साध्यानामाश्रयश्चासि पूर्वजः ॥

दृश्यसे सर्वभूतेषु गोषु च ब्राह्मणेष्वा च ।

दिक्षु सर्वासु गगने पर्वतेषु नदीषु च ॥

(वा० रा० यु० १।१०।२०।२२)

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराण-
स्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया तत् विश्वमनन्तरूप ॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्यः
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ११।३८, ३९)

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्विभ्रते
दैत्यान् दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमानन्वते
म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिहृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥
यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्बर्दैः साङ्गपदक्रमोपनिषद्गौरयन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनी
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मोति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्मेति नैयायिकाः ।
अहंनित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं नो विद्वान्तु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे ।

काको नाम पतितपावन जग, केहि अति दीन पियारे ॥
कौनै देव बराइ बिरदहित, हठि हठि अघम उधारे ॥
खग, मृग, व्याघ्र, पशान, विटप जड़, जवन कवन मुर तारे ॥
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज सब मायाविवस बिचारे ॥
निनके हाथ दास तुमसी प्रभु, कहा अपन पै हारे ॥

प्रभु मोरे अबहुन चित न परे ।

समदरसा है नाम तिहारो चाहे तो पाग करो ॥
इक नदिया इक नार कहावत मैलोहि नीर भरो ॥
जब दोनों मिल एक बरन भये मुरसि नाम परे ॥
इक लोहा पत्रामे राखत इक घर अधिक परे ॥
पास गुन अवगुन नहि चितवै कंचन करत खरे ॥
यह माया भ्रमजाल कहवै मूरदास मिगरे ॥
अबकी बार माहि पार उतारे नहि प्रन जात टरे ॥

हिन्दुओंकी प्रार्थना

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ १ ॥
नमस्ते सते ते जगत्कारणाय
नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय ।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय
नमो ब्रह्मणे व्यापिते शाश्वताय ॥ २ ॥
त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं
त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम् ।
त्वमेकं जगत्कर्तृपातृप्रहर्तृ
त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम् ॥ ३ ॥
मयानां भयं भीषणं भीषणानां
गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकं
परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ॥ ४ ॥

जो स्वयं एवं ब्रह्माको रचने हैं तथा उनके लिये वेदों-
को प्रकाशित करते हैं, मैं मुमुक्षु हांकर आत्मबुद्धिसे
प्रकाशमान उन परम देवताके शरणापन्न होता हूँ ॥ १ ॥

हे जगत्के कारण सतत्स्वरूप परमात्मा, तुझे नमस्कार
हो । हे सर्व लोकोंके आश्रय, चिन्मस्वरूप, तुझे नमस्कार
हो । हे मुक्ति प्रदान करनेवाले शत्रुहन्तत्त्व, तुझे नमस्कार
हो । शाश्वत और सर्वव्यापी ब्रह्म, तुझे नमस्कार हो ॥ २ ॥

तुम्हीं एक शरणमें जाने योग्य अर्थात् आश्रयस्थान हो,
तुम्हीं एक पूजा करनेयोग्य हो । तुम्हीं एक जगत्के पालक
और अपने प्रकाशमें प्रकाशित हो । तुम्हीं एक जगत्के
कर्ता, पालक और संहारक हो । तुम्हीं एक निश्चल और
निर्विकल्प हो ॥ ३ ॥

तुम भयोंको भय देनेवाले हो, भयंकरमें भयंकर हो,
प्राणियोंकी गति हो और पावनोंको पावन करनेवाले हो ।
अत्यन्त उच्च पदोंके तुम्हीं नियन्त्रण करनेवाले हो, तुम
परसे पर हो, रक्षण करनेवालोंका भी रक्षण करनेवाले हो ॥ ४ ॥

धर्यं त्वां स्मरामो धर्यं त्वां भजामो
 धर्यं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः ।
 सदैकं निधानं निरालम्बमीशं
 भवाम्भोधिपोतं शरण्यं ब्रजामः ॥ ५ ॥

हम तुम्हारा स्मरण करते हैं, हम तुमको भजते हैं,
 हम तुम्हें जगत्के साक्षीरूपमें नमस्कार करते हैं । पृष्ठ-
 मात्र सत्स्वरूप निरालम्ब तथा इस भवसागरकी तरणिरूप
 ईश्वरके हम शरणमें जाते हैं ॥ ५ ॥

बौद्धोंकी प्रार्थना

नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।
 नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।
 नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासम्बुद्धस्स ।
 बुद्धं सरणं गच्छामि । धम्मं सरणं गच्छामि ।
 संघं सरणं गच्छामि ।
 दुनियम्पि बुद्धं सरणं गच्छामि ।
 दुनियम्पि धम्मं सरणं गच्छामि ।
 दुनियम्पि संघं सरणं गच्छामि ।
 ततीयम्पि बुद्धं सरणं गच्छामि ।
 ततीयम्पि धम्मं सरणं गच्छामि ।
 ततीयम्पि संघं सरणं गच्छामि ।
 पाणानिपाता वेरमणी सिक्खापदम् समादियामि ।
 अदिन्नादाना वेरमणी सिक्खापदम् समादियामि ।
 कामेसु मिच्छाचागा वेरमणी
 सिक्खापदम् समादियामि ।
 मुत्तावादा वेरमणी सिक्खापदम् समादियामि ।
 सुरा-मेरय-मज्जा-पमा-दद्वाना
 वेरमणी सिक्खापदम् समादियामि ।

‘पूर्ण प्रज्ञ, अहंन्, भगवान् (बुद्ध) को नमस्कार हो ।
 पूर्ण प्रज्ञ, अहंन्, भगवान् (बुद्ध) को नमस्कार हो । पूर्ण
 प्रज्ञ, अहंन्, भगवान् (बुद्ध) को नमस्कार हो । मैं बुद्धके
 शरणमें जाता हूँ, धर्मके शरणपक्ष होता हूँ, संघके शरणमें
 जाता हूँ । द्वितीय बार मैं बुद्धके शरणपक्ष होता हूँ, धर्म-
 के शरणमें जाता हूँ, संघके शरणमें जाता हूँ । तीसरी बार
 मैं बुद्धके शरणपक्ष होता हूँ, धर्मके शरणमें जाता हूँ,
 संघके शरणमें जाता हूँ ।’ मैं जीवकी हिंसा न करनेकी
 प्रतिज्ञा करता हूँ । मैं उस वस्तुके न लेनेकी प्रतिज्ञा करता
 हूँ, जो मुझे न दी गयी हो । कामनाओंमें मिथ्याचरण न
 करनेकी मैं प्रतिज्ञा करता हूँ । असत्य वचनमें बचनेकी मैं
 प्रतिज्ञा करता हूँ । मैं सुरा-मद्यादि मादक वस्तुओंमें बचने-
 की प्रतिज्ञा करता हूँ ।’

जैनियोंकी प्रार्थना

अरिहंत नमो भगवन्त नमो
 परमेश्वर जिनराज नमो ।
 प्रथम जिनेश्वर प्रेमे पेश्वन
 सिद्धं सप्रला काज नमो ॥
 प्रभु पारंगत परम महोदय
 अविनाशी अकलंक नमो ।
 अजर-अमर अद्भुत अतिशय निधि
 प्रवचन जलधि मयंक नमो ॥

सिद्ध बुद्ध तू जगजन सज्जन
 नयनानन्दन देव नमो ।
 सकल सुरासुर नरवर नायक
 सारे अहो निश सेध नमो ॥
 तू तीर्थकर सुखकर साहिब
 तू निःकारण बन्धु नमो ।
 शरणागत भविने हितवत्सल
 तू ही कृपास सिन्धु नमो ॥

केवल ज्ञानार्थी दर्शित
लोकालोक स्वभाव नमो ।
माशित सकल कलंक कलुषगण
दुःखित उपद्रव भाव नमो ॥
अगस्तिनामनि जगगुरु जगद्वित
कारक जगजन नाथ नमो ।

घोर अपार भयोद्धि तारण
तू शिवपुराणो साथ नमो ॥
अशरण शरण निराग निरंजन
निरुपाधिक जगदीश नमो ।
बोध दीप्त अनुपम दानेसर
ज्ञानविमल सूरेश नमो ॥

सिक्खोंकी प्रार्थना

एक ओं स्वतनाम कर्तापुरुष निर्मल निर्द्वै
अकाल मूरत अजुनी सैभं गुरुप्रसाद जप ।

आदि सच जुगादि सच है भी सच
नानक होसी भी सच ॥ वाह गुरु ॥

पारसियोंकी प्रार्थना

यानीम मनो यानीम वचो यानीम पयओथनेम
अयओनीनो जरथुश्त्रदे । फ्रा अमेया स्पेन्ता गाथाओ
गेयुरबाहन । नेमो वे गाथाओ अयओनीश ।

अहया यासा नेमइहा उस्तान—जस्तो रफेध्रहा
मइयैयुश मइदाओ पउरबीम स्पेन्तहा अपा
बिस्पेयैग पयओथना ।

बइहेउश सतुम मनइहो या पनेवीशा गेयूश्वा
उबांनेम । या पयओथनाम हाइतिम यइमइदे ।

अहुनवइतिम गाथाम अपोनिम अपहे रतुम
बइमइदे । अहुनवइतियाओ गाथियाओ हन्दाता
यइमइदे । येगहे हाताम आअत्येस्ते पइतिवेगहो
मइदाओ । अहुरो बइया अपत हचा याओंगहामचा ।

तास चा ताओसन्ना यइमइदे ।

नमस्त्वा यआरमेतीश जाय चा ।

नमस्त्वा यआरमेतीश जाय चा ।

नमस्त्वा यआरमेतीश जाय चा ।

अयोम बोहु बहेस्तम् अस्ति, उस्ता अस्ति,

अस्ता अहमइ लइयाह बहेस्ताह अयेम ।

पुरथात्मा जरथुरत्रके कर्म धन्य थे, वचन धन्य थे
और विचार धन्य थे । पवित्र (स्वर्गीय) आत्माओंने
धर्म-ग्रन्थोंका प्रकाश किया । हे दिव्य धर्म-ग्रन्थ ! तुम्हारा
हम स्तवन करते हैं ।

हे मज्द ! तुम्हारी अर्चना करने हुए हम तुम्हारी
कृपा-प्राप्तिकी अभिलाषा करते हैं और तुम्हारी ओर हाथ
बढ़ाये तुम्हारे दानशील आत्माके प्रसादके लिये प्रार्थना
करते हैं । हम अन्यन्त नम्रतापूर्वक विनती करते हैं कि
सबके प्रति हमारे कर्म सत्यभावनासे सम्पादित हों और
तुम्हारी उदारचित्तताके समझनेके लिये हम तुमसे करबड़
प्रार्थना करते हैं जिससे हम गौकी आत्माके प्रति श्रद्धा
दिखला सकें ।

हम पवित्र अहुनावद-गाथाकी श्रद्धापूर्वक स्मरण
करते हैं जो परम पावन है । अहुनावद-गाथाकी प्रार्थनाका
हम श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं ।

अपओथनेम नामक हा की हम उपासना करते हैं ।
पवित्रताके अधिष्ठातृ देवता दिव्य अहुनावद-गाथाकी हम
उपासना करते हैं । अहुनावद-गाथाकी प्रार्थनाकी हम
अर्चना करते हैं । हम उन नर-नारियोंका स्तवन करते हैं
जिन्हें अहुरमज्द (ईश्वर) ने पवित्रताके द्वारा उपासनामें
श्रेष्ठ माना है । पवित्रता सर्वोत्तम वस्तु है । आनन्द
उसको होता है जो पवित्रताके उद्देश्यसे ही पवित्र रहता है ।

ईसाइयोंकी प्रार्थना

Almighty God ! unto whom all hearts be open, all desires known, and from whom no secrets are hid; cleanse the thoughts of our hearts by the inspiration of Thy Holy Spirit, that we may perfectly love Thee, and worthily magnify Thy Holy Name. Through Christ our Lord. Amen.

O Lord Christ ! we Thy faithful soldiers dedicate this new-born day to Thee, praying that it may shine in Thy service as a pure pearl in the chaplet of our life, O Thou Great King of Love, to whom be praise and adoration for evermore. Amen.

Teach us, O Lord ! to see Thy life in all men and in all the peoples of Thine earth, and guide our Nation through its leaders to preserve Thy peace, that the menace of war be far from our days. Through Christ our Lord. Amen.

To the most Holy and Adorable Trinity, Father, Son and Holy Spirit, Three Persons in one God; to Christ our Lord, the only Wise Counsellor, the Prince of Peace; to the Seven Mighty Spirits before the Throne; and to the glorious Assembly of just men made perfect, the Watchers, the Saints, the Holy Ones, be praise unceasing from every living creature; and honour, might and glory, henceforth and for evermore. Amen.

The peace of God, which passeth all understanding, keep your hearts and minds in the knowledge and love of God, and of His Son Christ our Lord; and the blessing of God, Almighty, the Father, the Son, and the Holy Ghost, be amongst you, and remain with you always. Amen.

मुसलमानोंकी प्रार्थना

बिसमिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम ।

अल्लहुम्बोलील्लाहे रबिबल आल्मीन ।

अर्रहमानिर्रहीम । मालिके यौमिनीन ।

इय्याका ना' बदी व इय्याका नस्त' ईन ।

इह्देनस् सिरातलमुस्तकीम । सिरातलजीना

अन' अस्त' अल्लैहिम गैरिल मगदूबे' अल्लैहिम बलउज़्ज़ालीन । आमीन ।

सर्वशक्तिमान् प्रभु जो सबके हृदयको देखते हैं, सबकी अभिलाषाओंको जानते हैं और जिनसे कोई भी भेद छिपा नहीं है, अपने दिव्य आत्माकी प्रेरणासे हमारे हृदयके विचारोंको शुद्ध करें, जिससे हम प्रभुसे पूर्णतः प्रेम करें तथा प्रभुके पवित्र नामकी महिमा सदायत बढ़ावें । अपने प्रभु यीशुमसीहके द्वारा । आमीन ।

हे प्रभु यीशु ! हम तुम्हारे अक-संकिन इस नवजात दिवसको तुम्हें समर्पित करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि यह हमारे जीवनरूपी मालामें शुद्ध मुक्ताके समान तुम्हारी सेवामें प्रकाशित होवे । हे प्रेमके अधिराजा, तुम्हारा स्तवन और उपासना सदा-सर्वदा होती रहे । आमीन ।

हे प्रभु ! हमें शिक्षा दो कि सब मनुष्योंमें तथा तुम्हारी पृथ्वीके समस्त देशोंमें तुम्हारे जीवनको देखें; तथा हमारे राष्ट्रको इसके नेताओंके द्वारा अपनी शान्तिकी कायम रखनेके लिये सन्नाहित करो जिससे युद्धकी भीषणता हमसे दूर रहे । हमारे प्रभु यीशुमसीहके द्वारा । आमीन ।

पवित्रतम और पूज्य Trinity का— पिता, पुत्र और पवित्र आत्माका जो एक ही ईश्वरके तीन रूप हैं, शान्तिके राजकुमार, ज्ञानी, उपदेष्टा प्रभु यीशुका, प्रभुके सिंहासनके समीप सात शक्तिमान् आत्माओंका, रक्षकों, सन्तों और महारमाओंका सदा-सर्वदा प्रत्येक प्राणीके द्वारा स्तवन हो तथा अद्यावधि और सदा-सर्वदा उसकी शक्ति और ऐश्वर्यकी अभ्यर्थना हो । आमीन ।

ईश्वरीय शान्ति जो अविनश्य है, तुम्हारे हृदय और मनको ईश्वर तथा उसके पुत्र हमारे प्रभु यीशुके प्रेम और ज्ञानमें रत रखे । तथा सर्वशक्तिमान् परमपिता ईश्वर, पुत्र (यीशु) तथा दिव्य आत्माओंका आशीर्वाद (प्रसाद) तुमपर हो तथा सदा तुम्हारे साथ रहे । आमीन ।

दयालु, करुणामय प्रभुके नामपर अखिल विश्वके प्रभु, अगवान्की अभ्यर्थना हो । वह दयालु, करुणामय, धर्म-दिवसका अधिपति है । वही ज्ञानमय है, वही शक्तिमान् है । उस सत्यमें हमारा वृ मार्ग-प्रवर्त्तक बन, जो पथ तुम्हें रमण करनेवालोंका है; उनका नहीं है जो तुम्हें नहीं जानते तथा अभर्माचरण करते हैं ।

एक प्रार्थना



लीलामय ! तुम्हारी लीलाका रहस्य कौन जान सकता है ? कब तुम किस क्रीडामें रत रहते हो, और उससे संसारमें कैसे-कैसे अचिन्त्य परिवर्तन हो जाते हैं, इस बातको कोई भी नहीं जान सकता । आज जगत्में जो कुछ हो रहा है, इसका क्या परिणाम होगा और इस मेलका कब दूसरा दृश्य आयेगा, कोई नहीं कह सकता । कितना परिवर्तन हो गया ? विद्वान् कहलानेवाले लोग तुम्हें स्वीकार करनेमें भी सकुचाने लगे हैं । कुछ उच्चशिक्षित लोग तो तुम्हारा नाम ही मिटानेको कसर कसे हुए हैं । इधर अविश्वासी पुजारी प्रायः तुम्हारे नामपर लोगोंको ठगनेमें लगे हैं । मन्दिर, मठ, मस्जिद, आश्रम, गिर्जा, विहार, तीर्थ किसीमें भी आज वह पहले-सा सगल विश्वास नहीं दिग्यायी देता; कथा बाँचनेवाले दूसरोंको सिद्धान्त बतलाते हैं, पर खयं शंकाशील हैं; उपदेशक, आचार्य, सम्पादक, कवि और वक्ता लोगोंको ईश्वर, धर्म, कर्म, देशसेवा आदि जिन कार्योंके लिये बड़े-बड़े सुन्दर और जोशाले शब्दोंमें उत्साहित करते हैं, खयं उन्हीं कार्योंमें सच्चे हृदयसे कुछ भी करना नहीं चाहते, बल्कि अन्दर-ही-अन्दर विपरीत आचरण करते हैं । तुलसी-मूर, ज्ञानदेव-एकनाथ, कबीर-पलटू, मीरा-सहजो प्रभृति महान् आत्माओंकी कविताओं और भावनाओंसे बढ़कर कविता और भावनाका स्वरूप सामने रखवा जाता है, परन्तु उनका-सा हृदय आज कहीं ढूँढ़े भी नहीं मिलता; फिर भी कहा जाता है कि हमारी उन्नति हो रही है, क्रमशः हम विकासको प्राप्त हो रहे हैं; यह उन्नति या विकास देवी है या आसुरी, आत्माका है या अनात्माका, इस बातका निर्णय तो कौन करे, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि, यह सब तुम्हारी लीला है, तुम्हारे अभिनयका एक मीन है ।

खेलो, खूब खेलों, खिलाड़ी ! सबको अपने साथ खेलाने रहो, यही तो तुम्हारा काम है । आप ही 'सब कुछ' बनकर, आप ही सदा 'सब कुछ' को लेकर 'सब कुछ' में खेलने हो और अलग रहकर देखते भी रहते हो; तुम्हारे खेलमें क्यों विराम हो, नये-नये पदें पड़ने रहे, मान बदलने रहे, तुम्हारा लीला-प्रवाह सदा अविच्छिन्न गतिसे चलता रहे; इसमें हम क्यों आपत्ति करें ? तुम जबतक चाहो, हमें अपने संकल्पसे अलग कल्पितकर हमसे खेलते रहो, पर हमारी इतनी आँखें जरूर खोल दो कि तुम्हारे इस संकल्पके आधारपर टिके हुए अपने भिन्न अस्तित्वके सिवा शेष सब खेलोंमें, खिलाड़ियोंमें, सबमें सब समय केवल तुम्हारी ही छवि दीख पड़े, तुम और हम दो ही रह जायँ, तुम हमे जानो और हम तुम्हें, तुम हमें देखो और हम तुम्हें !

बस, यही एक प्रार्थना है !



ईशस्तवन

(केवलक—आचार्य पं० श्रीमहावीरप्रसादजी द्विवेदी)

आर्ति देव तव शक्तिरनन्तरूपा
व्यासा चराचरमेव भुवनत्रयेऽस्मिन् ।
तारापथे भुवि नरे च नरेक्षरे च
तोयेऽनले भक्ति मूढधपि साऽऽविरास्ते ॥

अगबन् ! आपकी शक्ति और सत्ताकी इच्छा नहीं ।
वह अनन्त है और इस चराचर त्रिभुवनमें अनेक रूपवाली
बनकर व्याप्त है । वह है कहाँ नहीं ? आग और पानीमें,
पृथ्वी और आकाशमें, नर और नरेक्षरमें, यहाँ तक कि मक्ख
(हवा) और क्षुत्तिकातकमें भी वह अपना काम कर रही है ।

पदमाभि तां भुवननायक मूढबाधे
दृष्टं हि नैकमपि वस्तु तवा विहीनम् ।
एतन्मुमुक्षुरहं मनसा विचिन्तय
पारं न मामि परमेश्वर ते महिम्नः ॥

भुवनेश्वर ! मैं तो उसे भूतमात्रमें विद्यमान देख रहा
हूँ । ऐसी एक भी तो वस्तु नहीं जिसमें आपकी शक्ति या
सत्ता न पायी जाती हो । परमेश ! इन्हीं सब बातोंका
विचार मन-ही-मन करके मैं हैराब हो रहा हूँ । आपकी
महिमा या महत्ताका ओर-ओर नहीं । मैं पामर भला
उसके पार कैसे जा सकता हूँ ? वह तो मेरे लिये सर्वथा
असम्भव है ।

लोकैकदीपकमणौ कुमणौ त्वदीयं
स त्वं चक्रास्ति क्षुलु यस्मिन्निरापह्नि ।
तस्यैव कोऽपि भुक्ताविप्रेते सर्वशो
रव्यारब्धः कलगायेव निराजतेऽनम् ॥

समस्त लोकोंके लिये देदीप्यमान दीपकका काम देने-
वाले जनकाद आत्माकर जिस दीलिके द्वारा त्रिलोकीका अन्धकार
दूर करते हैं वह उनकी निजकी चीज नहीं । वह तो उन्हें
आपहीने दी है, आपहीकी कृपासे वह उन्हें प्राप्त हुई है ।
परन्तु इससे कोई वह न समझे कि वह एकमात्र उनकी
हिस्सेमें पड़ी है । नहीं, आपकी वही दीप्ति, वही शक्ति,
वही सत्ता, अक्षय्य आपकी, गलियोंमें पड़े हुए रत्नःकर्मों-
तकमें भी व्याप्त है । ओह, आपकी सत्ता और कृपामत्ता
इसकी अक्षुब्ध !

न ब्रह्मणः स्वपरमेदमतिस्तव स्वात्
सर्वोत्पन्नः समदृशः क्षुत्तुक्षानुमूतेः ।
संसेवतां सुखरीरिणं ते प्रसादः
सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययेऽत्र ॥

वह अपना है, वह पराचा है—इसप्रकारकी भेद-
बुद्धि तो आपको छू ही नहीं गयी, उसका तो आपमें क्वलेश
भी नहीं । कारण वह कि आप तो परब्रह्म, अतएव सभीकी
आत्मा हैं, सभीमें आप व्यापक हैं । इसीसे तबवेत्ता आप-
को समदर्शी और स्वयं सुखानुभवकर्ता कहते हैं । रागादि
दोषोंके सम्पर्कसे आप सर्वथा अछूते हैं । तथापि आपकी
सर्वव्यापकता और समदर्शितामें एक विशेषता है । वह
वह कि जो आपकी सेवा करता है, जो अनन्यभावसे आपकी
शरण जाता है—उसीको आप, उसकी सेवाके अनुरूप कल्प-
वृक्षके सदृश फल देते हैं । उसे सेवानुरूप ही आपका
प्रसाद प्राप्त होता है । इसमें कदापि विपर्यय नहीं होता ।

युक्तं रिपौ सुहृदि वा समदर्शनस्य
दोषोद्धतेऽपि यदि ते हृदयं दयार्द्रम् ।
तत्सम्प्रतं गतिविहीनमनात्मनीनं
दीनं जनं प्रति कुतः कथमन्तेपः ॥

अगबन् ! आप समदर्शी हैं और समदर्शियोंका
व्या कर्तव्य होता है, वह तो आपको बतानेकी बात नहीं ।
उनके सम्मुख चाहे शत्रु या आच, चाहे मित्र । आत्म-
समर्पणभर वह कर दे । फिर चाहे उसने जितना भीषण
अपराध किया हो, चाहे उसमें बड़े-से-बड़े दोष ही क्यों
न हों । समदर्शियोंका हृदय तो, ऐसी दृशमें, ऐसोंपर
भी दयार्द्र ही हो जाता है । आपका हृदय भी ऐसा ही
है । तो फिर आप ही बताइये—क्या कारण है जो अब भी
आप सुख हीन, गतिविहीन और पुण्यहीन पामरपर कृपा नहीं
करते ? मेरे विषयमें आपको अपनी कृपाकी याद क्यों
नहीं आती ?

अम्बुहृजेऽयमश्विनैरमुतामुविम्वत्
स्वमिहसौ दिनमनेक्षितमिरप्ररोहः ।
मुष्मादश्विन कलगायुनिवेशकसाद्
अकटादशेऽश्विनैवविवीर्यं च ॥

आपके पास करुणाकी कमी तो है नहीं। छोटे-दो-छोटे या घड़े-दो-घड़ेकी तो बात ही नहीं; उसका तो अथाह सागर ही आपके विशाल हृदयमें छहरा रहा है। इस दृश्यामें स्वामिन् ! यदि आप मुझे उसका एक कण या एक बूँदतक पानेका पात्र या अधिकारी न समझकर मुझ निःशरण और निराश्रय जनका तिरस्कार करेंगे तो मैं बहरी समझूँगा कि पीयूषवर्षी चन्द्रचिम्बसे बज्रपात हो गया—उससे बिल्ली गिर गयी अथवा भुवन-भास्करने संसारको अन्धकारसे आच्छादित कर दिया।

स्वामिन् निसर्गमलिनः कुटिलश्चलेऽह-

मेताद्वेव च रिपुर्मम मृत्युपाशः ।

भूपल्लवस्तत्र तथाविध एव तस्य

शान्त्यै विधे हि विषमे विषमेव पथम् ॥

स्वामिन् ! शान्त बहुत ही अच्छा बना है। देखिये, जैसा कि मैं स्वभावहीसे मलिन, कुटिल और चञ्चल हूँ वैसा ही मेरा शत्रु काळ भी नितान्त मलिन, कुटिल और चञ्चल है। सन्तोषके किये जगह इतनी ही है कि आपकी मौह भी मलिन (काळी) कुटिल (टोपी) और चञ्चल (चलायमान) है। अतएव आप अपने भू-निचेपसे क्षमगुणवाले कृतान्तके कोपकी शान्ति सहज ही कर सकते हैं। क्योंकि विष चाहे जितना भी विषम क्यों न हो, उसका विकार उसीके सदा विषहीसे शान्त हो सकता है। उसके किये आयुर्वेदमें इसी अचूक औपद्रका निर्देश है।

श्रीणः क्षताखिलकलः प्रविलीनधामा

त्वमाश्रितोऽसि सवितारमिनामृताशुः ।

नास्त्येव जीवनकला मम काचिदन्वा

पादार्पणेन कुरुषे यदि न प्रसादम् ॥

मेरी दृशा इस समय अमावास्याके चन्द्रमाके सदृश हो रही है। उस तिथिको अपनी सारी कलाओंके नाशके कारण चन्द्र अत्यन्त ही चीण हो जाता है और उसका सारा तेज न मालूम कहाँ चला जाता है। तब अपने पुनरुज्जीवनका और कोई उपाय न देखकर वह सूर्यका आश्रय लेता है। और सूर्य करुणाका बराबरी होकर उस शरणार्थीको अपनी रश्मियोंसे फिर जिजा देता है। मगबन् ! मेरी दृशा भी, आजकल उसी चन्द्रमाके सदृश है। जन्म, जरा, मरणकी चिन्तासे मैं भी चीण हो रहा हूँ। मुझमें भी क्षिप्त्य, साहित्य आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली कोई कला

शेष नहीं। तेजस्कतामे तो मेरा साथ सर्वथा ही छोड़ दिया है। अतएव आपको परमकारुणिक दिग्गज समझकर ही चन्द्रमाके समान मैं आपका आश्रय चाहता हूँ। यदि आप अपने पादार्पणके द्वारा मुझपर कृपा न करेंगे तो फिर मेरा निस्तार नहीं—तो फिर मेरी जीवन-कला गयी ही समझिये।

पद्मपुरः प्रतिदिशश्च विमृश्य पद्मयन्

कूरं कृतान्तहतकं फणिपाशपाणिम् ।

भूमौ पतामि कृपणं प्रकृपामि पाद-

पीठे लुठामि मगबन् कठिनोऽसि कस्मात् ॥

आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, इधर-उधर, जहाँ कहीं देखता हूँ, हाथमें नागपाश किये हुए क्रूरामा काक सर्वत्र ही मुझे दिखायी दे रहा है। मगबन् ! अब मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? किसको पुकारूँ ? मैं आपके पैरों पड़ता हूँ; मैं पृथ्वीपर छोटकर दण्डवत् प्रणाम करता हूँ। मैं दीनता दिखाता हूँ; मैं विनती करता हूँ। मुझे बचा लीजिये। अरे, क्यों इतने कठोर—क्यों इतने निर्दय हो गये ?

किं कार्यमेभिरनिशं नरुकशुकै-

रुदेगकारिमिरलम्बफलैः प्रलापिः ।

एवं विदधपि मुहुर्मुखं विरौमि

पदयामि न त्वदितरं हि परं शरण्यम् ॥

मैंने बहुत कुछ कहा; मैंने बहुत सिर पटका। पर अबतक आपने मेरी एक भी न सुनी। अतएव बार-बार उन्हीं बातोंको दोहराने—उन्हींकी पुनरुक्ति करनेसे क्या लाभ ? वह सब व्यर्थ होगा। इस तरहके इन निष्फल प्रलापोंसे तो मेरा हृदय और भी उद्विग्न हो उठता है। यह सब मैं जानता हूँ और अच्छी तरह जानता हूँ। परन्तु फिर भी मैं करुणाजनक हृदन न करूँ—फिर भी मैं न रोऊँ-धोऊँ—तो करूँ क्या ? आपके सिवा मुझे कहीं अन्यत्र शरण मिलनेकी आशा तो नहीं। मेरे शरण्य तो एकमात्र आप ही हैं।

अन्यद्वन्वीमि किमहं जगदेकबन्धो

बन्धुर्न कोऽपि मम देव सुतोऽपि नास्ति ।

तत्ते पदान्जविमुखस्य महाधमस्य

हस्ते तदैव करुणामनुनिधे गतिर्मे ॥

जगदेकबन्धो ! मैं और अधिक बार्ते बनाना नहीं चाहता; और अधिक कहने-सुननेकी शक्ति भी मुझमें

नहीं। मेरा कोई सहायक भी तो नहीं। आपसे छिपा नहीं; मैं तो बन्धु-बान्धवोंसे भी रहित हूँ; संसारमें सुत-द्वारा आवि आरम्भ भी मेरा कोई नहीं। अतएव, करुणा-सागर ! आपके पाद-पद्मसे सर्वथा विमुख मुक्त निःसहाय

और महाअन्धकी गति केवल आपके हाथ है। मुझे तो बस, एक आपका ही भरोसा है। चाहे पार लगा दीजिये, चाहे संसृति के गहरे गर्तमें पड़ा ही रहने दीजिये। 'अदिच्छसि तत्कुरु' [सङ्कलित]

ईश्वरविषयक उपदेश

[एक जिज्ञासुके साथ श्रीउक्तिवावाजीका ईश्वरविषयक सम्भाषण]

जिज्ञासु—ईश्वरकी सत्तामें क्या प्रमाण है ?

स्वामीजी—पहले तुम यह बतलाओ, तुम भाये कहाँसे हो ?

जिज्ञासु—हाथरससे।

स्वामीजी—क्या तुम हाथरसमेंको जानते हो ?

जिज्ञासु—नहीं।

स्वामीजी—क्या तुम कलकत्तेकेको जानते हो ?

जिज्ञासु—नहीं।

स्वामीजी—क्या तुमने कलकत्ता देखा है ?

जिज्ञासु—नहीं।

स्वामीजी—इससे सिद्ध होता है तुम सबको नहीं जानते और न तुमने सब वस्तुएँ ही देखी हैं।

जिज्ञासु—जी।

स्वामीजी—तो तुम अल्पज्ञ हुए।

जिज्ञासु—जी।

स्वामीजी—इसी प्रकार सब जीव अल्पज्ञ हैं, किन्तु वे निरन्तर अधिकाधिक जानने—सर्वज्ञ बननेका प्रयत्न करते हैं। ऐसे ही कोई भी जीव संसारके सब पदार्थोंको नहीं बना सकता क्योंकि जीवकी शक्ति अल्प है; फिर भी वह इस प्रयत्नमें अवश्य रहता है कि वह अधिक-से-अधिक वस्तुओंकी रचना कर सके। वह अल्पशक्ति होकर भी सर्वशक्तिमान् बननेकी चेष्टा करता है। जीवकी यह प्रवृत्ति स्वाभाविक है और जबतक वह सर्वशक्तिमान् या सर्वज्ञ नहीं बन जाता तबतक उसकी दीर्घ-धृष्ट शान्त भी नहीं होती। इससे सिद्ध होता है कि कोई सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भी है। अल्पज्ञता ही सर्वज्ञताका अनुयायक छिद्र है। अल्पज्ञ है, इसलिये कोई सर्वज्ञ भी होना चाहिये। जगत् है, इसलिये इसका रचयिता भी होना चाहिये। नियम्य है, इसलिये कोई नियामक भी होना चाहिये। इसप्रकार जो कोई सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् जगत्का रचनेवाला और उसका नियामक है वही ईश्वर कहलाता है।

ईश्वराराधन

ईश्वर सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्तस्वरूप हैं, वे आनन्द, शक्ति और अमृतत्वके मूल हैं। वे कल्याणमय, एक, अद्वितीय, पवित्र, निरञ्जन, निराकार, स्वतन्त्र, अनुपम, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी हैं। ... वे ही सृष्टिकर्ता और प्रतिपालक हैं। इस सृष्टिके पहले कुछ नहीं था, वह ईश्वर ही थे; उस समय न दिन था, न रात। पृथ्वी, आकाश, अन्तरिक्ष, जल, वायु, पर्वत, नदी, वृक्ष, फला आदि कुछ भी नहीं थे। ईश्वरने अपनी इच्छासे इन सबका सृजन किया। ईश्वर ही मूल सत्य हैं। ईश्वरमेंसे ही सब पदार्थोंकी सृष्टि हुई है। प्रत्येक पदार्थमें प्राणरूपसे परमेश्वर ही ओत-ओत हैं। वे सर्वज्ञ, सर्वसाक्षी और प्रत्येक घटनाके निरीक्षक हैं। उनसे छिपाकर कुछ भी नहीं रक्खा जा सकता। वे अमृतार्थी, असीम, अनन्त तथा मन-बाणीके अगोचर हैं, स्वयंज्योति और स्वयम्भू हैं। वे स्वयं यदि मनुष्यके हृदयमें प्रकट न हों तो मनुष्य उनके दर्शन करनेमें असमर्थ है। वे आनन्द, शान्ति और अमृतके निर्मल हैं। मंगलदाता, पवित्र और सचेत जाग्रदभावसे सर्वत्र व्यापक हैं। इसप्रकार ईश्वरके स्वरूपका विचार करके उनकी पूजा करनेको आराधना कहते हैं। समस्त विश्वमें उनकी महिमाके दर्शनकर भक्तिपूर्वक उन्हें प्रणाम करना आराधना है।

ईश्वरके चिन्तनका नाम ही ध्यान है। परमेश्वर हमारे हृदयमें विराजमान हैं, इसप्रकार सतत चिन्तन करनेसे अन्तःकरणमें प्रभुका प्रकाश होता है और प्रभुकी दिव्य उद्योतिके दर्शन होते हैं। ...

प्रभुका प्रकाश मिलते ही उनका स्तवन करनेकी स्वयमेव इच्छा होती है। उनका गुण-कीर्तन और उसकी महिमाका गान ही स्तवन है। इस स्तवनकी भी समाप्ति नहीं है। स्तवन करते-करते जब मन आनन्द-सागरमें डूबने लगता है तब उनके चरण-रूमकोंमें आत्मसमर्पण किये बिना रहा ही नहीं जाता।

—आचार्य श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी

तत्त्व-रहस्य-मीमांसा

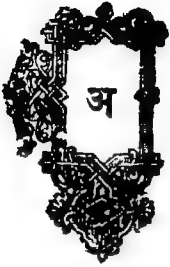
(श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्री ११०८ श्रीसङ्कराचार्य श्रीभारतीकृष्ण तीर्थ स्वामीजी महाराज)

होत्राग्निहोत्राग्निहविष्यहोत्र-

होमादिसर्वाकृतिमासमानम् ।

यद्ब्रह्मतद्बोधनितरिणीभ्यां

नमो नमः श्रीगुरुपादुकाम्याम् ॥



लएव भूमचलमें ऐसा एक भी मनुष्य न होगा जिसने अत्यन्त मूर्ख या अत्यन्त विचारशून्य होते हुए भी वह जिज्ञासा कभी भी न की हो कि हमारा स्वरूप क्या है और हमारा लक्ष्य क्या है अर्थात् हम कहाँसे आये हुए हैं, कहाँ जानेवाले हैं और वहाँ पहुँचनेके लिये हमें किन साधनोंसे काम लेना चाहिये इत्यादि । इस जिज्ञासासे प्रेरित होकर जो विचार करनेवाले हैं वे ही विद्वान् या विचारवान् हैं और जो नहीं करते हैं वे ही मूर्ख या विचारशून्य गिने जाते हैं । परन्तु इस विषयमें तो शङ्का हो नहीं सकती कि मनुष्य-मात्रके भनमें उक्त जिज्ञासा कभी-न-कभी अवश्य ही उत्पन्न हुआ करती है ।

इस जिज्ञासाका अर्यन्त महत्व है; क्योंकि जबतक मनुष्य पता नहीं लगाता कि इन कहाँसे आये हैं, अब क्या हैं और कहाँ जानेवाले हैं, तबतक उसका अपने श्रेय या लक्ष्यमें पहुँचानेवाले साधन या साधनोंकी ओर ध्यान ही नहीं लग सकता । फिर साधनोंकी प्राप्ति और उनके द्वारा अपने लक्ष्यमें पहुँचनेकी आशा उसे कैसे हो सकती है ? अतः इस महत्वशाली विषयके दिग्दर्शनार्थ इस खेत्तमें प्रयत्न किया जाता है ।

इस विचारमें पहली आवश्यकता इस बातकी है कि प्रकृत आकांक्षाकी पूर्तिके लिये किस प्रमाणाके आधारपर हमें अपने सिद्धान्तका निश्चय करना है । केवल लौकिक या बाह्य दृष्टिसे देखनेवालोंका तो आग्रहपूर्वक कहना है कि हम प्रत्यक्ष-प्रमाणको ही मानते हैं और किसीको नहीं । परन्तु यह तो अपसिद्धान्त है और इसके विराकरणके लिये अधिक प्रयत्नका आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि इसी जन्मके ऐहिकमें भी केवल इन्द्रियगोचर विषयोंका भी अब केवल प्रत्यक्ष-प्रमाणासे निश्चय नहीं होता, तब इस

जन्मसे पिछले तथा अगले जन्मों और परिस्थितियोंके साथ सम्बन्ध रखनेवाले अत्यन्त अतीन्द्रिय विषयोंका प्रत्यक्ष-प्रमाणसे हम कैसे निश्चय कर सकते हैं ?

तूसरा प्रमाण है अनुमान । इससे जगत्के कुछ काम तो हो जाते हैं, परन्तु सब काम नहीं हो सकते । शब्द-रूपी प्रमाणाके आधारपर ही लौकिक व्यवहार भी प्रायशः निर्भर हुआ करते हैं । उदाहरणार्थ अनुमानसे हमें इतना ही सिद्ध हो सकता है कि हमारी भी कोई जन्मवात् अवश्य होगी, परन्तु शब्द-प्रमाणाको छोड़कर किसी प्रकारके अनुमानके बलसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि अमुक जो ही हमारी माता है । फिर पारलौकिक अतएव अत्यन्त अतीन्द्रिय विषयोंका अनुमानसे क्या निश्चय हो सकता है ? इसीलिये हमारे शास्त्रकारोंने बताया है कि आत्मतत्त्वका ज्ञान आस वचनरूपी शब्द-प्रमाणासे ही प्राप्त हो सकता है ।

‘नवेदविन्मनुते तं नृदन्तं’

‘मातुमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद’

‘तं त्वीपनिषदं पुरुषं पृच्छामि’

इत्यादि श्रुतियों —

‘शास्त्रयोनित्वात्’ इत्यादि वेदान्त-सूत्रों—

‘तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रक्षेपेन सेवया ।

उपदेक्षयन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥’

इत्यादि अगवर्तुता-वचनों और अन्यान्य प्रमाणांसे यह सिद्धान्त सिद्ध होता है कि शब्द-प्रमाणासे ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है ।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि शब्द-प्रमाणापर अन्ध-अज्ञा करनी चाहिये । बुक्ति, विचार, अनुमान आदिका इसमें कोई काम नहीं है इत्यादि । तात्पर्य इतना ही है कि साक्षात्काररूपी अनुभववाले गुह्यसे ही सिद्धान्तका अवलोकन करना चाहिये । इसीलिये श्रुतिने कहा है कि ‘ओतस्यो मन्त्रभ्यो निदिध्यासितभ्यः,’ स्मृतिने ‘यज्ञकै-यातुसम्बन्धे’ कहा और अगवान् श्रीकृष्णने भी ‘परिप्रक्षेपे’ इस शब्दसे विचारपर जोर दिया है और—

‘बन्धेयः स्यात्तद्विद्वत् नृद्वि तन्मे

क्षिप्यस्तेऽहं शपि मां त्वां प्रपन्नम् ॥’

—कहनेवाले अर्थात् आज्ञा माँगनेवाले शिष्य और शस्त्रान्त अर्जुनको भी आज्ञा न देकर अनेक प्रकारोंसे समझा-समझाकर सब शंकाओंका समाधान करके, अन्त-में 'कश्चित्पञ्चतुतं पार्थ' इत्यादि प्रश्न पूछकर और 'स्वितोऽस्मि गतसन्द्दहः करिष्ये वचनं तव' अर्जुनसे यह उत्तर पाकर इसी तरहको अपने उज्ज्वल भावरससे भी सिद्ध किया है कि आस-वचनके द्वारा अवश्य किये हुए सिद्धान्त-को, मनन (अर्थात् तदनुकूल युक्तियोंके विचार) से अपनी बुद्धिमें और निश्चिन्तासन (अर्थात् सतत धारा-प्रवाहरूपी अनुसन्धान) से अपने हृदयके भीतर अटल-रूपसे बैठाना चाहिये।

इस कार्यप्रणालीके अनुसार अब हमें पहले-पहल अवश्य करना है अर्थात् श्रुत्यादिरूपी शब्द-प्रमाणसे पता लगाना है कि परमात्मा, जीवात्मा और जगत्के सम्बन्धमें शास्त्रोंका क्या सिद्धान्त है, उसके बाद उसी सिद्धान्तका मनन अर्थात् युक्तियोंसे स्थापन और पोषण करना है।

वैदिक सिद्धान्तके विशेष विस्तारके साथ प्रतिपादनकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अपने-अपने साम्प्रदायिक राग-द्वेषों (Prepossessions and prejudices) और स्वाभाविक पक्षपातों (Natural or unconscious partialities)को प्रयत्नपूर्वक अपने हृदयसे सर्वथा हटाकर केवल तत्त्वके जिज्ञासु (Seeker after truth) की हैसियतसे शास्त्रोंका अभ्युपगम करनेवाले प्रत्येक मनुष्य-को सर्वथा स्पष्ट होगा कि वेदादि ग्रन्थोंमें जहाँ-जहाँ परमात्मा, जीवात्मा और जगत्के पारस्परिक सम्बन्धका विशेषमापूर्वक उल्लेख आता है, वहाँ-वहाँ इन तीनोंका एकत्व ही बताया जाता है—मेढ़ नहीं, बल्कि भेदका साक्षात् निषेध भी खूब पाया जाता है।

इस सिद्धान्तके समर्थनके लिये वैदिक मन्त्र आदि हजारों प्रमाणोंका विवरण किया जा सकता है; परन्तु यहाँ कतिपय खास-खास प्रमाणोंको ही उद्धृत करके सिद्धान्त बताया जाता है; क्योंकि इन प्रमाणोंका अर्थ इतना स्पष्ट है कि तन्त्रे जिज्ञासुके हृदयमें इस प्रमाणोंके अभ्युपगमके बाद अद्वैतके विषयमें शंका रह ही नहीं सकती।

एको देवः सर्वभूतेषु गुडः

सर्वभाषी सर्वभूतान्तरमा।

‘मेह नानासि किञ्चन।’

‘भूतोः समुत्पन्नमस्ति य इह नामैव ध्रुवमिति।’

‘द्वितीयादौ भवं भवति।’

‘उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भवं भवति तदात्मानं स्वयं अकुरुत।’

‘स ब्रह्मन् पुरुषे ब्रह्मासावादित्ये स एकः।’

‘सर्वणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।’

‘तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः।’

‘ब्रह्मिन् एकस्मिन् विज्ञातं सर्वमिदं विशतं भवति।’

‘ऐतदात्म्यमिदं सर्वं।’

‘इशावास्यमिदं सर्वं।’

‘स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।’

इत्यादि (उपनिषद्में मिलनेवाले) स्पष्ट प्रमाणोंका केवल उल्लेख करना ही पर्याप्त है और उपनिषद्में सिद्धान्तके विवरणार्थ एक ही मायवृक्ष-उपनिषद्को लेकर विचार करना भी पर्याप्त होगा, जिसके सम्बन्धमें मुक्तिकोपनिषद्में सब उपनिषद्का वर्णन करते हुए भगवान् श्रीरामचन्द्रजी-ने श्रीहनुमान्जीसे कहा—

‘मायवृक्षमैकमेवालं मुमुक्षुणां विमुक्तये।’

अर्थात् मुमुक्षुओंकी मुक्तिके लिये केवल मायवृक्ष ही पर्याप्त है। इस मायवृक्ष-उपनिषद्ने तो आरम्भमें ही केवल अद्वैत-सिद्धान्तकी प्रतिज्ञा की है कि—

‘ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपन्यास्यानम्।’

‘भूतं भवति भविष्यदिति सर्वभोक्तार एव यच्चान्यत्रिकाकृतीतं तदभोक्तार एव।’

‘सर्वं हेतुद्वन्द्वं अयमात्मा ब्रह्म।’

अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्यत् कालके सब पदार्थ और त्रिकालासीत पदार्थ भी ओंकार ही हैं, यह सब जगत् और यह जीव ब्रह्म ही है। इत्यादि, और आगे बढ़ते हुए मायवृक्ष-उपनिषद्ने जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंके ध्यष्टिरूपी जीवोंका समष्टिरूपी जीवके साथ और व्यवस्थासीत निर्गुण परमात्माके साथ भी अकार, उकार, मकार और ओंकारके रूपकके द्वारा एकता बताकर परमात्मा, जीवात्मा और जगत्की वस्तुतः एकताको स्तम्भन्त स्पष्ट किया है। मायवृक्ष-उपनिषद्के आधारपर (जो अक्षरोंके हिसाबसे केवल बारह मन्त्रवाली और सबसे छोटी उपनिषद् है, परन्तु अर्थके हिसाबसे मुक्तिको-पनिषद्के अनुसार एवं भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके कहनेके अनुसार सब ऋषिगुरुओंकी शिरोमणि है), यहाँतक कहा

जा सकता है कि भावबुद्ध-उपनिषद्‌को मानें और अद्वैत-सिद्धान्तको न मानें, ये दोनों बातें साथ-साथ नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त और एक प्रकारसे भी अद्वैत-सिद्धान्त सिद्ध किया जा सकता है जो उपनिषद्‌ोंके बताये हुए सृष्टि-क्रमको माननेवालोंके लिये सर्वथा निर्विवाद है। उदाहरणार्थ, तैत्तिरीयोपनिषद्‌ने जगत्‌की सृष्टिका वर्णन करते हुए—

‘सब व्यञ्जामवत्’

अर्थात् जगत्‌की सृष्टिसे पहले जो परमात्मरूपी एक ही वस्तु थी, उसीने आत्मा और अनात्मरूपी सब पदार्थोंका रूप धारण किया है। इत्यादि कहनेके अतिरिक्त जगत्‌की सृष्टिका संकल्प करनेवाले ईश्वरके संकल्पका इन स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन किया है कि—

‘बहु स्या प्रजायेयते’

अर्थात् मैं बहुत बनूँगा, जन्म लूँगा, इसमें ईश्वरका संकल्प यही था कि ‘बहु स्याम्’ (‘बहु कुर्या’ नहीं) अर्थात् बहुत बनूँगा (बनाऊँगा नहीं) और ‘प्रजायेय’ (‘प्रजनयेय’ नहीं) अर्थात् पैदा हूँगा (पैदा करूँगा नहीं) जब ईश्वरने ऐसा संकल्प करके जगत्‌की सृष्टि की है और हम सब ईश्वरको सर्वज्ञ, सर्वशक्ति और सत्य-संकल्प मानते हैं तब हम सबको विवश होकर या तो स्वीकार करना होगा कि ईश्वरने ही सब जीवों और सारे जगत्‌का रूप धारण किया है, नहीं तो यह मानना होगा कि ईश्वरने स्वयं बहुत पदार्थरूपसे जन्म लेनेका संकल्प तो किया था; परन्तु ऐसा न करके उसने अपनेसे अनेक पदार्थोंकी सृष्टि ही की है, इसलिये ईश्वर सर्वज्ञ और सत्य-संकल्प नहीं माना जा सकता।

जो उपनिषद्‌ोंको नहीं मानते हैं और कहते हैं कि पूर्वसंहिता ही प्रमाण है उनके लिये तो पुरुषसूक्तका, जो पूर्वसंहिताके अन्तर्गत है—

‘प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः’

अजायमानो बहुधा निजायते।’

—इत्यादि एक ही मन्त्र अद्वैत-सिद्धान्तके समर्थनके लिये पर्याप्त है, क्योंकि इसमें स्पष्ट बताया है कि जो अब अर्थात् जन्मरहित परमात्मा है वही अनेक रूपोंसे जन्म लेता है, इत्यादि। इस प्रसंगमें यह भी कहना अनुचित

न होगा कि इस मन्त्रका आर्यसमाजके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वतीने भी अपने भाष्यमें यही अर्थ बताया है जो हमने ऊपर दिया है।

इसी प्रकारसे श्रीमद्भगवद्गीतासे भी अनेक प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे अद्वैत-सिद्धान्त अवश्य निकलेगा। परन्तु उनमेंसे हम यहाँ केवल तीन ही श्लोकोंको उद्धृत करते हैं—

‘ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।

ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥’

‘इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।

यत्तद्यो वंस्ति तं प्रादुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥’

‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम॥’

अर्थात् हवन-क्रिया भी ब्रह्म है, हविष्य भी ब्रह्म है, अग्नि भी ब्रह्म है, हवनकर्ता भी ब्रह्म है, कर्मकी एकाग्रता भी ब्रह्म है और प्राप्तव्य भी ब्रह्म है।

शरीरका नाम क्षेत्र है, शरीरकी समझ करनेवाला (कि यह मेरा शरीर है) ‘क्षेत्रज्ञ’ है।

सब क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ; और मेरी सम्मतिमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञोंका ज्ञान ही ज्ञान है।

इस सम्बन्धमें यह बतलाना अप्रासंगिक न होगा कि आर्यसमाजके प्रसिद्ध ग्रन्थकर्ता और नेता श्रीहरिप्रसाद वैदिक मुनिने भी अपनी ‘स्वाध्यायसंहिता’ में गीताके उपर्युदाहृत श्लोकोंका और इस लेखके आरम्भमें उद्धृत किये हुए अनेक वैदिक मन्त्रोंका भी यही अर्थ लिखा है जो हमने लिया है।

आत्म-तत्त्व-ज्ञानके यथार्थ ज्ञानको छिपाकर इन पदार्थोंके भेदकी प्रतीति करानेवाली भगवच्छक्तिरूपी मायाके सम्बन्धमें भगवान् आन्यकार शङ्करके बताये हुए मायावादका जो अनेक सम्प्रदायोंकी ओरसे विरोध किया जाता है उसके विषयमें विस्तारमें न उतरते हुए हम इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं कि मायावाद शङ्करका निर्माण किया हुआ कोई नया सिद्धान्त नहीं है, बल्कि उपनिषद्‌ोंमें तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें पाया जाता है और श्रीमद्भगवत्‌में तो आरम्भसे लेकर अन्ततक गिनती करनेपर हजारों स्थान ऐसे मिलेंगे जिनमें मायावादका अत्यन्त स्पष्ट

उल्लेख है। उदाहरणार्थ उपनिषद्, गीता और श्रीमद्भागवतके कुछ प्रमाण—

‘मायान्तु प्रकृति विद्वान्मायिनं तु महेश्वरम् ।’
(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

‘नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।’

‘अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।’

‘दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।

मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामितां तरन्ति ते ॥’

(गीता)

‘मायां ततान जनमोहिनिम् ।’

‘रज्ज्वाग्नेर्मोहमवामयौ यथा ।’

‘मन्यमान इदं सुदुर्मदमानमिह सज्जते ।’

(श्रीमद्भागवत)

‘यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्म्यां श्रवणादिभिः ।

नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् ॥’

(श्रीमद्भागवत ११।७।७)

अर्थात् जिस (जगत्) का मन, वाणी, चक्षु, श्रोत्र आदि (इन्द्रियों) से ग्रहण किया जाता है, उसे नश्वर और मनसे ही कल्पित मायामय जान ।

इत्यादि इज्जाराँ प्रमाणोंसे भगवान् शङ्करका केवल अद्वैत-सिद्धान्त ही नहीं, बल्कि विवर्तवाद भी अक्षरशः स्थापित होता है ।

अपने धर्मशास्त्रोंके इन प्रमाणोंके विचारके बाद अब अन्यान्य मज़हबोंके प्रमाणोंका भी संक्षेपसे, समन्वयके लिये, विचार किया जाता है । ईसाइयोंके बाइबिलमें पैगम्बर ईसाके स्वयं बताये हुए ‘Ye are Gods’ (अर्थात् तुम सब ईश्वर हो) ‘The Kingdom of God is within you’ (ईश्वरकी सारी दुनिया तेरे भीतर है ।) इत्यादि प्रसंगोंसे और विशेष करके उनके खास प्रेम-पात्र शिष्य St John के Gospel, Epistles और Revelation इन तीनों ज़बरदस्त ग्रन्थोंसे स्पष्ट होता है कि ईसाने पैलेस्टाइन देशमें हमारे अद्वैत-सिद्धान्तका ही प्रचार करनेका प्रयत्न किया था; परन्तु वहाँके दुराग्रही द्वैतवादियोंने इसी कारणसे सब होकर उनको वहाँकी सात्त्विकीक रोमन गवर्नमेन्टकी आज़ासे शूकीपर चढ़वा दिया था । तो भी उक्त ग्रन्थोंका अध्ययन करनेवाले सब

शिष्यचपात जिज्ञासुओंको अक्षर्य मानना होगा कि आज-कलके पाश्चात्य जगत्के प्रभु, गुरु और रक्षक (Lord, Master and Saviour) ईसाका तो सिद्धान्त अद्वैत-सिद्धान्त ही है । इस सिद्धान्तको समझनेके लिये जो अनधिकारी हैं वे ऐसे ग्रन्थोंको ‘हमारी समझमें नहीं आता’ (Too mystical for us) कहकर एक ओर छोड़ते हुए सेब्ट मैथ्यू (St. Matthew), सेब्ट ल्यूक (St. Luke), सेब्ट मार्क (St Mark) आदिके ग्रन्थोंका ही जिनमें आध्यात्मिक और ज्ञानकायिकी बातें आती ही नहीं, अध्ययन किया करते हैं ।

मुसल्मानोंमें भी ज्ञानकायिकी ही विचार करनेवाले सुफ़ियोंका मत तो अद्वैत ही है ।

इसी प्रकारसे दैतप्रेमी चित्तवृत्तिमें रहनेवालोंके लिये सब मज़हबोंमें पृथक् स्थान पाया जाता है और जो उत्तमाधिकारी हैं उनके लिये अद्वैतका स्थान भी पृथक् मिळता है ।

इन बातोंके विस्तारमें उत्तरनेकी आवश्यकता नहीं है । केवल इतना ही कहना आवश्यक तथा पर्याप्त है कि पुराने ग्रीसके तत्त्ववेत्ता प्लेटो (Plato) से लेकर अर्वाचीन तत्त्ववेत्ताओंमें स्वेडनबर्ग (Swedenborg), वर्ड्सवर्थ (Wordsworth), ब्राउनिंग (Brownig), कार्लाइल (Carlyel), एमरसन (Emerson), बिशप बर्केले (Bishop Berkeley), हेगल (Hegel), फिस्ते (Fichte), इममेनुयल कंट (Immanuel Kant), राफ़ वाल्डो ट्राइन (Ralph Waldo Trine), थामस हिल ग्रीन (Thomas Hill Green), विलियम वाकर एटकिन्सन (William walker Atkinson), इला व्हीलर विल्काक्स (Ella Wheeler Wilcox), प्रो० पॉल ड्यूसन (Professor Paul Deussen), आदि बड़े-बड़े तत्त्ववादियोंतकने REALISM (सृष्टि-वृष्टिवाद या द्वैत) को अपसिद्धान्त बताकर IDEALISM (वृष्टि-सृष्टिवाद या अद्वैत) को ही माना है ।

इस प्रसंगमें विशेषरूपसे ध्यान रखनेयोग्य विषय यह है कि आजकल पाश्चात्य जगत्में हिन्दुस्तानके लिये जो कुछ मान और प्रतिष्ठा है वह सब-कुछ-सब भगवान् शंकरके MONISM (अद्वैत) सिद्धान्तके आधारपर ही है और किसी कारणसे नहीं । वास्तवमें तो पाश्चात्य जगत् आरतीय तत्त्वज्ञान (Indian Philosophy) शब्दसे संकट-सिद्धान्तको ही जानता है ।

इस अव्युक्त अनुभवकी वर्णालोकनसे प्रत्येक विचार-शील मनुष्यके मनमें इस प्रश्नका उठना स्वाभाविक है कि वेद आदि सनातन-वर्गग्रन्थोंको न मानते हुए स्वतन्त्र विचार करनेवाले इतने बड़े-बड़े पाश्चात्य तत्त्वज्ञानियोंने भी जो भ्रममें हमारे वेदान्तके अद्वैत-सिद्धान्तको ही माना है इसका कारण क्या है ? इस प्रश्नका तो एक ही उत्तर हो सकता है और वह यह है कि यही सिद्धान्त युक्तियुक्त भी है और इसीलिये स्वतन्त्र विचारकोंको भी विवश होकर इसी सिद्धान्तको मानना पड़ा । अब इस युक्तियुक्तताको लेकर हमें संछेपसे यह विचार करना है कि अद्वैत-सिद्धान्त-का किन-किन युक्तियोंसे समर्थन और पोषण होता है अर्थात् अब अबखले बाद मननका आरम्भ करना है ।

प्रत्येक मनुष्यके हृदयमें होनेवाले जिस प्रश्नका इस खोजके आरम्भमें हमने उल्लेख किया है कि हम कहाँसे आये हैं अब क्या हैं और कहाँ जानेवाले हैं इत्यादि, उसी प्रश्नको लेकर युक्तियोंसे विचार करनेपर अद्वैत-सिद्धान्तकी युक्तियुक्तता स्पष्ट हो जायगी ।

अपने आत्माके स्वरूपभूत लक्ष्यका विचार करनेसे पहले हमें लक्ष्यके लक्षणको मसीमौलिसि सजझकर आगे बढ़ना चाहिये । स्वरूपभूत लक्ष्य तो यही लक्ष्य है जो अपने लक्ष्यके साथ स्वभावसे ही लक्ष्यरूपसे लगा हुआ है, किसी तात्कालिक और बाह्य कारणसे आया हुआ लक्ष्य नहीं है; क्योंकि बाहरके तात्कालिक कारणसे आये हुए सब लक्ष्य थोड़े समयके बाद अपने आप चले जाते हैं और उनके स्थानपर वे ही स्वाभाविक लक्ष्य आ जाते हैं जिनको उक्त आध्यात्मिक लक्ष्योंने तात्कालिक लिये देखा दिया था । उदाहरणार्थ अग्नि, सूर्य, गन्धकवाली भूमि आदि कारणोंसे जलमें आयी हुई ठण्डता घट-घटकर छूट जाती है, सर्वदाके लिये रह नहीं सकती । अतएव आध्यात्मिक लक्ष्योंकी पानेवाला प्रत्येक मनुष्य तुरन्त पूछता है कि इस (गर्मी आदि) का क्या कारण है ? इस प्रश्नसे ही स्पष्ट है कि उक्त गर्मी आदि गुण एक आदि पदार्थके लिये स्वाभाविक नहीं हैं ।

इस तत्त्वकी व्यासमें रखते हुए विचार करनेपर अपने आप स्पष्ट होता है कि दुःख आत्माका लक्ष्य नहीं है, क्योंकि जब कोई रोता है तब देखनेवाले सभी तुरन्त पूछते हैं कि क्यों रोते हो ? इस 'क्यों' प्रश्नसे ही स्पष्ट है कि रोगा तात्कालिक बाह्य कारणवादी है—स्वाभाविक

नहीं है अर्थात् आत्मा आनन्दस्वरूप है । एक और प्रकारसे भी आत्माका आनन्दस्वरूप स्पष्ट किया जा सकता है कि हम जिस पदार्थके बिना रह नहीं सकते और जिसकी ओरमें सर्वदा रहते हैं वही हमारा स्वरूप है । उदाहरणार्थ, हम व्याधिको इसलिये नहीं पसन्द करते और आरोग्यको ही चाहते हैं, क्योंकि आरोग्य ही हमारे लिये स्वाभाविक है—रोग नहीं । इसी प्रकारसे हम इसलिये दुःख नहीं चाहते और सर्वदा आनन्द ही चाहते हैं, क्योंकि दुःख हमारा स्वरूप नहीं—आनन्द ही हमारा स्वरूप है । इसी व्यापक नियमसे सारे वेदान्तका मनन किया जा सकता है । आनन्दके साधनके सम्बन्धमें हजारों मतभेद हो सकते हैं; परन्तु अपने लक्ष्य ज्ञेय या साध्य आनन्दके सम्बन्धमें तो कोई मतभेद कभी भी नहीं होता । इसलिये आत्मा आनन्दस्वरूप है । और हम सभी तनिक भी दुःख न चाहते हुए केवल शुद्ध आनन्दको ही चाहते हैं, इसलिये आत्मा दुःख-लेशसे भी रहित, शुद्ध, अखण्ड, अपरिच्छिन्न, आनन्दस्वरूप है ।

आनन्दके विभागोंका विचार करनेपर अन्तर्गत अंशरूपसे जिन पदार्थोंकी ओरमें हम सर्वदा रहते हैं वे भी हमारे स्वरूपभूत लक्ष्यके अन्तर्गत हैं, इनका संछेपसे विचार करना है ।

पहली बात यह है कि हम मरना नहीं चाहते, जिन्या रहना चाहते हैं । इसका कारण यही हो सकता है कि शाश्वत-अस्तित्व ही हमारा स्वरूप है—मृत्यु नहीं । इसलिये आत्मा अमर है ।

इसका निश्चय संस्कृत-भाषाके शब्दोंके चमत्कारसे भी किया जा सकता है । संस्कृतमें 'जन्म' शब्दका अर्थ 'प्रादुर्भाव' है अर्थात् जो वस्तु पीछे थी वह सामने आयी; 'उत्पत्ति' शब्दका अर्थ ऊपर आना है अर्थात् जो वस्तु नीचे दबी या छिपी हुई थी वह ऊपर आ गयी; 'सृष्टि' शब्दका अर्थ बाहर छोड़ना है अर्थात् जिस वस्तुको भीतर छिपाकर रखा था उसे बाहर निकाला । इन तीन शब्दोंके अतिरिक्त संस्कृत-भाषामें और कोई शब्द है नहीं, जिससे कि यह असामान्य भाव उत्पन्न हो सकता हो कि जो वस्तु पहले नहीं थी उसका नया अस्तित्व हुआ ।

इसी प्रकारसे संस्कृतमें 'नाश' शब्दका अर्थ 'अवर्तन' है अर्थात् जो वस्तु सामने थी वह छिप गयी । इससे स्पष्ट है कि जिस वस्तुका अस्तित्व है उसका स्थायित्व,

रूपान्तर और नामान्तर हो सकता है—जब्तब कभी नहीं होता। इसी तत्त्वको अणुत्व भी कह सकते हैं—

‘नास्ततो विद्यते मातो नामतो विद्यते सतः ।’

‘इस आधे कीकरी शब्द किया है; और परमाण्व चिज्ञान-कार्यविधि भी ‘Indestructibility of matter,’ ‘Conservation of energy’ आदि पारिभाषिक शब्दों-से वर्णना प्रसिद्ध किया है। इसविधि आत्मा अनादि और अव्यय है अर्थात् त्रिकाद्यात्म्य अस्तित्ववादी है जिसका वेदान्तकी परिभाषा में ‘सत्’ शब्दसे व्यवहार होता है।

आनन्दके अन्तर्गत दूसरी बात यह है कि हम पदार्थों-को जाननेकी इच्छा करते ही रहते हैं और न जाननेपर दुःखी होते हैं, अतः उपर्युक्त व्याप्ति (अर्थात् नियम) के अनुसार यह भी सिद्ध है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है—अज्ञानस्वरूप नहीं। अतएव अगवात्रने कहा—

‘अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥’

‘तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥’

अर्थात् जैसे सूर्यको मेघ छिपा लेते हैं और उनके निकट जानेपर वह दृष्टिगोचर होता है, इसी प्रकारसे आत्मरूपी ज्ञान-सूर्य अज्ञानरूपी मेघसे छिपा रहता है और उसके निकट जानेपर अनुभवगोचर होता है इत्यादि। इसीविधि हमारे शास्त्रोंका सिद्धान्त है कि जैसे अप्रकट अग्नि को वर्षासे प्रकट किया जाता है, अप्रकट बिजलीको उचित साधनोंसे प्रकट किया जाता है और शिष्टकार बड़े पथरसे उसके भीतर छिपी हुई अभीष्ट मूर्तिको बाहरके आवरणोंको काटकर प्रकट करता है, इसी प्रकारसे हमारे भीतर भी छिपे हुए ज्ञानको शिष्टणरूपी साधनसे प्रकट किया जाता है। बाहरसे ज्ञान कभी भी भीतर झाँका नहीं जाता, भीतरसे ही बाहर निकाला जाता है। यदि ज्ञान बाहरसे भीतर झाँका जाय तो पूर्वोक्त नियमके अनुसार वही परिणाम हो सकता है कि गरम किये हुए अखड़ी आगम्युक गरमीकी भाँति वह आगम्युक ज्ञान भी चटते-चटते छूट जायगा—ठहर नहीं सकता। इसीविधि अंग्रेजीमें शिष्टणका नाम ‘Education’ है जिसका वैयक्तिक अर्थ ‘Drawing out’ (बाहर लींचना) है। यदि ज्ञानको बाहरसे भीतर झाँकें, तो उसका नाम Education नहीं होकर Injection होता। कुछ ही समय पहलेकी बात है कि फ्रान्समें एक ऊँची

बहुत बीमार होकर पुनः स्वास्थ्यलाभ करते ही अपनी मातृभाषा को छोड़कर वस-यन्त्रह नयी भाषाओंमें एक-दम बोलने लगी थी और यूरोपके बड़े-बड़े Scientists, Philosophers and Psychologists (विज्ञानवेत्ता, तत्त्ववेत्ता तथा मनोविज्ञानवेत्ता जनों) ने उस प्रसंगकी पूरी परीक्षा करके विषय होकर वही स्वीकार किया था कि भीतर छिपे हुए ज्ञानके अनेक विभागोंके द्वार उस बीमारीमें अपने आप खुल गये होंगे और मातृभाषावाला द्वार बन्द हो गया होगा। अर्थात् प्रत्यक्ष-प्रमाणसे भी सिद्ध हो गया कि आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है जिसका नाम वेदान्तकी परिभाषा में ‘चित्’ है।

आनन्द-सामग्रीके अन्तर्गत तीसरा अंश यह है कि केवल हम मनुष्य ही नहीं किन्तु अत्यन्त छोटे कृमि-कीट भी स्वतन्त्रतामें रहना चाहते हैं—बन्धनमें नहीं। इस विषयवाची अनुभवसे उपर्युक्त व्याप्तिके अनुसार स्पष्ट है कि आत्माका स्वरूपभूत ज्ञान सुकृता है—बन्धन नहीं।

इससे आगे चौथा अंश यह भी है कि हम सब अपने जिन स्वतन्त्रता चाहते हुए साथ-साथ वह भी चाहा करते हैं कि हमारी बातकी सभी मानें। इसका अर्थ तो वही हो सकता है कि हम ईश्वरके अस्तित्वको जानें या न जानें, ईश्वरमें जो ईश्वरत्व है उस ज्ञानको हम अपनेमें चाहते हैं अर्थात् हम असत्यमें ईश्वर-स्वरूप हैं।

अतः सत्, चित्, आनन्द, सुकृता और ईश्वरता—इन पाँच ज्ञानोंको जब हम अपने स्वरूपभूत ज्ञानरूपसे उपर्युक्त मननके द्वारा समझ सकते हैं तब हमारे मनमें यह तो सिद्ध है कि परमात्माके जितने ज्ञान हैं वे सभी हमारे ज्ञान हैं अर्थात् परमात्मा, जीवात्मा और जगत्की वास्तविक एकता स्पष्ट हो गयी।

और भी एक प्रकारसे यह सिद्धान्त स्पष्ट हो सकता है कि जब परमात्मा सर्वव्यापी है तब उसको अवश्य ही सर्वरूपी भी होना ही चाहिये। यह तो प्रत्यक्ष अनुभव-सिद्ध है कि जिस सृष्टिकासे घट बनता है वही उसमें ओत-प्रोत होती है (बनानेवाला कुम्हार घटमें ओत-प्रोत नहीं होता), इसी प्रकारसे तन्तु और कण तथा स्वर्ण और भूषण आविर्की बातें हैं। अतः परमात्मा भी तभी सर्वजगत्व्यापी हो सकता है जब उसीसे जागृ बणा हो—उसके बनावे जानेसे नहीं। अर्थात् ईश्वर

जगत्का उपादान-कारण वा समवाय-कारण होनेसे सर्व-
व्यापी है—निमित्त-कारण होनेसे नहीं। इसी तत्त्वको—

‘वाचारम्भणं नामधेयं विहारी मृत्तिकेत्येव सत्यम्’

इस श्रुतिसे तथा—

‘तदनन्यत्वं आरम्भणादिसन्देहः’

इस वेदान्तसूत्रसे और—

‘सुवर्णाजयमानस्य सुवर्णत्वं विनिश्चितम् ।

ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च विनिश्चितम् ॥’

भगवान् शंकराचार्यके इस श्लोकसे स्पष्ट कर दिया है ।
इन श्रुतियोंसे मनन करनेपर अद्वैत-सिद्धान्तके विषयमें
शंका नहीं रह सकती ।

परन्तु इसमें एक शंका हो सकती है कि अद्वैत
परिणामवादके अनुसार क्यों न हो ? इस प्रश्नका पहला
उत्तर यह है कि शुद्ध यदुर्बेदकी ईशावासादि उपनिषदोंमें—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

—इस शान्ति-मन्त्रसे सिद्ध है कि अनन्त जीवों और
जगत्के बननेके बाद भी परमात्मा पूर्ण ही रहता है, परन्तु
प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि मृत्तिका, जकड़ी, तन्तु, सुवर्ण
आदिले घट, कुर्सी, वस्त्र, भूषण आदिके बनाये जानेके
बाद जिस मृत्तिका आदि पदार्थोंसे घट आदि बने हैं वह
मूलरूपसे फिर नहीं रहते । यहाँ तो असंख्य पूर्ण पदार्थोंके
निकलने और मूल-पदार्थके पूर्ण ही रहनेकी बात है, जो
विवर्तवाद या विन्य-प्रतिविम्बवादमें ही समंजस है ।

दूसरा उत्तर यह है कि यदि परिणामवाद सत्य होता
अर्थात् यदि परमात्मा ही यथार्थमें उस-उस रूपमें आता
अतः जगत् सत्य होता तो नाम-रूपात्मक जगत्के ज्ञानका
नाम हमारे शास्त्रोंके अमूर्त अज्ञान, मोह, भ्रम इत्यादि
शब्दोंसे वर्णित नहीं किया जाता और अज्ञानके निवारणके
द्विजे कर्म, उपासना, योगाभ्यास, अर्चन, मनन आदि
साधनोंकी कोई आवश्यकता ही नहीं होती । उपर्युक्त सब
विचारोंसे निश्चय होता है कि इस नित्य-शुद्ध-बुद्ध-सुख
सच्चिदानन्दधनस्वरूपी परमात्मस्वरूप हैं, उसी स्वरूपसे
जागे हुए हैं और हमें उसीमें पहुँच जाना है क्योंकि उससे

इस जितनी दूर अपने मनसे चले जाते हैं उसने ही दुखी
हुआ करते हैं । अतः अब उसमें पहुँचनेके साधनका ही
विचार करना है ।

भगवद्गीतामें नरकपी अर्जुन और नारायणरूपी
श्रीकृष्णका रथी और सारथीका जो सम्बन्ध था उससे हम
अत्यन्त सुखभरासे पता लगा सकते हैं कि दुःखमें पड़े हुए
नरको अपने शान्तिमय और आनन्दमय नारायणस्वरूपमें
पहुँचनेके द्विजे नारायणको ही अपने शरीरादिरूपी रथका
सारथी बनाकर, उसके हाथमें लगाम छोड़कर अर्जुनकी
मौति—

‘शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्’

—कहकर (अर्थात् भगवान्का ही आज्ञापात्रक
शरणागत होकर) अद्वैत-सिद्धान्तको न भूलते हुए—

‘सर्वभूतेषु यः पश्येत् भगवद्भावमात्मनः ।

भूतानि भगवत्पादमन्येष भागवतोत्तमः ॥’

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४५)

‘वासुदेवः सर्वमिदं स महात्मा सुदुर्लभः’

(गीता)

‘सोऽहं मायेन पूजयेत्’

‘सकलमिदमहं च वासुदेवः परम पुमान् परमेश्वरस्य एकः ।’

—इत्यादि नियमोंके अनुसार उपासना करनी चाहिये ।

नर-नारायणके इस सम्बन्धका परिणाम वही होगा,
जिसका गीताके अन्तिम श्लोकमें संक्षेपसे वर्णन किया है—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पाथो धनुर्धरः ।

तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्भूवा नीतिर्मतिर्मम ॥

अर्थात् जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण सारथी हों और धनुर्धारी
(भगवान्की आज्ञाके अनुसार अपने कर्त्तव्यको पावनेवाला)
नर रथी हो वहाँ सब प्रकारकी संपत्ति, सुख, शान्ति और
आराम है ।

उद्धाराय मुमुक्षोररचिषत पुरा ब्रह्मसूत्राणि यानि
कृष्णद्वैपायनेन श्रुतिपरमतिना श्रौतशीषाधनका ।
कृत्वा माष्यं तदीयं निश्चिन्नुधनुतं गूढतत्त्वोपदेष्टा
निद्वैतानन्ददायी जगति विजयते शंकरो देशिकेन्द्रः ॥

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः

ईश्वर-सिद्धि

(श्रीकाशी-प्रतिवादिप्रयकरमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीमन्नब्रह्मानुज-सम्प्रदायाचार्य श्री १९०८ श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज)

प्रत्यक्ष प्रमाणात्मान माननेवाले बाईस्वस्थमत्तानुयायी ईश्वरको नहीं मानते, क्योंकि ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं है ।

बुद्धमतानुसारी लोग अनुमानको भी प्रमाण मानते हुए देहातिरिक्त चैत्यिक-विज्ञानस्कन्धरूपी आत्माको मानते हैं और सर्वज्ञ-विज्ञान-सन्तानरूप ईश्वरको भी मानते हैं । वे ईश्वरको अनुमानसे ही सिद्ध करते हैं ।

जैनमतानुयायी देहातिरिक्त स्थिर आत्माको मानते हुए, स्थिर अहंन् नामक ईश्वरको मानते हैं ।

भाष्यमिकमतावलम्बी सर्वशून्यवाक्का पुरस्कार करते हुए शून्यको ही ईश्वर कहते हैं ।

उपर्युक्त ये चारों वेदको प्रमाण नहीं मानते, अतएव नास्तिक कहलाते हैं । वेदको प्रमाण माननेवाले आस्तिक कहे जाते हैं ।

आस्तिकोंमें पातञ्जलमतानुयायी अनुमानसे ईश्वरको सिद्ध करते हैं ।

‘तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्’ (१-१९)

इस पातञ्जलसूत्रमें ईश्वर-साधकानुमान सूचित हुआ है । उनका यह कहना है कि संसारमें ज्ञान एकमे दूसरेका अधिक और उससे तीसरेका अधिक होता है, यों उत्तरोत्तर अधिकाधिक ज्ञानवान् पुरुष देखनेमें आते हैं । ज्ञानकी अधिकता ज्ञान-विषय पदार्थोंकी अधिकताके कारण होती है, जो जितना ही अधिक पदार्थोंका जाननेवाला होता है वह उतना ही अधिक ज्ञानवान् कहलाता है । इस ज्ञानाधिक्यकी अन्तिम सीमा भी होनी ही चाहिये, क्योंकि तारतम्यवान् पदार्थोंकी अन्तिम सीमा होती है, जैसे कि परिमाणकी । परिमाण तारतम्यवान् पदार्थ है, यथा — राईसे मूँग बड़ा, मूँगसे चना बड़ा, चनेसे आँवला बड़ा, आँवलेसे नीन्नी बड़ा, उससे केल बड़ा, क्रमशः यह बड़ाई बढ़ते-बढ़ते अकाल, पहाड़ी, पहाड़, आकाश आदितक पहुँच जाती है और उसकी अन्तिम सीमा विषु परिमाण माना गया है । इसी प्रकार ज्ञान-महात्मकी अन्तिम सीमा सर्वपदार्थविषयक ज्ञान मानना होगा । तब सर्वविषयक-ज्ञानवान् अर्थात् एक सर्वज्ञ पुरुष अवश्य होना चाहिये । बस, वही ईश्वर है । इसी प्रकार ऐश्वर्यके विषयमें भी मानना चाहिये, ऐश्वर्य भी तारतम्यवान् पदार्थ है, उसकी

भी अन्तिम सीमा होनी चाहिये । सर्वैश्वर्य ही वह सीमा है, तब सर्वैश्वर्यसम्पन्न एक पुरुषकी सत्ता माननी पड़ेगी, बस, वही सर्वेश्वर है ।

वैरोधिकमतावलम्बी भी अनुमानसे ईश्वरका साधन करते हैं । उनका अनुमान इसप्रकार है । हमलोग देखते हैं कि घट आदि कार्य-पदार्थोंके कर्ता होते हैं, कर्ताके बिना कार्य घट आदि पदार्थ नहीं बनते, तब पृथिवी, अंकुर आदि जिन कार्य-पदार्थोंके कर्ता प्रत्यक्षमें दिखायी नहीं देते, उनके कर्ता अवश्य होने चाहिये, क्योंकि वे भी कार्य हैं । वे कार्य इस कारणसे हैं कि साधयव हैं । जिनके अवयव होते हैं वे सब कार्य होते हैं । इसप्रकार जब पृथिवी, अंकुर आदि कार्य-पदार्थोंका कर्ता मानना पड़े और हम जीवोंमें इतना सामर्थ्य नहीं प्रतीत होता कि उन महान् पदार्थोंको हम बना सकें, तब हम जीवोंसे अतिरिक्त एक कर्ता अवश्य होना चाहिये, वही सर्वेश्वर है ।

नैयायिक भी ईश्वरको अनुमानसे ही सिद्ध करते हैं । किन्तु वैरोधिकोंके अनुमानसे नैयायिकोंका अनुमान भिन्न प्रकारका है ।

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनान्

(न्याय ० ४।१।१९)

यह न्यायसूत्र है । पुरुष-जीव प्रयत्न करता है, किन्तु नियमसे प्रयत्नका फल उसको नहीं मिलता । इससे यह सिद्ध होता है कि जीवके कर्मका फल परार्थीन है । जिसके अर्धीन जीव-कृत कर्म-फल है, वही ईश्वर है । सभी अचेतन-पदार्थ किसी चेतनसे अधिष्ठित होकर ही किसी व्यापारको करते हैं । जीवका धर्माधर्मरूप अचेतन-कर्म जिस चेतनसे अधिष्ठित होकर कर्म-फल-दानमें प्रवृत्त होता है, वह चेतन सर्वज्ञ परमेश्वर है ।

सांख्यमतावलम्बी वैरोषिकाद्युक्त अनुमानोंका वृथ्व करते हुए स्वतन्त्र जीवातिरिक्त ईश्वरको न मानकर कहते हैं कि रागादिरहित अणिमादि सिद्धिमान् अनिस्थ ज्ञान-वान् सिद्धपुरुष ही वेद-शास्त्रमें ईश्वरके नामसे व्यबहृत है । इसके अतिरिक्त ईश्वर नामक पुरुष कोई नहीं है । सांख्य-वृक्षानमें —

‘ईश्वरसिद्धेः । मुक्तबद्धयोरन्यतरामावाप्त तत्सिद्धिः ।
उभययाम्यसत्करत्वम् । मुक्तात्मनः प्रशंसा, उपाससिद्धयस् वा ।’

इन चार सूत्रोंमें यही बात कही गयी है ।

वेदप्रामाण्यवादी वेदान्ती लोगोंका कहना है कि ईश्वर अनुमानसे सिद्ध नहीं हो सकता, ईश्वर-सिद्धिमें केवल शास्त्र ही प्रमाण है । वैशेषिकोंने ईश्वर-साधनमें जो अनुमान बताया है, उससे सर्वज्ञ, सत्यसंकरूप, सर्वशक्ति, परम-व्याप्त, सर्वकल्याणपूर्ण ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती । घटको दृष्टान्त मानकर मही, महीधर, सागर, वृक्ष, चंक्र आदि साव्यय कर्त्योंके कर्त्ताका साधन किया जाता है, यह ठीक है । किन्तु इससे जीवमिन्न ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि मही आदिका जो कर्त्ता सिद्ध हो वह जीवमिन्न भी हो । यह सच है कि हमलोगोंमेंसे कोई इनके कर्त्ता नहीं हैं । इसीसे यह मान लेनेकी आवश्यकता नहीं है कि किसी भी जीवने इनकी रचना नहीं की । मनुष्योंमें एक-से-एक बड़कर ज्ञान-शक्तिशाली पुरुष देखनेमें आते हैं, मनुष्योंसे देवताओंकी शक्ति अधिक मानी जाती है, योगी, तपस्वी आदिकी विविध अलौकिक शक्तियाँ सब लोग मानते हैं, ऐसे अलौकिक शक्तिशाली किसी जीवने ही इन मही, चंक्र आदि पदार्थोंकी रचना की, ऐसा मान लेनेमें क्या आपत्ति है ? सिद्धा इसके इन सब चीजोंको एक ही व्यक्तिने बनाया, इसमें ही क्या प्रमाण है ? हम देखते हैं कि छोटी कुटियाको एक ही मनुष्य बना लेता है, बड़े-बड़े राजमहलोंको अनेक मनुष्य मिलकर बनाते हैं, तब ऐसा भी तो हो सकता है कि मही-महीधर आदि बड़ी-बड़ी चीजें एक व्यक्तिनी बनायी हुई न होकर अनेक पुरुषोंकी बनायी हुई हों । ऐसी हास्यमें उक्त अनुमानसे सकल-पदार्थ-निर्माण-वम एक ईश्वरकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? और अनुमानसे जो ईश्वर सिद्ध होगा, वह घटके कर्त्ता दृष्टान्तभूत कुम्हारके समान अपश्य, अपश्यशक्ति कर्मपरकश पुखी ही सिद्ध होगा । मही-महीधर आदिके कर्त्तामें दृष्टान्तभूत घटके कर्त्ता कुम्हारसे कुछ अधिक ज्ञानशक्ति भले ही कार्यानुसार सिद्ध हो, किन्तु जिसप्रकारका ईश्वर शास्त्रसिद्ध है, वैसा अनुमानसे सिद्ध नहीं हो सकता ।

‘अनुमानं ज्ञातसम्बन्धयैरेकज्ञाने नान्यस्य ज्ञानम् ।’

सामान्यतया अनुमानका यह कण्ठ है, अर्थात् जिन दो पदार्थोंमें परस्पर-नियत सम्बन्ध पहले ज्ञात हो उनमेंसे

एकके ज्ञानसे दूसरेका जो ज्ञान होता है वह अनुमान है । अग्नि और धूम इनमें परस्परका सम्बन्ध जिनको मालूम है, उनको उन दोनोंसे एक धूमके ज्ञानसे अग्निका ज्ञान होता है, वही अनुमान कहलाता है । प्रकृतमें मही-महीधर आदि पदार्थोंके कार्यत्वके साथ ईश्वर-कर्तृत्वका कोई भी सम्बन्ध पूर्वमें ज्ञात नहीं है, तब उस कार्यत्वके ज्ञानसे ईश्वर-कर्तृत्वका ज्ञान कैसे हो सकता है ? यही कारण है कि वेद-प्रामाण्यवादी वेदान्ती ईश्वरको केवल शास्त्रसे सिद्ध मानते हैं । सामान्यतया वेदका लक्षण भी वैदिक लोग यही बताते हैं कि—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तुपायो न बुद्ध्यते ।

यत्तं निदन्ति वेदेन तस्मादेतदस्य वेदता ॥

अर्थात् प्रत्यक्ष वा अनुमानसे जो उपाय जाना नहीं जाता, उसको जिससे जानते हों वही वेद है । यहाँ उपाय शब्द होनेपर भी उससे वस्तुमात्रको लेना चाहिये । वेद ऐसे ही तत्त्वोंका बोधन करनेवाला है जो अन्य प्रमाणोंसे नहीं जाने जाते ।

जो ज्ञान इन्द्रियोंसे उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं, जिन दो पदार्थोंका परस्पर-नियत सम्बन्ध पहलेसे ज्ञात हो, उनमेंसे एकके ज्ञानसे दूसरेका जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको अनुमिति या अनुमान कहते हैं । जैसे ये दोनों प्रमाण हैं, जैसे ही शब्दोंके अवगणसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी प्रमाण है, तब ईश्वरकी सिद्धि प्रत्यक्ष तथा अनुमानसे न होकर शब्दसे हो तो इसमें क्या आपत्ति है ? क्योंकि तीनों ही तो प्रमाण हैं ।

स्वतःप्रामाण्यवाद

किसी पदार्थका ज्ञान होनेपर वह दृष्ट-साधन और स्वप्रयत्नलभ्य विदित हो तो उसकी और मनुष्यकी प्रकृति हुआ करती है । प्रकृति ‘सकम्प-प्रकृति’ और ‘निष्कम्प-प्रकृति’ के नामसे दो प्रकारकी होती है । सकम्प-प्रकृति उसे कहते हैं जो मय वा आसंकाके साथ होती है । निष्कम्प-प्रकृति वह होती है जिस प्रकृतिके समग्र मनुष्यके हृदयमें कोई शंका या मय नहीं रहता । इसप्रकारकी निष्कम्प-प्रकृतिके किये पदार्थ-ज्ञानमें प्रामाण्य-ज्ञानकी भी आवश्यकता होती है । कठिन प्रयत्न-साध्य वा बहुविकल्पाव-साध्य कार्यमें मनुष्यकी प्रकृति निष्कम्प-प्रकृति ही होती है और वह प्रामाण्य-ज्ञानके बिना हो नहीं सकती । तब इस बातका विचार करना चाहिये कि मनुष्यको किस

किसी भी वस्तुका अथ ज्ञान होता है, उसके साथ उस ज्ञानमें प्रामाण्य-ज्ञान कैसे होता है। मीमांसकोंका यह कहना है कि किसी भी वस्तुका ज्ञान उत्पन्न होता है तो उस ज्ञानमें उस वस्तुके साथ यथार्थताका भी भाग हो जाता है। उसके किये स्वतन्त्र सामग्रीकी आवश्यकता ही नहीं, जिस सामग्रीसे किसी भी वस्तुका ज्ञान होता है उसी सामग्रीसे उस ज्ञानमें यथार्थताका भी भाग हो जाता है। अतएव दूरसे देखनेवाला अनुपम रजतका ज्ञान होते ही उसे लेनेके किये दौड़ पड़ता है। उसको जो रजतका ज्ञान हुआ वह प्रमाण है वा अप्रमाण—इस तरहका विचार करते हुए वह प्रामाण्य-निश्चयके किये प्रतीका नहीं करता। इससे वह सिद्ध होता है कि उस पुरुषको रजतका ज्ञान जिस समय हुआ था, उसी समय उस ज्ञानमें यथार्थताका भी भाग हो गया था। अन्यथा वह रजत लेनेके किये कैसे दौड़ता? अथार्थताका ज्ञान कारण-दोष और बाधक-ज्ञानसे होता है, स्वतः नहीं। दूरसे देखनेपर एक अनुपमको रजतका ज्ञान हुआ और उसके लेनेके किये वह दौड़ा गया, पास पहुँचनेपर उसको चाँदीके बदले सीप दिखायी दी, तब वह समझता है कि दूरसे देखनेपर मुझे जो चाँदीका ज्ञान हुआ था वह यथार्थ नहीं था। इस प्रकार पूर्वज्ञानमें अथार्थताको समझनेके किये वहाँ दो कारण उपस्थित हैं, एक तो उसको समीप पहुँचनेपर जो सीपका प्रत्यक्ष हुआ वह, इसीको बाधक-ज्ञान कहते हैं, दूसरा दूरत्व-दोषका ज्ञान, यह कारण-दोष कहलाता है। वह निश्चय करता है कि मुझे जो पहले रजतका बोध हुआ था उसमें त्रुटि कारण है। यह दूरस्थत्व-दोष ही रजत-ज्ञानका कारण था। किन्तु यह बात पहले मालूम नहीं होती। पहले तो उसको जो रजत-ज्ञान हुआ था उसको वह यथार्थ ही समझता था, तभी तो वह रजतको लेनेके किये दौड़ा गया था, समीप जानेपर उसको सीप दिखायी दी, तब वह विचार करने लगा कि पहले रजतका बोध कैसे हुआ? प्रत्यक्षमें सीपका ज्ञान हुआ है, तब वह पहलेके ज्ञानको अथार्थ जान लेता है और उसका कारण दूरस्थत्वदोष समझता है। अतएव ज्ञानमें यथार्थतारूपी प्रामाण्यका ज्ञान स्वतः अर्थात् स्वीय-सामग्री-ज्ञान-सामग्रीसे ही हो जाता है। अप्रामाण्यका ज्ञान कारण-दोष और बाधक-ज्ञानसे होता है। यह मीमांसकोंका सिद्धान्त है, इसी सिद्धान्तको वेदान्ती भी मानते हैं। नैवाधिक आदि अन्य मतावलम्बी यथार्थ ज्ञानको गुणज्ञान-अथ मानते हैं। जैसे अथार्थताका ज्ञान कारण-दोष-

ज्ञानसे होता है, वैसे ही यथार्थताका ज्ञान भी गुण-ज्ञानसे होता है। उनका यह सिद्धान्त है। इस विषयपर बड़ा कच्चा कोटिकम चला करता है। वह सब यहाँ नहीं लिखा जा सकता, वेदान्ती स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। यहाँ इतना ही कहा जाता है।

हाँ, तो, जब ज्ञानमात्रमें स्वतः ही प्रामाण्य-ज्ञान होता है, तब वेदजन्य ज्ञानमें भी यथार्थताका बोध होनेमें क्या आपत्ति हो सकती है? जबतक कारण-दोष-ज्ञान और बाधक-ज्ञान न हो तबतकके किये वेदजन्य ज्ञानकी यथार्थतामें कोई बाधा नहीं। वेदरूपी शब्द-राशि, अनाद्य-विशिष्टाध्ययनाध्यापनपरम्परागत अपौरुषेय नित्य निर्दोष ग्रन्थरूप है। शब्दमें और परम्परया शब्दजन्य ज्ञानमें अप्रमाणताका कारणभूत दोष ग्रन्थकर्ताके भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा आदि ही हैं। जिस ग्रन्थके कर्तामें भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा आदि दोष हैं वह ग्रन्थ कर्तृदोषके कारण अप्रमाण होता है। वेद अपौरुषेय अर्थात् किसी भी पुरुष-का बनाया हुआ नहीं है और उसका अध्ययन ऐसे नियमों-के साथ अविच्छिन्नातासे चला जाता है कि जिससे उसमें एक अक्षरका भी वैपरीत्य वा न्यून-अधिक-भाव नहीं हो सकता, अतएव वह नित्य और निर्दोष है। सर्वज्ञ ईश्वर कल्पादिमें केवल उपदेश करता है, पूर्वकल्पमें वेद जिस रूपमें था, उसी रूपमें वह उपदेश करता है, अतएव ईश्वर भी वेदका कर्ता नहीं, उपदेष्टामात्र है। जब कि वेदका कोई कर्ता ही नहीं, तब वेदमें कर्तृ-दोष आ नहीं सकता। इस प्रकार वेदकी प्रमाणताका अंजक कारण-दोषका अभाव है। बाधक-ज्ञान आजतक न हुआ, न होगा, न हो ही सकता है। क्योंकि बाधक-ज्ञान प्रत्यक्षरूप वा अनुमानरूप होना चाहिये, वेदप्रतिपाद्य विषय प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरोंका विषय नहीं है। केवल अलौकिक विषय ही वेदवेद्य है, तब उन विषयोंके विपरीत वस्तु-बोध करनेका सामर्थ्य अन्य प्रमाणोंमें कैसे हो सकता है? अतः कारण-दोष-ज्ञान और बाधक-ज्ञानके अभावमें वेदकी प्रमाणता अनुपपन्न रहती है।

इसप्रकार स्वतः प्रमाणभूत नित्य निर्दोष वेदरूपी प्रमाणासे ईश्वर सिद्ध होता है, इसके विरुद्ध कोई भी प्रमाण काम नहीं कर सकता। यदि कोई प्रत्यक्ष वा अनुमानसे ईश्वरका अभाव सिद्ध करना चाहे तो, उनसे यह कहना चाहिये कि वे दोनों प्रमाण अलौकिक ईश्वरकी सत्तामें जब प्रमाण

नहीं हो सकते तो उसका अभाव ही हमसे कैसे सिद्ध हो सकता है ? हम खोगोंके अनुभवमें नहीं बात पायी है कि जो प्रमाण जिस बस्तुकी सत्ताका बोधन कर सकता है, वही उसके अभावका भी बोधन कर सकता है । हम अपनी आँखोंसे भूतलपर रखे हुए घड़ेको जानते हैं तो उन्हीं आँखोंसे वहाँसे घड़ेको हटा देनेपर घड़ेका अभाव भी जानते हैं । अन्य इन्द्रियोंसे नहीं । आँख मीचकर कोई यह नहीं जान सकता कि सामने क्या है या नहीं । किसी पेड़पर पिशाच है कि नहीं, यह बात हम किसी भी इन्द्रियसे नहीं जान सकते । वहाँपर यह जान लेना चाहिये कि पिशाचकी सत्ता और अभाव दोनों ही हमारे

इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं । आँखसे देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि पेड़में पिशाच नहीं है, क्योंकि पिशाच आँखोंका विषय नहीं है, यद्यपि वहाँ पिशाच दीखता नहीं है, तो भी हम यह नहीं कह सकते कि पेड़में पिशाच नहीं है, क्योंकि पिशाच इन्द्रियवेद्य नहीं है, अतएव उसका अभाव भी इन्द्रियवेद्य नहीं है । जब यह बात है, तो ईश्वरके अभावको ही हम प्रत्यक्ष या अनुमानसे कैसे सिद्ध कर सकते हैं ? ईश्वर इन्द्रियातीत है, अतएव उसका अभाव भी इन्द्रियातीत है । अतएव शास्त्रसिद्ध ईश्वरसत्ताके विरुद्ध बाधक-ज्ञान किसी भी प्रमाणसे हो नहीं सकता, इसप्रकार शास्त्रैकवेद्य ईश्वरकी सिद्धि निर्बाध है ।

अकल्पनीयकी कल्पना

(लेखक-पं० श्रीमयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध' प्रो० हिन्दू-युनिवर्सिटी)

आर्दूलविक्रीडित

सोचें व्यापकता-विमूर्त प्रतिभा है पार पाती नहीं ।
होती है चकितता विलोक विमुता विज्ञानकी विवृता ।
लोकप्राप्त अभिन्तनीय-परम है चूकती चेतना ।
कोई व्यक्त अकल्पनीय-विमुकी कैसे करे कल्पना ? १ ।
आती है सफरी-समूह-उरमें क्या सिंघुकी सिंघुता ?
क्या हाता खग-वृन्द है गगनके विस्तार व्यापारका ?
पाती है न पिपीलिका अवनिकी सर्वाङ्गताका पता ।
कैसे मानन तो महा-महिमकी सत्ता-महत्ता कहे ? २ ।
पेसा अंजन या सका न त्रिससे हांती तमोहीनता ।
कोई दे न सका उसे सद्य हो स्वाभाविकी-दिग्भता ।
जला दूर हुआ न अन्व-दृगको आलोक-माला मिली ।
कैसे लोक विलोक लोक-पतिको लोकोपयोगी बने ? ३ ।
जो है अन्त-विहीन अन्त उसका कैसे किसीको मिले ?
कैसे हो वह गीत गीत रचके जो देव गोतीत है ?
कैसे चित्त सके विचार उसको जो चित्तका चित्त है ?
कैसे लोचन लें बिहङ्ग वह तो है लोचनोमें छिपा ? ४ ।

वंशस्य

कहं उसे तो मति मानवीय क्यों ?
बने न क्यों मूक त्रिलोककी मिरा ?
न वेदद्वारा यदि वेदनीय है ।
अमेदके मेद विमेदकी कथा ॥ ५ ॥

गीत

मूल भूत मन-वचन-अगोचर मव-नियमन-व्रतधारी ।
चिन्तन-मनन-मंत्र-अवलम्बन विनयन-रत अविकारी ॥ १ ॥

विमु है विष-विमूर्त-विवायक ।

अपनी सकल अलौकिकतायें लौकिकता-परिचायक ॥ २ ॥
उसका है अकुण्डपद इससे है वैकुण्ठ-निवासी ।
है वह सत्त्वस्वरूप इसलिये सत्यलोकका वासी ॥ ३ ॥
धीर पिलाकर है अनन्त जीवोंका जीवन-दाता ।
इसीलिये वह धीरसिन्धुका स्वामी है कहलता ॥ ४ ॥
जैसे किसी बीजमें विटपीका विकास है बसता ।
जैसे रविके विपुल करोंमें है आलोक बिलसता ॥ ५ ॥
वैसे ही विलाससे उसके लोक-लोक हैं बनत ।
पलक मारते नम-तल जैसे वर वितान हैं तनते ॥ ६ ॥
बहु-सित-मानु मानु उस वारिषिके हैं विविध बरूते ।
उस महान-उपबनमें तारक हैं प्रसून-सम फूले ॥ ७ ॥
तेज उसीके तेजपुंजसे तेज-बीज है बोता ।
विरच विपुल-अज्ञान-पिण्डको लोक-तिमिर है शोता ॥ ८ ॥
वह समीर जीवन-प्रवाह बन जो पक-पक है बहता ।
उस अनन्त-जीवनके जीवनसे है जीवित रहता ॥ ९ ॥
सलिककी सलिलता उससे ही सहज सरसता पाती ।
रसा उसीके रस-सोचनसे है रसनती कहती ॥ १० ॥

आर्दूलविक्रीडित

लोकोंका लय हो गये प्रलयमें भू-लोप-लीला हुए ।
नाना-भूत-प्रसूत-बाष्प-अणुके संसारम्यापी बने ।
छाये कबलसे प्रगाढ़तमके आधे महा शर्वरी ।
सेता है वह शेष-भूत-मयमें है शेष-ज्ञायी अतः ॥ ११ ॥

ईश्वर-तत्त्व

(लेखक—जीमम्भायसम्प्रदायाचार्य दार्शनिक-सार्वभौम, साहित्य-दर्शनाचार्य, तर्कतन्त्र, न्यायतन्त्र श्रीगोस्वामी दामोदरभा शास्त्री)

गोविन्दचरणद्वन्द्वमधुनो महदद्भुतम् । वत्पापिनो न मुञ्चन्ति मुञ्चन्ति यदपायिनः ॥

स

व पदार्थोंमें ईश्वर ही बुरबगम है। संसारमें अनेकानेक मर्तोंका होना ही प्रधानरूपसे इस बातको सिद्ध करता है।

वस्तुतः ईश्वरकी सत्तामें किसीको भी विबाद नहीं है; ईश्वर-सम्बन्धी जितने मतभेद पाये जाते हैं, सब उसके स्वरूप, लक्षण, कर्तव्य, प्रयोजन और प्रमायसे ही सम्बन्ध रखते हैं। उदाहरणार्थ, किसी स्थानपर 'माफा है या खोरी है, अथवा झकड़ी है या सप है' इत्यादि विकल्प विशेषणोंमें ही होते हैं; परन्तु कुछ वस्तु है, इस विशेष्यमें किसीको भी विरोध नहीं होता। और यह कथन कि, 'ईश्वरकी सत्ताके न माननेवाले मत भी हैं,' उन्मत्त प्रमाण है अथवा अनभिज्ञोक्ति है। क्योंकि ईश्वर ('ऐश्वर्य करना' अर्थवाले) धातुसे स्वभाव-विशेष विशेषणसे विशिष्ट कर्ता अर्थमें 'वरष्' प्रत्यय लगाकर महर्षि पाणिनिने अनादि-सिद्ध ईश्वर-पदका मुक्तार्थ 'ऐश्वर्य स्वभाववाला' बतलाया है। सुतरां ईश्वर-पदके योगरूप अर्थसे ईश्वर नामक वस्तुकी सत्ता सिद्ध होती है।

यह ईश्वर एक ही है, उसकी अनेकता अनपेक्षित है या सिद्ध ही नहीं हो सकती। यह विषय आगे चक्कर स्पष्ट होगा।

हाँ, यह बात दूसरी है कि व्यवहारमें किसी शब्दका प्रयोग रूपसे किंवा वक्ताके योजनसे मुक्तार्थके अतिरिक्त अर्थका ज्ञान करानेवाले 'जबर्बा' नामक अप्रधान सम्बन्धसे कभी अनुक्तार्थके ज्ञानमें भी प्रयुक्त होता है। अतः आंशिक ऐश्वर्यको लेकर जीवनमें भी 'ईश्वर' शब्दका प्रयोग कर दिया जाता है, अथवा केवल सामर्थ्यको निमित्त बनाकर जब-यदार्थके जिये भी ईश्वर शब्दका प्रयोग हो जाता है, जैसे—'प्रायश्चित्तके जिये विष ईश्वर है,' इत्यादि।

परन्तु जब ईश्वर शब्द अनादिपरम्परासे प्राप्त है, तब इसका अर्थ भी अवश्य है और वह अर्थ अनुक्त (गौण) रूपमें विज्ञान्त नहीं हो सकता, क्योंकि मुख्यके बिना अनुक्त (गौण) की सिद्धि ही नहीं हो सकती। ऐसी स्थितिमें स्थूयानिज्ञान-न्यायसे अनीश्वरवादका ईश्वरकी सत्ताकी पुष्टिमें ही पर्यवसान होता है।

ऐसा ईश्वर धर्मिग्राहकमानसे पुण्यविशिष्ट ही सिद्ध

होता है, क्योंकि यदि एकसे अधिक ईश्वरको मानें तो उनके ऐश्वर्यमें या तो समानता माननी पड़ेगी या भिन्नता। यदि समानता मानी जाय तो एकसे अतिरिक्त ईश्वरका उपयोग नहीं देखनेमें आता; और यदि भिन्नता मानें तो वह विरुद्ध वस्तुके अभावमें किसबादी ऐश्वर्यवाला अनीश्वर ठहरेगा। इसलिये एक ही ईश्वर सिद्ध होता है।

ईश्वरके स्वरूपके विषयमें निराकार-साकारवाद भी सर्वसिद्धान्तसमन्वयनयमें प्रकाश-प्रकाशिन्यायसे परस्पर-विरोधी नहीं हैं। ईश्वरकी सच्चिदानन्दमयता भी अनुमानादि प्रमायोंसे सिद्ध है, अर्थात् जिस अनुमानसे प्रकृत ईश्वर सिद्ध होता है, वही अनुमान ईश्वरको त्रिकायमें एकरससत्ता, चिन्मयता, आनन्दरूपता आदि धर्मोंसे विशिष्ट सिद्ध करता है। इसका ही नहीं, बल्कि इसी धर्मिग्राहक-प्रमायसे वह सत्यभाषिता, दयालुता, निरपेक्षता, निष्पक्षपातित्व, राग-ह्रवादिशून्यत्व, सर्वकाम्यत्व, प्रेमवशंवदभावान्त, निश्चिन्त कल्याण गुणोंसे भी नित्य सुन्दर सिद्ध होता है।

शाब्द-प्रमायसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है, किन्तु इसके अधिकारी सब नहीं हैं। प्रामाण्य-स्वतोप्राप्त मानने-वाले पुरुष ही शाब्द-प्रमायके अधिकारी होते हैं। इसी कारणसे इसका उपलब्ध पहले नहीं किया गया है। हाँ, यह दूसरी बात है कि वक्तामें सत्यवादिता प्रमायित होनेपर यदि वह कोई नयी बात कहे तो वह भी प्रमायित समझी जाती है, अतएव परतः प्रामाण्यवादमें आस्त्य-विशिष्ट ईश्वरकी सिद्धिके बाद ईश्वरोंकी वेदोंकी प्रमायतासे अनुमान-द्वारा सर्वथा सिद्ध न होनेवाले सृष्ट्यादि-क्रम प्रवृत्ति अनेक विषयोंकी सिद्धि शाब्द-प्रमायसे ही होती है।

यही सृष्टि आदि क्रिया ईश्वरके कर्म हैं।

यद्यपि किसी प्रयोजनको सामने रखकर ही चेतनमात्र कर्ममें प्रवृत्त होते हैं, तथा प्रयोजनके द्वारा ही किसी प्रवृत्तिमें अभीष्टके अभावका अनुमान होता है; ऐसी अवस्थामें ईश्वरके जिये भी किसी अप्राप्त इष्टके प्राप्ति की इच्छासे स्वकर्तव्यमें प्रवृत्ति होनेसे उसमें पूर्वीक आस-कामताके अभावसे अभीष्टरत्नका अनुमान होता है। परन्तु वह दोष तभी आ सकता है जब प्रवृत्तिका कारण केवल स्वार्थ हो; परन्तु ऐसी बात नहीं है। निश्चयः प्रवृत्तिमें

दो कारण होते हैं, स्वार्थ और कलहा। और ईश्वरकी इच्छाका प्रयोजक जीवोंके ऊपर उसकी कलहा ही है, जिसे ऊपर दयाके नामसे स्थित किया गया है। अतएव जीवोंपर अनुग्रह करना ही ईश्वरका सृष्टि आदि कर्ममें प्रयोजन है। जो दण्ड देनेके योग्य है उसे दण्ड देकर उसके पापोंको दूर करनेमें स्वीकृष्टिसे सहायि उसके प्रति मित्रहकी प्रतीति होती है, तथापि वस्तुतः उसके जीवनकी शुद्धताका विचार करनेसे वह परम अनुग्रहरूप सिद्ध होता है।

इस अनुग्रहको प्राप्त हुए जीवका स्वभाव-सिद्ध सत्त्व-प्रधान अन्तःकरण शान्तिकी शोचमें परित्याग-ताप-संस्कार-दुःखोंसे निश्चित सांसारिक शान्तिसे विरक्त होकर शुद्ध शक्तिके स्थि परमोत्कृष्टत ही असम्भावना, विपरीत आकाश और अष्ट दोषोंको निवृत्त करनेवाले उपायोंमें लगता है। तथा अपने अधिकारानुसार इष्टकी प्राप्तिरूप निश्चित अनुग्रहका आजन होकर कृतकृत्य होता है, प्रकारान्तर-से उसका नृणांनुग्रहरूप प्रयोजन भी सिद्ध होता है।

ईश्वर-सत्ताकी सिद्धिमें साधारणतः तीन प्रकारके विवेक होते हैं—स्थावुरजनन्यायायकम्बी, अम्युपगम-सिद्धान्ती और जल्पक। इनमें अन्तिम जल्पककी बातको कोई भी तत्त्वान्वेधी पुरुष नहीं सुनेगा, क्योंकि तत्त्वान्वेषणमें जल्पकको कोई अधिकार ही नहीं है। दूसरे अम्युपगम-सिद्धान्तीको क्वि तथा अधिकारके अनुसार दुःखकी अत्यन्तिका निवृत्तिसे ही कृतकर्तव्यमन्त्र होमें कोई दोष नहीं आता; और पहिले स्थावुरजनन्यायायकम्बी प्रमाता तो अनुकूल ही होते हैं, तथा जो भ्रान्त होते हैं वह सदा तथा सर्वत्र ही इवलीच होते हैं। इसप्रकार सर्व सामान्य-स्थितिसे कोई भी अनीश्वरवादी प्रसिद्ध नहीं उभरते हैं।

अब जो ईश्वरवादी हैं, उनमें कोई तो त्रिविध शक्ति और शक्तिमार्गमें अनेकवादी हैं और कोई भेदवादी हैं, तथा दूसरे कुछ तात्त्विकवादी हैं। व्यवहारमें जो अनेकवादी भी भेदवादी ही रहते हैं। सबकी दृष्टिमें प्रतीयमान भिन्नता अगति और अस्थिर है, इत्यन्वि वेह प्रासंगिक अन्धका-गोच है। सुखसं विवर्तवाद अन्धका भिन्नताभिरुत-द्विविधपरिणामवाद या आरम्भवादसे जिस किसी प्रकार उपपन्न (सिद्ध) करने के व्यवहारार्थ बना देनेपर प्रधान वस्तु (चरम सत्ता) में कोई विरोध नहीं रहता और अनादि अमरमाकृतकवि और अधिकारके अनुसार जो किसप्रकारसे कृतार्थ होनेयोग्य है वह उसी प्रकार कृतार्थ होता है। जैसे एक ही अन्तिक अन्धक-पाक-पाहुरि सुबोंसे मनुष्य

अवनी-अपनी इच्छाके अनुसार कृतार्थ होता है।

अब निष्पन्न विवेकरीक पुरुष सहज ही समझ सकते हैं कि उपर्युक्त समन्वयरूपी राज-पथमें समस्त वैदिक, अवैदिक, अनीश्वरवादी, ईश्वरवादी पथिक, चार्वाक, जैन, बौद्ध, वैशेषिक, मैथानिक, कापिल, पातञ्जल, जैमिनीय आदि पद्धतियोंसे एवं अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत और द्वैत-सिद्धान्तोंसे, तथा प्रथमिज्ञावाद, शब्दब्रह्मवाद, नादब्रह्मवाद, रसब्रह्मवादरूप सम्मार्गोंसे आगे-पीछे पहुँचकर कभी-न-कभी जिस अप्राकृत नाना नामरूपादि दिव्य विभूतिभूयित वस्तुकी ज्ञात अथवा अज्ञात सहायतासे सर्वप्रधान चरम फलको प्राप्त होते हैं और जो तत्त्व गच्छति, सूर्य, शक्ति, शिव और विष्णुरूपसे भक्तोंको उनकी भक्तिके अनुरूप अनन्त वृत्ति करता है, वही पदार्थ ईश्वर है।

इसप्रकार सूत्ररूपमें वह खोज किया गया है और विस्तार करनेके लिये अवकाश भी नहीं है। यदि इस छोटे खोजसे किसीको भी, महाकवि भवभूतिके—

‘उत्पत्त्येतेऽसि मम कोऽपि स्मामनर्मा
कलो ह्यं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।’

—इस शान्तिप्रद महावाक्यके अनुसार वृत्ति मिली है, ऐसा ज्ञात होगा तो इस अंकुरसे महास्कन्ध शाखा-प्रशाखायुक्त वह कल्पतरु समृद्ध होगा जिसकी छायामें कोई ताप न लगेगा और जिसके फलका आस्वादनकर अनन्त काळतक धुआ-पिपासा आदि समस्त उपद्रव दूर हो सकेंगे।

अब लेखके अन्तमें न्यायाचार्य श्रीमदुदयनाचार्यकृत न्यायकुसुमाञ्जलिके इस पद्यसे—

इत्येवं श्रुतिनीतिसंख्यजैर्मूयामिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः।
किन्तु प्रस्तुतीप्रतीपविचयोऽप्युच्चैर्मनश्चिन्तकाः
काले कारुणिक त्वयैव रूपया ते तारणीयानराः॥

—प्रार्थना करता हुआ और उर्वरके एक विश्व मार्मिक सुकविके—

हिन्दूने सबसमें जलना पाया तेरा,
अतिशेष मुगले राग गाया तेरा;
दहरीने किया दहरसे तबीर तुझे,
इनकार किसीसे न बन आया तेरा॥

—इस सुभाषितके भाव-परिशीलनके लिये पाठ्यपुस्तक-से सादर अनुसंधान करता हुआ विदा होता हूँ। ॐ

ॐ इस लेखमें किसीको कुछ ग्रहण बाधकत्व हो तो सूचना मिलेसे लेखक सादर सप्रमाण कहने का शिक्केको तैयार है

ईश्वरमें विश्वास

(लेखक—पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, प्रिन्सिपल गवर्नमेण्ट संस्कृत-कॉलेज, काशी)



‘कल्याण’ मासिकपत्रके माननीय सम्पादक महाशयने विशेष समारोहके साथ ‘कल्याण’ के ईश्वराङ्कके रूपमें महाशयकी आयोजना की है और उसमें देश-विदेशके ज्ञानी-मानि विद्वानोंको सम्मिलित होनेके लिये सम्मानपूर्वक आमन्त्रित किया है। यह देशके लिये अत्यन्त सौभाग्यका विषय है। वर्तमान-कालमें व्याधि और समष्टिरूपेण जगत्की अनोखी प्रवाह तीव्र गतिसे जिसप्रकार बहिरुक्त दीव रहा है, उसमें आत्मा, ईश्वर, यही क्यों, अतीन्द्रिय जगत्की सत्ताके सम्बन्धमें भी आलोचना करना समयका अप्रत्यक्ष समझा जावगा, ऐसी सम्भावना है। ऐसी अवस्थामें यदि उनके निर्देशके अनुसार ईश्वर-तत्त्वकी चर्चा करनेका सुयोग एवं प्रवृत्ति किसीकी हो तो वह देशका कल्याण-साधन करनेवाले ‘कल्याण’ के लिये उपयुक्त ही होगा। हम श्रीभगवान्से प्रार्थना करते हैं कि वे इस शुभ उद्योगमें सफलता प्राप्त करें।

उन्होंने व्यक्तिगतभावसे चार प्रश्न उत्तरके लिये मेरे पास भेजे हैं। परन्तु मैं इसे व्यक्तिगतरूपमें न लेकर कुछ अंशोंमें व्यापकरूपमें ही ग्रहण करता हूँ। यद्यपि ये प्रश्न सम्पादक महाशयकी ओरसे ही आये हैं तथापि वस्तुतः वे किसी आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानसुके ही स्वाभाविक प्रश्न हैं। अतः इनका उत्तर व्यक्तिगतरूपसे देना समीचीन नहीं मालूम होता। इसके दो विशेष कारण भी हैं—

(क) यदि ये प्रश्न केवल व्यक्ति-विशेषके प्रश्न होते, अर्थात् यदि वे जिज्ञासु होकर प्रतिनिधिरूपसे प्रश्न न उठाते तो मेरा उत्तर भी डीक-डीक व्यक्तिगत होता, क्योंकि इन प्रश्नोंके किसी-किसी अंशका उत्तर देते समय अपने जीवनकी कुछ ऐसी आन्तरिक और बाह्य घटनाओंका उल्लेख करना आवश्यक है जो अन्तरंगरूपसे व्यक्ति-विशेषके प्रति किया जा सकता है। पर जिसका प्रकाश्य-रूपमें लोकसमाजमें कोई भी अनुभवी व्यक्ति उल्लेख करना नहीं चाहेगा।

(ख) साधन-जगत्का जो निगूढ़ रहस्य है, जिसकी प्राप्तिके लिये दीर्घकालतक सत्यस्वरूप सद्गुरुकी कृपाका अवलम्बनकर तीव्र पुरुषार्थका प्रयोग करना पड़ता है, तार्किक-प्रकृति-विशिष्ट तथा साधनहीन पुरुषके सामने उस रहस्यकी आलोचना करना उचित नहीं है। वहाँ इस आलोचनाका यथार्थ फल उत्पन्न नहीं हो सकता।

इन्हीं दो बातोंको सामने रख यथासम्भव संक्षेपमें अधोलिखितप्रश्नमें इन चारों प्रश्नोंकी आलोचना करनेमें प्रवृत्त होता हूँ।

(१)

पहला प्रश्न यह है कि—‘हम ईश्वरमें विश्वास क्यों करें?’ इसका उत्तर देनेके पूर्व मेरा कहना है कि जिन सब वस्तुओंकी सत्ता तथा क्रियाको हम अपनेको कार्योंसे लौकिक दृष्टिसे स्वीकार करनेके लिये बाध्य होते हैं, उनके विषयमें हमारे हृदयमें विश्वासकी उत्पत्ति किस प्रकार होती है? यहाँ ‘विश्वास’ शब्दसे प्रश्नकर्ताका क्या उद्देश्य है, यह बही जानें। परन्तु यह निश्चित है कि जिसे विश्वास कहा जाता है उसकी दो विशेष अवस्थाएँ हैं। इन्हीं दोनों अवस्थाओंका विश्लेषण करनेसे ही विश्वासके कारणके सम्बन्धकी धारणा बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगी। आस-पुरुषोंके मुखसे कोई बात सुनकर एवं उसके विचार करनेकी शक्ति न रहनेपर, अथवा उसके सम्बन्धमें कोई प्रवृत्ति न होनेपर, वह आस-वाक्य सत्य है, ऐसी धारणा स्वभावतः ही मनमें उत्पन्न होती है। बाल्य-कालमें जब बड़ी दादी या दादाजीके मुखसे अनोखी-अनोखी कहानियाँ सुनता था, जब हृदय सरल था तथा सांसारिक संस्कार विशेषरूपसे चित्तमें सज्जित नहीं हुए थे, उस समय कल्पनाके बलसे मनमधुके सामने उन खारी कहानियोंमें वर्णन किये हुए दृश्य मानो जीवितरूपमें चालोंके सामने आ जाते थे। उस समय लौकिक ज्ञान तथा युक्तिका विकास वैसा न होनेके कारण सम्भव था असम्भवका निर्णय नहीं कर पाता था। फलतः कोई भी बात मनमें असम्भव नहीं जान पड़ती थी। जब दादी कहती कि अमुक वृक्षपर भूत रहता है, उसे सुनकर सन्तुष्ट हो सन्ध्याके समय अथवा शून्यरात्रिमें उस स्थान-

के पास होकर जानेमें शरीर काँप उठता था । भूत है, इस बातको सुनते ही सचमुच ही भूतकी सत्तामें विश्वास उत्पन्न हो जाता, युकिकी आवश्यकता अपेक्षित न होती, और न मनमें बैसी प्रवृत्ति ही उत्पन्न होती । बहुतेरे इसे अन्धविश्वासके नामसे पुकारेंगे; परन्तु मेरा कथन यह है कि उपर्युक्त दोनों दृष्टान्तोंसे यही बात समझमें आती है कि मनुष्यकी ऐसी एक अवस्था है जब शब्द-अवगण करते ही अर्थबोधके साथ-साथ शब्दके प्रतिपाद्य विषयके सम्बन्धमें मनमें दृढ़ विश्वास उत्पन्न हो जाता है । यह विषय बहुत ही जटिल है; यहाँतक कि अन्तरष्टि-सम्पन्न मन-स्त्ववेसाधियोंकी भी यह सहाज ही इदृश्यमान होनेका नहीं । तथापि सभी इस बातको अस्वीकार नहीं करते हैं कि इसको समझनेमें किसीको कोई कष्ट नहीं होता । यह जो सरल और स्वच्छ हृदयकी बात कही गयी है, इसका उत्कर्ष किसी व्यक्तिविशेषमें इतना अधिक रह सकता है कि किसी विषयमें वाक्य-उच्चारणके साथ-ही-साथ उसके चित्तमें उसी विषयका दृश्यरूपमें तत्काल ही आविर्भाव हो जाता है । कृत्रिम गन्धदर्पणादि प्रक्रियामें, बालककी दृष्टिके सामने कुछ शब्द उच्चारण करके इच्छानुसार दृश्य या वस्तु प्रकाशित की जा सकती है; इसका भी मूलकारण यही है । वेदान्तके ग्रन्थोंकी आलोचना करनेपर देखा जाता है कि शास्त्रोंमें वाक्य या शब्दसे अपरोक्ष ज्ञान किसप्रकार उद्भूत हो सकता है । इसके विषयमें अनेक प्रकारसे विचार किया गया है । शब्द-माहात्म्यसे मनःशुद्धिके सामने शब्द-बोध्म्य अर्थका किस प्रकार आविर्भाव होता है, यहाँ उसपर आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं । पाश्चात्य देशोंके विद्वानोंने उसपर यथेष्ट आलोचना की है, एवं हमारे शास्त्रोंमें भी उसकी अनेक रहस्यमयी बातोंका वर्णन हुआ है । सम्मोहन-क्रियामें बालकके शब्दके इशारेसे सम्मोहित व्यक्ति कैसे-कैसे अपूर्व धर्य देखता है, इस बातको बहुत छोटा जानते होंगे ।

इससे स्पष्ट हो सकता है कि चित्तके कोमल तथा अपेक्षाकृत स्वच्छ होनेपर विश्वासका बीज सहज ही अंकुरित हो जाता है । इसी कारण बालक या जियाँ चित्तनी आसानीसे विश्वास कर सकती हैं, तर्ककुशल पुरुष उतनी आसानीसे नहीं कर सकता । यह अन्धविश्वास होनेपर भी इस प्रकारकी एक अवस्था है, इसमें सन्देह नहीं ।

वाक्यावस्थामें गृहमें या समाजमें, आचारमें, उपदेशमें

अथवा आलोचनामें एवं सजनोंके संसर्गवश कोमल-हृदयमें इसप्रकारके ईश्वर-विश्वासका बीज घपन हो सकता है । दूसरे देशोंके सम्बन्धमें आलोचना करनेकी आवश्यकता नहीं, परन्तु हमारे देशमें प्राचीन कालमें शैशव-कालसे ही इसप्रकार चित्तमें साधारणतः ईश्वरका विश्वास बढावूल हो जाता था । पिता, माता एवं गुरुजनोंके हृदयकी वृत्तियोंका प्रभाव शिशुके चित्तपर कम नहीं पड़ता है ।

यदि कोई पूछे कि 'विश्वासका कारण क्या है ?' तो इसका उत्तर यही है कि चित्तकी बालकोचित कोमलता एवं स्वच्छताके ऊपर भास-वाक्यका प्रभाव ही इस विश्वासका कारण है । वह अन्धविश्वास होता है, इसमें सन्देह नहीं । क्योंकि इस विश्वासके मूलमें स्व-ज्ञानकी उज्ज्वल दीप्ति नहीं होती । केवल यही बात नहीं, वह अज्ञानके प्रदीपाशोकमें ही वृद्धि एवं पुष्टि प्राप्त करता है । ज्ञानके सम्यक् उदय होनेपर इसप्रकारका विश्वास यथार्थ सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित न होनेसे सदाके लिये समूल उलझ जाता है । बेजब विश्वास बुद्धि और तर्ककी भयानकताको देखकर भयभीत हो उठता है और सांसारिक इन्हूके प्रभावसे निरतेज होकर अश्व्यक (प्रकृति) के गर्भमें विलीन हो जाता है । जीवनके क्रमविकासकी प्रथमावस्थामें इसका उदय होनेपर भी यह पीछे वर्तमान नहीं रह सकता । परन्तु सभी अन्धविश्वास बेजब नहीं होते,—यदि किसी ज्ञानी महापुरुषके वचनोंसे शिशुके हृदयमें विश्वासका बीज अंकुरित हो तो वह कमशः पुष्ट होकर पूर्ण बोधरूप परिणामको प्राप्त हो जाता है । यह विश्वास तत्काल शिशुके निजज्ञानद्वारा प्रदीप्त न होनेपर भी वस्तुतः अज्ञानमूलक नहीं होता ।

इसप्रकार शैशवसुलभ विश्वासका उत्कर्ष तथा उसकी महत्ता भासरूपमें विवेचित पुरुषके वाक्यकी यथार्थतापर ही निर्भर करती है । यदि किसी समय वह मालूम हो जाय कि जिसको भास समझा गया था वह भास नहीं है तथा उसके वाक्य भी सत्य नहीं हैं,—वह किसी समय प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदिकी सहायतासे इसप्रकारका ज्ञान उत्पन्न हो, तो इससे यह पूर्वकालीन विश्वास उलझ जाता है । मनुष्यके शैशवके सम्बन्धमें जो बात है, आनन-जति अथवा समाजकी प्रारम्भिक अवस्थाके सम्बन्धमें भी यही बात होती है ।

सत्यके ऊपर प्रतिष्ठित विश्वासमें अनेकों गुण हैं। युक्ति या तर्क किये बिना ही इसकी प्रेरणासे कर्ममें सहज ही प्रवृत्ति हो जाती है। पश्चात् यथाविधि कर्मके द्वारा फलकी प्राप्ति होनेपर यह विश्वास हट और अचलरूप धारण करता है। अर्थात् सरल विश्वासके द्वारा उस समय संशयादिबिहीन निश्चयात्मक ज्ञानका उदय होता है। तब कुसर्क अथवा नास्तिकोंके कठोर युक्तिजालसे इसकी तनिक भी हानि नहीं होती। इसी प्रकारके विश्वासके ऊपर मानव-जीवनकी अथवा मानव-समाजकी यथार्थ उन्नति निर्भर करती है। किन्तु विश्वासके मूलमें यदि किसी मिथ्याका संशय हो तो इससे उसके द्वारा सत्य फलकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। तथा इससे यथार्थ कर्मका भी विकास नहीं होता। इसप्रकारका विश्वास कुसंस्कारके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। यह युक्ति, विचार और सत्यदर्शनके प्रखर आलोकमें, सूर्यकी किरणोंके स्पर्श करनेपर मेघमालाओंके समान बिलीन हो जाता है। जीवन-पथमें दीर्घकालतक यह मनुष्यके चित्तमें स्थान प्राप्त नहीं करता था नहीं कर सकता।

विश्वासके स्वरूप एवं उसकी अवस्थाका संक्षेपमें वर्णन किया गया। 'हम ईश्वरमें क्यों विश्वास करें?' यह प्रश्न प्राथमिक विश्वासके सम्बन्धमें उठ सकता है और उस चरम-विश्वासके सम्बन्धमें भी उठ सकता है जो कर्म करते-करते प्रत्यक्ष ज्ञानके उदय होनेपर हृदयमें प्रतिष्ठित होता है।

प्राथमिक विश्वास-सम्बन्धी प्रश्नका उत्तर यही है कि ज्ञान, गुरुत्व, अनुभूतिसम्बन्ध महापुरुष सजीने ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार किया है, तथा जगत्के कल्याणके लिये पुनः-पुनः वे उसका प्रचार भी कर गये हैं। उनके प्रामाण्य-सिद्धान्त जबतक प्रबल और प्रतिकूल प्रमाणाँके द्वारा खचित नहीं हो जाते तबतक चित्तकी प्रकृतिके अनुसार उनके ऊपर विश्वास करना बहुतेरके लिये स्वाभाविक है। साधक अपनी आध्यात्मिक साधनामें यथार्थ उन्नति कर लेनेपर किसी समय उसने जिस सरल विश्वासको सत्य समझकर ग्रहण किया था, वह वास्तविक ही सत्य है, इसका प्रत्यक्ष प्रमाणा उसे पद-पदपर मिलता रहता है। अन्त-जीवनके मार्गपर अग्रसर होते-होते ऐसी-ऐसी अलौकिक घटनाएँ घटती हैं, एवं ऐसी-ऐसी असाधारण विभूतियोंके निदर्शन जीवनमें अज्ञान-आवले पुनः-पुनः प्रत्यक्ष होते हैं,

जिनसे विचारशील पुरुष अतीव्रिय-वगाए एवं समस्त जगत्के अचिदात्ता, किसी महाशक्तिसम्बन्ध सत्ताको स्वीकार करनेके लिये बाध्य होता है। साधारण मनुष्यका जीवन प्रायः साधारण पथमें ही प्रवाहित होता है, और उसमें उल्लेखनीय घटना अथवा वैचित्र्य बहुत ही कम होता है। किन्तु किसी महाशक्तिसाक्षी पुरुषके सहवासमें जानेपर उसके जीवनमें ऐसी-ऐसी अद्भुत घटनाएँ घटने लगती हैं जो साधारण मनुष्यके ज्ञान और अनुभूतिके राज्यसे सर्वथा बाहरकी बात हैं। यह घटनाएँ विविध प्रकारकी होती हैं। कुछ तो केवल भावके विकासके रूपमें होती हैं, कुछ भावके साथ बाह्य जगत्से विविध सम्बन्ध रखती हुई और कुछ पूर्णतया वास्तविक जगत्के ऊपर प्रतिष्ठित होती हैं। मैं अपने वक्तव्यको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करके समझानेकी चेष्टा करता हूँ।

कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य गम्भीर रात्रिके समय अत्यन्त दूर अज्ञात देशके जनशून्य प्रान्तमें अथवा वन-भूमिके बीच होकर दीर्घकालतक चलते-चलते क्लान्त एवं हताश होकर जीवनका भरोसा जोड़कर किर्तन्यविसृष्ट हो जाता है। उस एकाकी पथिकका कोई साक्षी सहायक नहीं, कोई सहारा नहीं, यहाँतक कि, कुछ भी पायेय भी नहीं है, स्थान अपरिचित है, मार्ग अज्ञात है, गन्तव्य स्थान बहुत ही दूर है और व्रतक देखनेपर कहीं कोई घर-द्वार अथवा ऐसा कोई मनुष्य नहीं दिखलायी पड़ता जिसे देखकर प्राणमें उत्साहका सञ्चार हो, वह दिनभर अटकता-अटकता क्लान्त हो रहा है, एक प्रकारसे उसे चलनेकी शक्ति भी नहीं रही है, चारों ओर रात्रिका अन्धकार फैला हुआ है, ह्रित पशुओंके आक्रमणका भी भय बना हुआ है और साथ ही भूखसे शरीर शिथिल हो रहा है। जबतक केवल स्थूल वेष्ट और स्थूल जगत्की दृष्टिसे ही मैंने अवस्थाओंका वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त मानसिक तथा अन्ध्यात्म प्रकारकी अवशान्ति भी हो सकती है। इसप्रकारकी अवस्थायें पड़कर उस मनुष्यको कैसी अनुभूति होती होगी, इसका सभी अनुमान कर सकते हैं। इसप्रकारकी घोर विपत्तिके समयमें, जब उसे आसन्न मृत्युकी कराख ज्ञाया सामने दृष्टिगोचर हो रही है; यदि वह पलक मारते ही वह देखता है कि एक दिव्यउद्योतिर्मय मूर्ति क्षिण कल्याणमय एवं प्रशान्त मुखश्रीसे युक्त उसके दृष्टि-पथमें शून्य स्थानमें आभिर्भूत होकर उसके समस्त

अपको हरण कर लेती है, उसे आन्धासन देती हुई कहती है—

‘बन्स ! तुम अयभीत क्यों हो रहे हो; देखो, सामने दीपक जल रहा है, वहाँ जाओ, तुम्हारे सारे अन्धाधूर हो जायेंगे। मैं तुम्हारे साथ हूँ, अन्धाधूर कोई कारण नहीं है।’ इस आन्धासनको सुनकर वह यदि देखता है कि सन्धुष्य ही सामने पर्याकुटीमें दीपक जल रहा है और वहाँ एक मनुष्य मानो उसीकी प्रतीक्षामें बैठा हुआ है। यदि वह वहाँ आश्रय पाता है, श्रुति-निवृत्तिके लिये मनमाना भोजन पाता है, भयसे त्राण पाता है, गन्तव्य स्थानका मार्ग पाता है, तथा राहका साथी पाता है, तो बताइये, इससे उसके हृदयमें किसप्रकारके भावोंका उदय होगा ? वह कितना ही नास्तिक अथवा संशयाक्रान्त चित्त क्यों न हो, उसे मस्तक नत करके यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि मनुष्य-की विचारसीमाके परे कोई छोकोत्तर शक्ति अवश्य ही है, जो असीम और मंगलमय है, जो सदा ही मनुष्यकी अवस्थाएँ देखती रहती है तथा जो घोर विपत्तिमें परम स्नेही मित्रके समान आधिभूत होकर उसकी रक्षा करती है। इस शक्तिको चाहे कोई ईश्वर कहें या किसी दूसरे ही नामसे पुकारें, उससे मुझे यहाँ कोई मतलब नहीं। परन्तु यह एक अद्वैतिक शक्ति-विशेष है, वह चैतन्यमय, प्रेममय एवं सब प्रकारसे असाधारण है, इस बातको स्वीकार करना ही होगा। ऐसा होनेपर वस्तुतः नामान्तरसे ईश्वर-की सत्ता स्वीकार कर ली गयी। हाँ, कोई स्पष्टभावसे ईश्वरके भीतर प्रविष्ट हो सकते हैं और कोई न भी हो सकते हैं। इसप्रकारकी अनेकों घटनाएँ मनुष्यके जीवनमें कभी-कभी घटती हैं, जो लौकिक कार्य-कारणके सम्बन्ध-द्वारा समझायी नहीं जा सकती। एवं जिनका एकमात्र लक्ष्य मनुष्यका मंगल-साधन होता है।

इस प्रसंगमें मैं साधकके साधन-जीवनकी बात नहीं कहूँगा, क्योंकि जो बयार्थ साधक हैं, साधन-राज्यमें प्रवेश कर अन्धात्म-पथमें चलते-चलते उनको तो भगवत्-शक्ति एवं भगवत्-सत्ताके दर्शन सैकड़ों हजारों बार हुआ ही करते हैं। जो सब साधक हैं, वे सरल विश्वाससे प्रवृत्त होनेपर भी क्रमशः ऐसी-ऐसी अभिज्ञता और शक्तियोंका सञ्चय करते रहते हैं, जिससे उनका भगवान्में विश्वास केवल प्रारम्भिक अन्ध-विश्वासमें ही आबद्ध नहीं रहता;

बल्कि इन अभिज्ञता और शक्तियोंके द्वारा वह विश्वास विशेषरूपसे दृढताको प्राप्त होता है।

सुतरां वर्तमान जीवनकी साधनाके फलसे अथवा प्राप्त सुकृतियोंके कारण मनुष्य भगवान्की नाना विभूतियोंके और कल्याणके प्रत्यक्ष दर्शनकर भगवान्की कल्याणमयी सत्तामें अविच्छिन्न विश्वास करनेमें समर्थ होता है। प्राथमिक सरल विश्वासका मूल क्या है, इसका उत्तर पहले दिया जा चुका है। बयार्थ विश्वास क्यों और कैसे होता है, इसका उत्तर भी दिया जा चुका। प्रथम विश्वासके मूलमें हृदयकी सरलता और द्वितीय विश्वासके मूलमें जीवनकी विभिन्न अभिज्ञता तथा भगवत्त्व-सम्बन्धी नाना प्रकारके प्रत्यक्ष दर्शनकी अधिकता होती है।

परन्तु संसारमें सभी लोग भगवान्में विश्वास कर सकेंगे ऐसी आशा नहीं की जा सकती। वास्तव-जगत्का चित्र देखनेपर समझा जा सकता है कि मनुष्यमात्रमें ही भगवद्विश्वास बीजरूपसे निहित होनेपर भी सर्वत्र समभावसे उसकी स्फूर्ति नहीं प्राप्त होती। इसका भी एक समय होता है। मैं पहले यह बतला चुका हूँ कि शिक्षा, संस्कार, आचार, उपदेश, वास्तव और महापुरुषोंके वाक्य आदि शुद्ध चित्तमें ही विश्वासोत्पत्तिके कारण हैं। परन्तु यहाँ भी कालका विचार अवश्य ही करना होगा। जीव जबतक स्थूल तथा अधिरस्थायी वस्तुकी प्राप्तिमें तृप्त होता है, अथवा अभाव होनेपर सहायताके लिये स्थूल-जगत्की ओर ही सन्तुष्ट रहिते देखता है, तबतक अतीन्द्रिय सत्ता-की ओर उसका लक्ष्य नहीं जा सकता। हमारी आकांक्षाएँ यदि दृश्यमान जगत्से ही पूर्ण हो सकती हैं तो फिर उन आकांक्षाओंकी पूर्तिके लिये अतीन्द्रिय सत्ताकी ओर हमारी दृष्टि क्यों जावगी ? किन्तु संसारचक्रमें घूमते-घूमते, नाना प्रकारके भोग एवं अभिज्ञताओंका सञ्चय करते-करते और नाना प्रकारकी तीव्र साधनाएँ करनेपर भी निरन्तर बाधा और प्रतिकूल घटनाओंसे अनोरथ-सिद्धि न होनेके कारण जीव जैसे एक ओर क्रमशः अपनी शक्तिकी क्षुब्धता-का अनुभव करता है, दूसरी ओर वैसे ही सांसारिक शक्तिकी अकिञ्चित्करताको भी उपलक्ष्य करता रहता है। आकांक्षाकी मात्रा बढ़ते-बढ़ते अन्तमें ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है जब उसे ज्ञात होने लगता है कि आकांक्षाकी पूर्णता जगत्की किसी भी वस्तुके द्वारा नहीं हो सकती। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि दीर्घकालके अनुभवके बिना ऐसी

अवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती। परन्तु जब ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है तब सत्यमुच ही जीव अपनेको निराश्रय अनुभव करता है। मनुष्यके जीवनमें इस निराश्रयभावका उत्पन्न ही एक परम पवित्र शुभ सुहृत् है। क्योंकि इसी समयसे जगत्की ओरसे उसकी दृष्टि हट जाती है और वह जगत्के ऊपर किसी अज्ञात और अचिन्त्य शक्तिकी ओर देखता है। इसके बाद आकांक्षाकी मात्रा जिस परिमाणमें घनीभूत होती है स्वाभाविक नियमानुसार ठीक उसी परिमाणमें मनुष्यका ज्ञान अौकिक-जगत्को छोड़कर एक अनन्त सत्ताके क्षेत्रको स्पर्श करता है। अवश्य ही यह विधि और बोधपूर्वक नहीं होता। जबतक मनुष्यके अहंभावकी प्रधानता तरह-तरहसे पुष्ट होती रहती है तबतक उसके लिये अपनेको एक विराट् सत्ताके आश्रित समझना तथा उस सत्तासे अपनेको सत्तावान् समझना असम्भव है। संसारके घात-प्रतिघातसे जब अहंभाव क्रमशः भग्न हो जाता है, एवं जगत्की असारता इत्यङ्गम होती है, तब जगत्के परे तथा जगत्के आत्मभूत ईश्वरीय शक्तिकी क्रिया तथा उसका भाव स्वयमेव प्रकट हो जाता है। इसीलिये जबतक मनुष्यका समय पूरा नहीं होता, अर्थात् जबतक भोगाभिसुखी प्रवृत्ति निवृत्त होकर शान्तभावको धारण करना आरम्भ नहीं करती, तबतक यथाथंरूपसे उसे आगत-सत्तामें विश्वास नहीं हो सकता। श्रीमद्भगवद्-गीतामें लिखा है—अर्था, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी, ये चार प्रकारके मनुष्य भगवान्की भक्ति करते हैं, किन्तु इतनाहीमात्र कहनेसे काम नहीं चल सकता। क्योंकि, संसारमें ऐसे कितने ही अर्था मनुष्य देखे जाते हैं जो ओर विपत्तिके समय भी भगवान्की ओर नहीं ताकते।

इधर जिनको ज्ञान-प्राप्तिकी इच्छा है, अर्थात् जो जिज्ञासु हैं वे सभी भगवान्की भक्ति ही करते हैं, यह भी जगत्का इतिहास देखकर कोई स्वीकार न करेगा। इसी प्रकार जिनको अर्थार्थकी जोग भी सांसारिक अर्थी अर्थात् धनीकी उपासना ही किया करते हैं, अर्थक्षामकी आशामें भूलकर भी वे कभी जगदीश्वरकी शरण ग्रहण नहीं करते। और, शुष्क ज्ञानी भी ज्ञाननिष्ठ होनेपर भी सर्वज्ञानाधार श्रीभगवान्के श्रीचरणमें आत्मसमर्पण करनेमें समर्थ नहीं होते। पूर्व-जन्मके सौभाग्य अथवा भगवान्की विशेष कृपाका सम्भार हुए बिना भगवान्की ओर चित्तके छग जानेकी आशा दुराशामात्र है, श्रीभगवान्ने गीतामें भी

‘सुकृतिनः’ इस विशेषणके द्वारा समझ दिया है कि सुकृति हुए बिना केवल आर्त्ति, जिज्ञासा, अर्थकी आकांक्षा अथवा ज्ञान-सम्पत्तिद्वारा ही चित्त भगवान्की ओर आकृष्ट नहीं होता।

अतएव जो भगवान्में आस्था स्थापन नहीं कर सकते, उनका अभी समय पूरा नहीं हुआ है, यही समझना होगा, और जिनके चित्तमें भगवद्भिश्वास उत्पन्न हो गया है, उनका समय पूरा हो जानेके कारण ही आत्मवाक्य, शिक्षा, संसर्ग प्रवृत्ति निमित्तोंके अवलम्बनसे विश्वास जाग उठा है। कर्मपथमें अग्रसर होते-होते प्रत्यक्ष-ज्ञानके आधिर्भावमें वह विश्वास घनीभूत हो जायगा।

(१)

दूसरा प्रश्न यह है कि, ‘भगवान्में विश्वास नहीं करनेसे हानि क्या है?’ इस प्रश्नके उत्तरमें मेरा कहना यही है कि ‘यदि भगवान्में विश्वास करनेका कोई आध्यात्मिक मूल्य है तो वह मानना होगा कि विश्वास नहीं करनेसे अवश्य ही हानि होगी। परन्तु बात यह है कि विश्वास जिसप्रकार बलात् उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार अविश्वास भी बुद्धि वा तर्कके बलसे दूर नहीं होता। पहले ही कहा जा चुका है कि मनुष्य जब अपने अहं-भावकी सीमाको देखता है और समझता है कि किसी अचिन्त्य-शक्तिके प्रतिघातसे उसका पुरुषार्थ पद-पदमें कुण्ठ होता रहता है और जब वह यह अनुभव कर सकता है कि जिसे हम बाधा जगद् कहते हैं, उसकी शक्ति भी परिमित और सीमित है, तब स्वभावतः उसका ध्याकुल-चित्त विश्व-ब्रह्माण्डको जाँचकर एक असीम तत्त्वकी ओर दीवता है। किन्तु जबतक प्राकृतिक क्रम-विकासके नियमानुसार इसप्रकारकी अवस्था आधिर्भूत नहीं होती तबतक बलपूर्वक भगवान्में विश्वास करनेकी चेष्टा निष्फल-प्रयास-मात्र है। यद्यपि भगवान्में विश्वास कर सकनेपर मंगल-सोपानमें पदार्पणकर धीरे-धीरे परम मंगलके पथपर अग्रसर होनेका उपाय सहज ही हो जाता है तथापि अब-तक यह स्वभावतः ही इष्टवर्मे उदित नहीं होता, तबतक अविश्वाससे हानि होनेपर भी उसे स्वाभाविकरूपसे नतमस्तक होकर ग्रहण करना ही पड़ता है। कोई भगवान्में विश्वास करता है और कोई नहीं करता—इन दोनों क्षेत्रोंमें विचार कर देखनेपर ज्ञात होता है कि दोनों ही भगवान्के मंगल-मय विधानके अन्तर्गत हैं। उनमें विश्वास न करना भी उनके नियमके बाहरकी बात नहीं है। आज जो आत्मवश

विश्वासके सोपानपर पैर रखनेके अधिकारी हो रहे हैं, यदि उनके सुदीर्घ ज्ञात जीवनके इतिहासका अन्वेषण किया जाय तो ज्ञात होगा कि वे भी एक समय अविश्वासी थे। सब मनुष्य सृष्टिके आविसे ही भगवान्में विश्वासी होकर संसार-भोजन नहीं खाते ? पहले उदासीनता रहती है, वही उदासीनता आगे बढ़कर अविश्वासमें परिणत हो जाती है और अन्तमें वही अविश्वास विश्वासके स्वर्णबोक्में वेदीयमान हो उठता है। जिनमें अन्तर्दृष्टि होती है वे मनुष्यके बाह्य आचार एवं स्थूल आचरण देखकर उसके चित्तकी शुद्धताकी मात्राका निर्देश नहीं करते, वे जानते हैं कि आज जो अविश्वासी है वही कल अपने ओगोंके पूर्ण होनेपर तथा निवृत्तिमुखी गतिका पूर्वाभास प्राप्त होनेपर—अनन्य अन्तके रूपमें उन्नत हो उठता है। प्राचीन ईसाई-संघके इतिहासकी आलोचना करनेपर ज्ञात होता है कि 'पावल' (Paul) एक समय ईसाइयोंके घोर विद्वेपी समझे जाते थे, कालान्तरमें वे ही ईसाके अन्तरंग अन्तोंमें मिले जाने लगे। समस्त धर्मोंके इतिहासमें बारम्बार इसप्रकारके वृत्तान्त मिलते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, इससे कोई यह न समझे कि मैं अविश्वासका समर्थन कर रहा हूँ। मेरा कथन केवल यही है कि मनुष्यके जीवनमें अविश्वासका भी एक समय निर्दिष्ट रहता है। अविश्वास भी परिणाममें विश्वासका रूप धारण करता है अतः वस्तुतः वह हानिकारक नहीं है। किन्तु जो अदूरदर्शी हैं वे वर्तमान अवस्थाको ही एकमात्र अवस्था समझते हैं, इसीलिये वे कहते हैं कि भगवान्में विश्वास नहीं करनेसे छति होनेकी सम्भावना है।

सुतराँ व्यापकदृष्टिसम्पन्न ज्ञानीके दिव्य नेत्रोंके सामने अविश्वासकी भी एक मर्यादा होती है। अवश्य ही औक्तिक अपूर्ण दृष्टिसे अविश्वासके दोष एवं अपकार स्पष्ट ही देखनेमें आते हैं।

'ईश्वरमें विश्वास न करनेसे क्या हानि होती है,' इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि परमार्थ-दृष्टिसे हानि होनेपर भी इस अविश्वासके अभिव्यक्ति उन्नतिके लिये आवश्यक होनेके कारण इस हानिको वस्तुतः हानि नहीं समझना चाहिये। भगवान्को न मानना यदि उनके ज्ञानके ही पूर्वाङ्ग हो तो वह हानि सामयिकमात्र है, किन्तु परिणामकी दृष्टिसे वह अवश्य ही स्वीकार करने

योग्य है। परन्तु व्यावहारिक दृष्टिसे भगवान्में अविश्वास करना घोर अनर्थका कारण है। ईसा कहते हैं—

'He that believeth and is baptised shall be saved; but he that believeth not shall be condemned.' (Aristion's Appendix--Mark 16--16)

अर्थात् जिसके चित्तमें विश्वास उत्पन्न हो गया है तथा जो भगवत्-शक्तिके द्वारा अभिषिक्त हो गया है, वह संसारसे उत्तीर्ण हो जायगा; परन्तु जो अविश्वासी है उसे अंधंकर भुगति भोगनी पड़ती है। गीतामें लिखा है—'संशयात्मा विनश्यति।' इसप्रकार सजी धर्मोंमें विश्वासकी प्रशंसा और अविश्वासकी निन्दा पायी जाती है। जिनको अन्तर्जगत्के सूक्ष्म तत्त्व अवगत हैं, वे जानते हैं कि भाव और विषयके भेदसे चित्तकी अवस्थामें परिवर्तन होता है। जिसका चित्त जिसप्रकारके भावबाध होता है, वह उसी प्रकारका फल प्राप्त कर सकता है। जिस किसी विषयमें विश्वास किया जाय, उसके साथ चित्त सम्बद्ध होता है और चित्त उसी भावसे आविष्ट हो उठता है। ईश्वर यदि सत्य है और चित्त यदि इसपर विश्वास करके तन्मात्रसे आविष्ट हो सके, चाहे वह विश्वास ज्ञानमूलक न हो—तो इसी विश्वासके बलसे भगवान्के साथ मनुष्यके चित्तका एक सम्बन्ध हो जाता है। इसके फलस्वरूप उस चित्तमें अज्ञातरूपसे भगवत्-शक्ति नाना प्रकारसे उसपर कार्य करती रहती है। सत्यमें प्रतिष्ठित विश्वासके द्वारा इसी प्रकार धीरे-धीरे पूर्ण सत्यका बोध उत्पन्न होता रहता है। भगवान्में विश्वास कर सकनेपर मनुष्य उनकी आकर्षण-सीमामें पड़ जानेके कारण क्रमशः उनके निकटवर्ती होता जाता है, फिर सांसारिक वासनार्थ उसे बाँध नहीं सकती। सत्य-विश्वासके प्रतापसे लैकड़ों दोष दूर हो जाते हैं। इसीसे अविश्वाससे होनेवाली हानिका अनुमान किया जा सकता है। नित्य और आनन्दमय वस्तुमें विश्वास हुए बिना अमरत्व और आनन्दमय सत्तामें स्थित होनेकी भाशा कुराशामात्र है। नित्य वस्तुके साथ सम्बन्ध न होनेसे जीवको निरन्तर संसार-चक्रमें घूमना पड़ता है, अर्थात् इससे अधिक हानि और क्या हो सकती है? विश्वासका फल अमरत्व है और अविश्वासका फल मृत्यु-राज्यकी मखिनता और अन्धकार है।

तथापि यह बात याद रखनी चाहिये कि यह औक्तिक दृष्टिका ही लयाधान है। दिव्य दृष्टिसे सत्य भी अदृश्य

छापा होनेके कारण अर्थगणका कहीं लेखमात्र भी छपि-
गोचर नहीं होता।

(३)

प्रश्नकर्ताका तीसरा प्रश्न है कि 'ईश्वरके अस्तित्वमें कौन-कौनसे प्रमाण हैं?' इस प्रश्नका उत्तर देनेके पूर्व यह कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि सांसारिक विचार-दृष्टिसे ईश्वरकी सिद्धि अथवा स्वरूपमें जो कुछ युक्तियाँ दी जायँगी, उनमेंसे कोई-सी भी ऐकान्तिकरूपसे सर्वत्र गृहीत नहीं हो सकती। उद्यमनाचार्यने अपनी 'कुसुमाञ्जलि' में नैयायिक पक्षको आकलन करते हुए ईश्वर-वाचक प्रमाणों-का खपतकर ईश्वर-साधक प्रमाणोंको सुचारुरूपेण प्रदर्शित किया है। उनके परवर्ती अनेक विद्वानोंने उन्हीं-का अनुसरण करते हुए इस विषयकी आलोचना की है। उपर्युक्तने 'सिद्धिब्रयी' नामक ग्रन्थके 'ईश्वर-सिद्धि' नामक अंशमें, तथा अमिनव गुप्ताचार्यने 'ईश्वर-अव्यभिक्ता-विमर्शिकी' नामक ग्रन्थमें कारमीर-शैव-आगमके प्रतिनिधिरूप होकर ईश्वर-तत्त्वकी आलोचना की है। यासुनाचार्य 'सिद्धिब्रय' नामक ग्रन्थमें, लोकाचार्य 'तत्त्वत्रय' नामक ग्रन्थमें, तथा वेदान्तदेशिकाचार्य, श्रीनिवासाचार्य प्रभुतिने अनेकों स्थलोंमें श्रीवैष्णवसम्प्रदायके पक्षको लेकर ईश्वरवादकी आलोचना की है। इसप्रकार प्रत्येक सम्प्रदायने अपने-अपने ग्रन्थोंमें अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोणसे ईश्वर-तत्त्वकी समालोचनाके प्रसंगमें साधक और साधक युक्तियोंका तात्त्विक विचार किया है। पाश्चात्यदेशमें भी अनेकों स्थलोंमें इस विषयकी बारम्बार आलोचना हुई है। प्राचीन ईसाई तथा अन्यान्य धर्म-सम्बन्धी ग्रन्थोंमें, विशेषकर मध्ययुगीय Schoolmen आदिके दार्शनिक विचारपूर्वक शास्त्रीय व्याख्यात्मक ग्रन्थोंमें इस आलोचनाके नैतिक, भौतिक और आगमिक उपपत्तिके अनुकूल बहुतेरी बातें कही गयी हैं। वर्तमान समयमें भी जो मनीषी पुरुष विश्रामवेष्टा होते हुए भी ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास रखते हैं, वे भी युक्तिकपूर्वक अपनी-अपनी धारणाके अनुसार इस विषयमें ग्रन्थ रच गये हैं।

परन्तु इन सब आलोचनाओंको पढ़कर बुद्धिके परिमाजित होनेपर भी किसीको ईश्वरमें तनिक-सा भी विश्वास बढ़ता है या नहीं, यह सन्देहका विषय है। प्रथम और द्वितीय प्रश्नके उत्तरमें मैंने जो कुछ कहा है उससे स्पष्टतः समझा जा सकता है कि केवल युक्ति-बलसे कोई कभी ईश्वरकी सिद्धि नहीं कर सकता। युक्तिके सुप्रतिष्ठित होनेसे उसके

द्वारा ईश्वरकी सत्ताके सम्बन्धमें एक आनुमानिक ज्ञान होता है, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु युक्तिका प्रतिष्ठित होना ही कठिन है। नैयायिक जिस युक्तिद्वारा ईश्वरकी सिद्धि करते हैं, मीमांसक लोग उस युक्तिको युक्तिका आभासमात्र समझते हैं। कार्य देखकर चेतनकर्ताका अनुमान करना अथवा केवल कारणमात्रका अनुमान करना, एक विवाद-ग्रस्त विषय है। इसी प्रकार सर्वत्र देखा जाता है।

वस्तुतः प्रयोग-कुशल शक्तिशाली पुरुषके हाथसे अन्व-विशेष जिसप्रकार कार्यकारो होता है उसी प्रकार सिद्धि-सम्बन्ध शक्तिशाली पुरुष-विशेषद्वारा प्रदर्शित युक्ति ही सार्थक होती है; जिन्होंने स्वयं प्रत्यक्ष ज्ञानकी प्राप्ति की है, तथा जो दूसरोंको, प्रयोजन होनेपर, अवस्था-विशेषमें सम्मिलित विषयको प्रत्यक्षरूपसे दिखा देनेकी क्षमता रखते हैं, उनकी ही हुई युक्ति युक्ति होनेपर भी दूसरोंको समझानेके लिये अधिक उपयोगी होती है। यदि ऐसा न होता तो बहुत दिन पूर्व ही विचारके द्वारा ईश्वरका अथवा अन्य किसी अतीन्द्रिय-सत्ताका रहस्य मीमांसित हो जाता। सुतरां मैं ईश्वरके अस्तित्वके समर्थनमें जो युक्तियाँ उपस्थित करूँगा, उन सबको आपेक्षिक ही समझना होगा। क्योंकि अवस्था-विशेषमें वे युक्तियाँ प्रयुक्त न हो सकेंगी तथा प्रयुक्त होनेपर भी उनकी सारवत्ता न रहेगी।

'ईश्वर' शब्दसे मेरा अभिप्राय 'संसारकी सृष्टि, स्थिति और संहारके कर्ता एवं अनुग्रह और निग्रहके हेतुभूत (कारण-स्वरूप) सच्चिदानन्दमय अनन्तराक्तिसमन्वित सत्ता-विशेष' से है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस सत्तामें जो शक्तियाँ निहित रहती हैं उन शक्तियोंकी साम्बाधस्थाको ही ईश्वरका 'ब्रह्मभाव' कहते हैं। वैयर्थ्यकालमें कोई भी शक्ति प्रधान होकर इतर शक्तिको अभिभूतकर प्रकाशित हो उठती है, इससे केवल उसी शक्तिकी क्रिया दिखायी देती है। इसप्रकार पृथक्-पृथक् रूपसे सृष्टिमें अनन्त शक्तियोंकी क्रिया दृष्टिगोचर होती है। सृष्टिके अन्तमें किसी भी शक्तिकी उपलब्धि नहीं होती, तथा शक्ति और शक्तिमात्र अभिन्न साधसे एकरस हो प्रकाशित रहते हैं। संसारमें जो कुछ है, अथवा होगा, सब ईश्वरसे उद्भूत है, ईश्वरमें स्थित है एवं ईश्वरमें ही विधीन होता है। इसलिये जबतक जगत् है, तबतक जगत्के आधयरूप—जिसप्रकार कलाशय तरंगोंका आशय होता है उसी प्रकार—ईश्वरसत्ताको अनुसन्धानपूर्वक प्रत्यक्ष करना होगा। केवल यही नहीं,

सांसारिक सत्ता भी मूलतः ईश्वरीय सत्तासे अभिन्न है, इसकी भी उपलब्धि करनी होगी। प्रथममें जगत् जिनमें बिहिन हो जाता है, तथा उस समय जो अवशिष्ट रहता है, उस बिद्युद् ईश्वरीय सत्ताको भी समझना होगा। जगत्की स्थितिके समय इसके संरक्षक, नियामक, रक्षक और बहोतक कि भोकारूपमें भी ईश्वरकी सत्ता अनुसन्धान-योग्य है। जो कक्षा और विद्यारूपा शक्तियाँ प्रवाहरूपमें प्रवर्तित हो व्यावहारिक जगत्का कार्य-साधन कर रही हैं, उनकी मूल प्रवृत्ति अहाँसे होती है वही ईश्वर है। इस-प्रकारसे भी सर्वशक्तिके अभिजाताके रूपमें भी ईश्वरके अस्तित्वकी धारणा करनी होगी।

इस परिचरपमान जगत्की पर्यालोचना करनेसे पता लगता है कि बौद्धिक प्रत्यक्षगोचर स्थूल सत्ताके अन्तराक्षमें एक शक्तिमयी सूक्ष्म सत्ता वर्तमान रहती है। शक्तिके बिना कोई क्रिया नहीं हो सकती। जिस किसी वस्तुमें क्रिया हो, उसके मूलमें शक्तिको प्रेरणा रहती है, इस बातको मानना ही होगा। किसी कौशलसे शक्तिका निरोध कर सकनेसे उसके फलस्वरूप क्रिया भी निवृत्त हो जाती है। मनुष्यके शरीरमें वसन, भक्षण प्रभृति क्रियाएँ अथवा ज्ञान, गमन, उत्सर्ग आदि क्रियाएँ निरन्तर हो रही हैं। इन सब क्रियाओंके मूलमें एक शक्ति है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी प्रकार बाह्य-जगत्में वायुका सञ्चलन, मेघका गर्जन, बिद्युत्की दीप्ति इत्यादि नाना प्रकारकी क्रियाएँ दीप्त पड़ती हैं। जब क्रियाके द्वारा ही शक्तिका अनुमान होता है, तब विभिन्न क्रियाओंके पार्यन्तसे शक्तिके पार्यन्तको भी स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु जिन लोगोंने जड़-विज्ञानकी दृष्टिसे शक्ति-तत्त्वकी आलोचना की है, वे जानते हैं कि एकजातीय शक्तिसे अन्धजातीय शक्तिका आविर्भाव होता है। शक्तियाँ केवल परस्पर सम्बन्धित हैं ऐसी बात नहीं है, उनके मूलमें एकके सिवा दूसरी शक्तिका पता नहीं लगता। एक ही महाशक्ति आधार-मेघसे भिन्न-भिन्न शक्तिरूपमें प्रकाशित हो भिन्न-भिन्न कार्य करती है—

‘एकेव सा महाशक्तिः तथा सर्वमिदं ततम् ।’

चरखोका यह महावचन बीसवीं शताब्दीके विज्ञानको भी सिर झुकाकर स्वीकार करना पड़ा है।

किन्तु इस शक्तिका स्वरूप क्या है? कहना नहीं होगा कि इस सम्बन्धमें विज्ञान अवगत कुछ भी समाधान नहीं कर

सका है। शक्तिके अस्वरूप रूपके विज्ञानके दृष्टिगत होनेमें अभी देर है। किन्तु उसके परिच्छिन्न रूपके सम्बन्धमें वैज्ञानिक जगत्में यथेष्ट गवेषणा हो चुकी है। सिद्धान्त यह कि शक्ति ही घनीभूत होकर भौतिक सत्ताके रूपमें आविर्भूत होती है, तब उससे ऐसे अनेकों धर्मोंका विकास होता है जिनका अस्तित्व बिद्युद् शक्तिकी अवस्थामें खोजनेपर भी नहीं मिलता। वस्तुतः भौतिक रूप नियन्त्रित अथवा बद्ध अवस्थामात्र है। क्योंकि शक्तिको यन्त्रद्वारा बद्ध न कर सकनेपर उससे स्थूल भावका विकास सम्भव नहीं है। दूसरे प्रकारसे इस बन्धनको मुक्त कर देनेपर अर्थात् स्थूल-भावसे स्थूलत्वको हटा लेनेपर सत्ता बिद्युद् शक्तिके रूपमें ही पर्ववसित हो जाती है। अतएव शक्ति और भौतिक सत्ता, अवस्थागत भेद रहनेपर भी वास्तवमें अद्वैत है। शक्तिकी इस विभन्नित्र अवस्थाको सुष्टिमें हम निरन्तर सर्वत्र देख रहे हैं। बिद्युद् शक्तिके स्वरूपको साधारणतः कोई प्रत्यक्ष नहीं देख सकता, तथा कोई शक्तिशाली पुरुष यदि उसे दिल्सा भी दे तो साधारण जीव उसके तेजको सहन नहीं कर सकता। सांसारिक क्रिया, परित्याग, विपाक प्रभृति व्यापारोंसे साधारण मनुष्य केवल शक्तिका अनुमान कर सकते हैं। इससे अधिक अग्रसर होनेका अधिकार साधारण मनुष्योंको तो है ही नहीं, जड़-विज्ञान-वादी वैज्ञानिकोंको भी नहीं होता। जो लोग विचारशील एवं कर्मी हैं, अर्थात् जो लोग केवल प्रवाहके साथ न बहकर अपने विवेक और विचारके आश्रयसे दरयमान वस्तुके सूक्ष्म तत्त्वको ढूँढ़ निकालनेके लिये उद्यमशील हैं, उन्हें यह स्वीकार करना ही होगा कि इस स्थूल सांसारिक अवस्थाके अन्तराक्षमें एक विराट् शक्तिमय अवस्था है। आस्तिक और नास्तिक, ईश्वरके विभासी और अभिभासी समीको यह स्वीकार करना होगा, किन्तु प्रश्न यह है कि इस शक्तिका स्वरूप क्या है? यह शक्ति चैतन्य है या जड़, इसका विवेचन करनेके पहले यह देखना होगा कि इसके साथ मानवीय इच्छा-शक्तिका कोई सम्बन्ध है या नहीं। क्योंकि, इच्छाको मध्यमूमिमें न रख सकनेसे एक ओर ज्ञान और दूसरी ओर क्रियाका पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता। क्रियासे केवल शक्तिका अनुमान किया जा सकता है। किन्तु वह शक्ति यदि इच्छारूपा न हो तो उससे ज्ञानका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। जैसे ही ज्ञानसे इच्छाका विकास किस

प्रकार होता है, इसे न जाननेसे, तथा इच्छाकी शक्तिके रूपमें उपलब्ध न होनेसे उससे क्रियाकी उत्पत्ति होना युक्ति-द्वारा नहीं समझाया जा सकता। जिस विराट् महाशक्तिके पुत्रतम अंशके प्रभावसे विशाक जगत्की अनन्त प्रकारकी क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं उसके साथ इच्छा-शक्तिका क्या सम्बन्ध है, यही सर्वप्रथम विचारणीय है।

साधारण दृष्टिसे सांसारिक क्रियाकलापको इच्छाकृत एवं अनिच्छाकृत, इन दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। इच्छासे जो कार्य निष्पन्न होता है वह इच्छाकृत कार्य, तथा उससे भिन्न सभी कार्य अनिच्छाकृत एवं स्वाभाविक होते हैं। मनुष्यके देहमें जो वास्तविक क्रियाएँ होती हैं, उनमेंसे अधिकांश ही इच्छापूर्वक नहीं होती।

किन्तु इस बातको बहुत जोग जानते हैं कि ये सारी अनैच्छिक क्रियाएँ भी विशेष चेष्टा और कौशलके द्वारा दीर्घकालमें इच्छाके अधीन हो सकती हैं। अतएव वैदिक क्रियाओंमेंसे जो साधारणतः इच्छाधीन नहीं होती, वह भी कालक्रमसे इच्छाधीन हो सकती हैं। इससे स्पष्ट ही समझा जा सकता है कि मनुष्यकी इच्छा-शक्ति यदि उस प्रकारसे परिष्कारित एवं परिशोधित हो तो उससे देहकी समस्त क्रियाओंको नियन्त्रित किया जा सकता है। जब इच्छाद्वारा किसी भी कार्यकी प्रवृत्ति, निवृत्ति अथवा परिवर्तन सम्भव है तो फिर यह स्वीकार किये बिना नहीं चल सकता कि इच्छा ही क्रिया अथवा कार्यका मूल है। अवश्य ही यह वैदिक क्रियाके विषयमें कहा गया है। किन्तु यदि बाह्य क्रियाका भी इसप्रकार व्यक्ति-विशेषकी इच्छाद्वारा नियन्त्रित किया जाना सम्भव हो, तो बाह्य क्रियाके मूलमें भी इच्छा-शक्ति है, इसमें सन्देह नहीं रह जाता। इस इच्छा-शक्तिकी मात्रा सर्वत्र समान नहीं है। इसलिये इससे जितनी बाह्य क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं, वे भी सब क्षेत्रोंमें एक-सी नहीं होती। अर्थात् यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि इच्छा-शक्तिकी तीव्रता सर्वत्र एक-सी ही होती है। अतएव जिस शक्तिले बाह्यजगत् एवं अन्तर्जगत्में सब प्रकारकी क्रियाएँ निष्पन्न होती हैं वह इच्छास्वरूप ही है; यही हमारा प्रतिपाद्य सिद्धान्त है। जिन जड़-शक्तियोंसे हम परिचित हैं वस्तुतः वे सभी केवल इच्छा-शक्तिकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं। ऐसा न होता तो उन शक्तियोंके विपरीत इच्छा-शक्ति कार्य न कर सकती। अन्धकारपूर्णशक्ति, वैद्युतिक शक्ति,

आणविक आकर्षण और विकर्षणशक्ति—ये समस्त शक्तियाँ विद्युत् और संपत् इच्छाके द्वारा अधीन हो सकती हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि आविर्भूत इच्छाकी मात्राकी अपेक्षा जिन शक्तियोंकी मात्रा कम होती है, वे इच्छाके द्वारा अभिभूत होती हैं। एवं जिनकी मात्रा अधिक होती है वे प्रबल होनेके कारण इच्छाको अभिभूत कर रखती हैं। प्राक्तन-इच्छा ही वर्तमानकालमें जड़-शक्तिके रूपमें प्रकटित होती है। वर्तमान इच्छा प्राक्तन-इच्छाके विरोधी होनेके कारण जब प्रबल होती है तो प्राक्तन-इच्छा स्वयमेव अभिभूत हो जाती है। जड़-शक्तिका ही दूसरा नाम जड़त्व है, एवं इच्छा-शक्तिका दूसरा नाम पुरुषार्थ है। वस्तुतः इन दोनों शक्तियोंमें कोई भेद नहीं। बोध-क्षेत्रमें शक्तिका प्रकाश होनेसे यही इच्छा अथवा पुरुषार्थके रूपमें अभिव्यक्त होती है। दूसरी ओर अबोध-भूमिमें अर्थात् बोध-राज्यके लक्ष्यसे यदि शक्तिका विकास होता है तो उसीको जड़त्व या जड़-शक्ति समझना चाहिये। वस्तुतः दोनों शक्तियाँ एक ही हैं।

जब हमारे परिचित ज्ञानका आलोक क्रमशः अधिकतर विद्युत् होकर निर्मल प्रकाशके रूपमें परिणत होता है तब जान पड़ता है कि बोधराज्यके लक्ष्यक्षेत्रों में भी बोध रहता है अर्थात् तब ज्ञानके विस्तारकी सीमा अनन्त हो जानेके कारण अज्ञानकी सत्ता कहीं इँदने नहीं मिलती। तब जान पड़ता है कि सभी शक्तियाँ शुद्ध बोधमय क्षेत्रसे उठती हैं। अतएव अभिव्यक्त शक्तिमात्र ही इच्छास्वरूप है। यही विराट् महाशक्ति, जिसे इच्छा-शक्ति या ऐश्वर्यिक शक्तिके रूपसे वर्णन किया गया है, आगम-शास्त्रोंमें जगद्गन्ना अथवा जगत्प्रसूतिके नामसे वर्णित हुई है। शिवसूत्रकार कहते हैं—

‘इच्छाशक्तिरुमा कुमारी।’

संसारका मूलकारण असीतक वैज्ञानिकोंके दृष्टिपथमें यथार्थरूपसे नहीं आया है। आया होता तो इस कारण-रूपा शक्तिकी वे इच्छाके रूपमें पहचान सकते, एवं अपनी इच्छाके साथ उसका घनिष्ठ सम्बन्ध आधिकार कर चिन्मयचाम अथवा बोधराज्यमें जानेका यथार्थ मार्ग प्राप्त करते। शक्तिकी इच्छास्वरूपा न जाननेके कारण वे जगत्-कार्यके मूलमें चैतन्यकी सत्ताका आविष्कार नहीं कर पाते हैं। शक्ति इच्छामयी है या नहीं, इसके जानने-का एकमात्र उपाय यही है कि जिसे हम इच्छा कहते

हैं, उसे विद्युत् और संघट करके उसके द्वारा सांसारिक शक्तिके ऊपर प्रभाव बिस्तार किया जा सकता है या नहीं, इसकी परीक्षा करना। इच्छाके स्फुरणसे यदि बाह्य शक्ति आविर्भूत होती है अथवा मिश्र शक्ति उत्पन्न होती है तो इससे सिद्ध होता है कि एक ओर जैसे बाह्य शक्ति इच्छा-मयी है वैसे ही दूसरी ओर इच्छा भी शक्तिरूपा है। इच्छाके द्वारा अन्ततः आंशिकरूपमें जो बाह्य शक्तिके ऊपर क्रिया की जाती है वह वर्तमानकाळके वैज्ञानिकोंको अज्ञात नहीं है। जो योगी अथवा द्रष्टा कोटिके साधक हैं वे तो इच्छामात्रसे ही किसी भी शक्तिका चाहे जिसप्रकार उपयोग करनेमें समर्थ हैं, जगत्में इसके अनेकों दृष्टान्त मिलते हैं।

पूर्वोक्त आलोचनासे समझमें आ गया होगा कि इच्छा और शक्ति मूलतः अमिथ पदार्थ हैं, एवं इनके मूलमें चैतन्यमय प्रकाश नित्यसिद्ध सत्ता अथवा पराशक्तिके रूपमें जागृत है। जिस चैतन्यरूपा अक्षय्य सत्तासे वात-विद्युत् सन्तुल्य वज्रःस्थलपर तरंगोंके उद्गमकी भाँति स्वभावकी प्रेरणासे इच्छामयी शक्तिका आविर्भाव होता है तथा इच्छाके द्वारा क्रमसृष्टिके नियमानुसार क्रियाका विकास होता है वही 'ईश्वर' पदवाच्य वस्तु है। इच्छारूपा शक्ति कभी उसमें अन्तर्लीन होकर वर्तमान रहती है और कभी उन्मेषको प्राप्त होकर बाह्य गति सम्पादन करते हुए प्रपञ्च-सृष्टिकी सृचना करती है। जब-जगत्से चिन्मय ईश्वर-सत्ताको प्राप्त होनेके लिये मध्यवर्ती शक्ति अथवा इच्छामृमिसे होकर ही जाना होगा। विज्ञान-जगत्में जब इस शक्तिका स्वरूप कुछ वधार्यरूपमें प्रकाशित होगा तब उससे मौलिक चित्-सत्ताके सम्बन्धमें उन्हें (वैज्ञानिकोंको) अनुमान करनेका अवसर मिलेगा। अप्रतिहत इच्छा अथवा शक्तिका चैतन्यमय ईश्वर आधार ही है।

सूक्ष्म दृष्टिसे जगत्के कार्य-कारण-प्रवाहकी पर्यालोचना करनेपर ज्ञात हो जाता है कि बिना कारणके कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता। केवल यही बात नहीं, बल्कि कार्य और कारकाकी मात्राका समान होना भी अवश्यम्भावी है। किसी भी प्रकारके कार्यका तत्त्व समझते समय इस नीतिको स्मरण रखना आवश्यक है। प्राच्य दार्शनिकोंने इसी नीतिका अवलम्बनकर कर्मवादकी स्थापना की है। कर्मवादका तात्पर्य स्पष्टरूपसे यही है कि कर्मकी प्रकृति

और मात्राके अनुसार तज्जित फलका आविर्भाव होता है। अतएव कर्मद्वारा जिसप्रकार फलका अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार फलके द्वारा भी कर्मका अनुमान किया जा सकता है। प्राच्य-जगत्में सुख-दुःखकी विभिन्न लीलाको देख उसके कारणका अन्वेषण करनेपर कर्मकी इस विशेषताको स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। सुख-दुःखरूप फल जिस असाधारण कारणसे उत्पन्न होता है उसे ही कर्म अथवा अदृष्ट-संस्कार कहते हैं। इससे कोई यह न समझे कि बाह्य-जगत्की कोई सत्ता सुख-दुःखका कारण नहीं है। यथार्थ बात तो यह है कि प्रत्येक कार्य अनेकों कारणोंसे उत्पन्न होता है। उनमेंसे अधिकांश ही साधारण कारण होते हैं और कुछ असाधारण होते हैं। साधारण कारणोंके समूह समभावसे उपस्थित रहनेपर भी असाधारण कारणके बिना निर्दिष्ट कार्य सम्पन्न नहीं होता, क्योंकि यही इस कार्यका मुख्य कारण है। यह सच है कि सुख-दुःखके अनेकों लौकिक कारण होते हैं, किन्तु उनसे सुख-दुःख उत्पन्न नहीं हो सकते। इसके लिये किसी असाधारण कारणकी सहकारिता आवश्यक है। इसीको दार्शनिक लोग कर्म नामसे निर्देश करते हैं। जो सुख-दुःख भोगता है, सुख-दुःखके असाधारण कारण अथवा कर्मका उसीमें रहना युक्तिसंगत है। नहीं तो कार्य और कारणका वैयधिकरण्य-दोष आ पड़ेगा। एक आत्मी कर्म करे और दूसरा उसका फल भोग करे, यह कार्य-कारण-शृङ्खलासे नियन्त्रित भौतिक जगत्में सम्भव नहीं हो सकता। जो अग्निमें हाथ डालता है, उसीका हाथ जलता है, दूसरेका नहीं। इसी प्रकार जो कर्ता होकर सत्-असत् कर्मका अनुष्ठान करता है उसीको भोक्ता बनकर अपने सुख-दुःखरूप फलका अनुभव करना होता है, दूसरेको नहीं। इसीलिये भोगकी सामग्रीके उपस्थित रहनेपर भी भोग-साधक कर्मके अभावमें बहुतांश आत्म्यमें इच्छावरूप भोग-सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती। फिर बहुधा देखा जाता है कि बिना चेष्टाके, बिना प्रयासके, यहाँतक कि इच्छा और ज्ञानके अभावमें भी, बहुतांश आशासीत आत्म्य वस्तुकी प्राप्ति हो जाती है। बीजके बोये बिना जैसे वृक्ष नहीं उगता, उसी प्रकार पूर्वकर्म न होनेसे सुख-दुःखकी उत्पत्ति नहीं होती। वह जो अगस्त कोटि प्रज्ञावट असंख्य प्रकारके जीवोंको वज्रःस्थलपर धारण करके काळ-क्रांतमें बहुते चले जा रहे हैं, तथा उनके सामने

अनेक प्रकारके सुख-दुःख उपस्थित करते हैं, इनके पीछे एक विशाल कर्म-शक्ति अनन्त प्रकारकी विचित्रताको साथ लिये वर्तमान है।

कर्मसे ही फल होता है यह ठीक है, किन्तु अचेतन कर्म केवल जड़-शक्ति है, यह किसी सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, चैतन्य-सत्ताके साक्षिण्य और प्रेरणाके बिना कभी परिष्कृत नहीं हो सकती। लौकिक जगत्में भी जड़-शक्तिका स्वातन्त्र्य कहीं उपलब्ध नहीं होता। पीछे कर्ता न हो तो करण या यन्त्र स्वयमेव किसी कार्यमें प्रवृत्त या निवृत्त नहीं हो सकते। जड़-शक्ति केवल करण या यन्त्र-मात्र है, इसे सभी जानते हैं। यह सत्य है कि अग्निमें दाहिका शक्ति होती है और यह भी सत्य है कि वह स्वयमेव ही दाह्य वस्तुको दग्ध करती है, किन्तु किसी निर्दिष्ट वस्तुको दग्ध करनेमें अग्निके प्रयोगके लिये एक चेतन पुरुषकी आवश्यकता होती है। अग्नि अपने आप स्वतः प्रेरित होकर किसी निर्दिष्ट वस्तुको नहीं जला सकती। कर्म-शक्ति भी इसप्रकार अग्निके समान जड़-शक्ति है, इसीसे स्वाभाविक नियमानुसार सुख-दुःख उत्पन्न होता है। अवश्य ही, जिस आधारपर कर्म सञ्चित होते हैं; सुख-दुःखके भोग भी उसी आधारसे होते हैं, इसके बतानेकी आवश्यकता नहीं। किन्तु स्वभावके नियमानुसार फलके उत्पन्न होनेपर भी उसका भोग्यरूपमें आविर्भाव होना किसी प्रबलतर शक्तिद्वारा नियमित होता है। अर्थात् कर्मसे ही फल होनेपर भी उसको व्यवहार-क्षेत्रमें लानेके लिये किसी इच्छाशक्तिसम्पन्न प्रबल सत्ताकी प्रेरणा आवश्यक है। जगत्के अन्तर्यामीरूपमें जिन व्यापक आत्मा अथवा चैतन्य इच्छा-शक्तिका एकमात्र अधिष्ठान है उनके सङ्कल्पसे ही जीव कर्मानुसार फल प्राप्त करता है। वही कर्मके साक्षी और भोगके साक्षी हैं, एवं उन्हींके ईक्षणके बश कर्म भोगरूपमें परिणत हो भोक्ताके निकट उपस्थित होता है। इसीलिये उनको भोक्ताका कर्म-फल-दाता कहा जाता है। कर्मशक्तिके पीछे जो उसको प्रेरित करनेवाली यह चैतन्यसत्ता कार्य करती है, वही ईश्वर है।

जीव जो कर्म करता है उसके मूलमें भी ईश्वर-सत्ता है। एवं वह जो फलभोग करता है उसके भी मूलमें वही ईश्वर-सत्ता है। मूलमें इस विशुद्ध चैतन्यभावके न रहनेसे एक ओर जहाँ कर्म सम्भव नहीं होता, दूसरी ओर उसी प्रकार फल भी नहीं हो सकता।

इस सत्ताकी प्रेरणा किसप्रकारकी है, इसे दृष्टान्तद्वारा दिखाया जाता है। जिसप्रकार सूर्यके आलोकमें आँखवाला पुरुष वानाप्रकारके रंगोंको देखता है, इस देखनेके मूलमें कारणरूपमें दृश्य वस्तुओंका वैचित्र्य रहता है, एवं दृष्टाकी दृक्शक्ति भी रहती है। परन्तु इनके होनेपर भी इसप्रकार विभिन्न रंग न दीख पड़ते, यदि दृश्य वस्तु उज्ज्वल आलोकसे आलोकित न होती। इसी प्रकार जीव जो कर्म करते हैं उनका फल भी वे ही भोगते हैं, तथापि ईश्वरकी चैतन्य सत्तामें प्रतिष्ठित न होनेसे कर्म और भोग दोनों ही असम्भव होते। जो ईश्वरको न मानकर केवल कर्मसे ही फलकी उत्पत्ति मानते हैं, उनके लिये भोगमें वैचित्र्यको सिद्ध करना असम्भव कठिन है।

जगत्में अलक्ष्य कार्य-कारण-भाव अथवा नियतिको देखकर उसके अधिष्ठाताके रूपमें जिस सत्ताको स्वीकार करना अनिवार्य होता है, वही ईश्वर है। जिन्होंने जगत्के तत्त्वका जितना ही सूक्ष्मभावसे विश्लेषण किया है वे उसना ही स्वरूपसे समझ सके हैं कि जगत्के प्रत्येक विभागमें नियम वर्तमान रहता है। यह नियम अत्यन्त जटिल और दुर्बोध है। तथापि एक विभागके नियमके साथ दूसरे विभागके नियमोंका ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है, जिससे जान पड़ता है कि मूलमें एक ही नियम क्षेत्रभेदसे भिन्न-भिन्न नियमोंके रूपमें परिणत हो गया है। समस्त जगत्में तथा ज्ञान-राज्यमें इस नियमगत ऐक्यका आविष्कार ही विज्ञानकी चरम कीर्ति है। विशाल और वैचित्र्यपूर्ण भिन्न-भिन्न ज्ञानराज्यमें एक ही मूल नियमकी सत्ता एवं प्रभावको देखकर प्रत्येक विचारशील व्यक्तिकी धारणा होती है कि अनन्त प्रकारके सांसारिक वैचित्र्यके पीछे एक अलखट सत्ता विद्यमान है। उसी सत्तासे जब नियमोंका उद्भव होता है तब यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि वह चेतन है, तथा वही जगत्की एकमात्र नियामक है। अतएव जो नियमवादी हैं, उन्हें भी मामान्तरसे ईश्वरकी सत्ताको माननेके लिये बाध्य होना पड़ता है। हाँ, तर्क-स्थलमें यह कहा जा सकता है कि नियमके साथ नियामकका होना आवश्यक है, ऐसी कोई बात नहीं। क्योंकि यदि नियमको अनादिरूपसे स्वीकार करें तथा वह यदि सचमुच ही अलक्ष्यरूपमें प्रमाणित हो जाय तो नियमके कर्ता या प्रवर्तयिताके रूपमें नियामकके माननेकी आवश्यकता नहीं रहती। यह शङ्का निराधार भी नहीं है। यथार्थ

वात यह है कि जिसे अनादि और अपरिवर्तनीय समझा जाता है, वास्तवमें नियम वैसा नहीं है। साधारण ज्ञानसे नियमका आदि अथवा व्यतिक्रम चाहे अनुभवमें न आवे, किन्तु ज्ञानकी निर्मलताके साथ-साथ क्रमशः समझमें आने लगता है कि नियमका आदि है तथा उसका रूपान्तर भी सम्भव है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस अवस्थामें नियमका नियमत्व ही खण्डित हो जाता है। जो इसकी उपलब्धि कर सकते हैं उनकी समझमें आ सकता है कि ब्रह्म जीवके लिये जो नियम है, वह अधिकारी पुरुषके लिये स्वाधीन इच्छाकी स्फूर्तिमात्र है। जिस अधिकारी पुरुषकी इच्छा सांसारिक नियमके रूपमें आरम्भप्रकाश करती है वही जगत्का ईश्वर है। जड़-विज्ञान केवल नियमकी सत्ताको ही उपलब्ध कर सकता है, किन्तु जिनकी इच्छा इस नियमके रूपमें प्रकाशित होती है, उनका पता उसे नहीं रहता। नियमको अनादिरूपमें स्वीकार न करनेका कारण यही है कि इच्छाविशेषके प्रभावसे नियमका आदि और अन्त—दोनों स्थलविशेषमें उपलब्ध हो सकते हैं। अनादि एवं अखण्डनीय भावके ऊपर इच्छाशक्ति अथवा अन्य कोई शक्ति कार्य नहीं कर सकती। हाँ, लौकिक दृष्टिसे नियमका अनादित्व अथवा अलंघनीयत्व दोनों स्वीकार किये जा सकते हैं।

जो जोग जिज्ञासुभावसे जगत्के इतिहासका अनुसन्धान करते हैं वे जानते हैं कि सांसारिक दृष्टिसे ज्ञानशक्ति अथवा क्रियाशक्ति किसीके भी क्रमिक उत्कर्षकी अपेक्षा दृष्टिगत नहीं होती। शक्ति वस्तुतः अन्यक्त होनेपर भी आधारविशेषके अवलम्बनसे अभिव्यक्त होती है तथा निर्दिष्ट कार्य करती है। आधार सर्वत्र एक प्रकारका नहीं होता, अतः शक्तिका विकास भी सर्वत्र समानरूपसे नहीं हो सकता। जो आधार जितना निर्मल होता है, जिसकी धारणाशक्ति जितनी अधिक होती है, उसमें उसी हिसाबसे शक्तिका विकास होता है। अवश्य ही हम किसी निर्दिष्ट शक्तिके सम्बन्धमें यह बात नहीं कहते। ज्ञान और क्रिया, दोनों क्षेत्रोंमें एक ही नियम है, किन्तु दोनोंके आधारमें विशेषता होती है, यही इनमें भेद है। अव्यक्त ज्ञान-शक्ति जैसे अनन्त है, वैसे ही अव्यक्त क्रिया-शक्ति भी अनन्त है। जिसकी अभिव्यक्ति नहीं, उसका प्रतिबन्धक भी नहीं होता और उससे कोई कार्य भी निष्पन्न नहीं होता। अतएव क्रिया-सम्यायुनमें समर्थ

अभिव्यक्त ज्ञान अथवा क्रिया-शक्तिका उत्कर्ष आधारके उत्कर्षके ऊपर ही निर्भर करता है। आधार यदि मलिन और आवरणसे आच्छाद्य हो तो शक्तिका विकास भी अच्छी तरह नहीं हो सकेगा। आवरणके दूर होनेपर शक्तिकी अभिव्यक्तिमें विघ्न हट जाते हैं। अतः आवरणशून्य और बाह्य सत्ताके सम्बन्धसे शून्य विशुद्ध उपादानमें जो ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्तिका प्रकाश होता है, वह अपरिच्छिन्न अप्रतिहत और अनन्त होता है। वस्तुतः यह ईश्वरका ही नामान्तर है। जीवमात्रके भीतर ज्ञान और क्रिया कुञ्चन-कुञ्च अवश्य ही प्रकाशित रहती है, ऐसा न होता तो चेतन जीव जड़से पृथक् नहीं हो सकता। यही ज्ञान-क्रिया क्रमशः बढ़ते-बढ़ते आधारविशेषमें पूर्णरूपसे प्रकाशित हो उठती है। शास्त्रमें शुद्ध आधारमें अभिव्यक्त इस पूर्ण ज्ञान-क्रिया अथवा चैतन्यका ही ईश्वरनामसे वर्णन किया गया है।

अलौकिक पर प्राकृतिक घटनाओंका अनुसन्धान-पूर्वक संग्रह करके जो तत्त्व निर्णय करनेका प्रयास करते हैं, उन्हें मालूम है कि बहुधा सुबूर अतीत कालकी अथवा देशान्तरमें हुई घटना और दृश्यके समान कभी-कभी अनागत घटना तथा दृश्य किसी-किसीको प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इसप्रकारकी घटनाएँ विरली नहीं होतीं। इस प्रसंगमें ऐसी घटनाओंका उल्लेख करनेकी आवश्यकता नहीं है, परन्तु सचमुच ऐसी बातें होती हैं, इसका समर्थन अनेकों प्रकारसे किया गया है। इसके तत्त्वकी आलोचना करनेमें हृदय विह्वल हो उठता है। जो दृश्य अबतक सृष्टिके राज्यमें आविर्भूत नहीं हुए, जो घटना अभीतक कहीं नहीं घटी, यदि इसप्रकारके दृश्य अथवा घटनाएँ—जो सांसारिक दृष्टिसे बहुत समय पीछे आविर्भूत होनेवाली हैं—अभी स्पष्टरूपसे तथा यथार्थरूपसे प्रत्यक्ष हो जायें तो कोई भी विचारशील व्यक्ति इनके तत्त्वकी सीमांसा नहीं कर सकेगा, और मोहित हो जायगा। यथार्थतः जिसकी सत्ता ही नहीं है—व्यावहारिक भावसे ही नहीं, बल्कि प्रतिभासरूपमें भी जो नहीं है, वह वर्तमान ज्ञानमें किसप्रकार आ सकता है, यह जानना अत्यन्त कठिन है। अतीत ज्ञानके सम्बन्धमें व्यक्तिगत भावसे यह बात इतनी अटिल नहीं है; क्योंकि चित्तमें अनुभूत ज्ञान और क्रियाके संस्कारको स्वीकार करने तथा निमित्त-कारणकी सहकारितासे उसके उद्बोधनको मान लेनेपर अतीतका साक्षात्कार तो बहुत

कुछ बोधगम्य हो सकता है। अवश्य ही विषयव्यापक-रूपमें अतीतका ज्ञान व्यापक आधार—जिसमें समस्त संस्कार मिहित हैं—के स्वीकार किये बिना उत्पन्न नहीं हो सकता। इससे एक विराट् एवं आपेक्षिक नित्यता-विशिष्ट आधारके अस्तित्वको स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है। जो जीवात्माके 'एकत्ववाद' के सिद्धान्तको मानते हैं, उनकी दृष्टिसे यही वह व्यापक जीव है। सब देशोंके और सब युगोंके ज्ञाना जीव इसीके विभिन्न अंश-मात्र हैं, किन्तु अतीत ज्ञानके द्वारा समष्टि जीवका अस्तित्व सिद्ध होनेपर भी ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। भविष्यत्-दर्शक अथवा घटना-विषयक प्रत्यक्षसे ईश्वरका अस्तित्व स्वभावतः प्रमाणित होता है। क्योंकि कालके प्रभावसे जो सत्ता अभी उदित नहीं हुई है, उसका दर्शन अतीत दर्शनके समान संस्कारके उद्घोषणद्वारा नहीं हो सकता। संस्कार चित्त अथवा लिंग-शरीररूप आधारमें वर्तमान रहता है तथा उद्घोषक कारणोंके सखिधानसे जाग्रत् होकर स्मृतिरूपमें परिणत होता है। अवश्य ही आविर्भावकी विराट्तासे आभास-ज्ञान स्पष्टता-को प्राप्त होता है—इतना ही नहीं, सृष्टिअपरोक्ष-अनुभूति-रूपमें भी निश्चयाधी दे सकती है। किन्तु अनागत प्रत्यक्षमें चित्त अथवा लिंग-शरीरकी कोई भी उपयोगिता नहीं है। असल बात यह है कि नित्य कारण-भूमिसे आंशिक भावमें जीव निकलता है और वह कार्यरूपमें परिणत हो जाता है। अनागतसे वर्तमानकी ओर जो शक्तिका प्रवाह है यही कारणकी कार्यवस्थाके प्रति उन्मुखता है। भाव अथवा क्रिया जब अनागत-अवस्थामें रहती है, तब वह कारणके ही अन्तर्गत है। अतएव चित्त अथवा लिंग-शरीर-का अन्वेषण करनेसे कारणस्थ भावका पता लगानेकी कोई सम्भावना ही नहीं है। वह अभी न तो काल-स्रोतमें पड़ा है और न वर्तमान अवस्थामें ही उपनीत हुआ है, इसलिये वस्तुतः उसका कोई संस्कार भी नहीं है, इसी कारण चित्त-चेतनमें उसका कोई प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। अतएव अनागत-वर्षावमें चित्त अथवा संस्कार किसीकी जरा-सी भी अपेक्षा नहीं होती। अब प्रश्न यह होता है कि तब अनागत-दर्शन किसप्रकार सम्भव हो सकता है? महर्षि पतञ्जलि इसके उत्तरमें कहते हैं कि अनागत भी वस्तुतः वर्तमानसे भिन्न नहीं है। हमारे लिये जो अनागत है, व्यापक ज्ञानविशिष्ट पुरुषके लिये वह अनागत न हो-

कर वर्तमान ही हो सकता है। इस युक्तिके अनुसार समझा जा सकता है कि जहाँ ज्ञान व्यापकतम है अर्थात् जिस ज्ञानमें किसी प्रकारका आवरण नहीं है, वहाँ कोई भी पदार्थ या घटना अनागत नहीं रह सकती। वस्तुतः जो हमारे सामने अनागत है वही वहाँ वर्तमान है, यही बात अतीतके विषयमें है। जिस भूमिमें अतीत और अनागत नित्य वर्तमानरूपमें प्रकाशित होते हैं वही पूर्ण ज्ञान-भूमि है। वहाँ कालका भेद नहीं है, घटनाकी पृथक्ता नहीं है, भावकी विशिष्टता नहीं है और क्रियाका तारतम्य नहीं है, यही कारण-जगत् है। इसका जो अभिज्ञाता है वही ईश्वर है। अतएव किसी अचिन्त्य कारणसे जगत्-मात्रके लिये ईश्वरीय सत्ताके साथ जीव-सत्ताकी अभिज्ञता सिद्ध होनेपर जीवको उपयुक्त भविष्य-दर्शन होना कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। क्योंकि जीव-भूमिमें जो भविष्यत् है, इसप्रकारकी युक्त अवस्थामें ईश्वरीय-भूमिसे वही वर्तमान-रूपमें प्रकाशित होता है। इससे सिद्ध है कि ज्ञानके पहले एक निर्मल अवस्था होती है जहाँ उपयुक्त भविष्यत् भी नित्य वर्तमानरूपमें सदा प्रकाशमान रहता है। इसप्रकारकी एक नित्य वर्तमान अवस्था न रहती तो व्यक्तिविशेषके लिये कभी भी भविष्यत्-दर्शन सम्भव नहीं हो सकता। अतएव प्रामाणिक भविष्यत्-दर्शनद्वारा ईश्वरीय-सत्ताका युक्ति-पूर्वक अनुमान किया जा सकता है। ईश्वरका अस्तित्व माननेके लिये यह एक अन्त्यान्त प्रमाण है।

किसी कार्यकी उत्पत्तिमें प्रधानतया उपादान और निमित्त यही दो प्रकारके सामर्थ्य देखे जाते हैं। जगत्-रूपी कार्यका विरलेष्य करते समय ठीक इसी प्रकार दो कारणोंको स्वीकार करना आवश्यक होता है। जिस उपादान-से जगत् निमित्त हुआ है उसे परमाद्य, त्रिगुण, माया या कला किसी भी नामसे पुकारा जाय, उसे जब ही मानना होगा, किन्तु चेतनके सखिधान बिना केवल जड़ उपादान अपने-आप कार्यरूपमें परिणत नहीं हो सकता। यह चेतन सत्ता ही जगत्-सृष्टिका निमित्त-कारण है—इसीके प्रभावसे जगत्का मूल उपादान विद्योमको प्राप्त होकर विभिन्न कार्यों-के रूपमें परिणत होता है। इस अखिल जगत्का व्यापक निमित्त-कारण ही ईश्वर है। जो लोग निमित्तके बिना ही उपादानके विद्योम एवं परियायको स्वीकार करते हैं वे विपर्यस्त स्वभाववादी हैं, क्योंकि अनुसन्धान किये बिना ही स्वभावकी शरत् केना विचार-नाशकी नीतिके विरुद्ध है।

अतएव सृष्टिप्रवाहमें निमित्तरूपसे ईश्वरका अस्तित्व प्रमाण-सिद्ध है। अवश्य ही दृष्टिके और भी उत्कर्ष होनेपर यह समझमें आता है कि निमित्त और उपादानमें वस्तुगत कोई पारंपर्य नहीं है। तब यह भी समझा जाता है कि एक ही चैतन्य-सत्ता अपनी इच्छासे नाना रूप धारणकर विचित्र जगत्के रूपमें प्रकाशित होती है।

जगत्की ओर देखनेसे सर्वत्र एवं प्रतिपक्ष एक घोर परिवर्तन होता हुआ दिखलाई देता है, यह सर्वव्यापि-सम्मत है। अपरिवर्तनीय द्रष्टाके सामने परिवर्तनकी सार्वकता है। जगद्द्रव्यापी इस शाश्वत परिणामका कोई नित्य-द्रष्टा अवश्य है। न होनेसे परिवर्तनका कोई अर्थ ही न रहता। विद्युद् व्यापक द्रष्टा जो समग्र जगत्के अखिल अस्ति-व्यो-को निर्विकाररूपेण प्रत्यक्ष कर रहा है, वही चिन्मय ईश्वर है। कहना नहीं होगा कि इस रूपमें दृक्शक्ति ही अभिप्यक्त है एवं अन्यान्य शक्तियाँ धिक्की अवस्थामें स्थित हैं।

(४)

ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें विचारशील साधारण व्यक्तिके बोधगम्य होने योग्य ऊपर जो कुछ बातें कही गयी हैं वे सभी युक्तिमात्र हैं, इसप्रकारकी बहुतेरी युक्तियाँ शास्त्रमें दिखलाई गयी हैं एवं प्रतीत्य ईश्वर-विश्वासी पण्डितोंने भी अपने-अपने ग्रन्थमें दिखलाई हैं, वस्तुतः प्रयोजन होनेपर और भी बहुतेरी युक्तियाँ दिखलाई जा सकती हैं। किन्तु इन युक्तियोंके द्वारा कोई कभी ईश्वरमें विश्वास करेगा, इसकी बहुत ही कम आशा है। शास्त्र-वाक्य अथवा अनुभूतिसम्पन्न महापुरुषके वाक्यसे ईश्वरकी सत्ताके विषयमें उपदेश सुनकर निर्मल और अन्तः-प्रवेशोन्मुख हृदयमें जो अस्फुट अद्वाका उदय होता है, विचारके द्वारा उसका समर्थन करना ही युक्तिका उद्देश्य है किन्तु जो आगम-प्रमाणकी प्रमाणात्ताको नहीं मानते, उनके चित्तमें शुष्क युक्तिके द्वारा किसी विषयमें विश्वास उत्पादन करना असम्भव है। युक्ति और विचारका प्रधान कार्य असम्भावना-बोधको दूर करना है अर्थात् हृदय आस-वचन सुनकर स्वभावतः ही जिस विषयमें अद्वाशील होता है वह अयौक्तिक नहीं बल्कि सम्भवनीय है, यह दिखला देनेपर ही युक्तिका कार्य समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात् साधन-प्रणालीद्वारा उसी अद्वाके विषयीभूत, महा-पुरुषके उपदिष्ट एवं युक्तिद्वारा समर्थित सत्यको प्रत्यक्ष करना आवश्यक है। इस साधन-प्रणालीमें श्रुतः योग ही

सर्वप्रधान है। कर्म, ज्ञान, भक्ति प्रभृति इसीके ही एक-एक पर्वमात्र हैं। योगके अथर्वम्बनसे जब साध्य तत्त्वको सम्पूर्णरूपसे प्रत्यक्षका विषयीभूत किया जाता है तब सभी संशय अपने आप ही दूर हो जाते हैं। ज्ञाता और ज्ञेयका मायिक भेद दूर होनेपर विद्युद् ज्ञानके आलोकमें विद्युद् चैतन्य-उज्योति अपने आप ही प्रतिष्ठित होकर अखण्ड स्वप्रकाश सत्तारूपमें स्थित होती है।

जो साधन-पथके पथिक हैं, उनके सम्मुख ईश्वरका अस्तित्व शुष्क युक्तिके द्वारा प्रकाशित नहीं होता। ज्ञानकी जिस भूमिसे हम वर्तमान अवस्थामें जगत्को देखते हैं, जबतक उस भूमिका अतिक्रम नहीं कर पाते, तबतक जगत्का अथवा अपना या तदतीत किसी सत्ताका बोध जैसा अब होता है, तब भी वैसा ही होगा। किन्तु एक बार यदि किसी अचिन्त्य कारणवश चित्तमें क्षणमात्रके लिये भी चित्-शक्ति सञ्चारित होकर साथ ही ज्ञानकी भूमिकाको परिवर्तन कर दे, तो एक ही मुहूर्तमें हमारा दर्शन एवं सत्ताबोध अचानक अदृष्टपूर्व नवीन स्वरूप धारण कर लेगा। इस समय हम नास्तिक और घोर अविश्वासी क्यों न हों, लोकोत्तर शक्तिके प्रभावसे एकाएक नवीन मनुष्यके रूपमें परिणत हो सकते हैं। जगतमें जहाँ ईश्वर-दर्शन या सत्य-ज्ञानका उदय हुआ है वहाँ इसी प्रकार ही हुआ है, युक्ति-तर्कद्वारा स्वपक्ष और परपक्षके विचारसे कहीं नहीं हुआ। वस्तुतः मनुष्यके जीवनमें ऐसी बहुतेरी अनुभूतियाँ होती हैं जिनसे मनुष्यके दृष्टिकोणका परिवर्तन होते कुछ भी देर नहीं लगाती।

प्रभकर्ता चौथे प्रश्नमें पूछते हैं कि आपके व्यक्तिगत जीवनमें ऐसी कौन-सी घटना घटी है, जिससे ईश्वरकी सत्ता अथवा उसकी कल्याणके प्रति विश्वास सुदृढ़ हो सकता है? मैंने पहले ही कह दिया है कि मैं व्यक्तिगत अनुभूतिको छोड़कर प्रकाशित करनेमें असमर्थ हूँ। हाँ, इतना कह सकता हूँ कि अकीर्णति उनको पुकारनेपर उनका उत्तर मिलता है, यह निश्चित है। ऐसी-ऐसी विपत्तियाँ बहुत बार उन्होंने अलौकिक उपायोंसे मेरी रक्षा की है, जिनका प्रतीकार लौकिक उपायोंसे हो ही नहीं सकता था; और जिनका अरथ आते ही उनकी कल्याण और प्रेमका भाव हृदयको अभिभूत कर डालता है। ज्ञानके राज्यमें, कर्म-भूमिमें तथा भावके सम्बिन्दरमें उन्हींकी सङ्कलनमयी सत्ता

एवं शक्तिका प्रतिनियत मैं कितने रूपोंमें अनुभव करता रहता हूँ, उसके वर्णनका परिशेष कभी नहीं हो सकता ।

ये विषय हूतने गुहा और गोपनीय हैं कि इसके सम्बन्धमें साधारणतः किसीके साथ आलोचना करनेकी प्रवृत्ति नहीं होती । मेरी व्यक्तिगत प्रकृति एक ओर जिस-प्रकार विश्वासशील है दूसरी ओर उसी प्रकार संशय-प्रणव है । अतएव मैंने अपने जीवनमें जो कुछ उपलब्ध किया है या कर रहा हूँ, उसको बड़ी ही कठोरताके साथ सब प्रकार प्रमाणकी कसौटीपर जाँचे बिना स्वयं कभी सत्यरूपमें ग्रहण नहीं किया या नहीं करता हूँ । मेरे विश्वासमें जो सत्य है, वह सदा ही सत्य है, अतएव परीक्षा करनेसे उसकी उज्ज्वलता बढ़ती ही है, घटती नहीं । प्रातिमासिक सप्तासे व्यावहारिक सप्ताको ज्ञाना-

लोकमें प्रथक् करके पहचाने बिना पारमार्थिक सत्यकी ओर अग्रसर नहीं हुआ जा सकता । श्रीभगवान्की कृपा और सद्गुरुके अनुग्रहसे इस पुत्र हृदयमें प्रतिभाससे व्यवहार, तथा व्यवहारसे परमार्थकी ओर जानेका मार्ग कुछ मालूम हुआ है, कुछ-कुछ खुल गया है । परन्तु अपने पुरुषार्थरूप उद्यमकी सहायतासे जब उनकी नित्य प्रकृति अन्तरमें जाग उठेगी, तब स्वभावके झोलमें चलते-चलते, प्रात्येक स्तरमें उनकी उपलब्धि करता रहूँगा । एवं सोपान-परम्परासे कर्म, ज्ञान, भक्ति और प्रेमरूपमें नित्य योगके विकास-से उनके अखण्ड सत्यमय, ज्ञानमय और आनन्दमय स्वरूपको प्राप्तकर अन्तमें लीला-अवसानमें उनके सर्व-भावमय किन्तु सर्वभावातीत परमरूपमें स्थित हो सकूँगा । 'गुरोः कृपैव केवलम्' •

अव्यक्त

निरस्त जित तित ही तुम व्यापक ।

मुनिसो नमलों प्रति पदार्थ तब कार्यकुशला-ज्ञापक ॥

सन्ध्या प्रात रैन दिन षट ऋतु क्रमसो सब चुपचाप ।

आवत जात अगत अभिनय-थल अबिकल अपने आप ॥

गिरि उत्तंग शृंग नभ चुम्बत प्रकृति मनोहर देश ।

हिममंडित रविकरंजित नित करत उमंग अशेष ॥

शस्त्र दयाम अभिराम शेष बहु सजल सरित जल पावन ।

मलयज शीतल ह्रीतल सुखप्रद वीर समीर सुहावन ॥

सुमग स्वच्छ स्वच्छन्द द्रुमावलि नभ लता मृदु काया ।

अम्बरज सरसावत हरसावत दरसावत तब माया ॥

रवि शशि आदि दारु योषित सम करत स्वकाज निरंतर ।

अद्भुत अमित परत नहि तामे तिल भरहुको अंतर ॥

अक्षय प्रदक्षीन पुण्य पंक्तिमें नित-नव नाचनहारे ।

निहसत अघर प्रमोद चमत्कृत चञ्चल चार सितारे ॥

जगमगात प्रतिपल मुखमंडल अनुपम परम पुनीत ।

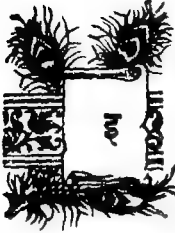
गावत जन अव्यक्त सुधनि सों विश्वरूप तब गीत ॥

—गोलोकवासी पं० सत्यनारायण 'कविरत्न'

• इस केसमें परिशिष्टांकमें उद्धृत होनेवाले प्रश्नोंके उत्तर हैं, केसरूपमें होनेके कारण यह यहाँ छापा गया है—सम्पादक

जगतमें सबसे उत्तम और अवश्य जाननेयोग्य कौन है ?

ईश्वर



स संसारमें सबसे पुराने ग्रन्थ वेद हैं। पोरपके विद्वान् भी इस बातको मानते हैं कि ऋग्वेद कम-से-कम ४००० बार सहस्र वर्ष पुराना है और उससे पुराना कोई ग्रन्थ नहीं। ऋग्वेद पुकारकर कहता है कि सृष्टिके पहले यह जगत् अन्धकारमय था। उस तमके बीचमें और उससे परे केवल एक शानस्वरूप स्वयम्भू भगवान् विराजमान थे और उन्होंने उस अन्धकारमें अपनेको आप प्रकट किया और अपने तपसे अर्थात् अपनी ज्ञानमयी शक्तिके सञ्चाजनसे सृष्टिको रचा। ऋग्वेदमें लिखा है—

तम आसीत्तमसा गूळहमग्रेऽप्रकेतं सकिं सर्वमा इदम् ।
तुच्छयेनान्यपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतेकम् ॥

इसी वेदके अर्थको मनु भगवान्ने लिखा है कि सृष्टिके पहले यह जगत् अन्धकारमय था। सब प्रकारसे सोता हुआ-सा दिखायी पड़ता था। उस समय जिनका किसी दूसरी शक्तिके द्वारा जन्म नहीं हुआ, जो आप अपनी शक्तिसे अपनी महिमामें सदासे वर्तमान हैं और रहेंगे, उन ज्ञानमय, प्रकाशमय स्वयम्भूने अपनेको आप प्रकट किया और उनके प्रकट होते ही अन्धकार निट गया। मनुस्मृतिमें लिखा है—

आसीदिदं तमो मूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।
अप्रतर्क्यमविशेषं प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥
ततः स्वयंभूर्मगवानव्यको व्यजयन्निदम् ।
महामूतादिवृजोऽत्राः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥
योऽसावतीन्द्रियप्राज्ञः सूक्ष्मोऽन्यकः सनातनः ।
सर्वमूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्भवी ॥

ऋग्वेद कहता है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
मूतस्य जतः पतिरेक आसीत् ।
स दाचार श्रियिनी ब्रामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विभे ॥

य इमा विश्वा भुवनानि जुष्ट-
दधिहोता न्यसीदत् पिता नः ।
स आशिषा ब्रविणमिच्छमानः
प्रथमच्छदवरो आविवेश ॥
विश्वतश्चक्षुरत विश्वतोमुखो
विश्वतो बाहुस्त विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां क्षमति सं पतन्-
छांबामूमी जनयन् देव एकः ॥
योनः पिता जनिता यो विशाता
धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामषा एक एव
तं संप्रशंसं भुवना यन्त्यन्या ॥

और भी भुति कहती है—

‘आत्मा ना इदमेक एवात्र आसीत्’

एकमेवाद्वितीयम्

आगवतमें भगवान्का वचन है—

अहमेवासमेवाग्रे नान्यत्सदस्तः परम् ।
पश्चादहं यदेतच्च वोऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥

(२-१-२३)

शिवपुराणमें भी लिखा है—

एक एव तदा रुरो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन ।
संसृज्य विश्वं भुवनं गोष्ठान्ते संतुकोच सः ॥
विश्वतश्चक्षुरेवायमुताय विश्वतोमुखः ।
तथैव विश्वतोबाहुर्विश्वतः पादसंयुतः ॥
छांबामूमी च जनयन् देव एको महेश्वरः ।
स एव सर्वदेवानां प्रभवश्चोद्भवस्तथा ॥
अचक्षुरपि यः पश्यत्यकणोऽपि शृणोति यः ।
सर्वं नेति न वेत्तास्म तमाहुः पुरुषं परम् ॥

आगवतमें लिखा है—

एकः स आत्मा पुरुषः पुराणः
सत्यः स्वयंज्योतिरनन्त आद्यः ।
नित्योऽक्षरोऽजस्रसुखो निरञ्जनः
पूर्णोऽद्भुतो मुख उपविष्टोऽमृतः ॥

(१०-१४-२३)

सब वेद, स्मृति, पुराणके इसी तत्त्वको गोस्वामी तुलसीदासजीने थोड़े अक्षरोंमें यों कह दिया है—

न्यापक एक ब्रह्म अविनाशी । सत चेतन धन आनंदराशी ॥
आदि-अन्त कोउ जासुन पाबा । मति-अनुमान निगम यश गावा ॥
बिनु पद चले सुनै बिनु काना । कर बिनु कर्म करै बिधि नाभा ॥
आननरहित सकल रस भोगी । बिनु बाणी वक्ता बड़ भोगी ॥
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा । अहे प्राण बिनु बास अशेखा ॥
अस सब मति औकैक करणी । सहिमा तासु जाइ किमि बरणी ॥

किन्तु यह विश्वास कैसे हो कि ऐसा कोई परमात्मा है ?

जो वेद कहते हैं कि यह परमात्मा है वही यह भी कहते हैं कि उसको हम आँखोंमें नहीं देख सकते ।

न सदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चैननम् ।
ज्ञानप्रसादेन विगुह्यसत्त्व-
स्तस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

‘ईश्वरको कोई आँखोंमें नहीं देख सकता, किन्तु हममें-से हर एक मनको पवित्रकर विमल बुद्धिसे ईश्वरको देख सकता है ।’ इसलिये जो लोग ईश्वरको मनकी आँखों (बुद्धि) से देखना चाहते हैं, उनको उचित है कि वे अपने शरीर और मनको पवित्रकर और बुद्धिको विमलकर ईश्वरकी खोज करें ।

हम देखते क्या हैं ?

हमारे सामने जन्ममे लेकर शरीर छूटनेके समयतक बड़े-बड़े चित्र-विचित्र दृश्य दिखायी देते हैं जो हमारे मनमें इस बातके जाननेकी बड़ी उरकण्ठा उत्पन्न करते हैं कि वे कैसे उपजते हैं और कैसे विलीन होते हैं ? हम प्रतिदिन देखते हैं कि प्रातःकाल पौफट होते ही सहस्र किरणोंसे विभूषित सूर्य-मण्डल पूर्व-दिशामें प्रकट होता है और आकाश-मार्गसे विचरता सारे जगत्को प्रकाश, गर्मी और जीवन पहुँचाता सायंकाल पश्चिम-दिशामें पहुँचकर नेत्रपथसे परे हो जाता है । गणित-शास्त्रके जाननेवालोंने गणनाकर यह निश्चय किया है कि यह सूर्य पृथिवीसे नौ करोड़ अठ्ठाईस लाख तीस सहस्र मीलकी दूरीपर है । यह कितने आश्चर्य-की बात है कि यह इतनी दूरीसे इस पृथिवीके सब प्राणियों-को प्रकाश, गर्मी और जीवन पहुँचाता है ! अतु-अतुमें

अपनी सहस्र किरणोंसे पृथिवीसे जलको खींचकर सूर्य आकाशमें ले जाता है और वहाँसे मेघका रूप बनाकर फिर जलको पृथिवीपर बरसा देता है और उसके द्वारा सब घास, पत्ती, वृक्ष, अनेक प्रकारके अन्न और धान और समस्त जीव-धारियोंको प्राण और जीवन देता है । गणित-शास्त्र बतलाता है कि जैसा यह एक सूर्य है ऐसे असंख्य और हैं और इससे बहुत बड़े-बड़े भी हैं जो सूर्यसे भी अधिक दूर होनेके कारण हमको छोटे-छोटे तारोंके समान दिखायी देते हैं । सूर्यके अस्त होनेपर प्रतिदिन हमको आकाशमें अनगिनत तारे-नक्षत्र-ग्रह चमकते दिखायी देते हैं । सारे जगत्को अपनी किरणोंसे सुख देनेवाला चन्द्रमा अपनी शीतल चाँदनीसे रात्रिको उजोतिष्मती करता हुआ आकाशमें सूर्यके समान पूर्व-दिशामें पश्चिम-दिशाको जाता है । प्रतिदिन रात्रिके आते ही दशों दिशाओंको प्रकाश करती हुई नक्षत्र-तारा-ग्रहोंकी उजोति ऐसी शोभा धारण करती है कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । ये सब तारा-ग्रह स्वतः बंधे हुए गोलकोंके समान अलंघनीय नियमोंके अनुसार दिन-से-दिन, महीने-से-महीने, वर्ष-से-वर्ष, बंधे हुए मार्गोंमें चलते हुए आकाशमें घूमते दिखायी देते हैं । यह प्रत्यक्ष है कि गर्मीकी शक्तमें यदि सूर्य तीव्ररूपसे नहीं तपता तो वर्षाकालमें वर्षा अच्छी नहीं होती । यह भी प्रत्यक्ष है कि यदि वर्षा न हो तो जगत्में प्राणीमात्रके भोजनके लिये अन्न और फल न हों । इससे हमको स्पष्ट दिखायी देता है कि अनेक प्रकारके अन्न और फलद्वारा सारे जगत्के प्राणियोंके भोजनका प्रबन्ध मरीचिमाझी सूर्यके द्वारा हो रहा है । क्या यह प्रबन्ध किसी विवेक-वर्ती शक्तिका रचा हुआ है जिसको स्थावर-जंगम सब प्राणियोंको जन्म देना और पालना अभीष्ट है अथवा यह केवल जड़-पदार्थोंके अचानक संयोगमात्रका परिणाम है ? क्या यह परम आश्चर्यमय गोलक-मण्डल अपने आप जड़-पदार्थोंके एक दूसरेके खींचनेके नियममात्रसे उत्पन्न हुआ है और अपने आप आकाशमें वर्ष-से-वर्ष, सदी-से-सदी, युग-से-युग घूम रहा है, अथवा इसके रचने और नियमसे चलानेमें किसी सैतन्य शक्तिका हाथ है ? बुद्धि कहती है कि है । वेद भी कहते हैं कि है । वे कहते हैं कि सूर्य और चन्द्रमाको, आकाश और पृथिवीको परमात्माने रचा ।

सूर्याचन्द्रमसौ घाता यथापूर्वमकल्पत,
दिब्यं पृथिवीञ्चान्तरिक्षमधोऽसः ।

प्राणियोंकी रचना

इसी प्रकार हम देखते हैं कि प्रायःप्रत्येक जगत्की रचना इस बातकी घोषणा करती है कि इस जगत्का रचनेवाला एक ईश्वर है। यह चैतन्य जगत् अत्यन्त आश्चर्य-से भरा हुआ है। जरायुसे उत्पन्न होनेवाले मनुष्य, सिंह, हाथी, घोड़े, गौ आदि; अणुओंसे उत्पन्न होनेवाले पक्षी, पत्नी और मेलसे पैदा होनेवाले कीड़े, पृथिवीको फोड़कर उगनेवाले वृक्ष, इन सबकी उत्पत्ति, रचना और इनका जीवन परम आश्चर्यमय है। नर और नारीका समागम होता है। उस समागममें नरका एक अत्यन्त सूक्ष्म किन्तु चैतन्य अंश गर्भमें प्रवेशकर नारीके एक अत्यन्त सूक्ष्म सचेत अंशसे मिल जाता है। इसको हम जीव कहते हैं। वेद कहते हैं कि—

बालाग्रशतभागस्य शतवा कश्चित्स्य च ।

मागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्याय कल्पते ॥

एक बाळके आगेके आगके खड़े-खड़े सौ भाग कीजिये और उन सौमेंसे एकके फिर सौ खड़े-खड़े टुकड़े कीजिये और इसमेंसे एक टुकड़ा कीजिये तो आपकी ध्यानमें आवेगा कि उतना सूक्ष्म जीव है। वह जीव गर्भमें प्रवेश करनेके समयसे शरीररूपसे बढ़ता है। विज्ञानके ज्ञाननेवाले बिद्वानोंने अणुबीक्षण यन्त्रसे देखकर यह बताया है कि मनुष्यके बीयके एक बिन्दुमें लाखों जीवाणु होते हैं और उनमेंसे एक ही गर्भमें प्रवेश पाकर टिकता और बृद्धि पाता है। नारीके शरीरमें ऐसा प्रबन्ध किया गया है कि यह जीव गर्भमें प्रवेश पानेके समयसे एक नलीके द्वारा आहार पावे, इसकी वृद्धिके साथ-साथ नारीके गर्भमें एक जलसे भरा थैला बनता जाता है जो गर्भको चोटसे बचाता है। इस सूक्ष्म-से-सूक्ष्म, अणु-से-अणु, बाळके आगेके भागके दस हजारवें भागके समान सूक्ष्म वस्तुमें यह शक्ति कहाँसे आती है कि जिससे यह धीरे-धीरे अपने माता और पिताके समान रूप, रंग और सब अवयवोंको धारण कर लेता है? कौन-सी शक्ति है जो गर्भमें इसका पालन करती और इसको बढ़ाती है? वह क्या अद्भुत रचना है जिससे बच्चे उत्पन्न होनेके थोड़े समय पूर्व ही माताके मनमें वृक्ष आ जाता है? कौन-सी शक्ति है जो सब असंख्य प्राणवन्तोंकी, सब मनुष्योंकी, सब पशु-पक्षियोंकी, सब कीट-पतंगोंकी, सब पेड़-पल्लवोंकी पाखती है और उनको समयसे चारा और पानी पहुँचाती है? कौन-सी शक्ति है

जिससे बीतियाँ दिनमें भी और रातमें भी लीची भीतपर चढ़ती चली जाती हैं? कौन-सी शक्ति है जिससे छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े पक्षी अनन्त आकाशमें दूर-से-दूर तक बिना किसी आहारके उड़ा करते हैं?

नरों और नारियोंकी, मनुष्योंकी, गौओंकी, सिंहोंकी, हाथियोंकी, पक्षियोंकी, कीड़ोंकी सृष्टि कैसे होती है? मनुष्यों-से मनुष्य, सिंहोंसे सिंह, बोंबोंसे बोंबे, गौओंसे गौ, मयूरों-से मयूर, हंसोंसे हंस, तोतासे तोते, कबूतरोंसे कबूतर, अपने-अपने माता-पिताके रंग-रूप अवयव जिये हुए कैसे उत्पन्न होते हैं? छोटे-से-छोटे बीजोंमें किसी अचिन्त्य शक्ति-से बढ़ाये हुए बड़े और छोटे अस्संख्य वृक्ष उगते हैं तथा प्रतिवर्ष और बहुत वर्षोंतक पत्ती, फल, फूल, रस, तैल, छाल और लकड़ोंसे जीवधारियोंको सुख पहुँचाते, सैकड़ों, सहस्रों स्वादु, रसाले फलोंसे उनको मृग और पुष्ट करते बहुत वर्षोंतक रवास लेते, पानी पीते, पृथिवीमें और आकाश-से आहार खींचते आकाशके नीचे झूमते-लहराते रहते हैं?

इस आश्चर्यमयी शक्तिको सोचमें हमारा ध्यान मनुष्य-के रचे हुए एक घरकी ओर जाता है। हम देखते हैं हमारे सामने यह एक घर बना हुआ है। इसमें भीतर जानेके लिये एक बड़ा द्वार है। इसमें अनेक स्थानोंमें पवन और प्रकाशके लिये खिड़कियाँ तथा झरोखे हैं। भीतर बड़े-बड़े खम्भे और दालान हैं। भूष और पानीके रोकनेके लिये छतें और छत्र बने हुए हैं। दालान-दालानमें, कोठरी-कोठरीमें, भिन्न-भिन्न प्रकारमें मनुष्यको सुख पहुँचानेका प्रबन्ध किया गया है। घरके भीतरसे पानी बाहर निकालने-के लिये नालियाँ बनी हुई हैं। ऐसे विचारसे घर बनाया गया है कि रहनेवालोंको सब ऋतुमें सुख देवे। इस घरको देखकर हम कहते हैं कि इसका रचनेवाला कोई चतुर पुरुष था, जिसने रहनेवालोंके सुखके लिये जो-जो प्रबन्ध आवश्यक था, उसको विचारकर घर रचा। हमने रचने-वालेको देखा भी नहीं, तो भी हमको निश्चय होता है कि जरूरका रचनेवाला कोई था या है और वह ज्ञानवान् विचार-वान् पुरुष है।

अब हम अपने शरीरकी ओर देखते हैं। हमारे शरीर-में भोजन करनेके लिये मुँह बना है। भोजन चबानेके लिये दाँत हैं। भोजनको पेटमें पहुँचानेके लिये गलेमें नाली बनी है। उसीके पास पवनके मार्गके लिये एक दूसरी नाली बनी हुई है। भोजनको हलानेके लिये उदरमें स्थान बना

है। भोजन पचकर रुचिरका रूप धारण करता है, वह हृदयमें जाकर हड़का होता है और वहाँसे सिरसे पैर तक सब नसोंमें पहुँचकर मनुष्यके सम्पूर्ण अंगको शक्ति, सुख और शोभा पहुँचाता है। भोजनका जो अंश शरीरके लिये आवश्यक नहीं है उसके मल होकर बाहर जानेके लिये मार्ग बना है। दूध, पानी या अन्य रसका जो अंश शरीरको पोसनेके लिये आवश्यक नहीं है, उसके निकलनेके लिये दूसरी नाड़ी बनी हुई है। देखनेके लिये हमारी दो आँखें, सुननेके लिये दो कान, सूँघनेको नासिकाके दो रन्ध्र और चबाने-फिरनेके लिये हाथ-पैर बने हैं। सम्मानकी उत्पत्तिके लिये जनन-इन्द्रियाँ हैं। हम पूछते हैं क्या यह परम आश्चर्यमय रचना केवल जब-पदार्थोंके संयोगसे हुई है या इसके जन्म देने और बुद्धिमें हमारे धरके रचयिताके समान किन्तु उससे अनन्तगुण अधिक किसी ज्ञानवान्, विवेकवान्, शक्तिमान् आत्माका प्रभाव है ?

मन और वाणीकी अद्भुत शक्तियाँ

इसी विचारमें डूबते और उतरते हुए हम अपने मनकी ओर ध्यान देते हैं तो हम देखते हैं कि हमारा मन भी एक आश्चर्यमय वस्तु है। इसकी—हमारे मनकी विचार-शक्ति, कल्पनाशक्ति, गणनाशक्ति, रचनाशक्ति, स्मृति, धी, मेधा सब हमको चकित करती हैं। इन शक्तियोंमें मनुष्यने क्या-क्या ग्रन्थ लिखे हैं, कैसे-कैसे काव्य रचे हैं, क्या-क्या विज्ञान निकाले हैं, क्या-क्या आविष्कार किये हैं और कर रहे हैं, यह थोड़ा आश्चर्य नहीं उत्पन्न करता। हमारी बोलनेकी और गानेकी शक्ति भी हमको आश्चर्यमें डुबा देती है। हम देखते हैं कि यह प्रयोजनवती रचना सृष्टिमें सर्वत्र दिखायी पड़ती है और यह रचना ऐसी है कि जिसके अन्त तथा आदिका पता नहीं चलता। इस रचनामें एक-एक जातिके शरीरियोंके अवयव ऐसे निश्चयसे बँधाये गये हैं कि सारी सृष्टि शोभासे पूर्ण है। हम देखते हैं कि सृष्टिके आदिये सारे जगत्में एक कोई अद्भुत शक्ति काम कर रही है जो सदासे चञ्ची आयी है, सर्वत्र व्याप्त है और अविनाशी है।

हमारी बुद्धि विवश होकर इस बातको स्वीकार करती है कि ऐसी ज्ञानात्मिका रचनाका कोई आदि, सनातन, अज, अविनाशी, सत्-चित्-आनन्दस्वरूप जगत्-व्यापक, अनन्त शक्ति-सम्पन्न रचयिता है। उसी एक अनिर्बचनीय शक्तिको हम ईश्वर, परमेश्वर, परब्रह्म, नारायण, भगवान्, बासुदेव,

शिव, राम, कृष्ण, विष्णु, जिहोवा, गॉड, खुदा, अल्लाह आदि सहस्रों नामोंसे पुकारते हैं।

वह परमात्मा एक ही है

वेद कहते हैं—

‘एकमेवाद्वितीयम्, एकं सद्भिप्रा बहुधा वदन्ति, एकं सत्नं बहुधा कल्पयन्ति।’

एक ही परमात्मा है, कोई उसका दूसरा नहीं। एक-हीको विप्रलोक्य बहुत-से नामोंसे वर्णन करते हैं। है एक ही, किन्तु उसको बहुत प्रकारसे कल्पना करते हैं।

विष्णुसहस्रनाम और शिवसहस्रनाम इस बातके प्रसिद्ध उदाहरण हैं। बुध्दिभरने पितामह भीष्ममें पूछा कि बताइये, लोकमें वह कौन एक देवता है ? कौन सब प्राणियोंका सबसे बड़ा एक शरण है ? कौन वह है जिसकी स्तुति करते, जिसको पूजते मनुष्यका कल्याण होता है ?

इसके उत्तरमें पितामहने कहा—

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम् ।
स्नुब्रह्मसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः ॥
अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्तियं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः ।
परमं यो महद्बलं परमं यः परायणम् ॥
पवित्राणां पवित्रं यो महत्तानां च महत्तमम् ।
देवतं देवतानां च भूतानां योऽन्यः पिता ॥

अर्थात्, ‘मनुष्य प्रतिदिन उठकर सारे जगत्के स्वामी, देवताओंके देवता, अनन्त पुरुषोत्तमकी सहस्र नामोंसे स्तुति करे। सारे लोकके महेश्वर, लोकके अध्यक्ष (अर्थात् शासन करनेवाले), सर्व लोकमें व्यापक विष्णुकी, जो न कभी जन्मे हैं, न जिनका कभी मरण होगा, नित्य स्तुति करता हुआ मनुष्य सब दुःखोंमें मुक्त हो जाता है। जो सबसे बड़ा तेज है, जो सबसे बड़ा तप है, सबसे बड़ा ब्रह्म है और जो सब प्राणियोंके सबसे बड़े शरण हैं, जो पवित्रोंमें सबसे पवित्र, सब मंगल बातोंके संगल, देवताओंके देवता और सब प्राणीमात्रके अविनाशी पिता है।’

इससे स्पष्ट है कि विष्णुसहस्रनाम और शिवसहस्रनाम तथा और ऐसे स्तोत्र सब एक ही परमात्माकी स्तुति करते हैं। और मनुष्यमात्रको उचित है कि नित्य सायं-प्रातः उस परमात्माका ध्यान करे और उसकी स्तुति करे।

उसी एककी तीन संज्ञा हैं

ब्रह्मा, विष्णु, महेश ये उसी एक परमात्माकी तीन संज्ञा अर्थात् नाम हैं। विष्णुपुराणमें लिखा है—

मुष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णुशिवाभिधाम् ।
स संज्ञां याति भगवान् एक एव जनार्दनः ॥

वही बात बृहन्नारदीयपुराणमें भी लिखा है—

नारायणोऽसूरोऽनन्तः सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
तेनेदमक्षिणं व्याप्तं जगत्सद्यावरजज्ञमम् ॥
तमादिदेवमजरं केचिदाहुः शिवाभिधम् ।
केचिद्विष्णुं सदा सत्यं ब्रह्माणं केचिदुच्यते ॥

इसी प्रकार शिवपुराणमें स्वयं महेश्वरका वचन है—

त्रिधा भिन्नो ह्यहं विष्णो ब्रह्माविष्णुहराख्यया ।
सर्गैरक्षालयगुणैः निष्कलोऽयं सदा हरे ॥
अहं भवानयं चैव कद्रोऽयं यो भविष्यति ।
एकं रूपं न भेदोऽस्ति भेदे च बन्धनं भवत् ॥

भागवतमें भी स्वयं भगवान्का वचन है—

अहं ब्रह्मा च शर्वेश्वर जगत्: कारणं परम् ।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृग्विशेषणः ॥
आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥

इसलिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश इनको भिन्न-भिन्न मानना भूल है। ये एक ही परमात्माकी तीन संज्ञा हैं।

इसीलिये शिवपुराणमें भी लिखा है—

शिवां महेश्वरश्चैव कद्रो विष्णुः पितामहः ।
संसारवैद्यः सर्वज्ञः परमात्मैति मुख्यतः ।
नामाष्टकमिदं नित्यं शिवस्य प्रतिपादकम् ॥

इसलिये यह स्पष्ट है कि 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' 'ॐ नमो नारायणाय' 'ॐ नमः शिवाय' 'श्रीरामाय नमः' 'श्रीकृष्णाय नमः'—ये सब मन्त्र एक ही परमात्माकी वन्दना हैं।

उस परमात्माका क्या रूप है ?

वेद कहते हैं—

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।'

भागवतमें भी लिखा है—

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम् ।
सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥
ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मनिद्रभाषाः ।
ज्ञानं मात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
हृदयादिभिः पृथग्भावैः भगवानेक ईयते ॥

ब्रह्म सत्य है, सदा रहा है, है भी, सदा रहेगा भी। वह ज्ञानमय, चैतन्य और आनन्दस्वरूप है। उसका स्वयं शरीर नहीं है, किन्तु बिनाशमान शरीरोंमें पैठकर वह संसारकी लीला कर रहा है। वह केवल निर्मल ज्ञानस्वरूप है, पूर्ण है। उसका आदि नहीं, अन्त नहीं। वह नित्य और अद्वितीय है। एक होनेपर भी अनेक रूपोंमें दिखायी देता है।

दूसरे स्थानमें कहा है—

शरीरोंके भीतर बैठा हुआ आत्मा पुराणपुरुष साक्षात् स्वयंप्रकाश, अज, परमेश्वर, नारायण, भगवान् वासुदेव अपनी मायासे अपने-अपने शरीरोंमें रम रहा है।

ब्रह्मका पूर्ण और अत्यन्त हृदयग्राही निरूपण—वेद, उपनिषद् और पुराणोंका सारांश—भागवतके एकादश-स्कन्धके तीसरे अध्यायमें दिया हुआ है।

राजा जनकने ऋषियोंसे कहा, हे ऋषिगण ! आपलोग ब्रह्मज्ञानियोंमें श्रेष्ठ हैं, अतएव आप मुझे अब यह बताइये कि जिनको नारायण कहते हैं, उन परब्रह्म परमात्माका ठीक स्वरूप क्या है ?

पिप्पलायन ऋषिने कहा—'हे नृप ! जो इस विश्वके सृजन, पालन और संहारका कारण है, परन्तु स्वयं जिसका कोई कारण नहीं है; जो स्वप्न, जागरण और गहरी नींदकी दशाओंमें भीतर और बाहर भी वर्तमान रहता है; देह, इन्द्रिय, प्राण और हृदय आदि जिससे सञ्चित होकर अर्थात् प्राण पाकर अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, उसी परम तत्त्वको नारायण जानो। जैसे थिनगारियों अग्निमें प्रवेश नहीं पा सकतीं, वैसे ही मन, वाणी, आँखें, बुद्धि, प्राण और इन्द्रियाँ उस परम तत्त्वका ज्ञान ग्रहण करनेमें असमर्थ हैं और वहाँतक न पहुँच सकनेके कारण उसका निरूपण नहीं कर सकतीं।

वह परमात्मा कभी जम्मा नहीं, न वह कभी मरेगा, न वह कभी बढ़ता है और न घटता है; जम्म-मरण आदि-

से रहित वह सब बदलती हुई अवस्थाओंका साक्षी है, एवं सर्वत्र व्याप्त है, सब कालमें रहा है और रहेगा, अविनाशी है और ज्ञानमात्र है। जैसे प्राण एक है तो भी इन्द्रियोंके भिन्न होनेसे आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, नाक सूँघती है इत्यादि आँखोंके कारण—एक वृत्तसे भिन्न प्रतीत होते हैं, ऐसे ही आत्मा एक होनेपर भी भिन्न-भिन्न देहोंमें अवस्थित होनेके कारण भिन्न प्रतीत होता है।

जितने जीव जरायुसे उत्पन्न होते हैं—मनुष्य, गौ, घोड़े, हाथी, सिंह, कुत्ते, भेड़, बकरी आदि—जो पक्षी-वर्ग अथवा उल्ब होते हैं, जो कीटवर्ग पसीने, मैल आदिसे उत्पन्न होते हैं और जो वृक्षवर्ग (पेड़, बिटप) पृथिवीको फोड़कर उगते हैं, इन सबोंमें—सम्पूर्ण सृष्टिमें—जहाँ-जहाँ जीवके साथ प्राण दीवता हुआ दिखायी देता है, वहाँ-वहाँ ब्रह्म है। जब सब इन्द्रियाँ सो जाती हैं, जब 'मैं हूँ' यह अहंभाव भी लीन हो जाता है, उस समय जो निर्विकार साक्षीरूप हमारे भीतर बैठा हुआ ध्यानमें आता है और जिसका हमारे जागनेकी अवस्थामें 'हम अच्छे सोये' 'यह सपना देखा' इसप्रकारकी स्मृति होती है, वही ब्रह्म है। इत्यादि।

यह ब्रह्म कहाँ है ?

वेद कहते हैं—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्मोध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चैताः केवलो निर्गुणश्च॥

एक ही परमात्मा सब प्राणियोंके भीतर छिपा हुआ है, सबमें व्याप्त रहा है, सब जीवोंके भीतरका अन्तरात्मा है, जो कुछ कार्य सृष्टिमें हो रहा है, उसका नियन्ता है। सब प्राणियोंके भीतर बस रहा है, सब संसारके कार्योंका साक्षी-रूपमें देखनेवाला, चैतन्य, केवल एक, जिसका कोई जोड़ नहीं और जो गुणोंके दोषसे रहित है।

वेद, स्मृति, पुराण कहते हैं कि यह देवोंका देव, अग्निमें, जलमें, वायुमें, सारे भुवनमें, सब ओषधियोंमें, सब वनस्पतियोंमें, सब जीवधारियोंमें व्याप्त रहा है।

कहते हैं—

एष देवो विश्वकर्मा महत्तमा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
इवा हृदस्य मनसा य एव-
मेवं विदुरमुतास्ते भवन्ति॥

—वह परम देव विश्वका रचनेवाला सदा प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। अपने-अपने हृदयमें स्थित इस महारमाको जो शुद्ध हृदयसे, विमल मनसे अपनेमें विराजमान देखते हैं वे असुर होते हैं।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके
न चेतिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो
न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः॥

लोकमें न उसका कोई स्वामी है, न उसके ऊपर आज्ञा चलानेवाला है, न उसका कोई चिह्न है। वही सबका कारण है। उसका कोई कारण नहीं, उसका कोई उत्पन्न करनेवाला नहीं, न उसका कोई रक्षक है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्
विदाम देवं भुवनेशमीश्वरम्॥

उस सब सामर्थ्य और अधिकार रखनेवालोंके सबसे बड़े परम ईश्वर, देवताओंके सबसे बड़े देवता, स्वामियोंके सबसे बड़े स्वामी, सारे त्रिभुवनके स्वामी, परम पूजनीय देवको हमलोगोंने जाना है।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सोइ सबिदानंदघन रामा। अज विज्ञानरूप बलधामा॥
व्यापक व्याप्य अखण्ड अनन्ता। अखित अगाध शक्ति भगवन्ता॥
अगुण अदभ्र गिरा गोतीता। समदर्शी अनवद्य अजीता॥
निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन मुख सन्दीहा॥
प्रकृति पार प्रभु सब उरबासी। ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी॥
इहाँ मोहकर कारण नार्हा। रवि-सम्मुख तम कबहुँ कि जाई॥

यह परमात्मा जीवरूपमें प्रत्येक जीवधारोंके हृदयके बीचमें विराजमान है।

ईश्वर-अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखराशी।

स्वयं भगवान्ने गीतामें कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

हृत्प विषयमें आज्ञावत्क्य मुनिने सब वेदोंका तत्त्व यों वर्णन किया है—

एक सौ चत्वारसीस सहस्र हित और अहित नामकी नादियाँ प्रत्येक मनुष्यके हृदयसे शरीरमें दौड़ी हुई हैं। उसके बीचमें चन्द्रमाके समान प्रकाशवाला एक मण्डल है, उसके बीचमें दीपके समान आत्मा विराजमान है, उसीको जानना चाहिये। उसीका ज्ञान होनेसे मनुष्य आवागमनसे मुक्त होता है।

यह आत्मा मनुष्यमें लेकर पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, वृक्ष-विटप समस्त छोटे-बड़े जीवधारियोंमें समानरूपमें विराजमान है—

वेदव्यासजी कहते हैं—

ज्योतिरसमि नान्यत्र समं तत्सर्वजन्तुषु ।
स्वयं च शक्यते द्रष्टुं सुसमाहितचेतसा ॥

ब्रह्मकी ज्योति अपने भीतर ही है, वह सब जीव-धारियोंमें एक सम है, मनुष्य मनको अच्छी तरह ज्ञान और स्थिरकर उसीसे उसको देख सकता है।

गीतामें स्वयं भगवान्का वचन है—

समं सर्वेषु भूतानु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विन्दस्वस्त्वविन्दयन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥
ज्योतिषमपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विहितम् ॥

वही परिष्ठत है जो विनाश होते हुए मनुष्योंके बीचमें विनाश न होते हुए सब जीवधारियोंमें बैठे हुए परमेश्वर-को देखता है।

सब ज्योतियोंकी वह ज्योति, समस्त अन्धकारके परे चमकता हुआ, ज्ञानस्वरूप, जाननेके योग्य, जो ज्ञानसे पहचाना जाता है, ऐसा वह परमात्मा सबका सुहृद्, सब प्राणियोंके हृदयमें बैठा है।

ऐसे वट-घट-ध्यापक उस एक परमात्माकी मनुष्यमात्रको विमल भक्तिके साथ उपासना करनी चाहिये। और यह ध्यानकर कि वह प्राणीमात्रमें व्याप्त है, प्राणीमात्रसे प्रीति करनी चाहिये। सब जीवधारियोंकी प्रेमकी दृष्टिमें देखना चाहिये। जैसा कि अक्षिशरोमणि प्रह्लादजीने कहा है—

ततो हरो भगवति भक्तिं कुर्वत दानवाः ।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे ॥
देतेवा यक्षरक्षांसि स्त्रियः शूद्रा ब्रजौकसः ।
समा भुगाः पापजीवाः सन्ति ह्यभ्युततां गताः ॥
पतावनेव लोकैऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः ।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम् ॥
(ब्राम्हण ७।७।५३-५५)

अतएव हे दानवो ! सबको अपने ही समान सुख-दुःख होता है, ऐसी बुद्धि धारण करके सब प्राणियोंके आत्मा और ईश्वर भगवान् श्रीहरिकी भक्ति करो। दैत्य, यक्ष, राक्षस, स्त्रियाँ, शूद्र, ब्रजवासी गोपाल, पशु, पक्षी और अन्य पातकी जीव भी भगवान् अच्युतकी भक्तिमें निस्सन्देह मोहको प्राप्त हो गये हैं। गोविन्द भगवान्के प्रति एकान्त भक्ति करना और चराचर समस्त प्राणियोंमें भगवान् है ऐसी भावना करना ही इस लोकमें सबमें उत्तम स्वार्थ है।

सनातन-धर्मका मूल

भगवान्बामुदेवो हि सर्वभूतेश्वरस्थितः ।
पतञ्जलिन हि सर्वस्य मूलं धर्मस्य शाश्वतम् ॥

यह ज्ञान कि भगवान् बामुदेव सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित हैं, सम्पूर्ण सनातन-धर्मका सदासे चला आता हुआ और मढ़ा रहनेवाला मूल है। इसी ज्ञानको भगवान्ने अपने श्रीमुखमें गीतामें कहा है—

‘समोऽहं सर्वभूतेश्’

मैं सब प्राणीमात्रमें एक समान हूँ। तथा यह कि—

विद्याविनयसंपन्नं ब्राह्मणं गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

विद्या और विनयमें युक्त ब्राह्मणमें, गौ-बैलमें, हाथीमें, कुत्तेमें और चाण्डालमें परिष्ठत लोग समदर्शी होते हैं, अर्थात् सुख-दुःखके विषयमें उनको समानभावमें देखते हैं। तथा यह भी कि—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

मुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

जो पुरुष सबके सुख-दुःखके विषयमें अपनी उपमायें समान दृष्टिमें देखता है उसीको सबसे बड़ा योगी समझना चाहिये। इसीलिये महर्षि वेदव्यासजीने कहा है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधारिताम् ।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

न तत्परस्य संदध्यात् प्रतिकूलं यदात्मनः ।

एव सामासिको धर्मः कामादन्यः प्रवर्तते ॥

सुनो धर्मका सर्वस्व और सुनकर इसके अनुसार आचरण करो । जो अपनेको प्रतिकूल जान पड़े, जिस बातसे अपनेको पीड़ा पहुँचे, उसको दूसरोंके प्रति न करो ।

दूसरेके प्रति हमको वह काम नहीं करना चाहिये जिसको यदि दूसरा हमारे प्रति करे तो हमको बुरा मालूम हो या दुःख हो । संक्षेपमें यही धर्म है, इसके अतिरिक्त दूसरे सब धर्म किसी बातकी कामनासे किये जाते हैं ।

जीवितुं यः स्वयं चेच्छेत्कथं सोऽन्यं प्रधातयेत् ।

यद्यदात्मनि चेच्छेत् तत्परस्मापि चिन्तयेत् ॥

जो चाहता है कि मैं जीऊँ, वह कैसे दूसरेका प्राण हरनेका मन करे? जो-जो बात मनुष्य अपने लिये चाहता है उसको चाहिये कि वही-वही बात औरोंके लिये भी लोचे ।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय धर्म जिनका सब समयमें पालन करना सब प्राणियोंके लिये बिहित है और जिनके उल्लंघन करनेसे आदमी नीचे गिरता है, इन्हीं सिद्धान्तोंपर स्थित हैं । इन्हीं सिद्धान्तोंपर वेदोंमें गृहस्थोंके लिये पञ्च-महायज्ञका विधान किया गया है कि जो भूखसे भी किसी निर्दोष जीवकी हिंसा हो जाय तो हम उसका प्रायश्चित्त करें । जो हिंसक जीव है, जो हमारा या किसी दूसरे निर्दोष प्राणीका प्राणाघात करना चाहते हैं, या उनका धन हरना या धर्म बिगाड़ना चाहते हैं, जो हमपर या हमारे देशपर, हमारे गाँवपर आक्रमण करते हैं, या जो आग लगाते हैं या किसीकी विष देते हैं—ऐसे लोग आततायी कहे जाते हैं । अपने या अपने किसी भाई या बहिनके प्राण, धन, धर्म, मानकी रक्षाके लिये ऐसे आततायी पुरुषों या जीवोंका, आवश्यकताके अनुसार आक्रमणके सिद्धान्तपर बंध करना धर्म है । निरपराधी अहिंसक जीवोंकी हिंसा करना अधर्म है ।

इसी सिद्धान्तपर वेदके समयसे हिन्दू लोग सारी सृष्टिके निर्दोष जीवोंके साथ सहानुभूति करते आये हैं । गौको हिन्दू लोकमाता कहते हैं क्योंकि वह मनुष्य-जातिको दूध पिलाती है और सब प्रकारसे उनका उपकार करती है । इसलिये उसकी रक्षा करना तो मनुष्यमात्रका विशेष कर्तव्य है । किन्तु किसी भी निर्दोष या निरपराध

प्राणीको मारना, किसीका धन या प्राण हरना, किसीके साथ अत्याचार करना, किसीको कूठसे ठगना, ऊपर लिखे धर्मके परम सिद्धान्तके अनुसार अकार्य अर्थात् न करनेकी बातें हैं । और अपने समान सुख-दुःखका अनुभव करने-वाले जीवधारियोंकी सेवा करना, उनका उपकार करना, यह त्रिकालमें सावर्लौकिक सत्य धर्म है ।

इसी मूल-सिद्धान्तके अनुसार वेद-धर्मके माननेवालोंको उपदेश दिया गया है कि न केवल मनुष्योंको किन्तु पशु-पक्षियों तथा समस्त जीवोंको बलिबैश्वदेवके द्वारा नित्य कुछ आहार पहुँचाना अपना धर्म समझें । यह बात नीचे लिखे श्लोकोंसे स्पष्ट है ।

बलिबैश्वदेवके श्लोक

ततोऽन्यदन्नमादाय भूमिमांसे शुचौ पुनः ।

दद्यादशेषभूतेभ्यः स्वेच्छया तत्समाहितः ॥

देवा मनुष्याः पशवो बयसि

सिद्धाः सयक्षोरगभूतसङ्गाः ।

प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ता

ये चान्नमिच्छन्ति मया प्रदत्ताम् ॥

पिपीलिकाः कीटपतङ्गाद्याः

नुमुक्षिताः कर्मनिर्बन्धनद्धाः ।

प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं भयान्नं

तेभ्यो विसृष्टं मुक्तिना भवन्तु ॥

भूतानि सर्वाणि तेषामनेत-

दहं च विष्णुर्न ततोऽन्यदस्ति ।

तस्मादहं भूतनिकायभूत-

मन्नं प्रयच्छामि भवाय तेषाम् ॥

चतुर्दशो भूतगणो य एव

तत्र स्थिता वेदस्मृतिसङ्गाः ।

तृप्स्यन्मन्नं हि मया विसृष्टं

तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु ॥

इत्युच्चार्य नरो दद्यावन्नं श्रद्धासमन्वितम् ।

मुनि भूतापकाराय गृही सर्वाभ्रयो यतः ॥

और-और यज्ञोंको करके मनुष्य सावधान होकर पृथिवीपर सब प्राणियोंके लिये बलि रखे और कहे कि देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, सिद्ध, यक्ष, सर्प, ग्रेन, पिशाच, तह, चींटी, कीड़े, पतंग, जो मूखे हों और मुझसे अन्न चाहते हों, मेरे दिये अन्नसे उनकी कृति हो और वे सुखी

हों, हत्यादि कहकर गृहस्थ प्राणीमात्रके उपकारके लिये भद्रापूर्वक थोड़ा अन्न निकाल दे।

इसी धर्मके अनुसार सनातन-धर्मी नित्य तर्पण करने-के समय न केवल अपने पितरोंका तर्पण करते हैं किन्तु समस्त ब्रह्माण्डके जीवधारियोंका। यह नीचे लिखे श्लोकोंसे विदित है। यथा—

देवाः सुरास्तथा यक्षा नागा गन्धर्वाक्षसाः ।
पिशाचा गुह्यकाः सिद्धाः कूष्माण्डास्तरवः स्रगाः ॥
जलेचरा भूतिलया वाग्वाधाराश्च जन्तवः ।
प्रीतिमेते प्रयान्वाशु महत्तेनामुनाऽक्षिताः ॥
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः ।
तेषामाप्यायनायैतदीयते सत्किञ्च यथा ॥
ये बान्धवान्बन्धवा येऽन्यजन्मनि बान्धवाः ।
ते सर्वे तुष्टिमायान्तु यश्चास्मत्तेयमिच्छति ॥

देवता, दैत्य, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कूष्माण्ड, वृक्ष-वर्ग, पक्षीगण, जलमें रहने-वाले जीव, बिलमें रहनेवाले जीव, वायुके आधारपर रहने-वाले जन्तु, ये सब मेरे दिये हुए जलसे तृप्त हों। समस्त नरकोंकी यातनामें जो प्राणी दुःख भोग रहे हैं, उनके दुःख शान्त करनेकी इच्छासे मैं यह जल देता हूँ। जो मेरे बन्धु-बान्धव रहे हों और जो बान्धव न रहे हों और जो किसी और जन्ममें मेरे बान्धव रहे हों, उनकी तृप्तिके लिये और उनकी भी तृप्तिके लिये जो मुझमें जल पानेकी इच्छा रखते हों, मैं यह जल अर्पण करता हूँ।

वैश्वदेवमें जो अन्न कुत्ते और कौवोंके लिये निकाला जाता है उसको छोड़कर शेष बलिकी मात्रा बहुत कम होती है इसलिये वह 'सर्वभूतेभ्यः' सब प्राणियोंको पहुँच नहीं सकता। तथापि यह जानते हुए भी—बलिर्वैश्वदेव-का करना प्रत्येक गृहस्थका कर्त्तव्य इसलिये माना गया है कि वह उस पवित्र, उदार भावको प्रकट करता है कि मनुष्य मानता है कि उसका सब जीवधारियोंमें भाईपनका सम्बन्ध है और इस भावको आँसुओंके समान प्रेमके जलसे नित्य सींचकर जगत्के आकाशमें जीवधारीमात्रमें परस्पर भाईपनका भाव स्थापित करनेका उत्कृष्ट और प्रशंसनीय मार्ग है।

इस धर्मकी उदारताकी प्रशंसा कौन कर सकता है ? इसकी उदारता इस धर्मके बड़े-से-बड़े परम पूजित आचार्य

महर्षि वेदव्यासकी, जो 'सर्वभूतहितै रतः' सब प्राणियोंके हितमें निरत रहते थे, इस प्रार्थनासे भी प्रकट है कि—

सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे मद्राणि पदबन्तु माकश्चिद्दुःखमाग्न भवेत् ॥

सब प्राणी सुखी हों, सब नीरोग रहें, सब सुख-सौभाग्य देखें, कोई दुखी न हो।

उसी धर्मके प्रायाधार भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने सारे जगत्के प्राणियोंको यह निमन्त्रण दे दिया है कि—'सब और धर्मोंको छोड़कर तुम मुझ एककी शरणमें आओ। मैं तुमको सब पापोंसे छुड़ा लूँगा। सोच मत करो।'।

उन्होंने यह भी प्रतिज्ञा की है—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति न प्रियः ।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

क्षिप्रं भवति धर्मोत्तमा शब्दब्रह्मन्ति निगच्छति ।

कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥

मां हि पार्थव्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयेनयः ।

क्षियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

कि मैं सब प्राणियोंके लिये समान हूँ। न मैं किसी-का द्वेष करता हूँ, न कोई मेरा प्यारा है। जो मुझको भक्तिसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ; पापी-मे-पापी भी क्यों न हो यदि वह और सबको छोड़कर मेरा ही भजन करता है तो उसको साधु ही मानना चाहिये। योहें ही समयमें वह धर्मोत्तमा हो जायगा और उसको शारवती शान्ति मिल जायगी। हे भ्रातृन् ! मैं प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, जो कोई मेरा भक्त है, उसका बुरा नहीं होगा। हे कुन्तीके पुत्र ! मेरी शरणमें आकर जो पापयोनिसे उत्पन्न प्राणी भी हैं और क्षी, वैश्य और शूद्र—ये भी निश्चय सबसे ऊँची गतिको पावेंगे।'

धन्य हैं वे लोग जिनको इस पवित्र और लोक-प्रेमसे पूर्ण धर्मका उपदेश प्राप्त हुआ है। मेरी यह प्रार्थना है कि इस ब्रह्म-उद्योगिकी सहायतासे सब धर्मशील जन अपने ज्ञानकी विशुद्ध और अविच्छिन्न और अपने उत्साह-की नूतन और प्रबलकर सारे संसारमें इस धर्मके सिद्धान्तों-का प्रचार करें और समस्त जगत्को यह विश्वास करा दें कि सबका ईश्वर एक ही है और वह अंशरूपसे न केवल

सब मनुष्योंमें किन्तु समस्त जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उन्मिज अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष और विटप सबमें समानरूपसे अवस्थित है और उसकी सबसे उत्तम पूजा यही है कि हम प्राणीमात्रमें ईश्वरका भाव देखें, सबसे मित्रताका भाव रखें और सबका हित चाहें।

साध्वीजीन प्रेमसे इस सत्य ज्ञानके प्रचारसे ईश्वरीय शक्तिका संगठन और विस्तार करें। जगत्से अज्ञानको दूर करें, अन्याय और अत्याचारको रोकें और सत्य, न्याय और दयाका प्रचारकर मनुष्योंमें परस्पर प्रीति, सुख और शान्ति बढ़ावें।



उत्तम रहस्य

जगत्में जो कुछ है, सब भगवान्‌का प्रकाश है, क्योंकि भगवान्‌ ही एकमात्र सत् वस्तु हैं। उनकी मूर्ति या अंश-के अतिरिक्त और किसीका भी अस्तित्व नहीं है। सभी जीव नाम-रूपकी सीमाके अन्दर असोमका ही आत्मप्रकाश है। अवश्य ही भगवान्‌के प्रकाशका भी क्रम है। भगवान्‌ नित्य, शुद्ध, परब्रह्म हैं। साधारण जीवमें भगवान्‌का अंश मायाके आवरणसे आवद्ध है, जीव ज्ञानके प्रकाशद्वारा अपने देवत्वकी क्रमशः उपलब्धि कर सकता है। स्थान-स्थानपर भगवान्‌की विशेष शक्तियोंका आविर्भाव होता है, उनको बिभूतिके नामसे पुकारा जाता है। किन्तु, जब वही अज, अण्डयात्मा ईश्वरस्वयं जगत्‌के कल्याणके लिये अपनी मायाको वशीभूत करके मायिक देह ग्रहण करते हैं—मानव-शरीरमें जन्म ग्रहण करते हुए प्रतीत होते हैं—सर्वशक्तिमान्‌ होकर भी मानवोचित शरीर-मन-बुद्धि-के द्वारा कर्म करते हैं—तभी उनको अवतार कहा जाता है।

मनुष्यके अन्दर भी भगवान्‌ हैं। मनुष्य जिस दिन इस बातकी सम्बन्ध रूपसे उपलब्धि करता है, उसीदिनसे वह भगवान्‌में निवास करता है। वेदान्तवादिनोंमें वैष्णवोंने नर-नारायणके रूपको अचकम्भन करके इस तत्त्वको लूब दिलाया है। नर नारायणका सर्वेश्वरका

साथी है। नर अर्थात् जीवात्मा जिस दिन वह समझ लेता है कि मैं नारायण अर्थात् परमात्माका सखा हूँ, उसी क्षण वह स्वरूपमें स्थित हो जाता है—उसी समयसे वह भगवान्‌के निकट निवास करता है—‘निवसिष्यसि मध्येव।’ भगवान्‌ सब समय ही सत्त्वरूपसे हमलोगोंके समीप रहते हैं—हमलोगोंके हृदय-रथमें वे सर्वदा ही सारथी-रूपमें विराजित हुए हमलोगोंको चलाते हैं—

‘ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।’

वे हमलोगोंके कितने अपने हैं, कितने निकटतम बन्धु हैं, हाथ पकड़कर वे किसप्रकार हमलोगोंको चला रहे हैं—इस बातको हमलोग नहीं समझते। जिस दिन मायाका आवरण, अज्ञानका अन्धकार हट जायगा, मनुष्य इतिस्थित इषीकेशके सम्मुख आवेगा, उनकी वाणी सुनकर प्रभावको नष्ट करेगा, उनकी शक्तिसे कर्म करेगा—उसी दिन वह अपनी मन-बुद्धिको भगवान्‌में सम्पूर्ण-भावसे समर्पण करनेमें एवं भगवान्‌के अन्दर निवास करनेमें समर्थ होगा, इसीको गीताने ‘उत्तम रहस्य’ बताया है॥ ।.....

— श्रीअरविन्द



ईश्वर-प्रार्थना

(महात्मा गान्धी)



श्वर-प्रार्थनाने मेरी रक्षा की। प्रार्थना-के आश्रय बिना मैं कबका पागल हो गया होता। अन्य मनुष्योंकी भाँति मुझे भी अपने सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत जीवनमें अनेक कठु अनुभव करने पड़े। उनके कारण मेरे अन्दर कुछ समयके लिये एक

प्रकारकी निराशा-सी छा गयी थी। उस निराशाको दूर करनेमें मुझे सफलता हुई तो वह प्रार्थनाके ही कारण हुई। सत्यकी भाँति प्रार्थना मेरे जीवनका अंग बनकर नहीं रही है। इसका आश्रय तो मुझे आवश्यकतावश लेना पड़ा। मेरी ऐसी अवस्था हो गयी कि मुझे प्रार्थनाके बिना चैन पचना कठिन हो गया। ईश्वरके अन्दर मेरा विश्वास उधों-उधों बढ़ता गया, प्रार्थनाके लिये मेरी व्याकुलता भी उतनी ही दुर्बलनीय हो गयी। प्रार्थनाके बिना मुझे जीवन नीरस एवं धून्य-सा प्रतीत होने लगा।

जब मैं दक्षिणी अफ्रीकामें था, उस समय मैं कई बार ईसाइयोंकी सामुदायिक-प्रार्थनामें सम्मिलित हुआ, किन्तु उसका मुझपर प्रभाव नहीं पड़ा। मेरे ईसाई मित्र ईश्वरके सामने अनुनय-विनय करते थे, किन्तु मुझसे वैसा नहीं बन पड़ा। मुझे इस कार्यमें बिल्कुल असफलता रही। परिव्राम यह हुआ कि ईश्वर एवं उसकी प्रार्थनामें मेरा विश्वास उठ गया और जबतक मेरी अवस्था परिपक्व न हो गयी, मुझे उसका अभाव बिल्कुल नहीं लखा। परन्तु अवस्था ठक जानेपर एक समय ऐसा आया जब मेरी आत्माके लिये प्रार्थना उतनी ही अनिवार्य हो गयी जितना शरीरके लिये भोजन अनिवार्य है। सच पूछिये तो शरीरके लिये भोजन भी इतना आवश्यक नहीं है जितनी आत्माके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता है। क्योंकि शरीरको स्वस्थ रखनेके लिये कभी-कभी उपवास (भोजनका त्याग) आवश्यक हो जाता है किन्तु प्रार्थनारूप भोजनका त्याग किसी प्रकार भी हितकर अथवा वाञ्छनीय नहीं कहा जा सकता। प्रार्थनाका अजीब तो कभी हो ही नहीं सकता।

जगद्गुरुओंकी साथी

जगतके तीन महान् गुरु गौतम बुद्ध, ईसा एवं मुहम्मदके लेखोंमें इस बातके अकाट्य प्रमाण मिलते हैं कि उन्हें प्रार्थनासे ही प्रकाश मिला और वे प्रार्थनाके बिना जीवित नहीं रह सकते थे। कालों ईसाइयों, हिन्दुओं तथा मुसलमानोंको आज भी ईश्वर-प्रार्थनासे जितना आश्वासन मिलता है वैसा जीवनमें और किसी बातसे नहीं मिलता। आप अधिक-से-अधिक उन लोगोंको झूठा अथवा आत्म-वञ्चित कह सकते हैं। मैं तो यह कहूँगा कि यह झूठ मुझ सरयान्वेषीपर जादूका-सा काम करती है, यदि झूठ ही हो तथापि वस्तुतः मेरे जीवनका एकमात्र यही सहारा रहा है, क्योंकि इसके बिना मैं एक पलभर भी जीवित नहीं रह सकता। राजनैतिक आकाश निराशाके बादलोंसे घिरा हुआ रहनेपर भी मेरी आन्तरिक शान्ति कभी भंग नहीं हुई। अधिक क्या, लोग मेरी इस आन्तरिक शान्तिको देखकर मुझसे ईर्ष्या करने लगते हैं। यह शान्ति मुझे ईश्वर-प्रार्थनासे ही मिली और कहींसे नहीं।

मैं विद्वान् नहीं हूँ, मैंने शास्त्रोंका अध्ययन नहीं किया है, किन्तु मैं विनयपूर्वक इस बातका दावा करता हूँ कि मेरा जीवन प्रार्थनामय है। प्रार्थनाका प्रकार कैसा होना चाहिये, इस विषयमें मैं उदासीन हूँ। इसका निर्याप प्रत्येक मनुष्य अपने लिये स्वयं कर सकता है। किन्तु मुझे प्रार्थनाके कई ऐसे ढंग मालूम हैं जिनका कोर्गने अनुसरण किया है और प्राचीन महात्माओंके बताये हुए मार्गपर चलना ही अयस्कुर होता है।

किसीके अन्दर ईश्वरमें विश्वास उत्पन्न करा देना मेरी शक्तिके बाहर है। संसारमें कई बातें ऐसी हैं जो स्वतः-सिद्ध हैं और कुछ बातें ऐसी भी हैं जो बिल्कुल सिद्ध ही नहीं हो सकतीं। रेखागणितके मूल-सिद्धांतों (Axioms) की भाँति ईश्वरकी सत्ता भी स्वयंसिद्ध है। सम्भव है कि हमारा दृष्ट्य उसे ग्रहण न कर सके। बुद्धिकी पहुँचके विषयमें तो मैं कुछ नहीं कहूँगा। बुद्धिका अवलम्बन बहुत करके प्रयत्नक होता है, क्योंकि तर्कपूर्वक बुद्धियोंसे

चैतन्यरूप ईश्वरके अन्दर विश्वास उत्पन्न नहीं कराया जा सकता। ईश्वर बुद्धिगम्य वस्तु नहीं है। वह बुद्धिसे परे है। हमारे पास बहुत-से ऐसे प्रमाण हैं जिनसे हम ईश्वरकी सत्ताको युक्तिसे सिद्ध कर सकते हैं, परन्तु इसप्रकारका युक्तिपूर्ण समाधान पाठकोंकी बुद्धिका अपमान करना होगा। मैं आप लोगोंसे अनुरोध करूँगा कि आप लोग तार्किक युक्तियोंका आश्रय छोड़कर एक नन्हे-से बच्चेकी भाँति ईश्वरमें निरछल विश्वास करना प्रारम्भ कर दें। यदि मेरा अस्तित्व है तो ईश्वरका अस्तित्व अवश्य है। केवल मेरे ही जीवनका नहीं, किन्तु मेरे-जैसे अन्य लाखों मनुष्योंके जीवनका यह एक आवश्यक अंग है। चाहे वे इसके विषयमें वाद-विवाद न कर सकें, किन्तु उनके जीवनसे हम यह देख सकते हैं कि वह उनके जीवनका एक अंग बन गया है।

श्रद्धा

मैं आप लोगोंसे केवल इतनी-सी प्रार्थना करता हूँ कि आप लोग इस विश्वासरूपी लण्डहरका कीर्णोंद्वार कीजिये। इसके लिये यह आवश्यक है कि आप उस प्रचुर साहित्यको भूल जाइये जिनसे आपकी बुद्धिको चौंधिया दिया है और आपके पाँयोंको कमज़ोर बना दिया है। श्रद्धाके मार्गमें दीक्षित हो जाइये, जो विनयका चिह्न है और इस बातको स्वीकार कीजिये कि हम कुछ नहीं जानते, हम इस विशाल ब्रह्माण्डके अन्दर अणुसे भी अणु हैं। हम अणुसे भी अणु इसलिये हैं कि अणु अपनी सत्ताके नियमोंका पालन करता है, किन्तु हम ऐसे डीठ हो गये हैं कि प्रकृतिके नियमोंकी अवहेलना करते हैं। जिन लोगोंमें श्रद्धाका अभाव है उनको समझानेके लिये मेरे पास कोई युक्तिअथवा दलील नहीं है।

यदि एक बार आपने ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार कर लिया तो फिर आपसे प्रार्थना किये बिना रहना नहीं जायगा।

बहुत-से लोग यह घृष्टापूर्व वादा करते हैं कि हमारा समय जीवन ही प्रार्थनासमय है, अतः हमें किसी निर्दिष्ट समयपर एकाम्तमें बैठकर प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं है। हमें इसप्रकारकी मूर्खता नहीं करनी चाहिये।

हमलोग तो किस गिनतीमें हैं, उन महापुरुषोंमें भी, जिनकी कृति निरन्तर जगत्कार रहती थी इसप्रकारका दावा नहीं किया। उनके जीवन वास्तवमें प्रार्थनासमय थे; किन्तु

हमें यह कहना चाहिये कि हमारे लिये वे निश्चित समयपर प्रार्थना अवश्य करते थे और प्रतिदिन परमात्माके प्रति अपना भक्ति-भाव प्रदर्शित करते थे। यह ठीक है कि ईश्वर यह नहीं चाहता कि हम प्रतिदिन अपनी शरणागतिका उसके सामने हवाला दें, किन्तु हमारे लिये ऐसा करना आवश्यक है। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यदि हम ऐसा करेंगे तो फिर कोई भी दुःख हमें नहीं सतायेगा।*

हमारी प्रार्थना

(लेखक—श्रीवीरगन्धर्व ठाकुर)

हे परमात्मन् ! मानव-जीवनकी समस्त प्रार्थनाओंके भीतर एक ही अत्यन्त गम्भीरतम प्रार्थना (आकांक्षा) है, उसे हम अपनी बुद्धिसे स्पष्ट जानें वा न जानें, उसे हम मुँहमें बोलें अथवा न बोलें, हमारे भ्रममें भी, हमारे दुःखमें भी, हमारी अन्तरात्मासे वह प्रार्थना (आकांक्षा) सदा-सर्वदा तुम्हारे अभिमुख मार्ग खोजती रहती है ! वह प्रार्थना यही है कि हम अपने समस्त ज्ञानके द्वारा शान्तको जान सकें, अपने समस्त कर्मोंके द्वारा शिवका दर्शन कर सकें, अपने समस्त प्रेमके द्वारा अद्वैतको प्राप्त कर सकें। फलके लाभकी आशाका हम तुमसे निवेदन करनेका साहस नहीं कर सकते, किन्तु हमारी आकांक्षा यही है कि समस्त विघ्न-विक्षेप-विकृतिके मध्यमें भी इस प्रार्थनाको हम समस्त शक्तिके साथ सत्यरूपसे तुम्हारे समीप उपस्थित कर सकें। हमारी समस्त अन्य वासनाओंको व्यर्थ करके हे अन्तर्यामिन् ! केवल इसी प्रार्थनाको स्वीकार करो कि हम कभी-न-कभी ज्ञानमें, कर्ममें और प्रेममें यह उपलब्धि कर सकें कि तुम्हीं 'शान्तं शिवं अद्वैतम्' हो।

(संकलित)

* कैलिफोर्नियाके The Cultural World नामक त्रैमासिक पत्रिकामें प्रकाशित लेखका अनुवाद।

ईश्वर-महिमा

(लेखक—श्रीबन्ध्याजी गोयन्का)

(१)

ईश्वर कल्पना नहीं भ्रुव सत्य है



कु भाई ऐसे हैं, जो ईश्वरको कल्पित मानते हैं परन्तु विचार करके देखनेसे यही सिद्ध होता है कि वे ईश्वरके तत्त्वको नहीं जानते। ईश्वर शेषविहीन के घरकी कल्पनाकी भाँति अनसोचक नहीं हैं। जो कल्पित होता है वह असत्य होता है और जो असत्य होता है वह विचार करनेपर ठहरता नहीं। वह वस्तु उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाली होती है, प्रत्यक्षमें लीखती हुई भी एक रूपमें नहीं रह सकती और उसका परिवर्तन होता रहता है, परन्तु जो वस्तु सत्य होती है, उसकी न उत्पत्ति होती है और न उसका विनाश होता है। वह सदा अनादि होती है, एक रूपमें रहती है और उसमें परिवर्तन नहीं होता।

यदि किसीको उस सत्य वस्तुमें भ्रूखसे विपरीतता प्रतीत होती हो तो यह उसकी भ्रान्ति है। इसमें सत्य वस्तुमें कोई कलंक नहीं आता, जैसे किसीको नेत्रोंके दोषसे चन्द्रमा पीतवर्ण प्रतीत होता हो तो इससे चन्द्रमा पीला नहीं समझा जा सकता। चन्द्रमा तो पीतवर्णके दोषसे रहित शुद्ध और श्वेत ही है।

जो वस्तु सत्य होती है, उसका कभी अभाव नहीं होता। जिसका कभी किसी कालमें अभाव नहीं होता, वही वस्तु सत्य है। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी सत्यके लक्षण करते हुए गीतामें इसप्रकार कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नामावो विद्यते सतः ।

उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(२ । ११)

असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं होता है और सत्यका अभाव नहीं है, इसप्रकार इन दोनोंका ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है।

ऐसी सत्य वस्तु एक विज्ञान-ब्रह्मन्धन परमात्मा है जो परमेश्वर, ब्रह्म, पुरुषोत्तम, अह्माह, सुदा, गौड आदि

अनेक नामोंसे संसारमें कथित किय गया है। सबके परिवर्तित होनेपर भी उसमें परिवर्तन नहीं होता। परिवर्तन होनेवाले पदार्थ परिवर्तन होते-होते जिसमें आकर शेष हो जाते हैं, जिसको सब लोग नित्य, भ्रुव सत्य कहते हैं और जो सबका द्रष्टा है उसको हम ईश्वर मानते हैं। तर्कसे बाध करनेपर भी जिसका बाध नहीं होता और जो विज्ञानवान् पुरुषोंद्वारा निर्णय किया हुआ सत्य पदार्थ है उसीका नाम परमात्मा है। उसको चित्त-शक्ति या चेतन-तत्त्व भी कहते हैं।

संसारमें दो पदार्थ हैं, एक चेतन और दूसरा जड़। उनको पुरुष और प्रकृति भी कहते हैं। चेतनके दो भेद हैं। एक जीवात्मा और एक परमात्मा। उनमें जीवात्मा भ्रंश है और परमात्मा भ्रंशी है। जीवात्मा नाना और परमात्मा एक है। यह चौबीस तर्कोंवाला संसार जड़का ही विकार है।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥

(गीता १३ । ५)

पाँच महाभूत, अहंकार, बुद्धि और मूल-प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया भी तथा दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच इन्द्रियोंके विषय—ये चौबीस तत्त्व हैं।

जो जड़ है वह हरय है। जो चेतन है वह द्रष्टा है। जड़को ज्ञेय और चेतनको ज्ञाता भी कहते हैं। वह ज्ञेय ज्ञाताके ही आधारपर है। भगवान्ने कहा है—

अथवा बहुभूतेन किं ज्ञेयत तदाजुन ।

विष्टम्याहमिदं ब्रह्ममेकांशेन स्थितो जगत् ॥

(गीता १० । ४२)

अथवा 'हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस संपूर्ण जगत्को अपनी योगमायाके एक भंश-मात्रसे धारण करके स्थित हूँ।'।

जड़ अरूप है, चेतन अनन्त है। जड़ उत्पत्ति-विनाश-धर्मवाला है, चेतन अजन्मा, नित्य, अविनाशी है। जड़में हर समय परिवर्तन होता रहता है, इसलिये उसको ज्ञानभंगुर भी कहते हैं। चेतनमें परिवर्तन नहीं होता परन्तु

मूढ़-बुद्धिवालोंको आत्मितसे उसके सम्बन्धसे चेतनमें जड़का विकार भासित होता है, परन्तु जो विचार करनेपर जैसे ही नहीं उठरता जैसे निर्दोष आकाशमें अपने नेत्रोंके शेषसे ओरपक्षकी भाँति प्रतीत होनेवाले तिरवरीका होना भी विचारसे सिद्ध नहीं होता।

परमात्मा कल्पित नहीं, भ्रुव सत्य है। यह बात सब शास्त्रोंसे भी सिद्ध होती है। भ्रुव, प्रह्लाद-सरीखे अन्तोंकी आख्यायिकाएँ यह बिल्कुल प्रमाणित कर देती हैं। जैसे—सम्भ्रममेंसे प्रकट होकर नृसिंह भगवान्‌का हिरण्यकशिपुको मारना, प्रह्लादकी रक्षा करना और प्रह्लादको शिक्षा देना। जैसे भ्रुवको वनमें दर्शन देना और उसको दिखे हुए वरदानके अनुसार उसकी प्रत्यक्ष सिद्धि होना—भ्रुवको राज्य मिल जाना और बिना पदों ही केवल भगवान्‌के शंख-के स्पर्शमात्रसे श्रुति-स्मृतिका ज्ञान हो जाना। इसप्रकारका कार्य किसी कल्पित ईश्वरसे सिद्ध नहीं हो सकता।

ऐसी कथाएँ श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्रोंमें स्थूल-स्थूलपर अनेकों मिलती हैं। यह सब ऐतिहासिक सभी घटनाएँ हैं। कपोलकल्पित नहीं हैं। इन सबको उपन्यासोंकी भाँति कल्पित समझना निरी मूर्खता है। बिना हुई घटनाओंका इसप्रकार प्रचार होना, तथा अनेक युगोंसे इतिहासरूपमें श्रद्धासहित उनका प्रचलित-रूपसे अस्तित्व चला आना सम्भव नहीं।

आधुनिक कालमें भी सूरदास, तुलसीदास, तुकाराम, नरसी, चैतन्य महाप्रभु और मीराबाई आदि अनेक भक्त महात्मा हो गये हैं। उन महापुरुषोंके वचनोंसे भी ईश्वरका अस्तित्व इतिहाससहित सिद्ध है। ऐसे पुरुषोंकी जीवनीमें और उनके वचनोंपर सर्वथा अविश्वास करना अपनी बुद्धिका परिचय देना है। उन महापुरुषोंके जीवनकी जो घटनाएँ हैं उनपर विचार करनेसे ईश्वरके अस्तित्वमें उत्तरोत्तर श्रद्धा बढ़ती है। ऐसे त्यागी और सच्चे पुरुषोंपर यह अविश्वास करना और यह कहना कि बुनियाँको धोखा देनेके लिये उन्होंने ये बातें फैला दीं, उनपर कब्जक लगाना है। ऐसे पुरुषोंपर कब्जक लगानेवाले मूर्खोंके लिये तो फिर कोई भी विश्वासका आधार नहीं उठरता।

ईश्वरकी सिद्धिमें अनेकों बलवान्‌ बुक्तियाँ भी प्रमाण हैं। विचार करके देखा जाय तो ईश्वरके अस्तित्वको पशु और पक्षी भी सिद्ध करते हैं। फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है? जब कोई पुरुष ज़ाटी लेकर कुत्तेको मारने जाता

है तो वह कुत्ता दूरसे ही उस ज़ाटीको देखकर चिन्ताता है। अभी उसके चोट नहीं लगी, न उसके शरीरमें कोई पीड़ा ही होती है। परन्तु आनेवाले भयको देखकर वह चिन्ता उठता है। उसके चिन्तानेका मतलब यही है कि मेरे चिन्तानेसे आनेवाले दुःखकी निवृत्ति हो जायगी। क्योंकि मेरी चिन्ताइटकी सुनकर रक्षा करनेवाली कोई एक शक्ति मेरी रक्षा करेगी। इसप्रकार चिन्तानेसे उस कुत्तेकी रक्षा होती हुई भी देखनेमें आती है।

जिस व्यामथी शक्तिका सभी चराचर जीव आसरा लेकर दुःख मिटानेके लिये कर्णभावसे आर्तनाद करते हैं और जिस व्यामथी शक्तिसे दुखियोंका दुःख मिटता है, उस शक्तिलातीको हम परमात्मा मानते हैं।

जो ईश्वरको नहीं मानते हैं, वे पुरुष भी जब उनपर भारी विपत्ति पड़ती है तब किसी एक शक्तिका आश्रय करके अपनी विपत्तिके नाशके लिये दीन होकर कर्णपूर्ण वचनोंका उच्चारण करते हैं। वे जिस शक्तिके आश्रयसे अपना दुःख मिटाना चाहते हैं, जिस शक्तिको मानकर दीनता स्वीकार करते हैं और जिस शक्तिके द्वारा उनकी दीनतासे की हुई माँग पूरी होती है, उन लोगोंको भी उस शक्ति-शास्त्री चेतन व्यासिन्धु दीनचन्दुको ईश्वर समझकर कृतज्ञ होना चाहिये।

वर्तमानमें भी जो पुरुष ईश्वरमें विश्वास करके और उनकी शरण होकर प्रयत्न करते हैं उनको भी सफलता मिली है और मिल रही है। बिना हुई वस्तुके अस्तित्वका प्रचार होना सम्भव नहीं है। यदि हो भी जाय तो उसकी इतनी स्थिर स्थिति नहीं रह सकती।

संसारमें जो भी कुछ प्रतीत होता है उसके मूलमें अवश्य ही कोई महान्‌ शक्ति है। प्रतीत होनेवाले पदार्थका परिवर्तन माना जा सकता है परन्तु अभाव नहीं। क्योंकि बिना हुई वस्तुका अस्तित्व सम्भव नहीं है। जो सम्पूर्ण संसारका आधार है, जिसको मूल-कारण भी कहा जा सकता है, उसीको ईश्वर समझना चाहिये। क्योंकि कार्यके मूलमें अवश्य कारण रहता है। कोई भी कार्य बिना कारणके देखनेमें नहीं आता। कोई भी पदार्थ बिना आधारके नहीं रह सकता, अतएव इस सम्पूर्ण संसारका जो आधार और मूल-कारण है वह परमात्मा है। वह चेतन है, क्योंकि जड़-पदार्थमें क्याविभाग नियमितरूपसे

सम्मान करनेकी और उसको नियममें रखनेकी योग्यता नहीं होती। परमात्मा केवल युक्ति और शास्त्र-प्रमाणसे ही सिद्ध हो, सो बात नहीं, वह प्रत्यक्ष भी हैं। क्योंकि उनकी प्राप्तिके लिये जिन्होंने यत्न किया है उनको वे मिले हैं, मिल रहे हैं, अब भी किसीको उनका प्रत्यक्ष करना हो तो वह साधनोंके द्वारा प्रत्यक्ष कर सकता है। जिन पुरुषोंको प्रत्यक्ष हुआ है, उनके बताये हुए साधनके अनुसार चेष्टा करनेसे चेष्टा करनेवालोंको प्रत्यक्ष होता है। अवश्य ही ऐसी अमूल्य वस्तुके लिये जितने प्रयत्नकी आवश्यकता है उतना प्रयत्न होना चाहिये। साधारण वस्तुको प्राप्त करनेमें साधारण प्रयत्न करना पड़ता है, एक विशेष वस्तुके लिये विशेष प्रयत्नकी आवश्यकता है। वर्तमानमें इंगलैण्डके महाराज पञ्चम जार्ज विलायतमें हैं। यदि कोई उनसे प्रत्यक्ष मिलना चाहे तो उसके विलायत जाकर मिलनेके लिये उचित चेष्टा करनेपर मिलना हो सकता है। यदि किसी कारणसे न भी मिलना हो तो उसको यह तो समझ लेना चाहिये कि बाइशाह पञ्चम जार्ज विलायतमें हैं, क्योंकि दूसरे मिलनेवालोंसे सुना जाता है और राज्यकी व्यवस्था भी उनकी आज्ञानुसार नियमा-नुकूल होती देखी जाती है। इसी प्रकारसे उस असंख्य ब्रह्माण्डोंके मालिकसे कोई मिलना चाहे तो उसीके अनुसार प्रयत्न करनेसे उसका मिलना सम्भव है। किसी राजाने तो मिलना चाहनेपर भी मिलना हो भी सकता है और नहीं भी, क्योंकि राजा प्रायः स्वार्थी होते हैं और वे बिना प्रयोजन मिलना नहीं चाहते। परन्तु सर्वशक्तिमान्, सबके सुहृद् एवं बिना कारण दया करनेवाले भगवान्की तो यह नीति है कि जो भी कोई उनसे मिलना चाहे वे उससे मिलते ही हैं। वे कहते हैं—

‘यं यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।’

राजाके मिलनेके लिये थोड़ा प्रयत्न करके छोड़ देनेसे किया हुआ प्रयत्न व्यर्थ हो जाता है परन्तु ईश्वरके लिये किया हुआ थोड़ा-सा भी प्रयत्न व्यर्थ नहीं जाता। ‘नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति ।’ ईश्वरकी प्राप्तिके लिये किये हुए कर्मका नाश नहीं होता। ईश्वरका मिलना भी राजासे मिलनेकी अपेक्षा बहुत ही विलक्षण है। ‘आश्चर्यवत् पर्ययति कश्चिदेनम्’ इन्द्रियों और मन-बुद्धिके द्वारा प्रत्यक्ष की हुई वस्तुकी अपेक्षा आत्मानुभवसे प्रत्यक्ष की हुई वस्तुमें अत्यन्त विशेषता होती है। क्योंकि इन्द्रियाँ और भ्रन्तःकरण अस्पष्ट

होनेके कारण वस्तुका यथार्थ निर्णय नहीं कर सकते। जैसे विमान, पक्षी आदि बहुत दूरमें स्थित वस्तु नेत्रोंसे नहीं दीखती, अजान नेत्रोंके अत्यन्त समीप होनेपर भी नहीं दीखता, तारे दिनमें आकाशमें स्थित होते हुए भी सूर्यके प्रकाशसे तिरोहित होनेके कारण नहीं दीखते, रात्रिके समय सूर्य पृथ्वीकी ओटमें आ जानेके कारण नहीं दीखता इत्यादि। इन वस्तुओंके न दिखलायो पड़नेके कारण इनका अस्तित्व न मानना जैसे मूर्खता है, इसी प्रकार अल्पबुद्धिवालोंमें अब्दा और प्रेमकी कमीसे उनके ईश्वर-प्रत्यक्ष न होनेके कारण उसका अस्तित्व न मानना मूर्खता है। जैसे सूर्यकी किरणोंमें जलके परमाणु रहते हैं परन्तु सूक्ष्म होनेके कारण नेत्रोंसे प्रतीत नहीं होते और जैसे बहुत-से विषय इन्द्रियोंके खराब हो जानेके कारण नहीं प्रतीत होते। यथा बहिरको शब्दका न सुनना, अन्धेको रूपका न दीखना इत्यादि। इन्द्रियाँ मिले हुए सजातीय पदार्थोंकी भी अलग-अलग करने और पहचाननेमें असमर्थ हैं, जैसे गाय और बकरीके दूधको मिला देनेपर वह न अलग ही किया जा सकता है और न पहचाना ही जा सकता है। बहुत-से ऐसे पदार्थ हैं जहाँ इन्द्रियोंकी गम्य ही नहीं है। जैसे मनुष्यमें मन-बुद्धि होते हैं परन्तु वे इन्द्रियोंद्वारा प्रत्यक्ष नहीं होते। मन-बुद्धिका ज्ञान भी अल्प और भ्रान्त है। किसी एक मनुष्यको आज हम मन-बुद्धिके द्वारा धर्मार्थ समझते हैं। फिर उसीको थोड़े दिन बाद पापी समझने लग जाते हैं। एक मनुष्य कथा बाँच रहा है और बहुत-से मनुष्य कथा सुन रहे हैं। सुननेवालोंका उस पुरुषपर अपना-अपना अलग-अलग निश्चय है। कथा बाँचकर चले जानेपर श्रोतागण परस्पर विचार करने लगते हैं। एक कहता है कि पण्डितजी दम्मी हैं, क्योंकि वे दूसरोंको उपदेश देते हैं और स्वयं पाखते नहीं। दूसरा कहता है दम्मी तो नहीं हैं परन्तु स्वार्थी हैं, कोई भेट चढ़ाता है तो उसको बड़ी प्रसन्नतासे ले खेते हैं। तीसरा कहता है पण्डितजी भेटके लिये कथा नहीं बाँचते, यह बात ग़रूर है कि वे मान-बढ़ाई चाहते हैं। चौथा कहता है—भेट और पूजा तो इनको शिष्योंकी प्रसन्नताके लिये स्वीकार करनी पड़ती है, असलमें तो इनका कथा करना इसलिये है कि श्रोताओंके सम्बन्धसे अगवचर्चा करनेसे मेरी आत्मा भी पवित्र हो जायगी। इस उद्देश्यसे पण्डितजी अपने और श्रोताओंके कल्याणके लिये कथा करते हैं। एक परम अद्भुत व्यक्ति कहता है कि पण्डितजी तो स्वयं कथाक-

स्वरूप हैं, हमलोगोंके कल्याणके लिये ही इनकी सम्पूर्ण क्रिया है।

अब विचारणीय विषय यह है कि एक ही देशमें, एक ही कालमें, एक ही पुरुषद्वारा और एक ही क्रिया हो रही है, उसमें भी लोग अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार भिन्न-भिन्न निश्चय कर रहे हैं। हो सकता है कि इन पाँचोंमेंसे किसी एकका निश्चय ठीक हो परन्तु चारकी गलती अवश्य ही माननी पड़ेगी। इससे यह बात निश्चय हुई कि मन-बुद्धि-द्वारा किया हुआ निर्णय भी ठीक नहीं समझा जा सकता।

एक मनुष्य किसी एक मजहबको अच्छा समझता है, फिर थोड़े दिनोंके बाद वही उसको खराब समझकर दूसरेको अच्छा समझने लग जाता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि जबतक मन-बुद्धि पवित्र नहीं हो जाते तबतक उनका किया हुआ निर्णय भी यथार्थ नहीं समझा जा सकता। इस विषयमें बहुत बड़े-बड़े बुद्धिमान् पुरुष भी चक्करमें पड़ जाते हैं; फिर एक साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है। जिन पुरुषोंकी आत्मा पवित्र है, जिन्होंने आत्मासे परमात्माका साक्षात्कार कर लिया है उन पुरुषोंका जो निर्णय है वही ठीक है। जबतक परमात्माका साक्षात्कार नहीं होता तबतक अज्ञानी पुरुषोंको अपने-आपके नित्य अस्तित्वके विषयमें भी अनेक प्रकारकी शंकाएँ होती हैं। फिर ईश्वर, लोक, परलोक, शास्त्र और महात्माओंमें शंका होनेमें तो आश्चर्य ही क्या है।

शंका, विचार, अज्ञा और निर्णयादि मन-बुद्धिमें होते हैं। मन-बुद्धि परिवर्तनशील होनेके कारण अज्ञा और विचार आदिमें समय-समयपर परिवर्तन होता रहता है।

स्वप्नमें मनुष्य निम्नके दोषसे अनेक प्रकारके पदार्थोंको देखता है, उनको वह पुरुष उस कालमें प्रत्यक्ष और सत्य मान लेता है परन्तु जागनेके बाद उनका अत्यन्त अभाव देखकर असत्य मानता है। इसी प्रकारसे जाग्रत-अवस्थाओं में भी अज्ञानके कारण असत्यमें सत्य-बुद्धि कर लेता है। इसलिये मन और बुद्धिके पवित्र और स्थिर हुए बिना उनका किया हुआ अनुमान और निश्चय ठीक नहीं समझा जाता। साधनोंके द्वारा जब मन और बुद्धि पवित्र हो जाते हैं तभी उनका किया हुआ निर्णय यथार्थ होता है।

बुद्धिके द्वारा निर्णय किये हुए पदार्थोंकी प्रत्यक्षताकी अपेक्षा भी आत्मानुभवके द्वारा निर्णय किये हुए पदार्थोंकी प्रत्यक्षता विशेष है। जैसे पुरुष अपने अस्तित्वके विषयमें

समझता है कि मैं निश्चय हूँ, इस निश्चयका तीनों काल (भूत, भविष्य, वर्तमान) तीनों अवस्था (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) और तीनों शरीर (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) में कभी भी अभाव नहीं होता। जो बात तीनों कालमें है वही सत्य है। स्वयं अपनी आत्मा तीनों कालमें होनेके कारण नित्य सत्य है। इस सत्यका किया हुआ अनुभव ही सत्य है। परमात्माका प्रत्यक्ष अनुभव आत्मासे ही हो सकता है। जब आत्माका सम्बन्ध मन-बुद्धिसे छूटकर परमात्मामें जुड़ जाता है तभी आत्मा परमात्माका यथार्थरूपमें अनुभव करती है। वही असली अनुभव है। उसमें भ्रम नहीं हो सकती। अतएव आत्मानुभवकी प्रत्यक्षताके समान मन-बुद्धिकी प्रत्यक्षता नहीं समझी जाती। जिन पुरुषोंको परमात्माका यथार्थ अनुभव हुआ है उन पुरुषोंका ऐसा कथन पाया जाता है।

तीनों शरीरोंमें, तीनों अवस्थाओंका हर समय परिवर्तन होनेपर भी तीनों अवस्था और तीनों कालमें आत्मा निर्विकार-रूपमें सदा एकरस रहता है। इसी प्रकारसे एक शरीरसे दूसरे शरीरकी प्राप्तिमें भी आत्माका परिवर्तन नहीं होता।

‘देहि नोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।

तथा देहान्तरप्राप्तिर्धिरस्तत्र न मुह्यति॥

(गीता २।१३)

जैसे जीवात्माकी इस देहमें कुमार, युवा और बृद्ध अवस्था होती है, वैसे ही अम्य शरीरकी प्राप्ति होती है, इस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।

यदि कहो कि देहान्तर-प्राप्तिको हम इसके सहस्र नहीं मान सकते क्योंकि पूर्व और पर-जन्मकी किसी घटनाका हमको ज्ञान नहीं है, यह ठीक है, परन्तु इस जन्ममें भी तो पूर्व और पर-कालकी घटनाओंका हमें समीचीनरूपसे ज्ञान नहीं है। साधारण मनुष्यको तो भावी कालका ज्ञान एक पक्षका भी नहीं हो सकता। योग-शक्तिके प्रभावसे योगीजन पूर्वापरके जन्मकी घटनाओंका ज्ञान करनेमें समर्थ होते हैं। भगवान् कहते हैं—

उत्क्रामन्तं स्थितं बापि मुञ्चानं वा गुणान्वितम्।

निमृष्टा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानक्षुध्रः॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यद्रम्यवस्थितम्।

यतन्तोऽप्यकृतात्मनो नैनं पश्यन्त्यचेतसः॥

(गीता १५।१०-११)

शरीरको छोड़कर जाते हुएको अथवा शरीरमें स्थित हुएको और विषयोंको भोगते हुएको अथवा तीनों गुणोंसे

युक्त हुएको अज्ञानीजन नहीं जानते। केवल ज्ञानरूप नेत्रपाले ज्ञानीजन ही तत्त्वसे जानते हैं, योगीजन भी अपने हृदयमें स्थित हुए इस आत्माको यज्ञ करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं और जिन्होंने अन्तःकरणको शुद्ध नहीं किया है, ऐसे अज्ञानीजन तो यज्ञ करते हुए भी इस आत्माको नहीं जानते हैं।

साधारण पुरुषमें तो भूतकायका भी ज्ञान समीचीन-रूपसे नहीं देखा जाता। थोड़े दिन पूर्वकी बीती हुई बहुत-सी घटनाओंके लिये भी वह साफ इन्कार कर देता है कि मुझको खयाल नहीं है, फिर बहुत पुराने जमानेकी बातके भूल जानेमें तो आश्चर्य ही क्या है? दो-तीन वर्षकी वाक्यावस्थाकी तो किसी घटनाका मनुष्यको प्रायः ज्ञान नहीं है। जन्मनेके समय प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मनुष्यको भारी लक्ष्मीक होती है और उस दुःखके कारण प्रायः सभी चिन्ताते हैं परन्तु उस चिन्तानेका और दुःखका किसीको ज्ञान नहीं है। फिर गर्भावस्थाकी घटनाका ज्ञान कैसे रह सकता है? इसपर यदि पूर्वजन्मकी घटनाओंके ज्ञानसे ही पूर्वजन्मकी सिद्धि मानी जाय तो उसको निरी मूर्खता नहीं तो और क्या कहा जाय? इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि कुमार, युवा और जरावस्थामें वेदके विकारसे आत्मा विकारी नहीं होता। इसी प्रकारसे देहान्तरकी प्राप्तिसे भी आत्मा विकारी नहीं होता। अतएव आत्मा अविकारी है और जो अविकारी है वही नित्य है। जो नित्य है वही सत्य है। वह सत्य ही परमात्मा है और परमात्मा ही सबकी आत्मा है क्योंकि आत्मा ईश्वरका अंश होनेके कारण सबकी आत्मा परमात्मा ही है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।

अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव ॥

(गीता १०।२०)

‘हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूँ, तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ।’ अतएव परमात्मा निर्विकार, अजन्मा, अविनाशी, नित्य, ध्रुव सत्य प्रमाणित है।

(२)

ईश्वरके दण्डविधानमें भी दया है

भगवान् दयाके असीम, अमन्त, अबाह सागर हैं, वे जो कुछ भी करते हैं, उसमें जीवोंके प्रति दया भरी रहती

है। इसका यह अर्थ नहीं कि वे अन्धाय करते हैं वा उनकी दया लोगोंकी पाप करनेमें सहायक होती है; बात यह है कि उनका कानून ही ऐसा है जो लोगोंको पापसे बचाता है और दण्ड वा पुरस्काररूपसे जो कुछ भी विधान करता है, उसमें उनकी दया पूर्वरूपसे रहती है। घरमें माता-पिता और राष्ट्रमें राजा आदिके जो नियम वा कानून होते हैं उनमें भी दया रहती है परन्तु वह दया परिमित है, उसमें कहीं स्वार्थ रह सकता है, अथवा भ्रान्तिवश ऐसा विधान भी हो सकता है जो लोगोंके लिये अहितकर हो। राग-द्वेष, अहंकार और अण्डजताके कारण भूल भी हो सकती है परन्तु श्रीभगवान्में ऐसी कोई बात नहीं है। इसीसे उनका कानून निर्भ्रान्त, संकारहित, ज्ञानपूर्वक और स्नेहपूरित रहता है। जो मनुष्य ईश्वर-कृपासे श्रीभगवान्के कानूनका रहस्य समझ लेता है, वह तो फिर अपना जीवन उसीके अनुसार चकनेमें लगा देता है। उसमें ईश्वर-प्रेम, निष्कंशता, शान्ति और आनन्दकी उत्तरोत्तर अपार वृद्धि होती है और अन्तमें वह श्रीभगवान्को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाता है। अब यह समझना है कि भगवान्के कानूनका स्वरूप क्या है? विचार करनेपर आखुन होता है कि भगवान्की विधिका प्रधान लक्ष्य है—

जीवमात्रकी सर्वांगीण उन्नति और उन्हें परम

श्रेयकी प्राप्ति

इसी लक्ष्यतक जीव आसानीसे पहुँच सके, इसीके लिये उनके नियम हैं। उन नियमोंका पावन वास्तवमें उसी मनुष्यके द्वारा सुगमतासे हो सकता है जो ईश्वरमें परम अद्भुत और परम प्रेम रखता हो। ईश्वरमें परम अद्भुत और परम प्रेम होनेपर स्वाभाविक ही मनुष्यमें सदाचार और सद्गुणोंकी उत्पत्ति और उनका विकास होता है एवं दुराचार और दुर्गुणोंका सर्वथा विनाश हो जाता है। शास्त्रोंमें जिन्हें सदाचार वतखाया है, वे ही ईश्वरीय कानूनमें सेव्य और पालनीय नियम हैं और जिन्हें दुराचार कहा है, वे ही ईश्वरीय कानूनके निषिद्ध और त्याज्य पदार्थ हैं। संक्षेपमें सदाचार, सद्गुण और दुराचार, दुर्गुणोंका स्वरूप यह है—

अहिंसा, सत्य, तप, त्याग, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, व्रत, सेवा और महापुरुषोंका आज्ञा-पावन आदि सदाचार हैं।

दया, शौच, शम, दम, समता, जमा, प्रसन्नता, ज्ञान, वैराग्य और भिरभिमानता आदि सद्गुण हैं।

हिंसा, असत्य, चोरी, जारी, अमन्य-अच्छा, मादक-वस्तु-सेवन, प्रमाद, निन्दा, घूत और कटुभाषण आदि दुराचार हैं।

काम, क्रोध, लोभ, अविषेक, अभिमान, दुर्म, मरसरता, भ्रातृत्व, भय और शोक आदि दुर्गुण हैं।

सदाचारसे सद्गुणोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है तथा सद्गुणोंसे सदाचारकी उत्पत्ति-वृद्धि होती है, इसी प्रकार दुराचारसे दुर्गुणोंकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है तथा दुर्गुणोंसे दुराचारकी उत्पत्ति एवं वृद्धि होती है। ये अन्वोन्याश्रित हैं।

सदाचार और सद्गुणोंका सेवन ही ईश्वरीय कानूनको मानना है और दुराचार और दुर्गुणोंका पालन ही उसका भंग करना है। ईश्वरके कानूनको माननेवाला पुरस्कारका पात्र होता है और कानूनको तोड़नेवाला दण्डका पात्र होता है। अवश्य ही उनका दण्ड भी दयासे ओतप्रोत है, इस विषयपर आगे चलकर विचार करना है। यहाँ तो गम्भीरताके साथ यह विचार करना चाहिये कि भगवान्‌के इस कानूनमें कितनी दया—अपरिमित दया भरी है। संक्षेपमें विचार कीजिये। अहिंसाके पालनसे मनुष्य निर्भर और निर्भय हो जाता है, सत्यके पालनसे सत्यको प्राप्त होता है, चोरी न करनेसे विश्वासका पात्र होता है, ब्रह्मचर्यके सेवनसे उसके तेज और पराक्रममें वृद्धि होती है। परित्रहके त्यागसे ज्ञान बढ़ता है, यज्ञ-तपसे इन्द्रियोंपर विजय और अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। त्याग, सेवा और महापुरुषोंके आज्ञा-पालनसे सम्पूर्ण दोषोंका नाश, शम-दमदि समस्त सद्गुणोंका आविर्भाव और वृद्धि होकर परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

इस सदाचारके पालनसे लोक-परलोकमें कितना अपरिमित लाभ होता है, यह ईश्वरके कानूनकी ही महिमा है।

अज्ञानके कारण मनुष्य काम-क्रोध-लोभादिके बश होकर असत्य, कपट, चोरी-जारी आदि कुकर्म करके अपना और संसारके जीवोंका अहित करता है। इस दुराचारों और दुर्गुणोंसे अपनी और जगत्‌की बर्ही हानि होती है, सत्यके पुनः-शान्तिजनक नाश हो जाता है। इसी

अवस्थासे बचानेके लिये भगवान्‌ने इनको निषिद्ध और त्याज्य बतलाया है। इस निषेधकी आज्ञामें भी उनकी दया भरी है। जो मोहवश भगवान्‌की निषेधाज्ञाको न मानकर कानून-भंगरूपी पाप करते हैं, उनके लिये दयापूर्ण दण्डकी व्यवस्था की गयी है। श्रीभगवान्‌के कानूनमें प्रधानतया जो दण्ड दिया जाता है उसका स्वरूप है—

‘प्राप्त-विषय-भोगोंका नाश कर देना, भविष्यमें विषय-भोगोंकी प्राप्ति न होने देना या कम होने देना, अथवा विषय-भोगमें अक्षम बना देना।

विचार कीजिये, इस दण्ड-विधानमें कितनी दया भरी है—भोगोंके संसर्गसे कितनी हानि होती है, इसका निम्न-लिखित कुछ बातोंपर विचार करनेसे पता लगेगा—

(क) विषयोंके भोगसे आदत बिगड़ती है।

(ख) विषय-भोगोंमें रत मनुष्य ईश्वरकी प्राप्तिके मार्गपर आरुढ़ नहीं हो सकता। तथा आरुढ़ हुआ गिर जाता है।

(ग) विषय-भोगोंकी अधिकतासे बीमारियाँ होती हैं, शरीर-सुखका नाश होता है, शरीर चपको प्राप्त होता है।

(घ) मन दुर्बल होता है, अन्तःकरण अशुद्ध होता है।

(ङ) विषय-सुख केवल अमसे ही देखनेमें सुख-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः वह परिणाममें दुःखरूप है।

(च) विषय-सेवनसे पुण्योंका नाश और पापोंकी वृद्धि होती है।

(छ) बिना आरम्भके विषयोंका उपयोग नहीं होता, हिंसा बिना आरम्भ नहीं होता, हिंसामे संसारकी हानि और कर्त्ताको दुःखकी प्राप्ति होती है।

ऐसे दुःखरूप विषयोंके संयोगको नाश कर देना, भविष्यमें प्राप्त न होने देना, या उन्हें घटा देना एक प्रकार-से वर्तमान और आभी दुःखोंकी प्राप्तिसे बचा लेना है। जैसे आगमें पड़ते हुए पतंगके सामनेसे दोपक हटा लेना या उसको बुझा देना, अथवा उसके पास आते हुए पतंगों-के मार्गमें रुकावट डालना उनपर दया करना है, इसी प्रकार ईश्वर दण्डविधानके रूपमें जीवोंको विषय-भोगसे वञ्चित करके उनपर महान् दया करते हैं।

कभी-कभी ईश्वर जीवके पूर्व-पापोंके कारण उनके खी-पुत्रादि प्रिय वस्तुओंका वियोग न कराकर उनके द्वारा

उसकी इच्छाके विरुद्ध इसप्रकारके आचरण करवाते हैं, जिनसे उसको दुःस्वरूप फल मिलता है। इसमें पापका फल दुःख भोगनेसे पापका नाश तो है ही, साथ ही की-पुत्रादिके मनके विपरीत आचरण करने या उनके द्वारा अपमानित होनेसे उनके प्रति मनमें खेद-ममता हटकर एक प्रकारकी विरक्ति उत्पन्न होती है, विरक्तिसे किसी की हृत्ति उपराम होकर किसी-किसीको तो परमात्माके मार्गमें लग जानेके कारण शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

किसी-किसीको पापोंके फलस्वरूप ईश्वर बीमारी आदि देते हैं, जिससे दुःखी हुआ मनुष्य कल्याण-स्वरमें आर्तनाद करता है, कोई-कोई तो आर्त होकर भगवान्से दुःखनिवारणार्थ गजराजकी भोंति प्रार्थना करते हैं। जिससे वह दुःखसे मुक्त तो होते ही हैं, साथ ही भगवान्की भक्ति भी पा जाते हैं।

पापोंके फलस्वरूप किसी-किसीकी श्रीभगवान् मान-बढ़ाई-प्रतिष्ठाका नाश कर देते हैं, इससे उसका वस्तुतः बड़ा ही उपकार होता है। क्योंकि मान-बढ़ाई-प्रतिष्ठाका रोग बहुत अच्छे-अच्छे बुद्धिमान् पुरुषोंको भी पतनके गर्द-में डाल देता है। अज्ञानी जीव मान-बढ़ाईरूपी जहरीले भावोंको सुन्दर-सुहावने समझकर उनसे लिपटे रहते हैं। दयामय परमात्मा दया करके उनके कल्याणके लिये इनका नाश करते हैं। मान-बढ़ाईके सुखका नाश करना एक प्रकारसे शापके रूपमें महान् वरदान है। क्योंकि परमात्माकी प्राप्तिके मार्गकी मान-बढ़ाईरूपी मारी बाधा इससे हट जाती है।

किसी-किसीके पूर्व-पापोंके फलस्वरूप उसकी शरीर-यात्राका निर्वाह भी कठिनतासे होता है। उसे पर्याप्त आन्न-वस्त्र नहीं मिलता, इससे वह दुःखी और आर्त होकर भगवान्को पुकारता है। इसके सिवा वह आलस्य और अभिमानकी त्यागकर—अकर्मण्यता और इरामीपनेको छोड़कर अनेक प्रकारके परिश्रम और उद्यम करनेको तैयार हो जाता है, जिससे उसकी अकर्मण्यता मिटती है, कूटा बध्पन, आलस्य और अभिमान नष्ट होता है।

इसप्रकार ईश्वरके प्रत्येक दण्ड-विधानमें ईश्वरकी अपार दया भरी है। जैसे रकोंके गहरे समुद्रमें डूबकी लगानेसे एक-से-एक बंदर रत्न मिलते हैं, वैसे ही विचार-द्वारा श्रीभगवान्के दण्ड-विधानरूपी दयाके सागरमें डूबकी लगानेपर इसलोक और परलोकके हितकारक अनेक

अमूल्य रत्न मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरका कानून और उसका दण्ड-विधान दयासे परिपूर्ण है।

संसारमें अनुकूल और प्रतिकूल दो पदार्थ हैं। मनुष्य अपने अनुकूल पदार्थको प्राप्तमें ईश्वरकी दया समझता है, सुख-शान्तिको प्राप्त होता है तथा उस पदार्थसे प्रेम करता है। प्रतिकूलमें मूर्खताके कारण ईश्वरका कोप समझता है, अशान्ति और शोकको प्राप्त होता है एवं उससे द्वेष करता है। परन्तु जो पुरुष उस सर्वशक्तिमान् दयामय सर्वज्ञ परम सुख परमात्माके तत्त्वको जानता है, वह शोक और मोहसे तरकर परम शान्ति और निर्मलताको प्राप्त हो जाता है। ईश्वरके कानूनका रहस्य समझकर तो मनुष्य उसपर मुग्ध हो जाता है। ईश्वरका प्रत्येक नियम पापियोंके पाप और दुस्खियोंके दुःखको नाश करनेवाला है। वह पापोंकी वृद्धिमें सहायक नहीं है, जो पुरुष तत्त्व समझे बिना ही ईश्वरकी दयालु समझकर ईश्वर-दयाके भरोसेपर नये-नये पापाचरण करता है, उसके पाप तो इतने वज्र-लेप हो जाते हैं कि फिर वे जप, ध्यान आदि प्रायश्चित्तोंसे भी, भोगे बिना, प्रायः नाश नहीं होते। बल्कि भजन-ध्यान होनेमें भी वे पाप प्रतिबन्धकरूप हो जाते हैं।

ईश्वरकी दया और न्यायके तत्त्वको जाननेवाले पुरुष प्रतिकूल पदार्थोंकी प्राप्तिके अपरिमित सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं, उनका वह दर्शन उन अज्ञोंकी अपेक्षा, जो विषय-भोगोंकी प्राप्तिके सुख-शान्तिका अनुभव करते हैं, अत्यन्त ही विचक्षण होता है। वे समझते हैं कि—

१—वह अपने परम प्रेमी न्यायकारी दयालु ईश्वरका किया हुआ विधान है।

२—प्रतिकूल पदार्थ जो जगत्की दृष्टिमें दुःख कहाते हैं, प्राप्त होते हैं, तब पापोंके क्षणानुक्षणसे मुक्ति मिलती है।

३—न्यायि आदिको परम तप समझकर भोगनेसे सज्जित पापोंका नाश होता है, अन्तःकरण स्वयं-सरस्य विशुद्ध और निर्मल हो जाता है।

४—अविष्यमें निबिद्ध पाप-कर्म न करनेकी ईश्वरीय आज्ञाका पावन करनेमें सावधानी होती है, इससे आगामी पापोंका नाश हो जाता है। भोगसे पूर्वकृत पापोंके प्रारब्ध-का नाश हो गया, वर्तमानमें तप समझकर पापोंका फल भोगनेसे अन्तःकरण शुद्ध हो गया, वर्तमानमें पाप नहीं हुए और सज्जित पापोंका नाश हुआ तथा विभिन्न कर्मोंके

स्वागसे अभिषिक्त के पाप मिट गये, इसप्रकार वह पापोंसे सर्वथा रहित होकर परमात्माका प्रेमी बन जाता है। आपत्तिकाक्रमें आस्तिक पुरुषोंको ईश्वरकी स्तुति अधिक होती है, ईश्वर-स्मरणसे बढ़कर ईश्वर-प्राप्तिका कोई सुखभ साधन दूसरा नहीं है, इसीलिये तो किसी भक्तने कहा है—

सुखके माये सिल परो ओ नाम हृदयसे जाय।

बलिहारी वा दुःखकी जो पल-पल नाम जपाय ॥

अतएव हम सबको श्रीमगवान्के कानूनका रहस्य समझकर उसके अनुसार चलना चाहिये। माता, पिता, गुरु और स्वामी आप्तिके कानूनके अनुकूल चलनेसे उनके अधिकारमें ओ परिमित पदार्थ हैं, वही हमें मिल सकते हैं, परन्तु क्यामय ईश्वरके कानूनके अनुकूल चलनेसे हम समस्त पापोंसे मुक्त होकर परमात्माके उस परमपदको प्राप्त हो सकते हैं जो मनुष्य-जीवनका सर्वोपरि प्रधान उद्देश्य है।

(३)

ईश्वर-प्रेम ही विश्व-प्रेम है

ईश्वर अनन्त और असीम हैं, चराचर विश्व ईश्वरके एक अंशमें उनके संकल्पके आधारपर स्थित है। ईश्वर अपनी योगमायाके प्रभावसे विश्वकी रचना और उसका विनाश करते हैं। जब ईश्वर संकल्प करते हैं, विश्व उत्पन्न हो जाता है और जब संकल्पका त्याग करते हैं तब विश्व नष्ट या तिरोहित हो जाता है। स्वप्न-स्थित पुरुष जिसप्रकार अपने अन्दर संकल्पबलसे स्वप्न-सृष्टिकी रचना करता है, उसी प्रकार ईश्वर आत्मरूपमें व्याप्त रहते हुए ही संसारको रचते हैं। भेद इतना ही है कि स्वप्नप्रस्था पुरुष अज्ञानमें स्थित और पराधीन होता है परन्तु ईश्वर ज्ञान-स्वरूप और सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है। अतएव उन अनन्त चेतन परमेश्वरके किसी एक अंशमें यह संसार वैसे ही प्रतिमासित है जैसे अनन्त आकाशके किसी एक देशमें तारा चमकता है। आकाशकी तुलना केवल समझानेके लिये है, वस्तुतः आकाशकी अनन्तता अप्रप है और वह देशकालसे परिमित है, पञ्चान्तरमें परमेश्वरकी अनन्तता उनके देशकालसे रहित होनेके कारण सर्वथा अपरिमित है, आकाशकी अनन्तता तो उसी प्रकार परमेश्वरके संकल्पके एक अंशके अन्तर्गत है जिसप्रकार स्वप्नकी सृष्टि स्वप्नप्रस्था पुरुषके संकल्पके एक अंशके अन्तर्गत होती है। ईश्वरकी अनन्तता किसी भी सांसारिक दृष्टान्तसे नहीं समझायी जा सकती, क्योंकि ईश्वरके सारा संसारमें कोई पदार्थ ही नहीं।

यह समस्त अनन्तकोटि ब्रह्मावृद्ध परमात्माके एक रोममें स्थित हैं, वास्तवमें जिन ईश्वरका यहाँ वर्णन किया जाता है, वे निरवयव होनेके कारण रोमयुक्त नहीं हैं। पर क्या किया जाय, लौकिक बुद्धिको समझानेके लिये इन लौकिक पदार्थोंके अतिरिक्त और साधन ही क्या है? अतएव ईश्वरका कोई भी तत्त्व, जो किसी सांसारिक उदाहरणके द्वारा समझाया जाता है, वह उनका एक अंशमात्र ही होता है। वस्तुतः अंशमात्रका समझाना भी समीचीनरूपसे नहीं होता। इसलिये यही मानना पड़ता है कि ईश्वरके तत्त्वकी समझना और समझाना अत्यन्त ही दुष्कर है, वह तो अनुभवरूप है, अति गम्भीर और रहस्यमय है, भगवद्गुणसे ही जाना जाता है। भगवान्ने श्रीगीतामें कहा है—

आश्चर्यवदपदिति कीदृशेन-

माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।

(२।२.१)

कोई (महापुरुष) ही इस आत्माको आश्चर्यकी ज्यों नेसता है और वैसे ही दूसरा कोई (महापुरुष) ही आश्चर्यकी ज्यों (इसके तत्त्वको) कहता है।

इसप्रकार जो महापुरुष ईश्वरके तत्त्वका अनुभव कर लेते हैं, वे भी जब दूसरोंको सहजमें नहीं समझा सकते, तब औरोंकी तो बात ही क्या है? समझाना वाणीका विषय है। बुद्धिके द्वारा ईश्वरके तत्त्वका जितना अनुभव होता है, उतना वाणी कह ही नहीं सकती और वास्तवमें तो ईश्वरका तत्त्व बुद्धिमें भी पूर्णरूपेण नहीं आ सकता। तथापि महापुरुषों-द्वारा जो कुछ कहा जाता है उससे उस तत्त्वका समझना सहज हो सकता है परन्तु उनसे सुननेवाले मनुष्य भी अन्ध, प्रेम, एकाग्रता और बुद्धिकी तीक्ष्णता तथा पवित्रतामें कमी रहनेके कारण यथार्थ समझ नहीं पाते। इसी कारण यह विषय समझने-समझानेमें अत्यन्त ही कठिन है। परन्तु इतना समझ लेना चाहिये कि उस अनन्त विज्ञानानन्दधन परमात्माके किसी अंशमें प्रकृति या माया है और उस मायाके किसी अंशमें यह समस्त चराचर विश्व है। इस अवस्थायें ईश्वरके प्रति किया जानेवाला प्रेम स्वाभाविक ही समस्त विश्वके प्रति हो जाता है। क्योंकि ईश्वर ही विश्वके आधार हैं, ईश्वर ही विश्वके आत्मा हैं, ईश्वर ही विश्वमें व्याप्त हैं और ईश्वर ही विश्वके एकमात्र (अभिन्नानिमित्तोपादान) कारण हैं; वे अंशते हैं और यह समस्त विश्व उनका

अंग है, या यों कहिये कि उनका अंग है। श्रीभगवान् ने स्वयं अर्जुनसे कहा है—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।

विष्टमाहमिदं हृत्प्रमेकाशेन स्थितो जगत् ॥

(गीता १०।४२)

अथवा हे अर्जुन ! इस बहुत जाननेसे तेरा क्या प्रयोजन है, मैं इस सम्पूर्ण जगत्को (अपनी योगमायाके) एक अंशमात्रसे धारण करके स्थित हूँ ।

भगवान् के उपर्युक्त वाक्योंका अभिप्राय समझ लेनेपर वह निश्चय हो जाता है कि यह समस्त जगत् भगवान् के एक अंशमें स्थित है, भगवान् ही इस जगत् रूपसे अभिव्यक्त हो रहे हैं, ऐसी स्थितिमें भगवत्प्रेमीका स्वाभाविक ही जगत् के साथ अकृत्रिम प्रेम होता है। जिस मनुष्यने सोनेके तत्वको समझ लिया, उसका सोनेके आभूषणोंके साथ निश्चय ही प्रेम होता है, वह फिर कभी उनकी अवहेलना नहीं कर सकता, वह प्रत्यक्ष प्रमाणित है; यदि करता है तो वह स्वर्णके तत्वको नहीं जानता, इसी प्रकार परमात्माके तत्वको जाननेवाला परमात्म-प्रेमी पुरुष जगत् के जीवोंकी कदापि अवहेलना नहीं कर सकता ।

जो मनुष्य किसी एक पूज्य पुरुषके सारे अंगोंकी श्रद्धा और प्रेमसे पूजा करता हो, वह उस पूज्य पुरुषके किसी एक उपांगको जला दे, या किसी एक अंगको काट डाले चाहे वह कितना ही छोटा हो, यह कैसे सम्भव हो सकता है ? उसके लिये तो पूज्य पुरुषका प्रत्येक अंग ही पूज्य और प्रिय होता है। इसी प्रकार परमात्माके तत्वको जाननेवाला परमात्माका प्रेमी पुरुष अपने आराध्यदेव परमात्माके अंश या अंगरूप किसी जीवके साथ क्या कर्मा रूप कर सकता है, क्या कभी उसका अहित कर सकता है या उसको दुःख पहुँचा सकता है ? कदापि नहीं। अतएव जो मनुष्य ईश्वरका प्रेमी है, वह स्वाभाविक ही विश्वका प्रेमी है। जैसे पूज्य पुरुषके सब अंगोंको प्रेमसे पूजकर भी जो उनके किसी एक अंगको जलाता है, वह भक्त, प्रेमी या मक्का पुजारी नहीं है, वैसे ही भगवान् से प्रेम करनेवाला पुरुष भी यदि किसी भी जीवका किञ्चित् अहित करता है या उसे कष्ट पहुँचाता है तो वह न परमात्माका भक्त है, न प्रेमी है और न सच्चा पुजारी ही है। असलमें उसने परमात्माका तत्व ही नहीं समझा है ।

तत्त्वका ज्ञाता तो विश्वका स्वाभाविक प्रेमी होगा ही परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि केवल विश्व-प्रेम ही ईश्वरप्रेम है, क्योंकि विश्वके परे भी परमात्माका स्वरूप अनन्त और अपार है; विश्व उस परमात्माके एक अंशमें होनेके नाते विश्वप्रेम भी ईश्वरप्रेमके ही अन्तर्गत है। वस्तुतः विश्वसहित समग्र परमात्माके साथ होनेवाला प्रेम ही ईश्वरप्रेम है ।

परमेश्वरकी दो प्रकृति हैं—एक जड़ और दूसरी चेतन। इन्हींको भगवान् ने गीतामें अपरा और परा प्रकृति कहा है। इनमें आकाश, वायु, तेज, लक्ष, वृष्ठी, मन, बुद्धि और अहंकार ऐसे आठ प्रकारवाली अपरा प्रकृति जड़ है, जिसका वह चौबीस विकारोंवाला जड़ संसार है और जीवात्मा परा प्रकृति है जिसको चेतन कहने हैं और जिसने उपर्युक्त अष्टधा अचरा प्रकृतिको धारण कर रक्खा है। शरीरयुक्त इस जीवके भी दो भेद हो जाते हैं—चर और अचर। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चर हैं और वृक्ष-लता आदि अचर हैं; उपर्युक्त दोनों प्रकृतिवर्गोंमें संयुक्त संसारको ही विश्व कहने हैं; इस विश्वके साथ जो मनुष्य किसी हेतुको लेकर प्रेम करता है, वह भी ईश्वरके साथ ही प्रेम करता है, परन्तु उसका वह प्रेम बुद्ध है। किसी भी हेतुसे किया जानेवाला प्रेम हेतुकी पूर्ति होनेके साथ ही समाप्त हो जाता है, इसीलिये वह देशकालसे सीमित होने और फलकी अपेक्षाके कारण पुद्गल कहा जाता है। विशाल अनन्य ईश्वर-प्रेमके अन्तर्गत तो बड़ी विश्व-प्रेम आ सकता है जो परमात्माके तत्वको जानकर इस जड़-चेतन विश्वके साथ निःस्वार्थ-भावसे किया जाता है। यद्यपि इसमें भी देशकालकी परिमितता है तथापि यह तत्त्वज्ञानयुक्त और निष्काम होनेके कारण देश-कालावच्छिन्न होनेपर भी सच्चा और सराहनीय माना जाता है। दान्तविक और सर्वोत्कृष्ट ईश्वर-प्रेम तो बड़ी है जो इस जड़-चेतन जगत्महित, देशकालमहित अपरिमित परमात्मामें बिना किसी हेतुके होता है !

अब यह समझना है कि चेतन और जड़-जगत् के साथ—परा और अपरा प्रकृतिके साथ किसप्रकारका प्रेम करना चाहिये ।

चेतनके साथ प्रेम

१—मनुष्यादि मुक्तिके अधिकारी जीवोंको, इस लोक और परलोकके यथार्थ अन्तुष्ट और परम कल्याणके लिये

अपनी शक्तिके अनुसार तन-मन-धनसे हेतुरहित सहायता पहुँचाना ।

२-पशु, पक्षी आदि जीवोंको, जिनको आत्मज्ञानकी प्राप्ति विधेय नहीं है, इस लोकमें रक्षा, वृद्धि और उनके हितके लिये अपनी शक्तिके अनुसार तन-मन-धनसे स्वार्थ-रहित सहायता करना ।

३-इसी प्रकार वृक्ष-कृता आदिके साथ स्वार्थरहित हित-ध्वन्यहार करना ।

जडके साथ प्रेम

जो पदार्थ जीवोंके लिये उपयोगी हैं और उत्तम गुण तथा कर्मोंकी वृद्धिमें सहायक हैं, उन पदार्थोंकी उन्नति, वृद्धि और रक्षाके लिये चेष्टा करना और आत्मिक तथा कामनाको त्यागकर लोक-शिक्षाके लिये उनका यथायोग्य उपयोग करना ।

जो पदार्थ जीवोंके लिये अहितकारक हैं और दुर्गुण तथा दुष्कर्मोंको बढ़ानेवाले हैं, उनके घटाने और नष्ट करनेके लिये प्रयत्न करना और द्वेष तथा कामनाको त्याग-कर लोकसंग्रहाय उनका यथोचितरूपसे संबंधा त्याग करना ।

जिमप्रकार उपयोगी पदार्थोंकी वृद्धि, रक्षा और उपयोगमें उनके साथ प्रेम करना है, इसी प्रकार हानि-कारक पदार्थोंके ह्व और त्यागमें भी उनके साथ प्रेम करना है, हानिकारक पदार्थोंका अस्तित्व न रहनेमें ही इनका हित है और हितकी चेष्टा ही प्रेम है ।

इसी प्रकार मन, बुद्धि, अहंकार और समस्त इन्द्रियों आदिको दुराचार, दुर्गुण और भोग-विषयोंसे हटाकर सदगुणोंकी वृद्धिके लिये उन्हें ईश्वर-भक्तिमें — ईश्वर-सम्बन्धी विषयोंमें लगाना उनके साथ प्रेम करना है ।

यह प्रेम साधकको ईश्वरकी प्राप्तिके लिये और सिद्ध पुण्योंको लोकसंग्रहके लिये करना चाहिये ।

यह विश्वप्रेम ईश्वर-प्रेमके अन्तर्गत है, ईश्वरमें प्रेम होनेपर यह आप ही हो जाता है, अतएव अनुपमभाषको ईश्वरके प्रति विशुद्ध और अनन्य प्रेम करनेके लिये प्राथ-पर्यन्त प्रयत्न करना चाहिये । इस ईश्वर-प्रेमके कुछ साधन निम्नलिखित हैं—

१-ईश्वरके गुण, प्रेम, प्रभाव और रहस्यकी अमृत-मयी कथाओंका अवलोकन, मनन और पठन-पाठन ।

२-भगवान्में श्रद्धा और निष्काम प्रेम करनेवाले पुरुषोंका संग ।

३-भगवान्के स्वरूपको याद रखते हुए प्रेमपूर्वक उनके नामका जप और कीर्तन ।

४-भगवान्की आज्ञाका पालन और प्रत्येक सुख-दुःखको भगवान्का विधान समझकर प्रसन्नचित्त रहना ।

५-संपूर्ण जीवोंको भगवान्का अंश मानकर सबके हितके लिये कोशिश करना ।

६-ईश्वरके तत्त्वको जानने और उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये उत्कण्ठित रहना ।

७-एकात्ममें करुणभावसे ईश्वर-प्राप्त्यन्त करना ।

इसप्रकार साधन करनेसे ईश्वरमें अनन्य विशुद्ध प्रेम होकर ईश्वरकी साक्षात् प्राप्ति होती है । फिर जड-चेतन संसारमें तो उसका हेतुरहित प्रेम होना अनिवार्य ही है । ऐसे तत्त्वके जाननेवाले प्रेमी भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।

मर्यादोपनिबन्धुर्द्विषो मद्रक्तः समं प्रियः ॥

(गीता १२ । १३-१४)

जो सब भूतोंमें द्वेषभावसे रहित, सबका स्वार्थरहित प्रेमी और हेतुरहित दयालु है एवं जो ममतासे रहित, अहङ्कारसे रहित, सुख-दुःखोंकी प्राप्तिमें सम तथा समावान् यानी अपराध करनेवालेको भी क्षमा देनेवाला है, जो ध्यान-योगमें युक्त हुआ निरन्तर लाभ-हानिमें सन्तुष्ट है, मन तथा इन्द्रियोंसहित शरीरको वशमें किये हुए है और मुझमें वद निश्चयवाला है वह मुझमें अर्पण किये हुए मन-बुद्धिवाला मेरा भक्त मुझको प्रिय है ।

उपार्थक विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि ईश्वर-प्रेम ही विश्वप्रेम है ।

ईश्वर और उसकी प्राप्ति

(लेखक - श्री आनन्दस्वरूपजी [साहेबजी महाराज] दयालबाग)



श्वर है' यह विश्वास मनुष्यके हृदयमें इतनी गहरी जब जमाये हुए है और यह विश्वास इतना प्राचीन एवं विश्वव्यापी है कि हमें बरबस उस विज्ञान-दार्शनिककी बुद्धिकी प्रशंसा करनी पड़ती है जिसने मनुष्यकी परिभाषा करते हुए पहले-पहल इसे ईश्वरको खोजने-वाला प्राणी बतलाया था। यह सत्य है कि सब मनुष्योंकी ईश्वरके सम्बन्धमें एक-सी भावना नहीं होती, परन्तु इसमें इन्कार नहीं किया जा सकता कि कोई एक सर्वोपरि अदृश्य शक्ति—अज्ञात ईश्वरीय तत्त्व है। इस सम्बन्धमें छोटे-बड़े सभी श्रेणीके मनुष्य एकमत हैं। कहाँ तो वे प्रतिभाशाली वैज्ञानिक एवं अनेक-विधा-विशारद दार्शनिक, जो देश-विदेशोंमें ख्याति एवं मान प्राप्त कर चुके हैं, इंग्लैण्डकी रॉयल सोसायटी (Royal Society) जैसी बड़ी-बड़ी संस्थाओंमें भाग लेते हैं और जिसके जीवन-का अधिकांश भाग गहन तत्त्वोंके विचारमें ही बीनता है, और कहाँ दक्षिण अमेरिकाके वे असभ्य जंगली लोग जो उन घने जंगलोंमें निवास करते हैं, जहाँ आधुनिक सभ्यता-का प्रकाश अभी तक नहीं पहुँच पाया है, तथा जो अपने अधिकांश जीवनको उद्‌रद्वारीकी पूर्तिमें ही बिताते हैं। किन्तु इन दोनों प्रकारके मनुष्योंके जीवनमें ऐसे घण आते हैं जब उनका जी उस सर्वोपरि अदृश्य शक्तिके प्रभावके सामने नतमस्तक होना चाहता है। यह माना कि सभ्यताके अभिसानी मनुष्योंने ईश्वरमें जिन-जिन गुणोंका आरोप किया है, जंगली जातियोंको उन सबका ज्ञान नहीं है, परन्तु वे अपने दिलमें इस बातको खूब समझते हैं कि उनके जीवन, सुख तथा भोजनाच्छादनकी व्यवस्था किसी अलौकिक शक्तिके हाथमें है। हमलोग, जिनका जन्म ऐसे देशमें हुआ है जो आध्यात्मिक विकास एवं ईश्वरीय ज्ञानमें बहुत बड़ा-सड़ा है, अपने उन साहस्योंकी धारशाओंकी भले ही दिव्यगी उबारें, जिन्हें यह सीमाव्य प्राप्त नहीं है परन्तु हमें यह मानना पड़ेगा कि इन लोगोंके सरल हृदयमें ईश्वरकी जिज्ञासा उतनी ही मात्रामें है जिसनी हमलोगोंके हृदयोंमें है। बात यह है कि मनुष्य यद्यपि ईश्वरकी सृष्टिमें सबसे उच्चकोटिका प्राणी है फिर भी उसके

अन्दर पार्श्विक वृत्तियोंकी प्रधानता है। जब कभी किसी कारणसे उसके कार्योंमें बाधा पहुँचती है अथवा असफलता होती है उस समय इसकी आध्यात्मिक भावनाएँ जागृत हो उठती हैं। यही कारण है कि वे असभ्य जातियाँ, जिनके जीवनका अधिकांश भाग घेत पाछनेमें ही व्यतीत होता है, तथा सभ्य कहलानेवाले हमलोग, जिनकी वृत्तियाँ सांसारिक कामनाओंके बोझसे सदा दबी रहती हैं, ईश्वरकी ओर तभी मुकते हैं जब किसी शारीरिक वेदना, भय, आनन्द अथवा अन्य किसी कारणसे हमारे मनकी स्वच्छन्द गति एक प्रकारसे निरुद्ध हो जाती है। और यही कारण है कि योगिजन आध्यात्मिक साधनाके द्वारा अपने मन और इन्द्रियोंको पूर्णतया वशमें करके निरन्तर ईश्वरका ध्यान कर सकते हैं।

उपरकी पंक्तियाँ लिखते समय हम इस बातको भुला नहीं सकते कि संसारमें ऐसे सहस्रों मनुष्य हो चुके हैं और अब भी हैं जिनका ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास नहीं है। इस छोटे-से निबन्धमें हमारे लिये यह सम्भव नहीं कि हम उनके इस अविश्वासके कारणोंपर विचार करें अथवा उनके सिद्धान्तके गुण-दोषोंका विवेचन करें, परन्तु हम इतना कह सकते हैं कि अधिकांश मनुष्योंका ईश्वरमें विश्वास न होनेमें प्रधान हेतु यह होता है कि वे जिस रूपमें सांसारिक विषयोंको देखते, समझते और इसलिये उनमें विश्वास करते हैं, ईश्वरको वे उसी रूपमें देख और समझ नहीं पाते। इसप्रकार माननेमें वे यह कल्पना कर लेते हैं कि संसारमें उन्हीं पदार्थोंकी सत्ता है जिनका बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण हो सकता है, अथवा संसारका प्रत्येक पदार्थ इन्द्रियग्राह्य है। वे इस बातको भूल जाते हैं कि इन्द्रियोंकी गति सीमित है, तथा प्रत्येक इन्द्रियका एक निर्दिष्ट क्षेत्र एवं निश्चित व्यापार है। उन्हें ज्ञात नहीं कि उनके अन्दर पदार्थोंके ग्रहण करनेकी कुछ और शक्तियाँ भी हैं जो सुप्त होनेपर भी इन्द्रियोंसे कहीं अधिक सामर्थ्य-युक्त हैं। उनका ज्ञान वहीं तक सीमित है जहाँ तक इन्द्रियोंकी पहुँच है, अथवा जहाँ तक उनकी तत्कालीन ऊहापोह कर सकती है। उन्हें अन्तर्ज्ञान (Intuition) अथवा 'धार्मिक अनुभव' (Religious experience)

की आवश्यक नहीं। वे ज्ञान एवं अनुभवका प्रांशिक रूपसे ही उपयोग करते हैं।

साक्षात्कारी-मनके अनुसार अनुभूतिके किये ईश्वरका साक्षात्कार उसी प्रकार सम्भव है जिसप्रकार हम नेत्रों-द्वारा सूर्यको देखते हैं, परन्तु आवश्यकता इस बातकी है कि हम पहले उस चक्षुका पता लगायें जिसके द्वारा हमें ईश्वरका दर्शन हो सकता है, फिर उसे जागृत कर उसके साथ उन दिव्य किरणोंका सम्पर्क होने दें जो अस्मिक विश्वको प्रकाशित करती हैं। लोग कहते हैं कि पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके अतिरिक्त एक छठी इन्द्रिय भी है जिसे 'दिव्य चक्षु' कहते हैं। परन्तु संसारमें बहुत थोड़े अनुभूति ऐसे हैं जो ईश्वरके दिये हुए इस सर्वोत्तम प्रसादका उपयोग करना अथवा उसकी कद्र करना जानते हों। अनुभूतिके मनकी अप्रयोगात्मिकी तथा बहिर्मुखी वृत्तियाँ इतनी बलवती हैं कि बहुतोंको प्रारम्भिक साधन भी असम्भव-सा ज्ञात होता है, जो उनकी आध्यात्मिक शक्तिके अवलम्बको रोकने तथा ईश्वर-साक्षात्काररूपी महान् कार्यमें हाथ डालनेके लिये अपेक्षित आध्यात्मिकताको उत्पन्न करनेके लिये आवश्यक है। हमारे शरीरोंमें आध्यात्मिकताकी जो सामान्य लहरें प्रवाहित होती रहती हैं, वे ही आध्यात्मिक साधनोंके अभ्यासमें भीतर-ही-भीतर केन्द्रीभूत होकर महान् शक्ति-शालिनी बन जाती हैं, जैसे बिजली हुई सूर्यकी किरणें आतशी शीशेके बीच एकत्रित होकर शक्ति-सम्पन्न हो जाती हैं। जब साधक अपने ध्यानको असीद्ध केन्द्रमें पूर्णरूपसे लगाते हैं तब उसे यह अनुभव होने लगता है कि उसके अन्दर विषयोंको ग्रहण करनेकी एक नवीन शक्ति जागृत हो रही है। इसके अनन्तर इस नवीन शक्तिके द्वारा जो आन्तरिक अनुभव उभरे होते लगते हैं, उनसे उसका अपने कार्यकी सिद्धिमें विश्वास बढ़ता है तथा उससे अगले आध्यात्मिक केन्द्र अथवा चक्रकी ओर बढ़नेके लिये उसे प्रोत्साहन मिलता है। इसप्रकार जब प्रत्येक नया चक्र क्रमशः जागृत होता है तो उसके साथ ही एक नवीन चेतना प्रस्फुटित होती

है, जो पूर्वचक्रकी जागृतिके समय अनुभूत हुई चेतनासे विस्फुल्ल विरूपण होती है, तब उसे अनुभव होता है कि प्रत्येक मज्जिमे तै होनेके बाद साधकके अन्दर आध्यात्मिकताकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। अन्तमें जाकर साधक उस अवस्थाको पहुँच जाता है जब उस चक्रकी जागृति होती है, जिसके द्वारा ईश्वरका साक्षात्कार हो सकता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि हमारी प्रत्येक इन्द्रियका एक निर्दिष्ट व्यापार है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक इन्द्रियमें पञ्चतन्मात्राओंमें जो पञ्चमहाभूतोंके सूक्ष्म रूप हैं, एक तन्मात्रा अवस्थित है। इसलिये प्रत्येक इन्द्रिय अपने तन्मात्राके अन्दर होनेवाले स्पन्दनको ही ग्रहण करने तथा उसके अनुकूल व्यापार करनेमें समर्थ होती है। उदाहरणार्थ - नेत्रोंमें अग्नि या तेजकी तन्मात्रा अवस्थित है, इसलिये हम नेत्रोंके द्वारा केवल प्रकाश अथवा रूपको ही देख सकते हैं। इसी प्रकार उस केन्द्र अथवा चक्रमें जिसके द्वारा ईश्वरका साक्षात्कार होता है, आत्मतत्त्व अत्यन्त विद्युद् रूपमें अवस्थित है। और इस चक्रके जागृत हो जानेपर सारी आध्यात्मिकशक्तिके स्रोत-ईश्वर-से उद्भूत होनेवाली किसी आध्यात्मिक लहरके साथ इसका सम्पर्क होते ही चक्रमें उसके अनुकूल व्यापार होकर ईश्वर-दर्शन उसी प्रकार संघटित हो जाता है जिस प्रकार हमारी आँखोंके साथ सूर्यकी किरणोंका सम्बन्ध हो जानेपर सूर्यके दर्शन होते हैं।

उपयुक्त विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरके साक्षात्कारके लिये दो बातें आवश्यक हैं—

१—मनका निग्रह और २—अन्दर सोई हुई उदात्त शक्तियोंको जाग्रत करना। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उपयुक्त आध्यात्मिक करणका उपयोग किये बिना ही ईश्वरके अस्तित्वको अस्वीकार करना उतना ही अनुचित है जितना आँखोंका उपयोग किये बिना ही सूर्यके अस्तित्वका निषेध करना !

जो हमारे भीतर-बाहर चारों ओर निरन्तर विराजित हैं, जो कर्म करके भी निष्क्रिय हैं वे ही ईश्वर हैं। ईश्वर असीम हैं। इस विराममें जितने स्थान हैं, वे उन सबमें व्याप्त हैं, इसीसे उन्हें विराकार कहते हैं।

—तेलंग साहि

ईश्वर

(लेखक—महाभारतपाषाण्य डा० श्रीगंगानाथजी भा एम०ए०, डी० डि०, वाइस-चान्सलर, इलाहाबाद-युनिवर्सिटी)



ईश्वर हैं या नहीं ?' यह प्रश्न अनादि-कालसे चला आया है । उत्तरमें दार्शनिकोंका अनन्त प्रयास होता आया है । दर्शनके गूढ़ विचारोंका भ्रमसर यह नहीं है । उससे उपकार भी हुने-गिने ही लोगोंका होता है । इससे सामान्य जनताकी बुद्धिमें जो बातें—जो युक्तियाँ—आवें, उन्हींका उपयोग यहाँ होगा ।

(१) सबसे प्रबल युक्ति ईश्वर माननेके पक्षमें चिरकालसे यह प्रसिद्ध है—

‘नास्ति चेन्नः किमायातमस्ति चेन्नस्ति को हतः ।’

ईश्वरवादी कहता है—‘मैं ईश्वरको मानता हूँ—भजन करता हूँ, यदि ईश्वर नहीं है तो मेरा यह सब करना व्यर्थ होगा—इतना ही होगा—मेरा कुछ बिगड़ेगा नहीं । पर यदि ईश्वर है तो जो नास्तिक है—जो ईश्वरको नहीं मानता, भजन नहीं करता, उसका सर्वथा सत्यानाश ही होगा ।’—तात्पर्य यह निकला कि ईश्वरको माननेमें ही सर्वथा कल्याण है ।

(२) जब कभी मैं किसी चीजको देखता हूँ—किताब, कुरसी या मेज इत्यादि—तो उसी क्षणमें उसका बनानेवाला कौन है, यह जिज्ञासा उठती है और किसी वस्तुके प्रसंगमें यह मनमें नहीं आता कि इसका कर्ता कोई नहीं है । फिर नदी, पर्वत, वृक्ष, फल, पुष्प इत्यादिके प्रसंगमें भी यही युक्ति क्यों नहीं लगायी जाय ? जैसे ग्रन्थका या मेजका बनानेवाला कोई पुरुष है, इसी तरह पर्वत इत्यादिका भी कोई कर्ता अवश्य होगा । जैसे मेज इत्यादि बिना कर्ताके नहीं बन सकते, वैसे ही फल-पुष्पादि भी बिना कर्ताके नहीं बन सकते । ‘Natural laws’ ‘Nature’ ‘Chance’ इत्यादिका आश्रय लेना तो जलताइनमात्र है । ‘प्राकृत नियम’ के अनुसार तो सभी चीजें बनती हैं—बढ़ें जो मेज बनाता है—हथियारोंसे जो लकड़ी काटी जाती है—यह सब ‘प्राकृत नियम’ हीके अनुसार होता है । पर प्राकृत नियमके होने हुए भी एक सञ्चालक चेतन पुरुषकी अपेक्षा होती ही है । इसी तरह नदी, पर्वत इत्यादि पदार्थोंकी उत्पत्ति प्राकृत नियमके अनुसार होती है, तथापि सञ्चालक पुरुषकी

अपेक्षा अवश्य होगी । मेज, कुरसी इत्यादि स्थूल पदार्थ जब बिना चेतन सञ्चालकके नहीं उत्पन्न होते, तब सुन्दर वृक्ष, लता, पत्र, पुष्प, फल इत्यादि पदार्थ चेतन सञ्चालकके बिना केवल ‘प्राकृत नियम’ के अनुसार उत्पन्न होंगे, यह बात मनमें नहीं बैठती ।

इन सब विचारोंमें यह सिद्ध होता है कि ईश्वरके अस्तित्वको मानना ही युक्तियुक्त है और इसीमें सर्वथा कल्याण भी है । इस विषयमें विशेष तर्क-वितर्क करना अनुचित, अनावश्यक और अनिष्टकारक है ।

श्रीहरिनाम-संकीर्तन

पशु, पक्षी, कीटादि प्राणी जो स्वयं नामोच्चारणमें असमर्थ हैं, वे हरिनामको सुनकर ही उत्तम गतिको प्राप्त करते हैं । श्रीकृष्णके नाम-जपसे तो मनुष्य आप ही तरता है परन्तु अति ऊँचे स्वरमें संकीर्तन करनेमें वह दूसरोंकी भी तारता है । जप करनेवालेकी अपेक्षा उच्च स्वरमें संकीर्तन करनेवाला संगुच्छा अधिक फल पाता है । प्रेम-पूर्वक उच्छ्वसपूर्वक श्रीकृष्ण-नाम-संकीर्तन करते रहनेपर तमाम जीव अवलम्बमात्रमें ही मुक्त हो जाते हैं । जैसा ! तुम्हारे सामने भयानक प्रलय आ रहा है, हरिनाम लो दूसरा उपाय नहीं । अपने माथी कल्याणके लिये भयानक मोह और पापोंको छोड़कर सब प्रकारसे हरिनामको श्रंगीकार करो । संकीर्तनरूप सूचक प्रभावसे पापकूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है । —पशु जगद्गुरु

परमेश्वर

जिसके ब्रह्म, परमात्मा आदि नाम हैं, जो मन्त्रिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण-कर्म-स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अव्यय, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, व्याप्त, व्यावकारी, सब स्रष्टिका कर्ता, धर्ता, हर्ता, सब जीवोंको कर्मानुसार अपने सत्य व्यापसे फलदाता आदि लक्षणयुक्त है, उसीको मैं ईश्वर मानता हूँ । सब सत्य विद्या तथा जो पदार्थ विद्यासे जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है । —स्वामी दयानन्दजी

परमात्मा और जीवात्मा

(लेखक—श्रीमानन्द्रशंकर बापूसाई भुव, एम० ए०, प्रो-वाइस चैंसलर हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी)

(१) 'दा सुपर्णा समुद्रा सखाया
समानं बृधं परिब्रजते ।
तथोरन्यः पिप्पलं स्वाह्वर्य-
नश्चक्रन्त्योऽमिचाकशीति ॥'

भाषार्थ—एक वृक्षपर सदा साथ रहनेवाले और एक-दूसरेके मित्र ऐसे ही पक्षी बसते हैं। उनमें एक मीठे फल खाता है और दूसरा बिना साथ देखा रहता है।

(२) 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेषां भूतान्योऽन्तरोयं
सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि
भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्यामिभूतः ।

भाषार्थ—जो सर्वभूतोंमें रहता है, जो सर्वभूतोंके अन्दर है, जिसे प्राणी नहीं जानने, सर्वभूत जिसका शरीर है, जो अन्तरमें रहकर सब प्राणियोंका निबसन करता है, वही तेरा अन्तर्यामी और असर आत्मा है।

पूर्वोक्त श्रुतियोंके उपदेशकी आलोचना करते हुए डाक्टर आण्डरकरने लिखा है—'जिन श्रुतियोंमें 'सत्त्व' और 'अन्तर्यामिन्' का प्रतिपादन किया गया है उनका अद्वैतवादमें सर्वथा निषेध नहीं किया जाता। अद्वैत-वेदान्तमें वे दोनों ही एक माने गये हैं। यदि सत्त्व-सम्बन्ध तथा नियन्त्र-नियामक-भावका विशेषरूपसे विवेचन किया जाय और उन भावोंमें निगूढ़ सिद्धान्तको खोज निकाला जाय तो हमें यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि 'तत्त्वमसि' ही परम सत्य है।..... तत्त्वतया खोज करते हुए भी यही सम्बन्ध सुरिक्त प्रतीत होता है।'

जीव और ईश्वरके परस्पर सम्बन्धके विषयमें यहाँ कुछ सविस्तर विचार करना उचित है—

जीव और ईश्वरका 'सत्त्व' क्या वस्तु है—उन दोनोंकी मित्रताका क्या अभिप्राय है? जगत्के व्यवहारके अनुसार 'तुम' और 'मैं' एक-दूसरेसे भिन्न होते हुए मित्रताका सम्बन्ध स्थापित करते हैं। किन्तु जीवात्मा और परमात्माका सम्बन्ध इसप्रकारका नहीं हो सकता, यह सर्वसम्मत है। दैतवादी मानते हैं कि परमात्मा

जीवात्माके अन्तरमें रहता है—बट-बटमें राम रम रहा है। किन्तु वे 'अन्तर' शब्दके गम्भीर अर्थपर विशेष मनन नहीं करते। अद्वैतवादी इस विषयमें सिर्फ इतना ही कहते हैं कि 'अन्तर' शब्दके अर्थपर विचार करनेसे जीव और ईश्वरका तादात्म्य इस शब्दसे फलित होता है। एक चैतन्य दूसरे चैतन्यके अन्तरमें तादात्म्य-सम्बन्धके अतिरिक्त और किस रीतिमें रह सकता है? जब और सावधान पदार्थके सम्बन्धमें अन्तर शब्दका उसके वाक्यार्थमें प्रयोग किया जा सकता है किन्तु चैतन्यके सम्बन्धमें जहाँ 'अन्तर' और 'बहिर' शब्दोंका व्यवहार किया जाता है वहाँ हम देखते हैं कि इन शब्दोंका अर्थ 'तत्त्व' (Reality) और 'अतत्त्व' (Appearance) किया जाता है। एक सरक उदाहरण लीजिये। अमुक मनुष्य भीतरमें—अन्तरसे—बुरा नहीं है, यह प्रायः कहते हैं। यहाँ अन्तर शब्दका क्या अर्थ है? अन्तरसे बुरा नहीं—इसका अर्थ यही है कि उसका तत्त्व—यथार्थ स्वरूप—सौजन्ययुक्त है, किन्तु उस मनुष्यका अतत्त्व—बाह्य रूप—निरर्थक है।

आत्माको ज्ञान, इच्छा, भाव आदि वृत्तियोंसे जुड़ा समझना वर्तमान मानस-शास्त्र (Psychology) के प्रतिकूल है। आत्मा एक असंख्य वस्तु है जो ज्ञानादि-वृत्तिरूपमें प्रकट होता है। यही आजकलका सर्वसम्मत मानस-शास्त्रका सिद्धान्त है। इसी प्रकार जब यह कहा जाता है कि जीवात्मामें परमात्मा है तब इस कथनका यही तात्पर्य समझना चाहिये कि जीवात्मा परमात्माका ही आभास है—उसका प्रकट स्वरूप है। जीवात्माका अन्तरतम तत्त्व, उसका स्वकीय स्वाभाविक—आगन्तुक, उपाधिभूत नहीं—स्वरूप ही परमात्मा है। यही उसका भाषार्थ समझना चाहिये।

यदि पूछो कि परमात्मा किसकी आत्मा है? इसका यही उत्तर है कि वह तो स्वयं ही आत्मा है, उसकी और आत्मा कैसे हो सकती है? परमात्मा अपनी ही आत्मा है अर्थात् अपने प्रकट स्वरूपकी आत्मा है। किन्तु उस प्रकट स्वरूप 'मैं' और 'तुम' सहित बाह्य और आन्तरिक सिद्ध वृत्तियों का वस्तु हो सकती है? इस प्रकट

का परमात्मा ही आत्मा है। इस सिद्धान्तसे अद्वैतवादी-का कोई विरोध नहीं।

द्वैतवादी परमात्मा और जीवको परस्परभिन्न समझते हैं। वे परमात्माको जीवात्माका भासा नहीं मानते, किन्तु परमात्माको जीवके ज्ञानका विषय बतलाते हैं। यदि परमात्माको अपने ज्ञानका विषय मान लिया जाय तो वह परमात्मा हमारे समक्ष विषयरूप होकर उपस्थित हो जाता है। यदि वह सामने विषयरूपसे उपस्थित हुआ तो वह हमारे अन्तरमें किस रीतिसे रह सकता है? विषय (Object) और विषयी (Subject) एक कर्क के दो धोर की तरह जुड़े-जुड़े (Antithetic) हैं—एक धोर दूसरे धोर के अन्तरमें कैसे आ सकता है? द्वैतवादी इतना तो मानना ही है कि परमात्मा जीवात्माके अन्तरमें विराजमान है। अतएव, परमात्मा जीवात्माके ज्ञानका विषय नहीं, बल्कि उसका अन्तरतम भासा है।

अब दूसरी युक्तिपर विचार कीजिये। जीव एक वस्तु है और परमात्मा दूसरी—इस भाँति संख्या करनेपर यह प्रश्न उठता है कि उन दोनोंमें ऐसा कौन-सा तत्त्व प्रानुस्यूत है जो दोनोंको एक ही गणनामें अथवा वर्गमें रखता है? यदि कहा जाय कि उपाधिरहित शुद्ध चैतन्य ही दोनोंमें सामान्य है तो अद्वैतवादीको यह सर्वथा स्वीकार है। अनुपहित-शुद्ध-चैतन्यरूपसे ही वह तत्त्व और त्वमुका तादात्म्य मानता है।

‘यथा यथा तत्त्वमसीति वक्ष्ये
विशदधर्मानुग्रहं दिवा ।
संक्षयं चिन्मात्रतया सदस्यमे-
रक्षणमात्रः परिणीयते मुनेः ।
धर्मं महाकर्मशतान् कथ्यते
ब्रह्मात्मनैरेक्यमसंख्यमनः ॥’

आचार्य—जीव अल्पज्ञ है। ईश्वर सर्वज्ञ है। उनमें अल्पज्ञता और सर्वज्ञतारूपी विरुद्ध धर्मोंको भिन्नता डालें तो दोनोंमें एक ही तत्त्व स्थित रहता है। ब्रह्म और आत्मा-

का ऐक्य प्रतिपादन करनेवाकी ‘तत्त्वमसि’ आदि श्रुतिका यही तात्पर्य है।

प्रसंगवश एक और भी प्रश्न विचारार्थ उपस्थित होता है। यदि उक्त विरुद्ध धर्मोंको भिन्नता डाला जाय तो फिर रहेगा क्या? इस प्रश्नके उत्तरमें यह पूछा जा सकता है कि धर्मोंसे पर क्या कोई तत्त्व ही नहीं होता? यदि नहीं होता तो धर्मोंके अस्तित्व और स्वरूपका निरूपण भी किस-प्रकार सम्भव हो सकता है? किसी भी अस्तित्वके—आत्म-वादी और ईश्वरवादीमें—आत्मतक यह नहीं कहा कि धर्मोंसे पर तत्त्व होता ही नहीं। किन्तु हमारे देशमें तथा यूरोपमें इस सिद्धान्तको नास्तिकोंने ही माना है। इस परिदृश्यमान जगत्के पीछे कोई वस्तु अवश्य है, इस सिद्धान्तपर ही ईश्वरवाद अवलम्बित है। इसी प्रकार आत्मवादीका भी यही निश्चय है कि सुख-दुःख धर्मोंके पीछे आत्माकी सत्ता अवश्य है।

पूर्वोक्त युक्तिके अनुसार आप यदि यह कहें कि परमात्मा सगुण सिद्ध होता है तो इसपर निर्गुणवादी बेदाप्तीको कुछ भी आक्षेप नहीं। जगत्का कारण निर्गुण्य है, वह वह नहीं कहता। जगत्का कारण तो हमेशा सगुण ही माना जाता है। निर्गुणवादमें सगुण नहीं माना जाता, यह कथन सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। यदि ऐसा होता तो सगुणको सिद्ध करनेके लिये शङ्कराचार्यने स्वक्ष-स्वक्षपर जो बख किया है उसे वे न करते। निर्गुणवादियोंका इतना ही कहना है कि सगुणवादी गुण और गुणी इसप्रकारके दो तत्त्वोंको जैसे अन्तिम तत्त्व मान बैठते हैं वैसे न मानकर उन दोनों तत्त्वोंका निरूपण एक परमतत्त्वके द्वारा करना चाहिये। निर्गुणवादी वह नहीं कहते कि ‘सगुण’—सगुण्योंके कुलकाके लिये—शास्त्रकारोंने एक कल्पित पदार्थ रच डाला है। यदि गुण ऐसा पदार्थ है तो सगुण भी हो सकता है, किन्तु यदि गुणोंका परम तत्त्वरूप समझमें आ जाय और यदि वे गुण स्वतः स्वतन्त्र अस्तित्वरहित प्रतीत होने लगे, तो फिर सगुण नहीं रहता, यही निर्गुणवादका तात्पर्य है।

(अनुवादक—पं० श्रीगंगाप्रसाद मेहता एम० ए०)



सर्वज्ञ परमेश्वरके अधीनस्थोंकी सेवा न की जाय तो फिर गुहादी चाहे जिसकी जिज्ञा भी किस कामकी है?

—तत्त्वज्ञान

धार्मिक रहस्यवादकी श्रेणियाँ

(लेखक—प्रो० श्रीराधाकमल मुखर्जी एम० ए०, पी०एच० डी०, कलकत्ता विश्वविद्यालय)



हृदयमय अनुभवका प्रारम्भ आत्म-समर्पण एवं आज्ञावृत्तितत्वाके आधारे होता है। अन्तःकरणकी अन्तर्मुखी वृत्ति होनेसे इन प्रारम्भिक अवस्थाओंमें जी ईश्वरके साक्षि-ध्याका ज्ञान हो सकता है, किन्तु वह साधारण इन्द्रियोंके द्वारा नहीं हो सकता। मनुष्यके इन्द्रियजन्य व्यापारों तथा अन्ध स्वाभाविक क्रियाओंके रोकनेसे तथा संकल्प-आत्ममें प्रारम्भिक प्रतिक्रियाओंके होनेसे इस ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। परन्तु अधिक प्रबल उत्कण्ठाके कारण मनके संयोगकी अवस्था क्रमशः ऊँची हो जाती है। बाइबलके अन्तर्गत सेवट जान (St. John) के निम्नलिखित वचनोंमें इसी अवस्थाका स्वरूप वर्णित है—'मनुष्य अपने मित्रोंके निमित्त अपने प्राणोंका उत्सर्ग कर दे, इससे बढ़कर उसका प्रेम क्या हो सकता है? यदि तुम मेरे आदेशका पालन करो तो तुम मेरे मित्र ही हो। मैं अब तुम लोगोंको अपना अनुचर नहीं कह सकता, क्योंकि अनुचरको अपने स्वामीके कार्योंका ज्ञान नहीं होता। मैंने तो तुम्हें मित्र कहकर सम्बोधन किया है, क्योंकि मैंने अपने पितासे जो कुछ भी सुना है वह सब तुम्हें बतला दिया है।'

मनुष्यके अन्दर धार्मिक भावनाका प्रारम्भ पूर्ण निर्भरता एवं निरुपायताके ज्ञानसे होता है। इसके लिये रामानुजाचार्यने 'किंकर' शब्दका प्रयोग किया है जो इसके लिये सर्वथा उपयुक्त है। आगे चलकर मनुष्य धीरे-धीरे ईश्वरके साथ सम्बन्ध अथवा साहचर्यको प्राप्त होता है और इसके अनन्तर उसे ईश्वरके सौन्दर्य एवं प्रेमका यथार्थ ज्ञान होता है। रसमिश्रित माधुर्यभावकी कुञ्जी है, उसके अन्दर अब और सम्पन्नताका भाव नहीं रहता, बल्कि समा-मता एवं अन्योन्यनिर्भरताका ज्ञान रहता है। इसप्रकार उस प्रेमीकी दृष्टिमें ईश्वर सृष्टिका निशामक एवं मनुष्योंकी बुद्धिका प्रेरक न रहकर केवल प्रेम एवं सौन्दर्यकी मूर्ति रह जाता है और आत्माका उसके साथ प्रेमका सम्बन्ध हो जाता है।

जीवात्माका परमात्माके साथ सम्बन्ध और भी

बलिष्ठ हो जानेपर उसकी निम्नलिखित तीन भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ बन जाती हैं।

(१) पहली श्रेणीको 'साधारण अवस्था' कहते हैं। इसके अन्दर आत्मामें सामान्यतया तो रसाभाव ही रहता है, किन्तु समय-समयपर भावावेशसे उसे तारी मिळती रहती है। उर्ध्वो-उर्ध्वो उसकी वृत्तियाँ अन्तर्मुखी होती हैं, स्वो-स्वो उसके अहंकारका नाश होता जाता है और उसकी आत्मा परमात्माके रंगमें रँगती जाती है।

(२) दूसरी अवस्थाका नाम है 'समअस-अवस्था' जिसमें आत्माका परमात्माके साथ सम्बन्ध पहली अवस्थाकी अपेक्षा अधिक बलिष्ठ होता है। इसके अन्दर अहंकार तो रहता है, किन्तु भावावेश एवं चमस्कार पहलेकी अपेक्षा अधिक होते हैं। अनेक प्रकारकी मूर्तियों एवं रूपोंसे उसकी आभ्यन्तर चेतना शून्य हो जाती है और कभी-कभी उससे ईश्वरके साथ जीवके गाढ़ समागममें भी बाधा आती है। इसप्रकारके चमस्कारोंका कारण ईश्वरकी कृपा ही बतलाया जाता है और साधक बड़े अनुनय-विनयके साथ उस कृपाकी निद्रा मॉगता है। दीर्घ अभ्याससे आन्तरिक व्यवस्था सुगम हो जानेपर प्रयत्न धीरे-धीरे शिथिल हो जाता है और आत्मा विस्फुल वेष्टा-हीन बन जाती है। सेवट थेरेसा (St. Theresa) ने अपने स्वलिखित जीवन-वृत्तान्तमें इस अनुभवको स्वप्नताओंकी निद्रा (Sleep of the Powers) कहा है।

(३) तीसरी अवस्था पूर्ण एकताकी अवस्था है, जिसे 'समर्थ' अवस्था कह सकते हैं। इस अवस्थामें भावावेश, चमस्कार, दिव्य ध्वनि एवं दिव्य गन्ध ये सब-के-सब लुप्त हो जाते हैं और आत्मा सत्य तत्त्वके अन्दर निरन्तर एकीभावे स्थित रहती है, यद्यपि उसमें अहंभाव अब भी बना रहता है।

इसके अनन्तर चरम अवस्था आती है, जिसमें बुद्धि आत्मासे वृक्ष रहकर, ईश्वरके साथ आत्माका एकत्व देखकर आनन्द्य मनाती है। बंशाण्डके बंष्णवसम्प्रदायमें गोपिकाओंके प्रेमको इस अवस्थाका उदाहरण माना गया है। जिस-प्रकार किसी नायिकाको अपने प्रियतमके साथ निर्य

नवीन स्त्रीका करते देख उसकी सखियोंको अत्यधिक आनन्द भिळता है, उसी प्रकार परमात्माके साथ आत्माके संयोगमें अमरत्वस्वरूपसे योग देकर बुद्धिको बड़ा आह्लाद होता है। आत्माको आध्यात्मिक प्रेमकी सुकुमार लतिकाकी उपमा दी गयी है और बुद्धिके अपकट सहयोगको पत्रपुष्पकी ! गोविन्दलीलाखृतका अनुसरण करते हुए श्रीचैतन्य-चरिताखृतकारने इतनी बात और लिखी है कि लतिकाके द्वारा अपकटरूपसे अपना पोषण करनेमें पत्र-पुष्पको कहीं अधिक आनन्दकी उपलब्धि होती है।

संयोगकी मित्र-मित्र अवस्थाओंमें मित्र-मित्र रंगोंके दर्शन होते हैं, जैसे सूर्यदर्शन, चन्द्रदर्शन, विद्युदर्शन, नीलिमाका दर्शन इत्यादि। ये अवस्थाएँ आठ होती हैं और इन्हें 'आध्यात्मिक संयोगकी आठ कुञ्ज' कहते हैं। यह प्रसिद्ध है कि ईसाई योगी लोग ईसा अथवा उनके माता कुमारी मेरी (Virgin Mary) की माधुर्यभावसे उपासना करते थे। सेण्ट थेरेसा (St. Theresa) ने लिखा है कि, 'मुझे एक बार एक स्वर्गीय आत्मा दीख पड़ी जिसके हाथमें एक अमिषुल सुनहरा बाण था। उस बाणको वह अपने हृदयमें भोंक लेती, जिससे उसके हृदयमें दिव्य प्रेमकी ज्वाला धधक उठती।' आगे थेरेसा लिखती है कि 'बाणके भोंक लेनेसे उस दिव्य आत्माको आध्यात्मिक वेदना होती, शारीरिक पीड़ा नहीं; यद्यपि उस आध्यात्मिक वेदनाका अनुभव शरीरकी भी काफी मात्रामें होता था।' इसप्रकार आत्मा और परमात्मामें ऐसी मधुर प्रणयचर्या होती है कि उसका वर्णन मेरी शक्तिसे बाहर है। प्रसिद्ध सूफ़ी महिला रबियाके विषयमें कहा जाता है कि वह रात्रिके समय झटारोपर चढ़कर पुकारती—'हे परमात्मन् ! त्विन्का कस्तरव शान्त हो गया है, प्रेमीका अपनी प्रेयसीके साथ समागम हो गया है; किन्तु मेरा प्रेमी तो तू ही है, तेरे ही समागमसे मुझे आनन्द भिळता है।' मेवाड़की महारानी मीरा भी इसी प्रकारकी एक भक्त महिला थी। वह श्रीकृष्ण-प्रेममें डूबकर गाली—

हे री, मैं तो प्रेम-दिवानी मेरो दरद न जाबै कोय ॥१८॥
सूली ऊपर सेज हमारी सोणो किस निच होय ।
गगन-मँडलपर सेज पिमाकी, किस निच मिलणो होय ॥१॥
घामलकी गति घायल जनि जो कोई घायल होय ।
बोहरकी गति जोहरा जने, दूजा न जने कोय ॥२॥

दरदकी मारी बन बन बोलूँ बैद मिलो नहि कोय ।

मीराकी प्रभु पीर मिटे जब बैद सबकियो होय ॥३॥

सिफ़सोंके 'ग्रन्थसाहब' में भी आध्यात्मिक प्रेमकी वनताका इसप्रकार वर्णन किया गया है मानो इस जीव-रूपी वृक्षहिनका उस परमेश्वरके साथ परिणय हुआ हो। उसके अन्तर प्रेमास्पदसे मिलनेकी वैसी ही उत्कण्ठा विल्लायी गयी है, जैसी बंगालके वैष्णव कवियोंके आत्म-काम्योंमें बर्णित है। ग्रन्थसाहबके एक इसी प्रकारके पद-का भाव नीचे दिया जाता है—

हे प्रियतम ! अपनी ही उत्कृष्टलताके कारण तथा अपने ही कर्मोंसे मैं आपसे विक्रमा हो गया। परन्तु जो कुछ होना था सो हो चुका; दर्शों विशाओं एवं चारों महाद्वीपोंको मैंने ज्ञान डाला, मुझे कहीं भी आश्रय नहीं मिला, कहीं शान्ति प्राप्त नहीं हुई। अब इस जीवन-सन्ध्यामें मैं फिर आपकी शरण आया हूँ। अपनी शरणगतबललताके कारण आप फिर मुझे अपनी शरणमें ले लीजिये। आपके बिना मेरा जीवन उसी प्रकार व्यर्थ है जिसप्रकार बिना वृक्षकी गाय और वृक्षकी कटी हुई शाखा व्यर्थ होती है। जल्हमें जाय वह नगर जहाँ मेरे प्रियतमके चरख नहीं जाते। प्रियतमके बिना मुझे अपने सारे मित्र और बन्धु बमबूत-से प्रतीत होते हैं।

मेरे सारे उत्तम श्रृंगार, मेरी प्रशस्त वेशभूषा, मेरे होठोंपर पानकी छाली, मेरे कमनीय वपुषी गरिमा, मेरे प्रेम और उत्कण्ठाकी बिचित्रता, मेरे भावोंकी सरसता—ये सब-की-सब फीकी एवं तीव्र मालूम होती हैं।

'हे परमात्मन् ! मुझे अपने नामका उपहार दो, मुझे अपनी गोदमें ले लो। हे प्रियतम ! आपके परमधामका कभी विनाश नहीं होता, मेरी जीवन-सन्ध्या समीप आ रही है, मेरे प्राणायिक ! मैं आपके द्वारपर पड़ा हुआ आपसे आश्रय माँगता हूँ।'।

सूज़ो (Suxzo) ने अपने अलौकिक अनुभवका इस-प्रकार वर्णन किया है—

'एक तेजस्वी युवा स्वर्गसे उतरा और मेरा हाथ पकड़कर मुझे एक सुन्दर हरित तृणसंकुल भूमिमें ले गया, तब उस युवाने अपने मग-ही-मग एक ऐसी मनोमोहक तान बजारी कि उसके सुमधुर स्वरकी प्रतिध्वनि मादकताके कारण वह अपनी सुब-सुब झूक गया और उसके हृदयमें

उल्टा आकाशमें एवं उल्टाकी ऐसी बाढ़ आयी जिससे वह इतना जोर-जोरसे धड़कने लगा मानो बिप्लव ही हो जायगा। उसने उसपर अपना दाहिना हाथ रखकर बची कठिनातासे उसे धामा। उसके कपोल अश्रुधारासे तर हो गये। उसी समय उसने देखा कि 'माता' अपने शिष्य (अनन्त ज्ञान) को हृदयसे लगाये उसके सामने खड़ी हैं और उस शिष्यके शरीरपर 'मेरा हृदयवल्लभ' के शब्द लिखे हैं।

लुबा (Leuba) ने इस सम्बन्धमें केवल इतना ही लिखा है कि 'सूत्रोंने उपर्युक्त अवतरणमें अपने लिये अन्य पुरुषका प्रयोग किया है, जैसा कि ग्रंथोंके मूल लेखने स्पष्ट है; किन्तु उसने यह नहीं बतलाया कि सूत्रोंने ऐसा क्यों किया। कारण यह है कि आवेशकी दशामें यद्यपि उसकी आत्मा देखनेमें बाह्य ज्ञानशून्य थी किन्तु उसे तब भी इस बातका ज्ञान था कि वह अन्य पुरुषकी नाई ईश्वरसे प्रेम करती है एवं उनके समागममें आनन्दित होती है।' मेण्डेरेसाने भी इसी प्रकारकी द्विविध चेतनाका अनुभव किया था। उसने लिखा है—'संकल्प-शक्ति वालवमें प्रेम करनेमें लगी हुई है, किन्तु वह इस बातको नहीं समझती कि वह प्रेम किस तरह करती है। रहीं बुद्धिकी बात, सो वह यदि वालवमें समझती है तो ऐसी प्रक्रियासे समझती है जो उसकी समझमें नहीं आती और वह जो कुछ सुनती है उसे तो बिल्कुल नहीं समझ सकती। मेरी समझमें तो वह समझती नहीं, क्योंकि मैं ऊपर बता चुकी हूँ कि वह अपनेको भी नहीं समझती। बाकी सब ऐसी पहेली है जिसे मैं भी नहीं सुलझा सकती।'।

सूफी श्रीलिया अल-हुज्जिरीके मतमें अहंकारका नाश किये बिना एकताकी सत्यताका ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि ज्ञान एवं अज्ञान अहंकारके ही आधारपर रहते हैं। उसने अपना एक अनुभव इसप्रकार लिखा है—

जब इसरी आये हुए लोगोंको उपदेश दे रहा था उस समय मेरी आँखें लगी गयी। स्वप्नमें मैं क्या देखता हूँ कि दो दिव्य आत्माएँ स्वर्गसे उतरकर कुछ समयतक इसरीके उपदेशको सुनती रहीं। उनमेंसे एक दूसरीसे कहने लगी—'यह मनुष्य एकताके सिद्धान्तको बतला रहा है, एकताके स्वरूपका वर्णन नहीं करता।' जाननेपर मैं देखता हूँ कि इसरी एकताका प्रतिपादन कर रहा है। उसने

मेरी ओर देखकर कहा कि 'एकताके स्वरूपका वर्णन सिद्धान्तकी रीतिसे ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।'।

जीव और ईश्वरकी पूर्ण एकता ही प्रत्येक धर्मके रहस्यवादका आदर्श है। उसकी अभिव्यक्ति प्रेमकी भाषामें होती है, सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध प्रेमका ही होता है। प्राचीन ब्रह्मवादियोंके रहस्यवादमें भी आत्मा एवं परमात्माका सम्बन्ध पति-पत्नीके सम्बन्धके रूपमें अभिव्यक्त किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखा है—'जिसप्रकार अपनी प्रिय भायिकाँ अंगस्पर्शके समय मनुष्योंका न तो आन्तरिक ज्ञान रहता है और न बाह्य ज्ञान, इसी प्रकार जब इस मनुष्यका प्रज्ञासे संयोग होता है, उस समय न तो उसे बाहरका ज्ञान रहता है न भीतरका।' इसी प्रकार प्लॉटिनस (Plotinus) ने आत्माके ईश्वर-प्रेम एवं उसके साथ समागमकी इच्छाका इसप्रकार वर्णन किया है—

'ऊपरके लोकमें हमें वह सच्चा प्रेमास्पद मिलता है जिसे प्राप्तकर हम उसके साथ एकता कर सकते हैं, क्योंकि उसका शरीर हमारी तरह लुधिर-मांससे बना हुआ नहीं है। जिसने उस प्रियतमका दर्शन किया है वह मेरी बातको स्वीकार करेगा। जिस समय आत्मा उसमें मिलनेके लिये जाती है और उसके समीप पहुँचकर उसमें संयुक्त होती है उस समय उसे एक नया जीवन प्राप्त होता है और इस नयी परिस्थितिमें, उसे इस बातका ज्ञान होता है कि मेरा सच्चा जीवनदाता मेरे पास है, इससे अधिक मुझे और क्या चाहिये? ऐसे मनुष्यको यह ज्ञान भी होता है कि हमें सब तरफसे मुँह मोड़कर केवल प्रेमास्पदका आश्रय लेना चाहिये और सारे बन्धनोंको तोड़कर केवल तदाकार बन जाना चाहिये; एवं इसीलिये हमें इस संसारके पदार्थोंसे शीघ्र उपराम होकर उनसे अलग होनेवाली वस्तुओंको तोड़ देना चाहिये, ताकि हम अपनी सम्पूर्ण आत्मासे प्रियतमका आलिंगन कर सकें और हमारे शरीरका कोई ऐसा अंग बाकी न रहे जो उसके स्वर्गसे वंचित रह जाय।

सूफियोंके मतमें फना अर्थात् एकताका अर्थ है उस प्रकाशोंकी भी प्रकाशकी सन्निधिमें रहना, जिसके अन्दर शाश्वत प्रेमको उजाला धधकती रहती है और फिर तद्रूप बन जाना। आत्माको उसके अन्दर जला देना जिससे कि वह समागमके आलोकसे पुनः जी उठे। (देखिये 'गुलशने

राज्य') । प्रत्येक धर्ममें स्तुत्य ईश्वरके साथ जीविका जो सम्बन्ध माना गया है उसे प्रसिद्ध महाराष्ट्र सन्त श्रीतुकारामने माधवीय तर्गों एवं अभिजापाओंकी ओशीली एवं सजीव भाषामें इसप्रकार वर्णन किया है—

‘जिसप्रकार दुलहिन अपने नैहरसे ससुरालको जाती हुई पीछेकी ओर ताकती जाती है और बड़ी कठिनतासे आगे पैर बढ़ाती है उसी प्रकार मेरी आत्मा हे केशव ! तुमसे कब मिलेगी ?

जब शिशु अपनी माताको नहीं देख पाता उस समय वह बड़ा विकल होता है और बिल्लाता है । मछली पानीके बाहर निकाल दिये जानेपर तड़पने लगती है । मेरी भी वही दशा है ।’

कहीं-कहीं तो जीव और ईश्वरके समागमका माधुर्य-प्रेमकी भाषामें बड़ा ही उत्कण्ठापूर्ण वर्णन मिलता है । सभी रहस्यवादियोंने इस प्रेमका वर्णन किया है । वे इस प्रेमके उच्छेदको नहीं सह सकते । रहस्यवादियोंके सामने सदा यह प्रश्न आता है कि ईश्वर जगत्के अन्दर है या बाहर ? उनके अनुभवमें ईश्वरकी कटस्थता अथवा अगस्त्यवर्तितामें कोई विरोध नहीं है । ब्रह्मका स्वरूप सत्य है । अद्वैतवादी अपनी बुद्धिसे उसे ग्रहण नहीं कर सकता, किन्तु रहस्यवादीका हृदय उसे प्रेममयके रूपमें पकड़ सकता है । यद्यपि स्थितानन्दरूपसे ईश्वरका ज्ञान हो सकता है, किन्तु उसे इस एक पृथक् एवं अन्यव्यावृत्त सत्ता नहीं मान सकते । ईसाइयोंने ईश्वरके साथ व्यक्तिगत सम्बन्धके अनुभवको ‘हमारे अन्दर ईसा-मसीह’ इस विद्वत्से अभिव्यक्त किया है । सेण्ट पॉल (St. Paul) ने लिखा है कि ‘ईसा मसीहके अन्दर ईश्वरकी सारी पूर्णता मूर्तरूपमें विद्यमान है । इसप्रकार मजालीय आत्माओंके सम्पर्कका नाम ही संयोग हो जाता है । किन्तु फिर भी ईश्वरसे उसका वैजाप्य बना ही रहता है, क्योंकि ईश्वरका अंश होनेपर भी वह उससे निज है । डीन इन्ज (Dean Inge) का कहना है कि ‘ईश्वर सारे स्रष्टव्योंमें परे है और इसीलिये ईश्वरके अन्दर उसके तीनों स्वरूपोंका सम्बन्ध हो जाता है ।’

* कन्या सासुरवासी जाये । माये पर तोनी पाहे ॥ १ ॥

तेसैं शालें माम्मा जीबा । कभी सेटसैं केजवा ॥ ३ ॥

जुकलिया माये । गळ डुगडुग पाहे ॥ २ ॥

जीवना वेगली मासोळी । तुज्या सेसा तळमळी ॥ १ ॥

ईसाई-रहस्यवादियोंके मतमें मनुष्य-जीवनका ध्येय ईश्वरतुल्य बन जाना और उसके कार्योंमें योग देना है । उनके यहाँ सैकड़ों वर्षोंसे इसी बातपर जोर दिया गया है । सूफी रहस्यवादियोंका ध्येय है पहले ईश्वरकी अद्वितीय सत्तामें अपनेको विलीन कर देना और तदनन्तर उन्मादकी अवस्थासे फिर स्वस्थताको प्राप्त होना । पहली अवस्थाका नाम ‘फना’ है, जिसमें अहंकार उस अपरिभिन्न सत्ताके साथ मिलकर नष्ट हो जाता है । दूसरी अवस्था वह है जिसमें योगीका अहंकार पुनः लौट आता है और उसकी स्थिति ईश्वरमें हो जाती है, उसमें ईश्वरीय गुणोंका विकास हो जाता है, उसके द्वारा ईश्वरीय तत्त्वकी अभिव्यक्ति होती है और संसारमें ईश्वरीय नियमकी पूर्ति होती है । ईश्वरका सतत क्रियाशील संकल्प ही जीव और ईश्वरके बीचके अनन्त व्यवधानको मिटा देता है । जूनाबखाने कहा है ‘एकता इसका नाम है कि मनुष्य ईश्वरके हाथकी कठपुतली बन जाय, ईश्वर अपनी सर्वशक्तिमत्ताके अनुसार उसके साथ जैसा उचित समझे विधान करे और मनुष्य उसकी एकताके समुद्रमें डूब जाय, वह अपनी अहंताकी बिल्कुल नष्ट कर दे, यहाँतक कि न तो वह इस बातकी परवा करे कि उसे लोग क्या कहते हैं और न उन्हें उत्तर देनेकी ही फिक्र करे । वह ईश्वरीय एकताकी वयार्थताके कारण सबे सान्निध्यमें इतना मग्न हो जाय कि न तो उसे वास्तुज्ञान रहे और न वह किसी कामका ही रह जाय । क्योंकि ईश्वर अपने विधानके अनुसार उसके कार्योंका निर्वाह करता है, अर्थात् उसकी चरम अवस्था उसकी प्रारम्भिक अवस्था बन जाय और उसकी वही दशा हो जाय जो उसके जन्मसे पूर्व थी ।’

किन्तु वह और उसके अनुयायी उन्मादकी अवस्थासे स्वस्थताकी दशाको अच्छी समझते हैं । पहली अवस्थाको ‘मनुष्योंकी मृत्युका क्षेत्र’ और दूसरीको ‘बालकोंकी श्रद्धा-स्थली’ कहा गया है । उनका कहना यह है कि उन्मादकी अवस्था अच्छी नहीं है क्योंकि उसमें मनुष्यकी सामान्य अवस्था विकृत हो जाती है और उसके होश-हवाश ठीक नहीं रहते एवं आत्मा काबूमें नहीं रहती । सारे पदार्थोंके तत्त्वका अन्वेषण या तो उच्छेदके रूपमें होता है या जीवनके

§ He becomes indowed with divine attributes, displays the divine truth and fulfils the divine law in the world.—Nicholson. The Idea of Personality in Sufism, p. p. 14, 68 and 69.

रूपमें, अर्थात् निर्वचनके रूपमें अथवा स्वीकारके रूपमें होता है, इसलिये निर्वाचनके तात्काली तबतक उपकारविध नहीं हो सकती जबतक ईश्वरवाक्य अपने होशमें न हो।

रहस्यवादमें सर्वदा विरोध-सा प्रतीत होता है। ईश्वरके पुत्र, अष्टाहके पैगम्बर अथवा ईश्वरके अवतारके रूपमें किसी मध्यवर्ती पुरुषके साथ अथवा स्वयं ईश्वरके साथ एक भट्ट एवं घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। किन्तु ईश्वर और योगी एक नहीं हो जाते, क्योंकि ईश्वरका सत्य स्वस्व योगीके अनुभवमें नहीं आ सकता। योगी लोग बार-बार यही कहते हैं कि ईश्वर सत्ता एवं ज्ञान दोनोंके परे है। वार्ड (Ward) नामक अंग्रेज़ विद्वान्ने लिखा है कि 'ब्रह्मको माने बिना अनेकताका कारण बतलाने अथवा अनेकको एक बनानेकी चेष्टा व्यर्थ एवं जोखिमसे पूर्ण मालूम होती है और ब्रह्मको माननेपर अनेकके अन्दर जो कुछ भी स्वतन्त्रता एवं निरोपेक्षता दीख पड़ती है उसका भी रहना कठिन है। किन्तु योगियोंका वास्तविक अनुभव तर्ककी दोनों चरम कोटियोंको मिला देता है। ईसाई-धर्ममें एकके अन्दर अनेकका भाव उस एकताके अन्दर व्यक्तियोंके सम्बन्धको धोतित करता है। मुसलमान एवं हिन्दू रहस्यवादियोंके मतमें एकके अन्दर अनेकताका भाव उस एक अपरिच्छिन्न तत्त्वके साथ उन अनेक रूपोंके सम्बन्धको बतलाता है जिनमें उसकी अभिव्यक्ति होती है। ये रूप पूर्ण पुरुष अथवा ईश्वरके अवतारके अन्दर प्रतिभासित होते हैं। ईश्वरका स्वरूप इन्हींके अन्दर और इन्हींके द्वारा जाननेमें आता है, अतः इन्हें हम ईश्वरका मूर्तरूप कह सकते हैं।'

हिन्दुओंके भक्तिमार्गमें जीवात्माओंकी सत्यताको तो स्वीकार किया गया है किन्तु जीवात्मा एवं प्रकृति दोनों एकताके अन्दर रहनेवाले सापेक्ष तत्त्व माने गये हैं। जीवात्मा एवं अन्य सापेक्ष सत्ताओंका मिश्र-मिश्र दर्शन एवं अंतर्गत मिश्र-मिश्र रूप बतलाया गया है, यद्यपि एक केन्द्रीय ईश्वरको वे सब-के-सब समानरूपसे मानते हैं। श्रीरामानुजाचार्यके मतमें भगवान् और उपनिषदोंके प्रतिपाद्य ब्रह्म एक ही वस्तु हैं, किन्तु वे भगवान्को सगुण ब्रह्म मानते हैं—जो प्रत्येक सहस्रसुका जाधार है और जो सभी छत्र गुणोंका आकर है। प्रकृति और जीव दोनों उन्हींसे

उत्पन्न होते हैं और वे अन्तर्गामीरूपसे सर्वत्र व्याप्त हैं। निम्बार्क-सम्प्रदायवाक्यों की वीर प्रकृति दोनोंको भगवान्से मिश्र मानते हैं किन्तु उनके मतमें उन दोनोंका ईश्वरके साथ वैसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसा सर्पके कुचछका सर्पके साथ और तरङ्गोंका जलके साथ होता है। उनके मतमें भगवान्का स्वरूप अभिन्न है, किन्तु उसकी प्रकृतिरूप ग्रन्थमें अभिव्यक्ति होती है। प्राकृतिक पदार्थ उसके शब्दोंके अक्षर हैं। इन अक्षरोंकी आकृति चाहे भिन्न-भिन्न हो, किन्तु उनसे वींचित ध्वनि एक ही है। अतः अवतारोंकी वास्तविक घटनाओंका अथवा उनकी कथाओंके सत्यासत्यका इतना महत्त्व नहीं है जबतक उनके अन्दर ईश्वरीय प्रेम अभिव्यक्त हो रहा है। मध्य-सम्प्रदायवाक्योंने द्वैत-सिद्धान्तपर जोर दिया है। उन्होंने ब्रह्मको तो एक ही माना है किन्तु विशेष नामक पदार्थसे अभूतपूर्व भेदोंकी कल्पना की है। श्रीबल्लभाचार्यके मतमें जीवात्मा ब्रह्मका ही अंश है। वह नित्य एवं सत् है और ब्रह्मकी तरह कर्षा और भोक्ता दोनों ही है। ब्रह्म अपनी इच्छा एवं कालासे अपने ही अन्दरसे सृष्टिको उत्पन्न करता है जिसप्रकार मक्खी अपने ही शरीरसे व्याक बनाती है और ऐसा करनेमें उसके अन्दर तनिक भी विकार नहीं होता। ब्रह्मकी इच्छाके व्यापारसे जीवात्माके अन्दर रहनेवाला भानन्-गुण सुप्त हो जाता है और इसी लिये जीव बन्धन, अज्ञान एवं कामनाओंके बशमें हो रहा है।

श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य एवं श्रीवल्लभाचार्यसे भक्तिकी यह महान् धारा प्रादुर्भूत हुई जो ईस्वी सन्की १३ वीं शताब्दीसे प्रारम्भ होकर भारतवर्षके मिश्र-मिश्र प्रान्तोंमें फैल गयी। श्रीरामानुजाचार्यका प्रभाव उनकी कम्म-भूमि दक्षिणमें धीरे-धीरे वीण हो गया और फिर उत्तरीय भारतमें बड़े जोरके साथ पुनः व्यक्त हुआ। श्रीरामानन्द, जो इनके शिष्य थे, अपने गुस्ते भगाकर चले गये और काशीमें रहने लगे। उनसे तीन महान् सम्प्रदायोंकी सृष्टि हुई, पहला सम्प्रदाय गोस्वामी तुलसीदासजीका था, दूसरा कबीरका और तीसरा नामाजीका था। कबीरपर सूफी सिद्धान्तका भी प्रभाव पड़ा, तुलसीदासजीने रामायणकी कथा रचकर अपनी काव्य-कलाको प्रदर्शित किया और नामाजीने अपने भक्तसाक-नामक ग्रन्थमें हिन्दी-भाषामें अनेक भक्तोंके चरित्रका वर्णन किया। अन्य-सम्प्रदायसे बंगालके महान् भक्त श्री-

* देखिये अल-दुजयिरीका कथक अल-महजूर नामक ग्रन्थ पृ० १०५ परिच्छेद १६।

चैतन्य महाप्रभुका विकास हुआ। उनपर बंगालके पूर्ववर्ती षण्ठीदास एवं विद्यापति—इन महात्माओंका भी प्रभाव पड़ा। श्रीबल्लभाचार्यका गुजरातमें लब्ध प्रभाव रहा और मीराबाई एवं नरसी मेहता इन्हीं उपदेशोंसे प्रभावित हुए।* इसप्रकार उक्त दार्शनिक सम्प्रदायोंसे सार्वजनिक भक्तिका जोत फूट निकला। और इस बातपर जोर दिया गया कि भक्तिका उपदेश बोलचालकी भाषामें ही दिया जाय। यद्यपि बङ्गालका वैष्णव-सम्प्रदाय अपनेको मध्व-सम्प्रदायकी ही एक शाखा बतलाता है, किन्तु उसके सिद्धान्त श्रीबल्लभाचार्यके सिद्धान्तोंसे अधिक मिलते हैं। बंगालके वैष्णव-सम्प्रदायके प्रधान आचार्य जीव गोस्वामी थे। इन्होंने ईश्वरका ऐसा समन्वित स्वरूप माना है कि जिसमें 'ब्रह्म', 'परमात्मा' एवं 'भगवान्' इन तीनों स्वरूपोंका अन्तर्भाव हो जाता है। भगवान् तर्ककी दृष्टिसे सबसे ऊँची सत्ता है और ब्रह्म एवं परमात्मा वे दोनों उस समन्वित सत्ताके अपूर्ण रूप हैं। केवल ज्ञानकी अपरोक्षतामें ब्रह्म ही भगवान् हैं और इस अपरोक्षताका अनुभव तब होता है जब कर्मा और कर्मके भेदका ब्रह्मके अन्दर स्पष्ट अनुभव नहीं होता क्योंकि ब्रह्म वास्तवमें एक अमूर्त एकताके रूपमें प्रतिभासित होता है। आध्यात्मिक अनुभवका यह पहला कण होता है। केवल ज्ञानी ही इस अनुभवकी पूर्णताको प्राप्त कर सकते हैं। यह वस्तुकी सत्यतामें एकताका अनुभव है किन्तु वह एकता केवल दिखाऊ है और सर्वोच्च अन्तर्ज्ञानमें स्थूलताका पूर्वरूप है। इसप्रकार जीव गोस्वामीकी दृष्टिमें जबतक आध्यात्मिक जीवनकी स्थूलता दृष्टिगोचर नहीं होती तबतक अभेदज्ञान वास्तविक एवं अनुभवसिद्ध रहता है, इस अंधरे बर्तनके समन्वय-तत्त्वको 'परमात्मा' कहते हैं। सम्पूर्ण समन्वय तो अनन्त गुणों एवं अनन्त शक्तियोंसे सम्पन्न सगुण भगवान् हैं ही होता है। इसप्रकारकी समन्वय-दृष्टि केवल प्रेमसे ही होती है।

बंगालमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके द्वारा भक्तिका प्रचार

* मक्त नरसी मेहता श्रीबल्लभाचार्यसे बहुत पहले हो चुके हैं, यह निश्चयरूपसे माना जाता है कि नरसीजीका जन्म वि० सं० १४७० में और उनका परलोकवास सं० १५३६ में हुआ, परन्तु श्रीबल्लभाचार्यका जन्म सं० १५३५ में हुआ था। अतएव नरसी-बांका भक्तवाद श्रीबल्लभाचार्यसे मिलता-जुलता होनेपर भी नरसीजीपर आचार्यका प्रभाव पड़ा हो ऐसा नहीं कहा जा सकता।

होनेके साथ ही ईश्वरके सगुण स्वरूपकी धारणामें बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। बंगालके वैष्णव-सम्प्रदायमें ज्ञानके द्वारा ईश्वरके महत्त्वके आन्तरिक अनुभवका अधिक उल्लेख नहीं मिलता। इस सम्प्रदायमें ईश्वरको 'प्रेम और आनन्द' का क्रीलामय स्वरूप माना गया है। ईश्वरके स्वरूपमें क्रीलामय आनन्दकी आन्तरिक अभिव्यक्तिकी आवश्यकता रहती है और यह अभिव्यक्ति प्रेमसे ही हो सकती है। प्रेमके अन्दर इस अभिव्यक्तिके दो स्वरूप माने गये हैं। पहला तो यह कि शक्तिके अनन्त विकारोंमें ईश्वर सदा उसके साथ रहते हैं। शक्ति आनन्दका तत्त्व है और प्रेम ही उसका असली स्वरूप है। इस एकताके अन्दर ही मनुष्य ईश्वरके साथ अपनी एकताका अनुभव कर सकता है। इसके अतिरिक्त शक्तिके अनन्त विकारोंमें शक्तिके साथ ही ईश्वर एक कालमें विद्यमान नहीं रहते। प्रेमकी सबसे ऊँची अवस्थासे एक तात्त्विक हलचल प्रारम्भ होती है, जिसके अन्दर पहले साहचर्यको स्वीकार किया जाता है और फिर उसका खखन किया जाता है। आनन्दमें न्यूनाधिक्य करनेके लिये और साहचर्यके बारम्बार समर्थन एवं खखनसे आनन्दको अधिक घन बनानेके लिये उनके यहाँ एक कानून भी है। भगवत्-प्रेमकी तात्त्विक हलचलमें जीव एवं प्रकृतिकी सृष्टिका अभिप्राय यही है। ईश्वरके विनोदके लिये अपनेको उनके अधीन कर देनेमें शक्तिको जो आनन्द प्राप्त होता है उसका स्वयं परमात्माको भी अनुभव नहीं है। इसप्रकार प्रेम, भक्ति एवं त्यागमें शक्ति एवं जीवको जिस आनन्दका आन्तर्भावमें अनुभव होता है, उसका अनुभव करनेकी ईश्वरमें भी प्रवृत्ति होती है। यही मनुष्यके ईश्वर-प्रेमके रूपमें अभिव्यक्त होती है। प्रेमके सबसे ऊँचे स्वरूपको प्रेमी ग्रहण करता है और ग्रहण करनेवाका प्रेम करता है। इसप्रकार भक्तोंके प्रेमके आन्तरिक अनुभवोंसे ईश्वरकी कूटस्थ सत्ता एवं जगद्व्यवस्थी सत्ताका सनातन विरोध मिट गया है। यहाँ भक्तोंका वह एकता नहीं मिलती जो सारे सम्बन्धोंसे परे है, जो एकता समुद्रमें मसककी उछीके बुल जानेसे अथवा वर्षाकी बूँदके समुद्रमें गिरनेसे होती है, अथवा दीपककी आकाशमें पतंगके अंक जानेसे सम्पन्न होती है। प्रेमकी तात्त्विक प्रगतिमें एक आवश्यक विरोध, एक अभिवर्धन युक्ति-विपक्षता गढ़ हो जाती है।



एकेश्वरवाद और शिव-विष्णु

(लेखक—पं० श्रीभगवतीशंकरजी)



हिन्दू-भाषाओंमें एकसे अधिक ईश्वरका वर्णन जानकर अनेक लोगोंकी यह धारणा हो गयी है कि हिन्दू-धर्म ईश्वरको एक न मानकर अनेक मानता है और इसी कारण वे लोग हिन्दू-धर्मको हेय-रष्टिसे देखते हैं। हिन्दुओं-में भी अनेकों मनुष्य शिव और विष्णु-में भेद मानते हैं तथा दोनोंको परस्पर-विरुद्ध गुणवाले समझते हैं। इसी कारण बहुधा शैव और वैष्णवोंमें परस्पर घोर विरोध और द्वेषभाव देखा जाता है। पूर्वकालमें तो दोनों और वैष्णवोंमें सिद्धान्त-भेदके कारण कभी-कभी लड़ाई हो जाया करती थी। शिव और विष्णुमें भेद-ज्ञानसे ही लोग समझते हैं कि हिन्दू-धर्ममें एकेश्वरवाद न होकर अनेकेश्वरवादका सिद्धान्त है। इस अनेकेश्वरवादके अमपूर्ण सिद्धान्तके कारण भी कुछ लोग ईश्वरमें विश्वास रखना अनावश्यक समझते हैं।

शिव और विष्णुकी एकता

यथार्थतः मूलकारणस्वरूपमें शिव और विष्णु एक ही हैं, वह एक ही ईश्वर सांसारिक प्रयोजनके अनुसार भिन्न-भिन्न कार्य सम्पादन करनेके कारण गुण और कर्म-की दृष्टिसे विभिन्न समझे गये हैं। परन्तु विभिन्न कर्मोंका सम्पादन करते हुए भी वह एक हैं, तथा उनके कार्यकलाप और गुण-कर्म परस्पर-विरोधी न होकर आवश्यक और सहायक हैं।

शिवके गुण और कर्मके रहस्यको लोग कम समझते हैं और इसी कारण उनमें शंका भी करते हैं; इसका कारण यह है कि उनके कर्म निवृत्ति-मूलक होनेके कारण परम उच्च और रहस्यमय हैं। संसारकी सृष्टिके सञ्चालनके निमित्त यह आवश्यक हुआ कि प्रथम प्रकृतिका विकास हो। इस विकासके कारण आवरणकी स्थूलतासे प्रकृतिके अभ्यन्तरस्थ आत्माके दिव्य गुण और शक्तिके बाह्य प्रकाशका स्वाभाविक ही हास हो गया। यही प्रवृत्ति-मार्ग है। इसमें आधार-की उन्नति और वृद्धि होती है किन्तु इसके द्वारा उपाधिकी स्थूलताके कारण अभ्यन्तरस्थ आत्माके प्रकाशका हास होता

है। जब प्रकृतिकी स्थूलता चरम सीमापर पहुँच जाती है तब उसके विकारको शुद्धकर सूक्ष्म अर्थात् सत्स्वरूपमें लानेकी चेष्टा की जाती है जिसमें अभ्यन्तरस्थ आत्माका प्रकाश जो आधारकी बाह्य स्थूलताके कारण हासको प्राप्त हो गया था क्रमशः विकसित होने लगता है, यही निवृत्ति-मार्ग है। यह दोनों मार्ग आवश्यक हैं। पहले प्रवृत्ति-मार्गके कर्तव्योंके पालन किये बिना निवृत्ति सम्भव नहीं है। अतएव प्रवृत्ति-मार्ग भी निवृत्ति-मार्गका सहायक है। ईश्वर जब पालन और धारण करनेके कार्यमें प्रवृत्त रहते हैं, (जो प्रवृत्ति-मार्ग है) तो वह विष्णु कहलाते हैं और वही ईश्वर जब निवृत्ति-मार्गके कार्यमें नियुक्त रहते हैं, (जो जीवात्माका ईश्वरमें सम्मिलन है) तो वह शिव कहलाते हैं। तात्पर्य यह है कि एक ही ईश्वरमें कार्य-भेदके कारण नाम-भेद पाया जाता है। जैसे गवर्नमेण्टका एक ही अफसर मालके कामका अधिकारी होनेके कारण 'कलक्टर', फौजदारीके कामका अधिकारी होनेके कारण 'मजिस्ट्रेट', रजिस्ट्रीका अफसर होनेके कारण 'डिस्ट्रिक्ट-रजिस्ट्रार' कहलाता है, (तथा पहले म्युनिसिपैलिटी और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डका 'सेयरमैन' भी कहलाता था) अर्थात् एक ही व्यक्तिकी विभिन्न कार्योंके कारण विभिन्न संज्ञा हो जाती है, वैसे ही एक ही ईश्वरकी भी विभिन्न संज्ञाएँ हैं।

श्रीविष्णु प्रवृत्ति-मार्गके नायक हैं। प्रवृत्ति-कार्यके साधनमें धन, धान्य, समृद्धि आदिकी आवश्यकता है। इसीलिये श्रीविष्णुकी शक्ति श्रीलक्ष्मी है जो धन-धान्यादिकी देनेवाली हैं। श्रीविष्णु अपने कार्यको यज्ञद्वारा सम्पादित करते हैं। क्योंकि इसके बिना प्रवृत्ति-धर्मका पालन सम्भव नहीं है और इसी कारण वह अवतार धारण-कर कभी-कभी मर्त्यलोकमें भी प्रकट होते हैं, जो यथार्थतः उनके निमित्त यज्ञ अर्थात् त्याग ही हैं। इसप्रकार विष्णुका कार्य व्यक्त है। सृष्टिके कल्याणार्थ जो वैदिक यज्ञ किया जाता है उसके भी अधिष्ठामा श्रीविष्णु ही हैं और इसी कारण उनका नाम यज्ञ-पुरुष है।

जब साधक प्रवृत्ति-मार्गके कर्तव्योंको पूरा करके निवृत्ति-मार्गका अनुसरण करनेमें प्रवृत्त होता है तो श्रीशिव ज्ञान, योग और भक्तिकी प्रधानकर उसे गुणमयी प्रकृतिसे जीव-

मनुक करनेके लिये ईश्वरोन्मुख करते हैं। श्रीशिव स्वयं जीवन्मुक्तके परम आदर्श हैं और मनुष्य-शरीर जो पिण्डाण्ड है, वह किसप्रकार ठीक पिण्डायुध (लज्जु ब्रह्माण्ड) बनेगा, इसके वह प्रकाशक हैं। वह जगद्गुरु होनेके कारण मुमुक्षुको जीवन्मुक्त बनाते हैं। निवृत्ति-मार्गमें त्यागकी प्रधानता है और श्रीशिव स्वयं त्यागके परम आदर्श हैं; इसीलिये उनका नाम त्यागराज (योगिराज) है। इसी गुणके कारण श्रीशिव समस्त सांसारिक भोगके पदार्थोंका त्याग करते हैं। आकाश उनका वस्त्र है; तथापि त्यागके चिह्नस्वरूप वे केवल एक कोपीन धारण करते हैं और वह भी व्याघ्र-धर्मका। सर्प, जिससे प्राणी भयभीत होते हैं, आभूषण बनकर शिवके गले और सिरमें लिपटे रहते हैं, जो आभ्यन्तरीय प्रसुप्त अधः कुण्डलिनी-शक्तिके जाग्रत होकर ऊर्ध्व-शक्तिमें युक्त होनेकी सूचना देते हैं। श्रीशिव सुगन्धित पुष्पोंको त्यागकर धूरे और आक-जैसे विष-भृशोंके पुष्पोंसे प्रसन्न रहते हैं, क्योंकि योगबलके कारण विष भी अमृत हो जाता है। वह शरीरमें चन्दनाविका लेप न करके विवृति रमाते हैं, जिसका भाव यह है कि इन्द्रियोंके विकारोंको योगाग्निसे दग्धकर उसे शुद्ध, सात्त्विक बनाकर विभूतिके रूपमें धारण करते हैं। कपाळधारणका अर्थ अन्य मूर्खवान् घातुके पात्रोंका त्याग करना है; इसका भाव यह है कि कपाळके सहस्रार-चक्रमें शिवका वासस्थान है और वही उनको साधनद्वारा खोजना चाहिये।

जब कोई मूर्ति (आकृति) अपने दहेइयको सिद्ध कर उससे अधिक कार्य करनेके योग्य नहीं रह जाती तो श्रीशिव उसको नष्टकर उसके द्वारा नवीन आकारकी रचना करते हैं जो नये रूपसे कार्य करता है। अतएव मृत्यु और मृतककी अस्थि, मुण्ड, धर्म, कपाळ आदि यथार्थतः अमंगलजनक नहीं हैं, क्योंकि मृत्युद्वारा शरीरकी सामग्रीको परिवर्तितकर नवीन आकृति बना उससे संसारका मंगल ही करते हैं। इसप्रकार मृत्युसे ही जन्मके मंगलका विधान होता है। इसी परिवर्तन और पुनरुज्जीवनका बोधक शिवका इमशान-वास है।

अहंकारके अजिहाता श्रीशिव हैं। साधक अहंकारको अपने स्वार्थसाधनमें न लगाकर निवृत्ति-धर्मका पालन करनेके लिये श्रीशिवको अर्पण करता है और इस अर्पणको ही मुण्डप्रदान कहते हैं। ऐसे साधकके अर्पित अहंकारकरी

मुण्डकी माला जब वह अपने गलेमें धारण करते हैं तबसे उस अर्पितात्मा साधकके सब कर्म श्रीशिवकी इच्छाके अनुसार होने लगते हैं। श्रीशिव ऐश्वर्यसूचक रथादिकी सवारी न करके बूढ़ बृषभकी सवारी करते हैं, इसका अभिप्राय यह है कि वे मनुष्यके ही कल्याण-कर्त्ता नहीं हैं बल्कि पशुओंके भी कल्याण करनेवाले हैं। इसी कारण उन्हें पशुपति भी कहा जाता है। बृषभ धर्मका भी सूचक है, इससे सूचित होता है कि शिव धर्मके सञ्चालक हैं।

श्रीशिव ब्रह्मपूर्णाके द्वारा संसारके निमित्त अत्यन्त आवश्यक अन्नका वितरण करते हैं, पर स्वयं भिक्षा माँगकर निर्वाह करते हैं; इसप्रकार संसारको अहंकारशून्यता, दीनता और त्यागकी शिक्षा देते हैं। वह स्वयं परम त्यागी होते हुए भी आर्त्त, दीन, निःसहाय, निर्धन, अंगहीन, विरूपांग आदिके भ्राता और पालक हैं। यही कारण है कि दीन, हीन, पंगु, अंगहीन, भूत, प्रेत, पिशाचादिकी जिनसे लोग उनकी दुरवस्थाके कारण घृणा करते हैं, श्रीशिव सुधि लेते हैं और उनको अपना गण बनाकर रखते हैं।

श्रीशिव वन और पर्वतमें रहते हैं, इसका तात्पर्य यह है कि वे उद्भिज्ज और स्थावर-जगत्के भी सहायक और पालक हैं। उनके भोजन मुख्यतः जंगलके कन्द-मूल-फल ही हैं, जो सभी त्यागके सूचक हैं। श्रीशिवके सामने अमृत और विष दोनों समान हैं। यही कारण है कि समुद्रसे हालाइल विषके निकलनेपर उन्होंने संसारकी रक्षाके लिये उसका पान किया और स्वयं नीलकण्ठ बन गये।

निवृत्ति-मार्गमें कामवासनाका दमन ही मुख्य बात है, अतएव श्रीशिवने काम-दहन किया। परमा सुन्दरी श्रीपार्वतीके जघापर बैठे रहनेपर भी उनमें कामविकार नहीं होता। यथार्थ काम-दमन भी इसीको कहते हैं कि विषयके सम्पर्कसे भी कुछ क्षोभ न हो।

श्रीशिव जीवन्मुक्त अवस्थाके प्रदान करनेवाले हैं, परन्तु वह मायाके अतिक्रम किये बिना प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव श्रीशिवकी शक्तिके (उमारूप समष्टि तुरीय चैतन्य-शक्ति) जो समष्टि महासुषुप्तिके (अविद्यान्धकारके) परे है, प्रकाशकी सहायतासे साधक इस अविद्यान्धकारको अतिक्रमकर ईश्वरको प्राप्त करता है। इस तुरीय-चैतन्यकी प्राप्ति जगद्गुरु शिवकी कृपासे ही होती है, किन्तु अनधिकारी साधकको इस कृपाकी प्राप्ति नहीं होती।

श्रीशिव अर्थादि सांसारिक वस्तुएँ अयोम्यको भी प्रदान करते हैं, परन्तु इस तुरीय-चैतन्यका बोध अर्थात् राजविद्या उसीको प्राप्त होती है जो उनके तृतीय नेत्रके प्रकाशमें पवित्र, निर्मल और स्वच्छ जैवता है। क्योंकि अपवित्रात्मा उस सर्वकाष्ठको सहन नहीं कर सकता और न कोई उनको बोझा ही दे सकता है।

उपर्युक्त महा अविद्यान्धकाररूप महासुषुप्तिके ऊपर श्रीकृष्ण अर्थादि जीवन-गीताका गान अपनी वंशी (ह्लादिनी-शक्ति) द्वारा करते हैं। वर्तमान गीता उस गानका एक अंश है। यह दिव्य-गीता-गान उसीको सुनायी देता है जो महासुषुप्तिरूप अविद्याको तुरीय-चैतन्यके प्रकाशसे अतिक्रमकर उससे ऊपर जाता है और यह जगद्गुरु श्रीशिव और उनकी शक्ति उमा (महाविद्या) की सहायताद्वारा ही सम्भव है। इसीलिये शिव अधिकारी सुसुप्तको तारक-मन्त्र प्रदानकर अविद्यान्धकारसे मुक्त करते हैं। अर्थात् श्रीशिवकी शक्ति विद्याके प्रकाशसे अविद्यान्धकारका नाश होता है। अविद्या ही मृत्यु है, इसका विद्याके द्वारा अतिक्रम होता है। इसी कारण श्रीशिवकी मृत्युअर्थ अर्थात् अविद्यारूपी मृत्युका जय करनेवाला कहते हैं।

तुरीय-चैतन्यकी छः शक्तियाँ हैं— ज्ञान, इच्छा,

क्रिया, भाग्रिका, कुण्डलिनी और परा। यह तुरीय-चैतन्य-शक्ति शिवका दिव्य शरीर है। बिना इस शक्तिको आधार बनाये ईश्वरका कोई अवतार नहीं हो सकता। जगद्गुरु शिवका निवास ललाटेके सहस्रारचक्रमें है—‘ललाटे सिद्धदर्शनम्’। (योगधन)

परन्तु श्रीकृष्णका बास हृदयमें है—‘हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।’

जगद्गुरु श्रीशिवकी दीक्षाके बिना कोई श्रीकृष्णको पा नहीं सकता। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने हिमालयमें शिवकी दीक्षा ग्रहणकर उनकी तपस्या की और उनकी तुष्ट किया (यह कथा महाभारतके अनुशासन-पर्वके प्रथमाध्यायसे प्रारम्भ होती है)। श्रीकृष्ण भगवान्की इस तपस्याका मुख्य तात्पर्य जगत्को यह उपदेश देना था कि वे दोनों एक हैं। अतः जगद्गुरु शिवकी कृपाके बिना कोई श्रीकृष्ण भगवान्को प्राप्त नहीं कर सकता। लिखा है—

यो तौ शंसकपालभूषितकरौ हारास्थिमालाधरौ
देवौ द्वारवती शमशाननिलयौ नागारि-गो-वाहनौ।
द्विध्यक्षौ बलिदक्षयज्ञमथनौ श्रीशैलजावल्लभौ
पापं मे हरतां सदा हरिहरौ श्रीवत्सगङ्गावरौ ॥
शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोश्च हृदयं शिवः।
यथा शिवमयो विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥

जतलाओ निज प्यार

(लेखक—पं० श्रीरमाशंकरजी मिश्र ‘श्रीपति’)

जगतके जब झूठे व्यवहार,

तब तो नाथ ! तुम्हीं बन जाते मेरे प्राणाधार ।

यश-अपयश, सम्मान-निरादर, राग-विराग, दुलार ;

इस उलझनमें हमें उलझना, नहीं प्रमो ! स्वीकार ।

साधु-असाधु, नराधिप-निर्धन, प्रबुध-अबोध, गँवार ;

करते हो क्या एक भावसे, सबको अंगीकार ?

माया भी झूठी काया भी, धन, दारा, परिवार ;

तब जो कुछ हो सार, बता दो, हमको हे करतार !

जो कुछ है, प्रस्तुत है श्रीपति, व्यथा-पूर्ण उपहार ;

तुकराओ या हृदय समझकर, जतलाओ निज प्यार !

ईश्वर-निरूपण

लेखक—पण्डितवर श्रीबालकृष्णजी शर्मा



हिक सुखको दुःखसे मिश्रित तथा आधुनिक सुखको नाशमान जानकर विवेकी पुरुष हूनकी कामना नहीं करते; प्रत्युत दोनोंको समान ही दुःखप्रद मानते हैं। दुःख असहनीय होता ही है, अतएव दुःखमय संसारसे विरक्त होकर आधुनिक दुःख-निवृत्तिका उपाय जाननेके लिये वे गुरुके पास जाते हैं। जैसे—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणां
निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवामिगच्छे-
त्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

(श्रुति)

तब गुरुके द्वारा यह उपदेश प्राप्त करके कि जीव-मिथ्याज्ञानकी निवृत्तिये होनेवाला जीवतत्त्वज्ञान मोक्षमें कारण है और जीवतत्त्वज्ञानमें पुण्यद्वारा या साक्षात् ईश्वर-तत्त्वका ज्ञान कारण है, वह ईश्वरकी जिज्ञासा करता है। अतः ईश्वरका निरूपण करना आवश्यक है। जैसे—

‘दे ब्रह्मणी वेदितव्यं परं चापरमेव च ।’
‘स हि तन्वतो ज्ञातः स्वाम-
साक्षात्कारस्योपकरोति ।’
‘तमेव विदित्वाऽनिमृत्सुमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥’

(श्रुति)

‘ब्रह्मसंस्थोऽभूत्त्वमेति ।’
‘भिद्यते ब्रह्मप्रान्थिदिलघन्ते सर्वसंज्ञाः ।
क्षयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्देह परावर्ग ॥’
‘मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥’ (स्थिति)

ईश्वरको किसी-न-किसी रूपमें सभी मानते हैं, इस-लिये उसका निरूपण अर्थ है। जैसे—

मृष्टिके आरम्भमें विद्वान् अणिमा आदि ऐश्वर्योन्मत्तपक्ष महामुनि कपिल ईश्वर हैं, सांख्य-मतवाले ऐसा मानते हैं। अविद्यादि क्लेश, कर्म, जाति, आयु, भोग धर्माधर्मसे सर्वथा असम्बद्ध, शरीरधारणद्वारा वेदोंके

प्रकाशक, घटपट आदि बनानेकी विधि दिखानेवाले ईश्वर हैं, यह योगशास्त्रका मत है। उपास्यरूपसे वेदोपदिष्ट मन्त्र-विशेष ईश्वर है, ऐसा पूर्वमीमांसा कहता है। उत्तरमीमांसा (वेदान्त) ईश्वरकी निर्दोष, सच्चिदानन्दस्वरूप बतलाता है। न्याय-बैशेषिकका मत है कि ईश्वर सर्वज्ञ जगत्का कर्ता संख्यादि आठ गुणोंसे युक्त है। ईश्वर लोकविरुद्ध अग्नि और सर्पका धारण तथा वेदविरुद्ध दारुवन और बिप्रवधू बिष्वसन करनेपर भी निष्पाप और स्वतन्त्र है यह महा-पाशुपत-मतका सिद्धान्त है। शैव ईश्वरको निरङ्गुण्य मानते हैं। पौराणिकोंका मत है कि ईश्वर सर्वज्ञत्व आदि गुणोंसे युक्त पुरुषोत्तम है। याज्ञिक उमे यागमें प्रधान-तथा यष्ट्य पुरुषरूप मानते हैं। जैन दिग्गम्भ अष्ट-अविद्याद्यन्यरूप मानते हैं। चार्वाक उमे लोकमें सबसे बड़-कर गुणी, प्रतापी शरीरवान् रूपसे मानते हैं। यहूतक कि शिकपी लोग भी उमे विश्वकर्मारूपमें मानते हैं। तथापि सगुणत्व, निर्गुणत्व, क्षणिकत्व, निश्चयत्वादिमें मतभेद होने-के कारण इसका (ईश्वरका) निरूपण करना परमावश्यक है। धर्माधर्म विवाद ही सर्वत्र धर्मीके निरूपणमें प्रयोजक होता है।

ईश्वरका स्वरूप

ईश्वर नीरूप, निरवयव, निर्मनस्क, निष्क्रिय, निश्च, निश्चतृप्त, निर्दोष, अतनु, बिभु, निश्च सर्वविषयक अविकल एक अनन्यसाधारण ज्ञानेच्छाप्रयत्नोंमें प्रयुक्त, सुख-दुःखा-दृष्टरहित, संख्या-परम-महत्-परिमाण-वृथक्त्व-संयोग-विभागाका आश्रय, अदृष्ट आदिका अधिष्ठाता, स्वतन्त्र, सर्व-शक्तिमान्, सर्वेश्वर, जगत्का उत्पादक, पालक और नाशक, प्रणववाच्य सजातीय द्वितीयरहित और पुरुषोत्तम है। जैसे—

‘निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवयवं निरञ्जनम् ।

महान्तं विभुमप्रमानं मत्वा धीरा न शोचति ॥’

‘ईशानो भूतमन्यस्य ।’

‘अग्रणो ह्यग्रनाः शुभ्रः ।’ (श्रुति)

ईश्वरके लक्षण

निरयज्ञानकत्व, निश्चयप्रयत्नकत्व, निश्चेष्टाकत्व, जग-दुत्पादकत्व, जगत्पालकत्व, जगन्नाशकत्व इत्यादि ईश्वरके लक्षण हैं।

ईश्वरमें प्रमाण

ईश्वर बाह्येन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है; क्योंकि उसमें रूप नहीं है। रूपके कारण ही बाह्येन्द्रियोंसे द्रव्य-प्रत्यक्ष होते हैं। ईश्वरका प्रत्यक्ष अन्तरिन्द्रिय मनसे भी नहीं हो सकता। अपने आत्मा और उसके गुणोंको छोड़कर परकीय आत्मा आदिका मानस-प्रत्यक्ष न होनेमें अपने आत्माके साथ मनके विलक्षण संयोगकी कारण मानना पड़ेगा; परन्तु यह विलक्षण संयोग जैसे परकीय आत्माके प्रति नहीं होता है वैसे ही ईश्वरके प्रति नहीं होता। अतः ईश्वरका मानस-प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता है। जैसे—

‘न तत्र चक्षुर्गच्छति ।’ (श्रुति)

‘अवाङ्मनसगोचरम् ।’ (स्मृति)

(१) परन्तु अनुमान-प्रमाणद्वारा ईश्वरकी सिद्धिमें कोई बाधा नहीं होती। जितने कार्य होते हैं सब सकर्तृक (अर्थात् कर्ताके द्वारा) होते हैं, जैसे घट-पट आदि; जो सकर्तृक नहीं हैं, वह कार्य भी नहीं हो सकता, जैसे गगन। द्रव्यणुक एवं अंकुर कार्य हैं, अतः इन दोनोंको जरूर सकर्तृक होना चाहिये। तब इनका कर्ता कौन है? वह कर्ता न तो जड़ हो सकता है और न जीव। अतः इनके कर्तृस्वरूपमें ईश्वरकी सिद्धि होती है। यदि कोई कहे कि ‘कर्ता शरीरी होता है, शरीररहित कर्ता कहीं नहीं देखा जाता है फिर ईश्वरको कर्ता कैसे माना जाय?’ परन्तु यह बात ठीक नहीं है क्योंकि ईश्वरको या तो सिद्ध करेंगे या असिद्ध। यदि सिद्ध है तो क्यों? इसका उत्तर यदि यह हो कि जगत्का कर्ता होनेसे वह सिद्ध है, तब उस ईश्वरमें कर्तृत्वके अभावका आरोपण करनेसे धर्मिप्राप्तिक प्रमाण ही जाता रहेगा। यदि ईश्वरको असिद्ध मानें तब कर्तृत्वका खण्डन किसमें किया जायगा? क्योंकि धर्मिके अभावसे अभाव-ज्ञानका होना ही सम्भव नहीं है। यदि कोई दूसरी शंका करे कि ‘शरीरजन्यत्वका सकर्तृकत्व व्याप्य है और शरीरजन्यत्व व्यापक है। व्यापकाभावसे व्याप्याभावकी सिद्धि निर्विवाद है। द्रव्यणुकादिको सकर्तृकत्व माननेवाले नैयायिक शरीरजन्यत्व नहीं मानते हैं, तब शरीरजन्यत्वसे सकर्तृकत्वका अभाव होनेके कारण सत्प्रतिपक्ष हो जायगा।’ परन्तु यह कथन भी सम्यक् नहीं है। क्योंकि इयर्थ विशेषणसे घटित साध्य व्याप्यत्वासिद्धि

नामक हेत्वाभासमें आ जानेके कारण सिद्ध नहीं हो सकता। इसीप्रिये नीक्षुधर्महेतुसे वहिको सिद्ध करनेवाला वादी हेत्वाभास नामक निग्राह-स्थानमे निगृहीत (पराजित) हो जाता है। प्रकृत स्थलमें शरीर-विशेषण इयर्थ है, अकर्तृकत्व सिद्ध करनेके लिये अजन्यत्वमात्र ही पर्याप्त है, इसलिये शरीरजन्यत्व व्याप्यत्व असिद्ध हो गया। और यदि शरीर-विशेषणको हटाकर केवल अजन्यत्वको हेतु बनावें तो हेतुके पक्षमें न रहनेसे स्वरूपकी असिद्धि हो जायगी—‘येयमुभयतः पाशाय रज्जुः!’ इसमें श्रुति आदि प्रमाण इसप्रकार है—

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते’

‘विश्वतश्चक्षुः ॥ विश्वतोमुखो

विश्वतोबाहुस्त विश्वतस्पात् ।

सम्बाहुभ्यां धमति संपतत्रैः

छावाभूमी जनयन्देव एकः ॥’ (श्रुति)

‘अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।’ (स्मृति)

(२) सृष्टिके आरम्भमें प्रथम वायवीय परमाणु ॐ में क्रिया होती है, तत्पश्चात् क्रमशः परमाणुद्रव्यके संयोगसे द्रवणुक, तीन द्रवणुकोंके संयोगसे त्र्यणुक, चार त्र्यणुकोंके संयोगसे चतुरणुक—इसप्रकार महावायुकी सृष्टि होती है। इसके बाद क्रमशः महातेज, महाजल तथा महापृथ्वीकी उत्पत्ति होती है। यह नैयायिकोंकी सृष्टि-प्रक्रिया है। सृष्टिके आरम्भका यह परमाणु-क्रियारूप कार्य किसीके प्रयत्नद्वारा ही हुआ होगा, क्योंकि कोई भी कार्य बिना किसी प्रयत्नके नहीं होता। परमाणु तो स्वयं जड़ है, अतएव परमाणुके प्रयत्नके कारण कहना आकाश-कुसुमके समान है। सृष्टिके आरम्भमें शरीरके अभावमें जीव भी प्रयत्नवान् नहीं कहा जा सकता जो परमाणु-क्रियाके कार्यको कर सके। अतः जिसके प्रयत्नसे परमाणु-क्रिया होती है वही ईश्वर है। जैसे —

‘यदा स देवां जागर्ति तदेदं चेतते जगत् ।

यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निर्मलति ॥

ॐ खिन्नकीसे आनेवाला स्व-किरणोंमें जो छोटे-छोटे धूळिकण-से दोखते हैं, वे त्र्यणुक हैं, उसका छठा हिस्सा परमाणु है। यथा—

जालान्तरगते भानौ यत् सूक्ष्म दृश्यते रजः ।

तस्य बृहत्तमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥

अशो जन्तुरमीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा शममेव वा ॥
'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सृजते सचराचरम् ।'
'तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च ॥' (सृष्टि)

(३) आकाशमें पक्षीके चोंचमें धारण किया हुआ काष्ठ नीचे नहीं गिरता है, यदि वह उसे छोड़ देता है तो नीचे गिर जाता है। इससे यह मानना होगा कि गुरुत्वाश्रय-पर्याय प्रयत्नवाचक द्वारा अधिष्ठित होनेके कारण पतनको नहीं प्राप्त होते हैं। तब वह तने वड़े ब्रह्माण्डकी पतनसे बचाने-में किसीका प्रयत्न अवश्य काम कर रहा है। यह जीवात्मा-के प्रयत्नको सामर्थ्यसे बाहरकी बात है। इसलिये जिसके प्रयत्नसे ब्रह्माण्ड धारण हो रहा है और पतनको प्राप्त नहीं होता, उसको अवश्य ईश्वर मानना पड़ेगा। जैसे—

'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्मि, द्वाबापुथिर्या विधृते तिष्ठतः ।'
(श्रुति)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमविदय विमर्त्यग्य ईश्वरः ॥ (सृष्टि)

(४) घट-पटका विनाश जैसे प्रयत्नसे होता है, वैसे ब्रह्माण्डका विनाश भी बिना प्रयत्नके नहीं हो सकता। इसलिये तादृश प्रयत्नके आश्रयसे ईश्वरकी सिद्धि होती है। जैसे—

एष सर्वाणि भूतानि सममिव्याप्य मूर्तिभिः ।

जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं सम्भ्रामयति चक्रवत् ॥

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ तिसृजाम्यहम् ॥ (सृष्टि)

(५) घट बनानेकी विधि कुलालको तथा पट बनाने-की विधि तन्तुवायको मालूम होती है, व्यवहार होनेके कारण उनका आदिमें किसी स्वतन्त्र पुरुषद्वारा निर्माण होना आवश्यक है। यद्यपि आजकल दूसरे कुलाल अथवा तन्तुवायकी रचना देखनेसे घटादिकी रचना की जाती है, परन्तु सृष्टिके आदिमें सर्वप्रथम कोई आदर्श निर्माता अवश्य रहा होगा। अतः आदर्श निर्माताके रूपमें ईश्वरको मानना ही होगा। ईश्वर ही कुलालादिका शरीर धारण करके पहले घट-पट आदि बनाकर लोगोंको शिक्षा देता है, पीछे प्रलय-पर्यन्त अविच्छिन्नरूपसे वह व्यवहार चलता रहता है। यदि कोई इसपर शंका करे कि जब प्रलय होता ही नहीं है तब सृष्टिका आरम्भ क्यों माना जाय? केवल पूर्व-व्यवहार ही उत्तर-व्यवहारके कारण होते हैं।

परन्तु यह कहना युक्त नहीं है, क्योंकि जन्मादिका क्रमिक हास देखकर, सम्प्रदायका भी किसी-न-किसी समय हास हो जायगा, यह निश्चित होता है और इस अनुमानसे प्रलयकी भी सिद्धि हो जाती है। जैसे पहले मानसी सृष्टि होती थी, पीछे व्यवस्थित मैथुनी सृष्टि होने लगी और अब देश-कालादि-व्यवस्थासे हीन सृष्टि होती है—यह जन्मका हास है। पहले सहस्रशाखा-वेदका अध्ययन किया जाता था, पीछे षडंग एक वेदका अध्ययन होने लगा और आजकल एक शास्त्रामात्रका अध्ययन होता है, यह अध्ययनका हास है। पहले शिलोम्भ-वृत्ति ब्राह्मण थे, पीछे अयाचित-वृत्ति हुए, आजकल उनकी कृषि, वाणिज्य, सेवा-वृत्ति है, यह वृत्तिक हास है। पहले ब्राह्मण यज्ञ-शेष-भोजी थे, पीछे अतिथि-शेष-भोजी हुए, आज अपने ही किये बनाये हुए अन्नको खाते हैं। सत्ययुगमें धर्मके तप, ज्ञान, याग और दान यह चार चरण थे, त्रेतामें ज्ञान, याग और दान तीन चरण थे, द्वापरमें दो चरण थे याग और दान, कलियुगमें एक ही चरण दानमात्र रह गया है, वह भी अश्रद्धा आदि दोषोंसे दूषित काम-क्रोधादिये समन्वित होकर प्रतिदिन हीनबल होनेके कारण स्तब्धित होता जा रहा है। यह धर्मका हास है। आगम भी प्रलयमें प्रमाण उपस्थित करता है। यथा—

'वाता यथापूर्वमकल्पयत्' (श्रुति)

'यदा यदा हि धर्मस्य स्तानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥'

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥' (सृष्टि)

घटादि-निर्माणके प्रथम आदर्श ईश्वर है इसमें प्रमाण—

'नमः कुलात्म्यः कर्मारम्भश्च' (श्रुति)

'पिताहमस्य जगतां मता चावा पितामहः ।'

'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।

मम वर्तमानवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥

उत्सीदयिष्ये लोकं न कुर्मि कर्म चेदहम् ॥' (सृष्टि)

(६) प्रत्यक्षका कारण महानता है, नहीं तो परमाणु-का भी प्रत्यक्ष हो जाता। व्यणुकका प्रत्यक्ष होता है इसलिये उसे महान मानना होगा। अब उस व्यणुकका असमवायिकारण किसको माना जा सकता है? द्रव्यणुकके परिमाणको उसका असमवायिकारण नहीं मान सकते,

क्योंकि वह अणु है और अणु-परिमाणसे महत्वकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। परिमाण सजातीय उत्कृष्ट परिमाणको पैदा करनेमें ही समर्थ होता है। सजातीय अणु-परिमाण-को यदि उत्पादक मानें तो व्युत्पन्न प्रत्यक्षका विषय न रह जायगा; और चतुरणुकसे लेकर घट आदि पर्यन्त किसीका भी प्रत्यक्ष नहीं होगा, तथा घट आदि अन्य अवयवोंका प्रत्यक्ष न होनेसे तद्वत् गुण, क्रिया, जातिका भी प्रत्यक्ष न हो सकेगा। अतः कारण नहीं मान सकते। पुनः यदि द्व्यणुक-रूपको कारण मानें तो वह भी पुष्ट न होगा क्योंकि उसके रस और स्पर्शादिको लेकर विनिगमनाविरह होनेसे गौरव हो जायगा अतः अगत्या द्व्यणुकगत त्रित्वसंख्याको ही उसका कारण मानना होगा। द्वित्व आदि संख्या एक-एक करके गिननेसे उत्पन्न होती है, और उस समय ईश्वरको छोड़कर द्व्यणुकका गिननेवाला दूसरा कोई है नहीं, जिससे त्रित्वकी उत्पत्ति हो सके। इसलिये ईश्वरको मानना परमावश्यक है।

(७) वेदवाक्यसे उत्पन्न शाब्दबोधके प्रामाण्यज्ञानके बिना बहुत भ्रमव्यय और भ्रमसाध्य यागादि क्रियामें प्रवृत्ति नहीं हो सकती और प्रामाण्यका ज्ञान शाब्दबोध-प्राप्तिके सामग्रीसे नहीं हो सकता। यदि प्रामाण्यको स्वतः-प्राप्त्यर्थ मानें तो ज्ञानमें प्रामाण्यका सन्देह ही नहीं उठ सकता, क्योंकि ज्ञान यदि ज्ञात है तो उसमें प्रामाण्य भी ज्ञात ही हो गया, फिर संशय कैसे हो सकता है? यदि वह ज्ञात नहीं है तो भी धर्मज्ञानके अभावमें संशय नहीं हो सकता। अतः प्रामाण्यको वक्तके यथार्थ ज्ञानरूप गुणसे उत्पन्न हुआ ही मानना ठीक है। तब वेद-वाक्यसे उत्पन्न बोधमें रहनेवाले प्रमात्यके ज्ञापक ज्ञानके आश्रय-रूपसे ईश्वरकी सिद्धि होती है, क्योंकि धर्माधर्म आदि वेदार्थको स्वतन्त्ररूपसे जाननेकी शक्ति दूसरेमें नहीं है। यदि यह शंका की जाय कि 'प्रामाण्यको दूसरेके द्वारा प्राप्त मानें तो अनवस्था-दोष आ जायगा' पर यह पुष्ट नहीं है, क्योंकि अप्रामाण्य-ज्ञानसे अनात्मिणित ज्ञान सिद्ध होता है न कि प्रामाण्यद्वारा निश्चित अनात्मिणित ज्ञान। ऐसी अवस्थामें सर्वत्र प्रामाण्य-निश्चयकी आवश्यकता नहीं होती; इसलिये अनवस्थारूप दोष भी नहीं लग सकता है।

(८) वेद-प्रणेतावसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है, इसके दो प्रकार हैं—'वेदाः सर्वज्ञप्रणीताः वेदत्वात्' अर्थात् वेदत्वके कारण वेद किसी सर्वज्ञद्वारा प्रणीत हैं

क्योंकि जो सर्वज्ञ-प्रणीत नहीं है वह वेद भी नहीं है, जैसे इतर वाक्य। यह केवल व्यतिरेकी अनुमान है। दूसरा 'वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मद्-वाक्यवत्।' अर्थात् हमलोगोंके वाक्यके समान वाक्यत्वके कारण वेदवाक्य भी पौरुषेय हैं। यह अन्वय-व्यतिरेकी अनुमान है। जैसे—

'तस्मात् यज्ञात् सर्वदुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (श्रुति)

'अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।

प्रतिमन्तरं चैषा श्रुतिरन्या विधीयते॥'

'वेदान्तकृतं वेदविदेव चाहम्।' (स्मृति)

(९) कुछ लोग ईश्वर-विषयक वेदवाक्यको अर्थवाद-वाक्यमें परिगणित करते हैं। परन्तु अर्थवाद-वाक्यका तात्पर्य विषयकी प्रशंसा अथवा निन्दासे होता है। अतः प्रशंसाद्वारा उस विधिमें प्रवृत्ति और निन्दाद्वारा निवृत्ति होती है। जैसे—

'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता, वायुरेव पनं मूर्तिं गमयति'

यह अर्थवाद-वाक्य वायुकी प्रशंसाके द्वारा 'वायव्यं धेतमाकमेत' इस विधिके अर्थमें प्रवर्तक होता है।

'सोऽरोदीत् तदरोदीत् तदेव रुद्रस्य रुद्रत्वम्'

यह अर्थवाद-वाक्य रजत-निन्दाद्वारा 'वर्हिषि रजतं न देयम्' इस विधिके लिये रजत-दक्षिणा-दानसे निवृत्त कराता है। अतः किसी विधिवाक्यमें प्रवर्तक-निवर्तकतासे रहित ईश्वरकी सिद्धि होती है।

(१०) बिना व्याख्यानके वेदार्थका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता और एकदेशदर्शी पुरुषके व्याख्यानमें विश्वास करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि—

'पैर्वीपयौपरामुष्टः शब्दोऽन्यां कुरुते मतिम्'

अर्थात् पूर्वापरका बिचार छोड़कर किया हुआ अर्थ अन्यथा ज्ञान प्रदान करता है। इसलिये समस्त वेदोंके तथा उनके अर्थके विश्वासाका ही व्याख्यान आदरणीय हो सकता है। इसप्रकारका विश्वासा ईश्वरके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता, अतः ईश्वरको मानना आवश्यक है।

(११) जो शब्द लक्षणावृत्तिके अभावमें जिस अर्थमें प्रयुक्त होता है, वह शब्द उस अर्थका वाचक है। जैसे स्वर्ग-शब्द सुख-विशेषके अर्थमें प्रयुक्त

उसका वाचक है, उसी प्रकार प्रणव, ईश्वर, ईशान आदि शब्दोंका प्रयोग जगत्कर्ता अर्थमें श्रुति, स्मृति, इतिहास आदिमें असंख्यों बार प्रयुक्त हुआ है, इसलिये तत्पदवाच्य ईश्वरको अवश्य मानना होगा। जैसे—

‘तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ॥’

‘समस्तं व्यस्तं त्वां शरणं गृणात्यमिति पदम् ॥’

‘तस्य वाचकः प्रणवः’ (स्मृति)

(१२) कृति, स्पन्द, अपूर्व, कार्य, अभिधा, इष्ट-साधनताको यदि विधि-प्रत्ययका कारण मानें तो उसमें आपत्ति, अनुपपत्ति आदि दोष आ जायेंगे इसलिये विधिका कारण आस-अभिप्राय ही मानना होगा। इसप्रकार वेदोक्त विधिके प्रत्ययके लिये अभिप्रायके आश्रयस्वरूप ईश्वरकी सिद्धि होती है।

(१३) संज्ञावाची उत्तम पुरुषके लिये एकत्व आदि संख्या वक्त्यामें आरोपित होती है,—‘अहं गच्छामि।’ इस-प्रकार ‘एकोऽहं बहु स्याम्’ इत्यादि वेदवाक्यमें उत्तम पुरुषके लिये एकत्व-संख्याके आरोपणसे ईश्वरकी सिद्धि होती है।

(१४) काठक, काकापक प्रभृति वेदशास्त्राओंके नाम प्रसिद्ध हैं। अध्येताके अनन्त होनेसे उसके नाममें शास्त्रा-

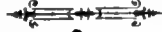
का नामकरण स्वीकार करना ठीक नहीं है। इसलिये ईश्वरने सृष्टिके आरम्भमें कठसंज्ञक शरीर धारण करके जिस शास्त्राका अभ्यापन किया उसका नाम काठक हुआ, कलाप-संज्ञक शरीर धारण करके जिस शास्त्राका अभ्यापन किया, उसका नाम काकापक हुआ, अतः नामानुरोधसे भी ईश्वरको मानना ठीक है।

(१५) समस्त वेद परम्परा या साक्षात् रूपसे ईश्वर-का ही तात्पर्य रखते हैं। जैसे, पुरुषसूक्तमें सृष्टिकर्ताके रूपमें, रुद्राध्यायमें ऐश्वर्यरूपमें, मण्डल ब्राह्मणमें शब्द-ब्रह्मके रूपमें, मन्त्रविधिमें यज्ञपुरुषके रूपमें, उपाख्यानमें अवतारके रूपमें, तात्पर्य यह है कि सर्वत्र उपाख्यरूपसे ईश्वर ही प्रतिपादित हुआ है—

‘सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति’ (श्रुति)

(१६) कुल्हाड़ी खनः काटको नहीं काट सकती, क्योंकि वह अचेतन है। अचेतन चेतनद्वारा प्रयुक्त होकर ही कार्यको उपपन्न कर सकता है। अदृष्ट समस्त कार्योंका उत्पादक है, परन्तु वह अचेतन है इसलिये उसका प्रयोक्ता (अधिष्ठाता) किसीको अवश्य ही मानना पड़ेगा। वह अधिष्ठाता ही ईश्वर है।

इसप्रकार ईश्वर सर्वतोभावेन सिद्ध है।



गीत

(न्यायक—श्रीसत्वाचरणजी ‘सत्य’ पृष्ठ ५०, बिशारद)

सान्ध्य-गीत-सा मधुर रूप धर

शत सहस्र अश्रुत अन्तरसे, सङ्कत हो हे अन्तरतर !

(१)

अनहद-ध्वनि-सा मनोगगनमें

आशा-तबित् निराशा-घनमें

मत्त मयूर नृत्य-सा जञ्जल,

थिरक उठो हे भुवनेश्वर !

सान्ध्य-गीत..... ॥

(२)

तरुण उषाके मधु-प्रणयन-सा

मुँदे सुमन-दल उन्मीलन-सा

शनैः शनैः स्वर्णमं मनोहर,

बिकसित हो हे अखिलेश्वर !

सान्ध्य-गीत..... ॥

(३)

विश्व-छोरपर कठणा-रेखा

झलक रही मिथ्या मद-लेखा

उज्ज्वल बारिद पङ्क्तिपर आ,

शान्ति-सुधा बरसा क्षणभर !

सान्ध्य-गीत..... ॥

(४)

निर्मग जग सब मलिन पाशमें

सिसक रहा है भग्न-आशमें

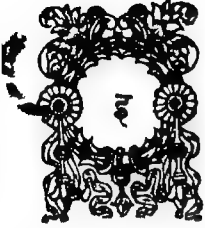
इन्द्र-धनुष-सा रण आशा-पुल

मदिर तन्त्रि छेको हरिहर !

सान्ध्य-गीत..... ॥

प्राचीन धर्म और आधुनिक मन

(लेखक—साधु भी टी० एच० बास्वानीजी)



जिहासकी प्याख्या करते हुए एक कवि कहता है कि राष्ट्र केवल अपनी आत्माके द्वारा ही स्वतन्त्र और महान् हो सकते हैं। एक राष्ट्रके हृदयमें जैसे विचार उठते हैं वैसा ही वह बनता है; और एक बार जब अन्त-राष्ट्रामें स्वतन्त्रताका साक्षात् निर्मित हो जाता है तो फिर समाज और राज्यके बाह्य चंत्रमें उसकी बुद्धिको कोई नहीं रोक सकता। बन्तुतः स्वतन्त्रता धर्मकी प्राप्ति है और राष्ट्र जितना ही धर्मसे प्युत होता है उतना ही उसका अधःपतन होता है। यूनान जब यह विश्वास करता था कि जीवनके आदर्शस्वरूपकी अभिव्यक्ति इत्य (जगत) में होनी चाहिये, तब वह महान् राष्ट्र था, एथेन्स देश एथेना देवीकी प्रतिमूर्तिमें अवस्थित था; समुद्रकारोंके द्वारा जनसमुदायमें शक्ति और सहायताके एक अररय स्रोतमें उसका विश्वास था, और वहाँ हेक्तासकी क्रीड़ाएँ भी देवताओंकी पूजाके रूपमें मानी जाती थीं। मेरा विश्वास है कि ओलिम्पियन धर्म (Olimpion religion) में अनेकों अन्वविश्वासोंका मिश्रण हो गया था; परन्तु उसमें उस शक्तिके प्रति जीवन्त श्रद्धा थी जिसकी सत्ता सदाचारकी—‘सत्यं शिवं सुन्दरम्’ की सृष्टिकरती थी। पीछे एक समय आया जब यह धर्म नष्ट हो गया, और फ्रांसिस गाल्टन (Francis Galton) के कथनानुसार सामाजिक सदाचारका नाश होने लगा। तब नयी जातियाँ यूनानमें प्रवेश करने लगीं, और यूनानको बौद्धिक शक्तिये सम्पन्न होनेपर भी आत्मदुर्बलताके कारण रोमके अधीन होना पड़ा। रोमका भी एक दिन पतन हुआ। १८० ई० में मार्कस औरिलियस (Marcus Aurilius) मर गया। उसके बाद ३३० ई० तक रोमके अधःपतनका काल है। इस अवधिमें रोममें धर्मभावनाकी हीनता देखी जाती है। टेसिटस (Tacitus) जो पुराणत (Annals) का रचयिता था, बौद्धिक शक्तिमें महान् होनेपर भी आत्मिक दृष्टिसे वैसा न था। जुवेनल (Juvenal) एक चतुर प्रेक्षक था, उसने अपने गीतकाव्यमें मूलकाव्यपर शोक व्यक्त किया

है, परन्तु उसकी रचनामें धर्मादेशका नाम भी नहीं मिलता। कैसी आश्चर्यजनक बात है कि रोमका अधःपात होते-होते हूणोंने यूरोपको आक्रान्त कर दिया। धर्मकी हानि होते ही सामाजिक आचारमें कमी आ जाती है और फलस्वरूप राष्ट्रका अधःपतन हो जाता है। व्यक्तिके समान राष्ट्रोंके लिये भी यह बात सच है कि वे केवल रोटीपर जीवन धारण नहीं कर सकते। भारतवर्षकी क्या अवस्था है? आज धर्म-सूर्यको राहु ग्रस रहा है। कितने मनुष्य घरघर या मन्दिरमें ईश्वरकी पूजा करते हैं? कितने मनुष्य धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन करते हैं? कितने मनुष्य ऐसे हैं जो अपने घरोंमें देवालयके रूपमें एक अलग कमरा रखते हैं? हमारे मन्दिरोंकी क्या अवस्था है? यदि कोई धर्माधिष्ठाता हमारे बीच आज होते तो अधिकांश मन्दिरोंके अधिकारियोंको प्रभुके मन्दिरके लिये अयोग्य कहकर निकाल देते। उपेक्षा और संशयवादकी बुद्धि हो रही है; भारतकी सभ्यता और धर्मशास्त्रोंकी महत्ताका खण्डन किया जा रहा है; और नवयुवक मंकाळेकी इस बुद्धिहीन और अहंकारपूर्ण उत्तिका समर्थन करते हुए पाये जाते हैं कि यूरोपियन लाइब्रेरीकी एक आलमारी समस्त भारत और अरबके देशी साहित्यकी तुलनामें रक्षी जा सकती है।

धर्मकी स्थितिमें इसप्रकार न्यूनता आ जानेके दो प्रधान कारण कहे जा सकते हैं—आर्थिक क्लेशकी बुद्धि और बुद्धिवादका उदय। पश्चात्त्य सभ्यताके फैलनेसे जीवन-युद्ध तीव्र हो गया है और मनुष्य दिन-रात जीविकोपार्जनके कामोंमें लगे रहनेके कारण जीवनके महान् प्रश्नोंके चिन्तनके लिये कम समय पाते हैं। इसी प्रकार बुद्धिवादके प्रचारसे नवीन मनःसृष्टि हो गयी है तथा चिन्तनकी नयी शैलीका आविर्भाव हुआ है, मनुष्यका दृष्टिकोण बदल गया है, लोगोंके मनमें श्रद्धाशीलता नहीं रह गयी है, स्वतन्त्र चिन्तन नवयुगके लिये आवश्यक हो गया है। हम संस्कृति (Civilization) की उपेक्षा नहीं कर सकते, और हमें बौद्धिक प्रवृत्तिको भी अनुत्साहित नहीं करना चाहिये। यहाँ तो मैं यह दिखलानेकी चेष्टा करूँगा कि प्राचीन धर्म अब भी हमारे लिये आवश्यक हैं, और

मेरा विश्वास है कि आधुनिक युगकी ओष्ठ भावनाओं और अभिलाषाओंकी पूर्ति भी इससे होती है।

इस लेखमें मैं केवल हिन्दू-धर्मके सम्बन्धमें ही कुछ कहूँगा। हिन्दू-धर्मका तत्त्व क्या है? 'हिन्दू-धर्म' यह शब्द प्राचीन पुस्तकोंमें नहीं मिलता। यह धर्म किसी व्यक्तिविशेषके नामसे सम्बन्ध नहीं रखता; ग्रन्थोंमें इसे सनातन-धर्मके नामसे कहा गया है। इसके तत्त्व क्या हैं? एक अंगरेज आलोचक हिन्दू-धर्मका लक्षण करते समय इसे 'दर्शनके द्वारा न्यूनाधिक विकृत जीववाद' तथा पुनः 'अध्यात्मसे प्रभावित तन्त्रवाद' नाम देता है। परन्तु जीववाद कुछ असम्भव जातियोंका धर्म है, इसलिये इसे हिन्दुओंकी धार्मिक चेतनाके साथ एकीकरण करना मूल्यता है। क्योंकि यह चेतना स्वर्गलोकसे भी ओष्ठ वस्तुकी अभिलाषा करती है। एक दक्षिणी महात्मा कहते हैं कि 'मैं इन्द्रपदको नहीं चाहता और न देवताओंको प्राप्त होने-वाले सुखोंको ही चाहता हूँ, मैं तो परम पदकी जिज्ञासा करता हूँ।' एक दूसरा यूरोपियन आलोचक लिखता है कि हिन्दू उसे कहते हैं जो अपने मुद्दोंको जलाता है; परन्तु क्या संन्यासी लिङ्गायत आदि कुछ ऐसे हिन्दू नहीं हैं जो अपने मुद्दोंको दफनाते हैं? निम्नदेह इन धर्म-विधानोंसे हिन्दू-धर्म कहीं ओष्ठ है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि हिन्दू उसे कहते हैं जो जाति-पाँतिमें विश्वास करते हैं; परन्तु चैतन्य, नानक और बडुतेरे अन्य भक्तोंका इस बातमें विश्वास न था। कबीर मुसलमान होते हुए हिन्दू-धर्ममें एक पन्थके सञ्चालक माने गये हैं। उपनिषद् भी कहते हैं कि सनातन तत्त्व इन बाहरी बातोंसे परे है। फिर, जाति-पाँति केवल भारतमें ही नहीं है, बल्कि इन्से आप यूरोप और अमेरिकामें भी पा सकते हैं। जन्ममें वेस्ट-मिन्स्टरके एक बच्चे ने जब नीग्रो राजकुमार खानका आतिथ्य किया था तो एकूँके इस आचारपर दक्षिण अफ्रिकाके गोरीने अपनी बुद्धता प्रकट की थी कि उसने एक नीग्रोके साथ भोजन किया। जब रूजवेल्ट (Roosevelt) ने बुकर वाशिंगटनके साथ भोजन किया था तब उस भूतपूर्व प्रेसिडेण्टके आचारके विषयमें सार्वजनिक आलोचना हुई थी। क्या इसलिये यह आलोचना नहीं हुई थी कि बुकर वाशिंगटन नीग्रो थे? अमेरिकामें हबशिओंका प्रश्न अभी-तक हल नहीं हो पाया है। दुर्भाग्यवश अन्य देशोंके समान ही भारतमें आपुरवका अभाव है। परन्तु

भारतके महात्माओं और आचार्योंने इसका समर्थन नहीं किया है। आर्ययुगमें वर्णाश्रम-व्यवस्था अवश्य थी, परन्तु परवर्तीकालमें इसका जो रूप मिलता है ऐसी वह न थी। उस वर्णाश्रम-व्यवस्थामें समाज-शास्त्र-सम्बन्धी इस तत्त्वका हृद प्रमाण मिलता है कि सामाजिक गठनमें कर्मका विभाग होना चाहिये, सुम्भवस्थित समाजमें विभिन्न कृत्तियोंका होना आवश्यक है, एक तो शिक्षककी कृत्तिका होना आवश्यक है, दूसरी सैनिक और राजसञ्चालक कृत्तिय-कृत्तिका होना आवश्यक है, तीसरी कृषि, व्यापार करनेवाली वैश्यकृत्तिका होना आवश्यक है, और चौथी हाथसे काम करनेवाली शूद्रकृत्तिका होना आवश्यक है। परन्तु इनमें सभी आदरणीय हैं, क्योंकि सभी ब्रह्मसे उत्पन्न हुए हैं।

मुझे प्रतीत होता है कि हिन्दू-धर्मके तीन स्वरूप हैं—एक दर्शन है, एक धर्म है और एक मार्ग है। और मेरे विचारसे यह तीनों स्वरूप वैष्णव, शैव तथा अन्यान्य हिन्दू-सम्प्रदायोंके लिये सामान्य हैं। पहले हिन्दू-धर्मका एक मार्ग, आर्यमार्गके रूपमें विचार करो। आर्यमार्ग केवल विश्वास ही नहीं है बल्कि प्रासिकी एक शैली है। हिन्दू-धर्म सम्प्रदाय नहीं है; यह अपने अनुयायियोंको आत्मसंयम और अनुभवके मार्गपर चलनेका आदेश देता है, और इसके साथ ही इस तथ्यको स्वीकार करता है कि मनुष्यकी प्रकृति और विकासमें विभिन्नता होती है, जोष अनुभवमय होते हैं, विभिन्न जीवोंको अपनी विभिन्न पात्रता उन्नत करनी पड़ती है, वह मार्ग तीन प्रकारका होता है, ग्रन्थोंमें इसे कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गके नामसे कहा है। एक विशेष अवस्थामें कर्ममार्गका उपदेश सबके लिये दिया गया है। इसके तीन नियम हैं। पहली उपासना है, जिसका अर्थ सामान्य पूजा अथवा प्रकृतित विधिसे भिन्न है। उपासनाका अर्थ होता है आत्मके समीपमें बैठना, योगकी नीरवतामें प्रभुके नाद या शब्दका अनुभव करना। इसका दूसरा अर्थ धर्मग्रन्थोंमें 'श्रद्धा' शब्दसे व्यक्त किया गया है। दैनिक उपासनासे हम भगवान्के श्रद्धासे मुक्त होते हैं, श्रद्धियोंके ग्रन्थों और उपदेशोंका स्वाध्याय करना श्रद्धाश्रद्धासे मुक्त होना है। राष्ट्रको स्वस्थ पुत्र प्रदान करना तथा वंश-परम्पराका उत्तरोत्तर होने देना पितृभ्रज-से छूटना है। सबके प्रति हम आतिथ्य और सेवाके श्रद्धा हैं और जो लोग अपने बच्चों या कर्मोंके द्वारा उन विचारा, ज्ञान, रोगी, भूके, दीन-दुःखिया, पुत्र-स्त्री तथा

अर्थोंकी सहायता करते हैं, जिन्हें अच्छे घर तथा जीवनमें सामाजिक, आर्थिक अवस्थाकी कमी होती है, समाजके यथार्थ सेवक हैं। मुक्तिके लिये कर्मका होना आवश्यक है, यह हिन्दू-धर्मका उपदेश है। कर्मको बल अनासक्त-भावसे करना चाहिये। इसी बातको गीता बारम्बार कहती है। तथापि ऐसे आलोचक मौजूद हैं जो हमें कहा करते हैं कि हिन्दू-धर्म कर्मका विरोधी है! जनरल सर ओमूर क्रैग (General Sir O'moore-Creagh) अपने Indian Studies में कहते हैं कि 'हिन्दू-धर्मका एक सिद्धान्त समस्त सांसारिक व्यवहारोंसे अलग होना है। और इस सिद्धान्तके फलस्वरूप भारतके बहुतेरे महान् पुरुषोंने जनसाधारणसे सम्बन्ध रखनेवाले सांसारिक सम्बन्धको त्याग दिया है और भारत-भूमि धार्मिक तपस्वियोंसे भरी हुई है जो नंगे होकर अपने दुःखमय और कृशित शरीरको इसप्रकार कष्ट देते हुए घूसा करते हैं कि उसका वर्णन करना अत्यन्त कठिन है, तथा वे हिन्दू धामीणोंके ऊपर, जिनकी दानशीलता असीम है, एक बड़े दैवस्ये भी बदकर होते हैं।' इसप्रकार लिखकर लेखकने हिन्दू-धर्मके कर्म-योग-सम्बन्धी उपदेशोंमें अपनी अज्ञानताका परिचय दिया है।

तब ज्ञानमार्ग आता है; और हम धर्म-ग्रन्थोंमें देखते हैं कि कर्मका ठीक अनुष्ठान होनेसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। कर्मके द्वारा ज्ञान प्राप्त करना ही भारतीय ऋषियोंका विचार है। जबतक शुद्ध कर्मोंके अनुष्ठानसे तुम अपने हृदयको पवित्र न बना लोगे, तबतक आत्मज्ञानकी प्राप्ति न होगी। उपनिषद् कहते हैं कि 'जो विद्या और अविद्या दोनोंको जानता है वह विनाशको नहीं प्राप्त होता।' अविद्या कर्मको कहते हैं। आचार-निर्माणके लिये ज्ञान और कर्म दोनोंकी आवश्यकता है और इस ज्ञानमें ही विचारकी एकाग्रता प्राप्त होती है। यह ज्ञान-मार्ग ध्यानका, विचार-शक्तिका मार्ग है। विचारकी एकाग्रतासे मस्तिष्कके नवीम रन्ध्रों (Cells) की रचना होती है, यह अन्तर्ज्ञानको खोलती है और आत्माको सत्यके संयोगमें लाती है; और मैं बहुधा इसे अनुभव करता हूँ कि आधुनिक युगको क्षुब्धता, भ्रम और उत्तेजनाओंसे बचनेके लिये ज्ञानमय तपकी, ज्ञान-शक्तिकी आवश्यकता है।

ईश्वरको जाननेके लिये शान्त मनो

तब भक्तिमार्गका नम्र आता है, जो प्रेम या अज्ञातका

पथ है। प्रज्ञादाने भगवान् विष्णुकी प्रार्थना करते समय सच्चे भक्तोंका यथार्थ स्वरूप बतलाया है—'हे प्रभो! चाहे जिस योगिमें मैं जन्म लूँ, तुम्हारे चरणोंमें मेरी अटूट भक्ति हो।' राष्ट्रीय प्रगतिकी आगे बढ़ानेके लिये आज ऐसे ही भक्तोंकी आवश्यकता है।

किसप्रकार यह कर्म, ज्ञान, भक्ति—त्रिपथ एकत्रित हो धर्ममें मिलते हैं, यह प्राचीन भारतका एक सामाजिक समन्वय है जिसके वर्णन करनेके लिये यहाँ समय नहीं है। हिन्दू-धर्म धर्मके रूपमें एक ऐसा विषय है जिसकी विशिष्ट व्याख्या होनी चाहिये। अब मैं हिन्दू-धर्मके दार्शनिक रूपके विषयमें दो-चार शब्द कहूँगा। क्योंकि जो धर्म अन्तर्ज्ञान-आकाशके भीतर गहरा प्रविष्ट नहीं हुआ होता वह तो केवल एक सप्रदायमात्र है। धर्म प्राचीन आयुर्वेदकी सर्वप्रथम प्रवृत्ति थी। धर्मशास्त्रोंमें लिखा है कि वर्ण-विहीन पुरुष आवागमनके चक्रमें पड़ा रहता है। दर्शनका अर्थ है उस परमसत्त्वके साथ संयोग, जिसे शास्त्रोंमें आत्मा, जीवात्मा, विश्वात्मा कहा गया है, महर्षि याज्ञवल्क्य बहुत ही सुन्दर शब्दोंमें सांसारिक वस्तुओंकी तुलना बाँसुरीकी ध्वनिके साथ करते हैं। उन्होंने ठीक ही बतलाया है कि यदि बाँसुरी बजानेवालेकी बाँसुरी न ले ली जाय तो उसकी ध्वनि एकद्वी नहीं जा सकती। इसी प्रकार यह निर्धारित है कि जब आत्मा देख लिया जाता है तो सब कुछ ज्ञात हो जाता है; आत्मा ही ज्ञानका आधार और अनुभवका स्रोत है। अनेकत्वमें यह एकत्वकी दृष्टि हिन्दू ऋषियोंकी पुण्यतम बाणीद्वारा व्यक्त होती है। और एकत्वकी भावनासे ओतप्रोत हो वे 'एकमेवाद्वितीयम्' इस मन्त्रका उद्घोष करते हैं। इस रहस्यका कारण हिन्दुओंका 'लीलासिद्धान्त' है, जिस सिद्धान्तके अनुसार जगत् शाश्वत तत्वकी प्रेममयी क्रीड़ा है। जैसा कबीरने अपनी एक सुन्दर प्रार्थनामें कहा है—'भगवान्ने अखिल जगत्में अपने प्रेमस्वरूपका विस्तार किया है।' इस लीलाके सिद्धान्तके साथ-साथ मायाका सिद्धान्त भी लगा हुआ है, जिस सिद्धान्तके विषयमें बहुधा आलोचक धर्ममें पड़ जाते हैं। क्योंकि मायाका अर्थ भ्रमात्मक नहीं बल्कि दृष्टिक और अनित्य है। यहाँतक कि आजकल भी हिन्दू सेवकोंके मुँहसे यह बात सुनी जाती है कि बाबूजीका क्रोध माया है, अर्थात् वह शीघ्र ही चला जायगा। इसी प्रकार जगत्की वस्तुएँ माया हैं, तुम्हारे दुःख माया हैं, क्योंकि

वे भी चले जायेंगे और अपने स्थानमें स्थिर शान्तिकी झोबते जायेंगे; हमारा व्यक्तित्व भी माया है, क्योंकि यह भी चला जायगा और हमको शनैः-शनैः जन्म-जन्मान्तर उच्च व्यक्तित्वका निर्माण करना पड़ेगा।

जिन्होंने अनेकमें एकको देखा है वे जानते हैं कि जगत्को जितना हम समझते हैं उससे वह कहीं बिलक्षण है। वे जानते हैं कि एक ही क्रियारमक जीवन सबमें प्रवाहित हो रहा है। वे जानते हैं कि जगत्में यथार्थतः कुछ भी विभिन्नता नहीं है, कोई ऐसा भेद नहीं है जो दूर न हो सके। क्योंकि इसका मूल तत्त्व एक आत्मा है। सर जगदीशचन्द्र बोसने हमें पौधों और खनिजोंके निर्वचनके द्वारा शिक्षा दी है। मि० फ्रांसिस हार्विनने हमें विश्वास दिलाया है कि पौधोंको भी मस्तिष्क होता है, तथा क्लताओंमें चेतना होती है, जो अपने तन्तुओंसे सहारा खोजती हैं, जैसे मनुष्य अपनी अंगुलियोंसे तबतक खोजता रहता है जबतक उसे उपयुक्त आश्रय नहीं प्राप्त हो जाता। कैप्टेन मसग्रैव (Captain Musgrave) ने तो यहाँतक कहा है कि उन्होंने कोलम्बियामें एक ऐसा पौधा देखा था जिसे मस्तिष्क होता है तथा स्नायुजात्व और पाकाशय भी होते हैं। इसी जीवनकी एकताको प्रत्यक्ष करके आर्योंने सब जीवोंके प्रति श्रद्धाका भाव रक्खा; अहिंसा भारतका धर्म बन गया, जो आजतक किसी भी दूसरे राष्ट्रका धर्म नहीं बन सका है। यदि वस्तुतः एक ही जीवन प्रत्येक रूपोंमें काम करता है तो किमप्रकार तुम किसी भी जीवका नाश करनेका साहस करोगे अथवा जगत्में किसीको भी हानि पहुँचाओगे? तुम कहते हो संसार दोषमय है। परन्तु हिन्दू-धर्म ढंकेकी चोट कहता है कि तुम गुणके बिना दोषका वमन नहीं कर सकते। अहिंसा और प्रतिरोधहीनता साथ-साथ चलती हैं। हिन्दू-धर्मका यह आदेश कैसा महत्त्वपूर्ण है—‘सबके साथ आनृमात्र रक्खो’ जिसप्रकार संस्कृति समर नहीं है, उसी प्रकार जीवन भी युद्ध नहीं है।^१ समस्त राष्ट्रों और जातियोंका अन्तरतम आत्मा वही एक शाश्वत तत्त्व है। और प्रत्येकके पास एक अज्ञात तार है जिसको छूते ही उस गुप्त आत्मामें सामञ्जस्यकी ज्वनि निकल पड़ती है। सबके साथ

बन्धुत्व रक्खो, क्योंकि तुम्हारा अन्तरात्मा एक अदृश्य सूत्रसे असंख्य सूर्य और तारामण्डल अर्थात् आकाश और पृथ्वीकी समस्त वस्तुओंसे तुम्हें बाँधता है। केवल मौनावलम्बन करो, अपने आरमजीवनकी असीमतामें स्थित हो जाओ, फिर तुम्हें सब पदार्थोंमें उस अनन्तकी ज्योति छिटकी हुई दीख पड़ेगी। क्या तुमने अपने मनमें कभी सोचा है कि संसारकी किसी भी वस्तुको, यहाँतक कि एक बालूके कणको भी तुम अच्छी तरहसे क्यों नहीं समझ पाते? वह बालूका कण अनन्तसे अलग नहीं किया जा सकता; असीममें ससीमकी अभिव्यक्ति सृष्टि-कलाविद्वकी एक कल्पना है। उनको पूर्णतया कौन समझ सकता है? इस चेतनामें संयुक्त होकर विज्ञान अर्चनाका रूप धारण करता है, प्रकृति मन्दिर बन जाती है, इतिहास धर्म-ग्रन्थ बन जाते हैं, ज्ञान उस आश्रयका साधन बन जाता है और जीवनका एकमात्र धर्म परमात्माके प्रति निरय आरम-समर्पण हो जाता है।

मेरे विचारसे ‘निरय आरमसमर्पण’ हिन्दू-धर्मका आदेश और शाश्वत प्रयोजन है; यह वह कर्म है जिसके लिये आर्यावर्तके ऋषि-मुनि हमें आज भी सूचित करते हैं। कितने पुरुष चिकनी-चुपड़ी और दुर्बल बातोंसे नहीं, बल्कि जीवनके पराक्रमपूर्ण और शुभ कर्मोंसे इस सूचनाका उत्तर देंगे? शोक, आज भारतके घरोंमें इसी बातकी चिल्लाहट आती है और अनेकों मनुष्य चुपचाप दुःख सहते और मरते हैं। हिन्दू कहलानेवाले कितने मनुष्य उस परमात्माकी सेवाके लिये दीन-दुखी, अकिञ्चन, अनजान बननेके लिये तैयार हैं? चाहे जितने मनुष्य ऐसे हों—उनके नाम और धर्म चाहे जो हों, वे हिन्दू-धर्मके सब अनुयायी हैं। और उनके प्रति ऋषिगण अपना प्रेम प्रदान करते हुए उन्हें भारतकी सेवाके लिये आहूत करते हैं। भारतको इसप्रकारसे समझनेवाले लोग ही भारतकी सेवा करेंगे। और भारतीय पर्वतों, समुद्रों और जलस्रोतोंको उद्गीत आदर्शवादसे पुनः जीवित करेंगे। और उनके नाम आरणीय न होनेपर भी वे नवीन भारतराष्ट्रके निर्माणमें जीवन बितायेंगे, क्योंकि जो लोग उस परमात्माको निरय आरमसमर्पण करते हुए मरते हैं वे अमर हैं।



ईश्वर-प्रसंग

(लेखक—पं० श्रीविपुलेश्वर भट्टाचार्य पृष्ठ ५०, प्रिमियल विश्वभारती, शान्तिनिकेतन)



री समझसे धर्म और ईश्वर—इन दो विषयोंपर आजतक इतनी बातें कही जा चुकी हैं कि यदि हजार वर्षतक इस सम्बन्धमें कुछ भी न कहा जाय तो भी कोई हानि नहीं जान पड़ती। पूर्वमें जो कुछ कहा जा चुका है, उसके एक सामान्य अंशपर आलोचना करनेसे ही सब कुछ हो सकता है। किन्तु मनुष्यमें पुनर्लक्ष्य करनेकी एक इच्छा देखी ही जाती है।

मनुष्य नाना प्रकारकी बातें कहता है, वह सभी समय सभी बातोंको भलीभाँति समझ-सोचकर और उनका अनुभव करके ही कहता हो, ऐसा नहीं है। कभी-कभी तो मनुष्य ऐसी बातें कहने लगता है जिनके सम्बन्धमें वह कुछ भी नहीं जानता-समझता। वरं किसी-किसी समय तो वह अधिकतर ऐसी ही बातें कहा करता है। इस तरह करनेका परिणाम अच्छा होगा या बुरा, इसका वह कुछ भी विचार नहीं करता, किसी प्रकार कुछ-न-कुछ कहना ही उसका काम होता है; कह दिया, बस सुट्टी हुई। जहाँ सम्झकार हो और बहुत ही बुँधला प्रकाश हो, वहाँकी चीज साफ-साफ देखी या जानी नहीं जा सकती। वहाँकी एक ही चीजको भिन्न-भिन्न मनुष्य भिन्न-भिन्न रूपमें देखते हैं। कोई उसे ठूँठा पेड़ कहता है, कोई मनुष्य और कोई भूत कहता है तथा कोई और ही कुछ बतलाता है। ऐसा भी मनुष्य होता है जो भूत या मनुष्यका निर्णय नहीं कर सकता। इसी प्रकारके और भी अनेक लोग हो सकते हैं। यदि ऐसे सब लोग एक जगह इकट्ठे हो जायँ और उस वस्तुको लेकर तर्क करने लगें तो उनके तर्कके प्रहारोंसे वह स्थान गूँज उठेगा, युक्तियों और तर्कोंके प्रवाहमें दिशाएँ बह जायँगी, परन्तु यथार्थ तत्त्वका पता तनिक भी नहीं लगेगा। यह बात सही है कि इन तर्किकोंमेंसे कोई उस तत्त्वको जान ही नहीं सका हो या जानकर भी अच्छी तरह कह नहीं सकता हो, बात तो यह है कि वैसा होनेपर भी तर्कके व्यूहको भेदकर उस तत्त्वका ग्रहण कर सकता अत्यन्त कठिन है। धर्म और ईश्वरके सम्बन्धमें यही हुआ

है। अस्तु। हमारे सामने अभी ईश्वरका प्रसंग उपस्थित है, इसलिये अब उसीकी आलोचना करनी है।

दोनों दल बटे खड़े हैं, आज ही नहीं, अति प्राचीन कालसे; यहाँ ही नहीं, विदेशोंमें भी ऐसा ही है। क्योंकि यही जड़की बात है। एक दल कहता है 'ईश्वर है' दूसरा कहता है 'नहीं है।' दोनोंमें तुल्य द्वन्द्व खड़ा है, कोई-सा दल हटनेवाला नहीं, कोई-सा भी पक्ष कमजोर नहीं। इस विषयपर जो कुछ कहना-सुनना था, प्राचीन लोग कह-कहकर चले गये। पर भगवैका अन्त नहीं आया। प्राचीन लोग जहाँ खोब गये थे, नवीनोंने वहीसे फिर अव्यय उत्साहके साथ यात्रा आरम्भ कर दी; परन्पर युक्ति-तर्कोंकी कटा-कटी चल रही है, पता नहीं, इसका कब अन्त होगा। मेढ़ोंकी लड़ाईकी भाँति जो प्रबल होता है, वह दुर्बलको हटा देता है, परन्तु दुर्बलके हट जानेपर भी यह नहीं कहा जा सकता कि युद्धकी शुरुआतमें उसीका दोष था।

ये सब बाहरकी बातें हैं, बाहरी बातोंसे ईश्वरके होने-न-होनेका निर्णय असम्भव है। जो कहते हैं कि ईश्वर है, वही यह भी कहते हैं तर्कके द्वारा उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यह अपने अनुभवका विषय है। वृक्ष, शहद, गुड़ आदि मीठे हैं या नहीं, यह बातोंमें समझाना कठिन है, अथवा समझाया नहीं जा सकता। या किसमें कितना मिठास है, इस बातको हजार वर्षका समय मिलावेपर भी, स्वयं सरस्वती भी नहीं समझा सकती। इनको निजमें जरा-सा चखकर देखना होगा और चखनेके साथ ही पता लग जायगा। क्योंकि यह अनुभवका विषय है। गुड़ मीठा है या कड़ुआ, यह जाननेके लिये जैसे उसे चखकर देखना ही एकमात्र उपाय है, वैसे ही ईश्वर है या नहीं, इस बातको जाननेका भी एकमात्र उपाय अनुभव करके देखना ही है। अनुभव करनेका क्या उपाय है? जो कहते हैं कि ईश्वर है वे ही इस प्रश्नका उत्तर देंगे और उन्होंने दिया भी है। यदि कोई श्रद्धेय पुरुष कहते हैं कि मैं स्वयं जाकर अमुक गाँवको देख आया हूँ, तो वह उस गाँवका मार्ग भी जानते हैं, एवं दूसरेको बतला भी सकते हैं। उनके बतलाये हुए पथको छोड़कर दूसरी राहसे

जानेपर यदि वह गाँव न मिले तो इसीसे यह निश्चय कर लेना अनुचित है कि वह गाँव ही नहीं है। उनके बतलाये हुए मार्गसे चलकर देखिये, गाँव मिल गया तब तो ठीक ही है, झगड़ा ही निपट गया। और यदि न मिला तो कहना ही होगा कि गाँव नहीं है।

एक बात और भी समझनेकी है। एक आधुनी प्यास-से छटपटाता है, उसको थोड़ा जल दिया गया, उसने यथाविधि पी लिया, उसकी प्यास बुझ गयी। एक मनुष्य रोगकी पीड़ासे व्याकुल है, वैद्यने उसको औषध दी, रोगीने उसका यथाविधि सेवन किया। उसका रोग शान्त हो गया। यहाँ, यदि वास्तवमें जल और औषध न होती तो प्यासेकी प्यास और रोगीका रोग शान्त नहीं होता। जल और औषध थी, इसी कारण प्यास और रोगकी निवृत्ति हुई। इसी प्रकार यदि मनुष्य यथाविधि ईश्वरकी उपासना

करता है और उसमें ईश्वरोपासनाके गुण (जैसे—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।

निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥

—आदि गीता अ० १२ श्लोक १३ से २०) प्रकट हो जाते हैं तो कहना चाहिये कि ईश्वर है, इसीसे उसकी उपासनासे उपासकमें इन गुणोंका विकास हुआ है। ऐसे भक्त दुर्लभ होनेपर भी अलभ्य नहीं हैं।

ईश्वरकी उपासना न करनेसे क्या ये गुण नहीं हो सकते? यह स्वतन्त्र प्रश्न है। यहाँ तो जो ईश्वरकी उपासना करता है, उसीके विषयमें कहा गया है। किन्तु इस प्रश्नके उत्तरमें अनेकोंने कहा है कि हो सकते हैं। एक रोगकी अनेक दवाइयाँ हो सकती हैं और सनके लिये एक ही दवा उपयोगी भी नहीं है।

प्रभुके प्रति

(श्रीमैत्रिलोचनारणजी गुप्त)

प्यारे, एक प्रश्न उठ आया—

तूने मुझे बनाया है या मैंने तुझे बनाया ?

यदि मैं ही कर्ता हूँ तेरा

तो कर्तृत्व मृषा क्या भरा ?

मिथ्या हुआ स्वयं तब तो मैं

दास्ता अब तो और अँधेरा !

अच्छा तर्क उठाया !

प्यारे, एक प्रश्न उठ आया ।

यदि है तू ही कर्ता-वर्त्ता

और अन्तमें सबका हर्ता,

तो फिर क्यों प्रामाणिक मतिले

बता मुझे मेरे भव-भर्ता,

मैंने तुझे न पाया ।

प्यारे, एक प्रश्न उठ आया ।

यदि असिद्ध तू मेरी मतिले,

तो फिर मैं पाऊँ किस गतिले ?

अज्ञासे नत-मस्तक हाँकर

यस करूँ क्या मनकी रतिले ?

हाँ, अब तू मुसकाया !

प्यारे, एक प्रश्न उठ आया ।

ईश्वर-प्रेम



बिकेशके पासका चिह्न है कि गंगा के इस पार बहुत साधु रहते थे और उस पार एक मस्त रहता था। उसके रंगोरेशमें (अथलहक) शिवोऽहं बसा हुआ था। रात-दिन यह आवाज आया करती थी—‘शिवोऽहं, शिवोऽहं, शिवोऽहं, शिवोऽहम्।’ एक दिन वहाँ एक शेर आया। साधु

इस पारसे देख रहे थे कि शेर आया और उसने महारमा-की ओर लूट किया। वह महारमा शेरको देखकर उच्च स्वरसे कह रहा था ‘शिवोऽहं, शिवोऽहम्।’ उसकी चारधामें यह जमा हुआ था कि यह शेर मैं ही हूँ, सिंह मैं ही हूँ। न्वयं केसरीके शरीरमें स्वर भर रहा हूँ। ‘शिवोऽहं, शिवोऽहम्।’ वनराजने आकर इनके कन्वेको पकड़ लिया तो वह (महारमा) मानवके साथ सिंहके रूपमें नर-मांसका स्वाद ले रहे थे और आवाज निकल रही थी ‘शिवोऽहं, शिवोऽहम्।’ दीवालीमें लाँबके खिलौने बगते हैं। लाँबके हिरन और लाँबके शेर। अगर लाँबका हिरन अपने-आपको नामरूपरहित विरोधणके साथ समझे कि मैं हिरन हूँ तो क्या यह कहेगा कि लाँबका शेर मुझको खा रहा है। यदि वह अपने-आपको लाँब मान ले तो लाँबका मृग कह सकता है कि लाँबके रूपमें मैं ही हूँ चर हिरन और उधर शेर हूँ। इसी तरह जब तुम जानो कि तुम्हारी असकियत क्या है, वह इस लाँबके अनुरूप ईश्वरका स्वरूप है। अतः इस लाँबके शेरकी पशामें तुम ईश्वरकी हैसियतसे यह कह सकते हो कि मैं हूँ चर हिरन और उधर शेर हूँ।

पगड़ी, पाजामा, दुपट्टा, अँगरूना, गौरसे पेला तो सब कुछ सूत है।

दामनी तोड़ी तो मालको गढ़ा
पर निगहे-हड़में वह भी थी तिला।

प्यारे ! यह महारमा वह दृष्टि रखते थे। जिस समय सिंह खा रहा था उस समय वह क्या-क्या स्वाद ले रहे थे। आज नर-रक्त हमारे मुँह लगा। टोंग खापी तो भी ‘शिवोऽहं, शिवोऽहम्।’ वहाँ पक्षी ही पतका था, मगर लरकाया गया।

सिकन्दर जब भारतवर्षमें आया और उसने देखा कि जितने देश मैंने जीते, सबमे अधिक सच्चाईवाले बुद्धिमान और रूपवान् भारतवर्षमें ही देखे। उसने कहा इस भारतवर्षके सिर अर्थात् तत्व-वेत्ताओं और ज्ञानियोंको देखना चाहता हूँ। सिकन्दरको सिन्धुके किनारे ले गये। वहाँ एक जलधृत बैठे थे। सिकन्दर सारे संसारका सम्राट्, वहाँ बंगोटी भी नहीं। सामना किस गजबका है ! सिकन्दरमें भी एक प्रताप था। मगर अस्तकी निगाह तो यह थी—

शाहोंको रोब और हसीनोंको बुझो-नाज़।
देता हूँ, जबकि देखूँ ठाठकर नज़रको मैं॥

सिकन्दरपर उस अस्तका रोब झा गया। उसने कहा—‘महाराज ! कृपा कीजिये। यहाँके लोग हीरेकी गुब्बामें कपेटकर रखते हैं। पश्चिममें जरा-जरा-सी चीखों-की बड़ी कदुर की जाती है। मेरे साथ चलो, मैं तुम्हें राजपाट बूँगा, धन बूँगा, सम्पत्ति बूँगा, हीरे-जवाहिरात बूँगा, जो कुछ चाहो सब बूँगा, लेकिन मेरे साथ चलो।’ महारमा हँसे और बोले ‘मैं हर जगह हूँ, मेरी दृष्टिमें कोई जगह नहीं है।’ सिकन्दर नहीं समझा। उसने कहा—‘अवरय चलिऐ।’ और बड़ी लाकच फिर दिखलाया। अस्तने कहा—‘मुझे किसी चीजकी परवा नहीं, मैं अपना केंका हुआ धुक चाटनेवाला नहीं।’ सिकन्दरको क्रोध आ गया और उसने तलवार खींच ली। इसपर साधु खिलखिलाकर हँसा और बोला—‘पेसा मूठ तो तू कभी नहीं बोला था।’ मुझको काटे कहाँ है वह तलवार ?’

बच्चे रेतमें बैठकर रेत अपने पैरोंपर ढाकते हैं। आप ही घर बनाते हैं और आप ही ढाते हैं। रेतका क्या बिगाड़ा ? जो पहले यी वह अब भी है। प्यारे ! इसी तरह उस साधुकी पशा थी। यह शरीर उसको बालूके घरकी तरह है, जो लोगोंकी कल्पनामें उनकी समझका घर बना था। मैं तो बालू हूँ। घर कभी था ही नहीं। अगर तुम या जो कोई इस घरको बिगाड़ता है, वह अपना घर खराब करता है।

तारे क्या रोशनीसे न्यारे हैं।
तुम हमारे हो हम तुम्हारे हैं॥

उत्तर सुनकर सिकन्दरके हाथसे लखवार छूट पड़ी।

एक भंगिन थी, जो किसी राजाके घरमें आबू दिया करती थी। कभी-कभी उसको सोना या मोती इनाममें मिल जाता था। कभी गिरे-पड़े उड़ा छाती थी। उसका एक लड़का था, जो बचपनसे परदेश गया हुआ था। जब वह पन्द्रह वर्षका हुआ तो घर आया। देखा कि उसकी माँने मोंपड़ीमें छाछोंका ढेर लगा रक्खा है। उसने पूछा—‘ये चीजें कहाँसे आयीं?’ सेहतराजीने कहा—‘बेटा! मैं एक राजाके यहाँ नौकर हूँ, वे उनके गिरे-पड़े मोती हैं, जिनका यह ढेर है। लड़का अपने मनमें कहने लगा, जिसके गिरे-पड़े मोती ऐसे उत्तम हैं, वह आप कैसी रूपवती होगी? यह ख्याल आया था कि उसके मनमें प्रेम छा गया और अपनी माँसे कहने लगा

कि मुझे उसके दर्शन कराओ। ये तारे-सितारे, यह चन्द्र-सूर्य, ये ऊलकती हुई नदियाँ, यह सांसारिक रूप-सौन्दर्य उस सबाईके गिरे-पड़े मोती हैं। अरे, जिसके गिरे-पड़े मोतियोंका यह हाक है तो उसका अपना क्या हाक होगा!

लगाकर पेड़ फूलोंके किये तक्ष्मीम गुलशनमें।

जमाया चाँद-सूरजको सजाये क्या सितारे हैं ॥

जिस समय कन्याओंका विवाह होता है, उनके डोलोपरसे रुपये, पैसे, अशर्किबाँ न्योछावर करते हैं और ऐं महात्माओ! तुम उन चीजोंको चुनो। रामकी आँखों तां उस बुद्धिद्विजके साथ लड़ी। जिसका जी चाहे इन मांतिषोंको भरो। रामके पास तो जामा भी नहीं है, फिर दामन कहाँसे लावे!!! ॐ! ॐ!! ॐ!!!

—स्वामी रामतीर्थ

बापजी

कबीर यह तन जात है, सकै तो राखु बहोरि।
झाही हाथों वे गये जिनके लाख करोरि॥
आस पास जोषा खड़े सभी बजावैं गाढ़।
मंस महलसे लै चला पेसा काल करार॥
तू मत जानै नाबर मेरा है सब कोय।
पिण्ड प्राणसे बाँधि रहो, सो अपना नहि होय॥
साहिबसे सब हात है बन्दे तें कछु नाहि।
राई तें पर्वत करै पर्वत राई मोहि॥
साहिब-सा समरथ नहीं गहआ गहिर गँगीर।
औगुन छौंहे गुन गहै छिनक उतारि तीर॥
मैं अपराधी जनमका नख-सिख मरा बिकार।
तुम दाता दुख-भञ्जना मेरी करौ समहार॥
अबगुन मेरे बापजी, बकसु गरीब-निवाज।
जो मैं पूत कपूत हौं तऊ पिताको लाज॥
औगुन किये तो बहु किये, करत न मानी हार।
माँवे बन्दा बकसिबे, माँवे गरदन मार॥
साहिब तुमहि दयाल हौ तुम लमि मेरी दौर।
जैसे काम जहाजको सूँहो और न ठौर॥
तुम तो समरथ साइगी दड़ करि पकरो मोहि।
धुरही लो पहुँचाइयो जनि छौंदो मग मोहि॥

—कबीरदासजी

ईश्वर-भक्ति

चतुराई चूल्हे परै, जम गहि ज्ञानहि स्थाय।
तुलसी प्रेम न राम-पद, सब जर मूक नसाय॥
नाथ एक बर माँगहुँ मोहि कृपा करि देहु।
जन्म-जन्म प्रभु-पद-कमल कबहुँ घटे जनि नेहु॥
बार-बार बर माँगहुँ हरषि देहु श्रीरंग।
पद-सरोज अनपाबिनी भक्ति सदा ससंग॥
कामिहि नारि पियारि जिमि लोभहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम॥
मक कल्प-तक प्रनतहित कृपासिन्धु सुख-धाम।
सोइ निज मक्ति मोहि प्रभु देहु दया करि राम॥
दीनानाथ दयाल प्रभु तुम कर्म मेरी दौर।
जैसे काग जहाजको सूखत और न ठौर॥
तुलसी बिलस न कीजिये अजि लीजै रघुबीर।
तन तरकससे जात है साँस-सरीखे तीर॥
जो चेतन कहै जड़ करै, जड़हि करै चैतन्य।
अस समर्थ रघुनाथकहि, मजहि जीव सो धन्य॥
हरि-माया-कृत दोषगुन, विनु हरि-भजन न जाहि।
अजिय राम सब काम तजि, अस बिचारि मनमाहि॥
तुलसी सब छल छौंदि के कीजे नाम खनेह।
अन्तर पखिसों है कहा, मिन देखी सब देह॥

—यो० तुलसीदासजी

भागवत-सिद्धान्त

(लेखक—श्रीकृष्णप्रेमजी मिश्रा)



भगवान्का स्वरूप जाननेके लिये हमारे पास दो ही प्रमाण हैं—एक शास्त्र और दूसरा उन भक्तोंका अनुभव, जिन्होंने उनका प्रत्यक्ष दर्शन किया है। बहुत-से मनुष्य इनमेंसे किसी भी प्रमाणको नहीं मानते, परन्तु यह उनके दुर्भाग्यकी बात है; इससे भगवान्की सत्तामें कोई अन्तर नहीं पड़ता। उन लोगोंसे कोई यह पूछे कि आपके पास सम्राट् पञ्चम जाजके अस्तित्वके लिये क्या प्रमाण है, तो वे यही उत्तर देंगे कि पुस्तकोंके अवलोकनमें तथा उन लोगोंके कथनमें, जिन्होंने उनका दर्शन किया है, हमने यह निश्चय किया है। परन्तु एक शंकातु पुरुष यह कह सकता है कि वे पुस्तकें सारी-की-सारी भ्रमरेष्टोंकी लिखी हुई हैं जो पक्षपातरहित नहीं कहे जा सकते और जो लोग यह कहते हैं कि हमने सम्राट्को आँखोंसे देखा है वे या तो झूठे हैं या मूर्ख हैं, उन्होंने किसी अभिनेताको, जो वास्तवमें सम्राट् नहीं है परन्तु जिसे वहाँके लोगोंने सम्राट्का पोशाक पहना दी होगी, धोखेमें सम्राट् मान लिया होगा। इसपर वे कदाचित् यह कहेंगे कि 'भाई! यदि तुम्हें किसी तरह भी विश्वास नहीं होता तो तुम विधायक जाकर स्वयं सम्राट्का दर्शन कर सकते हो। माना कि, हम हज़ारों जाकर सम्राट्का दर्शन कर सकते हैं किन्तु हमें सहजहीमें उनका दर्शन नहीं मिल सकता, इसके लिये हमें बहुत-से कष्ट उठाने पड़ेंगे। हमें अपना रोज़गार-धन्दा छोड़कर हजारों मीलकी समुद्र-यात्रा एवं स्थल-यात्रा करनी पड़ेगी, तब कहीं हम उनकी झाँकीमात्र पा सकते हैं। यदि हम उनसे मिलकर उनके साथ साक्षात् रूपसे बातें करना चाहें तो हमें और भी अधिक कष्ट उठाने पड़ेंगे, फिर भी यह निश्चय नहीं कि हम अपने उद्देश्यमें कृतकार्य हो ही जायँ। यही बात किसी भ्रममें भगवान्के लिये कही जा सकती है। यदि कोई मनुष्य उनका प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहे तो उसके लिये यह असम्भव नहीं है; वह अवश्य उनका भलीभाँति दर्शन कर सकता है। परन्तु उसे अपने जीवन-का साधारण डर छोड़कर बेशर्त एवं विनयके साथ उस

मार्गपर अवश्य चलना होगा, जिसे शास्त्रोंने एवं भक्तोंने बतलाया है। इसके अतिरिक्त जिसप्रकार सम्राट्में मिलनेके लिये मनुष्यको अपने अन्दर कई ऐसे गुणोंका विकास करना आवश्यक होता है, जिनसे वह उनके दर्शनका पात्र बन सके, उसी प्रकार भगवान्से मिलनेके लिये भी साधकोंमें प्रेम, सरयभाषण, विनय, इन्द्रियनिग्रह, इच्छाओंका दमन इत्यादि अनेक ऐसे गुणोंका विकास करना होगा जो उसके अन्दर पहलेसे नहीं हैं। यदि मनुष्य इतना परिश्रम करे तो उसे इसका फल अवश्य मिलेगा, किन्तु हममेंसे कितने मनुष्य यह सब कष्ट उठानेके लिये प्रस्तुत हैं? इसकी अपेक्षा आरामसे घरमें बैठकर भगवान्की सत्ताका खचन करना कहीं सहज है।

मैं इस निबन्धमें भगवान्के अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये कोई तार्किक प्रमाण नहीं दूँगा, क्योंकि इसके लिये असंख्य प्रमाण तो अनुभव ही हैं और दूसरे, इस विषयका निर्णय युक्तियोंसे हो भी नहीं सकता, चाहे वे कितनी ही तर्कपूर्ण एवं सखी क्यों न हों? फिर भी भिन्न-भिन्न दर्शन-शास्त्रोंमें इसके विषयमें अनेक युक्तियाँ दी गयी हैं, जो अपने-अपने क्षेत्रमें मान्य हैं और जिन लोगोंको उन्हें जाननेकी इच्छा हो वे उन शास्त्रोंका अध्ययन कर सकते हैं।

इसके अतिरिक्त भगवान्के अस्तित्वका युक्तियोंसे निर्णय करना हमारा उद्देश्य भी नहीं है; हमें तो यह देखना है कि शास्त्रोंमें उनका स्वरूप कैसा बतलाया गया है। कुछ लोग यह देखकर घबड़ा जाते हैं कि शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न स्थलोंमें उनका भिन्न-भिन्न रूपसे वर्णन किया गया है। बात भी ठीक ही है। भगवान्के वास्तवमें अनेक रूप एवं सम्बन्ध हैं और उनका शास्त्रोंके भिन्न-भिन्न स्थलोंमें विभिन्न वर्णन पाया जाता है। सम्राट् पञ्चम जाजके दृष्टान्तसे ही यह बात भी स्पष्ट हो सकती है। पञ्चम जाज इंग्लैण्डके अधीश्वर, भारतवर्षके सम्राट्, एवं सम्राज्ञी मेरीके पति हैं। उनके वे तीनों ही सम्बन्ध एक दूसरेसे भिन्न हैं। इन तीनों स्वरूपोंके लिये उन्हें भिन्न-भिन्न वेश धारण करना पड़ता है और उनके अधिकारोंका भी भिन्न-भिन्न रीतिसे वर्णन करना आवश्यक होता है। कुछ

—अर्थात् यदुक्तजितिलक भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त भूतोंके हृदयमें रहनेवाले, ज्ञानमय, सच्चिदानन्दस्वरूप, प्रकृतिसे पर परमात्मा हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि श्रीशंकराचार्यने मुख्यतया 'निर्गुण ब्रह्मवाद' का उपदेश दिया है, किन्तु वे इस बातको भलीभाँति जानते थे कि श्रीकृष्णका विग्रह अप्राकृतिक, अतएव सत्य है। यहाँ किसीको यह शंका हो सकती है कि श्रीशंकराचार्यने निराकार ब्रह्मके लिये ही 'श्रीकृष्ण' शब्दका प्रयोग किया है। पर यह शंका निर्मूल है, क्योंकि उन्होंने 'यदुक्तजितिलक' शब्दका प्रयोग किया है और इस शब्दसे द्विभुज श्याममुन्दर-स्वरूपका ही बोध होता है, जिसका आविर्भाव हृदययुगके अन्तमें श्रीवृन्दावन एवं श्रीद्वारकाधाममें हुआ था।

इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक ही परम-तत्त्व तीन स्वरूपोंमें अभिव्यक्त होता है, परन्तु यहाँपर यह प्रश्न हो सकता है कि इन तीन स्वरूपोंमें परस्पर क्या सम्बन्ध है? कुछ लोग यह कहते हैं कि निर्विशेष ब्रह्म ही उसका वास्तविक स्वरूप है और श्रीकृष्णादिके विग्रह काल्पनिक हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार निर्गुण ब्रह्म ही वास्तविक सत्ता है, दूसरे स्वरूप सभी एक प्रकारसे मायिक हैं। उदाहरणके लिये 'वेदान्तसार' नामक ग्रन्थके रचयिताने लिखा है कि मायाके दो भेद हैं—विद्या एवं अविद्या। ब्रह्मके जिस स्वरूपकी उपलब्धि विद्यासे होती है वह ईश्वर है और जिसकी अविद्यासे उपलब्धि होती है वह जीव है; किन्तु उक्त दोनों प्रकारकी उपलब्धियाँ मायिक ही हैं। यह सिद्धान्त बिल्कुल निषिद्ध है, क्योंकि इसके अनुसार भगवान् तो केवल अपरिपक्व बुद्धियोंके ध्यानकी वस्तु रह गये। वे तो साधकके लिये एक ऐसी सुलभ सीढ़ी हो गये, जिसपर आरुढ़ होकर वह पर-ब्रह्मको प्राप्त हो सकता है और फिर उसकी आवश्यकता न रहनेपर उसे अपने पैरों-तले दबाकर नीचेकी ओर ढकेल सकता है।

इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है। शास्त्रोंमें लिखा है कि ईश्वर मायातीत है। 'स ईशो यद्वशो माया' अर्थात् 'माया जिनके अधीन है वही ईश्वर है' वास्तवमें माया तो उसकी अनेक शक्तियोंमेंसे एक विशिष्ट शक्ति है। इस विषयमें बालविक सिद्धान्त क्या है, इसे

भगवान् अपने श्रीमुखसे भगवद्गीता एवं अन्य ग्रन्थोंमें बताया है। भगवान्का आदेश है—

परमात्माधरमतीतोऽहमधरादपि चोत्तमः ।

अर्थात् मैं ऊपर यानी सारे भूतप्राणियोंसे परे हूँ और अधर अर्थात् निर्विशेष ब्रह्मसे भी उत्तम हूँ।

चौदहवें अध्यायमें भी श्रीभगवान्ने कहा है 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' अर्थात् 'ब्रह्मकी प्रतिष्ठा यानी आधार मैं हूँ'।

श्रीमद्भागवतमें भी आपने फरमाया है—

मदीयं महिमानं च परं ब्रह्मेति शब्दितम् ।

—अर्थात् मेरी महिमाकी ही परब्रह्म कहते हैं।

भगवान् श्रीकृष्णकी इस निर्विशेष ब्रह्मरूप महिमाको श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रीकृष्णके दिव्य विग्रहसे प्रादुर्भूत ज्योति माना है। वे कहते हैं—

ताहार अंशर शुद्ध किरणमंडल, उपनिषद् कहे तारे ब्रह्म सुनिर्मल।

—अर्थात् श्रीकृष्णके श्रीअंगसे निकलनेवाले शुद्ध किरण-मण्डलको ही उपनिषदोंमें सुनिर्मल ब्रह्म कहा है।

हम ऊपर कह आये हैं कि भगवान्के अन्तर्यामी स्वरूपको ही परमात्मा कहते हैं। वे इसी रूपमें समस्त जीवोंके हृदयमें निवास करते हैं। श्रुतिमें शरीररूपी वृक्षपर बैठे हुए दो मित्र पक्षियोंका वर्णन मिलता है। इनमेंसे एक अर्थात् जीवको फलका ज्ञानेवाला अर्थात् विषयोंके साध-ही-साध कर्मोंका भोक्ता कहा गया है और दूसरेको अभोक्ता अर्थात् अनासक्त रहनेवाला बतलाया गया है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया

समानं वृक्षं परिव्रज्यते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्स-

नश्नन्नन्योऽमित्राकशीति ॥

निर्विशेष ब्रह्मका न तो किसी प्रकारके कर्मसे सम्बन्ध है और न उनके शुभाशुभ फलसे, किन्तु परमात्मा हमारे सारे कर्मोंके मूक साक्षी हैं और प्रत्येक कर्मका शुभाशुभ फल देते हैं। सर्व भूतोंके हृदयरूपी गुहामें निवास करनेवाले आत्मा भी वही हैं—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

भूति भी कहती है—

‘एको देवः सर्वभूतेषु गूढः

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥’

अर्थात् सारे भूतोंके अन्दर छिपा हुआ एक देव है जो सर्वव्यापी एवं सर्वभूतोंका अन्तरात्मा है ।

ब्रह्म किसीका स्वामी नहीं है क्योंकि वह तो निर्विशेष है किन्तु परमात्मा सबका स्वामी है, सबका सुहृद् है और अत्यन्त ईश्वरके रूपमें सबके हृदयमें प्रतिष्ठित होकर सारे भूतप्राणियोंको इसप्रकार घुमाता है, जैसे कोई चक्करमें चढ़ी हुई वस्तुको घुमावे—

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्राकृतानि भावया ॥

—इन्हींको कूटस्थ पुरुष, क्षेत्रज्ञ तथा सारे अवतारोंका बीज कहा गया है । गीताके निम्नलिखित श्लोकोंमें भगवान्‌के इसी स्वरूपका वर्णन है—

विद्यन्माहमिदं कृष्णमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

—अर्थात् अपने परमात्मारूप एक अंशसे अखिल विश्वको व्याप्त करके मैं (भगवान्) अपने स्वरूपमें स्थित रहता हूँ ।

यह ध्यान रहे, ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् ये तीन पृथक् तत्त्व नहीं हैं, किन्तु उस एक ही परमतत्त्वके तीन रूप हैं । इन तीनोंमें परस्पर क्या सम्बन्ध है, इस बातको श्रीजीवगोस्वामीने एक दृष्टान्तके द्वारा समझाया है । उन्होंने लिखा है कि एक बार जब भगवान् श्रीकृष्ण श्रीहजारकामें विराजते थे, उन्होंने एक तेजःपुत्रको आकाशमार्गसे अपनी ओर आते देखा । कुछ ही क्षणोंके अनन्तर उन्होंने देखा कि वह मनुष्यके आकारका है और इसके बाद जब वह आकृति और भी समीप आ गयी, तब भगवान्‌ने पहचाना कि ये तो देवर्षि नारद हैं । यहाँ नारदरूप वस्तु तो एक ही थी, परन्तु वह भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें कहीं अधिक स्पष्टरूपसे और कहीं अस्पष्टरूपसे प्रतिभासित हुई । सर्वप्रथम वे आकाररहित तेजःपुत्रके रूपमें दिखायी दिये, यही निर्विशेष ब्रह्मका साक्षात्कार है । इसके अनन्तर उनकी मनुष्याकृति स्पष्ट दिखायी देने लगी, यही परमात्माका स्वरूप है । अन्तमें अत्यन्त निकट पहुँचनेपर वे नारदरूपमें पहचाने गये, यही भगवान्‌का सर्वांगीण ज्ञान है । यहाँ यह बात अवश्य विचारणीय है कि उक्त तीनों रूपोंमें प्रतिभासित होनेवाली वस्तु एक ही है ।

इसी बातको किञ्चित् भिन्न दृष्टिसे समझानेके लिये एक दूसरा दृष्टान्त दिया जा सकता है । एक मनुष्य अपने पिताका पुत्र है, अपने पुत्रका पिता है और अपनी पत्नीका पति है । इसप्रकार वह पुत्र, पिता और पति तीनों ही है । पुत्ररूपमें उसका भाव कुछ और ही है, पिताके रूपमें कुछ और ही और पतिके रूपमें उसका तीसरा ही भाव होता है, परन्तु इन तीनों भावोंका धारण करनेवाला मनुष्य तो एक ही है ।

परमतत्त्वके तीन भावोंको हम गीताके द्वारा इसप्रकार समझ सकते हैं । ब्रह्मभावसे भगवान् श्रीकृष्ण यह फरमाते हैं—

जगामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।

ते ब्रह्म तद्विदुः इत्यममध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥

—अर्थात् जो लोग मेरा आश्रय लेकर जन्म-मरणके बन्धनमें मुक्त होनेका यत्न करते हैं वे ही ब्रह्म एवं अध्यात्मतत्त्वको तथा कर्मके सम्पूर्ण रहस्यको जानते हैं ।

परमात्माके भावसे श्रीभगवान् कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति न प्रियः ।

—अर्थात् मैं समस्त भूतप्राणियोंमें समानरूपसे वर्तता हूँ, मेरी दृष्टिमें न तो कोई प्रिय है और न कोई द्वेषका पात्र है ।

भगवान्‌के भावसे आप फरमाते हैं—

‘इष्टोऽस्मि मे’ (अर्थात् तुम मेरे प्रेमपात्र हो), ‘प्रियोऽस्मि मे’ (तुम मेरे प्यारे हो) ।

बहुत-से लोग इस बातको देखकर चक्करमें पड़ जाते हैं कि जो श्रीकृष्ण कुछ ही अप्रियाय एवं यह कह आये हैं कि मेरेलिये कोई भी प्रिय नहीं है, वही अनुनये अब यह कहने हैं कि ‘तुम मेरे प्यारे हो ।’ किन्तु ऊपरके विवेचनसे यह विरोधाभास मिट जाता है । वहाँ वे परमात्माके भावसे कहने हैं और यहाँ भगवान्‌के भावसे !

शास्त्रके वचनोंकी संगति लगाते समय यह समझ लेना आवश्यक है कि अत्युक्त बचनके अन्दर उस परमतत्त्वके कौन-से स्वरूपका वर्णन है । यदि ऐसा न किया जायगा तो तबमें परस्पर विरोध एवं गड़बड़-सी दिखायी देने लगेगी । उदाहरणतः अग्रिमत्त्वको समझनेके लिये हम केवल अग्रिका विचार कर सकते हैं अबवा दाहिका-नाकि,

प्रकाशिका-शक्ति अथवा पाशिका-शक्तिके सहित उसका विचार कर सकते हैं, क्योंकि इन सारी शक्तियोंका अग्निके स्वरूपमें समावेश हो जाता है। किन्तु अग्निकी भिन्न-भिन्न शक्तियोंका ज्ञान हुए बिना भी अग्निका ज्ञान हमें हो सकता है।

इसी प्रकार सच्चिदानन्द परमत्त्वके भी तीन स्वरूप माने जा सकते हैं—निर्विशेष सच्चिदानन्द अर्थात् परब्रह्म, अन्तर्यामी-शक्ति-सम्यक् अर्थात् परमात्मा एवं अगणित अचिन्त्य दिव्य शक्तियोंसे युक्त सच्चिदानन्द अर्थात् भगवान्। प्रश्न केवल इतना ही है कि उस तत्त्वकी उपासना हम ज्ञानके द्वारा करते हैं अथवा योगके द्वारा अथवा भक्तिके द्वारा? शास्त्रके भिन्न-भिन्न काण्डोंकी रचना उक्त तीन मार्गोंको बतलानेके लिये ही की गयी है और इस बातको ध्यानमें रखनेपर फिर हमें परस्पर-विरोधी बचनोंको पढ़कर भ्रम नहीं होगा। उदाहरणतः योगशास्त्रमें जिस प्राणायामकी प्रशंसाके पुल बाँधे गये हैं उसीके सम्बन्धमें श्रीशंकराचार्यने अपने 'अपरोक्षानुभूति' नामक ग्रन्थमें यह लिखा है कि ब्रह्माकारवृत्ति कर लेना ही असली प्राणायाम है—'ब्रह्मवासीति या वृत्तिः एको वायुरीरितः।' आगे चलकर उन्होंने यहाँतक कह दिया है कि अज्ञानी लोग ही प्राण-पीडन करते हैं (अज्ञानं प्राणपीडनम्)। श्रीमद्भागवतमें तो अन्य सभी साधनोंको हरिनाम-संकीर्तन-मे नीचा बतलाया है।

इसप्रकार हमने समझ लिया कि जो लोग वह मानते हैं कि भगवान् केवल मायिक कल्पना हैं अथवा ध्यानमें सहायता देनेमात्रमें ही उनकी उपयोगिता है अथवा ब्रह्म-सायुज्यमुक्तिरूप अन्तिम लक्ष्यकी प्राप्तिके पूर्व इस ईश्वर-रूप अन्तिम मायाका भी उच्छेद करना होगा, वे बालवमें भूलमें हैं। भगवान् स्वयं वह परमत्त्व हैं और उनमें परे कोई वस्तु नहीं है। यद्यपि उनका प्रकाश सर्वव्यापक, निर्गुण, निर्विशेष ब्रह्मके रूपमें विद्यमान है, किन्तु उनका भिन्न-विग्रह वास्तविक एवं नित्य है और उनकी दिव्य शक्तियाँ अनन्त हैं।

इन शक्तियोंमेंसे एक शक्ति एक साथ अनेक रूपोंमें प्रकट होनेकी भी है। बुध्दाधनकी प्रकट लीलामें आपने इस शक्तिको कई बार दिखलाया। उदाहरणतः रासलीलाके समय उन्होंने गोपियोंके साथ अगणित रूप धारणकर नृत्य किया और दूसरी बार ब्रह्माजीका दर्प चूर्ण करनेके

लिये आपने सैकड़ों गोप-बालकों एवं बछड़ोंका रूप धारण किया।

इसी प्रकार अपनी अप्रकट लीलामें वे एक साथ अनेक रूपोंमें रहते हैं। इनमेंसे कुछ रूप विज्ञास-मूर्तियाँ कहलाती हैं और उन रूपोंमें प्रायः उन्हीं शक्तियोंकी अभिव्यक्ति होती है जो आपने अपने असली स्वरूप अर्थात् श्रीकृष्ण-विग्रहमें प्रकट की थीं। वैकुण्ठाधिपति चतुर्भुज श्रीनारायणदेव एवं शैवोंके उपास्यदेव श्रीमहाशिव इसी प्रकारकी विज्ञास-मूर्तियाँ हैं।

इसी अप्रकट लीलाके दूसरे रूप अवतार हैं। वास्तवमें तो वे परमात्मा (पुरुष) के ही रूप हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।

—अर्थात् वे सारे अवतार (जिनका ऊपर वर्णन हो चुका है) पुरुष (परमात्मा) के ही अंश हैं, किन्तु श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं।

परन्तु पूर्णावतार एवं अंशावतारके हम भेदको ठीक तरहसे समझ लेना चाहिये, ताकि इसमें कहीं भ्रमके लिये अवकाश न रह जाय। अवतारोंका भेद उनके अन्दर प्रकट होनेवाली शक्तिके भेदको लेकर ही माना गया है। सभी अवतारोंमें भगवान्की पूर्ण सत्ता रहती है, जहाँ कहीं वे रहते हैं, सर्वशक्तिमान् होकर ही रहते हैं। किन्तु इतनी बात अवश्य है कि वे अपनी लीलाके निमित्त कहीं किसी शक्तिको अभिव्यक्त करते हैं, कहीं किसीको। शक्तिकी अभिव्यक्तिके भेदको लेकर ही अवतारोंके भेद माने गये हैं, वास्तवमें उनके अन्दर कोई तात्त्विक भेद नहीं है, क्योंकि सारे ही अवतार श्रीभगवान् के ही स्वरूप हैं। हाँ, एक प्रकारके अवतार जो आवेशावतार कहलाते हैं उनके अन्दर यह बात पूरी तौरमें लागू नहीं होती, क्योंकि आवेशावतारमें श्रीभगवान्की किसी विशेष शक्तिका किसी जीवके अन्दर आवेश होता है।

महाराज पृथु इसप्रकारके अवतार थे।

अन्तमें हम लीलावतार एवं गुणावतारके भेदको बतलावेंगे। मत्स्य, कूर्म, वामन इत्यादि लीलावतार श्रीभगवान्के नित्य स्वरूप हैं, वे समय-समयपर किसी लीला-विशेषको दिखलानेके लिये जगत्में प्रकट होते हैं

ब्रह्मा, विष्णु एवं रुद्र ये तीन प्रसिद्ध देवता श्रीभगवान् के गुणावतार हैं। इस विषयकी अच्छी तरहमें समझ लेना चाहिये, क्योंकि कुछ लोग इन तीनों देवताओंकी भिन्न मानते हैं। यही कारण है कि कुछ लोग केवल श्रीविष्णुकी उपासना करते हैं और कुछ श्रीरुद्रकी। वास्तवमें इनके अन्दर भेद-भाषना करना बड़ी भारी भूल है और इस-प्रकारकी भेद-भाषनाके कारण भिन्न-भिन्न सम्प्रदायके लोगोंमें जो मनोमालिन्य एवं द्वेष देखनेमें आता है वह किसी प्रकार भी शास्त्रानुमोदित नहीं है।

तीनों प्राकृतिक गुणोंमें अतीत होनेके कारण भगवान् स्वयं निर्गुण हैं, किन्तु ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति एवं संहारके लिये वे ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वरके रूपमें तीनों गुणोंसे युक्त हो जाते हैं। रजोगुणके सम्पर्कमें वे ब्रह्माका रूप धारणकर सृष्टिको उत्पन्न करने हैं, सत्व-गुणके संयोगसे वे विष्णु बनकर विश्वका पालन करते हैं और तमोगुणमें युक्त होकर वे रुद्ररूप धारण करने हैं और प्रलयकालमें विश्वका संहारकर उसे अपने अन्दर लीन कर लेते हैं।

इसीलिये भगवान् के इन तीनों रूपोंकी गुणावतार कहते हैं और अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें प्रत्येक ब्रह्माण्डके अधिष्ठाता ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश्वर पृथक् पृथक् होते हैं। हमारे इस ब्रह्माण्डकी रचना करनेवाले ब्रह्माजीने वृन्दावन-में बछड़ों और गोप-बालकोंको जब कन्दरामें छिपा लिया और भगवान् श्रीकृष्णने उन सबका रूप धारण करके फिर ब्रह्माजीको अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंका दर्शन कराया और जब ब्रह्माजीने देखा कि उन सारे ब्रह्माण्डोंको रचने-वाले ब्रह्मा अलग-अलग भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें दण्डवत्-प्रणाम कर रहे हैं, तो उनके आश्चर्यका पार नहीं रहा।

श्रीभगवान् एवं उनके विभिन्न स्वरूपोंके पारम्परिक सम्बन्धके विषयमें शास्त्रोंमें जो कुछ कहा है उसका हमने ऊपर दिग्दर्शनमात्र कराया है। भगवान् की स्वरूप-शक्तियोंके विषयमें अथवा जीविका भगवान् के साथ क्या सम्बन्ध है इस विषयमें हमने कुछ भी नहीं लिखा है। हाँ, उपरकी पंक्तियोंमें हमने जो कुछ लिखा है उसमें कम-से-कम यह बात समझमें आ सकती है कि भगवान् के स्वरूपके सम्बन्धमें जो भिन्न-भिन्न बातें शास्त्रोंमें कही गयी हैं, उनसे घबड़ानेकी आवश्यकता नहीं है और न

उन लोगोंसे झगड़ा करनेकी आवश्यकता है जो उनके अन्यान्य स्वरूपोंकी उपासना करते हैं। हम चाहे जिस रूपमें उनकी पूजा करें, वे हमें उसी रूपमें प्राप्त होंगे। गीतामें आप अपने श्रीमुखमें फरमाते हैं कि सभी देवताओंकी पूजा साक्षात् रूपसे अथवा अप्रकटरूपसे मेरी ही पूजा है—

यऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते भद्रमपि न्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥

भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें श्रीकृष्णके ही किसी-न-किसी स्वरूपका प्रयत्नानुभवयुक्त वर्णन है। उनके गुण अनन्त हैं, अतएव उनका अनुभव भी अनन्त प्रकारसे एवं भिन्न-भिन्न भावोंके द्वारा हो सकता है। वास्तवमें जिन-जिन भावोंके द्वारा उनका अनुभव हो सकता है, उन्हींको लेकर हिन्दू एवं इतर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंकी सृष्टि हुई है। यदि कहीं उनके अन्दर परस्पर-विरोधी बातोंका भी उल्लेख पाया जाता है तो यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि श्रीकृष्णके अन्दर सारे विरोधोंका सामंजस्य हो जाता है।

कुछ लोग इन आपाततः विरोधी वचनोंको पढ़कर चक्करमें पड़ जाते हैं और यह मान बैठते हैं कि शास्त्रोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारकी बातें लिखी हुई हैं और उनमेंसे कौन-सी बात ठीक है यह निश्चयरूपमें नहीं कहा जा सकता। वे लोग भूलते हैं। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो उनमेंसे एक ही सिद्धान्तको मानते हैं और यह समझते हैं कि दूसरे सभी सिद्धान्त असमूलक हैं और इसीलिये वे दूसरे सिद्धान्तोंका माननेवालोंके साथ लड़ाई-झगड़ा करने लगते हैं। वे भी भूल कर रहे हैं। उन दोनों प्रकारके लोगोंमें विलक्षण एक तीसरा ही समुदाय है जो उन दोनोंकी भूलोंमें बचनेके लिये सारे सम्प्रदायोंके सिद्धान्तोंकी एक-वाक्यता करनेकी चेष्टा करना है, जो एक असम्भव-सा कार्य है। ये लोग भी भूलते हैं, क्योंकि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके सिद्धान्त इसप्रकारके नहीं हैं कि उनकी एक-वाक्यता हो सके और न उनके प्रवर्तकोंका यह अभिप्राय था कि उनकी इसप्रकार एकवाक्यता कर दी जाय। इस-प्रकारके लोग बहुधा यह कहा करते हैं कि 'भाई ! हमने तो सारे धर्मोंके सारको ले लिया है और अनावश्यक बातोंको छोड़ दिया है, परन्तु इसप्रकारके प्रयत्न अन्ततोगत्वा प्रायः विफल ही होते हैं। यह बात ठीक है कि हमें

प्रत्येक वस्तुका सार ग्रहण करना चाहिये और असार वस्तुका परि त्याग करना चाहिये, किन्तु हमें यह बात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि जबतक वाना एक न जाय तबतक उसे सुरक्षित रखनेके लिये तुर्पोंकी आवश्यकता होती है और समयसे पूर्व ही तुर्पोंको भिकाव देनेका परिणाम यह होता है कि उनके साथ वाना भी नष्ट हो जाता है—

स्मर्तव्यः सततं कृष्णो विस्मर्तव्यो न जातु चित् ।

—अर्थात् श्रीकृष्णको सदा स्मरण रखना चाहिये, एक क्षण भी उनकी विस्मृति नहीं होनी चाहिये ।

यह विधि-निषेधात्मक वचन अन्य सारे विधि-निषेधोंका राजा है । अन्य सारे विधि-निषेध इसके अनुचर हैं । किन्तु इसप्रकारके अधिष्ठित स्मरणमें मनुष्यकी स्थिति जबतक दृढ़ न हो जाय, तबतक भ्रमशास्त्रोक्त नियमोंके पालनमें अवहेलना करना मूर्खता है । जो लोग उन सम्प्रदायोंकी एकवाक्यता करनेकी चेष्टा करते हैं, जिनके प्रवर्तकोंका अभिप्राय इसप्रकारकी एकवाक्यता करनेका नहीं था, उनका एकमात्र आधार आगे चलकर कतिपय अस्पष्ट नैतिक सिद्धान्त ही रह जाते हैं । यही नहीं, ईश्वरके स्वरूपके सम्बन्धमें उनकी धारणा और भी अनिश्चित हो जाती है क्योंकि उनके ईश्वरके अन्दर सामान्यतया सभी प्रकारके गुण रहते हैं, परन्तु विशेष गुण कोई भी नहीं होता ।

सारे सम्प्रदायोंके मूलमें एकता अवश्य है और वह एकता भगवान्‌को लेकर है; किन्तु वह एकता उनकी प्राप्तिमें ही हो सकती है और किसी उपायमें नहीं । सारे मार्ग उसी लक्ष्यकी ओर जाते हैं परन्तु उसकी प्राप्ति भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंके सिद्धान्तों तथा उनके अन्दर बताये हुए साधनोंकी लिच्छवी बना देनेसे नहीं होती, किन्तु ऐकान्तिक अज्ञानसे किसी एक ही मार्गका अवलम्बन करनेसे होती है ।

मान लीजिये, कोई मनुष्य किसी व्याधि-विशेषसे पीड़ित है और किसी चिकित्सकके चिकित्सालयमें औषध लेने जाता है तो वह वहाँ जाकर क्या करता है ? वह देखता है कि उसके सामने अनेक प्रकारकी दवाइयोंकी सैकड़ों बोतलें सजायी हुई रखी हैं । ऐसी दशामें क्या वह जिसकी बोतलें उसके हाथ लग जायें, उन सबकी दवाइयोंको भिकाकर अपने लिये दुल्हा तैयार कर लेगा ?

नहीं, पहले वह चिकित्सकको अपने रोगके लक्षण बतलावेगा और चिकित्सक उन लक्षणोंमें उसकी व्याधिकी निदान करके तब उसे उसके अनुकूल दवा देगा, यद्यपि उसके रोगके लिये एक ही प्रकारकी औषध उपयोगी होती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बाकी सब बोतलें सूझी अथवा बनावटी हैं और फेंक देने लायक हैं । वह इस बातको अच्छी तरह जानता है कि वे दूसरे प्रकारके रोगियोंके लिये हैं ।

यहाँ बात शास्त्रोंके सम्बन्धमें समझनी चाहिये । हम लोग सभी रोगी हैं, श्रीकृष्ण-वैमुख्य-रोगमें पीड़ित हैं । हम लोगोंने श्रीकृष्णकी ओरमें मुँह फेर लिया है और इसीलिये हम आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधि-भौतिक इन तीन प्रकारके साधनों परितस्त हो रहे हैं । हम स्वयं इस बातका पता लगाने बैठ जाते हैं कि शास्त्रोंमें इस रोगके निवारणके लिये कौन-कौन-से उपाय बताये गये हैं । किन्तु अपने बुद्धिजन्य ज्ञान एवं आधुनिक शिक्षाके गर्भमें आकर हम दिक्मुखक यन्त्र अथवा किसी सुयोग्य कर्णधारकी सहायता लिये बिना ही शास्त्ररूपी महोदधिको पार करनेके लिये प्रयत्न हो जाते हैं । ऐसी दशामें हम यदि पथभट्ट हो जाते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? शास्त्रोंकी रचना इसलिये नहीं हुई थी कि लोग उनका इसप्रकारसे उपयोग करें । प्रत्येक व्यक्तिके लिये शास्त्रके कुछ ही अंश उपयोगी होते हैं और अमुक व्यक्तिके लिये उसके कौन-से अंश उपयोगी हैं, इस बात-को उमे किसी गुरुके द्वारा ही जानना चाहिये ।

अधिकारके बिना शास्त्रका अध्ययन करना वैसा ही है जैसा किसी रोगीका ऐसी दवा लेना है जो उसके लिये उपयुक्त न हो । हितकी अपेक्षा उसमें हानिकी ही अधिक सम्भावना रहती है । शास्त्रोंके प्रतिपाद्य विषयके सम्बन्धमें आजकल कितना मतभेद फैल रहा है और लोग रंकेकी चोट यह कहते हैं कि 'शास्त्र बिल्कुल निरर्थक एवं इस युगके लिये अनुपयुक्त हैं, वे हमारे लिये सहायक न होकर केवल बाधक हैं, इत्यादि ।' इन सबका कारण यही है कि लोग आजकल बिना अधिकारके ही शास्त्रोंका अध्ययन करते हैं ।

यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि सारे मार्ग अराधामुके निकट पहुँचानेवाले हैं और सारे सिद्धान्त उसी-के किसी विशिष्ट स्वरूपका निरूपण करते हैं । परन्तु

केवल इस बातको जान लेना ही पर्याप्त नहीं है। इसके अनन्तर हमें यह देखना चाहिये कि हमें कौन-सा भाव अधिक रुचिकर है और फिर किसी ऐसे गुरुकी खोज करनी चाहिये जो हमें उस भावके अनुसार मार्गपर चलानेकी योग्यता रखता हो। ऐसा कर लेनेपर हमें पूर्ण श्रद्धाके साथ अपने निश्चित मार्गपर अग्रसर हो जाना चाहिये, किसी दूसरे मार्गकी परवा नहीं करनी चाहिये। अन्य मार्गोंके सम्बन्धमें हम यही समझें कि वे दूसरोंके लिये अभिप्रेत हैं, हमारे लिये नहीं। ऐसा करनेमें हम झगड़ालू, स्वभताग्रही तथा सामञ्जस्यकी निरर्थक एवं विफल चेष्टा करनेवाले दोनोंकी भूखोंसे बच सकते हैं। वास्तवमें भगवन्-प्राप्तिके तीन ही मुख्य मार्ग हैं। ज्ञान, योग और भक्ति। यदि हम ब्रह्मरूपमें उनकी प्राप्ति करना चाहते हैं तो ज्ञानके द्वारा कर सकते हैं; परमात्मरूपमें उनकी प्राप्ति करनेके लिये हमें योग-मार्गका अनुसरण करना होगा और भगवान्के रूपमें उन्हें प्राप्त करनेके लिये हमें भक्तिका आश्रय लेना पड़ेगा। श्रीभगवान्ने स्वयं उद्धवके प्रति कहा था—

न साधयति मां योगो न सांख्यं चर्म उद्धव ।

न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्मेमर्जिता ॥

—अर्थात् न तो योगसे और न ज्ञानमें, न धर्मानुष्ठानमें, न वेदोंके अध्ययनसे, न तपस्यासे और न त्यागमें ही कोई मुझे पा सकता है; मैंकेवल भक्तिके प्राप्ति हांता हूँ।

सर्वतोभावेन तथा एकान्ततः उनकी शरणमें जानेके सिवा और कोई उपाय नहीं है। हमारा समर्पण सर्वांगीण होना चाहिये, उसमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं रहनी चाहिये और न हमें बदलेमें उनसे कोई याचना ही करनी चाहिये। यदि याचना करें भी तो केवल इस बातकी कि 'हे प्रभो ! आप हमें वह शक्ति प्रदान कीजिये जिससे हम पूर्णतया आपके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर सकें।' श्रीकृष्णके साथ आदान-प्रदान नहीं हो सकता और उनका बन जानेके बाद हमें न तो किसी और वस्तुकी इच्छा हो सकती है और न हमें परिणामका ही भय हो सकता है। उन्हें आत्मसमर्पण करते समय न तो हमें यह चिन्ता होनी चाहिये कि हमारी इस क्रियासे हमारे कुटुम्बियोंको क्षेप होगा, अथवा हमारे मित्र हमारा उपहास करेंगे और न हमें यही चिन्ता होनी चाहिये कि भविष्यमें इसका

परिणाम क्या होगा ? आत्मसमर्पणके बिना केवल शास्त्रीय सिद्धान्तोंका परिचय जीव और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान, प्राक्तन सुकृतोंका सञ्चय तथा योग-सिद्धिओंके चमत्कार ये कुछ भी हमारे काम नहीं आ सकते।

अब प्रश्न यह होता है कि भगवान्को प्राप्त करनेकी इच्छाका क्या अर्थ है ? इस संसारके शोकसे पार होनेकी इच्छा, परमात्माकी महान् सत्तामें अपनी क्षुद्र सत्ताको विलीन कर देनेकी अभिलाषा अथवा योगशक्तिके चमत्कारोंको प्राप्त करनेकी इच्छा, इन सब इच्छाओंको हम भगवान्को प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं कह सकते। श्रीकृष्णको प्राप्त करनेकी इच्छाका अर्थ है स्वामी, पुत्र, सखा, पति अथवा प्रेमीके रूपमें उनका वरण करना और इसके लिये यह आवश्यक है कि हम उन्हें आत्मसमर्पण कर दें। संसारमें भी यदि हम किसी व्यक्तिका प्रेम प्राप्त करना चाहें तो हमें बदलेमें उसे प्रेमदान करना होगा। हम किसी बहुमूल्य उपहारके द्वारा अथवा अपनी विद्वत्ता या सामर्थ्यके चमत्कारमें किसी सच्चे मित्रको नहीं रिश्ता सकते। यही बात श्रीकृष्णके सम्बन्धमें समझनी चाहिये। विविध प्रकारकी पूजासे अथवा अधिक लागतके मन्दिर इत्यादि बनवानेसे हमें अनेक प्रकारके फलोंकी प्राप्ति हो सकती है, किन्तु उनसे हम भगवान्को प्राप्त नहीं कर सकते।

भगवान् पूर्ण स्वतन्त्र हैं। संसारकी कोई भी शक्ति, यहाँतक कि मन्त्रशक्ति भी उन्हें बन्दीभूत नहीं कर सकती। अनन्य-भक्ति और उससे भी ऊँचे दर्जेकी प्रेमाभक्तिके पाशमें वे बँध जाते हैं। उन्होंने स्वयं कहा है—

वर्शकुर्वन्ति मां भक्ताः सत्पति सत्स्त्रिभो यथा ।

—अर्थात् जिसप्रकार एक सती स्त्री अपने सचरित्र पतिको वशमें कर लेती है उसी प्रकार भक्त मुझे वशमें कर लेते हैं।

भगवान् भक्तोंके हैं और भक्तभगवान्के (हम भक्तनके भक्त हमारे)। श्रीकृष्ण ही सनातन सत्य हैं और सब मिथ्या हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कोरी कबिकी कल्पना नहीं हैं, वे प्राचीन भारतवर्षके एक वीर खोटा ही नहीं थे जिनको अन्धश्रद्धालु आस्तिक लोग ईश्वर मानकर पूजने लगे हैं, वे द्वापरयुगके अन्तमें इस संसारमें प्रकट होने-

वाले अवतार ही नहीं ये वे तो साक्षात् परमेश्वर हैं एवं नित्य किशोररूपसे अपने नित्यधाममें सत्ताओं तथा सत्त्वियोंके साथ नित्य विहार करते रहते हैं। उनकी मुरलीका निनाद अकार-ध्वनिसे भी महान् है और उनके कमनीय कलेवरकी नील कान्ति उस नील ज्योतिसे भी अधिक प्रकाशयुक्त है जिसका योगीजन समाधिमें अपने हृदय-मण्डिरमें दर्शन करते हैं।

यूरोपीय विद्वान् भले ही श्रीकृष्णको न मानें और रूपके साम्यवादी यह कहते रहें कि ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करना जनताकी उन्नतिमें रोड़े अटकाना है। उनके इस कथनका क्या मूल्य है? साँचको जाँच क्या है? लोग परमात्माओं एवं नक्षत्रोंके बारेमें तथा पूँजीवाद एवं भ्रमवादके सम्बन्धमें कितनी ही विह्वलापूर्व बातें करें। उनमें सत्यमें किसी प्रकारका अन्तर नहीं आ सकता। एक बार प्यारे श्रीकृष्णकी क्राँकी मिल जानेपर ये सारे-के-सारे बाद् धूलमें मिज जाते हैं। वे सिद्धान्त अपनी दृष्टिमें सत्य हो सकते हैं, किन्तु वास्तविक सत्यका इनके अन्दर आभास भी नहीं है। इस स्वप्नमय जगत्में यदि कोई वस्तु सत्य है तो वह एक श्रीकृष्ण ही है। जो लोग इतिहासकी सन्देहपूर्ण कथाओं अथवा निरे प्राकृतिक ज्ञान अथवा विज्ञानवादके पीछे उनमें मुँह मोड़ लेते हैं वे सोना बेचकर बदलेमें धूल लेते हैं।

ऊपर हम जो कुछ कह आये हैं उसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। जिन लोगोंने श्रीकृष्णके चरणोंमें आत्म-समर्पण कर दिया है वे इस बातको अस्वीर्भाति जानते हैं। किन्तु फिर भी यह संसार कितना ठोस, एवं सत्य प्रतीत होता है। स्त्री, पुत्र एवं धन सभी मिथ्या हैं परन्तु हमें ये वास्तविक दिशाही देते हैं। श्रीकृष्ण ही एकमात्र सत्य हैं, चाहे अधिकांश लोग उन्हें केवल कल्पना ही समझते हों। यही तो उनकी माया है। जिसे भ्रष्ट-घटनापटीयसी अर्थात् असम्भवकी भी सम्भव बना देने-बाकी कहा गया है। उनकी तथा उनके भक्तोंकी कृपासे ही हम उस मायाके पर्देको चीरकर वास्तविक सत्यको प्राप्त कर सकते हैं।

भगवान्‌को प्राप्त करनेमें ही पूर्णता है। प्रेम ज्ञानसे ऊँचा है और वास्तवमें भगवान्‌ ही प्रेमके स्थायी एवं

योग्य पात्र हैं, क्योंकि भगवान्‌के अतिरिक्त जितने भी हमारे प्रेमास्पद् हैं वे सभी एक-न-एक दिन हमें छोड़कर चले जायेंगे या हमारा प्रेम उनके साथ अन्ततक नहीं निभ सकेगा। प्रेम प्रेमास्पद्‌की सेवा करना चाहता है, परन्तु वास्तवमें भगवान्‌ ही हमारे स्रेष्ठ बननेके योग्य हैं।

ज्ञानियोंकी मुक्तिका गौरव उन्हींको मुबारक हो ! इसप्रकारकी मुक्तिकी अपेक्षा श्रीकृष्णकी दासता कहीं अधिक मधुर है। अपनी आरमाका प्रभु बननेकी, अपने आत्मका विधाता बननेकी क्यों चिन्ता करते हो? क्या श्रीकृष्णसे बढ़कर कोई प्रभु हमें मिलेगा? कैवल्यकी इच्छा क्यों करते हो? साधन करनेसे कैवल्यकी प्राप्ति अवश्य हो सकती है किन्तु श्रीकृष्णके संगको छोड़कर अकेला (केवल) रहना कौन पसन्द करेगा? श्रीकृष्णका प्रेम स्वर्ग और अपवर्गके सारे सुखोंसे बढ़कर है। यदि श्रीकृष्णका प्रेम प्राप्त हो गया तो फिर इस संसारमें बार-बार जन्म लेनेमें भी क्या आपत्ति है? उस प्रेमी प्रभुकी सेवाको छोड़कर अपनी मुक्ति चाहना अथवा एक चरणके लिये भी उसकी विस्मृति होना, भक्तोंकी दृष्टिमें यही सबसे बड़ी विपत्ति है। भक्त इसी विपत्तिसे मोक्ष चाहते हैं।

श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे फरमाया है—

सालोक्यसाष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमभ्युत ।

दायमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥

अर्थात् मेरे भक्त मेरी सेवाको छोड़कर सालोक्य, साष्टि, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य इन पाँच प्रकारकी मुक्तियोंमेंसे किसी भी मुक्तिको ग्रहण नहीं करते, चाहे मैं स्वयं उन्हें उसका दान करूँ।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने निम्नलिखित श्लोकमें इसी भावको प्रदर्शित किया है—

न धनं न जनेन न सुन्दरी कवितां वा जगदीश कामये ।

मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्वकिरहेतुकी त्वयि ॥

—अर्थात् हे जगदीश्वर ! मुझे न तो धनकी इच्छा है, न मित्रोंकी, न सुन्दरी स्त्रीकी चाह है और न विद्वत्ताकी। मेरी तो केवल यह अभिलाषा है कि जन्म-जन्मान्तरमें मेरी तुम्हारे अन्दर हेतुरहित भक्ति तभी रहे।

ईश्वर क्यों और कौन ?

(लेखक—डा० श्रीमगवानदासजी एस० ए०, बी० लिट्, काशी)



रत-वर-पुष्ट, हजारों वर्षसे मनुष्योंमें ईश्वरकी चर्चा होती आती है। पशुओं-का हाल कहना कठिन है पर मनुष्य तो स्वार ही कोई ऐसा होगा, पशु या अनपद, गैवार या नागरिक, जो ज़रा भी सोचने-विचारने योग्य सधानी अवस्थाको पहुँचकर, कमी-न-कमी कुछ-न-कुछ, ईश्वरकी चर्चामें न पड़ा हो और इस विषयमें कोई राय न रखता हो। किसी-किसीने निश्चय कर लिया है और वह बड़े ज़ोरसे कहता है कि ईश्वर-पदार्थ कोई नहीं है। अधिकांश मनुष्य मानते हैं कि ईश्वर-पदार्थ कुछ है। पर क्या है, इसमें, 'सुखे सुखे मति-मिच'। 'निर्वीचवद अरमा, पथर, अथि, धातुसे आरम्भ करके लकीव बुद्धादि, जन्तु, मत्स्य, कूर्म, विविध पशुपदादि, मानवावतारादि, सूर्यादिमें होती हुई, निराकार वस्तुपर्यन्त पदार्थोंको मनुष्यकी बुद्धिने ईश्वर मान रक्खा है।

इस सब वाग्जाल, तर्क-वितर्क-कुतर्क-जाल, महा कंशट, माथापची, सरवर्द्धमें आदमी पड़ता ही क्यों है ? क्या हमका हृदय केन्दुकी बुद्धि क्यों कोई समझदार आदमी भोक ले ? ईश्वर हो या न हो, हमको क्या मतलब ? सुनते हैं—सच या झूठ यह ठीक मालूम नहीं—रूस देशमें बोलशेविक शासनने इस ध्यर्थ, अथि च दुरर्थ, अनर्थ चर्चाको बन्द ही कर देनेका हुक्म दे दिया। पर वह भी सुनते हैं कि चर्चा बन्द नहीं हुई, लोग मरने-मारनेको तैयार होते हैं, पर इस चर्चाको नहीं छोड़ते। तो अवश्य कुछ कारण होगा। अच्छा, रूसमें कारण हो या न हो, हमको इससे भी क्या काम ? हमें यह देखना चाहिये कि हमारे हृदयमें भी कोई कारण है या नहीं, जो बलाय हमको विवश करता है कि हम प्रथम विचार करें कि ईश्वर है या नहीं ?

इस विषयपर पशु प्रायः नहीं विचार करते, ऐसा जान पड़ता है, निश्चयसे तो नहीं, पर सम्भवतः। मनुष्यके बच्चे भी नहीं विचार करते। यह अपनी ही स्थितिसे सिद्ध होता है। जब हम बहुत छोटे थे, इस ओर ध्यान

नहीं देते थे। न अपने सामने इस समय जो छोटे बच्चे देख पड़ते हैं वे अपने मनसे इसकी चर्चा आरम्भ करते हैं ? बच्चोंकी क्या बात है ? वे तो अपने माता-पिताको ही खेलमें मग्न होकर भूल जाते हैं !

तथैव सूताः परिपालितास्तथा
तथैव हिता स्वसुखं विनर्षिताः ।
क्रीडारता जननीं विस्मरन्ति
धुष्मशुषार्तास्तु पुनः स्मरन्ति ॥

'उसीने जन्म दिया, उसीने पाका, उसीने अपना सर्वस सुख त्यागकर पोसा, उसीने खेलकी सामग्री दी, उसीको खेलकी धुनमें विश्रुत भूल जाते हैं, पर जब फिर भूल छगती है, प्यास लगती है, तब पुनर्भार उसीको याद करते हैं, उसीके पास दौड़े जाते हैं।' एक प्रकार और है। मैंने रूठकर भी बच्चे उससे हट जाते हैं और उसको बुरा-मला भी कहने लगते हैं। पर इसका अर्थ स्पष्ट ही यह है कि चाहे तत्काल दुःख और रोचने ईश्वरको 'नाम्मेव' भी कहने हों, हृदयमें तो उनके वह बसा ही है और उसने वे बहुत आशा रखते हैं !

किसका मन ईश्वरके विचारमें, ईश्वरकी ओर नहीं लगा है, उसको सिलाना-समझाना उचित है। यदि खिच आग जाय तो बहुत अच्छा है। जैसे बच्चोंको बतलाया जाता है कि यह पीने-खानेके पदार्थ हितकर हैं। पर यदि उसको भूख-प्यास नहीं है, अहय-पेचने हटता है, तो ज़बर-दस्तीमे सिलाना-पिलाना बड़ी भूल है। अधिक घृणा और रोग ही पैदा होंगे। बलात्कारेव ईश्वरमें विश्वास कराने-का पक्ष भी ऐसी ही भूल है।

सर्वान् बलुहानर्थानकृतान् मनुरब्रवीत् ।

—जब भूख-प्यास छोटी तब आप ही माँ-बापके पास दौड़े आवेंगे, 'लाना दीजिये' 'पानी दीजिये' ।

यदि संसारमें दुःख न हो, सुख न हो और मनुष्य-को दुःख और मृत्युका भय न हो, उससे बचनेकी इच्छा न हो, अथवा बिना परलोक और ईश्वर माने यह सब दूर हो सके, यह इच्छा पूरी हो सके, तो ईश्वरका कोई

प्रयोजन मनुष्यके किये न रह जाय और कोई किसी ईश्वरको न माने। अभाव्यवश कहिये, प्रकृतिस्वभाववश कहिये, प्रत्येक मनुष्यको दुःख भी होता है, मरण भी होता है, दोनोंका भय भी होता है, उनसे बचनेकी इच्छा भी होती है और आत्मिक बचावका कोई अलौकिक उपाय नहीं ही मिलता। इसलिये विश्वास होकर एक किसी ईश्वरको मानना और उसकी शरण लेना पड़ता है।

तर्कसे किसीको ईश्वरमें विश्वास करा देना यदि सम्भव है, तो भी वह तभी सम्भव है जब उस तर्कको सुननेके किये कोई शुभ्र जिज्ञासु हो। जिसको 'श्रोतुं इच्छा' 'ज्ञानं इच्छा' ही नहीं उसके सबीप ईश्वरको कोई कैसे सिद्ध करेगा ?

नायपरमा प्रवचनेन प्राज्ञः । नैवा तर्केण मतिरापनेया ।

अपने आप जब—

कालचक्रं वहत्यस्मिन् घोरं सततमग्निं ।

—उस जीवका समय आ जायगा और वह दुःख और शोकसे आक्रान्त पीड़ित होगा, तब स्वयं ईश्वरकी शोभामें व्यग्र और एकाग्र होगा और तब वह तर्क सुनेगा और करेगा और ईश्वरको अवश्य पावेगा।

आत्तो जिज्ञासुरर्थार्थो मज्जेत ऊतते च तम् ।

× × ×

आरत होइ खोइ सम्पद सब परम अर्थ अरखानै ।

जिज्ञासा करि ज्ञान पाइ तब सब जगमें मोहि भावै ॥

किसप्रकारके ईश्वरकी पावेगा ? यह उसके दुःख और भयके प्रकार तथा उसकी बुद्धिके विकासकी काढ़ापर आश्रित है।

अप्सु देवा मनुष्याणां दिवि देवा मनीषिणाम् ।

बालानां काष्ठलोष्ठेषु बुधस्यात्मनि देवता ॥

बालकोंको काठ और मिट्टी आदिके खिलौनोंमें देवता-बुद्धि होती है। उचित हो ही, बच्चेसे यह भाषा क्यों की जाय कि वह रस्सागणित, बीजगणितके ग्रन्थ पढ़े ? पुष्ट पवित्र जलवाली नदीमें, स्वच्छ सरोवरमें, साधारण मनुष्योंको देवता-बुद्धि होती है। अच्छा ही है, नहानेसे शरीर स्वच्छ और मन प्रसन्न होता है, यदि लकड़ छुड़ हो और छुड़ रक्खा जाय तो शरीर और मन छुड़ होनेसे क्रमशः बुद्धिका विकास अधिकाधिक होता है। इससे एक दर्जा ऊँचे जानेसे, मनीषी विद्वान् ज्येष्ठोंके देव आकाशमें

सूर्य, चन्द्र, तारा, नक्षत्रादि मिलते हैं। ठीक है, अमन्त आकाशमें अरे हुए आगणित 'ब्रह्मके अण्डों' गोखोंका ध्यान-ज्ञान करनेसे बुद्धिका भारी विकास होता है। अमन्त और भी विकास होनेसे उस काढ़ापर जीव पहुँचता है, जब उसको यह ज्ञान उदय होता है कि यह अमन्त ब्रह्माण्ड और काल और आकाश सब चेतनाके, मेरे, 'मैं' के, आत्माके भीतर हैं और आत्मा ही सर्वव्यापक, सर्वाधार, सर्वज्ञ 'सर्वेश्वराणां परमो महेश्वरः' है। सब जीव साक्षात् नहीं तो परम्परया इसी आत्मबोधकी ओर चले जा रहे हैं।

मम कर्तानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वज्ञः ।

वेदेष्वन्वदेवता मया वजन्ते श्रद्धयान्विताः ॥

वेदेषु मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तुयैव अजाम्यहम् ॥

केचित् कर्म बदन्येन, स्वभावमितरे जनाः ।

एके कलं, परे देवं, पुंसः काममुतापरे ॥

एतमेकं बदन्यसि, मनुमन्ये, प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेकं, परं प्राणं, अपरं ब्रह्म शाश्वतम् ॥

ब्रह्मैव, आत्मैव, अहमं, सर्वाणि नामानि, सर्वाणि रूपाणि, सर्वाणि रूपाणि विमर्ति ।

चाहे किसी नामपर अन्तमें बुद्धि जाकर अटक जाय, वही नाम इस अन्तिम मूल पदार्थका है। पच्छिममें 'ला आफ् ईवोण्युशन' 'वास' 'फोस' ऐसे शब्दोंपर कुछ लोग सन्तोष कर लेते हैं। बहुत अच्छा। जिस नामसे सन्तोष हो जाय वही तुमको सुचारक हो, वही 'गोड' है, अज्ञाह है, ब्रह्म है, परमात्मा है।

पर थोड़ा गहिरा सोचनेसे जान पड़ता है कि इन सब नामोंको पहिरने-धोदनेवाला एक अकेला 'मैं' ही—आत्मा ही है। यह व्यक्ति गुरु जाननेयोग्य है या नहीं, यह वाक्य ब्रह्मवाक्य है या नहीं, वेदको मानना या बाइबिल-को मानना या कुरानको मानना या सबको मानना, यह सत्य है या असत्य है, अन्ततः ईश्वर है या नहीं है, या है तो क्या है—इसका निर्वेता जो हो, वही न सर्वोत्कृष्ट ईश्वर होगा ? तो वह कौन है ?

गुरोर्भोग्यत्वनिर्णेत त्वं, ततोऽसि गुरोर्गुरुः ।

स्त्र्यास्त्यविनिर्णेत त्वं, ततोऽसि तु सतमः ।

ईश्वरास्त्यत्वनिर्णेत त्वं, ततोऽसि परेश्वरः ॥

अहं ब्रह्मास्मि, तत् त्वं चासीत्येव श्रुतिशासनम् ।

तच्च साक्षाद्विचारेण सुसूक्ष्मेणानुमूयताम् ॥

इसके निर्योता तो तुम ही हो, मैं ही हूँ । 'मैं' अहम्, 'तुम' त्वम्, ही है । सब 'मैं' यों मैं, सब 'तुमों' तै, ओ पदार्थ अनुत्पृत है, जिसके बलसे ही, जिसके हेतुसे ही, सब अपनेको 'मैं' और दूसरेको 'तुम' कहते हैं, जिसके ही बलसे अनपढ़ आदमी भी जब चाहता है तै कर लेता है कि यह मज्जब सही है और यह गलत, मनमाने कभी हिन्दूसे मुसलमान या ईसाई, या ईसाई मुसलमानसे फिर आर्यसमाजी हिन्दू बन जाता है, अपने आप निर्णय कर लेता है, कि वेद और पण्डित माननेयोग्य हैं, या कुरान और मुहम्मद, या बाइबिल और पाद्री-वही पदार्थ, सबके भीतर भी बैठा, सबके बाहर भी भरा, अन्तिम

निर्योता परमेश्वर है । यही पापकर्मके बदले दुःख और पुण्यकर्मके बदले सुख देता है ।

सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता

परो ददातीति कुमुदिरेवा ।

स्वयं कृतं स्वेन फलेन गुण्यते

शरीरं हे निष्ठुरं बन्धना कृतम् ॥

परस्परभयात्केचित् पापाः पापं न कुर्वते ।

राजदण्डभयात्केचित् यमदण्डभयात्परे ॥

न यमं यम इत्यादुरात्मा वै यम उच्यते ।

सर्वेषामेव दण्डानामात्मदण्डः परः स्मृतः ।

यतस्तु सर्वदण्डानामात्मा मूलप्रयोजकः ॥

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

अहमादिष्व मध्यं च भूतानामन्तं पव ॥

ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है

(लेखक—स्वामीजी आभोलेश्वरजी)

ईश्वराराधनं धर्म ईश्वराराधनं धनम् । ईश्वराराधनं ज्ञान ईश्वराराधनं परम् ॥

यस्मिन्नित्ये स्थितं विश्वं य एको विश्वकारणम् । यस्मिन्प्रलीयते विश्वं तमीश्वर भजाम्यहम् ॥



यदि ईश्वर सर्वत्र, सर्वत्र सर्वमे सर्वथा विराजमान है अथवा यों कहना चाहिये कि सर्व ईश्वर ही है, ईश्वरके सिवा अन्य कुछ नहीं है । श्रुति कहती है कि निश्चय यह सब सत्य ही है । भगवान्‌का गीतामें वचन है कि यह सब वासुदेव ही है । युक्ति भी है कि कारण बिना कोई कार्य नहीं होता, सब हुतने बड़े नियमित जगत्‌का कारण ईश्वर अवश्य है । इसप्रकार श्रुति, स्मृति और युक्तिये ईश्वर सिद्ध है, फिर भी सब मनुष्य ईश्वरको नहीं जानते, कोई विरला ही ईश्वरकी कृपासे और गुरु-शास्त्रकी सहायतासे ईश्वरको जाननेमें समर्थ होता है । ईश्वरका न जानना सर्व अनर्थोंका कारण है और ईश्वरका जानना सब अनर्थोंका विध्वंस करके परम शान्ति प्राप्त करानेवाला है । जो भाग्यशाली ईश्वरको जान जाता है, उसके किये समस्त विश्व शान्तिमय हो जाता है, न उसका कोई शत्रु होता है न कोई मित्र ! उसके किये सभी समान होते हैं । न वह किसीसे राग

करता है और न किसीसे द्वेष । वह सबको समान ही प्यार करता है । सब मज्जब उसके लिये एक हो जाते हैं, वह जानना है कि सभी ईश्वरकी ओर ले जानेके मार्ग हैं, इसलिये छोटा-बड़ा कोई नहीं है, सब समान ही ईश्वरकी आज्ञा हैं । शास्त्रोंमें भी उसे भेद प्रतीत नहीं होता, वह समझता है कि सब शास्त्र भिन्न-भिन्न युक्तियोंसे उसी एक जगदीश्वरके प्रदिपादक हैं । ब्राह्मण आदि वर्ण और ब्रह्मचर्यादि आश्रमोंमें भी उसकी दृष्टि समान ही होती है, उसका निश्चय होता है कि वर्णाश्रम-व्यवहारमें भिन्न-भिन्न दीखते हुए भी सबका पर्थवसान एक ईश्वरके जाननेमें है, इसलिये अपनी-अपनी योग्यता और अपने-अपने अधिकारके अनुसार सभी अच्छे हैं । जैसे ब्रह्मा, विष्णु, महेश क्रमसे रजोगुणी, सतोगुणी और तमोगुणी होते हुए भी और अपना-अपना कार्य उत्पत्ति, स्थिति और लय करते हुए भी स्वरूपसे एक ही हैं, इसी प्रकार चारों वर्ण और चारों आश्रम एक ही हैं । ईश्वरको जाननेवालेके किये सब देश भी अपने ही देश हो जाते हैं, क्योंकि वह सब देशोंमें अपने-आत्मा एक ईश्वरको ही देखता है, इसलिये परम

शान्तिका अनुभव करता है। ईश्वरको न जाननेवालेका मिश्रण इससे विपरीत होता है; वह मजहबों, शास्त्रों, वर्णाश्रमादिमें मिश्रता देखता है और भेद देखनेके कारण किसीसे राग करता है, किसीसे द्वेष करता है, किसीको शत्रु समझता है और किसीको मित्र मानता है; इसलिये वह सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा अशांत्ता ही रहता है। अपने मजहबकी प्रशंसा करता है, दूसरोंके मजहबोंकी निन्दा करता है; अपने शास्त्रोंको प्रमाण जानता है, दूसरोंके शास्त्रोंको अप्रमाण मानता है, अपने वर्णाश्रमको उत्तम मानता है, दूसरोंके नीच मानता है अथवा वर्णाश्रमोंको मानता ही नहीं, स्वच्छन्द होना श्रेष्ठ समझता है। अपने देशको देश और वहाँके रहनेवालोंको देशी समझता है। दूसरोंके देशको विदेश और वहाँके रहनेवालोंको विदेशी समझता है। इसप्रकार ईश्वरको न जाननेवाला भेददर्शी सर्वदा दुखी रहता है और ईश्वरको जाननेवाला अवेददर्शी सर्वदा सुखी रहता है। ईश्वराराधनामें ईश्वर जाना जाता है, इसलिये ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है। इसीमें पुरुषका अर्थ है।

ईश्वराराधना पुरुषार्थ है परन्तु ईश्वरको जाने बिना ईश्वराराधना नहीं हो सकती और ईश्वरका जानना ईश्वरको जाने बिना नहीं हो सकता। बहुत-से आई ईश्वरको मानते ही नहीं, तब ईश्वरका ज्ञान होना तो उनके लिये असम्भव-सा ही है, ईश्वरका सामान्य ज्ञान हुए बिना ईश्वराराधना नहीं हो सकती और ईश्वराराधना बिना पुरुषार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती, पुरुषार्थ सिद्ध हुए बिना दुःखकी निवृत्ति नहीं हो सकती। ऐसे ईश्वरको न माननेवालोंको दुःख-सागरमें डूबते हुए देखकर वेदवेत्ता उनपर करुणा करते हैं और उनकी शोक-सागरसे पार करनेके लिये अनेक युक्ति-प्रयुक्तियोंसे ईश्वरका स्वरूप, ईश्वराराधनकी रीति और उसका फल समझाते हैं। जो श्रद्धालु आत्मशक्ती उनके उपदेशको सुनकर उसका अनुकरण करते हैं, वे देर-सबेर अक्षर्य संसार-सागरसे तार जाते हैं और जो अश्रद्धालु, दुर्भाग्य उनके कथनपर ध्यान नहीं देते, वे अनेकों जन्मतक अपनी कृतव्रताका दुःसह दुःख भोगते रहते हैं।

इस वेदवेत्ताओंके आदेशका सार नीचेकी आस्थायिका-द्वारा जिज्ञासुओंके हितार्थ दिखलाते हैं और सब आई-बहनोंको सुबुद्धि देनेके लिये ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं, क्योंकि ईश्वर-रूपा बिना सुबुद्धि प्राप्त नहीं होती और

सुबुद्धि प्राप्त हुए बिना कोई अपना हित-सम्पादन करनेमें समर्थ नहीं होता, ऐसा बृद्ध और विद्वान् पुरुषोंका मिश्रित मत है।

पाँच पञ्च-संवाद

ईश्वरशरण—मित्रो ! काबू घटा आकाशमें छापी है, आनो देवराज इन्द्रने देव्योंपर करी चढ़ाई है। भावणका सुन्दर है महीना, मैह पक रहा है मीना-मीना। शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन चला रहा है, चञ्चल मनको कर अच्छा रहा है। विद्वानोंका मत है कि जहाँ पञ्च वहाँ परमेश्वर। यद्यपि ईश्वर सर्वत्र है परन्तु जहाँ पाँच पञ्च होते हैं, वहाँ ईश्वर प्रकट हो जाता है। हम सब मिलकर पाँच मित्र हैं, आओ, एकान्तमें बैठकर ईश्वरकी चर्चा करें। ईश्वर-चर्चा करना ही मनुष्य-जन्मको सार्थक करना है, भोग भोगनेके लिये तो एक कम चौरासी लाख योनियाँ हैं ही, भगवच्चर्चा तो केवल मनुष्य-योनियों ही हो सकती है। इसीलिये मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। इस मनुष्य-शरीरकी स्वर्गके देवता भी वाञ्छा करते हैं कि हमको मनुष्य-शरीर मिले, तो इस सर्वदाके लिये अमर करनेवाले भगवच्चर्चारूप अमृतका पान करें। जिन आत्मबान् अधिकारियोंको ईश्वरके चरणकमलके रजका स्पर्श हो जाता है, वे न स्वर्गकी इच्छा करते हैं, न चक्रवर्ती राज्य चाहते हैं, न अणिमादि ऐश्वर्यकी वाञ्छा करते हैं और न नरसातलके दिव्य भोग उनको रुचते हैं। ब्रह्माके पदतककी उन्हें चाह नहीं होती, तब अन्य पदार्थकी तो बात ही क्या है? भगवच्चरणप्रेमो मोक्षकी भी भूलकर चाहना नहीं करते, ऐसा विद्वानोंका निश्चय है। जहाँ भगवच्चर्चा हो, वह देश धन्य है, जिस काष्ठमें भगवत्-कथा कहने या सुननेमें आवे, वह काल पावन काल है। भगवत्-कथाके श्रोता और वक्ताओंको इच्छा बिना ही सर्व वाञ्छित वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। जितना समय भगवान्‌के गुणानुवाद करनेमें व्यतीत हो, वही समय जीवनरूप है, नहीं तो मरणरूप ही है। इसलिये आप सबने जो कुछ ईश्वरके बिषयमें निर्णय किया हो, क्रम-क्रमसे कहिये।

नवनसुख—आई ! मेरी समझमें तो ईश्वरका नाम-ही-नाम है, असलमें ईश्वर-बीश्वर कुछ है नहीं। जैसे कोई कहे कि खगुल्लानदीमें स्नान करके, गन्धर्व-नगरके चन्दनका तिलक लगाकर, आकाशके पुष्पोंकी माला पहिनकर, राजभंगका धनुष लेकर, गधेके सींगोंका

बनुषर बाख चढ़ाये हुए यह बन्ध्याका पुत्र जाता है। यह बचन कहनेमात्र ही है, इसका अर्थ कुछ नहीं है, इसी प्रकार ईश्वर वाणीसे कहनेमात्रका है, वस्तुतः कुछ नहीं है। मीरू पुरुषोंने उसका नाम ले-लेकर बातका बतंगड बा राईका पहाड़ बना दिया है अथवा झूठ-भूठका बालकका हीमा न होता हुआ भी होता-सा कर दिया है। ईश्वर होता तो दिखायी न देता ? सबको नहीं, तो किसीको तो दिखायी देता ? आजतक किसीने ईश्वरको नहीं देखा, इस-लिये ईश्वर है ही नहीं। ईश्वरको बतानेवाले वेद स्वार्थी ब्राह्मणोंके गोपोंके हैं, पुराण संग पी-पीकर ऋषि-मुनि कहानेवाले, दुनियाँको बहकानेवाले भूतोंके लिये हुए हैं। मेरी समझमें तो उनमें कुछ भी सार नहीं है। ईश्वरका तो मुझे नामतक नहीं सुहाता, ईश्वरका मानना ही सारी जगत्तकियाँ जड़ है और यही हमारी उन्नतिमें आठ है। मैं तो ऐसा समझता हूँ, फिर भी आप सब अपनी-अपनी दन्तकथा कहिये, मैं भी सुनता हूँ। चतुरोंने जो कुछ सीखा है, मूढ़ पुरुषोंसे ही सीखा है, आपकी बातोंमेंसे भी कुछ-न-कुछ सार तो मैं निकाल ही लूँगा। आपलोग कहिये, प्रेमसे कहिये, मैं ध्यान लगाकर सुनता हूँ और आपकी सुकियुक्त बात माननेको भी तैयार हूँ। अच्छा, आरम्भ कीजिये, श्रुतिप्रकाशकी ! पहले आप ही अपनी बौंसुरी बजाइये।

श्रुतिप्रकाश—आइयो ! श्रुति भगवतीपर मुझे पूर्ण विश्वास है, श्रुति भगवतीसे ईश्वरके विषयमें मुझे जो शिक्षा मिली है, उसमेंसे जो कुछ स्मरण है, मैं आपके सामने वर्णन करता हूँ, सुनिजिये—‘ईशावास्य’ श्रुति भगवती कहती है—यह स्थावर-जंगमरूप सर्व जगत् अभिन्न-निमित्त-उपादान-कारणरूप ईश्वरसे व्याप्त है अर्थात् ईश्वरमेंसे यह जगत् बना है और ईश्वरने ही जगत्को बनाया है, उस ईश्वरने इस जगत्को व्याप्त बानी पूर्ण कर रक्खा है। जैसे कि उपादान-कारणरूप मृत्तिकाके घटगढ़ावादि कार्योंको व्याप्त कर रक्खा है, वैसे ही ईश्वरने इस जगत्को व्याप्त कर रक्खा है। अथवा जैसे राजाकी छट्टिद्वारा नगरादि व्याप्त हुए होते हैं, वैसे ईश्वरसे जगत् व्याप्त किया हुआ है। अथवा जैसे मनुष्योंके शरीर कलाहिले व्याप्त होते हैं, वैसे ईश्वरने इस जगत्को व्याप्त कर रक्खा है। अथवा जैसे सुवासित पुष्प अपनी सुगन्धसे जलको रमणीय बनाता है, वैसे ईश्वरने अपनी स्फूर्तिसे इस जगत्को व्याप्त करके रमणीय बना

दिया है। अथवा जैसे प्रकृतिकी कारणरूप वासनाएँ जीवोंके मनको व्याप्त किये हुए हैं, वैसे जगत्पामी ईश्वरने इस जगत्को व्याप्त कर रक्खा है। यह ईश्वर वायु आवृत्ति रूपसे चलता है, स्वरूपसे नहीं चलता, क्योंकि अक्रिय है। यह ईश्वर अधिष्ठानोंको दूरसे भी दूर है, करोड़ों वर्षोंमें भी वे उसे पा नहीं सकते और विद्वानोंके लिये पाससे भी पास है, क्योंकि यह सबका प्रत्यगात्मा है। यह ईश्वर इस चराचर द्रव्यके भीतर है और बाहर भी है। जो इस ईश्वरको सब भूतोंमें और सब भूतोंको ईश्वरमें देखता है, वह अभेददर्शी पुरुष किसीकी निन्दा अथवा स्तुति नहीं करता। उस अभेददर्शीको न शोक होता है, न मोह होता है। जो इस ईश्वरको नहीं जानते, वे मरनेके पश्चात् अन्धकाररूप तमसे चिरे हुए लोकोंको प्राप्त होते हैं।

सामवेदकी ‘केन’ श्रुति कहती है—यह ईश्वर ओन्नका भी ओन्न है अर्थात् ईश्वरके सामर्थ्यसे ओन्न-इन्द्रिय अपना शब्द ग्रहण करनेमें समर्थ होती है। यह ईश्वर मनका भी मन है अर्थात् मन जो सर्व विषयोंको उपलब्ध करनेका साधारण कारण है, वह मन ईश्वरकी शक्तिये अपने विषयोंको उपलब्ध करनेमें शक्तिमान् होता है। यह ईश्वर वाणीकी वाणी है अर्थात् वागिन्द्रिय ईश्वरके अनुग्रहसे शब्द उच्चारण करनेका व्यापार करती है। यह ईश्वर चक्षुका चक्षु है अर्थात् नेत्र-इन्द्रिय ईश्वरकी सहायतासे अपने विषय रूपको ग्रहण करती है। आब यह कि, ओन्नान्द्रियकी प्रकृति जो अपने-अपने विषयोंमें होती है, उस प्रकृतिका कारणभूत ईश्वर उनमें विलक्षण चेतन-स्वरूप है, जैसे कि मकान आवृत्ति बनानेवाला राज मकान आवृत्तिसे भिन्न होता है। और पुरुष देह और ओन्नान्द्रिय इन्द्रियोंमेंसे आत्मबुद्धि त्यागकर इस ईश्वरका आत्मरूपसे साक्षात् करके प्रसूत अर्थात् मरणरहित—अमर हो जाते हैं, इन्द्र, वायु और अग्नि आदि समर्थ देवता भी इस समर्थ देव ईश्वरके अधीन हैं, उसकी सहायता बिना कोई किञ्चित् भी करनेमें समर्थ नहीं है।

‘कठ’ श्रुति कहती है—ॐ यह ईश्वरका नाम ओष्ठ आलम्बन है, परम आलम्बन है, इस आलम्बनको जानकर ब्रह्मलोकमें महानत्ताको प्राप्त होता है। यह नित्य चैतन्य-रूप आत्मा न जन्मता है, न मरता है, यह कभी उत्पन्न नहीं हुआ है, अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है, क्षीरके मरनेसे वह नहीं मरता। जो इसको इम्ता बानी

हवन-क्रियाका कर्ता मानता है और जो इसको हत यानी हवन-क्रियाका कर्म मानता है, वे दोनों इसको नहीं जानते; न यह मारता है, न मारा जाता है, यह आत्मा-ईश्वर परमाणु आदि सूक्ष्मले भी अति सूक्ष्म है और आकाशादि महान् ले भी अत्यन्त महान् है, समस्त जन्तुओंकी बुद्धिरूप गृहामें स्थित है अर्थात् बुद्धिसे जाननेमें आता है। इस आत्माकी महिमाको निष्काम पुरुष निर्मल अन्तःकरणके प्रसादसे देखता है और देखकर वीरशोक हो जाता है यानी शोकसे लक्षित जन्म-मरणादिसे रहित हो जाता है। यह आत्मा जाग्रत और स्वप्न-अवस्थाओंमें बँठा हुआ ही दूर चला जाता है यानी साक्षीरूपसे स्थित रहता है और सुषुप्ति-अवस्थामें सोता हुआ सर्वत्र चला जाता है यानी विशेष ज्ञानके अभावसे सामान्य ज्ञानरूपसे सर्वत्र जाता हुआ-सा कहलाता है। यह अनित्य शरीरोंमें अशरीररूपसे स्थित है, इस महान् विभु, आत्मा, ईश्वरको जानकर धीरे पुरुष कर्तृत्वादिरूप बन्धने रहित हो जाता है, इसलिये शोकके कारण अज्ञानके निवृत्त हो जानेसे शोकरहित हो जाता है।

‘प्रभ’ श्रुति कहती है—जैसे पक्षी वृक्षके घोंपलेमें सम्प्रतिष्ठित होते हैं—अस्य प्रकारसे रहते हैं, इसी प्रकार इस स्वयंप्रकाश ईश्वरमें स्थूल, सूक्ष्म, पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश सम्प्रतिष्ठित हैं। चक्षु द्रष्टव्य, श्रोत्र श्रोतव्य, घ्राण घ्रातव्य, रस रसयितव्य, त्वक् स्पर्शयितव्य, वाक् वक्तव्य, हन्त आदातव्य, उपस्थ भ्रानन्दयितव्य, पायु विसर्जयितव्य, पाद गन्तव्य, मन मन्तव्य, बुद्धि बोद्धव्य, अहंकार अहंकर्तव्य, चित्त चेतयितव्य, तेज विद्योतयितव्य और प्राण विधारयितव्य ये सब इस स्वयंप्रकाश आनन्दस्वरूप ईश्वरमें सम्प्रतिष्ठित हैं। पृथिवी आदि जब प्रपञ्च ही नहीं, किन्तु द्रष्टा, स्पृष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्ता और विज्ञानात्मा पुरुष, ये सभी इसी परमात्मामें सम्प्रतिष्ठित हैं। जो इस ज्ञापारहित, शरीररहित, वर्णरहित, शुभ-शुद्ध अक्षरको जानता है, वह परम अक्षरको ही प्राप्त होता है और सर्व एवं सर्वज्ञ हो जाता है।

‘सुखक’ श्रुति कहती है—यह ईश्वर दिव्य है, अमूर्त है, पुरुष है, बाहर है, भीतर है, अल है, अप्राण्य है, अमन है, शुभ है और अपने कार्यसे पर ओ अक्षर—अभाकृत है, उससे भी पर है। इसमेंसे प्राण, मन, सर्व इन्द्रियाँ,

आकाश, वायु, ज्योति, जल और विश्वको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है। यह सब भूतोंका अन्तरात्मा है, अग्नि इसका सिर है, चन्द्र-सूर्य इसके नेत्र हैं, दिशा ओत्र हैं, वेद इसकी बाजी हैं, वायु इसका प्राण है, विश्व हृदय है और पृथिवी इसके पैर हैं। इससे सुषोकरूप अग्नि उत्पन्न होता है, जिस अग्निका समिध सूर्य, चन्द्रमा, पर्जन्य, ओषधि और पृथिवी हैं। स्वर्गलोकको गया हुआ जीव सोमसे पर्जन्यमें आता है, पर्जन्यसे वृष्टिद्वारा पृथिवीपर आता है, पृथिवीसे ओषधिरूप अन्नमें आता है, अन्नको पुरुष भक्षय करता है, अन्नेसे बने हुए बीर्यको योषितमें लींचता है, उससे बहुत-सी प्रजा उत्पन्न होती है। ऋगादि चारों वेद, दीक्षा, यज्ञ, क्रतु, दक्षिणा, संवत्सर, यजमान और लोक जिनमें चन्द्र पवित्र करता है और सूर्य सपता है, वे सब अक्षर ईश्वरसे उत्पन्न होते हैं। देवता, साध्व, मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राण्य, अपान, मीहि, यव, तप, अन्ना, सत्य, ब्रह्मचर्य और विधि समुद्र, पर्वत और नदियाँ सब ईश्वरसे उत्पन्न होते हैं।

‘माषहृक्’ श्रुति कहती है—यह आत्मा ब्रह्म है, यही सर्व है, यह आत्मा चार पादवाला है। प्रथम पाद जाग्रत-स्थान है, यहाँ यह बहिःप्राज्ञ यानी बाहरका जाननेवाला होता है। इसके सात अंग और उन्नीस मुख हैं, स्थूल इसका भोग है और इसका नाम वैश्वानर है। (यु, सूर्य, वायु, आकाश, जल, पृथिवी और आहवनीय अग्नि ये सात अङ्ग हैं। सिर, चक्षु, घ्राण, पेट, वस्ति, पाद और मुख ये सात स्थान सात अंगोंके रहनेके हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण ये उन्नीस मुख हैं। दूसरा पाद स्वप्न-स्थान है। यहाँ यह अन्तःप्राज्ञ होता है यानी हृदयमें देखनेवाला होता है। जाग्रतके समान यहाँ भी इसके सात अंग और उन्नीस मुख हैं। यहाँ यह वासना-मय भोग भोगता है, तैजस इसका नाम है। तीसरा पाद सुषुप्त-स्थान है, यहाँ यह सोता हुआ न कुछ कामना करता है, न स्वप्न देखता है। सुषुप्त-स्थानमें एकीभूत, प्रज्ञानधन आनन्दमय होता है, आनन्दको ही भोगता है, यहाँ यह चेतोमुख होता है; प्राज्ञ इसका नाम है। यह सर्वेश्वर है, सर्वज्ञ है, अन्तर्धामी है, कर्मण्य है, सर्व भूतोंकी उत्पत्ति और नाश इससे होते हैं। चौथा पाद न अन्तःप्राज्ञ है, न बहिःप्राज्ञ है, न उभयप्राज्ञ

प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है, अदृष्ट है, अध्येयार्थ है, अग्रह है, अलक्षण है, अचिन्त्य है, अभ्यपदेश है—साब्दशक्तिका अविषय है, एक आत्मा, इस आकारका प्रत्यय यानी अव्यभिचारी ज्ञान ही इसमें सार—प्रमाण है अथवा एक आत्म-प्रत्यय ही इसके जाननेमें प्रमाण है, यह प्रपञ्चसे रहित है, शान्त है, अद्वैत है, यह चौथा पाद माना जाता है, यह आत्मा है, वह विज्ञेय—ज्ञाननेयोग्य है, जो इसको जानता है, वह आत्माद्वारा आत्माको ही प्राप्त होता है।

‘तैत्तिरीय’ श्रुति कहती है—आनन्द ब्रह्म है, ऐसा जानो। आनन्दसे ही निश्चय वे सब भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे ही उत्पन्न हुए जीते हैं, आनन्दमें ही अन्तमें लय हो जाते हैं, यह वर्णकी भृगुसे कही हुई विद्या है, यह विद्या हृदयाकाररूप गुह्यमें परमानन्द अद्वैत-स्वरूप ब्रह्ममें समाप्त होती है। जो विद्वान् इसको जानता है, ब्रह्ममें स्थित होता है, ब्रह्म ही हो जाता है।

‘ऐतरेय’ श्रुति कहती है—यह ब्रह्म ही इन्द्र है, यह प्रजापति है। ये सब देवता, पृथिवी, वायु, आकाश, जल और उद्योति, ये पञ्चमहाभूत, जरायुज, अणुज, स्वेदज, उज्जिज, ये चार प्रकारके स्यावर-जन्म प्राणी सब प्रज्ञानमें प्रतिष्ठित हैं, प्रज्ञान ब्रह्म है, जो इस प्रज्ञान ब्रह्मको जानता है, वह इस लोकसे उत्क्रमण करके स्वर्ग-लोकमें—स्वप्रकाशात्मक ब्रह्ममें सर्व कामनाओंको प्राप्त होकर अमृत हो जाता है।

‘ब्रान्दोम्य’ श्रुति कहती है—यह सत् ही सृष्टिके पूर्व एक अद्वितीय था। सब जगत् इसीका स्वरूप है, वह सत्य है, वह आत्मा है, वह नू है। इस एकके जाननेसे सबका ज्ञान हो जाता है। जैसे मृत्तिका सत्य है, मृत्तिकाके कार्य घट-शरावादि वाण-मात्र होनेसे मिथ्या हैं, जैसे जोहा सत्य है, तलवार, चाकू आदि जोहेके कार्य कथनमात्र होनेसे मिथ्या हैं और जैसे सुवर्ण सत्य है, सुवर्णके कटक, कुबड्डीदि कहनेमात्र होनेसे मिथ्या हैं, इसी प्रकार यह सत्-रूप आत्मा सत्य है और इसका कार्य नामरूप जगत् कथनमात्र होनेसे मिथ्या है।

सब सुख चाहते हैं, दुःख कोई नहीं चाहता, विद्वान् सुखके क्रिये इन्द्रिय-संयमादि करते हैं। सुखको जानना चाहिये। सुख क्या है? जो भूमा यानी महान् है, वह सुख है, अल्पमें सुख नहीं है, भूमा ही सुख है, भूमाको

जानना चाहिये। भूमा क्या है? जहाँ दूसरेको नहीं देखता, दूसरेको नहीं सुनता, दूसरेको नहीं जानता, वह भूमा है; जहाँ दूसरेको देखता है, दूसरेको सुनता है, दूसरेको जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वह अमृत है और जो अल्प है, वह मर्त्य यानी मृत्युप्रसूत है, जो इस भूमाको जानता है, वह स्वराट् होता है और सब लोकोंमें उसका कामचार होता है।

‘बृहदारण्यक’ श्रुति कहती है—इस अक्षर परमेश्वरकी आज्ञामें सूर्य और चन्द्रमा बरते हैं। इस अक्षरकी आज्ञामें स्वर्ग और पृथिवी उदरे हुए हैं। इसकी आज्ञामें निमेष, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतु और संवत्सर हैं। इस अक्षरकी आज्ञासे गङ्गा-यमुनादि नदियाँ हिमाचल-पर्वतसे निकलकर पूर्व दिशाको बहती हैं, इसीकी आज्ञासे सिन्धु आदि नदियाँ पश्चिम दिशाको बहती हैं। इस अक्षरकी आज्ञासे दानवीकी मनुष्य प्रशंसा करते हैं। देखता अन्य प्रकारसे जीनेमें समर्थ हैं, तो भी यजमानके दिये हुए पुरोडाशादिकी प्रसन्नतासे प्रहस्य करते हैं और अर्घ्यमादि पितर आत्ममें दिये हुए पदार्थोंको लेते हैं। जो इस अक्षरको जानकर इषन करता है, यजन करता है और तप तपता है, वह अनन्त फल पाता है। जो इस अक्षरको न जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह कृषण है और जो इसको जानकर इस लोकसे मरकर जाता है, वह ब्राह्मण है। यह अक्षर अदृष्ट होकर भी द्रष्टा है, अक्षुत होकर भी श्रोता है, अमृत होकर भी मन्ता है, अविज्ञात होकर भी विज्ञाता है, इसके सिवा अन्य द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता नहीं है, इसमें समस्त ब्रह्माण्ड ओतप्रोत है रज्जुमें भुजङ्गादिके समान आरोपित है।

हे मित्रो! यह सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर ही जानने और देखनेयोग्य है। अबश्य, मनन और निदिध्यासनरूप आराधनासे ईश्वर जानने और देखनेमें आता है, ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है—परम पुरुषार्थ है।

नयनसुख—वाह भाई श्रुतिप्रकाश! वाह! आपके कथनने तो मेरे अँधेरे हृदयमें प्रकाश कर दिया, मेरे कानोंका मेक निकल गया और मेरी आँखें खुल गयीं! आप-सरीखे विद्वानोंका जन्म ही सफ़ल है, मैंने तो ब्रह्मा ही जन्म किया! अफ़्फ़ा भाई! स्थितिवद्भन ! आप अपने बाँधनोंकी वाग्वी विद्याकाव्ये।

स्मृतिब्रह्म—मित्रो ! वह समस्त चराचर जगत् ईश्वरके अधीन है, ईश्वरकी कृपा ही मनुष्योंका बल है, ईश्वरकी कृपा ही जीवोंका धन है, केवल ईश्वरकी कृपा ही इस जन्म-मरण, शोक-मोहमय संसाररूप रोगकी शोषधि है। विश्वराज महादेवके गुणानुवाद् ओम्-इन्द्रिय-से सर्वथा सुने, अन्तर्यामी हृदयमें स्थित ईश्वरका सदा स्पर्श करे, नेत्र-इन्द्रियसे विश्वभावन पूर्ण औपतिका विश्वरूप नाट्यशास्त्रमें दर्शन करे, जिह्वा-इन्द्रियसे रसोंके भी रस महाविष्णुके चरक-मकरन्दका स्वाद ले और नासिकासे जमरके समान अगवान्के चरणकमलका सुन्दर विषय गन्ध सूँघे, मुखसे जनार्दनके पवित्र मंगलरूप नाम या नामोंका उच्चारण करे, पावन यशका गान करे, हाथसे भगवत्-प्रीतिके अर्थ यथाशक्ति दान दे और अन्य कार्य भी सुकुण्ड भगवान्की प्रसन्नताके लिये करे, पक्षोंमें भगवत्-मन्दिर और भगवजनोंके स्थानपर जाय, चित्तसे चैतन्यमूर्ति सर्वसाक्षी विश्वेश्वरका स्मरण करे, मनसे मनन, बुद्धिसे भगवत्-तत्वका निश्चय करे और अहंकार भगवत्के अर्पण कर दे, इसप्रकार सर्व इन्द्रियों-में जो परमेश्वरका अर्चन करता है, वह उस पूर्ण परमात्माकी कल्याण प्राप्त करनेका पात्र होता है, ईश्वर ही सर्व चराचर है, उसके सिवा अन्य कुछ नहीं है। वह विश्वेश ही दाता, पाता, कर्ता, भोक्ता और भवका आश्रय यानी आधार है। वही एक सबकी उत्पत्ति करता है, उस नित्यमें ही सब स्थित है और उसी नित्य, परिपूर्ण, परात्परमें सब लय होता है, वही निर्गुण है, वही सगुण है, मायावी है, मायातीत है, वही अर्थात्पर अनुकम्पा करनेके लिये अनेक दिव्य मूर्ति धारण करता है।

परमेश्वरका कोई नाम नहीं है, उस नामविहीन ईश्वरके अपनी-अपनी आवनाओंके अनुसार भाषुकोंने अनेक नाम रखे हैं। परं ब्रह्म, परात्पर, परासंखित्, परमेशिव, परमात्मा, महाविष्णु, भगवान्, परमेश्वर, कृष्ण, राम, शिव, दुर्गा, मारामय, हर, हरि, अनन्त, जनार्दन, सुकुण्ड, शेष, गणेश, सत्य, प्रज्ञान, बासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिष्टद इत्यादि असंख्य नाम भाषुकोंने कहे हैं। ये सब नाम उस एकके ही वाचक हैं। उस परेश, हृषीकेश, सखिदानन्द, अमृतका शुचि होकर आस्तित्व-बुद्धिसे आत्मवान् अधिकारी सर्वथा ही पूजन करे। वेदमें,

धर्ममें और ईश्वरमें अन्त होनेका नाम आस्तित्व-बुद्धि है। उस भक्तानुग्राहक देवकी कृपासे भुक्ति और मुक्ति सहज-हीमें करतलगत होती हैं, इसलिये उस पूजनीय देवका निरन्तर आर्द्र-सत्कारसहित अनन्य बुद्धिसे पूजन करे। उसकी कृपा गुणहीनको विषय गुणवाका बना देती है अर्थात् शान्ति, सम्पत्ति, चमत्, आर्जव, विवेक, वैराग्य, शम, दम, क्षीरता, क्षीरता, उदारता आदि गुण भगवत्के भक्तमें अनायास ही आ जाते हैं। जिस आत्मशालीको परमदेवकी कृपा कणभर भी प्राप्त हो गयी है, वह अन्य है और वही इक्ष्वाक्य—प्रसंसनीय है।

ईश्वरभक्तिहीन जीवोंके लिये तत्त्वदर्शां अनुकोश करते हैं—शिवाचनसे बिहीन और शिवकी कथामृत पान किये बिना जो दिन चला गया, वह दिन निश्चय दुर्दिन है और निष्फल है। जो मुहूर्त भगवत्-स्मरण बिना बीत गया, उस मुहूर्तके लिये पश्चात्तापपूर्वक रुदन करना चाहिये। जो आत्महीन संसाररूप सर्पसे बसे गये हैं उसके लिये सर्व अवस्थामें सर्वत्र सर्वदा हरिचिन्तन सुन्दर भेषज अथवा गारुडी मन्त्र है। बिहान् कदापि न तो अन्यको भजे, न अन्यका चिन्तन करे और न अन्यका सुने, सर्वदा राममय होवे ! सर्वोदार, निराधार, पूर्ण प्रेमस्वरूप, हृदयस्थ सुकुण्ड संकरका नित्य चिन्तन करे !

ईश्वरमें ममता—इसप्रकार धाता, परमात्मा, भगवन्त, भवेश्वरमें उसकी कल्याणके प्रभावसे भावुक ममता प्राप्त करे। निष्काम ममतायुक्त बिष्णुके चिन्तन-परायण होकर भगवत्प्रेमी समस्त इन्द्रियोंको शीघ्र ही अन्तर्मुखी करे ! मनको अनन्यविषय अर्थात् अन्यके सम्पर्कमें रहित करके भगवज्जन सुबुद्धि प्राप्त करता है और उसकी शम्भुमें परम प्रेमसंस्तुत अनन्य ममता हो जाती है। शम्भुमें अनन्य ममताका होना बहुत दुर्लभ है, बड़े भाग्यमें शम्भुमें अनन्य ममता होती है। महाविष्णुमें अनन्य ममता ही मनुष्योंका आलम्बन है, वही पर-आलम्बन है। अनन्य प्रेमके योगसे विशोकपदका आलम्बन लेकर भगवज्जक शुद्ध बुद्धि पदमें सर्वथा जीव-आत्माको इनन करे, परम निर्मल होकर क्षेत्रज्ञ—जीवको ब्रह्ममें लय करे और मनको वृत्तिहीन करके जीवको शिखमें विखीन कर दे ! इसप्रकार जितेन्द्रिय अधिकारी ज्ञानी, योगी और मुनि हो जाता है और शाश्वती शान्तिरूप परमा सिद्धि—मोक्षको प्राप्त होता है। जैसे जलके बिना प्यास नहीं बुझती, वह निश्चित है।

इसी प्रकार ब्रह्म-प्राप्ति बिना जीव पुनः के अन्तको नहीं प्राप्त होता, इसमें सन्देह नहीं है। जैसे अग्नि की सन्धिसे नवनील—मक्खन कीज हो जाता है, इसी प्रकार ईश्वर की सन्धिसे पाकर शोक, मोह, भय, चिन्ता आदि दोष बिकीन हो जाते हैं। जैसे प्रज्वलित अग्निसे सूखा काष्ठ शीघ्र ही जल जाता है, इसी प्रकार ईश्वर-दर्शनरूप अग्निसे समस्त दोष भस्म हो जाते हैं। बिना जगत् की चिन्ताको छोड़कर निरप्य ईश्वरानुसन्धान करता हुआ संसार-सागरको गोपयके समान तर जाता है। इसलिये ईश्वरचिन्तनमें प्रसाद न करना चाहिये, किन्तु बाधरहित स्थानमें स्थित होकर सर्वदा ध्यानादि करने चाहिये। अतुल्य रसानन्द ईश्वरका ध्यान करता हुआ परमावृत्त-समुद्रमें सर्वदा ही नम्र रहे, इसलिये कहा है कि ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है !

नमनसुः—आई स्थितिबल्लभ ! आप तो निश्चय ईश्वरबल्लभ और जगत्बल्लभ ही हैं, श्रुतिप्रकाशके कथनसे भी आपका व्याख्यान विशेष रुचिकर और चित्ताकर्षक है, क्योंकि श्रुतिप्रकाशका निरूपण सारगर्भित होते हुए भी गूढ़ है, साधारण की समझमें आना कठिन है, पर आपका कथन तो सारगर्भित होते हुए भी सरल और सीधा है, साधारण मनुष्य की बुद्धि भी उसको ग्रहण कर सकती है। आप धन्य हैं, जिनकी ईश्वरमें ऐसी अद्भुत और अनन्य प्रेम है। मेरा चित्त जैसा आज प्रसन्न हुआ है, वैसा आधुनिकमें कभी नहीं हुआ ! मुझे आशा होती है कि आपका स्वसंग प्राप्त करनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ, तो निश्चय मेरा भी अवश्य ही कल्याण हो जायगा। मैं आपको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। अच्छा आई तर्ककुशल ! आप भी बाककी खाक निकाकिये। श्रुति-स्थितिको तो विद्वानोंने प्रमाद्य माना ही है, युक्ति भी प्रमाद्यरूप ही है।

तर्ककुशल—मित्रो ! इन दोनों भाइयोंके समान ईश्वर-प्रेम तो मुझमें है नहीं, समान क्या, केश भी नहीं है, प्रत्यक्ष तात्विको मैंने अभी तक समझा भी नहीं है। हाँ, इतना जानता हूँ कि आत्मा-जीव शरीरसे निम्न है और ईश्वर उसका नियामक है। जिन बुक्तियोंसे हमारे आचार्यों ने ईश्वर सिद्ध किया है, उन्हीं बुक्तियोंको मैं आपके समक्ष वर्णन करता हूँ, सुनिचे। ईश्वर प्रत्यक्ष-प्रमाणका विषय नहीं है, अनुमान-प्रमाणका विषय अवश्य है। हमारे आचार्य निम्न लिखित नौ अनुमान-प्रमाणोंसे ईश्वर की सिद्ध करते हैं—

(१) अंकुरादिरूप कार्य, कार्य होनेसे, किसी कर्तासे जन्म है। ओ कार्य होता है, वह किसी कर्तासे जन्म होता है। कर्ता बिना कोई कार्य उत्पन्न नहीं होता, जैसे घटरूप कार्य कुलाररूप कर्तासे जन्म है, वैसे अंकुरादि कार्य भी अवश्य किसी कर्तासे जन्म हैं। उन अंकुरादि कार्योंका कर्तापना किसी जीवमें तो हो नहीं सकता, ईश्वरमें ही हो सकता है। कोई कहे कि 'कर्ता बिना केवल पृथिवी-जलके संयोग आदिसे अंकुरादिकी उत्पत्ति हो सकती है, ईश्वरको कर्ता माननेका क्या प्रयोजन है ?' इसका उत्तर यह है कि ईश्वररूप कर्ता बिना केवल पृथिवी-जलके संयोग आदिसे अंकुरादि कार्योंकी उत्पत्ति मार्गेण, तो घर आदि कार्य भी कुलार आदि रूप कर्ता बिना केवल श्रुतिका-जलके संयोग आदिसे उत्पन्न होने चाहिये। परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता, इसलिये अंकुरादि कार्योंकी उत्पत्ति ईश्वररूप कर्तासे ही माननी चाहिये। इससे स्वेदनादि शरीरोंकी उत्पत्तिका भी ईश्वर ही कर्ता है, ऐसा सिद्ध हुआ समझना।

(२) श्रुतिक आदिकाकमें द्रव्यरूप कार्यका प्रयोजक जो परमायुनिष्ठ किरारूप कर्म है, वह कर्म, कर्म होनेसे किसी प्रयत्नसे जन्म है, ओ कर्म होता है, वह किसी प्रयत्नसे जन्म होता है। जैसे घटरूप कार्यका प्रयोजक जो कपाळनिष्ठ कर्म है, वह कर्मरूप होनेसे कुलाररूप जीवारमाके प्रयत्नसे जन्म है, वैसे परमायुओंका कर्म भी कर्मरूप होनेसे अवश्य किसीके प्रयत्नसे जन्म है। जीवारमाका प्रयत्न तो परमायुओंके कर्मका कारण हो नहीं सकता, इसलिये ईश्वरका प्रयत्न ही उस कर्मका कारण है। इस विलक्षण प्रयत्नका आशय ईश्वर है, ऐसा सिद्ध होता है।

(३) आकाशमें स्थित गुरुत्वधर्मवाले सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रादि द्रव्य वृत्तिवाले होनेसे, नीचे पतनके प्रतिबन्धक किसी प्रयत्नसे प्रयुक्त हैं, ओ द्रव्य वृत्तिवाला होता है, वह द्रव्य पतनके प्रतिबन्धक प्रयत्नसे प्रयुक्त ही होता है। जैसे आकाशमें स्थित गुरुत्वधर्मवाला नीचे पतनसे रहित पक्षीका शरीर वृत्तिवाला होनेसे नीचे पतनके प्रतिबन्धक प्रयत्नसे प्रयुक्त ही है। जैसे पक्षी-शरीरावच्छिन्न जीवात्माका प्रयत्न पक्षी-शरीरके नीचे पतनमें प्रतिबन्धक है, वैसे आकाशमें स्थित गुरुत्वधर्मवाले सूर्य आदि भी वृत्तिवाले होनेसे नीचे पतनके प्रतिबन्धक किसीके प्रयत्नसे अवश्य प्रयुक्त होने चाहिये। किसी जीवात्माका प्रयत्न तो सूर्यादिके पतनका

प्रतिबन्धक हो नहीं सकता, ईश्वरका प्रयत्न ही सिद्ध होता है। ऐसे विजयप्रयत्नके आश्रयसे ईश्वर सिद्ध है।

(४) प्रत्ययकाशमें सर्वप्रकाशका नाश, नाश होनेसे, किसीके प्रयत्नसे जन्म है; जो नाश होता है वह किसीके प्रयत्नसे जन्म होता है, जैसे घटका प्रणवसामाख्य नाश, नाशरूप होनेसे, जीवात्माके प्रयत्नसे जन्म होता है, जैसे प्रकाशका नाश भी, नाशरूप होनेसे, अवश्य किसीके प्रयत्नसे जन्म होना चाहिये। वह प्रयत्न जीवात्माका तो हो नहीं सकता, ईश्वरका ही हो सकता है। उस विजयप्रयत्नका आश्रय ईश्वर सिद्ध है।

(५) घटशब्दके सुननेसे लोकोंको घटरूप अर्थका बोध होता है, पटरूप अर्थका बोध नहीं होता, जैसे ही पटशब्द सुननेसे पटका बोध होता है, घटका बोध नहीं होता। यह घट-पटादि शब्दरूप व्यवहार, व्यवहाररूप होनेसे, किसी स्वतन्त्र पुरुषसे प्रयोज्य है। अर्थात् घटसे घटरूप अर्थका और पटसे पटरूप अर्थका बोध है, इत्यादि संकेत किसी स्वतन्त्र सर्वज्ञ पुरुषसे पूर्वमें कर रक्खा है; जो व्यवहार होता है वह किसी स्वतन्त्र पुरुषसे प्रयोज्य ही होता है। जैसे किसी आधुनिक पुरुषका कल्पित किबा हुआ लिपि आदि व्यवहार है। भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न पुरुषोंने लोकोंको ककारादि शब्दोंका बोध करानेके लिये क, ख, ग, घ, ङ आदि लिपिकी कल्पना कर रक्खी है। उस लिपिको देखकर उस देशवालोंको ककारादि शब्दोंका बोध होता है। जैसे लिपि आदि व्यवहार, व्यवहार होनेसे किसी आधुनिक पुरुषसे प्रयोज्य है, इसी प्रकार घटादि व्यवहार भी, व्यवहार होनेसे किसी स्वतन्त्र पुरुषसे प्रयोज्य होना चाहिये, इस व्यवहारकी प्रयोजकता किसी जीवमें तो हो नहीं सकती, सर्वज्ञ स्वतन्त्र ईश्वरको ही इस व्यवहारका प्रयोजक मानना पड़ेगा।

(६) वेद-वाक्य-अन्वय यथार्थ ज्ञानरूप प्रमा शब्द-प्रमा होनेसे वेदके वक्ता पुरुषके यथार्थ वाक्यार्थ-ज्ञानसे जन्म है, जो प्रमा होती है, वह वक्ता पुरुषके यथार्थ वाक्यार्थ-ज्ञानसे ही जन्म होती है, जैसे चैत्र नामक पुरुषके 'घटमानय' (घट ला) इस वाक्यसे जन्म चैत्र नामक पुरुषकी प्रमा, शब्द-प्रमारूप होनेसे, चैत्र नामक वक्ता पुरुषके उस वाक्यके यथार्थ ज्ञानसे ही जन्म होती है, जैसे वेद-वाक्योंसे भी अधिकारी पुरुषोंको जो यथार्थ ज्ञानरूप प्रमा उत्पन्न होती है, वह प्रमा भी शब्द-प्रमा-

रूप होनेसे उस वेदके वक्ता पुरुषके उस वाक्यके यथार्थ ज्ञानसे अवश्य जन्म होनी चाहिये। ऋगादि वेदोंका उत्पादकत्व-रूप वक्तापना किसी जीवमें तो हो नहीं सकता, सर्वज्ञ ईश्वरमें ही हो सकता है, इसलिये ईश्वररूप वक्ताके यथार्थ वाक्यार्थ-ज्ञानसे ही ओताधर्मोंमें वेद-वाक्य-अन्वय शब्द-प्रमा उत्पन्न होती है।

(७) ऋगादि वेद, वेदरूप होनेसे, किसी असंसारी पुरुषसे रचित होनेयोग्य हैं, जो शास्त्र असंसारी पुरुषका रचना हुआ नहीं होता, वह शास्त्र वेदरूप भी नहीं होता। जैसे प्रसिद्ध रघुवंशादि काव्य असंसारी पुरुषके रचे हुए नहीं हैं किन्तु कालिदास आदि संसारी पुरुषोंद्वारा रचित हैं, इसलिये वे वेद नहीं हैं, ऋगादि वेद काव्यके समान अवेदरूप नहीं हैं किन्तु वेदरूप ही हैं, इसलिये वे सब असंसारी पुरुषके रचे हुए हैं। ऋगादि वेदोंका उत्पादक संसारी पुरुष जीवात्मा तो हो नहीं सकता, किन्तु असंसारी ईश्वर ही वेदोंका उत्पादक सिद्ध होता है।

(८) वेद, वाक्यरूप होनेसे, पौरुषेय अर्थात् किसी पुरुषसे रचित होनेयोग्य हैं, जो शास्त्र वाक्यरूप होता है, वह शास्त्र पौरुषेय ही होता है, जैसे महाभारत वाक्यरूप होनेसे पौरुषेय है अर्थात् श्रीमत्सत्वरूप पुरुषसे रचित है जैसे वेद भी किसी पुरुषसे अवश्य रचित होने चाहिये। वेदका कर्तापना किसी जीवात्मामें तो सम्भव है नहीं, ईश्वरमें ही सम्भव है, इससे ईश्वर सिद्ध होता है।

(९) द्रव्यपुरुषके परिमाणका असमवायिकारणरूप दो परमायुनिष्ठ द्वित्व-संख्या अपेक्षा-बुद्धिसे जन्म होनेयोग्य है, एकत्व-संख्यासे अन्य संख्या होनेसे। जो संख्या एकत्व-संख्यासे अन्य संख्या होती है, वह संख्या अपेक्षा-बुद्धिसे ही जन्म होती है। जैसे दो घटोंमें स्थित द्वित्व-संख्यासे अन्य संख्या होनेसे 'यह एक' 'वह एक' इसप्रकारकी अपेक्षासे जन्म होती है, जैसे दो परमायुनिष्ठ द्वित्व-संख्या भी एकत्व-संख्यासे अन्य संख्या होनेसे अपेक्षा-बुद्धिसे ही जन्म होनी चाहिये। जीवात्माकी परमायुविषयक अपेक्षा-बुद्धि नहीं हो सकती, ईश्वरकी अपेक्षा-बुद्धिसे ही उन परमायुओंमें द्वित्व-संख्याकी उत्पत्ति होती है, ऐसी अपेक्षा-बुद्धिका आश्रय ईश्वर हो हो सकता है।

इसप्रकारके नव अनुमानोंसे ईश्वरकी सिद्धि होनेपर ईश्वर-उत्तरितत्व-हेतुसे वेदोंमें भी प्रमावरूपता सिद्ध हो सकती है, इसलिये वेद भी ईश्वरके सन्नायमें प्रमावरूप हैं,

वेद कहते हैं—स्वर्ग तथा भूमिको उत्पन्न करता हुआ वह एक परमात्मादेव सर्व विषयका कर्ता है, सर्व भुवनोंका रक्षक है। यह पुरुष ईश्वरकी उपासना करे। जो ईश्वर सामान्यरूपसे सबका जाननेवाला है, वही ईश्वर विशेषरूपसे सबका जाननेवाला है। इस ईश्वरका ज्ञानमय तप है, यह ईश्वर इच्छा करता हुआ, ह्यादि अनेक वेदकी श्रुतियाँ ईश्वरमें प्रमाणरूप हैं। 'हे अर्जुन ! ईश्वर सर्व भूतोंके हृदयदेशमें स्थित है।' इत्यादि स्मृतियाँ भी ईश्वरमें प्रमाणरूप हैं। यदि सर्व जगत्का कर्ता ईश्वर अङ्गीकार न करें, तो नियन्ताका अभाव होनेसे सूर्य-चन्द्र आदि ग्रहोंका विपरीत उदय-अस्त होना चाहिये, मेघमण्डलको योग्य कालमें वृष्टि न करनी चाहिये, क्योंकि चेतन बिना अचेतन वस्तुओंका नियत कालमें गमन-आगमन नहीं हो सकता। सूर्य-चन्द्रादि ग्रहोंका नियत देश-कालमें उदय-अस्त देखनेमें आता है और मेघमण्डल भी नियत कालपर वृष्टि करता है, इसने जाननेमें आता है कि कोई सर्वज्ञ चेतन इस जगत्का नियन्ता है, जिसकी आज्ञासे यह सूर्य-चन्द्रादि नियमपूर्वक गमनागमन कर रहे हैं। सूर्य-चन्द्रादिका नियन्तापना किसी जीवामात्रमें हो नहीं सकता, सर्वज्ञ ईश्वरमें ही हो सकता है, इसलिये सूर्य-चन्द्रादिका नियमपूर्वक उदय-अस्त होना ईश्वरकी सिद्धि करता है, ऐसे ईश्वरकी आराधना अर्थात् ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है।

नयनसुख-आई तर्ककुशल ! आपके अनुमान बहुत सुन्दर और ईश्वरकी सिद्धि करनेवाले हैं, इसमें संशय नहीं है, आप चारों भाइयोंके वचनरूपी अङ्गनने मेरी आँखें खोल दी हैं और मेरे नामको यथार्थ कर दिया है। अबतक तो मैं 'आँखोंका अन्धा, नाम नयनसुख !' ही था, आज आपके प्रतापमे मैं सच्चा नयनसुख हो गया। मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि ईश्वर है, वही सब कुछ करता-कराता है, उसके सिवा दूसरा करने-करानेवाला नहीं है, जो कुछ प्राप्त होता है, ईश्वरकी कृपासे ही होता है और ईश्वराराधना ही पुरुषार्थ है। आई ईश्वर-शरण ! आप हम सबसे ज़ुल और गम्भीर हैं, आपके पेटकी थाह किसीकी नहीं मिलती, आप बहुत कम बोलते हैं, यदि बोलते हैं तो ईश्वरके सम्बन्धमें ही बोलते हैं, संसारी बातें आपके मुलकमलसे नहीं निकलतीं, आपके वचनामृत सुननेको भेरा मन बहुत ही उत्सुक है और

वे तीनों आई भी उत्कण्ठित दीखते हैं, कृपया हमारा मनोरथ पूर्ण कीजिये।

ईश्वरशरण-मित्रो ! जैसा तर्ककुशलने कहा कि ईश्वर प्रत्यक्ष-प्रमाणसे नहीं जाना जाता, केवल अनुमान-प्रमाणसे सिद्ध होता है, यह उनका कथन कुछ-कुछ ठीक ही है, परन्तु ईश्वर प्रत्यक्ष वा अनुमान-प्रमाणसे जाननेमें नहीं आता, केवल शाब्द-प्रमाण अर्थात् श्रुतिसे ही जाननेमें आता है। ईश्वर रूप-रसादिसे रहित होनेके कारण इन्द्रियोंका विषय नहीं, इसलिये प्रत्यक्ष-प्रमाणसे जाननेमें नहीं आता। लिङ्ग सादृश्यादिसे रहित होनेसे ईश्वर अनुमान-प्रमाणका विषय नहीं है, केवल श्रुतिसे ही जाना जाता है। 'उपनिषत्स्वेवाधिगतः' (उपनिषदोंमें ही अधिगत—प्राप्त है) इस स्युपपत्तिसे और 'नावेद्विन्मनुने तं बृहन्तम्' (वेद न जाननेवाला उस बृहत्को नहीं जानता) इस निषेध-श्रुतिसे सिद्ध है कि वह केवल वेदमे ही जाना जाता है। यदि कोई शङ्का करे कि 'श्रुति तो ब्रह्म—ईश्वरको मन-वाणीका अविषय बताती है, तो फिर श्रुति उसका कैसे उपदेश करती है और जीव उसको मनमे कैसे जानता है, क्योंकि जीवके पास मन ही तो जाननेका एक साधन है ?' तो इसका उत्तर यह है कि अशुद्ध मनमे ईश्वर जाननेमें नहीं आता। वह निर्मल मनमे अवश्य जाननेमें आता है, क्योंकि शुद्ध मन ब्रह्माकार होता ही है, ऐसा विद्वानोंका अनुभव है।

वाणी वैखरी, मध्यमा, पद्म्यन्ती और परा चार प्रकारकी है। पहली तीनोंमे ईश्वर जाननेमें नहीं आता, परा वाणीमे अवश्य जाननेमें आता है क्योंकि परा वाणी असंसारी होनेमे ईश्वरतत्त्वकानिरूपण करनेवाली है, इस-प्रकार श्रुतिका उपदेश और अधिकारी मुमुक्षुका समझना बन सकता है। विचारकर देखा जाय तो यद्यपि ईश्वर किसी प्रमाणका विषय न होनेपर भी परम अपरोक्ष है क्योंकि वह सबका आत्मा है और आत्मा किसीको कहीं, कभी किसी प्रकार अपरोक्ष नहीं है। ऐसा अपरोक्ष ईश्वर भी जाननेमें नहीं आता, वह अनुप्योंका दुर्माग्य ही है। अहंकार और ममताकी आध आ जानेसे परम प्रत्यक्ष ईश्वर भी दिखायी नहीं देता, ईश्वरकी कृपा बिना और महान् पुरुषोंकी सेवा बिना ईश्वरका दर्शन नहीं होता। ईश्वरका नाम जपनेसे, हृदयेका ध्यान करनेसे, सबमें ईश्वर-भाव करनेसे, रागाद्वेषका त्याग करनेसे ईश्वरकी कृपा होती है और ईश्वर-कृपासे ईश्वरका दर्शन होता है। ईश्वर-दर्शनसे

सब शोककी बरस निवृत्ति और बरमानन्दकी प्राप्ति होती है, इसीलिये विद्वान् बारम्बार बड़ी कहते हैं कि ईश्वराराधना ही पुरुषार्थ है ।

हे मित्रो ! यह सब जगत् ईश्वराधीन है, जीवोंको ईश्वरका ही बल है । जिस किसीको जो कुछ प्राप्त हुआ है और होता है, ईश्वर-कृपासे ही होता है, अपने बलसे कोई नहीं बढ़ता, ईश्वरके बड़ाये हुए ही बढ़ते हैं । अपने बलसे रावण बड़ा था, उसको पल्लवमें भगवान्ने धूलमें मिखा दिया ! अपने बलसे हिरण्यकशिपु बढ़े थे, उनको भगवान्ने तुरत ही उनके पद और प्राणसे अष्ट कर दिया ! सारांश यह कि जिस-जिसने गर्व किया उसीका ही गर्व भगवान्ने तोड़ा; शिशुपाल, दुर्योधनादिके वृत्तान्तमें यह बात स्पष्ट है । ईश्वर किसीका गर्व नहीं रहने देता, इसलिये भगवान्ने गर्वहारी कहलाते हैं । ईश्वर-कृपामें बहुत-से बड़ाई पा चुके हैं और पा रहे हैं । मज्जादि तीनों देव ईश्वरकी कृपामें ईश्वर कहलाते हैं और जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेमें समर्थ होते हैं । सनकादि ईश्वरके अनुग्रहमें ही समस्त तत्त्ववर्णियोंके आदिगुरु हैं, ईश्वरके अनुग्रहमें देवर्षि नारद देवताओं और भगवद्भक्तोंके पूज्य हैं । ईश्वरकी दयामें उत्तानपादके पुत्र ध्रुवने ध्रुवपद पाया है । ईश्वरकी आज्ञासे करणपादि सप्तर्षि सृष्टिके आदिमें वेदोंका प्रचार करते हैं । ईश्वरके बलमें मरीचि आदि देवता देव, मनुष्यादि प्रजा उत्पन्न करनेमें समर्थ होते हैं । ईश्वरके आज्ञामें शेषनाग समस्त मज्जाण्डकी तृणके समान अपने कर्णोंपर धारण कर रहे हैं, ईश्वरकी प्रसन्नतासे विभीषणने कल्पपर्यन्त लङ्काका अटल राज्य पाया है । बलि भी ईश्वरकी कृपाने रसातल-का सम्राट है और आगेके मन्वन्तरमें वह इन्द्रपदवी पावेगा । ईश्वरके आशीर्वादमें वाटरायण अगले मन्वन्तरमें सप्तर्षिधर्मके पदपर आरुढ़ किम्ब जायेंगे । इसप्रकार ईश्वरमें अनुगृहीत बहुत-से देव, ऋषि, मुनि आदि अनेक प्रकारके दिव्य देशधर्म पा चुके हैं और पाते हैं । वे योद्धे-से नाम दिग्दर्शनमात्र हैं, इनका नाम लेनेसे ही घन्टा-करण शुद्ध होता है, ऐसा वेदवेत्ताओंका निर्णय है । यह सब फल ईश्वराराधनका है । इसलिये ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है ।

ईश्वर स्वरूपसे नित्य, कृत्स्न, अद्वय, अजन्मा हैं, ऐसे होकर भी अपने भक्तोंपर उभका हृत्ता गाव प्रेम है कि

उनके प्रेमवश होकर अपनी खीझसे अनेक स्वरूप धारण करते हैं, बारम्बार अवतार लेकर अपने भक्तोंके दुःख निवारण करते हैं । भक्तकी प्रार्थना सुनकर तुरत ही उसका कष्टनिवृत्त करनेको पैर-पयादे ही दौबते हैं, गरुडको भी छोड़ देते हैं और मानो पास ही खड़े हुए थे, ऐसे शीघ्र ही आकर भक्तका दुःख दूर करते हैं, यह बात गजेन्द्र और त्रौपदीके इतिहाससे स्पष्ट है, ईश्वरने भक्तोंके हितके लिये वेद-पुराणादि अनेक शास्त्रोंकी रचना की है अथवा यों कहना चाहिये कि करायी है और अपने नामकी वह प्रताप दिया है कि जो उच्चारणमात्रसे पापोंका नाश करता है । यह बात अज्ञातिलके इतिहासमें स्पष्ट है कि पुत्रके बहाने अश्वेत दशमें 'नारायण' नाम लेकर वह परम गतिकी प्राप्त हुआ । वेदवेत्ताओंका निश्चय है कि जितना सामर्थ्य ईश्वरके नाममें पाप निवृत्त करनेका है, उतना सामर्थ्य मनुष्यमें पाप करनेका नहीं है । 'हर' लगे न फिटकरी, रंग झकाझक आय' ऐसा ईश्वरका नाम भी, जिसमें स्वर्ण कुछ नहीं और फल अक्षय है, जिनमें जपा नहीं जाता, उनसे बढ़कर अभागा और कौन होगा ? ईश्वर अपने भक्तोंको अपना स्वरूपतक भी देकर सोचा करते हैं कि तन, मन, धन, पुत्र, स्त्री, परिवार अर्थात् करनेवाले भक्तोंको हमने कुछ भी नहीं दिया, क्योंकि अपना स्वरूप तो हम रावण, कंस आदि राक्षसोंको भी प्रदान करते ही हैं, फिर भक्तोंको हमने क्या दिया, कुछ नहीं दिया ! ऐसा विचारकर जगदीश्वर भगवान् अपनेको भक्तोंके श्रेणी समझते हैं । जो ऐसे दयालु ईश्वरमें विसुख हैं, उनके कल्याणका कोई मार्ग नहीं सूझता, ईश्वर उनपर करुणा करे; इतनी ही ईश्वरसे प्रार्थना है कि ईश्वराराधन ही पुरुषार्थ है, यह बात उनकी समझमें आ जाय ।

ईश्वरशरणागति परम पुरुषार्थ है । अपना बल-भरोसा छोड़कर जो ईश्वरके शरणमें आ गये हैं वे ही धन्य हैं, उनका ही जन्म सफल है । न उनको मरनेका शोक होता है, न जीनेका हर्ष होता है । न वे किसीकी निन्दा करते हैं, न स्तुति करते हैं । वे सबमें ईश्वरको देखकर सबसे समान सुखपताका वर्ताव करते हैं । मान-अपमान उनके लिये समान होता है, प्राप्ति-अप्राप्तिमें भी वे एक-से रहते हैं, सर्वज्ञ जिज्ञासे ईश्वर-नाम जपते हैं, अथवा ईश्वरके गुणानुवाद गाते हैं, मनसे ईश्वरका ध्यान करते हैं, जो कुछ कार्य करते हैं ईश्वरके लिये करते हैं, अपना अहंकार

किञ्चित् भी नहीं करते। अहंकार ही सब अनर्थोंका मूल है, अहंकारने ही आनन्दस्वरूप ईश्वरको छिपा रक्खा है, अहंकार ही ईश्वर-दर्शनमें बाधा है, अहंकार निर्मूल कर देना ही ईश्वरशरणागति है। ईश्वरशरणागतिमें जैसा सुख है, वैसा सुख प्रजापति भी नहीं है, इन्द्रादिका तो कहना ही क्या है? ईश्वरशरणागति का उपाय ईश्वराराधना है, इसलिये ईश्वराराधना ही पुरुषार्थ और वही परम पुरुषार्थ है। जैसे आमका वृक्ष लगानेवालेको मुख्य फल तो आम-फलकी प्राप्ति है और पत्र, पुष्प काष्ठादिकी प्राप्ति अवान्तर फल है, ऐसे ही शरणागतको ईश्वरकी प्राप्ति मुख्य फल है और विषय भोगोंकी प्राप्ति अवान्तर फल है।

पाठक ! इसना कहकर ईश्वरशरणने अपना व्याख्यान समाप्त किया और उसकी संगतिसे चारों मित्र भी ईश्वरशरण होकर सर्वदाके लिये सुखी हो गये। इत्यति-शोभनम्। सबका सार यह है—

कुं०—ईश्वर-चर्चा कीजिये, लीजै ईश्वर-नाम।

परिये ईश्वर-ध्यान निरत, कीजै हरिहित काम॥

कीजै हरिहित काम भित्त निर्मल कर लीजै।

सबसे मनका मोड़, ईशमें लय कर दीजै॥

भोला ! ईश्वर सत्य, विश्व शोकाकुल नश्वर।

आश विद्रवकी छोड़, नित्य शाश्वत भज ईश्वर॥

दो०—पढ़ें सुनें याई बहिन पाँच बच-संवाद।

भोला ! ईश-प्रसादसे, चढ़ें मुक्ति-प्रासाद॥

ईश्वर-चर्चा

(लेखक—'शिव')

ईश्वर बुद्धिगम्य नहीं है



श्वर क्या है ? उनका बालविक स्वरूप कैसा है ? वह निराकार है या साकार ? निर्गुण है या सगुण ? इस जगत्के साथ उनका क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि प्रश्नोंका एकमात्र निश्चित उत्तर न तो कोई आजतक दे सका है और न दे सकता है। आजतक ईश्वरके सम्बन्धमें जितना वर्णन हुआ है, वह सब मिलकर भी ईश्वरके यथार्थ स्वरूपका निर्देश नहीं कर सकता। क्योंकि ईश्वर मनुष्यकी बुद्धिके परे है, वह परम वस्तु मनुष्यकी बुद्धिमें नहीं समा सकती; बुद्धि तो प्रकृतिका कार्य होनेसे जब और परिच्छिन्न है, वह उस अनन्त, सर्वव्यापी, सर्वोपार, सर्वान्तर्यामी, नित्य ज्ञानानन्दधन चेतनका आकलन किसप्रकार कर सकती है ? जो वस्तु ज्ञानका विषय होती है, वह सीमित, प्रमेय और धर्मी वस्तु ही होती है; जो सीमित है, जिसका परिमाण हो सकता है, जो किसी धर्मवाली है, वह वस्तु ईश्वर नहीं हो सकती; बुद्धि या ज्ञानजिस पदार्थका निरूपण करता है, उस पदार्थका कोई एक निश्चित रूप ज्ञानमें रहता है, ऐसा ज्ञेय पदार्थ सबका प्रकाशक, सबका आधारभूत नहीं हो सकता। जिसका प्रकाश बुद्धि

करती है, वह बुद्धिको प्रकाश देनेवाला कैसे हो सकता है ? परमात्मा ईश्वर ज्ञेय नहीं है, प्रमेय नहीं है, प्रकाश्य नहीं है, वह तो स्वयं ज्ञाता, प्रमाता, चेतनउप्योतिरूप सबका प्रकाशक स्वयंप्रकाश है। वह किसी भी बुद्धिका चिन्मय विषय नहीं है, सारी बुद्धियोंमें चिन्ता-प्रवणता उसीमें आती है। वह स्वयं प्रमात्वरूप और ज्ञानरूप है। वस्तुतः ऐसा कहना भी उसको सीमाबद्ध करना है—उसका माप करना है। उसे कालातीत-गुणातीत कहना भी उसका परिमाण बाँधना है। इसीलिये मनीषीगण यह कहा करते हैं कि ईश्वरका तब ईश्वर ही जानता है, वह स्व-संवेद्य है, दूसरा कोई उसे जान ही नहीं सकता, तब वर्णन कैसे कर सकता है ? जबतक दूसरा रहता है तबतक जानता नहीं और दूसरा न रहनेपर वर्णनका प्रसंग ही असम्भव है।

ईश्वर अतर्क्य है, अज्ञेय है, वह कभी मनुष्यकी बुद्धिमें आ ही नहीं सकता, संसारकी किसी वस्तुमें तुलना कर-कर वह समझाया नहीं जा सकता, ऐसी स्थितिमें उसे मानने-जानने या उसकी चर्चा और जाननेकी चेष्टा करनेसे क्या लाभ है ? जो बीड़ा सिद्ध नहीं हो सकती, दीख नहीं सकती, उससे उदासीन रहना ही बुद्धिमानी है। ऐसा विचारकर परमात्माकी चर्चा छोड़ देना तो

सृष्टिसे भी बढ़कर है। उसकी कुछ ऐसी शक्ति है कि वह ज्ञेय न होनेपर भी ज्ञेय-सा बनकर उपासककी अज्ञान-बनिकाको हटा देता है, जिससे वह उसके स्व-रूपको पहचानकर कृतकृत्य हो जाता है। इसीलिये उस परम-तत्त्वको ज्ञेय मानकर उसकी उपासना करना परम आवश्यक माना गया है।

इसीलिये तत्त्वज्ञ ईश्वरगतप्राप्त शक्ति-महर्षियोंने अपने-अपने विवेक्षण सत्य अनुभवोंको, जो सचमुच ही उन्होंने 'अघटनबटनापटीबसी' शक्तिके आधार और स्वामी भगवान्की कृपासे समय-समयपर प्राप्त किये हैं, उन्हींको तर्क और उक्तियोंके द्वारा सिद्धकर लोगोंके सामने रक्खा और यथोचित साधनविधि बतलाकर भगवत्-प्राप्तिका मार्ग सुखम कर दिया है। दर्शन, पुराण आदिमें इन्हीं साधनोंका उल्लेख है।

हमारी बुद्धि जहाँ जाकर बक जाती है और अपनेको भागे बढ़नेमें सर्वथा असमर्थ पाती है, वहाँसे भगवत्कृपाका प्रकाश और वह हमारा पथप्रदर्शक और सहायक होकर हमें उस बुद्धिके परे, बुद्धिके अगोचर परम तत्त्वका साक्षात्-कार करा देता है। नहीं तो, जो सर्वथा अभ्यक्त और अचिन्त्य है, जो एक, केवल, शुद्ध सच्चिदानन्दधन रहते हुए ही अपने सगुणरूपके द्वारा संकल्पमात्रसे विभिन्न ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करते हैं; सगुण, साकार, दिव्य, नित्य विग्रहरूपसे अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें अनन्तकोटि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूपोंसे विभक्त-से प्रतीत होकर पृथक्-पृथक् सृजन, पालन और संहार करते हैं, जो विविध देवों और काँडोंमें विविध स्वरूपोंमें अवतरित या प्रकट होकर आवश्यकतानुसार न्यूनाधिक शक्तिका प्रकाशकर अपनी विजयविमोहिनी लीलाओंसे अगत्को मुग्ध और पावन करते हैं, जो जीवमात्रमें अन्तर्यामी आत्मारूपसे विराजित होकर विभिन्न-से भासते हुए जीवजीवोंमें वर्तमान रहते हैं। (यहाँ यह समझनेकी बात है कि जिसप्रकार अनन्त-कोटि पृथ्वीशरीरोंमें एक ही परमात्मा त्रिगुण-संयोजित जीवात्मारूपसे विराजमान है, ऐसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-शरीरोंमें 'विधि-हरि-हर' त्रिगुणमूर्तिसे एक ही परमात्मा विराजमान हैं, त्रिगुणमूर्ति होनेपर भी तीनों एक ही हैं और गुणातीत हैं।) जो अनन्त विश्व-ब्रह्माण्डोंमें प्रकृतिके विकार-रूपसे भासनेवाले अठ दत्त-प्रपञ्चका जेब धारणकर अपनेको छिपाये हुए हैं और प्रत्येक रूपमें प्रत्येक क्षण बदल

और पूर्ण हैं, उन परात्पर महाविष्णु, महाशिव, महा-प्रजापति, महादेव, महाशक्ति, श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि विविध नामों और रूपोंसे आख्यात और पूजित नित्य, अविनाशी, अनन्त, अखण्ड, परमसत्य, परमब्रह्म, सच्चिदानन्दधन, अनन्तशक्ति परात्पर भगवान्का जरा-सा आभास भी अनुप्यकी बुद्धिको कैसे मित्र सकता है? जो सन्तोंके वाक्योंपर विश्वासकर उनके शरणापन्न होता है, जो बुद्धिका अभिमान छोड़कर उनकी कृपाका अभिन्न होता है, वही शुद्ध और सूक्ष्मबुद्धि धर्मात्म्य पुरुष भगवान्की कृपाका बल प्राप्तकर उसके दिव्यालोकमें परमात्म-प्रकाशकी ओर भागे बढ़ता है।

उन परमात्मा महेश्वरके अखण्ड नियमके अनुसार उनकी लीलासे जब उनकी सारी शक्तियाँ सिमटकर साम्यस्थितिको प्राप्त हो जाती हैं, तब शक्ति और शक्तिकी अभिन्नताके रूपमें एक ब्रह्म-स्वरूप ही प्रकाशित रहता है। भगवान्का नित्य दिव्य विग्रह भी उस समय स्वेच्छामे ही अन्तर्धान रहता है। पुनः जब उनकी अनन्त शक्तियाँ विविध विभिन्न मूर्ति धारणकर क्रिया करती हैं, तब वही ब्रह्म अनेक स्वरूपोंमें प्रकाशित और प्रसरित रहते हैं, वस्तुतः अनन्तकोटि विश्व-ब्रह्माण्डोंमें जो कुछ उपाय हुआ है, जो स्थित है और जो लयको प्राप्त होता है, वह सब ईश्वरमें ही होता है। ईश्वरकी ही यह सृष्टि, स्थिति और संहाररूप त्रिविध मूर्तियाँ हैं। समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड अनन्त तरंगोंकी भौति उन एक ही अनन्त, असीम परमात्म-सागरमें स्थित है। वे भगवान् देवोंके देव, ईश्वरोंके ईश्वर, पतियोंके पति और गतियोंकी गति हैं; वे निराकार भी हैं, साकार भी हैं, निराकार भी नहीं हैं; साकार जो नहीं हैं, सबमें हैं, सबमे परे हैं, उनके बिये यह कहना या समझना कि 'ये ऐसे ही हैं' वस्तुतः उनका उपहास करना और अपनी झल्ला पदां-कास करना है। हमारी बुद्धि जिस ईश्वरका वर्णन करती है, वह तो उनके एक बहुत ही स्वरूप-से अंशका, आभासका या अनु-मानका ही वर्णन होता है। वे तो गूँरेके गुह्य हैं; उनका वर्णन कोई कैसे करे? खुद-सा जल-सीकर जलनिधिकी क्या याह लगावे? हमारी जो बुद्धि आँखोंके सामने प्रत्यक्ष दीखनेवाले पदार्थोंकी तहसक भी नहीं पहुँच सकती, वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त सर्वलोकमहेश्वर अनन्तशक्ति, शुद्ध सच्चिदानन्दधन परमात्माके सम्बन्धमें निश्चयरूपसे क्या कह सकती है? उन ईश्वरके सम्बन्धमें तो सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जगत्के महापुरुष उन्हींकी कृपासे

प्राप्त अनुभवोंके द्वारा उनकी सत्ता समझाकर हमें उनकी उपासना करनेका उपदेश देते हैं। महापुरुषोंके वचनोंमें विरवास करनेवाले भद्रालु पुरुषोंके लिये तो ईश्वरका होना सहज ही सिद्ध है, उनके लिये तो ऐसी कोई वस्तु ही नहीं, जो ईश्वरसे अधिक प्रत्यक्ष और सर्वप्रमाणसिद्ध हो, परन्तु वह सौभाग्य सबको प्राप्त नहीं। ईश्वरमें विश्वास होना सहज बात नहीं है; ईश्वर-विश्वास भगवान्‌के अमर्त्यका पर्दा हटा देता है, जिससे मनुष्य ईश्वरके तत्त्वको समझकर सर्वपाप-ताप-शून्य और कृतकृत्य हो जाता है।

ईश्वर-विश्वास और ईश्वर-रूपा

जैसे सूर्यके पूर्ण उदय होनेसे पूर्व ही अमावस्याकी धोर निशाका नाश हो जाता है, इसी प्रकार भगवान्‌का पूर्ण विश्वास होनेके पूर्व ही, थोड़े ही विरवासने पाप-तापरूपी तम नष्ट हो जाता है। मनुष्य तभीतक पापा-चरम करता है और तभीतक संसारके विविध दुःखोंके दावानलमें दग्ध होता रहता है, जबतक कि उसका ईश्वर-के अस्तित्वमें विश्वास नहीं होता; 'ईश्वर है' इस विरवास-से ही मनुष्य निर्दिष्टाधार, निर्विकार, निःशङ्क, निर्भय और निश्चिन्त हो जाता है। भगवान्‌पर विश्वास करनेवाला पुरुष इस बातको जानता है कि भगवान् सर्वव्यापी, सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान्, परमदयालु, योगक्षेमवाहक, विश्वम्भर और परमसुखी हैं। ऐसी अवस्थामें वह काम, खोभ या भय किसी कारणसे भी पाप नहीं करता। जब एक पुलिस-अफसरको देखकर मनुष्य कानून-विरुद्ध काम करनेमें हिचकता है, जब किसी सुयोग्य गुरुजनके सामने पाप करनेमें मनुष्य स्तब्धता है, तब वह सबके स्वामी और परमगुरु भगवान्‌को सामने समझकर पाप कैसे कर सकेगा? जब भगवान् विश्वम्भर और योगक्षेमका निर्वाह करनेवाले हैं तब वह अपने और परिवारके भरण-पोषणादिके लिये न्यायपथ-को छोड़कर पाप-पथमें क्यों जायगा? जब वह अपने परम सुख, परमदयालु, सर्वशक्तिमान् परमात्माके, सर्वव्यापी-रूपसे सर्वत्र देखेगा, तब ऐसा कौन-सा ताप या भय है, जो उसे जका सकेगा या पापके मार्गमें ले जायगा? ईश्वर-का विश्वासी पुरुष तो वस्तुतः ईश्वरकी ही दयापर यरोसा करनेवाला बन जायगा, उसे पद-पदपर, पल-पलमें भगवत्-रूपाका प्रत्यक्ष होता रहेगा। जो भगवत्‌रूपापर निर्भर रहता है, वह किसी काळमें दुखी नहीं हो सकता। वह

प्रत्येक बातमें भगवान्‌का विधान समझकर और भगवान्‌के विधानको उनकी दयासे ओतप्रोत देखकर प्रफुल्लित होता रहता है, वह समझता है कि मेरे नाथने मेरे लिये जो कुछ विधान कर दिया है वही परम कल्याणरूप है और वास्तवमें ही भी ऐसा ही। उसकी बुद्धिमें यथार्थ ही यह भाव नहीं आता कि भगवान्‌का कोई विधान कभी जीवके लिये अमङ्गलरूप होता है। मङ्गलमय भगवान् अपने ही धारा जीवका अमङ्गल कभी कर ही नहीं सकते। जब कभी वे किसीके लिये कोई दुःखका विधान करते हैं तो वह अत्यन्त ही दयाके बंध हो उसके कल्याणके अर्थ ही करते हैं। जैसे जननी अपने बच्चेके कल्याणके लिये कभी-कभी उसके साथ ऐसा व्यवहार करती है जो बच्चेको बड़ा क्रूर मालूम होता है और वह भूलमे मातासे नाराज भी होता है, परन्तु माता उसके नाराज होनेकी कुछ भी परवा न कर अपने उस व्यवहारको नहीं छोड़ती, क्योंकि उसका हृदय स्नेहसे भरा है, वह बच्चेका परम हित चाहती है। इसी प्रकार स्नेह-सुधाके असीम सागर भगवान्, जिनके स्नेहकी एक बुँदने ही विश्वकी सारी माताओंके हृदयोंमें पैठकर उनको अनादिकालमे स्नेहमय बना रक्खा है, अपने प्यारे बच्चोंके लिये उनके हितार्थ ही दृष्ट-विधान किया करते हैं। उनका दृष्ट-विधान वैसा ही होता है, जैसे माता बच्चेको आगके समीप जानेसे रोककर उसे छला कर देती है, नहीं मानता तो कभी-कभी बाँध देती है, अथवा उसके हाथमे छुरी या और कोई ऐसी चीज, जो उसको नुकसान पहुँचानेवाली है और उसने मोहबला लें रक्खी है, जबरदस्ती छीन लेती है; और घुरे आचरण न छोड़नेपर बराती-धमकाती है। भगवान्‌के विधानद्वारा मनुष्यमें विषय-भोगोंके योग्य शक्ति न रहना, विषयोंसे अलग होने-को बाध्य होना, विषयोंका जबरदस्ती छिन जाना या नाश होना आदि कार्य इसी अर्थके हैं। वास्तवमें विषय-भोग—दुनियाके धन-धाम, यश-कीर्ति, स्त्री-पुत्र आदि पदार्थ तो मनुष्यको नरकाग्निकी ओर ले जानेवाले हैं, जो इनमें रचता-पकता है वह दुःख-दावानलमें दग्ध होनेसे नहीं बच सकता। अला, भगवान् जो हमारे परम सुख और परम हितैषी हैं, वे वस्तुएँ हमें क्यों देने लगे? और क्यों हमें इनमें आसक्त रहनेकी स्वतन्त्रता प्रदान करने लगे? जो लोग केवल इन वस्तुओंकी रक्षा और प्राप्तिमें ही भगवान्‌की दया समझते हैं वे कहीं भूल करते हैं। वे

वस्तुएँ तो हमें संसार-सागरमें डुबोनेवाली हैं, क्याछु भगवान् हमें संसार-समुद्रमें डकेडनेके किये इनको कैसे दे सकते हैं ? माता क्या कभी प्यारी सन्तानको जान-बूझकर आरम्भमें मीठे खानेवाले जहर-भरे लड्डू दे सकती है ? क्या कभी उमे सोनेकी पिटारीमें रखकर कालनाग सर्प दे सकती है ? क्या कभी उसे खाल-खाल छपट्टीवाली आगमें भोंक सकती है ? फिर भगवान् ही वे विषय-भोग देकर ऐसा क्यों कर सकते हैं ? हर्ष-स्त्रिये जब ये विषय नहीं रहते, जब विषय-नाशरूप सांसारिक दृष्टिका कोई दुःख धाता है, तब भगवान् के विश्वासी भक्तोंका चित्त हर्षसे नाच उठता है, वे उसको भगवत्कृपासे ओतप्रोत देखकर उसमें भगवत्कृपाकी माधुरी मूर्तिके दर्शनकर शिशुकी भाँति उसको जोरसे पकड़ लेते हैं। उसमें उन्हें बड़ा आनन्द मिलता है, इस बातका प्रत्यक्ष अनुभव होता है कि इसपर भगवान् की बड़ी भारी दया है।

इसका यह अर्थ नहीं, कि भगवान् से सांसारिक वस्तु माँगनेवालोंको वह नहीं मिलती। मिलती हैं, क्योंकि प्रत्येक वस्तु आती उन्हींके भयङ्कारसे है, परन्तु ऐसी चीजों-के माँगनेवाले गलती करते हैं। भगवान् पर ही आस्था रखनेवाले विश्वासी अर्धाधीन भक्त यदि कोई ऐसी चीज माँगते हैं तो भगवान् उन्हें दे देते हैं और फिर उसी तरह उसकी संहाल भी रखते हैं जैसे माता छोटे शिशुके हठ पकड़ लेनेपर उसे चाकू दे देती है, पर कहीं लग न जाय इस बातकी ओर सतर्क दृष्टि भी रखती है। भगवान् की दयाके रहस्यको जाननेवाला सच्चा निर्भर भक्त तो ऐसी चीजें माँगता ही नहीं। माँग भी नहीं सकता। उसकी दृष्टिमें इनका कोई मूल्य ही नहीं रहता। वह तो भगवान् की इच्छामें ही परम सुखी होता है। कभी माँगता है तो बस, यही माँगता है 'हे भगवन् ! मैं सदा तेरी इच्छा-नुसार बना रहूँ, तेरी इच्छाके विपरीत मेरे चित्तमें कभी कोई इति ही न उदय हो।' भगवान् मंगलमय हैं, उनकी अभिच्छामयी इच्छा भी कल्याणमयी है, अतएव इस-प्रकारकी प्रार्थना करनेवाला भक्त भी मंगलमयी इच्छा-वाला अथवा सर्वथा इच्छारहित—निःस्पृह बन जाता है। वह निस्पृह-निरन्तर भगवान् के चिन्तनमें ही लगा रहता है और उसीमें उसकी शान्ति मिलती है, जरा-सी देर भी किसी कारणसे भगवान् का बिछरव हो जाता है तो वह उस मछलीसे भी अनन्तगुणा अधिक व्याकुल होता है, जो

अकसे अलग करते ही छटपटाने लगती है। वह संसारमें सर्वत्र, सब ओर, सब समय अपने प्रभुकी मुनि-मन-मोहिनी छत्रिको देखता और पल-पलमें पुलकित होता रहता है। सारा विश्व उसे अपने प्रभुसे भरा दीखता है, इससे स्वाभाविक ही वह सबकी सेवा करता है, सबको सुख पहुँचाता है। किसी भी भेषमें आये हुए पिताको पहचान लेनेपर जैसे सुपुत्र उसका अपमान और अहित नहीं कर सकता, उसे किञ्चित् भी दुःख नहीं पहुँचा सकता, इसी प्रकार संसारके प्रत्येक जीवके भेषमें भक्त अपने भगवान् को पहचानकर उनका सत्कार और हित करता है तथा प्राण-पणसे सुख पहुँचानेकी ही चेष्टा करता है। जो लोग केवल किसी एक स्थान और मूर्तिविशेषमें ही भगवान् को मानकर अम्यान्य स्थानोंमें उनका अभाव मानते हैं, वे भगवान् के स्वरूपको बहुत छोटा बना देते हैं, वे एक प्रकारसे भगवान् का तिरस्कार करते हैं, ऐसे लोगोंकी पूजासे भगवान् प्रसन्न नहीं होते, ऐसा आगतमें कहा है।

मूर्ति-पूजा

इसका यह अर्थ नहीं कि मूर्ति-पूजा नहीं करनी चाहिये। संसारमें ऐसा कौन है जो किसी-न-किसी प्रकारसे मूर्ति-पूजा नहीं करता; सारा जगत् ही मूर्तिपूजक है। जो अपनेको मूर्तिपूजक नहीं मानते, वे भी अपने किसी गुरु या नेताके चित्र या स्टेण्डू (पाषाणनिर्मित मूर्ति) को देख-कर उसका सम्मान करते हैं। भगवान् को न माननेवाला कौसी भी लेजिनकी मूर्तियोंके सामने सलामी करता है। शब्दोंका अभिवादन क्या मूर्तिपूजा नहीं है ? शब्दों कौन-सा सजीव पदार्थ है ? परन्तु उसका लोग बड़ा सम्मान करते हैं और उसके तनिक-मे अपमानमें अपना और अपने देशका अपमान समझते हैं। मातृ-भूमि—स्वदेश आदि नाम और उनके कल्पित रूपोंपर प्राण दे देना क्या प्रतीक-पूजा नहीं है ? मुसलमान भार्ग, जो महम्मद साहेबकी मूर्ति देखकर ही मूर्ति रखनेवालेको मारनेकी तैयार हो जाते हैं, क्या प्रकारान्तरसे मूर्तिको महत्व नहीं देते ? परन्तु इसमें और भक्तोंकी मूर्ति-पूजामें बड़ा अन्तर है, भक्त मूर्तिकी पूजा नहीं करता, वह तो केवल अपने प्रभु-की पूजा करता है। मूर्तिमें वह उन्हीं सच्चिदानन्दधन इष्टदेवको देखता है, उसकी दृष्टिमें वह पथर, मिट्टी या धातु नहीं है, वही सच्चिदानन्दधन सर्वव्यापी भगवान् हैं जिनके एक अंशमें सारे अक्ष-वैतन विश्व-प्रकाशक अरि हैं,

परन्तु जो भक्तपर प्रसन्न होकर यहाँ श्यामसुन्दररूपसे विराजित हो उसकी पूजा ग्रहण कर रहे हैं। इसीसे कहीं-कहींपर भगवत्-मूर्तियोंका चढ़ना, बोलना, हँसना, वरदान देना आदि सुना जाता है, जो वास्तवमें सत्य है। भगवान् कहाँ नहीं हैं? वे भक्तके भावसे प्रसन्न होकर चाहे जहाँ, चाहे जिस रूपमें अथवा अपने निश्चय विग्रहस्वरूपमें, चाहे जब प्रकट हो सकते हैं।

‘हरि श्यामक सर्वत्र समाना। प्रेम्ते प्रकट होहि मे जाना ॥’

श्रीरामचरितमानसमें भगवान् शिवजीके ये वचन हैं, जो सर्वथा सत्य हैं। अग्नि अव्यक्तरूपसे सब चीजोंमें व्याप्त है, परन्तु साधन करनेपर किसी भी वस्तुमें वह प्रकट हो सकती है, इसी प्रकार सर्वत्र निराकाररूपसे व्याप्त भगवान् भी भक्तके वश होकर व्यक्त हो जाते हैं। अवतार लेनेका भी यही रहस्य है।

अवतार

कुछ लोग कहते हैं कि भगवान् अवतार नहीं ले सकते। परन्तु ऐसा कहना भगवान्की सर्वशक्तिमत्तामें कमी करना है। भगवान् क्या नहीं कर सकते? इसीसे वे जब जहाँपर आवश्यकता समझते हैं, वहाँ अपने दिव्य विग्रहको प्रकट करते हैं। एक बात यह ध्यानमें रखनेकी है कि भगवान्के अवतारोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है। सबमें पूर्ण भगवत्-शक्ति पूर्णरूपसे निहित है, साक्षात् भगवान् ही जब अवतरित होते हैं—हमारे बीचमें आते हैं, तब उनकी शक्तिमें न्यूनताधिकताका तो कोई सवाल ही नहीं रह जाता। यह दूसरी बात है कि कहीं वे आवश्यक न समझकर अपनी कम शक्तियोंको प्रकट करें और कहीं अधिकको! कहीं अधिक समयतक लीला करें, कहीं अल्प कालमें ही अन्तर्धान हो जायँ। परन्तु इसमें उनके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। वह सदा एकरस और समान है। उनका विगुण ब्रह्मरूप गुणातीत है, उसमें किसी भी गुण या गुणारम्भ जगत्का भाव नहीं है। उनका विष्णु-रूप शुद्ध सत्त्वगुणसम्पन्न है, जो भृगुजीकी क्लात सहकर उनके पैर पछोटनेको तैयार हो जाता है, उनका विश्वरूप अच्छे-बुरे सभी गुणोंसे सम्पन्न है—‘ये चैव सात्त्विका आवा राजसात्तामसाश्च ये। अथ एवेति तान्विदुः’ ‘अतः परतरं नाम्बल किञ्चिदस्ति धनंजय’ भगवान् कहते हैं, सारे सात्त्विक, राजस, तामस-भाव गुणसे ही उत्पन्न आगे, है धनंजय! मेरे

अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इसी प्रकार उनके गुण-स्वरूप हैं। ब्रह्माण्डोंमें स्थित श्रीविष्णु सत्त्वस्वरूप हैं, श्रीब्रह्मा रजोगुणरूप हैं और श्रीशंकर तामसरूप हैं, यही शंकर जहाँ समष्टि-सदाशिवरूपमें रहते हैं, वहाँ परम कल्याणमय, सत्त्वगुणसे भी ऊँचे उठे होते हैं। इसी प्रकार भगवती काली संहाररूपिणी—सोमयी हैं, माता शक्ति जगज्जननी सृजनकारिणी—रजोमयी हैं, जगद्धात्री माता उमा पोषणकारिणी—सत्त्वमयी हैं। इनके अतिरिक्त अर्कोंको परम भगवन् देनेवाले, अर्कोंके जीवन्-धन, उनकी परमगति, परम आश्रय वे दिव्य अवतार-विग्रह हैं, इनमें लीला और शक्तिके प्रकाशके नारतम्यसे श्रीराम और श्रीकृष्ण दो विशेष हैं। इनमें श्रीराम मर्मादाके आदर्श और सत्त्वगुणसम्पन्न हैं और श्रीकृष्ण लीलामय और सर्वगुणसम्पन्न हैं। ये और इसी प्रकार अन्यान्य सभी उन एक ही भगवान्के स्वरूप हैं, इनमेंसे जो स्वरूप, जिसको अच्छा लगे, जिसकी जिस स्वरूपमें प्रीति हो, वह अपनी प्रकृतिके अनुसार सद्गुरुकी आज्ञासे उसीको अपने जीवनका ध्येय, परम इष्टदेव मानकर अनन्यभावे उसीकी उपासनानें प्राप्तिस्सा कर दे। न दूसरेको बुरा बतावे और न दूसरेकी ओर लक्ष्यावे, ‘स्वधर्मे निधनं श्रेयः’ की भगवदुक्तिको याद रखते हुए सन्देह-संशय-रहित होकर निश्चल-चित्तसे परम श्रद्धाके साथ सदा-सर्वदा अपने इष्टकी ही उपासना, सेवा और चिन्तनामें लगा रहे। श्रीशंकरकी अनन्य उपासिका, अपना अनन्त जीवन सदाके किये श्रीशिवके चरणोंमें समर्पण कर देनेवाली भगवती उमाकी यह उक्ति सदा याद रखनी चाहिये—

महादेवं अबगुन-मवन विष्णु सकल गुण-धाम।

आकर मन रम जाहि सन ताहि ताहि सन काम ॥

साकार रूप सायिक नहीं है

कुछ लोग भगवान्के साकार, सगुण दिव्य स्वरूपको सायिक बतलाते हैं और यह समझते हैं कि इसकी उपासना मन्द अधिकारियोंके लिये है, जो ऊँचे अधिकारी हैं वे तो इस मायासे परे शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्मकी अभेद-भावसे उपासना करते हैं। शुद्ध ब्रह्मकी अभेदोपासना भी उत्तम है, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु भगवान्के साकार दिव्य स्वरूपको सायिक और मन्द

अधिकारियों के सेवकयोग्य ही बतलाना बड़ी भारी गलती है। भगवान् ने तो श्रीगीता और श्रीभागवतमें इस दिव्य स्वरूपकी बड़ी महिमा गायी है। बसिक कुछ मकों के मतमें तो भगवान् ने ब्रह्म-शब्द-वाच्य निर्विशेष स्वरूपको अपने आधारपर स्थित बतलाया है। कम-से-कम भगवान् का स्वरूप दिव्य, नित्य अमायिक है और ब्रह्म-ज्ञानियों के द्वारा भी लेख्य है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है। हाँ, उस परम ज्ञानन्दमय दिव्य विग्रहकी अवहेलना करनेमें ज्ञान-मार्ग के उपदेशक उसके महान् सुखसे वञ्चित जरूर रह जाते हैं। मायिक माननेवाले के सामने भगवान् उस मुनिमनहारी अपने दिव्य साकार स्वरूपसे प्रकट नहीं होते। इसीसे तो सन्तों का यह परम रहस्यमय मत है कि ज्ञानमार्ग के पन्थी भगवान् के दिव्य साकार स्वरूप के दर्शन नहीं कर सकते। उनके मनमें माया घुसी रहती है, इसमें उन्हें जहाँ-तहाँ माया ही दीखती है। वे भगवान् में भी मायाका आरोप करते हैं, कोई-कोई साकार, सगुण भगवान् को ब्रह्मसे अभिन्न मानकर भी प्रायः कह देते हैं कि यह विधाकी उपाधिसे युक्त है और हमारे लिये बेम हो हैं जैसे महान् अमृत-समुद्र में डूबे हुए के लिये एक गिलास जल। यह एक गिलास जल भी उस अमृत-समुद्र का ही अधिष्ठाता है परन्तु एक तो अलग गिलासमें है, (मायामें है) दूसरे अंश है, इस जब पूर्णमें स्थित हैं तो हमें इस उपाधियुक्त अंशसे क्या प्रयोजन है? वास्तवमें यह अहंकारोक्ति है। ऐसा कहना और मानना—अनुचित है, परन्तु जो ऐसा मानते हैं, मानें, उनके मानने-न-माननेमें भगवान् के स्वरूपमें कोई हानि-लाभ नहीं होता; अवश्य ही उनकी मूर्खतापर भगवान् हँसते हैं। भगवान् ने कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषी तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्ते मम भूतमहेश्वरम् ॥

मूढ़ लोग मेरे इस परम रहस्यको न जानकर कि मैं समस्त विश्व-ब्रह्माण्डका अधीश्वर अर्थात् प्रेमवश और अपनी जगत्-लीलाको व्यवस्थित रखने के लिये दिव्य विग्रह प्रकटकर दिव्य लीला करता हूँ, मुझ अनुपम-शरीर-धारी भगवान् को नहीं पहचानते हैं। मायासे उनके हृदयमें मोह हो रहा है। मेरी शलौकीकी मायासे तारनेका उपाय मुझ मायापतिकी शरणागति ही है। (गीता ७।१४) परन्तु वे लोग मुझको नहीं मजते। मैं जो हर जगत्-संसारसे

अतीत अक्षर आत्मासे उत्तम हूँ, (गीता १५।१८) सबकी प्रतिष्ठा हूँ (गीता १४।२०) सब पुरुषोंसे श्रेष्ठ पुरुषोत्तम हूँ—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

(गीता १५।१९)

हे अर्जुन ! इसप्रकार जो मूर्खतासे रहित तत्त्वज्ञ पुरुष मुझ पार्थसत्त्वा वासुदेव श्रीकृष्णको 'पुरुषोत्तम' जानता है, वह सब कुछ जान गया है, वह फिर सर्व भावसे केवल मुझको ही मजता है।

भगवान् को न पहचाननेवाला, शरीरधारी समझकर उनकी अवहेलना करनेवाला 'भगवान्' के शब्दोंमें ही 'मूढ़' है और उनको सर्वश्रेष्ठ पुरुषोत्तम जाननेवाला ही 'असंमूढ़' है। भगवान् ने इसको गुह्यतम रहस्य बतलाया है। (गीता १५।२०)

यही भगवान् निराकाररूपमें विश्वमें उसी प्रकार व्याप्त हैं जिसप्रकार सूर्यकी रश्मियाँ निराकाररूपमें जगत्में पमरी हुई हैं। यह दृष्टान्त पूरा भाव नहीं बतला सकता, केवल शास्त्राचन्द्रन्यायमें समझाने के लिये है। मतलब यह कि भगवान् के साकार विग्रह दिव्य और नित्य हैं और वे महान् रहस्यमय परम तत्त्व हैं। इसका यह मतलब नहीं कि निराकार तत्त्व उनमें जुदा है या उनका अपेक्षाकृत लघु स्वरूप है। निराकार ही साकार है, साकार ही निराकार है, निराकार साकारका रश्मि-स्वरूप है, तो साकार भी निराकारका ही प्रकट अंगिकी भाँति व्यक्त स्वरूप है। एक होते हुए ही दोनों स्वरूप नित्य हैं। यद्यपि यथार्थ ज्ञानी और भक्त निराकार-माकारमें वस्तुतः कोई स्वरूपगत भेद नहीं समझते तथापि ज्ञानीको निराकार और भक्तको साकार स्वरूप ही अधिक प्रिय है। ज्ञानी भगवान् के निराकार-स्वरूप ब्रह्ममें मिल जाना चाहता है, और भक्त सदा-सर्वदा भगवान् के साकार विग्रह के चरणोंमें लोटे रहनेमें ही परमानन्दका अनुभव करता है। इसीसे यह रहस्य माना जाता है, कि ज्ञानी ब्रह्म बन सकता है, परन्तु (साकार सगुण) भगवान् नहीं बन सकता। जहाँ यह भगवान् बनना चाहता है, वहाँ ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है। उस अवस्थामें उसे साकार सगुण भगवान् की लीलाके जानम्यसे वञ्चित होना पड़ता है, जो अ

सबसे बड़ा दुःख है। इसीलिये भक्त इस वासना-बीजको अपने भ्रष्टर बड़ी सतर्कतासे सुरक्षित रखता है कि 'मैं कभी भगवान्की लीलासे अलग न रहूँ।' जन्म-जन्मान्तर-की परवा नहीं करता, कितने ही जन्म हों, किसी भी योगिमें जाना पड़े, परन्तु प्यारे भगवान्का हृदयमें कभी विछोह न हो, श्यामसुन्दर कभी झौंझोंसे ओझल न हों, वह प्राणधन प्रियतम मोहन सदा सामने नाचता रहे, उसकी झकुटिको देखता हुआ मैं सदा अपने जीवनको उसकी कबिके अनुकूल विताता रहूँ। जीवन उसकी लीलाका श्रीवत्सक बन जाय, उसमें अपनापन कुछ रहे ही नहीं।

भक्त कहते हैं—

न नाकपुण्ड्रं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रत्नाविपलम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्ममं वा
समजस त्वा विरहस्य काङ्क्षे ॥
(भागवत ६।११।२५)

वरं देव मोक्षं न मोक्षार्थं वा
न भान्यं वृणोऽहं वरेणादपीह ।
इदं ते वपुर्नाम गोपालनामं
सदा मे मनस्विरास्तां किमन्यैः ॥
(पञ्चपुराण)

धर्मार्थकाममोक्षेषु नेष्ट्या मम कदाचन ।
त्वत्पादपङ्कजस्याधो जीवितं दीयतां मम ॥
मोक्षसालोक्यसाक्ष्यान् प्रार्थये न वरावर !
इच्छामि हि महाभाग ! काङ्क्षयं तव सुव्रत ॥
(नारदपाञ्चरात्र)

दिवि वा भुवि वा ममास्तु वासो
नरके वा नरकान्तक ! प्रकामम् ।
अवचीरितशरदारविन्दौ
चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥

हे भगवन् ! तुम्हें छोड़कर मुझको भुवलोक, इन्द्रपद, साध्वंभीम-राज्य, पाताळ-राज्य, योगसिद्धि और अपुनर्मम मुक्ति आदि किसीकी भी इच्छा नहीं है। हे देव ! आप बरदाता ईश्वरोंके भी ईश्वर हैं, आप सब कुछ दे

सकते हैं। परन्तु मैं आपसे मोक्ष या मोक्षतत्त्वका कोई भी पदार्थ लेना नहीं चाहता। हे नाथ ! आप श्रीगोपालनाल-भूतिसे मेरे मन-मन्त्रिमें सदा विराजित रहें, इसके सिवा मुझे और कुछ भी नहीं चाहिये। हे भगवन् ! धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारोंमेंसे मुझे किसीकी भी इच्छा नहीं है। मेरे इस जीवनको सदा अपने चरणतलमें लुटाये रखें। हे धरणीधर ! हे महाभाग ! मैं साक्षीबन्ध, सारूप्यादि मोक्षकी प्रार्थना नहीं करता। हे सुव्रत ! मैं तो केवल आपकी करुणा चाहता हूँ।

हे नरकान्तक ! मेरा निवास स्वर्गमें हो, पृथ्वीपर हो, चाहे नरकमें हो, इसका मुझे कोई दुःख नहीं है, और तो क्या, सृष्टि-समयमें भी मैं तुम्हारे शरत्कालीन अरविन्दकी अवज्ञा करनेवाले चरणारविन्दका चिन्तन करूँगा।

इसी परम कल्याणमय वासना-बीजके कारण वह भगवान्की नित्य-लीलामें नित्य समिन्तित रहता है, इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह भगवत्त्वके ज्ञानमें शून्य होता है या उसे कर्मबन्धनमें बँधे रहना पड़ता है, उसका कर्मबन्धन तो उसी दिन टूट गया था, जिस दिन उसने भगवान्को अपने प्राण सौंप दिये थे। ज्ञानकी तो बात ही क्या है, जब ज्ञानके मूल स्रोत भगवान् स्वयं उसके बाहर-भीतर नित्य विहार करने हैं, तब ज्ञान तो उसे स्वयमेव ही प्राप्त है। ज्ञानका चरम फल मुक्ति उसके चरणोंका आश्रय पानेके लिये सदा कालायित रहती है, परन्तु वह मुक्तिको पिशाचिनी समझकर उससे दूर रहता है और भक्तिको बड़े प्रेमसे सदा हृदयमें छिपाये रखता है। 'मुक्ति निरादर भक्ति लुभाये।' ॐ

भगवान्की नित्य-लीला

भगवान्की नित्य-लीलामें कभी विराम नहीं है, स्थूल जगत्की लीला तो हम सभी देखते हैं, परन्तु दुर्भोम्यवशा अमने उसको उनकी लीला न समझकर कुछ और ही समझें हुए हैं। भगवान् तो स्पष्ट इशारा करने हैं कि तुम जगत्का जो रूप देखते हो, वह असली नहीं है, 'ऐसा

ॐ मुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाचो ददि वर्तते ।

तावद्भक्तिमुखास्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

'जबतक भोग और मोक्षकी पिशाची इच्छा हृदयमें है तबतक वहाँ भक्ति-मुखाका अभ्युदय कैसे होगा ?'

मिलेगा नहीं,' 'न रूपमस्येह तथोचकम्यते' हो तो भिड़े। परन्तु हम भगवान् की इस उक्तिपर ध्यान ही नहीं देते, और अपने मनोऽक्षित स्वरूपकी सत्य समझकर कुछ विषयोंके पीछे मारे-मारे फिरते और नित्य नया दुःख भोज लेते हैं। इस स्थूलके पीछे एक सूक्ष्म जगत्—अन्तर्जगत् है। उसमें प्रधानतया दो स्तर हैं—एकमें स्थूल विश्व-ब्रह्माण्डोंके सञ्चालन-सूत्रोंको हाथमें किये हुए भगवान् की विभिन्न अनन्त शक्तियाँ अनवरत क्रिया करती हैं, स्थूल जगत् के बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन इस अन्तर्जगत् की शक्तियोंके जरा-से यन्त्र घुमानेसे ही हो जाते हैं। यह स्तर स्थूल और अपेक्षाकृत बाह्य है, दूसरा सूक्ष्म और आभ्यन्तर स्तर है जिसमें भगवान् अपने परिकरोंसहित नित्य-लीला करने हैं, जो संसारकी समस्त लीलाओंका आधार है। और जिसमें एक-से-एक आगे अनेक स्तर हैं। भगवान् की परम कृपासे ही इन सारे रहस्योंका पता लगता है। मनुष्य साकार भगवान्-स्वरूपके अनन्त भक्त ही अन्तर्जगत् के इस सूक्ष्मतर स्तरमें प्रवेश कर सकते हैं और भगवत्कृपासे अधिकार प्राप्त होकर वे आगे बढ़ते-बढ़ते एक स्तरके बाद दूसरे स्तरमें प्रवेश करते हुए अन्तमें उस सर्वोपरि परम सूक्ष्मतम स्तरमें पहुँच जाते हैं, जहाँ भगवान् की अत्यन्त गुह्यतम मधुर लीलाएँ होती रहती हैं, इसी सूक्ष्मतम स्तरको श्रीरामभक्त 'साकेत', श्रीकृष्णभक्त 'गोलीक', श्रीशिवभक्त 'कैलास', परमभक्त, महाकारण आदि कहते हैं। यही भगवान् का नित्य दिव्यधाम है, इसकी लीलाएँ अनिर्वचनीय होती हैं। यही लीलाओंका कुछ बहुत ही स्थूल अंश और बहुत ही थोड़े परिमाणमें—अनन्त जलमिक्षिके एक जलकणसे भी अल्प परिमाणमें श्रीअयोध्या, जनकपुर, चित्रकूट, पञ्चवटी और श्रीवृन्दावन, मथुरा और द्वारकामें उस समय प्रकट हुआ था, जिस समय स्वयं भगवान् अपने कतिपय प्रिय परिकरोंसहित अयोध्यामें श्रीरामरूपमें और वृन्दावनमें श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए थे। उनका यह निरवधिहार आज भी वहाँ होता है, भाव्यवान् जन देख पाते हैं! इसीसे वे लीलाधाम भगवान् को अति प्रिय है, श्रीरामचरितमानसमें भगवान् श्रीराम इसी रहस्यका संकेत करते हैं—

यद्यपि सब बंजुष्ट बसाना। बंद पुरान् रीति अग जाना ॥

अब सरिस प्रिय मोहि न सोऊ। वह प्रसंग जलै कांठ कोऊ ॥

ईश्वर-विश्वासकी आवश्यकता

जो यथार्थ ज्ञानमार्गके उपासक या सच्चे भक्त हैं, उनके किये तो यह प्रश्न ही नहीं बन सकता कि 'ईश्वर है या नहीं' उनकी दृष्टिमें यह प्रश्न पागलके प्रलापके सिवा और कुछ नहीं है, जो चराचर विश्वको भगवान् में और भगवान् को विश्वमें व्याप्त देखते हैं या जिनकी आँखोंके सामने भगवान् ललित त्रिभंग नवीन धनरयामन्वरूपसे सदा घिरकते रहते हैं, उनके सामने ईश्वरके होने-न-होनेकी चर्चा करना उनका अपमान करना है, ईश्वरको कोई माने या न माने, इससे उनका कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। और न ईश्वरका ही कुछ बनता-बिगड़ता है। उसके सूर्यको न माननेसे सूर्यके अस्तित्वमें कोई बाधा नहीं पड़ती; ईश्वरके होनेकी बात तब उन लोगोंसे कहनी है जो मनुष्य होकर भी ईश्वरको भूलें हुए हैं और इसके परिणामस्वरूप जो दुःखके अनन्त सागरमें डूबनेवाले हैं। भारतवर्षमें भी श्रीनरेश्वरवादी इन्द्रियाराम मनुष्य हुए थे परन्तु यहाँ इस बातका निर्णय ऋषि-मुनियोंने प्रत्यक्ष अनुभवके आधारपर बहुत पहले कर दिया था, लोग प्रायः मान गये थे। कुछ ही समय पूर्वतक भारतमें ऐसे आधुनिक खोजनेपर मिलना मुश्किल था, जो ईश्वरपर विश्वास रखता हो। श्रीआचार्यशंकराचार्य-सहस्र बेदान्तके महान् आचार्यसे लेकर ग्रामीण अशिक्षित किसानतक सभी स्त्री-पुरुष सरलभावसे ईश्वर और उनकी लीलाओंमें विश्वास करते थे। इसीलिये हमारे इश्वरके ग्रन्थोंमें ईश्वर-सिद्धिपर विशेष उल्लेख नहीं मिलता, जो कुछ मिलता है वह अधिकांश ईश्वर-प्राप्तिके साधनोंके विषयमें ही मिलता है। ईश्वरके सम्बन्धमें जब कोई शङ्का ही नहीं रह गयी थी, तब उसके निराकरणकी क्या आवश्यकता थी? इश्वर कुछ समयसे विदेशी भाषा-भावके अत्यधिक संसर्गसे हमारी संस्कृतिमें विकृति आरम्भ हुई और उसीका यह कटु फल है कि आज भारतमें अन्धे हुए भी कुछ लोग ईश्वरको और धर्मको स्वीकार करनेमें सकुचाते हैं, अथवा विद्या-बुद्धिमें अपनेको किसीसे कम नहीं मानते। यह जबता अत्यन्त ही दुष्परिणामकारिणी होगी। भगवान् सुबुद्धि दें, जिससे भारत अपने सनातन सत्य आदर्शसे प्युत न हो। आज जो दुःख-कष्टके पहाड़ टूट रहे हैं, इनका बहुत कुछ कारण भगवान् के आश्रयको भुलना देना है। और जबतक

भगवान्‌के अधिष्ठानसे ह्यन्व सुखका प्रयत्न जारी रहेगा, तबतक सुख-शान्तिका स्वप्न कदापि सत्य नहीं हो सकता ।

सब फल ईश्वर ही देता है

यदि हमें सुख-शान्तिकी अभिलाषा है तो हमारा सर्वप्रथम यही कर्तव्य होना चाहिये कि हम सर्वतोभावेन ईश्वरका आश्रय ग्रहण करें और उनके कलपर शान्तिके मार्गपर आगे बढ़ें, यह स्मरण रखना चाहिये, कि सुख-शान्तिका स्रोत भगवान्‌के चरणोंसे ही निकलता है । हमें किसी अन्य उपायसे—साधनसे या किसी अन्य देवताकी उपासनासे—जो सुख या सुखोत्पादक भोग मिलने हैं वे भी वहीँसे आते हैं; कारण, सृजना वहीँ है । और जिस पदार्थ, मनुष्य या देवतासे मनुष्य विषयोंको प्राप्त करता है, वह पदार्थ, मनुष्य या देवता भी वस्तुतः भगवान्‌ ही है । भगवान्‌ने कहा है—

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥
यो यो यां यां तनुं प्रकः श्रद्धयाक्षितुमिच्छति ।
तस्य तस्यामलां श्रद्धां तामेव विदधाममहम् ॥
स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमोहेतुः ।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितामिह तान् ॥

(गीता ७ । २०-२२)

विषयासक्त मनुष्य विषय-भोगोंकी कामनासे ज्ञानसे रहित हो जाते हैं और विषयोंकी प्राप्तिके लिये अपने-अपने स्वभावानुसार भौतिक-भौतिक नियम धारण करने हुए अन्य देवताओंको पूजते हैं । जो भक्त देवताके रूपमें मेरे ही जिस स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उसकी मैं उसी स्वरूपमें श्रद्धा स्थिर कर देता हूँ, फिर वह मनुष्य श्रद्धाके साथ उसी देवताकी आराधना करता है और उसीके फलसे उक्त देव-स्वरूपके द्वारा उसे इच्छित वस्तुएँ मिल जाती हैं परन्तु मिलती हैं मेरे विधानके अनुसार ही यानी उतनी ही, जितनी मेरे उक्त देव-स्वरूपके अधिकारमें होती हैं और जितनी प्रदान करनेका उसका अधिकार होता है ।

एक आदमी किसी जिलेके अफसरकी सेवा करके उसे प्रसन्न करता है, जिजाभीश प्रसन्न होकर उसे उसना ही पुरस्कार दे सकता है, जितना देनेका उसको राज्याने अधिकार मिला हुआ होता है और वह देता भी है राज्यके कोषसे ही । वह जिजाभीश सजाका प्रतियोगि राजसत्ताका

एक अङ्ग है, राज्य शरीरका एक अवयव है, इससे उसकी पूजा प्रकारान्तरसे राज्याधीश नरेशकी ही पूजा होती है, परन्तु वह एक छद्म जिलेके अफसरके रूपकी होती है, इससे उसे वह फल नहीं मिल सकता, जो स्वयं राजाकी सीधी पूजासे मिल सकता है, जिजाभीशका पुजारी राजाके महलका अन्तरंग सेवक नहीं बन सकता, परन्तु राजाका सेवक, महलके अन्दर जानेका अधिकारी हो जाता है । 'मङ्गला वाग्मि मामपि ।' भगवान्‌ने आगे कहा भी है—

यऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।

तेऽपि मामेव कौन्तेय । यजन्त्यतिविपूर्वकम् ॥

(गीता ९ । २३)

हे अर्जुन ! श्रद्धालु भक्त जो किसी फल-सिद्धिके लिये दूसरे देवताओंको पूजते हैं, वे भी वस्तुतः मेरी ही पूजा करने हैं, क्योंकि वे देव-स्वरूप भी मेरे ही हैं । परन्तु उनकी वह पूजा अधिविपूर्वक होती है । भगवान्‌ ही सबके आधार, सञ्चालक, फलदाता, फलभोक्ता, स्वामी हैं, इस बातको नहीं जाननेके कारण ही मनुष्य भगवान्‌को छोड़कर सुखके लिये अन्य देवताओंका एवं अन्यान्य जड़ उपायोंका आश्रय लेते हैं । इसीसे वे बारम्बार दुःखोंमें गिरते हैं 'व्यथन्मि ते ।' देवताओंके उपासक देव-लोकमें तो जा सकते हैं, परन्तु ईश्वरके अस्तित्वकी न मानकर जड़ प्रकृतिके या केवल अर्थके उपासकोंकी तो बहुत बुरी गति होती है, चाहे वह अर्थोपासना व्यक्तिगत सुखके लिये हो या जाति अथवा राष्ट्रके हितकी कामनासे हो । जहाँ ईश्वरको भुलाकर केवल अर्थ-ज्ञानसे सुख, समृद्धि और अभ्युदयकी इच्छा और चेष्टा होगी, वहाँ पाप-पुण्य या सत्कर्म-दुष्कर्मका विचार नहीं रहेगा, व्यक्तिगत स्वार्थके लिये दूसरे व्यक्ति और जाति या राष्ट्रके स्वार्थके लिये दूसरी जाति या राष्ट्रका सर्वनाश करनेमें कुछ हिचकिचाहट नहीं होगी, मनुष्य न्यायसे घनघात हो जायगा, परिणाममें उसे अन्धतम गति ही मिलेगी ! आजके मनुष्यों, जातियों और राष्ट्रोंमें इसी भावका पोषण हो रहा है और इसीसे देव, वैर, हिंसा और हत्याओंको संख्या बढ़ रही है । ईश्वररहित अहिंसा या सत्य भी शीघ्र ही विफल होकर प्रकारान्तरसे हिंसा और असत्यका रूप धारण कर लेते हैं; अभिमान, ईर्ष्या, दुर्ष, असहिष्णुता आदि दोष तो खजुनका बाना पहिणकर बढ़ते रहते ही हैं । भगवद्भक्तिसे

ग्रन्थ केवल कुछ वाक्य आचर्योंसे सिद्धि, सुख और शान्ति नहीं मिल सकती।

दैवीसम्पत्तिकी आवश्यकता

इसका यह अर्थ नहीं कि दैवीसम्पत्तिके गुणोंकी भक्तिमें जूरत नहीं है, प्रत्युत भक्तिकी तो कसौटी ही दैवीगुणोंका प्रादुर्भाव है। ईश्वर-भक्तमें ही दैवीगुण नहीं होंगे तो और किसमें होंगे? जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर-भक्तिमें दैवीगुणोंकी कोई आवश्यकता नहीं या कोई ईश्वर-भक्त होकर भी दैवीगुणोंसे हीन रह सकता है, वे भ्रम फैलाते हैं। यह बात वैयं ही है, जैसे कोई यह कहे कि सूर्यमें अन्धकार है, या अग्निमें दाहकता नहीं है। जहाँ यथार्थ भक्ति है, वहाँ दैवीगुण अवश्य ही रहते हैं। हाँ, ईश्वर-भक्तके बिना केवल दैवी-गुण चिरकालतक नहीं टिक सकते, किसी कारणसे कुछ आते हैं, परन्तु शीघ्र ही उनका विनाश हो जाता है। जहाँ स्थायी दैवीगुण हैं, वहाँ भक्ति अवश्य है और जहाँ यथार्थ भक्ति है, वहाँ दैवीगुण भी अवश्य होने चाहिये।

ईश्वरवादियोंके पाप

इस बातको न माननेके कारण ही तो बड़ा अनर्थ हो गया। ईश्वरको माननेका दावा करनेवाले लोग दैवी-गुणोंकी परवा न करके इस भ्रममें पड़ गये कि दैवी-गुण ही या न हों, चाहे हम कितना ही पाप क्यों न करते रहें, ईश्वर-भक्तिसे हमारा सब कुछ आप ही ठीक हो जायगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ईश्वर-भक्तिसे पूर्वके बड़े-से-बड़े महापातक भी आगमें सूखे ईंधनके समान तत्काल भस्म हो जाते हैं, परन्तु जो भक्तिके बरूप पापोंकी आश्रय देते हैं, भक्तिके सहारे पाप करते हैं, ईश्वरके नामपर मनमाना अनाचार, अत्याचार और अभिचार करते हैं, उनके पाप तो वज्रलेप होते हैं। बात-बातमें ईश्वरका नाम करनेवाले लोग जब धूमसे भर गये, मनमाना पाप करने लगे, ईश्वर-भक्तिके स्वीकारमें अनाचार होने लगा, भक्तका वेश अभिचारी लोगोंके कामाचारका साधन बन गया, दूसरोंपर झूठा रोष क्रमाकर उन्हें फुसलाकर झूठी तसल्ली या आश्वासन देकर उनसे धन पैँडवा, उनके पूजा प्राप्त करना और उनकी बहिष्कृतियोंपर बुरी नज़रोंसे देखना आरम्भ हो

गया, मन्दिरों और तीर्थोंपर अभिचारके बड़े बान गये, भगवान्की स्तुतिसकके गहने गुजारियोंद्वारा ही चुराये जाने लगे, तब स्वाभाविक ही ऐसे ईश्वरवादियोंके प्रति लोगोंमें अश्रद्धा, दुश्चा और दुर्भावना उत्पन्न हुई और साथ ही यह भी भाव आनव हुआ कि जब ईश्वर इन लोगोंका कुछ भी नहीं करता जो उसके नामपर इतना उत्पन्न करते हैं, तब उस ईश्वरको माननेमें क्या लाभ है? यद्यपि लोगोंका यह निश्चय भ्रमपूर्ण है तथापि गहरा विचार न करनेपर ऐसा होना अस्वाभाविक नहीं है। आज जो अनीश्वरवादी कह रहे हैं, इसमें इन भेषकी खाजमें घुसे हुए भेषियाँने-हानी और भक्तरूपको कलङ्कित करनेवाले मनुष्योंने बड़ी मदद की है। यह सब दुष्चा और हो रहा है, परन्तु वास्तवमें बात तो यह है कि ऐसे लोगोंको ईश्वरवादी मानना ही भूल है, जो ईश्वरके नामपर पाप करता है, सर्वव्यापी ईश्वरको मानकर भी पाप करते नहीं सकुचाता, झिपकर पाप करनेमें कोई संकोच नहीं करता, वह वास्तवमें ईश्वरको मानता ही कहाँ है? इन लोगोंके आचर्योंमें ईश्वरकी सत्तामें कोई अन्तर नहीं पड़ता और न सच्चे ईश्वरभक्तोंका ही कुछ बिगड़ता है।

उपसंहार

ईश्वरमें विश्वास होना यद्यपि बड़े सौभाग्यका विषय है, परन्तु यह सौभाग्य हमलोगोंको प्राप्त करना ही पड़ेगा। सत्संग, ईश्वरविश्वासी महात्माओंकी वाणी, सत्शास्त्रोंका अध्ययन, ईश्वर-प्रार्थना आदि उपायोंसे ईश्वरमें विश्वास बढ़ता है; इसलिये मनुष्यको बड़ी सावधानीके साथ अपने आसपास सभी प्रकारका ऐसा वातावरण रखना चाहिये जिसमें ईश्वर-विश्वास बढ़ानेवाली ही सब चीज़ें हों। ऐसा करनेमें यदि कोई सांसारिक हानि हो तो उसे ईश्वरका आशीर्वाद समझकर सहर्ष स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि ईश्वरमें अविरास करनेमें बढ़कर अन्य कोई भी हानि नहीं है, इससे मनुष्यका जितना पतन होता है, उतना अन्य किसी बातसे नहीं होता।

नित्य नियमपूर्वक भगवान्में विश्वास बढ़ानेवाके ग्रन्थ पढ़ने चाहिये, भगवद्-विरासी पुस्तकोंसे यथावसर मिश्रित-की चेष्टा करनी चाहिये। उनके अनुभव और उनकी शिक्षाओंको सत्य समझकर अज्ञानके साथ उनके वक्तव्य

हुए साधनोंको कार्याभित्त करना चाहिये। ऐसा करते-करते जब भगवत्सम विरवास बढ़ जायगा, तब भगवत्कृपाका स्वर्य उदय होकर हमारे सारे अन्धकारको दूर कर देगा, फिर हमें सर्वत्र आनन्द, सब ओर शांति, सबमें विज्ञान-नन्दधन परमात्माका भाव दिखायी देगा। यदि और भी सौभाग्य हुआ तो सारी चेतनता, समस्त आनन्द, सम्पूर्ण प्रेम, अखिल ज्ञान और दिव्य आधुनिकी धनमूर्ति, नव-अक्षर, नवकिशोर, नटवर, कलित त्रिमंगलंगीने मधुर-सुरभीमें सुर भरते हुए हमारे दृष्टिगोचर होंगे, उस अनन्त सौन्दर्यराशि, कित-हास्य, पीतवसन और वनमालाधारी, गं-ग-पिका-परिवेष्टित इयाम मूरतको देखकर फिर कुछ भी देखना,

करना-धरना शेष न रह जायगा। उस दिव्य आनन्द-रस-महोदधिमें डूबकर हम गा उठेंगे—

मुकुटके रंगिपर इन्द्रको वनुष वारों,

अमल कमल वारों लोचन बिसालपर।

कुंडली प्रभा पै कोटिक प्रभाकर वारों,

कोटिक मदन वारों वदन रसालपर॥

तनके वरन पै नीरद सजल वारों,

चपला चमकि मनमोहनकी मालपर।

बाल पै मरल वारों, मेरो तनमन वारों,

कहा कहा वारि वारों नंदजूके लालपर॥

ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण

(लेखक—जीफिरोज कावसजी दाबर एम०ए०, एल०एन०बी०)



ईश्वर है? और यदि है तो वह कौन है और कहाँ रहता है? धार्मिक कृतिका मनुष्य जिसे माताके वृधसे ही ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धा मिली है, इस प्रश्नको निरा नास्तिकताका धोतक तथा इसके उत्तर देनेकी चेष्टाका घट्टापूर्ण एवं विकलप्रयास समझेगा। एक अकिहीन, असहाय एवं बिना पंखके पक्षि-शावकके लिये, जो बगलकी कोठरीमें क्या हो रहा है यह देख नहीं सकता और योंही इस दूरपर होनेवाली बातको भी सुन नहीं सकता, अथाहकी याह लेने अथवा अपरिमेयका माप करनेकी चेष्टा कैसी दुःसाहसपूर्ण समझी जायगी?

अबतक विज्ञान कम्बाई, चौड़ाई और मोटाई इन तीन परिमायोंका ही पता लगा सकता था, सम्प्रति प्रो० ईन्स्टीन (Prof. Einstein) नामक आधुनिक वैज्ञानिकने गहराईको चौथा परिमाय बतलाया है। इसकी सीमित मानव-बुद्धि क्या उस परात्पर पुरुषको अवगत कर सकती है जिसकी इयत्ताका अनुभव विज्ञानकी पहुँचके परे और दर्शन-शास्त्रकी गतिसे अतीत है? प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक कैण्ट (Kant) ने लिखा है कि भौतिक सृष्टि देस, काळ और कार्य-कारणभावरूपी त्रिभुज-प्राचीरसे परिवेष्टित है और हम उसीके अन्तर रहते, चकते, कितते तथा उपपन्न होते हैं। मनुष्यके जिने उस अखिल

विरवके रचयिताको अपनी बुद्धिसे मापनेकी चेष्टा कैसी नाकसिद्धापूर्ण है जो देश और काळ ही अपेक्षा अनन्त-गुना महान् है और देश-काळकी सृष्टि जिसके द्वारा हुई है एवं जिसे अरबी-भाषामें 'मुसम्बुल असराब' अर्थात् समस्त कारणोंका कारण कहा गया है? अंशका अंशकी जान लेना और बलसीकरके किये अखनिजिका धाह लगाना कैसी असम्भव बात होगी? मौलाना रूमीने क्या ही अच्छा कहा है—'तितबी, जो बसन्त-ऋतुमें पैदा होकर जाइयोंमें अपनी जीवन-यात्राको समाप्त कर देती है, इस सारे बगीचेकी उत्पत्ति और स्थितिको कैसे जान सकती है?' मनुष्य अपनी बुद्धिके द्वारा जो ऊँची-से-ऊँची कल्पना कर सकता है, ईश्वर उसकी अपेक्षा अनन्तगुना महान् है। प्रसिद्ध अंग्रेज कवि टेनीसन (Tennyson) ने ईश्वरको उन्नताकी वह सीमा बतलाया है जो सर्व ऊँची उठती रहती है (The height that is higher) गम्भीर तत्त्वोंका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन करनेवाले उपनिषद्गोत्रोंकी भी हारकर अन्तमें यही कहना पड़ा कि ईश्वरके सम्बन्धमें हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि वह यह भी नहीं है, यह भी नहीं है (नेति नेति)। फिर वह क्या है, इस सम्बन्धमें उपनिषद् भी मौन धारण कर लेते हैं, इसके सिवा उन्हीं कोई दूसरा मार्ग नहीं सुझता। हिन्दू-शास्त्रोंमें ईश्वरको सत् अर्थात् विद्यमान कहा गया है और इससे आगे कुछ कहना बनता भी नहीं।

किसी सजीव पार्थिव पदार्थकी परिभाषा पूर्वोक्तसे हो ही नहीं सकती। केवल निर्जीव वस्तुओंका ही ठीक-ठीक कथन बतलाया जा सकता है, जीवित तथा विकसित होनेवाले पदार्थोंका नहीं। परमात्मा सत् अर्थात् तीनों काळमें विद्यमान है। और इसीलिये उसका कोई भी लक्षण, चाहे वह कितना ही गम्भीर, विचारपूर्ण एवं सूक्ष्म क्यों न हो, उसके स्वरूपका तत्त्वतः पूर्वतया निर्वेश नहीं कर सकता।

इसी असमर्थताके कारण नास्तिकोंने ईश्वरके अस्तित्वको न मानना ही सुकर समझा और वास्तवमें ईश्वर है भी ऐसा ही, जो युक्ति और तर्कके द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। किसी दार्शनिकके लिये ईश्वरके अस्तित्वको प्रमाणीत करना उतना सहज नहीं, जितना एक गैरकारके लिये अपने मनमें यह कहना कि 'ईश्वर नहीं' है। तथापि अनन्तताके महासागरमें मैं अपनी बुद्धिरूपी जीव नौकाको छोड़कर उसे थोड़ी दूर घुमा-फिराकर पुनः किनारेपर कौट आना चाहता हूँ क्योंकि मुझे यह भय है कि बिना सोचे-समझे आगे बढ़कर कहीं मेरी यह तरी बिशाफ तरङ्गोंमें विलीन न हो जाय। यद्यपि यात्रा शङ्कायुक्त है और निर्दिष्ट स्थान दूर है तथा स्पष्टतया भासता है, फिर भी मैं आशा करता हूँ कि मेरे प्रशस्त उद्देश्यको ज्ञानमें रखते हुए सहृदय सज्जन मेरी छट्ठापर क्षमा करेंगे।

प्रसिद्ध अंग्रेज विद्वान् एडमण्ड बर्क (Edmund Burke) ने कहा है कि मनुष्य धार्मिक प्राणी है। (Man is a religious animal) अतएव उसको इस विरवकी पहेलीके सुकम्पाये बिना सैन नहीं पड़ता। पेटकी ज्वालाकी अपेक्षा आत्माकी ज्ञान-बुझा कहीं अधिक प्रबल होती है और वह ज्ञानकी भूख जब एक बार भी जागृत हो जाती है तो वह कदापि बुझ नहीं सकती। प्रसिद्ध अंग्रेज कवि रॉबर्ट ब्राउनिंग (Robert Browning) के 'Cleon' नामक काव्यमें एक दार्शनिकका वर्णन है जो किञ्चित् ज्ञान प्राप्त कर लेनेके अनन्तर सब कुछ जाननेके लिये उत्कण्ठित होता है और परिपिक्षु एवं अपूर्वको समझ लेनेके बाद पूर्ण एवं असीमको समझनेके लिये आकुल हो उठता है। वह कहता है कि ज्ञानशक्तिसम्बन्ध मनुष्यकी अपेक्षा एक कुत्तेका जीवन अधिक सुखमय है क्योंकि उसके अन्ध्र जिज्ञासास्त्री मीठी खूबकी और ज्ञानकी भूख नहीं होती। उसका कहना है कि मनुष्यकी

बुद्धि उसके लिये ईश्वरका आशीर्वाद भी है और अभिशाप भी, क्योंकि वह उसे रात-दिन ईश्वर-सम्बन्धी शंका-समाधानके अँवरजाळमें घुमाती रहती है और उसे तब-तक सैन नहीं लेने देती जबतक कि वह सर्वज्ञ न हो जाय। मनुष्यकी यह दशा है। उसे परमात्माने बुद्धि दी है जो उसके लिये सुख एवं दुःख दोनोंका कारण है और जो सदा जागरूक रहकर उसे अँति-भौतिकी शंकाओंसे व्यथित करती रहती है एवं उस विषय प्रदेशकी ओर उड़ना चाहती है जिसके सम्बन्धमें उपनिषद्में यह कहा है कि वहाँसे बाणी मनके साथ कौटकर चली आती है।

यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि ईश्वरको बुद्धिसे जान लेना उतना ही असम्भव है कि जितना अंशके लिये अंशकी। स्वामी रामतीर्थने ठीक कहा है कि इसप्रकारकी चेष्टा सीढ़ियोंसे चढ़कर स्वर्गमें पहुँचनेकी चेष्टाके सरल व्यर्थ है। ईश्वरके और हमारे बीचमें अन्धकारका जो पर्दा पड़ा हुआ है, उसे विज्ञान बुद्धि एवं ज्ञानेन्द्रियोंकी सहायतासे भेदनेमें सर्वथा असमर्थ है। विज्ञानकी गति प्राकृतिक अवात् एवं प्रकृतिकी क्रीडाके आगे नहीं है, सारी दौड़-पूष कर लेनेके बाद वैज्ञानिकको अन्तमें यह पता लगता है कि 'मैं अबतक चक्करमें ही रहा और ईश्वरको जान लेनेके प्रयत्नमें एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सका, जहाँसे चला था वहीं अब भी हूँ।' वास्तवमें परमात्म-तत्त्वकी वैज्ञानिक उन्नति खान-बीन करने और उसकी अपार शक्तिको तर्कके द्वारा सीमाबद्ध करने तथा नापनेकी कोशिश करनेमें हम उस परात्पर पुरुषको बहुत छोटा बना देते हैं। एफ० एच० जेकबी (F. H. Jacobi) नामक पाश्चात्य विद्वान्ने कहा है 'वह परमात्मा नहीं रह जाता, जो हमारी समझमें आ सकता हो। (A God whom we can understand would be no God) जो वस्तु भली-भौतिकी बुद्धिमें आ सकती है, उसके प्रति भय और आदरका भाव किसके हृदयमें उत्पन्न होगा? उस व्यक्तिके सामने, जिसे हम समझ सकते हैं, अपने अधीन कर सकते हैं और जिसका विश्लेषण कर सकते हैं और इसप्रकार जो हमसे कहीं छोटा है, हम क्यों सिर झुकायेंगे? ऐसी दशामें ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता कहाँ रहेगी? वह तो उसके उपासकका गुण बन जायगी, जो एक असम्भव बात होती। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक रस्सो

(Rousseau) ने कहा है कि ईश्वरकी मैं जितना कम समझता हूँ, उतना ही अधिक भक्तिके साथ मैं उसकी प्रार्थना करता हूँ। (The less I comprehend God, the more devoutly do I pray.) उसकी यह उक्ति बहुत अंशमें उचित ही है। कल्पना और चिन्तन, काम्य एवं कला तथा स्वप्न एवं ज्ञायादर्शनके द्वारा हम उस तिमिराच्छन्न मन्दिरके स्वासीकी अस्पष्ट-सी झलक ही पाते हैं जिसके कपाट उन लोगोंके लिये बन्द रहते हैं, जिनका उसके अन्तरङ्गमण्डलमें प्रवेश नहीं है। आन्तरिक ज्ञानके द्वारा ही हम परमात्माको जान सकते हैं, नहीं, नहीं, अनुभव कर सकते हैं, जान नहीं सकते। साक्षात्कारके द्वारा उसे उपलब्ध कर सकते हैं। हम ईश्वरको जान नहीं सकते, ईश्वर बन सकते हैं और जिसप्रकार चिनगारी अग्निकी छपटके साथ मिलकर एक हो जाती है अथवा जलकी बूँद समुद्रमें समा जाती है उसी प्रकार हम उसके स्वरूपमें घुल-मिल जा सकते हैं। हमें किसी फलका ज्ञान दो प्रकारसे हो सकता है। प्रथम, यह है कि हम उसे किसी वैज्ञानिकके पास ले जायें जो हमें उसका परिमाण तथा तोड़ बतलावे, वह किन-किन तथ्योंसे बना है तथा उसकी जाति एवं अवान्तर-मेद क्या है, यह निश्चय करे और कदाचित् उसका कठिन लैटिन भाषाका नाम बताकर हमें भयभीत कर दे। परन्तु वास्तवमें हम उस फलको तभी यथार्थ जान सकते हैं, जब हम उसका आस्वादन कर उसे उदरस्थ कर लें। बाष्प-ज्ञानकी प्रक्रिया किसी अंशमें अवश्य कामदायक होती है, किन्तु वास्तविक अनुभव तो अपरोक्ष-ज्ञानमें ही सम्भव है। अतएव ईश्वरका साक्षात्कार बाष्प-प्रक्रियासे नहीं, किन्तु आन्तरिक प्रक्रियासे, चर्म-बहुसे नहीं किन्तु आभ्यन्तर-बहुसे, आत्म-शुद्धि, आत्मज्ञान तथा आत्म-निग्रहसे ही हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि महान् दार्शनिक महान् आस्तिक भी हों। फ्राज बेकन (Bacon) साहब यदि जीवित होते तो वे निम्नलिखित अत्यधिक बात झूठकर भी न कहते जो उन्होंने (यद्यपि शुरी नीयतसे नहीं) कही थी। वे कहते हैं—'दर्शन-शास्त्रका अल्पज्ञान मनुष्यको परमात्मासे विमुख बना देता है क्योंकि वह उसको परमात्माके अतिरिक्त अम्याम्य कार्योंपर अधिक ध्यान देना सिखाता है; किन्तु गहन दार्शनिक विचार पुनः मनुष्यको ईश्वरकी ओर झुका देते हैं।' यदि बुद्धि-बन्ध ज्ञानकी

पूर्वतासे ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती, तो संसारके अनेकों प्रसिद्ध बिहान् नास्तिक क्यों बने रहते? इसके विपरीत ऐसे अनेक भगवत्प्राप्त सिद्ध पुरुष और योगी हो चुके हैं, जिन्हें अक्षर-ज्ञान भी नहीं था, यहाँतक कि जो अपना नाम भी स्वयं नहीं लिख सकते थे। परमात्माकी प्राप्ति बुद्धिके विकासका फल नहीं है, अपितु आत्माके उद्बोधका परिणाम है, जो आभ्यन्तर-दृष्टिकी शक्ति बढ़नेसे ही सम्भव हो सकता है, अधिक शक्तिसंपन्न बौद्धिक चरमके धारण करनेसे नहीं। बुद्धिवादका चरमा तो आध्यात्मिक दृष्टिकी सम्मत्ताका ही द्योतक है। किन्तु बखिये, पहले तार्किक प्रमाणोंसे निपटें और देखें कि इसप्रकारके प्रमाणोंसे हमारा समाधान नहीं हो सकता। इसके अनन्तर आभ्यन्तर ज्ञानकी प्रक्रियाका उल्लेख करेंगे, जो ईश्वरके साक्षात्कारकी एकमात्र कुञ्जी है।

ईश्वरवादी दार्शनिकोंने ईश्वरके अस्तित्वको पुष्ट करनेवाले प्रमाणोंको तीन श्रेणियोंमें विभक्त किया है—

१—उस शास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले, जिसमें वस्तुओंके तत्त्व एवं स्वभावका विचार होता है (Ontological)।

२—सृष्टि-विकासके सिद्धान्तसे सम्बन्ध रखनेवाले (Cosmological)।

३—उस शास्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले, जिसमें संसारके आदिकारणोंपर विचार किया गया है (Teleological)।

इन्फ्लैबलके पाद्री एम्सेसम (Archbishop Anselm) और प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक डेकार्टे (Descartes) इन दोनोंने पहले की श्रेणीके प्रमाणोंसे ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध किया है। इनका सिद्धान्त यह है कि हमारे अन्तःकरणमें ईश्वरकी जो भावना है, वह ईश्वरकी प्रेरणासे ही है और उससे ईश्वरकी बाह्य-सत्ता सिद्ध है। ईश्वरकी कल्पना ही उसकी सत्यताका प्रमाण है। डेकार्टेकी मान्यता यह थी कि जिसप्रकार गणित-शास्त्रमें त्रिभुजकी कल्पनाके लिये यह मानना आवश्यक है कि उसके तीन कोण मिलकर दो समकोणके बराबर होते हैं, उसी प्रकार परमात्माकी कल्पनाके लिये उसका अस्तित्व आवश्यक एवं अनिवार्य है। महान् दार्शनिक हेगेल (Hegel) का भी इस सिद्धान्तकी ओर झुकना था क्योंकि उसका यह विश्वास था कि ईश्वर हमारी भावनाका ही मूर्त-रूप है। उसकी मान्यता यह थी कि ईश्वरका अस्तित्व हमारे दार्शनिक अनुभव-

का विषय है और हमारा अनुभव जितना अधिक गहन और व्यापक होगा, ईश्वरकी अभिव्यक्ति हमारे लिये उतनी ही अधिक वास्तविक होगी। किन्तु उपर्युक्त प्रमाणसे पूर्ण समाधान नहीं होता, क्योंकि ईश्वरकी कल्पनासे उसके अस्तित्वको सिद्ध करना दोषयुक्त तर्क है। प्रो० नाइट (Prof. Knight) अपने ग्रन्थ 'Aspects of Theism' में (जिससे मुझे इस प्रश्नपर विचार करनेमें अत्यधिक सहायता मिली है) लिखते हैं कि उपर्युक्त प्रमाणका तभी कुछ मूल्य हो सकता है जब इसके द्वारा यह प्रमाणित हो सके कि ईश्वरकी भावना हमारी बुद्धिमें इतनी बद्धमूल हो गयी है कि वह हमारे अन्तःकरणसे निकल ही नहीं सकती। परन्तु यह सिद्ध करना आसान नहीं है। फिर एक बात और है। यदि हम इस प्रमाणका अनुसरण करें तो हमारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम 'Centaur' नामक अयानक जन्तुके अस्तित्वपर भी विश्वास करें, जिसका आधा शरीर यूनानकी आख्यायिकाओंमें घोड़ेका-या और आधा शरीर मनुष्यका-सा वर्णन किया गया है, क्योंकि इसप्रकारके जन्तुकी कल्पना हम अपने मनमें अवश्य कर सकते हैं। अतः यह प्रमाण निरा कार्पणिक है और वास्तविक तथ्यके सामने बिल्कुल ही उद्धर नहीं सकता।

सृष्टि-विकास-सम्बन्धी (Cosmological) प्रमाणका स्वरूप यह है कि बिना कारणके जगत्में किसी कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती और उस कारणका भी कारण होना चाहिये और इसप्रकार प्रत्येक कारणके कारणका अनुसन्धान करनेसे हम जगत्के आदिकारणतक पहुँच जाते हैं और वह आदिकारण ईश्वर है।

प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) के मतमें जगत्का यह चरम एवं चेतन कारण संसाररूपी चक्रका प्रधान सञ्चालक है जो सबको घुमाता है किन्तु स्वयं अचल है, जो पूर्ण निराकार अतएव दिव्य चेतन-शक्ति है। उसकी मान्यता यह थी कि क्रिया चाहे निरर्थक ही क्यों न हो, वह अगणित सांसारिक विधानोंके साथ नहीं हो सकती, जबतक कि अन्य सबका हेतु कोई मूल कारण न हो। किन्तु इसके विरुद्ध ह्यूम (Hume) जैसे दार्शनिकके लिये यह तर्क उपस्थित करना बिल्कुल सहाज था कि कारणका अनुसन्धान ईश्वरतक ही सीमित क्यों रहे? ईश्वरके भी कारणका पता क्यों न लगाया जाय?

यही नहीं, ईश्वरके कारणका पता लग जानेपर भी क्यों रुका जाय? इस अनुसन्धानके कार्यमें कहीं भी रुकनेकी क्या आवश्यकता है? फिर यदि हम आदिकारण अर्थात् ईश्वरका पता लगाकर रुक जाते हैं, तो यह प्रतीत होता है कि हम ईश्वरको केवल विश्वासके आधारपर मान लेते हैं। यह चाहे आवश्यक ही हो किन्तु ऐसी दशामें हमारी विचारपद्धति वास्तवमें तर्क-प्रधान नहीं रह जाती। अतः यह प्रमाण भी जो बहुधा उपस्थित किया जाता है, तर्ककी कसौटीपर नहीं उतरता।

ईश्वरवादके पक्षमें सबसे अधिक सम्मान्य प्रमाण Teleological है, जिसके अन्तर्गत 'जगत्की सप्रयोजनता' (Argument from design) का प्रमाण भी है। इसका स्वरूप यह है कि सृष्टिमें ऐसी अद्भुत व्यवस्था एवं नियमितता है कि हमारे लिये यह मानना आवश्यक हो जाता है कि कोई महान् रचनेवाली शक्ति अवश्य है जिसने इस विचित्र संसारकी रचना की है। मान लीजिये कि एक टूटा-सा पुराना छकड़ा पथरोंसे लदा हुआ सबकपर जा रहा है, उसमेंसे पथर जमीनपर गिरते जा रहे हैं और विचित्रताकी बात यह है कि वे पथर इस क्रमसे गिर रहे हैं कि उनके संयोगसे अपने आप निम्न-लिखित वाक्य बन जाता है—

‘बम्बई एक विशाल और सुन्दर नगरी है।’

यदि हमें कोई यह बात कहे तो क्या हम उसपर विश्वास करेंगे? एक चालीस फुट गायीपरसे स्वतः गिरनेवाले पथर क्या कभी इस नियमसे गिर सकते हैं कि उनके संयोगसे एक वाक्य बन जाय, जबतक कि किसी पुरुष-विशेषने यह काम न किया हो? इसी प्रकार सृष्टिके कार्य भी इतने नियमित होते हैं कि हम यह कभी नहीं मान सकते कि वह सारे कार्य परमाणुओंके आकस्मिक संयोगके ही फल हैं, भवितु हमें यह मानना पड़ता है कि कोई ऐसी चेतनशक्ति अवश्य है, जिसने किसी निश्चित उद्देश्यको लेकर इस सारे विश्वकी रचना की है। इसके अतिरिक्त हम इस बातका अनुभव करते हैं कि इस विश्वके जितने भी विधान हैं, वे सब अगम्य होते हुए भी सामंजस्यसे युक्त हैं। इसलिये हम इस निश्चयपर पहुँचते हैं कि इन सबका विधायक एक सर्वज्ञ एवं अविनाशी अवश्य होना चाहिये।

किन्तु यह सिद्धान्त भी, जो सामान्यतया बहुत युक्ति-युक्त प्रतीत होता है, पूर्ण एवं यथोक्त नहीं है। वह

महापुरुष यद्यपि अत्यन्त विशाल है किन्तु फिर भी ससीम है और इस ससीमके द्वारा ईश्वरका अनुमान करनेमें यह दोष आता है कि ससीम कार्यकलापसे हम एक असीम उपादान-कारणका अनुमान करते हैं, चाहे वे कार्यकलाप असंख्य ही क्यों न हों। हाँ, यदि हम किन्हीं दूसरे प्रमाणों-से यह निश्चय कर लें कि कोई ईश्वरीय शक्ति है, तब तो हम इसप्रकारका अनुमान कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। और ऐसा करनेपर हम लौटकर फिर उसी स्थानपर पहुँच जाते हैं जहाँसे चले थे। जबतक हम निश्चित विश्वका पूर्ण ज्ञान प्राप्त न कर लें, तबतक (अल्पज्ञानी) हम उसके अनन्त विधानोंके सम्बन्धमें अपना निर्णय कैसे दे सकते हैं? और कैसे हम इसप्रकार करनेके लिये अपनेको विश्वसे ऊपर उठा सकते हैं? ऐसा हम तभी कर सकते हैं जब हम ईश्वरके समान शक्तिसम्पन्न बन जायें। अतएव उपर्युक्त प्रमाणके द्वारा हम ऐसे पुरुषका ही अनुमान कर सकते हैं जो विश्वका नियामक अथवा संयोजकमात्र है, विश्वके रचयिता अथवा उत्पादकका अनुमान हमसे नहीं होता। इस सिद्धान्तसे हम केवल उसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जिसका निर्माण किया गया हो, सृष्टि नहीं। इस सिद्धान्तमें एक दोष और भी है। वह यह है कि विश्वके असंख्य विधान परम्पर ऐसे सम्बद्ध हैं कि कार्य-कारणके दीर्घ अनुसन्धानके अनन्तर किसी मूल कारणात्क पहुँचने-के बदले हम घूम फिरकर वहीं लौट आते हैं, जहाँसे हम चले थे और इसप्रकार यह Teleological प्रमाण अधिक व्यापक होनेके कारण खण्डित हो जाता है। योही देखके लिये यह मान भी लिया जाय कि इस प्रमाणसे हम एक महान् शिल्पीका अनुमान कर सकते हैं किन्तु इसप्रकारका शिल्पी अपनी कारीगरीके लिये हमारी प्रशंसाका पात्र भले ही हो, पर प्रो० नाइट (Prof. Knight) के कथनानुसार इससे कोई ऐसी बात सिद्ध नहीं होती जिससे हमारे अन्दर उक्त शिल्पीके नैतिक चरित्रके प्रति श्रद्धा और आदरका भाव उत्पन्न हो।

किन्तु यद्यपि ये सारे प्रमाण तर्ककी कसौटीपर खरे नहीं उतरते, तथापि इनके अन्दर तथ्यका कुछ अंश अवश्य है, इसलिये हमें चाहिये कि उन्हें निष्प्रयोजन समझकर उनकी अवहेलना न करें, किन्तु उन्हें एक दूसरेका सहायक समझें। ईश्वरकी सिद्धि रेषागणितके किसी सिद्धान्तकी तरहसे नहीं हो सकती, किन्तु साध ही हम

इस बातमें कैण्ट (Kant) से सहमत हैं कि ईश्वरके अस्तित्वका निषेध करना भी उतना ही निष्फल है। ईश्वर और आत्माकी अमरताका प्रश्न तर्कसे हल नहीं होता। निरै तर्कके आधारपर आरुढ़ रहनेसे संसारके कारणके सम्बन्धमें अज्ञानका ही आश्रय लेना होगा। जिसे हक्सले (Huxley) नामक दार्शनिकने अज्ञातवाद (Agnosticism) का नाम दिया है।

इस सम्बन्धमें कैण्ट (Kant) ने ठीक कहा है कि—

‘Both parties to the dispute beat the air; they worry their own shadow, for they pass beyond nature to a region where their dogmatic grips find nothing to lay hold of.’

‘इस वादमें बादी-प्रतिवादी दोनोंका ही प्रयास व्यर्थ है; वे अपने ही प्रतिबिम्बपर आघात करते हैं, क्योंकि वे प्रकृतिका उल्लंघनकर ऐसे प्रदेशमें जा पहुँचते हैं जहाँ उन्हें अपने सिद्धि-निषेधरूपी बाजालमें फँसानेके लिये कोई वस्तु मिलती नहीं।’ यह ठीक है कि ज्ञान ही शक्ति है किन्तु वह ज्ञानाकी बुद्धि-शक्तिये सीमित है और इसलिये वह सदा परिच्छिन्न रहती है। महाकवि Browning ने अपने काव्य ‘Cleon’ में एक झरनेका दृष्टान्त दिया है, जिसके ऊपर एक कन्याकी प्रतिमा खड़ी है और उसके सिरमें एक क्षिप्र है जिसमेंसे होकर जलका प्रवाह निकलता है। उस झरनेका जल जगत्की नदियों, समुद्रों और महासागरोंके जलसे सम्बन्धित है किन्तु उस लक्ष्मीको केवल उसी जलका ज्ञान है जो उसके सिरमेंसे होकर निकलता है। इसी प्रकार ज्ञानकी राशि भी महान्, विस्तृत एवं शक्तिमय है किन्तु मनुष्यको उतनी ही परिमित राशिका ज्ञान है जिसका उसने स्वयं अर्जन किया है। और ऐसे परिमित ज्ञानके अन्दर उस अपरिमित शक्तिका समावेश किसी प्रकारसे नहीं हो सकता। इसलिये तर्कके आश्रयको तिलाजलि देकर हम अपने अन्तर्मा एवं सर्वश्रेष्ठ आश्रय आत्म्यन्तर-ज्ञान (Intuition) की शरण लेते हैं जिसके बिना हेनरी बर्गसों (Henri Bergson) बर्ट्रण्ड रस्सेल (Bertrand Russell) और केसरलिन (Count Keyserling) जैसे आधुनिक महान् दार्शनिकोंके मतके अनुसार सत्य तत्त्वकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती, बुद्धिजन्म ज्ञानकी प्रक्रिया बाध

(विषयाकार) होती है, इस प्रक्रियामें बाहरसे ज्ञानका अर्जन होता है; इसीलिये इसमें वेरसे सिद्धि होती है। इसके विपरीत आन्तरिक ज्ञानकी प्रक्रिया आन्तरिक (आत्माकार) होती है और इसके द्वारा सत्यका प्रकाश तत्काल ही हमारी बुद्धिपर पड़ता है, आन्तरिक ज्ञानका अर्थ है अन्तरका ज्ञान—यह ज्ञान जो भीतरसे उत्पन्न हो। या यों कहिये कि आन्तरिक ज्ञान (Intuition) का अर्थ सन्निकर्षज्ञान अथवा अपरोक्षानुभव है। बुद्धि ऊसरभूमि की भोंति निष्कल, सन्निध्य एवं सत्य-दर्शनमें असमर्थ है; उसकी गति इन्द्रियगम्य इस मिथ्या जगत्तक ही है। इसके विपरीत आन्तरिक ज्ञान असन्निध्य, उत्पादनशील एवं विकासशील है और वास्तविक जगत्तमें मनका स्वतन्त्र व्यापार ही इसका स्वरूप है। जंगली जातियाँ एवं जीव-जन्तु नैसर्गिक बुद्धि (Instinct) से काम करते हैं जिसमें तर्कका भ्रंश नहीं होता और जो विषयका साक्षात् ज्ञान करा देती है। इस नैसर्गिक ज्ञान एवं आन्तरिक ज्ञानमें सादृश्य अवश्य प्रतीत होता है परन्तु वस्तुतः इन दोनोंमें महान् अन्तर है। उदाहरणतः एक छोटा बच्चा भी अकुत्रिम सरल पद्यरचना कर सकता है और वही काम एक प्रौढ़ विद्वान् और विचारशील पुरुष भी करता है। किन्तु उस विद्वान्की कवितामें जो सरलता है वह उसके गम्भीर विचार एवं विस्तृत अध्ययनका परिणाम है, जिससे वह बालक सर्वथा अनभिज्ञ है। आन्तरिक ज्ञान (Intuition) में नैसर्गिक ज्ञानकी अपरोक्षता और बुद्धिजन्य ज्ञानकी स्वानुभूति ये दोनों गुण विद्यमान रहते हैं। विज्ञानके लिये बुद्धिकी आवश्यकता है किन्तु योग (Mysticism) एवं धर्मके लिये आन्तरिक ज्ञान अपेक्षित है। आधुनिक दार्शनिकोंके मतमें दर्शनके लिये भी इसकी आवश्यकता है। आन्तरिक ज्ञानमें सृजनकी शक्ति होती है और बुद्धिमें केवल निमोषकी। आन्तरिक ज्ञानके द्वारा अखिर और चक्षु-पदार्थोंका भी ग्रहण हो सकता है किन्तु बुद्धिके द्वारा केवल निष्कल पदार्थोंका ही बोध होता है। आन्तरिक ज्ञानका सम्बन्ध कविके हृदयकी ईश्वरीय कल्पना एवं दिव्य प्रतिभासे है और बुद्धिका सम्बन्ध केवल वर्णविन्यास एवं मात्रा जोड़नेसे है जो गौण कार्य है। अवश्य ही बुद्धिकी उपयोगिता एवं व्यावहारिकतामें कोई सन्देह नहीं है। आन्तरिक ज्ञानके द्वारा सत्य तत्त्वका निर्याय हो जानेपर बुद्धि उसे तर्ककी पोशाक पहनाकर

भाषामें अभिव्यक्त करती है, जिससे केवल बुद्धिका आश्रय लेनेवाले लोग उसके आशयको समझ सकते हैं। यह आन्तरिक ज्ञान सर्वसाधारणके लिये सुलभ नहीं है, इने-गिने आभ्यवान् पुरुषोंको ही यह उपलब्ध होता है और वे लोग भी उसकी वाणीको तभी सुन सकते हैं, जब उनकी दूषित वासनाएँ और भौतिक विकार पूर्णतया शान्त हो जाते हैं। ईसामसीहके शब्दोंमें वे ही लोग धन्य हैं जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, क्योंकि ऐसे पुरुष ही ईश्वरका साक्षात्कार कर सकते हैं। (Blessed are the pure in heart, for they shall see God.) प्रो० नाइट (Prof. Knight) इस सम्बन्धमें हमें आन्तरिक ज्ञानका एक विशेष गुण बतलाते हैं। उनका कहना है कि आन्तरिक ज्ञान स्वतःप्रकाश नहीं होता, किन्तु उसे उस अलौकिक वस्तुसे प्रकाश प्राप्त होता है जिसको वह अपना विषय बनाता है। आन्तरिक ज्ञान स्वयंप्रकाशरूप नहीं, किन्तु प्रकाशका ग्रहण करनेवाला चक्षु है, क्रियाशील शक्ति नहीं, किन्तु क्रियाका आधार-भूत एक विचित्र करण है और जबतक वह उस पदार्थसे उद्भूत होनेवाले अलौकिक प्रकाशसे, जिसको वह ग्रहण करता है, नहीं जगमगा उठता, तबतक वह मन्द एवं प्रतिभाहीन रहता है।

इसी आन्तरिक ज्ञानकी सहायतासे हम सृष्टिके अन्तर ईश्वरकी सत्ताका अनुभव करते हैं। जिन लोगोंको यह ज्ञान प्राप्त नहीं है उन लोगोंके लिये ईश्वरके अस्तित्वको अस्वीकार करना उतना ही सहज है जितना कि सूर्यके प्रकाशको चमगीवृक्षका न मानना। किन्तु दर्शनकी शक्ति समाप्त हो चुकी है, उसने भी अब आन्तरिक ज्ञानकी आवश्यकताको स्वीकार किया है और यह मान लिया है कि इसके बिना सत्यकी प्राप्ति हो ही नहीं सकती। इस आन्तरिक ज्ञानकी सहायतासे भी हम ईश्वरको पूर्णरीत्या समझ नहीं सकते, उसका अनुभवमात्र कर सकते हैं और अधिक-से-अधिक उसकी सर्वशक्तिमत्ताकी झलकमात्र पा सकते हैं। महासागरमें अपार जलराशि है किन्तु हम उसमेंसे उतना ही जल ले सकते हैं जितना हमारे बर्तनमें समा सकता है। इसी प्रकार हमलोग अपने-अपने आध्यात्मिक विकासकी मात्राके अनुसार ही ईश्वरका अनुभव कर सकते हैं। इस बातको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि ईश्वरकी सत्ता अनुमानका विषय नहीं है किन्तु एक स्वतः-सिद्ध परमावश्यक तत्त्व है जो उस आन्तरिक ज्ञानकी

भित्तिपर स्थित है। जिस आन्तरिक ज्ञानकी जब हमारे अनुभवके अन्दर ऐसी दृढ़ताके साथ जमी हुई है कि वह किसी प्रकार टलब ही नहीं सकती। ईश्वरका अस्तित्व विश्वासकी वस्तु है, तर्क एवं अनुमानका विषय नहीं। ससीमको समझनेके लिये अससीमको मानना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि अससीमके आधारके बिना ससीम समझमें नहीं आ सकता। अज्ञके आस्वादनके लिये हमें यह पहचाने ही मान लेना पड़ता है कि हमारे मुखमें एक रसनेन्द्रिय है जिसके बिना हम स्वादका यथार्थ अनुभव नहीं कर सकते, चाहे हम पाकशास्त्रके पारङ्गत बड़े विद्वान् क्यों न हों। जिसप्रकार ससीमने पृथक् हम अससीमका परिज्ञान नहीं कर सकते उसी प्रकार अससीमके बिना हम ससीमको भी हृदयङ्गम नहीं कर सकते। जिसप्रकार 'केवल' (Absolute) से भिन्न हम 'सापेक्ष' (Relative) को नहीं समझ सकते क्योंकि 'केवल' उसकी आधार-भित्ति है, उसी प्रकार 'सापेक्ष' से पृथक् हम 'केवल' को नहीं समझ सकते। सभी प्रकारका ज्ञान उनके पारस्परिक सम्बन्ध एवं विरोधके द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। पारस्परिक सम्बन्ध और विरोधी वस्तुओंकी अन्वोन्याश्रयता, ये सभी प्रकारके ज्ञानके लिये आवश्यक हैं। जिसप्रकार ससीमके अन्दर अससीमका आव अभिप्रेत है उसी प्रकार अससीमके अन्दर ससीमका भाव अन्तर्हित है। कैण्ट (Kant) ने भी ईश्वरकी सत्ता और आत्माकी अमरताको स्वतःसिद्ध तत्त्व माना है और कहा है कि ये तर्कसे सिद्ध नहीं हो सकते किन्तु इनका हमारे नैतिक जीवनसे अनिष्ट सम्बन्ध है।

यहाँ यह स्वीकार करना आवश्यक है कि इन तत्त्वोंको स्वतःसिद्ध मानना तर्ककी प्रक्रियाको छोड़कर अज्ञ और विरवासकी कीटिका अवलम्बन करना है। किन्तु इसप्रकारके अज्ञा-विश्वासमें और एक असम्भ्य जगत्की मनुष्यके अन्ध-विरवासमें बड़ा अन्तर है और न यह विश्वास मध्यकालीन वाद्री साधुओंके विवेकहीन तर्कशून्य विरवासके सरस ही है। बल्कि यह एक पक्षपातरहित दार्शनिकका विवेक-युक्त विरवास है जिसे इस प्रसङ्गकी दार्शनिक दृष्टिसे मीमांसा करनेके बाद स्वयं उसकी बुद्धिने प्रेरणा की है कि तुम इस बलदेवको छोड़कर बुद्धिसे भी बड़े किसी दूसरे उपाय—आन्तरिक ज्ञान—की शरण लो। महाकवि टेनीसनके निम्न-लिखित पद्यका भी यही आशय है—

By faith and faith alone embrace,
Believing where we can not prove.

अर्थात् हमें अज्ञाका ही आश्रय लेना उचित है, क्योंकि जिस विषयको हम तर्कके द्वारा सिद्ध नहीं कर सकते, वहाँ विरवासके सिवा कोई गति नहीं है।

आधुनिक तर्क-प्रधान युगमें भी यह प्रश्न तर्कसे सिद्ध नहीं हो सकता। तथापि धार्मिक वृत्तिके मनुष्य कवियोंके आन्तरिक ज्ञानके प्रकाशकी सहायतासे किसप्रकार उस परमात्माकी अपनी आशा और विश्वासका केन्द्र बनाते हैं, इस बातको इसी महान् एवं प्रतिभाशाली कविने अपनी भव्य अमरवाणीमें इसप्रकार अंकित किया है।

I stretch lame hands of faith and grope,
And gather dust and chaff and call,
To what I feel is Lord of all,
And faintly trust the larger hope.

अर्थात् मैं अज्ञाके लूटे हाथोंको फैलाकर इधर-उधर टटोलता और धूल एवं भूसा इकट्ठा करके उस परमात्माको पुकारता हूँ। मैं समझता हूँ कि वह सबका प्रभु है और इसप्रकार उस महत्तर आशामें विश्वास करता हूँ, चाहे वह विश्वास हृदय न हो।

अवश्य ही हम प्रत्येक वस्तुमें विश्वास नहीं कर सकते और न हम सम्येहका क्षेत्र इतना बढ़ा सकते हैं कि जिसने हम प्रत्येक बातमें अविश्वास करने जग जायँ। तथापि यह मानना पड़ेगा कि अज्ञा और संशय इन दोनोंमें अज्ञा कहीं अधिक शक्तिशालिनी, स्थिरतापादिका और जीवनदायिनी है। हम अज्ञाके बिना तिलमर भी आगे नहीं बढ़ सकते, एक शब्द भी नहीं बोल सकते और तनिक भी गम्भीर विचार नहीं कर सकते। बाइबलमें भी कहा है।

We walk by faith, not by sight.

अर्थात् हम अज्ञाके सहारे चलते हैं, नेत्रोंके नहीं।

अज्ञाने मानव-जातिके मार्गमेंसे कठिनाइयोंके दुर्गम पर्वतोंको दूर कर दिया और अपने उपासकोंके जीवनमें चमत्कार उत्पन्न कर दिये। सैकड़ों वर्षोंतक दार्शनिक वाद-विवादमें अगजपक्षी करनेके बाद भी जब बुद्धि अससीमको नहीं समझ सकी है और वह अपने सिंहासनपर आन्तरिक ज्ञानको प्रतिष्ठित करना चाहती है, यदि आन्तरिक ज्ञानके द्वारा हम सत्यकी कळकमात्र भी पा

सकें, क्योंकि वहाँ तर्ककी गति नहीं है और यदि इस आन्तरिक ज्ञानकी करामातमें विश्वास करनेके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग निष्पन्न शिक्षासुके लिये न हो तो क्या इस आन्तरिक ज्ञानरूपी उपकरणका बहिष्कार करना हमारी बुद्धिमत्ताका परिचायक होगा? दर्शन-शास्त्रके शाखागारमें इससे बढ़कर शक्तिसम्पन्न कोई दूसरा शक्त नहीं है। इसका आश्रय छोड़कर इन्द्रियोंके अनुभवका, जो हमारी सदा प्रवृत्तना करती रहती है तथा हमारी सीमित बुद्धिके व्यापारका सहारा लेना और इनके सामर्थ्यमें अपार विश्वास करना, (यद्यपि बाह्यजगत्में इनका कोई मूल्य नहीं है) और इसप्रकार नास्तिकताके घोर अन्धकारमें मटकना हमारे लिये कहाँ तक उचित है? अतएव बिबेकी पुरुषोंके लिये यह उचित है कि वे भ्रान्तिपूर्वक इस प्रभवर विचार करें और 'ईश्वरविश्वास' को छोड़कर अपने मिथ्या अभिमान और अज्ञानका परिचय न दें। रिचर्डर (Richter) नामक पाश्चात्य विद्वान्ने ईश्वरके सम्बन्धमें यह कहा है कि 'मनुष्यकी विचारशक्तिका सबसे उच्छ्रेष्ठ नमूना ईश्वरका विश्वास ही है।'

आन्तरिक ज्ञानकी इस सीमापर पहुँचकर दर्शन-शास्त्र योगकी सहायता लेता है, जो आध्यात्मिक जीवनकी विद्या कहलाती है। दार्शनिकका काम है तर्क करना और विचारके घोड़े बौबाना; किन्तु योगीका जीवन, उसकी दृष्टि एवं बातचीत ईश्वरमय पुरुषके सदृश होती है। योगीको विश्वास होता है कि वह उन तत्त्वोंका भी आध्यात्मिक रीतिसे अनुभव कर सकता है जो बुद्धिकी पहुँचके बाहर हैं। यद्यपि वह सत्यका अनुभव कर लेता है तथापि वह उसे सिद्ध नहीं कर सकता। उसके अनुभव-तक वही पहुँच सकता है जो आध्यात्मिक विकासमें उसकी कोटितक पहुँच गया हो। वह बहुत पहलेहीसे बुद्धि और इन्द्रियोंसे विदा ले चुकता है। वह परमात्माको जानता नहीं किन्तु उसका अनुभव करता है; यही नहीं, परमात्माके साथ उसकी एकता हो जाती है। उसके मन अथवा उसके हृदयकी क्रिया आन्तरिक ज्ञानके द्वारा होती है और उस आन्तरिक ज्ञानके द्वारा उसका अपने रचयिताके साथ सम्पर्क हो जाता है। उसकी भाषामें दहान्तों और रूपकोंका गहरा रङ्ग चढ़ जाता है; उसका जीवन पूर्णतया प्रेममय एवं त्यागमय बन जाता है। जिसप्रकार सूर्यके प्रकाशकी सिद्ध करनेके लिये हमें

किसी दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा नहीं होती, इसी प्रकार उसकी दृष्टिमें परमात्माकी सत्ता प्रमाणपेक्ष नहीं रह जाती। वह अपने निश्चित मार्गपर आरुढ़ रहता है। और उसकी दृष्टि अपने लक्ष्यकी ओर कमी रहती है। वह उस उच्च दिव्य-जीवन-सम्पन्न बन जाता है, जिसके लिये लोग तृपित रहते हैं परन्तु इच्छा होनेपर भी अपेक्षित योग्यता अथवा पुण्यसञ्चय न होनेके कारण उसे प्राप्त नहीं कर सकते। प्लेटिनस (Plotinus) नामक पाश्चात्य दार्शनिकके जीवनका उद्देश्य यह था कि योगके द्वारा वह परमात्मामें विलीन हो जाय। उसका यह विश्वास था कि सत्यका ज्ञान तर्कके द्वारा सिद्ध नहीं हो सकता; वह तो तभी प्राप्त हो सकता है जब कि खोज करनेवाला अपनी भ्रमीष्ट वस्तुके साथ छुल-मिलकर एक हो जाय। जिसप्रकार शिल्पी अपने निकम्मे औजारोंको फेंक देता है, उसी प्रकार योगी तर्क और बुद्धिका निराकरण कर देता है और योग एवं ध्यानमें लगा जाता है, क्योंकि वे ही उसे अपने भ्रमीष्ट स्थानपर पहुँचा सकते हैं, जब वह उस चरम दशाको पहुँच जाता है जहाँतक मनुष्यकी पहुँच हो सकती है, तब उसके और ईश्वरके बीचका परदा सदाके लिये हट जाता है। फिर वह ईश्वरके अतिरिक्त न तो कुछ जान सकता है, न देख सकता है, न अनुभव कर सकता है। वह सारी सृष्टिमें उस एकको ही देखता है और उसीमें विलीन हो जाता है। इसप्रकार वह उस विश्वके साथ अपनी एकता स्थापित कर लेता है जो उस विश्वेश्वरकी ही शौकी है (The vision of Him who reigns) ईरान-देशके महान् योगी शम्सतमजेजने इस अवस्थाका वर्णन अपने निम्नलिखित पद्यमें बहुत ही सुन्दरतासे किया है जो उसके सर्वोत्कृष्ट काव्यमेंसे लिया गया है—

हुई रा नू बदर करदम यकी दीदम दु आहम रा ।
यकी बीनम, यकी जूमम, यकी खानम, यकी दानम ॥

अर्थात् ज्यों ही मैंने द्वैत-बुद्धिको निकाल बाहर किया वैसे ही मुझे दोनों जगत् (आध्यात्मिक और आधिभौतिक) एक ही दिखायी देने लगे। अब मैं एकको ही देखता हूँ, एकको ही डूँडता हूँ, एकको ही पढ़ता हूँ और एकको ही जानता हूँ। बुद्धिवादी मनुष्य इसप्रकारके महात्माको भले ही पागल समझे, जैसा कि बहुधा लोग समझा करते हैं; किन्तु वह दिन दूर नहीं है जब हम इस बातका

तकसे सिद्ध होना सुनोगे कि यह मस्तो ही वार्शनिक विचारकी परम सीमा है।

भारतवर्षके लोग पहलेसे ही इस बातको मानते आये हैं। प्रो० मैक्समूलर (Prof. Maxmuller) ने क्या ही ठीक कहा है कि संसारमें सर्वत्र धर्म और दर्शन-शास्त्रमें विरोध दिखायी देता है। भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ दोनोंमें सामंजस्य है। वहाँ एक दूसरेका सहायक माना जाता है। परन्तु योगीको ईश्वरके साथ मिलन होनेपर जो अनिर्वचनीय आनन्द मिलता है उसका कौन वर्णन कर सकता है? बिना उसका स्वयं अनुभव किये उसका आंशिक वर्णन भी नहीं हो सकता, क्योंकि वाणीके द्वारा उसे दूसरोंको समझानेमें—जो एक प्रकारका भौतिक व्यापार है—उस आनन्दका बहुत-सा अंश बिकीन हो जाता है। ईश्वरानुभवकी अवस्थाका आंशिक वर्णन करना भी प्रत्येक व्यक्तिका काम नहीं। यह कार्य तो कोई ब्लेक (Blake), वर्ड्सवर्थ (Wordsworth), जकारुदीन रूमी, हाफिज, तुलसीदास, सूरदास, कबीर, चैतन्य, नरसी मेहता या मीराबाई-जैने प्रतिभासम्पन्न महात्मा ही कर सकते हैं, यद्यपि हम सभी लोग चाहते हैं कि हमें उस दशाका अनुभव प्राप्त हो और हमें पूर्ण विश्वास और आशा है कि एक-न-एक दिन वह अवस्था हमें अवश्य प्राप्त होगी।

यह मैं अपने इस क्षुद्र बल्बको महाकवि टेनिसन-की निम्नलिखित उदात्त एवं सुन्दर प्रार्थनाके साथ समाप्त करूँगा—

Infinite Ideality ! Immeasurable Reality !
Infinite Personality ! Hallowed be Thy Name !

We feel we are nothing, for all is Thou
and in Thee;

We feel we are something, that also has
come from Thee.

We know we are nothing, but Thou wilt
help us to be.

Hallowed be Thy Name !

ओ ! अनन्त आदर्श, अपार सत्य ! असीम व्यक्तित्व ! तेरे नामकी जय हो ! हम अनुभव करते हैं कि हम कुछ नहीं, तू ही सब कुछ है और तुझहीमे सबकुछ समाया हुआ है। हम अनुभव करते हैं कि हम कोई चीज है, परन्तु वह चीज तुझसे ही निकली हुई है। हम जानते हैं कि हम कुछ भी नहीं हैं, किन्तु हमे विश्वास है कि तू हमें अपना अस्तित्व कायम करनेमें सहायक होगा। तेरे नामकी जय हो !

प्रार्थना

कुम्हलाई है 'कंज' हियेकी कली,
इसे प्राण दे नाथ सिलाते रहो।
तड़पाती है याद तुम्हारी मुझे,
जियमें जिय डाल जिलाते रहो ॥
मनमोहन श्याम दया करके,
प्रिय प्रेमका जाम पिलाते रहो।
यह प्रेम-मिलारी है द्वार पड़ा,
करो प्यार नहीं ठुकराते रहो ॥

—नवीनासिंह चौहान 'कंज'

ईश्वरके प्रति

नभका सदैव शामियाना रहता है तना,
फरस महीका है बसन्तकी बहार है।
सूर्य चन्द्रमाकी जलती है ज्योति दोनों ओर,
सुन्दर दिशाओंका हरेक सुता द्वार है ॥
शरने फुहारे बने तारे बने फूल-फल,
पंखा मलयाचलकी झलती बहार है।
न्याय करनेके लिये बैठते कहाँ हो तुम,
किंतना मनोहर तुम्हारा दरबार है ॥

साहित्यरत्न श्यामनारायण पाण्डेय 'श्याम'

ईश्वर ध्रुव सत्य है

(लेखक—प्र० श्रीवाल्कराश्रमी विनायकजी)



किदायिनी काशीपुरीमें जब चार्वाक बृहस्पति और सुरेश्वराचार्य (मयहन मिश्र) का 'ईश्वरके अस्तित्व' पर सुप्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ था, उस समय मध्यस्थ बननेके लिये कोई भी विद्वान् तैयार नहीं हुआ अथवा कोई भी विद्वान् उभय पक्षको समुष्ट नहीं कर

सकता था। भगवान्-अर्चा-विग्रह शालग्रामजीकी विष्णु-प्रतिमाको दोनों पक्षवालोंने मध्यस्थ माना। चाँदीके कटोरेमें शालग्रामजीको पधराकर मध्यस्थके आसनपर विराजमान करा दिया गया। पुष्पमाल्य अर्पण करके वरण किया गया और शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ *। १२ दिनोंतक प्रतिदिन विवाद होता रहा। जब नास्तिकाचार्य ईश्वरका खण्डन करते थे तब शालग्रामजी गलकर पानी हो जाते थे और जब मयहन मिश्र ईश्वरके अस्तित्वका मयहन करते थे, तब वे वास्तविक रूपमें परिणत हो जाया करते थे। प्रतिदिन यही घटना संघटित होती थी। इस आश्चर्यमयी घटनासे विद्वन्मण्डली स्तम्भित हो गयी। इसपर भिन्न-भिन्न प्रकारकी टीका-टिप्पणियाँ होने लगीं। आस्तिकपुरीके आस्तिक विद्वान् इस संघटनको भगवान् शालग्रामजीकी लीला मानते थे एवं नास्तिकाचार्य इस लीलाको अस्वाभाविक मानते थे और आश्चर्यमें निमग्न हो रहे थे। पर दोनों पक्षवाले इस बातको मानते थे कि इस चरित्रके द्वारा माननीय मध्यस्थने विवादपर अपना निर्णय प्रकाशित किया है। किन्तु चरित्ररूपमें, मूक भाषामें प्रकाशित निर्णयके तात्पर्यको समझना उस समयके

विद्वानोंके लिये भी कठिन था। नास्तिकाचार्य कहते थे कि मध्यस्थने किसी पक्षको हराया नहीं, दोनोंकी प्रतिष्ठा अष्टुबल रखी है। आस्तिक विद्वान् कहते थे कि भगवान् की यह अद्भुत लीला ही ईश्वरके अस्तित्वका पुष्ट प्रमाण है। जनता कहती थी कि निर्णय स्पष्ट है, ऐसा स्पष्ट है कि नास्तिकाचार्यको भी सिर झुकाकर मानना पड़ा है कि जब-चेतन सबमें वह चराचरपति ईश्वर म्यास है, लीलाचर है, प्रतिभामें अवस्थित होते हुए मध्यस्थ बनकर पक्षपातरहित निर्णय करता है और उसकी लीला समझमें नहीं आती।

इसप्रकार निर्णयके विषयमें नाना प्रकारके विचार उदय हो रहे थे। किन्तु किसीके निर्णयपर किसीको भी सन्तोष नहीं हुआ। अठारहवें दिन रात्रिके समय सुरेश्वराचार्यजीके पास नास्तिकाचार्य अकस्मात् आ गये। आचार्यने उनका बड़ा सत्कार किया, स्थिर होनेपर बृहस्पतिजीने कहा—'प्रतिज्ञा पूरी हो गयी और आजसे शास्त्रार्थ भी बन्द हो गया, अब मैं बिदा माँगने आया हूँ, आज्ञा दीजिये।' आचार्यने कहा—'अब इतने दिनोंपर हमलोगोंने विवादसे जुड़ी पायी है, दो-चार दिन विश्राम कीजिये तब प्रस्थान कीजियेगा।'

बृहस्पतिने कहा, अब तो एक दिनके लिये भी ठहरना कठिन है।

इतनेमें एक वृद्ध ब्राह्मण द्वारपर आया। द्वार खुला हुआ था। वह बेरोक-टोक भीतर चला आया और 'ॐ नमो नारायणाय' कहकर प्रणाम करके बैठ गया। उसने अपने तेजमें दोनोंका ध्यान आकर्षित कर लिया। वह पृथ्वीपर बैठा हुआ था। उसके तेजके सामने आचार्योंको गद्दीपर बैठनेमें संकोच होने लगा। उन्होंने उसे आदर-पूर्वक समुचित आसनपर विराजमान कराकर पूछा—'कहिसे, कैसे पधारे?' इसपर उस वृद्ध ब्राह्मणने सामवेदकी 'भद्रोभद्रया' श्रुतिको ऐसे स्वरसे गाया कि उसे सुनकर आचार्यसमेत समुपस्थित सभी सज्जन चकित हो गये। अनन्तर उसने ओजस्विनी भाषामें मन्दस्वरसे कहा—'निगमागमरूपी पर्वतकी सुदाईमें अठारह दिनोंतक

* पाठक इस बातपर आश्चर्य करते होंगे कि पाषाणके विग्रहको नास्तिकाचार्यने कैसे मध्यस्थ स्वीकार किया और श्री-सुरेश्वराचार्यने भी क्या समझकर मध्यस्थ बनाया। इस शङ्काका उत्तर यह है कि नास्तिकाचार्य तो यह समझे हुए थे, मूर्ति क्या निर्णय देगी? वह तो कुछ बोले-चालेगी नहीं, आप ही ईश्वरका खण्डन हो जायगा, इसलिये इसे मध्यस्थ माननेमें हमारी कोई हानि नहीं, उधर श्रीसुरेश्वराचार्यजीको भगवान् की कृपापर पूर्ण विश्वास था इसलिये वे आपीत करते ही क्यों?

कमातार परिश्रम करनेपर जो बहुमूल्य भागिष्य प्राप्त हुए हैं उन्हें देखनेकी इच्छासे यहाँ आया हूँ ।' इसपर ईसर आचार्यने कहा—'आप तो रत्न देखने चले हैं पर यहाँ तो उस खुराईमें एक तृण भी देखनेको नहीं मिला । मध्यस्थके निर्णायको समझनेकी क्षमता भी हममें नहीं रही । अटकलसे टटोल रहे हैं किन्तु किसी तथ्यपर नहीं पहुँच पाते, घटना तो प्रसिद्ध ही है, थाप ही उसका कुछ तात्पर्य बतकाइये ।'

इसपर उल्लसित होकर उस बृद्ध ब्राह्मणने उच्चस्वरसे कहा—अच्छा, सुनिये—'वैदिकोंमें हरि और हर दो प्रतीक माने जाते हैं । हरिका निर्णय ईश्वर स्पष्ट है । उसे हरके द्वारा पूर्णरूपसे स्पष्ट कराइये । बलिये, विश्वनाथजीके मन्दिरमें । वहाँ चढ़े हुए बिल्व-पत्रोंमेंसे एकको उठाकर सूँघिये और सिरपर चढ़ाइये । फिर देखिये, क्या होता है ।' दोनों आचार्य उसके कहनेमें आकर उसी समय उठ पड़े । वहाँ जानेपर उस बृद्धने विधिपूर्वक शिबलिङ्गका पूजन किया और चढ़ाये हुए बिल्व-पत्रोंमेंसे एक उठाकर नास्तिकाचार्यको सूँघनेके लिये दिया । उसे सूँघते ही उनकी आँखें बन्द हो गयीं, उन्हें झपकी सी आ गयी और वह सूक्ष्म सृष्टिमें विचरना करने लगे । उसमें उन्होंने अपनेको एक विचित्र वनमें, संकटपूर्ण अवस्थामें देखा । वह ग्रीष्मकी तप्त भूमिपर चलते-चलते मध्याह्नकालतक बहुत तृषित और क्षुधित हो गये थे । भौति-भौतिके अंगलोंको पार करते हुए उन्हें कहीं भी जलाशय नहीं दृष्टिगोचर हुआ । उनका कण्ठ सूख गया था और जीभ कटपटा रही थी । आगे चलनेपर एक सुन्दर सरोवर दीख पड़ा । बड़ी प्रसन्नता हुई । पैर जोर-ओरमें आगे बढ़े परन्तु वहाँ पहुँचने ही उन्होंने देखा, एक सिंह सरोवरमें जक पी रहा है और एक सर्प मार्ग रोके बैठा है, ऊपर गोघ और चील मेंढरा रहे हैं । किसी भी प्रकार प्राणियों रक्षा सम्भव न समझकर अत्यन्त स्वाभाविक वृत्तिसे—उस वृत्तिसे, जो इन्द्र-स्थलके गुप्त-गङ्गामें निहित रहती है और ऐसे ही अवसरपर उदित हो आती है, उन्होंने चिन्ताकर कहा—'हे परमात्मन् ! हे जगदीश्वर ! मुझे बचाओ ।' इस चिन्ताहटको सुनकर सर्प लगबगाया और फण निकालकर फुफकार बोलने लगा । उसकी फुफकार वहाँतक पहुँची, जहाँपर वह खड़े थे । धैर्य तो पड़ले ही छूट गया था । बड़ी हुई शरीरकी ममता और

वेहाभिमानकी पराकाष्ठासे विवश होकर वहाँ आँखें मूँद कर बैठ गये और रोने लगे । इतनेमें झुल्ला भरता हुआ सिंह भी समीप पहुँच गया और उसने गर्दनपर एक पंजा मारा । बड़े जोरसे चिन्ताकर उन्होंने कहा—'भारा रे, भारा रे, राम राम !' अन्तमें परमेश्वरका नाम लेते ही प्रगाढ़ निद्रा भङ्ग हुई और जागनेपर उनके सब कष्ट दूर हो गये । भयंकर हरयका अन्त हो गया । सर्प और सिंह अहरय हो गये । अब आँखोंमें आँसू और गलेमें लसलसाहट रह गयी थी । ज्वाती अभीतक धबक रही थी । उनकी दशा देख-देखकर बृद्ध ब्राह्मण मुस्करा रहे थे । जब कुछ देर बाद वह सावधान हुए, तब आचार्यने पूछा—'कहिये, क्या हाल है ? बिल्वपत्रने तो अपूर्व चमत्कार दिखाया । बच्चोंकी तरह आपका रोना और चिल्लाना देख-सुनकर बड़ा आश्चर्य होता रहा । कहिये, क्या बात थी ?'

नत-मस्तक हो बड़े करुण-म्हरे नास्तिकाचार्यने कहा—'अन्तस्तलमें जो आपदा बीती है, जो कष्ट सहन करने पड़े हैं, उनका वर्णन किसी प्रकार हो नहीं सकता । एक तो मैं बहुत प्यासा था, जलाशयका कहीं पता नहीं, बहुत दौड़-धूपपर जब एक सरोवर दृष्टिगोचर हुआ, तो सिंह और सर्पके आक्रमणसे इन्द्र-मय भयका सञ्चार हुआ कि तृषाका लोप हो गया और किसी प्रकार प्राण-रक्षाकी ही चिन्ता प्रबल हो गयी । इस संकटको दूर करनेके लिये कोई उपाय नहीं सूझी, विवश होकर किसी अहरय शक्तिके ऊपर अपनेको छोड़ दिया । अनाथ, अबोध बालककी तरह रोने और चिल्लानेके सिवा और कुछ हो ही नहीं सकता था । अर्थात् कृत्रिमता बिल्कुल भिट गयी, चतुराई और पण्डिताई जाती रही । सिंहके आक्रमणसे तो निश्चय ही मुझे प्राणान्तका बोध हो गया । उस समय स्वाभाविक वृत्तिके उदय होनेसे स्वतः 'भारा, भरा' के साथ 'राम, राम' शब्द मुँहसे निकल पड़े और उसी क्षण संकटका अन्त हो गया ।

इस घटनाने ईश्वरके अस्तित्वमें और ईश्वरके राम-नाममें मुझे पूर्णरूपसे विश्वास हो गया है । मरे प्रबल तर्क, मेरी अकाव्य युक्तियाँ न जाने कहीं चली गयीं । इस अनुभवने मरे जीवनमें भारी परिवर्तन कर दिया है । मेरा पक्ष गिर गया, मैं सचमुच शास्त्रार्थमें हार गया । परन्तु इस पराजयसे मैं क्षुब्ध और दुःखित नहीं हूँ, प्रत्युत बहुत प्रसन्न हूँ । क्योंकि जब मैं समझ गया कि

मास्तिकवाद उस अर्थात् बुद्धिका विकारमात्र है, जो देहात्मवादसे उत्पन्न होती है। उपनिषद्के इन्द्र-विरोचन-संवादकी वाद सुनो आ रही है। मेरे अन्तःकरणसे आसुरी वृत्तिका निरसन पूर्वरूपसे हो जाय, अब मैं यही चाहता हूँ और मुझे आशा है कि एकान्त-स्थलमें बैठकर समूह कण्ठहर 'राम-नाम' के अभ्याससे मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा और मुझे ईश्वर-दर्शन भी प्राप्त हो जायगा। प्राचीन महर्षियोंकी तरह अब बहरीबनमें जाकर मैं यही करूँगा। आप कृपापूर्वक आज्ञाबोध दीजिये कि ऐसा ही

हो और यदि उचित समझें तो पूर्वकृत्योंके लिये कोई प्रायश्चित्त करा दीजिये।'

इसपर सुरेश्वराचार्यने कहा—'आपके मुखसे मुझे यह वृत्तान्त सुनकर बड़ा हर्ष हो रहा है। आपको जो अपूर्व अनुभव हुआ है उसकी साधना और हरि-भाराधनामें शीघ्र तत्पर हो जाइये। आपका पञ्चात्ताप ही सर्वोत्तम प्रायश्चित्त है।'

इतना कहकर आचार्यने उन्हें हृदयसे लगाकर बिदा किया। (धर्मतत्त्व)

ईश्वर और महेश्वर

(केसक—श्रीकृत ईशेन्द्रनाथ दत्त एम०ए०, बी०ए० वेदान्तरत्न)

'कल्याण' के 'ईश्वराङ्क' में उपर्युक्त प्रसंग सम्भवतः अप्रासंगिक नहीं होगा, इसी भावनासे किञ्चित् आलोचना की जाती है।

उपनिषदोंमें ऋषियोंने द्विविध ब्रह्मका परिचय दिया है—निर्विशेष और सविशेष; निर्विकल्प, सविकल्प; निर्गुण, सगुण; निरुपाधि और सोपाधि। इस सम्बन्धमें श्रीकांकराचार्य कहते हैं—

'द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूपभेदोपाधिविशिष्टं, तद्विपरीतं च सर्वोपाधिविर्जितम्।'

ब्रह्म जब मायाकी उपाधिको शङ्गीकारकर 'मायी' होता है तब उसे 'महेश्वर' कहते हैं—

'मायिनन्तु महेश्वरम्' (द्वेतावतार ७)

यही महेश्वर समस्त ईश्वरोंका ईश्वर है—परमेश्वर है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्। (द्वेतावतार ६, ७)

यह सर्वेश्वर है, सब ईश्वरोंका ईश्वर है—

'अनन्तशक्तिस्त्वित ब्रह्म सर्वेश्वरम्'

तब हम धूम-फिरकर क्या पुनः उसी अनेकेश्वरवाद (Polytheism) पर आ गये? ईश्वर तो एक है, फिर ऋषियोंने अनेक ईश्वरोंकी चर्चा क्यों की? क्या वे अनेकेश्वरवादी (Polytheist) थे? यह आशंका निर्मूलक है, क्योंकि ऋषिगण यद्यपि अनेक ईश्वर मानते थे परन्तु जो ईश्वरोंका ईश्वर है वह महेश्वर, वह ब्रह्मण्यदेव एक और अद्वितीय है—यह एकेश्वरवादीका ऐक्य (Unity) नहीं

है किन्तु अद्वितीय (Unique) है—इस बातकी ऋषियोंने मुक्तकण्ठसे घोषणा की है—'एक एव महेश्वरः' उनका यह सर्वत्र प्रचारित विश्वविरुद्धात मत है कि ब्रह्म ही 'एकमेवाद्वितीय' (आन्दोम्ब्य० १।२।१) है।

वही परतत्त्व है, उसके परे और कुछ भी नहीं है, वही पराकाष्ठा है, परमगति है।

पुरुषात्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः।

(कठ० १।३।११)

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति घनंजय।'

(गीता ७।७)

यदि यही बात है, यदि महेश्वर एक है, यदि वही परतत्त्व है तो ऋषियोंने अनेक ईश्वरोंकी बात क्यों कही? ये अनेक ईश्वर कौन हैं और महेश्वरके साथ इनका क्या सम्बन्ध है? इसी प्रसङ्गकी आलोचना करनेके लिये इस निबन्धकी अवतारणा की गयी है।

पूर्व-दिशामें 'ज्वाकुसुमशंकाश' मूर्ति धारणकर सूर्य उदय होता है और पश्चिममें अस्त होता है। इस सूर्यको केन्द्र बनाकर जो सब ग्रह-उपग्रह (जैसे-पृथ्वी, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक, शनि) चतुर्दिक् घूम रहे हैं, सूर्यके सहित उनकी समष्टिका नाम 'सौरमण्डल' है। अंग्रेजीमें इसे (Solar System) कहते हैं। प्राशस्त्य वैज्ञानिकोंकी बहुत विनोतक यही धारणा थी कि विश्वके अन्दर हमारा यह 'सौरमण्डल' ही सर्वोत्तम है। यह जो असंख्य तारे आकाशके चन्द्रातपके नीचे लटक रहे

हैं, केवल दीपकमात्र हैं—(Serve as lamps by night.) परन्तु भारतीय ऋषियों ने कहा है कि सौरमण्डल (हमारे यहाँ सौरमण्डलको ब्रह्माण्ड या विश्व कहते हैं) असंख्य हैं—अगणित हैं—

संख्या चेत् रजसामस्ति बिश्वानां न कदाचन ।

(देवीभागवत ९ । ३ । ७)

अर्थात्, भूखिण्णोंकी गिनती की जा सकती है किन्तु ब्रह्माण्डोंकी नहीं ।

यथा तरेगा जलौ तयेमाः सुहयः परे ।

उत्पश्योत्पल्य लीयन्ते रजसीन् महानिले ॥

जैसे—समुद्रकी तरंगें अगणित हैं, वैसे ही महेश्वरकी सृष्टियाँ भी अनिलमें भूखिण्णोंकी भाँति उत्पन्न और लय होती रहती हैं ।

पाश्चात्य विज्ञान भी अब यही बात कहने लगा है । प्रोफेसर एडिंटन कहते हैं कि अबतक हम तीन सौ करोड़ तारा-सूर्योंका पता लगा सके हैं ॥

यह पृथ्वी, जिसपर हम निवास करते हैं हमारी दृष्टिमें बहुत बड़ी प्रतीत होती है; इसीलिये हम कहते हैं 'विपुला च पृथ्वी ।'

परन्तु हमारी यह पृथ्वी सौरमण्डलका केवल एक छोटा-सा ग्रहमात्र है, बृहस्पति या शनि इसकी अपेक्षा बहुत बड़े हैं । हमारा सूर्य पृथ्वीसे दस लाखगुना बड़ा है और ऐसे-ऐसे भी तारा-सूर्य हैं जो हमारे सूर्यने भी दस लाखगुने बड़े हैं । † अब अनुमान कीजिये कि वे ब्रह्माण्ड कितने-कितने बड़े हैं ।

इस प्रसंगमें एक बार यदि अखिल विश्व-ब्रह्माण्डका संस्थान अर्थात् कितने देश मिलकर यह सृष्टिरूपी ध्वनिका फौल रही है, इस बातपर विचार करते हैं तो

* Our sun belongs to a system embracing some three thousand millions of star—Eddington

† Compared with the earth the sun is gigantic in bulk a million times bigger. we have recently found a class of giant stars some of which are a million times bigger than the sun—(Sir Oliver Lodge's Making of man' p.137.)

चित्त आश्चर्यमें डूब जाता है । हम जानते हैं कि सूर्य पृथ्वीसे नव करोड़ मीलकी दूरीपर है परन्तु वैज्ञानिकोंने ऐसे-ऐसे तारा-सूर्योंका पता लगाया है जहाँकी आलोक-रश्मिको पृथ्वीपर पहुँचते चौदह करोड़ वर्ष लग जाते हैं । हम यह भी जानते हैं कि आलोक-रश्मिकी गति प्रति सेकण्ड एक लाख छियासी हजार मील है । जिस तारेसे पृथ्वीपर आलोक पहुँचते चौदह करोड़ वर्ष लग जाते हैं उसकी दूरीका क्या ठिकाना ? यहाँ तो सारी मनुष्य-संख्याका अन्त हो जाता है क्योंकि उस दूरीकी यदि गिनती की जाय तो ८२ के अंकपर १६ शून्य आते हैं । यह संख्या करोड़को करोड़ गुना करनेसे भी बहुत अधिक है ।

ये जो अगणित तारा-सूर्य हैं—सम्भवतः उन प्रत्येकमें ही एक-एक सौरमण्डलका केन्द्रस्थल है । अर्थात् जैसे हमारे सूर्यको केन्द्र बनाकर मंगल, बुध, बृहस्पति आदि कितने ही ग्रह घूमते हैं, कौन जानता है, इन तारा-सूर्यके अधीन कितने कोटि ग्रह-उपग्रह गगन-मण्डलमें विचरना कर रहे हैं ? ये सब ग्रह-उपग्रह क्या जीव-शून्य हैं ? हम देवते हैं कि एक जल-विष्णु भी जीव-शून्य नहीं है, किन्तु वह अत्युत् जीवोंकी लीला-भूमि है । अतएव हमारी पृथ्वीसे भिन्न अन्यान्य ग्रह-उपग्रह और हमारे सौर-मण्डलसे भिन्न नभमें स्थित अन्यान्य सौरमण्डल जीव-शून्य हैं, यह समझना क्या दुःसाहस नहीं है ? सम्भवतः असीम सृष्टिमें कहीं भी जीवोंका अभाव नहीं है ।

पाश्चात्य जगत्के पिथागोरस, डैटो, केप्लर, स्वेडन-वर्ग प्रभृति मनीषी हम बातपर विश्वास करते थे कि प्रत्येक मण्डलके अधिदेवता या Presiding director हैं यह बात इस देशके प्राचीन शिक्षाके सरश ही है । ऋषियोंकी शिक्षा भी यही है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डका अधिष्ठाता स्वतन्त्र ईश्वर है, वह त्रिमूर्ति (Trinity-Unity in Trinity) ब्रह्मा-विष्णु-शिवात्मक है । ब्रह्मा-रूपसे सृष्टि करता है, विष्णु-रूपसे पालन करता है और शिव-रूपसे संहार करता है ।

संख्या चेत् रजसामस्ति बिश्वानां न कदाचन ।

ब्रह्माविष्णुशिवादीनां तथा संख्या न विद्यते ॥

प्रति विश्वेषु सन्त्येव ब्रह्माविष्णुशिवादयः ।

(देवीभागवत ९ । ३ । ७-८)

प्रत्येक ब्रह्माण्डमें अपने-अपने ब्रह्मा-विष्णु-शिव विराजित

हैं। जब कि ब्रह्मायुध ही अगणित हैं तब इन ब्रह्मा-विष्णु-शिवादिकी संख्या भी अगणित ही है।

कोटिकोटययुतालीशे षाण्डानि कथितानि तु।

तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयो मयाः॥

ब्रह्मायुधकी संख्या कोटि-कोटि अयुत-अयुत है। और उन सभी ब्रह्मायुधोंमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र भी विराजित हैं।

ब्रह्माविष्णुशिवा ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्मशक्तयः।

× × ×

ब्रह्माविष्णुशिवादीनां यः परः स महेश्वरः॥

‘ये ब्रह्मा, विष्णु और शिवगण ब्रह्माकी प्रधान-प्रधान शक्ति हैं। जो ब्रह्मा, विष्णु और शिवोंके भी ऊपर हैं, वही महेश्वर हैं।’

इसी विषयमें लिङ्गपुराणमें भी लिखा है—

असंख्याताः रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः।

हरयश्च ह्यसंख्याताः एक एव महेश्वरः॥

असंख्य रुद्र, असंख्य ब्रह्मा और असंख्य विष्णु हैं किन्तु महेश्वर एक और अद्वितीय ही है। इस विषयमें त्रिपाद-विभूति उपनिषद्की उक्ति ध्यान देनेयोग्य है।

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितानि पताहशानि अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डानि साबरणानि ज्वलन्ति। चतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखसप्त-मुखादष्टमुखादिसंख्याक्रमेण सहस्रावधिमुखान्तैर्नारायणशैशो-रजोगुणप्रधानैरेकैकसृष्टिकर्तृमिराधिष्ठितानि विष्णुमहेश्वराद्यै-र्नारायणशैशोः सत्त्वतमोगुणप्रधानैरेकैकस्थितिसंहारकर्तृमिर-धिष्ठितानि महाजलौघमत्स्यबुद्बुदानन्तसङ्घवत् भ्रमन्ति॥

‘इस ब्रह्माण्डके चारों ओर ऐसे अनन्त कोटि ब्रह्मायुध पृथिवी आदिके आवरणसे आवृत होकर प्रकाशित हो रहे हैं। चतुर्मुख, पञ्चमुख, षण्मुख, सप्तमुख, अष्टमुख, संख्या-क्रमसे हजार मुखपर्यन्त नारायण-वंश ब्रह्मा, विष्णु, हर, रजः-सत्त्व और तमोगुणकी प्रधानतासे विभिन्न होकर एक-एक ब्रह्मायुधमें अधिष्ठित हुए सृष्टि, स्थिति और संहारका कार्य सम्पन्न करते हैं। महासमुद्रमें जैसे अनन्त मत्स्य और जल-बुद्बुदे क्रीड़ा करते हैं, उसी प्रकार विश्वके महा-काशमें अनन्त ब्रह्मायुध भ्रमण करते हैं।’

गौडीय वैष्णवोंके प्रामाणिक ग्रन्थ श्रीचैतन्य-चरिता-मृतमें एक आख्यायिकाद्वारा यह तत्त्व समझाया गया है।

एक दिन द्वारिकापुरीमें भगवान् श्रीकृष्णके दर्शनार्थ ब्रह्माजी आये, द्वारपालने आकर श्रीकृष्ण महाराजको लम्बर दी, श्रीकृष्णने द्वारपालसे कहा ‘जाकर पूछो, कौन-से ब्रह्मा आये हैं, उनका क्या नाम है?’ द्वारपालने आकर ब्रह्माजीसे यह बात पूछी। ॐ

हमारे ब्रह्मायुधके चतुर्मुख ब्रह्मा द्वारपालके इस प्रश्न-को सुनकर चकरा गये, बोले—‘अरे, मैं ‘ब्रह्मा’—और दूसरा ब्रह्मा कौन? जाकर कही कि सनकादिके पिता चतुर्मुख ब्रह्मा आये हैं।’†

द्वारपालने चतुर्मुख ब्रह्माको श्रीकृष्णके निकट उपस्थित किया। भगवान् श्रीकृष्णने ब्रह्मासे यथाविधि कुशल-प्रश्न पूछा। तदनन्तर ब्रह्माजी बोले—‘देव! आपके इस पूछने-का क्या तात्पर्य था कि ब्रह्मा कौन-से आये हैं? मेरे अतिरिक्त जगत्में दूसरे ब्रह्मा कौन हैं?’‡

श्रीब्रह्माजीकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण मुस्कराये और कुछ ध्यान-सा किया, उसी क्षण वहाँ अगणित ब्रह्मा आकर इकट्ठे हो गये।§

चरितामृतकार वर्णन करते हुए कहते हैं उन अगणित ब्रह्माओंमें किसीके बीस, किसीके सौ, किसीके हजार, किसीके लाख, किसीके करोड़ और किसीके अरब मुख थे, जिनकी गणना नहीं हो सकती। इसी प्रकार लाखों-करोड़ों मुख-वाले रुद्र और करोड़ों नेत्रवाले इन्द्र भी आये। चतुर्मुख ब्रह्मा इनको देखकर आश्चर्यमें डूब गये और श्रीकृष्णके चरणोंमें लुट पड़े।+

* एक दिन द्वारिकाते कृष्णे दस्त्रिवारे।

ब्रह्मा आइला, द्वारपाल जानाइला कृष्णरे॥

कृष्ण कहें ‘कोन् ब्रह्मा, कि नाम ताहार?’

द्वारा आसि ब्रह्मारे पूछे आरवार॥

† ‘कह गिया सनकपिता चतुर्मुख आइला।’

‡ कोन ब्रह्मा पूछे तुमि कोन अभिप्राये?

आमा बह जगते आर कौन ब्रह्मा हये?

§ सुनि कृष्ण हासि तबे करिनेक ध्यान।

असंख्य ब्रह्मारगण आइला तत्क्षण॥

+ शत विश सइसयुत लक्षवदन।

कोटयान्वुद मुख कागे ना ह्य गणन॥

रुद्रगण आइला लक्ष कोटि वदन।

इन्द्रगण आइला लक्ष कोटि नयन।

× × × ×

कहना नहीं होगा कि यहाँ श्रीकृष्ण महेश्वर हैं। उन्होंने ब्रह्माको सम्बोधन करके कहा—'ब्रह्माजी ! इस ब्रह्माण्डका विस्तार पचास करोड़ योजन है, इस अति क्षुद्र ब्रह्माण्डमें आप चतुर्मुख हैं। परन्तु अन्य ब्रह्माण्डोंमें कोई सौ करोड़ योजनका है, कोई लाख करोड़ योजनका, कोई दस लाख करोड़ योजनका और कोई कोटि करोड़ योजन विस्तारवाला है, उन ब्रह्माण्डोंके अनुरूप ही उनमें उतने ही अधिक मुखवाले ब्रह्मा हैं। इसप्रकार मैं समस्त ब्रह्माण्डोंके गर्भोंका पालन करता हूँ।'*

अब हमारे चतुर्मुख ब्रह्माका मोह नाश हुआ। उपनिषदोंमें जगह-जगह महेश्वरको ब्रह्मा और ईश्वरको ब्रह्मा अथवा हिरण्यगर्भ, परमेश्वरी अथवा प्रजापति कहा है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव ।
विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ॥ (मुण्डक १।१)
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम् । (श्वेता० ३।४)
प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजामसे । (प्रश्न० २।७)
सनगः परमेश्वरः (बृह० २।६।२)

ब्रह्मा और ब्रह्माका सम्बन्ध समझानेके लिये एक जगह सम्राट् और राजाकी तुलनाका प्रयोग किया है। जैसे एक सम्राट्के अधीन अनेक राजा रहते हैं—वे सब राजा परस्पर स्वतन्त्र हैं, किन्तु सभी सम्राट्के परतन्त्र हैं। विश्व-ब्रह्माण्डके शासन और पालनका काम भी इसी प्रकार चल रहा है। जो सर्वोपरि है, वही महेश्वर है। जो सम्राट् स्थानीय है, उसीकी अधीनतामें असंख्य ईश्वर हैं। एक-एक ईश्वर (ब्रह्मा) एक-एक ब्रह्माण्डका स्वामी है। ये सब ईश्वर परस्पर स्वतन्त्र हैं, किन्तु सभी महेश्वरके अधीन हैं। ये सब ईश्वर जिस समय प्रजापति हैं उस समय महेश्वर प्रजापति-पति हैं।

देखि चतुर्मुख ब्रह्मा हैल चमत्कार ।
कृष्णेर चरणे आसि कैल नमस्कार ॥

* ५४ (विश्व) ब्रह्माण्ड पञ्चासत् कोटि योजन ।
अति क्षुद्र ताते तामार चारि वदन ॥
कोन ब्रह्माण्डे सत् कोटि कोन लक्ष कोटि ।
कोन निर्युत कोटि कोन कोटि कोटि ॥
ब्रह्माण्डानुरूप ब्रह्मा शरीर बदल ।
एक रूपे पालि आमि ब्रह्माण्डेर गण ॥

पति पतीनां परमं परस्तात् । (श्वेता० ६।७)

ये सब ईश्वर जब ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं, तब महेश्वर महाब्रह्मा, महाविष्णु अथवा सदाशिव हैं।

ये सब ईश्वर सवितृमण्डल-मध्यवर्ती पुरुष हैं।

य एष आदित्यं पुरुषो दश्यते । (छान्दोग्य० ४।१।१)

और महेश्वर विराट् पुरुषरूपसे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके भीतर अधिष्ठित हैं। वह—

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽङ्घ्रिशिरोमुखम् ।

सर्वतःश्रुतिमल्लोकं सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥

'उसके हाथ और पैर सर्वत्र हैं, उसके नेत्र, सिर, मुख और कान सब जगह हैं। वह सबको व्याप्त करके स्थित है।' अर्थात् एक-एक ईश्वर एक-एक Solar Logos है। और ब्रह्माण्ड या Solar System की संख्या जब अनन्त कोटि है, तब ऐसे Solar Logos की संख्या भी अगणित है। और जो समस्त ईश्वरोंका ईश्वर, महेश्वर, परमेश्वर है, Central Logos अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड जिसके विराट् देहके रोमरूपके परमाणु हैं, उसको नमस्कार है।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः ।

उसकी महिमाका कौन वर्णन कर सकता है ? इसी-लिये आगतमें देखते हैं, ब्रह्मा उनकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

काहं तमोमहदहंस्वचराभिर्भार्तृ-
संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिक्तायः ।
केतादग्बिम्बा अगणिताः परमाणुचर्या-
वाताम्बरोमनिबरेषु च ते महित्वम् ॥

(मीमांसागत)

कहाँ तो मैं क्षुद्र और कहाँ आप परम महात्मा ? पृथ्वी आदि सात तत्त्वोंद्वारा गठित एक ब्रह्माण्ड मेरा शरीर है और आपके शरीरके प्रत्येक रोमरूपमें ऐसे असंख्य ब्रह्माण्ड प्रवेश करते हैं और निकलते हैं, वातायन-पथमें जैसे परमाणु प्रवेश करते हैं और निकलते हैं। अहो ! आपकी कैसी अपार महिमा है ! ईश्वर और परमेश्वरमें यही भेद है !



पार्थिववादकी भयानकता

(लेखक—चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)

नास्तिकवाद और अज्ञातवाद



चीनकालमें भारतवर्षमें नास्तिकवाद केवल असुरोंमें ही सीमित था, आर्यगण इससे मुक्त थे। पार्थिव नास्तिकवादके आचार्य माने जाते हैं। पाश्चात्य देशोंमें इसी नास्तिकवाद (Atheism) ने आधुनिक अज्ञातवाद (Agnosticism) का रूप धारण किया है। जिसके अनुसार यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि 'ईश्वर है ही नहीं' बल्कि यह कहा जाता है कि ईश्वरके अस्तित्व-सम्बन्धी ज्ञान और प्रमाण नहीं प्राप्त होते। तात्पर्य यह है कि अनुसन्धानके द्वारा यदि ईश्वरके अस्तित्वका पर्याप्त प्रमाण मिल जाय तो अज्ञातवादी (Agnosticists) उसमें विश्वास कर लेंगे।

हिमाटिजम

इस अज्ञातवादके मुख्य प्रचारकोंमें पूर्वमें लन्दनमें चाहर्स ब्रैडलॉ और श्रीमती एनी बेसेण्ट थीं। श्रीमान् चाहर्स ब्रैडलॉ एक पत्रके संपादक और सञ्चालक थे। एक बार वे लन्दनमें बाहर कहीं किसी कार्यवश गये थे, वहाँ उनकी स्त्री 'हिमाटिजम' की गयी और उनसे पूछा गया कि लन्दनमें जो पत्र छप रहा है तथा जिसका प्रकृतिज्ञ ही आनेवाला है, वह कैसा छपा है। उन्होंने बतलाया कि पत्रके अमुक-अमुक पृष्ठकी अमुक-अमुक लाइनोंमें अमुक-अमुक अक्षर उल्टे छपे हैं। जब डाकमें प्रकृति आया तब देखा गया कि उपर्युक्त बातें अक्षरशः ठीक थीं। यह देखकर श्रीमती एनी बेसेण्टने श्रीचाहर्स ब्रैडलॉसे कहा कि 'अब आप अपने पार्थिव अज्ञातवादके सिद्धान्त को परित्याग करें; क्योंकि अब यह सिद्ध हो गया कि मनकी गति केवल शरीरकी चेतन दशापर ही निर्भर नहीं करती, बल्कि शरीरकी बेहोशी (Hypnotised) की दशामें, शिथिलतामें भी वह दूर देशतक चली जाती है।' श्रीमान् ब्रैडलॉने उत्तर दिया कि, 'बुद्धावस्थाके कारण अब मैं वर्तमान सिद्धान्तकी स्थागकर दूसरे सिद्धान्तका अभ्येषण करनेमें असमर्थ हूँ।' परन्तु श्रीमती एनी बेसेण्टने उसी दिग्गसे पार्थिववादका त्याग कर दिया।

पार्थिववादका मुख्य सिद्धान्त यह है कि चेतनता शरीरके परमाणुओंके संगठन-विशेषका परिणाम है। यदि इस सिद्धान्तको सच माना जाय तो शरीरकी शिथिलतासे चेतनमें भी शिथिलता आ जानी चाहिये, परन्तु हिमाटिजममें शरीरकी शिथिलताके कारण पत्रके बेहोश हो जानेपर भी चित्तकी गति अधिक वेगवती और तीक्ष्ण हो जाती है। एवं चेतना सुदूर स्थानकी वस्तुका याथातथ्येन वर्णन कर सकती है। इससे सिद्ध है कि चेतना शरीरमें स्वतन्त्र और उत्कृष्ट है।

श्रीमान् जगदीशचन्द्र बोसके आधिष्ठातृका मूल तत्त्व प्रकृतिमें पार्थिव्य है। वृक्षकी आकृति पशुकी आकृतिमें भिन्न होती है, इसी प्रकार मनुष्यकी आकृति भी पशुकी आकृतिमें भिन्न होती है। यदि चेतनको बाह्य-प्रकृतिका परिणाम माना जाय तो विभिन्न प्रकारकी आकृतियोंकी बाह्य-प्रकृति भिन्न होनेके साथ उनके अन्तर्गत चेतनाके स्वभावमें भी विभिन्नता होनी चाहिये। परन्तु वस्तुतः विभिन्न चेतनकी बाह्य-प्रकृतिका रूप भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनके आन्तरिकमें एक ही मूल तत्त्व सिद्ध होता है। यह सिद्धान्त श्रीबुत जगदीशचन्द्र बोसने अपने वैज्ञानिक प्रयोगों-द्वारा निश्चित किया है। उनके यन्त्रमें मनुष्य अथवा उद्भिजमें प्रतिघात (Impact) करनेसे उसका प्रतिफल (response) उस यन्त्रद्वारा जो लेखके आकार (Curves) में प्रकट होता है, वह दोनोंमें एक ही प्रकारका रहता है, भिन्न प्रकारका नहीं, इससे सिद्ध है कि एक व्यापक चेतन सब प्रकारकी प्रकृतिमें वर्तमान है और वह प्रकृतिसे स्वतन्त्र है।

इंजिनियरोंका अनुभव है कि कभी-कभी इंजिनमें कोई दोष न रहनेपर भी वह चलनेमें रुकता है, परन्तु वह रुकावट उसे विश्राम देनेसे अपने आप दूर हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि छोटेमें भी चेतन है और उसमें थकावट होती है। दूसरी बात यह है कि इंजिनमें अधिक गड़बड़ी आनेपर यदि उसे गङ्गाजलमें धोया जाता है और उसके पीपेमें (Boiler) गङ्गाजल भर दिया जाता है तो वह उतनेहीसे ठीक हो जाता है, इससे सिद्ध है कि छोटेमें

केवल चेतनता ही नहीं, बल्कि गङ्गाजलकी पवित्रताका प्रभाव भी उसपर पड़ता है।

मेरा निजी अनुभव है कि जिस बूझके फलमें कीड़े हो जाते हैं उसकी झाली गङ्गाजीमें डाल देनेसे कीड़ोंका होना बन्द हो जाता है।

परलोकगत आत्मा

प्राञ्चात्य देशके बड़े-बड़े विद्वान्-जैसे सर विलियम क्रुके, सर ओलिवर लाज, स्वर्गीय सर कोआयनन, 'रिच्यु आफ रिच्यु' तथा 'बार्डरलैण्ड' के प्रसिद्ध सम्पादक मिस्टर स्टेड आदिको प्रत्यक्ष प्रमाणोंद्वारा ज्ञात हुआ है कि मृत्युके बाद भी जीवात्मा रहते हैं, तथा वे इहलोकके जीवोंके साथ बातचीत करते और संवाद भेजते हैं, एवं वे ऐसी-ऐसी घटनाओंका वर्णन करते हैं जो लोगोंको बिल्कुल मालूम नहीं होती, परन्तु अन्वेषण करनेपर सर्वथा सत्य सिद्ध होती हैं। इससे भी पार्थिववादका खण्डन होता है।

प्रोफेसर मायर (Myer) अपने बृहत् ग्रन्थ 'Human Personality' में, जो दो भागोंमें प्रकाशित हुई है, अनेक विद्वत्सनीय प्रमाण देते हैं, जिनसे सिद्ध होता है कि मरनेके बाद जीवात्मा वर्तमान रहता है तथा वह इहलोकके जीवोंके साथ बातचीत कर सकता है। लन्दनके आत्मीक अनुसन्धान-समिति (Psychical Research Society) ने भी उपर्युक्त सिद्धान्तकी पुष्टिमें प्रमाण संग्रह-कर उसकी रिपोर्ट प्रकाशित की है, इस समितिके सदस्य प्रायः क्वातनामा विद्वान् और आचार्य हैं।

पूर्वजन्मकी स्मृति

विभिन्न देशके बालकोंमें पूर्वजन्मकी स्मृतिके अनेक उदाहरण प्राप्त हुए हैं जो अनुसन्धान करनेपर सत्य सिद्ध हुए हैं। अनेक बालक बिल्कुल बाल्यावस्थामें गान-बिद्या अथवा गणितमें आश्चर्यजनक निपुणता प्रदर्शित करते हैं, जिनका होना पूर्वजन्मके भावे बिना सम्भव नहीं है।

संकल्प आकारका कारण होता है। प्राची-विज्ञानने एक अत्यन्त सूक्ष्म कीटका पता लगाया है, उसे Amoeba कहते हैं। कीट-वर्गमें उन्हे आदि जन्तु कह सकते हैं। उसके भीतर एक ही अवयव होता है जिसके द्वारा वह भोजन करता, चलता-फिरता तथा मल-त्याग आदि समस्त कर्म करता है। जब वह चलना चाहता है तो उस अवयवको बाहर निकालता है और उसे पैर बनाकर चलनेलगता है,

फिर बिनाभोजन के समय उसे भीतर समेट लेता है। जब वह भोजन करना चाहता है तो उसी अवयवको बाहर निकालकर मुख बनाकर भोजन करने लगता है। और मल-त्याग करते समय उसी अवयवको बाहर निकाल, गुदा बनाकर मल त्याग करता है। अनेक बार विभिन्न प्रकारकी क्रियाएँ करते समय वही एक अवयव पाँच प्रकारकी आकृति धारण करता है। इससे भी पार्थिववादका खण्डन होता है क्योंकि इसके द्वारा सिद्ध होता है कि प्रकृति इच्छा (चेतन) के अधीन है न कि चेतन प्रकृतिके अधीन।

सार्वभौम सुन्यवस्था

विश्वमें समस्त कार्य सुन्दर नियमोंके द्वारा सुन्यवस्थित रहते हैं। मृत्युएँ अपने समयपर आती हैं, ग्रह सदा अपनी कक्षामें ही भ्रमण करते हैं; इत्यादि घटनाएँ बिना सञ्चालक और सङ्कल्पकर्ताके कैसे सम्भव हो सकती हैं? इसका एक और उत्तम प्रमाण यह है कि बर्फके स्फटिक (Crystal) में जो रेखागणितके बड़े-बड़े आकारोंके समान उत्तम-उत्तम आकार बने रहते हैं, जिनकी रेखाएँ आदि इसप्रकार नियमितरूपसे खिंची रहती हैं, तथा वह ऐसी सूक्ष्म और बृहत् होती हैं कि जिनका बिना कम्पासके बनना असम्भव-सा जान पड़ता है, इससे भी ईश्वरकी सत्ता सिद्ध होती है।

बुद्ध और जैन-सम्प्रदाय

बुद्धने अपने जीवनमें कहीं भी यह नहीं कहा कि 'ईश्वर नहीं है।' बौद्ध-सम्प्रदायमें ईश्वरका नाम 'अवलोकितेश्वर' है। बुद्धके समयमें कर्मपर विशेष जोर देना आवश्यक था, इसलिये उन्होंने यह उपदेश दिया था कि वर्तमान जीवन अतीतकालके कर्मोंका फल है और वर्तमानकालके कर्मोंका परिणाम भविष्यत्में मिलेगा। बुद्धके इस सिद्धान्तकी सत्यतामें किसीको सन्देह भी नहीं हो सकता है।

जैनधर्म भी अन्तिम कारणस्वरूप एक पदार्थको मानता है और यही वेदान्त-शास्त्रका ब्रह्म है।

प्राचीन निरीश्वरवाद

प्राचीन निरीश्वरवादका मूल-कारण उपनिषद्वादीमें भिन्नता है। असुर विरोधन ब्रह्माजीके पास तत्त्वज्ञानकी शिक्षा देने जाता है। परन्तु वह उनके उपदेशको उल्टा ही समझता

है और देहको ही आत्मा मान लेता है। इस विषयका विस्तृत विवेचन 'कल्याण' की पिछली संख्याओंमें खासीखी श्रीओदेवाबाजीके लेखोंमें देखा जा सकता है। पीछे विरोधनकी यही भावना असुरोंके तत्त्वज्ञानका मूल आधार बन गयी। यही कारण है कि असुर लोग यज्ञका विरोध करते थे जिसके परिणामस्वरूप देवासुरसंग्राम होते थे। और असुर लोग असत्य-पथका अवलम्बन करनेके कारण सदा ही पराजित होते थे।

यही निरीश्वरवादका सिद्धान्त असीरिया(Assyria) देश (असुरोंका देश), बैबिलन (Babylon), इजिप्ट (Egypt) आदि देशोंमें प्रचलित था, जिनके द्वारा ये देश पार्थिव उन्नतिमें हटने आगे बढ़ गये थे कि पाश्चात्य देशकी सभ्यतामें कोई अवतक वहाँतक नहीं पहुँच सका है। देहात्म-वाद-सिद्धान्तके कारण ही इन लोगोंमें मूर्खोंको गाढ़नेकी प्रथा थी। इजिप्ट (मिश्र) देशवाले तो अपने मुर्खोंको बहुत ही सुन्दर मकानमें रखकर बन्द करते थे तथा उनके पास भौति-भौतिके बहुमूल्य आभूषण, वस्त्र, अन्न-पान आदि भोगकी अनेकों सामग्रियाँ रखते थे। पुरातत्त्ववेत्ताओंने उन मृतकोंकी कोठरियोंको खोलकर यह पता लगाया है कि वे लोग अत्यन्त ही समृद्धिवाली तथा कला-कौशलमें बहुत ही प्रवीण थे। परन्तु प्रकृति नश्वर है, संसार विनाशी है, इसमें कुछ भी स्थायी नहीं रहता। इसीमे ये देश पार्थिव उन्नतिके उन्नततम शिखरपर चढ़कर आज पूर्णरूपेण नष्ट हो गये हैं। उनकी सभ्यताका अब जगत्में नाम-निशान भी न रहा। कारण स्पष्ट है। उन लोगोंने केवल बाह्य-प्रकृतिको ही 'यत्परो नास्ति' समझा और आत्मा-परमात्मा-के अस्तित्वको भी नहीं माना। इसीलिये उनके जीवनका एकमात्र लक्ष्य पार्थिव उन्नति ही रहा। अतः उनकी सभ्यता इस पार्थिववादपर अवलम्बित होनेके कारण पूर्ण-रूपेण विनष्ट हो गयी और भारतकी आर्य-सभ्यता परमात्म-तत्त्वपर अवलम्बित होनेके कारण करोड़ों वर्षोंसे अक्षुण्ण बची आ रही है।

अतएव हमलोगोंको कदापि पाश्चात्य देशोंकी पार्थिव सभ्यताकी लज्जित चमक-दमकमें भूलकर अपनी सभ्यता तथा इसके चरम लक्ष्य ईश्वरकी न स्थापना चाहिये, नहीं तो अपनी सभ्यताके नष्ट होते ही मिश्र आदि देशोंके समान हमारा भी सर्वनाश हो जायगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। वर्तमानकालमें आधुनिक पाश्चात्य पार्थिव

१३

सभ्यताके नाशके लक्षण दीख पड़ते हैं और विवेकी पुरुष अपने ग्रन्थों और लेखोंद्वारा इसकी चेतावनी जगत्को दे रहे हैं। भारतवर्षके निवासियोंको पाश्चात्य देशोंके नास्तिक-वादका खखनकर तथा आस्तिकताका प्रचारकर अपना और उनका कल्याण करना चाहिये। स्वयं इस सर्वनाशी नास्तिकवादमें पड़कर नष्ट होनेकी मूर्खता कदापि नहीं करनी चाहिये।

नास्तिकवाद समाज-ध्वंसकारी है

नास्तिकवाद समाजका विध्वंस करनेवाला है। क्योंकि नास्तिकवादी आगन्तुक दुःखको सहन नहीं कर सकते, केवल वर्तमान जीवन ही उनका सर्वस्व होता है, वे मरणान्त-जीवनमें विश्वास नहीं करते। दूसरी बात यह है कि नास्तिक तात्कालिक परिणामको ही मुख्य मानते हैं उसके अदृष्ट भविष्यपर वे विश्वास नहीं करते। इसका परिणाम यह होता है कि जब कभी कोई असहनीय दुःख आ पड़ता है तो वे उसे सहन न कर उसके निवारणके लिये आत्मघात कर बैठते हैं, क्योंकि उनका विश्वास होता है कि शरीरके नाशके साथ जीवनका अन्त हो जाता है और फिर कोई आत्मा-जैसी वस्तु नहीं रह जाती। इसीसे वे आत्महत्या कर दुःखसे मुक्त होना चाहते हैं, वे इस बातको नहीं समझते कि शरीरके नाश हो जानेपर भी जीवात्मा रहता है। दुःखकी बात है कि अमेरिका आदि उन्नत कहलानेवाले देशोंमें इसप्रकारकी आत्महत्याकी संख्या बड़ी भयानक रीतिसे बढ़ रही है, नास्तिकताके विषाक्त परिणामोंका यह एक प्रत्यक्ष उदाहरण है। नास्तिकवादके प्रचारका एक अन्य भयानक परिणाम यह होता है कि मनुष्य किसीके जीवनकी परवा नहीं करता तथा किसीकी हत्या करनेमें तनिक भी सङ्कोच नहीं करता। आजकलकी राजनीतिक तथा अन्य प्रकारकी हत्याएँ इसी-के परिणाम हैं। यूरोपका महासमर इसी प्रकारकी एक हत्याके कारण हुआ था। हत्या ही क्यों, आजकलकी बढ़ती हुई चोरी-धकैती भी इसी नास्तिकताका परिणाम है जिनमें शिक्षित कहलानेवाले लोग भी प्रमुखरूपसे भाग लेते जा रहे हैं। नास्तिकताके प्रचारके यह प्रारम्भिक दुष्परिणाम हैं — 'आगे आगे देखिये होता है क्या ?'

कल्पित आस्तिकता

यह संसार परमात्माका व्यक्त शरीर है, अतः ईश्वर-की ओर अग्रसर होनेकी पक्की सीढ़ी भी यही है। इस-

छिये जो मनुष्य ईश्वरके शरीरभूत जगत्के प्राणियोंका आदर नहीं करता, बल्कि उनकी उपेक्षा करता है, उनके प्रति द्वेष करता है और उनका उपकार न कर सदा उनकी हानि ही करता है, वह ईश्वरमें विश्वास रखते हुए भी यथार्थरूपसे आस्तिक नहीं कहला सकता और न वह जीवनमें यथार्थ आत्मिक उन्नति ही कर सकता है। ईश्वरकी मुख्य पूजा है संसारके प्राणियोंकी सेवा और सहायता करना। आजकल आस्तिक लोगोंके प्रति इसी कारणसे घृणा की जाती है कि वे सदा प्रायः अपने स्वार्थ-साधनमें ही प्रवृत्त रहते हैं, तथा उसके छिये दूसरोंकी हानि करनेसे भी नहीं हिचकते। परोपकारमें प्रवृत्त होना तो इनके छिये दूरकी बात होती है। ऐसे पुरुष कখনसे आस्तिक होनेपर भी कार्यरूपसे आस्तिक होते हैं।

यथार्थ आस्तिकता

यथार्थ आस्तिक वही है जो संसारके प्राणीमात्रको भगवान्का रूप समझते हैं, तथा उनकी सेवाको श्रीभगवान्की मुख्य सेवा और पूजा मानकर दुःखित और आर्त प्राणियोंकी सहायतामें प्रवृत्त रहते हैं, तथा देश और समाज-

के यथार्थ कल्याणके साधनमें सदा योग देते हैं। ऐसे सज्जन साधकके प्रति ओपरमात्माकी कृपा होती है और वे भक्तकी श्रेणीमें गिने जा सकते हैं। मानव-जीवनका यही परम काम भी है।

यदि नास्तिक भी सदा-सर्वदा कोपकारके कार्यमें निःस्वार्थ-भावसे प्रवृत्त रहे तो उसे भी आस्तिक समझना चाहिये। परन्तु भावति इसमें यही होती है कि ऐसे पुरुष कालान्तरमें स्वार्थ-परायण हो जाते हैं, तब उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है जिससे हानिप्रद कार्यको ही वे उत्तम समझकर करने लगते हैं और अपनी तथा औरोंकी हानि करते हैं।

धर्म और नीतिकी भित्ति परमात्मा और उसके ईश्वरीय नियम हैं, जिससे यह संसार चल रहा है। जो इनको नहीं मानते हैं वे चाहे कितना भी प्रयत्न करें, कालान्तरमें उनसे भूल होगी और स्वार्थवश होकर वे धर्म और नीतिका उल्लङ्घन करेंगे। अतएव आस्तिकता अर्थात् ईश्वरके अस्तित्व तथा ईश्वरीय नियमोंमें विश्वास करना, एवं तदनुकूल आचरण करना, सब प्रकारकी वास्तविक उन्नतिका मूल कारण है।

कौन ?

जल चल तेज वायु

किसके नियन्त्रणमें ?

रात दिन काल-चक्र

कमसे चलाता कौन ?

बीजमें असंख्य वृक्ष

वृक्षमें असंख्य बीज,

राईको सुमेरु, मेरु

राई है बनाता कौन ?

कौन है बिराटसे भी

महत बिराट एक ?

सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म होके

बाणीमें न आता कौन ?

सप्ता ओ—' महत्तासे है

कण-कण ओत-प्रोत

तेजोमय सूर्य चन्द्र-

में प्रकाश लाता कौन ?

लीन कर लेता विश्व

एक अणु मात्र ही में

पल भी न होती देर

फेर उपजाता कौन ?

एकसे न एक रहे

एकसे अनेक रहे

नेक ओ—' अनेक रहे

त्रिगुण रचाता कौन ?

उर्जनाभिके समान

विस्फुलिंग ज्यों कृशानु

एक ओ—' अनेक मान

करता-मिटता कौन ?

अपनेसे अपनेको

करके अनेक रूप

अपनेसे अपनेको

बालसे कुड़ाता कौन ?

मेघधोती 'जाम'

श्रीभगवान् और उनकी प्राप्ति के उपाय

(छेकक—पं० बीमूरेन्द्रनाथ सान्याल)



म अल्पबुद्धि प्राणी ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्धमें क्या प्रमाण पेश करें ? हम—जैसे इन्द्रियद्वारा मनुष्यों की बातों और युक्तियों का मूल्य ही क्या है ? और लौकिक युक्तियों द्वारा आज तक इनको सिद्ध ही कौन कर सका है ? ज्याननिष्ठ ज्ञानी और निस्व आत्मसमर्पित भक्त के अचल हृदयासन पर वे सदा ही विराजित रहते हैं; और हम क्या प्रमाण दिखावें ?

हम लोगों के द्वारा भगवान् के अस्तित्व में प्रमाण प्रदर्शित करना एक प्रकार से पागल का छलाप ही समझना चाहिये । सूर्य के देखने के लिये जैसे दीपक की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही ईश्वर के अस्तित्व के सिद्ध करने में भी अन्य प्रमाणों की आवश्यकता नहीं है । भक्त और ज्ञानियों की म्वाबुद्धि और सम्पूर्ण ज्ञानों की ज्ञान, साक्षात् ईश्वर-वाणी भगवती श्रुति ही उनके अस्तित्व में सर्वोत्तम और प्रबल प्रमाण है । जो श्रुति-प्रमाण को नहीं मानते, उनमें हमारा कुछ भी कहना नहीं है । मैं यथासाध्य श्रुति-प्रमाण, कुछ लौकिक युक्ति और यत्किञ्चित् अपने अनुभव के आधार पर ही वह निबन्ध लिखना चाहता हूँ, आशा है भगवन्नक्त महापुरुष मेरी इस छटता पर क्षमा करेंगे ।

भगवान् में सभी लोग विश्वास कर सकते हैं, या करेंगे, यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है । महर्षि नारद ने अपने भक्ति-सूत्र में कहा है—‘सा कस्मै परमप्रेमरूपा ।’

यहाँ ‘किं’ शब्द का प्रयोग करके महापुरुष समझाते हैं कि जो ‘किं’ शब्दवाच्य है, हमें उन्हीं से प्रेम करना होगा, इस ‘किं’ शब्द का अर्थ यह है भगवान् सदा ही प्रसन्न हैं । अर्थात् जिनके सम्बन्ध में कितने खेद कितनी बातें कहते हैं, आज तक कितने प्रश्न हो चुके हैं और कितने बुद्धिमान् पुरुषों ने उनके कितने प्रकार से उत्तम-उत्तम उत्तर दिये हैं, तथापि मानव-हृदय के इस पुरातन प्रश्न के विषय में शंकाहीन, सन्देहहीन, सबके किये ग्रहणीय, सबको सन्तोषप्रद सद्गुण अजीतक कोई भी नहीं दे सका है । अतएव जब-जब इस प्रश्न की मीमांसा हुई, तब-हो-तब कुछ समय के बाद पुनः सन्देह पुनः इकट्ठा हो गया

और वही प्रश्न कुछ नवीनरूप में फिर सामने आ गया । भक्तिकेता को यमराज ने कहा था—

देवैरत्रापि निश्चिद्विस्तृतं पुरा न हि सुविशेषमपुनरेव बभूव ।

(कठोपनिषद्)

पूर्व में देवताओं को भी आत्मा के (ईश्वर के) अस्तित्व में सन्देह हो गया था । कारण, यह विषय ‘न सुविशेषम्’ है । सहज ही जानने में नहीं आता । क्योंकि जगत् को धारण करने-वाला यह आत्मा ‘अणुः’ सूक्ष्म चिन्तन से भी अगम्य है ।

इसी में कहा जाता है, सब लोग भगवान् में विश्वास नहीं कर सकते, बहुतों को तो उसका पता ही नहीं होता । भगवान् में विश्वास करने के लिये कोई सहज, सरल मार्ग भी समझ में नहीं आता, हम लोगों का जो उनपर यत्किञ्चित् विश्वास है सो केवल उनकी दया से ही है ।

पुत्र अपनी माता पर सहज विश्वास करता है, वह किसी से कुछ सुनकर या युक्तियों का संग्रह करके ऐसा करता हो, सो बात नहीं है । जननी का अनिवर्चनीय स्नेह शिशु के हृदय को न जाने क्या समझा देता है जिसको वह बतला नहीं सकता, परन्तु अपने प्रायों के अन्दर वह किसी अव्यक्त आकर्षण का अनुभव करता है, उसी की प्रेरणा से वह माता को ‘माँ, माँ’ कहकर पुकारता है और असीम विश्वास के साथ उलझकर माँ की गोद में जा बैठता है । इसी प्रकार युक्तियों के सहारे कोई भगवान् पर कभी न तो विश्वास कर सकता है और न उनमें प्रेम ही कर सकता है ।

भगवान् की विश्वविमोहिनी शक्ति या बाँसुरी, भक्त के प्रायों में न मालूम क्या सङ्गीत सुनाती रहती है, उसी से भक्त सदा के लिये उनके चरण-रज्ज का भिलारी बन जाता है, फिर उसको किसी भी युक्ति द्वारा उस मार्ग से हटाया नहीं जा सकता । प्रसू के आकर्षण में ऐसा ही अपार बल है । यदि यह कहा जाय कि भगवान् तो सर्वात्म्यामी, सर्वव्यापी और सबके आत्मा हैं फिर वे चुन-चुनकर केवल अपने भक्तों को ही बाँसुरी का मधुर स्वर क्यों सुनाते हैं ? दूसरे उसे क्यों नहीं सुन सकते ? इसके उत्तर में भगवान् गीता में स्वयं ही कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेषोऽस्ति न प्रियः ।

मे भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥

(गीता ९।२९)

यदि भक्तकी ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, अभक्तकी नहीं, इससे क्या भगवान् में वैषम्य-दोष आता है ? इसके उत्तरमें कहते हैं—‘मैं सब भूतोंमें समान हूँ, मेरा कोई शत्रु-मित्र नहीं है, किन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें रहते हैं और मैं उनमें रहता हूँ ।’

जैसे अग्निके समीप रहनेवाले पुरुषका अन्धकार और जाड़ा अग्निकी स्वाभाविक शक्तिये ही दूर हो जाता है, उसी प्रकार पापी-पुरुषात्मा जो कोई भी भगवान् को भजता है, वही उनकी महिमाको जानता है और वही शान्ति प्राप्त करता है ।

पुत्र जैसे जननीपर सहज ही विश्वास करता है, पत्नी जैसे अपने प्रियतम पतिसे स्वाभाविक प्रेम करती है, कुत्ता जैसे अपने भगवाता (स्वामीपर) विश्वास करता है, इनसे कहीं अधिक भक्त अपने भगवान् पर प्रेम और विश्वास करता है ।

जो निराकार, निर्विकार और न मालूम क्या-क्या हैं; जिनको खोजते-खोजते बुद्धि थक जाती है, युग-युगान्तरोंसे कितने लोगोंके मनोंने उनका कितना अनुसन्धान किया, किन्तु कोई उनकी धाढ़ न पा सका—ऐसी वह अचिन्त्य वस्तु भी मिल सकती है, उस अघर तत्त्वका भी पता लग सकता है । किन्तु कहाँ ?

‘हरिके कामल पद-कमल हरि-जन-हियमें पसि ।’

भक्तकी देखकर ही अभक्त, अज्ञानीका भगवान् में विश्वास होता है मानो उसे कुछ प्रत्यक्ष अनुभव-सा होने लगता है, मानो कोई अचिन्त्य वस्तु उसकी नजरोंके सामने आ जाती है । भगवत्-प्रेममें मतवाले श्रीमान् नित्यानन्द प्रभुकी देखकर जन्मके पाप-कलुषित स्थितवाले महापातकी जगाईकी पापवृत्ति शान्त हो गयी । सदाके अभ्यस्त विषयोंसे वह मानो सर्वथा दूर हट गया । यही साधुसङ्गकी महिमा है । फिर उसने जब भक्तवतार श्री-चैतन्यचन्द्रके प्रेमपूरित नेत्रोंकी ओर देखा, जब श्रीचैतन्य-देवके शरीरमें स्पर्श होकर आयी हुई वायुके झकोरे जगाई-मघाईके शरीरमें लगे, तब तुरन्त ही एक वैधुतिक क्रिया-सी हो गयी, दोनों भाई अनास्थावित्त अपूर्व भगवत्-प्रेममें

सर्वथा निमग्न हो गये, उनकी कु-प्रवृत्ति सदाके लिये शान्त हो गयी । जो भूलकर भी कभी भगवान् को याद नहीं करते थे, वे ही भगवत्की प्राप्तिके लिये अकुल उठे । भगवत्सङ्गोंके सङ्गकी यही तो महिमा है ।

‘यदेव सत्सङ्गः तदेव सद्गती

परावरेण त्वमि जायते रतिः ।’

(श्रीमद्भागवत)

भक्त भी अपने बलपर भगवान् को नहीं पकड़ सकता, इस बलको त्यागनेकी तो भगवान् ने आज्ञा दी है । भगवान् स्वयं भक्तके समीप आकर उसकी मुजाओंमें बँध जाते हैं । भगवान् की शरण ग्रहण करने और उनको भजनेकी यही महिमा है । जो भगवान् में विश्वास नहीं करता, वह उनके भजनमें भी कभी नहीं लग सकता । भजन बिना केवल बुद्धिवाद्ये कोई भी भगवान् की अपार महिमाका पता नहीं पा सकता । भगवान् का महत्त्व समझे बिना, उनके चरणोंमें अपनेको सब प्रकारसे अर्पण किये बिना, मनुष्य-जन्म ही विफल हो जाता है । श्रुति कहती है—

इह चेदेवेदीय सत्यमस्ति

न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।

(केन० २।५)

इसी लोकमें यदि उस सत्यस्वरूप परमात्माका पता लग सके अथवा उनको जाना जा सके तभी ‘सत्यमस्ति’ जीवनकी सफलता होती है । इस लोकमें यदि उन्हें न जाना जा सका तो ‘महती विनष्टिः’—महान् अनिष्ट हो गया—महा विनाश हो गया ! क्योंकि जिस आत्मन् की खोजमें समस्त जीव-समुदाय व्याकुल हो रहे हैं, जिस आनन्द-की प्राप्तिके लिये लोग मैकड़ों-हजारों अनर्थ करनेमें आना-कानी नहीं करते तथापि किसी प्रकार भी उस परमानन्द-स्वरूपका सन्धान नहीं पाते । यदि मनुष्यको किसी उपायसे उसका पता लग जाय, यदि वह उस परमानन्दके अन्तर्हीन, अनादि निर्भरके निकट पहुँच जाय तो फिर उसके आनन्दकी सीमा नहीं रहती, वह जन्म-मरण, शोक-रोग, शीत-उष्ण और अभावके नित्य-निरन्तरके सन्तापोंसे—समस्त दुःखोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है । श्रुति कहती है—

भूतेषु भूतेषु विष्टित्य धीराः

प्रेत्यात्माहोकादमृता भवन्ति ॥

(केन० २।५)

फिर वे परम भक्त धीरे ज्ञानीजन सब मूर्तोंमें उन परमात्माकी उपलब्धि कर सकते हैं। इसप्रकार अनुभव करनेवाले धीरे पुरुष ही इस लोकसे गमन करके ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं।

भक्त जैसे भगवान् के लिये पागल हो जाते हैं, भगवान् भी उसी प्रकार अपनी स्वाभाविक भक्त-वत्सलतासे नहीं चूकते। माता यशोदा बड़ी चेष्टा करके भी जब अपने गोपाल कृष्णको न पकड़ सकी, तब जननीको परिश्रमसे श्रान्त और ह्रान्त देखकर श्यामसुन्दर स्वयं ही आकर उसकी डोरीमें बँध गये। धन्य है !

जिन बाँधों से असुर नाग नर प्रबल कर्मकी डोरी।

सोई अविच्छिन्न ब्रह्म यमुनि हृदि बाँधो सकत न छोरी ॥

कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिनके चरक-कमलोंमें धृति-कण-के सदृश नाचते रहते हैं, वे यदि अपनी इच्छासे न पकड़ें, तो उन्हें कौन पकड़ सकता है ? कातर भक्तके समीप भगवान् स्वयं ही आकर अपनेको पकड़ा देते हैं। भक्त, भक्ति-प्रिय माधवको भगवत्कृपा-लब्ध भक्तिके बलसे ही पकड़ सकते हैं। जिसके पास भक्तिका यह बल नहीं है, वह किसप्रकार भगवान् का साक्षिण्य प्राप्त कर सकता है ? और उनका साक्षिण्य प्राप्त हुए बिना वह किसप्रकार उनपर परम विश्वास कर सकता है ? अतएव मुझ-जैसे प्राकृत मनुष्य यदि भगवान् में विश्वास न कर सकें तो उन लोगोंको उतना दोष नहीं दिया जा सकता।

हमलोगोंमें साधारणभावसे जो थकिञ्चित् भगवद्-विश्वास है उसमें वास्तविक विश्वासकी तो गन्ध भी नहीं है। भगवद्-विश्वास एक अपूर्व वस्तु है, वह अप्राकृत, अमूर्त्य सम्पदा है, उसके उद्भूत होने ही जीव कृतकृत्य हो जाता है और उसका भवबन्धन टूट जाता है।

‘यं लब्ध्वा आपरं लाभं मन्येत नाधिकं ततः ।’

(गीता ६।२२)

भक्त प्रह्लादके अन्दर उस विश्वासकी कैसी अपूर्व शोभा-कैसी अपूर्व माधुरीका विकास हुआ था ? तभी तो उसको समुद्र-गर्भमें निमज्जित होनेमें और अत्युच्च गिरि-शिखरसे गिरनेमें तनिक-सा भी मज नहीं लगा। मतवाले हाथीके पैरों-तले कुचलनेकी बात भी उसके मनमें किसी प्रकार जरा-सी भी शङ्का उत्पन्न न कर सकी, इसका कारण यही था कि प्रह्लाद भगवान् के अभय मुखारविन्दके

दर्शनकर सदाके लिये भयसे मुक्त हो गया था। दुष्ट हिरण्यकशिपुने जब प्रह्लादको सामनेका सम्म दिलाकर कहा कि—‘क्या तेरा भगवान् इस सम्ममें भी है ?’ प्रह्लादने अविचलित चित्तसे उत्तर दिया कि—‘हाँ, है, वे सर्वत्र हैं, इस सम्ममें भी निश्चय ही हैं।’ यही भक्तके शुद्ध भावसे भरे हुए चित्तका अपूर्व विश्वास है। ऐसा चित्त बिना मिले क्या किसीको भगवान् के दर्शन हो सकते हैं ? यह युक्ति नहीं है, यह तो भक्तकी प्रत्यक्ष की हुई बात है—‘येन सर्वमिदं ततम् ।’

भगवान् भी शरणागतवत्सल हैं। जो उनकी शरण लेता है, वे उसपर कृपा करते हैं, अथवा वह उनकी निष्पक्षिण्यमान असीम कृपाके स्पर्शका अपने हृदयमें अनुभव करता है। सकाम आर्त, अधार्मी भक्तपर भी जब भगवान् कृपा करते हैं, तब जिसकी भक्ति फलकामनासे रहित है, उसका तो कहना ही क्या है ?

एकवक्त्रा निःसहाया द्रौपदी सभाके अन्दर नङ्गी किये जानेके भयानक भय और लज्जामें अभिभूत होकर जब कातरकण्ठसे प्राण भरकर भगवान् को पुकारने लगी तब भगवान् क्या उसकी पुकारको अनसुनी करके वहाँ आये बिना जगभर सी रह सके ? आश्चर्यमयी घटना हो गयी, भगवान् का वहाँपर वस्त्रावतार हो गया। सभाके सभी लोग स्तम्भित और चकित हो गये। भयानक भयभङ्गनका अद्भुत दृश्य देखकर भक्तोंका चित्त भगवान् के लिये रो उठा ! इतनेपर भी अविश्वासी दुर्योधन अपनी आँखोंके सामने आश्चर्य-घटनाको देखकर भी विश्वास न कर सका, उसको यह दृश्य तनिक भी विचलित न कर सका। ऐसा क्यों हुआ ? ईश्वरमें उसका जरा-सा भी विश्वास क्यों नहीं हुआ ? कारण यह है कि वह अहङ्कारी और अभिमानी होनेके कारण अनधिकारी था, वह अपने आपको ही बड़ा मानता था। उसका हृदय अन्धकाराच्छन्न और सर्वत्र अवरुद्ध था, उसके ऐसे हृदयमें भगवान् के प्रकाशके लिये स्थान कहाँ था ? इसीलिये भगवत्-शक्ति सर्वत्र प्रकाशित होनेपर भी वहाँ प्रकाशित नहीं हुई।

बाहरी युक्ति और तर्कोंद्वारा जो भगवान् के अस्तित्वका निरूपण किया जाता है वह केवल बाह्य-वाणीका विलास-मात्र ही है, उससे भगवान् का बोध नहीं हो सकता। वह तो उनके स्वधाममें छिपे हुए निज-निकेतनका रहस्य है, सबके सामने कहने-सुननेकी बात नहीं।

बहुत दिनोंके प्रवाससे लौटे हुए स्वामीके साथ कीका जो परस्पर गुहा प्रेमाकाश होता है, उसकी भाषाके और उसके भाषके रहस्यको, उसकी कल्परागिनीके अस्पष्ट स्वरको जाननेका अधिकार क्या किसी बाहरी मनुष्यको होता है ? इसी प्रकार भगवद्-ज्ञानका, उनके अस्तित्वका और भक्त-हृदयमें स्थित भगवान्‌के सौम्यकी मधुरताका, लीलास्वादका भक्तके हृदयमें ही अनुभव किया जा सकता है, हम अभक्त उसके स्वादको क्या समझें ? और कैसे उसका वर्णन करें ?

ईसाइयोंके 'Imitation of Jesus Christ' नामक ग्रन्थमें लिखा है—

The soul is not be satisfied with the multitude of words but a holy life is continual feast. The kingdom of God is not in words.

'शब्दोंकी प्रचुरतासे आत्माका सन्तोष नहीं होता, पवित्र जीवनसे निरन्तर सुखका रसास्वाद मिलता है। ईश्वरके राज्यमें शब्दोंका महत्व नहीं है।'

भगवान्‌को जाननेके लिये चरित्रकी शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। विशुद्ध-चरित्र हुए बिना कोई भी उनको न तो पहचान सकता है और न देख ही सकता है। विषय-व्याकुल चञ्चलचित्तसे आत्मदर्शन नहीं होता। स्थिर-चित्त होनेपर ही आत्मसाक्षात्कार होता है। स्थिर-चित्त हुए बिना हजारों बार खोज करनेपर भी और सैकड़ों ग्रन्थ पढ़नेपर भी भगवान्‌के अस्तित्वका पता लगाना बड़ा कठिन है। भगवान्‌के दर्शनके लिये जिसके मनमें अत्यन्त तीव्र आकर्षण होता है, वह नचिकेताके समान ही विषयोंकी क्षणभंगुरता और अनित्यताको देखकर विषयोंकी ओर ताकता ही नहीं; जिसके प्राप्त हो जानेपर जीवन-यात्रा सदाके लिये समाप्त हो जाती है और मनुष्य-देहका धारण करना सफल हो जाता है—उस परमपदकी प्राप्तिके लिये ही कष्टाग्रित होकर वह केवल उसीको चाहता है, इसके सिवा वह और कुछ भी नहीं चाहता।

यह भाव तर्क और युक्तियोंकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाला नहीं है—'नैवा तर्कैव मतिरापनेया' यह ब्रह्मविषयक बुद्धि तर्कके द्वारा प्राप्त नहीं होती। विषयोंमें निमग्न हुए चित्तके द्वारा हमलों-गोमेंसे कोई भी उस गूढ़तम भगवद्-स्वरूपका तत्त्व नहीं जान सकते। वह इतना सूक्ष्म है और इसीलिये वह इतना दुरवगाह है।

अनगनापि बहुमिमां न हम्बः

मृष्यन्तोऽपि बहवो यं न विबुः।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-

ऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुसिष्टः॥

(कठ० १।२।७)

संसारमें अधिकांश लोग तो ऐसे हैं जो इस आत्म-ज्ञान अथवा परमेश्वर-सम्बन्धी बातोंको सुननेका ही सुयोग नहीं पाते, कोई अवगता सुयोग पाकर भी इस आत्म-स्वरूपको यथार्थतः जान नहीं सकते। इस आत्मज्ञान—परमेश्वर-सम्बन्धी ज्ञानके उपदेष्टा भी दुर्लभ हैं, इसके जानकार श्रोता भी दुर्लभ हैं और इसी प्रकार आत्मज्ञानी पुरुषके द्वारा उपदेश-प्राप्त हुए श्रोता पुरुष भी दुर्लभ हैं। फिर जिस किसी मनुष्यसे इस आत्मतत्त्वके सुननेपर भी कोई फल नहीं होता। विवेकहीन साधारण मनुष्यके द्वारा किये हुए परमतत्त्वके उपदेशसे आत्मज्ञानका विकास नहीं होता।

न नरेणावरेण प्रोक्त एव

सुविशेषो बहुधा चिन्त्यमानः।

(कठ० १।२।८)

इस आत्माके सम्बन्धमें अनेक प्रकारके मत हैं। कोई कहता है भगवान् हैं, कोई कहता है नहीं हैं। कोई उनको कर्ता, कोई अकर्ता, कोई साकार, कोई निराकार, कोई न्यायवान् और कोई दयालु, इसप्रकार भगवान्‌के सम्बन्धमें अनेक लोग अनेक प्रकारके भाव रखते हैं। हमारे इन्द्रिय-ब्रह्म ज्ञान और विचारसे उन अतीन्द्रिय परमात्माका यथार्थ बोध नहीं हो सकता। लोग अपनी भावनाके अनुसार ही भगवान्‌की कल्पना कर लेते हैं।

किन्तु वह अद्वितीय देव सभी भूतोंके अन्तरमें गूढ़-रूपसे स्थित हैं, वह सर्वव्यापी और सब भूतोंके अन्तरात्मा हैं, वह सबके, सब कर्मोंके साक्षी होनेपर भी निर्गुण हैं, अर्थात् कोई भी गुण उनको बाँध नहीं सकता।

एको देवः सर्वभूतेशु गूढः

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्षः सर्वभूतविशेषः

साक्षी जेता केवलो निर्गुणश्च॥

(शेवाचर० १।२१)

उन भगवान्को जाननेके लिये उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये । स्वयं श्रीभगवान् आज्ञा देते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वमात्रेण मारत ।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

(गीता १८ । ६२)

इस शरणागतिद्वारा भगवदुपविष्ट साधनमें जग जाने-पर शरणागत साधकको भगवान् स्वयं अपने स्वरूपका तत्त्व समझा देते हैं ।

शास्त्रोंके अध्ययनसे केवल भगवान्को जाननेकी इच्छा जाग्रद्व होती है; नहीं तो अनेक शास्त्रोंको पढ़नेवाला कोई भी उन्हें जान लेता, पर ऐसी बात नहीं है, शास्त्राध्ययनके साथ ही साधन-सम्बन्ध भी होना चाहिये ।

शब्दब्रह्मणि निष्ठातः न निष्ठायात् परं यदि ।

श्रमः तस्य श्रमफलं ह्यवेनुमिदं रक्षतः ॥

ओ केवल शब्द-शास्त्रको जानता है, परन्तु साधनके द्वारा उसका रहस्य उपलब्ध करनेकी चेष्टा नहीं करता, उसका शास्त्र पढ़ना जैसे ही श्रममात्र है जैसे बौक गौ अपनी रक्षा करनेवालेको केवल परिश्रम ही देती है । इस-लिये जब कि साधनके बिना भगवान्को जाननेका कोई उपाय ही नहीं है, तो फिर उन्हें जाननेके लिये साधन ही करना चाहिये । साधन किये बिना जन्म-जन्मान्तरोंमें सञ्चित अन्तःकरणका मूल नष्ट नहीं हो सकता । मूल नाश होकर अन्तःकरणके शुद्ध हुए बिना भगवान्के स्वरूपका दर्शन नहीं होता । भगवान्के स्वरूपका साक्षात्कार हुए बिना केवल दूसरेके द्वारा सुननेसे या मनमानी युक्तियोंके सहारेसे वास्तविक भगवत्-स्वरूपका अस्तित्व समझमें नहीं आता । अतएव आरम्भतत्त्व जाननेके लिये अथवा भगवत्-स्वरूपका दर्शन करनेके लिये सद्गुरुके उपदेशकी आवश्यकता है । गुरु-कृपा बिना कुछ भी नहीं होगा । परन्तु अनुरागी भक्त-पर गुरुदेव कृपा करते ही हैं । इस विषयमें आगवतमें वर्णित श्रीनारदकी आख्यायिका ध्यान देनेयोग्य है ।

श्रीनारद कहते हैं—

तस्यैव मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हृतेनसः ।

अद्वैतानस्य वाक्स्व दन्तस्यानुचरस्य च ॥

ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत् साक्षाद्भक्ततोदितम् ।

अन्वबोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः ॥

(बीमझा० १ । ५ । २९-३०)

नारदके मात्तिकके घरमें चातुर्मास करनेवाले उन दीनवत्सल साधुओंने वहाँसे जाते समय अद्वाष्टु, विनीत, अनुरक्त और दमगुणयुक्त बालक नारदको जिस गुह्यतम ज्ञानका रहस्य समझाया था, वह गुह्यतम ज्ञान भगवान्का ही साक्षात् स्वरूप है ।

इससे यह सिद्ध होता है कि विनीत, अद्वाष्टुमय और सेवापरायण व्यक्तिपर साधुको कृपा किया करते हैं । उनकी कृपासे ही यह गुह्यतम आगवत-ज्ञान जीवके अन्तःकरणमें उत्पन्न होता है । अवश्य ही भगवान्को जाननेकी रुचि होनी चाहिये और भगवान्के प्रति दृढ़ विश्वास होना चाहिये ।

किसप्रकार यह विश्वास दृढ़ हो और कैसे भगवान्में रुचि हो ? इसपर आगवतमें कहा गया है—

शुश्रूषाः अद्वैतानस्य वासुदेवकथारुचिः ।

स्वान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥

शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।

इद्यन्तःस्थो ह्यमद्वाणि विधुनेति सुहृत् सताम् ॥

नष्टप्रायेष्मद्रेषु नित्यं आगवतसेवया ।

अगवत्युत्तमस्त्रोके यकिर्मवति नैष्ठिकी ॥

(बीमझा० १ । २ । १६, १७, १८)

सेवा और तीर्थ-दर्शनादिये भगवान्की कथामें प्रेम होता है । पुण्य-श्रवण-कीर्तनरूप उस भगवत्-कथाको जो सुनता है उसके अन्तःकरणके मूलको भगवान् स्वयं अपने करकमलोंसे धो दाखते हैं । इसप्रकार नित्य साधुसङ्गसे एवं साधुओंके मुखोंसे आगवत्-कथा सुनते रहनेसे जब अन्तःकरणकी अमङ्गलकारिणी शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब उत्तमश्लोक भगवान्में निश्चला भक्ति उत्पन्न होती है ।

श्रीनारदने भी कहा है—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-

मनुग्रहेणाश्रुणवं मनोहराः ।

ताः श्रद्धया मेऽनुपदे विशृण्वतः

प्रियश्रवस्थज्ञ ममामवदुभिः ॥

(बीमझा० १ । ५ । २९)

वे (साधु) प्रतिदिन श्रीकृष्ण-कथा कहा करते थे, उन्होंने दया करके मुझे उस कथाके सुननेका अधिकार दे दिया था, प्रतिदिन अद्वाष्टुसहित कथा सुनते-सुनते मेरे हृदयमें भगवान्के प्रति प्रेम उत्पन्न होने लगी ।

आदौ श्रद्धा ततः समोऽयं भजनक्रियाः ।

ततोऽनर्थः निवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः ॥

पहले श्रद्धा होती है । तदनन्तर सत्सङ्ग के फलस्वरूप चित्तमें भगवत्-प्राप्तिकी आशा बढ़नेसे भजनद्वारा विक्षेपादि नष्ट हो जाते हैं; पश्चात् निष्ठा और उसके बाद रुचि होती है, रुचिके द्वारा विश्वास बढ़ हो जाता है, फिर भगवान्‌में प्रबल आसक्ति उत्पन्न हो जाती है, इसीका नाम भक्ति और यही विश्वासकी पराकाष्ठा है । यह विश्वास हमें सिर्फ बातों और युक्तियोंसे कैसे मिल सकता है ?

जिसके प्रति हमारा प्रेम बड़ा हुआ होता है उसका चिन्तन हमें बहुत ही प्रिय प्रतीत होता है, भगवान्‌में भक्ति होनेपर उनका भी अधिक-से-अधिक चिन्तन करना प्रिय लगता है, फिर वह भक्त अपने प्रियतम भगवान्‌के चिन्तनमें निमग्न हो जाता है । इसप्रकार आनन्दधन भगवान्‌का प्रत्यक्ष अनुभव करके भक्त कृतकृत्य हो जाता है ।

ध्यायतश्चरणभोजं भावनिर्जितचेतसा ।

औत्कण्ठ्याश्रुकाण्डस्य इवासीमने शनैर्हरिः ॥

(श्रीमद्भा० १ । ६ । १७)

भगवान्‌के चरणकमलोंका ध्यान करते-करते भक्तिके प्रबल होनेपर नारदके चित्तकी वृत्तियोंका बहिर्मुख भाव संयत होने लगा, क्रमशः प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न हो गया । कब उनके वर्सान होंगे, क्या मुझे भी भगवान्‌दर्शन देंगे ? इसप्रकारकी आबन्धासे नारदका चित्त भगवद्-विरहमें व्याकुल हो गया, उसके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी । उसी समय नारदके हृदयमें श्रीभगवान्‌की मूर्तिका आविर्भाव हुआ ।

ऐसे सर्व-तम-नाशक आनन्दधन भगवान्‌के दर्शन हुए बिना क्या जीवन सफल हो सकता है ? इसी आनन्दके किये ही तो मनुष्य लालायित है । इसी आनन्दकी पानेकी आशासे वह हृन्निवृत्तियोंके द्वार-द्वारपर विषयोंके किये भीख माँगता भटक रहा है । वह 'आनन्द' और 'शान्ति' के किये पुकार मचाता हुआ बिना विराम दौड़ रहा है, किन्तु—
'हरि-सौरभमृगनाभि बसत है, दुम तुष संघि मरयो।'

—कहाँ है वह आनन्द ? वह आनन्द विषयोंमें नहीं है । तथापि जीव इसी आनन्दका सेवन करता है । विषयोंमें इस आनन्दका जरा-सा आभास है, इसीकिये तो जीव विषयोंको झोझकर उनसे हटता नहीं चाहता । जोकमें इस आनन्दकी आकांक्षा स्वाभाविक ही है । वह सङ्ग आनन्द जबका

आनन्दके जरा-से विषयोंको कई बार प्राप्त कर चुका है, किन्तु उससे जीवकी तृप्ति नहीं होती । वह तो चाहता है आनन्द-रस-समुद्रको । वह तो उसमें सदाके किये अपनेको सोकर डूबे रहनेके लिये पागल हो रहा है । यह 'पूर्णात् पूर्णतरं' अथवा 'पूर्णतमं' आनन्द ही भगवान्‌का स्वरूप है । उसके न मिलनेसे विश्वासके साथ उसका आस्थादान न करनेसे, जीवकी यह जीवन-यात्रा ही व्यर्थ है । अतएव भगवान्‌में विश्वास न करनेसे कितनी हानि होती है, इसका कोई अनुमान भी नहीं हो सकता । आनन्दकी तो इच्छा ही पवित्र होकर भक्तिरूपमें परिणत हो जाती है । पहले कहा जा चुका है कि आनन्दकी आकांक्षा जीवमें स्वाभाविक है, अतएव भक्ति भी मनुष्यका सहजात संस्कार है । इस भक्तिकी चरितार्थताके लिये भगवान्‌की आवश्यकता है । हमारे अन्दर यह भक्ति है इसीसे हम समझ सकते हैं कि 'भक्तिप्रिय माधव' भी हैं ।

हम भगवान्‌में क्यों विश्वास करें ?

जो वस्तु संसारमें नहीं होती, उसके किये किसीको लालायित नहीं देखा जाता, इसके विपरीत जो वस्तु जितनी सुन्दर और सत्य हो, उसका मिलना असम्भव होनेपर भी लोग उसे प्राप्त करनेकी इच्छा किया ही करते हैं । जीवोंमें, विशेषकरके मनुष्यमें तो स्वाभाविक ही 'सुन्दर' और 'सत्य' के प्रति आकर्षण है । 'सत्य' और 'सुन्दर' को पानेके लिये जीव असाध्य-साधन करनेको भी तैयार है । जीवनकी बाजी लगा देना तो उसके लिये साधारण बात है । वस्तुतः यह 'सत्य' और 'सुन्दर' यदि संसारमें न होता तो केवल धन-कौतूहल-वश कोई भी इसके प्रति आकर्षित नहीं होता । वह भी देखा जाता है कि सत्य और मिथ्या इन दोनोंमें लोग सत्यको ही चाहते हैं । स्वयंमें प्राप्त धन और वास्तविक धनमें, लोग वास्तविक धनकी ही इच्छा करते हैं । जबतक सत्यका यथार्थ बोध न हो, तबतक सत्यके प्रति उपेक्षा दिखाना सम्भव है, किन्तु एक बार सत्यको समझ लेनेके बाद उसके प्रति आकर्षित न होना असम्भव है । जबतक हम सांसारिक वस्तुओंको सत्य समझते हैं तबतक उनको अधिक-से-अधिक पानेकी आकांक्षा करते हैं, किन्तु जब वही वस्तु हमारी बुद्धिमें असत्य प्रमाणित हो जाती है, तब उनके प्रति कोई आकर्षण नहीं रहता । हम अज्ञानवश असत्यको तभीतक चिपटाये रहते हैं, जबतक उसको असत्य समझ नहीं लेते, इसी प्रकार सत्यके प्रति भी तभीतक उदासीनवद् व्यवहार

करते हैं, जबतक सत्यका स्वरूप हमारे सामने प्रकट नहीं हो जाता। सत्य सदा उपेक्षित नहीं रह सकता, इसी प्रकार असत्यके प्रति मोह भी सदा नहीं टिकता। इसीसे यह सम्भव है कि एक दिन सत्य अवश्य मिलेगा ही। सत्यके प्रति हमारा जो इतना विश्वास है, यह हमारे अन्तर-का एक अति गूढ़ रहस्य है। जो सत्य है, वही तो सुन्दर है। सुन्दरके प्रति आकर्षण हमारा Intuitive सहजात ज्ञान है। यह सत्य हमारी अपनी वस्तु है, यह हमारे मन-का मोहन प्रायोंका आराम है। जबतक इसको भूले रहते हैं तभीतक 'अवस्तु' के साथ खेलना सम्भव है, 'सत्य' के पा जानेपर 'अवस्तु' के प्रति आदर नहीं रहता। अब बाजक खिलाड़ियोंको लेकर खेलमें रम जाता है, तब ऐसा मालूम होता है मानो वह अपनी माँको और घरको भूल गया है। किन्तु उसकी वह भूल सदा नहीं रहनी। भूल भिटती है, खिलाड़ियोंको फँक देना पड़ता है। उस समय उसको अपने घरका, अपनी जननीका स्मरण हो जाता है। तब वह व्याकुल होकर, रो-रोकर अपनी माँको खोजता है और अपने घरकी ओर दौड़ छूटता है, घर पहुँच मँसे मिककर उसे इतना सन्तोष होता है कि खिलाड़ने फँककर चले आनेका उसको किञ्चित् भी पश्चात्ताप नहीं होता। उसका अन्तःकरण और अनुभव यही साक्षी देता है कि उसे जो प्राप्त करना था उसको वह पागया है। इस वास्तविक वस्तुकी प्राप्तिके आनन्दमें वह सब कुछ भूल जाता है। उसको पाकर सब कुछ भूले हुए पुरुषको हमने अपनी आँखों देखा है। ऐसे लोग किस महानन्दमें मग्न रहते हैं, कैसे परितृप्त रहते हैं यह बात उनको देखनेसे ही समझमें आ सकती है। असत्य वस्तुके आकर्षणमें इतना मोह नहीं होता, यदि कभी हो भी जाता है तो वह दीर्घकालतक ठहर नहीं सकता। महापुरुषोंकी जीवनी हमें यह समझा देती है कि 'भगवान् हैं।' जिस वस्तुको पाकर वे सब कुछ भूल गये हैं, वह इतनी सुन्दर है कि संसारकी अन्य कोई भी वस्तु उनके मनको वैसा नहीं खींच सकती।

यह सत्य वस्तु किसीकी निराधार कल्पनामात्र नहीं है, यह भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालमें सत्य है। अन्धधेरेमें हम कुछ भी देख नहीं सकते, किसी वस्तुका भी स्वरूप समझ नहीं सकते, परन्तु ऐसा होनेसे हमारे मनको सन्तोष या तृप्ति प्राप्त नहीं होती। यह मनका एक स्वाभाविक धर्म है। मनकी इस स्वाभाविक वृत्तिके कारण

ही हम अन्धकारको एसम्ब नहीं करते, अथवा अन्धकारसे तृप्त नहीं होते। जिन सांसारिक सुखोंके छिये जीव छाछायित रहते हैं, उनको इच्छानुसार पाकर भी जो उनकी कुछ भी परवाह न करके—उनकी उपेक्षाकर, केवल मनकी कल्पनाके आधारपर ही तृप्त हो रहते हैं, सो बात नहीं है, वे इसीछिये तृप्त हैं कि इस समय उन्हें सत्यके दर्शन हो गये हैं, वे उस असली सुन्दरपर मुग्ध होकर उसकी ओर खिंच गये हैं। इसीसे अब उन्हें जगत्के विविध वैभव और मान-प्रतिष्ठा आदि आकर्षित नहीं कर सकते। उन्हें प्रकाशके दर्शन हो गये हैं, अतएव वे अन्धकारमें भटकना नहीं चाहते। यह अन्धकार ही अज्ञान है। जबतक अज्ञान हमपर छाया रहता है तबतक हमें वाध्य होकर उसमें निवास करना पड़ता है, किन्तु सत्यका प्रकाश पाते ही हम तुरन्त उसीकी ओर दौड़ जाते हैं, फिर वह अन्धकार हमें नहीं सुहाता। अनेकों पुरुषोंके जीवनमें यह ज्ञानांशको प्रकाशित हो चुका है, हमने ऐसे बहुत-से लोगोंको देखा है, जो इस ज्ञानांशके प्रभावसे विगत मोह हो अज्ञान-अन्धकारके बंगुलसे छूट चुके हैं।

सत्यका आंशिक प्रकाशित हुए बिना हमारे मनका यह गोरखचन्दा भिट नहीं सकता; अन्तःकरणकी अप्रसन्नता और चित्तका भय दूर नहीं होता। ज्ञानी हो या अज्ञानी, सभी निर्भय, निश्चिन्त और भानन्वित होना चाहते हैं, इसीसे सत्य और ज्ञानके प्रकाशको आवश्यकीय समझते हैं और इसीछिये जो सत्त्वस्वरूप हैं, ज्ञानस्वरूप हैं और 'तमसः परस्तात्' हैं उनको पानेकी इच्छा करते हैं। यही जीवमात्रके अन्तर-से-अन्तरकी बात है। यह 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मानन्दरूपमसृत्' परम सत्य है। इसीछिये यह हमें इतना आकर्षित करता है, मिथ्या होता तो निश्चय ही हम इतने आकर्षणका अनुभव नहीं कर सकते। जैसे अन्धकारके बाद प्रकाश देखकर हम तृप्त होते हैं, वैसे ही अज्ञानका पर्दा फटनेपर जो ज्ञानांश प्रकाशित होता है, उस ज्ञानके प्रकाशमें हम उन्हींका साक्षात् करते हैं जो—'मैवः पुत्रात् भयः विप्तात्' हैं।

वही परम कल्याणस्वरूप हैं, वही हमारे आत्मा हैं, वही हमारे सबके राजा, प्रभु और भगवान् हैं। इसछिये अज्ञानीको भगवान्के दर्शन न होनेपर भी ज्ञानी भक्त उनको देख पाते हैं। इसमें अविश्वास करनेका कोई भी कारण नहीं है। उनके स्वरूपको पहचानकर पूर्वकालके अविधिगय

सरस शिशुके सद्य उच कथसे यह पुकार उठे थे—

‘वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम् ।’ (वेताहत ३।८)

वह गम्भीर ध्वनि आज भी मनुष्यों के चित्ताकाश में प्रतिध्वनित हो रही है। धीरे, विवेकी पुरुष अब भी उसको सुन पाते हैं।

हम जगत् में अनेकों विषयों के लिये आकर्षण अनुभव करते हैं और उनको अपने हाथ के समीप ही देखना भी चाहते हैं एवं अवसर मिलनेपर उनपर अपना अधिकार जमाने में भी नहीं चूकते। ऐसा क्यों करते हैं? इसीलिये कि वे विषय हमको आकर्षित करते हैं, आनन्द देते हैं, उनको पाकर मन शान्ति प्राप्त करता है, इसीसे हम उन आनन्दप्रद वस्तुओं को पाना चाहते हैं। किन्तु इन वस्तुओं में आनन्दका स्वरूप दीखनेपर भी ये अग्रभंगुर हैं, इनकी प्राप्तिसे हमारे प्रार्थना की आकांक्षा नहीं मिटती। जो सचमुच परमानन्दस्वरूप हैं एवं नित्य सत्य हैं, जिनका किसी काल में ध्वंस नहीं होता, जो आनन्द कभी चुकता नहीं, जिसको पाकर ऐसा नहीं कह सकते कि बस, हो चुका और नहीं चाहिये। वह भूव नित्य सत्य परमानन्द ही भगवान् हैं। जब क्षणिक विषयानन्द के लिये ही जीव उन्मत्त हुआ फिरता है, जिस विषय में जिसको जितना कुछ आनन्द मिलता है, वह उसीपर अपना अधिकार जमाना चाहता है, तब यह तो पता लग ही जाता है कि हमारा ध्येय आनन्द है। यह सत्य है कि जगत् में अनेकों विषय हैं, और उनमें हमें आनन्द मिलता है, किन्तु वह आनन्द सदा रहनेवाला नहीं है, इसीलिये चित्त हाहाकार पुकार उठता है। यही जीवकी आत्यन्तिक मर्मवेदना है। नाना प्रकार के सांसारिक आनन्द को पाकर भी हम उसका स्थायी भोग क्यों नहीं कर सकते? इसका कारण यही है कि हमें वास्तविक आनन्दका पता नहीं लगता, आनन्द के सत्य स्वरूपको हम पकड़ ही नहीं पाते। हम जो कुछ देखते हैं वह काष्ठी के अन्दर आवृत प्रकाशका प्रतिबिम्बमात्र है, अवश्य ही वह आलोकका प्रतिरूप है, किन्तु अनुरूप नहीं है। इस आनन्दको हम नित्य स्थिररूपसे प्राप्त नहीं कर सकते, इसीसे हमारा मन इतना विक्षेपयुक्त और चञ्चल रहता है। वास्तविक आनन्द ही जीवका चरम सत्य है, यदि हम इस चरम सत्यको देख पाते, अथवा इसके सन्निकट पहुँच जाते तो हमारे मन में विकार या चिन्त में विक्षेप किञ्चित् भी नहीं रह सकता। उस आनन्द में अज्ञान

आकर्षण है इसीसे तो वह कृप्य है। उसको प्राप्त करने के लिये न मायूम हम किस अनाविधाकसे दौड़ रहे हैं। उस परमानन्दको न पाने के कारण ही तो मन क्षिप्त हो उठता है और अज्ञ शिशुकी तरह उसे पाने के लिये दौड़ने लगाता है। हमारे बार-बार एक जन्मसे दूसरे जन्म में जानेका यही रहस्य तो नहीं है?

जो वस्तु ही न हो, उसे पाने के लिये मनका इतना विक्षेप और इतना वेग नहीं हो सकता। निश्चय ही ‘बह’ है, इसीसे उसको पाने के लिये मन में इतनी प्रवक्तृ इच्छा है, इसीसे परमानन्द की प्राप्ति के लिये जीवकी इतनी टान है। इस आनन्दस्वरूप की नित्यप्राप्ति ही जीवकी नित्य-हृषिक्त वस्तु है। और इस परमानन्द के मूर्तिमान् बिम्ब ही श्रीभगवान् हैं। फिर भगवान् नहीं हैं यह बात कैसे स्वीकार करें?

साधारणतः हम चक्षु आदि करणों की सहायता से शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की उपलब्धि कर सकते हैं। परन्तु इन इन्द्रियों द्वारा हम भगवान् को देख या समझ नहीं सकते। स्थूल इन्द्रियों द्वारा स्थूल विषयों का ज्ञान हो सकता है, किन्तु अतीन्द्रिय वस्तु के जाननेका उपाय तो दूसरा ही है, वह ज्ञान इन इन्द्रियों की सहायता से सहज में नहीं हो सकता। पदार्थ-समूह इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होनेपर भी ऐसे अनेक सूक्ष्म पदार्थ अथवा कीटाणु हैं जिनको हम इन चक्षुओं द्वारा नहीं देख सकते। उनका देखना या तो सूक्ष्म शक्तिवाले कृत्रिम यन्त्रादि द्वारा हो सकता है या मनुष्य के अन्तर में स्थित अतीन्द्रिय शक्तिके स्फुरणद्वारा। वस्तु तो यन्त्रादिकी सहायता से शायद दीख भी सकती है, किन्तु आरमभान अथवा ईश्वरदर्शन में इन यन्त्रादिकी सहायता बिल्कुल व्यर्थ होती है, उसके लिये तो दिव्य चक्षु चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को यही दिव्य चक्षु दिये थे, इसीसे वह विश्वरूप देख सका था। वे अतीन्द्रिय दिव्यनेत्र सब मनुष्यों के अन्दर हैं किन्तु वे न तो उनका सद्ब्यवहार करना जानते हैं और न उन्हें प्रस्फुटित करनेका उपाय ही। इसीलिये सब के पास दिव्य चक्षु होनेपर भी वे उनके अधिकार में नहीं हैं। भगवान् का स्वरूप अलौकिक है, अतः उसके दर्शन के लिये अलौकिक नेत्रों की आवश्यकता है। सौमन्यसे जिन के ये अलौकिक नेत्र बूझ गये हैं, वे भगवान् के—

‘कपं भगवतो यत्तन्मनः कान्तं शुचापहम् ।’

—को देखकर कृतकृत्य हो जाते हैं। यह कल्पना नहीं है, भगवद्-स्वरूपके दर्शन किये जा सकते हैं, यह परम सत्य है। आजीवन विषयोंके पीछे भटकनेके कारण हमारा मन अत्यन्त चञ्चल हो गया है। इस चञ्चलताके मिटते ही हृदय-घटमें उसका ललित त्रिभङ्ग सजल जलव-काम्ति, बाँकेबिहारी मधुर रूप प्रकट होता है। किन्तु स्थूल विषयोंका चिन्तन करते-करते हमारा मन बहुत ही स्थूल हो गया है, इसीसे 'सूक्ष्मत्वात् तद्विज्ञेयस्य' सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय परमात्माके दर्शन-लाभसे वह वञ्चित रहता है। यह बात नहीं है, कि उनका अस्तित्व ही नहीं है, इसीसे हमें उनके दर्शन नहीं होते। यह है, परन्तु हमारे अन्दर सूक्ष्म-दृष्टि—योग-दृष्टिका अभाव है इसी कारण हम उनके दर्शन-लाभसे वञ्चित हैं, नहीं तो—

‘ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्सं जगत् ।’

(ईश १)

—ऐसे भगवान्को क्या हम देख नहीं सकते? भगवान्को जाननेके लिये पहले अधिकार प्राप्त करना होगा। इस परमात्माको जाननेके अधिकारीके सम्बन्धमें हमराजने नचिकेताके प्रति कुछ बातें कही हैं—

कामस्यासि जगतः प्रतिष्ठां

क्रतोरनन्यमममस्य पारम् ।

सोमं महद्गुरगं प्रतिष्ठां

दद्वा घृत्या धीरो नीचकतोऽयसाक्षीः ॥

(कठोपनिषद् १।२।११)

जो समस्त विषयभोग, संसारका स्वामित्व, गजोंका अनन्तफल, सब भयोंके नाशकी पराकाष्ठा और अतिशय श्रवणीय और सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त शुभ फल और अपनी अत्युत्तम गति, इन सबकी आशाको त्याग सकता है, वह महा त्यागीश्वर पुरुष ही इस परमतत्त्वको जान सकता है।

जो पुण्य-कर्मोंमें रत, सरल, परोपकारी और दम-गुण-सम्पन्न हैं, उनका भगवान्में अपने आप ही विश्वास होता है। भगवान्के मिलते ही सब कुछ मिल जाता है, इस-प्रकारकी निश्चयात्मिका दृष्टिबुद्धिकी धारण करके वे किसी भी सांसारिक फलकी कामना नहीं करते। विषयोंका लोभ सब प्रकारसे छूटे बिना भगवान्को प्राप्त करनेकी आशा दुराशामात्र है।

न संदशे तिष्ठति रूपमस्य

न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् ।

इदा मनीषा मनसामिक्लृप्तो

य एनं विदुरमृतास्तं भवन्ति ॥

(कठ २।३।९)

यह परमात्माका स्वरूप इन्द्रियका प्रत्यक्ष विषय नहीं है—इन्द्रियग्राह्य नहीं है, चक्षु आदि इन्द्रियोंद्वारा कोई भी उसको नहीं देख सकता। किन्तु विकल्पहीन अर्थात् संयत वा निश्चल ‘इदा’ बुद्धिद्वारा ध्यानकी सहायतासे वह अभिहित अर्थात् प्रकाशित होता है, जो हमको जान जाता है वह असृतस्वरूप हो जाता है।

न सांपरायः प्रतिभाति बालं

प्रमाद्यन्तं वित्तमेहेन मूढम् ।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी

पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

(कठ १।२।६)

जिनकी बुद्धि प्रमादग्रस्त है, जो धनके मोहमें मोहित है, ऐसे ज्ञानरहित बालक-सदृश व्यक्तियोंके निकट शास्त्रानुसूल साधनादि और उसका फल प्रकाशित नहीं होता। जो यह समझते हैं कि यही लोक है, परलोक नहीं है, ऐसे पुरुष बारम्बार मृत्युके ही सुखमें पड़ते हैं, वे अमृतके स्वरूपको प्राप्त नहीं कर सकते।

नाविरतो दुश्श्रितात्ताशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानैनामपनुयात् ॥

(कठ १।२।२४)

जो पुरुष असहाचारी है, इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त है, एकाग्रतारहित अत्यन्त चञ्चल और अज्ञान मनवाला अर्थात् फल-कामनाके लिये अत्यन्त लोलुप है वह यदि ज्ञान-विषयक विचार भी करे, तो भी इस चैतन्यस्वरूप आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं

गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधिगेन देवं

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

(कठ १।२।१२)

जो दुर्दर्शन विषय-लोभमें प्रमत्त नहीं है, अर्थात् धीर है, ऐसे धीमान् पुरुष परमात्मामें चित्त-समाधानरूप योगके अभ्यासमें उस ‘दुर्दर्श’—दुर्विज्ञेय ‘गूढ’—इन्द्रियोंसे अग्राह्य और ‘अनुप्रविष्ट’—सब भूतोंके अन्तरमें प्रविष्ट, प्राणियोंकी बुद्धिके अन्तर विराजित देहरूप गर्तमें स्थित,

सदा विद्यमान उस परमदेवकी मानकर विषयोंसे उत्पन्न सुख-दुःखादिका परि त्याग करते हैं। अर्थात् गम्भीर ध्यानके द्वारा आत्मस्वरूपकी प्राप्ति कर लेनेपर उनको फिर विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले सुख-दुःखद्वारा विद्यमत्त होना नहीं पड़ता।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।

जो अङ्गुष्ठ-परिमाण-पुरुष हृदयाकाशमें प्रकाशित है,
वही जीवोंके अन्तःकरणमें स्थित है।

मेमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनून्-स्वाम्॥
(कठ० १।२।२३)

जो मुमुक्षु साधक इस आत्माकी प्राप्ति करनेके लिये प्रार्थना करता है, अथवा वही एकमात्र प्राप्त्य वस्तु है, यों समझकर उसको वरण करता है, उसी मुमुक्षु साधक-द्वारा यह आत्मा प्राप्त किया जाता है। यह आत्मा उस मुमुक्षु उपासकके निकट अपनी मूर्ति प्रकाशित करता है। साधककी ऐकान्तिक शरणागति और भगवत्-रूपा ही उसके साक्षात्कारका उपाय है।

यदा सर्वे प्रमिथन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमृतो मर्त्येतावद्भगनुशासनम् ॥
(कठ० २।३।१५)

जब इस जीवनमें ही अन्तःकरणके समस्त ग्रन्थन (देहादिमें ममत्वबुद्धि) नश्वर हो जाते हैं, तब यह मरणशील देह-विशिष्ट व्यक्ति अमृत हो जाता है। यही तत्त्व अनुशासन है। इस प्रकारकी अवस्था प्राप्त करनेके बाद फिर उपदेशकी आवश्यकता नहीं रहती।

यह आत्मा ही—

उपद्रष्टानुमन्ता च मर्तो भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्नुको देहेऽसिन्पुरुषः परः ॥
(गीता १३।२२)

यह पुरुष उपद्रष्टा, अर्थात् साक्षीमात्र, अनुमन्ता—अनुमोदन करनेवाला, यही सबका भरण करनेवाला, पालन करनेवाला और महेश्वर अर्थात् महादिका भी अधिपति है। श्रुतिमें कहा है—

‘एषः सर्वेश्वरः एषः भूताधिपतिः’

प्रकृतिके गुणोंसे मोहित जीव वृथा-आशा, वृथा-कर्मों होकर सब भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमतत्त्वको न जाननेके कारण अनुप्य-देह-वारी मुझ परमात्माकी अवज्ञा करते हैं। किन्तु—

महत्प्रमानस्तु मां पार्थ दैवी प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसा ब्रह्मा भूतादिमन्ययम् ॥
(गीता ९।१३)

हे पार्थ ! दैवीप्रकृतियुक्त महात्मा पुरुष मुझमें एकाग्र-चित्त हुए मुझे जगत्-कारण और नित्य-स्वरूप समझकर मेरी आराधना करते हैं। अतएव जिसमें आसुरी स्वभाव बदलकर दैवी स्वभाव प्राप्त हो, इसके लिये चेष्टा करना परम कर्तव्य है। दैवी स्वभाववाले पुरुषको ही स्वरूप-साक्षात्कार होता है।

मां च योऽन्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान्समतीर्यैतन्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥
(गीता १४।२६)

जो अन्य लक्ष्य त्यागकर एकान्त-भक्तियोगद्वारा परमेश्वर-स्वरूप मुझ वासुदेवकी सेवा करता है, वह तीनों गुणोंको उत्खनन करके मोक्षप्राप्तिके लिये समर्थ होता है।

वह

कौन है, कहाँ है वह, रूप उसका है कैसा ? इसका किसीने कुछ भेद नहीं पाया है।
अनल, अनिल, जल, व्योम, जगतीतलमें, जीव, जन्तुओंमें अणु-अणुमें समाया है ॥
आदि मध्य अवसान उसका नहीं है कुछ, जायेगा कहाँको, वह कैसे यहाँ आया है ?
उसका ‘प्रकाश’ यह जग जल थलमें है, उसकी ही सृष्टि और उसकी ही माया है ॥

रमाकान्त त्रिपाठी ‘प्रकाश’

श्रीभगवद्-रहस्य

(लेखक—रायबहादुर राजा दुर्जनसिंहजी)

ॐ बभूवै रघुनैःशतिलकः कौशल्याहृदयनन्दनो रामः ।
दक्षवदननिबन्धकारी दासरायिः पुष्परीकाक्षः ॥
मनुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥



तभेद होना प्राकृतिक धर्म है और यह अनादिकालसे चला आया है, किन्तु आश्चर्य यह है कि परिवर्तनशील प्राकृतिक सृष्टिका विषय उनना विवादग्रस्त नहीं, जितना कि अटल और अखण्ड स्थितिवाला- भगवत्-विषय है । इस विवादके कारण पारस्परिक विरोधकी नित्य कृद्धि होकर नये-नये सम्प्रदाय आये दिन जन्म लेते चले जा रहे हैं और राग-द्वेषका वेग बढ़ रहा है ।

श्रीभगवान्के वनवास पञ्चरत्नपर श्रीदशरथ महाराजकी लोक-यात्रा समाप्त होनेके पश्चात् श्रीभरतजी महाराज अपने प्रिय भ्रातासहित ननसालमे अयोध्याजी पञ्चरत्नपर जिस समय परम सन्तस-हृदया श्रीकौशल्यामाताके भवनमें पधारें हैं, तब उनके सम्मुख अपनी शुद्धिके निमित्त की गयी अनेक शपथोंमें एक शपथ यह भी की गयी थी—
ममत्या विवदमानेषु मार्गमाश्रित्य पश्यतः ।
तेन पापेन युज्येत यस्वामौन्दुमते गतः ॥
(वा० रा० अयो० का० सं० ७५ । ८५)

अर्थात् भक्तिके द्वारा किसी मार्गका (सम्प्रदाय, मत) आश्रय करके शगबनेवालों या उनके देखनेवाले (विवादके सुननेवाले) को जो पाप लगता है वह उसे लगे जिसके परामर्शसे श्रीभगवान् वनको पधारें हैं । खरबन-मखन-पूर्वक भगवद्-विषयपर शास्त्रार्थ करनेमें स्वपक्ष-समर्थनका आदेश होकर जिनके हृदयमें राग-द्वेषकी यात्रा बढ़ जाती है, उनके किये यह शपथ बहुतभीखनपूर्वक पूर्ण शिक्षाप्रद है । यद्यपि इससे स्पष्ट है कि भगवत्-विषयमें विवाद करना प्रायश्चित्तसापेक्ष एक प्रकारका पाप है और यह कदापि साधु-सम्मत नहीं है तथापि बिरोधकर इस कलिकालमें तो, दशा असह्य-सी हो रही है और जब पक्षपातपूर्ण

कोई विषय सम्मुख आता है तो हृदयको परम आघात पहुँचता है किन्तु यह सोचकर कि सर्वथा पक्षपातहीन परम विज्ञानमय श्रीमद्भगवद्गीता या आधुनिक जगत्में सर्वाधिक लोकप्रियताप्राप्त श्रीतुलसीकृत मानसराभायण-सरीखी अनुपम रचनाओंके द्वारा प्रकटित सिद्धान्तोंमें लोककी अनेक भ्रान्तियोंके समूल नष्ट होनेकी पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत है अथवा इनके ही आधारपर अनेक लेख-व्याख्यान भी भगवत्-श्रममें लीन विद्वान् या महारमाओंके द्वारा यथासमय जगत्के समक्ष होते रहते हैं—जब इनका प्रभाव भी विवादप्रिय लोगोंके शान्तिका कारण नहीं हो सकता तो मुक्त-जैसे अल्पमति वा अभ्यास-छान्यकी तो गणना ही क्या है ? इस स्थितिमें मेरा लेखनी उठानेका कैसे साहस हो सकता है ? तथापि जब कभी हृदयको पूर्ण धक्का लगाकर दैवी-प्रेरणा होती है तो श्रीतुलसीकृत रामायणजीका यह वचन—

सन जानत प्रभु प्रभुता सोई । तदपि कहं बिन रहा न कोई ॥

—स्मरण हो आनेसे प्रकृतिके किये साहस हो जाता है और उसी दैवी-शक्तिके अनुरोधसे दीन वा दूरिद्र शब्दोंमें कुछ भाव भी निकल पड़ते हैं । मेरे विचारमें यदि मूल श्रुतियोंका आशय हृदयाकृत कर लिया जाय तो ऐसे भेदोंका अंकुर ही हृदयमें नहीं उठने पावे और कैसा भी जटिल विषय हो, सरलतासे समझमें आ जाय ।

सबसे प्रथम भगवत्-तत्त्व-द्योतक मूल श्रुतियोंको ही लिया जाय—

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन । स देव सौमन्दमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तदैश्वर्य बहु स्यात् प्रजायेय ।
(छान्दोग्य उपनिषद्)

इनसे सुथके मज्जाङ्क-प्रकाशकी भाँति सिद्ध है कि भगवान्, ब्रह्म, परब्रह्म परमात्मा इत्यादि अनन्त नामोंमेंसे कुछ भी कहा जाय, है एक वा अद्वितीय ही । इस सिद्धान्तमें जहाँतक देखा जाता है किसी भी (चाहे सनातन-धर्मी चाहे अन्य) सम्प्रदायका मतभेद नहीं है क्योंकि दो परमेश्वर कोई नहीं मानता ।

इतना तो विषय निर्विवाद है, किन्तु मतभेदके कारणका बीज श्रीभगवान्का स्वरूप-निरूपण है, क्योंकि कोई

तो इसको अमूर्त अर्थात् निराकार बताता है और कोई मूर्त अर्थात् साकार। इसीके अन्य नाम निर्गुण-सगुण, द्वैत-अद्वैत, निरवयव-सावयव आदि हैं।

पञ्चपात छोड़कर श्रुतियोंके आधारपर विचार करनेसे ऐसे मतभेदको अवकाश नहीं मिल सकता, किन्तु पञ्चपात-का छंदुर हृदयमें जसनेसे पूर्वापरका सब विचार नष्ट होकर और पक्ष-समर्थनके आवेशमें यथार्थतापर दृष्टि न रहकर परिणाम यह होता है कि ऐसे पक्षके सिद्ध करनेका प्रयत्न होने लगता है जिससे अपने जिन इष्टदेव श्रीभगवान्‌के उत्कर्षोपपादनके लिये न्याय-परायणताके भी दमनपूर्वक पञ्चपातका इतना आकाश-पाताल बाँधा गया, कि उलटी उनकी ही महिमा संकीर्ण दीखने लगती है। इस विषयके प्रमाणमें अधिक भटकनेकी आवश्यकता नहीं। निर्गुण उपासकोंके शिरोमणि और अद्वैतवादके प्रधान आचार्य श्रीशङ्कर भगवान्‌की लेखनीके द्वारा ही उपनिषद्-मन्त्रके आधारपर उनके स्वयंरचित प्रबोध-सुभाकरमें निकले हुए इस वचनको देखिये—

जानन्तु तत्र बीजं हरिभक्त्या ज्ञानिनो ये स्युः ।

मूर्तं चैवामूर्तं द्वे पद ब्रह्मणो रूपे ॥

जिस ब्राह्मण-भागके मन्त्रको यहाँ लक्ष्य कराया गया है वह इसप्रकार है 'द्वे वै ब्रह्मणो रूपे यन्मूर्तं चामूर्तं चेति' यह मूर्त और अमूर्तका समुच्चय श्रीभगवान्‌का परमाश्रय-पूर्ण व्यापार है जिसका रहस्य त्रिगुणमयी बुद्धिद्वारा ग्रहण किया जाना बड़ा कठिन है—ऐसे ही अद्भुत व्यापारका पुष्टिकारक चैतान्तरूपनिषद्‌का यह मन्त्र है—

अपाणिपादो जनो गृहीतो

पदमलचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

स चेति बेषं न च तस्यास्ति चेता

तमादुरप्रथं पुरुषं महान्तम् ॥

यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि अमूर्तका तो सर्वत्र वायु-आकाशकी भाँति व्यापक रहना सम्भव है किन्तु मूर्तकी व्यापकता सम्भव नहीं हो सकती। इसमें पहले एक पाश्चात्त्य सृष्टिका ही उदाहरण श्रीभगवान्‌ सङ्कराचार्यके इन वचनोंमें दिया जाता है—

साक्षाद्यैकदेशे बर्तुलमुपलभ्यते खेर्बिम्बम् ।

विद्वत्प्रकाशयति तत्सर्वैः सर्वत्र दृश्यते युगपत् ॥

जब कि इस प्रकृति-राज्यमें भी भौतिक सृष्टिका ही अनुपम चमत्कार हम चर्म-चक्षुओंके द्वारा प्रत्यक्ष

दीख रहा है कि गोलाकार सूर्य-मण्डल साक्षात् एक देशमें ही दिखलायी देता है किन्तु वह सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है और सबको एक ही साथ सब जगह दिखलायी देता है तो प्रकृतिके स्वामी श्रीभगवान्‌की अनुपम महिमा-का क्या ठिकाना है? जहाँ असंख्य सूर्योंका तेज और प्रकाश है, यही क्यों, प्रत्युत विरोधी धर्मवाले अनेक चन्द्रमाओंकी युगपद् ज्योत्स्ना और शीतलता भी विद्यमान है।

जब हमको श्रीसूर्यनारायणकी, जो श्रीभगवान्‌की मायाके कार्य हैं, मूर्त और अमूर्त दोनों रूपसे व्यापकता इन चर्म-चक्षुओंसे ही नित्य दीख रही है तो श्रीभगवान्‌की व्यापकतामें क्यों सन्देह किया जाय? यद्यपि ब्रह्मवान्‌के सन्तोषार्थ इतना ही पर्याप्त था किन्तु श्रीभगवान्‌ने तो इसके प्रमाण देनेमें भी तनिक-सी अपूर्णता नहीं छोड़ी, जिससे किसी सन्देहकी ही स्थल शेष नहीं रहता। श्रीकुक्षेत्र-की रणभूमिमें धर्जुनजीको जो विराटरूपका दर्शन कराया, उसके द्वारा इतना ही प्रत्यक्ष नहीं दिखा दिया कि श्रीभगवान्‌का रूप आकाश और पृथ्वीके समस्त अन्तरमें पूर्ण व्याप्त है किन्तु विविध प्रकारसे विभक्त हुआ जगत्‌ ही अपने शरीरमें दिखाया गया। इस रूपको तो पुनः इतना अवकाश भी था किन्तु श्रीमाता कौशल्याजी और श्रीमाता यशोदाजीको मुखमें और काकभुशुण्डिजीको अपने बाल-स्वरूपके उदरमें ऐसा ही आश्रयपूर्ण और अद्भुत चमत्कार दिखाया गया—पुनः वनवासके समय श्रीपार्वतीमाताकी भी ऐसे ही परम विस्मयकारक दृश्यने चकित किया गया। हमसे मित्र है कि श्रीभगवान्‌के दोनों ही रूप मूर्त या अमूर्त व्यापक और अनन्त या अनन्त अर्थात् नित्य हैं—श्रीभगवान्‌की साकार और निराकाररूपसे व्यापकताके विषयमें श्रीभगवद्गीताजीके सप्तम, नवम, दशम, एकादश और पञ्चदश अध्याय द्रष्टव्य हैं।

इसमें एक और भारी अस्मरकार है। अब उसपर दृष्टि डाली जाय। मूर्त और अमूर्त दोनोंका समुच्चय मानकर भी मूर्तरूपके विषयमें यही समझा जाना सम्भव है कि श्रीभगवान्‌की यह इच्छा होनेपर, कि मैं एकसे अधिक हो जाऊँ, प्रकृतिकी साम्यावस्था भङ्ग होकर सत्त्व, रज, तम तीन गुणोंमें विभक्तता होते ही त्रिगुणमयी मायाके आश्रयसे सृष्टिका आरम्भ उसी क्षण हो जाता है और यही मूर्तरूपकी उत्पत्तिका कारण है—अर्थात् मूर्तरूप

मायाके संसर्ग बिना सम्भव नहीं। यद्यपि ऐसा निश्चय पूर्ण भ्रान्तिमूलक है तथापि यह भ्रान्तिमूलक निश्चय ही सिद्धान्तरूपसे मानना पड़ता, यदि वह दयामय इन धार्मिक सिद्धान्तोंकी पुष्टिके निमित्त अपने चरित्रोंसे भ्रम-निवारण करके अपने स्वरूपका प्रत्यक्ष प्रमाण न देते। केवल इसी जटिल प्रसंगका प्रमाण देनेके लिये श्रीभगवान् की उस अनोखी लीलाका होना निश्चय होता है, जिसमें देवदुर्लभ भक्तबल्लभ ब्रज-भूमिमें बड़े बड़े चराते हुए श्रीभगवान्के ग्वालबाळ और बड़े श्रीब्रह्माजीने सुरा किये थे। उस समय न केवल सुराये गये ग्वालबाळ और बड़ोंके स्थानमें जो मायिक सृष्टिके क्रमसे उत्पन्न हुए थे, दूसरे ग्वालबाळ और बड़े तत्काळ उत्पन्न कर दिये गये, प्रत्युत उतनी ही संख्यामें सब लक्षणसंयुक्त अपने चतुर्भुज रूपोंके भी श्रीब्रह्माजीको दर्शन करा दिये गये। यह सब अमायिक रचना थी, जिससे सिद्ध है कि श्रीभगवान्में केवल मायिक सृष्टि-रचनाकी ही शक्ति नहीं है किन्तु उनकी शक्तिकी अपारता और अपरिमितता यहाँतक है कि वे अमायिक सृष्टिका भी निर्माण कर सकते हैं। अतः श्रीभगवान्का जो मूर्तरूप है वह अमूर्तरूपके ही सदृश मायातीत है और उसको मायाका कार्य मानना नितान्त भ्रान्तिमूलक है। वेदान्त और वैष्णवादि मतोंमें ब्रह्म या श्रीभगवत्-तत्त्वके जो भिन्न-भिन्न भेद माने हैं, इनमें अवश्य मायाकी उपाधि हेतु है जिसको किसी मतमें विशेषण भी कहा जाता है, यथा—वेदान्तमें मुख्य दो तत्त्व—चेतन और जड़ मानकर किसी मतमें चेतनके तीन भेद बताये हैं जैसे शुद्ध ब्रह्म, मायोपहित चेतन जिसको ईश्वर कहा है वा अविद्योपहित चेतन जिसको जीव कहा है और किसीमें घटाकाश, जलाकाश, मेघाकाश और महाकाशके मुख्य कूटस्थ, जीव, ईश्वर और ब्रह्म ये चार भेद माने हैं। वैष्णव-सिद्धान्तानुसार एक मतके ये वचन हैं—

स एव कण्ठासिन्धुर्भगवान् भक्तवत्सलः ।
उपासकानुरोधेन भजते मूर्तिपञ्चकम् ॥
तदर्चादिभजन्यूसूक्ष्मान्तर्वासिंस्कृत् ॥
यदाश्रित्यैव चिद्वस्तुतत्तत्त्वेन प्रपद्यते ॥

अन्य मतसे पर-स्वरूप, स्व-स्वरूप, उपास्य-स्वरूप, मूळ-स्वरूप, विरोधी-स्वरूप है।

अन्यान्वय मतोंके द्वारा जो ऐसे भेद माने गये

हैं, सब माया-प्रधान हैं किन्तु उस अमायिक परम तत्त्वके वे ही दो रूप हैं जिनका आरम्भमें ही निरूपण हो चुका है।

अब एक रहस्यका भी रहस्य और सुनिये। वास्तवमें बात यह है कि जो श्रीभगवान्का दसकृतापूर्ण हस्त-कमल मस्तकपर हो तो यह इतना अगाध विषय है कि इसमें जितनी-जितनी सूक्ष्म बुद्धिका प्रवेश कराया जाता है, उतना-उतना ही रहस्य उद्घाटन होता है। ऊपर जो दृष्टान्तरूपसे अर्जुनजीको विराटरूप अवलोकन कराने और श्रीमाता कौशल्या और श्रीमाता यशोदा और काकभुशुबिडजीको क्रमशः मुखारविन्द और उदरमें ब्रह्माण्डोंका दिखानेकी अलौकिक लीलाएँ कथन की गयी हैं, इनपर गम्भीर दृष्टि डाली जाय। स्व-शरीरमें विराटरूप दर्शन करानेसे तो श्रीभगवान्ने व्यापकताके द्वारा अपनी पूर्णता सिद्ध करके इस मन्त्रका अर्थ मूर्तिमान् उदाहरणके साथ सिद्ध कर दिया—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णत्वं पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

किन्तु इसके समर्थ एक दूसरा मन्त्र देखना चाहिये। 'महतो महीयान् अनोरणीयान्' यह मन्त्र भी उपर्युक्त मूर्त-अमूर्तवाचक मन्त्रके मुख्य एक अधिष्ठानमें दो विरोधी धर्मोंका समुच्चय सूचित करनेके द्वारा श्रीभगवान्की अलौकिक शक्तिका प्रमाण देता है, इसके पूर्वाङ्गमें तो ऊपर के मन्त्र 'ॐ पूर्णमदः ...'का पूर्णतया समर्थन होता है और इसमें वही श्रीभगवान्की विवरूपता सिद्ध होती है, जिसके दर्शनका अर्जुनजीको सौभाग्य प्राप्त हुआ। परन्तु उत्तराङ्ग सर्वथा विरोधवाचक प्रतीत होता है और प्रत्यक्षमें यही समझा जा सकता है कि पूर्णतावाचक मन्त्रकी इस दूसरे मन्त्रके साथ संगति नहीं बैठती। परन्तु इस भारी उलझनको श्रीभगवान्ने दूसरे उदाहरणोंसे इस प्रकार सुलझा दिया, जैसे उलझे बालोंको कंघी सुलझा देती है। प्रथम इस विराटरूपमें पूर्ण विशाल देहधारी प्राणी और पदार्थोंके सम्मुख तो श्रीभगवान्का बालस्वरूप अणु है और उस अणुसे भी अणु उनका उदर और उस उदरसे अणु उनका मुखारविन्द—इस मुखारविन्दसे भी अणु कर-के सम्पूर्ण विस्तृत ब्रह्माण्डको ही नहीं, ऐसे-ऐसे असंख्य ब्रह्माण्डोंको अन्तर्भूत करके दिखा दिया। यद्यपि यह निदान्त आश्चर्यावाचक दृश्य है तथापि इसके समर्थनमें

श्रीभगवान्ने इस गुणमयी सृष्टिमें ही आन्त पुरुषोंका आवरण इटानेके निमित्त एक सामान्य-से-सामान्य उदाहरण उत्पन्न कर रक्खा है। बड़े यन्त्र वा बड़े कार्योंको जाने दिया जाय। दो चार पैसोंमें एक अंगूठी आती है उसमें मसूरकी दालसे भी छोटा काचका टुकड़ा लगा रहता है—जिसमें सैकड़ों गजोंमें आनेवाला हरय अन्तर्भूत होकर स्पष्ट दीखता है। जब इस भौतिक सृष्टिमें ही हमको ये चमत्कार दिखायी देते हैं तो उस मायापतिके अमायिक चरित्रोंमें क्यों सन्देहको अवकाश देना चाहिये? इससे अधिक उक्त श्रुति 'अथोरेणीयान् महतो महीयान्' का खुला हुआ और क्या दृष्टान्त हो सकता है? इस रीतिसे यद्यपि श्रीभगवान् बृहत्-से-बृहत् और इस्व-से-इस्व हुए तो भी उनकी पूर्णतामें कोई अन्तर नहीं आया। जैसी पूर्णता बृहत्-से-बृहत् रूपमें थी, वही इस्व-से-इस्वमें भी रही। यदि कोई कहे कि बृहत् रूपसे जो अवकाश व्याप्त था वह इस्व-रूप धरनेपर कहीं गया तो इसका उत्तर बहुत सरल है कि वह अवकाश उस पूर्ण तत्त्वके बाहर थोड़ा ही था, जब वह फैला वह भी फैल गया और जब वह संकुचित हुआ, वह भी संकुच गया। अतः उक्त पूर्णतावाचक मन्त्रकी संगति श्रीभगवान्के मूर्त और अमूर्त दोनों रूपोंके साथ ही बैठ गयी।

इसी सिद्धान्तको दृढ़ करनेके लिये श्रीभगवान्ने वामनरूप धारण करके, जिसमें उस ही ऋणके भीतर उस एक ही शरीरके द्वारा अणुता वा महता दोनों दिखायी गयी, एक दूसरा उदाहरण संसारके सम्मुख रक्खा। ब्रह्माण्डके बृहत् काम घनेक पदार्थोंसे अणु देव-शरीर थे और उन शरीरोंसे भी अणु वामनरूप धारण किया गया। नहीं तो इतनी इस्वता करनेका इससे अधिक महत्वपूर्ण प्रयोजन और क्या हो सकता? पुनः उसी शरीरको इतना बढ़ाया कि दो ही पैरोंमें चौदह लोकको व्याप्त कर लिया।

अब इस महावाक्यरूप पूर्ण प्रसिद्ध श्रुति 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' पर भी कुछ विचार प्रकट किया जाता है। इसको अमूर्त अथवा निराकारवाचक ही समझा जाता है परन्तु अमूर्त रूप मूर्त रूपसे मित्र थोड़े ही है? यह श्रुति दोनों रूपोंपर ही लागू है। इसको भी श्रीभगवान्ने मूर्तिमान् उदाहरणके द्वारा सिद्ध कर दिया—इस श्रुतिके अर्थ है 'यह सब निश्चयरूपसे ब्रह्म है' 'इदम्' शब्दसे जिसका अर्थ 'यह' है इस ब्रह्मावहको वा यदि किसीकी कल्पनामें इससे भी विस्तृत कुछ और हो तो उसको और इसमें

व्याप्य किसी भी देश, काल, द्रव्य वा प्राणीको समझ लिया जाय—अतः कोई स्वाम, वस्तु, प्राणी, काल इत्यादि ऐसा नहीं जिसमें और जब कि ब्रह्म न हो। 'ब्रह्म' शब्द उसी परम तत्त्वका वाचक है, जिसका आरम्भमें ही निरूपण किया जा चुका है और जिसके अमूर्त और मूर्त दो रूप सिद्ध हो चुके हैं। अमूर्त की व्यापकता तो प्रसिद्ध है ही, किन्तु जिस समय हिरण्यकशिपुने क्रोधाग्निसे प्रज्वलित होकर हरिदास श्रीप्रह्लादजीके वधके लिये खड्ग उठाया तो प्रह्लादजीके पुकारकर यह घोषित करते हो कि 'इस खड्गमें भी श्रीभगवान् हैं' उसी स्थलसे तत्काल भीषणतापूर्वक दहाड़ते हुए विकराल स्वरूपमें भगवान् धर्म-चक्षुओंके विषय हो गये। अब कैसे कहा जाय कि उक्त श्रुति क्या केवल निराकारकी ही वाचक है और साकारकी नहीं? वास्तवमें श्रीभगवान् जो यथावसर अनेक रूपोंमें धर्म-चक्षुओंके विषय होते रहते हैं, उसका कारण धर्म वा साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंका निकन्दन तो है ही, किन्तु अपने श्वास-निःसरित श्रुतियोंके मूर्तिमान् उदाहरण जगत्के सम्मुख रखना भी अभिमत होता है, जिससे श्रुतियोंमें जो एकका दूसरीसे विरोध दीख पड़ता है, उसका सहज ही समाधान हो जाय। यही यथार्थमें अवतार-तत्त्व है।

भगवद्-रहस्यके विषयमें श्रुतियों या पुराण-कथाओंके आधारपर अपनी अल्पमतिके अनुसार ये विचार उपस्थित किये गये हैं। सनातनधर्ममें ऐसे आस-बाक्योंसे प्रबल और कोई प्रमाण नहीं है, किन्तु विषय ऐसा है कि इसका प्रत्येक अंग आश्चर्यसे पूर्ण है, जिसको तर्क और विज्ञानके द्वारा सिद्ध करनेका उद्योग करनेवालोंके लिये श्रीभगवान्-जीका यह वचन इद्व्यङ्गित कर लेना चाहिये—

'सर्वं भगवतो माया यत्तमेन निरुध्यते।'

(स्क० ३ अ० ७)

अर्थात् वह श्रीभगवान्की माया है जिसका तर्कशास्त्रसे विरोध है—यहाँ 'माया' शब्दका अर्थ प्रकृतिका त्रिगुणमय विकार नहीं है किन्तु आश्चर्यमयी शक्ति है।

इस वचनके बिना भी यथार्थतापर दृष्टि रखकर सोचा जाय तो मला 'कर्तुमर्तुमन्यथाकर्तुं'वाले भगवान्की शक्ति ही क्या हुई, जिसको अपरिमित और अमित कहा जाता है, वह यदि विज्ञान या तर्कके साँचेमें ढाक दी जाय और यदि वह गुणमयी बुद्धिका विषय हो जाय? फिर उसमें और गुणमयी सुष्टिकी शक्तिमें अन्तर ही क्या रहा? जहाँ वैतक

‘नेति-नेति’ कहकर द्वार मान गये, वहाँ गुह्यमयी बुद्धिका (चाहे वह कैसी ही तीव्र क्यों न हो) क्या सम्मुखवेश हो सकता है ?

प्रथम ‘अधोऽणीयान् महतो महीयान्’ आदि श्रुतियोंके द्वारा विरोधी धर्मोंका योगपथरूपसे समुच्चय बताया गया जो कि पूर्ण आश्चर्यमय सिद्धान्त है किन्तु यह भी स्थिर नहीं रहा और इस श्रुतिके द्वारा इसका भी खबहन कर दिया गया—‘नेति नेत्यस्यूलमनयुः’ अर्थात् यह न स्यूज है और न सूक्ष्म, इसलिये वह यही है ऐसा नहीं कहा जा सकता ? इन सब श्रुतियोंका सामूहिकरूपसे यही अर्थ निकलता है कि वहाँ ह्यत्ता और इवमित्यता करना कदापि सवुद्धिका व्यवहार नहीं है और सनातन-धर्मके नियमानुसार भगवत्-तत्त्वके विरुद्ध विवाद वा शास्त्रार्थको सुननातक प्रायश्चित्त-जनक है। आज इस कलियुगी सृष्टिकी तो क्या चर्चा है, उस समय भी ब्रह्माजीके द्वारा चुराये गये ग्वाल-बाल और बल्लूकोंके स्थानमें अमायिक ग्वाल-बल्लू उत्पन्न होनेका उनके पिता-माताओंतकको ऐसा अलौकिक प्रेमका वेग उमड़नेपर भी कि जो मायिक सृष्टि-नियमोपबन्ध पीते हुए शिशु उनकी गोदोंमें थे उनसे सर्वथा ध्यान हटकर इन बल्लू चरानेवाले बालकोंके लिये ही जो यद्यपि दूध पीनेवाले नहीं थे, स्तनोंमेंसे दूध भरने लग जाता था, अनुभव नहीं हुआ और उस रहस्यको केवल श्रीबल्लदेवजी महाराजने ताब लिया जो स्वयं मूर्तरूपमें श्रीभगवान् ही थे।

इस समग्र विवरणका सूत्ररूप यह है कि उस ब्रह्म अर्थात् भगवत्-तत्त्वके अमायिक दो रूप हैं—एक अमूर्त्त दूसरा मूर्त्त जो योगपथरूपसे नित्य हैं और श्रीभगवान् इन दोनों ही रूपोंमें महत्-से-महत् और अणु-से-अणु हो सकते हैं और यह सब कुछ होते हुए भी वे न महत्-से-महत् हैं और न अणु-से-अणु।

अब इस सिद्धान्तके समग्रमें इस मतपर विचार किया जाता है, जिसके द्वारा अनेक विज्ञानोंकी ऐसी धारणा है कि श्रीभगवान्के मूर्तरूप अर्थात् जो अवतार होते हैं वे सब स्वयं भगवान्के ही नहीं होते किन्तु अधिक संख्यामें उनकी अंश वा कलाके होते हैं और एक अवतारसे दूसरे अवतारमें तीव्र और लाघव अर्थात् घटती बढ़ती है। ऐसे निश्चयका मुख्य कारण अनेक शास्त्रीय वाक्य हैं जैसे श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजके विषयमें श्रीमद्भागवतके तृतीय अध्यायान्तर्गत सूतजीका वचन है कि—

१६

पते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ॥

इसके आधारपर एक महानुभावने अपने पूर्ण गम्भीर और हेतुगमित लेखमें अन्य सब कलाओंके विकासमें समानता मानते हुए सिद्ध किया है कि जो आनन्दके दो भेद हैं समृद्धयानन्द वा शान्त्यानन्द इनमें श्रीभगवान् श्रीरामचन्द्रजी महाराजमें समृद्धयानन्दका अभाव है किन्तु श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजमें इन दोनोंका पूर्ण विकास है। इस रीतिपर इन दोनों अवतारोंमें भी जो अन्तर्गते संसारमें मुख्य माने जाते हैं, भेद बताया है। अन्य महापुरुषोंने ऐसा प्रकट करने हुए कि भगवान् श्रीरामके समान श्रीकृष्णको प्रौढ़ अवस्था प्राप्त होनेपर अपनी शक्तियोंका आन हुआ हो, यह बात नहीं है, यह तो जन्ममें ही पूर्ण थे। श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजकी अनेक लीलाओं वा चरित्रोंका भुरा वा प्रौढ़ भाषामें निरूपण किया है।

इधर श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराजके सम्बन्धमें तो ऐसा निश्चय किया गया है, उधर श्रीभगवान् रघुनाथजी महाराजके महत्त्व-वर्णनमें उपर्युक्त वचनसे भी कहीं अधिक महत्त्वके वचन प्राप्त हैं। यथा—

यस्यांशेनैव ब्रह्मा महेश्वरा
अपि जाता महाविष्णुर्यस्य दिव्यगुणश्च ।
स एव कार्यकारणयोः परः
परमपुरुषो रामो दाशरथी बभूव ॥

(अथर्वण उत्तरार्द्ध)

अंशभूता विराड् ब्रह्मविष्णुरुद्रास्तथापरे ।
ब्रह्मतेजो घनीभूतं वर्तते जानकीपतेः ॥
सगुणं निर्गुणञ्चैव परमात्मा तथैव च ।
पते चांशा हि रामस्य पूर्वचान्ते च मध्यतः ॥

(रामतापिन्युपनिषद्)

पते चांशकला भूता शक्तिवीर्यसमान्विताः ।
रामचन्द्राप्रिसंजाता रामस्तु भगवान् स्वयम् ॥

(महाराभाषण)

इन वचनोंसे यह और प्रकाशित हुआ कि जो श्रुतियोंके आधारपर भगवत्-तत्त्वकी इनसे पहले विज्ञापनाएँ निरूपण हो चुकी हैं उनके अतिरिक्त यह विज्ञापना और है कि उस तत्त्वके अंश और कला भी हो सकते हैं। यही विज्ञापना क्यों, यदि कितनी भी विचित्रताएँ प्रकट की जायें

तो उसमें आपत्ति और आश्चर्य क्यों होना चाहिये? क्योंकि वह तो विचित्रताओंका भवहार है और यहाँ 'हूयता' करना निताम्त भूल है—परन्तु जो कुछ निश्चय किया जाय वह केवल कल्पनामात्र न होकर श्रुति अथवा श्रुतिके ही मुख्य महत्त्व रखनेवाले शास्त्र-वचनके आधारपर होना चाहिये जैसे कि प्रसङ्ग-प्राप्त कला और अंशवाले रहस्यके समर्थनमें उपर्युक्त वचन हैं।

यहाँ यह बात पूर्णरूपसे समझ लेनी चाहिये कि इस कला और अंशवाले मतका आदर केवल शास्त्रीय वचनोंके कारण ही है, नहीं तो इसमें कई प्रबल अक्षयनं प्राप्त हैं, जैसे—सर्वप्रथम तो श्रीभगवान्की गगनमेखी इस उद्घोषणाके—

यदा यदा हि धर्मस्य स्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदुत्थानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

—यह अनुकूल नहीं है क्योंकि इस प्रतिज्ञारूप घोषणाये अंश-कलाओंके द्वारा नहीं किन्तु पूर्णरूपसे ही आविर्भूत होनेका अर्थ स्पष्टरूपसे प्राप्त होता है।

दूसरे, इसके द्वारा भगवत्-तत्त्वकी महिमाकी वृद्धि न होकर उल्टा हास होता है, क्योंकि अपने इष्टके अतिरिक्त अन्योको जिनका कि कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं है किन्तु नाम और रूपकी भिन्नतासे वही एक परम तत्त्व है, अंश-कलारूपमें बताकर उनमें शक्ति-विकासकी न्यूनता और महत्त्व-संकीर्णता सिद्ध करनेका प्रयास होता है जिसका दूसरे शब्दोंमें यही आशय है कि अपने इष्टके ही गौरवकी हीनता की जाती है।

तीसरे, जिस पारस्परिक विरोधका कलंक किसी सम्प्रदाय या मत-विशेषपर लगाया जाता है उसका तो मुख्य कारण इस शास्त्रीय रहस्यने ही उत्पन्न कर दिया।

इन सबपर दृष्टि डालते हुए यह दशा अवश्य पूर्ण संदिग्ध है किन्तु यह सब कुछ होनेपर भी धार्मिक जगत्-की स्थितिके लिये ऐसे सिद्धान्तकी उपयोगिता अनिवार्य थी, जिससे सिद्ध है कि धर्म-संकटके द्वारा जगत्में विच-क्षितताकी सम्भावना होनेपर मुख्य लक्ष्य उसके निवारणका रक्षा जाकर अन्य कैसे भी आपत्ति और आक्षेपोंकी उपेक्षा की जाती है—इसका ज्वलन्त उदाहरण श्रीभ्यासजी महा-राजने अपने पुराण-रचनानेके उद्देश्यानुसार जगत्के सम्मुख

रखा दिया है, जिसमें उन्होंने जिस अवतार और देवता-विशेषका प्रतिपादन किया है, उसीको मुख्य और अन्योको गौण माना है।

श्रीभ्यास भगवाण्का यह उद्देश्य निताम्त दूरदर्शिता-पूर्ण था, यदि ऐसा न होता तो धोर धर्मसंकटकी प्राप्ति थी; क्योंकि इस सिद्धान्तकी प्रवृत्त करके उसको हतना रूप दिये बिना वही एक सिद्धान्त रहता जिसके द्वारा असाधारण भगवत्-तत्त्वके दो रूप बताये गये हैं और जिसका अधिकारी केवल सत्सङ्गुत्तम जगत् है, जिसका विस्तार सत्ययुगतकमें संकुचित था; हापर-कक्षियुगकी तो चर्चा ही क्या है और विशेषकर इस कक्षियुगमें तो उसका एक प्रकारसे अभाव भी बता दिया जाय तो असम्भन नहीं समझना चाहिये, क्योंकि इस राजसी और तामसी सृष्टिके सवेग प्रवाहमें सात्त्विकी भावपूर्ण अति विरले उदाहरणोंकी गणना ही क्या हो सकती है?

अब सोचा जाय, यदि ऐसा सिद्धान्त स्थिर न किया जाता, जिसकी राजसी और तामसी प्रकृतियोंके लिये परमावश्यकता थी तां ये प्रकृतियाँ सर्वथा निराधार रहतीं और मुख्य सिद्धान्तपर इनकी अट्टा न होनेसे उसका उपदेश निष्फल था। अतः नास्तिक-भाव उत्पन्न होना प्राकृतिक हो जाता, जिससे धार्मिक जगत्की सब स्थिति ही डारवाँडोल हो जाती। इसीलिये राजसी-तामसी प्रकृति-वाकोंको, जिनकी रूचि भगवत्-तत्त्वकी ओर हो, रुचि-विचित्रताके कारण स्व-प्रकृति-अनुकूल उपासनाके लिये हट्टांकी आवश्यकता होनेसे ऐसा पक्ष स्थिर किया गया। यद्यपि विभिन्न प्रकारकी उपासनाओंकी सृष्टि रागद्वेषके द्वारा विरोधका कारण अवश्य समझी जाती हैं परन्तु देखना तो यह है कि यदि ऐसा न होता तो क्या विरोधकी शक्ति रहती? इस विषयपर नहीं तो, अन्य सांसारिक कंझटोंमें विरोधका वेग यदि अतिमात्रपर न पहुँच जाता तो इससे अल्प मात्रामें तो कभी रह ही नहीं सकता था, क्योंकि यह तो राजसी और तामसी प्रकृतियोंका अनिवार्य धर्म है जिसका अनुभव नित्य होता रहता है। और यह तो जितना भी कुछ है, धार्मिक विरोध है जिसमें सर्वथा सम्भावना है कि अपने इष्टमें चित्त-वृत्ति लगाते-लगाते उसकी कृपासे हतनी लग जाय कि उसमें तन्मयता होकर सब भेद-भाव हृदयसे निकल जाय और मूल-सिद्धान्तपर स्वतः ही दृष्टि स्थिर हो जाय। यदि यह न होता तो

सांसारिक विषयोंमें ही ठहर मारते-मारते जैसे ही जन्म मर हो जाता। इससे सिद्ध है कि इस पक्षके प्रवर्तनसे बड़ा ही उपकार हुआ है और ऐसा करनेमें भगवत्के अमायिक तत्त्व वा मायिक सृष्टिकी भिन्नताका विवेक न रखकर और उनको एक रूपसे ही दिखाकर सृष्टिके प्रवाहके साँचेमें इस धार्मिक तत्त्वको भी ढालना पड़ा, क्योंकि सृष्टिकी विचित्रताकी यह स्वाभाविक मॉग थी। अपने इष्ट-देवकी कृपासे जिनका हृदय निर्मल होकर विवेकपूर्वक नस्व-विवेचनके योग्य हो जाता है, उनको स्वतः ही यह अन्तर प्रतीत होने लगता है, नहीं तो अपनी-अपनी प्रकृतियोंके अनुसार अधिकार-भेदसे जिसको जो मार्ग लचकर हुआ है, उसकी प्रवृत्ति उसमें ही हो रही है। वस्तुतः प्रत्येक प्रकारके अधिकारीके लिये ऐसी विधि निकालना सामान्य काम नहीं था, जिसका सम्पादन केवल भगवत्-स्वरूप श्रीव्यासजी महाराजके ही द्वारा हो सका। और एक बात यह भी है कि अन्यके द्वारा प्रचलित ऐसा सिद्धान्त जिसके विरुद्ध इतनी आपत्तियाँ थीं, इतने आदर्श-योग्य भी नहीं हो सकता था। वास्तवमें श्रीव्यासजी महाराजका अवतार इन्हीं धर्मसंकटकी निवृत्तिके लिये हुआ था।

इन्हींके जोड़का एक प्रसङ्ग और है। जब राज-गुणकी वृद्धिमें देशमें पूर्ण धर्मसंकट उपस्थित हो गया अर्थात् पशुहिंसा-प्रधान यज्ञादि-रूप कर्मकाण्डके चक्रमें, जिसका उदाहरण महाराज प्राचीनवर्तिके इतिहासका पर्याप्त है, मोक्ष-मार्गाका सर्वथा लोप-सा हो गया था, उस समय श्रीभगवान्को ऋषभ देवजीके नाम और रूपमें धर्मचक्रुओंका विषय होना पड़ा और इसी प्रकार ऐसे मार्ग चलानेकी आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसके विरुद्ध अनेक आपत्तियोंके होनेपर भी उनकी पूर्ण उपयोगिता समझी गयी। वस्तुतः आपत्तियाँ निर्मूल नहीं थीं, क्योंकि पीछे आन्तिमस्त बुद्धि-बालोंके द्वारा उसका दूसरा ही रूप समझा जाकर संसार-में धर्म-विरुद्ध मतकी प्रवृत्ति हो गयी, किन्तु यह धर्म-विरुद्धता उस धर्मविप्रवृत्तिके सम्मुख गणना योग्य नहीं थी, जो श्रीऋषभ-भगवान्के द्वारा प्रचलित मार्गके अभावमें जगत्-को व्याप्त कर लेता। श्रीऋषभ भगवान्के अवतारका प्रयोजन-द्योतक श्रीमद्भागवतके पञ्चम स्कन्ध अध्याय षष्ठका यह वचन देखना चाहिये—

अयमवतारो राजसोपकुतकैर्बन्धोपशिक्षणार्थः ॥

यह तो हुआ अंशकलामें अवतार होनेका विषय। अब रह गया इस मतपर विचार कि अमुक अवतारमें अमुक गुण प्रकट न होनेसे लाघव है। वस्तुतः ऐसा मत भी इस अंशकलामें सिद्धान्तके आधारपर ही है, क्योंकि जिनको सत्त्वगुणोत्तर प्रकृतियोंके द्वारा अपने इष्टकी उत्कर्षता और अन्योकी हीनताका निश्चय हो रहा है, उनका अन्योमें लाघव देखना प्राकृतिक है किन्तु सर्वगुणी बुद्धिसम्पन्न उच्च कोटिके अधिकारीके लिये इस विषयपर इसप्रकारसे विचार करनेकी आवश्यकता है कि श्रीभगवान् सत्यसंकल्प हैं और संकल्पके अनुसार ही गुणोंका विकास किया जाता है तो क्या जिस गुणका विकास नहीं हुआ, वह उनके सङ्कल्पके आधारपर या अथवा श्रीभगवान्के उक्त रूपमें उक्त गुणके विकसित करनेकी शक्ति ही नहीं थी? प्रथम श्रीभगवान् रघुनाथजी महाराजके अवतारकी ही झाँकी की जाय। कुछ लोगोंका जो यह कहना है कि 'उनको प्रौढ़ावस्थाके प्राप्त होनेपर अपनी शक्तियोंका भान हुआ और श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजी महाराजको बाल्यकालमें ही हो गया था' यह केवल चरित्रकी विमृष्टिके कारण कहा गया है, नहीं तो श्रीभगवान् रामचन्द्रजी महाराजने भी बाल्यावस्थामें ही पुत्र-प्रेम-तन्मया श्रीमाताजीको अपने मुखमें हो विराट् स्वरूपके दर्शन कराये हैं। पुनः काकभुशुण्डिजीको भी ऐसी ही अद्भुतता दिखलायी है। अथवा जो यह कहा जाता है कि, इनमें ससृष्टयानन्दका अभाव था और श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजी महाराजमें इसका पूर्ण विकास था जिसके हेतु बतलानेमें यह बात मुख्यरूपसे कही जाती है कि आपके जीवनभरमें कोई दिन ऐसा नहीं कि जिस दिन आप शोकाक्रान्त हो आँसू बहा रहे हों परन्तु यह भी चरित्रोंके अनुकूल नहीं है, श्रीमद्भागवतके एक ही स्थलके इस वचनको देखना चाहिये—

अहो नः परमं कष्टमित्यलक्षौ विवेकतुः।

अर्थात् हमको बड़ा कष्ट है, ऐसा कहकर आँसू गिराते हुए आप बिलाप करने लगे। ऐसा होनेपर भी यदि इस पूर्वपक्षको ऐसा ही माना जाय तो इसमें विचारणीय बात यह है कि क्या इनमें वस्तुतः शक्तिकी इतनी न्यूनता थी अथवा अपने संकल्पानुसार इस गुणके विकासका अवसर ही नहीं आया। सामान्य उदाहरणसे समझिये कि यदि कोई मनुष्य केवल एक ही कोसकी यात्रा करके ठहर गया

तो देखना चाहिये कि उसमें केवल हतनी ही यात्राकी शक्ति थी अथवा प्रयोजनानुसार उसको उतना ही चलना था ? यदि प्रयोजनपूर्वक उतना ही चलना है तो भला उसमें शक्तिहीनताका दोष कैसे लगा सकता है ? इसी प्रकार यदि सत्य-सङ्कल्पके कारण श्रीभगवान्‌के किसी रूप-में किसी गुणके विकासका अवसर ही न आया या उससे किसी प्रयोजनविशेषके सिद्धिकी आवश्यकता ही न हुई तो उनका लाघव कैसे समझा जा सकता है ? किन्तु यदि जिस रूपमें जिस शक्तिका विकास हुआ उसके द्वारा प्रकृति-राज्यमें असम्भव-से-असम्भव सम्पत्ती जानेवाली यदि एक भी क्रियाका सम्पादन हो गया, तो यह स्वतः अनुमान कर लेना केवल हठधर्मी है कि उससे वैसी ही अन्य क्रियाओंका सम्पादन सम्भव नहीं है। मेरे विचारमें श्रीभगवान्‌ रघुनाथजी महाराज ही क्यों श्रीनृसिंह भगवान्‌, श्रीवामन भगवान्‌, श्रीमत्स्य भगवान्‌, श्रीकल्हण भगवान्‌ आदि नामोंके द्वारा श्रीभगवान्‌ने चर्म-चक्षुओंके विषय होकर जिस शक्तिका विकास किया है, उसके विषयमें सन्देह करना प्रत्यक्ष श्रीभगवान्‌की महिमाको घटानेका प्रायश्चित्त संग्रह करना है। यदि श्रीभगवान्‌ कृष्णचन्द्रजी महाराजकी स्तुति करते हुए हम उनके अन्य नामोंकी महिमा घटावें तो वह किसकी हीनता है ? उन्हींकी हीनता है। ऐसा करना तो उनकी स्तुतिके बहाने उलटी निन्दा करना है। छोटे-बड़ेका तो प्रसंग तभी आ सकता है, जब कि पृथक् व्यक्तित्व हो। किन्तु जब वही स्वयं अपनेको अनेक रूपमें संसारके चर्म-चक्षुओंका विषय बनाते हैं, तो यहाँ ऐसे भेद-भावकी असंगतता स्वयंसिद्ध है। उदाहरणरूपसे एक राजाकी ही लिया जाय। वह आवश्यकतानुसार अनेक रूप धारण करता है। कभी राजसभामें सिंहासन-पर विराजनेका राज्य-चिह्न-सहित शृंगार, कभी आखेटमें जानेका ठाट, तो कभी न्यायालयमें बैठकर काम करनेका स्वरूप, कभी एकान्त-भ्रमणकी दशा, कभी भोजनागारके वस्त्र, कभी शयनागारका सामान्य वेश, इत्यादि यथावसर अनेक रूप धारण करने पड़ते हैं। अब कहिये, उस राजाको एक भावसे देखा जावेगा, अथवा अन्य अवसरोंपर राज्य-चिह्न-सहित न होनेसे छोटे-बड़ेका प्रसंग आवेगा ? मेरे विचारमें तो सामान्य-से-सामान्य बुद्धि भी भाव-विपर्ययका निर्णय नहीं करेगी और यदि भाव-विपर्ययका राजाको निश्चय हो जाय तो जो परिणाम हो वह प्रकट है।

श्रीभगवान्‌का जो इसप्रकार अनेक रूपोंमें प्रकट होना है इसमें एक रूपकी प्रसिद्धतामें दूसरे रूपकी म्युलता देखना, छिद्रान्वेषण है। यदि प्रत्येक रूपके चरित्रकी अगाधतामें घुसा जाय तो कितने भी छिद्रान्वेषण किये जा सकते हैं। जैसे कुछ उदाहरण यहाँ ही लीजिये—

(१) श्रीभगवान्‌ रामचन्द्रजी महाराजने अनेक ऋषि-मुनियोंको दण्डवत्-प्रणाम किया, यज्ञादिमें देवताओंका पूजन किया है और श्रीनृसिंह भगवान्‌के सम्मुख तो ब्रह्मासे लेकर सब देवता धर-धर काँप रहे थे।

(२) श्रीभगवान्‌ रामचन्द्रजी महाराजकी सेवामें पुष्पक-विमान सदैव उपस्थित रहता था, किन्तु भगवान्‌ श्रीकृष्णचन्द्रजी महाराज तो जरासन्धके भयसे मथुराजी छोड़कर पैदल भागे थे।

(३) जिस समय श्रीभगवान्‌ कृष्णचन्द्रजी महाराज अर्जुनजीके साथ मृत बालकोंको लेने वैकुण्ठमें पधारे हैं वहाँ कोई अन्य भूमा पुरुष विराजमान थे, जिनकी दोनों-ने बन्धना की है।

(४) श्रीनृसिंह-अवतारमें एक बलौकिक रूप धारण किया गया किन्तु अन्य अवतारोंमें तो ऐसा नहीं हुआ, इत्यादि।

यदि खोज की जाय तो ऐसी-ऐसी अनेक बातें मिल सकती हैं जिनका यथार्थ आशय और मर्म समझे बिना कुछ भी अर्थ लगाया जा सकता है। वस्तुतः श्रीभगवान्‌के परमत्वमें गुल्ता-लघुताका कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। हाँ, इसमें यह तर्क अवश्य किया जा सकता है और यह सर्वथा सङ्गन है कि यदि श्रीभगवान्‌के रूपोंमें गुल्ता-लघुता नहीं है तो क्या सभी अवतार समान दृष्टिमें ही देखे जायेंगे और अवतार ही क्यों, समस्त सृष्टि भी तो उनका ही रूप है, क्या वह भी उसी दृष्टिमें देखी जायगी ?

शास्त्रों और महात्माओंके मतका अवलोकन करनेसे हमका उत्तर यही मिलेगा कि अवश्य सर्वोच्चभावसम्पन्न और तात्त्विक सिद्धान्त यही है कि सभी सृष्टिको अपने दृष्टदेव श्रीभगवान्‌का ही रूप देखे और अन्य सब नामोंको उनके ही नाम समझे। सर्वोत्तम ज्ञान, परमोत्कृष्ट भक्ति और यथार्थ उपासना इसीका नाम है। इन वचनोंपर ध्यान दिया जाय, यह उद्भवजीको श्रीभगवान्‌का अन्तिम उपदेश है—

अपनी हँसी करनेवाले स्वजनोंको, 'मैं अच्छा हूँ, वह बुरा है' इस देहदृष्टिको तथा लोकलजाको धोषकर कुत्ते, चाबडाल, गौ और गधेको भी दण्डवत्-प्रणाम करे। जब-तक समस्त प्राणियोंमें मेरी सत्ता न दीखे, तबतक उक्त प्रकारसे मन, वाणी और शरीरके सम्पूर्ण व्यापारोंद्वारा मेरी उपासना करता रहे। इसप्रकार आचरण करनेवाले पुरुषको सर्वत्र आत्मबुद्धि हो जानेसे सब कुछ ब्रह्ममय हो दीखता है। ऐसी दृष्टि हो जानेपर वह मारे संशयसे छूटकर सर्वथा उपराम हो जाय। मन, वाणी, शरीरकी सम्पूर्ण वृत्तियोंमें समस्त प्राणियोंमें मुझे ही देखे। मैं इसीको अपनी प्राप्तिका सर्वोत्तम साधन समझता हूँ।

(श्रीमद्भा० ११.१०९। १६-१९)

श्रीगीताजीका भी यह वचन इसी सिद्धान्तका ध्योतक है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।

गुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(५।१८)

इन वचनोंमें सिद्ध है कि ज्ञान, कर्म, उपासना आदि साधनोंके द्वारा जो सिद्धि प्राप्य है, वह यही श्रीभगवान्में तन्मयता है जिसमें चराचरमें उनको व्यापक देखा जाता है। यथा—'मैं' सेवक सचराचर रूपराशि भगवन्त' ऐसे उदाहरण त्रिकालदर्शी योगी तथा परम भागवत श्रीशुक मुनि, जनकजी, हनुमान्जी, प्रह्लादजी आदिके तो हैं ही किन्तु ब्रजरजको पाद-पद्म-परागमें पल करनेवाली गंधियोंमें भी यही तत्त्वनिता थी। श्रीगोस्वामी तुलसीदासजीके भी बालकाण्डके आरम्भके वन्दना-भागका यही रहस्य है जहाँ प्रथम ही साधु और उनके साथ लगे हुए ही खलोंकी वन्दना करके जगत्के सब भले-बुरेको 'सीय-राममय' जानकर वन्दना की गयी है। इस दशाको प्राप्त करना हँसी-खेल नहीं है। ऐसी दशाको प्राप्त करनेवालोंके नाम उदाहरणरूपमें प्राचीन कालमें चले आ रहे हैं। किन्तु इस कालमें तो ऐसी दशाका उपलब्ध होना असम्भव-सा ही प्रतीत होता है। प्राचीन समयमें भी कोई बिरले ही इस अपूर्वताको प्राप्त हो सके थे, अतः यह दृष्टि सर्वथा असामान्य है। सामान्य भावसे श्रीभगवान्को दो दृष्टियोंसे ही देखना युक्तियुक्त है, एक तो असाधिक मूर्त और अमूर्त रूप, जहाँ गुण-संसर्गके अभावमें कोई भिन्नता नहीं है और दूसरा मायिक जिसमें उनकी विशेष इच्छा होकर त्रिगुणोंकी विषमताद्वारा नाना रूपोंमें यह समस्त सृष्टि उत्पन्न होती है।

अब इन अवतारोंको किस दृष्टिमें देखना चाहिये, इसपर विचारकी आवश्यकता है। इस शब्दको जो बहुवचनमें प्रयुक्त किया गया है यह केवल प्रचलित व्यवहारके कारण लोक-बोवके लिये है, नहीं तो व्यक्तित्व भिन्न नहीं है। एक ही मूर्तरूप श्रीभगवान् स्वसंकल्प और आवश्यकतानुसार रूप धारण कर लेते हैं और उस रूपके अनुसार ही नाम पड़ जाते हैं, यदि किसीको श्री-भगवान्के किसी अवतारके जन्म-कर्मोंदिके कारण गुण-बद्धता भान होनेसे मायिक भाव दीखे तो भले ही वह उस अवतारको उस दृष्टिमें देखे अथवा कोई भक्त अपनी प्रेमविक्षलतामें अपने दृष्ट नाम-रूपको ही सर्वोच्च समझता हुआ उसके अतिरिक्त अन्य नाम-रूपोंको अपने हृदयमें वह स्थान न दे तो इसमें उसका दोष थोड़े ही है, क्योंकि यह तो अपनी-अपनी अज्ञा और भावनाकी बात है। यों गुणमयी सृष्टिमें भी तो चमत्कारोंका अभाव नहीं है और श्रीभगवान्की अनेक विभूतियाँ हैं जिनको उनके ही रूपमें देखा जाता है।

इस विवेचनपर एक बड़े महत्वकी यह तर्कणा उठती है कि यहाँ तो श्रीभगवान्की अनर्गल शक्तिवाले मूर्तरूपको असाधिक सिद्ध किया गया है, परन्तु श्रीगीताजीकी चतुर्थ अध्यायमें नीचे लिखे वचनके द्वारा उनका स्पष्ट भाषाके साथ आविर्भाव होना प्रकट है—

'अज्ञोऽपि सन्नव्ययत्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवत्यतममायया॥'

ऊपरसे देखनेमें अवश्य ऐसा ही भान होता है किन्तु इन शब्दोंमें बड़ा रहस्य भरा हुआ है। प्रथम शब्दार्थपर विचार किया जाय। सरल रीतिपर तो इन शब्दोंका यही अर्थ हो सकता है 'मैं जन्मविरहित बिना व्यय (विकार) आत्मावाला प्राणियोंका स्वामी होता हुआ भी अपने स्वभावको आश्रित करके (अर्थात् मूर्त, अमूर्त 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' 'अस्थूलमनणुः' इत्यादि विजगन्नाशक्तिनामचिन्तनः) अपनी मायाके साथ आविर्भूत हुआ करता हूँ।' 'मायया' शब्दका अर्थ कई प्रकारसे हुआ है, किसीने प्रकृति, किसीने ज्ञान, किसीने बल-वीर्यादि शक्ति इत्यादि किया है, किन्तु ऐसा करनेमें जो दूसरा शब्द 'प्रकृति' आया है उसकी संगति नहीं बैठती। एक द्वितीयान्त है, दूसरा तृतीयान्त है और दोनों एक ही आशयमें लिखे जायें तो पुनरुक्ति होती है। हाँ,

होनेंकी सज्जति बैठते हुए यह अर्थ तो हो सकता है कि प्रकृतिको अधिष्ठान करके उसके विकार मायाके द्वारा प्रकट होते हैं अर्थात् इस सृष्टिकी भाँति प्रकृति-नियमानुसार गुणोंके विकारद्वारा ही जन्म लेते हैं, किन्तु प्रथम तो जिस रूपमें श्रीभगवान्का आविर्भाव हुआ है वह प्रकृतिके सर्वथा अतीत था, वे तो तत्काल चतुर्भुजरूपमें आवरल हटाकर चर्म-चक्षुओंके विषय बन गये, इससे बेसा अर्थ करना प्रत्यक्ष यथार्थ कथाके विरुद्ध कहना है। दूसरे जब यह सिद्ध हो चुका कि भगवान्का रूप स्वतन्त्र और निर्विकार है और त्रिगुणमयी मायाका विकास केवल उनकी इच्छासे होता है तो मायाके द्वारा श्रीभगवान्का जन्म होना प्रकट करना वास्तवमें असम्भन है। अतः वही अर्थ सज्जत है कि श्रीभगवान् प्रकृतिको, जिसे उनका स्वभाव शक्ति कुछ भी कहा जाय, धपने अधीन करके मायाके साथ प्रकट होते हैं, यहाँ यदि मायाका आशय गुणविषमता-पूर्वक प्रकृतिका विकार लिया जाय तो सज्जत नहीं हो सकता, क्योंकि जब स्वयं प्रकृति ही उनके अधीन है तो माया जो उसका अंश है कैसे प्रबल हो सकती है? इस-लिये इन सब बाधाओंको ध्यानमें लाते हुए 'माया' शब्द-का यथार्थरूपसे यही आशय किया जा सकता है कि श्रीभगवान् जिसप्रकार स्वयं चर्म-चक्षुओंके विषय बनते हैं, वैसे ही अपनी मायाको भी सावयवरूपमें चर्म-चक्षुका विषय बना लेते हैं जो वस्तुतः उसी परम तत्त्वका मूर्त-रूप है। यहाँ यह योग-माया जो श्रीभगवान्के साथ आविर्भूत होती है, त्रिगुणमयी माया नहीं है किन्तु यह दिव्य अमायिक रूप है अर्थात् यह अमायिक माया है। वास्तवमें भगवत्-रहस्यकी यही तो विलक्षणता है, इसपर गुलसीकृत रामायणजीका वचन भी विचारणीय है—

आदि सृष्टि जिहि जग उषजाया। सो अवतरहि मोर यह माया ॥

इस योग-माया अथवा महामायाको रामायणतारमें श्रीजानकीमाता कहा जाता है और श्रीकृष्णावतारमें

श्रीराधिकामाता अथवा श्रीलक्ष्मणीमाता या सत्यभामा-माता इत्यादि अष्ट पटरानियाँ और इतनी ही क्यों, सब-की-सब सोलह सहस्र एक सौ आठ ही क्यों न समझी जावें और इनके अतिरिक्त श्रीरामायणतारमें श्रीभरतजी महाराज, श्रीलक्ष्मणजी महाराज और श्रीशत्रुघ्नजी महाराज एवं श्रीकृष्णावतारमें श्रीवल्लभजी महाराजका भी इसी तत्त्वमें ग्रहण क्यों न किया जाय? जबकि एक प्रसिद्ध उदाहरण श्रीब्रह्माजीके बछड़े-ग्वालयाल चुरानेकी लीलाका मूर्तिमान् आँखोंके सम्मुख नृत्य कर रहा है, जहाँ अनेक चतुर्भुज-रूपोंका दर्शन कराया गया तो फिर इस उपर्युक्त निर्णयमें क्या प्रतिबन्धकता हो सकती है?

यदि श्रीभगवान्को उपर्युक्त श्रीगीताजीके वचनका ऐसा आशय अभिमत न होता तो एक ही वचनमें 'प्रकृति' वा 'माया' शब्दोंके प्रयोगका विभिन्न विभक्तियोंसहित कोई प्रयोजन नहीं दीखता, जब सामान्यरूपसे प्रकृति और माया दोनों शब्द एक प्रकारसे पर्यायवाची ही समझे जाते हैं।

इस विचाररूपी सागरमें जितनी-जितनी डुबकी लगायी, उतने-उतने ही रहस्यरूपी गुप्त रत्न मिले, जिनपर इतनी आयु व्यतीत होनेपर भी अबतक दृष्टि नहीं गयी थी और तत्काल ऐसी उल्लसनोंका समाधान समझमें न आनेसे चित्तमें एक प्रकारसे अशान्ति हो जाती थी किन्तु इसकी समाप्तिपर अब बड़ी शान्तिका अनुभव हुआ है। वास्तवमें पक्षपातको हृदयमें निकालकर श्रीभगवान्की गरण-ग्रहणपूर्वक प्रकृति की जाय तो स्वतः ही मार्ग-दर्शिता होती जली जाती है। लेख-पंक्तियाँ चित्त लुप्ताने-वाली नहीं हैं किन्तु यदि इस निर्णयमें श्रीभगवत्-चरणारविन्दमें सग्य अनुरागपूर्वक किसीके भी हृदयमें बिरोधका अंकुर निकल जायगा तो मैं अपनेको धन्य मानूँगा ?

हरिः ॐ तरसत्

—०—०—०—०—०—

जिन हरि-कथा सुनी नहिं काना। श्रवणरन्ध्र अहिभवन समाना ॥

जिन हरि-भक्ति हृदय नहिं आनी। जोवत शव-समान ते प्राणी ॥

जे नहिं करहिं राम-गुण-गाना। जोह सो दादुर-जीह समाना ॥

कुलिस कठोर निदुर सोइ छाती। सुनि हरि-चरित न जो हर्षाती ॥



ईश्वर तर्क-सिद्ध है

(लेखक—आचार्यभक्त पं० आदिष्णु वामन वापट शास्त्री)

मायां तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु मेहेद्वरम् । तस्यावयवभूतेस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥

(श्लो० ४ । १०)



रत्नपुरके 'कल्याण' मासिक-पत्रके ईश्वर-भक्त सञ्जालकोंने सातवें वर्षके प्रवेश-भंकेमें ईश्वरकी सत्ताका समर्थन करनेवाले विविध प्रकारके लेखों, कविताओं, चित्रों आदिके प्रकाशित करनेका निश्चय किया है । भारतवर्षकी वर्तमान स्थिति, शिक्षण-पद्धति, तथा समयानुसार सामान्य जनताकी प्रकृतिको देखकर इसप्रकारके लेखादिका प्रकाशित करना बहुत ही आवश्यक जान पड़ता है । भारतवर्षमें सृष्टिके आरम्भ—सत्ययुगमें राजस और तामस स्वभाववाली प्रजाका अत्यन्त अभाव था ऐसा शास्त्र-प्रमाणोंमें नहीं कहा जा सकता; क्योंकि स्वयं श्रीभगवान्ने कहा है कि—

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।
सर्वे प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥

(गीता)

अर्थात् पृथ्वी अथवा देवताओंके लोकोंमें भी ऐसा प्राणी प्राप्त नहीं हो सकता जो सर्व, राज तथा तम प्रकृति तीनों प्राकृतिक गुणोंमें मुक्त हो । तथापि सत्ययुगके अत्यन्त प्रारम्भमें आचार्य एवं ऋषि-मुनियोंकी प्रधानता तथा उनकी अधिकता थी, इसमें संशय नहीं । राजस और तामस प्रकृतिके मनुष्य भी उस समय थे, पर सार्विक भावों और सार्विक वृत्तिके पुरुषोंकी उस समय अधिकता थी । उस समय ऋषि-मुनियोंने ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें जो भाव जनताको सिखाये, वे ही आजपर्यन्त चले आ रहे हैं, यद्यपि उनमें दिन-प्रतिदिन कमी होती जा रही है, तथापि प्रलयकाल-तक वे, अंशतः ही क्यों न हो, टिके रहेंगे, इसमें संशय नहीं । प्राचीनकालमें भारतवर्षके वैदिक लोगोंमें ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें किसीको कोई विशेष संशय न था परन्तु सार्विक जनता तथा सार्विक युगका जैसे-जैसे उत्तरोत्तर लय होता गया और राजसी एवं तामसी जनता तथा युगका उत्कर्ष होता गया, वैसे-ही-वैसे ईश्वरकी सत्ता, पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, विहित और अविहित कर्मोंका जन्मान्तरमें अवश्य प्राप्त होनेवाला फल आदिके विषयमें विविध झंकाणें तथा उन

शंकाओंके समाधान करनेवाले विविध पन्थ उत्पन्न होने लगे । वर्तमान कलियुगमें इसी क्रमसे उत्पन्न हुए अनेक वाद और पन्थ हमारे देखनेमें आते हैं । इसका कारण यही है कि वेद-सम्प्रदाय-प्रवर्तक ऋषि, मुनि आचार्योंके वचनोंपर लोगोंका विश्वास नहीं रहा और वे कामाचारी, कामवादी और काम-भक्ष हो गये । आजकल नास्तिकोंके जो अनेक वाद उत्पन्न हुए हैं, उनमें 'ईश्वरकी सत्ताका मानना अज्ञान है, वह वस्तुतः है नहीं; यह जगत् स्वतः उत्पन्न होकर यह-छासे चल रहा है, इसका नियामक कोई नहीं है, यह सब प्रकृतिका ही परिणाम है, भोलेभाले भारतीय वैदिक धर्मानुयायी पुरुष ईश्वरके दिखलायी न देनेपर, तथा किसीको भी उसकी प्रतीति न होनेपर, एवं उसके अस्तित्वके विषयमें कोई प्रमाण न होनेपर भी, उसकी सत्ता मानते हैं तथा उसकी प्रसन्नताके लिये काल, शक्ति और द्रव्य इत्यादिका व्यर्थ व्यर्थ करते हैं । इससे भारतवर्षकी अत्यन्त हानि हुई है । ईश्वरका अस्तित्व मानना अज्ञानसूचक है । अपने भोले-भाले देशवासियोंके इस अज्ञानको दूर किये बिना भारतकी उन्नति नहीं हो सकती ।' इत्यादि बातें प्रधानतया कही जाती हैं । इसलिये 'कल्याण' के सञ्जालकोंने विविध उपायोंद्वारा इस प्रवेशाङ्कमें ईश्वरकी सिद्धिके प्रयत्न करनेका विचार किया है । उसमेंसे 'ईश्वर तर्कसे सिद्ध है' इस विषयको हम सार्विक जनताको समझानेका यथामति प्रयत्न इस लेखमें करेंगे, विद्वानोंको इसपर उचित विचार करना चाहिये ।

श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणोंसे सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान्, सर्वोत्तम ईश्वर सिद्ध होता है । योगशास्त्र और न्यायशास्त्र भी ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं । इनके अतिरिक्त अन्य शास्त्र और पुरुष-प्रणीत मत ईश्वरके अस्तित्वको नहीं मानते । गीताके उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीताके १६ वें अध्यायके—

अस्त्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।

अपरस्पर्शं समूतं किमन्यत्कामहेतुकम् ॥

—इस श्लोकमें नास्तिकोंके कथनका सुन्दर वर्णन है । प्राचीन या अर्वाचीन सभी नास्तिक इसीका

करते हैं। वे इससे भिन्न कोई नवीन बात कहते हैं, सी नहीं। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि यह मत शास्त्रज्ञोंको अपरिचित तथा विलक्षण है। और यह भी नहीं है कि इनका उत्तर प्राचीन ऋषि, मुनि और आचार्यों ने नहीं दिया है। नास्तिकोंके कथन आरम्भमें आपातरमणीय जान पड़ते हैं, तथा साधारण लोगोंको अनुकूल जँचते हैं। परन्तु वेदशास्त्रज्ञोंको वे युक्तियुक्त नहीं जान पड़ते तथा भगवान् श्रीकृष्णकी इस उक्तिके अनुसार—

प्रमत्तयुक्तर्मणः क्षयाय जगताऽहिताः ।

वे उग्रकर्मा लोग जगत्के नाशके लिये ही उत्पन्न हुए-से जान पड़ते हैं। इसलिये जिस समय उन लोगोंके नास्तिक मतका जोरोंसे प्रचार होने लगे, उस समय ध्रुत्यादि प्रमाणोंद्वारा ईश्वरकी सिद्धि होनेपर भी श्रुतिसम्मत तर्कों-द्वारा ईश्वरकी सिद्धि होती है, हमें यथामति बतलाना और ईश्वरके अस्तित्वका साधारण जनतामें विश्वास उत्पन्न करना विद्वानोंका कर्तव्य है। इसलिये इस लेखमें हम प्राचीन वेदज्ञों और शास्त्रज्ञोंके कथनोंका ही अनुवाद करते हैं और वह ईश्वर-सिद्धि अप्रतिष्ठित तर्कोंद्वारा न करके प्राचीन वैदिकोंका अनुसरण करते हुए श्रुतिसम्मत तर्कोंद्वारा ही करते हैं। क्योंकि भगवान् व्यासदेवने अपने ब्रह्मसूत्रोंमें कहा है कि ईश्वरके विषयमें केवल तर्क अप्रतिष्ठित होता है, परन्तु श्रुतिसम्मत तर्क अप्रतिष्ठित नहीं होता, इसलिये उनका अनुसरण करते हुए हम इस लेखमें श्रुतिसम्मत तर्कका ही अवलम्बन करेंगे।

न्याय-शास्त्रमें ईश्वरास्तित्वका विचार स्वतन्त्र तर्कद्वारा भी किया गया है। न्यायकुसुमाञ्जलिके लेखकने तो इसका विशेष विचार किया है। परन्तु जगद्गुरु श्री १०८ आद्यशङ्कराचार्य आदि वैदिकोंने श्रुतिसम्मत तर्कका ही अवलम्बन किया है; अतः हम भी उन्हींका अनुसरण करते हैं। चार्वाक आदि नास्तिक कहते हैं कि 'ईश्वर नहीं है, उसकी सत्ता तर्क-सिद्ध नहीं होती, वह कभी किसीको दिखलायी नहीं देता तथा उसका दिखलायी देना सम्भव भी नहीं है।' इसपर वैदिक-सिद्धान्तानुयायी कहते हैं कि सर्वज्ञ ईश्वरके प्रयत्नके द्वारा ही इस विचित्र जगत्का होना सम्भव है। क्योंकि गृह, प्रासाद, रथ इत्यादिके समान जगत्का विलक्षण कार्यत्व है। बिना चेतनके प्रयत्नके इस-प्रकारका विलक्षण कार्य नहीं हो सकता। इसप्रकारका अनुमान वैदिक लोगोंने नित्य आत्माके अनुसार ही ईश्वरके

विषयमें किया है। इसमें जगत् 'पञ्च' है; वह सर्वज्ञ प्रयत्न-पूर्वक है, यह 'साध्य' है; और उस जगत्का विचित्र कार्यत्व है, यह 'हेतु' है। जो-जो कार्य होता है वह कर्तृ-प्रयत्नपूर्वक होता है अर्थात् वह कर्ताके प्रयत्नोंसे ही उत्पन्न होता है, ऐसी 'व्याप्ति' है। गृह, प्रासाद आदि 'कार्य' हैं। वे कर्ताके प्रयत्नोंसे ही उत्पन्न हुए हैं। पक्षान्तरमें, आत्मा कार्य नहीं है, क्योंकि वह कभी उत्पन्न नहीं होता—'अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो' इस श्रुति-स्मृति-वाक्यमें यही बात कही गयी है। यही कारण है कि आत्माको कर्ताके प्रयत्नोंकी अपेक्षा नहीं है। जब सामान्य घट-पट आदि कार्योंके लिये भी जिन्हें हम प्रत्यक्ष देखते हैं, कर्ताके प्रयत्नोंकी आवश्यकता होती है, तो जगत्के समान अत्यन्त विशिष्ट कार्यके लिये तो अवश्य ही उसकी आवश्यकता होनी चाहिये।

जो वस्तु पूर्वक्षणमें प्रकट न होकर उत्तरक्षणमें प्रकट होती है उसे 'कार्य' कहते हैं। केवल तार्किक कहते हैं कि 'कार्य' प्रागभावका प्रतियोगी होता है। परन्तु अभावसे आव-की उत्पत्ति सम्भव न होनेके कारण वैदिक सिद्धान्तवादी नैयायिकोंके इस मतको स्वीकार नहीं करते। 'कथमसतः सजायेत' अर्थात् अभावसे भावरूप जगत् कैसे उत्पन्न हो सकता है? इसप्रकार असंकारणवादपर आक्षेप करते हुए छान्दोग्यके छठे अध्यायमें श्रुतिने 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' अर्थात् हे सौम्य! पहले यह सत् ही था इसप्रकार-का सिद्धान्त निश्चित किया है। श्रीभगवान् ने भी गीतामें कहा है कि 'नामतो विद्यते भावो।' अर्थात् जो पूर्वक्षणमें नहीं है उसका उत्तरक्षणमें उत्पन्न होना युक्त नहीं। पूर्व-क्षणमें वर्तमान मृत्तिकाके ही घटादि कार्यका आकार लेने-पर घटकी उत्पत्ति होती है। और वह कर्ताके प्रयत्नसे होती है, इसमें कुछ भी संशय नहीं। यहाँ यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि पाणिनि-पठित मूलधानु 'जनी प्रादुर्भावे' से ही जन्म, उत्पन्न शब्द निष्पन्न होता है।

जब सामान्य कार्य भी कर्ताके प्रयत्नके बिना प्रादुर्भूत नहीं होता, तब जगत्के समान विलक्षण कार्य कर्ताके प्रयत्नके बिना ही उत्पन्न हो, यह विष्कूल ही सम्भव नहीं। जगत्की विलक्षणता साधारण नहीं है। उसमें देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पितर, पिशाच इत्यादि अष्ट प्राणियोंका विचार यदि न किया जाय तो भी दृष्ट होनेवाले इस भू-लोकको हम मनुष्य पशु, पक्षी इत्यादि बीटीपर्यन्त चर-जीव और वृक्ष-लता प्रभृति स्थावर-प्रास्थियोंसे पूर्ण पाते हैं।

इनमें प्रत्येक प्राणियोंमें जातिगत विकृतिगता भी है, स्वर्गादि ऊर्ध्वलोक और अतल आदि अधोलोकोंको अरु होनेके कारण यदि छोड़ दिया जाय, तथा कोई आकार नहीं होनेके कारण आकाशका भी विचार न किया जाय तो भी पृथ्वी और उसके आश्रयसे स्थित ससुद्र, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र इत्यादिमें तो यह विचित्रता है ही। अन्य लोकके प्राणियोंका विचार छोड़ भी दें तो भूलोकमें ही जलधर और यज्ञधर नाना प्रकारके प्राणियोंके उपभोगके योग्य स्थान तथा उनके उपभोगके साधन भरे हुए हैं, इसमें प्रतिभूत असंख्य प्राणियोंका आविर्भाव और तिरोभाव होता है। अनेक प्राणी दुःख-सुख आदि विचित्र अनुभव प्राप्त करते हैं। इन्हें अत्यन्त कुशल शिल्पी—कारीगर भी कभी निर्माण नहीं कर सकते। ये देश-काल-निमित्तके अनुरूप नियत प्रवृत्ति और निवृत्तिसे युक्त हैं। तब यह कहना कैसे उचित हो सकता है कि ऐसा विचित्र जगत् कर्ताके बिना ही हुआ है। फिर जिस कर्ताके द्वारा इस जगत्की सृष्टि हुई है वह सामान्य है यह भी नहीं कहा जा सकता। अतः जगत्के भोक्ता जीव और उनके कर्मोंके विभागको साक्षात् जाननेवाला कोई चेतन अवश्य होना चाहिये और उसीके प्रयत्नसे इस जगत्का आविर्भाव भी होना चाहिये। इसके बिना इस विचित्र जगत्की उत्पत्ति सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त, इस आविर्भूत जगत्में प्रतिभूत वस्तुओंकी उत्पत्ति और नाश होता रहता है, यह अनुभवकी बात है। और वह भी निश्चय कर्ताके अभावमें सम्भव नहीं हो सकता।

इसपर कोई कहे कि 'जगत् एक विचित्र कार्य है' इसमें संशय नहीं, परन्तु आपके कथनानुसार वह जगत् 'भोक्ता जीव और कर्मके विभागके जाननेवाले चेतनके प्रयत्नद्वारा होता है' यह हमें स्वीकार नहीं; 'कर्म-वैचित्र्यके कारण ही जगत्का वैचित्र्य सम्भव है।' यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि कर्म तो कर्ताके अधीन होता है, इस कारण वह जगत्की उत्पत्तिका केवल निमित्त हो सकता है, परन्तु स्वतन्त्ररूपसे निमित्त नहीं हो सकता। इस विषयमें शास्त्रकार पूर्व-सीमांसक भी कहते हैं कि, 'प्राणियोंके उपभोग-वैचित्र्य, उपभोगोंके साधनोंका वैचित्र्य, देश-काल-निमित्तानुरूप नियत प्रवृत्ति-निवृत्ति-क्रम इत्यादि निश्चय, सर्वज्ञ, ईश्वर-कर्तृक नहीं हैं, वे सब तो कर्मोंके द्वारा ही होते हैं। क्योंकि कर्मका प्रभाव अविच्यव्य है। और सब शास्त्रकार तथा लौकिक विचारवान् भी कर्मको ही फलका हेतु मानते हैं।

अर्थात् यदि कर्ममें ही फलहेतुत्व है तो उसके लिये ईश्वरकी अधिक कल्पना करनेकी आवश्यकता ही क्या है? सांख्य-शास्त्र भी कहते हैं कि 'कर्मका फल-स्वरूप यह जगत् रूप कार्य यदि कर्मसे ही उत्पन्न हो सकता है तो इसके लिये अधिक ईश्वरकी वृथा कल्पना करनेका प्रयोजन ही क्या है?'

कुछ लौकिकवादी और शास्त्रज्ञोंका यद्यपि ऐसा मत है तथापि यह युक्त नहीं। 'केवल कर्मसे ही उपभोग-वैचित्र्यकी उत्पत्ति प्राप्त होती है क्योंकि कर्म कर्ताके अधीन होता है। चेतन जीवके प्रयत्नसे कर्म होता है और उसके प्रयत्नके उपरत होते ही कर्म भी उपरत हो जाता है तथा देशान्तर और कालान्तरमें नियत-विशेष निमित्तकी अपेक्षा न करते हुए भी कर्ताको फल देता है। और यदि यह आग्रह हो कि कर्मको दूसरे प्रवर्तककी भी आवश्यकता है तो कर्ता जीवको ही उसका प्रेरक माना जा सकता है।' यह कथन भी युक्त नहीं। क्योंकि कर्म जब है और कर्ता भी देश, काल, निमित्त इत्यादि विशेषणोंका ज्ञाता नहीं है। यदि वह देशादि विशेषणोंका ज्ञाता होकर स्वतन्त्ररूपसे कर्मको फल देनेकी प्रेरणा करता तो वह अनिष्ट फलकी प्रेरणा कभी नहीं करता। इससे जीवको दुःख भोगनेका प्रसंग ही न आता। परन्तु अनुभवमें तो यही आता है कि जीव अनिष्ट फलरूप दुःखको सदा अनिच्छासे ही भोगता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि कर्ता ही कर्मको फल देनेकी प्रेरणा करनेवाला है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि कर्म किसीकी प्रेरणाके बिना ही कर्ताको फल देता है। क्योंकि कर्म बिना किसी निमित्तके फलरूपमें परिणत होनेमें समर्थ नहीं होता। इसके अतिरिक्त, जीवको एक जन्ममें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका स्मरण जन्मान्तरमें नहीं होता। तब वह स्वतः पूर्वजन्मके कर्मोंको प्रेरित कैसे कर सकता है?

सुगत-मतानुयायी बौद्ध क्षणिक विज्ञानको ही तत्त्व मानते हैं और उसीको आत्माका स्वरूप मानते हैं। तब उनके पक्षमें ही क्षणिक विज्ञानरूप आत्मासे किया हुआ कर्म कालान्तरमें विद्यमान न रहनेवाले कर्ताको अपना फल कैसे दे सकता है? इसके अतिरिक्त, 'सर्व क्षणिकम्' ऐसा उनका सिद्धान्त होनेके कारण कर्म भी दीर्घकालतक कैसे रह सकने हैं? यदि यह मानें कि वह फल देनेपरान्त सूक्ष्म भूतोंके आश्रयसे रहता है तो यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि भूत ही कर्मके साधन हैं। कर्ता जिस समय कर्म

करता है उस समय यद्यपि वह व्यापार करते हैं, तथापि कर्मकी समाप्ति होनेपर तो कर्ता उनका त्याग कर देता है। इससे वे कालान्तरमें फलके प्रेरक नहीं हो सकते। इसके सिवा कर्मानुसार वे साधनरूप भूत भी अचेतन (जब) होते हैं। और यह प्रसिद्ध है कि किसी भी अचेतन-की प्रवृत्ति चेतनकी सहायता बिना नहीं होती।

यदि कोई कहे कि अचेतन-वायुके अनुसार उसकी प्रवृत्ति होती है, तो वायु भी जब है और वैदिक सिद्धान्ता-नुसार यह नहीं मानते कि जबकी प्रवृत्ति चेतनकी सहायता-के बिना हो सकती है। क्योंकि अचेतन रथ, पाषाणादिकी प्रवृत्ति चेतनकी सहायताके बिना हो, ऐसा कभी अनुभवमें नहीं आता। इसके विपरीत, चेतनकी सहायतासे ही उनकी प्रवृत्ति होती है, यह बात अनुभव-सिद्ध है।

यह तो अवैदिकोंका सिद्धान्त है, परन्तु वेदोंको नित्य प्रमाण माननेवाले मीमांसक भी जब 'स्वर्गकामो यजेत' आदि शास्त्रकर्म करनेको कहते हैं तो उससे यही प्रतीत होता है कि शास्त्रीय कर्मोंसे ही कर्ताको फलकी प्राप्ति होती है। वेदोंक कर्मोंका ज्ञान प्रमायमृत वेदोंसे होनेके कारण, वह ध्येय होंगे अथवा अपना फल बिना दिये ही मिलीन हो जायेंगे, यह नहीं कहा जा सकता। अर्थात् ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें दूसरा कोई प्रमाण न होनेके कारण उसे मानना ध्येय ही है। यद्यपि उसके अस्तित्वके विषयमें कुछ श्रुतियाँ मिलती हैं, तथापि वे अर्थवाद होनेके कारण ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें प्रमाण नहीं हो सकती।

पाठकगण ! मैंने यहाँतक ईश्वरके अस्तित्वके न मानने-वाले लौकिक और शास्त्रज्ञवादियोंके कथनका संक्षेपमें अनुवाद किया है। अद्वैत वेदान्तशास्त्रमें इसप्रकारके मतोंका सविस्तर अनुवाद करके श्रुति और तर्कसे भी उनका निराकरण किया गया है, ऐसा अनेक ग्रन्थोंमें देखा जा सकता है। उन सबका यहाँ विस्तार करनेसे लेख बहुत बढ़ जायगा। इसलिये उपर नास्तिकोंके मतका जैसे संक्षेप-में अनुवाद किया गया है वैसे ही आस्तिकोंके कथनका भी संक्षेपमें अनुवाद करना आवश्यक है।

कर्ताको उसके शुभाशुभ कर्मोंका फल देनेवाला ईश्वर है, यह बात इष्टन्यायके विरुद्ध नहीं है। क्रिया दो प्रकार-की होती है—इष्टफला और अष्टफला। इष्टफला-क्रिया भी दो प्रकारकी है—अनन्तरफला और आगामिफला।

गति, भोजन प्रभृति क्रियाको अनन्तरफला कहते हैं क्योंकि गमनक्रियाके करते ही गन्तव्य प्राप्तिरूप फल मिलता है तथा भोजनक्रियाके करते ही तत्क्षण पृथिरूप फल मिलता है। इसलिये क्रियाके करनेके साथ ही कर्ताको जिस क्रियाका फल मिलता है वह इष्टफला-क्रिया कहलाती है। परन्तु कृषि, सेवा इत्यादि क्रिया कालान्तरफला अर्थात् दीर्घकालमें फल देनेवाली होती है।

इन दो प्रकारकी क्रियाओंमें अनन्तरफला-क्रिया फलवशके होते ही नाराको प्राप्त होती है। उसके क्रिये दूसरे फलदाताकी अपेक्षा नहीं होती। परन्तु दूसरी कालान्तर-फला-क्रिया उत्पन्न होकर फल न देनेके पहले ही नष्ट हो जाती है। उसका फल कालान्तरमें मिलता है अर्थात् वह कालान्तरमें फलदाताकी अपेक्षा करती है। कृषि, सेवा आदिका फल स्वामीके अधीन होता है। कर्मके फलके विषयमें वह दोनों इष्ट न्याय हैं, इनका त्याग करना ठीक नहीं। विहित शुभ कर्मके शान्त होनेपर मेघ्य स्वामीके अनुसार कर्ता, कर्म और फलका विभाग जाननेवाले और इन विहित शुभ कर्मोंके अनुरूप योग्य कालमें योग्य फल देनेवाले नित्य-चेतन ईश्वरका होना आवश्यक है। वह नित्य ईश्वर ही सबका आत्मा है। वह सर्व क्रिया, फल और प्रत्ययोंका साक्षी, नित्य विज्ञानस्वरूप, समन्त सांसारिक धर्मोंसे अमृष्ट है, ऐसा ही मानना पड़ता है।

जगत् कार्य है। जो पहले उद्भूत नहीं होता, पीछे जिसका आविर्भाव होता है, वही कार्यका लक्षण है। कार्यके लिये कर्ता तथा उसके बीजरूप उपादान-कारणका होना आवश्यक है। कर्ताके प्रयत्नके बिना बीजरूप उपादान-कारणकी अमिव्यक्ति नहीं होती, इत्यादि कार्यमात्रके सामान्य नियम उपर्युक्त वर्णनद्वारा पाठकोंके ध्यानमें आ जायेंगे। जगत् एकरूप कार्य नहीं है, यह विचित्र कार्य है। इसमें असंख्य कर्ता और भोक्ताओंका अन्तर्भाव होता है। जो कर्ता है, वही भोक्ता है। पूर्वजन्त कर्मोंके फलका अनुभव प्राप्त करना ही भोक्तृत्व है, परन्तु भोक्ता जीवोंको मिलनेवाले फल बहुधा आगामी होते हैं, उन्हें उचित देय, उचित काक और उचित मिमिसे प्राप्त होनेके लिये ज्ञाता ईश्वरकी आवश्यकता है, क्योंकि कर्म और उसके फलके जाननेवाले द्रष्टाके बिना ऐसा सम्भव नहीं। इससे ईश्वरके फल-दातृत्वकी सिद्धि होती है। जगत् ही फल है, परन्तु वह भोक्तामात्रके पूर्व शुभाशुभ कर्मोंका फल होनेके

कारण कर्मफलके बिनागो जानेवाले ईश्वरको उसका कर्तृत्व सिद्ध है, तथा उसीमें जगत्के अनन्त जीवोंको उनके पूर्वकर्मानुसार फलदातृत्व है, यह कहना पड़ता है। परन्तु सेव्य-स्वामी अथवा राजाके अनुसार ईश्वरका फलदातृत्व माननेपर तो लौकिक फलदाताओंके अनुसार ही ईश्वर भी राज-द्वेष-युक्त हो जायगा और अनुप्राण जीवोंमेंसे किसीपर अनुग्रह करेगा तथा किसीका निग्रह करेगा, किन्तु यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर फलदाता होते हुए भी समस्त क्रियाओं, कर्तों तथा प्रत्ययोंका साक्षी है। राजा आदिके समान वह अप्रयत्न नहीं, इससे किसी भी भोक्ताके विषयमें उसको विपरीत ज्ञान होना सम्भव ही नहीं है। स्वामी, राजा इत्यादि फलदाताओंसे उनके असर्वज्ञ होनेके कारण सेवक आदिको कदाचित् अयोग्य फल मिलना जिसप्रकार सम्भव है, उसी प्रकारका फलदातृत्व सर्वज्ञ ईश्वरको है, यह नहीं माना जा सकता। क्योंकि 'किसने, कब, कौन-सा काम किया है और उस कर्मके अनुसार कौन-सा फल, कब और कहाँ देना चाहिये' इसका ईश्वरको यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिये उसके फलमें गत्यन्तरकी सम्भावना ही नहीं है, सबका आत्मा होनेके कारण ईश्वरका व्यावहारिक साक्षित्व भी सिद्ध है और वह बुद्धित्व कल्पित जीवोंसे भिन्न होनेके कारण सांसारिक धर्मोंसे युक्त नहीं होता। इसलिये प्रत्येक कर्ता जीवको शुभाशुभ कर्मोंके आगामी फलको देनेवाले किसी बिनागज्ञ ज्ञाताकी आवश्यकता है, उसके बिना जीवोंको उचित कालमें, उचित देशमें, उचित फलकी प्राप्ति सम्भव नहीं। कर्म तत्काल नष्ट हो जाते हैं। शरीरादिकी चेष्टाके रूकते ही कर्म भी रूक जाते हैं, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। परन्तु उसके फल दीर्घकालमें, तथा जन्मान्तरमें भी प्राप्त होते हैं और ऐसा उन कर्मोंके साक्षी फलदाताके बिना नहीं हो सकता।

इसी प्रकार उक्त फलदाता ईश्वरके अनित्य होनेसे भी काम न चलेगा, हम देखते हैं कि सृष्टिके जीव प्रत्येक क्षण विचित्र अनुभव करते हैं। जीवोंकी अनन्तता, जातियोंकी असंख्यता तथा प्रत्येक चराचर प्राणीके भोगोंकी विचित्रताका विचार करनेसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और सर्वसाक्षी ईश्वरकी कल्पना आवश्यक हो जाती है, इसे नास्तिकोंको भी मानना पड़ेगा। उसके बिना प्रत्येक प्राणीकी उत्पत्ति, नाश, सुख-दुःख इत्यादि उपपन्न नहीं होते।

उचित समयपर आविर्भूत होकर उचित समयपर तिरोभूत होनेवाला जगत् अनादि और अनन्त है। उपादान कारणके बिना कार्यकी उत्पत्ति सम्भव न होनेके कारण उसको सादि नहीं कहा जा सकता और तिरोभूत होनेसे अर्थात् अपने कारणमें छीन हो जानेसे उसका अन्त हो जाता है, इसलिये वह सान्त है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। यदि उसका निर्वाज नाश हो जाता तो पुनः उसका आविर्भाव सम्भव न होता। परन्तु प्रत्येक कल्पके आरम्भमें उसका आविर्भाव होता है, इससे उसको सान्त न कहकर उसका तिरोभाव होना ही मानना चाहिये। किसी भी कार्यके नाशका अर्थ है उसका अपने उपादानमें तिरोभाव होना। तिरोभावको लय भी कहते हैं, परन्तु लयका अर्थ अत्यन्तभाव नहीं है। ऐसे आविर्भाव या तिरोभावका कोई भी साक्षी द्रष्टा अवश्य होना चाहिये। उसके बिना उनकी सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु वह द्रष्टा कोई अचेतन अथवा शरीर-इन्द्रिय-सम्पन्न जीव नहीं हो सकता। क्योंकि अचेतनको द्रष्टृत्व नहीं और शरीरेन्द्रियवान्को नित्यत्व नहीं होता। इसलिये चेतन आत्मा ही उसका द्रष्टा है और वही सत्य ईश्वर है। वह जन्म-मरण-रहित होनेके कारण नित्य है। नित्य होनेके कारण ही प्रपञ्चरूप कार्यके अनन्त आविर्भाव और तिरोभावको देख सकता है। वह प्रत्येक शरीरमें साक्षी अन्तर्यामीरूपसे रहकर जीवोंके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंको और उन कर्मोंके शुभाशुभ फल तथा भोगोंको भी देख सकता है तथा तदनुसार लौकिक म्वासीके समान प्रत्येक जीवको उचित देश और उचित कालमें उचित विचित्र फलोंको दे सकता है।

आत्मा ही परमात्मा है। वह चेतन है। इससे ज्ञान ही उसका स्वरूप है। वह सूर्यके प्रकाशके समान नित्य है। अर्थात् वह न तो कभी उत्पन्न होता है तथा न बिनाशको ही प्राप्त होता है। क्योंकि उसका विनाश होनेसे वह किसीको ज्ञात होना ही चाहिये। उसी प्रकार उसकी उत्पत्ति भी बिना ज्ञाताके सिद्ध नहीं हो सकती। परन्तु चेतनमात्रके नाश और उत्पत्तिको चेतनसे भिन्न कौन देख सकता है? और जब देखनेवाला ही नहीं तो उसकी सिद्धि फिर कैसे हो सकती है? इसलिये परमात्माका चेतनस्वरूप नित्य और निर्बिकार है, ऐसा ही मानना चाहिये।

प्रकाश करना जिसप्रकार प्रकाशरूपी सूर्यकी क्रिया नहीं है, उसी प्रकार जानना भी ज्ञानरूप आत्माकी क्रिया नहीं है। चेतना तथा ज्ञानको तार्किक लोग आत्माका गुण मानते हैं, परन्तु वह उसके गुण न होकर स्वरूप ही है। चेतनको प्रतिशरीरमें भिन्न-भिन्न माननेका कोई प्रमाण नहीं है। इसीलिये अद्वैत-वेदान्त-शास्त्रमें आत्मा-को सत्-चित् अद्वितीय निर्भिकार शुद्ध सर्वज्ञ सर्वविद्

इत्यादि कहा गया है और वह सब अनुभवसिद्ध है। श्रुति-स्मृति-पुराणादि ग्रन्थोंमें आत्माके स्वरूपका विस्तार-पूर्वक विवेचन किया गया है। परन्तु 'तर्कसे ईश्वर-सिद्धि' हमारा यह विषय होनेसे हम उनका यहाँ उल्लेख नहीं करते। केवल तर्कसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है और वह ईश्वर नित्य आत्मा है, ऐसा प्रतिज्ञापूर्वक कहकर इस लेखको समाप्त किया जाता है।



क्या ईश्वर तर्कसे सिद्ध हो सकता है ?

(लेखक—बीयुत वैकटाचलमूर्तिजी एम० ए०)



स लेखमें हम ईश्वरको तर्कसे सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं, फिर देखिये क्या परिणाम होता है। ईश्वर-विषयपर चिन्तन करते ही ऐसा जान पड़ने लगता है मानो हम कुछ हैं ही नहीं, अपनी अशक्तिले घमण्ड भी कुछ घूर हो जाता है। ठीक-बजाकर कोई बात कहना इसलिये शोभा नहीं देता कि विषय इतना अचिन्त्य है जिससे बहुत दूरतक शब्दोंकी दाल नहीं गलती। जिन्हें यह दावा है कि हम ईश्वरको सिद्ध कर दिखावेंगे या जो यह कहें कि हम उसे असिद्ध ही करके छोड़ेंगे, इन दोनोंमेंसे किसीकी भी हिमायत हमें नहीं करनी है, क्योंकि दोनों ही असम-में हैं। दोनों ही बहुत भोले हैं। ईश्वर तो चाहे सिद्ध या असिद्ध न हो सके, पर जो दलीलें दोनों ओरसे दी जाती हैं वे ज़रूर असिद्ध होती हैं। लोग तर्कसे उसे सिद्ध करना चाहते हैं जो तर्कके मानका नहीं है। अब कुछ समयसे दार्शनिक लोग भी सचेत हो गये हैं, वे शपथपूर्वक किसी बातको कहना अच्छा नहीं समझते, उनका मतवाद विवा-हो रहा है। अब तर्कके बजाय नीति और धर्मका आश्रय ढूँंढा जाता है। पढ़े-लिखे लोगोंकी रंगत तो आस्तिक और नास्तिक दोनोंसे बिलक्षण है, वे तो ईश्वरके विषयमें उदासीन बन गये हैं। उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम आगमें रहनेवाले लोगोंमें ईश्वर-विषयक जो गर्मी थी, अब वह अस्त हो गयी है। ईश्वर हो तो अच्छा, न हो तो अच्छा—अब तो इस तरहकी मनोवृत्ति बनती जाती है।

किसी समय अन्धा धार्मिक मतवाद अपने सामने कुछ सुनता ही न था। विज्ञानने बुद्धिवादका अन्ध चलाकर

थोड़े धर्मको हटा दिया, फलतः अब धर्मकी बात कोई नहीं पूछता। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सब लोगोंने अपनी बुद्धिका बल लगाकर धर्मके सिद्धान्तोंको तोल लिया है और उन्हें निस्सार जानकर पीछे छोड़ दिया है, बल्कि इसकी वजह यह है कि इस विषयकी रुचि क्षीण-सी हो गयी है। सच बात यह है कि ईश्वर, धर्म, आत्मा सब दूसरी दुनियाके अंगदे जान पड़ने हैं। लोग अपने आपको नकद धर्मका माननेवाला कहते हैं; वे समझते हैं इन हवाई बातोंमें कुछ नहीं रक्खा है। पर इस तरहकी उदासीन वृत्ति शत्रुका लक्षण है। ऐसा मानस होता है कि हमारी विचारशक्ति मूर्छित हो गयी है। जब कभी आस्तिक-नास्तिक दोनों दलोंकी भिन्नता थी तब विचार-शक्ति जागरूक रहती थी। अस्तु, हमारा आशय तो यहाँ हमना ही है कि योद्धेयों दोनों मतोंके सारासारका कुछ विवेचन कर दें जिससे उभय पक्षके गुण-दोष सामने आ जायँ।

(१)

ईश्वर-सिद्धिके तर्क अनेक हैं। सब एक-दूसरे नहीं हैं। सबमें पोष तो यह है कि जगत् कार्य है, इसका बनाने-वाला निमित्तकारण या कर्ता होना चाहिये। 'यह विरव कार्य है'—इस बातका निर्णय आपने कैसे कर लिया? यदि आप कहें यह हमारी प्रतिज्ञा है, तो यह बताइये कि क्या किसी समय अस्तित्वमें न रहनेवाले जगत्को किन्हीं कारणोंसे कार्यमें आते हुए आपने देखा या अनुभव किया है? हमारा अनुभव तो केवल एक युगका है, वह दृश्य-पट जो हमारे सामने अभी फैला है, उसीके ज्ञानके आधारपर हम इसे न कार्य कह सकते हैं, न कारण। किसी

भी वस्तुमें ऐसा कोई लक्षण नहीं है जो निश्चयरूपसे उसे कार्य या कारण कहा जा सके। हमारे देखते हुए दुनियाकी चीज़ोंमें परिवर्तन होना दूसरी बात है, पर समस्त विश्वको कार्य कहनेके लिये उसके प्रागभावका निश्चित प्रमाण होना आवश्यक है। संसारके प्रागभावका केवल अनुमान करना ठीक नहीं, क्योंकि तर्कमें अन्योन्याश्रय-द्रोष आ जाता है। प्रत्यक्षप्रमाणसे प्रागभावकी सिद्धि तो और भी दुष्कर है, क्योंकि किसी भी पदार्थसे यह नहीं मालूम होता कि वह पहले था या नहीं और आगेको रहेगा या नहीं। दूसरी ओर यह भी ठीक है कि ऐसा बाधक प्रमाण भी हमारे पास नहीं है जो किसी वस्तुका अबसे पहले या आगे रहना या न रहना जाननेमें हमें रोकता हो। हो सकता है यही बात ठीक हो, कि विश्व पहले नहीं था और किसी समय उसका जन्म हुआ। या कहें कि वह अनन्त कालसे इसी कार्य-द्रव्यमें था। इस तरह दोनों विरोधी पक्षोंमें सत्यका अंश है। यहाँ हमें दार्शनिक कैण्टके प्रथम द्वन्द्व-नियमका ध्यान आता है, जिसमें कहा है कि जगत् सदि और अनादि दोनों ही है। पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों निर्दोष और मान्य हैं, लेकिन तर्मांतक जबतक हम दोनोंके मौलिक आधारको ठीक मानते हैं, वह मूलभूत आश्रय यह है कि देशकाल-परिवर्तित दृश्य विश्वका कारण निःसीम देशकालातीत निरपेक्ष होना चाहिये। यदि इसप्रकार सापेक्ष और निरपेक्षके कार्य-कारणवादको हम न मानें तो ऊपर दिखाये हुए मत, कि संसारका प्रारम्भ है या अनादिकालसे यह गेमे ही है, दोनों ही लब्धगुणा जाते हैं।

यह नियम भी, कि कार्यका कर्ता होना ही चाहिये, निश्चय है। प्रकृतिके कार्य उसके ही उपादानसे होते हैं ऐसा मान लेनेसे तर्ककी हानि नहीं होती। विचारसे मालूम होता है कि निमित्तकारण या कर्ता माननेका हेतु मनुष्य-स्वभावसे कल्पित है। हमारा शरीर हमारी इच्छामें कार्य करता है। हम मान लेते हैं कि ब्रह्मावच्छिन्न भी किसी चैतन्यका शरीर है जो उसकी आज्ञासे कार्य करता होगा। पर क्या हमारा और शरीरका सम्बन्ध हमारी समझमें ठीक आ गया है? शरीर और मनकी प्रस्थिको सुखसाधनेमें सब दार्शनिक अटक गये हैं। डेकार्टेके बादके सभी दार्शनिकोंने इसपर सिर मारा है। भौतिक शरीर और मनका पारस्परिक सम्बन्ध ठीक तरह समझमें नहीं आया है। जिसने ब्रह्मावच्छिन्नी देहमें पहले प्रेरणा की, वह भी शरीर होगा, बिना शरीरके

प्रेरणा कैसी? उसका शरीर क्या ब्रह्मावच्छिन्नके बाहर था? ब्रह्मावच्छिन्न या ही तो सृष्टि क्या की? यदि यह कहा जाय कि ब्रह्माका ईक्षण नित्य है, उसे शरीरादिसे सापेक्ष होनेकी आवश्यकता नहीं, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि जो प्रेरणा नित्य है उसकी समाप्ति कैसे होगी? जब जी चाहे तब रुक जानेवाली प्रेरणा नित्य नहीं हो सकती। सापेक्ष और अनित्यकी समीक्षामें नित्यकी कल्पना भी युक्तिसङ्गत नहीं है। नित्य और अनित्यका सम्बन्ध क्या अनित्य हो सकता है? इन दोनोंमें न तो सम्बन्धकी हेतुमत्-आस्था है और न हमें उस सम्बन्धका अनुभव है।

इस तर्कमें कि कार्यका निमित्तकारण होना आवश्यक है, यह नहीं सिद्ध होता कि वह निमित्तकारण ज्ञानवाला हो। हाँ, एक दूसरा हेतु है जो कर्ताको ज्ञानमय सिद्ध करता है। वह है विश्वकी रचना आयोजनवाला हेतु जिसे कुसुमा-अलिकारने निम्नलिखित शब्दोंमें व्यक्त किया है—

कार्यायोजनधृयादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।

वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविद्वयः ॥

(५।१)

यह सिद्धान्त श्रीशङ्कराचार्यके शब्दोंमें बड़ी सुस्पष्टतासे कहा गया है—‘जिसमें अनेक कर्ता-ओका हैं, जिसमें कार्य और उनके फल प्रतिनियत देशकालका निमित्त पाकर होते रहने हैं, जो मनसे अचिन्त्य है, ऐसे नाम और रूपसे प्रकट हुए इस जगत्का जन्म, स्थिति, नाश जिस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् कारणसे होता है, वह ब्रह्म है।’ (ब्रह्मसूत्र १।१।२) यह सर्वज्ञ क्रम प्रकृतिका गुण नहीं है। प्राकृतिक पदार्थोंके आलम्बनसे इसका प्रकाशमात्र होता है। जड़-प्रकृतिके संयोग और परिवर्तन तथा उसके सत्त्व, रज, तम तीन गुण ज्ञानमय सृष्टिका अवतार करानेमें बिल्कुल अशक्त हैं और प्रत्येक परमाणुके भीतर जिस ज्ञानपूर्वक रचनाकी मत्ता है उसकी व्याख्या प्रकृतिके गुणोंमें नहीं हो सकती। इसलिये एक ऊर्जित ज्ञानशक्तिका मानना अनिवार्य है जो इस ज्ञानमयी रचनाका कारण है। ‘जब प्रकृतिके अवयवोंमें परस्पर सम्बन्धकी एकतासे प्रकृति एक मानी जाती है तो अनुमानसे उपयुक्त ज्ञानमय शक्तिको एकता भी स्वीकार कर लेनी चाहिये (कैण्टकृत Critique of pure Reason, Transcendental Dialectic Book II, Chap. III, ‘The Ideal of Pure Reason’ p. 521, Prof. Norme Smith’s Transl.)

हमारी समझमें ईश्वर-सिद्धिके आस्तिक प्रमाणी

का मत ही ऐसा है जो बहुत दूर तक मनमें पैठता है। पर यहाँ भी बड़ी दिक्कतें सामने आ जाती हैं जो सृष्टि-कर्तृत्व-से ईश्वर सिद्ध करनेके मार्गमें पहले दिखायी जा चुकी हैं। दोनों जगह हम अनित्य और दृश्यसे कृत्स्न नित्य और अभ्यन्तर चले जाते हैं। दोनोंकी ग्रन्थिका या सम्बन्ध-का हमें कुछ ज्ञान नहीं है, यही सारी कठिनाई है। चेतन नित्य सत्ता किसप्रकारसे, किस सम्बन्धसे, अनित्य जड़ जगत् या प्रकृतिको प्रभावित करती है या उसतक अपनी शक्तिका प्रवाह भेजती है, यह बात बुद्धिगम्य नहीं होती क्योंकि जड़ देशकालबद्ध जगत्में शक्ति-प्रवाहका ज्ञान तो हमें है, परन्तु नित्य और देशकालातीत क्षेत्रमें हम बिल्कुल अनजान हैं। अगर हम उस शक्तिको जान जाते हैं, तो वह भी सापेक्ष हो जाती है, फिर उस सापेक्षसे आगे निरपेक्ष-की आवश्यकता रह जाती है। यह कहना कि सापेक्ष पदार्थोंकी उत्तरोत्तर सूक्ष्म होती हुई परम्परामें ईश्वर सर्व-प्रथम है, जटिलताको हल नहीं करता। क्योंकि जो सर्वा-तिशायी बनकर भी जिस परम्परामें है, वह उसी विराद्री-का तो गिना जायगा। सब सापेक्ष पदार्थोंका जो मुड्ड हमें मिलेगा, वह भी सापेक्ष ही ठहरेगा। ऐसा ईश्वर तो वेदान्त-शास्त्रमें माने गये उस ईश्वरकी जोड़का हुआ जो अनित्य आयासे उपहित पदार्थोंमें सबसे अन्तिम शक्ति है, पर जो निर्बचनीय होनेसे या जगत्-सम्बन्धमें उपहित होनेके कारण सापेक्ष है। यदि ईश्वर और जगत्के सम्बन्ध-का ज्ञान हमें वैज्ञानिक अर्थात् अनुभवगम्य रीतिमें नहीं होता और फिर भी हम ईश्वरको मानते हैं, तो हमारा मानना केवल विश्वासकी बात हो जाती है। सब बात तो यह है कि नित्य और अनित्य, उपाधिगम्य और अनुपाधि-गम्य, सीमित और असीमितके बीचकी गहरी खाईको पार करना हमारे मानकी बात नहीं है। यदि ईश्वर हमारे ज्ञान-का विषय बन जाता है तो वह उपहित हो गया, यदि ज्ञानातीत है तो अन्तर बना ही रहा। पर अनित्यके लिये नित्यका आश्रय हूँ दे बिना काम नहीं चलता, दृश्यसापेक्ष-को निरपेक्षके साथ सम्बद्ध किये बिना गति नहीं है।

वेदोंमें ऐसा लिखा है, इल्लामी शास्त्रोंने ऐसा कहा है—इस तरहकी बातें तर्ककी दृष्टिसे कोरी हैं उनके बारेमें इस कुछ नहीं कहना चाहते। ज्यादा-से-ज्यादा इस रीतिसे इतना ही तन्त्र निकल सकता है कि विश्व अनादि है, उसका ईश्वर-कर्तृत्व फिर भी स्थाविर नहीं होता। मीमांसक लोग इसी प्रकारका अनादित्व मानते थे।

एक तर्क और भी है जिसे प्रायः पश्चिमी विद्वान् दिया करते हैं। यहाँके दार्शनिक भी उससे अनभिज्ञ नहीं थे। हम एक अनन्त पुरुषविशेषकी कल्पना करते हैं जो सब प्रकारसे पूर्ण हो। हम बल, शक्ति, ज्ञान, दया, कल्याण, सत्य आदि गुणोंकी पूर्णता मानते हैं और उनका आश्रय एक सत्तामें कल्पित करके उसे ईश्वर कहते हैं। कुसुमाञ्जलि-कारने लिखा है—

पदात् खलु अपि ।

श्रूयतेऽपि प्रणेतृद्वरेज्ञानादिपदं, तच्च सार्थकम् ...

(कुसुमाञ्जलि काशी सं० ५० ७६)

इसमें यह बात विचारनेकी है कि कल्पनाके साथ ही कल्प्य विषयकी सत्ता भी माननी पड़ती है। बिना सत्ताके पूर्णता कैसे हो सकती है? पूर्ण पुरुषकी कल्पना अपूर्णसे नहीं है, बल्कि पूर्णसे अपूर्णका ज्ञान हमें है। अपूर्णता जहाँ न हो, इस तरहकी नकारात्मक योजना पूर्ण पुरुषके लिये नहीं है। बल्कि पूर्ण ही उपाधिके कारण अपूर्ण बन गया है। परन्तु प्रत्यय अर्थात् विचारमात्रमें बन्तुकी सत्ता मान लेना असंगत है। प्रत्ययमात्रसे विषयकी गोचरता नहीं हो सकती। हमके विपरीत वेदान्त तो प्रत्ययलब्धको ही मिथ्या मानता है। जगत् मिथ्या है। क्यों? दृश्यत्वात्। [देखिये अद्वैत-सिद्धि] विषयरूपमें जगत् ज्ञान-गम्य है, अर्थात् प्रत्ययोपहित होनेसे अस्तित्वविहीन है। जो कुछ हम सोचते हैं यदि सबका अस्तित्व निर्दिष्ट हो तो फिर शास्त्रका अन्त ही मरम्मिते। हमने सोच लिया, हो गया, समीक्षाकी क्या आवश्यकता रही?

(२)

ऊपरके विवेचनमें सब ही हेतु पोष ठहरे। यह कुछ हमारी विद्या-बुद्धि या पावित्र्यका प्रताप नहीं है। बात यह है कि हम तर्कके सहारे अपने ज्ञानके द्वारा अज्ञेयकी सिद्धि करना चाहते थे। ज्ञानमें जिस विषयको जाना जायगा, वह उसी मग्न उपहित बन जाता है। सान्त्वने अन्तस्का प्रत्यय अस्तित्व है। ज्ञान स्वयं उपाधिप्रस्त है। ज्ञाताके ज्ञानमें जो बात आ जाती है, वह स्वयं सीमित बन जाती है। इसप्रकार ईश्वरकी सिद्धि जगत्के अधीन बन जाती है। दोनों परस्परान्वित और उपहित ठहरे हैं। किसीको भी निरपेक्ष कह सकना असम्भव हो जाता है, यही तर्ककी हार है। ब्रह्मकी अनन्तता और सर्वशक्तकी बद्ध अवस्था पुरुष उसी दृश्यामें सिद्ध कर सकता है जब वह स्वयं सर्वश हो।

ऊपरकी सब विचारशैली क्यों पैदा होती है ? इसकी वजह यह है कि हम प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणोंपर जो साधारणतः हमारे ज्ञानके साधन हैं, बहुत अधिक भरोसा करके सेरभरके पात्रमें उतनी तोल भर लेना चाहते हैं जिसके बोझका हमें कुछ पता नहीं है। अनुमान अर्थात्पनि आदिकी सीमा हरय ज्ञेय पदार्थोत्तक है। अज्ञेयके दुर्गको ज्ञेयके इधियारोंमें सर करना मूर्खता है। ज्ञेयमें आगे अहाँ आपने पैर रक्खा, बस फिर अँघेरा है, आपके प्रमाण रो देते हैं और आप भटक जाते हैं।

प्रश्न यह है कि क्या ज्ञेय अनन्त हो सकता है ? जो ज्ञानमें आता है उसका कुछ धर्म होता है। ज्ञानमें जिसका आकार है उसके लिये यह 'ऐसा है' या 'ऐसा नहीं है' कहना ही पड़ता है। ज्ञेयके सब धर्म ज्ञानमें आ जाते हैं। ज्ञेय यदि कुछ अंशमें ज्ञानातीत रह जाय तो उसे ज्ञेय या जाना हुआ नहीं कह सकते। आपका यह कहना कि कुछ ही अंश जाना जाता है और उसीसे भिन्ना हुआ शेष अज्ञात रह जाता है, किसी तरह मान्य नहीं हो सकता। अनन्तके धर्मोंका ज्ञानाकारमें परिसमाप्त हो जाना असम्भव है। ईश्वर अनन्त है क्योंकि उसके धर्म या गुण अनन्त हैं या सब ही गुण उसके विधेयांदा हैं। सर्व ह अनन्त है। पर हर एक गुण जिसका हमें ज्ञान है, सान्त और सीमित है। इसलिये ईश्वरका भी प्रत्येक गुण, जो ज्ञात है, सीमित मानना पड़ता है। हाँ, ईश्वरकी भटती करके उसके गुण गाना बात दूसरी है। पर तर्कके लिये तो जब ईश्वरको अनन्त कहते हैं तब उसके धर्मोंको भी अनन्त ही मानना पड़ेगा जो कि ज्ञेय धर्मोंसे विपरीत है। सान्त धर्मोंसे अनन्त कैसे बन सकता है ? एक-एक हाथकी रस्सी जोड़नेसे जो महारज्जु बनेगी वह भी ज्ञेय या सान्त होनी चाहिये। जिसके अन्ततक हम न पहुँचें वह अनन्त नहीं है। गणित-शास्त्रने भी अब अनन्तकी इस परिभाषाको पोछे छोड़ दिया है। अन्तहीनताकी कृपाका फल अनन्तता नहीं है, अनन्तता स्वयं पूर्ण है, वह स्वयं ज्ञान है। ज्ञानकी अशक्ततासे उत्पन्न अनन्तता निपट निस्सार है।

एक मार्केकी बात यह है कि ज्ञेय ईश्वर आत्मा नहीं हो सकता। जिसका हमें ज्ञान है वह प्रकृति है। आत्मा तो स्वयं ज्ञाता और अनुभवज्योति है। प्रत्ययगोचरको आत्मा कहना अम्याय है। आत्मा प्रमाता है, वह प्रमेय नहीं बन सकता। जिसे अबतक हम अनन्त-अनन्त कहकर पुकारते

आये हैं वह भी कोरी कल्पना ही होती यदि वह ज्योति स्वयंप्रकाश होकर हम सबके अन्दर न विराजती। आत्मा विषयी है, वह दूसरोंको प्रकाशित करनेवाला है, तब कम-से-कम उसे प्रकाशरूप मानना ही पड़ता है। जो लोग आत्माको ज्ञेयातिरिक्त अथवा ज्ञेय-विषय मानते हैं, वे सब ही उन्मे स्वयंप्रकाश माननेको बाध्य हैं। औरोंका ज्ञान करानेवाला वीपक स्वयं ज्योतिष्मान् हो वह तो कम-से-कम शर्त है। कहा भी है—

प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासस्तथैव च ।

कुर्वन्त्येव प्रमां यत्र तदसंभवा कुतः ॥

(३० उ० भाष्य वार्तिक १।४।८७४)

अर्थात् प्रमाण, अप्रमाण अथवा प्रमाणाभासके द्वारा जिसमें एक प्रकारका निश्चयात्मक ज्ञान (प्रमा) उत्पन्न होता है, उसकी स्वयं असम्भावना अर्थात् अनवस्थिति कैसे कही जा सकती है ? यह चैतन्य विषय न होनेसे धर्म-विशिष्ट नहीं कहा जा सकता। विशेष तो हमारे ज्ञान-के विषय हैं, चैतन्यमें उनकी उपाधि नहीं है। विशेष धर्म और चैतन्यका क्या सम्बन्ध है इसे हम यथार्थरूपमें नहीं जान सकते—इस कारण यह विश्वासका विषय रह जाता है। इसप्रकार धर्मानुपहित चैतन्य अनन्तका यथार्थ उदाहरण है। यह प्रत्ययाधीन नहीं है, न इसे सान्त धर्मोंका अनन्तसंश्लेष पुञ्जमात्र ही कह सकते हैं। अगर वस्तु-तत्त्वकी परिभाषा इसप्रकार मानी जाय कि उसकी सत्ता निरपेक्ष, स्वयमाश्रित और स्वयंप्रत्ययी है, तो कहना पड़ेगा कि ज्ञान ही उस तरहका तत्त्व है। ज्ञान अनन्त और निर्विशेष है। ज्ञानके प्रादुर्भावका ज्ञान अशक्य है। ज्ञानकी उत्पत्ति सिद्धिका विषय नहीं है। अगर हम ज्ञान-की सत्ता सिद्ध करने चलें, तो कहींपर गाढ़ी जरूर रूकेगी और वहाँ ज्ञानको निर्विशिष्ट और अनन्त माननेके सिवा हमारे पास और कोई चारा नहीं रहेगा। जैसे हमने कहा है कि ज्ञानका विशेष धर्म नहीं है, वैसे ही यह भी नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान किसीका धर्म है, न यह किसी कर्ताका ऐसा गुण है जो उससे पृथक् है। यह स्वयं अपना रूप है और इसकी सत्ता सबसे अनूप है।

ज्ञानमें संख्याकृत बहुत्वकी उपाधि भी नहीं मानी जा सकती। एक चैतन्य ज्ञानको दूसरेसे पृथक् जाननेके लिये विशेष धर्मकी कल्पना करनी पड़ती है। यह सम्भव नहीं है। क्योंकि ज्ञान विषय नहीं है। लोगोंने अपनी-अपनी समझके मुताबिक ज्ञानको विशेषका विषय बनाकर

। नाना भौतिक ईश्वरोंकी कल्पना कर ली है। जब ज्ञानको विषय मानकर उसको विशेषयोंसे कल्पित किया जाता है तब यही दुरवस्था उत्पन्न होती है। अगर ज्ञान या चैतन्य-को ज्ञेय—विषयकी कोटिसे बाहर रखा जाता तो धर्मोंके अनेक भेद और झगड़े न पैदा होते। ईश्वर सोचनेवालेके ज्ञानके तदाकार होकर नाना रूपमें कल्पित हो गया है ! यदि हम एक अखण्ड सार्वभौम अनन्त निरुपाधि सत्ताको मानें तो चैतन्य-ज्ञान ही वह सत्ता हो सकती है। वही ईश्वर है। इस ईश्वरको जब ज्ञेय-विषय बनाया जायगा और ज्ञाता अपनेसे विशिष्ट शक्तिशाली बाह्य-सत्ताकी कल्पना ईश्वररूपसे करेगा तभी अनेक ईश्वरोंकी सृष्टि हो जायगी। ज्ञाता-भेदसे ईश्वरके विभिन्न गुण उनके अनुयायियोंके लिये आपसमें लड़नेका कारण बनेंगे।

विषयरूपमें ईश्वरकी पृथक् सत्ता माननेसे दो बड़ी उलझनें पैदा होती हैं। एक तो यह कि ईश्वरका जगत्से क्या सम्बन्ध है ? और दूसरी यह कि ईश्वरका मनुष्यसे क्या सम्बन्ध है ? जैसा कि ऊपर सिद्ध हो चुका है—इन दोनों सम्बन्धोंका कुछ भी निश्चित प्रमाण या रूप हमारे पास नहीं है। दूसरी ओर जब हम स्वयं ज्ञानरूप आत्म-चैतन्यको ईश्वर कहते हैं तब कोई शंकेला नहीं उठता। हाँ, शर्त यह है कि इस चैतन्यको हमारे प्रमाणोंसे सिद्ध होनेकी ज़रूरत नहीं है। हमने अपना नापनेका गज उठाया कि झगड़ा पैदा हुआ। इसलिये जो कुछ हम कहते हैं उस सबका प्रमाणा साक्षी होनेके कारण स्वयंसिद्ध चैतन्यको ईश्वर मान लेना ठीक है। इस सत्ताका न किसी-से राग है न द्वेष। यह विश्वव्यापी है।

इसप्रकारके अनन्त चैतन्यका रूप मनुष्य-जैसा नहीं कहा जा सकता। क्या ज़रूरत है कि वह हमारे रोने-घोनेसे प्रसन्न हो, उसे किसी पूजाकी चाह है ? बिन चाहे आपकी ऐसी खुशामद कोई किया करे, तो आपको क्या लाभ होगा ? सबाज होता है कि फिर साधना क्यों करनी चाहिये ? क्या धार्मिक जीवन ढोंग है ? इसका जवाब यह है कि चैतन्यके स्वयंप्रकाश-स्वरूपका ज्ञान होनेके लिये आवरण या स्कार्टोंका दूर करना ज़रूरी है। चैतन्यकी स्वाभाविक साध यह है कि वह अनात्म और जड़से छूटकर निज स्वरूपमें स्थित हो। इस स्थितिको प्राप्त करानेवाले आध्यात्मिक साधन उचित और आवश्यक हैं। धर्म, ज्ञान और आध्यात्मका अर्थ यही है कि मनुष्य जब अनात्मधर्मोंसे

इसप्रकार छूट जाय जैसे सर्प अपनी जीर्ण त्वचासे। आवरणों-के छूटनेका नाम साधनसिद्धि है। स्वतःप्रकाश ज्ञान उपाधियोंसे छूटकर स्वरूपमें प्रकट हो जाता है। अनेक प्रकारके भोगजनित सुखसे इस ज्ञानका आनन्द विलक्षण है।

ब्रह्म-जिज्ञासा मनुष्यका स्वाभाविक धर्म है, क्योंकि यह उसका अपने ही रूपको देखनेके समान है। इस मार्ग-में जो कुछ सहायक हो सके, अपनानेयोग्य है। जप, तप, तीर्थ, पूजा, दान, धर्म सबका मुख्य यही है कि आत्म-चैतन्यका तेज निखर जाय। इस मार्गमें सबसे अधिक महत्व गुरुका है क्योंकि गुरु वह है जिसने अपना स्वरूप देल लिया है। उसका आध्यात्म-ज्ञान हमारे लिये दीपकका काम करता है। ईश्वरको ही गुरु मान लेनेसे मनुष्यकी प्रवृत्ति कुछ लुप्त हो जाती है। हम अनित्य हैं, हमारा गुरु ईश्वर हमसे कुछ कम ही अनित्य धर्मवाला होगा। ऐसा ईश्वर ब्रह्म नहीं है। यह तो योगवालोंका 'पूर्वधामपि गुरुः' है। ब्रह्मसे हमें क्या सहायता मिलेगी ? वह निरपेक्ष है, हमारे साथ उसका सम्बन्ध असम्भव है। इसलिये गुरुरूप ईश्वर जो स्वयं देश-कालसे परिच्छिन्न है हमें ज्योतिके देखनेमें सहायता पहुँचा सकता है। हमें तो अन्धकारकी जगह ज्योति चाहिये। धन, ईश्वरसे जो धन-धाम, पुत्र आदि विभूति माँगते हैं वे मूढ़ हैं। ये चीजें तो हमारी हानि करनेवाली हैं, हमारे आत्मस्वरूपको आवृत करनेवाली हैं, ईश्वर ऐसा नहीं है जो हमें अज्ञान और तमकी ओर बढ़ावे। पर ज्योति या ज्ञान ही ऐसी चीज है जो आवश्यक है। ज्ञानके गुण-दोष भी बिना ज्ञानके नहीं जाने जा सकते।

हमारे इस प्रश्नका उत्तर कि 'क्या ईश्वर तर्कसे सिद्ध हो सकता है ?' निश्चयरूपसे यही है कि ईश्वर तर्कसे सिद्ध नहीं होता। दोनों पक्षोंसे दिये जानेवाले प्रमाणोंमें बड़ा दोष यह है कि वे अपनी सीमाको पार करके अनित्य नश्वर पदार्थोंके अनुभव नित्य अविनाशी तत्त्वमें लगाना चाहते हैं। हमें इस बातका बहुत सन्तोष है कि, प्रयत्न करनेपर भी तर्कके द्वारा ईश्वर सिद्ध नहीं हुआ। जो ईश्वर तर्कसे सिद्ध हो जाता तो महान् अनर्थ होता और वह ईश्वर भी किसी कामका नहीं होता। तर्क बुद्धिसे होता है, बुद्धि विषय है, उससे जाना गया ईश्वर स्वयं प्रमाणा चैतन्य नहीं हो सकता। अनन्त, सर्वेश, सर्वेश, सर्वव्यापी, सर्वान्तर्दामी, निर्मुक्त चैतन्य तर्क और बुद्धिके मानका नहीं है।

धनदास

(लेखक—पं० आरामनरेशजी त्रिपाठी)

पहला दृश्य

(स्थाव—धनदासका खूब सजा हुआ कमरा । समय—चार बजे सन्ध्याकाळ । धनदास मित्रोंके साथ जलपान कर रहा है । कुछ दूरपर गवैये बँटे गा रहे हैं ।)

एक अपरिचित पुरुषका प्रवेश; शरीर बहुत बलिष्ठ; चेहरेपर शौर्य; नेत्रोंमें विकाराव तेज ।

धनदास—(मन-ही-मन) यह असम्य कौन आ रहा है? क्या दरवाजेपर पहरेवाले नहीं हैं? (नौकरसे) देखो, पहरेपर कौन है?

पुरुष—(नौकरसे) तुम ठहरो, पहरेदारकी ओरसे मैं ही धनदासको जवाब दे लूँगा ।

(नौकर ठहरकर धनदासका मुँह देखने लगता है ।)

धनदास—(क्रोधसे विह्वल-सा होकर) तुम कौन हो? पहलेसे सूचना दिये बिना किसीके घरमें इसप्रकार घुस आना शिष्टाचार नहीं है ।

पुरुष—(रुढ़तापूर्वक स्वरमें) मैं काळ हूँ । मेरे लिये कहीं लकावट नहीं । मुझे कोई रोक नहीं सकता । मैं मनुष्यों-के शिष्टाचारके बन्धनमें नहीं हूँ, इससे तुमको सूचना देनेकी मुझे कोई आवश्यकता नहीं थी ।

धनदास—(काळका नाम सुनकर गर्वकी कुछ कम करते हुए) सूचना देनेकी आवश्यकता आपको न सही, पर आपके आनेका यह कौन-सा समय है? मैं मित्रोंके साथ जीवनका सुख अनुभव कर रहा हूँ, इस समय उसमें आप विघ्न डालने क्यों आये?

काळ—मैं तुमसे पहले ही कह चुका कि मुझपर किसीका अधिकार नहीं, मैं चाहे जहाँ और चाहे जब आनेमें पूर्ण स्वतन्त्र हूँ । मैं तुमको केने पाया हूँ । कल्ले ।

धनदास—(अवनीत होकर) मुझको लेने? भला, कल्ले को बेरा विवाह हुआ है? अभी मित्रोंको मैं विदा भी नहीं कर पाया । जीवनका सुख क्या है? यह मैंने सचकी तरह जाना भी नहीं; कुछ दान-पुण्य भी नहीं कर सका और अभी आप मुझकी लेने आ गये? आप स्वतन्त्र हैं, और मित्र भी प्रसिद्ध हैं, पर इतनी शिष्टता तो आपमें

होनी ही चाहिये कि किसीके यहाँ आये तो पहलेसे सूचना देकर आये ।

काळ—अच्छा, जीवनका सुख भोगनेके लिये मैं तुमको थोड़ा अवसर और देता हूँ । अब मैं तुमको पाँच सूचनाएँ देकर आऊँगा ।

धनदास—(प्रसन्न होकर) धन्यवाद !

(काळका प्रस्थान)

धनदास—(मित्रोंसे) बातोंके फेरमें डालकर मैंने काळको कैसा उलझ बनाया ।

मित्रगण—आज आपने काळको जीत लिया । आपके समान बुद्धिमान् मनुष्य भू-मण्डलपर कोई नहीं है ।

(उरसवकी समाप्ति)

दूसरा दृश्य

(समय—प्रातःकाल; धनदास अपनी बैठकमें आराम-कुर्सीपर बैठा है; सामनेकी खिड़की खुली है; ईश्वर एक अत्यन्त दुर्बल और कंगालके भेषमें खिड़कीके सामने आता है ।)

कंगाल—सेठजीका कल्याण हो । आज तीन उपवास हो गये; मैं रोग और भूखसे पीड़ित हूँ । कुछ खानेको बिका दीजिये ।

धनदास—पहरेपर कौन है?

पहरेदार—हाँ सरकार !

धनदास—तुम बहाँ बैठे रहते हो और लफंगे यहाँतक चले आते हैं? एक चक्की भी आरामसे बँटने नहीं पाता । बाबो, तुम नौकरीसे अलग किये जाते हो । (दूसरे पहरेदारसे) इस मिलसंगेको धके देकर बाहर निकाल दो ।

कंगाल—सेठजी ! भगवान्ने आपको धन दिया है, आप नरीबोंकी न सुनेंगे तो कौन सुनेगा ?

धनदास—भगवान्ने मुझे धन सुख भोगनेके लिये दिया है, आचार्योंको बाँटनेके लिये नहीं ।

कंगाल—अच्छा तो, सोचिये !

धनदास—(क्रोधके आदेशमें) निकाल दो इस टर्रेखोंको ।
(कंगालका प्रस्थान)

तीसरा दृश्य

(कई वर्ष बाद)

स्थान—गरीबोंका समूह, धनदासकी घोषणाका प्रभाव)

धनदास—मैं फूलोंके पास नाक लेकर जानेका कष्ट नहीं उठाना चाहता, फूलोंकी सुगन्धको मेरी नाकके पास आना चाहिये ।

कुछ गरीब—हमलोग फूलोंसे तरह-तरहके हज़ बनायेंगे और आपको घर बैठे दे जायेंगे ।

धनदास—आँखोंके लिये रूप चाहिये ।

कुछ गरीब—हम आपके लिये चित्र बनाया करेंगे ।

कुछ गरीब स्त्रियाँ—(बेरपाएँ) हमें देखिये; हम हाज़िर हैं ।

धनदास—कानोंके लिये मधुर स्वर चाहिये ।

कुछ गरीब—हम गा-बजाकर आपको प्रसन्न करेंगे ।

धनदास—भोगके लिये स्त्रियाँ चाहिये ।

कुछ गरीब स्त्रियाँ—(मनमें) हाय ! इस पेट पापीको भरनेके लिये सब कुछ करना पड़ेगा । (प्रकट) शरीर बेचनेके लिये हम तैयार हैं ।

धनदास—जीभके लिये स्वादिष्ट भोजन चाहिये ।

कुछ गरीब—हम आपके लिये तरह-तरहके व्यञ्जन बनायेंगे ।

धनदास—शरीरके लिये सुन्दर और सुलभायक वस्त्र चाहिये ।

कुछ गरीब—हम सूत कातेंगे, कपड़े बुनेंगे और आपको देंगे ।

धनदास—पैरोंके लिये सवारियाँ चाहिये ।

कुछ गरीब—हम घोड़ा-गाड़ी हाँकेंगे और पालकी उठावेंगे ।

धनदास—मनके सुखके लिये शिकार खेलूँगा ।

कुछ गरीब—हम आपको जंगली जानवरोंका पता बतायेंगे ।

धनदास—मीजके लिये शराब चाहिये ।

कुछ गरीब—हम शराब बनानेका पेशा करेंगे ।

धनदास—मांस खानेको जी चाहता है ।

कुछ गरीब—हम चिड़ियाँ मार लायेंगे । हम बकरी हलाल करेंगे । हम खरगोश और हिरनको मारकर उनका गोरोत आपको लाकर देंगे ।

धनदास—मुझे अपनी प्रशंसा बड़ी प्यारी लगती है ।

कुछ गरीब—हमलोग बड़े ही मधुर शब्दोंमें प्रशंसा करनेका पेशा करते हैं ।

धनदास—कुछ मरमुक्ले मेरा धन खूटना चाहते हैं ।

कुछ गरीब—हम पहरा देंगे ।

धनदास—मैं सिले हुए कपड़े पहनूँगा ।

कुछ गरीब—हम कपड़ा सीनेका पेशा करेंगे ।

धनदास—मुझे पैरोंको धूप और ठण्डकसे बचानेबाले जूते चाहिये ।

कुछ गरीब—हमलोग चमड़ा कमायेंगे और जूते बनायेंगे ।

धनदास—उन दरिद्रोंको मेरा ऐश्वर्य देखकर जलन है । उनको मारो ।

कुछ गरीब—हम अभी उनकी हड्डी-हड्डी खर कर देते हैं ।

धनदास—मैं उनको कारागारमें देखना चाहता हूँ ।

कुछ गरीब—हमलोग बकील हैं । आपके मानस-सन्तोषके लिये हम उन्हें न्यायालयमें दखिबत करायेंगे ।

धनदास—अब मेरी अवस्था पचाससे अधिक हो गयी, सुख भोगते-भोगते शरीर क्षिणिक पड़ गया, पर कालसा तो प्रबल ही होती जा रही है । शरीरकी कालसाके साथ कोई दौड़ सकता है ?

कुछ गरीब—(बैचके रूपमें) हाँ, हम तरह-तरहकी औषधियोंसे आपके शरीरको बना सकते हैं, उससे गन्ध-नयी लालसाएँ उत्पन्न होने लगेंगी ।

धनदास—आहूये, आपका स्वागत है ।

धनदास—जो लोग मेरा वैभव देखकर ईर्ष्या करते हैं, उनके आन्दोलनसे मुझे बचाओ ।

कुछ गरीब (पण्डित और धर्मगुरुके रूपमें) हम लोग भाम्य और अरुणामकी दवा गरीबोंके शरीरमें डली

स्थानके पास रख देंगे, जहाँ दूसरोंका बैभव देखकर विचोम उत्पन्न होता है। उस दयासे ईश्याका उत्थान होने ही नहीं पाता।

धनदास—(प्रसन्न होकर) आपसोनोंको सादर प्रणाम है। आइये, उद्याननगर बैठिये। आप तो हमारे पुत्र हैं।

धनदास—(मन-ही-मन) सब प्रकारका सुख है। यह सब मेरे भावमें था।

चौथा दृश्य

[कई वर्ष बाद]

(सबकपर धनदास सन्ध्या-समय धीरे-धीरे भ्रमण कर रहा है। एक किनारे एक कोढ़ीके रूपमें ईश्वर उसकी ओर काकायित होकर देख रहे हैं।)

कोढ़ी—हे सेठ ! गरीबोंपर दया करो।

धनदास—सुखमें श्याघात हाफनेवाला यह दृश्य सबकों-पर क्यों रहने दिया जाता है ? आज ही मैं पुलिसको चिट्ठी लिखूंगा कि शालीपर कोढ़ी, लूटे, छेगड़े, अपाहिज न रहने पावें, इनके कारण नागरिकोंके हृदयमें क्रोश उत्पन्न होता है।

कोढ़ी—सेठजी ! दया कीजिये।

धनदास—सुप्तपर दया करो बाबा। अपना दृश्य विलका-कर मेरा सुख क्यों कीका करते हो ?

कोढ़ी—मैं क्या नहीं सकता।

धनदास—मैंने गरीबोंसे कुछ पाया नहीं तो उन्हें क्यों दूँ ?

कोढ़ी—गरीबोंहीसे तो तुम्हें सब सुख मिल रहा है।

धनदास—बुध रहो। बकी मत। (धनदास चला जाता है।)

पाँचवाँ दृश्य

(धनदास हृष्ट हो गया। उपवनमें सन्ध्या-समय बाधु-सेवन कर रहा है। काकका प्रवेश।)

काक—कहो मित्र धनदास ! सुखसे हो ?

धनदास—(चकित होकर) कौन ? काक ! तुम अभी आ गये ?

काक—हाँ, कहो जीवन्तका सुख भोग किया ?

धनदास—अभी कहाँ ! शरीरका थोड़ा सुख भोगा है।

पर परलोकके लिये तो अभी कुछ नहीं किया। दया-धर्मका तो मुझे अवसर ही न मिला।

काक—ईश्वरने तो तुमको कई अवसर दिये।

धनदास—कहाँ ?

काक—एक गरीब कई दिनोंसे भूखा था, तुम्हारे पास आया, तुमने उसे दुस्कार दिया। इतना ही नहीं, एक दूसरे गरीब पहरेदारकी तुमने जीविका भी ले ली। एक बार एक कोढ़ीने तुमसे सहायता माँगी, तुमने तमाम सुखियोंके विरुद्ध पुलिसको लिखा कि वे आँखोंके आगे न रहने पावें, सुखमें श्याघात पहुँचता है। एक गरीबिनी विधवा कई बच्चे लेकर तुम्हारे पास आयी थी, तुमने उसे ठोकर मारकर निकलवा दिया।

धनदास—और मैं क्या उनकी पूजा करता ?

काक—पूजा करते तो ईश्वरके दर्शन भी हो जाते !

धनदास—बाह ! ईश्वर ऐसे ही घूमता फिरता है ?

काक—और क्या ? तुम्हारे उद्धारके लिये ईश्वर हो तो तरह-तरहके रूप धारण करके तुमको दया-धर्मके लिये उत्साहित करते हैं।

धनदास—(कुछ चिन्ताकुल होकर) मुझे मालूम नहीं था।

काक—त्रैर, अब चलो। मैं तुम्हें लेने आया हूँ।

धनदास—(अत्यन्त विस्मयके साथ) भला, अभी तो मैंने कुछ किया ही नहीं। न तीर्थ किया न व्रत; न किसीको कुछ दिया न किसीके काम आया। (यकायक कुछ कारण आनेसे कुछ उत्तेजित होकर) हाँ जी, काक ! तुम निष्ठुर तो प्रसिद्ध ही हो, पर झूठे भी हो, यह तो मैं नहीं जानता था ?

काक—कैसे ?

धनदास—तुमने बादा किया था कि पाँच सूचनाएँ देकर आऊँगा। क्या भूल गये ?

काक—(हँस देता है) फिर विषयको बदलता हुआ—सा) हाँ, धनदास ! तुम्हारे बाक तो बिल्कुल सफेद हो गये ?

धनदास—(यह सोचकर कि वादेकी याद दिलाकर इस बार काकको फिर ठाल दिया, प्रसन्न होता हुआ) हाँ, मित्र ! पचास वर्षकी अवस्थाके बादसे बाक सफेद होने लगे। अब तो एक भी काका नहीं होगा।

काल-चरमा कबसे लगाने लगे ?

धनदास-बस, बाल सकेद होने शुरू हुए कि ओखें भी बुँचकी होने लगीं ।

काल-कानसे भी शायद कुछ कम सुनायी पड़ता है ?

धनदास-भी हँ, कई बचोंसे कुछ ऊँचा सुनता हूँ ।

काल-भका, तुम्हारे मुँहके सब दाँत कहीं गये ?

धनदास-एक-एक करके सब दाँत गिर गये ।

काल-टाँगोंका क्या हाल है ?

धनदास-टाँगें अब शरीरके बोझको कम सँभाल सकती हैं । हाँ, मित्र ! तुम इसकी कोई दवा जानते हो ?

काल-दवा लेकर तो आया ही हूँ । चको, मेरे साथ ।

धनदास-और पाँच सूचनाएँ ?

काल-तुम अभी स्वीकार कर रहे हो कि तुमकी सूचनाएँ भिल्ल चुकी हैं । बाल सकेद हुए, ओखें बुँचकी हुईं, कान बहरे हुए, दाँत टूटे और टाँगें भिँबल हुईं, यही पाँच सूचनाएँ हैं । चको ।

धनदास-(विधियाकर) अभी थोड़े दिन और रहने दो । मैं धन-वैलत किसीको दे तो जाऊँ । हाय, मैं तो धोखेहीमें रहा । अरे ! बेटा, बेटी, स्त्री, नाती, पोते, दौबो-दौबो, मैं जा रहा हूँ ।

(धनदासका शरीर निर्वाण होकर गिर पड़ता है ।)

जिन खोज्या तिन पाइया

(लल्लक—भक्तवर श्रीयादवजी महाराज)



की ज्ञानी महात्मासे एक जिज्ञासु भक्तने प्रणाम करके पूछा—‘महाराज ! शास्त्रोंमें परमेश्वरको अगाध, अनन्त और अपरम्पार बतलाया गया है, वेद भी ‘नेति-नेति’ पुकारकर रह गये हैं, उनका निश्चिन्त स्वरूप कोई भी नहीं बतला सका, इसलिये मैं बहुत असमंजसमें पड़ा हूँ । मेरी मति बहोतक पहुँच ही नहीं सकती । कृपा करके मुझे आज ही समझाइये कि परमेश्वर कैसा है ?’

महाराज—तुम जैसा मानोगे, वैसा ही ।

भक्त—यह कैसे हो सकता है ?

महाराज—इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है । सदासे यही होता आया है और यही अब भी होता है । वस्तुतः परमेश्वरका कोई नाम, रूप या गुण नहीं है तथापि अन्तः-करणके सच्चे प्रेमसे भक्त भगवान्‌को जिस नामसे पुकारता है, वह उसी नामसे उत्तर देता है, जिस रूपकी उपासना करता है उसी रूपमें वह दर्शन देता है; जिन गुणोंवाला समझकर ईदता है, उन्हीं गुणोंवाला होकर वह मिल जाता है ।

नरसी मेहताने श्रीकृष्ण-रूपसे आराधना की तो उसको भगवान्‌ने श्रीकृष्ण-रूपसे दर्शन दिये, गोस्वामी तुलसीदास-

ने कहा—‘नहीं, मैं श्रीकृष्णको प्रणाम नहीं करूँगा, मैं तो श्रीरामको ही भजूँगा तो उसको श्रीराम-रूपके दर्शन हुए । कोई देवी-भक्त कहेगा कि मैं तो एक जगज्जननी माताके मिठा और किसीको नहीं मानूँगा तो प्रभु उसको देवी-रूपसे दर्शन देगा और यदि कोई अन्य धर्मो मनुष्य उसको किसी दूसरे ही रूप, दूसरे ही गुण और दूसरे ही नामसे भजता होगा तो उसको भी भगवान् उसकी अपनी चारवाके अनुसार ही भिल्ल जायगा ।

श्रीकृष्णसे श्रीराम बन जाना, श्रीरामसे देवी हो जाना या देवीसे और कोई अन्य देवता बन जाना, इसमें परमेश्वरके किये कुछ भी भ्रम नहीं है ।

जीव मर्यादित शक्तिवाला भक्तज्ञ है, परन्तु प्रभु तो सब कुछ कर सकता है, वह सर्वशक्तिमान् और सर्वसमर्थ है तब फिर अपने भक्तकी आबनाके अनुसार उसके सामने प्रकट हो और उसकी इच्छा पूर्ण करे, इसमें कौन-सी अनहोनी बात है ? तुम्हारी, तुम्हारे शास्त्रोंकी, या तुम्हारे गुरुकी परमेश्वरके सम्मन्धमें जैसी चारणा है, वैसी इस दुनियाके सब धर्मोंकी नहीं है इससे क्या परमेश्वर उन्हें छोड़ देगा ? कदापि नहीं ।

यदि प्रभुमें उनका सच्चा प्रेम होगा तो वे चाहे किसी भी नाम या रूपसे भगवान्‌की उपासना करते हों, उनकी साधनाके अनुसार प्रभुसे उनका मिलन होगा ही ।

अतएव शास्त्रोंमें जिसकी अनन्त, अगाध और अपार बलावा गया है, उसका बार-बार इने जानेकी कोई आवश्यकता नहीं। तुम भी अपनी समझ, अपने माता-पिताकी रीति और अपने गुणके उपदेशानुसार इष्टके सब प्रेमसे अगवान्-को भजो। तुम्हारी सेवा भी प्रभु स्वीकार कर लेंगे।

मक-सहाराज ! आपने मुझे अपनी धारणाके अनुसार भजनेको कहा तो ठीक है परन्तु मैं यह जानना चाहता हूँ कि आपने इतने समयतक साधन करके क्या निर्णय किया है ? प्रभुके विषयमें आपकी क्या धारणा है ? यदि आप मुझे इस गुप्त बातके सुननेका अधिकारी समझते हैं, तो कृपया कहिये।

महात्मा-वह कैसा है, कैसा नहीं, इस बातकी जाँच करनेकी जरूरतमें पढ़ना मुझे आवश्यक नहीं दीख पड़ा। मैंने तो आँखें मूँदकर अपनी जीवनवरी उसके हाथोंमें पकड़ा दी है और मुझे विश्वास है कि वह जैसा कुछ होगा, अपने आप ही मुझसे आमिलेगा। उधो-उधो उसका भजन अधिक होगा रधो-ही-रधो मुझे अधिकाधिक आनन्द, नित नया-नया आनन्द, बाह्य जगत्की हरकतोंसे भङ्ग न होने-वाली अपूर्व शान्ति और अखण्ड सुखकी प्राप्ति होती जावेगी है। इसलिये मैं समझता हूँ वह आनन्दरूपसे तो मुझे मिल गया है। ऋषियोंने उसे सच्चिदानन्द कहा है, इससे मालूम होता है उनकी वह उसी रूपमें मिला होगा।

मक-आप जिस आनन्द-सुधाका स्वाद ले रहे हैं उसमें-से थोड़ी-सी कृपा-प्रसादी इस सेबकको मिल जाय, मैं आपका ऐसा अनुग्रह चाहता हूँ।

महात्मा-भोजन में कलूँ और पेट तुम्हारा भर जाय, कहीं ऐसा भी हुआ है ? मिश्री में जाऊँ और उसका स्वाद तुमको आवे, यह कैसे हो सकता है ? परमेश्वरके सम्बन्धमें हमलोग जो बातें कर रहे हैं, यह कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जो उठाकर तुम्हें दे दूँ। परिश्रम दूसरा करे और फल तुमको मिल जाय, ऐसा कदाचित् संसारमें हो सकता है परन्तु भजन दूसरा करे और उसका आनन्द तुम्हें मिले, प्रभुके मार्गमें ऐसा कभी नहीं हो सकता।

मक-आपने मुझे कोई गुप्त भेद नहीं बताया और फिर आप हर एक प्रश्नमें सारा भार मुझपर ही ढाक रहे हैं। परन्तु मुझे तो कहीं भी परमेश्वर नहीं दीखता, फिर

बताइये, मैं कहाँ हूँ ? उसको कहाँ पाऊँ ? और वह कब मुझको मिलेगा ?

महात्मा-जब तुम्हारे हृदयमें सच्चा प्रेम जागृत होगा, तब वह मिलेगा। फिर तुम उसे क्या खोजोगे ? वही तुम्हें खोजता हुआ आवेगा। भक्तिमार्गका सबसे महान् सिद्धान्त प्रेम है। प्रेमीसे वह प्रभु कभी छिपता नहीं और प्रेमहीनकी कभी दीखता नहीं। तुम उसको नहीं देखते, परन्तु वह तुमको देख रहा है। तुम उसको नहीं जानते, परन्तु वह तुम्हें जानता है। पुकारकर देखो अभी पता लग जायगा।

परमेश्वरने अपना गुप्त भेद न तो किसीसे छुप छिपाया है और न किसीको दे ही डाला है। उसका मार्ग तो सीधा, सरल और सबके लिये सदा ही खुला पड़ा है।

आगो, आकम्ब खोदकर खदे होओ, चलना शुरू कर दो, तुम्हारी विजय होगी। मार्गमें तो मिलेगा, हूँ-होने तो प्राप्त होगा, बुलाओगे तो वह आवेगा, नाम लेकर पुकारोगे तो जवाब मिलेगा।

मूल तुम्हारी ही है, उसकी नहीं। बच्चा हाथ ऊँचा करे तो पिता उसे गोदमें उठाकर साथ ले जानेके लिये हमेशा ही तैयार है। श्रद्धालुकी दृष्टि ठेठ ब्रह्मलोक-तक पहुँचती है और अश्रद्धालुकी नजर अपने हृदयतक भी नहीं पहुँचती, वही आश्चर्य है।

मक-अब रोषकी बात बताइये, क्या मैं उसको अपने अन्तर ही खोजूँ ?

महात्मा-अन्तर देखोगे तो अन्तर भी दिखायी देगा। बहुतसे साधकोंने उसे सहज ही प्राप्त करनेके लिये यही किया था। याद रखो परमेश्वर बातोंका विषय नहीं है, कि जो बहुत बकनेसे, कल्पे प्रवचनोंसे अथवा बहुत सुननेसे मिल जाय। उसको प्राप्त करनेके लिये तो तुम्हें स्वयं कुछ करना पड़ेगा। जैसे आप मरे बिना स्वर्ग नहीं मिलता, वैसे ही दूसरेके परिश्रमसे तुमको परमेश्वरकी प्राप्ति होना सर्वथा असम्भव है। जिन्होंने खोजा है उन्होंने पाया है, तुम खोजो तुम्हें भी अवश्य मिलेगा।

रमता जोगी आया साधो, रमता जोगी आया ॥

सरवर-तटपर बौधा आसन, ऊपर तटवर छाया ॥

काशी माटीकी मटकीमें, अवृत रस भर लाभा ॥ नगरमें०

नव दरबारे बस करलीन्हें, दशबेपर चढ़ आभा ॥

शिष्य मछन्दर गोरख बोले जिन को उन्हा तिन पाया ॥ नगरमें०

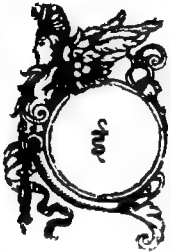
बातें बनाना छोड़ दो, बाद-बिबादको हटा दो, तर्क-वितर्कका त्याग करो, बुद्धिके विज्ञासको दूर करो और अज्ञासे—अन्तःकरणके सर्वभावसे विश्वास रखकर प्रेम-पूर्वक प्रभुका भजन करो, तुम उस परमदयालु, कृपाके महासागर प्रभुकी प्रीतिको अवश्य प्राप्त कर सकोगे।

योगी गोरक्षनाथ कह रहे हैं कि उसके किन्हे दूर जानेकी जरूरत नहीं है। इन्द्रियोंको बधामें करके रटन लगाओ, तुम्हारे अन्तरमें नाभिकमलमें ही तुम्हें प्रभु दिखायी देगा। इस षणभङ्गुर देहमें ही इसी जीवनकालमें तुम उस ब्रह्मानन्द-सुखको प्राप्त कर सकोगे।

ईश्वरकी ध्रुव सत्ता

(लेखक—पं० श्रीगणेशदत्तजी शास्त्री, विद्यानिधि)

ईशदीवदनधीतविषया तातमातृमुदयाविवर्धयन् । क्षेपणाय भवजनमकर्मणा कोपि गोपतनयो नमस्यते ॥



श्वरके अस्तित्व-विषयमें सृष्टिके आरम्भ-कालसे लेकर आजतक जितने अन्वेषण हो चुके हैं उन्हें दो विभागोंमें बाँटा जा सकता है, एक प्रमाणवाद और दूसरा तर्कवाद। इन दोनों बाँटोंमें भी अन्तरंगरूपसे अनेक भेद रहते हैं, किन्तु मुख्य सिद्धान्तमें दोनों पक्ष अपने-अपने पक्षमें एकमत हो जाते हैं। इस तरह एक पक्ष 'आस्तिक' और दूसरा 'नास्तिक' मानसे अभिहित किया जाता है। आस्तिकवर्ग प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द (आप्त-वाक्य) द्वारा प्रमेयकी निश्चिन्ता स्वीकार करते हैं और उनके मतमें श्रुति, स्मृति, पुराण, दर्शनादि आप्त-वाक्योंद्वारा प्रमित परमात्मा सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान्, अनादिनिघन और अनन्त, अचिन्मय, स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रियाओंका भण्डार स्वीकार किया गया है।

नास्तिक या अनीश्वरवादी केवल प्रत्यक्ष प्रमाणको ही स्वीकार करते हैं। उनके मतमें शास्त्रीप्रमाण प्रमाणीभूत न होकर केवल युक्ति और तर्कद्वारा जो वस्तु सिद्ध हो सकती है, वे उसे ही स्वीकार करते हैं। उनका मत है—

युक्त्यायुक्तं वाक्यं बालेनपि प्रमाणतः ग्राह्यम् ।

त्याज्यं युक्तिविहीनं श्रौतं वा स्यात्स्मार्तकं वा स्यात् ॥

अर्थात् युक्तिरहित वाक्य चाहे श्रुति या स्मृति किसी-का भी हो, ग्रहण नहीं किया जा सकता और युक्तियुक्त वाक्य चाहे बालकद्वारा भी कहा गया हो, वह सर्वथा ग्रहणयोग्य होता है। यद्यपि आस्तिक लोग भी तर्क और युक्तिसे प्रत्येक पदार्थका सूक्ष्म विवेचन किया जाना स्वीकार करते हैं, उनका मत है कि—

'यस्तु कर्णेनानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ।

किन्तु फर्क इतना ही है कि अधिन्य, अलौकिक एवं इन्द्रियातीत पदार्थोंकी सिद्धिको वे केवल बौद्धिक तर्क-द्वारा न मानकर शास्त्रानुमोदित तर्कद्वारा सिद्ध होना स्वीकार करते हैं, पर नास्तिक लोग केवल बौद्धिक तर्कसे ही प्रत्येक पदार्थका सिद्ध होना मानते हैं। उदाहरणार्थ हिरण्यकशिपुकी छीजिये। इसने जन्मसे मरणपर्यन्त ईश्वर-का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया और दूसरी तरफ इसके विपरीत प्रह्लादने गर्भसे ही ईश्वरकी सर्वव्यापकतापर पूर्ण विश्वास किया। इसी प्रकार भीर महावीर इनुमान्जीको छीजिये, उनका कथन है—

'पत्रे पत्रे च पदयामि रामं चारुजटावरम् ।'

'जले विष्णुः स्थले विष्णुः विष्णुः पर्वतमस्तकं ।

आलमाकाकुले विष्णुः सर्वे विष्णुमयं जगत् ॥'

जायातप और दिन-रातके समान परम्पर-बिरोधी वे दोनों ही पक्ष संसारमें अनादिकालसे लेकर आजतक रैल-की दो पटरियोंके तुल्य समानान्तररूपसे अनवरच्छिन्न चले आ रहे हैं और न्यूनाधिकस्वरूपमें प्रलयतक बराबर रहेंगे।

किसी भी पदार्थका यथार्थ ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणत्रय-द्वारा ही हुआ करता है। प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्त-वाक्यको ही प्रमाणत्रयके नामसे आस्तिकवर्गने स्वीकार कर, इनके द्वारा प्रमित ईश्वरको ध्रुव-सत्य स्वीकार किया है। किन्तु अनीश्वरवादी कहते हैं कि ईश्वर एक कल्पनाके सिवा कोई वास्तविक वस्तु नहीं है। यदि वह वस्तुतः कोई पदार्थ होता तो हम अपनी इन्द्रियोंद्वारा छट-पटादि पदार्थोंके तुल्य उसका भी अवश्य प्रत्यक्ष कर लेते। जब वह किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं है तो ऐसे अवस्तुरूप ईश्वरको स्वीकार करना केवल भ्रम ही कहा जा सकता

है। ऐसा नहीं तो उसकी सत्तामें प्रमाण ही क्या है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहा जा सकता है कि प्रत्येक जीवको अपने-आपने आत्माकी उपलब्धि ही ईश्वरके अस्तित्वमें सबसे बड़ा अकारण प्रमाण है—

सर्वो ह्यात्माऽस्तित्वं प्रमेति, न नाहमस्तीति—यदि हि नद्रमास्तिप्रसिद्धिः स्यात् सर्वोऽपि लोकः नाहमस्तीति प्रतीयात्

अर्थात् सम्पूर्ण जीव अपने आत्माका अस्तित्व प्रतिक्षण अनुभव किया करते हैं—‘मैं हूँ’ यह ज्ञान सभीको सदा रहता है, ‘मैं नहीं हूँ’ ऐसा ज्ञान कभी किसीको नहीं होता। यदि आत्माका अस्तित्व भ्रुवरूपसे सत्य न होता तो ‘मैं नहीं हूँ’ ऐसा ही ज्ञान प्रत्येक जीवात्माको होना चाहिये था, किन्तु ठीक इसके विपरीत ‘मैं हूँ’ यह ज्ञान होना ही आत्माके अस्तित्वका सबसे बड़ा स्वर्णसिद्ध प्रमाण है।

यद्यपि आत्मा इन्द्रियातीत और मन-बुद्धिके परेकी वस्तु है, इसलिये इन्द्रियों और मन-बुद्धिद्वारा उसका प्रत्यक्षीकरण किसी भी प्रकारसे नहीं किया जा सकता और प्रत्यक्ष न होनेपर भी प्रत्येक अन्तःकरणमें उसकी सत्ताकी उपलब्धि अत्यन्तरूपसे विद्यमान पायी जाती है। यह सत्ता वाक्, यौवन, जरा आदि अवस्थाओंके परिवर्तन होनेपर भी सदा एकरस एवं अजर, अमर, अनादि, अनन्तरूपसे विद्यमान रहती है; यही कारण है कि वह अपनी सिद्धिके लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरकी अपेक्षा नहीं रखता—वह स्वयंप्रकाश एवं स्वयंज्योति होनेसे सबका विज्ञाता स्वयं ही है, उसे अन्य प्रमाणोंसे नहीं जाना जा सकता, इसीलिये श्रुति पुकारकर कहती है—

‘विज्ञातरमरे केन विजानीयाम्’

‘स्वयंज्योतिरयं पुरुषः’

उक्त विवरणद्वारा यह स्पष्ट हो गया कि आत्मा स्वयं-सिद्ध पदार्थ है, यह यद्यपि इन्द्रियातीत है तथापि इसकी भुव उपलब्धि सर्वत्र विद्यमान है। इससे सिद्ध हुआ कि इन्द्रियोंका विषय न होनेपर भी वह संसारके सभी पदार्थोंकी अपेक्षा अधिक सत्य है और उसकी सत्यतासे ही संसारकी सत्यताका भान होता है। ‘मैं हूँ’ यदि यह प्रतीति नष्ट हो जाय तो ‘संसार है’ इसका भी ज्ञान नहीं हो सकता। अतः संसारकी सत्यताका बोध करानेवाला एक बेतन आत्मा ही है, यद्यपि यह परिष्कृत है तथापि अपरिष्कृत और सर्वव्यापी आत्माका अंश होनेके कारण,

अपने अंशारीभावसे अपनी सिद्धिद्वारा परमात्म-सिद्धिका साक्षात् परिचायक है।

उक्त आत्मसिद्धि ही परमात्म-सिद्धिमें साक्षात् प्रमाण है, क्योंकि—

‘अवमात्मा ब्रह्म’

‘ममैवांशो जीवतेके जीवभूतः सनातनः।’

इत्यादि औत्, स्मार्त-वाक्योंद्वारा जीवात्माको परमात्मा-का अंश बतकाया गया है, अंशरूप आत्माका प्रत्यक्ष अनुभव ही अंशरीरूप अपरिच्छिन्न सर्वव्यापक परमात्मा-के अस्तित्वका बोधक है, क्योंकि व्यक्तिके द्वारा समष्टिका ज्ञान होना स्वाभाविक है। इससे सिद्ध हुआ कि अंशरीरूप परमात्माका अस्तित्व केवल कोरी कल्पना ही नहीं प्रत्युत वह त्रिकाक्षावाच्य भुव सत्य पदार्थ है।

यदि प्रत्यक्ष प्रमाण ही सब पदार्थोंका निर्णायक माना जावे तो ईश्वर तो बुरकी वस्तु है, संसारहीके अनेक पदार्थ ऐसे मौजूद हैं कि जिनकी सिद्धि होना सर्वथा असम्भव है—जैसे ज्ञान, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, मन, बुद्धि, दिशा, काळ, परमायु, गुल्म आदि ऐसे पदार्थ हैं कि जिनका प्रत्यक्ष इन्द्रियोंसे नहीं हो सकता, पर उनके अस्तित्वमें किसीको भी सन्देह नहीं होता, क्योंकि उनका अनुभव प्रत्येक जीवको होता है।

इसी प्रकार जिन इन्द्रियोंद्वारा हम अन्य पदार्थोंका प्रत्यक्ष करते हैं—स्वतः उन इन्द्रियोंका अयु-परिमाणमें होनेके कारण आजतक किसीको प्रत्यक्ष नहीं हुआ, तब क्या इन्द्रियों भी नहीं हैं ऐसा भान लेना चाहिये? वास्तवमें प्रत्यक्ष प्रमाण ही इतना पंगु एवं अल्प-शक्ति-वाला प्रमाण है कि यदि हम इसीके भरोसेपर पदार्थोंकी सत्ताका निर्णय करना चाहें, तो हमें अपने स्वरूप और अपनी इन्द्रियोंसे भी हाथ जो बैठना होगा। यही कारण है कि त्रिकाक्षदर्शी महर्षियोंने केवल परिमित गतिमत् प्रत्यक्षपर अवलम्बित न होकर प्रत्यक्ष-सहकृत योग्य अनुमान और आस-वाक्यको प्रमाण-स्वरूप स्वीकार किया है। जिस स्थानपर प्रत्यक्ष प्रमाणकी गति पंगु हो जाती है वहाँ अनुमतिद्वारा पदार्थका निर्णय और कार्य-कारण-भावकी मीमांसा की जाती है। प्रायः अष्ट और अकौकिक पदार्थोंमें जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण सर्वतोभावेन

कुचिठत हो जाता है, वहाँ अनुमानद्वारा पदार्थका निर्धारण करना आवश्यक हो जाता है।

पर्यन्तपर धृष्टको देखकर अदृष्ट वस्तुका अनुमान व्याप्तिप्रवृत्ति से बलसे किया जाता है। इसी प्रकार कार्य-कारण-सम्बन्धद्वारा घटको देखकर कुलालका, पटको देखकर तन्तुधारका, मठको देखकर शिल्पकारका अनुमान किया जाता है। क्योंकि—

यत्र यत्र कार्यत्वं तत्र तत्र सकर्तृकत्वम्।

जहाँ कहीं भी कार्य देखा जावे, वहाँ उसके कर्ताका अनुमान अवश्य ही करना पड़ता है। कर्ताके बिना कोई भी कार्य नहीं बन सकता। जिसप्रकार घट-पट आदिको देखकर उनके कर्ता कुलालादिका ज्ञान युक्तियुक्त और स्वाभाविक है, ठीक उसी प्रकार अनन्त आश्चर्योंका अण्डारभूत यह महान् विश्व भी एक कार्य है, तब इसके अनुरूप कर्ताका भी अनुमान करना ही होगा।

‘क्षिप्रदृग्गदिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्।’

संसारके पृथिवी और अंशुरादि पदार्थ कार्य होनेसे किसी कर्ताकी कृति हैं, ऐसा स्वाकार करके इसके कर्ताका अस्तित्व अगत्या स्वीकार करना ही पड़ेगा। यदि जगत्-स्वयं कार्य केवल कल्पना न होकर भावरूपमें विद्यमान है तो इसका कर्ता भी काल्पनिक नहीं प्रत्युत भ्रुव सत्य है।

जगत्के अन्तरंग कार्य असंख्य हैं, इन कार्योंके कार्य भी असंख्य ही होंगे। प्रत्येक कार्यकी योग्यता उसके कर्ताके ज्ञान, बल, शक्ति और योग्यताका परिचायक होता है। घटकच निर्माण-कौशल और कार्यक्षमता देखनेसे कुम्भकाररूप कर्ताकी साधारणशक्ति और सामान्य बुद्धि-का कर्तृत्व भी समझमें आ जाता है। इसी दृष्टिसे जब जगत्-रूपी कार्यका विचार किया जावे तो इसके प्रत्येक वर्णमें अनन्त आश्चर्योंका अण्डार भरा हुआ नजर आता है। जिसप्रकार अक्षर्यसृष्टिमें हम अनेक प्रकारकी विविधताओंको देखकर शक्ति हो जाते हैं उसी प्रकार यदि कारण-सृष्टिकी ओर ध्यान दें तो हमारे आश्चर्योंकी सीमा ही नहीं रहती। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, मेघ, विद्युत्, नद्य, नदी, पृथिवी, पर्वत, जमि, वायु, जल, समुद्र और अण्डक, उज्जिज, खेवख, जराबुख आदि अनन्त जड़-जड़म पदार्थों और उनके अकार-प्रकार-स्वभावोंकी विविधताएँ देखकर उनके महान् कर्मिणाकी कर्ताका अनुमान अवश्य करना पड़ता है।

क्योंकि जड़ प्रकृति या अल्पज्ञ परिच्छिन्न जीव इस महान् शक्तिका कर्ता नहीं हो सकता, तब एक सच्चिदानन्दचम सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमात्माको छोड़कर और कौन है जो संसारकी रचनामें समर्थ हो सके ?

(रचना-चातुरी)

जब हम ज़रा-सी भी विवेक-बुद्धिको काममें लाते हैं तो आवि-सृष्टिकाहमें पृथिव्यादि पौधों मूलतत्त्व एवं पञ्चकानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्च-तन्मात्राएँ मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार, प्राणापानादि सूक्ष्म एवं आश्चर्यमय शक्तियोंसे परिपूर्ण अवयवों और इनके यथास्थान विनियोग-के लिये अनन्त प्रकारकी देहोंका निर्माण देखकर उस परमात्माकी अनन्त बुद्धि और अनन्त शक्तिका पता लगाता है। दूर न जाकर यदि हम सबसे पूर्व अपनी शरीर-रचनापर ही विचार करें तो पता लगता है कि सामान्य रज-बीजोंके संयोगसे उसने इस शरीरको पैदा किया है। नखसे लेकर शिखापर्यन्त इस शरीरमें जहाँ जिस वस्तुकी आवश्यकता थी, उसे उसी स्थानपर कितनी कारीगरोंसे सजाया है जो देखते ही बनता है। जैसे चूल्हेको पैर, आदान-प्रदानके लिये हाथ, बीछनेके लिये जिह्वा, चुननेके लिये कान, देखने-के लिये नेत्र आदि अङ्गोंका निर्माण जहाँ जैसा अपेक्षित था, देकर फिर उसकी शोभाके लिये सौम्यताका भी समावेश किया गया है। जैसे नेत्रोंकी समता, अङ्गुलीकी लम्बाई, बाँकोंकी स्थाई, अङ्गी कुटिकाई, पलकोंकी झिलझिली शक्ति, नासिकाकी लम्बाई, कपोलोंकी गोलाई, जाँघोंकी उँचाई, छातीकी चौड़ाई आदि सुन्दरताएँ स्वयं-स्वयं पर ऐसी रक्खी हैं जिनके वर्णनमें कवियोंने अनेक काव्य रचकर पार नहीं पाया। यह संगविव्यासकी सुन्दरता केवल मनुष्यहीमें है यह बात नहीं, प्रत्युत मच्छरसे लेकर हाथीपर्यन्तके जीवोंको जो-जो अङ्ग जहाँ-जहाँपर अपेक्षित थे, वहाँ-वहाँ उन्हीं इस सुन्दरतासे सजाया है कि बुद्धि आश्चर्यचकित होती है। इसी प्रकार वृक्षादि जड़ पदार्थोंका जब विचार करते हैं तो वन-उपवनों और पर्वतों-में चित्र-विचित्र पुष्प-पत्र और रंग-विरंगे कीट-पतङ्गोंकी सुन्दरताको देखकर प्रत्येक प्राणी मुग्ध हो जाता है। अनेक रंगोंके फल-फूल और कीट-पतङ्ग, वसु-वसु आदिकी देखनेसे उनकी सुन्दर, सुबौद्ध विविध शारीरिक रचनाएँ आश्चर्यसागरमें डाल देती हैं। चींटी और मच्छर आदिके शरीरोंकी सूक्ष्म वस्तुओं और उनके बाहार-विहारके

साधन, इसी प्रकार जमीन जीवों और कीटाणुओंकी सुक्ष्मता, हाथी आदि पशुओंके शरीरकी स्थूलता, सिंहादि हिंसक जीवोंके नख-दन्त आदि हिंसायोग्य साधनोंकी रचना और अहिंसक पशुओंके नख-दन्तादिकी विभिन्न रचना और उनके देहेन्द्रिय-प्राणादिका यथायोग्य विन्यास जो कि आकांक्षा और अपेक्षासे युक्त देखा जाता है, कर्ता-के बुद्धिमत्तापूर्ण रचना-कौशलका द्योतक है। इस रचना-की बारीकी समझना भी जब जीवके छिड़े कठिन है तो निर्माणकी तो बात ही क्या कही जा सकती है? यद्यपि आजकल विज्ञानवेत्ता अपने भिन्न-भिन्न आविष्कारोंके छिड़े जगदमें प्रसिद्ध हो रहे हैं, पर वे सब-के-सब मिलकर भी एक बाल भी बनानेमें असमर्थ हैं। और जब-प्रकृतिमें प्रतिदिन सूर्य-चन्द्रका नियमित समयपर उदयास्त, ग्रहोंकी गति, ऋतुओंका परिवर्तन, नदियोंका प्रवाह, बीजोंसे बधा-समय, यथास्थान शंकुओंका प्रसर, फल-फूलोंका समयपर आना आदि नियमित एवं सुव्यवस्थित कार्यप्रणाली अपने महान् शक्तिशाली सर्वज्ञ परमात्माकी रचना-चातुरीके निदर्शक हैं।

कितने ही स्वभावकारणवादी सृष्टिकी उत्पत्ति केवल स्वभावसे ही मानते हैं, उनका कथन है कि बेर और बबूल-के काँटोंकी तीक्ष्णता कोई नहीं बनाता, वह स्वभावसे ही बनती है। गोबरमें उष्णतामें उत्पन्न होकर मक्खी, विच्छेद आदि कीट अपने आप पैदा हो जाते हैं; जूँ, चीख, खटमलादि जन्तु प्रस्वेदसे स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं, तब एक अदृष्ट और अज्ञात कर्ताकी कल्पना करना व्यर्थ है।

किन्तु यह पक्ष अत्यन्त निर्दोष है, क्योंकि स्वभाव शब्दका अर्थ यदि (स्वस्य भावः स्वभावः) अपने आप अपना भाव होना माना जावे तो उसे आप ही अपना हेतु बनना होगा, ऐसा होनेसे आत्माश्रय-दोष आता है और इसका कोई दृष्टान्त भी नहीं मिलता। थोड़ी देरके लिये यदि हम ऐसा भी मान लें तो भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जिस पदार्थकी उत्पत्तिके लिये जिस देश, जिस काल और जिस निमित्तकी अपेक्षा रहती है, यदि वह प्राप्त न हो तो केवल स्वभावसे पदार्थ-की उत्पत्ति होना असम्भव है। जैसे केसरके बीजोंका कारमीरमें ही स्वयं पैदा होना, कृष्णसार और कस्तूरीसूगों-का सर्वत्र पैदा न होना, कोकिलका स्वर वसन्तमें ही प्रस्फुटित होना, बलाका पक्षीका गीत न भेषजवृत्ति सुनकर

ही गर्ज भारण करना आदि कार्य अपने-अपने देश, काल और निमित्तादिकोंकी अपेक्षा रखते हैं। यदि स्वभावसे ही इनका होना सत्य होता तो देशादि निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं होनी चाहिये थी। इसी प्रकार मिट्टीका घड़ा, रुईका कपड़ा, सुवर्णका कंकण, पीतलको कटोरी, काठकी कुर्सी आदि अपने आप स्वभावसे ही बिना किसी कर्ताके, बनते रहने चाहिये। पर ऐसा नहीं होता। अतएव इसके यदि आरम्भके परमाणुओंमें सृष्टि-रचनाका स्वभाव मानें तो प्रलय सिद्ध नहीं होती, यदि प्रलय स्वभाव माना जावे तो स्थिति सिद्ध नहीं होती। एक ही वस्तुमें उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय ये विभिन्न विरोधी गुण रह नहीं सकते। इसी प्रकार संसारी प्राणियोंमें कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई पहले सुखी फिर दुःखी, कोई पहले दुःखी और फिर सुखी और अन्तमें दुःखी होते देखे जाते हैं, क्या ये सब परिवर्तन अकस्मात् बिना किसी चेतनकी प्रेरणाके स्वयं घटते हैं? ऐसा नहीं माना जा सकता। इन क्रियाओं-का परिवर्तक वा नियामक जड़-परमाणुओंसे भिन्न एक चेतन नियन्ता अवश्य स्वीकार करना होगा। और वह केवल एक ईश्वर ही हो सकता है, अन्य नहीं।

इसी प्रकार परमाणुकारणवादियोंका यह कहना, कि पृथिव्यादि भूतजगत्पदोंके परमाणुओंके पारस्परिक संयोगसे ही संसारका निर्माण हो जाता है, किसी कर्ताकी आवश्यकता नहीं, विचार-तुलापर आरोहण नहीं करता। क्योंकि सृष्टिके आरम्भकालमें परमाणुओंके अन्दर जो क्रिया उत्पन्न होकर रचनाका आरम्भ होना चाहिये, वह चेतन-शक्तिकी प्रेरणाके बगैर नहीं हो सकती। दो परमाणुओंके मिलनेसे द्व्यणुक, तीन परमाणुओंके मिलनेसे त्रसरेणु बनते हैं। परमाणुओं-का स्वयमेव नियमबद्ध संयोग बिना चेतनकी प्रेरणाके द्वित्व-त्रित्वादि संख्यामें परिणत नहीं हो सकता। इससे सिद्ध हुआ कि सृष्टिके आदिकालमें जड़-परमाणुओंमें क्रिया उत्पन्न करना और उसके द्वारा जगत्का निर्माण करना चेतनरूप परमात्माकी ही इच्छासे होता है। इसी बातको दृष्टिमें रखकर श्रुति कहती है—

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्रयन्यमसिंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् नमोति।’

अर्थात्—इस धराधररूप संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, लय परमात्माहीके द्वारा होता है—

अह सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।

—इत्यादि स्मृतियोंसे भी सिद्ध है कि परमात्मा ही इस जगत्के जन्म, स्थिति, लयका परमकारण है।

पूर्व-सन्दर्भमें कार्यद्वारा कारणके अनुमानसे परमात्मा-की सिद्धि एवं उसका भ्रुव सत्यत्व सिद्ध किया जा चुका है। आगे अन्ध हेतुओंद्वारा भी परमात्माके अस्तित्व-का दिग्दर्शन कराना अनुचित न होगा।

किसी भी कार्यके किये कारण-सामग्रीकी अपेक्षा होना स्वाभाविक है और कारण-सामग्रीमें अधिष्ठान, कर्ता, करण, आयोजन और दैव इन पाँच पदार्थोंकी आवश्यकता रहती है। घटरूप कार्यके किये पृथ्वी अधिष्ठान, सृष्टिका उपादान, कुटाक कर्ता, दण्डादि करण, पिण्डीकरण एवं पृथु-बुधोदरादि आकृतिका अनुसम्भाररूप आयोजन अपेक्षित होता है। सब सामग्री जुटनेपर जबतक कर्तारूप कुम्भकार आयोजन नहीं करता, तबतक दण्ड-चक्र-सृष्टिका आदिके रहते हुए भी घटरूप कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। सृष्टिकाका पिण्डीकरण चक्रका सञ्चालन आकार-निर्माणकी आयोजनाके किये विशेष प्रकारकी चेष्टा करता है, तभी घटरूप कार्यका निर्माण होता है। इससे सिद्ध हुआ कि सृष्टिके आदिकाकमें द्रव्यशुद्धके आरम्भक परमाणुद्रव्यका संयोग पैदा करनेवाला कर्म चेतनहीके प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न होता है और वह चेतन परमात्मा ही संयोजक तथा आयोजक है ऐसा स्वीकार करना ही पड़ेगा। इसीकिये श्रुति निर्देश करती है कि—

सर्बगमायू... ..

यायतधमतोऽर्धान् द्यदवाष्ठावतीभ्यः समान्यः॥

(यजु० ४०।८ म० ईश मं० ८)

अर्थात् उस स्वयम्भू परमात्माने ही सूर्य-चन्द्रादि सब जगत्कारक यथायोग्यरूपसे जहाँ जिसप्रकारकी चेष्टा या आयोजनकी अपेक्षा थी, वहाँ उसी प्रकारकी क्रियाद्वारा उस-उस पदार्थका निर्माण किया, अतएव जिसप्रकार वह इस जगत्का कर्ता सिद्ध होता है, उसी प्रकार उसका आयोजक भी वही सिद्ध होता है। इसीकिये उसे भ्रुव सत्य कहा जाता है। पृथ्वी, पर्वत, समुद्रादि स्थावर-जंगम जगत्का निर्माण जीव और अज-प्रकृतिके सामर्थ्यसे बाहर है।

कार्य बन चुकनेपर उसका धारण करना भी आवश्यक होता है—यतिके अभावमें कृति सुरक्षित नहीं रह सकती। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, पर्वतादि जड़-पिण्डोंका निर्माण करनेके

अनन्तर उन सबको यथायोग्य स्थानपर टिकाये रखना आवश्यक है, अन्यथा निरवकम्ब आकाशमें टिके हुए अनन्त ग्रह-पिण्ड एक दूसरेसे परस्पर टकराकर नष्ट-भष्ट हो जाते। अपनी सत्ताद्वारा प्रत्येक ग्रह, उपग्रह और पृथिव्यादि लोकोंको आकाशमें उबनेवाले पानीके मुलमें टिके हुए काष्ठके अनुसार निरवकम्ब आकाशमें अपने-अपने केन्द्रके अन्दर ठहराये रखना और नष्ट न होने देना इसके किये असाधारण शक्तिसम्पन्न धारणकर्ताकी आवश्यकता है। वह केवल परमात्माको छोड़कर अन्य कोई नहीं हो सकता। यही बात श्रुति और स्मृतिसे भी सिद्ध है—

‘पतस्याध्वरस्य प्रशासने गार्गी छावापृथिव्यौ विभूत तिष्ठतः॥’

‘गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोत्रसा।’

‘हे गार्गी! यह सुलोक और पृथिवीलोक उस अध्वररूप परमात्माके शासनमें धारण किये हुए टिके हैं।’ उपर्युक्त गीताके वाक्यमें भी भगवान्ने स्वयं संसारका धारक होना अपने श्रीमुखसे ही स्वीकार किया है।

सांसारिक घट-पटादि पदार्थोंके नाम और स्वरूपका ज्ञान बिना किसी अन्य व्यक्तिके उपदेशके नहीं होता। सृष्टिके आदिकालमें व्यवहारयोग्य घट-पटादि पदार्थोंके नाम और रूपका निर्देश करनेवाला भी एक चेतन सर्वज्ञ गुरु अपेक्षित होता है। उस कालमें एक परमात्माको छोड़ अन्य कोई व्यवहारप्रदर्शक होना सिद्ध नहीं होता, अतः सृष्टि-निर्माणके अनन्तर सृष्टिके सम्पूर्ण पदार्थोंका व्यवहार-प्रदर्शक और नामरूपका निर्देशक उसे ही मानना पड़ेगा। यही बात भगवान् पतञ्जलिके योगदर्शनमें कही है—

स एष पूर्वनामपि गुरुः कलेनानवच्छेदात्॥

अर्थात् वह परमात्मा ही संसारके समस्त गुरुधर्मोंका आदिगुरु है। उसीके द्वारा सृष्टिके आरम्भकालमें सांसारिक घट-पटादि पदार्थोंका ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् व्यवहार-ज्ञानके सम्प्रदायका प्रवर्तक एक ईश्वर ही है। अतः सिद्ध हुआ कि ईश्वर भ्रुव सत्य है, वह न होता तो व्यवहार-का ज्ञान सर्वथा असम्भव हो जाता, इसी कारण उसे आदि-गुरुके नामसे योगाचार्य महर्षि पतञ्जलिके अमिहित किया है।

समूचे लेखका सारांश यह है कि ईश्वर केवल एक कल्पनाका विषय ही नहीं, प्रत्युत भ्रुव सत्य है।

१-यदि ईश्वर न होता तो जीवात्मास्फी अंशभूत परिच्छिन्न चेतनकी भी 'मैं हूँ' ऐसा ज्ञान कदापि न होता ।

२-यदि ईश्वर न होता तो संसाररूपी कार्यकी उत्पत्ति कभी न होती, क्योंकि कर्ताके बिना किसी भी कार्यकी उत्पत्ति असम्भव है । जड़-प्रकृति या परमाणु साक्षात् एवं सापेक्ष जगत्के निर्माणमें कभी भी समर्थ नहीं हो सकते, क्योंकि जहाँ कहीं भी कर्तृत्व रहता है, वहाँ कार्यके उपादानका प्रत्यक्ष ज्ञान एवं कार्य बनानेकी इच्छा और कृति ये तीन पदार्थ आवश्यकरूपसे रहते हैं, जो जड़ परमाणु या प्रकृतिमें असम्भव हैं । अचेतन पदार्थोंसे कार्यकी उत्पत्ति चेतनकी प्रेरणा बिना हो नहीं सकती । इससे सिद्ध हुआ कि समस्त स्थावर-जंगम जगत्का कर्ता एक अपरिच्छिन्न चेतनरूप परमेश्वर ही है और वह सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिसम्पन्न होनेके कारण इच्छामात्रसे संसारकी रचना करनेमें सर्वथा समर्थ है ।

३-कोई भी कार्य आयोजनरूप कर्मके बिना नहीं होता, यह नियम है । तब सर्गके आरम्भकालमें दो परमाणुओंमें संघटन या संयोगरूप क्रिया उत्पन्न होकर द्वयणुकका आरम्भ करानेवाला कर्म चेतनरूप ईश्वरकी प्रेरणा-से ही उत्पन्न होता है और वही द्वयणुक-संयोग आगे चलकर जगत्के रूपमें परिणत होता है । अतः यदि ईश्वररूप आयोजक न होता तो संसाररूप कार्य कभी न बनता, अतएव ईश्वर भुव सत्य है ।

४-यदि अनन्त ब्रह्माण्डोंको रचकर भी इसका भारक कोई सर्वशक्तिसम्पन्न चेतन न होता तो उत्पन्न होकर भी यह कभीका नष्ट हो गया होता । निरवच्छेद आकाशमें कटेके हुए सूर्य, चन्द्र, ग्रहोपग्रहादि पिण्डोंकी यज्ञपूर्वक पतनसे बचानेके लिये पतनका प्रतिबन्धक अर्थात् धारण करनेवाला एक ईश्वर ही है । जिसप्रकार आकाशमें उड़ता हुआ पक्षी अपने मुखमें काष्ठ-खण्डको धारण किये रहता है, उसे गिरने नहीं देता, उसी प्रकार ईश्वरकी शक्तिले ही समूचा ब्रह्माण्ड धारण किया हुआ टिका है । यदि वह न हो तो संसारके सभी पदार्थ परस्पर टकराकर नष्ट हो जायें । अतएव समस्त विश्वराशिका कर्ता, भर्ता, इर्ता जगदीश्वर सदा सत्यरूपसे विद्यमान है ।

५-सर्गके आरम्भकालमें घट-पटादि यावत् पदार्थोंका ज्ञापक एक स्वतन्त्र चेतन यदि न हो तो तरकाछीन जीवों-को किसी भी पदार्थका ज्ञान नहीं हो सकता और पदार्थ-

ज्ञानके अभावमें व्यवहार नहीं हो सकता । अतएव आरम्भ-कालमें परमेश्वर ही प्रयोज्य एवं प्रयोजक बनकर व्यवहारके सम्प्रदायका प्रवर्त्तक होता है । अतः वह भुव सत्य है ।

६-जहाँ प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाण भी पंगु हो जाते हैं, वहाँ शब्द ही एक ऐसा प्रमाण है जिसके द्वारा वस्तुकी यथार्थ प्रमा की जा सकती है । इसी कारण वेद-वाक्योंको आसवाक्यरूप शब्दप्रमाण माना जाता है, क्योंकि वेद-अन्य ज्ञान कार्या-गुण-अन्य है । इसीलिये उसका प्रामाण्य है । और वेदमें पदे-पदे परमात्माके अस्तिावका वर्णन मिलता है, यथा —

‘यज्ञो वै विष्णुः’

‘अग्निर्देवानामबमः विष्णुः परमः’

‘न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते ।

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥’

‘अपाणिपादो जवनो ग्रहीता

पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।’

‘अक्षरस्य प्रशान्ते गार्गी छावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः’

‘स ऐक्षत एकोऽहं बहु स्याम प्रजपेय’ इत्यादि ।

अर्थात् यज्ञ विष्णुका स्वरूप है । अग्नि सब देवताओंमें प्रथम और विष्णु सबसे परम है । उसका न तो कोई कार्य है, न करण है और न कोई उसके समान ही है, न उससे अधिक कोई महान् शक्तिशाली एवं अद्वितीय है । उसकी शक्ति अप्रतिम है, विविध शक्तियाँ उसमें ज्ञान, बल और क्रियारूपसे सदा विद्यमान रहती हैं । वह बिना नेत्रके देखता है, बिना कानोंके सुनता है, बिना पैर चलता है, बिना हाथोंके ग्रहण करता है, वही एक सबका वेद्य है पर उसका यथार्थ वेत्ता दूसरा नहीं, उसीको वेदमन्त्र एवं महात्माजन सबसे अग्र्य और महान् पुरुष कहते हैं । उसी अक्षररूप परमात्माकी शक्तिले सह संसार धारण किया हुआ टिका है । सर्गके आरम्भकालमें उसने एकसे अनेक होनेकी इच्छा की । उसकी इस इच्छासे द्रित्व या अस्थिर-रूप संस्थाका आरम्भ होकर दो परमाणु मिले और संसार-का आरम्भ हुआ, स्वतन्त्र एक चेतनके बिना संस्था नहीं प्रकट हो सकती । संस्था सदा चेतन सापेक्ष है । मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, इस संकल्पकी ही संस्थाका आरम्भक

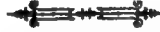
कहना चाहिये। संख्या-विशेषसे ही परमात्मासे दृश्यबुद्धि, असरेणु आदि बनते हैं जिनसे जगत्की रचना हुआ करती है उपर्युक्त वेदवाक्योंसे भी जगदीश्वरका त्रिकालाऽवाधित अस्तित्व और प्रभुत्व एवं सर्वशक्ति एवं सर्वशक्तिमत्ता अकाव्यरूपेण सिद्ध है।

इसप्रकार विविध युक्ति और तर्कसहकृत प्रमाणोंके निर्मल गंगाजलसे बारम्बार धोनेपर भी जिनका हृदय ईश्वरके अस्तित्वमें निश्चयरूपसे विश्वास करनेमें असमर्थ हो,

उसे कठिन पत्थर या लोहका हृदय ही समझना चाहिये। ऐसे विमुख जीवोंकी जीवनरूप पत्थरकी नौकाकी वही विश्वम्भर अपनी अकारण कल्याणसे पार लगा सकता है, दूसरा साधन नहीं।

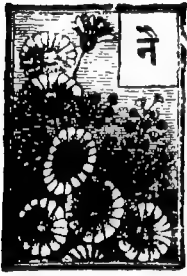
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

ओ३म् तत्सत्



ईश्वर-शरणागति और प्रार्थना

(लेखक—पं० श्रीरामदयालजी मजूमदार एम० ए०, सम्पादक 'उत्सव')



सर्गिक नियमके अनुसार कलियुग क्रमशः घोर तमसाच्छन्न होता जा रहा है। अधिकांश स्त्री-पुरुष आज-कल मोहाच्छन्न हो रहे हैं। कुत्सेत्रके युद्धके पूर्व अर्जुनको जिसप्रकार मोह उत्पन्न हुआ था, आज समस्त पृथ्वीकी सभी जानियाँ उसी प्रकार अथवा उससे भी अधिक मोहाच्छन्न हैं। प्रायः लोगोंकी विचार-धारा क्षणिक सुविधाओंकी ओर ही रहती है। जिसप्रकार अर्जुन भगवान्की आज्ञानुसार चलना नहीं चाहते थे तथा उनकी आज्ञाके विपरीत कुतर्क करते थे, आजके लोग भी उसी मार्गका अवलम्बन कर रहे हैं। श्रीभगवान्ने अर्जुनको भयावह परधर्मका त्याग कराकर स्वधर्म-पालनमें जीवन उत्सर्ग करनेके लिये युक्तिपूर्ण विचार प्रदान किया था। भगवान्के आशीर्वादसे जिसप्रकार अर्जुनका मोह नष्ट हो गया था और भगवान्के श्रीमुखकी वाणी सुनकर अन्तमें कृतार्थताको प्राप्त अर्जुनने जिसप्रकार कहा था—

नमो मोहः स्मृतिर्होवा त्वत्प्रसादान्मयाभ्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

(गीता १८। ७२)

'हे अध्युत ! मेरा अज्ञानजनित मोह नष्ट हो गया है, मैं आपके आशीर्वादसे अपने स्वरूपकी स्मृति प्राप्त करके अब समस्त सन्देहोंसे रहित होकर आपके आदेशका पालन करनेके लिये स्थिर-निश्चय हो गया हूँ, अब आप जो कहेंगे

मैं वही करूँगा।' हाय ! गीताके मोह त्याग करनेके लिये दिये हुए भगवान्के उपदेशोंको मानकर क्या उसी प्रकार आजके मनुष्य अपने मोहको त्यागकर कभी यह कह उठेंगे कि 'करिष्ये वचनं तव ?' ऐसा शुभ अवसर कब उपस्थित होगा ? मालूम होता है अभी इसमें बहुत विलम्ब है। कलियुगकी आयु चार लाख बत्तीस हजार वर्ष है। इसमेंसे अभी पाँच हजार या उससे कुछ ही अधिक वर्ष बीते हैं। इसीलिये कहा जाता है कि अभी कलियुग—अन्धकारका लीलाक्षेत्र है। व्यभिचार चारों ओर नष्ट नृत्य कर रहा है। त्रिकालदर्शी ऋषियोंने इस बातको समझ कर ही, कलियुगमें जगन्भरके नर-नारियोंकी क्या स्थिति होगी, उन्हे पहले ही कह दिया है। उन्होंने जो कुछ कह दिया था आज हम उसीको प्रत्यक्ष देख रहे हैं। देवर्षि नारदने जगत्के जीवोंकी भावी दुर्गति देखकर भगवान् ब्रह्माको दुःखकी कथा सुनाकर उसके प्रतिकारके लिये यह प्रार्थना की थी—

'घोर कलियुगके आ जानेपर सारे मनुष्य पुण्यहीन, दुराचारी, असत्यवादी, परनिन्दक, दूसरोंके द्रव्यकी इच्छा करनेवाले, परायी स्त्रीसे प्रेम करनेवाले, दूसरोंकी हिंसामें रत, शरीरको ही आरम्भ समझनेवाले, मूर्ख, नास्तिक, पशुओंकी-सी अह-बुद्धिवाले, माता-पितासे वैर करनेवाले, कीपरायण एवं कामनाओंके दास होंगे। ब्राह्मण लोभ-रूपी पिशाचसे पीड़ित होंगे, वेदको बेचकर जीवन-निर्वाह करेंगे, धनोपाजनके निमित्त विद्याभ्यासकर अपनी विद्वत्ताके गर्वसे पागल हो जायेंगे, अपनी जातिके कर्मको छोड़ देंगे और प्रायः दूसरोंकी बखाना किया करेंगे। इति

एवं वैश्य अपने-अपने धर्मका परि त्याग कर देंगे और इसी प्रकार क्षत्र माझणोंका-सा आचरण करने लगेंगे। स्त्रियाँ प्रायः चरित्रभ्रष्ट, पतिका अपमान करनेवाली, निब्र एवं सास-ससुरसे द्रोह करनेवाली होंगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। इन सब लोगोंकी बुद्धि मारी गयी है, इनकी परलोकमें क्या दशा होगी, यह चिन्ता मेरे चित्तको निरन्तर व्यथित करती रहती है। कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे इन लोगोंका परलोक सहजहीमें सुधर जाय, क्योंकि आप सब कुछ जानते हैं।'

केवल भारत ही नहीं, जगत्भरमें आज उपशुक्त सभी बातें प्रायः प्रथक् हो रही हैं। लघु उपायोंसे घोर कलियुगकी दुर्गतिका उपशम किसप्रकार होगा, इस बातको भी ऋषियोंने विशेषरूपसे कह दिया है। उनके निर्धारित मार्गपर चले बिना अन्य किसी प्रकारसे भी मनुष्यका यह हाहाकार निवृत्त नहीं हो सकता।

पूर्व-पुण्योंके प्रतापसे स्वधर्म-पथपर चलेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंको आज पद-पदपर कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, यह देखा जाता है। इतनेपर भी ये महाबुभाव स्वधर्मका त्याग करके, पर-धर्म ग्रहण करनेकी अपेक्षा मृत्युको आर्त्तिगन करना उत्तम समझते हैं और उसके लिये सर्वदा प्रस्तुत हैं। पर जो लोग ऋषियोंके दिक्काये हुए मार्गको छोड़कर अपने कपोल-कल्पित पथपर चलते हैं उनकी क्या स्थिति है? 'आप मेरे लङ्का लुटवायी' की कहावतके अनुसार ही उनकी अवस्था है। इन सब लोगोंको ईश्वरकी करण लेनी होगी। साम, दाम, मेदके द्वारा भी जो शरारमें नहीं आते, अगवान् कृपापूर्वक उनको दृष्ट देकर किसप्रकार अपने पथपर लौटाते हैं, इस सम्बन्धमें यहाँ कुछ आलोचना करना अप्रासंगिक न होगा।

(१) शरणागतकी स्वाभाविक अवस्था—प्रार्थना

संसार-पथपर चलते-चलते जब मनुष्य विपत्ति-जाकमें फँस जाता है, जब वह लाख चेष्टा करके भी अपनी, अपने परिवारकी, समाजकी और जातिकी रक्षा नहीं कर सकता, तब उसके प्रायः अत्यन्त कातर हो उठते हैं! इसी कातरताके अवसरपर मनुष्यके प्राणोंमें अपने आप ही एक प्रार्थना जागृत हो उठती है और बड़ी स्वाभाविक प्रार्थना होती है। जब प्राण अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं,

तब मनुष्य निराश्रय होकर सहसा कह उठता है—'हाय! क्या मेरा कोई नहीं है? क्या मुझको बचानेवाला कोई नहीं है?' जिसप्रकार जलमें डूबते हुए मनुष्यके लिये एक साधारण तृण भी सहारा हो जाता है, उसी प्रकार जब मनुष्य सुनता है कि उसका भी एक आधार है और वह दयाका सागर है, वह कंगालका परम आरम्भ है, कंगालोंको तो वह स्वभावसे ही ढूँढ़ा करता है और मिल जाते हैं तो उन्हें अपना लेता है, वह क्षमाभय, तुलसी होकर आश्रय लेनेवालोंके सारे अपराध क्षमा करता है, वह अत्यन्त प्रेममय है और सर्वशक्तिमान् है। इसप्रकार विपत्तियोंमें फँसकर जब मनुष्य यह सुनता है—कि वह सब मनुष्योंका अपनेसे भी अपना है और कृपा करके पुकार-पुकारकर मनुष्योंको यह कह रहा है कि 'अरे! इतनाश क्यों होने लगे? मैं ही तो तुम लोगोंका—

'गतिमर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।'

(गीता १. १८)

—हूँ, मैं ही तुम्हारी एकमात्र गति हूँ। एकमात्र प्राप्त करनेयोग्य वस्तु हूँ, मैं ही भर्त्ता यानी भरण-पोषण करने-वाला हूँ, मैं ही तुम्हारा प्रभु—हर्त्ता-कर्त्ता-विधाता हूँ, मैं ही साक्षी हूँ—शुभाशुभ कर्मोंका द्रष्टा हूँ, मैं ही तुम्हारा निवास हूँ अर्थात् तुम सब मुझमें ही निवास करने हो, मैं ही तुम्हारे भोगोंका स्थान हूँ, मैं ही तुम्हारे दुःखोंका हरने-वाला, रक्षक तथा एकमात्र सुहृद् हूँ, तुमसे कुछ भी न चाहकर तुम्हारा उपकार करता हूँ।' तब वह पुनः जागृत हो उठता है।

अगवान् फिर गीतामें कहते हैं कि—

'तमेव शरणं गच्छ सर्वभोवनं भारत।'

(१८। ६२)

—मैं सबके हृदयमें निवास करता हूँ, सब लोग सर्व-भावसे मेरे शरणापन्न हो जायँ फिर (१८। ६१) मैं कहते हैं 'मामेकं शरणं ब्रज' अर्थात् एकमात्र मुझको ही आश्रय बना लो। जो मेरा आश्रय ग्रहण करता है—

'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।'

(१२। ७)

—मैं उनका मृत्यु-संसार-सागरसे उद्धार कर देता हूँ। इसीलिये यह कहा जाता है कि साधुसंग और सत्-शास्त्रके द्वारा श्रीमगवान्की आवासन-वाणी सुनकर विपद्मस्त

सांसारिक मनुष्य भी भरोसा पाकर, भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करता है। इसप्रकारका मनुष्य भी क्रमशः भगवान्‌की प्रसन्नताका अनुभवकर कुछ दूसरे ही ढंगका बन जाता है।

इसीसे कहा जाता है कि 'बच्चाओ, बच्चाओ' की प्रार्थनाके साथ शरणापन्न होना मनुष्य-हृदयकी स्वाभाविक अवस्था है। जिसप्रकार ज्ञान मनुष्यका स्वरूप ही है—वस्तुतः ज्ञान तो उसे प्राप्त ही है—इसके किये कह नहीं सहना पड़ता—ज्ञानकी प्राप्तिके किये किसी प्रकारकी तपस्या नहीं करनी पड़ती—तपस्या तो करनी पड़ती है आबरण—अज्ञानको दूर करनेके लिये! इसी प्रकार शरणागतके किये कुछ करना-धरना नहीं पड़ता—करना पड़ता है वह कि नावा प्रकारसे, विभिन्न वस्तुओंमें, विभिन्न मनुष्योंमें आसक्त होकर सबको मेरा-मेरा करके, 'ये सब मेरे ही हैं, ये सब मुझे आश्रय देंगे' इसप्रकार जो मोह हो रहा है—इस जाया-मोहके आवरणको भगवान्‌से दूर हटा देना। इस आवरणके हटानेका नाम ही तपस्या है। जिस अवस्थामें पहुँचनेपर मनुष्यपर कृपा करके भगवान्‌ उन्हे यह समझा देते हैं कि 'भगवान्‌के सिवा मनुष्यका आश्रय कोई नहीं है,' उस अवस्थामें मनुष्य अपने आप ही पुकार उठता है 'मिराश्रयं मां जगदीशरक्ष' हे भगवन्! हे कल्याणरूपाश्रय! मैं जान गया हूँ कि तुम्हारे सिवा मेरा जीवन-भरणका साथी और कोई नहीं है। जीवनमें भी तुम्हीं आश्रय देते हो और मरनेपर भी तुम्हीं छोड़कर दूसरा कोई अपना नहीं है।

घोर संसारी मनुष्य भी नाना प्रकारसे चक्के खाकर अन्तमें भगवान्‌की शरण लेता है। वह आसक्तिके समुद्रमें गहरा डूबकर संसार चका रहा है, अकस्मात् एक-एक करके सारे दीपक बुझ गये—एक ही क्षणमें 'हरी-मरी फुल्लावाही सूख गयी!' तब उसका मन निरन्तर दुःख होकर पुकार उठता है—'हाय! किसी प्रकार भी तो शान्ति नहीं मिलती। हा! क्या जगन्‌में मेरा कोई नहीं है?' तब-हृदयकी इस अवस्थामें मनुष्य भगवत्-कृपासे भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करता है और उसके द्वारा कल्याणको प्राप्त होता है। इसीका नाम यथार्थ कल्याण है।

जो लोग चक्के खाकर शरणमें आते हैं वे भी भाग्यवान्‌ हैं। मनुष्य चक्के खाकर कुछ दिन उदासीन-सा रहता है। पुनः दो दिनके बाद कुछ सुखीता मिलते ही सब कुछ

भूलकर फिर पूरी तरह विषयोंमें रम जाता है। ऐसे मनुष्यको जो दो-चार दिनोंके किये बैराग्य होता है, उसे रममाण-बैराग्य किंवा अर्कट-बैराग्य कहते हैं। शीतकालके अन्तमें जिसप्रकार वृक्ष-लता पत्र-पुष्प होते हैं, परन्तु देखनेवाले देखते हैं कि पत्रहीन वृक्ष-लताके अन्दर नये पत्र-पुष्प कइकहा रहे हैं, यहाँ भी ठीक वैसा ही है। ऐसे लोगोंपर भी भगवान्‌ कृपा करते हैं। इनके भी दारुण प्रारब्ध भोग करा देनेके किये, इनके पापके पके फोड़े को चीरनेके किये कल्याणमय इनके ऊपर भी अनुग्रह करते हैं। फिर ये लोग भी सब प्रकारसे अन्तःकरणपूर्वक भगवान्‌का ही आश्रय ग्रहण करते हैं शरणागतिके मूल सूत्रोंको पकड़कर जीवन-यापन करनेकी चेष्टा करते हैं। वायुपुराणमें शरणागतिके छः अंग बतलाये हैं—

आनुकूल्यस्य सद्गुणः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।

रक्षिष्यतीति विश्वासः गाप्तृत्वे वरणं तथा ॥

× × × ×
निष्पेपणं अकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः ॥

शरच्च वस्तुके अनुकूल संकल्प (इच्छा) करना, उसके प्रतिकूल आचरणसे बचना, वह हमारी रक्षा अवश्य करेगा यह विश्वास करना, उसे अपना रक्षक समझना, उसे अपनेकी धरोहरके रूपमें सौंप देना और उसे अपना सर्वस्व सौंप देनेमें सन्नोच (कृपणता) न करना।

यहाँतक शरणागतिके विषयमें कहा गया, अब दूसरी बातें सुनिये।

(२) ईश्वरका स्वरूप

शरण हो किसकी? ऐसे भी इतनामय मनुष्य हैं जो ईश्वरके अस्तित्वमें ही विश्वास नहीं कर सकते। जिसके हृदयमें इसप्रकारकी दृढ़ धारणा है कि ईश्वर है ही नहीं वह किसके शरणापन्न होगा? मनुष्य यदि बिल्कुल ही पागल न हो तो वह सहज ही यह धारणा कर सकता है कि 'ईश्वर है।' ईश्वरका अस्तित्व तो मनुष्यमात्रकी स्वाभाविक अवस्था है। वह कैसे है? इसी सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है, ईश्वरके स्वरूपके सम्बन्धमें इसके बाद आलोचना की जायगी।'

'मैं हूँ' यह बात किसीको सिखानी नहीं पड़ती। सब मनुष्य अनुभव करते हैं कि 'मैं हूँ।' इसप्रकार अनुभव करनेवाका कौन है? सभी मनुष्य समझते हैं कि हम

जिसका अनुभव नहीं करते उसका अस्तित्व कम-से-कम हमारे अन्दर नहीं है। हमारे भीतर जो कुछ है उसका अनुभव करनेवाला कोई अवश्य होना चाहिये, तभी किसी विषयका अनुभव होता है जो अनुभव-कर्ताके न रहनेसे नहीं हो सकता। वह जो विशाल जगत् स्थित है, यदि इसका कोई अनुभव करनेवाला न हो तो इसका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। हिमाश्रयके अत्यन्त जगत्स्थ स्थान-में एक सुन्दर फूल खिलता है, उसके चारों ओर घूम-घूमकर एक तितली मधुपान कर रही है। तुम और हम इस दृश्यको नहीं देखते, उसका अनुभव नहीं कर सकते। केवल कल्पना करते हैं तथापि यह विश्वास करते हैं कि तितली भी है और पुष्प भी है। किन्तु यदि इसका अनुभव करनेवाला कोई भी न हो, तो इसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। हम मनुष्योंको चाहे इसका अनुभव न हो परन्तु सर्वव्यापीको मिश्रय ही इसका अनुभव है, क्योंकि अनुभव बिना किसी वस्तुका अस्तित्व कायम रहना सर्व प्रकारसे युक्तिके विरुद्ध है। यह अनुभव-कर्ता ही ईश्वर है। किसी वस्तुका मनुष्यके अनुभव न करनेपर भी, उसका अनुभव करनेवाला ईश्वर है, इसीलिये वह वस्तु है। जगत् है, इसलिये जगत्का अनुभव-कर्ता भी है। अनुभव-कर्ता न होता तो जगत्का अस्तित्व ही न रहता। इस युक्तिको सुनकर कबे नास्तिकमें शायद कुछ आस्तिकता आ जाय, किन्तु पक्का नास्तिक नास्तिकताको सम्भवतः नहीं छोड़ेगा। जागते हुएको कैसे जगाया जाय ? अगवान्की कृपाके सिवा इन लोगोंकी नास्तिकताको दूसरा कोई नहीं मिटा सकता।

अब ईश्वरके स्वरूपके सम्बन्धमें कुछ आलोचना की जाती है—

जो ईश्वरके स्वरूप हैं, यही नहीं, किन्तु जो इस परिदृश्यमान समष्टि और व्यष्टि जगत्के स्वरूप हैं, वे (सच्चिदानन्दघन) सदासे हैं, थे और रहेंगे। वे सदा एक ही रूपसे हैं, थे और रहेंगे। जो स्वरूप हैं वे नित्य ही स्वप्रकाश, ज्ञानस्वरूप, अनुभवस्वरूप तथा सदा ही समभावसे निरतिशय आनन्दस्वरूप हैं। 'ईश्वरका स्वरूप है—सत्, चित् और आनन्द अथवा अस्ति, भाति और प्रिय।' फिर मनुष्य उनका अनुभव क्यों नहीं करता ? जैसे ज्ञान सर्वव्यापी स्वतःसिद्ध वस्तु है। परन्तु—

‘अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥’

(गीता ५। १५)

उसके अज्ञानसे आवृत होनेके कारण मनुष्य दुःख पाता है। इसी प्रकार सत्, चित्, आनन्द—अस्ति, भाति, प्रिय भी नामरूपके आवरणसे ढके होनेके कारण मनुष्य उनका अनुभव नहीं कर सकता। वह नामरूप देखता है, नामरूपसे ढके हुए स्वरूपको नहीं देख पाता। नामरूपके आवरणको हटा सकनेपर, नामरूपकी वाढ़ तोड़ ढाखनेपर ही स्वरूपमें पहुँच जा सकता है। स्वरूपमें पहुँचना ही स्वरूप-स्थित होना है। यही सर्वदुःख-निवृत्तिरूप परमानन्दकी प्राप्ति है।

वद्यपि मनुष्य ईश्वरके पूर्ण स्वरूपका अनुभव नहीं कर सकता, तथापि उसके सत्-स्वरूप या अस्ति-स्वरूपका अनुभव तो सभीके लिये ही स्वाभाविक है। सर्वव्यापी आत्मा ही प्रत्येक प्राणीका जीवात्मा है। मनुष्य जो निरन्तर ‘मैं-मैं’ करता है, वह ‘मैं’ ही आत्मा है। ‘मैं’ न देखे हैं, न मन है और न जगत् ही है। जो नित्य-कर्मके पश्चात् प्रतिदिन एकान्तमें आरामविचार कर सकते हैं, जो—

‘प्रकृतेर्भिन्नमामां विचारय सदानघ॥’

—इस शास्त्र-वाक्यके अनुसार कार्य करते हैं, वह तो सर्वत्र ही इस सत्-वस्तुका अनुभव करते हैं। जो ऐसा नहीं करते, वे भी स्वभावतः अनुभव करते हैं कि ‘मैं हूँ।’ वह ‘मैं हूँ’ का अनुभव किसीकी सिखलाना नहीं पड़ता। इस स्वतःसिद्ध अनुभवको प्राप्त करके भी मनुष्य नामरूपविशिष्ट देहके, नामरूपविशिष्ट जगत्के नामरूपको हटानेके लिये साधना नहीं करता। इसीलिये वह जगत्की सब वस्तुओंमें सत् आत्माका अनुभव नहीं करता। सत् अथवा अस्तित्वके पूर्ण अनुभवके लिये नामरूपको मिथ्या समझना, नामरूपको भूख जाना ही साधन है।

परन्तु इस नामरूपको भूखकर सत्का अनुभव होनेपर भी, जो सत् है, वही चित्, ज्ञान और स्वप्रकाश अनुभूति है, इस बातका अनुभव नहीं होता। सत् और चित्का एक साथ अनुभव करनेके लिये अन्तर्जगत् अथवा मनका दृष्टा होना होगा। जिसप्रकार सत्के अनुभवमें नाम-रूप विघ्नरूप हैं, उसी प्रकार सत् और चित्के समकाजीन अनुभवमें भी सुख-दुःख-बोध विघ्न हैं। सुख-दुःख न चित्में है और न जड़में है। अज्ञानके द्वारा जड़-चेतनका मिश्रण होनेके कारण ही सुख-दुःखका बोध होता है। जबतक सुख-दुःखका बोध है, तबतक ज्ञान अज्ञानसे ढका हुआ है, इसीलिये सत् और चित्का समकाजीन

अनुभव नहीं होता। जो विचार कर सकते हैं, कर्म करते हैं, 'प्रकृति—आत्माका कोई कर्म नहीं है' इसकिये अज्ञान हुए बिना प्रकृतिमें अहं अभिमान हो ही नहीं सकता। जो लगातार बहुत दिनोंतक इस विचारका अभ्यास करते हैं, वे सुख-दुःखको भ्राम्य करके—अन्तमें सुख-दुःखका अनुभव न कर सके और चित्का समकालमें अनुभव कर सकते हैं। परन्तु इसप्रकार सत्-चित्का अनुभव होनेपर भी ईश्वरके आनन्दस्वरूपका अनुभव नहीं होता।

आनन्द ही सब जीवोंका जीवन है। सभी जीव आनन्दके किये काकायित हैं। जीवोंको जो विषय-भोगमें आनन्द मिलता है वह आनन्द भी ब्रह्मानन्दका ही भांश है। किन्तु ब्रह्मानन्द निरतिशय आनन्द है, अखण्ड आनन्द है। यही आनन्द सबके मूलमें रहता है। इसी आनन्दके ऊपर जगत् प्रवाहित हो रहा है। क्षुद्र आचार-मेंसे प्रकट होनेके कारण आनन्द क्षुद्र हो जाता है। क्षुद्र आनन्दके भोगमें मनुष्यकी वृत्ति नहीं होती। मनुष्य तो आनन्द-समुद्रमें डूबा रहना चाहता है। जैसे हिमाजय-गिरि-कन्दर-विदारिणी गङ्गाजीके वचःस्थलपर स्थित बार-बार उत्पन्न, नष्ट और प्रवाहित होनेवाले क्षुद्र बुद्बुदेकी गति महासमुद्रकी ओर होती है। वह जबतक अपनेको महासमुद्रमें ले जाकर खो नहीं देता, तबतक उसे शान्ति नहीं मिलती। इसी प्रकार जीवबिन्दु भी जबतक परमात्मरूप महासमुद्रमें अपनेको छुका-मिलाकर खो नहीं देता, तबतक वह किसी प्रकार भी शान्ति नहीं पा सकता। क्षुद्रमें मनुष्यको आनन्द नहीं मिलता। श्रुति भी कहती है—

‘यो वै भूमा तस्मै नात्मे सुखमस्ति’

यह भूमा ही जीवका विश्रान्ति-स्थान है।

सत्-चित्का अनुभव होनेपर भी इस भूमानन्दका अनुभव जीवकी नहीं होता, इसके किये साधन करना पड़ता है। भगवान् पतञ्जलिने मनकी जिन पाँच अवस्थाओंका उल्लेख किया है, उनमें चित्त, मूढ और विचित्र-अवस्थाओंमें आनन्दमें डूबा नहीं जा सकता। इस आनन्दकी अनुभूति एकाग्र-समाधिमें होती है; परन्तु जबतक निरोध-अवस्था प्राप्त नहीं होती, तबतक सर्वदा आनन्दमें निमग्न होकर नहीं रहा जा सकता।

पहले एकाग्र होना होगा। एकको अग्र रखनेके किये किसी अवस्थानकी आवश्यकता है।

‘मकथितानुसारेण जायते भगवानजः।’

अर्थात् भगवान् अजन्मा होते हुए भी भक्तकी इच्छा-नुसार जन्म लेते हैं। ईश्वर जीवोंके ऊपर कृपा करके भूमि धारण करते हैं—जिससे कि जीव अपने मनको उनमें एकाग्र कर सके। भगवान् भक्तके किये, मैं अपनी क्रीड़ासे प्रकट होता हूँ ‘सम्भवामि आत्ममायाया’ ऐसा कहते हैं।

अवतार-सम्बन्धी दूसरी बुक्तियाँ अवतारवादके प्रसंग-में दिखलायी जायँगी। मनुष्य पहले मनको ईश्वरमें एकाग्र करके फिर जब उसीमें डूबा दे सकता है, तभी वह ईश्वर-के स्वरूपका पूर्णरूपसे अनुभव कर सकता है। नाम-रूपको दूर करके जो कुछ देखता है उससे सत्का अनुभव होता है; सुख-दुःखको हटाकर मनके व्यापारोंपर ध्यान दे सकनेपर सत् तथा चित्का एक साथ अनुभव हो जाता है और एकाग्र एवं निरोधके द्वारा मनको ईश्वरमें छय कर सकनेपर क्रमा-नुसार सत्, चित् और आनन्दका एक साथ अनुभव होता है, जिससे निरतिशय आनन्दमें स्थिति प्राप्त होती है। यही संसारसे मुक्ति है, इसीको सर्व दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति तथा परमानन्दमें नित्य-स्थिति कहते हैं।

शास्त्रोंमें सर्वत्र ही यह बात मिलती है कि ‘जो सदा-सर्वदा भगवत्-चिन्तनमें लगे रहते हैं, वे ही विषय-मोहसे उल्लोभ हो सकते हैं।’ परन्तु ईश्वरके विषयमें शास्त्र जो कुछ कहते हैं उसे शास्त्र-मुख तथा गुरु-मुखसे सुने बिना इस बातको मनुष्य नहीं जान सकता कि ‘ईश्वर-चिन्तनमें क्या-क्या करना चाहिये?’

जो ईश्वर हैं, वही उसी काकमें निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म, आत्मा एवं अवतार भी हैं। इनमेंसे एकको भी छोड़ देनेपर ईश्वरचिन्तन अन्धके हाथी देखनेके समान एक-देश-दर्शनमें पर्यवसित हो जायगा। ईश्वरका चिन्तन करते समय यह विचार करना चाहिये कि जब महाप्रलयमें आकाश, वायु, जल, अग्नि, पृथ्वी प्रभृति कुछ भी नहीं रहते, तो ईश्वर कहाँ रहते हैं? फिर सृष्टिके आरम्भमें जब वह विश्वरूप धारण करते हैं तब वह समष्टि और व्यष्टिमें किसप्रकार स्थित रहते हैं? महाप्रलयमें ईश्वर अपने भावमें रहते हैं—पूर्ण-स्वरूप निर्गुण ब्रह्म रहते हैं, जिस स्वरूपका कभी त्याग नहीं करते और उस समय—

‘यज्ञ वेदा विजानन्ति मनो यत्रापि कुपिष्ठम्।

न यत्र वाक् प्रभवति।’

—वेद भी उनको ब्यक्त नहीं कर सकते। मन उनका विन्यस्त करनेमें कुचिठ होकर लौट आता है। मन विनको नहीं पा सकता, फिर भका बाकी तो उनको कैसे ब्यक्त कर सकती है? वे निर्गुण ब्रह्म हैं। किन्तु निर्गुण ब्रह्म जब अपनी मायाको अवकल्पन करके सगुण होते हैं तब वे जगदाकार-धारी वा जगदाकार-धारिणी होते हैं, वही सगुण विग्रहरूप होते हैं। समष्टि-भावमें जो विग्रहरूप है, व्यक्ति-भाबसे वही प्रत्येक जीवमें, प्रत्येक वस्तुमें आत्मा है।

इन निर्गुण, सगुण और आत्मासे भी मनुष्यका काम नहीं चलता, इसीकिये वे कहते हैं—

‘यदा यदा हि धर्मस्य क्लान्तिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥’

(गीता ४।७-८)

इसीकिये शास्त्र यह बतलाते हैं, ओ ईश्वर हैं वही एक ही कालमें निर्गुण, सगुण, आत्मा एवं अवतार हैं। कोई ऐसा शास्त्र नहीं मिलता, जिसमें इन चारोंमेंसे किसी एकका अभाव हो। श्रीभगवान् रामचन्द्रजीके सम्बन्धमें जो कहा गया है, वही अन्य सब अवतारोंके सम्बन्धमें समझना चाहिये। भगवत्तमें जैसे ‘कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्’ कहा गया है वैसे ही वेदमें ‘रामस्तु भगवान् स्वयम्’ कहा गया है। श्रीचण्डीमें कहा गया है—

‘एकैवाहं जगत्पत्रं द्वितीया का ममाधरा ।
पद्मेयता दुष्ट मयेव विशन्तो मद्भिर्मृतयः ॥’

—इत्यादि ।

इस जगत्में केवल मैं ही हूँ, मुझसे भिन्न कोई नहीं है। रे दुष्ट! देख, वे मेरी विभूतियाँ मेरे ही अन्दर समा रही हैं।

श्रीभगवान् रामचन्द्रजीके स्वरूपके बारेमें कहा गया है कि—

अद्वितीयश्चिदात्मैकः परमात्मा सनातनः ।
यस्तु जानाति रामस्य स्वरूपं तत्पतो जनः ॥
तत्र स्पृशति दुःखादि किमुतानन्दमद्वयम् ॥

वे (भगवान् श्रीराम) एक अद्वितीय, चिदात्मा अर्थात् विज्ञानबोध सनातन परमात्मा हैं। जो मनुष्य रामके

स्वरूपको तत्पतो जान लेता है, उसे दुःख छू भी नहीं सकते हैं, क्योंकि श्रीराम तो केवल आनन्दस्वरूप हैं।

श्रीराम वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म हैं। इस सम्बन्धमें और भी कहा गया है। जगद्-जननी सीतादेवी श्रीहनुमान्जीको उपदेश करती हैं—

रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम् ॥
आनन्दं निर्मलं शान्तं निर्विकारं निरञ्जनम् ।
सर्वव्यापिनमदमां स्वप्रकाशमकल्मषम् ॥

श्रीरामको सच्चिदानन्दविग्रह, सारी उपाधियोंसे रहित, सत्तामात्र, इन्द्रियातीत, आनन्दमूर्ति, शुद्ध, शान्त, विकाररहित, निरञ्जन अर्थात् निर्लेप, सर्वव्यापी, स्वतः-प्रकाश, कल्मषहीन (अर्थात् दुःखोंसे रहित) आत्मस्वरूप अद्वितीय परब्रह्म ही समझो।

निर्गुण होकर भी श्रीराम सगुण हैं, इस विषयमें कहा है—

‘रामो न गच्छति न तिष्ठति नानुशोच-
त्वाकाङ्क्षते लज्जति नो न करोति किञ्चित् ।
आनन्दमूर्तिरचलः परिणामहीनो
मायागुणानुगतो हि तथा विमतिः ॥’

× × × × ×

रामः परमात्मा पुरुषः पुराणो
निर्लोदितो नित्यसुखो निरीहः ।
तथापि माया गुणसङ्गतोऽसौ
सुखीव दुःखीव विभाव्यतेऽनुवैः ॥

श्रीराम न तो कहीं जाते हैं, न कहीं ठहरते हैं, न किसीके किये शोक करते हैं, न किसी वस्तुकी आकाङ्क्षा करते हैं, न किसीका परि त्याग करते हैं, न कोई कर्म करते हैं, वे तो अचल आनन्दमूर्ति एवं परिणामहीन हैं, अर्थात् उनमें परिवर्तन नहीं होता, केवल मायाके गुणोंके सम्बन्धसे उनके अन्दर वे बातें होती हुई-सी प्रतीत होती हैं। श्रीराम परमात्मा, पुराणपुरुषोत्तम, नित्य उदयवाले, नित्य सुखसे सम्पन्न एवं निरीह अर्थात् चेष्टासे रहित हैं, किन्तु फिर भी मायाके गुणोंसे सम्बद्ध होनेके कारण उन्हें बुद्धिहीन जोग सुखी अथवा दुखी समझ लेते हैं।

श्रीराम ही सब जीवोंके आत्मा हैं—

‘सर्वेणु प्राणिजातेषु ब्रह्मात्मना व्यवस्थितः ॥

× × ×

इत्था मां चेतनं शुद्धं जीवरूपेण संरक्षतम् ।
तस्मात् कदापि नैवेद्यं मेदमीदृशजीवयोः ॥

समस्त भूत-प्राणियोंके अन्तर में आत्मरूपसे स्थित हैं, इसलिये शुद्ध शुद्ध चैतन्यको जीवरूपसे स्थित देखकर कोई भी जीव और ईश्वरमें भेददृष्टि न करे ।

अवतारके सम्बन्धमें—

त्रयाणामपि लोकानां कार्वायं मम सम्भवः ।

त्रिलोकीका कार्य करनेके लिये मैं अवतार लेता हूँ ।

श्रीकृष्णके सम्बन्धमें भी इसी प्रकारकी ठीक गीता, भागवत तथा अन्य शास्त्रोंमें है । सभी अवतारोंके सम्बन्धमें यही कहा है कि अवतार एक ही कालमें आत्मा निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म हैं । अब अवतारवाचके सम्बन्धमें कुछ कहकर निबन्धका उपसंहार किया जाता है ।

२-अवतार-कथा

बड़े आनन्दसे मनुष्य विश्वासी होता है । मनुष्य जो कुछ विश्वास करता है, जब उसका प्रत्यक्ष करता है अथवा अपने भीतर उसका अनुभव करके आनन्द पाता है, तब वह हस्तकृत्य हो जाता है । विश्वास नष्ट करनेके लिये कबि महाराजका सबसे बड़ा शस्त्र है संशय । संशय उत्पन्न करके मनुष्यको चौरासी लाख बार नाना योनियोंमें भटकानेसे ही कलिको आनन्द मिलता है । ठीक ही है । साधु-हृदय दूसरोंको आनन्द देकर आनन्दका अनुभव करते हैं और असाधु दूसरोंको दुःख देकर अपनेको सुखी समझते हैं ।

श्रीभगवान्के अवतार एक ही कालमें आत्मा सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्म है, कलियुगके अतिरिक्त अन्य युगोंमें इस सम्बन्धमें मनुष्यको किञ्चित् भी संशय नहीं था । परन्तु आज इस कलियुगकी स्थिति कुछ और ही है । ईश्वरके सम्बन्धमें स्कूल, कालेजके छात्रोंके सामने चर्चा चलाकर देखिये, आप देखिये कि अधिकतर छात्रोंके मनमें सैकड़ों-हज़ारों सन्देह भरे हैं, आज संशयबल मनुष्योंसे जगत् भरा जा रहा है । वेदोंको क्यों मानें, शास्त्र क्यों मानें, ईश्वरको क्यों मानें, अतिरिक्त क्यों मानें, अधिष्ठानोंको अज्ञानमें क्यों मानें, आचार-विचारको क्यों मानें ? इस

प्रकार ‘क्यों’ के रूपमें सन्देहका तौता बना रहा है, इन बातोंमें आज अधिकतर मनुष्य संशययुक्त हैं । ‘स्वयमेव निबन्धं श्रेयः पश्यन्तो नयावहः’ ‘संशयात्मा विनश्यति’ आदि सिद्धान्तोंको मानना तो आजके लोगोंकी दृष्टिमें कुसंस्कार है । हम मनुष्योंके इस संशयकी निवृत्तिके लिये श्रीभगवान्के ही शरणापन्न होते हैं । यहाँ तो, अवतारको मानना मानव-हृदयका स्वाभाविक धर्म है । इसी विषयमें कुछ कहकर ही हमें चुप होना है ।

मनुष्यके जिसप्रकार बुद्धि है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यके हृदय भी है । बुद्धिका धर्म विचार है और हृदयका प्रेम, स्नेह, अजन, पूजन । ईश्वरकी विभूतिके चिन्तनसे बुद्धि तृप्त हो सकती है । किन्तु हृदयकी तृप्ति केवल ऐश्वर्यसे नहीं होती, हृदय माधुर्यको पावे बिना किसी प्रकार भी शांति नहीं पा सकता । हृदय असीमको ससीमरूपमें पावे बिना कभी चैन नहीं ले सकता । हृदयको निराकार सीमाध्वन्य वस्तुद्वारा सन्तोष नहीं कराया जा सकता । हृदय एक ऐसे पुरुषको चाहता है जो— ‘शिरसि वदनस्नातु सर्वसौम्यवर्सारम्’ तथा ‘सर्वाङ्गे सुमनोहरम्’ जहाँ जो सिरमें लेकर चरणोंके नक्षत्रपर्यन्त समस्त सौम्यवर्कका सार है, तथा जिसके समस्त अंग जिसको इरने-वाले हैं । ऐसे पुरुषोत्तमको आँखोंसे देखना, उसकी मधुर वाणी कानोंसे सुनना, उसकी प्रेम-लीलाओंको प्रत्यक्ष करना, उसकी लीला-कथाओंका बारम्बार पठन-पाठन करना, इन सब कार्योंके हुए बिना हृदयकी शांति नहीं मिल सकती । मुझसे निराकार निरवयव कहनेपर भी प्राण कहते हैं—‘प्यारे ! तुम्हारे लिये मैं बड़े प्रेमसे यह फूलोंका गजरा लाया हूँ, तुम इसे गलेमें पहन लो न । जरा ठहरो, मैं तुम्हें प्रणाम करना चाहता हूँ ! एक बार अपने चरण-कमलोंमें मेरे इस मस्तकको छुट तो जाने दो । मेरे हाथ तुम्हारी चरण-सेवा करना चाहते हैं । मेरे कर्ण तुम्हारी कथा सुननेके लिये अत्यन्त ही व्याकुल हो रहे हैं । तुम कब मुझे अपना दास या दासी मानकर सेवाका अधिकार सौंपोगे ? मैं तुमको क्या-क्या देना चाहता हूँ और कितने दिनोंसे मैं मन-ही-मन सोचता हूँ । प्यारे ! तुम्हें कौन-सा धन दूँ, तुम्हें मैं जो धन दिया चाहता हूँ, वह धन तो तुम्हीं हो, तुम्हारे हृदय-स्पर्शके लिये मेरा हृदय रो रहा है और वे प्राण तुम्हारी प्रीतिमें कुपट्टा रहे हैं ।’

वे सभी हृदयके धर्म हैं। हृदयकी ताप तुझानेके लिये तुम्हारे आकाशवात् सीमा-शून्य रूपसे काम नहीं चकता। मेरी सेवाकी अभिलाषा पूर्ण करनेके लिये जिससे मैं तुम्हें देख सकूँ, तुम्हारी मधुर बासी सुन सकूँ, तुम्हारे श्रीचरणकमलकी सेवा कर सकूँ, ऐसे ही रूपमें तुम्हें मुझको दर्शन देने पड़ेंगे। इसीलिये भगवान् भक्तोंके हृदयकी शीतल करनेकी मूर्ति धारण करते हैं। पहले कित्ता आ चुका है, शाश्व भी कहते हैं—‘भक्तचित्तानु-सारेण जायते भगवान्जः’ इसीलिये कहा जाता है कि मनुष्यके अन्दर भगवान् एक ऐसी बीज दे दी है जिसकी नृसिंहे लिये उनकी अवतार लेकर जाना पड़ता है। ‘अहा! प्यारे! इच्छा होती है, तुम्हें मैं कहकर पुकारूँ, तुम्हें पिता कहूँ, तुम्हें स्वामी कहकर सम्बोधन करूँ और तुम्हें सत्ता बनाकर तुम्हारे साथ खेले। तभी तो मैं यह कहता हूँ—

माता रामो मपिता रामचन्द्रः

स्वामी रामो मत्सत्ता रामचन्द्रः।

संबन्ध में रामचन्द्रो दबालु-

नौन्यं जानं नैव जाने न जाने ॥

इसी आकाशकी पूर्ण करनेके लिये भगवान् अजन्मा होकर भी जन्म ग्रहण करते हैं।

मनुष्यकी दृष्टिसे देखनेपर जिसप्रकार अवतार-ग्रहण स्वाभाविक है, उसी प्रकार ईश्वरकी दृष्टिसे भी भगवान्का मूर्ति ग्रहण करना नैसर्गिक है। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है; जो समस्त शक्तियोंका केन्द्र है, उसमें मूर्ति धारण करनेकी शक्तिका ही अभाव क्यों होने लगा? उसके स्वभावकी भी आलोचना करनेपर पता लगता है कि वह सर्वशक्तिमान् होनेके साथ ही अत्यन्त प्रेममय भी है। यदि मनुष्यके प्रेमकी गति तीव्रभावसे भगवान्की ओर हो जाय, यदि भगवान्के लिये मनुष्यके प्राण सर्वदा हाहाकार करने लगे, तो फिर वह अनन्त प्रेमके आहार प्रभु भक्तोंकी आकांक्षा-को पूर्ण किये बिना कैसे रह सकते हैं? वह तो भक्तोंके निकटसे भी निकट आसीध हैं। जो निर्गुणसे सगुणमें आकर जगदाकार बन जाते हैं, उन्हें अपने विश्वरूपको मनुष्यकी व्याप्त-भारजाके लिये बराकार बनानेमें कष्ट क्यों जान पड़ेगा? धब लेख न बढ़ाकर ज्ञानी होनेपर भी परम श्रेष्ठ प्राज्ञःसकलजगत्कृतक महात्मा श्रीगुरुसी-

वासजीके सिद्धान्तका उल्लेख करके इस प्रसङ्गकी समाप्त करता हूँ—

‘जानि सकहु तो जानहु, निर्गुण-सगुण-स्वरूप।

मम हिय-पंकज-मृग इव, बसहि राम नर-भूप ॥’

जिनमें जाननेकी शक्ति है, वे तुम्हारे निर्गुण, सगुण स्वरूपको जानें। मैं तो प्रभु! अत्यन्त ही दीन-हीन हूँ, मितान्त ही कंगाल हूँ। दयामय! मुझे बड़ी साध है, मेरे हृदय-कमल, अष्टवल कमलपर निराकार राम मृ-गरूपमें, नरनूपरूपमें स्थित होकर इस हृदयपत्रके मधुका पान करें। मैं इसीकी सबपेक्षा भेष्ट सुख समझता हूँ। ज़मर जो कमलके मधुका पान करता है, उसमें ज़मरकी अवेष्टा कमलको ही अधिक सुख मिलता है। मधुपान करनेवालेकी अपेक्षा मधुदान करनेवालेको अधिक सुख मिलता है। वही निरतिशय आनन्द है। तुम्हें सुख मिलता है यह देखकर मुझे जो सुख प्राप्त होता है, वह सुख तुम्हारे लिये ही है—तुम्हारा ही है।

‘आत्मसुख इच्छा जाहा तारे बलि काम।

कृष्णसुख इच्छा तार धरे प्रेम नाम ॥’

४-अन्तिम बात—नाम-महिमा

गुरुके द्वारा प्राप्त नित्यकर्म, स्वाध्याय आदि करनेके लिये तो यथासाध्य चेष्टा होनी ही चाहिये। किन्तु यदि मनमें कभी ऐसा विचार हो कि शास्त्रानुसार प्रेमके साथ कर्मयोगका साधन मैं न कर सका, भक्तियोगका भी शास्त्रानुसार आचरण मुझसे नहीं हुआ, ज्ञानयोगकी तो बात ही क्या है? ऐसी अवस्थामें साधकको क्या करना चाहिये और आपापर सर्वसाधारण जनता क्या करे? इसका उत्तर यह है कि वे सब मुख्यरूपसे नामका अङ्गकर्म करें और सर्वदा भगवन्नामको ही अपमा विभ्राम-स्थान बनावें।

कलियुगमें भगवन्नामका आश्रय ही निरुपद्रव साधना है। कबीरदासकी इस युक्तिको कण्ठहारकी मध्यमस्थिरूपसे हृदयपर धारण करना चाहिये—‘सोवत ब्रह्मवत राम’ सबको ‘धपना राम’ समझकर गोस्वामी तुलसीदासकी भाँति सर्वदा सब वस्तुओंको देखकर ही कहना चाहिये—

‘सीयराममय सब जग जानी। करौ प्रणाम जेरी बुग पानी ॥’

अबचा गीताकी शिष्यके अनुसार ‘वासुदेवः सर्वमिति’ का अभ्यास करना चाहिये। जो कुछ दीख पड़े, सुन पड़े,

जो मनमें उठे, उसीको भगवान् समझकर 'भो नमस्करु' का अभ्यास करना। यह बड़ा ही सहज साधन है।

शौकियाना अभ्याससे काम नहीं चलेगा। सर्वदा प्रत्येक श्वासके साथ नामका जप करना पड़ेगा, श्वास ऊपरको उठता है, उसीको ओर लक्ष्य करके पहले एक बार, दो बार जितना हो सके नाम-जप करे, इसी प्रकार श्वासके गिरते समय एक-दो-बार अभ्यास करे। पश्चात् इस संख्या-को बढ़ाकर श्वासके उठते समय छः बार और गिरते समय छः बार करे। बही पामर, चायबाल सबके लिये कलिले सुलपूर्वक तरनेका उपाय है। इसीसे भगवान् की प्राप्ति हो जायगी, भगवान् वामदेवका निम्नलिखित आश्वासन सुनकर हताश-भावको तिलाञ्जलि दे, नामपर प्रबल विश्वास करना चाहिये।

'राम रामति ये नित्यं जपन्ति मनुजा भुवि।

तेषां मृत्युमयादीनि न मरान्ति कदाचन ॥'

जो मनुष्य इस संसारमें 'राम-राम' जप करते हैं, उन्हें मृत्यु आदिका भय कदापि नहीं होता।

इस घोर कलियुगमें जो लोग नित्य राम-नामका जप करत हैं, उनको मृत्युभय आदि कोई डर कदापि नहीं हो सकता। रामायणमें राम-नामके सम्बन्धमें जो कहा गया है कि—

'रामनामैव मुक्तिः स्यात् कलां नान्येन केनचित्।'

कलियुगमें केवल राम-नामसे ही मुक्ति होती है।

इसी प्रकार गीता-भागवतादि ग्रन्थोंमें भी, श्रीकृष्ण-नामके सम्बन्धमें यही बात कही गयी है। इसी प्रकार शिव तथा दुर्गा-कालीके सम्बन्धमें समझना चाहिये। जिसको गुरुने जो नाम-मन्त्र दिया है, वह उसीको जपे। उसीसे उसका काम बन जायगा। यह ध्यान रहे कि, नाम जपने

हैं किन्तु नामी एक ही है। इस नामीकी अपेक्षा कलियुग-में नामकी महिमा सौ-गुनी अधिक है, इस सम्बन्धमें श्रुतुदेव कहते हैं—

'नामैव तव गोविन्द कलौ त्वत्तः शताधिकम्।

ददायुष्कारणान्मुक्तिं विना चाष्टाङ्गयोगतः ॥'

हे गोविन्द ! इस कलियुगमें तुम्हारी अपेक्षा तुम्हारा नाम सौ-गुना बड़ा है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इस अष्टाङ्गयोगके बिना ही नाम-जप मुक्ति प्रदान करता है। सभी नामोंके सम्बन्धमें यही एक बात है। आदि-पुराणमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुनको अपने नामके सम्बन्धमें कहते हैं—

जीवके लिये मेरा नाम ही शरण है, नाम ही त्रिलोकी-का गुरु एवं मूल है, नामसे बढ़कर कोई पावन करनेवाली वस्तु नहीं है। नामके समान न तो ध्यान है, न जप है, न त्याग है और न नामके समान कोई गति है। नाम ही जीवका जीवन अर्थात् अवलम्बन है, नाम ही बड़ी भारी सम्पत्ति है, नाम ही संसारमें सत्य वस्तु है और नाम ही प्रिय वस्तु है। जो लोग श्रद्धासे अथवा विनोदसे परम-मंगल नामका गान करत हैं उनके मध्यमें वह नामरूप परमतत्त्व सदा निवास करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। जिस किसी प्रकारसे केवल नामका उच्चारण करनेवाले लोग बिना ही प्रयासके आदरके साथ परम धामको प्राप्त होते हैं।

श्रीअर्जुन नाम-प्रताप श्रवण करके उत्क्षुब्धमित्र हृदयसे पुकार उठते हैं—

भवत्येव भवत्येव भवत्येव महामते।

सर्वपापपरिष्काराः स्मरन्ति नाम ब्रह्मवा। ॥

नमोऽस्तु नामरूपाय नमोऽस्तु नामजल्पिने।

नमोऽस्तु नामशुद्धाय नमो नाममयाय च ॥

मेरे मालिक !

यह सच है, तुम मुनंत हो दीनोंकी करुण गुहार।
पर मैं देव ! सगहल सकूँगा कैसे प्यार-दुलार ॥
जक मधुर शौकीकी मेरे प्राण तरसते रहते।
खड़ा रहूँगा पर कैसे जब होगी आँखें चार ॥
आवेगे मेरे मालिक, स्वागत कैसे कर पाऊँगा।
कम्पित ठर लेकर मैं कैसे उनके सम्मुख आऊँगा ॥२॥

मुनता हूँ, तुम दीनजनक आँसूमें रहते हो।
दीख न पड़ते पर जब उनके साथ नाथ बहते हो ॥
कहीं निकल मत जाओ तुम अनजाने, मैं बरता हूँ।
इसलिये तो बरजोरी मैं रुदन नहीं करता हूँ ॥

तुम जब आओगे, मृदु चरणोंपर तब इन्हें गिराऊँगा !

आँखोंकी 'गंगा यमुना' का सुखसे तमी बहाऊँगा ॥२॥

—सत्यमत शर्मा 'कुचन' भा० पृ०

ईश्वरका अस्तित्व

(लेखक — 'सत्य')



सत्यके बिना संसारका अस्तित्व ही नहीं रह सकता। ईश्वर सत्यस्वरूप हैं; इसी कारण संसारमें सत्यकी महत्ता है। अतएव सत्यके माननेवालेको ईश्वरको अवश्य ही मानना चाहिये। संसारके अधिकांश कार्योंमें दूसरोंमें जिज्ञासा करनी पड़ती है। जैसे मनुष्य किसी स्थान, व्यक्ति, मन्दिर, जलाशय आदिकी जिज्ञासा दूसरे मनुष्यमें करता है। विद्या, कला-कौशल आदिकी शिक्षामें मनुष्यको दूसरेकी सहायता अपेक्षित होती ही है। पुनर्कोंके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह भी दूसरे मनुष्यके द्वारा ही पुनर्कबद्ध (लिखा हुआ) होता है। इसप्रकार देखा जाता है कि मनुष्य दूसरे मनुष्यकी सहायताके उपर अत्यन्त अवलम्बित होता है। और वे सहायक मनुष्य जो मार्गप्रदर्शक, शिक्षक अथवा लेखक होते हैं, अपनी मतिके अनुसार सत्यका ही व्यवहार करते हैं और उनके उस सत्य व्यवहारपर विश्वास करके ही संसारका कार्य चलता है। अतः यह कहना गलत न होगा कि संसारका सम्भालन सत्यके द्वारा ही होता है।

हम सत्यका मूल आधार ईश्वर है। यदि सत्यका अस्तित्व न रहे तो जिज्ञासा करनेपर किसीको या तो कुछ उत्तर ही न मिलेगा या यदि मिलेगा भी तो अन्यथा। जिसका अनुसरण करनेसे मनुष्यका अभीष्ट सिद्ध न होगा और परम्परामें अविश्वास करने लगेगा, (जैसा कि नास्तिकवादमें होना सम्भव है) अविश्वासके बढ़नेसे द्वेष बढ़ेगा और तब संसारमें बड़ी अशान्ति मच जायगी। अतः सत्यका अस्तित्व अत्यन्त आवश्यक है और सत्य ही ईश्वर है।

ईश्वरका दूसरा गुण है त्याग। ईश्वरके त्याग (यज्ञ) में ही यह विश्व बना है और सम्भालित हो रहा है। अर्थात् असौम ईश्वर अपनेको अपनी मायासे सीमाबद्ध करके स्वयं संसाररूप हो अपनी शक्तसे इसको सञ्चालित कर रहा है। अतः संसारमें मनुष्यके लिये त्याग करना प्रधान धर्म है। व्यवहारमें धर्म और नीतिका बर्ताव किया जाता है, इनके बिना संसारमें व्यवहार चल ही नहीं सकता है। यह धर्म और नीति त्यागके ही रूपावतार हैं, अतः

सिद्ध हुआ कि त्यागका अस्तित्व आवश्यक है। उसी प्रकार त्यागगुणसम्पन्न ईश्वरको मानना परमावश्यक है। यदि ईश्वरको न माना जायगा तो मनुष्य निम्नस्नेह पशुवत् हो जायगा, क्योंकि पशुओंमें ईश्वरके ज्ञानका अभाव होता है। परिणाम यह होगा कि फिर मनुष्य निपट स्वार्थी होकर पशुके समान आचरण करने लगेगा। पशुवत् बलवान् होकर वह अपने सुखके लिये निर्बलोंका नाश करेगा, तथा उसकी सम्पत्ति हरणकर उसे भोगेगा। जो उस बलवान् मनुष्यमें भी अधिक बलवान् होगा वह उसका नाश करेगा। इसप्रकार यह त्याग-जगत् पशु-जगत् बन जायगा।

सबके परमपिता अथवा परमकारण ईश्वरको मानकर हमी नानेमें मनुष्य आपसमें भ्रातृभावका सम्बन्ध रखते हैं तथा उसके अनुसार एक दूसरेकी सहायता करने हैं। ऐसा न हो तो फिर यह संसार ही न चले। ईश्वरके अस्तित्वपर विश्वास न होनेपर एक मनुष्य दूसरेकी किस ज्ञान और सिद्धान्तके बलपर सहायता करेगा? सहायता तो दूर रही वह अपनी पुष्टिके लिये दूसरेकी हानिकी चेष्टामें लगा रहेगा।

फिर नास्तिकताका प्रचार हानेमें ईश्वर और उसके न्यायमें मनुष्यका विश्वास न रहेगा और तब पाप-पुण्यकी भावना भी संसारसे उठ जायगी। परिणाम यह होगा कि चोरी, डकैती, परम्परागमन, हत्या, गृहदाह, मादकता आदि दुष्कर्मोंकी अधिकाधिक वृद्धि होती जायगी, क्योंकि इनके द्वारा तात्कालिक लाभकी आशा होती है। फिर तो कोई दूसरेकी हानिकी कुछ परवा ही नहीं करेगा, जिससे पाप-कर्मोंमें कोई भी रुकावट न रह जायगी। सब-के-सब मनुष्य येन केन प्रकारेण अपने ही जीवनके सुखको बढ़ानेके उद्योगमें लगे होंगे। और तब यह जगत् पशु-जगत्में भी अधिक होततर अत्याचारमयी अवस्थाको प्राप्त हो जायगा।

नास्तिकवादके प्रचारसे अधिपत्य-जीवनमें विश्वास न रहनेके कारण लोग मृत्युमें बहुत ही डरेंगे और उससे बचनेके लिये अनेक अत्याचार करेंगे। तथापि अब मरनेका समय आयेगा तो वे बहुत ही घबड़ायेंगे, जीवनभर पापमें रत रहनेके कारण अन्तःकाष्ठमें उन्हें समान्तक पीड़ा होगी, अतः बड़ी ही कठिनाई और दुःखसे उनका प्राणान्त होगा।

आजकल भी देखा जाता है कि जो मनुष्य जीवनमें अधिक पाप करता है, मरनेके समय उसे महा कष्ट होता है और व्यथासे म्याकुल होनेके कारण उसका ऊर्ध्व श्वास बहुत अधिक समयतक चलता रहता है एवं मॉगनेपर भी उसकी श्वासे जल्द नहीं होती। इसप्रकारका कष्ट संसारमें प्रबल वासना होनेके कारण ही होता है और नास्तिकोंके लिये तो यह संसार ही उसका सर्वस्व होता है।

पशु-जगत्की सृष्टि प्रकृतिके अनुसार हो सकती है क्योंकि पशु प्रकृतिका अनुगमन करते हैं, परन्तु मनुष्यके लिये यह बात नहीं। यद्यपि मनुष्यका शरीर अन्नसे चलता है तथापि वह केवल फलाहार या पशुआहारसे शरीरको सुरक्षित रख सकता है और रखता भी है। यही क्यों, मनुष्य केवल वायुके आहारसे जीवित रह सकता है। मैंने एक ऐसे व्यक्तिको देखा है जो महीनेमें केवल एक बार खाता है। मनुष्य इस जगत्का अन्तिम फल है।

जहाँ देखा जाता है वहाँ वस्त्र, अन्न, गृह, बाग-बगीचे, पथ, सवारी, जलाशय, शस्त्र, आभूषण, पात्र, पुस्तक आदि समस्त वस्तुएँ किसी-न-किसीके सङ्कल्प, तथा उस सङ्कल्पके अनुसार अभ्यवसायसे बनती हैं। इनमें एक भी वस्तु ऐसी नहीं जो बिना सङ्कल्प या अभ्यवसायके स्वयमेव बन जाय। ऐसी अवस्थामें यह कब सम्भव हो सकता है कि ऐसा वृद्ध और विविध संसार बिना किसी संकल्प-कर्ता और अभ्यवसायीके बन गया हो ?

दिव्य घटनाएँ

इसके अतिरिक्त साधकके जीवनकी अनेक दिव्य घटनाएँ ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करती हैं। अच्छे साधक पुरुष तो अपने जीवनकी अलौकिक दिव्य घटनाको प्रकाशित नहीं करते क्योंकि इसमें अहङ्कार और अभिमानकी अभिवृद्धि होती है। तथा इन दिव्य अनुभवोंके प्रकाशित करनेसे इनका होना भी बन्ध हो जाता है। इसीलिये दिव्य अनुभवोंका कहना और सुनना दोनों अविहित माना जाता है। संसारमें द्रव्य-प्राप्ति वही कठिनाईमें होती है परन्तु यह किसनोंका अनुभव है कि अश्वत्थ खाद्यवस्तु पड़नेपर जब द्रव्यको नितास्त कमी होती है और उसकी प्राप्ति कोई उपाय नहीं रह जाता तो अकस्मात् उस अभावकी पूर्ति हो जाती है जो भगवान्की कृपाके बिना असम्भव है।

इसके अतिरिक्त संसारमें ऐसे पुरुष भी हैं जिनका भगवान्के अवतार तथा अदृश्य महात्माओंके केवल दर्शन ही नहीं होते बल्कि जो उनसे साक्षात् बातें भी करते हैं। परन्तु यह बहुत साधारण अवस्था है और इसमें आपत्ति भी हो सकती है। ऐसे महात्माओंका भी अभाव नहीं है जो नित्य श्रीभगवान् और महर्षियोंका दर्शन ही नहीं करते बल्कि उनके दिव्य रसमय आनन्द और शान्तिमय तेजपुञ्जका अनुभव भी करते हैं, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता तथा जिसके विषयमें शब्द 'मूकान्वादनवन्' कहकर चुप हो गये हैं।

ईश्वर सर्वव्यापक है

[शिखरिणी]

महींमें, ज्वालामें, भुवनभरमें, व्यामनलमें।

प्रभामें, आभामें, निविड तममें, कल्प पलमें ॥

महोंमें, तारोंमें, पवन, वनमें, फूल, फलमें।

वही सर्वव्यापी, अचल, जलमें और थलमें ॥ १ ॥

सूर्यमें समीरण, सुगन्ध, सरसीरुहमें, कानन, ककुभमें है, कीर्तिमें, कलङ्कमें।

नीनो लोक-काल-वर्ग और अपवर्गमें भी, निखिल निसर्गमें, प्रागमें है, पङ्कमें ॥

देखो मेघमाला, महाद्वीप, महासागरमें, नम, मेदिनीमें, महाचलमें, मयङ्कमें।

सारमें, असारमें, चराचर सुरासुरमें, सर्वव्याप्त ईश्वर है राजा और रक्षक ॥ २ ॥

—भगवत्प्रसाद त्रिपाठी यम० १०, एक-श्ल० ० बी०

ईश्वरवाद और समाज-धर्म

(लेखक—पं० श्रीसदाशिवजी शाकी भिडे, संस्थापक 'गीताधर्ममण्डल' पूना)

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । तेन त्वत्केन मुञ्चोया मागृधः कस्यस्विद्वदन् ॥

❀❀❀❀❀ हिमें जो कुछ भूतवातादि चीखता है, वह
❀❀❀❀❀ सब ईश्वरसे व्याप्त है । उस ईश्वरके दिव्य हुए
❀❀❀❀❀ पदार्थोंसे ही जीवन-निर्वाह करो । किमीके
❀❀❀❀❀ धर्मकी (बस्तुकी) झमिलावा मत करो ।

यह ईशावास्योपनिषद्का पहला मन्त्र है । ईशोपनिषद् वाजसनेय-संहिताका अन्तिम अर्थात् चालीसवाँ अध्याय है । इससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इस अध्यायमें वेदाध्ययनके पूर्ण होनेपर ही गुरुने शिष्यको उपदेश किया है । इस पहले मन्त्रमें आधी हुई मध्यम पुरुषकी दोनों क्रियाओंपर ध्यान देनेसे उपर्युक्त अनुमानकी पुष्टि होती है । मन्त्रके पहले वाक्यमें आये हुए 'जगती' शब्दका रूप अर्थ पृथ्वी है परन्तु उपलक्ष्यसे उसका 'सृष्टि' अर्थ किया जा सकता है । आदिमें आया हुआ 'ईशा' शब्द बहुत ही अर्थपूर्ण है । केवल परमात्मा अथवा परब्रह्म अर्थकी दिखलानेके लिये ही इस शब्दका प्रयोग यहाँ नहीं हुआ है, बल्कि सारी सृष्टिमें व्याप्त सत्ताके उद्गमस्थानके अर्थमें ही इसका प्रयोग हुआ है । सत्ताका अर्थ है स्वाभिम्ब अथवा प्रभुत्व और यही 'ईश' धातुका मूल अर्थ है । स्वाभिम्बके अर्थमें प्रचलित भाषाओं में 'सत्ता' शब्दका प्रयोग होता है । सृष्टिमें स्थित समस्त स्थूल और सूक्ष्म पदार्थोंपर ईश्वरकी सत्ता (स्वाभिम्ब) है । ईश्वर सर्वव्यापी है और साथ ही वह समस्त सत्ताका अधीश्वर है, यह पहले वाक्यमें दिखलाया गया है । व्यापकत्व और सत्ताधीशत्व, ये दोनों शब्द करीब-करीब समान होनेपर भी बिचकूल ही एक हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता । इसीलिये 'आवास्य' अथवा 'वास्य' शब्दसे व्यापकत्व सूचित करते हुए 'ईश' शब्दके द्वारा सत्ताधीशत्व दिखलाया गया है । यहाँ सत्ताधीशत्व अर्थ ही मुख्य है । यह बात मन्त्रके दूसरे वाक्यसे सिद्ध होती है । ईश्वरके सत्ताधीश होनेपर भी उसकी सत्ताका ज्ञान माना प्रकारकी उपाधियोंद्वारा होता है । उन उपाधियोंका वर्गीकरण करनेपर उनके तीन भाग दिखायी देते हैं—व्यक्ति (व्यष्टि), समाज (समष्टि) और अस्मिन् सृष्टि (परमेष्टि) । एक ही व्यक्ति और समाजमें अवयव और अवयवोंका सम्बन्ध है । कौटुम्बिक संस्कारों समाजके

आन्तरिक अवयव हैं, ऐसा माननेपर व्यक्ति के स्थानमें कुटुम्बके अधिपतिको रखनेमें कोई आपत्ति नहीं । सांसारिक पदार्थोंका समावेश इन तीन प्रकारकी सत्ताओंमेंसे किसी-न-किसीके अन्तर्गत हो जाता है । उदाहरणार्थ, किसी मकानको अपने उपयोगमें लानेके लिये उस घरके मालिक, व्यक्ति-विशेषके सत्ता (स्वाभिम्ब) में होता है । इसप्रकार व्यवहारमें यह वैयक्तिक सत्ता अनेकों प्रकारकी देखनेमें आती है । ऐसे ही किसी सार्वजनिक स्थानका उपयोग करनेके लिये उस समाजकी आज्ञा आवश्यक होती है । राजसत्ता समाजकी प्रतिनिधि-स्वरूप होनेके कारण राजसत्ता और समाजसत्ताको तात्त्विक दृष्टिसे एक समझनेमें कोई हानि नहीं है । बल्कि तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे यही कहना चाहिये कि समाजसत्ता ही यथार्थ है; राजसत्ता व्यवहारकी सुविधाके लिये समाजसत्ताका रूपान्तर अथवा संकुचित रूप-मात्र है । मनुष्यके कितने ही प्रयोजन ऐसे होते हैं जिनके सिद्ध करनेकी सामर्थ्य उपर्युक्त दोनों सत्ताओंमें नहीं होती । आधुनिक युगमें भौतिक शास्त्रोंकी अत्यन्त प्रगति होनेके कारण पहले जो बातें मानवी सत्ताके बाहर समझी जाती थीं, उनमेंसे कितनी ही अब मानव-प्राणीके इन्तर्गत हो चुकी हैं । तथापि मानवी सत्ताकी सीमामें न आयी हुई अभी बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो मानवी-जीवनके लिये अत्यन्त आवश्यक हैं । उदाहरणार्थ, बादलोंका बरसना मनुष्य-जीवनके लिये अत्यन्त प्रयोजनीय है, परन्तु उसकी कुञ्जी जिस सत्ताके हाथमें है, वह परमेष्टी सत्ता है । 'परमे व्योम्नि' अर्थात् परमाकाशमें रहनेवाला सर्वसत्ताधीश परमेश्वर ही यहाँ 'परमेष्टी' शब्दसे अभिप्रेत है । अतः जिसप्रकार सब पदार्थ 'ईशावास्य' अर्थात् ईश-सत्ताके भीतर हैं उसी प्रकार मनुष्यके जीवनका क्रम भी उसी सत्ताके आश्रयसे सञ्चालित होता है ।

ईश-सत्ताके विभाग

मनुष्यको अपने धारण-पोषणके लिये अनेक पदार्थोंकी निरव्यवश्यकता पड़ती है । परन्तु ये सब पदार्थ उस एकके ही स्वाभिम्बमें नहीं होते । उनमेंसे कुछ अन्य व्यक्ति-

की सत्ताके, कुछ राजसत्ताके तथा कुछ परमेश्वरीसत्ताके होते हैं। यह तीनों सत्ताएँ एक ही ईश-सत्ताके विभिन्न स्वरूप हैं। अपने जीवन-यात्राकी आवश्यक सामग्री हमें किसी भी सत्ताद्वारा प्राप्त हो, परन्तु वस्तुतः हमें वह ईश-सत्तासे ही मिलती है, यह बात ध्यानमें रखना आवश्यक है। मनुष्यके लिये प्रयोजनीय पदार्थ जिसकी सत्ता (स्वामित्व) में होते हैं, वही जब हमें देता है, तभी हम उनका प्रयोग कर सकते हैं। किसी वस्तुको दूसरेको देनेका अर्थ यह है कि उस वस्तुपरमे अपना स्वामित्व हटाकर, जिसको वह वस्तु दी जाती है उसका स्वामित्व उत्पन्न कर देना, इसीको शास्त्रीय भाषामें दान कहा जाता है। परन्तु यह दान धर्मादा नहीं है, 'स्वस्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वापादानम्' शास्त्रकारोंने दानकी यही व्याख्या की है; इसलिये उस सर्वसत्ताधीश ईश्वरद्वारा किसी भी रूपमें प्राप्त वस्तुसे मनुष्यको अपना भरण-पोषण करना चाहिये। इसी अग्नि-प्रायसे मन्त्रके दूसरे वाक्यमें 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यह पत्र आया है। इससे यह दूसरा सिद्धान्त निकलता है कि किसी पदार्थका, जबतक कि उसपरमे दूसरेका स्वामित्व हटकर अपना स्वामित्व न उत्पन्न हो जाय, उपभोग करना परचन-अपहरण होता है। यहाँ 'धन' शब्द जीवनके लिये प्रयोजनीय वस्तुके व्यापक अर्थमें आया है, यह ध्यानमें रखना चाहिये। अपने जीवनके लिये उपयोगी वस्तु जिस सत्तासे मिलनेवाली हो, उसी सत्तामें वह यथायोग्य उचित उपायोंद्वारा प्राप्त करनी चाहिये। इसी अग्निप्रायसे दूसरे वाक्यमें 'तेन त्यक्तेन' पत्र आया है। इस नियममें धोखा-सी भी भूल होनेपर दूसरेके धनका अपहरण हो जाता है। अतः व्यक्तिमें केवल परमेश्वर-पर्यन्त सत्ता (स्वामित्व) के जो-जो क्षेत्र हैं, उन सबका सूक्ष्म दृष्टिमें विचार करके अपने जीवनको पवित्र रखनेके लिये अत्यन्त सावधान रहना आवश्यक है।

स्वामित्वका तात्त्विक अंग

इस मन्त्रमें आये हुए नियम जिसप्रकार नैतिक-दृष्टिमें अत्यन्त महत्वके हैं, उसी प्रकार आर्थिक-दृष्टिमें भी बड़े ही महत्वके हैं। कुछ लोग समझते हैं कि नीति और अर्थमें कोई पारस्परिक सम्बन्ध नहीं है, परन्तु यह ठीक नहीं। वेदान्त, धर्म और अर्थशास्त्रके मूल तत्त्वोंमें सामान्यतः मेल होना ही चाहिये, वह हिन्दू-संस्कृतिका

सिद्धान्त है। वैयक्तिक सत्ता और सामाजिक सत्ताकी सीमा निर्धारित करना तथा व्यक्तिगत सत्ताकी समाप्ति और सामाजिक सत्ताके प्रारम्भके स्थानको ठीक-ठीक समझना बहुत ही कठिन है। अर्थ-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र दोनोंका विशाल अभ्यास होनेपर ही सत्ताकी सीमा निश्चित की जा सकती है। और तभी मनुष्यके लिये उपयुक्त मन्त्रके आदेशानुसार 'अस्तेय' का पालन सम्भव होता है। 'सत्ताकी इन विभिन्न सीमाओंको निश्चितरूपसे समझना प्रायः असम्भव है, इसलिये इनके बसेद्वेमें न पड़ना ही ठीक है' ऐसा कुछ लोग कहते हैं परन्तु यह बात बिल्कुल ही ठीक नहीं। 'शास्त्राय विषय समस्तं नहि जाना, इस-लिये शास्त्रोंको छोड़ दो' इसप्रकारके ओछे विचारोंमें हिन्दू-समाजकी आजतक बड़ी हानि हो चुकी है। अर्थ और राजनीतिक विषयोंको जो भली-भाँति समझते हैं, उन्हें इस सत्ताके स्वरूप तथा हमका सीमाका ठीक-ठीक ज्ञान है। प्रस्तुत मन्त्रके उपदेशानुसार चलकर मनुष्य अपने जीवनको पूर्ण पवित्र बना सकता है। परमेश्वरीय सत्ताका स्वरूप, उस सत्ताद्वारा होनेवाले संसारके बड़े-बड़े कार्य, उनके साथ मानवी जीवनका सम्बन्ध, समाज, व्यक्ति, अर्थ-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र—इन सबका प्रस्तुत मन्त्रमें बताये हुए नियमोंके साथ प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध होनेके कारण यह सभी प्रश्न-विद्याके अंग है ऐसा सिद्ध होता है। कुछ उद्यमहीन सम्प्रदायोंकी आदत पड़ जानेके कारण बुद्धिवाग्दम्भधन्वी शास्त्रीय तर्कणामें लोगोंके मनमें एक प्रकारका भय-सा हो गया और उपनिषद्वादी-के समान पारमार्थिक साहित्यमें आधिभौतिक शास्त्रोंकी वृत्तक नहीं आनी चाहिये, ऐसा उनकी धारणा बन गयी। परन्तु यह धारणा मूल भुक्ति-मन्त्रकी दृष्टिमें किसप्रकार व्याप्य है, उसे यहाँ अब अधिक बतलानेकी आवश्यकता नहीं।

सत्ता (स्वामित्व) का ज्ञान और उसकी पवित्रता

इस मन्त्रमें जो नैतिक नियम आया है वह समाजकी दृष्टिमें अत्यन्त महत्वका है। मनुष्यको स्वयं कैसा व्यवहार करना चाहिये, यह न बतलाकर, मनुष्यमात्रको दूसरोंके प्रति कैसा व्यवहार होना चाहिये, इस मन्त्रमें मुख्यतया हमें इसीको बतलाया है। हममें अस्तेयकी अत्यन्त ही सूक्ष्म कल्पना है। किसी प्रकारका बड़ा दिने दिया दूसरोंकी वस्तुका उपभोग करना महान् पाप है, वह बात सहज ही

बहुतोंके ध्यानमें नहीं आती। माहिकमे बिना पछे उसकी वस्तुको काममें लाकर, फिर उसे जहाँ-का-तहाँ रख देनेमें कोई दोष नहीं, ऐसा बहुतोंका मन है। पर वस्तुतः नीति-शास्त्रकी दृष्टिमें ऐसी मनोवृत्ति पापयुक्त ही समझी जाती है। उज्ज्वल नीति-निष्ठामें पापवृत्तिको जरा-सा भी स्थान नहीं है। यह नीति-निष्ठा ही ब्रह्मविद्याका आधार है, ऐसा श्रुतिमें स्पष्ट कहा है। (देखिये कठ० १।२।२४) नीति-शास्त्रके इस महान् तथ्यका इस मन्त्रमें जैसा व्यापक, सूक्ष्म और निम्नान्त वर्णन है वैसा शायद ही अन्यत्र कहीं मिले।

संन्यास-मार्ग-कृत अर्थ-विपर्यय

इस मन्त्रके सरल अर्थपर ध्यान देनेसे यह बात सहज ही दिखजायी देती है कि इसका संन्यास-मार्गमें सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता। परन्तु बड़ा आश्चर्य है कि अधिकांश प्राचीन टीकाकारोंने इस मन्त्रको बिल्कुल संन्यास-परक ही समझाया है। ऐसा करनेमें शब्दार्थोंकी खींचतान होना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इसका अर्थ उन्होंने ऐसा किया है कि जो कुछ यश्चक्षामे (अपने-आप ही) प्राप्त हो जाय उसीको ईश्वरका दिया हुआ समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि उनके मतमें 'यश्चक्षामे-काम-सन्नाष' ही उपर्युक्त वाक्यका अभिप्राय है। यश्चक्षामे प्राप्त होनेवाली वस्तुओंपर जीवन-निर्वाह करना ही संन्यासधर्म होनेके कारण इन तीन पदोंमें (स्वरूपतः) सर्वकर्मसंन्यासका ही उपदेश किया गया है, ऐसा संन्यासमार्गी महानुभावोंका कहना है। उसी प्रकार 'मागृधः' इस पदमें एक स्वतन्त्र वाक्यकी कल्पनाकर उसका सम्बन्ध पहले वाक्यके सर्वकर्मसंन्यासकी कल्पनासे बाँध दिया गया है। ऐसा करनेमें वाक्य-भेद-दोष तो आता ही है, साथ ही पहले आये हुए 'धनम्' कर्मको भ्रम्य छोड़कर 'मागृधः' कियाके लिये 'किमपि' कर्मका आभ्याहार करना पड़ता है, यह भी व्याकरणानुसार दोष ही है। परन्तु 'किसी वस्तुकी भी अभिलाषा मत करो' इसप्रकारका अर्थयुक्त वाक्य बन जाय और वह सर्वकर्म-संन्यासकी कल्पनाके लिये उपयोगी हो, इस लाभके लिये संन्यास-मार्गवालोंने उपर्युक्त सब दोषोंको खुशी-खुशी अपने मिर ले लिया है। इसी प्रकार 'कम्यस्विद्धनम्' इस अवशिष्ट तृतीय पदको प्रत्यक् वाक्य मानना पड़ा है। 'धन किसका?' इसप्रकार आश्लेषयुक्त प्रश्न करके, धन

किसीका भी नहीं है, जगत्के सत्ता धन भी मिथ्या है, धन भी सत्य वस्तु नहीं है—इसप्रकार इस तीसरे वाक्यका अर्थ करके जगन्मिथ्यात्व प्रतिपादन करनेवाले मायावादकी कल्पना सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है। 'कम्यस्वित्' में 'स्वित्' शब्दका अर्थ 'अपि' शब्दके समान भी होता है, परन्तु वह संन्यास-मार्गके अनुकूल नहीं होता, इसलिये उसे छोड़ दिया गया है। संन्यासमार्गकी कल्पनाको बँटानेके लिये दूसरे वाक्यकी ऐसी खींचतानी करके भी अन्तमें यह प्रयत्न सफल नहीं होता, संन्यासमार्गीयोंसे ऐसा कहनेका प्रसंग अगले मन्त्रमें भी आ जाता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः।

एवं त्वमि नान्यथेतोऽसित न कर्म लिप्यन्ते नरे ॥

(१०२)

अर्थात् इस संसारमें कर्मोंको करते हुए ही सौ वर्ष (पूरी आयु) जीनेकी इच्छा करे, ऐसा होनेपर मनुष्यमें कर्म लिपायमान नहीं होते (अर्थात् कर्म बन्धनकारक नहीं होते) इसके अतिरिक्त दूसरा प्रकार (कर्म-बन्धनमें छूटनेका दूसरा मार्ग) नहीं है।

पिछले मन्त्रमें कहा है कि अनेकरूपमें ईश्वरीय सत्ता-द्वारा उचित रीतिमें प्राप्त हुई सामग्रियों ही अपनी जीविका चलावे, किसी भी वस्तुमें अनुचित लाभ न उठावे। परन्तु पदार्थपर दूसरेका स्वामित्व नष्ट होकर अपना स्वामित्व उत्पन्न हो जाय, इसका कौन-सा उपाय है? इस बातको बतलाये बिना मन्त्रके सिद्धान्तका पूरा वर्णन नहीं होता, अतएव यह दूसरा मन्त्र केवल पहले मन्त्रके सिद्धान्तकी ही पूर्ति करता है।

मनुष्य-जीवनका शास्त्र-शुद्ध मार्ग

जिजीविषा अर्थात् जीनेकी इच्छा प्राणीमात्रमें एक समान ही होती है। यह इच्छा नैसर्गिक होने हुए भी धर्म्य है। उसी प्रकार यह वेदान्त-सम्मत भी है, क्योंकि वेदान्त-शास्त्रके नियम पितृ-ब्रह्माण्डके स्वभावके अनुसार ही होते हैं। ब्रह्मज्ञानी होनेपर मनुष्यको जिजीविषा होती है या नहीं? संन्यास-मार्गवालोंने यहाँ ऐसा प्रश्न उपस्थित करके उत्तर दिया है कि 'ज्ञानी मनुष्यको जिजीविषा नहीं होता।' परन्तु यहाँ कर्मसम्बन्धी विशेष नियम बतलाया गया है, इसका विचार करनेसे यह स्वीकार करना पड़ता है कि कोई भी स्वरूपतः कर्म-त्याग नहीं कर सकता। इस आपत्तिको टाकनेके लिये संन्यास-मार्गवाले

उपयुक्त उत्तर देते हैं। परन्तु ब्रह्मज्ञानी पुरुषोंको जिजीविषा नहीं होती, यह कल्पना वैदिक ऋषियोंको बिल्कुल ही अभिप्रेत नहीं थी; अधिक तो क्या, संन्यास-मार्गवालोंको भी यह कल्पना मान्य नहीं है, मान्य होती तो सर्व-कर्म संन्यास करनेवाले ज्ञानी पुरुषके लिये शारीर-कर्म करनेकी भी अनुज्ञा संन्यास-मार्गमें क्यों दी जाती? इसका सरल उत्तर यही है कि जिजीविषा एक प्रकारकी इच्छा है सही, परन्तु वह दूसरी इच्छाओंकी भाँति विचारपूर्वक धारणा की जाती हो अथवा प्रसंग-विशेषमें ही उत्पन्न होती हो, ऐसी बात नहीं। सजीव शरीरका जिजीविषा (जीनेकी इच्छा) एक स्वभाव-सिद्ध धर्म ही है। धर्मशास्त्र अथवा वेदान्त-शास्त्रने भी इस जिजीविषाका विरोध नहीं किया है, बल्कि इस जिजीविषाको नष्ट करना शास्त्रोंने निन्दनीय बतलाया है। नैसर्गिक नियमोंके अनुसार जीनेकी इच्छा करना मानव-प्राणीका स्वभाव है, इसके अनुसार मानव-प्राणी यह इच्छा यावज्जीवन करता ही रहेगा। इस बातपर ध्यान देकर ही वैदिक ऋषियोंने इस जीवनेच्छाके साथ एक महत्वपूर्ण शास्त्रीय नियम जोड़ दिया है। जिसप्रकार जीवनेच्छाका त्याग नहीं किया जा सकता और वैसा करना भी नहीं चाहिये, उसी प्रकार इस शास्त्रीय नियमका भी कोई उल्लंघन न करे, यही उसका अभिप्राय है। वह नियम यही है कि इस लोकमें मनुष्य कर्मोंको करते हुए जीनेकी इच्छा करे। इसमें एक और सिद्धान्त यह निकलता है कि जिसको कर्म करनेकी इच्छा न हो वह जीनेकी इच्छा न करे। तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार जिजीविषा अटल और अपरिवर्त्याज्य है उसी प्रकार कर्तव्य-कर्मको भी अटल और अपरिवर्त्याज्य समझना चाहिये। यद्यपि 'कर्म' शब्दका यहाँ सुझाव नहीं है तथापि इसमें कोई संशय नहीं है कि उसका 'वर्णाश्रम-विहित' विशेषण मन्त्रमें विवक्षित है। यहाँ 'जिजीविषेत्' क्रियापद विध्यर्थक है, पर वह मुख्य (अपू्वं) विधि नहीं है। क्योंकि जिजीविषाके स्वभावतः प्राप्त रहनेके कारण उसके लिये स्वन्त्र शास्त्राज्ञाकी आवश्यकता नहीं है। परन्तु विहित कर्मकी बात दूसरी है। वर्णाश्रम-विहित कर्मके आचरणकी ओर मनुष्यकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नहीं होती, इसीलिये कर्मके विषयमें शास्त्राज्ञाकी अत्यन्त आवश्यकता होती है। सुतरां इस मन्त्रमें कर्मविषयक आज्ञा ही मुख्य है, ऐसा समझना चाहिये। 'सर्वं समाः'

अर्थात् सौ वर्षका यह उल्लेख मनुष्यके आयुकी सामान्य सीमा दिखलानेके लिये हुआ है। इस 'वर्ष' शब्दके उल्लेखका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक मनुष्य इसप्रकारकी महत्वाकांक्षा रखे कि वह अपनी सम्पूर्ण आयुका कर्तव्यकर्मोंके आचरणमें ही उपयोग करेगा। इसप्रकारसे अपने सम्पूर्ण जीवनक्रमको ज्ञानपूर्वक कर्तव्यकर्ममें खगा देनेपर मनुष्यको वे कर्म बन्धनकारक तो होते ही नहीं, प्रत्युत मोक्षदायक होते हैं।

वर्ण-धर्म अर्थात् समाज-धर्म

पहले मन्त्रमें 'येन त्यजेन भुञ्जीथाः'—यह पद आया है, इसका तात्पर्य ऊपर बतलाया जा चुका है। व्यक्ति, समाज और सृष्टि इन तीन रूपोंद्वारा सर्वसत्ताधीश ईश्वर ओ देता है उसीसे मनुष्यको अपना जीवन-निर्वाह करना चाहिये, यह निश्चय हो गया है। परन्तु इस व्यवहारमें स्वामित्वका परिचय (अदला-बदली) किसप्रकार होना चाहिये? इस प्रश्नका उत्तर प्रस्तुत मन्त्रमें बहुत ही सुन्दर रीतिमें दिया गया है। मानवी-कर्मके दो विभाग होते हैं—वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म। प्रायुक्तिक युगमें इन्हें समाज-धर्म और व्यक्ति-धर्म नाम दिये जाते हैं। मनुष्यके द्वारा बुद्धिपूर्वक जो कर्म होते हैं, उनका समावेश अवश्य ही उपयुक्त किसी-न-किसी विभागमें होता है। चार वर्ण और चार आश्रमरूप वर्णाश्रमकी व्यवस्था प्रसिद्ध हो गई है। मनुष्यको स्वयं कैसे बतना चाहिये, यह आश्रम-व्यवस्थामें निश्चित होता है तथा दूसरोंके साथ कैसे बतना चाहिये, यह वर्ण-धर्मके द्वारा जाना जाता है। पदार्थोंके स्वामित्वके परिवर्तनका प्रश्न मुख्यतः वर्ण-धर्ममें ही आता है। मनुष्य यदि अपने वर्ण-धर्मका नियमितरूपमें आचरण करे तो स्वामित्वके परिवर्तनका प्रश्न इसप्रकार सहज हो हल हो जाता है, जैसे, ब्राह्मण यदि अपना (आधिभौतिक) तथा परा (आध्यात्मिक) विद्याकी शिक्षा समाजको दे तो यह सिद्ध होता है कि उसने ब्राह्मणके वर्ण-धर्मका पालन किया। इस कार्यके बदलेमें शिष्य, समाज अथवा राजाके द्वारा उसे जो वेतन मिले उसपर उसका अधिकार स्वतः ही उत्पन्न होता है, इस वेतनके द्वारा अपनी जीविका चलावनेमें पूर्व-मन्त्रमें कहे अनुसार वह पूर्णतः निष्पाप रहता है। परन्तु उसे अपने काममें आलस्य, प्रमाद तथा दुष्प्रवृत्तिका भी नहीं करना चाहिये। यदि वह ऐसा करेगा तो पूर्व-मन्त्रके उपदेशानुसार

(उसका) वह (वैतन ग्रहण करना) चोरी होगा, इसमें कोई शंका नहीं। वैयक्तिक व्यवहारमें भी उपर्युक्त उदाहरण लागू हो सकता है। अध्ययन, व्यापार, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह यह छः कर्म ब्राह्मण-वर्णके धर्ममें आते हैं। उनमेंसे तीन कर्म ब्राह्मणके उपजीविकाके लिये हैं, ऐसा धर्म शास्त्रकारोंने कहा है (मनु० १०।७९)। शिष्टाके बदलेमें कुछ भी लेना ठीक नहीं, ऐसा कुछ लोगोंका मत है परन्तु इस विषयमें अनुष्मृतिकारने जो स्पष्ट निर्णय दिया है (मनु० २।११२, ११३) उसपर ध्यान देनेसे यह बात समझमें आ जाती है कि उपर्युक्त मत शास्त्रीय नहीं। इस प्रकार चारों ही वर्ण धर्मोंका पूरा-पूरा मेल बैठाना जा सकता है। ध्यकिये अथवा समाजमें अपनी आजीविकाके जो साधन प्राप्त किये जाते हैं उनके बदलेमें मनुष्यको उक्त व्यक्ति तथा समाजके लिये पर्याप्त परिश्रम करना अत्यन्त आवश्यक है। समाज और ध्यकिके कल्याणकी दृष्टिसे वर्णाश्रम-धर्मकी रचना होनेके कारण यह बदला कर्त्तव्य-बुद्धिसे चुकाया जा सकता है और इसीसे वर्णाश्रम-धर्मकी रचनामा महत्व दृष्टिगोचर हो सकता है। दूसरोंके लिये परिश्रम किये बिना उनमें किसी प्रकारकी सहायता लेनेका अधिकार मनुष्यको नहीं है। इसीसे सिद्ध होता है कि भिक्षा अथवा याचनाका सिद्धान्त श्रुतिको बिल्कुल ही मान्य नहीं है। इन दोनों मन्त्रोंका अभिप्राय ब्रह्माय-पुराणमें आया है। और उसमें—‘तहनेनैव भुञ्जीथा यतां नान्यं प्रयाचयेत्’—ग्रन्थकारने ऐसा निष्कर्ष निकाला है। हिन्दू (वैदिक) मनुष्य अपने वर्णाश्रम-विहित कर्मोंका नियमानुसार आचरण करनेपर उसके व्यावहारिक और पारमार्थिक प्रश्नोंका समाधान प्राप्त ही हो जायगा। ऐसी धर्मरचना ऋषियोंने की थी। जिसमें एकको दूसरेके समीप याचना करनेका कोई कारण ही नहीं रह जाता था। ऐसी ही परिस्थिति समाजमें उत्पन्न हो गयी थी—

‘न केनचित् याचितव्यं कश्चित् किञ्चिदनापदि।

इति व्यवस्था भूतानी पुरस्तान्मुना कृता ॥’

अर्थात् सङ्कटकालके सिवा कभी भी कोई किसीसे किसी वस्तुकी याचना न करे, पूर्व-कालमें मनुने मानव-प्राणोंके लिये ऐसी व्यवस्था की थी; यह महाभारतमें कहा गया है। सामाजिक समताकी पूर्णताका यह एक ही लक्षण है। परन्तु ऐसी पूर्ण समता उच्च वर्गमें ही समाजमें

उत्पन्न हो सकती है। औपनिषद् ग्रन्थविद्याके युगमें समाज उन्नतावस्थामें था। इसी कारण मनुत मन्त्रमें कथित सिद्धान्तका उस समय व्यवहार हुआ होगा, ऐसा कहना अयुक्त नहीं। मेघ-दृष्टि-जैसा घटनाओंके लिये, जो ईश्वरीय सत्ताके अधीन हैं, ईश्वरोपासनाके नाना प्रकारके मार्ग उस समय भी प्रचलित थे, उन उपासनाओंका भी वर्णाश्रम-धर्ममें अन्तर्भाव हो गया था। उसमें वर्णाश्रम विहित कर्मोंके आचरणरूपी अद्वितीय मार्गकी स्थापना वैदिक ऋषियोंने समाजके लिये किसप्रकार की थी, इसकी ठीक-ठीक कल्पना की जा सकती है। यह मार्ग व्यावहारिक और पारमार्थिक उन्नतिके लिये अत्यन्त हितकर होनेके कारण अभ्युदय तथा निःश्रेयसप्रद है, यह बात निर्विवाद सिद्ध है।

मन्याम-मार्गकी अर्थविषयक खींचतान

पहले मन्त्रमें यह अभिप्राय स्पष्ट है कि ईश्वरीय सत्ता सर्वगामी है, उसके द्वारा जो मिले उसीसे जीविका चलावे, किसीकी भी सम्पत्तिका अपहरण न करे। और इस सर्व-गामी ईश-सत्तासे आजीविकाकी सामग्री किसप्रकार मिल सकती है यह बात दूसरे मन्त्रमें कही गयी है। इसमें यह बात सबके ध्यानमें सहज ही आ सकती है कि ये दोनों मन्त्र एक दूसरेकी पूर्ति करनेवाले हैं। परन्तु मन्यासमार्गवालोंने इन दोनों मन्त्रोंको एक-दूसरेमें अलग करके यह निश्चय किया है कि पहला मन्त्र ज्ञानीके लिये है। परन्तु इस व्यवस्थामें वाक्यभेद-दोष आता है, इसपर उन्होंने बिल्कुल ही ध्यान नहीं दिया। इसके अतिरिक्त इन दोनों मन्त्रोंको ज्ञानी और अज्ञानीकी दृष्टिमें विभिन्न माननेपर दोनों ही मन्त्रोंके वाक्यार्थ अपूर्ण रह जाते हैं जिसमें कोई-सा भी एक सिद्धान्त पूर्ण नहीं होता। ईश्वरने जीवन-निर्वाहके साधन किसप्रकार प्राप्त हों, इसका उत्तर श्रुतिके ही शब्दोंमें नहीं मिलता। यहचक्रामे प्राप्त वस्तुको ही ईश्वरप्रदत्त समझा जाय, ऐसी कल्पना करनेसे ‘तेव स्यत्केन’ इस पदका लाक्षणिक अर्थ मानना पड़ता है और ‘किसीके भी धनका अपहरण न करो’ यह वाक्य व्यर्थ हो जाता है उसी प्रकार ‘तेन स्यत्केन’ वाक्यका केवल मन्यास-परक अर्थ करनेसे ‘भुञ्जीथाः’ और ‘मागृधः’ आदि अंश व्यर्थ हो जाते हैं। दूसरे मन्त्रमें भी इसप्रकार ‘तू कर्ममें क्षिपावसाय न होगा,’ ‘इसके सिवा संसारमें दूसरा मार्ग

नहीं,' इसप्रकारके श्रमोंका उत्तरार्द्ध निरूपयोगी ही जान पड़ता है। इसप्रकार इस मन्त्रभेदकी कल्पनाके कारण भाषा-शास्त्रकी दृष्टिमें इन दोनों ही मन्त्रोंके वाक्यार्थमें अनेक आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं और इतना होनेपर भी किसी एक सिद्धान्तका सांगोपांग पूर्ण वर्णन नहीं हो पाता, यह भी एक विध्वंसिता है। मन्त्र-विच्छेदकी यह कल्पना बहुत ही उत्तरकालीन और साम्प्रदायिक है, इस बातका ब्रह्मसूत्रमें पता लगता है। इस मन्त्रको लक्ष्य करके बादरायणाचार्यके ब्रह्मसूत्रमें दो सूत्र धार्य हैं (ब्रह्मसूत्र ३।४।१३-१४)। इनमेंसे पहले सूत्रमें कहा गया है कि ईशावास्यका यह दूसरा मन्त्र सामान्य नियमसूचक है, विशेष नियमसूचक नहीं। परन्तु प्रकरण-सन्दर्भसे इस दूसरे मन्त्रमें ज्ञानी मनुष्य ही विवक्षित मानना पड़ता है। क्योंकि पहला मन्त्र ज्ञानी पुरुषको लक्ष्य करके कहा गया है, इसलिये दूसरा मन्त्र भी उसीको लक्ष्य करके होना चाहिये। ऐसा क्रमपूर्वक कहनेमें आता है। इस बातको बादरायण जानते थे, अतः उन्होंने दूसरे सूत्रमें सिद्ध किया है कि 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' यह मन्त्रविद्याकी स्तुतिके लिये है अथवा ज्ञानी मनुष्यद्वारा किये जानेवाले कर्मके अनु-मोदनके लिये है। इस सूत्रपर शाङ्करभाष्य इसप्रकार है—

‘यद्यप्यत्र प्रकरणसमर्थ्याद्विद्वानेव कुर्वन्निति संबध्यते तथापि विद्यास्ततये कमानुष्ठानमेतद्वद्व्ययम् ।’

अर्थात् यद्यपि यहाँ प्रसंगानुसार 'कुर्वन्' मन्त्रमें ज्ञानी पुरुष ही सम्बद्ध होता है तथापि यह कमानुष्ठान विद्याकी स्तुतिके लिये ही जानना चाहिये।

अब प्रस्तुत मन्त्रके ऊपर शाङ्करभाष्य देखिये—

‘अथतरस्यानाऽऽत्मतयात्मग्रहणायाशक्तस्येदमुपदिशतिमन्त्रः कुर्वन्नेवेति। पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिना ज्ञाननिष्ठाका द्वितीयेन तदशकस्य कर्मनिष्ठैरनुष्यते। ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्पम् ॥’

अर्थात् ‘(पहले मन्त्रके विवरणके अनन्तर) अब ज्ञानके अभावके कारण आत्माके ग्रहण करनेमें असमर्थ (अज्ञानी) मनुष्यके लिये इस अगले मन्त्रका उपदेश दिया गया है।’ (दूसरे मन्त्रके विवरणमें) पहले मन्त्रमें संन्यासी पुरुषकी ज्ञाननिष्ठा कही गयी है और दूसरे मन्त्रमें ज्ञाननिष्ठके अनधिकारी अज्ञानी मनुष्यके लिये

कर्मनिष्ठा कही गयी है। क्योंकि कर्म और ज्ञानमें परस्पर पर्वत-मृदा विरोध अनिवार्य है, इत्यादि।

ब्रह्मसूत्रपर शाङ्करभाष्यकी पंक्तियाँ और ईशोपनिषद्-पर शाङ्करभाष्यकी पंक्तियाँ ऊपर दी गयी हैं, इनको सूक्ष्म और तुलनात्मक दृष्टिमें देखनेपर पाठकोंके मनमें यह प्रश्न उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकता कि ‘क्या यह दोनों लेख एक ही ग्रन्थकारके हैं?’ स्वतन्त्र विचारकोंको इस प्रश्नका यथार्थरूपमें निर्णय करना बहुत ही आवश्यक है। जो कुछ हो, यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि ब्रह्मसूत्रके शाङ्करभाष्यमें भी ईशावास्यके इस दूसरे मन्त्रका उपदेश ज्ञानी पुरुषको ही लक्ष्य करके किया गया है। इसलिये इन दोनों मन्त्रोंमें एक ही अभ्युदय और निःश्रेयस्कर वैदिक मार्गका उपदेश श्रुतिने दिया है। इस मार्गमें परमात्मतत्त्व और सृष्टिमें स्थित उसकी सत्ताका पूर्णज्ञान, स्वार्थम्याग और कर्तव्यनिरूपण इन तत्त्वोंका मुख्यतः समावेश होता है और इसी मार्गको गीताशास्त्रमें ‘कर्मयोग’ संज्ञा दी गयी है। इस कर्मयोगका ही इन दोनों मन्त्रोंमें श्रुतिने निःश्रेयस्के अद्वितीय मार्गके रूपमें उपदेश दिया है।

यह हृष्टा किसीको भी नहीं करनी चाहिये कि अपने जीवन-क्रमको चलानेके लिये आवश्यक सामग्री बिना परिश्रम ही मिल जाय। बिना परिश्रम अथवा बद्धेमें कुछ दिये बिना दूसरेकी वस्तु देनेमें मनुष्यके घनतःकरणमें लज्जा उत्पादन करनेवाला दोष उत्पन्न हो जाता है और वह ब्रह्मवर्चस्विताके लिये अत्यन्त घातक है। इसके विपरीत अपने कष्टमें अर्जन किये हुए अथवा उचित बदला देकर प्राप्त किये हुए पदार्थपर अपना जीवन-निर्वाह करना ब्रह्मवर्चस्विताका मूल आधार है। ऐसे मनुष्यकी बुद्धि अत्यन्त तेजस्वी होती है। इसप्रकार इन पहले दोनों मन्त्रोंमें श्रुतिने ज्ञान, स्वावलम्बनके साथ निःस्पृहता और कर्तव्यनिष्ठा इन तत्त्वोंपर अधिष्ठित अत्यन्त श्रेयस्कर वैदिक कर्मयोगका उपदेश किया है।

समाज-धर्मका महत्त्व

प्राचीन महर्षियोंने उपनिषदोंमें वैदिक ‘कर्मयोग’ का प्रतिपादन किया है। उसमें व्यक्ति-धर्म और समाज-धर्मकी मर्यादा किसी प्रकार पहुँचायी जा सके, इसके लिये तात्त्विक दृष्टिमें अत्यन्त ही उत्तमरीति बतलायी गयी है। समाज-धर्म व्यक्ति-धर्मका निवासक है, इसलिये समाज-

कल्याणके विधातक किसी भी कामकी करनेका अधिकार किसी व्यक्तिको नहीं है, ऐसा वैदिक धर्मका दृष्टिकोण है। इसमें यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक व्यक्ति के निजी सुखकी अनिवार्य इच्छापर सामाजिक बन्धनकी शर्त जरूर लगानी ही चाहिये। समाजमें सामान्य मनुष्यको भी सर्वसम्मत रुढ़ि तथा शिक्षाचारका पालन करना पड़ता है एवं उसे अपनी अनिवार्य सुख-तृष्णाको अधिकांशमें सीमित करना पड़ता है। समाज-धर्मके इन बन्धनोंका पालन करते हुए बेचारा मनुष्य इस बातको अच्छी तरहसे जानता है कि अपने समाजसे अलग होकर जीना असम्भव है इसलिए वह अपने कल्याणके लिये ही इन सामाजिक बन्धनोंका सुपचाप पालन करनेके लिये तैयार रहता है। सामाजिक बन्धनके परे जानेके लिये कोई कितनी भी उछल-कूद क्यों न करे, अन्तमें उसे निष्फल-प्रयत्न होकर समाजकी शरण लेनी ही पड़ती है। वर्तमान समयमें भी यह बात अनुभव-सिद्ध है। इसलिये व्यक्ति-धर्म अर्थात् आश्रम-धर्मकी अपेक्षा वर्ण-धर्म अर्थात् समाज-धर्म श्रेष्ठ है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें जो ऐसा निर्णय किया है, वह निरपवाद है और सबको स्वीकार करना पड़ता है।

समाज-धर्मके नियामक तत्त्व कौन हैं ?

जिसप्रकार समाज-धर्म व्यक्ति-धर्मका नियामक है, उसी प्रकार समाज-धर्मका नियामक तत्त्व कौन-सा है, कमनासार इसका विचार करना आवश्यक है। बहुतेरे अनुर्थोंका कहना है कि परमेश्वर-धर्म अथवा अद्विगल मानव-जातिका कल्याण किंवा सर्वभूतहितकारक धर्म ही समाज-धर्मका नियामक है। उपर्युक्त तीनों शब्दोंमें प्रथित कल्पना एक बार वेखनेसे ठीक जान पड़ती है परन्तु उस कल्पनामें अव्यवहार्यताका एक बड़ा दोष है। समाज-धर्म पूर्णतया व्यवहार्य है, यह बात आजकलके इतिहासमें स्पष्ट देख पड़ती है। प्राचीन कालमें भारतवर्षमें समाज-धर्म वर्ण-व्यवस्थाके रूपमें पूर्णतया व्यवहार्य हुआ था। प्राधुनिक युगमें पाश्चात्य लोगोंने स्वदेश-भक्ति अथवा स्वदेशाभिमानके रूपमें समाज-धर्मको पूर्णतया व्यवहार्य करके दिखलाया है। परन्तु ईसाईयोंका 'विश्व-बन्धुत्व' अथवा धार्मिकोंका 'सर्वभूतहित' ये तत्त्व प्रत्यक्ष व्यवहारकी कक्षामें कभी नहीं आये। सर्वभूतहित अथवा विश्व-बन्धुत्वकी अव्यवहार्यताको ध्यानमें रखकर ही भारतीयोंने 'ईश्वरोपासना' को समाज-धर्मका नियामक निश्चित किया है। 'स्वदेश-भक्ति' के रूपमें यूरोपिय-

नोंने समाज-धर्मको तो स्वीकार किया परन्तु इस समाज-धर्मके नियामक तत्त्वका विचार करने समय पाश्चात्य समाज-शास्त्रने बहुत ही शिथिलता दिखलायी है। इस विषयमें उन्होंने अखिल मानव-जातिके हितका निर्देश अवश्य किया है परन्तु यह तत्त्व मानव-स्वभावके कितना अनुकूल है, इसका विचार उन्होंने नहीं किया। पाद्री लोगोंने धर्म-पोठपर आसीन होकर 'विश्व-बन्धुत्व' की चाहे कितनी ही चीमें हाँकी हों, परन्तु यूरोपियन लोगोंने कभी उसपर अधिक ध्यान दिया ही नहीं, इसका कारण यह है कि विश्व-बन्धुत्व की कल्पना मानव-स्वभावकी सहसा अङ्गीकृत नहीं होती। यही कारण है कि पाश्चात्योंका समाज-धर्म निबन्ध और मर्यादासे रहित हो गया। मनुष्य-स्वभावकी आसुरी-सम्पत्तिको दूर करने अथवा उसकी उचित सीमामें रखनेमें उनके समाज-धर्मका उपयोग तो हुआ ही नहीं, उल्टे वह मनुष्यके स्वभावमें लोलुपता बढ़ानेमें ही सहायक हुआ। इसी कारण यूरोपियन संस्कृति पूर्णरूपसे राक्षसी आदर्शकी ओर गयी। इस संस्कृतिके प्रति संसारमें किसी-को भी प्रेम अथवा आदर न हुआ। यूरोपियन सभ्यताके वर्तमान उत्कर्षने संसारमें भय और निरन्कार ही उत्पन्न किया है। संसारके इतिहासद्वारा यह बात सिद्ध की जा सकती है कि यह राक्षसी ढंग सदा शोकपर्यवसायी ही भिन्न होता है। इस यूरोपियन संस्कृतिके उदाहरणमें यह बात निश्चित होती है कि समाज-धर्मका नियामक कोई तत्त्व होना चाहिये जो सामान्यतः मानव-बुद्धिके लिये अङ्गीकृत करनेयोग्य तथा मानव-स्वभावके अनुकूल हो। इस विषयमें वैदिक ऋषियोंने वर्ण-व्यवस्थाके द्वारा जो मार्ग निर्धारित किया है, वही यथार्थ है यह बाध्य होकर स्वीकार करना ही पड़ेगा। वह मार्ग ईश्वरोपासना है जिसे आयौने समाज-धर्मका नियामक निश्चय किया है।

ईश्वरोपासना और सामाजिक कर्तव्यता

विश्व-बन्धुत्वकी कल्पनाके अनुसार ही मानव-बुद्धिके लिये ईश-तत्त्वका भी आकलन नहीं हो सकता तो फिर ईश्वरोपासनाकी कल्पना समाज-धर्मका नियामक कैसे हो सकती है? ऐसा प्रश्न यहाँ सहज ही उत्पन्न हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि मानव-बुद्धिके लिये परमात्म-तत्त्व पूर्णतया अङ्गीकृत नहीं होता, यह बात ठीक है, परन्तु परमेश्वर-का अस्तित्व और उसकी सहायताकी अपेक्षा, यह दोनों बातें मानव-स्वभावके लिये हतनी आवश्यक हो गयी हैं कि यह

कल्पना भी नहीं हो सकती कि वे किसी समयमें मानव-स्वभावसे नष्ट होगी। इसलिये हममें कोई भी शङ्का नहीं कि मानवी बुद्धि परमात्म-तत्त्व पूर्णतया आकलन कर सके या नहीं, परन्तु परमेश्वर की कृपा की छत्र-छाया अपने ऊपर लेने की अभिलाषा मानव-स्वभावमें घुल-मिल गयी है। इस मानव-स्वभावको ध्यानमें रख कर ही वैदिक ऋषियों ने समाज-धर्मके नियामकका निश्चय किया था और इसके अनुसार समाजके चारण-पोषण करनेके लिये मनुष्यको चतुर्वर्ण्यके जो-जो कर्म करने पड़ते हैं वे समस्त कर्म वह ईश्वरोपासना की बुद्धिसे निःस्वार्थ-भावसे कर सकता है। बल्कि यह वैदिक धर्मका सिद्धान्त है कि इस प्रकार पवित्र अन्तःकरणसे समाज-धर्मका आचरण करना मनुष्यका इस संसारमें श्रेष्ठ कर्तव्य है।

ईश्वरोपासना और समाजका सामर्थ्य

ईश्वरोपासनाके अतिरिक्त समाज-धर्मका नियामक दूसरा कोई तत्त्व भी नहीं बतलाया जा सकता। आधुनिक तत्त्वज्ञ कहते हैं कि 'कर्तव्य समझकर ही कर्तव्य करो, कर्तव्य-कर्ममें किसी प्रकार की अपेक्षा न रखो। मैंने अपना कर्तव्य ठीक-ठीक पालन किया है, ऐसा मालूम होनेसे मनुष्यको जो सन्तोष प्राप्त होता है उसे ही कर्तव्यबुद्धिका आधारभूत तत्त्व समझो।' परन्तु इनका यह प्रतिपादन हवाईमहलके समान जान पड़ता है। किसी व्यक्ति-विशेषको कर्तव्यजन्य समाधान प्राप्त होनेपर भी यह कर्तव्यनिष्ठा सामान्य मनुष्यके अन्तःकरणमें घर नहीं कर सकती। पुत्र्य, पुनर्जन्म, ईश्वरोपासना इत्यादि तत्त्वोंमेंसे किसी-न-किसी तत्त्वको ध्येय स्वीकार किये बिना कर्तव्य-निष्ठामें स्थिरता नहीं आ सकती। ऐसी अस्थिर कर्तव्य-निष्ठा समाज-धर्मके लिये कितनी उपयोगी होगी, यह ज्ञात ही है। इस कर्तव्यनिष्ठाने बढ़ते मनुष्यकी भोगवासना ही उसका ध्येय बन बैठती है और समाजका भी एकमात्र ध्येय स्वार्थ बन जाता है जिससे मनुष्य स्वार्थ-परायण हो जाता है। ऐसी स्वार्थान्ध समाज (राष्ट्र) संसारके लिये उपयोगी न हो तो भी अपने उत्कर्ष-सम्पादन करनेके लिये तो पूर्ण समर्थ होता है। फिर समाजके स्वार्थपरता की ओर प्रवृत्त होनेमें दोष ही क्या है? यह प्रश्न देखनेमें तो लाजवाब मालूम पड़ता है, परन्तु थोड़ा-सा विचार करनेपर यह निश्चयपूर्वक समझा जा सकता है कि यह प्रश्न बिल्कुल असम्पूर्ण है, क्योंकि समाज-धर्मको व्यक्ति-धर्मका नियामक होना ही चाहिये। स्वार्थान्ध समाज अपने अन्दर रहनेवाले

व्यक्तिके आचरणका नियमन करनेमें असमर्थ होता है। आत्मसंयम, नीति-प्रियता, सद्गुण-विषयोंसे प्रेम, निरलस उद्यमशीलता, उदात्त ध्येयनिष्ठा इत्यादि सद्गुणोंका व्यक्तिमें परिपोषण होना ही चाहिये, तभी व्यक्तिमात्रका जीवनक्रम समाधानपूर्ण और कल्याणकारक हो सकता है। परन्तु स्वार्थनिष्ठ समाज स्वार्थत्यागकी नींवपर ठेके हुए सद्गुणोंके मन्दिरका बिनाशक हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? स्वार्थपरायण समाजके व्यक्तिकी नीतिमत्ता गिर जाती है, उसके नीति-बन्धन बिल्कुल शिथिल हो जाते हैं। नीतिभ्रष्ट मनुष्यको कौटुम्बिक सुखकी प्राप्ति नहीं होती और इस सुखके अभावमें मनुष्यके अन्तःकरणमें सन्तोष न होनेके कारण दुःखमन और तज्जन्य रोगोंके प्रसारके कारण सारा समाज भीतर-ही-भीतर खोखला हो जाता है। इसलिये वैयक्तिक चरित्रके नियामक समाजको स्वार्थान्ध कभी नहीं होना चाहिये। अर्थात् समाजको इसके ही समान एक नियामक तत्त्वकी आवश्यकता है जिसके योगसे वह व्यक्तिधर्मको सम्भारोंमें लगा देनेमें समर्थ हो और ऐसा तत्त्व ईश्वरोपासनाके अतिरिक्त दूसरा नहीं मिल सकता। वैदिक ऋषियों ने ईश्वरोपासनाके इस तत्त्वको निरान्त होकर ही चुना और उसके साथ भारतीय समाज-धर्मको बाँध दिया।

समाज-धर्म और ईश्वरोपासनाका कार्य-कारण-भाव

'समाजके लिये स्वार्थकी अपेक्षा ईश्वरोपासनाकी ओर झुकना यद्यपि अच्छा है तथापि समाज-धर्मके सर्वथा नष्ट होनेकी अपेक्षा तो उसका स्वार्थपर होकर जीवित रहना अच्छा है।' आजकल भारतीयोंने यों कहना शुरू किया है। जिनके पूर्वजोंने समाजके आवृंशरूप धर्मकी शिक्षा जगत्-को दी, उन्हीं भारतीयोंके जीवनक्रमसे वह समाज-धर्म नष्ट-प्राय हो गया, इससे बढ़कर दुर्दैव और क्या हो सकता है? भारतीय मनुष्य अपने वैयक्तिक धर्ममें तत्पर होनेपर भी समाज-धर्म अथवा राष्ट्र-धर्म क्या बन्दू है, इसकी कल्पना भी नहीं कर पाता। ऊपरके मन्त्रिलके गिर पड़नेपर नीचेकी मन्त्रिल जैसे खुली हो जाना है वैसी ही शोचनीय अवस्था आज भारतीयोंकी हो गयी है। इसी कारण उन्होंने समाज-सत्ताकी बातोंको ईश-सत्ताके आचरणमें रूँक दिया है। 'अन्न महंगा हो गया, व्यापार बैठ गया, दूध देनेवाले पशु नष्ट हो गये, लोग दाने-दानेके लिये तरस रहे हैं।' इत्यादि समस्त बातोंको उन्होंने ईश-सत्ताके ही ऊपर छोड़ दिया है। अनाहुति हुई—पानी नहीं बरखा, इस कारण होती

नहीं हुई आदि बातोंको तो ईश्वरीय सत्तापर छोड़ना ठीक ही है, परन्तु वर्षा होने तथा अन्न और चारा-पानीकी प्रचुरता होनेपर भी दरिद्रता नष्ट न हुई तथा वृष देनेवाली गौओंका भयानक हास न रुका, इस अवस्थामें भी भारतीय ईश-सत्ताकी दुहाई दे चुपचाप बैठे हुए रहते हैं, इसका एकमात्र कारण यही है कि भारतीयोंने समाज-धर्मको बिड़कुल ही भुका दिया है। देशमें धन-धान्यकी समृद्धि तथा उनका उचित विभाग, रोग आदिका निवारण, व्यापारका संरक्षण, गोरक्षा इत्यादि बातें समाज-सत्ताके अधिकारकी होनेके कारण समाजकी सत्ताके द्वारा ही सम्पादित होनी चाहिये। राजा समाज-सत्ताका प्रतिनिधि है। लोगोंको समाज-सत्ताका पूर्ण ज्ञान होनेपर ही राजसंस्था-पर उनका दबाव भी हो सकता है, लेकिन हमारी सामाजिक भावना ही पहले नष्ट हो गयी। यही कारण है कि हमारे समाजके राजा लोग जन्म-सिद्ध स्वयं-प्रभु बन बैठे और इसी कारण उनके हाथमें रही हुई समाजकी सत्ता दूसरोंके हाथमें चली गयी। इसलिये हिन्दू-जाति पहले समाज-धर्म-हीन हुई और पीछे सामाजिक सत्तासे भी वञ्चित हो गयी। हिन्दुओंका जीवन समाज-धर्म-शून्य होनेके कारण उनका तत्त्वज्ञान वैयक्तिक हो गया, उनका धर्म तथा उनकी नीति भी वैयक्तिक हो गयी और हर एक आदमी अपनी उद-चावलकी लिचड़ी अलग पकाने लगा। इसप्रकारकी संकुचित वृत्ति उनके व्यवहार-में मुख्यरूपसे, प्रमुख रीतिमें चञ्जे लगी। तत्त्वज्ञानकी मुहर केवल व्यक्तिवपर ही पड़नेके कारण उसमें माया-वाद उत्पन्न हुआ और उसने संसारको मिथ्या कहकर केवल व्यक्तिगतरूपमें आध्यात्मिक विचार करनेकी शिक्षा दी। उपनिषदोंके तत्त्व-ज्ञानमें पिण्ड-ग्रहणका विचार होनेके कारण उसमें समाज-धर्मका भी विचार होना स्वाभाविक था परन्तु उत्तरकालीन वेदान्तने संसारको सर्वथा मिथ्या ठहराकर तदन्तर्गत समाजको भी एक भ्रम ठहरा दिया। इस एकाङ्गी तत्त्व-ज्ञानने कार्याकार्य-व्यवस्थिति तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्यके निर्णयके प्रश्नको एक किनारे ठके दिया और आत्मज्ञानको सर्वकर्मसंन्याससे जोड़कर एक बिल्कुल ही नवीन मार्गकी स्थापना कर दी। भगवद्गीतामें आत्मज्ञानके साथ निष्काम कर्त्तव्या-चरणाका योग देकर व्यक्तिके लिये मोक्षदायक तथा समाजके लिये अनुपमकारक अमृतत्वके मार्गका उपदेश दिया

गया है। परन्तु गीताके दो-तीन हजार वर्षोंके अनन्तर ही इस नवीन वेदान्तने इस व्यवस्थाको नष्ट कर दिया और वेदान्तको केवल संन्यास-मार्गके निमित्त बना डाला। इस मायावादी संन्यास-मार्गका स्वाभाविक परिणाम औदासीन्य हुआ और उसने हिन्दुओंके अन्तःकरणमें घर कर लिया। इस तत्त्व-ज्ञानने नीचें उतरनेपर विषय-सुखकी परमावधि ही स्वर्ग-सुख मानी जाने लगी और इसे ही धर्माचरणाका मुख्य फल निश्चित किया गया, जिससे हिन्दुओंका धर्माचरण भी स्वायत्त और ज्ञान-शून्य हो गया। आत्मज्ञान और धर्माचरणमें कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, ऐसा संन्यास-मार्गवालोंके निश्चय करनेके कारण धर्माचरणकी योग्यता अज्ञानमूलक मानी जाने लगी। धर्माचरणका फल अरयोपरान्त मिलता है, जीवनकालमें कभी नहीं मिलता। इसप्रकारकी एक अष्ट-कल्पना जोड़ देनेके कारण हिन्दुओंका धर्माचरण एक जादू-सा बन गया। इसमें यदि तत्त्वज्ञानमें उदासीन और धर्माचरणमें स्वार्थी बना हुआ हिन्दू-समाज संकुचित वृत्तिवाला बन गया तो इसमें आश्चर्य हो क्या ? केवल समाज-धर्मके बन्धनके शिथिल होनेसे ही हिन्दुओंकी ऐसी सार्वदेशी दुर्दशा हुई, तथापि उपनिषदोंकी पूर्व-परम्परा अत्यन्त शक्तिशाली होनेके कारण हिन्दुओंका वैयक्तिक शील श्रेष्ठ बना रहा। व्यक्तिगत दृष्टिसे हिन्दू मनुष्य-संसारके किसी भी मनुष्यकी अपेक्षा नीतिमत्तामें निम्नश्रेणीका नहीं ठहर सकता। पर इस वैयक्तिक सद्गुणको समाज-धर्मकी बिल्कुल ही सहायता न मिलनेके कारण हिन्दू-संस्कृतिकी अवस्था असहाय हो गयी। तत्त्व-ज्ञानका मेल व्यवहारके साथ न होनेके कारण धर्म और व्यवहारका मेल न हुआ, और इन तीनों तत्वोंके रहते हुए भी हिन्दू-संस्कृति बिल्कुल ही लँगड़ी अथवा एकाङ्गी हो गयी। धर्म और व्यवहारमें यदि पहलेके समान तत्त्व-ज्ञानका मेल होता तो हिन्दुओंका समाज-धर्म न हूबता और न इस दुरवस्था-के भोगनेकी नौबत आती। परन्तु एकाङ्गी बनी भारतीय संस्कृति धर्मशील होनेके साथ कर्मशून्य, वैराग्यसम्पन्न होनेपर भी निस्तेज और ज्ञानयुक्त होनेके साथ सामर्थ्य-हीन, एवं बुद्धिमान् होनेके साथ कर्त्तव्यशून्य बन गयी। यों होते-होते भारतीय संस्कृति ऐसी अयोगतिकी प्राप्त हुई कि विदेशियोंको यह कल्पना करनी पड़ी कि गुलामी इस भारतीय संस्कृतिका स्वाभाविक धर्म है। इस अजो-

गतिमें हिन्दू-संस्कृतिका उद्धार करना हो तो जिस समाज-धर्मके अभावमें इसका अधःपात हुआ है, उस समाज-धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा करनेके सिवा हिन्दुओंको इस अधोगतिसे अपना उद्धार करनेके लिये दूसरा मार्ग ही नहीं है। जिस भूलके कारण हम इस दासताके गर्तमें गिरे हैं उस भूलको सुधारना हो इस गर्तमें बाहर आनेका सच्चा मार्ग है। ईश्वरोपासनाकी बुद्धि हिन्दू-अन्तःकरणमें नष्ट नहीं हुई है। उस ईश्वरोपासनाकी बुद्धिमें ही समाज-धर्मका प्रादुर्भाव किया जा सकता है। और ऐसा करनेमें अपनी हिन्दू-संस्कृतिका ही क्यों, संसारका उद्धार करनेके लिये भी हिन्दू-धर्म समर्थ होगा, इसमें सन्देह नहीं।

ईश्वरोपासना समाजोन्नतिका मुख्य आधार है

आजकल यह एक विवादास्पद प्रश्न हो रहा है कि हिन्दुओंको समाज-धर्मके पुनरुज्जीवनके लिये अर्थ-शास्त्रका अनुसरण करना होगा या उपासना-धर्मका? आर्थिक आवश्यकताएँ, व्यावहारिक कठिनाइयाँ, प्रापञ्चिक अभिलाषाएँ आदि बातें समाज-निर्माणमें कारणभूत हैं तथापि इस बातको न भूलना होगा कि धर्म भी समाज-संगठनका एक महत्वपूर्ण कारण है। विशेषतः हिन्दू-मनुष्यके स्वाभाविक धर्मप्रवण होनेके कारण हिन्दू-समाजके निर्माणमें धर्म-बुद्धि विशेष उपयोगी होगी, इसमें सन्देह नहीं। संसारका कोई भी समाज हो उसका नियामक उपासना-धर्म होना ही चाहिये, यह बात पहले दिखलाई गयी है। प्राचीन ऋषियोंने वर्ण-व्यवस्थाके रूपमें समाजकी संस्थापना करते समय ईश्वरोपासनाको इसका नियामक निश्चित किया था और आज भी उसी बातकी आवश्यकता है। आजके समाज-सत्तावादी इस नियामकका विचार नहीं करते। तथापि इसप्रकारकी निर्बल्य और मर्यादाहीन समाजकी राजसी वृत्ति कैसे बनने लगी है, इसका विचार करनेपर उनको आयोंके समाज-धर्मके तत्त्वकी मानना ही पड़ेगा। रूसमें सोवियट लोग ईश-सत्ताको नहीं मानते अर्थात् ईश-तत्त्व समाजका नियामक है, इस बातको वे स्वीकार नहीं करते। परन्तु दूसरे प्रकारसे उन्होंने वैदिक-धर्मके तत्त्वकी ही स्वीकार किया है। यह कहना असंगत नहीं है। उपास्य-देवको जितना और जिसप्रकारका महत्व दिया जाता है उतना और वैसा महत्व वे समाजको दे रहे हैं। परिस्थितिके अनुसार सोवियट लोगोंके कार्यक्रममें महात्

अन्तर दीख पड़ता है तथापि तात्त्विक दृष्टिसे देखनेपर सत्ता जगता है कि आयोंने अपनी वर्ण-व्यवस्था इसी तत्त्वपर स्थापित की थी। समाजको ही परमेश्वरकी मूर्ति मानकर वर्णरहित कर्मव्याचरणके द्वारा उसकी सेवा करना आयोंके जीवनका मुख्य धर्म है, ऐसा वैदिक ऋषियोंने निश्चित किया था और इसी तत्त्वको सोवियट लोगोंने भी स्वीकार किया है, ऐसा जान पड़ता है। अवश्य ही सोवियट लोगोंके इस सम्प्रदायमें ईश्वरोपासनाकी बुद्धि नहीं है, पर वैदिक धर्मके सामाजिक तत्त्वके द्वारा जाभान्वित होनेमें उनका ऐहिक उत्कर्ष होगा, परन्तु केवल व्यवहार-कुशलतामें अथवा भोग-लालसासे जो समाजमें राजसी वृत्ति उत्पन्न होगी, उसे रोकना असम्भव होगा। अपने समाजकी उन्नति करनेके लिये सोवियट लोगोंके व्यावहारिक तत्त्व कितने ही उपयोगी हों, तथापि दूसरे राष्ट्रोंके स्वातन्त्र्य अपहरण करनेका अवसर आनेपर भविष्यकाळमें आरमसंयमन करना उनके लिये कठिन हो जायगा। अतिरिक्त इसके, समाजमें कौटुम्बिक संरक्षण, वैयक्तिक नीतिमत्ता तथा उपभोगकी लालसाका मर्यादित रहना इत्यादि बातें इस समाजके लिये असाध्य हो जायेंगी। इसलिये अर्थ-शास्त्रके साथ-साथ धर्म-बुद्धिका विचार करना आवश्यक है, यह निश्चित है। साम्प्रतिक समता, प्रयत्नशीलता, स्वयं परिश्रम करनेका उत्साह, आत्म-संयम, कौटुम्बिक पवित्रता इत्यादि सामाजिक मनुष्योंका केन्द्र बनने योग्य तत्त्व आज सोवियट लोगोंके सम्प्रदायमें नहीं है। इसलिये भविष्यमें कभी-न-कभी सोवियट लोग आयोंके समाज-धर्मके तत्त्वपर आवंग और तभी वे राजसी महत्वाकांक्षके चंगुलमें लुटेंगे।

उपसंहार

आयोंने वर्ण-व्यवस्था स्थापितकर लोगोंके हृदयपर यह अङ्कित कर दिया कि चातुर्वर्त्यात्मक समाज-धर्म ही परमेश्वर है। यही कारण है कि उन्नतिके समयमें भी आयोंका समाज राजसी आदुशकी ओर नहीं गया और इसी कारण हिन्दुओंका वैयक्तिक चरित्र इतनी अधोगतिके प्राप्त होनेपर भी थोड़ा-बहुत उज्ज्वल रहा। हम उज्ज्वल चरित्रके बलपर ही शताब्दियोंमें दासताके नरकमें पचते रहनेपर भी वे आजतक जीवित रहे हैं तथा ऊपर उठनेके लिये चेष्टा करते रहे हैं बल्कि उनके हित शत्रुओंको भी 'बह हिन्दू लोग आज या कल अपने सिरको ऊपर उठावेंगे

ऐसी शक्ता बनी हुई है। यदि ऐसा न होता तो आस्ट्रे-
लिया, अमरीका, कायेंज आदि देशोंके मूकनिवासियोंके
अनुसार हिन्दुओंका नाम कमी शेष हो गया होता।
तात्पर्य यह है कि मानवी समाजके उत्पन्न होनेके किये
आर्थिक आवश्यकताएँ, व्यावहारिक कठिनाइयाँ, संरक्षण-
की व्यवस्था, उपजीविकाका साधन आदि बातोंके कारखी-
भूत होनेपर भी समाजका संरक्षण, संवर्द्धन और उसकी
सर्वांगीण उन्नति आदि बातोंके किये उपासना-बुद्धिकी
अत्यन्त आवश्यकता है। समाज-सेवा ही ईश्वर-सेवा
है—इस तत्त्वको वैदिक धर्मने जिसप्रकार मूलतः और
उपपत्तिपूर्वक सिद्ध किया है, उसप्रकार आजपर्यन्त किसी

भी अन्य धर्मने सिद्ध नहीं किया। इसी तत्त्वके आधारपर
हिन्दू-राष्ट्र प्राचीनकालमें परमोच्च पदपर आसीन था
और अब भी वह इसी तत्त्वके बलपर उस अपने प्राचीन
उच्च पदको प्राप्त करेगा। समाजका विचार करनेवाले
समाज-शास्त्रज्ञोंके श्रीमद्भगवद्गीता और दशोपनिषदोंमें
वर्णित मानव-समाज-धर्मके तत्त्वोंका सूक्ष्म दृष्टिसे श्रव-
ण-लोचन करने तथा संसारके आजतकके इतिहासका सूक्ष्म
निरीक्षण करनेपर यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि
समाज-सत्तापर ईश्वरीय सत्ताकी नियामकता अत्यन्त
ही आवश्यक है।

ईश्वर-प्रेम बिना शान्ति असम्भव है

(लेखक—स्वामीजी श्रीनिदात्मानन्दजी)

सारेके तारखत-नृत्यमें प्रेम सबत्र नानाविध कार्य
कर रहा है। हाथोंसे चौंटीपर्यन्त समस्त
जगत् प्रेम-पाशसे बँधा हुआ उन्मत्तकी तरह
नाच रहा है। सांसारिक पदार्थोंकी प्रीति ही वह सारा
नाच नचा रही है। उर्ध्वा एक कवि कहता है कि—

सबका दुनियाकी हविस स्वार लिये फिरता है।

कोन फिरता है यह मुरदार लिये फिरती है ॥

यही विषय-प्रेम चोरसे चोरी और जारसे जारी
कराता है। इसीके जाळमें फँसे हुए महिपालोंकी विषया-
सक्ति प्रजाको नष्ट किये देती है। धर्म-प्रेमकी आशमें
अज्ञान और दुराग्रहके कारण भिन्न-भिन्न मतवालयम्बी
कलहाग्नि भस्काते हुए स्वयं भी उसीमें दूख होनेसे
नहीं चूकते। धर्म जो वास्तवमें शान्ति-प्राप्तिका साधन
है इन धर्मान्ध लोगोंके कारण अशान्ति उत्पन्न करने-
वाला बना दिया जाता है। धनी निर्धन अमजीबियोंका
छह चूसते हैं, राजा प्रजाको भक्षण कर रहे हैं। यह
विषयासक्ति मनुष्यको भौतिक-भौतिकी नाच नचा रही है,
चैनसे बैठने नहीं देती। संसारके सभी पदार्थ जयभंगुर
हैं, इनमें प्रेम भी निमेषमात्रका ही है, वस्तुनाशसे
प्रेमका भी नाश हो जाता है। परन्तु यदि वही प्रेम
किसी अविनाशी वस्तुमें लगा दिया जाय तो वह सदैव
सुखद बना रहे। वह अविनाशी तत्त्व केवल एक अक्षर
सच्चिदानन्दधन परमात्मा ही है जो इस हरयमाण जगत्का

आधार है, जिसकी भावने इस संसारकी उत्पत्ति हुई है
और जो स्वयं इस मायाके वृषटमें सुन्दरीकी तरह छिपा
बैठा है। प्रेमी को उस अचिन्त्य सौन्दर्य-शशिका ही
चकोर है, जबतक वह घूँघट हटाकर उस चन्द्रमाको
छजानेवाली अनुपम ज्योतिका साक्षात्कार नहीं कर लेता,
उसे धैर्य कहाँ हो सकता है? सारिक बुद्धिद्वारा जगत्-
तत्त्वोंका विश्लेषण करते-करते वह समझ तो जाता है कि
इस अतिशय चञ्चल नृष्टिका कर्ता और आधार कोई अवि-
नाशी और स्थिर तत्त्व जरूर है परन्तु केवल इतना ही जान
लेनेसे उसे चैन नहीं पड़ता। प्रेमीको तो उस प्रीतमसे
आलिङ्गन किये बिना शान्ति नहीं मिलती।

वह प्रेम क्या वस्तु है, कुछ स्पष्ट नहीं कहा जा
सकता, क्योंकि वह गूँगेके गुब्बकी तरह अनुभवगम्य ही
है। इतना ही इशारा किया जा सकता है कि यह हृदय-
का कोई ऐसा प्रबल भाव है जो प्रेमीको प्यारेसे मिला
देता है, बीचका परदा हटा प्रियतमसे साक्षात्कार करा देता
है। उस अभीष्ट मिलनसे जो अद्भुत आनन्द प्राप्त होता
है, उसका वर्णन हो ही नहीं सकता। सब सांसारिक
पदार्थ उस अदर्शनीय आनन्दके आगें तुच्छ प्रतीत होने
लगते हैं। स्वार्थ और अहंकार उसके शत्रु हैं, जब यह
प्रकट होते हैं तो एक गह्रा परदा बीचमें डाल देते हैं
जिससे प्रीतमका मुखारविन्द आँखोंमें ओझल हो जाता
है। सच्चा प्रेम निःस्वार्थ होता है। जिसमें स्वार्थ है वह

प्रीति विप्रेली और क्षयिक है, फिरस्थायी नहीं; क्योंकि स्वार्थकी पूर्ति होते ही वह प्रीति भी नष्ट हो जाती है। यही पार्थिव-प्रेम है। परन्तु वह अपार्थिव-प्रेम तो कुछ न्यारी ही वस्तु है, उसमें स्वार्थकी छाया भी नहीं होती। इसमें केवल प्यारके दर्शनकी ही लालसा रहती है। वियोगमें जीवन भी भार मालूम होता है। चित्त अशान्त और विह्वल रहता है। इस विह्वल प्रेमाङ्कुरके प्रकट होनेसे जगत्के जो सब विषय पहले सुखदायी हुआ करते थे, वे सब दुःखदायी प्रतीत होने लगते हैं। धन-परिवार, इष्ट-मित्रादि सब विभ्रमरूप दिखायी देते हैं, यहाँ-तक कि अपना शरीर भी जो वामनवर्मे सांसारिक पदार्थों-में सबसे अधिक प्रिय माना जाता था, अब प्यारके वियोगमें काँटा-सा चुभता है। जब ऐसी विह्वलता बढ़ जाती है तो वह प्यारकी इटाग लींच लाती है। प्रेमकी डोरीसे बँधे हुए श्यामसुन्दर अपने आप खिंचे चले आते हैं। परन्तु सच्ची लगन चाहिये। हृदय समस्त कुटिल वासनाओंमें शुन्य होना चाहिये। प्रेम सौतकी तरह दूसरेका अस्तित्व नहीं सह सकता। यदि वह प्रबल हुआ तो सारी वासनाओंको भगा देता है। नहीं तो परान्न होकर स्वयं हृदय-मन्दिरको छोड़कर चला जाता है। बहुत लोग पूछा करते हैं कि वह प्रेम कैसे लावे, वह तो किसी आर्यशालीके हृदयमें ही होता है। हमारा कहना यही है कि 'हृदयमें जगह हो तो प्रेम भी समावे, जहाँ इसके शत्रुओंका राज्य हो और निरन्तर उनका कोलाहल मचा रहता हो वहाँ बेचारा प्रेम जाकर क्या अपना सिर फोड़े? प्रेमकी तरंगोंसे यदि हृदयको लींचना हो और अपनी हृदय-वाटिकाको आनन्दादि कुसुमित लताओंसे विभूषित करना हो तो पहले हृदय-क्षेत्रको कामादि कूड़े-करकटसे साफ करनेका यत्न करो, फिर देवना, प्रेमरूपी धारा स्वयं आकर तुम्हारी वाटिकाको हरी-भरी बना कैसे प्रफुल्लित कर देती है? बस, फिर उस प्रेम-धारामें नित्य स्नान करते हुए आनन्दका अनुभव करते रहना।

इसप्रकार जब इस प्रेमका अधिकार बढ़ता जाना है और रोम-रोमसे प्रेमधारा बहने लगती है तो शरीर, मन और बुद्धिमें अहंकार, ममता ठहर ही नहीं सकती। वास्तवमें यह अहंकार ही सारी अशान्तिकी जड़ है। इससे मनुष्य सांसारिक विषय-वासनाओंमें

फँसकर जीवन-मरणास्पदी शृङ्खलामें बँधा रहता है और माना प्रकारके सुख-दुःखोंमें डूबता-उतरता अमूल्य जीवन नष्ट कर देता है। आश्चर्य तो यह है कि इस गोरखधन्धेमें फँसे रहना ही उसे अन्धा मालूम देता है। यदि इसप्रकारकी स्थितिसे अशान्त हो तो इसमें निकलनेकी भी चेष्टा हो। इस अशान्तिके बढ़ते जानेसे विवेक-वैराग्य प्रकट होते हैं फिर हृदयमें निर्मलता बढ़ती है। मलरहित हृदयमें भगवान्की झलक पड़नेसे आनन्द प्रस्फुटित होने लगता है।

यह प्रेम-मार्ग ज्ञान-मार्गकी अपेक्षा सरल, सरस और सुमधुर है। इसमें बुद्धिकी सीमता और बालकी खाल निकालनेकी योग्यताकी जरूरत नहीं; केवल हृदय कोमल, विरक्त, शुद्ध और विशाल होना चाहिये। विशाल इतना कि, उसमें सारा विश्व समा सके, क्योंकि भक्तके लिये तो समस्त जगत् भगवान्का रूप ही है, जैसे गुमाई तुलसी-दासजीने कहा है—

सीयरामम सब जग जाना। करौ प्रणाम जेहि जुग पाना ॥

ऐसे भक्तके हृदयमें ईर्ष्या, द्वेष, मानापमान, भय, क्रोधादि कोई दुर्वासना नहीं समा सकती। जब समस्त द्रव्य प्रीतिमका ही रूप हो गया तो वह किससे द्वेष करे और किससे भय? जब ऐसे भाव मनमें दृढ़ होकर समता हृदयस्थित हो जाती है तो आनन्दकी सीमा नहीं रहनी, मनमें समता और शहंकारका एकदम अभाव हो जाता है। जिस शरीर और सांसारिक विषयोंमें इतनी ममता थी, वह सब भगवान्को सौंप देनेपर निमंरना आ जाती है। सब कुछ उन्हीं सबंशक्तिमान्का ही ऐश्वर्य है। जोव अपना स्वरब बबरदली व्यामोहके कारण इन जगत्के पदार्थोंपर आरोपित करता है। यह नहीं समझता कि उसका अपना क्या है। मोहका प्राक्क्षय कुछ ऐसा विकट है कि इसने सब विश्वको बाँध रखा है, विरले ही इसके पंजरे बचने पाते हैं। वही बचते हैं जिन्होंने विवेककी कर्साटीपर इन मायावी पदार्थों-को अस्वीकृति परम्प्रा लिया है और इनकी निस्सारता जान ली है और विश्वपति परमेश्वरको ही वह मोह भी सौंप चुके हैं। अब मोह है तो उन्हींमें, ममता है तो उन्हीं-पर। मनके कामादि विकार विकृत और दुःखमय तभीतक हैं जबतक नश्वर पदार्थोंके साथ जोधं जाते हैं। यदि वही अल्पवृद्ध अविनाशी प्रभुपर आरोपण कर दिये जायँ, तो वह आनन्द और मुक्तिके हेतु बन जाने हैं।

काम-वासना जब मनुष्यके ऊपर आक्रमण करती है तो मनमें प्रेम-भावके मिलनेकी और निरन्तर उसे नजरके सामने रखनेकी ही इच्छा होती है, अथवा भरे किये भी उसका आँखोंसे ओझल होना प्रेमीको असह्य होता है। कामके वशीभूत प्राणीकी न भोजन ही रहता है, न और कोई विषय-सुख। उसकी शरीरमें भी ममता नहीं रह जाती। उसकी तो निरन्तर चिन्ता एकमात्र प्यारेसे ही मिलनेकी रहती है। यह वासना और सब वासनाओंसे प्रबल है, इससे मनुष्य अन्धा बन जाता है, न किसीकी लजा, न किसीसे भय। इसी मनोभावका दृष्टिकोण बदलकर यदि उसे सौन्दर्य-राशि अविनाशी प्रभु इयामसुन्दरकी ओर लगा दें तो वह भौतिक ज्ञानन्ददायक बन जाता है। क्षणिक पदार्थोंमें अनुराग और उनसे प्राप्त सुख भी नाशवान् और साररह्य है, अविनाशी द्यामय आनन्दकन्दकी प्रीति आवागमिनी और अखण्ड आनन्ददायिनी है। जैसे प्रह्लाद भगवान्में कहते हैं कि—

या प्रीतिरावबेकानां विषयेवनप्रापिनी ।

त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मपसर्धतु ॥

यही प्रीति और भाव प्रातःस्मरणीय हृन्दावनकी गोपियोंमें था, जिसे विकृत स्वभाववाले पार्थिव कामादि पिशाचोंसे अत्यन्त दुष्ट मनुष्य समझ ही नहीं सकते। उन महा-भागा युवतियोंमें प्रजघन्य मुरलीमनोहरपर सर्वस्व न्योछावर करके मन और हृदय भी उन्हींके चरणोंमें उत्सर्ग कर दिये थे। उन्हें सधन इयाम-ही-रयाम दृष्टिगोचर होते थे, समस्त जगत् उनकी आँखोंमें इयाममय बन गया था, चराचर-सृष्टि उन्हींका रूप हो गयी थी। 'मनमें राम हाथमें काम' की कहावत अक्षरशः उन्हींपर पड़ती थी। अन्य प्रजलकताओ ! जीव-मुक्तिका पदार्थ आर्क्ष तुम्हींने चरितार्थ करके दिखलाया। तुम्हारी ही स्त्रीजाओंकी गा-गाकर अब भी प्रेमी लोग भगवत्-प्रेममें मग्न हो जाते हैं।

क्रोध-वासनाको कुछ जीबोंपर लक्ष्य करना मूर्खता नहीं तो क्या है ? इसप्रकार किया हुआ क्रोध पापका मूल है। वह अपनेको दुःख और दूसरेको क्रोध देता है और हाथ कुछ भी नहीं लगता। क्रोधके वशीभूत जीव ! क्रोध उसमें करो जो तुम्हारे क्रोधका बदला प्रेममें दे, तुम्हें छातीसे जगावे और तुम्हारे हृदयकी जखनकी शीतलतामें बदल दे। इस बाधककी तरह क्रोध करो जिसकी माता उसे खिलौना दे बहकाकर कहीं अपने कामके लिये खली गयी है। बच्चा खिलौनेको फेंक रोता और चिढ़ाता है, सारा घर सिरपर

उठा लेता है, माँ-माँ पुकारता हुआ क्रोधके मारे धूलमें लेट जाता है, धरतीपर हाथ-पाँव मारता है और किसी प्रकार भी शान्त नहीं होता। माताको इतना साहस ही नहीं होता कि इस स्थितिमें वह बालकसे दूर रहे। वह दौड़ी जाती है और धूलसे लथपथ बच्चेको गोदमें उठाकर तत्-काज छातीसे लगाती है। परन्तु तब भी बालक मचकता जाता है, गोदसे खिसकता जाता है, मानो सूचना देता है कि अब आगेसे यदि कहीं मुझे छोड़कर जाओगी तो फिर मानूँगा ही नहीं। माँ उसे पुचकारती है, खुशामद करती है, अनेक प्रकारसे प्यार करती है, तब कहीं वह शान्त होता है। ऐसे ही धन-परिवार आदि खिलौनोंमें, जो जगन्माता ने तुम्हें भुलानेके लिये दे रखे हैं तुम्हारी हार्दिक असन्तुष्टि हो जायगी और इनमें मन डटाकर इनकी तनिक भी परवा न कर सरल दृष्टिअथवा शिथिल आँति उस विश्व-जननीको पुकारोगे तो वह अकल्पनीय दयामयी तुमसे दूर नहीं रह सकेगी। इहाँ आकर तुम्हें छानीमें लगा लेगी। फिर कभी खिलौनोंमें प्रीति न जोड़ना, नहीं तो वह फिर आँखोंमें ओझल हो जायगी। मोहकी महिमा बढ़ी प्रबल है। मनुष्य सांसारिक विषयोंको दुःखद समझता हुआ भी उनसे प्रत्यक्ष दुःख-भोग करता हुआ भी मदान्ध हो उन्हींमें आसक्त रहता है। भगवान्की कृपा हो तो कुछकारा मिले। उनकी कृपाका पात्र होनेके लिये प्रेम चाहिये। प्रेमी तो प्रेम-मदिरा पानकर उसीमें मग्न रहता है। शरीर-परिवारादि-से उसका यदि किञ्चित् प्रेम है और वह उनको सेवा करता है तो उन्हें भगवान्की सम्पत्ति समझकर हो करता है। न इनके रहनेका उसे हर्ष है न जानेका शोक। वह भली-आँति समझ गया है कि यह सारे पदार्थ स्थायी नहीं, एक-न-एक दिन इनसे विछोह होता है। इसीलिये प्रेमी इन सबमें मोह न रखकर उस एक अखण्ड अविनाशी परमात्मासे ही स्नेह रखता है जो वास्तविक आनन्दका समुद्र है और प्रेमधाराका अविच्छिन्न स्रोत है।

प्रेम-मार्गका अनुगामी हयप्रकार काम-क्रोधादिके सम्बन्धमें अपना भाव ही बदल डालता है। उसकी चतुराई सराहनीय है कि उसने मनके विकारोंको जो साधारणतः पाशरूप हैं अपने उद्धानके लिये सहायक बना लिया। अब उसका सर्वस्व केवल एक मदनमोहन इयामसुन्दर ही है, किसी दूसरेमें उसकी प्रीति ही नहीं। इस पञ्चभूतके पुतले-

को वह भगवान्का यन्त्र समझता है, इसीसे वह अहंकार नहीं रखता। भगवद्-वाक्यपर उसकी पूरी निष्ठा है।

प्रेममार्गावलम्बीके लिये पहले अपना हृदय सब कुटिल वासनाओंसे शुद्ध करके निर्मल बना लेना परमावश्यक है। ज्यों-ज्यों हृदय पवित्र होता जायगा त्यों-ही-त्यों प्रेमकी वृद्धि होती जायगी। विषय-वासनाएँ बारम्बार आ-आकर घेरेंगी और कभी-कभी भगवान्जमें अश्रद्धा भी अपना प्रहार करेगी, परन्तु जिस प्रेमीने गुरु और भगवद्-वाक्योंसे सब शङ्काओंको हटाकर एक निष्ठा प्राप्त कर ली है, वह अपने पथसे विचलित नहीं होता, साहस और श्रद्धासे उन सब विघ्नोपर विजय प्राप्त कर लेता है और भगवान्का अनन्य शरणागत हो जाता है। जो निष्कपट भावसे उनकी शरणमें आ जाता है, दीनबन्धु उसकी रक्षा करते ही हैं। उनकी यह घोषणा प्रसिद्ध है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहम्यहम्॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज।

अहं त्वा सर्वपापिन्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

(गीता)

यही सब धर्मोंकी पराकाष्ठा है, यह अनन्य शरणागति ही सर्वयोग-समन्वय है। प्रेमीका सर्वस्व यही है। माता-पिता, भाई-बन्धु, कुटुम्ब-कबीला सब वही एक श्यामसुन्दर हैं, प्रेमी भक्त समस्त ब्रह्माण्डको उन्हींका रूप जानकर नमस्कार करता है। ऐसे जीवके रोम-रोममें प्रेम-धारा उमड़-उमड़कर बहती है। उसके हृदयके कपाट सहसा खुल जाते हैं, द्रौतका नाश हो जाता है। भक्त उन्मत्त होकर नाचता है, कभी भगवान्की विचित्र सृष्टि देख-देखकर विस्मित हो जाता है। तन-मनकी सुधि नहीं, सब कुछ रूपांतरित हो रहित्वे घोमल हो जाता है। केवल उन्हीं भगवान्का, जो अकथनीय, अधिन्य और अनुभव-गम्य हैं, भान होता है। यही प्रेम-समाधि है, जहाँ न मृदा रहता है, न द्रव्य; न द्रौत है, न अद्रौत; इस अवस्थाको वही जान सकता है जो इसका अनुभव करता है। इसी अवस्थामें इन्द्रियकी श्रृंखला टूटती है, सब संज्ञा बालवमें इसी वयामें पहुँचकर भिटते हैं। बुद्धिकी क्या शक्ति, जो इस अनन्त वस्तुका चिन्तन भी कर पाये। वह उछल कूटकर थक जाती है। जब मनुष्यमें बुद्धि-बलका सहारा और अभिमान नष्ट हो जाता है तो उसमें सहयोग

करनेकी उसकी इच्छा जाती रहती है। मन, बुद्धि आदि जिनपर मनुष्यको बड़ा धमण्ड है, गम्भीर विचारसे देखा जाय तो आत्माके बन्धनके लिये हड़ पाश हैं। हाँ, प्रेमानन्दकी स्थितिसे पहले यह सहायक अवश्य होते हैं। परन्तु प्रेमके अगाध समुद्रमें मग्न होनेके लिये इनकी आवश्यकता ही नहीं, उस समय तो यह बन्धन बन आते हैं, क्योंकि इनका स्वभाव संशयात्मक है। परमात्मासे पृथक् करनेमें संकल्प-विकल्परूप होनेके कारण यह परदा बनकर खड़े हो जाते हैं। प्यारेका मुखारविन्द छिप जाता है। प्रेमके प्यासे जीवो! छोड़ो इस मृगकृत्याको! इनके धोखेमें पड़कर जीवन नष्ट न करो, सिवा भटकते-भटकते प्राण दे देनेके और कुछ न मिलेगा। इनमें मुँह फेरो और उस अमृतमय प्रेम-सागरकी ओर प्रस्थान करो। वहाँ पहुँचकर बिना विचारें उसमें गहरी डुबकी लगाओ, अनन्त जन्मोंकी सारी आग बुझ जायगी, समस्त ताप शान्त हो जायेंगे, अनन्त कालकी प्यास बुझ जायगी। इसके बिना और गति नहीं। निराधार होकर 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' की शरण जाओ। निस्सहायोंके वही सहायक हैं, निराधारके वही आधार हैं। इस अगाध संसार-सागर-में डूबते हुए एक बार तो उन्हें हृदयमें पुकारो। जिन्होंने गजकी पुकार सुनी, जिन्होंने झौपटीकी सङ्कटके समय सहायता की, जिन्होंने बालक प्रह्लादकी अनेक आपदाओंमें रक्षा की, क्या वह तुम्हारी न मुर्गे? वह दयालय हैं, अकवम्पल हैं, अपने शरणागतकी कभी अवहेलना नहीं करते, यह उनका स्वभाव है। विषयादि संसारकी प्रचण्ड लालामे दग्ध प्राणियों! फूट-फूटकर रोओ और उनकी सुन्दर शीतल गोदमें आ बैठो! तुम्हारी सब जलन एक-दम भिट जायगी, दूसरा कोई इस दाहकी शान्त करने-वाला नहीं। परन्तु उनके पास मन, बुद्धि, अहङ्कारादि चौर-धारोकी गम्य नहीं, वहाँ नंगे होकर ही जाना पड़ता है। यदि श्यामसुन्दर स्वयं तुम्हारे चौर चुरा लें तो तुम धन्य हो! तुम्हारा बड़ा भाग्य है, गोपियोंकी तरह तुम भी उनके अन्तरंग सखा बन जाओगे और भगवान्की लीलामें तुम भी भाग ले सकोगे। फिर यह संसारका नृत्य रास-लीलामें बहल जायगा। तब निष्पानन्दका खेल होगा। निपट अनाड़ी नंगे होनेकी हिम्मत हो तो प्रयत्न करो, भगवान् तुम्हारी सहाय करें।

वर्तमानकाल और ईश्वर-स्मरण

(लेखक—६० म० श्रीविनायकनारायण जोशी, नाना महाराज साखरे)

६६ वर्षकी आयु होनेसे शरीरमें आयु हुई अशक्ति, पूर्व-प्रवस्थामें देखे हुए धार्मिक आचार, अपने घरका बंश-परम्परागत अद्वैतात्मज्ञानका सम्प्रदाय, आध्यात्मिक ग्रन्थों-के अध्ययनसे मनपर आये हुए संस्कार इत्यादि कारणोंसे वर्तमान समयके धर्महीन आचरणोंको देखकर उनके संसर्ग-से बचनेके विचारसे जन्मस्थान पूना शहरको छोड़कर एकान्तवास करनेके लिये समीपके आळन्दी-क्षेत्रके पश्चिम-की ओर कुछ दूरीपर शोंपदी बौधकर रहता हूँ और अद्वैतात्मज्ञानके प्रतिपादक श्रीज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव इत्यादि प्राकृत ग्रन्थोंका अध्ययन और अभ्यास कर रहा हूँ एवं इससे मनको सन्तोष भी है।

आजकल धर्महासक कारण बड़े-बड़े आधुनिक विद्वानों-के मनमें भी श्रुति-स्मृति आदि ग्रन्थोंमें अश्रद्धा और उदासीनता, विद्वित और अविद्वित विषयासक्ति, निषिद्ध आचार, ईश्वरके विषयमें तुच्छ बुद्धि इत्यादि बातोंको देखकर प्रत्येक आत्मिक मनुष्यका चित्त विषरण हो जाता है, हममें शंका नहीं। आधुनिक समाचार-पत्रोंकी भ्रम-धामसे स्वाधारण धार्मिक मनुष्यमें भी बुद्धिभेद हो जाता है। इन पत्रोंके लेखकोंके ऊपर सरकारद्वारा विद्वत्ताकी मुहर लगी होती है। वे बुद्धिमान् होते हैं, उनकी लेखनशक्ति युक्तियुक्त और मनोमुग्धकारी होती है और मनुष्य प्रायः विषयासक्त होते हैं। इसी कारण समाचार-पत्रोंके लेख, अधिकांश लेखकोंके शास्त्र-ज्ञानाभावके कारण शास्त्र-विस्मृति होनेपर भी स्वराज्य-सदृश ऊपरसे मनोमुग्धकर दीखने-वाले विषयोंमें भूलकर धार्मिक लोग भी निषिद्ध व्यवहारमें प्रवृत्त हो जाते हैं। इसका कारण यही है कि 'मन प्रमाणोंमें श्रद्धा, अपौरुषेय, स्वतःप्रमाणभूत वेद सब प्राणियोंके अभ्युद्य और निःश्रेयस्कके लिये प्रवृत्त हुए हैं तथा जीवोंके ऐन्द्रिय वासनाओंका पूर्तिके साधनोंको बतलानेमें इनकी प्रवृत्ति नहीं हुई है' यह वेद शास्त्रोंके उपदेशका मर्म सम्प्रदायपूर्वक शास्त्राध्ययनके न होनेके कारण आधुनिक विद्वानोंको ज्ञात नहीं होता और कदाचित् शास्त्रिक ज्ञान हो भी तो वह उनके हृदयमें पैठा नहीं होता।

इसके विपरीत उनकी ऐसी समझ प्रतीत होती है

मानो 'शास्त्र जीवोंकी विषयेच्छा तृप्त करनेके लिये ही बने हैं। प्राचीन स्मृत्यादि ग्रन्थोंके नियमोंसे विषयभोगमें अन्तर पड़ता हो तो मन्वादि स्मृति-ग्रन्थोंमें वर्तमान समयके अनुसार परिवर्तन कर देना चाहिये अथवा एक नवीन स्मृति-ग्रन्थ नैवार करना चाहिये। क्योंकि जीवोंकी मानसिक अभिलाषाओंकी पूर्ति करनेके लिये ही वेद-शास्त्रोंका निर्माण हुआ है।' ऐसा उनका कथन है। इसीके अनुसार पत्रोंमें लेख भी आते हैं। साथ ही लौकिक कीर्ति अथवा द्रव्य-प्राप्तिके लिये कुछ शास्त्री लोग तथा आचार्य-नामधारी लोग भी, इन आधुनिक पत्रोंके अशास्त्रीय लेखोंका समर्थन करते हैं। इन शास्त्रियों तथा नामधारी आचार्योंको प्रायः यथार्थ शास्त्रज्ञान नहीं होता। और कदाचित् हो भी तो द्रव्यादिके लोभसे वे अशास्त्रीय मत-प्रवर्तकोंकी मदद करते हैं। कहीं उनके विस्मृति कोई विद्वान् कुछ कहना चाहे और प्रमाण तथा युक्तियुक्त लेख लिखे तो आजकलके पत्रोंमें ऐसे लेखोंको स्थान ही नहीं मिलता और यदि उनपर विद्वान् होनेकी सरकारी मुहर न लगी हो तो आधुनिक विद्वान् तथा उनके अनुयायी शास्त्रियों और आचार्योंके द्वारा उनका तिरस्कार किया जाता है। जिन पत्रोंमें अशास्त्रीय लेखोंके लिये काफी स्थान रहता है, उनमें उनके प्रतिवादके लिये जरा-सी भी जगह नहीं मिलती। द्रव्याभावके कारण, सम्प्रदायपूर्वक शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्न और आचार-सम्पन्न शास्त्री-पण्डितोंकी स्थिति 'मारो और रोने भी न दे'—जैसी हो जाती है। यह तो बड़े-बड़े शास्त्री-पण्डितोंकी हालत है, फिर हमारे-जैसी स्थितिवाले पुरुषकी तो बात ही क्या है? जिन्होंने विदेशियोंके सहवासमें रहकर विदेशी भाषाका पूर्ण ज्ञान सम्पादन किया है तथा इस समय जो नयी पीढ़ीके गुरु बन बैठे हैं, उनकी संगति और शिक्षाका ऐसा कुछ बिल-अल्प प्रभाव दीख पड़ता है कि जो कहते ही नहीं बनता। सदाचारसम्पन्न घरानेका पिता अपने लड़केको विद्वान् बनानेके लिये कालेजमें भेजता है और वह सपूत पहली ही यात्राके झूड़े मछीनेमें मूँछमुँढाकर और सिरपर छप्पर ढालकर घरमें आते ही अपने शास्त्रीय आचारसम्पन्न माँ-बापको तथा पूर्वजोंके 'मूर्ख' कहनेका हक प्राप्त कर लेता

है ! माँ-बापको उसकी बातें सुनकर मनमें खेद होता है, परन्तु पुत्र-स्नेहके सामने इसका हल्ला ही क्या है ? यह है विद्यार्थी लड़केकी दशा !

करीब ७२ वर्ष हुए, हमारे आधुनिक विद्वानोंमें पाश्चात्योंके समीप रहनेके कारण ख्री-शिक्षाकी अभिरुचि उत्पन्न हुई। ख्रियोंकी शिक्षा बिल्कुल ही न हो, प्राचीन लोगोंका यह मत नहीं था। परन्तु उसकी कुछ मर्यादा होनी चाहिये; गृह-कृत्योंको संभालकर विश्रामके समयमें उन्हें धार्मिक-पौराणिक ग्रन्थ बाँचना आ जाय, इतनी ही शिक्षा उत्तम है। जिनको इतनी शिक्षा न होती उनको गाँवके सार्वजनिक देवाल्लयमें कथा-पुराण-श्रवणकी सुविधा रहती थी अथवा धनी-मानी-कुलीन घरोंमें कथा-पुराणके लिखे पौराणिक रहते थे, उनमें कुलीन स्त्रियाँ कथा-पुराण सुना करती थी।

वर्तमान ख्री-शिक्षामें धार्मिक श्रद्धाको कोई स्थान नहीं है। ख्री-आतिका प्रतिष्ठा बढ़ानेवाला जो आचार-सम्पन्न घरानोंका विनयका बर्ताव था वह भी सर्वथा नष्ट हुआ दीखता है। विवाहकी वय-मर्यादाके सम्बन्धमें तो कुछ कहना ही नहीं है। शारदा-कानूनके कौंसिलमें आनेके पूर्व ही सब वर्णोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मणवर्णमें ही, पाश्चात्य शिक्षामें एवं अन्य किसी भी कारणसे सम्मिलित, परिस्थितिमें परिवर्तन हो जानेके कारण कन्याकी विवाह-मर्यादा आठ वर्षमें ऊँची चढ़ने-चढ़ते बर्तमान वर्षपर्यन्त पहुँच गयी थी ! ऐसे घर-वधू विवाहके दिन ही सन्ध्याके समय हाथ-से-हाथ मिलाकर लगने पहले हँ। शुद्ध हवा खानेके लिये निकल पड़ते हैं। एक लड़केको उसके पिताने कहा कि, 'अरे ! आज शामको बरात निकलनेवाली थी और उम्मी समय तुम दोनों हमसे बिना पूछे मूल्यके समान बाहर हवा खाने चले गये, इसका क्या अर्थ ?' लड़केने कहा—'ब्राह्म ! तुम्हारे जमानेके मूल्यताके दिन अब नहीं रहे। यह बीसवीं सदी है। इसके अतिरिक्त मेरी बी० ए० की परीक्षा समीप है और 'वाइफ' (मेरी स्त्री) एम० ए० पास है उसमें मुझे कुछ सम्मना था। चाय लेनेपर हम दोनोंमें परस्पर कुछ प्रेमभरा (डिबेट) वाद-विवाद हुआ। इतनेमें टहलनेका समय हो गया और हम टहलने चले गये। मेरी सम्मतिमें नहीं आता कि इससे क्या बुरासान हो गया। बरात और कश्मी-पूजनमें क्या रक्खा है ? मैं जानता हूँ तुम्हें मेरी बात नहीं रुचेली। परन्तु मैं बड़े खेदके साथ

कहता हूँ कि तुम जो तुलसीकी माला लेकर नाम जपने बैठ जाते हो, इससे तो देश-सेवामें लगना कहीं अच्छा है।' सपूतका उपदेश सुनकर पिताकी बुद्धि थक गयी और 'ऐसे पुत्ररत्नकी अपेक्षा पुत्रहीन रहता तो अच्छा होता' ऐसा विचारकर वह बेचारा चुप हो गया।

एक लड़कीको लग्नके पूर्व लग्नके कपड़े पहनकर गौरी-पूजनके लिये बैठनेको कहा गया। उसने कहा—'मेरी परीक्षा समीप है, पाठ बहुत-से पढ़े हैं, हिस्ट्री तो अभी देखी ही नहीं है, मुझे गौरी-पूजनके लिये समय ही कहाँ है ? फिर ये तुम्हारी लग्नकी पोशाक मुझसे नहीं पहनी जातो।' कन्याकी इस बातको सुनकर बड़े माँ-बापको कितना सन्तोष हुआ होगा, इसका विचार बिना पाठक ही करें। धार्मिक आचारोंके विषयमें विचार करनेपर भी अत्यन्त निराशा मालूम होती है। आजकलके युवक सन्ध्या-वन्दन किसको कहते हैं, यह भी नहीं जानते। आचमनी, पञ्चपात्रका स्थान चमची और कप आदिने ले लिया है। देवपूजन, नैवेद्य और बलिर्वैरवदेवका उन्हें नाम भी नहीं मालूम है। आजकल अग्निहोत्रका अर्थ तो प्रसिद्ध है। एक पाकिटमें समिधा और वृमरमें अग्निसिद्ध सलाहकी डिबिया; इनके तैयार रहने अग्निहोत्रमें क्या देर लगाती है ? फिर भी इस अग्निहोत्रका मुख्य स्थान शोषकूप ही होता है। शास्त्र कहते हैं कि जगत्की उत्पत्ति, पालन और संहारकर्ता ईश्वर हैं। श्रेष्ठ पुरुष इस बातको मानने आये हैं परन्तु यह आजकलके जीजवानोंको नजिक भी मान्य नहीं। पूनाके एक कालेज-के प्रिंसिपल महोदयने एक बार यह घोषणा की थी कि 'यदि जगत्में ईश्वर नामका कोई है तो उसे सामने आनेके लिये मैं आह्वान करता हूँ।' मानो हुक्मके साथ ही ईश्वरको सिपाहीके समान प्रिंसिपल साहबके सामने हाथ बाँधकर खड़े हो जाना चाहिये। ऐसे पुण्यजन गुरुओंके विद्यार्थी अथवा विद्यार्थिनी उपरिलिखित रूपमें माँ-बापको उत्तर दें, इसमें आश्चर्य ही क्या ? आधुनिक विद्वान्, विद्यार्थी और विद्यार्थिनीके विषयमें जैसा कहा गया है, उसी प्रकार बैदिक, शास्त्रीय, पौराणिक आचार्योंकी गद्दीपर बैठनेवाले नामधारी आचार्योंमें भी उपजीविकाके अतिरिक्त सात्त्विक श्रद्धाका अभाव ही है। साधु कहलाने-वाले समाजमें धूर्त ही अधिक हैं। मालूम होता है, 'कूर्पमें ही भाँग पड़ गयी है।' सुख रहिले देखनेपर जान

पड़ता है कि इस समय प्रायः सभी जीवोंकी प्रवृत्ति केवल धन कमाने और विषय-सुख भोगमें ही है। इसका अर्थ यह नहीं कि संसारमें सर्वगुणप्रधान, देवीसम्पत्ति-सम्पन्न कोई ही नहीं। सात्त्विक श्रद्धाले युक्त धर्मात्मा पुरुष भी हैं। साध्वी पतिव्रता स्त्रियाँ भी हैं। माता-पिताके भक्त बालक भी हैं और आचार्य-पीठपर बैठकर अन्तःकरणसे संसारके कल्याणार्थ शाश्वतपदेश करनेवाले गुरु तथा सुसुष्ठुओंके किये अध्यात्मज्ञानका उपदेश करनेवाले सन्त भी हैं। परन्तु उनको संख्या इतनी थोड़ी है कि सूक्ष्म-दर्शक धर्मसे ही उनके दर्शन हो सकते हैं। संसारमें सोनेवाले पुरुष ही अधिक मिलेंगे, जागनेवाले बहुत ही थोड़े हैं। इसीके अनुसार आधुनिक युगमें धर्माचारका अपकर्ष और अधर्माचारका उत्कर्ष है, यही कलिका प्रभाव है। इसका वर्णन भगवान् महर्षि व्यासने भागवतमें विस्तारपूर्वक किया है।

महाराज परीक्षितने श्रीशुकदेव मुनि कहते हैं कि 'जब संसारमें कष्ट, असत्य, हिंसादि दोष दीप्तिसे लगते हैं उस समय समझना चाहिये कि कलिकाकाल आ गया। इस कलिकाकालमें मनुष्यकी बुद्धि मन्द हो जायगी, दारिद्र्य फैलेगा, काम-वासना बहुत बढ़ेगी। स्त्रियाँ कुलटा और दुष्टा होंगी। देशमें चोरीकी बन आवेगी। नास्तिक-मतवादीयोंके द्वारा वेद-निन्दा होगी। राजा-महाराजागण प्रजाके ऊपर नाना प्रकारके कर लगाकर प्रजाभक्षक बनेंगे। ब्राह्मण शिशोर्व-परायण होंगे। ब्रह्मचारी अपवित्र होकर विहित आचरणसे हीन होंगे। गृहस्थ भीख माँगेंगे और स्वयं किसीकी भिक्षा न देंगे। तपस्वी लोग तपोवन छोड़कर शहरमें जाकर रहेंगे। संन्यासी अयन्त द्रव्य-लोभी होंगे। पुरुष स्त्री-लग्नपट होकर रति-सुखमें आसक्त होंगे और इस कारणसे माता-पिताको छोड़कर स्त्रीके सम्बन्धियोंसे ही नाता जोड़ेंगे। शूद्र तपस्वीका वेष धारणकर द्रव्यादिका दान लेंगे और विशेष यह बात होगी कि जिनको शास्त्रका यथार्थ ज्ञान नहीं, ऐसे लोग साध्वी, पवित्र, आचार्य नाम धारण करके और ऊँचे आसनपर बैठकर अधर्मको धर्म बतलाते हुए विपरीत उपदेश करेंगे। लोग कौड़ीके खोमसे स्नेह छोड़कर झगड़ेंगे। भाई भाईका घात करेंगे और प्रसङ्गविशेष आनेपर पक्षिण्ण द्रव्य-लोभके किये आरम्भवात् करेंगे। ऐसी अनेक प्रकारकी धर्माभ्यन्तरकी

क्रियाएँ लोगोंमें शुरू होंगी। ऐसा कराल कलिकाकाल प्रभाव है।'

उपर्युक्त वर्णनके अनुसार समय आ गया है। परन्तु यह ध्यानमें रखना चाहिये कि इस घोर कलिकाकालमें भी धर्माचरणसे रहनेवाले स्त्री-पुरुष संसारमें हैं। सर्व, रज, तम इन तीनों गुणोंका कार्य यह जगत् है और चक्रमेमिके अनुसार कभी सर्व, कभी रज और कभी तमोगुणका उत्कर्ष होता है। जिस समय रजोगुण और तमोगुणका उत्कर्ष होता है उस समय सर्वगुण अर्थात् देवी-सम्पत्ति-सम्पन्न संसारमें अपकर्ष होता है, परन्तु उसका अत्यन्ताभाव नहीं होता। कलिकाकालमें भी कुछ-न-कुछ देवी-सम्पत्ति-सम्पन्न स्त्री-पुरुष होते ही हैं और उनको संसारमें आसुरी-सम्पत्तिका उत्कर्ष देखकर खेद होता है तथा पाप्मरजनोंपर दया आती है।

इसपर कोई यह कहे कि 'तुम्हारे सर्वज्ञ भगवान् व्यासदेवने कलिकाकालमें घटनेवाली बातोंकी जो पहिलेसे अविष्यद्वाणी की थी, वही बातें तो आधुनिक राजा और प्रजामें होती हैं, इसमें किसीका क्या दोष है?' यद्यपि यह बात देखनेमें युक्तियुक्त जान पड़ती है तथापि यथार्थ तो यह है कि कलिके प्रभावमें जो जीव धर्माचारको छोड़कर अधर्ममें रत हुए हैं, इसमें वे सुखकी जगह अनेकों प्रकारके दुःख भोगते हैं और उस दुःख-भोगके समय प्राप्त दुःखके परिहारकी इच्छा करते हैं तथा उस दुःख-परिहारके दृष्ट उपाय भी वे अपनी बुद्धिद्वारा अन्य देशके लोगोंमें तथा पूर्वकालके इतिहासको देखकर निश्चित करते और उनको काममें लाते हैं परन्तु उन्हें फलकी प्राप्ति नहीं होती। रोगजनित कष्ट भोगते समय उस कष्टके परिहारकी इच्छा रोगीकी होती है। परन्तु रोगका निदान ज्ञात न होनेके और अपथ्य-मेघनकी प्रवृत्ति होनेके कारण उस कष्टकी निवृत्ति नहीं होती, वह उल्टे बढ़ता ही जाता है। इसी प्रकार अधर्माचरणमें दुःख-भोगका प्रसङ्ग आता है तथा उसका परिहार ईश्वरके अनुग्रहसे होता है; इस तथ्यको न जाननेके कारण तथा जानकर भी उसपर श्रद्धा न होनेके कारण लोग ईश्वर-भजन नहीं करते, उल्टे अधिकाधिक अधर्माचरणमें फँसते जाते हैं, जिससे उत्तरोत्तर दुःख-भोग भी बढ़ता ही जाता है। ऐसे जीवोंके प्रति मनमें करुणा लाकर महाराज परीक्षितने श्रीशुकदेव मुनिले पूछा था—

केनोपायेन भगवन्करोदौषान्कलौ जनाः ।

विषमिष्यन्मुपचित्तास्तमे ब्रूहि यथा मुने ॥

(श्रीमद्भा० १२।३।१६)

भार्या—‘हे शुक्रदेवजी महाराज ! कलियुगमें बड़े हुए कछिके दोषोंको खोग किसप्रकार नष्ट कर सकेंगे ? उन दोषोंके नाश करनेके उपाय क्या हैं ? कृपा करके मुझसे कहिये ।’ इस प्रश्नके उत्तरमें चारों युगोंकी स्थिति बतलाते हुए श्रीशुक्रदेवजीने कहा है—

करोदौषनिषे राजजस्ति ह्येको महान्गुणः ।

कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत् ॥

कृते बद्ध्यायतो विष्णुं त्रतायां यजतां मखैः ।

द्रापरे परिचर्यायां कलौ तद्वरीकीर्तनात् ॥

(श्रीमद्भा० १२।३।५१-५२)

अर्थात् ‘हे राजन् ! यह कलिकाल सब दोषोंकी निधि है, तथापि इसमें एक उत्तम गुण भी है । मनुष्य सब विषयोंसे आसक्ति छोड़कर केवल भगवान् श्रीकृष्णका कीर्तन अर्थात् नाम-स्मरण करेगा, तो दुःखोंसे रहित होकर अनन्त सुख-राशि परमात्माके साथ एकरूप हो जायगा ।’ कितना सुगम साधन है ! ‘अरे ! सध्ययुगमें विष्णुका ध्यान करनेवालोंको, त्रेतामें यज्ञ करनेवालोंको और द्वापरमें पूजा करनेवालोंको जो फल मिलते हैं, वे ही फल इस कलिकालमें केवल भगवन्नाम-संकीर्तन करनेवालोंको मिल जाते हैं !’

कलिकालकृत सर्व दोषोंके नाश करनेके लिये यह कैसा सुगम साधन है ! यह भगवन्नाम-संकीर्तनकी महिमा है । सन्तवर तुकारामजी महाराज एक जगह कहते हैं—

प्राणिना एक बीजमंत्र उच्चारि ।

प्रतिदिनी रामकृष्ण मृण्मकां मुरारी ।

हे त्रि साधन रे तुह्या सकल सिद्धि च ।

नाम उच्चारि रे गोपाकच बांधे ॥

उपास पारणे न हगे बन सेवन ।

न हगे धूम्रपान पंच अग्निसेवन ॥

सुखाचे फुकाचे काही न वेचे मांडार ।

कांटी यज्ञा परिस तुका मृण्मे हे सारे ॥

अर्थात् हे प्राणी ! एक बीजमन्त्रका उच्चारण कर । प्रतिदिन ‘रामकृष्ण मुरारी’ कहता जा । अरे, वाणीद्वारा गोपाकके नामका उच्चारण करना समस्त सिद्धियोंको प्रदान करनेवाला साधन है । इसमें उपवास, पारण अथवा बन-

सेवनकी आवश्यकता नहीं और न धूम्रपान, पञ्चाग्नि तापनेकी ही आवश्यकता होती है । तुकाराम महाराज कहते हैं कि भगवन्नाम-संकीर्तन सुखपूर्वक तथा सहज ही होनेवाला है, इसमें त्रय्य-व्यय नहीं करना पड़ता और न इसके लिये अपनी सम्पत्ति ही बेचनी पड़ती है । अरे ! यह तो सार वस्तु कोटि यज्ञोंसे अधिक फल देनेवाली है ।

परन्तु कोई बुद्धिमान् पुरुष ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि महाराज तुकारामसे कौन पूछने गया था कि हमारे लिये कलियुगमें तरनेका कोई उपाय ही तो कहिये ? इसका उत्तर यह है कि हो सकता है, किसी मनुष्यने उनसे ऐसा प्रश्न किया हो जिसका उन्होंने यह उत्तर दिया है । फिर, उनसे किसीने ऐसा प्रश्न किया ही नहीं था, इसीका क्या प्रमाण है ? मान लिया जाय कि किसीने उनसे ऐसा प्रश्न नहीं किया था, तथापि उन्होंने जीवोंके ऊपर दया करके यह उपदेश दिया, यही माननेसे क्या आपत्ति है ? वैयक्तिक दृष्टिसे पुत्रके कल्याणकी इच्छा करनेवाला पिता हृदयमें व्याकुलता होनेसे पुत्रके बिना ही पूछे उसके हितकी बात कहता है, यह व्यवहारमें हम देखते हैं; उसी प्रकार साधु-महात्माओंके हृदय भी समष्टिके अर्थात् समस्त सांसारिक व्यक्तियोंके स्वेच्छाचारको देखकर उनके कल्याणके लिये दयार्द्र हो उठते हैं इसीलिये वे उनके प्रति उपदेश देते हैं और यह उपदेश देना स्वाभाविक है । यही साधु-हृदयकी विशेषता है । स्वयं तुकारामजी महाराजने अपना अनुभव कहा है कि—

बुढते हे जन न देखव बोला । मृण्मन कलवला येत असे ॥

अर्थात् भव-सिन्धुमें डूबने हुए जीवोंको मैं देख नहीं सकता, इसीलिये मेरा हृदय (उन्हें देखकर) इसप्रकार व्याकुल हो उठता है ।

श्रीज्ञानेश्वर महाराज भी अपने एक अर्धगमें कहते हैं कि ‘चारों वेद, छठों शास्त्र, अठारहों पुराण भगवन्नामका जप करनेके लिये बड़े जोर-जोरसे कह रहे हैं, परन्तु उस जोर कोई कान भी नहीं देता । भगवान् के नामका (राम-नामका) जप नहीं करनेसे मनुष्योंकी बड़ी हानि हो रही है ।’ ॐ अहा ! कल्याणार्द्र-चित्त कैसा व्याकुल हो रहा है । इस सन्त-हृदयको कोटिशः धन्यवाद है !!

* बाजतसे बांध कोणी नायकती कानी ।

रामनाम न मृण्मे त्याची थोर माला हानी ॥

सर्वप्रभावशिरोमणि भगवती श्रुति तथा उसका अनुवर्णन करनेवाली स्मृति, आगवत आदि पुराण, श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीबल्लभाचार्य, श्रीज्ञानेश्वर महाराज, श्रीएकनाथ, श्रीनामदेव, श्रीकबीर, गोस्वामी श्रीतुलसीदास, श्रीतुकारामके समान भगवत्-अवतारी बड़े-बड़े साधु-सन्तोंने कलियुगके भगवन्नामोच्चारणको सुगम और सब फल प्रदान करनेवाला साधन बतलाया है, परन्तु कोई मनुता ही नहीं, इसका क्या कारण है ? यह विचार करने योग्य प्रश्न है ।

मनुष्यमात्रमें जो निरन्तर सुखकी अभिलाषा देखनेमें आती है, उसको सामान्यतः दो भागोंमें विभजित किया जा सकता है । संसारमें बहुधा सब लोगोंको वैयक्तिक सुखकी इच्छा होती है इसे हम पहले भागके अन्तर्गत लेते हैं; दूसरे भागमें वे हैं जो लाखों मनुष्योंमें कहीं एक होते हैं जो विषय-सुखको अनेक दुःखोंमें प्रसक्त और अनिश्चय समझते हैं, एवं विषय-सुखमें दोष-बुद्धि रखते हुए नित्य निरतिशय आनन्दको प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं । पहले प्रकारके लोगोंके लिये इहलोक तथा स्वर्गादिके विषय-सुखके उपभोगार्थ यज्ञ, याग, तप आदि साधन श्रुतिने बतलाये हैं तथा परमानन्दकी प्राप्ति के लिये ब्रह्मज्ञानरूपी साधन बतलाया है । इनके साङ्गोपाङ्ग साधनोंका स्मृति-कारोंने अपने ग्रन्थोंमें विशदरूपमें वर्णन किया है । साधनका अनुष्ठान करनेपर जब उसके फल-भोगका समय उपस्थित होगा, तब क्रमानुसार जीवको ईश्वरके सङ्कल्पके द्वारा वह फल-भोग अवश्य ही मिलेगा । उस फलके भोगके समय भोक्ताको स्वकर्मचरणवाला होना ही चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं; क्योंकि विषय-सुखका उपभोग मनुष्यको पूर्व-कर्मोंके अनुसार प्राप्त होता है । और निरतिशय परमानन्द अर्थात् मोक्षकी प्राप्ति के लिये अनेक जन्मोंमें अर्जित ईश्वरार्पण-बुद्धिमें किये हुए सत्कर्मोंके फलभोगके समय गुरुद्वारा वेदान्तके महावाक्योंके विचारमें निःसन्देह अद्वैतात्मज्ञानको प्राप्त कर साधक परमानन्दरूप हो जाता है, यही धर्मका निश्चित फल है । इतना होनेपर भी उस साधनमें जीवोंकी प्रवृत्ति क्यों नहीं होती, ऐसी शङ्का अर्जुनने गीताके नवें अध्यायमें की है जिसका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

अग्रदधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।

अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥

(गीता ९ । ३)

अर्थात् 'इस वेदप्रतिपादित धर्ममें जीवोंकी श्रद्धा न होनेके कारण वे धर्म अथवा ब्रह्मका विचार नहीं करते हैं, इसलिये वे मुझे प्राप्त नहीं होते और दुःखमय जन्म-मरण-रूप संसारमें जा गिरते हैं ।'

अच्छा, उनमें धर्माचरण नहीं हो सकता तो वे न करें, परन्तु जिनमें पाप ही उत्पन्न होता है ऐसे निषिद्ध कर्मोंको, वे इच्छा न करते हुए भी क्यों करते हैं ? इस-प्रकारका प्रश्न अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णजीसे स्पष्टतः पूछा है—

अथ केन प्रमुक्तोऽयं पापं श्रति पुरुषः ।

अनिच्छन्नपि वाग्नेयं बलादिन नियोजितः ॥

(गीता ३ । २६)

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! जीवमें स्थित जो काम, अर्थात् 'मुझे यह चाहिये, वह चाहिये' इसप्रकारकी जो प्रबल विषय-वासना है वही धर्माचरणकी शत्रु है । क्रोध और लोभ कामकी ही अवस्थाएँ हैं । पूर्वकर्मके संस्कारसे पहले बुद्धिमें काम उत्पन्न होता है; वासनानुसार विषयकी प्राप्ति होनेपर उस कामका ही परिणाम लोभ हो जाता है और यदि इच्छानुसार विषयकी प्राप्ति होनेमें किसीने विघ्न उपस्थित किया और उस विषयकी प्राप्ति न हुई तो उसी कामका परिणाम क्रोध हो जाता है । ये काम-क्रोध मनुष्यके धार्मिक आचारमें विघ्न उपस्थितकर, इच्छा न करते हुए भी जीवको बलात्कार निषिद्ध कर्ममें प्रवृत्त करते हैं ।

इसप्रकार जो जीव कामके दास हो गये हैं, वे विहित हो अथवा निषिद्ध, परन्तु आपात-मनोरम दीखनेवाले विषय-सुखकी लालसासे निषिद्ध कर्मके गढ़दमें जा गिरते हैं । इन आसुरी-सम्पत्तिमें युक्त पुरुषोंके मनोविकार कैसे होते हैं, धर्मके सम्बन्धमें उनका विचार क्या होता है, उनका बर्ताव कैसा होता है, वे कैसे बोलते हैं आदि बातोंका भगवान् श्रीकृष्णने गीताके सोलहवें अध्यायमें बड़ा विशद वर्णन किया है ।

उक्त वर्णनमें असुरलोगोंके व्यवहारपर विचार करके देखनेसे किसी भी मनुष्यके समझमें यह आ जायगा

किं प्रायः संसारकी वर्तमान स्थितिका ही वर्थान भगवान्ने किया है। इन उद्दण्ड व्यवहारोंके कार्योंका विचार करें तो जान पड़ेगा कि आसुरी-सम्पत्तिसे युक्त नास्तिकोंका कोई नियन्ता ही नहीं है। वेद कहते हैं कि समस्त संसारका नियन्तृत्व भगवान्के हाथमें है, परन्तु नास्तिक तो पहले वेदके अस्तित्व अर्थात् प्रामाण्यको ही नहीं स्वीकार करते। केवल वेदोंका प्रामाण्य न माननेवालेकी ही नास्तिक संज्ञा है। क्योंकि वेदोंका प्रामाण्य स्वीकार करते ही ईश्वरका अस्तित्व बरबस मानना ही पड़ता है। वे आसुरी-सम्पत्तिसे युक्त पुरुष ईश्वर और वेद दोनोंको भी प्रमाण नहीं मानते, इसलिये मैं उनको नास्तिक कहता हूँ।

शास्त्र-युक्ति-हीन, उद्दण्ड और मूर्ख मनुष्य ऐसा कहता है कि ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं दिखलायी देता, इसलिये मैं उसे नहीं मानता। परन्तु उसका यह कथन ठीक नहीं। उससे पूछा जा सकता है कि 'आह! यों पहले मरे हुए तुम्हारे पूर्वज तुम्हें जन्मके पश्चात्से ही प्रत्यक्ष नहीं दीखते तो क्या तुम कहोगे कि तुम्हारे वंश पूर्वज हुए ही नहीं?' वह कहता है—

‘ऐसा मैं नहीं कहता; क्योंकि मेरे पूर्वज अनित्य थे, इसलिये वे मुझे आज नहीं दीखते। परन्तु वे एक समय सबके देखनेमें आते थे। तुम्हारा ईश्वर तो नित्य, निराकार, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक है, ऐसा तुम्हीं कहते हो; अर्थात् वह तुम्हारे और मेरे पास है, तथा वह नित्य है, फिर वह दिखलायी क्यों नहीं देता? उसे दिखलायी देना ही चाहिये; परन्तु नहीं दिखलायी देता इसलिये मैं कहता हूँ कि ईश्वर नहीं है।’

इसपर मैं पूछता हूँ कि ‘जगत्में वायु एक तत्त्व है इसे तुम मानते हो या नहीं?’

‘हाँ, मानता हूँ।’

‘क्या वह तुम्हें दीखता है?’

‘नहीं।’

‘यदि नहीं दीखता, तो ‘वायु तत्त्व है’ इसे तुम क्यों स्वीकार करते हो?’

‘शरीरको वायुका प्रत्यक्ष स्पर्श होता है इससे मैं वायुका होना स्वीकार करता हूँ।’

‘तुम्हें क्या वायुका प्रत्यक्ष होता है?’

‘वायुका शीतल स्पर्श ही उसका प्रत्यक्ष है।’

‘तुम पागल हो! वायुमें केवल अनुप्याशीत स्पर्श-

गुण होता है। उसका स्पर्श-गुण जलके संयोगसे शीतल और अग्निके संयोगसे उष्ण होता है, इसप्रकार स्पर्श-गुणमें भेद है परन्तु वायु एकरूप है। यह निश्चय होनेपर तुम यह मानते हो या नहीं कि स्पर्श-गुणका आश्रयभूत वायु उस स्पर्शसे भिन्न होता है?’

(अत्यन्त कष्टसे) ‘हाँ, वायुको स्पर्शसे भिन्न मानना आवश्यक है।’

‘तब तुम्हें स्वप्नमें स्पर्शका प्रत्यक्ष हुआ। स्पर्शके आश्रयरूप वायुका नहीं?’

‘हाँ, वायुका प्रत्यक्ष नहीं हुआ, यही कहना पड़ेगा।’

‘अब मैं पूछता हूँ कि यदि तुम्हें वायुका प्रत्यक्ष नहीं हुआ अथवा नहीं हो सकता, तो वायु तत्त्व है, यह कैसे कहा जा सकता है?’

‘ठगड़ी हवाका स्पर्श होनेमें केवल यही निश्चय होना है कि उसका आश्रय वायु नामकी कोई वस्तु है।’

‘यह निश्चय होना ठीक है; परन्तु तुम्हारा सिद्धान्त तो यह है कि जो वस्तु प्रत्यक्ष दीखती है, उसीका अस्तित्व मानना चाहिये। तब जो प्रत्यक्ष नहीं दीखती, वह वस्तु है ही नहीं, यह निश्चय असत्य हुआ न?’

‘असत्य तो हुआ पर अब यह नियम किया जा सकता है कि जो प्रत्यक्ष दीखे अथवा जिसकी अनुमानसे सिद्धि हो, ऐसे पदार्थोंके अस्तित्वको स्वीकार करना चाहिये।

‘ठीक! ठीक! अब आ गये रास्तेपर! इसप्रकारके प्रसंगमें तुम्हीं अपने मुँहसे ईश्वरकी सिद्धि करोगे।’

‘किसप्रकार?’

‘अब मैं तुमसे पूछता हूँ कि जितने कार्य होते हैं उनका कोई-न-कोई कर्त्ता तो होता है?’

‘हाँ, होता है।’

‘अच्छा, वह कर्त्ता चेतन होता है न?’

‘इसका कोई नियम नहीं; किसी कार्यका कर्त्ता चेतन होता है और किसीका अचेतन। कर्त्ताका चेतन होना कोई नियमित बात नहीं हो सकती।’

‘किसी कार्यके कर्त्ताको मानकर उसे अचेतन बातझाना लोक-विरुद्ध बात है।’

‘लोक-विरुद्ध कैसे?’

‘अच्छा, किस कार्यका कर्त्ता अचेतन होता है ?’

‘देखते फलका गिरना, नदीके जलका बहते जाना, वर्षा होना, बिजलीका गिरना, घासका उगना इत्यादि कार्योका सचेतन कर्त्ता कोई भी नहीं है ।’

‘कोई सचेतन कर्त्ता चाहे दिखायी न दे, परन्तु जिसके द्वारा कार्य होता है उसका चेतनके साथ सम्बन्ध मानते हो या नहीं ?’

‘चेतनके साथ सम्बन्ध माननेसे क्या अतलब ?’

‘इस नियमको तुम्हीं माना है कि कार्यका कर्त्ता अवश्य होता है ।’

‘माना तो है ।’

‘फिर बतलाओ कि कर्तृत्व-धर्म चेतनके आश्रित रहता है या अचेतनके ?’

‘दोनोंहीके आश्रित रहता है ।’

‘ठीक है; अब बतलाओ, चेतनके आश्रयमें कौन-से कार्य होते हैं ?’

‘मनुष्यका चलना, बोलना, खाना, पीना इत्यादि कार्य चेतनद्वारा होते हैं ।’

‘अहो ! चलना जड़ पैरोंद्वारा, बोलना जड़ वाणी-द्वारा, खाना-पीना जड़ मुँहके द्वारा होता है । इनमें पैर आदिमें कोई चेतन नहीं दिखलायी देता । फिर कैसे कहा जा सकता है कि ये कार्य चेतनके द्वारा होते हैं ?’

‘इन जड़ इन्द्रियोंमें स्वतःकर्तृत्व नहीं, यह बात ठीक है, परन्तु प्रत्येक शरीरमें उनका अन्तर्गामी चेतन कोई अवश्य है ।’

‘चेतन है, परन्तु वह तुम्हें दिखलायी जो नहीं देता ?’

‘नहीं दिखलायी देता तो इससे क्या ? मृत शरीर-को पैर होते हुए भी वह अपने आप अपनेको दाह करनेके लिये श्मशानमें नहीं जाता, बल्कि चेतनसे सम्बन्ध रखने-वाले हाथ-पाँववाले मनुष्योंके द्वारा ही वह वहाँ पहुँचाया जाता है । इससे चेतनके प्रत्यक्ष न होनेपर भी अनुमानसे उसकी सिद्धि होती है । ऊपर मैंने अनुमान-प्रमाणको भी स्वीकार किया है ।’

‘ठीक है, अब तुम ईश्वर-सिद्धिकी ओर चल रहे हो । अच्छा, बतलाओ तुम चेतन हो या नहीं ?’

‘मैं चेतन हूँ ।’

‘तुमको जब किसी गहनेकी आवश्यकता होती है, तब क्या बाजारमें सोना खरीदकर तुम आप ही गहना बना लेते हो ? तुम्हें चेतन होनेका ध्यान है न ?’

‘हाँ मैं चेतन हूँ । मेरे पास सोना है, परन्तु गहना बनानेका विशेष ज्ञान मुझमें नहीं । इसलिये गहना बनवानेके लिये मुझे गुणी स्वर्णकारके पास जाना होगा ।’

‘तुम्हारे इस उत्तरमें सिद्ध होता है कि केवल चेतन-द्वारा ही कार्य नहीं होता, बल्कि कार्यका जाननेवाला चेतन पुरुष ही कर्त्ता हो सकता है । ठीक है न ?’

‘ठीक है, परन्तु वर्षा होना, तूणादिका उगना आदि कार्योके लिये आप ईश्वरको कारण मानते हैं । परन्तु वह दिखलायी नहीं देता इसलिये मुझे इसमें प्रतीति नहीं होती । आपके मतसे इन कार्योका कौन कर्त्ता होगा ? अंगरेजीमें जिसे ‘नेचर’ कहते हैं वही सब कार्योको करती है, ऐसा मेरा विश्वास है ।’

‘इस अंगरेजीमें कहे हुए ‘नेचर’ को उन अंगरेजोंने अथवा स्वयं तुमने कभी देखा है ? यदि नहीं तो ‘नेचर’ को कर्त्ता कैसे मानते हैं ?’

‘जमीनमें पड़े हुए बीजको पानी मिलनेसे अङ्कुर उत्पन्न होता है, यह उसका स्वभाव है । इसमें ईश्वरकी क्या आवश्यकता है ?’

‘अहो ! अंगरेजी शब्द ‘नेचर’ के स्थानमें तुमने संस्कृत भाषाका प्रयोगमात्र किया । परन्तु मैं फिर वही प्रश्न पूछता हूँ कि स्वभाव चेतन है या नहीं ?’

‘चेतन है ।’

‘स्वभावको तुमने देखा है ?’

‘नहीं; परन्तु अनुमानसे निश्चित कर सकते हैं कि स्वभाव चेतन है ।’

‘अच्छा, तो क्या वह स्वभाव सर्व कार्यको व्यवस्थित रीतिसे करने योग्य, विशेष ज्ञानसम्पन्न, अर्थात् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है ?’

‘हाँ, है । ऐसा ही मानना होगा ।’

‘अच्छा, तुम्हारा वह चेतन और सर्वज्ञ ‘स्वभाव’ कुम्हारके समान कार्यके बाहर रहकर कार्य करता है या कार्यका अन्तर्गामी होकर कार्य करता है ?’

‘अन्तर्यामी होकर करता है, यही कहना होगा।’

‘अच्छा मैं पूछता हूँ कि, मनको भी जिसका प्रत्यय नहीं होता, अत्यन्त कुशल कारीगरकी बुद्धि भी जिस रचनाको नहीं समझती, इसप्रकारका यह दृश्य जगत् कार्य है या नहीं?’

‘कार्य है।’

‘इस जगत् रूप कार्यका कर्त्ता कौन हो सकता है?’

‘बही हमारा ‘नेचर’; अथवा उसे स्वभाव कहिये।’

‘तुम्हारा ‘नेचर’ जो चेतनस्वरूप, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है उसीको वेदोंमें ‘ईश्वर’ कहा गया है। केवल नाममात्रका भेद है। तुम्हारे युक्तिहीन ‘नेचर’ के बदले उसको वेदप्रतिपादित सर्वज्ञ ईश्वर, सर्वेश्वर कहना अधिक सुसंगत है। नदीका जल बहना आदिको तुमने जो अचेतनके कार्य बतलाया था, वे सब कार्य परमात्माकी आज्ञामें होते हैं ऐसा श्रुतिमें कहा गया है। जैसे—

‘तप्तस वा अक्षरस्य प्रशंसने गार्गि नद्यः प्रसवन्ति।’

‘मीमांसाद्वैतः पर्वतः ०’

अचेतनमें कदापि कर्त्तृत्व सम्भव नहीं। अथ जगत् का कर्त्ता कौन है, इस विषयपर विचार करना है।

‘यतो वा इमानि नूतानि जायन्ते’ ‘यः सर्वज्ञः सर्ववित्’

इत्यादि श्रुति-वाक्योंमें जगत्कारणरूपमें मायाविशिष्ट ईश्वरकी सिद्धि होती है। परन्तु जिनका मन श्रुति-वाक्योंके स्वतःप्रमाणको स्वीकार नहीं करता तथा ईश्वर-सिद्धिके लिये युक्तिकी अपेक्षा करता है उसके लिये भगवान् श्रीशंकराचार्यने केनोपनिषद्में अनुमानद्वारा ईश्वरकी सिद्धि की है। वह लिखते हैं—

‘यदिदं जगदेवगन्धर्वयक्षरक्षःपितृपिशाचादिलक्षणं, क्षुब्धयत्पृथिव्यादित्य चन्द्रग्रहनक्षत्रविचित्रं, विविधप्राणपुष्पभोग-योग्यस्थानसाधनसम्बन्धितदत्यन्तकुशलीशक्तिर्पिभिरपि दुर्निर्माणं देशकालनिमित्तानुरूपनिर्णयतप्रवृत्तिनिवृत्तिक्रमं पतत्रैकैकमं-विभागप्रयत्नपूर्वकं भवितुमर्हति। कार्यत्वे सति यथाकृत्यण-त्वात्। गृहप्रासादरथशयनासनादिवत्।’

इस अनुमानमें जगत्की विचित्र रचना तथा उसमें स्थित जीवमात्रको उनके पूर्व-कर्मोंके अनुसार नियमित समयमें सुख-दुःखरूपी भोगके साधनोंका प्राप्त होना— यह कार्य सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वरके बिना असम्भव है। क्योंकि बड़े-बड़े राजमहल, मन्दिर, रथ, शयनागार अथवा राजाओंके बैठने योग्य आसन आदि कार्य-कार्य-

कुशल और समर्थ कारीगरोंद्वारा ही होते हैं। उसी प्रकार इस प्रत्यक्ष दीखनेवाले जगत्में देव, गन्धर्व, पितर, राक्षस, पिशाचादि हैं तथा स्वर्ग, आकाश, वायु, पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र, शनि, मंगलादि ग्रह और अश्विनी इत्यादि नक्षत्र हैं। इसप्रकारका संसार किसी भी चतुर-से-चतुर कारीगरद्वारा तैयार नहीं हो सकता। साथ ही विशेषता यह है कि प्रत्येक प्राणीके प्रारब्धानुसार सुख-दुःख-भोग, देश-काल तथा आवश्यक भोग्य-पदार्थोंका सम्बन्ध उस प्राणीके साथ कर दिया जाता है। इसप्रकारमें प्राणियोंके विचित्र भोग और यह विलक्षण जगत् जब कार्य है, यह अनुमान है, तब इन सर्व कार्योंके उपादानको जानने-वाला (सर्वज्ञ) तथा उनके निर्माण करनेकी सामर्थ्य रखनेवाला (सर्वशक्तिमान्) ईश्वरके अतिरिक्त दूसरा कौन हो सकता है? यह साध्य है, इस अनुमानके लिये गृह-प्रासाद आदि दृष्टान्त हैं। इस अनुमानके द्वारा श्रुति-प्रतिपादित जगत्कारण ईश्वरके स्वरूपकी दृष्टा होती है, यह सिद्ध हुआ। परन्तु अंगरेजोंके सहवासमें, उनकी शिक्षामें तथा क्षणिक विषय-सुखके मोहमें पड़े रहनेके कारण आज ‘ईश्वर’ शब्दमें भी विश्वास नहीं रहा। इसलिये लोग धर्म-भ्रष्ट हो गये हैं। इसी कारण ऐसी दुर्दशा हो रही है। सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और नित्य-व्याप्तु ईश्वर-पर विश्वास किये बिना कभी काम नहीं चल सकता। इसलिये राम, कृष्ण आदि ईश्वर-नामका जप करना चाहिये, जो सर्वथा कल्याणप्रद है। इसपर शंका की जाती है कि ‘ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, व्यापक, निराकार, निर्विकार और नित्य है, ऐसा थाप कहने हैं, परन्तु साथ ही राम, कृष्ण आदिके नामोंका जप करनेके लिये भी कहते हैं, यह असंगत जान जड़ता है। क्योंकि रामनवमी अथवा कृष्णाष्टमीके पूर्व राम, कृष्णादि भूतलपर नहीं थे और निजधामको पधारनेपर भी नहीं रहे, यह प्रत्यक्ष है फिर राम, कृष्णादि नित्य कैसे हो सकते हैं? और यदि वे नित्य नहीं हैं तो उनके नाम-स्मरणमें कल्याण कैसे हो सकता है?

इस शंकाका समाधान यह है कि सच्चिदानन्दघन परमात्मा अनादि मायाके सम्बन्धमें ईश्वररूपको प्राप्त होता है तथा उसी मायाके सम्बन्धमें भक्तोंके ऊपर अनुग्रह तथा दुष्टोंका विनाश करनेके लिये इयामसुन्दर पीताम्बरधारी श्रीराम, श्रीकृष्ण आदिके रूपमें अपनी इच्छा-मात्रसे अवतरित होता है। इसलिये वह ईश्वर है। राम,

कृष्णादिके रूपमें अवतरित होनेवाला ईश्वर भक्तवत्सल, दयावान् इत्यादि अनन्त कल्याणकारक गुणोंका आगार है। वह सर्वज्ञ और सर्वान्तर्धामी है, इसलिये शुद्ध भावनासे किये गये ध्यान-पूजन, नाम-स्मरणको वह यथाार्थ रीतिसे समझता है और भक्तोंकी भावनाके अनुसार वह फल भी देता है।

यह शास्त्र-मिद्वान्त है कि पुरुषके प्रयत्न यदि ईश्वरानुग्रहके अनुकूल हों तो वे सफल होते हैं। महाभारतके युद्धमें द्रुपदके गणेशका चण्डा टूटकर पश्चिमकी बलोंकी रक्षाका कारण हुआ, इसे अर्जुनकी भगवान् श्रीकृष्णने प्रत्यक्ष दिखलाया था। यह ईश्वरीय दया का प्रबल उदाहरण है।

दैनिक जहाज, कारोहों रुपये खर्च करके सुखोपभोगके लिये तैयार किया गया था। परन्तु ऐश्वर्यसम्पन्न हजार-दो-हजार मनुष्य अपने स्त्री-बच्चोंके सहित उसपर बैठकर

विहार करनेके लिये निकले ही थे कि आधे ही घण्टेमें उसने जल-समाधि ले ली और सुख-भोगके लिये बैठे हुए वे पुरुष अपने स्त्री-बच्चोंके साथ दुःखके अन्तिम गर्तमें जा पहुँचे।

इसका कारण यही था कि इसमें पुरुष-प्रयत्न तो अत्यधिक था परन्तु ईश्वरका अनुग्रह या ही नहीं। इसप्रकार अनेक प्रसङ्गोंपर विचार करनेसे जान पड़ता है कि ईश्वरके अनुग्रहके बिना सुखोपभोगकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये केवल ईश्वरानुग्रहकी आवश्यकता है। उसके लिये अग्रज्य भावसे ईश्वरोपासना करनी चाहिये और श्रौत, स्मार्त-कर्मधिकारी पुरुषोंको वर्णाश्रमविहित ईश्वरार्पण-बुद्धिद्वारा स्वधर्माचरणरूपी ईश्वर-सेवा करनी चाहिये। श्रुति-कर्मका अधिकारी न होनेकी अवस्थामें ईश्वरके नाम-स्मरणके सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है।



ईश्वर

ईश्वरको तुम लोग देख नहीं सकते, क्या इसीसे कह दोगे कि वह है ही नहीं? दिनको तारे नहीं दीख पड़ते, तो क्या तुम कहोगे कि तारे हैं ही नहीं? सूरजके तीखे तेजमें दिनको तारे नहीं दीख पड़ते, वैसे ही माया और अहंकारके आच्छादनसे मनुष्य ईश्वरको नहीं देख सकता।

तूथमें भक्तवत्सल रहता है पर वह अपनेसे ही निकलता है, वैसे ही ईश्वरको जो जानना चाहे वह उसका साधन भजन करे। भगवान् सगुण भी है और निर्गुण भी तथा गुणातीत भी। जब वह सगुण रहता है तब उसे ईश्वर कहते हैं, जब निर्गुण रहता है तब उसे ब्रह्म कहते हैं और उसकी गुणातीत-अवस्थाको तो हम मुँहसे कहकर समझा ही नहीं सकते।

ईश्वरके दर्शनकी इच्छा रखनेवालोंको नाममें धीरसास तथा सत्यासत्यका विचार करने रहना चाहिये। एक डुबकीमें रत्न न मिला, इससे रत्नाकरकी रत्नहीन मत समझ बैठना। डुबकी लगाते ही जाओ, रत्न अवश्य मिलेगा। अल्प साधना करनेपर ईश्वर-दर्शन न हो तो हताश न होना चाहिये। धीरज रखकर साधन करते रहो। यथासमय ईश्वरकी तुमपर अवश्य ही कृपा होगी।

जल एक है। कोई उसे 'पानी' कहता है, कोई 'वाटर' कोई 'एकोया' और कोई 'अप' कहता है। इसी प्रकार भगवान्को कोई 'गौड', कोई 'हरि', कोई 'राम', कोई 'यीशु' और कोई 'अल्लाह' कहता है। वस्तु एक ही है, केवल नाममें भेद है। संसारमें केवल ईश्वर ही सत्य है और सब असत्य है।

जिसके मनमें ईश्वरका प्रेम उत्पन्न हो गया, उसे संसारका और सुख अन्धा नहीं लगता। जो एक बार भी बढ़िया मिस्त्रीका स्वाद ले चुका वह क्या कभी राख खाना चाहेगा?

लोग भला कहें या बुरा, उनकी बातोंपर ज़रा भी ध्यान न देकर, संसारकी स्तुति और निन्दाकी कोई परवा न करके ईश्वरके पथपर चलना चाहिये।

अपने सब कर्मफल ईश्वरके अर्पण कर दो, अपने लिये किसी फलकी कामना मत करो।

जिस घरमें निरर्थक हरि-संकीर्तन होता है, वहाँ कलियुग प्रवेश नहीं कर सकता। ईश्वरको पानेका उपाय विश्वास है, जिसको विश्वास हो गया उसका काम बन गया।

ईश्वरके नाममें ऐसा विश्वास चाहिये कि मैंने उसका नाम लिखा है इससे अब मुझमें पाप कहाँ है? मेरे बन्धन अब कहाँ हैं?

—श्रीरामकृष्ण परमहंस

जगदीश्वर वेदान्तसे ही प्रतिपाद्य है

(लेखक—१० श्रीश्रीधराचार्यजी शास्त्री, वेदान्तार्थ, १० शि०, १० भू०, १० २०)

आज्ञायमूर्द्धनि च मूर्द्धनि चोर्ध्वपुंसां
यद्वाप्य वैष्णवममीक्षणतरं चकास्ति ।
तन्मादृशमपि च गोचरमेति वाचो
मन्ये तदीयमिदमाश्रितवत्सकृत्वम् ॥

जगत्कर्ता परमपिता परमेश्वरकी सत्ताका प्रतिपादन बड़े-बड़े योगिराज, महात्मा, साधु, संन्यासी, ऋषि, महर्षि तथा विद्वानोंने अपनी-अपनी प्रतिभाके अनुसार किया है । परन्तु किसीने भी ईश्वरके विषयमें आज तक यह नहीं कहा और न कोई आगे कह सकेगा कि वह 'इन्द्रमित्यम्', 'एतावदेव', अर्थात् ऐसा ही है और इनना ही है । श्रीश्री-महाप्रभुजीने गीतामें अपने श्रीमुखसे कहा है—

आश्चर्यवत्पदयति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद्बुद्धति तथैव चान्यः ।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति
श्रुत्वाऽप्यने वेद न चैव कश्चित् ॥
(२ । २९)

अर्थात् 'हे अर्जुन ! यह आश्चर्य है कि तू भी गम्भीर है । समस्त प्राकृत वस्तुओंमें विलक्षण स्वरूपवाले इस आत्मा-को कोई विरला ही सुकृति देखता है, तथा विरला ही कोई इस विलक्षण आत्माको कहता है, एवं कोई विरला ही इस विलक्षण आत्मस्वरूपको मुनता है तथा मुनकर भी कोई इस आत्माको नहीं जान पाता ।'

यही कारण है कि उस दुर्गम, अतर्क्य ईश्वरका प्रति-पादन करनेमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि—ये सभी प्रमाण असमर्थ हो जाते हैं । प्रत्यक्ष-प्रमाण अपने नियत एवं विद्यमान वस्तुका ही ग्राहक होता है । उसे दर्शनकारोंने चाक्षुष, रासन, स्पर्शन, श्रावण, घ्राणज और मानस-भेदमें छः प्रकारका माना है । रूपवान् द्रव्यके साथ नेत्रके संयोगसे चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है । रूपहीन अर्थात् प्राकृत रूपरहित परमेश्वरके साथ चक्षुका संयोग रूपके बिना होना असम्भव है, अतः चाक्षुष-प्रत्यक्षके द्वारा ईश्वर नहीं जाना जाता । इसी प्रकार रासन-प्रत्यक्षमें रस, स्पर्शन-प्रत्यक्षमें स्पर्श, श्रावण-प्रत्यक्षमें शब्द, घ्राणज-प्रत्यक्षमें गन्ध कारण होते हैं और परमात्मा

प्राकृत रसादिसे रहित है, इसलिये यह चारों प्रकारके प्रत्यक्ष परमात्माके प्रतिपादनमें समर्थ नहीं हो सकते । मानस-प्रत्यक्ष भी स्वान्तर्बुद्धि सुख-दुःखका ग्राहक होनेके कारण सुख-दुःखादि वृत्तियोंसे परे परमात्माका प्रतिपादन नहीं कर सकता । यदि कोई कहे कि 'पश्यन्ति यं योगिनः' के अनुसार ईश्वरका योगज मानस-प्रत्यक्ष होता है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि जो-जो प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है वह अपने विषयका नियमपूर्वक होता है । यदि ऐसा न होता तो नासिकामे रसका, नेत्रमें वायुका तथा श्रवणमें गन्धका प्रत्यक्ष हो जाता । तात्पर्य यह है कि जिस इन्द्रियका जो नियत विषय है उसके परे उसका ज्ञान नहीं हो सकता है । ऐसी अवस्थामें भूत, भविष्यत् वस्तुको ग्रहण करनेवाले योगज ज्ञानको प्रत्यक्षके अन्दर कैसे लाया जा सकता है ?

अब जब कि प्रत्यक्ष-प्रमाणकी ही यह दशा है तो इसके आधारपर स्थित अनुमानादि प्रमाण ईश्वरके प्रति-पादनमें कहाँ तक समर्थ हो सकते हैं ? क्योंकि अनुमानमें साध्यका हेतुके साथ परिचयरूप व्याप्तिज्ञान, उपमानमें सादृश्यज्ञान, अनुपलब्धिमें प्रतियोगिज्ञान और अर्थापत्तिमें पीनत्वादिका ज्ञान प्रत्यक्षकी अपेक्षा रखते हैं । अतः जब ईश्वरके साथ प्रत्यक्षका ही सम्बन्ध नहीं है, तब फिर व्याप्तिज्ञान आदिकी उत्पत्ति ही कैसे हो सकती है ? उदाहरणार्थ—एक पुरुष अपने रसोद्देशमें अग्नि और धूमका सम्बन्ध देखता है और यह निश्चय करता है कि जहाँ धूम होता है वहाँ अग्नि अवश्य होती है, पश्चात् वह किसी पर्वतपर जाकर धूम देखता है और अनुमिति करता है कि पर्वतमें अग्नि है, क्योंकि यहाँ धूम दिखलाई देता है । जिसप्रकार धूम और अग्निका सम्बन्ध प्रत्यक्षद्वारा देखकर यह अनुमिति होती है उस प्रकार ईश्वरके साथ किसी हेतुका सम्बन्ध प्रत्यक्षद्वारा ज्ञात नहीं होता, तब फिर ईश्वरके साधन-में अनुमिति कैसे उपयोगी हो सकती है ? इसी प्रकार उप-मानादि प्रमाण भी ईश्वरकी सत्ताके प्रतिपादनमें कदापि समर्थ नहीं हो सकते । इसी अर्थका समर्थन माननीय आचार्यवर्य भी करते पाये जाते हैं । आचार्यवर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य 'जन्माद्यस्य यतः' इस वेदान्त-सूत्रके भाष्यमें इसप्रकार लिखते हैं—

ननु भूतवस्तुत्वे प्रमाणान्तरविषयत्वमेवेति वेदान्तवाक्य-विचारणाऽनर्थिकैव प्राप्ता, न । इन्द्रियाविषयत्वेन सम्बन्धा-ग्रहणात् । स्वभावतो विषयविषयाणीन्द्रियाणि, न ब्रह्मविषयाणि । सति हीन्द्रियविषयत्वे ब्रह्मणः, इदं ब्रह्मणा सम्बद्धं कार्यमिति गृह्यते । कार्यमात्रमेव तु गृह्यमाणं किं ब्रह्मणा सम्बद्धं किमन्येन केनचिद्वा सम्बद्धमिति न शक्यं निश्चेतुम् । तस्माज्जन्मादिसूत्र नानुमानोपन्यासाय किं तर्हि वेदान्तवाक्यप्रदर्शनार्थम् ॥ इति ॥

आचार्यवर्य जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्यजीने भी 'शास्त्रयो-निष्ठात्' इस वेदान्त-सूत्रके भाष्यमें लिखा है—

ननु शास्त्रयोनित्वं ब्रह्मणो न सम्भवति । प्रमाणान्तर-वेद्यत्वादब्रह्मणः, अप्राप्ते तु शास्त्रमर्थवत् ॥ किं तर्हि तत्र प्रमाणम् । न तावत्प्रत्यक्षम् । तद्विद्विधम्, इन्द्रियसम्बन्धं योगसम्भवमेवेति । इन्द्रियसम्बन्धं बाह्यसम्बन्धमान्तरसम्बन्धमेवेति द्विधा । बाह्य-न्द्रियाणि विद्यमानसन्निकर्षयोग्यस्वविषयबोधजननानीति न सर्वार्थसाक्षात्कारतर्जिमाणसमर्थपुरुषविशेषविषयबोधजननानि । नाप्यान्तरम्, आन्तरमुखदुःखादिव्यतिरिक्तबहिर्विषयेषु तस्य बाह्यन्द्रियानपेक्षप्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नापि योगजन्यम् । भावनाप्रकर्ष-पर्यन्तजन्मनस्तस्य विशदावभासत्वेऽपि पूर्वानुभूतविषयस्मृतिमात्र-त्वात् प्रामाण्यमिति कुतः प्रत्यक्षता; तदतिरिक्तविषयत्वे कारण-भावात् । नाप्यनुमानं विशेषतो दृष्टं सामान्यतो दृष्टं वा; अतीन्द्रिये वस्तुनि सम्बन्धावधारणविरहाच्च विशेषतो दृष्टम् । समस्तवस्तुसाक्षात्कारतर्जिमाणसमर्थपुरुषविशेषनियतं सामान्यतो दृष्टमपि न निष्पन्नमिति इति ।

इसी प्रकार अन्यान्य आचार्यचरणोंने भी स्वरचित वेदान्त-ग्रन्थोंमें उपर्युक्त अर्थका ही समर्थन किया है ।

इसप्रकार जब हमारी बुद्धिकी अपेक्षा करनेवाले प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रभृति प्रमाण उस परम दयालु जगदीश्वरकी सत्ताका ज्ञान करानेमें असमर्थ हैं तब उस जगत्पति परमेश्वरकी उपासना अथवा उसका ध्यान किसप्रकार किया जा सकता है ? क्योंकि जबतक उपासक उपास्यका स्वरूप यथार्थरूपसे नहीं जान लेता, तबतक वह उपासना कर ही नहीं सकता है । अतः अवलम्बनके बिना ध्यान, भक्ति, प्रपत्ति, अनुराग भी सम्भव नहीं हो सकते ।

पूर्वमीमांसा-शास्त्रके अनुयायी कहते हैं कि देवताकी सत्ता अर्थवाक्यमात्र है अर्थात् कर्ममें रुचि उत्पन्न करनेके लिये अर्थवाद देवसत्ताका संकेत करता है । क्योंकि जब

वेद कहता है कि 'स्वर्गकामो यजेत' अर्थात् स्वर्गकी कामना करनेवाला यागसे स्वर्गको प्राप्त करे । तब यही सिद्ध होता है कि स्वर्गके प्रति यज्ञ कारण है । परन्तु यज्ञ क्रियारूप होनेसे सणस्थायी है, अतएव कार्यकाल (स्वर्गकी प्राप्तिकाल) स्थिर नहीं रहता । ऐसी अवस्थामें 'कार्यनियतपूर्ववृत्तिकारणम्' इस दार्शनिक सिद्धान्तके अनुसार यागको स्वर्गादिके प्रति कारण कहना समीचीन नहीं जान पड़ता । इस दोषसे बचनेके लिये मीमांसकोंने वेदवेद्य कार्य-कारणभावके समर्थनके लिये बीचमें अष्टकी कल्पना की है, तभी याग और स्वर्गका कार्य-कारण-भाव निष्पन्न भी होता है । इसी बातको स्वीकार करते हुए नैयायिकशिरामणि विश्वनाथ पञ्चाननने स्वरचित सिद्धान्त-मुक्तावलीमें लिखा है—

यत्कार्यं यददृष्टाधीनं तत्तदुपभोगसाधनं साक्षात् परम्परया वा जनयत्येव ।

अर्थात् जो कार्य जिस चेतनके अदृष्टके अधीन है वह साक्षात् किंवा परम्परामें उस चेतनके उपभोगका साधन अवश्य ही उत्पन्न करता है । जब कर्म देवताकी सत्ताके बिना ही अदृष्टद्वारा फल देनेमें समर्थ हैं तब उपासना भी उपास्य देवताकी सत्ताके बिना ही वेदबोधित होनेके कारण अदृष्टाद्वारा मन्त्र-जपकी तरह फल दे सकेगी । इसी अभिप्रायसे महर्षि जैमिनिजीने कहा है—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शनाम् ।

(पूर्वमी० १।१।१ ?)

अर्थात् 'साध्य-साधन' इतिकर्तव्यतारूप अंशत्रयमें युक्त भावनारूप क्रियाका प्रतिपादन करनेवाला वेद है, और इस भावनारूप क्रियाका जो प्रतिपादन नहीं करता वह व्यर्थ अर्थात् अप्रामाण्य है । इसके पश्चात्—'शास्त्रदृष्ट-विरोधाच्च', 'तथा फलाभावात्', 'अन्यानर्थक्यात्', 'अभागी-प्रतिपेक्षाच्च', 'अनित्यसंयोगात्' इन पाँच सूत्रोंमें भी उपर्युक्त अर्थका ही समर्थन किया गया है । ऐसी अवस्थामें भूतार्थ-प्रतिपादक न होनेके कारण छुटा प्रमाण वेद भी ईश्वरकी सत्ताके प्रतिपादनमें असमर्थ हो जाता है । अस्तु, वेदमें ब्रह्मके निरूपण करनेकी शक्ति नहीं तो न सही; वेदान्तसे उस परमप्रभु जगन्निजन्ताकी सत्ता निरूपित की जा सकती है । परन्तु यह भी कहना युक्तिमंगत नहीं जान पड़ता, क्योंकि वेदके ही शिरोभागाका नाम वेदान्त है, जिसे उपनिषद्-नामसे व्यवहृत करते हैं । अतः वेदका ही एक देश होनेके कारण महर्षि जैमिनि के उपर्युक्त सूत्रोंके अनुसार

वेदान्त भी क्रियार्थसे भिन्न ईश्वरका प्रतिपादक नहीं हो सकता। इसप्रकार ईश्वरके प्रतिपादनमें किसी प्रमाणकी प्रगति नहीं होती और शास्त्रकार कहते हैं कि 'मानाधीना मयसिद्धिः' अर्थात् प्रमाणके बिना कोई वस्तु हो ही नहीं सकती। यथार्थतः जबतक प्रमाणके द्वारा प्रमेयकी सिद्धि नहीं होती तबतक लौकिक या पारलौकिक किसी भी कार्यमें मनुष्यकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

ईश्वर तत्त्वज्ञानके विषयमें शास्त्रोंकी यह घोषणा है कि—

योऽन्यथा सन्तमसमानं अन्यथा प्रतिपद्यते ।

किं तेन न कृतं पापं चौरैणात्मापहारिणा ॥

अर्थात् जो पुरुष अन्य प्रकारसे विद्यमान आत्माको अन्य ही रीतिसे प्रतिपादन करना है, उस आत्मापहारी चोरने क्या पाप नहीं किया? किन्तु सब पाप किया।

यद्यपि यह परमात्म-तत्त्व दुरवगाह है, अतर्क्य है, तथा बड़े-बड़े महानुभाव इसका पता लगानेमें गोता खाते हैं तथापि जिज्ञासु जब चतुर्दिक मटककर कहीं आश्रय नहीं पाते हैं, तब लौटकर जगदीश्वर परमकारुणिक श्रीभगवान्‌के चरणोंमें ही शरण ले शान्ति लाभ करते हैं।

भगवान् वेदव्यास अपने ब्रह्मसूत्रके 'परं जैमिनिमुख्य-त्वात्' इस सूत्रमें कहते हैं कि 'ब्रह्म' शब्द परमात्माका ही बोधक है क्योंकि निरवधिक बृहत्त्व तथा बृहत्त्वत्वे ये निर्वचन मुख्यरूपसे जगदीश्वरमें ही सुसंगत होते हैं, ऐसा महर्षि जैमिनिका मत है। पुनः आगे—

'ब्राह्मणं जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः' (४।४.५)

तथा—

'मानं जैमिनिर्विकल्पामननात्' (४।४.११)

—इन दो सूत्रोंमें भी महर्षि वेदव्यासने महर्षि जैमिनिके मतके प्रति आदर प्रदर्शित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वरकी सत्ताके विषयमें महर्षि जैमिनि-को भी कोई सन्देह नहीं है तथा उन्होंने वेदोंको जो क्रियार्थप्रतिपादक माना है उसका अभिप्राय केवल वेदके पूर्वभाग कर्मकाण्डमें है अर्थात् वेदका पूर्वभाग कर्मका प्रतिपादक होनेसे विधिके साथ ही अर्थवाद तथा मन्त्रोंका प्रासाद बन सकता है, विधिके अतिरिक्त अर्थवाद तथा मन्त्रका अन्य प्रयोजन उपलब्ध नहीं है।

यदि अर्वाचीन भीमांसकोंके अनुसार उभय-भागारम्भक सम्पूर्ण वेदको क्रियार्थारम्भक ही मानें तो भी वेदान्त-भाग ब्रह्मकी सत्ताके प्रतिपादनसे कभी हट नहीं सकता। क्योंकि—

'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यश्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'

'आत्मानमेव लोकमुपासीत'

इत्यादि विधि-वाक्योंके द्वारा क्रियान्वित ब्रह्मकी सत्ताका प्रतिपादन अनायास ही किया जा सकता है।

अतः खूब विचार करनेपर भी केवल वेदान्तके ही अवलम्बनसे परम प्रभु आनन्द-सिन्धु जगदीश्वरके स्वरूप, स्वभाव, विभूति, लीला, चरित्र आदिका कुछ निरूपण किया जा सकता है। अन्यथा मनःकल्पित प्रमाणोंके द्वारा उसका निरूपण करना केवल विडम्बनामात्र होगा। जैसे घने अन्धकारमें अत्यन्त प्रतिभाशाली पुरुष भी बिना प्रकाशके किसी वस्तुके स्वरूपको अपनी बुद्धिके बलसे वर्णन नहीं कर सकता, तथा प्रकाशकी सहायतासे विद्वान् ही क्यों मन्दमति पुरुष भी अन्धकारमें स्थित वस्तुको देखकर उसके स्वरूपका वर्णन कर सकता है, उसी प्रकार वेदान्तकी सहायतासे विद्वान् तथा अल्पमति पुरुष भी परम दयालु श्रीव्रजविहारी परात्पर ब्रह्मके स्वरूपको यथार्थतः जानकर स्वभिलषित पदको प्राप्त हो सकता है। इन्हीं बातका समर्थन भगवान् वेदव्यासके इस सूत्रमें होता है—'तर्काप्रतिष्ठानादपि' (२।१।११) अर्थात् तर्कोंको कोई स्थिरता नहीं है, अतः तर्कगम्य पदार्थ सम्माननीय कोटिमें नहीं आ सकते। इसी प्रकार प्रधानकारणवाद, अणुकारणवाद आदि भी अद्वेय नहीं हैं बल्कि श्रुतिमूलक ब्रह्म-कारणवाद ही आदरणीय सिद्धान्त है। दूसरी बात यह है कि इन शुष्क तार्किकोंके तर्कोंका परस्पर खण्डन होनेमें भी किसी अर्थका समर्थन नहीं होता, इसमें भी वेदान्त-बोधित ब्रह्मकारणवाद ही प्रतिष्ठित माना जा सकता है।

यदि कहा जाय कि दूषित तर्कोंका परिस्थागकर सुतर्कोंद्वारा ही अपना अभिलषित अर्थ सिद्ध किया जाय तो प्रधान कारणवाद सिद्ध हो जायगा। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि तर्कका मूलकारण पुरुषकी बुद्धि ही है अतः जो पुरुष जितना ही अधिक बुद्धिमान होगा, उसकी तर्कशक्ति भी उतनी ही अधिक प्रबल होगी। इसप्रकार एक मनुष्य सुतर्कोंके द्वारा ही क्यों न हो, जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करेगा दूसरा उससे अधिक विद्वान् पुरुष उस सिद्धान्तको दूषित ठहरा एक दूसरे ही सिद्धान्तको स्थापित करेगा, इसप्रकार कभी कोई एक तत्त्व पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित न हो सकेगा। अतएव अतीन्द्रिय जगदीश्वरकी सत्ताके प्रतिपादनके लिये वेदान्तकी शरण लिये बिना अन्य किसी भी प्रकारसे गति

नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि वेदान्त-वाक्योंके ऊहापोहके लिये तर्ककी आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि मनु भगवान् ने मनुस्मृतिके अध्याय १२-१०६ में इसी बातका समर्थन किया है। वेद और धर्मोपदेशका विचार जो मनुष्य वेद-शास्त्रानुकूल तर्कद्वारा करता है वही धर्मको जानता है, दूसरा नहीं। तर्क भी वेदानुकूल होना चाहिये, शास्त्रकी मर्यादाका उल्लंघनकर तर्क करनेसे मनुष्य कभी भी कल्याणके पथपर आरुढ़ नहीं हो सकता। इसीलिये जगदीश्वर श्रीवसुदेव-नन्दन पार्थ-सारथी भगवान् ने गीतामें कहा है कि—

‘तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।’

अर्थात् हे अर्जुन ! तेरे लिये कर्तव्याकर्तव्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है यानी ऐहिक-पारलौकिक जीवन बिताते समय शास्त्रोंका हाँ अनुसरण कर ।

मानव-जीवनका चरम लक्ष्य है ओप्रभुके चरखोंमें अनुराग प्राप्त करना। श्रीशुकदेव मुनिने कहा है—

पतावन्तारूपयोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।

जन्मलभः परः पुंसांमन्ते नारायणस्मृतिः ॥

(भा० २ । १ । ६)

परन्तु किसी वस्तुमें अनुराग तभी होता है, जब पहले उस वस्तुका परिचय रहता है अतः सर्वप्रथम वस्तुके सत्ताका ज्ञान होना आवश्यक है। तदनुसार प्रकृत प्रसंगमें ईश्वरकी सत्ताका प्रतिपादन अपेक्षित है और वह वेदान्त-शास्त्रके द्वारा ही सम्पादित होता है, अतः यहाँ कुछ वेदान्त-वाक्योंका अवतरण दिया जाता है—‘शृणुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति ।’ अर्थात् वरुणके पुत्र शृणु अपने पिताके पास जाकर बोले कि ‘हे भगवन् ! मुझे ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा दो ।’

‘तं होवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रचलन्ममिसंविशन्ति, तद्विज्ञासस्व, तद्ब्रह्मेति ।’

शृणुऋषिको उनके पिताने उत्तर दिया—‘जिससे यह सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए प्राणी जीते हैं, जिसमें जाते हुए प्रलयको प्राप्त होते हैं, उसे विशेष रूपसे जानो, वह ब्रह्म परमात्मा है। सारांश यह है कि जो जगत्का कर्त्ता, धर्त्ता, संहर्त्ता है वही परमेश्वर है। इसप्रकार तैत्तिरीय उपनिषद्की शृंगुवल्लीका यह प्रथम अनुवाक मनोतीत जगदीश्वरकी सत्ताका प्रतिपादन करता है।

२७

छान्दोग्य उपनिषद्के सप्तम अध्यायके अन्तके चार खण्डोंमें सनत्कुमारने नारदजीको भूमा-विद्याका उपदेश दिया है। भूमा अर्थात् परमात्म-तत्त्वका प्रतिपादन करते समय श्रीसनत्कुमार कहते हैं कि, ‘जहाँपर दूसरा देखे नहीं, दूसरा श्रवणमें न आवे, दूसरेका ज्ञान न हो उसका नाम भूमा है और जो भूमा है वही अमृत है ।’ इसके विपरीत, ‘जहाँपर दूसरेका दर्शन, श्रवण, विज्ञान है, वह अल्प है, जो अल्प है वह मर्य है अर्थात् विकारी और विनश्वर है ।’ इसप्रकार यह प्रतिपादन किया गया है कि जगदाधार परमात्मा सबसे बड़ा है और उसीमें सुख है क्योंकि वह अमृतरूप है; उस जगदीश्वर परमात्मासे व्यतिरिक्त सभी पदार्थ अल्प हैं, इसलिये उनमें सुखका लेश भी नहीं है। इसीसे श्रुति कहती है—महो न महीयान् अर्थात् जगदीश्वर परमात्मा महान्मे भी महान् है, तभी तो अपने प्रियजनोंके कार्य-साधनके लिये वह सर्वदा सर्वत्र उपस्थित रहता है। यदि ऐसा न होता तो भक्तवर प्रह्लादकी रक्षाके लिये वह परम कारुणिक स्वप्न फाड़कर श्री-नृसिंहरूपसे कैसे प्रकट होता ? हमारा उपास्य परम दयालु जगदीश्वर सब स्थानोंमें सदा विद्यमान है और उसकी सत्ताका ज्ञान वेदान्तके बिना कदापि नहीं हो सकता। इसीसे किसी रसिक भगवत्प्रेमीने ठीक ही कहा है कि—‘न वेदान्ताच्छास्त्रं न मधुमयनाहं वमभिकम्’ अर्थात् वेदान्तने परे कोई शास्त्र नहीं और श्रीकृष्णसे परे कोई देव नहीं। अभय, अमृत, परम सुहृद्, जगत्पतिका अव-बोध कराकर चेतनको अभय, अमृत बनानेवाला यदि कोई है तो वेदान्त-शास्त्र ही है।

‘आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन ।’

(तैत्ति० २ । ४)

अर्थात् ब्रह्मके आनन्दका जाननेवाला किसीसे भी भयभीत नहीं होता।

‘यदा ह्येवैष पतस्मिन्नहदयऽनात्मयऽनिरुक्तेऽनिरुक्तेऽमयं प्रतिष्ठां निन्दते । अयं सोभयं गतो भवति ।’

(तै० २ । ७)

अर्थात् ‘जिस समय यह चेतन प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे अगोचर, अशरीर, प्राकृतिकरूपसे अनिर्वचनीय, अनाधार, जगदीश्वरके अन्तर्गत अभयरूप प्रतिष्ठाको प्राप्त होता है, तदनन्तर ही वह अवरहित हो जाता है ।’

‘रसो वै सः । रसं ऊन्वाऽऽनन्दी भवति ।’

(तै० २ । ७)

अर्थात् ‘यह आनन्दमय जगदीश्वर ही रसरूप रस-सिन्धु है । रसरूप परमात्माको ही प्राप्त होकर यह चेतन आनन्दवाला होता है ।’ तात्पर्य यह है कि त्रिविध तापसे व्याकुल जीव आनन्द-सिन्धु रसमय परमात्माको प्राप्तकर सांसारिक छेत्रोंसे मुक्त हो आनन्दसागरमें सदाके लिये निमग्न हो जाता है ।

तमेव विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।

अर्थात् ‘उस जगत्कारण परम पुरुषको ही जानकर उपासनाद्वारा उपासक अमृत हो जाता है । उसकी प्राप्ति-का अन्य कोई मार्ग नहीं है ।’ परमात्माको प्राप्तकर चेतन (जीव) किसप्रकार निर्भीक, आनन्द तथा अमृत हो जाता है इसको उपयुक्त वेदान्त-वाक्य मुक्तकण्ठसे गान कर रहे हैं ।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त-

मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

तमेव विदित्वा तिमृत्युमेति

नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

(इवे० ३ । ८)

अर्थात् प्रकृतिते परे सूर्यकी तरह देदीप्यमान इस महान् पुरुषको मैं जानता हूँ । उसे उपासनाद्वारा प्राप्त-कर चेतन (जीव) मुक्त हो जाता है, उसकी प्राप्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग नहीं है ।

छान्दोग्योपनिषद्के आठवें अध्यायके प्रथम खण्डमें बृहद्विद्याका निरूपण करते समय उस दहराकाश पद-वाक्य परमात्माके आठ गुणोंका प्रतिपादन किया गया है—
‘अस्मिन्काशाः समाहिता एष आत्माऽपहृतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विज्ञोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः

..... इत्यादि ।’ इस वाक्यमें ‘अपहृतपाप्मा’ से ‘अपिपासः’

पर्यन्त प्राकृत हेच गुणोंका निषेधकर ‘सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः’ इन दो पदोंसे अनेक दिव्य गुणोंका परमात्मामें विधान किया गया है । ‘सत्याः कामाः कल्याणगुणा यस्य’ ऐसा समास करनेसे सत्यकाम पद ही उस परमपिता जगदीश्वरके असंख्य गुणोंका बोधक होता है ।

इसप्रकार आनन्दकन्द परब्रह्म परमेश्वरकी सरसता, लोकविलक्षणता, आनन्दमयता, स्वरूपचमत्कृति, जगत्का-रणता, असंख्यातगुणवत्ता, दयालुता आदिका प्रतिपादन करता हुआ वेदान्त उसके स्वरूप-सत्ताका यथार्थरूपसे निदर्शन करता है ।

यहाँ ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि ब्रह्म तो निर्गुण, अरूप और अशरीर है, क्योंकि इन पदोंमें प्राकृत गुण, प्राकृत रूप और प्राकृत शरीरका ही निषेध है । अतः अनेक दिव्य गुणविशिष्ट, दिव्य विग्रहयुक्त, देदीप्यमान वर्ण उस परमात्माकी सत्ताका वेदान्तवाक्योंद्वारा निश्चय करके अन्त क्षणतक निरन्तर तैलधारावत् प्रेमपूर्वक भगवन्निन्तन और ध्यान करते हुए उस परम प्रभुके चरणोंमें प्राप्त हो जाना ही मानव-जन्मका परम लाभ है । यदि यह न हुआ तो शौनकजीका कथन ठीक ही समझना चाहिये कि—

तरवः किं न जीवन्ति मन्त्राः किं न शसन्त्युत ।

न स्नादन्ति न मंहीन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे ॥

श्वविद्वराहोऽसुरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः ।

न यत्कर्णपयोपेतो जानु नाम गदाप्रजः ॥

(भा० २ । ३ । १८, १९)

श्रीसुमित्राजी भी कहती हैं—

नरक नाँस मलि बादि बियामी । गम त्रिमुख सुतते हित हानी ॥

ईश्वर कौन हैं

कर्म करते हैं हम यद्यपि स्वतन्त्र किन्तु फल भोगनेमें सदा जिनके अधीन हैं । जिनके अलङ्घनीय नियम-नियन्त्रणोंसे चर औ अचर निज कर्ममें निलीन हैं ॥ शोककी दशामें लोक व्याकुल पुकारे जिन्हें जिनके समक्ष यक्षपनि अनि दीन हैं ॥ विद्वान्द घन जान योगीजन ध्याते जिन्हें ‘राम’ वही ईश जगदीश समीचीन हैं ॥

—रामनारायण दत्त पाण्डेय व्या० शास्त्री ‘राम’

ईश्वरकी महत्ता

(लेखक—साहित्यशास्त्री पं० श्रीजगन्नाथशर्माजी शर्मा 'कविपुष्कर' विहारद)

[पुष्कर-छन्द]

(१)

जब इस जगका नाम नहीं था, तब तेरी थी सत्ता !
तेरी इच्छा बिना न कोई, हिल सकता है पत्ता ॥
गगन-सदृश तू ही है व्यापी, सूर्य-चन्द्र-छवि-धारी !
अग्नि-समान तेज रखता है, वायु-तुल्य-गति-कारी ॥

(२)

पृथ्वीमें तू गन्ध-रूप है, जलमें रस हो राजे !
आत्मा-बीज सकल प्राणीमें, जीव-ज्योति उपराजे ॥
कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड तुझमें, पैदा हो लय होते !
देव-पितर-पाताल-स्वर्गमें, तेरे अभिनय होते ॥

(३)

ब्रह्मा-विष्णु-शम्भुकी समता, तुझसे जानी जाती !
सृष्टि-स्थिति-संहार-कारिणी-प्रभुता गुरुता पाती ॥
वेदोंके तत्त्वोंका स्वामी, अन्तर्यामी तू है !
सबसे परे सभीमें रमता, सब थलगामी तू है ॥

(४)

'नेति-नेति' कह मूक हो गई, निगमागमकी वाणी ।
'इदमित्थं' कह सके न अबामी, ऋषि-मुनि-ध्यानी-जानी ॥
अजरामर-अव्यक्त-अजन्मा-निर्विकार-प्रभु-न्यायी ।
भक्तोंका जीवन-धन प्यारा, कान्ति-शान्ति-वरदायी ॥

(५)

मनकी शक्ति जहाँतक जानी, उससे दूर-निवासी !
नाना भाँति विविध भावोंमें, तू है स्वयं विकासी ॥
नाम-रूपके भेद भरा तू, जो चाहे सो माने !
बाहर-भीतर समकर जाने, सो साधक पहचाने ॥

(६)

वही धन्य है प्रेमी तेरा, जो असत्यको त्यागे !
तुझमें लीन काम-मद तजके, हो सेवक अनुरागे ॥
उसे न धाम-धराकी चिन्ता, यम-यातना न होती !
सो पाता है अन्तकालमें, अलख मोक्षका मोती ॥

(७)

मेघोंकी पानी बरसाना, तूने भले सिखाया !
सागरकी तरङ्ग-मालाको, तूने प्रकट दिखाया ॥
तूने पर्वतकी श्रेणीमें, विचित्रता दर्साई ।
सुन्दर वनमें ओपधियोंकी, की तूने अधिकाई ॥

(८)

पशुओंके समूहमें तूने, बल-उद्यमको डाला !
तूने पक्षी लघु कीटोंको, पैदा करके पाला ॥
फल-फूलोंमें मृदुता-शोभा, तुही बनानेवाला !
निशि-बासर-ऋतुको संवतमें, निज हाथोंसे ढाला ॥

(९)

प्रकृति-पुरुष जो कुछ सो तू है, ऐ ईश्वर अविनाशी !
अभिमानि हैं तुझे न लखते, बुद्धि-भ्रष्ट दुस्वराशी ॥
जहाँ देखिये वहाँ राजती, तेरी अद्भुत माया ।
वही तुझे कुछ जान सका है, जिसपर तेरी दया ॥

(१०)

जप-तप-संयम-नियम यज्ञका, प्रिय आधार तू ही है ।
ब्रह्मचर्य-व्रत-पूजादिकमें, गुरु स्वाचार तू ही है ॥
बंथी हुई जिनकी आँखोंमें, कुटिल-सूढ़ता-पट्टी ।
वे क्या समझ सकेंगे, तुझको सोना है या मट्टी ॥

(११)

सरल शुद्ध मानस-मन्दिरमें, मूर्तिमान हो जावे ।
माता-पिता-पुत्र-बान्धवकी, समताको उपजावे ॥
शरणागतकी रक्षा करना, ऐ दयालु उपकारी !
जो हो भूल भुला दे उसको, 'कविपुष्कर' मयहारी ॥

आधुनिक अनीश्वरवाद

(लेखक—पं० श्रीकृष्ण नारायणजी गर्द)



मीश्वरवाद स्वयं कोई नयी चीज नहीं है। प्राचीन कालसे ही चला आया है। प्रत्येक देश और कालमें कुछ लोग अनीश्वरवादी रहे हैं। पर आधुनिक अनीश्वरवाद एक विशेष आकर्षणके साथ आता है और इस कारण जो अनीश्वरवाद या अनात्मवाद किसी समय भी लोकप्रिय नहीं हुआ वह इस समय कुछ लोकप्रिय-सा हो रहा है। कारण, आधुनिक अनीश्वरवाद एक ऐसे राजनीतिक और आर्थिक आदर्शके साथ आ रहा है जो सर्वसाधारणको प्रिय है। यह आदर्श है, समाज-सत्ता (कम्यूनिज्म)। अबतकके राजनीतिक और आर्थिक स्थित्यन्तरोका यह स्वाभाविक परिणाम है। पर जो कोई कम्यूनिज्मका नाम सुनता है, कम्यूनिज्मकी ओर झुकता है, मार्क्सके तत्त्वज्ञानकी बातें सुनता है, लेनिनके पराक्रमोंमें चकित होता है और फिर यह जानता है कि ईश्वर और धर्मको छोड़े बिना कोई भी मनुष्य कम्यूनिज्म नहीं हो सकता, तब वह कम्यूनिज्म होनेके शौकमें ईश्वर और धर्मके विरुद्ध बातें करनेके फँगनको भी हगिनयार कर लेता है। स्वयं रूसमें पहले ऐसे कम्यूनिज्म थे जो यह कहा करते थे कि हम जब कम्यूनिज्मकी सब बातें मानते हैं और ईश्वरको भी मानते हैं तब ईश्वरको मानने हुए भी हम कम्यूनिज्म रह सकते हैं। (कोलटनकृत एक्स वाई जेड आफ कम्यूनिज्म) पर उन्हें मार्क्सका यह सिद्धान्त पढ़ाया गया कि ईश्वर और धर्म जनताके लिये अफीमके समान हैं। लेनिनने समझाया कि संसारमें होनेवाले और सब अपराध गनीमत हैं, पर ईश्वरपर विश्वास करना अच्छा नहीं। (फुलुप मिलरकृत 'लेनिन और गान्धी') रूसकी सोवियट गवर्नमेण्टने ईश्वर और धर्मके विरुद्ध न केवल युद्धकी घोषणा की है बल्कि वह युद्धकी सब नीतियोंका अवलम्बनकर प्रत्यक्ष युद्ध ही कर रही है। ईश्वर और धर्मके विरुद्ध जितने उपाय विधिपूर्वक किये जा सकते हैं सब किये जा रहे हैं और इस कार्यक्षेत्रको 'गिलीज्म फ्रण्ट' यानी 'धार्मिक रणक्षेत्र' कहा भी जाता है। (कोलटनकृत एक्स वाई जेड) इस लेखमें हम इस धार्मिक रक्षका

विवरण नहीं देना चाहते, क्योंकि हमें यहाँ केवल अनीश्वरवाद देखना है जो कम्यूनिज्मके साथ है; यह देखना है कि रूसकी सोवियट गवर्नमेण्ट या दुनियामें जहाँ-तहाँ छिन्तरे हुए कम्यूनिस्टोंका वह तत्त्वज्ञान क्या है जिसके कारण वे यह समझते हैं कि ईश्वर नहीं है और इसलिये वे ईश्वर-विश्वासका अन्त करनेपर तुले हुए हैं। हमें यह विश्वास है कि कोई भी ज्ञान, विज्ञान या तत्त्वज्ञान ऐसा नहीं हो सकता जो ईश्वर या आत्माका न होना सिद्ध करके दिखा सके। पर हम स्वयं ज्ञानी, विज्ञानी या तत्त्वज्ञानी नहीं हैं, इसलिये अनीश्वरवादी ज्ञानी, विज्ञानी, तत्त्वज्ञानी महारमाओंकी बातें काटना हमारे लिये सम्भव नहीं है—उनकी बातें यदि कट सकती हैं तो केवल इसी कारणसे कट सकती हैं कि उनका ज्ञान कामाच्छन्न है, विज्ञान अपूर्ण है, और तत्त्वज्ञान अधूरा है।

१-कार्य-कारण-सम्बन्ध

कम्यूनिज्म यह कहने है कि संसारमें जितने पदार्थ हैं, सब कार्य-कारण-सम्बन्धमें बँधे हैं। प्रत्येक पदार्थ किसी-न-किसी कारणका कार्य है, इसमें ईश्वरका हाथ तो कहीं भी नहीं दिखायी देता। कुछ लोग कहते हैं कि जिस तरह टाहम बतानेवाली घड़ी एक स्प्रिंग मतलबमें बनायी जाती है, उसके सब पुर्जें अपने-अपने स्थानमें अपना-अपना काम करने हुए घड़ीका मतलब हासिल कराने हैं, उसी तरहमे हम विश्वकी भी रचना हैं, इसका एक विशेष उर्-इय है और यहाँ हम जितने पदार्थ देखते हैं वे सब उसी उर्-इय-को पूरा करनेके लिये हैं जैसा कि द्वारविनकी हवोक्यूशन थ्योरी (विकासवाद) में मालूम होता है। परन्तु ऐसा नहीं है—विश्वका न कोई लडय है और न उस लडयकी कोई कल्पना ही विश्व कर सकता है। विश्वको समझनेका एकमात्र उपाय कार्य-कारण-विचार है। रात हुई और फिर दिन हुआ। क्यों हुआ ? यानी किस कारणसे हुआ, यह बताया जा सकता है। कारण यही है कि पृथ्वी घूमती है, उसका जो हिस्सा सूर्यके सामने हुआ वहाँ दिन हुआ, जो हिस्सा पीछे रहा वहाँ रात हुई। कोई मनुष्य पानी पीता है। क्यों ? इस कारणसे कि उसका गळा

सूखता है। गला क्यों सूखता है? वायु या पित्तके बढ़नेसे। यही बात मनुष्य-समाजोंकी भी है। हिन्दुस्थान स्वतन्त्रताके लिये लड़ता है। क्यों? इस कारणसे कि वह पराधीनतामें है। जो पराधीनतामें होगा वह स्वतन्त्रताके लिये लड़ेगा ही। रूसमें बोलशेविक-राज्य क्यों स्थापित हुआ? इस कारणसे कि जहाँ यूरोपकी वर्तमान पूँजीपतशाही होगी वहाँ मार्क्सकी मेटिरियलिस्ट फिलासफी (जहनस्वज्ञान) फैलेगी और मजूरांका राज्य होगा। यह कार्य-कारण-सम्बन्ध है, लक्ष्य और दैव-सम्बन्ध नहीं। यह सम्बन्ध वैसा ही है जैसा कि पृथ्वीके घूमनेसे दिन और रातका होने रहना या सूर्य और पृथ्वी-के बीचमें चन्द्रके आनेसे सूर्यग्रहणका दिखायी देना। सूर्यग्रहण किम उद्देश्यसे हुआ, यह नहीं पृष्ठा जाता, बल्कि सूर्यग्रहण क्यों हुआ, यह पृष्ठा जाता है। अर्थात् कारण-कार्य-सम्बन्ध पृष्ठा जाता है। उसी तरहसे रूसमें कम्युनिस्ट-राज्य क्यों स्थापित हुआ? यह पृष्ठना ठीक है। किम उद्देश्यसे स्थापित हुआ यह पृष्ठना ठीक नहीं। इसपर स्टैमलर नासक एक विद्वानने पृष्ठा कि यदि कम्युनिस्ट-राज्य स्थापित होना सूर्यग्रहणके समान ही कार्य-कारण-सम्बन्धसे निश्चित है तो उसके लिये हतने बड़े संघटन और उद्योगकी क्या आवश्यकता है? कम्युनिस्टोंने इसका ठीक ही उत्तर दिया है कि कम्युनिस्ट-राज्यका स्थापित होनारूप कार्य निश्चित होनेपर भी उसे स्थापित करनेका उद्देश्य मनमें रखकर उसके लिये जो संघटन और उद्योग किया जाता है उसका कारण यह है कि उस कार्यका यह भी कारण है—जहाँ-जहाँ पूँजीपतशाही होगी वहाँ-वहाँ लोग कम्युनिस्ट-राज्य-पद्धति स्थापित करनेकी सोचेंगे और उसके लिये उद्योग करेंगे और कम्युनिस्ट-राज्य स्थापित होगा। इसमें उद्देश्यका जो भाग है वह एक तो मनुष्य-समाजके भीतरकी बात है (सम्पूर्ण जगत्की नहीं) तो भी कार्य-कारणके परेकी नहीं, कार्य-कारणके भीतरकी है। अर्थात् इन सब उदाहरणोंमें यही देखा जाता है कि विश्व कार्य-कारण-सम्बन्धमात्र है। इसमें न कहीं कोई उद्देश्य है, न दैव ही और इसलिये न कोई ईश्वरका हाथ ही। इस जिसे दैव यानी जिस घटनाको 'दैवात्' या 'अकस्मात्' हुई (ऐक्सिडेंट) कहते हैं, वह भी, कार्य-कारण-सम्बन्ध-के सिवा और कुछ भी नहीं है। ऐक्सिडेंट या अकस्मिक घटना इस उसीको कहते हैं जिसके कुछ कारण हमें

मालूम रहते हैं और कुछ कारण नहीं मालूम रहते। हम किसी कामसे नहीं गये, रास्तेमें एकाएक एक पुराने मित्र-की भेंट हो गयी जिसकी कोई आशा या सम्भावना नहीं थी। या हम कहीं दावत खाने गये और अकस्मात् किसीने आकर हमारे ऊपर तमंचा चला दिया। इन अनिष्ट और इष्ट दोनों प्रकारकी घटनाओंमें कोई भी यह देख सकता है कि कार्यके कारणका एक हिस्सा हमें मालूम है और दूसरा हिस्सा नहीं मालूम। इसलिये यह समझना चाहिये कि संसारमें जो कुछ है, सब कार्य-कारण-सम्बन्धसे समझा जा सकता है और इस तरहसे समझना ही वैज्ञानिक समझ है और यह समझ ईश्वरकी कोई आवश्यकता ही नहीं रखती। रह गयी बात विकासवादकी तो जो लोग विकासवादका यह अर्थ समझते हैं कि संसार और संसारकी प्रत्येक वस्तु विकसित हो रही है वे गलत समझते हैं, क्योंकि दुनियाकी सतहपर किसी जमाने-में हतने बड़े-बड़े और अत्यन्त जानवर थे जिन्हें दैत्य या दानव कह सकते हैं पर अब वे सब नष्ट हो गये हैं और बड़े-बड़े ऐश्वर्यशाली, बलशाली, सभ्य मानव-राष्ट्र बँबिलान, रोम और यूनान आदिका आज कहीं पता भी नहीं है। हजारों भरे हैं, स्त्राकमें मिले हैं तब जाकर दो-एक विकसित हुए दिखायी देते हैं। जो नष्ट हुए वे क्यों हुए (किम उद्देश्यसे नहीं, किम कारणसे) यह जाना जा सकता है और जो विकसित हुए वे किमसे कारण हुए, यह भी जाना जा सकता है, यानी कार्य-कारण-सम्बन्ध ही जाना जा सकता है। कारण, विश्वका नियमन कार्य-कारण-सम्बन्ध ही है। (एन० बुखारिनकृत हिस्टोरिकल मेटिरियलिज्म)।

कम्युनिस्टोंकी इस विचार-पद्धतिका अब किञ्चित् परीक्षण करें। पहली बात हम यह देखने हैं कि विश्वके एक सामान्य नियमके रूपसे हमें यह बताया गया कि विश्वका प्रत्येक पदार्थ कार्य-कारण-सम्बन्धसे बँधा है। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ, प्रत्येक भाव और प्रत्येक घटना किसी-न-किसी कारणाका कार्य है, किसी उद्देश्यका फल नहीं। यह अलग-अलग प्रत्येक पदार्थकी बात हुई, पर सम्पूर्ण विश्वका कारण क्या है यह नहीं मालूम हुआ। कम्युनिस्टोंकी मेटिरियलिस्ट फिलासफीमें शायद इसका कोई उत्तर नहीं है। इसका मतलब यह है कि यदि कोई इस विश्वके मूल कारणको ढूँढनेके लिये चले तो इस जड़ तत्त्वज्ञानमें उसे जड़ पत्थरकी दीवारोंसे ही टकराना पड़ेगा।

दूसरी बात यह है कि प्रत्येक पदार्थके मूलमें कारणका अनुसन्धान करनेवाला जड़ तत्त्वज्ञान असंख्य पदार्थोंके असंख्य कारणोंको बटोरनेके लिये कहता है, सम्पूर्णके मूलका कोई एक कारण ऐसा नहीं बतलाता जिससे असंख्य पदार्थोंके असंख्य कारणोंको असंख्य कालतक ढूँढ़नेका श्रम न करना पड़े और एक मूलकारणके मालूम होते ही असंख्य कारण आप ही मालूम हो जायँ। मेटिरियलिस्ट फिलासफीमें इसका कोई समाधान नहीं है। इसका यह मतलब नहीं है कि मेटिरियलिस्ट फिलासफी कोई चीज नहीं। हम यह कह सकते हैं कि वह बड़ी उपयोगी वस्तु हो सकती है, पर अपने ही क्षेत्रके अन्दर, उस क्षेत्रके बाहर नहीं। कारण, प्रत्येक क्षेत्रका नियम उसी क्षेत्रके लिये उपयोगी हो सकता है, उसके बाहर नहीं। विश्वके मूलका विचार करते हुए बेट्टेंडर रमेलने अपने 'सायंटिफिक आउट लुक' ग्रन्थमें यह लिखा है कि 'हम नहीं समझते कि यदि हम यह मान लें कि विश्व 'अपने आप' आरम्भ हुआ तो हममें कोई हर्ज है, सिवा इसके कि यह बात कुछ भी-सी मालूम पड़ती है।' पर वैज्ञानिक अनुसन्धानमें अच्छे-भड़ेका कोई मवाल नहीं उठता, मवाल सामने रहना है ठीक-बे-ठीक, सही-गलतका। यदि यह सही है कि विश्व 'अपने आप' आरम्भ हुआ तो बेट्टेंडर रमेलके वैज्ञानिक द्विभागको यह जानना चाहिये कि 'अपने आप होना' भी एक पदार्थ है जो सब पदार्थोंका मूलकारण है। यह 'अपने आप' होना क्या है? किसी नियमका—कार्य-कारण-सम्बन्धका न होना है अर्थात् कार्य-कारण-सम्बन्धके परे भी कोई चीज है जहाँ कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं है। पर मेटिरियलिस्ट फिलासफी इसे मंजूर न करेगी, क्योंकि 'अपने आप' होना स्वीकार करनेसे कार्य-कारण-सम्बन्धके परे कोई प्रच्छन्न शक्ति माननी पड़ती है और ऐसा मानने-से अनीश्वरवादकी जड़ ही कट जाती है। अन्तु। दूसरी बात यह है कि कम्यूनिस्टोंके जड़ तत्त्वज्ञानमें कार्य-कारण-सम्बन्धका जो विचार है वह मूलकारण तो बतलाता ही नहीं पर मनुष्य-समाजकी गतिको देखते हुए भी अपूर्ण मालूम होता है। यह बिल्कुल सही है कि मनुष्यकी इच्छा स्वतन्त्र नहीं है (प्री विल नहीं है) पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि मनुष्य कोई भी काम करनेके पूर्व इच्छा करता है, पहले इच्छा किये बिना वह कोई कार्य कर ही नहीं सकता, यह प्रत्येक मनुष्यके अनुभवकी बात है।

इसपर कम्यूनिस्टोंका यही तो कहना है कि इच्छाएँ या उद्देश्य भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें जो भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं उनसे यही मालूम होता है कि इच्छा या उद्देश्य स्वतन्त्र नहीं बल्कि जड़ यानी पार्थिव (मेटिरियल) अवस्थाके अधीन है। पर कम्यूनिस्ट फिलासफर इस बातको मानेंगे कि प्रत्येक जड़-अवस्था किसी-न-किसी कारणका परिणाम है, किसी-न-किसी कारणका कार्य है अर्थात् कर्म है। और प्रत्येक मनुष्यका अपने प्रत्यक्ष अनुभवके सम्बन्धमें यही तथान है कि इच्छाके बिना कोई भी कर्म नहीं होता। अर्थात् प्रत्येक अवस्था किसी-न-किसी इच्छाने ही उत्पन्न होता है। इसलिये विश्वका प्रत्येक पदार्थ किसी-न-किसी इच्छाका ही परिणाम है। अतएव कम्यूनिस्टोंका यह कहना गलत है कि सृष्टिमें केवल कार्य-कारण-सम्बन्ध है—इच्छा या उद्देश्य कुछ भी नहीं।

२—पहले जड़ या पहले चैतन्य ?

इसपर कम्यूनिस्ट यह कहते हैं कि यदि हम यह मान लें कि प्रत्येक कार्यका मूल कोई-न-कोई इच्छा है और इसलिये इस सृष्टिके मूलमें भी इच्छा है तो हमें ईश्वर मानना पड़ेगा, क्योंकि जब इच्छा है, तब उस इच्छाका करनेवाला कोई-न-कोई चाहिये ही। पर ऐसा सोचना बिल्कुल बे-बुनियाद है। कारण, संसारमें हम क्या देखते हैं? पृथ्वीके कोई इच्छा नहीं होती, सूर्यका कोई उद्देश्य नहीं है, न आकाश-गंगा या तारका-पुञ्ज अपने सामने कोई उद्देश्य रखते हैं या किसी बातकी इच्छा करते हैं। मनुष्योंमें हम जो इच्छा देखते हैं वह बाहर जो विषय वह देखता है तथा उसके जो इन्द्रियाँ हैं उनके कारणसे उत्पन्न होती हैं। अब सवाल यह पैदा होता है कि मनुष्यका मन पहलेसे है या शरीर पहलेसे है। पहले क्या है—मन और मनकी इच्छाएँ, बुद्धि और उसके विचार, चित्त और उसके भाव या यह जड़ जगत्? हम जानते हैं कि मनुष्य प्रकृतिका एक अंश है। हम निश्चित-रूपसे इस बातको नहीं जानते कि पृथ्वीको छोड़ अन्य ग्रहोपग्रहोंमें मनुष्योंमें भी अधिक विकासप्राप्त प्राणी हैं या नहीं, यद्यपि यह सम्भव है कि हों; कारण ये ग्रहोपग्रह असंख्य हैं। पर यह हमें निश्चितरूपसे मालूम है कि मनुष्य इसी दुनियाका प्राणी है और वह प्रकृतिमें ही उत्पन्न हुआ है और प्रकृतिका ही अंश है। विश्वके इस विराटरूपमें मनुष्यका मन तो एक बहुत ही छोटी-सी

चीज है। दूसरी बात यह है कि मनुष्य अन्य पशुओंसे उत्पन्न हुआ है और ये पशु भी इस विश्वमें बहुत थोड़े कालसे हैं। जब यह विश्व भी सूर्यके समान आगका गोला ही था, ठण्डा होकर इस रूपको नहीं प्राप्त हुआ था तब मन या बुद्धिवाले प्राणी कहाँ थे? ये प्राणी तो उत्पन्न हुए हैं बहुत पीछे। निरीन्द्रिय जब प्रकृतिसे सेन्द्रिय-प्रकृति उत्पन्न हुई और सेन्द्रिय-प्रकृतिने एक ऐसा रूप खड़ा किया जो सोचनेमें समर्थ हुआ अर्थात् मनुष्य उत्पन्न किया। पहले अचेतन जब प्रकृति थी जिसमेंसे यह सोचनेवाली प्रकृति उत्पन्न हुई। इसलिये जब प्रकृति ही मन-बुद्धिवादि अन्तःकरणकी जननी है, अन्तःकरण जब प्रकृतिकी जननी नहीं। अर्थात् यह जो कहा जाता है कि प्रत्येक पार्थिव अवस्था किसी-न-किसी इच्छा या उद्देश्यका परिणाम है, यह हो ही नहीं सकता; क्योंकि पार्थिव अवस्था पहलेमे है, इच्छा करनेवाला मन पीछेमे उत्पन्न हुआ है। इसलिये विश्वके मूलमें कोई लक्ष्य, उद्देश्य या इच्छा नहीं हो सकती—कार्य-कारण-सम्बन्धके सिवा हममें और कोई हेतु नहीं है। जब अवस्था पहले है, उसमेंमे इन्द्रियोंवाले पदार्थ निकले हैं और इन इन्द्रियोंवाले पदार्थोंमेंमे—कार्य-कारण-सम्बन्धसे ही विशेष अवस्थाओंमें—मन और बुद्धिवाले प्राणी निकले हैं और इन बुद्धिवाले प्राणियोंने अपनी जड़तन्त्र बुद्धियोंमेंसे, भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके भाव, विचार, ईश्वरकी कल्पनाएँ, नाना प्रकारके तत्त्वज्ञान और धर्म-विचार निकाले हैं। यथार्थमें मूल-प्रकृतिमें नियम या नियन्ता किसी भी रूपमें नहीं है। इसलिये न कहीं कोई ईश्वर है न कोई धर्म। (हिस्टारिकल मेटिरियालिज्म)

ऊपर हम यह देख चुके हैं कि यह जब तत्त्वज्ञान विश्वका मूल-कारण बतलानेमें असमर्थ है, कार्य-कारण-सम्बन्धके परे क्या है इसका अनुसन्धान भी वह नहीं करता और मनुष्यमात्रके अनुभवको जब जगत्का जड़-रूप दिखाकर जडीभूत करनेका प्रयास करता है। पहले यह विश्व अभिमत था, पीछे ठण्डा होनेपर वह इस रूपको प्राप्त हुआ, धीरे-धीरे धरतीमें जातुएँ उत्पन्न हुईं, वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं, जलचर, थलचर, नभचर, कीट, पक्षी और पशु उत्पन्न हुए और अन्तमें मनुष्य हुआ। इसलिये जबतक मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ था तबतक बुद्धि नहीं थी और जबतक मनबाड़े कीट, पक्षी और पशु नहीं उत्पन्न हुए थे

तबतक मन भी नहीं था, क्योंकि मेटिरियलिस्ट फिलासफीमें मन या बुद्धिकी तबतक कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती जबतक उसके लिये शरीरके मस्तकमें घर न बना हो। पहले गृह, तब गृही, यही सिद्धान्त मालूम होता है। अथवा दूसरा दृष्टान्त है इजिनका, और कोई भी मेटिरियलिस्ट फिलासफीके इस सिद्धान्तके अनुसार यह कह सकता है कि जबतक रेलका इजिन नहीं बना था तबतक इस विश्वमें वाष्पशक्ति नहीं थी क्योंकि मेटिरियलिस्ट यह पूछ सकते हैं कि जब यह सारा विश्व विज्ञानके विषयमें अन्धकारमें था, कहीं कोई यन्त्र या इजिन नहीं था तब वाष्पशक्ति कहाँ थी? जैसे जब इस विश्वमें मनुष्य नहीं था तब मनुष्यका मन कहाँ था? वाष्पशक्ति पहले-पहल उत्पन्न हुई इजिनमें। जैसे बुद्धि इस विश्वमें पहले-पहल मनुष्यके मस्तकमें उत्पन्न हुई। पर हम दलीलको जरा और गहराईके साथ देखें। मनुष्य जबतक उत्पन्न नहीं हुआ था तबतक यदि बुद्धि नहीं थी तो हम यह पूछने हैं कि वह मनुष्यमें कहाँसे आयी? जैसे कोई यह पूछ सकता है कि इजिन जब नहीं था तब यदि वाष्पशक्ति नहीं थी तो इजिनमें वह कहाँसे आयी? कम्प्यूनिस्टर फिलासफर यह कहने हैं कि यह बुद्धि बाहरके विषयों और अन्दरके इन्द्रियोंसे उत्पन्न होती है अर्थात् प्रकृतिसे उत्पन्न होती है, क्योंकि बाहरके विषय प्रकृति हैं, अन्दरकी इन्द्रियाँ भी प्रकृति हैं, इन इन्द्रियोंको उत्पन्न किया है प्रकृतिने ही। बुद्धि जब प्रकृतिमें ही मनुष्यको मिलती है तब इसका यह मतलब हुआ कि यह बुद्धि जब प्रकृतिमें रहती है और वहाँसे मनुष्यको मिलती है। जैसे इजिनको आग और पानीमे वाष्पशक्ति मिलती है। जब इजिन नहीं था तब भी यह वाष्पशक्ति थी, चाहे सबको, विशेषकर पकाकर अन्न न खानेवालोंको न मालूम रही हो; वैसे ही जब मनुष्य नहीं था तब भी यह बुद्धि-शक्ति थी, मनकी संकल्प-शक्ति थी चाहे अब भी सबको अनुभवसे यह बात प्रत्यक्ष न हुई हो। कारण, प्रकृतिमें यदि बुद्धि न हो—उस प्रकृतिमें जो जड़वादियोंको आरम्भमें आगका एक बड़ा भारी गोला-सा नजर आती है। यदि बुद्धि न हो तो वह मनुष्यमें आती कहाँसे है? जो चीज है ही नहीं उसमेंसे कोई चीज कैसे निकल सकती है? अभावसे भाव कैसे निकल सकता है? अचेतनसे चैतन्य कैसे उत्पन्न हो सकता है? गीताने क्या त्वय कहा है कि जो नहीं है वह है, ऐसा नहीं हो सकता, जो है वह नहीं है, ऐसा भी नहीं

हो सकता । तिलसे तेल निकल सकता है, बालूसे नहीं । कारण, तिलमें तेल है, बालूमें नहीं । जो चीज जिसमें नहीं है वह उसमेंसे नहीं निकल सकती, यह सिद्धान्त है । इसलिये कम्प्यूनिस्टोंकी मेटिरियलिस्ट फिलासफीका यह सिद्धान्त गलत है कि इच्छा, संकल्प, बुद्धि या विचार, उद्देश्य या लक्ष्य विश्वमें या प्रकृतिमें एक नयी चीज है जो पहले नहीं थी । जो बात हम पहले केवल मनुष्योंके सम्बन्धमें कह आये कि मनुष्यका कोई भी कर्म इच्छापूर्वक ही होता है यानी पहले इच्छा होती है, पीछे कर्म होता है, वही बात अब हम समग्र विश्वके विषयमें कहते हैं । इच्छाके बिना केवल मनुष्यका ही नहीं, किसी जड़-पदार्थका भी कोई कर्म नहीं होता । कार्य-कारण-सम्बन्धके नियमका बास्ता इस इच्छापूर्वक और इच्छामूलक कर्मके साथ वृक्ष-बीज-न्यायसे अवश्य ही है । वृक्षका ही बीज होता है और बीजका ही वृक्ष होता है, वैसे ही अवस्थासे अवस्था-नुसार इच्छा होती है और इच्छाके अनुसार अवस्था होती है । यह शुद्ध कार्य-कारण-सम्बन्ध है, पर वह इतना ही है, यही उसकी हद है । इस क्षेत्रके बाहर दूसरा नियम है । सृष्टिकी उस अवस्थामें जब वह भूमिका विराट् आवर्त उभरा हो चुका था, जलके बाद पृथ्वी प्रकट हो चुकी थी, पर वातु उल्लिङ्गादिकी उत्पत्ति नहीं हुई थी अर्थात् वृक्षादि नहीं थे तब वृक्ष-बीज-न्याय नहीं था, क्योंकि वृक्ष ही नहीं थे । तब ये वृक्ष कहाँसे उत्पन्न हुए ? अर्थात् वृक्ष नहीं थे पर उनके बीज थे । उसी प्रकार यह विराट् विश्व था पर मनुष्य नहीं था—यानी मानवी बुद्धि नहीं थी तब मनुष्यमें बुद्धिका जो विशाल वटवृक्ष दिखार्थी देता है वह सामने दिखायी न देनेपर भी बुद्धि-बीजमें समाया हुआ था और इसी न्यायसे यह मानना पड़ेगा कि यह बुद्धि बीजरूपमें विश्वके मूलमें थी । इसलिये विचार विश्वके मूलमें था, संकल्प विश्वके मूलमें था, लक्ष्य विश्वके मूलमें था, और उस लक्ष्यकी ओर जानेकी गति भी विश्वके मूलमें थी । मनुष्यमें जो बुद्धि हम देखते हैं वह बुद्धि पशु-पक्षियोंमें और वनस्पतियोंमें तथा प्रातुओंमें भी किसी-न-किसी रूपमें है, यह वैज्ञानिकोंने देखा है । पत्थरमें, मिट्टीमें, जड़में, आगमें, हवामें सभी देखना चाकी है । इस खोजमें असंख्य वर्ष लगा सकते हैं, पर अनुमानसे आज भी यह सिद्ध है कि विश्वके मूलमें बुद्धि है जो बुद्धिपूर्वक ही

आगसे मनुष्यके मस्तकतक क्रमसे विकासको प्राप्त हो रही है यानी प्रकट हो रही है ।

कम्प्यूनिस्ट-फिलासफ़रोंका यह कहना एक हदतक ठीक है कि मनुष्यकी इच्छा स्वतन्त्र नहीं है । वे उसे जड़तन्त्र बतलाते हैं । पर वह केवल जड़तन्त्र ही नहीं है । कारण, यह हम देख चुके हैं कि जड़-जगत्का जो महायन्त्र है इसके मूलमें स्वतन्त्र संकल्प है और इसलिये किसी भी इच्छामें जड़तन्त्रकी परतन्त्र जड़ता भी है और मूल स्वतन्त्र संकल्पकी स्वतन्त्रता भी है । इसी स्वतन्त्र मूल-संकल्प-अनुसार होनेवाले सृष्टि-कर्मको हमलोग दैव कहते हैं जो कार्य-कारण-सम्बन्धसे रहित नहीं है पर वह इतनी छोटी चीज भी नहीं है कि ऐक्सिडेंटकी इस व्याख्यासे वह कट जाय कि कुछ ज्ञात और कुछ अज्ञात कारणोंके मेलकी घटनाको ऐक्सिडेंट कहते हैं । मनुष्यको जबतक मूल-संकल्पका ज्ञान नहीं होना अर्थात् उस मूल-संकल्पकी स्वतन्त्रता नहीं प्राप्त होती तबतक उसके जीवनमें ऐसे ऐक्सिडेंट होने हों रहेंगे, जिनके कुछ कारण उसके लिये अज्ञात ही रहेंगे ।

२-विकासक्रम और संकल्प

मेटिरियलिस्ट फिलासफीकी अब केवल एक बात रह गयी । सृष्टिके विकासक्रममें कुछ खांजा जो यह अनुमान करते हैं कि विश्व उत्तरोत्तर उन्नत होता जा रहा है और इसमें विश्वासका कोई विशेष संकल्प है, उसे पूर्वपक्षमें यह कहकर काटा गया है कि बहुतांका नाश हुआ तब कुछकी उन्नति हुई । पर उन्नति हुई यह बात स्वीकार की जाती है, साथ ही इतना और कहा जाता है कि अवनति भी हुई है । पर उन्नतिका यदि यही क्रम हो तो इसको कोई क्या करे ? यह उत्थान-पतनका चक्र है जो मेटिरियलिस्ट फिलासफीके कार्य-कारण-सम्बन्धसे रहित नहीं पर यह कार्य-कारण-सम्बन्ध निर्गुण भी नहीं । यह शक्त असंख्य बार घूमा है और असंख्य बार घूमेगा । हम-आप रोज सोते हैं और रोज जागते हैं । थकावटमें मनुष्य सो जाता है, थकावट दूर कर फिर जाग उठता है और पहले दिन जो उद्योग किया था उसी उद्योगको दूसरे दिन और आगे बढ़ाता है, जीवनमर उसका यही क्रम चलता है । इस क्रममें वह अपने कर्मके किसी अंगको छोड़ देता है, किसी अंगको आगे बढ़ाता है, किसी अंगमें कौट-कौट करता है,

किसी अंगकी पुष्टि करता है। विकास केवल विकास नहीं है—आगे बढ़ना ही नहीं है, पीछे हटना भी है और फिर आगे बढ़ना है। मेटरियलिस्ट फिलासफीमें भी सृष्टिका यही क्रम माना गया है और इसके नाम हैं, इकिलिब्रियम (स्वस्थावस्था), डिस्टर्बेन्स (विरोध) और रि-एस्टेब्लिश-मेण्ट। यह क्रम सब जीवोंमें और सब प्रकारके जीवनोंमें है और जन्म, मृत्यु और पुनर्जन्मका भी यही सिद्धान्त है। इसलिये सृष्टिके इस क्रम-विकासमें कोई लक्ष्य नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। वह हमें मालूम नहीं है, यह अवश्य कहा जा सकता है जैसा बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंने कहा भी है। विज्ञानका यह क्षेत्र भी नहीं है और इसलिये विज्ञानके भरोसे किसीको यह नहीं कहना चाहिये कि विश्वके मूलमें कोई संकल्प नहीं है।

हम यह समझते हैं कि यहाँतक जो चर्चा हुई उसमें अच्छी तरह यह प्रकट हो गया होगा कि कम्युनिस्टोंके जब तत्त्वज्ञानमें यह नहीं मिल्ता होता कि सृष्टिके मूलमें कोई संकल्प नहीं है और विज्ञानमें ही यह अनुमान होता है कि सृष्टिके मूलमें कोई संकल्प है जिस संकल्पके अधीन ही विश्वकी सारी वस्तुएँ हैं। कम्युनिस्टोंका अनीश्वरवाद और उस अनीश्वरवादका खण्डन भी उस मूल-संकल्पके बाहर नहीं हो सकता। रूसमें अनीश्वर-वादकी सख्ती हो रही है, सम्भव है कि ईश्वरवादकी मान्यताकी और भी अच्छी तरहसे प्रकट करानेके लिये ऐसा हो रहा हो। यह भी सम्भव है कि ईश्वर और धर्मके नामकी आड़में जो पाप होते हैं उनका नाश इसका हेतु हो। यह भी सम्भव है कि जिन्हें ईश्वर या आत्माके अस्तित्वमें सन्देह है उनका सन्देह दूर कराने-का यह एक साधन हो, क्योंकि जब ऐसा सन्देह होता है तब यह कहा गया है कि पूर्ण जड़वादी बनकर ही देखना चाहिये कि आत्मा कहाँ है या नहीं। परन्तु यह सब अपनी-अपनी अनोछीनिपर निर्भर करता है, हम इसमें अधिक और कुछ भी नहीं कह सकते कि इस जड़वाद और इसके विरुद्ध आत्मवादके संघर्षसे कोई-न-कोई विकास-क्रमका सहायक उपकरण निर्माण होनेवाला होगा। और इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि वैज्ञानिक पद्धतिसे विचार करके समाज-शास्त्रके विषयमें जो सिद्धान्त निकाले गये हैं वे समाज-शास्त्रकी दृष्टिसे बहुत उपयोगी हो सकते हैं। परन्तु समाज-शास्त्रके

इस अथवा और किसी भी पहलूको जाननेके लिये अनीश्वरवाद ग्रहण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यही नहीं कम्युनिस्ट फिलासफीका अनीश्वरवाद किसी भी 'नान्यवृत्तीति' वादके समान शुद्ध शास्त्रीय दृष्टिके लिये अत्यन्त घातक है।

कम्युनिस्टोंके अनीश्वरवादकी दृष्टालोंका इसप्रकार परीक्षण करनेके पश्चात् यह समझना बड़ा ही कठिन होता है कि इन विद्वानोंने सत्यका खोज करके यह अनीश्वरवाद पाया या किसी मतलबमें अनीश्वरवादको साधित करनेके लिये इनकी खोज की। मार्क्स और एंगेल्स बहुत बड़े विचारवान् विद्वान् थे जो कम्युनिस्ट फिलासफीके आचार्य हैं। मार्क्सके गुरु हेगल बहुत बड़े तत्त्वज्ञानी थे। पर उनके तत्त्वज्ञानमें ईश्वर प्रकट होता था। तत्त्वज्ञान मार्क्सने उन्होंने सीखा पर मार्क्सने स्वयं कहा है कि हेगलके तत्त्वज्ञानको मैंने उलट दिया है, वह तत्त्वज्ञान सिरके बल चलता था, मैंने उस तत्त्वज्ञान-को उलटकर पैरोंके बल खड़ा किया है (हिस्टोरिकल मेटरियलिज्म)। लेनिन भी बहुत बड़े विद्वान् थे, उन्होंने यूरोपके प्राचीन दर्शनोंका भी अध्ययन किया था। परन्तु कहते हैं कि उन्होंने यह अध्ययन ईश्वरके विरुद्ध दलोंके संग्रह करनेके लिये किया था (फुलुप मिल्कर), निरर्थक सत्यके लिये नहीं। मार्क्सकी मेटरियलिस्ट फिलासफीके भाष्यकार एन बुखारिन भी बहुत बड़े विद्वान् हैं। परन्तु इन सब विद्वानोंका यह विचार है कि कोई भी ज्ञान समाजकी किसी-न-किसी आवश्यकताकी पूर्तिके लिये होता है अर्थात् किसी कामनामें होता है और जो ज्ञान प्राप्त होता है वह उस समाजकी अवस्थामें बँधा रहता है (हिस्टोरिकल मेटरियलिज्म)। इसी सिद्धान्तके अनुसार हम विचार करें तो उसमें यह परिणाम निकलेगा कि जिस परिस्थितिमें कम्युनिस्टोंने कम्युनिस्ट राज्य स्थापित किया उस परिस्थितिमें अनीश्वरवादकी आवश्यकता थी—'उर्ध्व-मूल अधःशास्त्रं अधस्तं' को 'अधश्च मूलानि अनुसन्ततानि' के उपसिद्धान्तोंके सहारे 'अधोमूलं उर्ध्वशास्त्रं' माननेकी आवश्यकता थी, इसी आवश्यकतासे अनीश्वरवाद उत्पन्न हुआ और यह अनीश्वरवाद कम्युनिस्टोंकी वर्तमान अवस्था-से ही बँधा हुआ है। मेटरियलिस्ट फिलासफीका यह भी सिद्धान्त है और वह ठीक भी है कि सब अवस्थाएँ बदला करती हैं। इसलिये इसी सिद्धान्तके अनुसार कम्यु-

निस्तीकी यह अवस्था बदल जायगी तब उसके साथ समाजकी आवश्यकता भी बदलेगी और तब यह अनीश्वरवाद भी बदल जायगा। यह बात इसी जड़ तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंसे ही सिद्ध है। कम्युनिस्टोंकी वह कौन-सी आवश्यकता थी जिसके कारण अनीश्वरवाद उत्पन्न हुआ, इसके बारेमें हम कुछ भी नहीं कह सकते। पर लोग कहते हैं कि समाज-सत्ताको अत्यन्त बढ़ करनेके लिये यह आवश्यक हुआ कि समाजके सब व्यक्ति समाज-सत्ताको ही सर्वोपरि मान लें (वर्नाड की कृत 'लेनिन') और 'सर्व-धर्मोपनिषय' एक समाजकी ही शरण लें। ऐसी शरण लें कि व्यक्ति केवल समाजका एक यन्त्र बन जाय। उसकी बुद्धि, उसका मन, उसका हृदय, उसके प्राण समाजके हो जायँ और समाज उनके द्वारा अपना कर्म करे। पर यह देखा गया कि मनुष्योंके हृदयोंमें न जाने कहाँसे आकर ईश्वर बैठा हुआ है और जितना स्थान इस ईश्वरने घेर रक्खा है उतना स्थान समाजके अधिकारके बाहर है और यह हृदय ही एक ऐसी चीज है जो मनुष्यमें सबसे अनमोल चीज है जिसपर ईश्वरका अधिकार होनेसे समाजका कोई अधिकार नहीं। असली चीज तो हृदय ही है। हृदय दिया तो सब कुछ दिया। व्यक्तिका यह हृदय समाजको तभी मिल सकता है जब उसमेंसे ईश्वर निकल जाय। कम्युनिस्ट फिलासफीके अनीश्वरवादका शायद यही कारण हो; क्योंकि लेनिनने कहा है कि व्यक्तियोंका व्यक्तित्व ही ईश्वरके पनाह पानेकी आखिरी जगह है, इसलिये व्यक्तित्व मिटाना होगा। (वर्नाड की कृत 'लेनिन') यदि इस अनीश्वरवादका यही कारण हो तो यह इस फिलासफीके 'आवश्यकतानुसार कामनायुक्त ज्ञान' के सिद्धान्तके सर्वथा अनुकूल हो है पर जैसा कि हमने ऊपर कहा, यह अवस्थानुसार बदलनेवाला ज्ञान सदा ही अस्थिर रहता है, क्योंकि बदलता रहता है। इसलिये अनीश्वरवाद एक बदलनेवाली चीज है। चाहे यह उत्क्रान्ति (विकास-क्रम) से बदले या क्रान्तिये बदले, क्योंकि परिवर्तन दोनों प्रकारसे होता है। जब हम यह दिखा चुके कि 'ईश्वर नहीं है' यह बात मेटिरियलिस्ट फिलासफीसे नहीं साबित होती और इस फिलासफीका अनीश्वरवाद चाहे जब बदल सकता है और यही फिलासफी आगे बढ़कर यह कह सकती है कि ईश्वर है, तब इतना ही कहना अब बाकी रह जाता है कि किसी भी बुद्धिमान् मनुष्यको ऐसे अस्थिर ज्ञानका आश्रय न करना चाहिये।

आधुनिक अनीश्वरवादके पक्षमें और कुछ छोटी-मोटी दलीलें हो सकती हैं, जैसे—(१) यदि ईश्वर है तो संसारमें इतना दुःख क्यों है? (२) ईश्वर और धर्मके नामपर बड़े अत्याचार हुए और अब भी हो रहे हैं? (३) ईश्वरकी कल्पना भयसे निकली है और भयसे जो बात मानी गयी वह सच नहीं हो सकती जैसा कि बेट्टेंडरसेलने कहा है। इनका समाधान बहुत संक्षेपमें किया जा सकता है।

(१) संसारमें इतना दुःख क्यों है? इसका उत्तर यही हो सकता है कि जो लोग सुखका रास्ता भूलते हैं वे दुःख पाते हैं। अर्थात् दुःखका कारण अज्ञान है। 'अज्ञान है' का अर्थ यह है कि कोई ज्ञान है जिसको संसार प्राप्त करना चाहता है। दुःख यथार्थमें ईश्वरको प्राप्त करनेकी बेचैनी है। दुःख है इससे ईश्वर नहीं है यह नहीं साबित होता। दुःख क्या है यह जानना चाहिये। (२) ईश्वर और धर्मके नामपर बड़े-बड़े अत्याचार हुए हैं, इसमें भी यह तो नहीं साबित होता कि ईश्वर और धर्मके कारण अत्याचार हुए। सत्यके नामपर यदि कोई मूठ बोले तो इससे यह कोई नहीं कहता कि सच ही मूठ है। 'नामपर' पदसे ही यह सूचित होता है कि ईश्वर और धर्म अत्याचारसे कोई निष्पत्ति नहीं हैं। आधुनिक विज्ञानका दुरुपयोग करके सभ्यताके नामपर बड़े-बड़े राष्ट्र एक दूसरेकी छ़ातीपर चढ़ बैठे, इसमें न तो आधुनिक विज्ञान बुरा हुआ, न सभ्यता ही कोई बुरी चीज हुई। अत्याचार कोई दूसरी ही चीज है, उसका ईश्वर, धर्म या विज्ञानसे कोई सम्बन्ध नहीं है। (३) ईश्वरकी कल्पना भयसे निकली है इसलिये वह सच नहीं। जैसे कोई कह सकता है कि भयसे दिव्याग्नी देनेवाला भूत सच्चा नहीं होता। अज्ञानमें मनुष्य ईश्वरकी जो कल्पना करता है वह भयसे भी कर सकता है, दुःखसे भी कर सकता है और अज्ञानसे भी कर सकता है। पर भयसे ईश्वरकी कल्पना करना एक बात है और भूतकी कल्पना करना दूसरी बात है। पहली बात भयसे ऊपर उठनेकी है और दूसरी भयसे नीचे गिरनेकी। भय होता है या क्या होता है? भय इस बातका ज्ञान है कि हम दुर्बल हैं और कोई ताकत ऐसी है जो हमें खा जायगी। भूत दिव्याग्नी देता है यानी क्या होता है? यह निश्चय होता है कि यह ताकत हमें खा जायगी और वह ताकत उसे खा जा सकती है। ईश्वरकी कल्पना होती है यानी क्या होता है? आत्म-

विश्वास होता है और मुकाबलेकी ताकत हट जाती है—
आत्मशक्ति जाग उठती है और कहती है कि सब शक्तियों—
से श्रेष्ठ शक्ति (ईश्वर) मैं हूँ । अतः जो ताकत
ऊपर उठाती है वही असली ताकत है, वही शक्तियोंमें
श्रेष्ठ शक्ति है । अतः इस बातका बोध है कि एक निर्भय
स्थान भी है । दुःख इस बातका बोध है कि एक अखण्ड
सुखका स्थान भी है । अज्ञानका दंश इस बातका बोध
है कि एक परम ज्ञानका स्थान भी है । संसारके सारे
विचार और उद्योग उसीके लिये हैं । अनोखरवादी कहते
हैं कि हम ऐसी निर्भयता, ऐसे अखण्ड सुख और परम
ज्ञानको प्राप्त करेंगे पर वह आज मौजूद नहीं है । ईश्वर-

वादी कहते हैं कि वह आज भी मौजूद है । तुम उसे
विकासके उत्थान-पतन-चक्रके चक्रमें पड़कर वैवश्यात्
प्राप्त करोगे और ईश्वरवादी कहते हैं कि हम उसे क्रान्ति
(Revolution) के द्वारा अभी प्राप्त करेंगे ।

जिन ईश्वर-भक्तोंने ईश्वरकी प्राप्त कर लिया है वे इस
ईश्वरवादके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । वह तत्त्वज्ञान वे ही बतला
सकते हैं । उसके लिये उन्हेंकि पाम जाना चाहिये ।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं शमिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

(गीता)

ईश्वर कहाँ है, कैसा है और कैसे मिल सकता है ?

(लेखक—श्रीदिगम्बरदासजी कामत)



बल के सुप्रसिद्ध सगुण श्रीसिद्धारूढ़
स्वामीका नाम जगत्-प्रसिद्ध है ।
कनाटकमें इनको लोग श्रीजानेश्वर
महाराजके अवतारके रूपमें मानते थे ।
इनमें श्रीएकनाथजीके समान अपूर्व
शान्ति, श्रीरामदासजीके समान नैष्ठिक
ब्रह्मचर्य तथा श्रीजानेश्वरजीके समान
पूर्ण और गम्भीर ज्ञान था । इनकी प्रबोध-शक्ति भी अति
उत्कृष्ट थी । इनके पास राजे-महाराजे और बड़े-बड़े पण्डित
आते और चरणोंमें स्नादर मिर नचाते थे । बद्ध, सुमुख
तथा सिद्ध-कोटिके महाराम सभी आपके दर्शनमें समान
आनन्द प्राप्त करते थे ।

वेदान्त-सम्बन्धी कोई कैसा ही प्रश्न क्यों न करे वह
अनायास ही उसकी समझमें आनेयोग्य सरल भाषामें
उत्तर देकर उसका समाधान किया करते थे । शंका-समाधान
करनेकी उनकी शैली बड़ी ही अपूर्व थी ।

एक समय विष्णु नामक एक बारह वर्षका लड़का
सिद्धारूढ़ स्वामीजीकी कीर्ति सुनकर मेरे साथ उनके दर्शनके
जिये हुबली आया । बचपनमें ही इस लड़केको ईश्वरमें
जिज्ञासा थी । गाँवमें प्रतिदिन हरिदास पौराणिकके कीर्तन
तथा पुराणोंको सुनना और कथा समास होनेपर कुछ-न-कुछ
प्रश्न करना इसका स्वभाव-सा हो गया था । छोटी उम्रमें ही

इसकी ऐसी जिज्ञासा-बुद्धि देखकर लोगोंको बड़ा कौतुक होता
और वे इसकी बड़ी तारीफ़ किया करते थे । इस लेखके
शीर्षकमें उल्लिखित तीन प्रश्न ही वह सबसे पूछता, प्रत्येक
मनुष्य अपने-अपने मतानुसार इसके प्रश्नका उत्तर दिया
करते, परन्तु उसमें इसका कुछ भी समाधान न होता था ।

यह सच है कि समाधानका होना या न होना
अधिकांशमें उत्तरकी यथार्थतापर ही अवलम्बित होता है ।
परन्तु बहुधा ऐसा भी देखा जाता है कि समाधान अधिकतर
उत्तरदाताके व्यक्तिगत प्रभाव (Personal influence)
पर भी अवलम्बित रहता है । किसी प्रश्नका उत्तर किसी
एक व्यक्तिद्वारा मिलनेमें उसमें विश्वास नहीं होता परन्तु
दूसरे मनुष्यमें वही उत्तर मिलनेपर उसमें विश्वास हो
जाता है और वह अन्तःकरणमें बैठ जाता है । अन्तः,
लड़का मेरे साथ स्वामीजीके मठपर पहुँचा 'मेरे प्रश्न यत्न-
मुच बड़े महत्वके हैं, साधारण मनुष्य तो इनका उत्तर
दे ही नहीं सकता । सिद्धारूढ़ स्वामी-सरीखे साधु पुरुष ही
कुछ उत्तर दे सकते हैं' उस लड़केकी ऐसी धारणा थी तथा
'हरिदास पण्डित मेरे प्रश्नका यथार्थ उत्तर नहीं दे सकते'
ऐसी समझ होनेके कारण अपने प्रश्नोंके सम्बन्धमें उसके
मनमें अभिमान भी था । श्रीसिद्धारूढ़ स्वामीके दैनिक
प्रवचनके समास होनेपर उन्हें कुछ अवकाश मिला । तदनन्तर
नित्य-नियमके अनुसार दर्शनार्थ आये हुए लोग उनमें
अपने सकारण-निष्कारण प्रश्न पूछने लगे । इस लड़केके किये

महाराजका गम्भीर प्रवचन समझना कठिन था। तथापि उसे यह उल्कयठा लगी हुई थी कि महाराजको कैसे अपने प्रश्न सुनाये जायँ तथा उनसे उनका उत्तर कैसे मिले ? उसने अपना प्रश्न महाराजके कानोंमें डालनेके लिये मुझे उकसाना शुरू किया और मैंने अवसर देखकर महाराजसे लड़केका परिचय कराया और उसका प्रश्न भी उनमें कह सुनाया तथा महाराजसे यह कहकर कि लड़केको आपमें इस प्रश्नका उत्तर पानेका पूरा भरोसा है, मैंने लड़केमें उनके चरणोंमें प्रणाम कराया।

वहाँ इकट्ठे हुए लोगोंको लड़केकी आयु देखकर तथा उसका प्रश्न सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ और सबका ध्यान हमी ओर लगा रहा कि देखें महाराज इस प्रश्नका क्या उत्तर देते हैं। कारण, वह प्रश्न परमार्थकी जिज्ञासा करनेवाले प्रत्येक पुरुषके प्राणोंकी बुभुक्षा है।

महाराज उस प्रश्नको सुनकर और लड़केकी ओर देखकर कुछ मुस्कराये। उन्होंने उसे पास बुलाया, उसकी पीठपर हाथ फेरा और फिर उसके कानमें धीरेसे कुछ कहा। (पास बुलाने, पीठपर हाथ फेरने तथा कानमें धीरेसे कुछ कहनेमें महाराजका जो विशेष हेतु था, इसे अनुभवी पुरुष ही जानें) महाराज बोले—

बेटा ! 'ईश्वर कहाँ है ?' ऐसा प्रश्न कभी नहीं करना चाहिये। ऐसा प्रश्न तो पागल किया करते हैं, तू तो मयाना है ! फिर ऐसा प्रश्न क्यों पूछता है ? (इन शब्दोंसे एक ही चपेटमें महाराजने उसका सूक्ष्म अभिमान उतार दिया।) इस समय तू यहाँ है, अपने घरमें नहीं है। यह चाये हुए लोग भी इस समय यहाँ हैं, घड़ीभरमें जब घर चले जायँगे तो यहाँ नहीं रहेंगे। जो पदार्थ या व्यक्ति एक जगह रहते समय दूसरी जगह नहीं रह सकता उसीके लिये (अर्थात् उस-जैसी एकदेशीय वस्तुके लिये) यह प्रश्न पूछना ठीक है कि 'वह कहाँ है ?' सब स्थानमें भरी हुई वस्तुके लिये ऐसा प्रश्न नहीं पूछना चाहिये, समझा न ?

लड़का चुप रहा। उसके उस एक प्रश्नका समाधान हो गया। परन्तु उसे पूरा विश्वास था कि उसके दूसरे प्रश्न (अर्थात् ईश्वर कैसा है ?) का उत्तर महाराज देंगे और उसे पागलका प्रश्न न कहेंगे। लड़का बोला— 'ईश्वर कहाँ है ?' इस प्रश्नका उत्तर तो मैंने समझ लिया, अर्थात् वह सर्वत्र है; परन्तु 'वह कैसा है और कैसे मिलेगा

तथा उसको प्राप्त करनेके लिये हमें क्या करना चाहिये, महाराज ! कृपा करके मुझे यह बतला दें।'

इसपर महाराजने फिर उसकी पीठपर हाथ फेरकर कहा—'अरे ! ईश्वर तेरे ही जैसा है।' तू अपने आपको जान ले, बस हो गया। 'तू कौन है और कैसा है ?' क्या इसका तूने कभी विचार किया है ? जब तूने अपने ही स्वरूपका विचार नहीं किया तो इतने बड़े ईश्वरके स्वरूपका विचार अथवा प्रासिकी बातको तू कैसे समझेगा ? इतना कहकर महाराज उसकी आँखोंकी ओर देखने लगे। श्रोतागण भी इस विनोदको अनेक दृष्टिसे देखते रहे।

लड़केने महाराजके प्रश्नको सुना और यह सोचकर कि मैंने अभी अपना ही विचार नहीं किया है, वह बड़ा लज्जित हुआ। 'मैं कैसा हूँ ?'—इसका अर्थ क्या है, यही विचार यन्त्रवत् उसके मस्तिष्कमें घूमने लगा। अनन्तर महाराजने श्रोताओंकी ओर देखकर श्रीशंकराचार्यजीके 'को देवो यो मनः साक्षी' इस श्लोकमें ईश्वरके स्वरूपका निरूपण किया। अपने-अपने अधिकारके अनुसार श्रोता-ओंने उसके समको हृद्भंगम किया। धारणाशक्ति कम होनेके कारण वह लड़का उसे न समझ सका। यह जानकर महाराजने उसमें स्वरूपकी थोड़ी-सी कल्पना उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे उसमें इसप्रकार प्रश्न किया—

बेटा ! घर और घरका मालिक दो होते हैं, इस बातको तू जानता है न ? क्या घर और घरका मालिक एक होता है ? लड़केने कहा—'नहीं, घरमें घरका मालिक भिन्न होता है।' फिर उसकी टोपी और कुर्तोंको स्पर्श करके महाराजने कहा—'यह टोपी और कुर्ता तेरे हैं न ? या तू ही टोपी और कुर्ता भी है ?' लड़केने उत्तर दिया—'नहीं, टोपी और कुर्ता मेरे हैं, मैं स्वयं टोपी-कुर्ता नहीं हूँ।' महाराज बोले—'तो फिर, देहको तू 'मेरा देह' कहता है, फिर तू देह कैसे हो सकता है ? अर्थात् तू देहमें भिन्न है। वैसे ही इन्द्रियोंको तू 'मेरी' कहता है, मनको तू 'मेरा' कहता है, बुद्धि को तू 'मेरी बुद्धि' कहता है। असः देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तू नहीं है, तू इन सबमें भिन्न, इन सबको जाननेवाला है। समझा न ? बस, आज इतना ही।'।

लड़का क्षणभर चुप रहकर फिर बोला—'ईश्वर कैसे मिल सकता है ? उसे प्राप्त करनेके लिये क्या करना चाहिये ?—यह प्रश्न तो रह ही गया।' इसपर महाराज

गम्भीरतापूर्वक बोले—'ईश्वर-प्राप्तिके लिये कुछ भी करने-की आवश्यकता नहीं। ईश्वर सदा-सर्वदा अपने सामने है, बिस्कुल समीप है, उसके समान समीप संसारमें दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। उसका नाम-स्मरण, भजन, पूजन आदि निष्कामभावसे चित्त-शुद्धिके लिये करना चाहिये। ईश्वर-प्राप्तिके लिये नहीं—वह तो स्वरूपमे ही निर्य प्राप्ति है। 'स नित्योपलब्धस्वरूपोऽहमात्मा'।'

इतना कहकर महाराज खड़े हुए। उस लम्बेने तथा अन्य सब लोगोंने महाराजको नमस्कार करके नित्य नियमके अनुसार उनका जय-जयकार किया और उस प्रसंगके कानुकी चर्चा करते हुए सब लोग अपने-अपने घर गये।

श्रीसमर्थ रामदास स्वामीने सच ही कहा है—

सदा सर्वदा राम सत्तीव आहे।

मना सजना सत्यशोधनि पाहे ॥

अखंडीत भेटी रघुराज योग् ।

मना सांडि रे मीपणाचा वियोग् ॥

'नव्हे योग्यागे नव्हे मोगसंगे ।

समाधान ते सज्जनाचेनि योगे ॥

जयाचेनि संगे महादुःख मोगे ।

जगीं साधनेवीण सन्मार्ग लागे ॥

अर्थात्—रै सज्जन मन ! सत्यकी शोध करके देख, तब तुम्हे पता चलेगा कि राम सदा-सर्वदा तेरे पासमें ही है। उस रघुराजकी भेंट और उसका मिलन निरन्तर हो रहा है। (परन्तु इसके अनुभवके लिये) रै मन, तू 'मैंपन' का त्याग कर। तेरा समाधान न योग-यागादिमे होगा और न भोगोंके त्यागमे ही, समाधान तो उन सन्तोंकी कृपासे होता है जिनके संगमे महादुःख नष्ट हो जाते हैं और संसारमें अनायास सन्मार्गकी प्राप्ति होती है।

आस्तिकवाद अनिवार्य

(लेखक—म० श्रीनारायण स्वामीजी महाराज)



स्तिक और नास्तिकवादका निर्णायक साधन जगत् है—यदि जगत्के बनने-की पहली बिना किसी जगत्कर्ताके हो सकती है तो ईश्वरका मानना व्यर्थ है। इसलिये पहले इसी पहली-पर दृष्टिपात करना चाहिये—जगत्-व्यक्तिके सम्बन्धमें तीन कल्पनाएँ की जा सकती हैं—

(१) जगत् इसी प्रकार सदैवसे बना-बनाया चला आता है अर्थात् वह Self-Existed है।

(२) जगत् स्वयमेव बिना किसी कर्ताके बन गया अर्थात् वह Self-Created है।

(३) जगत्को किसी बाह्यशक्तिने बनाया अर्थात् वह Created by some external agency है।

पहली कल्पनापर विचार—जगत् अनेक वस्तुओंसे मिलकर बना है। जगत्की किसी वस्तुपर निगाह डालिये, आपको मालूम हो जायगा कि वह पृथक् कोई वस्तु नहीं किन्तु एकसे अधिक वस्तुओंका मिश्रण है—

पानी, हवा, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि सभी वस्तुएँ मिश्रित हैं—मिश्रित वस्तुएँ नित्य नहीं हो सकतीं। वे सदैव अमिश्रित तत्त्वोंसे किसी-न-किसी समय मिलकर ही बनती हैं। इसलिये यह कल्पना कि जगत् सदैवसे इसी प्रकारसे बना-बनाया चला आता है, अस्वीकर्तव्य है, क्योंकि मिश्रित वस्तुका विनाश अनिवार्य है।

दूसरी कल्पनापर विचार—जगत्का उपादान प्रकृति (Matter) है और प्रकृतिमें जडता (Inertia) है। प्रकृतिमें जडता होनेमें गति-शून्यता होना आवश्यक है, गतिशून्यता होने और चेतना (Consciousness) के अभावमे वह स्वयमेव न जगत् रूपमें परिवर्तित हो सकती है और न किसी वस्तुका निर्माण कर सकती है। इसलिये बिना किसी बाह्यशक्तिकी सहायताके जगत् स्वयमेव बन गया, यह कल्पना भी नहीं मानी जा सकती और इसलिये पहली कल्पनाकी तरहमे यह भी रद्द किये जानेके योग्य है।

तीसरी कल्पनापर विचार—अब तीसरी कल्पना रह जाती है कि जगत्को किसी बाह्यशक्तिने बनाया—यह

स्वीकार किये जानेके योग्य है। हर्वर्ट स्पेन्सरने भी इसी कल्पनाको स्वीकर्तव्य ठहराया है (First principles) इसपर एक आक्षेप उठाया जाता और वह उचित रीतिमें उठाया जाता है। वह आक्षेप यह है कि यह कल्पना महा-प्रलयवादको स्वीकार करके ही ठहर सकती है। यदि यह मान लिया जाय कि कुछ ग्रह नष्ट हो जाते हैं, कुछ बने रहते हैं और जब नष्ट हुए ग्रह फिर बन जाते हैं, तब अवशिष्ट ग्रहोंका प्रलय हो जाता है तो इसप्रकारसे महा-प्रलयवादके माननेकी जरूरत नहीं पड़ती और जगत् बिना किसी कर्ताके स्वयमेव बनता और विराजता रहता है। जर्मनीके प्रसिद्ध जडाह्रेतवादी हरनेस्ट हेकलने अपनी नास्तिकताके रक्षार्थ इसी कल्पनाका आश्रय लिया था परन्तु यह कल्पना विज्ञान और वैदिक प्रलय तथा महाप्रलयवाद दोनोंके विरुद्ध है।

महाप्रलय और विज्ञान—भौतिक विज्ञानमें तापसम्बन्धी सिद्धान्तके प्रवर्तक (The founder of the mechanical theory of heat) क्लासियस (Clausius) ने तापको दो भागोंमें विभक्त किया है।

(१) वह जो जगत्में बराबर बना रहकर जगत्के काममें आता रहता है— (The Energy of the Universe is constant $\times \times \times$ It is convertible into work)

(२) वह जो जगत्के काममें पृथक् होकर बढ़ता रहता है और फिर जगत्के काममें नहीं आता— (The entropy of the Universe tends towards a maximum. It is not convertible into work) यह दूसरा ताप (Entropy) वह शक्ति है जो बाहरसे भीतरकी ओर जाया करती है। यह शक्ति प्रारम्भमें तापके रूपमें ठण्डे पिण्डोंमें विभक्त हुई थी और वहाँसे कम होते-होते जहाँतक भावी कार्योंका सम्बन्ध है, उसे नष्टप्राय समझना चाहिये। यह दूसरा ताप पहलेको निरयप्रति कम करता रहता है और स्वयमेव बढ़ता रहता है और बढ़कर फिर जगत्के काममें नहीं आता। इसप्रकारसे ब्रह्माण्डमें जो शक्ति (Energy) काम करती है, वह बराबर क्रमशः कम होती रहती है। जब कम होने-होते पहले प्रकारका ताप बाकी न रहेगा और दूसरा ताप अपनी अधिक-से-अधिक मात्रा प्राप्त कर लेगा, तब शीतोष्णका अन्तिम अंश है वह सब

दूर हो जावेगा और कोई प्राणी तथा किसी प्रकारकी गति भी बाकी न रहेगी। तब केवल प्रकृति (Matter) का गतिशून्य ढेर ही शेष रह जायगा और इसीका नाम ब्रह्माण्डका अन्त या महाप्रलय हो जायगा। इस-प्रकार जगत्का अन्त हो जानेपर फिर जगत् किसप्रकार उत्पन्न हो ? जगत्की उत्पत्तिके लिये जब, गतिशून्य प्रकृतिमें गति होनी चाहिये। यह गति कहाँसे आवे ? इस प्रश्नका उत्तर देनेमें नास्तिकवादकी गाड़ी अटकती है—वेदने इस प्रश्नका उत्तर दिया है 'तदेजति तन्नजति।'† अर्थात् वह ईश्वर गति देता है परन्तु स्वयं गतिमें नहीं आता, वह बराबर एकरस ही बना रहता है। विज्ञानको इसीलिये इस प्रश्नका उत्तर केवल प्रकृति (Matter) से न पाकर प्रकृतिमें पृथक् शक्ति (Energy) की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करनी पड़ी परन्तु शक्ति गुण है वह गुणोंके बिना नहीं रह सकती इसलिये विवश होकर यहाँ ईश्वरकी सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है। ईश्वरका सृष्टि-कर्तृत्व केवल इतनेहीसे प्रारम्भ होकर पूर्णता प्राप्त कर लेता है कि वह उस समय जब महाप्रलयके बाद जगत् उत्पन्न होता है और प्रकृति विकृत होना चाहती है तो इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये वह शान्त और स्तब्ध प्रकृतिमें एक गतिका सञ्चार करता है जिसमें प्रकृतिकी शान्ति और स्तब्धता भङ्ग होकर क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल भूतोंकी उत्पत्ति होकर प्रलय सृष्टिरूपमें परिवर्तित हो जाती है। पञ्चभूत, जिनमें

* क्लासियसके शब्द ये हैं—Entropy ie. force that is directed inwards—This energy already converted into heat and distributed in cooler masses, is irrevocably lost as far as any further work is concerned. $\times \times \times$ The entropy is continually increasing at the cost of the other half $\times \times \times$ The sum of heat and energy in the universe must continually tend to be reduced and dissipated. All differences of temperature must ultimately disappear and all organic life and movement must cease, when this maximum of entropy has been reached. That would be a real end of the world.

(Riddle of Universe by G. Haechal.)

† यजुर्वेद अध्याय ४० मन्त्र ५।

सारा जगत् बन जाता है, इसीलिये प्रकृति और ब्रह्मप्रदत्त गतिके संघातका नाम है—(Matter combined with energy) यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि गति देनेके लिये गतिदातासे प्रथक् कुछ आकाश (Space) होना चाहिये तब तो वह गति दे सकता है। ईश्वर विभु (सर्वव्यापक) और सर्वोभार भी है, उससे भिन्न, जहाँ वह न हो, ऐसे किसी स्थान या अवकाशकी कल्पना भी नहीं की जा सकती, फिर वह गति किसप्रकार देता है? इस शंकाका समाधान यह है कि इस गतिको देनेके लिये, ईश्वरको किसी प्रकारकी हरकत करनेकी जरूरत नहीं होती,

वह गति जो प्रकृतिमें एक विश्वव्यापी हलचल पैदा कर देती है, ब्रह्मके केवल ईक्षण (प्राप्त वस्तुको कार्यमें लगाने-की इच्छा) से उत्पन्न हो जाती है। इसीलिये कहा जाता है 'Will preceds motion' अर्थात् गतिसे पहले इच्छा होती है। अरम्भूने इसीलिये ईश्वरको Unmoved mover ॐ (बिना हिले गतिदाता) कहा है। उपर्युक्त विवरण स्पष्ट करता है कि जगत्की रचनाके लिये रचयिताका होना अनिवार्य है इसीलिये आस्तिकवाद भी अनिवार्य है।

ईश्वर मानव-जातिके उद्धारक हैं

(लेखक ---श्रायुक्त मदानन्द जी सम्पादक 'भैरव')

ईशावास्यसिद्धः सर्व यत्किञ्च जगत्सं जगत् ॥

अर्थात् इस संसारमें जितने भी चल अथवा अचल पदार्थ हैं उन सबमें ही ईश्वर भरा है।

यदि जगत् ईश्वरको भुलाकर उसमें विश्वासहीन न हो गया होता तो आज संसारमें हम जिन कष्टों एवं यातनाओंसे व्यथित हो रहे हैं, इनके दर्शन भी न होते। संसारभरके महात्मा एवं तत्त्ववेत्ता पुरुष तथा सभी धर्मोंके प्रामाणिक ग्रन्थ बार-बार यह घोषणा करते हैं कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही सब कालोंमें हमारा एकमात्र अवलम्ब एवं आधार है, विशेषकर आपत्ति एवं कठिनाईके समय वही हमारी रक्षा करता है। उसकी दयाके बिना न तो इस लोकमें शान्ति और सुख मिल सकता है और न सुप्तिकी ही आशा की जा सकती है।

ब्रह्मोदुपेन प्रतरंत विद्वान्

स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।

(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

अर्थात् ब्रह्मरूपी नौकाके सहारे विवेकी पुरुष समस्त भयानक नदोंको पार कर सकता है।

इस बातको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि ऋषि-मुनि, जिन्होंने अनेक धर्म-शास्त्रोंकी रचना की है हमलोगों-

की अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धिमान्, विद्वान् तथा आध्यात्मिक शक्ति-सम्पन्न थे। उन सबोंने एक स्वरसे इस बातकी घोषणा की है कि ईश्वर सर्वोपरि है। तथा हमें वे यही उपदेश दे गये हैं कि मनुष्य सब समय उनका आश्रय पकड़े रहे, क्योंकि वही हमको हम दुःखमय संसार-समुद्रके पार कर अपने अमर-पदको प्राप्त करा सकते हैं।

परन्तु शोककी बात है कि मरणशील मनुष्य भगवान् की कृपासे ही प्राप्त होनेवाले जगत्के कुछ बँभवसे विमोहित होकर प्रायः उन्हें भूल जाता है, उनकी सत्ताको अस्वीकार करने लगता है और न जाने उनके प्रति कितने अपराध करता है। फिर यदि वह कर्णधारहीन नाँकाकी भाँति दुःखोंके मँबर-जालमें गिरता है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

कुछ लोग ईश्वरकी सत्तामें विश्वास ही नहीं करते। वे यह समझते हैं कि जिस वस्तुको हम नेत्रोंसे नहीं देख सकते, त्वचासे स्पर्श नहीं कर सकते अथवा तर्कसे सिद्ध नहीं कर सकते, उसका अस्तित्व कैसे हो सकता है? वे इस बातको भूल जाते हैं कि ईश्वर किसी जगत्के पदार्थकी तरह नहीं है, जिसको हम नेत्रोंसे देख सकें, त्वचासे स्पर्श कर सकें और तर्कसे सिद्ध कर सकें; वह इन सबसे परे है। उनका केवल अनुभव किया जा सकता है और यह अनुभव

ॐ God is merely the Source of movement, the first mover (आदिकारण) who himself is never moved. (The Age of Aristotle p. 46)

उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा, साधना एवं योगसे प्राप्त हो सकता है और ऐसा वही कर सकता है जिसके मनमें परमात्माको प्राप्त करनेकी सच्ची लगन हो, जो यथार्थ मुमुक्षु हो। दूसरा कोई भी ऐसा नहीं कर सकता। इसीलिये उपनिषदोंके ऋषियोंने यह कहा है—

अदृष्टमव्यवहार्यमप्राप्तमलक्ष्णमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकाम-
प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्॥

(माण्डूक्योपनिषद्)

अर्थात् परमात्मा नेत्रोंमें अगोचर है, इन्द्रियातीत है, उनका किसी लक्षण अथवा शब्दके द्वारा निर्देश नहीं हो सकता, विचारकी भी गति वहाँ तक नहीं है, केवल आन्तरिक अनुभवसे ही उनका ज्ञान हो सकता है, वह इस मायिक प्रपञ्चसे परे है, शान्त है, कल्याणरूप है, एवं द्वैतरहित है।

यह उन आस-पुरुषोंका अनुभवसिद्ध प्रमाण है, जिन्होंने अपना समग्र जीवन सत्यकी खोजमें लगा दिया, जिन्होंने उस परमात्माको प्राप्त कर लिया एवं जान लिया, जिनकी बुद्धि बड़ी कुशल थी और जिनकी सत्यवादितामें कोई सन्देह नहीं है। दूसरे धर्मोंके प्रामाणिक ग्रन्थोंमें भी यही बात कही गयी है। ऋषियोंने हमें स्पष्टरूपसे यह भी बतला दिया है कि परमात्माको हम किसप्रकार देख और जान सकते हैं। मुण्डकोपनिषद्में लिखा है—

ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व-

स्तत्सतु त पश्येत् निष्कलं ध्यायमानः।

(३।८)

अर्थात् वही मनुष्य ध्यानकी अवस्थामें अपने अन्दर उस परमात्माके दर्शन कर सकता है, जिसका हृदय ज्ञान-सम्पादन एवं सदाचार-मेवमने शुद्ध हो गया है।

महात्मा ईसाने जिन शुद्ध अन्तःकरणवालोंको धन्य कहा है, उनकी अपेक्षा यह अन्तःकरणकी शुद्धि कुछ विलक्षण है। यहाँ उस ज्ञानके द्वारा ही अन्तरात्माको शुद्ध करनेकी बात कही गयी है जो शास्त्रीय ज्ञानसे परेकी वस्तु है और जिससे नैतिक एवं आध्यात्मिक पूर्णताकी प्राप्ति होती है। इसी बातको ईसामसीहने अपने निम्न-लिखित वाक्योंमें प्रतिपन्नित किया है—

‘Blessed are the pure in heart, for they shall see God.’

मुण्डकोपनिषद्के उपर्युक्त मन्त्रमें ईश्वरका दर्शन किन साधनोंसे हो सकता है, इसका पुरा एवं सविस्तर वर्णन किया गया है। किन्तु, यद्यपि इस बातका अनुमोदन सभी शास्त्रोंने और तत्ववेत्ताओंने किया है तथा सभी भगवत्-प्राप्त पुरुषोंने जीवनभरकी खोजके बाद अपने व्यक्तिगत अनुभवसे इसी बातको प्रमाणित किया है, तथापि ईश्वरके अस्तित्वको नहीं माननेवाले ये आधुनिक विद्वान्, चाहे जीवनके दूसरे चर्योंमें इन्होंने कैसी ही प्रसिद्धि प्राप्त की हो, इस वास्तविक तथ्यको बिल्कुल ही नहीं समझ सके हैं। इसके लिये उनकी बुद्धि सर्वथा विफल सिद्ध हुई है। जबतक मनुष्य आध्यात्मिक जीवनकी इस पूर्ण स्थितिको प्राप्त नहीं कर लेता, जबतक उसकी आँखोंके सामनेसे अज्ञानका पर्दा कभी नहीं हट सकता। जो लोग इस अज्ञानके अन्वकारमें पड़े हुए हैं और जिन्हें जगत्के सर्वशक्तिमान् रचयिताकी सत्तामें विश्वास नहीं है उनसे हम विनम्र प्रार्थना करते हैं कि वे एक बार हिन्दू-धर्म-ग्रन्थोंका अध्ययन करें। इनके अन्दर उन्हें इस विषयका साक्ष्योपास, सविस्तर एवं युक्ति-पूर्ण विवेचन मिलेगा, जिससे उनके सारे संशय दूर हो सकेंगे और अध्ययनके फलस्वरूप उन्हें वह शान्ति, आश्वासन एवं सुख मिलेगा जिसका ईश्वर-प्राप्त पुरुषोंने अनुभव किया है। हम ऐसे कई धार्मिक पुस्तकों को जानते हैं जो शास्त्रीय ज्ञानकी सीमासे आगे न बढ़ सकनेके कारण एक प्रकारसे नास्तिक हो गये थे, किन्तु उपनिषदों एवं अन्य हिन्दू-धर्म-ग्रन्थोंके अध्ययनसे वे फिर आस्तिक बन गये।

पढ़े-लिखे लोगोंमें एक समुदाय और है जो न तो ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार करता है और न उसका निषेध ही करता है। इन्हें प्रायः लोग सन्देहवादी कहते हैं और इनमेंसे कई तो अपने सिद्धान्तके हतने कष्टमें कि उनके साथ कितना भी तर्क क्यों न किया जाय, वे अपनी भूलको कभी स्वीकार नहीं करेंगे। पृथ्वीपर तो यह कहेंगे कि हमें यदि कोई इस बातका निश्चय करा दे कि हमारा सिद्धान्त ठीक नहीं है तो हम अपने मतको परिवर्तन करनेके लिये तैयार हैं, किन्तु वस्तुतः उनके सामने कितनी ही प्रबल एवं अकाट्य युक्तियाँ उपस्थित की जायँ वे अपने हठको कभी नहीं छोड़ेंगे। इस प्रसंगमें मुझे एक महिलाकी कहानी याद आ गयी, जिसने अपनी

एक सखीको यह वचन दिया था कि यदि तुम मुझे निश्चय करा दो कि तुम जो कहती हो सो ठीक है तो मुझे उसके करनेमें कोई आपत्ति न होगी। उस सखीके चले जानेके बाद उसकी एक दूसरी सखीने उस महिलासे पूछा कि 'तुम अपने वचनको किसप्रकार पूरा कर सकोगी? इसपर उस महिलाने उत्तर दिया कि 'बहिन, तुम समझती नहीं; जब मैं किसी सिद्धान्तको माननेके लिये तैयार ही नहीं हूँ तो फिर मजा, कोई मुझे कैसे यह निश्चय करा सकता है कि उसकी बात ठीक है।' इस वर्गके लोग आध्यात्मिक दृष्टिसे उन नास्तिकोंकी अपेक्षा अधिक दयनीय एवं भयानक हैं जो वास्तवमें ईश्वरकी सत्ताको नहीं मानते। जिस भ्रम एवं अज्ञानके अन्धकारमें ये लोग पड़े हुए हैं उसमेंसे इन्हें बाहर निकालना प्रायः असम्भव-सा है। कठोपनिषद्में ऐसे लोगोंका इसप्रकार वर्णन किया गया है—

अविद्यामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीराः पण्डितमन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
अन्धेनेन नीयमाना मयान्वाः ॥

(२।५)

अर्थात् मूर्ख लोग अन्धकारमें पड़े रहनेपर भी अपनेको परिष्ठित एवं बुद्धिमान् समझते हैं और अन्धेका अनुसरण करनेवाले अन्धोंकी भौति उपपत्तमासी हो जाते हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी लिखा है—

अज्ञश्चाश्रद्धानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥

(४।४०)

अर्थात् अज्ञानी (मूर्ख) अश्रद्धालु एवं संशयात्मा मनुष्य नष्ट हो जाता है, संशयात्माका न तो यह लोक बनता है और न परलोक और न कभी उसे सुख ही मिलता है।

सौभाग्यकी बात यह है कि इसप्रकारके लोगोंकी संख्या बहुत कम है।

एक तीसरा समुदाय और है जो नास्तिकवाद अथवा सन्देहवादकी अपेक्षा आस्तिकवादकी ओर अधिक मुका हुआ-सा है। इस समुदायके लोग कहनेको तो ईश्वरकी सत्तामें विश्वास करते हैं, किन्तु वे भी सन्देहसे मुक्त नहीं

हैं, इसीलिये उन्हें यह कहनेका साहस नहीं होता कि हम नास्तिक हैं या आस्तिक हैं और न वे इस पहेलीको सुलझानेकी ही आवश्यकता समझते हैं। उनकी स्थिति सन्देहवादियों एवं आस्तिकोंके बीचकी-सी है। वे धार्मिक कार्यों, उत्सवों एवं अनुष्ठानादिमें भाग लेते हैं किन्तु यदि कोई उन्हें यह पूछे कि तुम ऐसा क्यों करते हो तो वे इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं दे सकते। वे जो कुछ भी करते हैं, मनसे नहीं करते, केवल लोकदृष्टावेके लिये करते हैं; अतः उन्हें यदि दार्मिक भी कहा जाय तो कोई श्रुत्युक्ति न होगी। उनका विश्वास उनकी सुविधाके अनुसार प्रतिदिन बदलता रहता है, आज कुछ है तो कल कुछ और ही है। ऐसे लोगोंके विषयमें श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकदुश्चौ ॥

(१६।१६)

अर्थात् इसप्रकार अज्ञानसे विमोहित एवं अनेक प्रकारके विचारोंसे विभ्रान्त होकर, मोहजालमें फँसकर तथा अनेक कामनाओंकी पूर्तिमें दत्तचित्त होकर वे लोग घोर नरकमें गिरते हैं।

चौथे वर्गके वे लोग हैं जो ईश्वरकी सत्तामें विश्वास तो करते हैं किन्तु उसकी उपासनाकी आवश्यकता नहीं समझते। उनका यह कहना है कि कर्म ही उपासना है, इससे आगे जानेकी जरूरत नहीं है। उनके मतमें किसी ऐसी अदृश्य वस्तुके ध्यानमें समय गँवाना व्यर्थ है जिसका न कोई रूप दीखता है, न आकार और न जिसके स्वरूपको कोई जानता हो है। परन्तु यह उनकी बड़ी भारी भूल है। हम भी यह अवश्य मानते हैं कि कर्म एक प्रकारकी उपासना ही है, किन्तु निरे कर्ममें ही काम नहीं चलता। ईश्वरसे प्रेम करना, उसकी प्रार्थना करना, उसके स्वरूपका ध्यान करना और उसकी आज्ञाओंका बिना किन्तु-परन्तु किये पालन करना यह मनुष्यका प्रथम कर्तव्य है। इसके बाद कौनिक कर्मकी बारी आती है। ईश्वरमें प्रेम करनेमें मनुष्य-मात्रके प्रति, जो उसीकी सन्तान हैं, प्रेमका भाव उत्पन्न एवं बढ़ होता है और मनुष्य-जातिके प्रेममें ही कर्मकी पूर्णता होती है। ईश्वरके प्रेमसे अनुप्राणित होकर जो सेवा की जाती है वह सखी उपासनाका एक अत्यन्त आवश्यक अंग है। म० देवेन्द्रनाथ ठाकुर सदैव यह कहा करते थे—

तस्मिन् प्रीतिस्तरय प्रियकार्यसाधनश्रेयुपासना।

अर्थात् ईश्वरके अन्दर प्रेम एवं उसकी इच्छाके अनुसार काम करना, यही सच्ची उपासना है।

अन्तिम वर्गमें प्रायः आजकलके उन नवयुवकोंका समावेश होता है जिनकी संस्था तथा प्रभाव संसारभरमें तेजीके साथ बढ़ रहा है। ये लोग ईश्वरकी सत्ताको बिल्कुल नहीं मानकर केवल सांसारिक सुखको ही अपना ध्येय समझते हैं। ये अपने सर्वशक्तिमान् रचयिताकी सत्ताका निषेध ही नहीं करते, किन्तु यह समझते हैं कि ईश्वर एवं धर्म सभ्यताकी प्रगतिमें सबसे अधिक बाधक हैं और इस-लिये चाहे जिस तरहसे हो, उनका बहिष्कार ही करना चाहिये। इन्होंने ईश्वर और धर्मके लिये तो देश-निकालेका विधान कर ही दिया है, पर अब ये जनताको भ्रममें डालनेके अपराधमें सभी धर्मप्रिय मनुष्योंको भी दण्ड देना चाहते हैं। इनके इस भयानक मतमें, जो तेज़ीके साथ फैल रहा है, और ईश्वर-विरोधी आन्दोलनमें संसारकी बड़ी भारी हानि हो रही है। इसका परिणाम हमारे सर्वनाशके अति-रिक्त और क्या हो सकता है? हमारे देशके नवयुवक भी बड़ी जल्दी इसके दूषित प्रभावमें प्रभावान्वित हो रहे हैं, क्योंकि उन्हें ईश्वरके न माननेमें अधिक मुविधा प्रतीत हो रही है। उनका ईश्वर और धर्ममें विश्वास उठता जा रहा है। ऐसी दृश्यामें आध्यात्मिक साधनकी ओर न तो उनकी प्रवृत्ति ही होती है और न इस कार्यमें उनकी रुचि हो है। आज राजनीति ही उनका सर्वोपरि ध्येय एवं माध्य है और उनका विश्वास है कि राजनीतिके द्वारा ही हम संसारका उद्धार कर सकेंगे! इस मनुष्यलोकको ही उन्होंने अपना कार्य-क्षेत्र समझ रक्खा है, उन्हें अमर जीवन अथवा किसी आध्यात्मिक विषयपर विचार करनेका अवकाश ही नहीं मिलता, सब पूछिये तो अध्यात्मवादमें उनका विश्वास ही नहीं है।

भारतवर्षमें राजनीतिका अभाव रहा हो, सो बात नहीं है, भारतमें राजनीति थी पर वह पवित्र, आदम्बर-शून्य, जनसत्ताके सिद्धान्तके आधारपर स्थित थी। उसका आधार धर्म अर्थात् सत्य, न्याय एवं सदाचार था, ईश्वर उसका केन्द्र था। उसके अन्दर लोभ एवं परम्पा-हरण, द्वेष एवं घृणा, कूटनीति एवं स्वार्थान्विताका सर्वथा अभाव था। राजा लोग प्रजा-प्रिय, राज-मान्य, पूत-वरिष्ठ, अधियों, मनीषियों, विद्वानों एवं बबोबुद पुरुषोंकी मन्त्रणा-

से काम करते थे। दूसरोंका अहित करना उनकी प्रकृतिके विरुद्ध था, वे गौरी भाँति शत्रु एवं अनपकारी होते थे। यही कारण था कि उन दिनों प्रजा बड़ी सुखी एवं समृद्ध थी। पाश्चात्य जगत्में प्रादुर्भूत हुई आजकलकी राजनीति संसारके आध्यात्मिक जीवनको नष्ट-अष्ट कर रही है, उसका आधार लोभ एवं स्वार्थपरायणता ही है। परिणाम यह हो रहा है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्यका विरोधी बन रहा है, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको हथपनेके लिये मुँह बांधे खड़ा है, चारों ओर अन्धाधुन्धी और अश्वयस्था फैल रही है, परस्परमें अविश्वास एवं घृणाके भाव जागृत हो रहे हैं और चारों ओर विपत्तिके बादल मँडरा रहे हैं। इसका कारण यह है कि आज जगत्के मनुष्योंमें उस तत्त्वका अभाव हो गया है, जो मानव-समाजके अन्दर आनुभाव उत्पन्नकर उन्हें एकताके सूत्रमें बाँध सके। इसके बिना संसारमें शान्तिकी स्थापना निरा सम्भ्र ही रहेगा। अभी कुछ लोग ऐसे बचे हुए हैं जिनका ईश्वरमें विश्वास हटा नहीं है। हमीमे अभीतक सर्वनाश नहीं हुआ है, राजनीतिके साथ-साथ अमरत्वका भी प्रयोग करनेवाले लोगोंके कार्य-क्षेत्रमें अलग हो जानेपर फिर बाकी बचे हुए ईश्वर-विहीन राजनीतिज्ञोंके हाथों मानव-जातिकी जो दुर्दशा होगी, उसकी कल्पनामें ही हम काँप जाते हैं। ईश्वरकी हमपर अपार दया है, जिसके कारण हमलोगोंके अन्दर इन ईश्वर-विहीन राजनीतिज्ञोंकी हानिकारक चेष्टाओंका प्रतिरोध करनेके लिये अभीतक महात्मा गान्धी-जैसे कुछ लोग विद्यमान हैं।

इटली-देशके उद्धारक मैजिनी (Mazzini) को आधुनिक राजनीतिका जन्मदाता कहा जा सकता है। वर्तमान जगत्के अधिकांश राजनीतिज्ञां एवं शासननन्त्र-वेत्ताओंकी उन्हीमें प्रकाश मिला है। जगद्भ्यापी राजनीति (world politics) एवं स्वदेशान्तरागके इस महान् प्रवर्तकने इस सम्बन्धमें जो बातें कही हैं उनका भाषान्तर पढ़िये—

‘धर्म जीवनका मनातन, मुख्य एवं आभ्यन्तर अंग है। वह मानव-जातिका प्राण है, उसकी आत्माका जीवन एवं प्रकाश है, उसका बाह्य लक्षण है। धर्ममें मनुष्यके विचार एवं आचरण पवित्र होते हैं; धर्म आनुभाव एवं समाज-मेवाके महान् तत्त्वको उद्घाटन बनाता है, उसकी साम्प्रदायिकता करता है एवं उसे सुरक्षित रक्खता है। धर्मकी

भावनासे मेरा अभिप्राय उस असीम एवं अनन्तकी भावना, अज्ञात एवं अदृश्यको प्राप्त करनेकी आकांक्षा, ईश्वरको बुद्धिके द्वारा समझनेकी आन्तरिक इच्छासे है जो प्रत्येक मनुष्यके अन्तःकरणमें निहित रहती है और जिसका जीवनसे घनिष्ठ सम्बन्ध होता है ।'

‘एक ओर तो आपको इस बातसे असन्तोष है कि आत्मिकवादका सर्वथा लोप हो गया अथवा हो रहा है, तथा मनुष्योंकी आरम्भ अहंकारके उच्छ्वस से दूषित हो गयी हैं, और दूसरी ओर आप सब प्रकारकी आत्मिकतासे द्वेष करते हैं एवं अपने लेखोंद्वारा इस बातकी घोषणा करते हैं कि धर्म मर गया, उसके जीवनका अन्त हो गया, अब भविष्यमें जनताके लिये धार्मिक जीवनकी आवश्यकता नहीं रह गयी है ।’

‘आप इस बातपर आश्चर्य करते हैं कि लोग आत्म-बलिदान एवं सहयोगके मार्गमें बहुत ही धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे हैं और फिर भी आप उनके लिये व्यक्तिपरपूर्ण कार्यक्रमका विधान करते हैं । इसका परिणाम बिल्कुल उलटा होगा । इससे संगठनमें सहायता न मिलकर केवल सामीप्यमें सहायता मिलेगी । इसका विश्लेषण करनेपर पता लगेगा कि दार्शनिक सिद्धान्तोंकी आशयमें यह एक प्रकारका अहंकार ही है ।’

‘आप राष्ट्रका पुनरुद्धार करना चाहते हैं और साथ ही व्यक्तिगत नैतिक सुधार भी चाहते हैं, क्योंकि इसके बिना राजनैतिक संगठन किसी कामका नहीं, पर साथ ही आप अपने कार्यक्षेत्रमेंसे प्रत्येक धार्मिक भावनाका बहिष्कार करके सफलताकी आशा करते हैं ।’

‘राजनैतिक मनुष्यके अमली स्वरूप, उसकी वास्तविक स्थिति एवं चरित्रको स्वीकार करती हैं, वह उसकी प्रवृत्तियोंको निश्चित रूप देती है और उसके आचरणको उन्हींके अनुसार बनाना चाहती है । धार्मिक भावनामें ही यह शक्ति है कि वह दोनोंको पलट सकती है ।’

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस समय देशके भिन्न-भिन्न राजनैतिक दलोंमें जो अव्यवस्था दृष्टिगोचर हो रही है, उसका कारण यह है कि उन्हें अभ्यात्मबलका आधार प्राप्त नहीं है । मैजिनीका इस सिद्धान्तमें अटल विश्वास था कि राजनैतिक दलोंका पतन हो जाता है और उनकी

सत्ता भी भिट जाती है, किन्तु धार्मिक संघोंका तबतक अन्त नहीं होता जबतक उन्हें बिजय प्राप्त नहीं हो जाती । जिन लोगोंका धर्म एवं ईश्वरमें विश्वास नहीं है वे इस बातको नहीं समझ सकते कि प्रत्येक चेष्टाका सञ्चालन ईश्वरके विधानके अनुसार होता है और मनुष्यको केवल ईश्वरके विधानमें सहायता करनेभरकी ही स्वतन्त्रता है । वे यह भी नहीं समझ सकते कि जिस मार्गमें धार्मिक लोग अपने लक्ष्यकी ओर जाते हैं, एक सर्वोपरि शक्ति उस मार्गकी रक्षा करती है, अतएव वे ईश्वरके बल एवं साहाय्य-को प्राप्तकर निर्भय हो जाते हैं ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि समयके प्रभाव एवं संसर्गके दोषसे आजकलका धर्म जीर्ण एवं विकृत हो गया । यही कारण हो सकता है कि बहुत-से लोग उसमें दूर भागते हैं । परन्तु धर्मका बिल्कुल बहिष्कार कर देनेसे कोई लाभ नहीं होगा, आवश्यकता है उसकी वृद्धिको सुधारकर उसे वर्तमान परिस्थितिके अनुकूल बनानेकी । धर्मसे बुराईयोंको अवश्य निकालो, किन्तु अपने जीवनके इस अमूल्य हीरोको कूड़ेमें मत फेंक दो । जंग चढ़ी हुई तलवार देखनेमें चाहे निकम्मी जान पड़े किन्तु उसे यदि साफ करके शानपर चढ़वा लें तो फिर वह खूब काम देने लगेगी ।

अन्तमें इस अपने व्यक्तिगत जीवनकी कुछ घटनाओं-का उल्लेख करेंगे । हमने बचपनसे ही ईश्वरकी दया एवं सहायताका कई बार अनुभव किया है, जिससे हमें ईश्वरके अस्तित्वका ही पूर्णरूपसे निश्चय नहीं हुआ किन्तु उनकी दयालुतासे भी प्रत्येक ऐसे अवसरपर हमारा विश्वास उत्तरोत्तर बढ़ होता गया । प्रभुने हमारी विपत्तियें रक्षा की, किसी प्रकारका आश्रय न होनेपर आश्रय दिया, असहाय अवस्थामें हमें सानेकी अन्न दिया, जंगली बाघके पंजोंमें एवं विषधर सर्पके काटनेसे बचाया, भयंकर दुष्मानसे हमारी रक्षा की, डाकुओं तथा हत्यारोंके हाथोंसे हमें छुड़ाया । यह सब घटनाएँ अनोखे ढंगसे हुईं ! हम उपर्युक्त घटनाओंका सविस्तर वर्णन नहीं करना चाहते, किन्तु हम यह बतला देना चाहते हैं कि हमने अपने व्यक्तिगत जीवनकी इन घटनाओंमें ईश्वरकी अपार दया एवं अमित उपकारका अनुभव किया ।

ईश्वरका स्पष्टरूपसे साक्षात्कार करनेके लिये साधन एवं तपकी आवश्यकता है । साधन जितना तीव्र होगा,

हमारी अन्तर्दृष्टि भी उतनी ही विमल होती जायगी। अन्तर्दृष्टिके अतिरिक्त ईश्वरको जानने एवं उनका साक्षात्कार करनेका कोई दूसरा उपाय नहीं है।

हमारी बड़ी प्रबल इच्छा है कि हमारे नवयुवक मित्र इस बातको समझकर इसीके अनुसार अपना आचरण

बना लें। दुःखग्रस्त मानव-जातिकी रक्षाका एकमात्र उपाय यह है कि हमलोग सर्वतोभावेन उन दीन-जनोद्धारककी शरण हो जायें और भक्ति एवं श्रद्धाके साथ उसीकी आज्ञानुसार कर्म करें, क्योंकि ईश्वरके अतिरिक्त मानव-जातिका उद्धारक और कोई नहीं है।



ईश्वर-प्रार्थनासे लाभ

(लेखक:—बहिन श्रीकमलावतीजी पाण्डेय)



म जगन्निधन्ता, सर्वव्यापी, जगदीश्वरकी नियमपूर्वक नित्य प्रार्थना तथा हर घड़ी उसका सप्रेम स्मरण करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य होना चाहिये। भगवान्की प्रार्थनामे जो लाभ और आनन्द होता है उसका सम्पूर्ण वर्णन निजीव लेखनीद्वारा असम्भव जान पड़ता है। ईश्वर-प्रार्थनामे प्राप्त परम आनन्दको प्रार्थना करनेवाले ही अथवा कोई मायबान् प्रार्थना-प्रेमी जन ही जान सकते हैं। अब प्रार्थनामे होनेवाले कुछ फल नीचे लिखे जाते हैं। प्रार्थनामे अनन्त लाभ होते हैं, जो प्रेमी जितने गहरेमें उतरता है, वह उतने ही अधिक लाभ उठा सकता है।

ईश्वर-प्रार्थनामे तीन प्रकारके लाभ

कायिक-१—प्रार्थना करने समय मुखपर अनुपम आभा तथा गम्भीरता आती है।

२—शरीर शुद्ध, नेजवान्, मुखश्री गम्भीर, कान्तियुक्त तथा सदैव प्रसन्न रहती है।

वाचिक-३—वाणीमें सत्यता, मधुरता एवं कोमलताका निवास होता है।

मानसिक-४—ईश्वरकी नियमपूर्वक प्रार्थना करनेसे उसके प्रति प्रेम, श्रद्धा, विश्वास और निजत्व उत्पन्न होता है।

५—नित्य-स्मरणके फल-स्वरूप, मनुष्यका चञ्चल चित्त शनैः-शनैः एकाग्र होता जाता है।

६—प्रार्थनामे अन्तर्ज्योति जाग्रत् होती है जो उसको प्रत्येक समय, प्रत्येक कार्यमें सत्पथ दिखाकर उसपर चलनेका आदेश देती है।

७—प्रार्थनासे छद्म विचार धीरे-धीरे घटने जाते हैं।

८—हृदयमें पवित्र भावना, उच्च विचार एवं मात्त्विक गुणोंकी वृद्धि होती है।

९—प्रार्थना अपने मनोनुकूल कई प्रकारकी होती है, ईश-गुण-गानके साथ ही मनुष्य अपने मनोभावोंको भी प्रकट करता है, प्रायः विकार-शमनकी ही भावना प्रधान रहती है।

१०—ईश-गुण-गान करते समय चित्त प्रसन्न, एवं अमय हो जाता है, जान पड़ता है कि स्वयं जगदीश सम्मुख होकर उसे अमय-दान दे रहे हैं, इससे उसको बड़ा बल प्राप्त होता है।

११—हृदयमें शान्ति, सन्तोष, सुमा, दया आदि सद्गुण उदय होने हैं।

१२—उस समय जो आनन्द होता है वह वर्णानातोत है, हृदयमें जो रम-धारा प्रवाहित होती है, उसे हृदय तो पान करता ही है—प्रायः सभी इन्द्रियाँ तन्मय होकर शान्ति-लाभ करती हैं।

ईश्वर और उसका नाम

(लेखक—हरिमक्तिपरायण श्रीरामचन्द्र कृष्ण कायत)



मी विवेकानन्दका एक बार इंग्लैण्डमें व्याख्यान हुआ और उसे सुनकर वहाँके बड़े-बड़े विद्वान् आश्चर्यान्वित हो उठे । ईश्वरीय भावनाका एक नवीन प्रकाश उनकी आँखोंके सामने आया और उनमेंसे बहुतेरे लोग स्वामीजीके शिष्य भी बन गये । ईश्वरीय तत्त्वके सम्बन्धमें ही उनका व्याख्यान होनेके कारण, उनके श्रोताओंमेंसे एक गृहस्थने प्रो० मैक्समूलरकी 'ईश्वरसिद्धि' सम्बन्धी एक बड़ी पुस्तक उनको दिलालायी । इस पुस्तकके दिखलानेमें उसका हेतु यह था कि स्वामीजी यह जानकर चकित हों कि ईश्वरीय तत्त्वपर विचार करनेवाले पुरुष इंग्लैण्डमें भी हैं । परन्तु स्वामीजी उस पुस्तकको देख हँसकर बोले कि 'मैक्समूलरने इतनी बड़ी पुस्तक लिखकर यही सिद्ध किया है कि ईश्वर है, किन्तु हमारे हिन्दुत्वानमें इस बातको एक गँवार किसान भी जानता है' इस उत्तरको सुनकर वह मनुष्य मन-ही-मन लज्जित हो गया ।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य भौतिक शास्त्रोंके अभ्याससे जैसे-जैसे विद्वान् होता जाता है वैसे-ही-वैसे उसमें अभिमान बढ़ता जाता है और अभिमानके बढ़नेसे मनुष्यमें स्वाभाविक भावका (आत्मिकताका) 'अभाव' हो जाता है । उस अभावको मिटानेके लिये विद्वान् गुरुको बड़े-बड़े प्रवचन करने पड़ते हैं और खण्डन-मण्डनात्मक ग्रन्थोंकी रचना करनी पड़ती है । अविद्वान् और मोले-भाले पुरुषमें इस अभावका विष नहीं होता अतः उनकी सिद्धिकी भावनाको उचित प्रकारसे बढ़ाकर पूर्णताको पहुँचानेमें गुरुको अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता । यही कारण है कि मोले-भाले लोग ही शीघ्र तरते हैं । ऐसा साधु-सन्तोंका अनुभवपूर्ण कथन है ।

यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि इसप्रकारका भोलापन सदा अच्छा ही होता है, उसी प्रकार सदा संशयवादी और अत्यन्त तार्किक बने रहना भी कभी अच्छा नहीं होता । हमारे धर्मप्राण भारतमें पाश्चात्य शिक्षाके द्वारा इस ईश्वरीय भावनाके अभावकी हवा फैक रही

है । इस जहरीली हवाके प्रभावसे यहाँकी जनताको बचानेके लिये ईश्वर-तत्त्वज्ञ सज्जन पुरुषोंका कल्याणके 'ईश्वरांक' के समान ग्रन्थ-निर्माण करना आवश्यक हो गया है; यह भारतका दुर्भाग्य है या सौभाग्य, इसका निश्चय करना कठिन है । परन्तु शरीरमें रोग हो गया है, यह एक बार निश्चय हो जानेपर उसके निवारण करनेके लिये उपाय करना अपरिहार्य हो जाता है । कल्याण-सम्पादकने जो यह महाप्रयत्नकी योजना की है, वह उनकी परम कारुणिकता है । मुझे विश्वास है कि परम कल्याणप्रद परमात्मा उनको इस प्रयत्नके लिये अवश्य ही परम उज्ज्वल यश देंगे ।

ईश्वर-गुणानुवादसे विमुख कौन होता है ?

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

निवृत्ततर्पणपणीयमानाद्-

भवौषधाच्छ्रोत्रमनोभिरामात् ।

क उत्तमश्लोकगुणानुवादात्

पुमान्विरज्येत विना पशुघ्नत् ॥

(१०।१।४)

सांसारिक विषयोंमें नृष्णाहीन पुरुष जिसका गुणगान करते हैं, जिसका गुणगान संसाररूपी महारोगी उत्तम श्रोत्रिण है, तथा जिसके गुणोंका श्रवण मनको अभिरञ्जित करता है, हरयारेके सिवा कौन-सा पुरुष है जो उस पुरुषोत्तमके गुणानुवादसे विमुख हो सकता है ? श्रोत्रां कोई नहीं । जो भगवन्-गुणानुवादसे विमुख होता है, उसे गो (पशु) घाती कसाई समझनेमें कोई भी हर्ज नहीं ।

प्राकृतिक गुण और भगवद्गुण

शास्त्रोंमें प्रकृतिके तीन ही गुण कहे गये हैं । परन्तु भगवान्के गुण अभिन्न हैं । प्रकृतिके यह तीनों गुण (सत्त्व, रज और तम) मलिन और बन्धनकारक हैं; परन्तु भगवान्के गुण इसके विपरीत 'दिव्य' और भव-बन्धनको छुड़ानेवाले हैं । प्रकृतिके गुण दोषोंमें व्याप्त और परिमित हैं । भगवान् 'निर्दोषानन्तकल्याणगुणगणपरिपूर्ण' हैं । पृथ्वीके रजकणोंको किसी समयतक गिन लेना सम्भव हो सकता है, परन्तु भगवान्के गुणोंकी गिनती कोई भी

कभी नहीं कर सकता । जो भगवद्गुणोंकी गणना करनेको तैयार होता है, उसे बाल-बुद्धि या मूर्ख ही समझना चाहिये ।

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तान्

अनुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः ।

रजोसि भूमर्गणयेत्कथञ्चित्

कालेन नैवास्मिकशक्तिषाञ्च ॥

(श्रीमद्भा० ११/४/१)

एक गूलरके पेड़पर हजारों गूलरके फल होते हैं और ऐसे गूलरके वृक्ष पृथ्वीपर हजारों होते हैं, इसी प्रकार ईश्वरके शरीरमें अनन्त ब्रह्माण्ड समाये हुए होते हैं ।

करीबों ब्रह्माण्ड जिसके एक रोमरन्ध्र अर्थात् एक अंशमें स्थित हैं उस परमेश्वरकी महत्ता अल्पबुद्धिके मनुष्यकी समझमें कैसे आ सकती है ? श्रीमद्भागवतमें त्र्यम्बकपुराणके प्रसंगमें सृष्टिकर्ता श्रीब्रह्माजीने भगवान्की स्तुति करते हुए कहा है—

काह तमोमहदहं सच्चराग्रिवार्मु-

संवेष्टिताष्टषट्सप्तवितस्तिक्तायः ।

कंदर्गिवा विगणिताष्टपराणुभ्यां

वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥

तारपर्यं वह है कि परमेश्वर अनन्तरूप है । उनकी अनन्तताका चिन्तन करनेमें चित्त फटकर गल जाता है; अल्पचेतस् पुरुषका यह काम नहीं है । जैसे परमात्मा असीम है, वैसे ही उनके गुण भी अनन्त हैं, तथा उनकी शक्ति भी अनन्त (अपरिमित) है । जगत्के उद्धारके लिये उस ब्यालु परमात्माने जिस दिव्य अवतार-शरीरको धारण करके दिव्यलीला की है जो मनुष्य उसे जानकर उसका गुण-गान करेगा वह जन्म-कर्मके बन्धनमें मुक्त हो जायगा ।

अवतार-महिमा

परमेश्वरकी शक्ति 'अष्टनवटनापटीयसी' है । कोई भी उसका पार नहीं पा सकता । उसी शक्तिमें वह हम मूमण्डलपर प्रकट होता है । उसके जन्म (अर्थात् अवतार-रूपमें प्रकट होना) और कर्म 'विध्य' होते हैं । ऊपर-के कथनानुसार भगवान्के उन दिव्य जन्म-कर्मोंको जानने-वाला पुरुष अपने सज्जन जन्म-कर्मसे मुक्त हो जाता है ।

भगवान्के जन्म और कर्म विध्य होते हैं, प्राकृत लोगोंके अनुसार नहीं होते । जो उन्हें समझ लेता है वह

मुक्त हो जाता है, ऐसा श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है । ॥ इसपर यदि कोई कहे कि 'मुक्ति तो ज्ञानके द्वारा होती है, फिर भगवान्के दिव्य जन्म और कर्मोंको जाननेसे विशेष लाभ क्या है ? इसका उत्तर यह है कि निगुणोपासकको आत्मज्ञानके प्राप्त करनेमें अत्यन्त श्रमकी आवश्यकता पड़ती है, परन्तु सगुणोपासकको श्रमके बिना ही परमगतिकी प्राप्ति होती है, यही इसका विशेष लाभ है । यदि कोई पूछे कि ज्ञान हो जानेपर सगुणोपासनाकी क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि ज्ञानके परिपाकके लिये सगुणोपासनाकी अत्यन्त आवश्यकता है, इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखना चाहिये । पञ्चमहाभूतोंको भगवान्ने जीवोंके कर्मबन्धनके लिये अपनी कल्पनासे उत्पन्न किया है । ऐसे (बन्धनारमक) देहोंमें भगवान्के अवतार-देहकी महिमा नहीं आ सकती । अविद्यामें कर्म करनेवाले जीवको पञ्चभूतारमक देह धारण करना पड़ता है, क्योंकि पञ्चभूतारमक कल्पनामें भगवान्का अनादि संकल्प ही वैसा होता है । अवश्य ही पञ्चभूत भी भगवान्की कल्पना है और अवतार-देह भी भगवान्की कल्पना है । परन्तु दोनोंमें बड़ा अन्तर है । बेड़ी भी लोहेकी होती है और उसके तोड़नेका शस्त्र भी लोहेका ही होता है तथा दोनों वस्तुएँ लोहारकी कल्पनामें उत्पन्न होनी हैं, किन्तु पहली वस्तु बन्धनकारक और दूसरी मुक्तिप्रद होती है । इसी प्रकार अविद्याके द्वारा जीवके पञ्चभूतारमक अद्भुत शरीरको धारणकर नर-देहमें नाना प्रकारके कर्मोंको करते हुए उनके फलको भोगना भी भगवान्की कल्पना है और सज्जन-क्रियमाण कर्मोंके साथ जीवोंकी अविद्याके नाश करनेका संकल्प करके अवतार-देह धारण करना भी सच्चिदानन्द भगवान्की ही कल्पना है । दोनों ही कल्पनार्थ भगवान्की हैं, परन्तु भगवत्संकल्पके अनुसार पाञ्चभौतिक देह बन्धनकारक है और अवतार-देह कर्म-बन्धनमें छुड़ानेवाला है । जीवोंके देह 'पाञ्चभौतिक' तथा अवतार-देह 'शुद्ध सत्त्वामक' होते हैं । दोनोंमें अभावस्था और पूर्णिमा, एवं कौयले और हीरेके सदृश अन्तर होता है । इसी कारण भगवान्का अवतार-देह मानव-देहधारी जीवोंके लिये निरन्तर मेघ्य होता है । ईश्वरके अनन्त अपार व्यापक स्वरूपकी उपासना साधारण बुद्धिके मनुष्य-

ॐ जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।

त्यक्त्वा देह पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽजुं ॥

(गीता ४/१)

के लिये दुष्कर और असम्भव है। इसलिये उन्हें अवतार-शरीरकी ही उपासना करना योग्य है। इस विषयमें स्वामी विवेकानन्द भगवद्‌वचनके अनुसार कहते हैं—ॐ

‘भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि, ‘जब-जब धर्मका हास होता है और अधर्म बढ़ने लगता है, (तब-तब) मैं मानव-जातिकी रक्षाके लिये आता (अवतार लेता) हूँ। मृदु लोग, जो यह नहीं जानते कि मुझ सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक जाग्रियन्ता परमात्माने ही मानव-रूप धारण किया है, मेरी भजना करते हैं तथा मुझमें सन्देह करते हैं। उनकी बुद्धि आसुरी अज्ञानमें आन्त हुई होती है, इसीलिये वे भगवान् श्रीकृष्णमें जगत्-प्रभुके रूपको नहीं देख सकते। भगवान्‌के ये महान् अवतार पूजनीय हैं, यही नहीं, उनकी पूजा अनन्य भावमें होनी चाहिये।

मुहान्ते ह्यस्मदादयः

निर्गुण रूप तुल्य अति सगुण न जनि कोय ।

(तुलसीदासजी)

भगवान्‌के ‘अवतारमनसोच्चर’ निर्गुण स्वरूपको जान लेना सहज है, परन्तु उनके सगुण अवतार-तत्त्वको जानना कठिन है। जगत्‌में जब धर्मकी ग्लानि होती है तथा अधर्मका अन्त्युत्थान होता है अर्थात् जगत्‌में सुख-स्वाम्यके नियमोंमें व्यतिक्रम होकर दुष्टोंके प्राबल्यमें जहाँ-तहाँ दुःख-शर्मनस्यकी वृद्धि हो जाती है, उस समय उसके निवारण करनेकी शक्ति किसो भी मनुष्यमें नहीं रहती, चाहे वह लौकिक दृष्टिसे महा बलवान्, मार्बभौम सत्ताधीश अथवा पारमार्थिक दृष्टिसे महासाधु, जीवन्मुक्त एवं महान् तपस्वी ही क्यों न हो। ऐसी अवस्थामें परमेश्वरी-शक्तिकी ही अपेक्षा होती है। वशिष्ठ-विश्वामित्रके समान महातपस्वी ब्रह्मज्ञानी

* ‘Whenever virtue subsides and immorality prevails, I come to help mankind’ Says Krishna, “Fools not knowing that I, the omnipotent and omnipresent God of the Universe, have taken this human form, deride me and think how that can be.” Their minds have been clouded by demo iacat ignorance, so they cannot see in Him the Lord of the Universe. These great incarnations of God are to be worshipped. Not only so, they alone can be worshipped.’

और ब्रह्मनिष्ठ पुरुष भी जगत्‌के कल्याणके लिये परमात्माकी अवनार-शक्तिकी सहायता चाहते हैं और उसके लिये अनन्य भावसे प्रार्थना करके भगवान्‌को अवतरित कराते हैं। सृष्टिके अन्तर्गत रहनेवाले तत्त्वामिमानी देवता भी अवतार लेनेके लिये परमेश्वरकी प्रार्थना करते हैं। श्रेष्ठ भक्तोंकी प्रार्थनामें ऐसी शक्ति होती है, जो भगवान्‌को निर्गुण निजानन्वस्वरूपसे बाहर लाकर सगुण घनानन्दस्वरूप धारण करनेके लिये बाध्य करती है। भक्तोंकी यह प्रतिज्ञा है कि ‘हम भगवान्‌को निराकार न रहने देंगे, उसे साकार-रूप धारण करायेंगे।’ ॐ

भगवान् सर्वज्ञ हैं; श्रेष्ठ भक्त प्रार्थना करते हैं, परन्तु किस युगमें, किस कार्यके लिये, किस रूपमें अवतार धारण करना होगा यह निश्चय करना भगवान्‌के ही हाथकी बात है और उस निश्चयके अनुसार ही भगवान् अवताररूपमें प्रकट होते हैं। परन्तु पृथ्वीपर अवताररूपमें प्रकट होनेपर भी भगवान्‌को पहचान लेना सहज बात नहीं। इस विषयमें बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी पुरुष भी कभी-कभी चक्कर-में पड़ जाते हैं। अधिक क्या दिव्य दृष्टिवाले देवोंके राजा इन्द्र और देवश्रेष्ठ ब्रह्माजी भी भगवान् श्रीकृष्णके अवताररूपको न जान सके, यह बात प्रसिद्ध ही है। ‘मुहान्ते ह्यस्मदादयः’ अर्थात् हमारे समान लोग भी मोहको प्राप्त होते हैं, गव्वं छोड़कर स्वयं ब्रह्माजी जब यह स्वीकार करते हैं तो औरोंकी तो बात ही क्या है ?

जीवोंके देह और अवतार-देह

जीवोंके शरीर ‘कर्म-देह’ और भगवान्‌के अवतार-शरीर ‘लीला-देह’ हैं। अवतार-देहोंको ‘लीला-तनु’ और ‘लीला-विग्रह’ भी कहते हैं। इसमें ‘लीला’ शब्दसे स्वेच्छा ध्वनित होती है। जीव अपनी इच्छासे देह धारण नहीं कर सकते, क्योंकि जीव कर्माधीन हैं, उन्हें कर्मोंके अनुसार विभिन्न योनियोंमें विभिन्न प्रकारके देह मिलते हैं। परमेश्वरके विषयमें ऐसी बात नहीं, वे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परारपर पुरुष हैं और अपनी इच्छाके अनुसार जैसा चाहिये वैसा देह धारण कर सकते हैं। देह धारण करनेमें तथा उस देहद्वारा नाना प्रकार-के कर्म करनेमें भगवान्‌का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। उनका देह धारण करना तथा कर्म करना केवल जगत्‌के कल्याणके लिये होता है। इसीलिये उनकी ‘दिव्य’ संज्ञा

* देवा हाता रूप धरवुं प्राकार । नेदु निराकार होऊं त्यासी ॥

(प्रभाकर)

है। भगवान् ने स्वयमेव कहा है कि —‘जन्म कर्म च मे विध्यम्’ तात्पर्य यह है कि भगवान् के जन्म-कर्म ‘दिव्य’ और जीवों-के जन्म-कर्म ‘मलिन’ होते हैं। मलिन जन्म-कर्मका नाश दिव्य जन्म-कर्मके ज्ञान और उपासनासे होता है, यह स्वाभाविक ही है। श्रीशुकदेवजी तथा वामदेव-सरीखे महा-मुक्त पुरुष भी भगवान् की सगुण लीलाके स्वरूपको प्रेमपूर्वक भजते हैं। राजसूय-यज्ञके समय धर्मराज युधिष्ठिर महाराज-के यहाँ उठायी हुई जूटे पत्तलोंके अक्षकण्ठको महामुनियोंने पत्नीरूपमें आकर खाया था, यह बात प्रसिद्ध ही है। गोकुलमें गोपबालकोंके वन-भोजनके प्रसंगमें इन्द्र आदि देवता भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीके हाथ तथा मुखकी जूँटन पानेकी अभिलाषासे यमुनामें मछलियाँ बनकर आये थे, यह भी प्रसिद्ध ही है। धृति भी कहती है—

‘ये सर्वे देवा नर्मान्त मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च’

ईश्वर सामर्थ्यवान् हैं, इसलिये सब देवता उन्हें नमस्कार करते हैं, मुमुक्षु पुरुष ज्ञानकी प्राप्तिके लिये उनको भजते हैं और ज्ञानी पुरुष केवल प्रेमके लिये उनकी भक्ति करते हैं। ऐसा श्रीगुलाबराय महाराज अपने योग-प्रभाव नामक ग्रन्थमें कहते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

आत्मरामाश्च मुनयो निश्चिन्ता अप्युत्क्रमे ।

कुर्वन्त्यहेतुकी भक्ति इत्यभूतगुणो हरिः ॥

अर्थात् अपरोक्ष ज्ञानी लोग, आत्मक्रीडा, आत्मरति करनेवाले महापुरुष, जिनको संसारमें कोई कार्य करना शेष नहीं है ऐसे जीवन्मुक्त पुरुष भी उन उत्कृष्ट भगवान् की अहेतुकी भक्ति करते हैं, क्योंकि वह सगुण श्रीहरि ऐसे ही (विन्य) गुणसम्पन्न हैं। आत्मज्ञान-आत्मसाक्षात्कार, या ब्रह्मज्ञान-ब्रह्मसाक्षात्कार होनेके अनन्तर ही प्रेमा भक्ति-का अधिकार प्राप्त होता है, इसीको पञ्चम पुरुषार्थ कहते हैं। मुक्तिके उपरान्त—ज्ञानके उपरान्त भक्ति होती है, ये बातें शास्त्रोंद्वारा तथा सन्तोंके मुखमें बारम्बार सुननेमें आती हैं। इससे जिज्ञासु पुरुषोंको भगवान् के अवतार—देहका महत्त्व ध्यानमें आये बिना नहीं रह सकता।

भगवन्नाम गुणार्थबोधक और भगवद्रूप ही है

भगवान् के गुण अनन्त हैं, वैसे ही उनके नाम भी अनन्त हैं। क्योंकि उनके समस्त नाम गुण और प्रभावके द्योतक हैं। भगवान् नित्य हैं, अतः उनकी गुणलीला और नाम भी नित्य हैं। ‘अभिज्ञत्वात्मानामागिनोः’ अर्थात्

नाम और नामीमें अभिज्ञता होनेके कारण भगवान् के रूप-में जो गुण होते हैं वे ही गुण उनके नाममें भी होते हैं, इसका अनुभव नाम-प्रेमी सन्त ही जानते हैं।

नामचिन्तामणिः कृष्णचैतन्यरसविग्रहः ।

पूर्णशुद्धो नित्यमुक्तोऽभितत्वात्मानामागिनोः ॥

श्रीकृष्ण जैसे चिन्तामणिरूप, चैतन्यरसकी मूर्ति, पूर्ण, शुद्ध और नित्यमुक्त हैं, उसी प्रकार उनका नाम भी तत्स्वरूप अर्थात् नामीसे अभिज्ञ होनेके कारण उनके सब गुणोंसे युक्त है। श्रीगौरींग महाप्रभु कहते हैं—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-

स्तरार्पिता नियमितः स्मरणेन कालः ॥

व्यवहारमें वाच्य-वाचकका अभेद नहीं होता। ‘अग्नि’ शब्द और अग्नि पदार्थ एक नहीं। यदि एक होते तो अग्नि कहनेके साथ ही सुँह जल जाता। उसी प्रकार ‘गाय’ शब्द और गाय वस्तु, तथा ‘जल’ शब्द और जल वस्तु भिन्न-भिन्न हैं। कोई-कोई आलसी और अज्ञानी पुरुष व्यावहारिक दृष्टान्त देकर ऐसा कहते हैं कि जिसप्रकार सिर दर्द करे तो सोंठ घिसकर उसका लेप करना चाहिये, सोंठ-सोंठ कहनेसे दर्द दूर नहीं होता; तथा भूख जगनेपर अन्न खाना चाहिये, अन्न-अन्न कहनेसे पेट नहीं भर सकता। उसी प्रकार केवल ‘राम-राम’ या ‘हरि-हरि’ कहनेसे क्या लाभ होगा? परन्तु उन लोगोंको यह ज्ञात नहीं कि भौतिक पदार्थमें और उनके नाममें बड़ी भिन्नता होती है, परन्तु भगवान् में और उनके नाममें अभौतिकता होनेके कारण कुछ भी भिन्नता नहीं होती, यह शास्त्रोंका सिद्धान्त और सन्तोंका अनुभव है। इसलिये इसपर विश्वास करके अहर्निश भगवन्नाम-चिन्तनमें रत रहना चाहिये। भगवन्नाम-न्यवन ही भगवत्सेवा है। भगवान् की मूर्ति देखने अथवा उनका प्रत्यक्ष दर्शन होनेपर मनमें जो प्रेम और जो आदर उत्पन्न होता है वही प्रेम और आदर भगवन्नाम-चिन्तन करते समय होना चाहिये, तभी ‘नामनामिनोरभेदः’ यह तत्त्व अनुप्यके हृदयंगम हो सकता है।

भगवान् का साकार विग्रह नित्य रहता है, ऐसा प्रत्यय होनेपर उस विग्रहका नाम भी नित्य रह सकता है यह प्रत्यय होना चाहिये। क्योंकि ‘आकृतिभिश्च शब्दानां सम्बन्धो न व्यक्तिभिः।’ अर्थात् शब्दोंका सम्बन्ध शब्दोंके द्वारा सांकेतिक आकृतिसे ही होता है, व्यक्तिसे नहीं;

ऐसा भगवान् शंकराचार्यका कहना है। घट कहनेसे उसका अर्थ घट-विशेष न होकर घटाकार वस्तु ही होता है अर्थात् शब्दका सम्बन्ध जातिसे होता है, व्यक्तिसे नहीं। यावत् अविद्या जातिके नित्य होनेके कारण जिसप्रकार सब व्यावहारिक शब्द और उनके वाच्यर्थ यावत् अविद्या नित्य होते हैं, उसी प्रकार भगवद्विग्रह, विद्यावृत्तिसे जाननेयोग्य साकार होनेके कारण यावद्विद्या भगवन्नाम और भगवद्रूप नित्य हैं, शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध होनेके कारण भगवन्नाममें धारणा स्थिर होते ही रूपमें भी नामके साथ ही धारणा स्थिर हो जाती है। साधना-की पूर्वावस्थामें कोई भी एक धारणा होनेपर, दूसरीका उसमें अन्तर्भाव होता ही है, उसके लिये स्वतन्त्र प्रयत्न करना नहीं होता, यह प्रत्ययमें आता है। श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

समुक्षत सरस नाम अह नामी। प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी ॥
नाम रूप दोउ ईश उपासी। अकथ अनादि सुसामुक्ष साथी ॥

नामोच्चारण और नाम-स्मरण

भगवान् जिसप्रकार भव-बन्धनसे मुक्त करनेवाले और भक्तोंको निजार्त्त-सुख देनेवाले हैं, उसी प्रकार उनका नाम भी उनके गुण और शक्तिसे पूर्ण है।

‘अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥’

भगवान्की यह प्रतिज्ञा और शक्ति उनके नाममें भी है। भगवान्के नाममें पाप-हरण करनेकी जितनी शक्ति है, उतना पाप संसारमें कोई भी नहीं कर सकता, ऐसा उसका विरह है। सब पापोंका नाश और मोक्षपर्यन्त समस्त कामनाओंकी मिद्धि प्रदान करनेकी शक्ति नाममें है। परन्तु उसका यथार्थ सेवन होना चाहिये। नाम-सेवनके विषयमें कल्याणके पाठकोंको कोई नयी बात कहनेके लिये रह गयी है ऐसा सुनने नहीं जान पड़ता। तथापि सम्पादकजीकी आज्ञाके अनुसार, तथा अपना प्रिय विषय होनेके कारण मैंने यथामति कुछ लिखा है। मुझे आज्ञा है कि सज्जन पाठकोंको वह चरित-स्मरण न जान पड़ेगा तथा जिसप्रकार नीरोग मनुष्यको पिछले दिनोंके भोजनके पदार्थ पुनः खाने भी बर्ने तो मधुर ही लगेंगे, उसी प्रकार उन्हें यह विषय भी मधुर ही जान पड़ेगा। इसमें जो म्यूनता हो उसे पूर्ण कर लेनेमें सज्जन पाठक समर्थ हैं।

मगवत्प्राप्ति तथा मुक्तिके अनेकों साधन हैं और यह

३०

अनेकता नाना प्रकारकी प्रकृतिके लोगोंके लिये उत्पन्न हुई है और यह स्वाभाविक ही है।

‘कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ॥’—गीता
‘योगेनैवाप्यते परम्’—याज्ञवल्क्य।
‘ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुर्वते तथा ॥’
‘सर्वे ज्ञानभूदेनैव वृजिनं सतरिप्यसि ॥’—गीता
‘कावेरीतीयमाश्रित्य वतां यत्र प्रवर्तते।
तद्देशवासिनां मुक्तिः किमु तत्तीरवासिनाम् ॥’—अमिपुराण
‘चौर्येण वा शङ्करसेवया वा
शातोदरी सङ्गमवाञ्छया वा।
पुंसां उषित्वा पुनरेक रात्रं
मध्याहुने नास्ति शरीरबन्धः ॥’

—मध्याहुनमाहात्म्य

—काशीमाहात्म्य

कादयों मरणान्मुक्तिः

इसप्रकार कर्म, योग, ज्ञान, कावेरी-स्नान, काशी-मरण, मुक्षेत्रवास इत्यादि अनेक साधन मुक्तिप्राप्तिके लिये कहे गये हैं, तब फिर नाम-संकीर्तनरूपी साधनकी ही घोषणा करनेकी क्या आवश्यकता है, ऐसा प्रश्न पूछा जा सकता है। इसका उत्तर यही है कि—

ज्ञान-मार्गमें ‘ह्रुं शोऽधिकतरस्तेषां’ इस भगवद्वचनके अनुसार अत्यन्त क्लेश होता है; योग-मार्गमें ‘सुदुश्चरमिमां मन्ये’ इस भागवत-वचनके अनुसार बड़ी कठिनाता होती है; ‘गहना कर्मणो गतिः’ इस वचनके अनुसार कर्म-मार्ग अत्यन्त दुःस्वजनक होता है; ‘कावेरीतीयमाश्रित्य’ इस वचनमें मुक्तिकी परम्परागत साधना अथवा अर्थवाद निहित है; इसी प्रकार काशी-मरण प्रभृति अनेक साधन प्रायः श्रमसाध्य ही सिद्ध होते हैं; परन्तु नाम-संकीर्तन वैसा श्रमसाध्य नहीं है, यह तो अनायाससाध्य—सुखसाध्य है, इसलिये इसे निर्दोष और सब साधनोंका राजा कहते हैं। श्रीतुकाराम महाराज कहते हैं—

‘नाम-संकीर्तनं यद्यपि सुगम साधनं है, तथापि वह जन्म-जन्मान्तरके पापोंको दग्ध कर डालता है। नाम-संकीर्तनमें कोई परिश्रम नहीं लगता और न इसके लिये वनमें जानेकी ही आवश्यकता है। जहाँ रहो वहाँ ही बैठे-बैठे अनन्यभावसे भगवान्का अत्यन्त प्रेमपूर्वक नाम जो, वह सहज ही घर आकर दर्शन देंगे।’*

* नामसंकीर्तन साधन पै सोपे।

जलतीक पाये जन्मान्तरिचीं ॥

इसप्रकार सहस्रों सन्तोंके वचन हैं। इसी प्रकार वेद-शास्त्र-पुराणादिमें भी नाम-संकीर्तन-सम्बन्धी अनेक प्रमाण मिलते हैं।

उन प्रमाणोंमें नाम-साधनका महत्त्व पाठकोंके ध्यानमें भलीभाँति आ सकता है। तथापि 'विष्णोर्नामैव पुंसाम्' इत्यादि वचनोंमें जब एक बार नामोच्चारणसे महापातक नष्ट हो जाते हैं तो फिर नामकी बारम्बार आहुति क्यों की जाय ? इस प्रश्नका उत्तर नीचे दिया जाता है—

वाग्भिः स्तुन्वन्तो मनसा स्मरन्तः

तन्वा नमन्तेऽप्यनिशं न तुष्टाः ।

भक्ताः स्तवत्तेजजलाः समग्रं

आशुहरेरेव समर्पयन्ति ॥

—मांकरसाधृतसिन्धु

'स्मरतान्तमहर्निशम्०'

'अहोरात्रकीर्तयन्तो माम्०'

'आजन्ममरणं विष्णुं०'

—बारहपुराण

'सततं कीर्तयन्तो मा यतन्तश्च दृढव्रताः ।' —गीता

—इत्यादि वचनोंमें सिद्ध होता है कि भगवान्के नामकी बार-बार आहुति करना ही श्रेयस्कर है।

'राम कृष्ण हरि विट्ठल केशवा ।

मन्त्र हा जपावा सर्वकाल ॥' —श्रीगुणगाम

'अखंड हरि हरि बदा रे बापांन ।

अखंड हरि हरि बदा ॥' —श्रीअमृतराय

अहो जातां येतां बसत उठतां कार्यं करितां ।

सदा देतां धेनां बदनि बदतां प्रास गिलितां ।

घरीं दारीं शय्येवरी गतिमुखाचें अबसरीं ।

समस्तांची लजा लजुनि भगवन्निन्तन करीं ॥'

—श्रीवामन पण्डित

सांबत बैठत जगल ऊठत । जपना हरि हरि नाम ॥

हमारी निर्वनको धन राम ॥ —श्रीकबीरदासजी

नामापराध-दोष-रहित पुरुष हो तो उसे सकृत् (एक बार ही) भगवन्नामका उच्चारण करनेसे कृतकृत्यता प्राप्त

न लगती सायास जर्विं वनांतरा ।

सुखें येतो घरा नारायण ॥

ठाथिच बैसोनि करा एक चित्त ।

आवडीं अनंत आलबाबा ॥

हो जायगी। परन्तु जिनको पापके प्रतिबन्धक होनेके कारण तत्काल सिद्धि नहीं मिलती है, उनको नाम-संकीर्तनकी आहुति अर्थात् सतत जप करना चाहिये। इससे उनके पाप दूर होंगे तथा उन्हें अभ्युदय और निःश्रेयस्की प्राप्ति होगी, ऐसा पूर्वोक्तोंने क्षति, स्मृति तथा पुराणोंके आधारपर प्रतिपादन किया है तथा सन्तोंने इसको अपने चरित्रद्वारा संसारको दिखला दिया है।

अखण्ड जपसे वासनाका नाश होता है

सहस्रों विधियुक्त धर्म-कर्म करनेसे जो वासना-व्ययरूप अनुभव नहीं प्राप्त होता, वह अनुभव साधकको नामकी बाधधारामें, अविराम नाम-स्मरणसे प्राप्त होता है। उसे करके ही देखना चाहिये। नाम-स्मरणमें समस्त पाप दग्ध हो जाते हैं, यह बात तो शास्त्रोंपर विश्वास करके ही मानी जा सकती है, परन्तु पापोंका मूल दग्ध नहीं होता, यह अनुभवमें जाननेकी बात है। पापोंके मूलका अर्थ है आन्तरिक वासना। यदि मूल नष्ट न हो तो वृक्षमेंसे शंकु और पल्लवका निकलना बन्द नहीं होता, यह बात जिसप्रकार सिद्ध है उसी प्रकार पापोंका मूल अर्थात् वासना जबतक दग्ध नहीं होती है तबतक पापाचरणका अन्त नहीं हो सकता, यह बात भी उतनी ही विश्वसनीय है। चित्त-शुद्धिके पश्चात् ज्ञानका उदय होता है और उस चित्त-शुद्धिके लिये निष्काम कर्मका प्रतिपादन शास्त्रोंने किया है। कर्म-काण्ड चित्त-शुद्धिके लिये है, उपासना-काण्ड चित्तको स्थिर करनेके लिये है और ज्ञान-काण्ड मुक्ति-लाभके लिये है, इससे सब सुनते आये हैं परन्तु इस क्रमिक पद्धतिको अङ्गीकारकर अन्तिम ध्येयको प्राप्त करना आज-कल बहुत ही कठिन है। क्योंकि इन तीनों साधनोंमें सर्वप्रथम इन सबके आधारस्वरूप कर्मकाण्डको ही पार लगाना अत्यन्त कठिन है। आधुनिक युगके जीवोंको इसके लिये असमर्थ देखकर उनके सब सुहृद्, सखा और माता-पितारूपी सन्तोंने अत्यन्त दया करके शास्त्रविहित नाम-स्मरणका मार्ग खोल दिया है। परन्तु इस मार्गमें चलते हुए नाम-चिन्तन करनेवाले पुरुषको यदि यह प्रस्थान न हो कि मेरे 'पापोंका मूल' जल गया तो समझना चाहिये कि उसके नाम-स्मरणकी पद्धतिमें कहीं कोई भूल रह गयी है। सन्तोंने उस भूलको खोजकर उसको दुरुस्त करनेका मार्ग भी बतला दिया है।

भगवन्नामकी महिमाको न जानते हुए भी नाम

लेनेसे सब पाप नष्ट हो जाते हैं, यह उस नामरूपी वस्तुमें शक्ति है। यद्यपि इसप्रकार सब पाप सहज ही नष्ट हो जाते हैं तथापि पापोंके मूलका नाश होना सहज नहीं होता। इसके लिये तो नाम लेनेवालेको (नाम-महिमासे) अभिज्ञ होना चाहिये। वस्तुकी महिमाको जानकर और स्मरणकी पद्धतिको ध्यानमें रखते हुए जो नाम-स्मरण करता है वही पापोंके मूल अर्थात् वासनाको जला सकता है। अर्थभावनायुक्त सतत जप ही वासना-क्षयकी यथार्थ कुत्री है। इस विषयमें श्रीवामन पण्डित कहते हैं—‘एक छोटा-सा बालक अभिषिक्त शक्तिको न जानते हुए भी ताम्र आदि धातुओंपर अभि डाल दे तो वह अभि उन धातुओंके मलको तत्काल जला दे सकती है परन्तु उन्नी अभिमे यदि ताम्र-भस्म आदिका निर्माण करना हो तो उसके लिये मनुष्य (कर्ता) को अस्म-निर्माणकी विधि जाननेकी आवश्यकता पड़ती है। ॥ इसी प्रकार नामसे पाप और पापोंके मूलको जलानेके लिये नाम लेनेवालेको वह विधि अवश्य मालूम होनी चाहिये। केवल नामोच्चारण पापोंको जला सकता है, और उच्चारणके साथ-साथ स्मरण होनेसे पापोंका मूल भी जल जा सकता है। क्योंकि उच्चारण वाणीका धर्म है और स्मरण मनका—अन्तःकरणका धर्म है। पापोंका मूल अर्थात् वासनाका वास वाणीमें नहीं, अन्तःकरणमें होता है। इसलिये नाम-स्मरणकी अजल धारामे अनन्त जन्मोंकी अनन्त वासनार्थ जलकर भस्म हो जाती है।

जीवन्मुक्तिके तीन उपाय

अविचारण्य मुनिने अपने ‘जीवन्मुक्तिविवेक’ नामक ग्रन्थमें जीवन्मुक्तिके तीन उपाय बतलाये हैं—ब्रह्मावबोध, वासनाक्षय और मनोनाश। वह बतलाते हैं कि महावाक्योंके श्रवण-मननसे निःसन्देह ब्रह्मावबोध होता है तथापि पूर्वके प्रबलतर संस्कारोंमें ज्ञानके स्थानमें काम-क्रोधादि मनोविकार उठते हैं और वे समाधि-सिद्धिके मार्गमें प्रतिबन्धक होते हैं, ऐसी अवस्थामें ज्ञानीको एकान्तमें बैठकर छः या बारह मात्राओंके प्रणव-मन्त्रका

जप करना चाहिये। ब्रह्मावबोध, वासनाक्षय और मनोनाश इन तीनोंका एक ही साथ अभ्यास किया जा सकता है, परन्तु यह साधन अस्यन्त कठिन है। (परोक्ष) ब्रह्मज्ञान होनेके बाद इस प्रतिबन्धकरूपी दोषको समूल नष्ट होनेके लिये प्रणव-जप करना चाहिये, क्योंकि इससे शीघ्र ही मनोनाश और वासना-क्षय सिद्ध होते हैं। इसके लिये अल्पज्ञानीको जपका नियम दूसरा कौन बतलावेगा? उसके लिये तो जैसे प्रणव अर्थात् ओंकारका जप है वैसे ही भगवन्नामका जप भी विहित है। क्योंकि ओंकारको गीतामें (ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म) एकाक्षर ब्रह्म कहा गया है। उसी प्रकार इयंश्वर, चतुरश्वर हरि, नारायण, वासुदेव नाम भी ब्रह्मरूप ही हैं। इसी कारण यह भी ज्ञानीको सेव्य हैं।

जिसप्रकार राम-कृष्ण आदि अवतार-मूर्ति परब्रह्मके ‘साकार’ स्वरूप हैं उन्नी प्रकार हरिनाम भी उन्नी परब्रह्मका ‘ध्वनिरूप’ स्वरूप हैं। † जिसप्रकार अवतार ब्रह्मरूप हैं उसी प्रकार हरिनाम भी ब्रह्मरूप हैं, चिन्मय हैं, इसके अविरत अखण्ड मेवमने साधकोंकी इन्द्रियोंका जडत्व नष्ट हो जाता है और वे चिन्मय हो जाती हैं, तथा साधक चिदानन्दस्वरूपको प्राप्त होते हैं।

उच्चारणके भेद और स्मरणके प्रकार

‘नामोच्चारण’ और ‘नामस्मरण’के भेदको हम पहले ही बता चुके हैं, उच्चारण वाणीका धर्म है और स्मरण मनका धर्म है एवं काय, वचन और मन इन तीनोंमें उत्तरोत्तर श्रेष्ठता है। पाठकोंको यह बात बतलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। वाणीकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ है, अर्थात् वाणीके किये हुए उच्चारणकी अपेक्षा मनमें किया हुआ स्मरण अधिक श्रेष्ठ होता है, यह सिद्ध हुआ। तथापि शास्त्रोंक नामोच्चारणके भेदोंका कुछ विशद वर्णन करना अप्रासंगिक न होगा। इसलिये उन भेदोंको कहकर उसके पश्चात् स्मरण अर्थात्

† प्रणव (ॐ) एकचि अक्षर। म्हणनि हैं ब्रह्म ‘एकाक्षर’ ॥

तेमेचि ब्रह्म ‘चतुरश्वर’। ‘वासुदेव’ ‘नारायण’ म्हणानि ॥

तेसंचि उपनिषदी । दोनी अक्षरे ‘हरि’ पदों ॥

हैं ‘द्वयश्वर ब्रह्म’ वेदी । जैसा प्रणव ‘एकाक्षर ब्रह्म’ ॥

(यथार्थदीपिका)

‡ जैसी रामकृष्णादि ‘रूप’ अमिरामे ।

तैसे ‘ध्वनिरूप’ रूप सर्वसुगमे ।

अक्षर ब्रह्म नामें समस्त ही ॥

(यथार्थदीपिका)

* चातुर्वरी अनल नेणत बाल धाली ।

तो अभि धातुमल तों अति शाप्र जाली ॥

ताम्रादि भसहि तथा अनलेंचि जेव्हां ।

कर्त्ता अभिज्ञ बहु जालिळ धातु तेव्हां ॥

चिन्तनके भेदोंको संक्षेपमें कहकर लेखको समाप्त करना है।

नाम-जपके तीन प्रकार बतलाये गये हैं—वाचिक, उपांशु और मानस। (१) वाचिक अर्थात् बेलरी वाणीसे, जैसा हम साधारणतः बोलते हैं, वैसे ही स्पष्ट स्वरसे जप करना। (२) उपांशु अर्थात् केवल ओष्ठको हिलाते हुए, अपना शब्द अपने ही कानमें, अथवा अत्यन्त समीप बैठे हुए मनुष्यको ही सुनायी पड़े, ऐसा जप करना। (३) मानस अर्थात् ओष्ठ और जीभको न हिलाते हुए मन-ही-मन जप करना। इस मनके उच्चारणको मनके ही कानोंसे सुनना होता है। कोई-कोई नाम-जपके वाचिक, उपांशु, ध्वनि, मानस, ध्यान और अनन्य, ऐसे छः प्रकार बतलाते हैं। उनका विवरण विष्णुसमर्थसे यहाँ नहीं किया जाता।

१-वाचिक-जपसे हृलोकके भोगोंकी प्राप्ति।

२-उपांशु-जपसे स्वर्गलोककी प्राप्ति; तथा—

३-मानस-जपसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, ऐसा इनका फल कहा गया है। इस विवेचनमें मानस-जपको उच्चारण-भेदके ही अन्तर्गत रक्खा गया है। परन्तु शास्त्रमें—

‘मानसो मनसा कार्पो मन्त्रवाक्यार्थचिन्तया।’

—उसका ऐसा लक्षण अथवा स्वरूप कहा गया है। और उसका अर्थ ‘तज्जपन्मदर्थभावनम्’ अर्थात् अर्थभावना-युक्त जप करना है। परन्तु अर्थका ध्यान करते हुए यदि वाचिक और उपांशु-पद्धतिमें भी जप किया जाय तो उसमें कोई हर्ज नहीं होता। अर्थका विचार किये बिना भी केवल अक्षरोंका उच्चारण ओष्ठ और जीभको न हिलाये हुए मनद्वारा किया जा सकता है। यह सब बातें बुद्धि-के संकल्पपर स्थित हैं। क्योंकि ‘बुद्धि-तत्त्व मानस-तत्त्वकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। मनपर अधिकार जमाये रखनेकी शक्ति बुद्धिमें है। मनमें केवल उच्चारण करानेका संकल्प यदि बुद्धि करती हो तो मन उतना ही काम कर सकेगा, अधिक नहीं कर सकता। इसलिये उपर उच्चारणके त्रिविध भेदोंमें ही हमने मानस-जपका समावेश किया है। इसे पाठकों-को ध्यानमें रखना चाहिये।

स्मरणके प्रकारोंको बतलाने समय मनके कार्योंका वर्णन स्वाभाविक ही हो जाता है। पहले इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये कि ‘वाणी’ कर्मेन्द्रियोंमेंसे एक इन्द्रिय है और ‘मन’ अन्तःकरणमेंसे एक करण है। यह बात ध्यानमें रखने तथा कर्मेन्द्रियोंकी अपेक्षा

ज्ञानेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंकी अपेक्षा अन्तःकरण-वस्तुष्वय श्रेष्ठ है, यह जाननेपर यह बात सहज ही ध्यानमें आ जा सकती है कि मनको स्मरणपूर्वक इन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियोंका राजा क्यों कहा जाता है। परन्तु मन अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ बुद्धि-तत्त्वके अधीन रहे तो वह अद्भुत उत्तम कार्य कर सकता है; वैसे न करके यदि वह इन्द्रियोंके अधीन रहेगा, अपने अधिकारोंको भूलकर इन्द्रियोंका गुलाम बनेगा, इन्द्रियोंके इशारेपर नाचेगा, तो वह जीवको अधोगतिकी ओर ले जायगा। इस समको ध्यानमें रखते हुए ही साधकोंको चाहिये कि मनको अवण, मनन, निदि-ध्यासनके द्वारा शुद्ध हुई बुद्धिके अधीन कर दे, इसमें वही मन साधकोंको मोक्ष प्रदान कर सकता है। ‘मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः’ इसका यही अभिप्राय है।

‘उच्चारण’ वाणीका काम तथा ‘स्मरण’ मनका काम है, यह बात उपर अनेकों बार कही जा चुकी है, अतः यह कहनेकी अब आवश्यकता नहीं है कि केवल उच्चारणकी अपेक्षा स्मरण श्रेष्ठ है। परन्तु, उस स्मरणका स्वरूप क्या है, इस बातको बतलाये बिना यह विषय पूर्ण नहीं हो सकता। अतः इस विषयमें संक्षेपमें कुछ कहा जाता है। जिस पदार्थ अथवा विषयको हम पहले देखे या सुने हुए होते हैं उसीका स्मरण हो सकता है। अश्रुत, अदृष्ट अथवा अनुभवहीन विषयका स्मरण हो ही नहीं सकता है। इस स्मरणमें शब्दोच्चारण कभी हो सकता है और कभी नहीं भी हो सकता है। किसी विद्वानके सुने हुए व्याख्यानका स्मरण होता है तब उसमें मानसिक शब्दोच्चारण हो सकता है, परन्तु कल स्वाये हुए पदार्थका, मिले हुए मिश्रोंका अथवा स्मृत स्त्रीका जब स्मरण होता है तब उसमें शब्दोच्चारण नहीं होता। मनमें केवल भावका उदय होता है अर्थात् मन वंसा आकार धारण करता जाता है।

उसी प्रकार नाम-स्मरण करने समय शब्दके साथ-साथ भावोंका चिन्तन करना ही यथार्थ नाम-स्मरण है। ऐसा न होनेसे केवल ‘नामोच्चारण’ होगा। उदाहरणार्थ, ग्राम कहते ही हमारी भावना ग्रामके आकारकी हो जाती है, मेढकके आकारकी नहीं होती। मेढक कहते हमारी भावना मेढककाकार होती है, मोटाके आकारकी नहीं होती। सो० सिलक कहनेपर हमारे मनश्रुते सामने पञ्चम जार्ज नहीं खड़े हो जाते। पञ्चम जार्जका नाम केनेपर हमारे सामने महारमा गौधी नहीं खिन्ते। अर्थात् जिसका नाम क्रिया

जाता है उसका स्वरूप आँखों (मनमनुष्य) के सामने खड़ा होना चाहिये; तभी वह नाम लेना सार्थक होगा। अतः जिसका नाम लेना हो उसका स्वरूप स्वयं देखकर अथवा सुनकर जान लेना होगा, तभी नामके साथ नामीका स्वरूप आँखोंके सामने दीखने लगेगा और तभी वह 'नामस्मरण' होगा एवं शास्त्रोंके द्वारा अथवा सन्तोंके मुखसे भगवान्‌के स्वरूपका जैसा ज्ञान हमें प्राप्त हुआ होगा वैसा ही नामके साथ-साथ नामीका स्वरूप हमारी आँखोंके सामने आने लगेगा।

१-अधिकारानुसार यदि किसीको नामके साथ-साथ नामीका निर्गुण सच्चिदानन्द, प्रत्यक्षारम्भरूप भासने लगेगा, तो दूसरेको—

२-नामके साथ-साथ तत्प्रिय सगुणरूप दिखलायी देगा। और तीसरेको—

३-नामके साथ-साथ सगुण अथवा निर्गुण स्वरूपका स्फुरण न होकर भोले भावसे केवल नामकी ध्वनि ही श्रुति-गोचर और भावगोचर होगी। तात्पर्य यह है कि नामस्मरण-रूप साधनामें लगानेके पूर्व नामीके स्वरूपके (अपने अधिकार तथा बुद्धिकी योग्यताके अनुसार) किसी भी एक भावको

सिद्ध करके नाम-स्मरणके साथ-साथ उस भावके चिन्तनका अभ्यास करते रहना चाहिये। इसप्रकार नामसाधन करते समय परधन, परस्त्री आदि बाह्य विघ्न तथा लय और विषेय आदि आन्तरिक विघ्न बाधा न हों, इसके लिये साधधान रहना चाहिये। नामके साथ सिद्ध किये हुए नामीका भाव चित्तमें स्थिर न हो तो फिर नामकी ही अनन्यभावे शरण लेनी चाहिये। श्वासके साथ अथवा सम्भंगके साथ अथवा दोनोंके साथ नाम-जप हो तो साधकके निश्चयके अनुसार नामी अर्थात् भगवान्‌ उसके सब विघ्नोंकी दूर करके उसके अन्तःकरणमें अपने निजानन्दस्वरूपकी प्रकट करेंगे और उन्हे अपनी परामर्शिक देकर कृतार्थ करेंगे।

नामरूपी दीनदयालु भगवान्‌ पाठक और लेखककी धैर्यी सुबुद्धि देकर उनका 'आत्यन्तिक कल्याण' करें—

नमोऽस्तु नामरूपाय नमो नामप्रकाशिने ।
नमोऽस्तु नामसाध्याय नमस्ते नामधामिने ॥
नमोऽस्तु नाममग्न्याय नमस्ते नाममन्त्रिणे ।
नमोऽस्तु नामधन्याय नमस्ते नामशान्तये ॥
नमोऽस्तु नाममोक्षाय नमो नामप्रतापिने ।
नमोऽस्तु नामसेव्याय नमो नामविमर्शिने ॥

ईश्वर-स्तवन

(लेखक—श्रीकृष्णलालजी विशारद 'हंस'।)

जय जय जय विश्वेश :

अविरल अविचल शुचिन्तम गुरुतर जयति रमेश ॥ जय० ॥

अज अखण्ड अधिपति अविनाशी,

परम प्रबल बल विश्व-विलासी;

जय जगवन्दन, आनन्दकन्दन, दुष्टनिकन्दन, जय देवेश ।

जय कमलेश :

भक्त-हृदय-सरसिज-हित दिनमाणि जय निखिलेश ॥ जय० ॥

नारायण निर्गुण गुण-गण-रति,

जीवन जगदाधार विश्वपति;

करुणासागर, अगतउजागर, शुभगुण-आगर, जय प्राणेश ।

जय परमेश ;

निर्विकार, निर्लेप विश्वधन, जय करुणेश ॥ जय० ॥

प्रच्छन्न नास्तिकताका विस्तार

(लेखक — चतुर्वेदी प० श्रीदारकाप्रसादजी शर्मा)



ल्याणके सम्पादक भी विलक्षण खोपड़ीके जीव प्रतीत होते हैं ! जिस ज़मानेमें लोग ईश्वरको बालाए-ताऊँ रख, मनमानी करने-पर तुल्य हुए हैं, जिस ज़मानेमें ईश्वर केवल झूठी शपथ ले झूठ बोलनेका सुरक्षित साधन रह गया है, उस ज़मानेमें इनको सूझी है 'कल्याण' का 'ईश्वराङ्क' निकालनेकी !

बलिहारी हैं इनकी इस अजीब सूझकी ! क्या विशेष अङ्क निकालनेकी और कोई विषय नहीं सूझा ? इनको तो आजसे कई सौ वर्षों पूर्व हम धराधामपर अवतीर्ण होना था, न कि इस नवीन सभ्यताके चौंधिया देनेवाले ज़मानेमें । ये इन दकियानुसी विचारोंका प्रचार-कर क्यों देशकी उन्नतिको संकड़ों वर्षों पीछे टाँग पकड़कर खींच रहे हैं ?

अभी थोड़े ही दिनोंकी बात है कि प्रयागके 'लीडर' नामक दैनिक पत्रमें किसी अङ्गरेजी अखबारकी एक कतरन उद्धृत की गयी थी । उसमें लिखा था कि 'रूस' देशकी सोवियट सरकारने सरकारी स्कूलोंमें पढ़नेवाले बच्चोंके लिये जो नयी पाठ्य पुस्तकें लिखवायी हैं, उनमें पहला पाठ ईश्वरके श्रान्तिपर है । पाठमें लिखा है—'अकर्मण्य, पर-वञ्चक और स्वार्थी लोगोंने अपना उल्लू साधा करनेको ईश्वर नामकी एक वस्तु-विशेषकी कल्पनाकर सारे संसार-को धोखेमें डाल रक्खा है । असलमें ईश्वर कोई चीज ही नहीं है ।' ऐसे भावोंसे पूर्ण पुस्तकें बच्चोंको पढ़वा, रूस देशकी सोवियट सरकार अपने राज्यके भावी नागरिकोंके मनसे ईश्वरका अस्तित्व लोप करनेपर तुली हुई है । इतना ही नहीं—लेखकका कहना है कि रूसराज्यमें बसनेवाले आत्मिक जर्मन किसानोंपर हमलिये बड़े-बड़े आयाचार किये जा रहे हैं कि जिसमें वे ईश्वरकी चर्चा और उसपर विश्वास करना त्याग दें । जो आत्मिक एवं ईश्वर-निष्ठ जर्मन सोवियट सरकारकी इस आज्ञाकी अवज्ञा करते हैं, कहा जाता है, वे साहूब्राह्मणोंको भेज दिये जाने हैं और वहाँ वे अति शीघ्र काल-कवलित हो, अपना अस्तित्व मिटा देने हैं ।

हमारे देशके एक प्रधान राष्ट्रीय नेता भी अपने एक

भाषणमें अपने आपको Anti-God घोषित कर चुके हैं । अतः अब वह दिन दूर नहीं है, जब इस देशकी शासन-जगाम ऐसे लोगोंके हाथ आते ही, वे उन्नति-कामी नेता, इस देशमें भी सोवियट सरकारकी उक्त नीतिका अनुकरण-कर, ईश्वरके विरुद्ध एजिटेशन खड़ा करेंगे, जिससे यह देश बात-की-बातमें उन्नतिके शिखरपर चढ़ा हुआ देख पढ़ने लगेगा ।

देखनेमें आता है कि इस देशमें भी ईश्वरके विरुद्ध आन्दोलनका श्रीगणेश तो हो ही चुका है । लोग कहते तो हैं कि ईश्वर है और वह सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वो-न्तर्हामी और सर्वद्रष्टा भी है; पर व्यवहार्यतः वे ऐसा मानते नहीं ।

ईश्वरके बारेमें लोग जैसा कहा करते हैं, यदि वैसा ही मानते भी होने और तदनुसार चला भी करते तो संसारमें न तो कहीं पुलिसका नामोनिशान देख पड़ता, न कोई राज्य फौज-व्यादा ही रखता और न वकील-मुख्तारोंका कोई नाम सुनता । क्योंकि जब लोग ईश्वरको सचमुच सर्वव्यापी मानते, तो अपराध कहाँ करते ? लोगों-की आँख बन्धा चोर, उठाईंगारे, गिरहकट क्यों अपनी दुःस्वदायिनी करतूतोंसे लोगोंको विरक्त करते ? इस धरा-धामपर अपराधोंकी संख्या शून्य होती । यदि यथार्थतः ईश्वर सर्वव्यापी माना जाता तो दौंगी लोग क्यों मान कोठोंके भीतर बँड, पापकर्म करते ? यदि ईश्वरको लोग सचमुच सर्वव्यापी मानने होने, तो क्यों बेईमान, कृतघ्नी और विश्वासघातक जन, भलेमानमोंको मनाते और उनका सर्वस्व डबप जनताको विधुवध करते ? यदि ईश्वर वाम्बवमें सर्वव्यापी समझा गया होता, तो हेमार्द्रा आदि बड़े-बड़े प्रायश्चित्त-विधायक पोथीकी सृष्टि क्यों की जाती ? यदि लोग जैसा ज्ञानमे कहते हैं, वैसा ही समझते और करते होते, तो भारतवर्षमें तार्जिरान-हिन्दूका पुनीत प्रादुर्भाव क्यों होता ? यदि लोग ईश्वरको सर्वव्यापी मान संसार-यात्रामें प्रवृत्त होने, तो वेदिकोंके सन्व्योपासनमें आश्विन मन्त्रकी आवश्यकता ही क्या थी ? ईसाइयोंको क्यों रात-दिन अपराधोंको क्षमा करानेकी चिन्तामें डूबना पड़ता, मुसलमान क्यों तोबा-तोबा का चीत्कार करते ?

हमारे सामने प्रश्न यह नहीं है कि ईश्वर सर्वव्यापी, सर्वसाक्षी, सर्वद्रष्टा और सर्वान्तर्धामी है कि नहीं ? प्रश्न तो यह है कि जो लोग ईश्वरको उक्त गुणोंसे सम्पन्न मानते हैं, वे स्वयं अपने मतानुकूल आचरण भी करते हैं कि नहीं ?

नित्य देवनेमें तो यह आता है कि ईश्वरको उपयुक्त गुणोंसे सम्पन्न मानकर भी कार्यतः वे उक्त गुणोंका केवल स्वयं ही नहीं कर रहे हैं प्रत्युत वे तो ईश्वरके अस्तित्व-तकको भेट रहे हैं । हमारी समझमें तो ऐसे लोगोंसे वे लोग कहीं हट बिचारेवाले हैं जो बकौल उर्दू भाषाके एक शायरकी इस उक्तिके—

पिये मैं आशकारा हमका किसकी सादिया चोरी ।

खुदाकी गर नहीं चोरी तो फिर बंदेकी क्या चोरी ॥

अर्थात् हम हर काम सुलभसुल्ला करेंगे, समाज भले ही हमारे कामोंको बुरा ही क्यों न समझे । जब हमें ईश्वरहीका डर नहीं है तो फिर हम उसके बन्दे यानी इन्सानमें क्यों डरने लगे ?—अनुसार व्यवहार करने हैं ।

यद्यपि इनका यह कथन ईश्वरकी गवर्नमेंण्टके प्रति एक प्रकारका 'सिविल-डिसओबिडियेंस' है, तथापि इसमें दुर्भ-पास्वयका लेश न होनेसे यह नफरतकी चीज़ नहीं है । हाँ, यह उद्दण्डता और बेहयायी अवयव है ।

ईश्वरके सर्वसाक्षिस्वको माननेवाले लोग, जब जान-बूझकर जीती भस्मी निगल जाते हैं, हाँब बंद-बंदकर संवधा मिथ्या भाषण करते लज्जित नहीं होते और 'राम-राम जपना पराया माल अपना' बनानेको, नाना प्रकारके दुन्द-फन्द रचते रहते हैं, जब लोग अपने उपकार-कर्ताका भी अनिष्ट करने नहीं लजाते, जब ऐसे लोग बड़े-बूढ़ोंकी पगड़ी-पर हाथ लपकाते भी नहीं हिचकते, जब अदालतमें जा और 'खुदाकी नाज़िर हाज़िर' कह, झूठके सिवा एक शब्द भी सच्चा नहीं बोलते, जब इस पापी पेटमें रोटीके दो टुकड़े डालनेवालेके कहनेसे लोग बड़े-बड़े आबरूदारों-को बेभाव कर डालते हैं, जब दो-चार रुपये पानेकी आशामात्रसे लोग दुष्टातिदुष्टकी प्रशंसाकर, उसे इन्दासन-पर बैठनेयोग्य बतला देने हैं, तब कहना पड़ता है कि

ऐसे आत्मिकोंसे, वे नास्तिक लाख दर्जे अच्छे हैं, जो किसी निजमान्य सिद्धान्तपर इदनापूर्वक आरुढ़ तो हैं ?

भले ही कोई ईश्वर-भक्त बननेका ठकोसला बना ले, पर यदि वह नीम रुपये मनकी दरसे खरीबी खरीद और उमें विशुद्ध धीमें मिला, उसको पचहत्तर रुपये मनकी दरसे बिक्री करना है, तो उसे हम कभी भी ईश्वरको सर्वद्रष्टा अथवा सर्व-कर्म-साक्षी माननेवाला नहीं कहेंगे । जो अपने-को बड़ा पण्डित बनाता है और लेकर देना नहीं जानता बल्कि 'अणं कृत्वा घृतं पिबेत्' के हेतु सिद्धान्तपर रात-दिन चलता है, उमें हम कभी ईश्वर माननेवाला आस्तिक नहीं कहेंगे । हमारी समझमें तो ऐसे लोगोंका ईश्वरका नाम लेना, ईश्वरके प्रति असम्मान प्रदर्शित करना है ।

जब तीन चौधियाईमें अधिक संसारकी जन-संख्या ईश्वरको और उसके सर्वान्तर्धामिस्वका मानती है, तब भी संसारमें पापोंकी संख्यामें उत्तरोत्तर वृद्धि होना क्या सिद्ध करता है ? यही न कि इस संसारमें सब्बे आत्मिकोंकी अपेक्षा प्रच्छन्न नास्तिकोंका संख्या सर्वाधिक है । यही कारण है कि आज इस संसारमें सर्वत्र अशान्ति, दारिद्र्य, चिन्ता, रोग, शोकादिका अटल साम्राज्य जमा हुआ है । फिर जिन जनोंके मनमें रात-दिन क्राधादि छः विकट शत्रु अखाड़ा जमाये हुए हैं, वे क्या इस योग्य हैं कि उस न्यायी, दयालु और अक्त-वत्सल ईश्वरका पवित्र नाम अपनी पाप-कुलपित जिह्वा-में ले ?

वेद, दर्शन, इतिहास और पुराण चिन्ता-चिन्ताकर ईश्वरके अस्तित्वकी घोषणा कर रहे हैं । यही क्यों—साक्षात् ईश्वर अपने अस्तित्वको स्वयं ही कितनी बार प्रत्यक्ष हो प्रमाणित कर चुके हैं । तब भी सृष्टिकी आदिमें आज तक, अधिकतर सांसारिक जीवोंकी प्रवृत्तिमें तिलभर भी अन्तर नहीं पड़ा । विवेकशील जनोंके निकट तो ईश्वरका अस्तित्व तभी चरितार्थ समझा जावेगा जब संसारमें पापोंकी संख्या-में कमी हो । 'कल्याण' के माजिकोंका ईश्वरांक निकालना भी तभी सार्थक होगा, जब ईश्वरके माननेवाले परस्पर शान्ति और सीहाद्वंसे रहने लगेंगे एवं पाप-कर्मोंसे विरत हो प्राणि-मात्रके लिये सुखदायी सिद्ध होंगे ।

श्रीहरि अरु हरि-भगतिमें जिहि मन नहि अनुराग ।

सो अति पापम पापमय पुण्यहीन हतभाग ॥

जीवात्माकी परमात्माके लिये पुकार

(लेखक—श्रीयुक्त जे० टी० सन्डरलेण्ड डी० बी०)

मेरा हृदय परमात्माको, अरे, सगुण परमात्माको पुकारता है।*—Old Testament.

जो जीव संसारमें परमात्माके आश्रयसे विहीन होता है उसकी असहाय अवस्था नीरस ही नहीं, एक प्रकारसे भयानक होती है †—Emerson.

जीवात्माकी ईश्वरके लिये पुकार जैसी मर्मस्पर्शी, करुण एवं अतुल्य होती है, वैसी और कोई भी प्रार्थना नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि जिस क्षण मनुष्यकी इस जगत्में सृष्टि हुई, उसी क्षण उसके अन्तरसे यह पुकार भी प्रारम्भ हो गयी। सृष्टिमें जबसे हमें मनुष्य-जातिका इतिहास उपलब्ध होता है तबसे बराबर यह पुकार जारी है और जबतक मनुष्यका अस्तित्व इस संसारमें रहेगा, तबतक इसके बन्द होनेका भी कोई कारण प्रतीत नहीं होता। संसारके समस्त उपासनाभवन, देवमन्दिर, मतमतान्तर एवं दर्शनशास्त्र इसी 'पुकार'को अभिव्यक्त करते हैं; संसारके काव्य, कला एवं संगीतका प्रादुर्भाव इसीसे होता है और मेरा ऐसा विश्वास है कि आगे चलकर विज्ञानका बान्धविक अभिप्राय भी यही सिद्ध होगा।

जिसप्रकार बालककी जन्मसे ही यह प्रवृत्ति होती है कि वह भूख लगनेपर इठाव माताके स्तनोंकी ओर दौड़ता है और जबतक उसे वे प्राप्त नहीं हो जाते तबतक उसे शान्ति नहीं मिलती। जिसप्रकार पक्षरबद्ध पक्षी पिंजरेके अन्दर छटपटाने लगता है और उसे तभी चैन मिलता है जब वह उससे छूटकर खुली हवामें उड़ने लगता है; जिसप्रकार मनुष्यके नेत्र प्रकाशके लिये सदा तड़फड़ाते हैं, मनुष्यकी बुद्धि सत्यकी उपलब्धिके लिये अधीर हो उठती है और मनुष्यका हृदय प्रेमवारिकी पिपासासे व्याकुल हो जाता है, उसी प्रकार यदि मनुष्यकी आत्मा अपने दौर्बल्य, अज्ञान एवं अपूर्यताके कारण व्याकुल हो उठती

* 'My heart crieth out for God, yea, for the living God.'

† 'Unlovely, nay, almost frightful, is the solitude of the soul which is without God in the world.'

है, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। उसकी दुर्बलता उसे इस बातके लिये प्रेरित करती है कि वह अपनेसे अधिक बलके लिये पुकार उठे, उसका अज्ञान उसे इस बातके लिये बाध्य करता है कि वह अपनेसे अधिक ज्ञानके लिये चिन्ता उठे, उसकी अपूर्यता उसे पूर्णताका आह्वान करनेको बाध्य करती है और जबतक ये तीनों चीजें मनुष्यको नहीं मिल जायें तबतक उसे शान्ति अथवा सुख नहीं मिल सकता। स्मरण रखना चाहिये कि ये तीनों ईश्वरमें अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हो सकतीं।

मेरी यह धारणा है कि मनुष्यके पूजागृहों, देवाल्यों तथा धर्मोपदेशोंके द्वारा ही इसकी अभिव्यक्ति होती हो तो बात नहीं है, किन्तु ज्यों-ज्यों हम अपने दर्शन-शास्त्रों, काव्य, कला एवं विज्ञानको पहलेकी अपेक्षा अधिक समझना सीखेंगे, र्यों-ही-र्यों हमें इनके मूलमें भी यही भाव दिखायी देगा।

मनुष्यकी बुद्धि स्वभावसे ही इस बातकी इच्छा करती है कि प्रकृतिमें भी उसे कोई ऐसी प्रज्ञाशक्ति मिले जो उसके प्रश्नोंका उत्तर दे सके, कोई ऐसी चैतन्य शक्ति उपलब्ध हो जिसका सारी वस्तुओंपर शासन हो, जो सबमें व्याप्त हो और जिससे सारी बातोंका कारण समझमें आ जाय। विश्व चेतनारहित अथवा निष्प्रयोजन है यह भाव मनुष्यको अत्यन्त अरुचिकर है। मनुष्यकी बुद्धिके लिये विश्वके अन्दर विवेक एवं प्रयोजनको ढूँढ़ना एक प्रकारसे ईश्वरको पुकारना है, क्योंकि अनन्त बुद्धि अथवा चैतन्य ज्ञानका नाम ही ईश्वर है।

मनुष्यकी बुद्धि इसप्रकारकी बनी हुई है कि वह सर्वत्र व्यवस्था एवं समन्वयको ढूँढ़ती है, वह अव्यवस्थाको सह नहीं सकती। कुछ लोगोंका कहना है कि वर्गीकरण अर्थात् वस्तुओंको व्यवस्थासे रखनेका नाम ही ज्ञान है। सादृश्य एवं विसादृश्यको पहचाननेसे, अवयवोंको मिलाकर सुसंगठितरूपमें रखनेसे, अनेकताओंमें एकताको ढूँढ़नेसे ही हमें ज्ञानकी प्राप्ति होती है। विज्ञानोंका विकास इसी प्रकार होता है। उदाहरणके लिये, वनस्पति-जगतके तन्त्रोंको क्रमबद्ध रीतिसे रखनेका ही नाम तो वनस्पति-विज्ञान है, उज्ज्वल-जीवनका अनेकताओंके मूलमें रहनेवाली

एकताका पता लगाना तथा वर्णन करना ही इस शास्त्रका काम है। यही हाक अन्य विज्ञानोंका है। पृथ्वीकी चट्टानों तथा आकाशके नक्षत्रों एवं ग्रहोंके सम्बन्धमें जो-जो बातें मालूम हुईं उनपर काफी प्रकाश डाले जानेपर तथा उनके अन्दरकी व्यवस्था और सामञ्जस्यका ज्ञान होनेपर ही भूगर्भ-विद्या एवं ज्योतिष-शास्त्रकी उत्पत्ति हुई। अतः विज्ञानका कार्य सर्वत्र अव्यवस्थामें व्यवस्था तथा अनेकतामें एकताका पता लगाना है। इस प्रकारकी चेष्टा करना मनुष्यकी बुद्धिका स्वाभाविक गुण है। बुद्धि सर्वदा व्यवस्थाके लिये व्याकुल रहती है, वह एकताको ढूँढ़ती रहती है।

सृष्टिके एक छोटे-मे अंशमें ही व्यवस्था एवं समन्वयको ढूँढ़ लेनेमें उम्मे सन्तोष नहीं होता। वह उसे सर्वत्र उपलब्ध करना चाहती है। वनस्पति-विज्ञान, भूगर्भ-विद्या एवं ज्योतिष-शास्त्रमें अखिल विश्वके रहस्योंका ज्ञान नहीं होता। क्या सारी प्रकृतिके अन्दर व्यवस्था ओत-प्रोत नहीं है? क्या उसके भिन्न-भिन्न अवयवोंको संघटित करनेवाली कोई एक महान् सत्ता नहीं है? बुद्धि उसीको ढूँढ़ती है और जबतक उम्मे यह उत्तर नहीं मिलता कि हाँ, इसप्रकारकी सर्वोपरि व्यवस्था एवं सर्वोपरि एकता अवश्य है, तबतक उम्मे कल नहीं पड़ती।

यदि वैज्ञानिक बुद्धिने अपने दुर्दमनीय स्वभावकी प्रेरणामें सारे विश्वमें एक व्यवस्थाके ऊपर दूसरी व्यवस्थाका और एक एकताके पीछे दूसरी एकताका पता लगाकर ही छोड़ा एवं विश्वके अन्दर एक सर्वोच्च एवं परास्पर एकताको उपलब्ध करके ही विश्राम लिया तो इसमें क्या नयी बात हुई? उम्मे अपनी दिशामें उसी पर्वत-शिखरका आरोहण किया जिसपर दर्शन-शास्त्र एवं धर्म, मनुष्यकी आत्माके अन्दर रहनेवाली इसी प्रकारकी प्रेरणाके वशीभूत होकर प्रारम्भसे ही अपनी-अपनी दिशामें आरुढ़ होते रहे हैं। दर्शन, धर्म एवं विज्ञान ये सभी अव्यवस्थामें व्यवस्थाकी ओर, अनेकतामें एकताकी ओर ही अग्रसर होते रहे हैं। दर्शन-शास्त्रोंमें निरूपित उपादानकारणकी कल्पनाका ठीक यही भाव है। धर्ममें जो एक सृष्टिकर्ता तथा प्रत्येक जीवके पुण्यापुण्यके निर्णैताकी कल्पना की है, उसका भी यही अभिप्राय है। जिसप्रकार आधिभौतिक जगत्में मनुष्यकी बुद्धि एकताको ढूँढ़ती है और उसे प्राप्त किये बिना विश्राम नहीं लेती, इसी प्रकार

मानसिक एवं नैतिक जगत्में भी मनुष्यकी बुद्धि एकताको ढीक उतनी ही लगनके साथ ढूँढ़ती रहती है। 'ईश्वर एक, अपरिच्छिन्न, नित्य एवं सर्वोपरि है' इस कथनसे हमारा तात्पर्य उस महान् त्रिविध शक्तिकी एकता, ज्ञानकी एकता एवं उपकारकी एकताको परम एकता संकेतित करना है, जिसे हम आधिभौतिक, मानसिक एवं नैतिक इन तीनों मार्गोंसे आगे बढ़नेपर शिखरपर पाते हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मनुष्यकी आत्माके अन्दर जो व्यवस्था एवं एकताकी अतिरिक्त और अदृष्ट इच्छा है वह इस बातकी श्रोतक है कि सबके ऊपर शासन करनेवाली एक सत्ताको, सबको विषय करनेवाले एक ज्ञानको, सारे ब्रह्माण्डोंके लिये हितकर एक आयोजनाको अर्थात् इस भौतिक जगत्के साथ ही एक नैतिक जगत्की सत्ताको, एक दूरवर्ती दिव्य कार्यको, जिसकी ओर सारी सृष्टि अग्रसर हो रही है, माननेमें ही उसे शान्ति मिल सकती है।

बुद्धि समन्वयकी ढूँढ़ती है, इससे भी हमारी समझमें यही बात ध्वनित होती है। सबसे निम्न-कोटिकी एक-स्वरता नादकी एकस्वरता है जो निरी भौतिक है; इसप्रकारके स्वरोंके संवादसे अपने ही ढंगका आनन्द मिलता है, किन्तु हम शीघ्र ही आगे बढ़कर इनमें भी सूक्ष्म संवादों अर्थात् नादके साथ हृदयगत भावों एवं विचारोंके सामञ्जस्यको देखने लगते हैं। इसके अनन्तर उन संवादोंको भी देख पाते हैं जो स्वरों एवं अन्य सारी भौतिक वस्तुओंसे परेके होते हैं। बड़े-बड़े संगीतविशारदोंकी पद-रचनामें शीघ्र ही वह स्थल आ जाता है जहाँ उन्हें यह अनुभव होने लगता है कि उनके वाद्य उनके भावोंको व्यक्त करनेमें असमर्थ हैं, वहाँ ध्वनिकी शक्तिका अन्त हो जाता है, और तब उनकी यह उत्कट इच्छा होती है कि वे भौतिक जगत्के बन्धनोंको तोड़कर आध्यात्मिक जगत्की सैर करें जहाँ कोई बन्धन नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि वे भौतिक संवाद, जो हाथोंसे अथवा वाणीमें उत्पन्न हो सकते हैं, उन उच्चतर संवादोंके संकेतमात्र हैं जिनका अनुभव आत्माको होता है। किन्तु जब वे लोग इन भावोंको व्यक्त करनेकी अथवा उनके साथ शब्दोंकी योजना करनेकी चेष्टा करते हैं, तब उन शब्दोंका स्वरूप कैसा होता है? स्वभावसे ही वे शब्द धर्म, आदर एवं पूजाके शब्द होते हैं। आत्माके ये भाव इतने तीव्र होते हैं कि सर्वोच्च एकस्वरताकी पुकार

वास्तवमें ईश्वरकी पुकार होती है, सब प्रकारसे पूर्ण जीवन एवं पूर्ण प्रेमकी पुकार होती है, जिसके अन्दर आत्माकी सारी अपूर्णताएँ और भिन्नस्वरताएँ पूर्ण हो जाती हैं।

इससे यह बात समझमें आ जाती है कि सन्नीतका धर्मके साथ जो इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है वह काकताकीय-न्यायवत् यह उपाधप्रयुक्त नहीं है। आत्माकी एकस्वरताका स्वरूप प्रेम एवं पूजा है। जब आत्मा मनुष्य-जीवनमें एकस्वरताके लिये भ्याकुल होती है, उस समय उसके अन्दर मनुष्य-जातिके प्रति प्रेम एवं पूजाका भाव उक्तस्वरूप-से जागृत हो उठता है। पूर्ण मनुष्य-प्रेम एक मनुष्यकी आत्माके दूसरे मनुष्यकी आत्माके साथ पूर्ण एकस्वरताका नाम है। पूर्ण उपासना जीवार्त्मा एवं परमार्त्माके बीच पूर्ण एकस्वरताको कहते हैं। इसी प्रकार जीवार्त्माकी एकस्वरताके लिये जो तीव्र उत्कण्ठा होती है, वह पूर्ण एवं असीम प्रेमकी ही पुकार होती है। वह पूर्ण एवं असीम प्रेम परमार्त्माका ही तो स्वरूप है।

इसी प्रकार मनुष्यके अन्दर सौन्दर्यकी स्वाभाविक लाकडा है। पृथ्वीके महाज्ञ-से-महाज्ञ सौन्दर्यमें भी जो उसकी तृप्ति नहीं होती, इसमें भी जीवार्त्मा एवं परमार्त्माके महाज्ञ-से-महाज्ञ भौतिक सम्बन्धका पता लगता है। उसकी सौन्दर्यभिलाषा शरीर ही भौतिक सौन्दर्यमें आगे बढ़कर मानसिक एवं नैतिक सौन्दर्यकी ओर झुक जाती है, जो भौतिक सौन्दर्यमें कहीं ऊँचा है। उसे सदा उस आदर्शका ध्यान बना रहता है, उसके साथ उसका प्रेम हो जाता है और उसका ध्यान आते ही वह आनन्दमें उल्लसित हो उठता है। वह आदर्श उसे हम पृथ्वीपर प्राप्त नहीं होता; उसकी पूर्ति, उस सौन्दर्य एवं पूर्णताकी सीमा—परमार्त्मामें ही होती है। इसमें यह सिद्ध होता है कि मनुष्यकी सौन्दर्यभिलाषा, जो पूर्णसे न्यून किसी भी वस्तुसे तृप्त नहीं हो सकती, वास्तवमें जीवार्त्माकी परमार्त्माके लिये पुकार ही है।

मनुष्यकी सत्याभिलाषा भी इसी बातको सिद्ध करती है। मनुष्यकी आत्मा इस ढंगकी है कि उसे असत्य अथवा मिथ्यासे कभी शान्ति नहीं मिल सकती, उसे सत्य या वास्तविकताकी ही चाह रहती है। वह इस सत्यको एक ही स्थानपर अथवा बाह्य आवरणमें ही नहीं, किन्तु सर्वत्र एवं मुख्यतया वस्तुओंके अन्तर्गतमें ढूँढती

है। सत्य-शुद्ध, नित्य एवं ध्रुव सत्यको इस विश्वास आधार समझकर वह उसके लिये ऐसी विह्वलतापूर्ण पुकार करती है, जो मने करनेपर भी शान्त नहीं होती। क्या ईश्वरसे अन्यत्र इसप्रकार सत्य उपलब्ध हो सकता है ?

प्रत्येक वस्तुके मूलमें औचित्य एवं न्यायकी उपलब्धि के लिये—उस औचित्यकी उपलब्धि के लिये जो निर्विकार एवं शाश्वत है—जीवार्त्माकी जो पुकार होती है, वह भी ईश्वरकी ही पुकार है। मनुष्यको इस शंकासे ही असह्य बेदना होती है कि संसारका यह महज विधान कदाचित् न्यायमें पूर्ण न हो और कदाचित् इस विश्वमें अन्यायका विजय और न्यायका पराजय होता हो। मनुष्यकी जो विवेकमय एवं उच्चतम वृत्तियाँ हैं, वे इस विचारको सह नहीं सकतीं और उसकी अन्तरात्मा बोल उठती है कि ऐसा नहीं हो सकता। जगतके मन्त्रालयमें हमें जहाँ घुटियाँ एवं दोष दिखायी देते हैं, जहाँ खुलेआम अन्यायकी विजय होती हुई दाँख पड़ती है, जहाँ पापके कारण अन्धकार-ही अन्धकार दृष्टिगोचर होता है और जहाँ आलोकका आभास भी नहीं मिलता, वहीं हमारे अन्तरमें एक ऐसी आवाज निकलती है जो दूसरी सारी आवाजोंसे कहीं गहरी होती है। वह हमें कहती है कि हम शंकाका कोई समाधान अवश्य होना चाहिये, कोई ऐसी सर्वोपरि सत्ता अवश्य होनी चाहिये, जिसपर हम भरोसा कर सकें।

यह वाणी हमारे हृदयमें साक्षीरूपमें निवास करने-वाले ईश्वरकी ही तो वाणी है ! सेण्ट ऑगस्टाइन (St. Augustine) के शब्दोंमें यह वाणी परमार्त्माको खोजने-वाला उस आत्माका ही स्वरूप है जिसे परमार्त्माका आश्रय मिले बिना कल नहीं पड़नी। इसप्रकार जब वह विवेक-पूर्वक ईश्वरका आश्रय ग्रहणकर यह समझने लगती है कि चाहें जो कुछ भी हो, हम अखिल विश्वके नियन्ताका विधान न्यायपूर्ण ही होगा, तब उसे अत्यन्त ही महान् एवं अनिर्वचनीय शान्ति मिलती है।

मनुष्य जन्ममें ही शोष सँभालता है और अपनी बुद्धिका उपयोग करने लगता है, तबसे लेकर मृत्युपर्यन्त उसकी आत्मा स्वभावमें ही किसी एक ऐसी वस्तुके लिये पुकारती रहती है जो उसमें ऊँची हो, अधिक शक्तिशाली हो, एवं पूर्ण हो, जो उसके दिनका प्रकाश हो, उसके जीवनका आधार हो, समस्त अनित्य पदार्थोंमें नित्यरूपसे रहनेवाली हो और उनके आदर्शोंका स्पष्टकरण करनेवाली हो, जो सारी

विपमताओं और अनेकताओंके अन्तरमें असीम एकता एवं समन्वयके रूपमें रहती हो और जिसकी पाकर वह आत्म-काम हो जाय। आत्माकी इस पुकारके कुछ प्रकार हम ऊपर बता चुके हैं।

हममेंसे जो लोग ईश्वरके साथ हमारे सम्बन्धके विषयमें अथवा उसपर हमारी निर्भरताके सम्बन्धमें अवज्ञात्मक बात कहते हैं, उन्हें उत्तर देनेके लिये हम जो कुछ ऊपर कह आये हैं, पर्याप्त है। हममेंसे कुछ अविवेकी लोग कभी-कभी कह दिया करते हैं कि 'ज्यों-ज्यों संसार उन्नतिके मार्गपर अग्रसर होता जायगा, त्यों-ही-त्यों हमें ईश्वरके अवलम्बकी आवश्यकता नहीं रहेगी।' उपर्युक्त विवेचनसे उनका भी समाधान हो सकेगा।

क्या लोग हमारी ईश्वर-निर्भरताकी दिलगी उड़ाते हैं? क्या अब हमें अपनेमें यहाँकी सहायताकी आवश्यकता नहीं रही? हा शोक! इसप्रकारकी कल्पना करनेवाले हम कौन होते हैं? क्या हम जीविका, अपने रक्षयिता ईश्वरके बिना कभी काम चल सकता है?

हाँ, यदि हम चाहे जब और चाहे जिस योनिमें जन्म ले सकें, अथवा मनमाने समयतक प्राणोंको हथ सकें, यदि हम जब चाहे तब उपाकाल अथवा रात्रिका आह्वान कर सकें; यह सब तो दूर रहा, यदि हम एक तिनकेको भी बिना साधनके उपलब्ध कर सकें, अथवा अधिक नहीं, केवल एक घण्टेतक ही यदि हम अपने समयको इसप्रकार व्यतीत कर सकें कि कम-से-कम उतने समयमें हमें किमो प्रकारका दुःख, विपाद अथवा मृत्यु न घेरे, तब तो हम यह कह सकते हैं कि हमें ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है, अथवा तब हम अपनी अन्तरात्माकी उन हार्दिक पुकारोंकी उपेक्षा कर सकते हैं जो सतत उस परमात्माका आह्वान करती हैं, अन्यथा नहीं।

— ❦ —

श्यामको सुमिरो

गहरी मन सब रसको रस-सार ॥ टेक ॥

लोक वेद कुल करमै नजिये भजिये नित्य बिहार ॥ १ ॥

गुन कामिनि कञ्चन धन त्यागी सुमिरी श्याम उद्धार ॥ २ ॥

गहि हरिदास रोति सन्तनको गादीको अधिकार ॥ ३ ॥

—स्वामी हरिदासजी

क्या हमारा ईश्वरके बिना काम चल सकता है?

हाँ, यदि अन्य वस्तुओंका अपने जीवनके आधारके बिना काम चल सकता है तो हमारा भी ईश्वरके बिना काम चल सकता है। यदि मछलियाँ पानीके बिना जीवित रह सकती हैं, यदि वनस्पतियाँ प्रकाशके बिना रह सकती हैं, यदि शिशु अपनी माताके बिना जन्म सकता है और यदि पृथ्वी सूर्यके बिना रह सकती है तो हम भी, जो पृथ्वी माताकी क्षुद्र सन्तान हैं, उस परमात्माकी उपेक्षा कर सकते हैं, जो हमारा बल एवं हमारा जीवन है। अथवा उन बाह्य एवं अन्तरकी आवाज़ोंकी ओरसे अपने कान मूँद सकते हैं जो हमें सर्वदा उसकी शरण ग्रहण करने तथा उसके प्रेमको प्राप्त करनेके लिये प्रेरित करती रहती हैं। हम इस बातको नहीं समझते कि ईश्वरके अन्दर कैनी-कैसी अटूट एवं अनन्त निधियाँ भरी हुई हैं।

जरा, कल्पना कीजिये कि, संसारमें ईश्वरकी सत्ता नहीं है! ओ! ईश्वरके बिना विश्व निरर्थक हो जाता है; ईश्वरके बिना बुद्धि कुण्ठित हो जाती है; ईश्वरके बिना हमारे आदर्श स्वप्न-तुल्य रह जाते हैं और हमारी आशाएँ पानीके बुदबुदाईकी तरह उपलब्ध होकर विलीन हो जाती हैं। ईश्वरके बिना श्रद्धा टिक नहीं सकती। ईश्वरके बिना अमरता लुप्त हो जाती है, मनुष्य पशुकी श्रेणीमें पहुँच जाता है और मृत्यु तुरन्त सबका ग्रास कर डालती है।

किन्तु ईश्वरकी, सब ईश्वरकी, अनन्त ज्ञान एवं प्रेममें परिपूर्ण ईश्वरकी सत्ता मान लेनेपर संसारका हेतु समझमें आ जाता है, विश्वमें प्राण आ जाता है, मनुष्य अमर हो जाता है, आशा-रूप उद्योति जगमगा उठती है, सारे लोकोंमें प्रेमका साम्राज्य छा जाता है और पृथ्वी अथवा स्वर्गकी सभी अच्छी वस्तुएँ हमें एक-न-एक दिन प्राप्त होकर रहती हैं।

ईश्वर-प्रार्थनासे सब आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकती हैं

(लेखक -- डा० श्रीदुर्गाशङ्करजी नागर, सम्पादक 'कल्पवृक्ष')



ईश्वर-प्रार्थनामें अपूर्व शक्ति है। ईश्वर-उपासना-से सब प्रकारके दुःखों और कष्टोंका निवारण होता है। उससे न केवल रोगके निवारण-में शान्ति मिलती है किन्तु जीवनकी सभी आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकती हैं। प्रार्थनाकी अलौकिक शक्तियोंमें भारतवासियोंका आजकल बहुत कम विश्वास है, परन्तु पाश्चात्य देशोंमें इसके लिये खास-खास संस्थाएँ खुली हुई हैं। प्रार्थनासे अनेक रोग निवृत्त किये जाते हैं और अनेक कामनाएँ पूर्ण होती हैं, जिसका वहाँ विधिपूर्वक रिकार्ड रक्खा जाता है। उन देशोंमें लाखों मनुष्य प्रार्थनाके प्रभावपर विश्वास करते हैं। प्रार्थनाका रहस्य क्या है, इसका दिग्दर्शन कराने हुए हम यहाँपर पाठकोंके अवलोकनार्थ कुछ उदाहरण देते हैं।

प्रार्थनाका रहस्य

प्रार्थनाका विषय एवं तत्त्व जानना प्रार्थनाकरनेवालों-के लिये परम आवश्यक है। प्रार्थना क्या है और क्यों की जाती है? प्रार्थनाका उत्तर मिलता है या नहीं? मिलता है तो किसप्रकार? और यदि नहीं तो उत्तर न मिलनेका कारण क्या है? प्रार्थनाका अर्थ है 'किसी अर्थकी याचना करना' या 'किसी अभावका अनुभवकर उसकी पूर्तिके लिये सहायता प्राप्त करना।' प्रार्थनाके तीन प्रयोजन विशेष-कर होते हैं। (१) सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके हेतु या किसी स्थूल अभावकी पूर्तिके निमित्त प्रार्थना की जाती है, जैसे अन्न, वस्त्र, नौकरी, धन, स्त्री या पुत्र-प्राप्ति, रोग-निवारण, किसी लेश या दुःखसे रक्षा, आपत्तिका नाश, सम्मान-प्राप्ति, परीक्षामें सफलता और विद्या-प्राप्ति आदि सब व्यावहारिक सिद्धियोंके लिये। (२) आत्मिक उन्नतिके लिये, काम-क्रोध, राग-द्वेष आदि मानसिक विकारोंपर जय प्राप्त करनेके लिये, आत्मा क्या है, ईश्वर क्या है, मृत्यु क्या है, मृत्युके बाद क्या होता है और मृति क्या है इत्यादिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये, मानसिक और बौद्धिक उन्नतिके लिये, अध्यात्म-ज्ञान और यथार्थ साधन जाननेके लिये। (३) तीसरे प्रकारके वे सब प्रार्थना करनेवाले प्रेमी अन्त होते हैं जिन्हें कुछ भी माँगना नहीं है। जो केवल-उस महाप्रभुके

ध्यानमें और प्रेममें ही निरन्तर लीन रहना चाहते हैं या उस प्रियतममें एक होनेके लिये अपनी खुदीको मिटाकर ईश्वर-दर्शन या आत्म-साक्षात्कार करनेके लिये अतीव हार्दिक उत्कण्ठा रखते हैं। यह सर्वोत्कृष्ट प्रार्थना है।

जो जिस कामनाके लिये प्रार्थना करता है, उसकी वे सब कामनाएँ अवश्य पूर्ण होती हैं। 'यत् यत् इच्छति तत्स तत्।' प्रार्थनाका उत्तर अवश्य मिलता है। जो धनके लिये प्रार्थना करते हैं उनको यथावाम्भित धन किसी भी साधन-में मिल जाता है। जो अन्न-वस्त्रके लिये प्रार्थना करता है, उसके द्वारपर अन्न, वस्त्र किसी भी प्रकार पहुँच जाते हैं। जो विद्या-प्राप्ति के निमित्त प्रार्थना करता है, वह बड़ा विद्वान् हो जाता है। अनायास्य आदि धार्मिक कार्योंमें परोपकारी पुरुषोंके पास, जिनका उद्देश्य केवल प्राणिमात्रको सहायता देकर सेवा करना है, प्रार्थना करनेपर आवश्यक सहायता अवश्य पहुँच जाती है। कभी-कभी प्रार्थना पूर्ण नहीं भी होती। इसका कारण यह है कि पूर्व-जन्मके कर्मका कोई प्रबल सम्बन्ध इसी प्रकारका होता है कि उसका उसी समय उनको अवश्य ही फल मिलना चाहिये। हमके विरुद्ध यह भी प्रत्यक्षमें देखा जाता है कि अनेक पुरुषोंकी प्रार्थनाका कोई उत्तर भी नहीं मिलता, इसका कारण यह है कि या तो उन्हें अमली प्रार्थना करना नहीं आता, या उनके भी पूर्वजन्मका कोई महान् प्रतिबन्धक होता है।

जो मनुष्य परोपकारी, चरित्रवान्, अदासम्पन्न, ईश्वरमें विश्वासी, प्रबल धारणा-शक्तिवाले और निःस्वार्थी होते हैं, उनकी प्रार्थना कभी निष्फल नहीं जाती। पापी, कुकर्मी, अविश्वासी अश्रद्धालु और निर्बल इच्छाशक्तिवालोंकी प्रार्थना ही प्रायः निष्फल हुआ करती है। प्रार्थनाओंका उत्तरदाता ईश्वर ही है। ईश्वर सर्वव्यापक, सर्वश, सर्वशक्तिमान् है। जिसकी शक्तियों, जिसके ज्ञानमें, जिसके प्रेममें समस्त ब्रह्माण्ड स्थित है—जो सृष्टिमें सर्वत्र मौजूद है। जिसके ज्ञान-के बिना एक पक्षी भी आकाशमें नहीं उड़ता, जिसके ज्ञानके बिना एक चोटी भी भूमिपर पैर नहीं रखती, ऐसा सर्वविधाता ईश्वर ही है, बड़ी प्राणियोंकी प्रार्थनाओंको सुनता है और उनका यथोचित उत्तर देता है।

६६ अन्धासे ईश्वर-प्रार्थना करनेवालेके जीवनमें अनेक विचित्र-विचित्र अनहोनी घटनाएँ घटित होती हैं। मैं यहाँ पाश्चात्य देशके प्रार्थना करनेवाले कुछ भद्र पुरुषोंका ही परिचय दूँगा।

१-विलायतके स्वर्गीय जार्ज मूलर प्रसिद्ध ईश्वर-भक्त थे, इन्होंने सैकड़ों अनाथालय स्थापित किये हैं। इनका सारा काम प्रार्थनापर ही चलता था, ये कभी न तो किसीके पास एक पाईके लिये भी याचना करने गये थे और न कभी इन्होंने अपील ही प्रकाशित की थी, फिर भी इन्होंने १५००००० पौंड द्रव्य अर्थात् २२५०००००० सवा दो करोड़ रुपये घर बैठे प्राप्त हुए थे। मूलर साहबका प्रार्थनामें बड़ा ही अटल विश्वास था। एक बारका वृत्तान्त है कि उनके अनाथालयमें बालकोंके लिये भोजन नहीं था। प्रबन्धकने आकर कहा कि, 'श्राव तो एक मुट्ठी अन्न भी नहीं है—क्या किया जाय?' मूलर साहबने कहा 'आप अपना काम कीजिये, टेबल, तश्तरी आदि सब ठीक कीजिये।' वह आश्चर्य करने लगा कि 'यह मनुष्य क्या पागल हो गया है?' फिर थोड़ी देर बाद उसने आकर कहा कि 'कुछ प्रबन्ध कीजिये, बालकोंके भोजनका समय सन्निकट है।' मूलर साहबने पुनः वही उत्तर दिया कि 'आप अपना काम कीजिये' किन्तु इससे प्रबन्धकको सन्तोष न हुआ, वह पुनः मूलरके पास आकर तेजीसे बोला कि 'स्थानेका समय हो गया, क्या घण्टा बजा दिया जाय?' मूलर साहबने पूर्ण आशा और रङ्ग विश्वाससे उत्तर दिया—'घण्टा बजा दो। हमारा जो काम था, हमने कर दिया, अब दोष जिनका काम है वे अपना करेंगे।' भोजनके लिये सब बालकोंके एकत्र होते ही तुरन्त भोजनकी पकी-पकाई पूरी सामग्री अनाथालयमें उसी समय आ गयी। किसी बच्चे आदमीने उस दिन अपने मित्रोंको बड़ा भोज देनेका आयोजन किया था और एक होटलमें सब सामग्री तैयार करवायी थी, किन्तु किसी कारणवश वह भोज स्थगित करना पड़ा। उस मनुष्यको यह अन्तःप्रेरणा हुई कि सामान सब जायगा, इसलिये इसको मूलर साहबके अनाथालयमें भेज देना चाहिये। उसने होटल-मैनेजरकी आज्ञा ही कि सारी सामग्री भोजनके समयतक अनाथालयमें भेज दो। बालकोंने प्रेम-पूर्वक भोजन किया और सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। मूलर साहबने प्रार्थनासे उत्कृष्ट प्रबन्धकको बुलाया और उसे आज्ञा दी कि तुम्हारे समान अविश्वासी मनुष्य-

की मुझे आवश्यकता नहीं, जितने उस परम पिता परमेश्वर-पर घण्टेभरके लिये भी विश्वास नहीं है।

एक बार मूलर साहब ईश्वरवादपर व्याख्यान देनेको जहाजसे कहीं जा रहे थे। मार्गमें बड़े जोरोंसे कुहरा पड़ा, सर्वत्र धुन्ध छा गयी, कहीं मार्ग दिखायी नहीं देता था। मूलरने कप्तानसे कहा कि 'महाशय ! मुझे डानीचर पहली तारीखको अवश्य पहुँचना है।' कप्तानने कहा 'असम्भव है, देखो कैसा कुहरा पड़ रहा है।' मूलरने कप्तानके कन्धोंपर हाथ रखकर कहा कि 'आओ, ईश्वरसे प्रार्थना करें जिससे यह दूर हो जाय।' कप्तानने कहा—'तुम किस पागलपनसे आये हो जो इसप्रकारकी अनहोनी बात कर रहे हो?' मूलरने कहा—'मैंने प्रार्थना की है और अभी उसका उत्तर मिलेगा, मैं ५७ वर्षोंसे अपने प्रभुका साक्षात्कार कर रहा हूँ और अभीतक मेरी प्रार्थनाके अष्टक उत्तर मिले हैं। मेरी दृष्टि उस परम प्रभुकी ओर है, जो जीवनकी प्रत्येक स्थितिपर शासन करता है। जाओ, डेक-पर जाओ, देखो कुहरा उतर रहा है।' कप्तान भी इस सीधे-सादे मनुष्यकी प्रार्थनाके प्रभावको देखकर चकित हो गया। कुहरा दूर हुआ और मूलर कबेकको ठीक उसी समय पहुँचा, जिस समय उसे पहुँचना आवश्यक था। मूलरका सारा जीवन प्रार्थनामय था। ॥

२-अमेरिका (कनसास) में इस समय ईश्वरवादका प्रचार करनेवाले मिस्टर वेल्स फिलमोर महाशय हैं जिन्होंने 'यूनिटी स्कूल आफ क्रिश्चियानिटी' नामक अभ्यासवादकी एक बड़ी भारी संस्था स्थापित की है। मि० फिलमोर जन्मसे लूके-लैंगवे थे, महान् द्रिष्ट-अवस्थाओं में और इनके स्त्री-बच्चे सभी क्षय-रोगसे पीड़ित थे, इनकी पत्नीको प्रेरणा हुई कि ईश्वरकी प्रार्थनासे हम चंगे हो सकते हैं।

केवल प्रार्थनाके बलसे अपनेको तथा कुटुम्बियोंको रोग-मुक्त करके कोई चाकीस-पैंतालीस सालसे आप ठक संस्थाका सञ्चालन कर रहे हैं और केवल अगवधप्रार्थनासे अङ्गाल पुरुषोंकी आधि-व्याधि, द्रिष्टता, रोग, शोक मिटाकर उन्हें सुख-शान्ति-पूर्ण जीवन प्रदान कर रहे हैं। एक करोड़के लभामगकी सम्पत्ति संस्थाको समर्पण करके स्वयं एक साधारण व्यक्तिका-सा जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यूनिटी एक नगर-सा बस गया है। इनके 'यूनिटी डेजी बर्ष' आदि

ॐ मूलरके विषयमें विशेष जानना हो तो 'A venture of faith' पुस्तक देखिये।

दस मासिक साप्ताहिक पत्र हैं जिनमें ईश्वर सम्बन्धी महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित होते हैं, बाहर भेजे जाते हैं। १३५०० ग्राहक तो अकेले लॉस एंजलीज़ शहरमें ही हैं। ४००० पत्र नियमित आते हैं और ८००० से ऊपर पत्र नियमित आते हैं, ६०००० पार्सल पैकेट प्रतिमास भेजे जाते हैं, यूनिटी-के प्रतिदिन १००० ग्राहक बनते हैं, बीस लाख नोट-पेपर प्रतिवर्ष काममें लिये जाते हैं। संस्थामें चार सौ आदमी नियमित काम करते हैं। सबको वेतन मिलता है। ९० आदमी तो सिर्फ प्रार्थनाके लिये नियुक्त हैं, इनको जो लोग निःस्वार्थभावसे प्रेम-स्वरूप भेंट भेजते हैं, उसीमेंसे दे दिया जाता है।

इसमें बच्चोंके लिये, युवाओंके लिये, अन्धोंके लिये अलग-अलग मासिक साहित्य प्रकाशित होता है। पत्र कई भाषाओंमें—जर्मन, इटली, फ्रेंच, स्पेनिश, नार्वेजियन आदिमें—प्रकाशित होते हैं। यूनिटीके ४० विभाग हैं।

(१) रोगीको बिना देन प्रार्थनासे इलाज करना।

(२) गरीब, बेकार, दिवालियोंके लिये प्रार्थनासे सहायता दिलवाना।

(३) मानसिक उन्नति और अपने सुधारके लिये प्रार्थना करना।

(४) शारीरिक, मानसिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक कठिनाइयोंको प्रार्थनाके बलसे दूर करनेका प्रयत्न करना।

संस्थाका स्वर्च लोगोंके प्रसन्नता या प्रीतिसे दिये हुए दानपर चलता है। सम्पूर्ण कार्यकर्ता मास-मोजनसे परहेज करते हैं, सब धर्मोंको आदरकी दृष्टिसे देखते हैं, एवं अध्यात्मवादी हैं। कर्म और पुनर्जन्मके सिद्धान्तोंको क्रिश्चियन-धर्मसे सिद्ध करते हैं, एवं सत्यप्राप्ति हैं।

१—एक अमेरिकन धनिक स्त्रीका पुत्र दिवाला निकलनेसे घरसे लापता हो गया। उसकी माताका अपने पुत्रपर परम स्नेह था। वह परमात्माकी परम भक्त थी और ईश्वर-प्रार्थनापर उसका अटल विश्वास था। पुत्रके वियोगमें वह रात-दिन ईश्वर-प्रार्थना किया करती थी। पड़ोसके लोग उसे पागल समझते थे कि हमने वर्षोंमें पुत्रके लिये प्रार्थना कर रही है, पुत्र कहीं मर-मरा गया होगा। पागल औरत व्यर्थ रो-रोकर जीवन नाश कर रही है। पर उसे प्रार्थनामें दृढ़ विश्वास था, वह घरसे बाहर नहीं निकलती थी। तीस वर्ष बाद एक बूढ़ा व्यक्ति उसका पता पृच्छता-

पृच्छता उसी गलीमें आया, तलाश करनेपर पड़ोसके लोगोंने कहा—‘हाँ, यहाँ एक पागल स्त्री रहती है जो अपने पुत्रके पीछे पागल हो रही है।’ वह व्यक्ति वहाँ दरवाजेपर पहुँचा। लड़केने आवाज दी—‘माँ! मैं आ गया।’ माताने तुरन्त दरवाजा खोला और तीस वर्षकी प्रार्थनाकी कठिन तपस्याके बलसे उसको अपने पास बुला लिया। अब तो सब लोग उस स्त्रीका बड़ा आदर करने लगे और उसके द्वारा प्रार्थनाका बड़ा प्रचार हुआ। उसका पुत्र इस समय अमेरिकामें प्रसिद्ध चर्मोपदेशक है।

४—अमेरिकामें होलीवुडमें नवीन विचारोंका और ईश्वरवादका प्रचार करनेवाली विश्व-सुप्रसिद्ध श्रीएलिजाबेथ टाउन सहोदया है। वह नाटिलम नामका नवीन विचारोंका प्रसिद्ध पत्र प्रकाशित करती हैं। इस पत्रके लाखों पढ़नेवाले हैं। प्रत्येक अङ्कमें ईश्वर-प्रार्थना-सम्बन्धी सम्पादकीय महत्वपूर्ण लेख रहते हैं और प्रार्थनाके बलसे दुःख, दरिद्रता, रोग आदि भेदनेके अनुभवपूर्ण अन्य लेख भी छपते हैं। इस पत्रद्वारा लाखों मनुष्योंमें ईश्वर-भाव और उपासनाकी ओर लोगोंका ध्यान आकृष्ट हुआ है और लाखोंका जीवन चिन्ता, क्रोध और कष्टसे मुक्त होकर आनन्दमय बना है। डॉक्टर थोरो और हर्मसनके बाद एलिजाबेथ टाउन ही नूतन भक्तकी अप्रगण्य नेत्री हैं। इन्होंने नवीन विचारके कई ग्रन्थ लिखे हैं।

५—इंग्लैण्ड चिचेस्टरमें मिस्टर हेम्बलिन ईश्वरवादके प्रचारका सराहनीय कार्य कर रहे हैं। आप ‘साइन्स आफ् थॉट रिव्यू’ पत्र प्रकाशित करते हैं, कई पुस्तकोंके लेखक हैं और उच्च विचारके परम ईश्वर-भक्त व्यक्ति हैं। इनके जीवन और कार्यसे हजारों मनुष्योंके जीवनमें परिवर्तन हुआ और अनेकों नास्तिक आस्तिक हो गये हैं। धन्य है, ऐसे नर-रत्नोंको जो ईश्वर-तत्त्वका स्वयं साक्षात्कार करके जनताका कल्याण कर रहे हैं।

६—डॉक्टर मेयर एक जहाजपर जा रहे थे। तब प्रार्थनासे उत्तर मिलता है या नहीं, इस विषयमें उनके भाषण होते थे। एक भाषणमें एक नास्तिक उपस्थित थे, उन्होंने कहा कि ‘मैं आपके एक शब्दपर भी विश्वास नहीं करता।’ दूसरे दिनकी बात है, डॉक्टर मेयर तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंमें भाषण देने जा रहे थे। उनके पीछे नास्तिक सहोदय भी हो लिये और अपने पाकेटमें दो नारंगी छेते गये। जब वे तीसरे दर्जेके मुसाफिरोंके पाससे होकर

जा रहे थे, तो उन्होंने देखा कि एक बूढ़ा स्त्री आँखें बन्द किये हाथोंको फैलाये हुए लूच गाढ़ मिट्टा में सोयी हुई है। नास्तिक महोदय दोनों नारंगी उसके हाथोंमें डाककर आषणमें चकते बने। आषणसे कौटले समय नास्तिक महोदय देखते हैं कि वह बूढ़ा स्त्री आनन्दपूर्वक नारंगी खा रही है। नास्तिक महोदयने कहा 'श्रीमती सन्तरेके आनन्दका उपभोग कर रही हैं।' उसने जवाब दिया- 'हाँ महाशयजी, मेरे पिता बड़े भले आदमी हैं, उनकी मुझपर बड़ी कृपा है।' नास्तिकने आश्चर्यसे पूछा- 'तुम अम्मी वर्षकी हो, तुम्हारे पिता कैसे जीवित हैं ? तुम कैसी पागलकी-सी बातें करती हो !' बुढ़ियाने कहा 'महाशय ! मैं कई दिनोंसे समुद्री इलाके रोगमे पीड़ित हूँ-मैंने परम पिता परमात्मासे प्रार्थना की कि किसी तरह मेरे पास एक नारंगी भेज दो। मैं प्रार्थना करते-करते गाढ़ मिट्टा में सो गयी, जब मेरी आँखें खुलीं तब क्या देखती हूँ कि मेरे व्यालु पिताने एकके बदले दो नारंगी मेरे किये भेज दीं।'।

नास्तिक महोदयने जाते समय मज़ाकके तौरपर ऐसा किया था किन्तु बुढ़ियाका हृद विश्वास देखकर बे दंग रह गये और उस दिनमे उनकी ईश्वरपर अटल अज्ञा हो गयी।

१- अभी थोड़े दिनोंकी बात है कि अमेरिकामें एक ग्राममें वर्षाके किये स्त्री-पुरुष सम्मिलित प्रार्थना कर रहे थे, वहाँ वर्षा न होनेमे स्त्रीको बड़ी हानि पहुँच रही

थी, वे सब मिलकर प्रार्थना कर रहे थे कि उनमेंसे एक बाकिका चट भागकर घरपर चली गयी और छाता ले आयी। प्रार्थना समाप्त होनेपर सब लोग चकते लगे। बाकिका छाता लगाकर चली, उसपर कई लोग हँस पड़े कि 'कैसी पागली कड़की है, कहीं वर्षाका चिह्न नहीं है और यह छाता लगा रही है।' छोटी-सी बाकिका कहती है 'हाँ, हाँ, अभी मूसकाधार वर्षा होती है। हमने प्रार्थना की है।' थोड़ी ही देरमें मूसकाधार वर्षा होने लगी। धन्य है उस बाकिकाको जिसे इतना हृद विश्वास था !

८-बेहटारि बाइबलके समय एक स्त्रीने सम्मिलित प्रार्थनामें अपने अत्यन्त शराबी पतिकी शराबकी आदत छुड़ानेके लिये प्रार्थना की। दूसरोंने भी उसकी प्रार्थनामें योग दिया। उस समय उसका पति शराबकी बूकानपर बैठा हुआ शराब लेकर पीनेको ही था कि किसी जबरदस्त शक्तिने उसको प्रेरणा करके प्रार्थना-मन्दिरमें भेज दिया। वहाँ जाकर उसने शराब न पीनेकी शपथ ले ली, तबमे जीवनमें उसने शराब कभी नहीं पीया।

इसप्रकारकी नित्य ही अनेकों घटनाएँ प्रार्थना करने-वालोंके जीवनमें घटित होती हैं। इस सब कथनका सारांश यह है कि प्रार्थनामें असौच बल है। प्रार्थनामे अनुप्य अपने जीवनमें चाहे जैसे विलक्षण परिवर्तन कर सकता है और उसकी सारी आवश्यकताएँ पूर्ण हो सकती हैं। सब जगत्का कल्याण हो।

कौन कहता है ईश्वर नहीं है ?

वह अविनाशी, शिव, सत्य और सुन्दर है ;

कहिये ! कहता है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।'।

ईश्वर क्या है ? अच्छा मैं हूँ बतलाता ;
है एक शक्ति जो अखिल विश्व-निर्माता।
दूसरी शक्ति है सकल विश्वकी वाता-
तीसरी शक्तिसे जगत संहारा जाता।
तीनोंका मिश्रित रूप परम ईश्वर है ;
कहिये ! कहता है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।' (१)

ईश्वरका घर क्या है ? जगका 'प्रति कण' है ;
क्या आयु ? समयका गत-आगत 'प्रति क्षण' है।
योजन क्या ? करता नित्य गर्व-मक्षण है ;
पीता क्या ? करता सदा पाप-शोषण है।
उसका स्वभाव कैसा है ? अति मृदुतर है ;
कहिये ! कहता है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।' (२)

वह अखिल-विश्वका पालक है ; भर्ता है ;
माया-प्रपञ्च-अज्ञान पाप-हर्ता है।
वह सत्य-निष्ठ, धृति दया-धर्म-वर्ता है ;
सारा जग कर्म-स्वरूप ; वही कर्ता है।
सुनता दीनोंका आर्त-नाद सत्वर है ;
कहिये ! कहता है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।' (३)

'वह' ही है, हमको 'मार्ग दिखानेवाला' ;
वह ही है, 'सच्चा-ज्ञान' सिखानेवाला।
वह ही है, 'शुभ कर्तव्य' बतानेवाला ;
वह ही है, 'निज-आनन्द' जतानेवाला।
उसके समान बस वही 'मगन' नटर है ;
कहिये ! कहता है कौन ? 'नहीं ईश्वर है।' (४)

दयाशङ्कर 'मगन'

आत्माके सम्बन्धमें प्राच्य और पाश्चात्य सिद्धान्त

(लेखिका—श्रीमती जीन रिलेयर, हर्ट्स, इंग्लैण्ड)

‘आत्मा ही परमात्मा है’—यह उक्ति तो हमको भी अनोखी जान पड़ती है; किन्तु यदि आत्मा परमात्मा नहीं है तो फिर वह और हो ही क्या सकता है ?

(Prof. Maxmuller)

ईसाई-धर्मका दो हजार वर्षतक अनवरत प्रचार होते रहनेपर भी मनुष्यको इसके द्वारा अपने आत्माका स्वरूप समझनेमें बहुत कम सहायता मिली है। क्या यह आश्चर्यकी बात नहीं है ? इसका योद्धा-बहुत समाधान इसप्रकार किया जाता है कि ईसाई-मत आध्यात्मिक सिद्धान्तोंकी भित्तिपर स्थित नहीं है, अपितु वह एक आधार-प्रधान धर्म है। भारतवर्षके महान् वैदिक धर्मको, जिसकी एक उत्कृष्ट शाखा वेदान्त-मत है, हम ज्ञान-प्रधान धर्म (Wisdom-religion) कह सकते हैं। इसी प्रकार ईसाई-मतके सर्वोत्तम सिद्धान्तको ध्यानमें रखते हुए हम उसे प्रेम-प्रधान धर्म (Religion of love) कह सकते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हिन्दुओं-ने धर्मके आचारांशको बिचकुल भुला दिया हो, किन्तु हम पाश्चात्य-देशवासियोंने धर्मके ज्ञान-काण्डको, उसके दार्शनिक आधारको—अप्यारम-विद्याको, एक प्रकारसे बिचकुल भुला-सा दिया है। अवश्य ही ईसाई-धर्मके कतिपय सम्प्रदायोंमें मानव-शरीरके अन्दर निवास करनेवाले अदृश्य आत्माका स्वरूप निर्देश करनेकी योद्धा-बहुत चेष्टा की गयी है, किन्तु बहुधा उनकी चेष्टाएँ दुराग्रहपूर्ण रही हैं। आध्यात्मिक वाक्कलहके अतिरिक्त उनका कोई परिणाम नहीं हुआ। जीवात्माका स्वरूप क्या है, ईश्वरके साथ उसका सम्बन्ध किस प्रकारका है, पृथक्-पृथक् वह सार्वलोकिकमें कैसे आता है और अन्तमें स्वर्ग अथवा नरकमें जाकर उसकी क्या गति होती है इत्यादि गम्भीर प्रश्नोंपर विचार करनेके लिये अति प्राचीन कालमें जब ईसाई-धर्मके आचार्य एकत्रित होते थे, तो उनके वाद-विवादका परिणाम अपने मतके आधारके भिदा और कुछ नहीं होता था और जो लोग उनके ‘शाबावाक्यं प्रमाणम्’ इस सिद्धान्तको नहीं मानते थे, उनको समाजसे प्युत कर दिया जाता था।

पौरोहित्य दार्शनिकोंकी पद्धति दूसरे ही प्रकारकी थी।

यद्यपि वे भी आत्म-प्रमाणको मानते थे, यहाँतक कि वेदोंकी उन्होंने ‘ईश्वरकी वाणी’ कहा है; किन्तु वे प्रकृतिका भी यथेष्ट परीक्षालन करते थे, मानव-स्वभावका अध्ययन करते थे, व्यक्त एवं अव्यक्त अर्थात् बाह्य एवं आन्तरिक उभय जगत्का निरीक्षण करते थे। उन्होंने युगोत्तक जीवनके गहन तरवोंका अनुसन्धान करके एक ऐसे दर्शन अथवा धर्मकी रचना की—(भारतमें दर्शन और धर्ममें भेद कभी नहीं रहा)—जिसका प्रकृतिके किसी ज्ञात नियमके साथ विरोध नहीं है, जिससे मनुष्यकी बुद्धिका पूर्ण समाधान होता है और जिसके द्वारा मानव-हृदयकी ऊँची-मे-ऊँची अभिलाषाकी पूर्तिके लिये उल्लासपूर्ण आश्वासन मिलता है। हिन्दू-धर्ममें जीवात्माके स्वरूपका जो निदर्शन किया गया है, वह अन्य पौरोहित्य सिद्धान्तोंकी अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट, युक्तियुक्त एवं एक प्रकारसे आधुनिकताको लिये हुए है, यद्यपि उसका प्रतिपादन हजारों वर्ष पूर्व किया जा चुका था।

हिन्दू-महर्षियोंके मतमें आत्मा कोई अनिर्देश्य अथवा अलौकिक वस्तु नहीं है जो मनुष्यको ईश्वरकी ओरसे विशेष अनुग्रहके उपलब्धमें प्राप्त हुई हो, या जो किसी दिन अकस्मात् उद्भूत हो गयी हो। भारतीय सिद्धान्तके अनुसार आत्मा केवल जीवन—दिव्य जीवन-स्वरूप है—जो मनुष्य-शरीरमें प्रवेशकर अपने आपका अनुभव करने लग जाती है। जीवनमात्र दिव्य है, परमात्माका स्वरूप है, जिससे सारा विश्व अनुप्राणित हो रहा है, यह दिव्य जीवन, यह दिव्य चेतना जो सारी प्रकृतिमें अव्यक्तरूपसे ओत-प्रोत है, मनुष्यके अन्दर व्यष्टिरूपसे प्रकट होकर जीव-संज्ञाको धारण कर लेती है। आत्मा परमात्मा है, मनुष्यके अन्दर व्यष्टिरूपसे प्रकट हुआ समष्टिचेतन है। वह जीवन है, दिव्य जीवन है, अनन्त जीवन है। ईश्वर और जीव अभिन्न हैं।

इस छोटे-से निबन्धमें हिन्दुओंके मनोविज्ञानशास्त्रके सूक्ष्म विचारोंका दिग्दर्शन कराना असम्भव-सा प्रतीत होता है, क्योंकि उसके अन्दर ऐसी-ऐसी अद्भुत बारीकियोंका वर्णन है जिनपर साधारण मनुष्योंको विश्वास नहीं होता, हिन्दू-शास्त्रोंका गूढ़ मर्म न समझकर कुछ पाश्चात्य विद्वानों-

ने उन्हें निरा बच्चोंका खेल बतलाया है। परन्तु वे इस बातको भूलते हैं कि मनुष्यके अन्तःकरणकी अटिल वृत्तियों, उसकी चेतना-शक्तिके गूढ़ रहस्योंकी जितनी गहरी छानबीन भारतीय दार्शनिकोंने की है, उतनी प्राचीन अथवा अर्वाचीन कोई भी देश या जाति नहीं कर सकी है। उनके मनोविज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन करानेके लिये यह कहना पर्याप्त होगा कि अन्य कई प्राचीन जातियोंकी भाँति भारतवासियोंने भी अति प्राचीन कालसे ही जीवको तीन, चार एवं अधिक-से-अधिक सात तत्त्वों या अभिव्यक्तियोंके द्वारोंमें विभाजित किया है। वेदान्तियोंने अधिकांशमें चतुर्विध विभागकी पद्धतिको स्वीकार किया है। उन्होंने मनुष्यके चार विग्रह बतलाये हैं—

१—स्थूल-शरीर—अर्थात् इन्द्रियोंद्वारा प्राप्य यह पञ्च-भूतोंसे बना हुआ देह जो सबसे बाहरका आवरण है।

२—सूक्ष्म-शरीर जो एक अस्थन्त सूक्ष्म ईश्वर नामक तत्त्वसे बना हुआ देह है, जो भौतिक शरीरके अन्दर अनुप्रविष्ट है और जो प्राण अर्थात् देह-धारणकी शक्तिका वाहक है।

३—काम-शरीर—अर्थात् इच्छामय शरीर जो मनो-भावोंका व्यञ्जक है।

४—कारण-शरीर—अर्थात् मानसिक देह, जिसके द्वारा विचारका कार्य होता है।

इन सारे शरीरोंके भीतर और उनके परे जीव छिपा हुआ रहता है जिसे आत्मा Spirit (पुरुष), प्राण, अनन्त प्राणका प्राण—(Breath of the endless breath) ईश्वरीय तत्त्व, आध्यात्मिक अद्वय पुरुष आदि नामोंसे पुकारते हैं।

हय तत्त्वका यदि हम और अधिक विश्लेषण करें और इन शरीरों अथवा द्वारोंके और अधिक विभाग एवं अवान्तर-विभाग करें तो हमें इनके सात विभाग करने होंगे जिनका उल्लेख हिन्दू-दर्शन-शास्त्रके कई आधुनिक

* संस्कृतके 'आत्मन्' शब्दके लिये, जिसे यूनानी भाषामें Pneuma कहते हैं, अंग्रेजीमें 'Spirit' शब्दका प्रयोग करना चाहिये, 'Soul' शब्दका नहीं; यद्यपि 'Soul' शब्दका भी कभी-कभी मनुष्य-जीवनके अविनाशी तत्त्वके अर्थमें प्रयोग होता है जो इसका प्रचलित अर्थ है।

ग्रन्थोंमें और थियोसोफी (Theosophy) मतके अधिकांश सिद्धान्तग्रन्थोंमें मिलता है। इस विभागके अनुसार मनुष्यको तीन और तीन छः तत्त्वोंका समुदाय माना गया है—जिनमेंसे तीन उच्च तत्त्वोंका प्रतिबिम्ब तीन अधम तत्त्वोंपर पड़ता है, जो मिलकर उस एक तत्त्वमें केन्द्रित हो जाते हैं जिसे व्यष्टि-चेतन कहते हैं और जो समष्टि-चेतनसे अभिन्न है।

परन्तु यहाँ तो उन भेद-प्रभेदोंका निर्देशमात्र कर देना अलं होगा, इससे अधिक सम्भव नहीं। संक्षेपके लिये हम मनुष्यके जीवको आत्मा और देह, पुरुष और प्रकृति, अथवा जीवन—द्विष्य जीवन—और उसका मूर्तस्वरूप इन दो आगोंमें विभक्त कर सकते हैं। यह विभाग यद्यपि बहुत स्थूल है किन्तु सारी मनोवैज्ञानिक पद्धतियोंका आधार है, चाहे वे चतुर्विध विभागको मानती हों या सप्तविधको, प्राच्य हों या पाश्चात्य, प्राचीन हों अथवा अर्वाचीन। यह द्वैत ऐसा है कि जिससे कहर-से-कहर अद्वैतवादी भी सर्वथा नहीं बच सकते। पाश्चात्य विद्वान् इस द्वैतको इस-प्रकारसे व्यक्त करते हैं कि मनुष्य शरीर है और उसके अन्दर आत्माका निवास है। पौराण्य देशोंमें विद्वान् इसी बातको दूसरी तरहसे अभिव्यक्त करते हैं, वे कहते हैं कि 'चेतन आत्मा है और वह शरीर धारण करता है।'।

हिन्दुओंके अध्यात्मशास्त्रका यह मूल-मन्त्र है। आधुनिक पाश्चात्य सिद्धान्तोंमें और इसमें सबसे बड़ा अन्तर यही है; इसीकी बदौलत हिन्दू-धर्म सारे विश्व-धर्मोंकी अपेक्षा अधिक अध्यात्ममूलक होनेका दावा करता है। 'चेतन आत्मा है और वह शरीर धारण किये हुए है।' दार्शनिक इस शरीर अथवा शरीरोंके चाहे जितने ही विभाग और अवान्तर-विभाग कर सकते हैं, मनुष्यको भौतिक, भावुक, मानसिक इत्यादि कई तत्त्वोंमें विभक्त कर सकते हैं, किन्तु मूल-सिद्धान्त तो यह है कि मनुष्य—उसका वास्तविक रूप, जीवात्मा—एक अविनाशी एवं दिव्य आध्यात्मिक तत्त्व है जो कुछ कालके लिये भौतिक शरीर धारणकर इस भौतिक जगत्में अभिव्यक्त होता है। कम से-कम भारतवर्षके लिये Leo Tolstoy के निम्न-लिखित शब्द विष्कुल यथार्थ हैं—

The essence of religious truth is this, that man is a Spiritual being, Similar to his source, God.

अर्थात् धार्मिक तथ्यका सार यह है कि मनुष्य एक आभ्यात्मिक प्राणी है और इसप्रकार अपने मूल—परमात्मा—के सहश है।

कट्टर-से-कट्टर अज्ञातवादी भी एक चरम अज्ञात सत्ताको अवश्य स्वीकार करते हैं जो व्यक्त-जीवनके प्रतिक्षण बदलनेवाले रूपोंके बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे व्याप्त रहती है। इस ब्रह्माण्डको हम एक व्यवस्थित व्यापार न मानकर एक उद्देश्यहीन उथल-पुथल मानें, जिसमें अज्ञात शक्तियोंका अनवरत विवेकशून्य व्यापार हो रहा है तो दूसरी बात है, यद्यपि अखिल ब्रह्माण्डमें एक भी कार्य ऐसा नहीं है जिससे हम ऐसा अनुमान कर सकें। किन्तु यदि हम विश्वको एक व्यवस्थित वस्तु मानते हैं तो हमारे लिये एक ऐसी सत्ताको स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है जो सारे सत् पदार्थोंका कारणरहित कारण (Rootless root) है। यह सत्ता एक—अद्वितीय होनी चाहिये; इसके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं हो सकती; यह विश्वमें ओतप्रोत है; यही नहीं, सारा विश्व उसीका आकार है।

भारतीय भूतियाँ कहती हैं—

‘वह स्वर्गमें एवमरूपसे रहता है, ज्योतिर्मय प्रदेशमें व्यापक-रूपसे विद्यमान है, वेदीपर अभिरूपसे स्थित है, घरमें अतिथि होकर निवास करता है, उसका मनुष्यके अन्दर निवास है, मनुष्यसे श्रेष्ठ भूतों अर्थात् देवताओंमें भी उसकी स्थिति है... । वह अखिल सृष्टिका एकाधिपति एवं अन्तरात्मा है... । जो विवेकी पुरुष अपने अन्तरात्मामें उसका दर्शन करते हैं, उन्हींको शाश्वत आनन्द मिलता है।’^{१४}

ब्रह्मकी जगत्में ओतप्रोतता तथा जगत्परताके सिद्धान्त-का इससे अधिक स्पष्ट विवरण और क्या हो सकता है? अति प्राचीन कालमें हिन्दू-दार्शनिकोंने यह अवगत कर लिया था कि प्रकृतिका जो मूल आधार है, मनुष्यका चरम

* ह-सः शुचिषदसुन्तरिखसकंता वेदिपदतिथिदुरोपसत् ।

नृषदसदृतसदयोमसदग्ना गोजा अन्ना अग्निजा श्रुतम्बुहत् ॥

(कठ० २, ५, २)

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा

एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्य येऽनुपश्यन्ति धीरा-

स्तथां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

(कठ० २, ५, १२)

तत्त्व भी वही है। उनका विश्वास था कि जगत्का प्रत्येक अणु-परमाणु जिस दिव्य जीवनसे अनुप्राणित है, वही आत्मरूपसे मनुष्यके हृत्-प्रदेशमें भी अवस्थित है; जो अनन्त-शक्ति अखिल विश्वमें व्याप्त है वही मनुष्यके अन्दर व्यष्टि-चेतनके रूपमें व्यक्त होती है। मनुष्यके अन्दर व्यापक ब्रह्मके इसप्रकार परिच्छिन्न हो जानेको ही हम सन्देहशुक्त भाषामें उदात्त आत्मा (Higher Self), दिव्य स्फुलिंग (Divine spark), अविनाशी तत्त्व (Immortal Principle), जीवात्मा (Ego) अथवा मानवीय आत्मा (Human soul) इत्यादिके नामसे पुकारते हैं।

वास्तवमें यदि हम क्षणभर भी इस विषयपर गम्भीर विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि विश्वके मूल आधार-को माननेके लिये हमारे पास जो प्रमाण हैं, उन्हीं प्रमाणां-से मनुष्यके चरम तत्त्वकी सत्ता भी सिद्ध होती है। हम देखते हैं कि प्रकृतिमें प्रतिक्षण हलचल हो रही है, अनन्त प्रकारके आकार, वर्ण एवं शब्द उत्पन्न होते और विलीन हो जाते हैं, उनकी एक विचित्र ऑस्मिचौनीका खेल-सा होता रहता है। इस हलचलमें, इन विकारोंमें, जीवन-के इस निरन्तर घूमनेवाले चक्रमें हम यह अनुमान करते हैं कि इन विकारोंके परे एक विकाररहित सत्ता अवश्य होनी चाहिये जो इन सारे विकारोंका कारण है। प्रकृतिवादी (Materialist) उस सत्ताका ‘स्वभाव’ (as Ding an sich) के नामसे निर्देश करता है, वेदान्ती उसे निर्गुण ब्रह्मके नामसे पुकारता है, भक्त उसे वैकुण्ठमें विराजनेवाला जगत्पिता कहता है और अनेकों नाम-रूपों-से उसकी उपासना करता है।

किन्तु जब हम मानव-जीवनकी समीक्षा करते हैं तो क्या हम नहीं देखते कि उसके अन्दर भी उसी प्रकारके अद्भुत विकार हो रहे हैं? हम उसे देहरूपमें अवस्थित पाते हैं और उस देह एवं उसके अन्तर्बर्ती प्रत्येक अणुमें निरन्तर क्रिया होती रहती है। किसी हिन्दू-दार्शनिकने अरुण शब्दोंमें शरीरकी इसप्रकार परिभाषा की है। उसका कहना है कि शरीर विकारोंकी शृंखलाका ही नाम है। स्थूल प्रकृतिके सूक्ष्मतम तत्त्वोंको चाहे हम उन्हें Atom (अणु), Ion (परमाणु) अथवा Electron (विद्युदणु) किसी नामसे भी पुकारें, एक अविच्छिन्न धारा एक मूर्तरूपसे दूसरे मूर्तरूपमें अदृश्यरूपसे प्रवाहित होती रहती है। इस क्षण उनके द्वारा एक मनुष्यदेहकी रचना होती है तो दूसरे ही क्षण

वह दूसरे मनुष्यके देहमें संक्रमण कर जाती है अथवा किसी पाँचे, खनिज पदार्थ, वृष्टि-विन्दु या सूर्य-किरणके अन्दर भासनेवाले सूक्ष्मानिःसूक्ष्म रजःकणके रूपमें परिणत हो जाती है। तब फिर मनुष्यका वास्तविक स्वरूप क्या है? इन विकारोंकी ओटमें रहनेवाला अधिकारी तत्त्व (Das Ding an sich) क्या है? जीवात्मा अर्थात् मनुष्यके अन्दर रहनेवाली दिव्य आत्मा, जिसके लिये हिन्दू-शास्त्रोंमें भावपूर्ण 'देही' शब्दका प्रयोग किया गया है, किस वस्तुका नाम है? मनुष्य क्या है?

इस प्रश्नका प्राच्य दार्शनिक दृष्टांते साथ यह उत्तर देते हैं कि मनुष्य ईश्वरका स्वरूप है।

प्राचीन कालके हिन्दू-दार्शनिकोंका अद्वैत-सिद्धान्त उतना ही दृढ़ एवं तर्ककी तराजूपर तुला हुआ था जितना आधुनिक युक्तिवादियोंका अद्वैत-सिद्धान्त है। अन्तर केवल इतना ही है कि प्राचीन भारतीय दार्शनिक उस एक अद्वितीय प्रज्ञाकी शक्ति (Energy), मूल द्रव्य (Substance) अथवा आवश्यकता (Necessity) के नामसे नहीं पुकारते थे और सर्वथा अशेष कहकर उसे मनुष्यकी बुद्धिमें आगम्य नहीं समझते थे। अवश्य ही उन लोगोंने निर्गुण परमात्माको ज्ञानके परे माना है परन्तु सगुण ईश्वरकी, जो इच्छाशक्तियुक्त निर्गुण ही है, वे विश्वका सनातन माता-पिता, अस्तित्व रूपोंमें व्यक्त होनेवाला व्यापक जीवन, तथा प्रकृति और पुरुष, द्रव्य एवं शक्ति, जीवन एवं उसका मूलस्वरूप इसप्रकार द्वैतरूपसे व्यक्त होनेवाला एक सर्वव्यापी परमात्मा मानते हैं। प्राचीन भारतीय महर्षियोंने रसीली भाषामें प्रकृतिको ब्रह्मका अवगुण्डन (घूँघट) कहा है जो उस परमात्म-तत्त्वको ईष्ययुक्त एवं ईष्यरोहित करता है। सृष्टिके आदिमें यह परदा या घूँघट बहुत इष्का, सूर्यको आवृत करनेवाले धूम अथवा कुहरकी भाँति होता है; किन्तु ज्यों-ज्यों जगत्का विकास होता है, ज्यों-ज्यों यह आवरण स्थूल होता जाता है, जिससे पञ्च-महाभूतोंकी रचना होती है। इसी परदेसे सारे भौतिक पदार्थोंकी सृष्टि होती है; मनुष्यका शरीर भी इसीसे बनता है। किन्तु उसके अन्दर निवास करनेवाले जीवात्मा और परमात्माकी मूलतः एक ही धातु है; अनन्त प्राणका प्राण वह ईश्वरकी आत्मासे अभिन्न है और दोनों ही अजन्मा, अभय एवं शाश्वत हैं।

यह स्वतःसिद्ध है कि इसप्रकारके मूल-सिद्धान्तके आधारपर निर्माण किया हुआ आचार-तत्त्व मानव-जातिके

क्रिये अत्यन्त उपकारी होना चाहिये। कतिपय विद्वानोंका तो यह मत है कि पाप एवं दुःखके विश्वव्यापी जटिल प्रश्नको हल करनेका इसके अतिरिक्त कोई दूसरा युक्तियुक्त मार्ग ही नहीं हो सकता। हिन्दुओंका पुनर्जन्म-सिद्धान्त इसको पहले-हीसे यह बतलाता है कि मनुष्य ही अपने माग्यका विधाता है, जिसप्रकार भौतिक जगत्में कार्य-कारणका नियम भटल-रूपसे काम करता है, उसी प्रकार कर्म-सिद्धान्त आध्यात्मिक जगत्के लिये लागू है; पार्थिव क्षेत्रकी भौतिक नैतिक एवं मानसिक क्षेत्रोंमें भी 'जैसा बोओगे वैसा ही पाओगे' यह सिद्धान्त भटल है। यह विकासका क्षेत्र, जिसे हम पार्थिव जीवन कहते हैं, एक प्रकारकी पाठशाला है, जिसका पाठ्य-क्रम कई श्रेणियोंमें विभक्त है और जिसमें सन्तोंकी, नहीं-नहीं, देवताओंकी शिक्षा होती है।

हिन्दुओंके सिद्धान्तके अनुसार मनुष्य-जीवन प्राक्तन जन्मोंतक ही सीमित नहीं है। आत्मा स्वरूपसे ही अनादि एवं अनन्त है, उसके लिये 'काल' कोई बन्धु ही नहीं है। भारतीय ऋषियोंने अपनी सूक्ष्मवृष्टिको सृष्टिके आदि कालतक दृष्टाकर, जो इस महान् संसारचक्रका पहला चक्कर था, यह देखा कि उस समय भी मनुष्यकी आत्मा, जो परमात्माका ही अंश है, बीजरूपसे अपने पिताकी गोदमें ही सोयी हुई है। उन्होंने यह अवगत किया कि मनुष्य यदि वास्तवमें परमात्माका अंश है, यदि 'आत्मा ही परमात्मा है' यदि प्रत्येक जन्म उस पूर्ण पुरुषके एक छोरसे दूसरे छोरको ले जानेवाली दीर्घ यात्राकी एक मंजिलमात्र है तो यह युक्तिसे सिद्ध होता है कि ईश्वरकी भौतिक जीवात्मा भी नित्य होना चाहिये। एक जन्मकी कौन कहे, दस-तीस अथवा सौ जन्म भी उस अनन्त कालके सामने एक आसके समान ही तो हैं। जीवात्मा जब मर्त्यलोकमें आधिभूत होता है तब उतने ही कालके लिये वह देश और कालकी उपाधिसे उपहित होता है; और उसी समय यह दिव्य ज्योति अस्थि-मांसके पञ्जरमें आकर उपर्युक्त जीवनकी पाठशालामें शिक्षा प्राप्त करती है।

'आत्मा भी परमात्माकी तरह नित्य है' इस कथनके अन्दर कितना आशय छिपा हुआ है? यदि मनुष्यकी आत्मा एवं परमात्मामें वास्तवमें कोई अन्तर नहीं है तो यह मानना पड़ेगा कि ईश्वरके अन्दर सर्वशता, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वव्यापकता आदि जितने भी गुण हैं वे सब अव्यक्तरूपसे मनुष्योंमें भी विद्यमान रहने चाहिये। साथ ही यह भी

मानना पड़ेगा कि जीवात्मा उतना ही स्वतन्त्र है जितना कि 'स्वतन्त्र' शब्दका अर्थ हो सकता है, क्योंकि यद्यपि उसे कुछ कालके लिये भौतिक जगत्के बन्धनोंको स्वीकार करना पड़ता है किन्तु वास्तवमें वह उस जगत्के निर्माताका ही स्वरूप तो है। माना कि उसे ईश्वरीय नियमोंका पालन करना पड़ता है किन्तु फिर भी उन नियमोंका बनानेवाला और वह दोनों एक ही तो है।

मनुष्य जो ईश्वरका अंश है, अपने अंशसे पृथक् होकर जीवनकी अवधि समाप्त हो जानेपर फिर लौटकर उसके पास पहुँच जाता है और पहुँचकर यह कह सकता है—Before Abraham was, I am (अर्थात् इब्राहीम-से पहले भी मैं विद्यमान था)। आत्माके सम्बन्धमें प्राच्य एवं पाश्चात्य दार्शनिकोंमें यह दूसरा प्रधान मतभेद है। पाश्चात्य मतके अनुसार जीवात्माका उद्भव कहीं अन्यत्र है, किन्तु हिन्दुओंके मतमें वह अपनी स्वतन्त्र इच्छासे ही व्यक्त रूप धारण करता है, किसी दूसरेकी प्रेरणासे नहीं।

अब रही यह अन्तिम पहेली, जो ईसाइयोंके शब्दोंमें इसप्रकार है कि ईश्वरने मनुष्यको और उसके

निवासस्थान इस संसारको रचा ही क्यों? अथवा हिन्दुओंके शब्दोंमें हम इसी प्रश्नको इसप्रकार रख सकते हैं कि 'एकोऽहं बहु स्याम्' इस इच्छाके मूलमें क्या था, वह समष्टि-चेतन विभक्त होकर व्यष्टिरूपमें क्यों व्यक्त हुआ? इस शंकाका समाधान न तो प्राच्य दर्शन ही कर सका है और न पाश्चात्य दर्शन ही। हाँ, पूर्वीय एवं पश्चिमीय दोनों देशोंके अधिकांश दार्शनिक इस बातको अवश्य मानते हैं कि संसारमें युगोंमें जो यह स्पन्द-क्रिया हो रही है, अनन्त शताब्दियोंसे जो उद्योग हो रहा है, अपने दीर्घकालव्यापी विकासमें मनुष्य-जाति जो धीरे धीरे एवं एक-एककर अप्रसर हो रही है इसका कोई-न-कोई महान् उद्देश्य अवश्य है, मनुष्य-जाति आगे बढ़नेके लिये जो दाँव-भूप कर रही है उससे किसी-न-किसी लक्ष्यकी सिद्धि अवश्य होगी। यदि ऐसा न होता तो संसारमें प्रेम, न्याय और विवेकका नामोनिशानतक न होता। किन्तु यह सब क्यों है, यह प्रश्न फिर भी हल नहीं होता। निर्वाणकी प्राप्ति हो जानेपर, जीवका ब्रह्मके साथ ऐक्य हो जानेपर ही जीव इस बातको जान सकेगा कि वह जीवदशाको क्यों प्राप्त हुआ?



हे अनन्त !

हे अनन्त !

ऊपर सूर्य चन्द्र तारागण,
नीचे सागर, गिरि, रज-कण-कण,
तेरी कीर्ति गुंजाते,
जिससे गुंजी दिशा दिगन्त।

हे अनन्त !

× × × ×
श्रुतु समस्त करके नित ध्यान,
दूँद रही तेरा स्थान,
माँती तेरा कीर्ति-गान,
तेरी ही महिमा दिखलाने,
आता मधुर बसन्त।
हे अनन्त !

× × × ×
तारागण सिकमिल शिलमिलकर,
चन्द्रदेव शीतलता देकर,
सूर्य ऊष्णता और प्रकाश भरकर,
वायु सुगन्ध समनसे भरकर,
मणि मुक्तादिक जलधि निरन्तर,
सब देते अपना अपनाकर,

× × × ×

किन्तु नहीं कुछ इस दरिद्र पर,
पुष्पोंकी अञ्जलिमें भरकर,
देनेको समोद साहसकर,
मैं जल पड़ा देव ! उस पथपर
था न कहीं पर अन्त।
हे अनन्त !

× × × ×
बड़े कष्टों में आ पाया,
भेट तुच्छ-सी ही ला पाया,
द्वार खुला तेरा जा पाया,
मैं घुस पड़ा, सामने पाया,
पाँते जिसे न सन्त।
हे अनन्त !

× × × ×
देव ! मुझे चरणाभूत दे दो,
प्रतिभा दो, नैया भेज दे दो,
कर दो नस गुणवन्त।
हे अनन्त !

अबन्तबिहारी माधुर

ईश्वर भ्रुव सत्य है

(लेखक—साहित्याचार्य पं० श्रीरघुवर सिट्ठलालजी शास्त्री, काव्यतीर्थ, वेदान्ततीर्थ, एम० ए०, एम० ओ० एल०)

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवानां परमं च देवतम् ।

पतिं पत्नीनां परमं परस्तात्
विदाम देवं भुवनशमीढ्यम् ॥

यं शैवाः सम्पासन्ते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनां
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तन्ति नैयायिकाः ।

अहंमित्रस्य जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः ।

सोऽयं नो विदधान् वारिष्ठतफलं त्रेकोक्यनाथां हरिः ॥

१—मनुष्यका मूल सच्चिदानन्द (ब्रह्म) है

मनुष्य सृष्टु, अज्ञान और दुःखको कभी अपना नहीं चाहता । उसके कर्म, उसकी बात-चीत, इच्छाएँ और उसके विचार सदा इनपर विजय पानेके सम्बन्धमें ही होते रहते हैं । क्या वर्तमान कालकी भौतिक पदार्थ-सम्बन्धी पाश्चात्य विद्याएँ और क्या प्राचीन जगत्का आध्यात्मिक जीवन, सभी स्थायी जीवन, असंमित ज्ञान और अबाधित सुखको मानव-जीवनका ध्येय मानते आ रहे हैं ।

प्रथम तो मनुष्य अति दीर्घजीवी होनेके लिये इच्छा, प्रयत्न और कृति करनेमें नहीं चूकता और जब उसे यह दृढ़ निश्चय हो जाता है कि प्राकृतिक उपायोंका पूर्ण अवलम्बन करनेपर भी यह शरीर सदा नहीं रह सकता तो वह अपने उत्तराधिकारी (पुत्र) में अपने जीवनकी समस्त भावनाएँ और आशाएँ सन्निहित करके उसी (पुत्र) के रूपमें अपने जीवनका तादात्म्य स्थापित करता है । औरस पुत्रके अभावमें दत्तकको ही अपना स्थानापन्न बनाकर सम्बोधन कर लेता है । यदि देवयोगसे वह भी न रहे तो निर्धन और निरालम्ब पुरुषको अपना जीवन स्वयं प्रतीत होता है और वह हतोत्साह हो जाता है परन्तु ग्रन्थकार अपनेग्रन्थ, सम्पन्न अपनी सम्पत्ति, कूप, तड़ाग, धर्मशाळा, पाठशाळा इत्यादिके रूपमें ही शरीरान्तके पश्चात् भी जीवित रहनेका इच्छुक देखा जाता है । यह सब मनुष्यके स्वभावमें त्रिकाळाबाधित सत्ताकी प्राकृतिक भावनाके अतिरिक्त और क्या है ?

मनुष्य अपने शीशवसे वार्षिक्यतक सदा यही अनुभव करनेका उत्सुक देखा जाता है कि अमुक पदार्थ, अमुक

दृश्य, अमुक भावको जितना मैं जान, देख और समझ रहा हूँ, उसके आगे क्या है, बालकके प्रश्नोंपर वृद्ध अथवा शिक्षकके उत्तर, संसारकी विविध भाषाओंका साहित्य, अनेक विद्याओंका विकास, समाचार-पत्र इत्यादि साधन केवल सीमित ज्ञानको असंमित बनाने (की स्वाभाविक इच्छा) का प्रयत्नमात्र नहीं तो और क्या है ? परन्तु इन लौकिक उपायोंका फल मृग-तृष्णाकी दौड़-सरीखा ही होता है । यह ज्ञान-पिपासा पदार्थों एवं प्रपञ्चका अन्तिम (मूल) कारण जाने बिना कभी शान्त नहीं होती ।

‘यनाश्रुतं धृतं भवत्यमतं मतमविज्ञतं विशतमिति ।’

(छा० ६।१।३)

फिर ऐसा भी कोई मनुष्य न होगा जो सब प्रकारसे सर्वदा सुखी रहनेका इच्छुक न रहता हो । बड़े तो बड़े, छोटे दुःखोंके पङ्केपर भी वह उनका होकर एक क्षण भी रहना नहीं चाहता । वह उन्हें अपना विरोधी ही माना करता है । दुःख और सुखकी परिभाषामें यही सत्य संनिविष्ट है—

‘प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् । अनुकूलवेदनीयं सुखम् ।’

वास्तवमें सुख अपना स्वरूप ही है । लोगोंका भ्रम है कि अमुक पदार्थसुख देगा । किन्तु सुखका कारण कोई बाहरी पदार्थ नहीं है । बात यह है कि किसी पदार्थकी इच्छामें जो बेचैनी (अस्थिरता) मनमें रहती है वह उस पदार्थकी प्राप्तिसे थोड़ी देरके लिये बन्द हो जाती है और उतनी देरके लिये मन विषय-वासनासे रहित होकर आत्मरूप हो जाता है । मनकी यही आत्मरूपता सुखके अनुभवका साधन है । इसप्रकार सुख अपने भीतर ही है, बाहरसे किसी पदार्थके साथ नहीं आता । परन्तु जबतक मनके किसी कोनेमें ‘वासना’ छिपी रहती है तबतक एक इच्छा पूर्ण होनेका क्षणिक सुखानुभव होनेके पश्चात् ही दूसरी इच्छाका उदय होना बन्द न होनेसे मनकी चञ्चलता दूर नहीं होती और सुखरूप आत्माके नित्य संनिहित रहनेपर भी स्थिर सुखका अनुभव नहीं होता । वासना ही मनको बेचैन रखनेवाली और सदा नाच नचानेवाली है । उसके कूटे बिना स्थायी सुख (परमानन्द, मोक्ष) नहीं मिलता ।

परन्तु आनन्दको सभी कोई अपनाते हैं। अतः आनन्द अपना स्वरूप है। यही ब्रह्म है—

‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणम् ।’

(बृह० ३।५।२८)

‘रसो वै सः । रसः क्षत्राद्यं लब्ध्वाऽऽनन्दो भवति ।’

(तै० २।७)

‘आनन्दो ब्रह्म’ (तै० ३।६)

‘पतस्मैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रानुपजीवन्ति ।’

(बृह० ४।३।३२)

—इत्यादि श्रुतियाँ पुरुषके इसी भूले हुए स्वरूपभूत आनन्दरूप ब्रह्मका वर्णन करती हैं।

सारांश यह कि निरय सत् (विद्यमान) रहने, सब कुछ जानने और निरय निर्बाध आनन्द पा लेनेकी इच्छाएँ मनुष्यकी प्रकृतिमें ही समायी हुई हैं अर्थात् मनुष्य सदा सच्चिदानन्दका इच्छुक रहता है। ‘प्रकृतिं यान्ति भूतानि’ अर्थात् सभी भूत अपनी प्रकृतिकी ओर झुकते हैं इससे सिद्ध है कि मनुष्यकी प्रकृति ही सच्चिदानन्द है।

ईश्वर भी अन्ततः इस सच्चिदानन्दका ही नामान्तर है। मनुष्यके जीवनमें यदि कोई स्थिर सत्य वस्तु है तो वह उसकी प्रकृति सच्चिदानन्द अर्थात् ईश्वर ही है। यह ईश्वर भुव सत्य है जो हृदय-मन्दिमें सदा निवास करता है।

‘सहस्रशीर्षो पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिः सर्वतःस्पृत्वऽख्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥’

(यजु० ३१।१)

‘यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यः सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।’ (बृह० ३।७।१५)

‘यो मनसि तिष्ठन्.....यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।’

(३।७।२०)

‘यो विज्ञाने तिष्ठन्.....यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ।’

(३।७।२२)

—इत्यादि श्रुतियाँ तथा—

‘ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥’

(गीता १८।६२)

इत्यादि स्मृतियाँ इसी ईश्वरका गुण-गान करती हैं।

इस ईश्वरकी सत्तामें जिसे सन्देह हो वह अपनी सत्ता कैसे सिद्ध कर सकता है ? वह तो निराधार होनेसे स्वयं ही ‘असत्’ हो जायगा।

‘असत्त्वे स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद । सन्तमेनं ततो विदुरिति ॥’ (तै० २।६)

—इत्यादि श्रुतियाँ और—

‘असद्ब्रह्मेति चेद्वेद सत्यमेव भवेदसत् ।

अतोऽस्य मा भूद्वेद्यत्वं स्वसत्त्वं त्वम्युपेयताम् ॥’

(पञ्चदशी ३।२५)

—इत्यादि तदनुवादक वाक्योंमें यही उपपत्ति दी गयी है। अतः ईश्वर-जैमे भुव सत्यका ‘असत्’ होना किसी अपने आपको ‘सत्’ माननेवाले (अभ्रान्त) शिष्ट पुरुषकी बुद्धिमें आ ही नहीं सकता।

मनुष्यकी सच्चिदानन्द-प्राप्तिकी इच्छा स्वाभाविक होनेपर तत्प्राप्तिका साधन भी होना चाहिये। भूलमें पड़ा हुआ मनुष्य यथार्थ ज्ञानकी अपेक्षा रखता है। यथार्थ ज्ञान निर्मल और स्थिर हृदयमें ही समा सकता है। हृदयकी निर्मलताके लिये निष्काम कर्म और स्थैर्यके लिये उपासना-की अपेक्षा होती है। जिसकी उपासना की जाती है वैसे ही उपासक हो जाता है—

‘यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।

भूतानि यान्ति भूतज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥’

(गीता ९।२५)

—इस हेतुसे सच्चिदानन्द-प्राप्तिके लिये सच्चिदानन्दकी ही उपासना करना ठीक है जिससे चित्तकी एकाग्रता और ब्रह्म-प्राप्ति दोनों ही फल सिद्ध होते हैं। ‘ईश्वरप्रणिधानाद्वा’ (१।९३) इस योगसूत्रमें कहा गया है कि ईश्वरके अभिध्यानसे योगीको आसन्नतर समाधिप्राप्त और समाधि-फल होता है। अभिध्यानका अर्थ वाचस्पतिने ‘अनागत अर्थकी इच्छा’ अर्थात् इस भक्तका अमुक अभिमत सिद्ध हो जाय ऐसी कृपा-भावना—किया है। द्वैतवादीकी दृष्टिमें यहाँ यह माना गया है कि मानसिक, वाचिक वा कायिक भक्ति-विशेषसे अभिमुख हुआ ईश्वर भक्त (योगी) पर ऐसा अनुग्रह करता है। यथार्थमें ईश्वरके प्रति बढ़ जीवका भक्ति-भाव भी अपने स्वरूपभूत सच्चिदानन्द ब्रह्मका ध्यान ही है और उसे फल भी कहीं बाहरमें नहीं मिलता, किन्तु अज्ञानके कारण जो अप्राप्त-सा दोखता है परन्तु है सदा

अपने भीतर (प्राप्त) ही, वही इसप्रकारकी उपासना (Otto-Suggestion) से आविर्भूतस्वरूप (प्रकट) हो जाता है। योगसूत्रकारको भी ईश्वरका 'सत्-चित्त-आनन्द' स्वरूप स्वीकृत है, क्योंकि 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (१।२४) में 'आनन्द' का व्यतिरेक-मुखसे प्रतिपादन है और 'तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' (१।२५) में 'चित्' की ही पराकाष्ठा दिखलायी गयी है, एवं 'स एव पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्' (१।२६) में कालपरिच्छेदरहित कहनेका तात्पर्य वही है जो 'सत्' शब्दमें दृष्ट है।

सब वस्तुओंके भीतर एक नियामिका शक्ति निगूढ़ रहती है, इसी शक्तिकी उपाधिके संयोगसे ब्रह्म ही ईश्वरता (सर्वज्ञतादि-धर्मयोगिता) को प्राप्त हो जाता है और वैयक्तिक स्थूल-शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि उपाधियोंके संयोगसे ब्रह्म ही जीवता (जीवपन) को प्राप्त हो जाता है। और जब शक्ति या अक्षमय (शरीर) आदि उपाधियोंका योग विवक्षित नहीं होता है तब वह ब्रह्म न तो ईश्वर कहाता है और न जीव। जैसे एक ही देवदत्त अपने पुत्रकी अपेक्षामें पिता कहलाता है और पौत्रकी अपेक्षामें पितामह, परन्तु यदि पुत्र वा पौत्ररूप उपाधियों (आपेक्षिक शब्दों Correlative terms) की चर्चा न की जाय तो वह न पिता कहा जायगा न पितामह, किन्तु केवल देवदत्त ही रहेगा। तथापि जैसे देवदत्त ध्रुव सत्य है वैसे ही व्यवहारमें उसका 'पिता' या 'पितामह' कहलाना भी उतना ही निश्चित सत्य है। ठीक इसी प्रकार ब्रह्मकी तरह ईश्वर और जीव भी व्यवहारमें ध्रुव सत्य हैं। यदि जीव हैं तो ईश्वर भी अवश्य है।

ब्रह्म अर्थात् सच्चिदानन्दकी प्राप्तिके लिये प्रथम उपासना आवश्यक है जिससे चित्तकी एकाग्रता होती है, तभी श्रवण, मनन भी सफल होते हैं। वेदान्तमें भी नाना प्रकारकी उपासनाओंका वर्णन मिलता है। जिसने पहले कभी उनका अभ्यास नहीं किया उसे ब्रह्माभ्याससे ही चित्तैकाग्रसिद्ध हो जाता है। इस विषयमें बृहदारण्यककी—

‘तमेव धीरा विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।

नानुध्यामाद्बुद्धिशब्दान्वाचो विभक्तपनः हि तत्॥’

(४।४।२१)

—यह श्रुति तथा गीताका—

‘अनन्याश्चित्तमन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षमं वहाम्यहम्॥’

(९।२२)

—यह वचन प्रमाण है। इस ब्रह्माभ्यासको पञ्चदशीकार-ने स्पष्ट शब्दोंमें ऐसा लिखा है—

‘तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।

पतदकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥’

(७।१०६)

अर्थात् उसीका चिन्तन करना, उसीका कथन करना और परस्पर समझाना तथा एक उसीमें लगे रहना ब्रह्माभ्यास कहलाता है।

भगवान् पतञ्जलिने भी इसी आशयको लेकर ये तीन सूत्र लिखे हैं—‘तस्य वाचकः प्रणवः’ (१।२७) अर्थात् उस (ईश्वर) का नाम ‘ॐ’ है, ‘तज्जपस्तदर्थभावनम्’ (१।२८) उस प्रणव (ॐ) का जप और इस नामके अर्थ (ईश्वर) की भावना करते रहना चाहिये (जिनसे चित्तकी एकाग्रता होती है), ‘ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तराभावाच्च’ (१।२९) उस (ईश्वर-प्रणिधान) से स्वरूपकी प्राप्ति भी होती है और चित्तकी एकाग्रताके विरोधी विघ्नों (विक्षेपों) का नाश भी होता है। और तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः’ (१।३२) इस सूत्रमें विघ्न हटानेको एक तत्त्वके अवलम्बनका अभ्यास बतलाया है।

इसप्रकार मनुष्यकी प्रकृतिमें सच्चिदानन्द-लिप्सा होनेसे सिद्ध होता है कि मनुष्यका मूल सच्चिदानन्द (ईश्वर) ही है। इस बातमें सब धर्म-मतोंकी सम्मति है। भगवान् ने गीतामें स्पष्ट कहा है कि—

‘ममैवांशा जीवलोके जीवभूतः सनातनः।’ (१५।७)

तौरतमें कहा गया है कि मनुष्यकी उत्पत्ति ईश्वरकी प्रतिकृतिपर हुई है (Man is made in the image of God) अर्थात् ईश्वरके ही गुण मनुष्यमें प्रकट होते हैं। कुरानमें लिखा है कि ‘नफ़स्रनु फ़ियः मिन रुव्वही’ (अर्थात्—फूँकी हमने मनुष्यमें अपनी रूढ़)। ऋग्वेदमें लेकर सांख्य-योग और भगवद्गीतापर्यन्त प्रायः सभी प्राचीन आर्यग्रन्थोंमें ‘पुरुष शब्द ईश्वर और जीव दोनोंका वाचक इसी कारणसे है कि समष्टि और व्यष्टिरूप उपाधिके अतिरिक्त दोनोंमें कोई भेद नहीं है। व्यष्टिकी सत्ता ही समष्टिकी सत्ताकी साधक युक्ति है। यह समष्टिका

अभिमानि त्रिलोकीनाथ ईश्वर ही सबका अभिमत-फल-दाता है, ऐसा वेदान्त (ब्रह्मसूत्र ३।२।३८-४१) का सिद्धान्त है। इसे ही भिन्न-भिन्न उपासकोंने स्वमता-नुकूल नाम-रूपसे अपनी-अपनी उपासनाका आदर्श स्थिर किया है। हमे ही शैव लोग शिव, वेदान्ती ब्रह्म, बौद्ध बुद्ध, जैन्यायिक कर्ता, जैन ब्रह्मन् (जिन) और मीमांसक कर्मके नाम वा रूपसे अपने-अपने मतका मूलतत्त्व वा आधार मानते हैं।

२—ईश्वर ही जगत्का कारण है

कुछ लोग—

‘न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।

न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥’

(५।१४)

—इस गीता-वचनको लेकर कहते हैं कि ईश्वर तो मोक्षके लिये उपासनाका एक आदर्शमात्र है किन्तु जगत् स्वभावसे ही उत्पन्न हो जाता है, अतः ऐसा कोई ईश्वर नहीं है जो जगत्का कर्ता हो। परन्तु गीता-वचनमें ईश्वरके जगत्स्रष्टा होनेका कोई खण्डन नहीं है, क्योंकि यह प्रकरण कर्मफलके सम्बन्धासम्बन्धका है, प्रस्युत गीता (१६।८) के ही—

‘असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।

अपरस्परसंभूतं किमन्यन् कामतैनुकम्॥’

—इस स्थलान्तरमें इसप्रकारके वादियोंको आसुर जनोंमें गिना गया है और अन्यत्र भी (१८।६१) ‘ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे’ इत्यादि शब्दोंमें ईश्वर स्पष्ट ही जगत्त्रियन्ता माना गया है। ईश्वर हमारे नैयायिक इत्यादि ईश्वरको जगत्का कर्ता अथवा कारण-विशेष मानते हैं। वेदान्तके समन्वयके अनुसार ईश्वर उपास्य-देव भी है, कर्म-फल-दाता भी है और जगत्का अभिन्न-निमित्तीपादानकारण भी है।

ईश्वर और उसकी प्रकृति (माया) का विचार श्वेताश्वतरोपनिषद्में अन्यन्त सुचारुरूपसे किया गया है। ब्रह्मवादियोंने एकत्र होकर यह चर्चा उठायी कि व्यापक कारण कौन है, इस कहँसे उत्पन्न हुए, किससे जीवित हैं, हमारा लय-स्थान क्या है और सुख-दुःखकी व्यवस्थाका कौन अधिष्ठाता है ? इसपर कई पूर्व-पक्ष रखे गये कि (१) काल (२) स्वभाव (३) नियति

(४) यहच्छा (५) आकाशादि भूत (६) प्रकृति अथवा (७) पुरुष (विज्ञानात्मा)—इनमेंसे कोई-सा एक अथवा इनका संयोग। इनका समूह जिस किसीके लिये होता है उस आत्माके प्रति ये परतन्त्र होंगे और अतएव स्वतन्त्र न हो सकनेसे इनमें कारणता माननी अनुचित है। आत्मा भी सुख-दुःखके हेतु (कर्म) के अधीन होनेसे—परतन्त्र होनेसे—कारण नहीं हो सकता। अन्तमें ऋषियों (ब्रह्मवादियों) ने चित्तकी एकाग्रताके उपायसे यह देखा कि उस महेश्वरदेवकी एक स्वान्तर्निहित (अस्वतन्त्र, अपृथक्) शक्ति ही मूल-कारण है कि जो अकेला उन कालादि आत्मान्त (पुरुषान्त) सब कारणोंका नियन्ता है। यह प्रकृति माया है और उसका ऐन्द्रजालिक वही महेश्वर है। बिना उस ईश्वरके माया स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती और बिना माया-शक्तिके वह देव (अपने शुद्ध ब्रह्मरूपमें) शक्ति-सृजन वा नियमन कर नहीं सकता। अतः माया-शक्ति-वाला (शबल ब्रह्म अर्थात्) ईश्वर ही जगत्का कारण है। अर्थात् यही ईश्वर अपने चेतनरूपसे निमित्त-कारण और माया-शक्तिके द्वारा उपादान-कारण है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (१।१२) में ब्रह्मका त्रिविध निरूपण है—(१) भोक्ता (अर्थात् जीव) (२) भोग्य (अर्थात् प्रधान या प्रकृति या माया अथवा अज्ञानका कार्य समस्त इन्द्रिय प्रपञ्च), तथा (३) प्रेरिता (अर्थात् अन्तर्यामी परमेश्वर)—अर्थात् एक ही ब्रह्मके ये तीनों प्रकार हैं। इन तीनोंमेंसे किसी एककी भी सत्ता माननेसे अन्य दोकी सत्ता अवश्य ही माननी पड़ेगी। अतः ईश्वर हमारी कल्पनाकी सृष्टि नहीं किन्तु युक्ति, प्रमाण, अनुभव-सिद्ध ध्रुव सत्य ही ठहरता है। इसी उपनिषद्के स्थलान्तर (१।१) में भी ऐसा ही विचार प्रकट किया गया है कि ईश्वर और जीव दोनों ही अज (जन्मादि विकाररहित शुद्ध ब्रह्म हैं) और अजा (माया) एक हैं जो ‘भोक्तृ-भोग्यार्थ-युक्ता’ है अर्थात् प्रपञ्चगत विभाग और भेदव्यवहार इसी माया-उपाधिको लेकर हुआ है अतः सिध्दा है और विश्वरूप अकर्ता आत्मा तो अनन्त ही है अर्थात् देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे रहित है। इस जीव-ईश्वर-प्रकृति त्रिरूपमें एक ब्रह्मका ही जब ज्ञान होता है तब मुक्ति होती है। इस मन्त्रपर शाङ्कराचार्यमें लिखा है—

‘अज्ञा प्रकृतिर्न जायत इत्यज्ञा सिद्धा प्रसवधर्मिणी...विश्व-जननी देवतामशक्तिरूपैक। स्वविकारभूतभोक्तृभोग्यभोग्यार्थप्रयुक्त-

श्वरनिकटमर्तिनी किं कुर्वाणाऽवतिष्ठते । तस्मात्तोऽपि मायी परमेश्वरो मायोपाधेऽन्निवेस्तद्धानिव कार्यभूतैर्देहादिभिस्तद्देव विभक्तैर्वा विभक्त ईश्वरदिरूपेणावतिष्ठते । तस्मादेकस्मिन्नेकांशे परमात्मन्यभ्युपगम्यमानेऽपि जीवेश्वरादिसर्वलौकिकवैदिकसर्वभेदव्यवहारसिद्धिः । न च तयोर्वैस्त्वन्तरस्थ सद्भावाद द्वैतवादप्रसक्तिः । मायाया अनिर्वाच्यत्वेन वस्तुत्वायोगात् ।

इसका आशय यह है कि प्रकृति स्वयं उत्पन्न नहीं होती है किन्तु विश्व (प्रपञ्च, भेद, द्वैत व्यवहार) की उत्पन्न करनेवाली है, अतः 'अजा' सिद्ध होती है । यह पृथक् सत्तावादी वस्तु नहीं है किन्तु देवकी आत्मशक्तिरूपा और अनिर्वचनीया है, अतः इसके (पृथक् वस्तुत्वरहित होनेसे) द्वैतवादका प्रसंग नहीं आता है । यह माया (प्रकृति) एक है (और सांख्यमतानुसार प्रतिपुरुष भिन्न नहीं है) । ऐसी मायाके योगसे वह मायी परमेश्वर, एक अद्वैतरूप होता हुआ भी, ईश्वरादिरूपसे विभक्त होकर स्थित हुआ है । अर्थात् भोक्ता, भोग, भोग्यादि विभाग इसी मायामें हैं और वास्तवमें ब्रह्म शुद्ध, असंग, अविभक्त ही है । इसलिये एकांशमें परमात्माको एक (अद्वैत) माननेपर भी जीव, ईश्वर इत्यादि समस्त लौकिक और वैदिक सभी व्यवहार सिद्ध हो जाते हैं ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीतामें ईश्वरके स्वरूप और उसकी महिमाका विस्तारपूर्वक वर्णन है । श्वेताश्वतरमें कुल ६ अध्याय हैं जिनमें इसप्रकारसे ईश्वर-सम्बन्धी विषयोंका निरूपण किया गया है—

अध्याय १—ईश्वरदेवकी व्यापकता और परमात्मदर्शनका उपाय ध्यान ।

अध्याय २—ध्यानका साधन, योगप्रवृत्ति ।

अध्याय ३—ध्यानलक्ष्यसिद्धिके लिये सदाशिवके स्वरूप और महिमाका निरूपण । एक ही परमात्माका ईश, ईशितव्यादि भाव । रुद्र, शिव वा पुरुषोत्तम (ईश्वर) के स्वरूपके ज्ञानसे अमर-पद-प्राप्ति ।

अध्याय ४—ईश्वर अकारादिरूपसे सर्वात्मक है । वही अपनेसे अभिन्न मायाका मायी (स्वामी) है । उसीके स्वरूपज्ञानसे अमरत्व-लाभ । प्रार्थना-मन्त्र ।

अध्याय ५—शिव (परमेश्वर) विद्या और अविद्या दोनोंका ईशिता होकर भी उनके संसर्गसे बाहर है । वही विश्व-स्रष्टा और मुमुक्षुओंका उपास्यदेव है ।

अध्याय ६—स्वभाव, काकादि स्वतन्त्र कारण नहीं किन्तु देव-महिमाकी अपेक्षा अव्ययासिद्ध है । ईश्वर ही कर्माध्यक्ष तथा संसार-मोक्ष-स्थिति-बन्ध-हेतु है । अतः मुमुक्षुको ईश्वर-सारणके अतिरिक्त और गति नहीं है । हाँ, यदि कभी ऐसा सम्भव हो कि मानव उस आकाशको जो असूक्ष्म और व्यापी है उसी प्रकारसे अपने शरीरका आवरण बनाने लग जायँ जैसे चर्मको, अथवा यदि आकाश ही ऐसा आकार धारण कर ले या मनुष्य ही ऐसे आकारवाले होने लग जायँ कि भूतकण न समाते हुए, ऊपर हाथ उठावे हुए, आकाशको ओढ़े फिरा करें, तभी कदाचित् यह भी सम्भव हो सकेगा कि ईश्वरदेवके ज्ञानके बिना ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाय । अन्यथा नहीं ।

यह ईश्वर—

‘दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्’

—इस भगवद्वाक्यके अनुसार दिव्य-चक्षुसे ही दिव्यायी पढ़ता है और स्थूल बहिर्युक्ती बुद्धिका विषय नहीं है । इद्यमान या अदृष्ट प्रपञ्चका कोई भाग ऐसा नहीं है जो ईश्वर-नियमनके अधीन न हो । नियम (Design) सार्वभौम तथ्य है जो किसी सार्वभौम चेतनका ही धर्म हो सकता है न कि जब प्रकृतिका । यदि ‘स्वभाव’ कहा जाय, तो प्रश्न होगा ‘किसका’ । सर्वथा एक सार्वभौम चेतन (ईश्वर) ही सब लोकोँको एक व्यवस्था-सूत्रमें बाँधे हुए है, अन्यथा सब छिन्न-भिन्न हो जाता—

‘एष सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय’

सूर्यादि ग्रह तथा गुरुत्वाकर्षणादि नियम (laws) सब इसी चेतन ईश्वरके अधीन होकर ही ठहर सकते हैं । ईश्वर सर्वशक्तिमान् अवश्य है तथापि अपने नियमोंके भीतर ही अपनी सर्वशक्तिमत्ताका परिचय देता है । इसी कारणसे श्रीराम-कृष्णादिरूपमें आकर ईश्वरने अपनी बनायी हुई मर्यादाका स्वयं पालन किया । हाँ, उसके नियम कहीं-कहीं अत्यन्त गुरुह देखे जाते हैं ।

कर्म जब है । उसकी व्यक्तिके नष्ट होनेपर भीमांसकोंका माना हुआ ‘अपूर्व’ भी जब होनेसे ईश्वर ही कर्म-फलदाता है, ऐसा मानना उचित है—

‘न कर्म प्रवृत्तं फलति पुरुषाराधनमृते’

(महिम्नस्तोत्र)

जैसे हमें श्वास-प्रश्वासमें कोई प्रयत्न नहीं होता है

उसी प्रकार ईश्वरसे स्वभावतः ही यथासमय सृष्टि, स्थिति और प्रलयका प्रवाह अविच्छिन्नरूपसे चलता रहता है। सृष्टिसे पूर्व अपनी प्रकृतिमें वह शान्तरूपसे रहा करता है—‘आनीद्वारं स्वधया’ (ऋ० नासदीय सूक्त)। यह अव्यक्त अवस्था है—‘तम आसीत्तमसा गूळममे’ (ऋ० नास०)। इसकासे वह मायामें अभिमान-सञ्चार करके अव्याकृतसे हिरण्यगर्भ और विराट्की क्रमशः स्थूल अवस्थाओंमें प्रकट होता है। हिरण्यगर्भ-अवस्थासे ही उसकी स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रियाका विशेष विकास होता है और क्रमशः चराचरारमक सब ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो जाते हैं। यह प्रजापति अपनी सृष्टिकी ओर प्रेमका भाव रखता है और उसके रोम-रोममें इस भावसे प्रविष्ट रहता है ‘तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्’ (तै० उ० १।६)

इसप्रकार वह मायोपाधिक ईश्वर ही जड़, चेतन, दोनों प्रकारसे आविर्भूत हुआ है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं

यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।

त९ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं

मुमुक्षुवै शरणमहं प्रपद्ये ॥

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।

तस्मैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

(श्वेता० ६।१८, २३)

ॐ ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिर्मेदविभागिने ।

व्योमबद्धव्यासदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ईश्वरका स्वरूप

(लेखक—श्रीजगदाशजी झा ‘विमल’)

(१)

पिता तू ही है सबका एक-
जगत् जपता तेरा ही नाम ।
सदा रहता है तू सब ठौर-
किन्तु है तेरा कहीं न धाम ॥

(२)

विश्वमें करके तेरी खोज-
खूब होते हैं नर हैरान ।
पता पाते क्या कोई कभी-
ढूँढ़कर जल-धूल व्योम-विमान ॥

(३)

अजन्मा अज अनन्त अव्यक्त-
सृष्टिकर्ता तू ही भगवान ।
सुदर्शन गदा पद्म कर शंख-
विश्वपालक तू विष्णु महान ॥

(४)

भयंकर व्याधिविभूषित अंग-
शुश्रूष शङ्कर कठिन इतान्त ।
तुम्हारा ही हैं तीनों रूप
एक तू ही है पुरुष प्रशान्त ॥

(५)

सृष्टिका गौरवमय आधार-
उद्योतिमय जग-जीवांका प्राण ।
कन्द फल मधुर स्वाद मकरन्द
मुमनमें सरस सुवासित प्राण ॥

(६)

प्रमाकरमें तू प्रभा पसार-
विश्वका करता है कल्याण ।
शान्त शीतल शशिकरमें घोल-
सहर्षित करता मुखा प्रदान ॥

(७)

अगम वारिषिका तू विस्तार-
व्योमका निर्मल श्याम स्वरूप ।
अग्निका जगमग दिव्यप्रकाश-
वायु-व्यापकता अलख अनुप ॥

(८)

सुखद शीतलता जलके नीच-
जीव पति जिससे सन्तोष ।
अन्नमें जीवन-शक्ति महान-
एक है तू ही अमल अदोष ॥

(९)

धर्मकी भरी न्याय स्वरूप-
ज्ञान गुण गरिमाका सण्डार ।
अलख अन्तर्यामी अखिलेश-
दयाका है तू ही अवतार ॥

(१०)

सिद्धिदान साधकके आप-
तपस्वीके बरदायक एक ।
सृष्टिक कण-कणमें रम रहे-
भक्तकी रखने आकर ठेक ॥

(११)

अमुर, मुर, नर, किन्नर, गन्धर्व-
रमा, दुर्गाका शक्ति अपार ।
शंभु मुगर्षति सब तंगे अंश-
भले आवे न समझ व्यापार ॥

(१२)

खुदा, ईशा, मशा, है तू ही-
लोक है तेरा लीलागार ।
वेदने गाया तुझे अनन्त-
कौन फिर पा सकता है पार ॥



ईश्वरानुभूति

(लेखक—मैन्वासी श्रीमानानन्दजी उर्फ श्रीअर्थर यंग)



भिन्न धर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन करनेवाले विद्वान् ऐतिहासिक प्रमाणोंसे यह सिद्ध कर सकते हैं कि धर्म-विषयक जिज्ञासा एवं ऐतिहासिक (Trabition)का मूल एक ही है। वे हमको इसका कारण यह बतलाते हैं कि मनुष्य अपने स्वरूपको तथा पारम्पर्यी पदार्थोंको समझनेमें असमर्थ है।

ऐसी पंक्तियोंको पढ़कर नयी रोशनीके नवयुवक इस बातका गर्व करने लग जाते हैं कि अपने पूर्वजोंकी अपेक्षा हमारे अन्दर बुद्धिका विकास अधिक है। बात यह है कि आधुनिक सभ्यताकी चक्कीमें पिस्तरे रहनेके कारण उनका सारा समय अपनी आवश्यकताओंको बढ़ाने तथा उनकी पूर्तिके लिये धन संचय करनेमें ही व्यतीत हो जाता है। परिणाम यह होता है कि ईश्वरके विषयमें विचार करनेकी न तो उन्हें फुरसत मिलती है और न वे इसकी आवश्यकता ही समझते हैं।

परन्तु अफमोस ! इसप्रकारके युक्तिवादसे आजके नवयुवकका अन्ततः काम नहीं चलता। उसके जीवनमें एक समय आता है जब उसका निरे तर्कमें निर्वाह नहीं होता। तब उसे इच्छा होती है कि ईश्वरमें विश्वास किया जा सके तो अच्छा हो। जिस मनुष्यकी मनोवृत्ति इसप्रकारकी हो गयी है उसको ईश्वरानुभूति-जैसे विषयको समझाना अत्यन्त कठिन हो जाता है, क्योंकि इसप्रकारका मनुष्य उन धार्मिक संस्कारों एवं कृत्योंको निरर्थक समझने लगता है, जिन्हें उसके पूर्वज आदरपूर्वक किया करते थे। इसका कारण ज्ञानके अजीबोंके अतिरिक्त और क्या हो सकता है ? आधुनिक वाग्जालों तथा ब्याख्याओंमें उनके (संस्कार इत्यादि) अभावकी पूर्ति नहीं हो सकती। आजकल हमारे मनमें जितने विचार और आवनाएँ उठती हैं वे सब हमारी सांसारिक आवश्यकताओंको लेकर ही होती हैं और इसीलिये उनका ईश्वरानुभूति-जैसे विषयको समझनेमें कोई उपयोग नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि ऐसे देवतामें हमारा विश्वास उठ जानेके कारण कि जो मनुष्यके मनकी लहरों एवं आचरणसे प्रभावित होता है हमारा मन एक ऊँचे अनुभवको प्राप्त करनेके लिये किसप्रकार सज्ज हो सकता है ?

यदि कोई मुझसे पूछे तो मैं उसका समाधान उसी युक्तिसे करूँगा जिसे मैंने अपने निजके समाधानके लिये

हूँ न निकाला है। ईश्वरके सगुणरूपकी सत्ताको स्वीकार करनेसे ही मनुष्यको काम हो सकता है, यही मेरी धारणा है। रेशागणितके सिद्धान्तकी भाँति यदि कोई तर्कसे ईश्वरको सिद्ध करना अथवा समझना चाहे तो यह उसकी भूल है। तर्कसे एक प्रकारसे बुद्धिका समाधान भले ही हो जाय, किन्तु अनुभवसे हम कोसों दूर रहेंगे। हम तो चाहते हैं कि ईश्वरको हम इसप्रकार जान और समझ सकें, जिसप्रकार हम अपने किसी मित्र अथवा साथीको जान और समझ लेते हैं परन्तु यह स्थिति तर्कसे प्राप्त नहीं हो सकती।

तब प्रश्न यह होता है कि इसप्रकारका अनुभव हमें कैसे हो ? इसके लिये हमें पहले इस बातको समझ लेना चाहिये कि मनुष्यकी शक्ति उसकी इन्द्रियोंतक ही सीमित है। ईश्वर (यदि वह वास्तवमें ईश्वर है) इन्द्रियोंके परे, अतएव उनमें अप्राप्त होना चाहिये। इससे यह भी सिद्ध है कि सत्यका असली स्वरूप सदा मनुष्यकी बुद्धिकी पहुँचके बाहर ही रहता है। परन्तु साथ ही मैं यह भी जानता हूँ कि उनमेंसे अधिकांश बातोंका मैं अनुभव अवश्य कर सकता हूँ जिनके विषयमें वास्तव आधार तथा इन्द्रियोंके अभावके कारण मैं तर्क नहीं कर सकता। कठिनता केवल यह जाननेकी ही है कि इस अनुभवको प्राप्त करनेके लिये छपने उस अज्ञात एवं देखनेमें असीम अंशको किस तरहसे उपयोगमें लाया जाय ?

मैं अपने माइयोंको सर्वत्र ही कोई-न-कोई वास्तव आचरण अथवा धार्मिक कृत्योंको करते हुए पाता हूँ। उनमें मुझे कई मित्र ऐसे भी मिले हैं जिन्हें वह वस्तु प्राप्त हो चुकी है कि जिसकी खोजमें मैं था। उनके विचार एवं साधन बिल्कुल भिन्न थे, किन्तु उन्हें अपनी अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो गयी, इसमें अधिक और क्या चाहिये ? उनके विचार एवं साधन युक्तियुक्त थे या नहीं, यह प्रश्न गौण है। मुझे तो केवल उनके परिणामसे प्रयोजन था। तब जाकर मैं एक ही परिणामपर पहुँचा। मेरी अवशिष्ट यात्रा किसी ऐसे साधन अथवा ध्यानकी खोजमें बीती जो मेरे अनुकूल हो। अब यदि आजकलकी रोशनीका नवयुवक मेरी उस प्रक्रियापर सन्देह करे जिस प्रक्रियासे मैं जीवनरूपी जलाशयमें जल निकालता हूँ, तो इसमें मेरा क्या दोष ? मैं जानता हूँ कि मेरी प्यास

बुझ रही है और यही मेरे लिये पर्याप्त है। यदि मैंने दी है तो केवल इसीलिये कि मैंने अब समझ लिया है तर्कके द्वारा ईश्वरके साक्षात्प्राप्त करनेकी चेष्टा छोड़ कि उससे दूर रहना सम्भव नहीं।

भगवन्नाम

(लेखक—स्वामी श्रीरामदासजी)

जीवनमें यदि कोई अमूर्ख वस्तु है, जिसके द्वारा हम अविभिन्न ज्ञान्ति एवं आनन्दकी चरम सीमाको पहुँच सकते हैं, तो वह एक भगवन्नाम है। इसके मधुर उच्चारणके साथ-साथ यदि इसके वाच्यार्थ अर्थात् उस अखण्ड अद्वितीय सत्ताकी ओर भी लक्ष्य बना रहे तो चित्तके सारे मल बहुत शीघ्र धुल जाते हैं और उस अपार आनन्दका ओत उमड़ आता है जो आत्माका स्वाभाविक गुण है।

भगवान्का नाम वह दृढ़ नौका है जो मनुष्यको भव-सागरके पार ले जाकर उस शाश्वत पदको प्राप्त करा देती है जो उसका चिरन्तन लक्ष्य एवं वास्तविक स्वरूप है। भगवन्नाम वह पारसमणि है जो जीवको ब्रह्म बना देती है, कोहको सोनेका रूप दे देती है। भगवान्का नाम शरीर, मन एवं बुद्धिके उन समस्त रोगोंकी निवृत्तिकेलिये अमोघ औषध है जिन्होंने हमारे अन्दर द्वैत-बुद्धि उत्पन्न कर हमको जगत्के अंजालमें फँसा रक्खा है। नाम-संकीर्तनकी मधुर ध्वनि त्रितापतप्त जीवके लिये माताकी मधुर लोरीका काम करती है और उसे सदाके लिये निर्वाणरूपी मीठी नींदमें सुला देती है।

भगवन्नाम उस परमेश्वरका वाचक है, जो अखिल ब्रह्माण्डका नायक एवं नियन्ता ही नहीं, किन्तु सारा ब्रह्माण्ड ही जिसका रूप है और ब्रह्माण्डके परे भी जो कुछ है वह भी वह परमात्मा ही है। अतएव नामके साथ सम्बन्ध जोड़ना उस अनन्त सत्ताके साथ संयुक्त हो जाना है, दूसरे शब्दोंमें मानव-प्रकृतिको, जो अवयव, भ्रान्त एवं अज्ञानमें डूबी हुई है, महान् स्वतःप्रकाश-सत्तामें परिणत कर देना है। नामके मधुर सगीतके द्वारा ईश्वरसे सम्बन्ध जोड़ना मानो अमरत्वके आनन्दको छूटना है।

ईश्वर वह सर्वोपरि शक्ति है जिसका प्रत्येक विधान सदैव अपार प्रेम एवं दयासे परिपूर्ण होता है। संसारके अन्दर उसकी जितनी भी छीलाएँ होती हैं, उन सबमें यही विशेषता भरी रहती है। परन्तु हाय ! यह पाप्मर अज्ञानी जीव अमवश उसकी दयाका अनुभव नहीं करता और इसीलिये उसके प्रत्येक विधानमें सन्तोष न कर प्रतिकूल चेष्टा करने लगता है और इसीसे परिणाममें

दुःख पाता है। ईश्वरकी इच्छामें अपनी इच्छाको मिला देना, जीवनकी प्रत्येक घटनामें प्रसन्न रहना और अहंकार-शून्य होकर उमङ्गके साथ अपने कर्तव्यकर्मको करते रहना, यह सब तभी हो सकता है जब मनुष्य उस प्रेम एवं सौजन्यके सागर (परमात्मा) के साथ अपना अति निकटका गहरा नाता जोड़ ले, उसके साथ एकात्मताका अनुभव करने लग जाय। ईश्वरके साथ इसप्रकारका सम्यक् एवं तन्मयता तभी हो सकती है जब हमारे चित्तमें उसकी स्मृति तैलवारावत् अविच्छिन्नरूपसे बनी रहे और इस-प्रकार निरन्तर उसकी स्मृति बनाये रखनेका एकमात्र साधन उसके पवित्र एवं मधुर नामके संकीर्तनमें चित्तकी वृत्तिको एकाकार कर देना ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नाम ही ब्रह्म है। जिसने नामरूपी अमृतका एक बार भी आस्वादन कर लिया, वह मानो आनन्दके अपार समुद्रमें निमग्न हो गया।

भगवान्का नाम चित्तको अहंकार एवं वासनाओंसे मुक्त कर देता है और सारी आत्माको प्रकाश एवं आनन्दके प्रवाहसे परिप्लावित कर देता है। जिस हृदयने भगवान्के नामको दृढ़ताके साथ पकड़ लिया, वह हृदय भगवान्का निवास-स्थान ही बन गया है। फिर उसमेंसे अनन्त प्रेम एवं सार्वत्रिक दृष्टिकी धारा बहने लगती है। या यों कहिये कि फिर वह मनुष्य विश्वके भीतर एवं बाहर सर्वत्र उस एक परमात्माको ही देखने लगता है। भगवान्का नाम मनुष्यके अन्दर सहिष्णुता एवं धैर्यका अटूट भण्डार खोल देता है और उसकी आध्यात्मिक शक्ति एवं आनन्दके गुप्त लज्जानेकी कुञ्जी बतला देता है। भगवान्के पवित्र नामकी महिमा, उसके अमृत प्रभाव तथा उसके द्वारा व्यक्त होनेवाले प्रेम-पयोनिधि की समता कौन कर सकता है ? उसकी कृपासे मनुष्य अमरत्वको प्राप्त होकर अखिल विश्वके नायक परमात्माके साथ एकात्मताका अनुभव करने लगता है। नाममें वह शक्ति है जो अज्ञानके पर्देको चीरकर मनुष्यके अन्दर ज्ञानके प्रकाशको प्रादुर्भूत कर देती है जिसके द्वारा वह अपने तथा दूसरे जीवोंकी अन्तरात्मा में, नहीं-नहीं, जब-चेतन सभी पदार्थोंमें उस प्यारे मनमोहनकी छवि निरखने लगता है। ईश्वर अमृत प्रेमार्णव

है और वह हम सबके अन्दर विराजमान है। हम अनादि कालसे उससे अभिन्न होते हुए भी उससे पृथक् हैं। मनुष्य उस आनन्दमयी जननीका आनन्दमय शिशु है, क्योंकि परमात्मा शाश्वत सुख एवं शान्तिका स्वरूप ही है। जब मनुष्यके हृदयमेंसे उस दिव्य आनन्दकी महक फूट निकलती है, तब वहाँसे विमुक्त प्रेम, दया एवं शान्ति-

का स्रोत बहने लगता है। इसप्रकारका प्रेम सारे जगत् एवं जड़-चेतन सभी प्राणियोंको परिप्लावित कर देता है। भगवान्‌का नाम ही वह साधन है जो हमें इस आनन्दा-र्णवके समीप पहुँचा देता है। वह मनुष्य वास्तवमें धन्य ही नहीं धन्यासिचम्य है, जिससे भगवन्नामकी अपार महिमाको अनुभवके द्वारा जान और समझ लिया है।

ईश्वर क्या है ?

(लेखक—श्रीअर्नेस्ट पॉ० होबिज, प्रो० हण्टर कॉलेज, न्यूयार्क)

परमेश्वरकी परिभाषा कौन कर सकता है ? अध्यात्म-मार्गमें जो जितना आगे बढ़ा हुआ होता है उसके ईश्वर-विषयक अनुभवमें भी उतना ही अन्तर हो जाता है। स्पेन्सर (Spencer) हक्सले (Huxley) और ईन्स्टीन (Einstein) जैसे अलक्ष्यवादी (Agnostics) सृष्टिकर्ता सगुण ईश्वरको नहीं मानते। वे नित्य-तत्त्वोंको, सृष्टिके अव्यय कारण एवं मर्यादाको मानते हैं जो सारे सांसारिक पदार्थोंको रचनेवाली नियामक, व्यवस्थापक एवं बनाने-बिगाड़नेवाली हैं। इसप्रकारका विवेकपूर्ण एवं नियमित विश्वास धार्मिक विकासकी एक बहुत ऊँची सीढ़ी है। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक कैंट (Kant) ऊपर नक्षत्रोंमें जड़े हुए आकाशको एवं संसारके अन्दर धर्मकी मर्यादाको देखकर विचारमें डूब जाता था। यद्यपि वह ईश्वरवादी नहीं था किन्तु वह इस बातको पूर्णरूपमें मानता था कि इस परिवर्तनशील संसार-के मूलमें कोई आध्यात्मिक तत्त्व अवश्य निहित है।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस जिस समय समाधिस्थ हो जाते थे, उस समय उन्हें समीपमें बैठे हुए अपने शिष्यों-तकका भान नहीं रहता था, यहाँतक कि जबतक उन्हें फिरसे बाह्यानुमन्धान नहीं होता था वे माँ कालीके सगुण-रूपको भी भूल जाते थे। आत्म-विस्मृति आस्तिकतामें भी ऊँची अवस्था है; सामान्यतया ये दोनों एकत्र नहीं रहतीं। आत्मोत्सर्गाका अभ्यास बढ़ानेमें वह आत्म-विस्मृति-में परिणत हो जाता है और आत्म-विस्मृतिमें आत्मानुभव-की सिद्धि होती है। जब प्रह्लाद अपने मैपनको भूल गया, तब उसे अपने असली स्वरूपका ज्ञान हो गया और उस अन्तरतम सार्वभौम तत्त्व-समष्टि-चेतन) का ज्ञान हो जाने-पर वह संसार और उसके अव्यक्त कारणोंको बिल्कुल भूल गया। उसे तब सृष्टि अथवा सृष्टिकर्ताका भी भान नहीं

रहा; अथवा हम यों कह सकते हैं कि वह ईश्वरवादी नहीं रहा। किन्तु उस अलौकिक अवस्थासे नीचे उतरकर जब उसकी चेतना फिर सांसारिक पदार्थोंका अवगाहन करने लगी और उसे फिरसे यह ज्ञान हो गया कि 'मैं प्रह्लाद हूँ' मायाका परदा फिर उसके सामने आ गया और उसके साथ-ही-साथ उसे इस विश्वरूपी विशाल भवनका निर्माण करनेवाले उस अमृतकर्मी विश्वकर्मा और उसके अनन्त महिमाभय गुणसमूहका भी स्मरण हो आया।

उन प्रातःस्मरणीय गोप-ललनाओंका भी यही हाल था जो वृन्दावनका कुञ्जवीथियोंमें भगवान् श्रीकृष्णके साथ नृत्य एवं विहार करती थीं। जब वे अपने आपेको भूलकर श्रीकृष्णके साथ एकात्मताका अनुभव करती थीं तब वे गोपिका नहीं रहती थीं प्रसृत श्रीकृष्ण ही बन जाती थीं। परन्तु ज्यों ही उन्हें अपनी सुघ आती और अपनी पृथक् सत्ताका अनुभव होता कि वे श्रीकृष्णमें उपास्य-बुद्धि करने लग जाती थीं। तब वे फिर गोपी-भावको प्राप्त हो जातीं और श्रीकृष्णकी प्रियसी बन जातीं।

मेरे प्यारे नवपुत्रका ! आओ, इसलोग ईश्वरवाद और अनीश्वरवादके व्यर्थ वाग्जालमें न फँसकर सब विश्वासी बनें। निरर्थक वाक्पल्लवके मनो बोझकी अपेक्षा वास्तविकता-का एक तोला भी अधिक मूल्यवान् है।

सृष्टिके अनन्त स्वरूपोंके मूलमें ईश्वरीय तत्त्वका निवास रहता है, शास्त्रोंके ऊहापोह एवं विषयवासनाके झोंकोंकी अपेक्षा ज्ञान एवं प्रेमका सहारा अधिक लाभदायक है। ॐ

* Divine Realities abide
Beneath creation's crowded forms;
Wisdom and love are safer guides
Than learned love and passion's storied forms.



नास्तिकवाद और आस्तिकवाद

(लेखक—श्रायुत पी० एन० शंकरनारायण पेयर बी० ए०, बी० एल०)

आस्तिक और
नास्तिक कौन है ?

हम आस्तिकवादका अर्थ ईश्वरमें विश्वास, श्रद्धा तथा उसकी भक्ति समझते हैं और नास्तिकवादका अर्थ है ईश्वरमें अविश्वास, उसकी सत्ताका निषेध और अपने कार्योंमें उसकी अवहेलना करना। सामान्यतया सभी प्रकारके मनुष्योंका इन दो विभागोंमें समावेश हो सकता है, किन्तु इनमेंसे प्रत्येक विभागकी भी कई श्रेणियाँ हैं। हमें यह भी निश्चय करना होगा कि ईश्वरमें विश्वास एवं श्रद्धाका वास्तविक अर्थ क्या है ? एक वह प्रेतपूजक है, जो अमुक देवता कुपित होकर मुझे महामारी या दुर्भिक्षसे पीड़ित न कर दे, इस भयमे उस देवताको सन्तुष्ट करनेके लिये पशुबलि अथवा नरबलितक दे डालता है; उसमे ऊँची श्रेणीका वह उपासक है, जो भिन्न-भिन्न प्रकारके फलोंकी कामनासे अपने उपास्यदेवको भिन्न-भिन्न प्रकारकी बलि देता है; तीसरा वह नैमित्तिक उपासना करनेवाला पुरुष है जो किसी समय एवं स्थान-विशेषपर तो देवकी उपासना करता है किन्तु अन्य सब समय एवं स्थानोंमें दुराचार, क्रूरताके व्यवहार एवं अपने स्वार्थके लिये परस्वापहरण करनेसे भी मुँह नहीं मोड़ता। और इन सबके विपरीत चौथा वह निष्काम-भक्त है, जो प्रेम एवं सौजन्यकी मूर्ति है और जो विश्वके सारे जीवोंको प्रकाश एवं सुखका वितरण करता है। कदाचित् इन सबकी गणना आस्तिकोंमें ही की जायगी। इसी प्रकार नास्तिकोंमें एक ओर तो उनकी गणना होती है जो केवल ईश्वरका ही तिरस्कार नहीं करते किन्तु धर्म एवं सत्यकी भी अवहेलना करते हैं और दूसरी ओर वे लोग भी नास्तिक ही कहलाते हैं, जो ईश्वरका निषेध करनेपर भी हृदयके बड़े पवित्र एवं सुशील होते हैं, तथा सबे दिलसे सारे जीवोंके साथ प्रेम करने तथा उनकी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं। हम न तो यह कह सकते हैं कि आस्तिकोंके जितने भेद ऊपर बताये गये हैं वे सभी मानव-जातिकी प्रगतिमें सहायक हैं और न यही कह सकते हैं कि उपर्युक्त दोनों प्रकारके नास्तिक उसमें बाधक ही हैं। हमारी धारणामें, वह पवित्र एवं सदाचारी नास्तिक भी, जिसकी एकमात्र अभिलाषा सारे जीवोंके साथ प्रेम करना तथा उनकी सेवा करना है, मानव-प्रगतिमें उतना ही सहायक है, जितना वह निष्काम-भक्त, जो सारे जीवोंमें

प्रकाश एवं सुखका वितरण करता है। अन्य प्रकारके आस्तिक एवं नास्तिक दोनों ही मानव-प्रगतिमें वस्तुतः बाधक होते हैं।

नास्तिकवादका
कारण क्या है ?

सब एछिये तो स्वार्थ और दुराचार-परायण धर्मके ठेकेदारों तथा उनके पिछलग्गू भक्तोंने धर्मकी आड़में जो दुराचार, अत्याचार करना एवं भोले-भाले लोगोंको लूटना प्रारम्भ कर दिया, उसीके विरोधमें नास्तिकवादका प्रचार हुआ है। नास्तिकवाद इसी प्रकारके यथेच्छाचारी एवं स्वसत्ताप्री पुरुषोंके अत्याचारके विरुद्ध आत्माकी स्वतन्त्रता-द्योतक आवाज है, जो इस दृष्टिमे एक प्रकारमे निर्दोष कही जा सकती है। यदि उपासकका आस्तिकवाद सदा शुद्ध, उदात्त एवं पवित्र रहे तो सारी जनताको बाध्य होकर उसका अनुगमन करना ही पड़े। श्रीमद्भागवत ७। १०। १६ में लिखा है—

यत्र यत्र च मद्रूपाः प्रशान्ताः समदर्शिनः ।

साधवः समुदाचारास्ते पुनन्यपि कीकटाः ॥

अर्थात् मेरे भक्त अत्यन्त शान्त, समदर्शी, पवित्रात्मा, उदार एवं परोपकाररत होते हैं वे जहाँ कहीं रहते हैं वहाँके गन्दे-से-गन्दे वातावरणको भी पवित्र कर देते हैं।

जब श्रीनन्दरायजीने सब प्रकारकी उपासनाकी ऐकान्तिक पवित्रताको न समझकर हृन्द-मत्स्यके रूपमें अन्ध-विश्वासयुक्त अनुष्ठानका प्रारम्भ किया, तब भगवान् श्रीकृष्ण-ने स्वयं अग्रणी बनकर उसका विरोध किया। उन्होंने बात-की-बातमें सारी क्रियाका रूप बदलकर उसे सर्व भूतोंके अन्तरात्मा (परमात्मा) की प्रेमयुक्त पूजाका सुसंस्कृत एवं युक्तिसंगत रूप दे दिया। वह कुछ अथवा अविश्वकी पुरुष जो सुखमनुहा ईश्वर एवं धर्मका अपलाप करता है, समाजके लिये उतना अहितकर नहीं है, जितना वह दम्भी आस्तिक कहलानेवाला मनुष्य है, जो प्रकटमें ईश्वरको माननेवाला बना रहता है परन्तु जो अन्दरसे अविश्वासी होता है। उसका ऐसा आचरण अवश्य ही उसके नैतिक पतनका कारण होता है। क्योंकि वह दम्भी ईश्वरवादकी आड़में दूसरोंको कष्ट पहुँचाता है एवं उनके द्रव्यका अपहरण करता है।

मानव-समाज-
की प्रगतिमें कौन-
कौन-सी बातें
सहायक होती हैं
और कौन-कौन-
सी बाधक ।

स्वार्थ-परायणता, परस्वापहरण, नृशंसता और दूसरोंके कष्टोंकी उपेक्षा, ये सभी बातें मनुष्य-जातिकी प्रगतिमें बाधक हैं, चाहे इन दृष्ट प्रवृत्तियोंका बाह्य रूप कैसा ही अच्छा क्यों न दीखता हो ।

आदर्शकी आव-
श्यकता ।

अब यह विचार करना चाहिये कि हमें उच्च कोटिका जीवन किसप्रकारसे प्राप्त हो और निम्नकोटिके जीवनसे हम किस तरह बच सकें । लक्ष्यका निरन्तर ध्यान रहनेसे ही उन्नति होती है । जीवन एक प्रकारका संग्राम है, जो सुखकी प्राप्ति एवं दुःखके परिहारके लिये निरन्तर जारी रहता है । प्रायः प्रत्येक जीवका लक्ष्य अपनी अवस्थाको सुधारना होता है और वह इसके लिये भरसक चेष्टा भी करता है । वह अपनी सारी क्रियाओंको इस आदर्शके साँचेमें ढालनेका प्रयत्न करता है । मनुष्य जितना आध्यात्मिक मार्गमें आगे बढ़ा हुआ होता है, उसका आदर्श भी उतना ही पवित्र एवं ऊँचा होता है । जिस मनुष्यका अन्तःकरण बुरी वासनाओंसे तथा राग-द्वेषमें मग्न होता है, उसका आदर्श भूत-प्रेतोंके रूपमें उसके सम्मुख आता है । जो मनुष्य व्यापारमें तथा दूसरोंके द्रव्यका अपहरण करनेमें लगा हुआ है, उसकी दृष्टिमें ईश्वरका भी वही रूप बन जाता है । इसी प्रकार एक निष्काम प्रेमी मनुष्यका आदर्श सत्य प्रेम एवं सौन्दर्यकी पराकाष्ठा होता है । उसके लिये वह एक अलौकिक प्रकाशका काम देता है, जिसके स्मरणमात्रसे ही उसको उत्साह एवं आनन्द मिलता है ।

कुछ लोगोंका मत है कि वह 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' मूर्त है और कुछ लोगोंकी धारणामें वह अमूर्त है ।

वह आदर्श
श्रेय एवं अश्रेय
दोनों ही है ।

वह आदर्श कुछ अंशमें मनुष्यको समझमें अवश्य आ जाता है, जिससे उसका मनुष्यके जीवनपर प्रभाव पड़ता है । परन्तु उसका बहुत-सा अंश समझमें नहीं आता और वह उसके लिये रहस्यमय बना

रहता है । ऐसा न होता तो उसे आगे बढ़नेके लिये प्रोत्साहन ही नहीं मिलता, उसकी उन्नति ही नहीं होती, उसे प्रकाशकी प्राप्ति नहीं होती तथा उसे अधिक जाननेकी उत्कण्ठा भी नहीं होती । ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसकी उन्नतिके असंख्य नये-नये द्वार खुलते जाते हैं जो उसे आगेकी ओर खींचते रहते हैं । मनुष्यकी आत्मा ज्यों-ज्यों उन्नत होती जाती है, उसका आदर्श भी पहलेसे ऊँचा, व्यापक, महान् एवं अपरिच्छिन्न होता जाता है ।

क्षुद्र अहंकारके
नाशकी आव-
श्यकता ।

साधक साध्यसे अधिक-से-अधिक लाभ तभी उठा सकता है, जब वह साध्य वस्तुकी पवित्रता एवं उत्कृष्टताके सामने अपनेको अत्यन्त नुष्ठ एवं नगण्य समझे । तब उसका साधन इतना तीव्र हो जाता है कि उसे साध्यकी प्राप्तिके अतिरिक्त और कुछ सुहाता ही नहीं । ऐसी दशा हो जानेपर वह अपने क्षुद्र अहंभावको प्रायः मूल-सा जाता है और उसकी सारी वृत्तियाँ साध्याकार बन जाती हैं । विज्ञान, काव्य एवं दर्शन-शास्त्रमें जिन लोगोंने अधिक-से-अधिक काम करके दिखाया है, वे साध्य वस्तुमें अपनेको विलीन करके ही ऐसा कर पाये हैं । पूर्ण सत्यकी प्राप्तिमें प्रत्यगात्माकी पृथक् सत्ता एवं चेतना बड़ी बाधक है और उसका साध्यमें विलीन होकर मिट जाना परम सहायक है ।

सन्त-महात्मा
एवं नकली
ईश्वरवादी ।

महान् भक्तों एवं सन्त-महात्माओंके लिये यह आदर्श ईश्वर है । उनका अनुभव यह बतलाता है कि ईश्वर ज्ञान, सौन्दर्य एवं प्रेमकी पराकाष्ठा है । उनकी यह मान्यता होती है कि हम सब जीव उसके सामने अणुसे भी घणु हैं, हम उसीके प्रकाशसे प्रकाशित होते हैं और उसकी सेवा करनेमें ही हम सब लोगोंकी सार्थकता है । वह ईश्वर एक निश्चित आयोजनाके तथा सारे चेतन प्राणियोंका नियन्त्रण करनेवाले कुछ महान् नियमोंके अनुसार विश्वकी रचना करता है । महान् भक्तोंकी अभिलाषा एवं जीवनका ध्येय ईश्वरके विधानके अनुकूल बनकर उनकी इच्छामें अपनी इच्छाको मिला देना एवं उनके संकल्पके आधारपर ही जीवन धारण करना होता है । वे जब आवावेशमें आते हैं तब उनकी क्षुद्र अहंता नष्ट होकर समष्टि-चेतनमें विलीन हो जाती है । वे ईश्वर एवं उसके विधानको प्रत्यक्ष देखते हैं और

तब उन्हें इस बातकी उत्सुकता होती है कि जिस आनन्दका अनुभव वे करते हैं वह आनन्द सभीको प्राप्त हो। इसी हेतुसे वे संसारके सामने अपना प्रत्यक्ष अनुभव प्रकट करते हैं और उसे प्राप्त करनेका मार्ग बतलाते हैं। जिस वस्तुका शुद्ध चेतनाकी अवस्थामें अनुभव होता है, उसको साधारण भाषाके द्वारा साधारण मनुष्योंको समझानेमें कुछ बातें पूरी तौरसे व्यक्त नहीं की जा सकतीं और कुछ बातोंके समझानेमें भूल भी हो जाती है। भिन्न-भिन्न योग्यताके मनुष्य अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार उसे भिन्न-भिन्न रूपमें समझते हैं। परिणाममें अनेकों सम्प्रदायोंकी सृष्टि हो जाती है, लोगोंमें अन्धविश्वास फैल जाता है, कर्मकाण्डकी प्रक्रियाएँ बढ़ जाती हैं, धर्मके ठेकेदारोंका अत्याचार आरम्भ हो जाता है और ईश्वरका महत्व भूल-भेता-जैसा ही रह जाता है। अनधिकारियोंके प्रति रहस्य प्रकट करनेसे इसप्रकार समाजमें जो गन्दरी फैलती है, उसीका परिणाम यह होता है कि लोग ईश्वरकी सत्ताको अस्वीकार करने लगते हैं और नास्तिक बन जाते हैं। असली नास्तिक वही है जो कहनेमें तो उसी एक ऋषि-मुनि-वन्दित परमेश्वरको मानते हैं जो ज्ञान, पवित्रता एवं प्रेमकी पराकाष्ठा है किन्तु अपने आचरणोंसे उसकी सत्ताका सर्वथा अपलाप करते हैं और उसके नियमोंका उल्लंघन करते हैं। इन नकली ईश्वर-वाधियोंसे संसारकी अधिक हानि होती है।

नास्तिकोंमें कई कुछ महापुरुषोंने जब यह देखा कि ईश्वरमें इसप्रकारके भावसे लोगोंपर उलटा प्रभाव पड़ रहा है और उनकी हानि हो रही है, तो उन्होंने लोगोंको फिरसे सत्य-मार्गपर लानेके लिये ईश्वरकी सत्ताको सर्वथा अस्वीकार करना तथा सत्य एवं सदाचारकी जीवनका आदर्श बतलाना उचित समझा। इसप्रकारके नास्तिक कहलानेवाले पुरुषोंमें वस्तुतः कई महान् एवं पवित्र आत्माएँ थीं। उन्होंने ईश्वरका खण्डन करना प्रारम्भ कर दिया जिसका अत्याचारी लोग बखान किया करते थे; उन्होंने उस सत्यकी खोजमें, जिसका अनुसरण करनेसे मनुष्य-जीवन पूर्ण बन सकता है, अपना जीवन लगा दिया, जो वास्तवमें प्रशंसाके योग्य कार्य था। अवश्य ही उन्होंने उस सत्यका नाम ईश्वर नहीं रक्खा और न उसे साकार ही बतलाया,

किन्तु फिर भी उनका आदर्श सत्यकी पराकाष्ठा ही था और इसीकी खोज करना उनके जीवनका सर्वोपरि लक्ष्य बन गया था। हिन्दू-धर्ममें ईश्वरके इस स्वरूपको निराकार स्वरूप बतलाया है और उसके उपासकोंको ज्ञानी कहा गया है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक उदारचित्त पुरुष हो चुके हैं, और हैं, जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती महान् नास्तिकोंके उत्तम आचरणों अथवा विचारोंको अपना आदर्श बना लिया। इन लोगोंने ईश्वरकी नहीं किन्तु इन महापुरुषोंको अपना आदर्श बनाया। कई ऐसे भी हो गये हैं जिन्होंने जीवन एवं प्रकृतिके सुन्दर भावोंको ही अपना आदर्श माना। हिन्दू-धर्म हमें बतलाता है कि जहाँ कहीं हमें सौन्दर्य, उदारता, ज्ञान अथवा अन्य किसी महान् गुणकी उपलब्धि होती है, जिससे आस-पासके लोगोंको उत्साह मिलता है और चारों ओर शान्ति तथा आनन्दकी वृष्टि होती है, वहाँ ईश्वरकी ही अभिव्यक्ति समझनी चाहिये। लोगोंकी योग्यताके अनुसार उन्हें सत्य एवं सुखके मार्गपर लगानेके लिये ईश्वर ही उन अनेक रूपोंमें प्रकट होते हैं। अतः ये सारे-के-सारे नास्तिक कहलानेवाले वास्तवमें आस्तिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनका निराकार ईश्वरमें विश्वास है। हिन्दू-धर्मका यह सिद्धान्त है कि वह शुद्ध सत्य तत्त्व लोगोंकी प्रकृतिके अनुसार निराकार अथवा साकार दोनों ही रूपोंमें मनुष्यकी बुद्धिका विषय होता है।

निराकार तत्त्वकी खोजमें कठिनता। उपरके विवेचनसे हम यह कह सकते हैं कि जो लोग पवित्र एवं उदारचित्त होते हैं, वे वास्तवमें ईश्वरवादी हैं, चाहे वे साकार ईश्वरके उपासक हों अथवा निर्गुण तत्त्वके। उक्त दोनों श्रेणियोंके मनुष्योंसे ही संसारकी प्रगतिमें सहायता मिलती है। परन्तु निर्गुणके उपासकोंका मार्ग कठिनाइयोंसे पूर्ण एवं बड़ी जोखिमका होता है। जीवको स्वभावसे ही ऐसी वस्तुकी आवश्यकता होती है, जिसे वह अपने प्रेम एवं पूजाका पात्र बना सके। जानवरोंमें लेकर बड़े-से-बड़े महात्माओं एवं ऋषियों-तकके लिये यह बात लागू होती है। किसी प्रेम-पात्रके बिना, जिसके प्रति मनुष्य अपने आपको समर्पण कर सके, जीवन शून्य एवं मारी हो जाता है। प्रेमके अन्ध्र जीवनको ऊँचा उठाने तथा शुद्ध करनेकी बड़ी मारी शक्ति निहित है। प्रेम-जितना ही अहेतुक, स्वार्थरहित, पवित्र

एवं व्यापक होगा और प्रेमास्पदके लिये आत्माका जितने ही अधिक अंशमें आध्यात्मिक उन्नति होगी, उतने ही अधिक अंशमें हमारा जीवन उन्नत एवं पवित्र होगा। अतएव जो लोग निराकार ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे एक प्रकारसे धाटमें रहते हैं। हाँ, उनमें पहले जो महान् साधक हो चुके हैं, उनमें उनका अवश्य प्रेम होता है। इसमें व्यक्तिगत पूजाका भाव आ जाता है, अतः हमें हम वास्तवमें नास्तिकवाद नहीं कह सकते, यह एक प्रकारसे आस्तिकवादका ही रूपान्तर है। अन्तर केवल इतना है कि ईश्वरके स्थानमें ये लोग महापुरुषोंकी एवं प्रकृतिकी उपासना करते हैं। जो लोग इनको भी अपना पथ-प्रदर्शक नहीं बनाते, उनके लिये इस बातका बड़ा भय रहता है कि उनका अहंकार कहीं फिरसे उनपर अधिकार न कर ले और उनकी सत्यबुद्धिको कलुषित न कर दे। उन्हें बहुधा नैराश्य एवं विषाद घेर लेता है जिससे वे क्रोध अथवा अमर्षके वशीभूत हो जाते हैं।

वैयक्तिक अन-
भवा प्रमाण।

उपयुक्त कथनको मैं अपने जीवनकी कुछ विशेष घटनाओंसे स्पष्ट करनेकी चेष्टा करूँगा। पिछले कुछ वर्षोंमें मैं भारतीय ग्रामोंमें उन जातियोंके जीवनको सुधारने तथा संघटित करनेकी चेष्टामें लगा हूँ जो सामाजिक जीवनमें अन्य जातियोंमें पिछड़ी हुई हैं और अनेक प्रकारके कष्टोंमें पीड़ित हैं। मेरे साथ कई ऐसे मित्र भी कार्य करते रहे हैं जिनका ईश्वरमें विश्वास न होनेपर भी वे बड़े प्रेमी एवं सत्यान्वेषी हैं और उनके अन्दर समाज-सेवाकी बड़ी प्रवृत्ति आवना है। ग्रामसुधार एवं नगरोंके गन्दे मार्गोंके सुधारका कार्य ही ऐसा है कि इस क्षेत्रमें काम करनेवालेको पद-पदपर ऐसी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, जो देखनेमें दूरस्थ प्रतीत होती हैं। इस-प्रकारके संकटोंके आ पड़नेपर मैंने देखा कि मेरे सहकारी मित्र सीधे मार्गमें विचलित होने लगे, वे हृदय-उधरकी युक्तियों सजाने लगे और लक्ष्यसे दूर हटने लगे। इसका कारण यह था कि उन्होंने यह सोचा कि हम अकेले एवं असहाय हैं, इसलिये दूसरोंकी सहायता आवश्यक है। परिणाम यह हुआ कि वे धीरे-धीरे लक्ष्यसे दूर हो गये और मुख्य कार्यको छोड़ बैठे। किन्तु ऐसे अवसरोंपर मेरे अन्दर नवीन साहसका सञ्चार होता था और साथ-ही-साथ मेरा उत्साह भी बढ़ता था। कभी-कभी तो गाँव-का-

गाँव मेरे विरुद्ध खड़ा हो जाता था। वे लोग मेरे सिद्धान्तको तो ठीक समझते थे परन्तु उसे कार्यमें परिणत करना असम्भव-सा मानते थे। उस समय मुझे भगवान्‌का निम्नलिखित उद्देश्यप्रद वाक्य स्मरण हो आता था, जो उन्होंने देवताओंको मन्दराचलमें समुद्र-मन्थनके लिये प्रोत्साहित करते हुए कहा था और मेरे अन्दर जोश भर देता था—

‘सहायेन मया देवा निर्भन्धध्वमतन्द्रिताः।’

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् हे देवो ! मेरी सहायतामें आलस्य छोड़कर मन्थनके कार्यमें जुट जाओ, उत्साह न छोड़ो।

मैं लोगोंको यह वाक्य सुनाता हूँ और उस प्रभुपर पहलेकी अपेक्षा अधिक विश्वासके साथ अपनी कार्य-पद्धतिको जारी रखता हूँ। गुरन्त मेरे लिये सहायताका कोई नया द्वार खुल जाता है, लोग मेरी बातको मान लेते हैं और अपने परोपरस्वर्ग होकर मेरी बतायी हुई दिशामें काम करने लगते हैं। कई बार मैंने देखा है कि मेरे उन अन्तरंग मित्रोंको नैराश्य, अव्यवस्थितता, विवेकशून्यता तथा जीवन एवं कार्यके प्रति उदासीनताके भाव घेर लेते थे और उनकी बड़ी दशा हो जाती थी जो समुद्रमें बिना डोंड़की नौकाकी होती है। किन्तु उसी परिस्थितिमें मेरा मार्ग मुझे स्पष्ट दिखायी देता था और मुझे एक अज्ञात शक्ति, बल एवं आत्मविश्वास प्राप्त होता था। ऐसे समयपर देवर्षि नारदके द्वारा व्यासजीके प्रति कहे हुए निम्नलिखित वाक्यकी सत्यता मुझे स्पष्ट प्रतीत होती थी—

ततोऽन्यथा किञ्चन यद्विबधतः

पृथग्दशस्तत्कृतनामरूपभिः ?

न कुश्चित् कापि च दुःस्थितामति-

र्लभत बाताहतनौवास्वपदम् ॥

(श्रीमद्भागवत)

अर्थात् ‘जो मनुष्य उस परमात्माके द्वारा रचे हुए नामरूपोंके कारण उसमें भिन्न किसी लक्ष्यको अपनी दृष्टिके सामने रखता है और इसीलिये उसमें भिन्न वस्तुओंकी चर्चाके द्वारा लोगोंकी सहायता करना चाहता है, उसकी बुद्धि समुद्रमें बिना डोंड़की नौकाकी नाई हृदय-उधर उगमगाती हुई कहीं आश्रय नहीं पाती।’ इसी प्रकार मुझे अपने जीवनमें ऐसे कई आद्यमियोंसे काम पड़ा है जिनका

मलिक बहुत ऊँचा, हृदय बड़ा विशाल है और जो प्राणीमात्रकी सेवामें अपना जीवन व्यतीत करनेकी चेष्टा करते हैं, किन्तु मैंने देखा है कि मनुष्योंकी सेवा करते हुए भी वे लोगोंकी सोई हुई आध्यात्मिक वृत्तियोंकी आगृत नहीं कर सकते और इसीसे उनको अपने कार्यमें दूसरोंसे सहायता नहीं मिलती। वे लोग प्रायः इस बातको नहीं जानते कि लोगोंके हृदयपर किस बातका असर पड़ता है और इसीकिये वे धुंध-धुंध भटकने लगते हैं। इसका कारण यह होता है कि उन्हें धर्मके मुख्य सिद्धान्तोंका ज्ञान नहीं होता, जिनसे जोब और ईश्वरकी एकता होती है। साथ ही मैंने ऐसे पवित्रात्मा एवं धार्मिक अनुभववाले पुरुषोंको भी देखा है कि जो जंगली असभ्य जातियोंकी अन्तरात्माओंको भी हिला देते हैं और उनके जीवनमें प्रकाश, आशा, शक्ति एवं आमन्दका सञ्चार कर देते हैं। उस समय मैं हृदयसे निम्नलिखित वाक्योंकी सत्यताका अनुभव करता हूँ।

यऽन्येऽरेविन्दाक्ष बिमुक्तमानिन-
स्वरयस्तमाबादविशुद्धनुद्धयः ।
आरुह्य कच्छ्रेण परं पदं ततः
पतन्त्येषोऽनादितुष्मदहर्षयः ॥
तथा न ते माधव तावकाः कश्चिद्
भ्रमयन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसीहृदाः ।
त्वयाऽभिगुप्ता विश्वरन्ति निर्मया
विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥
(श्रीमद्भागवत)

हे पुण्डरीकाक्ष ! वे दूसरे लोग जो अपनेकी मुक्त मानने लगते हैं और तुम्हारे प्रेमका तिरस्कार कर देनेके कारण जिनकी बुद्धि कलुषित हो जाती है, वे बड़ी कठिनायमें जँची अवस्थाको प्राप्त कर लेनेपर भी तुम्हारे चरणोंके प्रेमका आधार न होनेसे नीचे गिर जाते हैं। परन्तु हे लक्ष्मीपते ! यह दृशा उनकी नहीं होती जो तुम्हारे बन गये हैं, तुमसे प्रेमका सम्बन्ध जोड़ लेनेके कारण वे कभी मार्गमें ध्युस्त नहीं होते, हे प्रभो ! तुम्हारे प्राणको पा वे निर्भय होकर विश्वोंके समूहोंको पदक्षित कर डालते हैं।

आस्तिक एवं नास्तिकका निर्णय करना कठिन है।

फिर एक बात यह है कि अमुक मनुष्य आस्तिक है अथवा नास्तिक, यह बतलाना सहज नहीं। जीवनको उन्नत एवं सुन्दर बनानेवाला जो ईश्वरके अन्दर

इद विश्वास होता है, उसकी ली बहुत कम लोगोंके अन्दर जीवनभर एक-सी रहती है। कभी-कभी तो वह बिल्कुल मन्द अथवा क्षीण हो जाती है और आगे चलकर उसकी ज्योति और भी फीकी पड़ जाती है, यहाँतक कि कभी-कभी उसके मनमें नास्तिकता अथवा ईश्वरकी विस्मृतिकी छहर-सी आ जाती है। इस फामस जीवोंकी तो बात ही क्या है, बड़े-से-बड़े भक्तोंकी भी, जब वे अपनी वृत्तियोंपर दृष्टि डालते हैं, अपने हृदयकी दुरवस्थाको देखकर रोना आता है। प्रह्लाद-जैसे महाभागवतने भी भगवान्से इसप्रकार विनती की थी—

नेतन्मनस्तव कथासु बिकुण्ठनाय
संप्रीयते इरातिदुष्टमसाधुतीव्रम् ।
आमातुरं हर्षशोकमयेषणार्तं
तस्मिन् कथं तव गतिं विमृशामि दीनः ॥

(श्रीमद्भागवत)

हे वं कुण्ठाधिपति ! मेरा यह अत्यन्त दुष्ट, अतिशय असाधु, मनमथोन्मथित तथा हर्ष, शोक, भय एवं अनेक प्रकारकी कामनाओंसे जर्जरित मन तुम्हारी कथाओंमें नहीं लगता; फिर यह दीन-हीन जन तुम्हारी छीछाओंको किसप्रकार समझ सकता है ?

श्रीकृष्णचैतन्य भी जो प्रेमाणवके अवतार ही थे, इसप्रकार अपना रोना रोते हैं—

श्रीकृष्णकपादिनिषेवणं विना
व्यथोणि मेऽहान्यखिलेन्द्रियाणि च ।
पाषाणशुष्केन्वनभारकाण्यहो

निर्भर्मी वा तानि कथं हतव्यम् ॥

अर्थात् सारे भूतप्राणियोंको आकर्षण करनेवाले अमूर्ध नाम भगवान् श्रीकृष्णके रूप एवं गुणोंका ध्यान किये बिना मेरा जीवन एवं मेरी इन्द्रियोंके सारे व्यापार व्यर्थ हैं। अथवा यों कहिये कि मैं निर्लज्ज पत्थर अथवा सूखे ईधन-के भारकी तरह इस जीवनका वहन करता हूँ।

दूसरी ओर हम देखते हैं कि अधम-से-अधम जीवोंके अन्दर कभी-कभी दिव्य ज्योतिरि की ऐसी झलक दिखायी देती है कि जिसके दर्शनकर बड़े-बड़े महात्माओं-का जीवन उन्नत और उत्साहपूर्ण हो जाता है। श्रीमद्भागवतका अध्ययन करनेवाले सब लोग यह जानते हैं कि भगवान् श्रीदत्तात्रेयने जो चौबीस गुड़ बनाये थे, उनमें एक बेइया, एक मधुमक्षिका एवं एक म्वाण भी था।

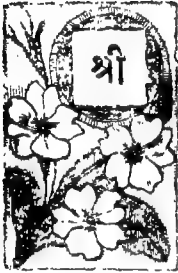
शाय प्रभ यह होता है कि उन लोगोंका अस्तिकोका कर्त्तव्य ईश्वरके अन्दर तल्लीन हो जाना और सर्वत्र उनका दर्शन करना है। चाहिये कि वह एकाग्रचित्त होकर भगवान्‌में ऐसी प्रार्थना करे और स्वयं उन 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के स्वरूपमें लीन होकर सारे भूतप्राणियोंमें उन्हींका रूप देखे तथा ईश्वरबुद्धिसे सबकी सेवा करे। यदि हमने

लगनके साथ उनकी खोज की और प्रेमके साथ उनको पुकारा तो हमें विश्वास है कि हमारी पुकारका उत्तर वह अवश्य देंगे और हमें अपनी कृपाकी भिक्षा देकर संसारको अपने प्रेम, सौन्दर्य एवं आनन्दमें परिष्ठावित कर देंगे। भगवान् श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्णचैतन्यके विग्रहमें अवतीर्ण होकर उन्होंने ऐसा ही किया था। हमारी प्रार्थना है कि प्रभु हमें वह शक्ति एवं योग्यता प्रदान करें जिसके द्वारा हम उनके कृपापात्र बनकर संसारमें उनके प्रेमका प्रसार कर सकें।



नाम-महिमा

(लेखक—प्रेमिन्‌म श्रीशंकरराव, बा०, डाँडेरकर)



तुकाराम महाराज कहते हैं कि 'मैं भक्तिकी महिमाको दिललाकर ब्रह्मज्ञानी पुरुषको भी उसके लिये उत्कण्ठित बनाऊँगा, मुक्तपुरुषोंकी आत्मस्थिति खुदा दूँगा। हरिनामकी तनमें जीवन ब्रह्ममय हो जाता है, तथा वह कीर्तन ऐसा भाग्यप्रद है कि भगवान् भी भक्तके ऋणी बन जाते हैं। इसलिये तीर्थयात्रा करनेवालोंको अजनमें डाल आलसी बना दूँगा, तथा स्वर्गवास और स्वर्ग-सुख-भोगोंको भी उसके आगे कटु बना दूँगा। भक्तिके सम्मुख तपस्वी लोगोंका अभिमान खुदा दूँगा, तथा यज्ञ और दानको लजित कर दूँगा। केवल भगवन्नामके बलपर मैं पुरुषार्थसे चरम भक्तिको प्राप्त करूँगा और इहलोकमें लोगोंमें धन्य-धन्य कहलाऊँगा, क्योंकि मैंने (तुकारामने) उस परम भाग्यरूपी भक्तिको देखा है।'॥

पाश्चात्य देशमें जिस समय ईश्वर-विषयक प्रसोंकी चर्चा छिड़ती है, उस समय ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेवाले कौन-कौनसे प्रमाण पेश किये जा सकते हैं, हमी प्रकारकी चर्चा बहुत प्रारम्भमें होती है। हमारे यहाँ इससे भिन्न ही प्रणाली है। भारतीय मनुष्योंकी मनःमृष्टि ही ऐसी हुई है कि उसमें कुछ बातें, बिना उत्पन्न किये ही, स्वभावतः सजी हुई मिलती हैं। उदाहरणार्थ—पुनर्जन्मपर विश्वास, कर्मसिद्धान्त, आत्माका अमरत्व इत्यादि। ईश्वरके अस्तित्वका प्रभ भी करोब-करीब हमी प्रकारका है। अति प्राचीनकालमें ऋषियोंने उगमनषट्की दृष्टिसे विचारकर अपने अनुभवमें स्पष्ट भाषामें यह बतला दिया था कि 'ईश्वर है और उसका ज्ञान प्राप्त करनेमें ही जीवनकी सफलता है, तथा उसका ज्ञान न प्राप्त होनेसे मनुष्य महान् विनाशको प्राप्त होता है।'

'इह चेदेवेदीदय सत्यमस्ति

न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।'

—केनोपनिषद्

॥ घोटर्बान माल ब्रह्मज्ञान्या हाती । मुक्ता आत्मस्थिती साद्वीन ॥
ब्रह्मभूत काया होतसे कीर्तनी । भाग्य तरी ऋणी देव रेमा ॥
नोर्थभ्रामकासी आणीन आलस । कटु स्वर्गवास करिन भोग ॥
स'डवीन तपोनिधा अभिमान । यज्ञ भाणि दान लाजवीन ॥
भक्तिभाग्य सीमा साधीन पुनर्पार्थ । ब्रह्मांवा जो अर्थ निभठेबा ॥
धन्य म्हणवीन इहलोक लोकां । भाग्य भ्रामां तुका देखियेला ॥

भातुकाराम साम्प्रदायिक गाथा अर्भाग ३६-९

अर्थात् यदि इस जन्ममें ईश्वरको जान लिया तो सब ठीक हो गया, न जान सका तो वह महाविनाशको प्राप्त होगा। यह बात हमलोगोंके रग-रगमें समायी हुई है। इसलिये ईश्वरविषयक प्रसोंकी चर्चा छिड़नेपर, 'ईश्वर है या नहीं और यदि है तो इसके कौन-से प्रमाण हैं?'—इत्यादि प्रसोंको उठाकर उसकी चर्चा करनेकी अपेक्षा

उसके अस्तित्वको स्वीकारकर, तथा उसकी प्राप्तिको मानव-जीवनकी सफलता मानकर हम उसकी प्राप्ति के साधनोंका ही विचार करते हैं। परन्तु आजकल इसमें बहुत कुछ परिवर्तन हो गया है। आधुनिक शिक्षित पुरुषोंका मन अनीश्वरवादकी ओर अधिक झुकने लगा है। इसका कारण पाश्चात्य विचारका संस्कार तो है ही, समय (युग) की महिमा भी ऐसी ही है। क्योंकि समाजसत्तावाद (Communism) के सदृश सिद्धान्त भी अनीश्वरवादकी ओर झुकने लगे हैं। ऐसे अवसरपर भारतवर्षकी संस्कृति और तत्त्वज्ञानके प्रमुख अंग 'ईश्वर-दर्शन' विषयक अंक निकालकर 'कल्याण' मासिकपत्रने आधुनिक सजातीय विचारोंके एकत्र करनेका मनुष्य प्रयत्न किया है, उसमें इस लेखनारा हम भी अपना हाथ बँटाते हैं। ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्ध करनेका काम अधिकारी पुत्रोंके ऊपर छोड़कर हम लेखमें भगवत्प्राप्ति के सुगम और सुलभ साधन-स्वरूप भगवत्नामके माहात्म्यके विषयमें संक्षेपमें विचार किया जायगा।

१—इतिहास

उपपुंक्त कथनानुसार हमारे देशमें अति प्राचीनकालमें—इतने प्राचीनकालमें जब कि प्राचीन भूभागमें जो राष्ट्र आज अग्रगण्य कहे जाते हैं उनमेंसे कितनोंका इस स्वरूपमें उदय भी नहीं हुआ था, उस कालमें—'क्या संसारका कोई कारण है, यदि है तो वह खेतन है या जड़, उसके साथ मनुष्यका क्या सम्बन्ध है, उसका साक्षात्कार हो सकता है या नहीं, यदि हो सकता है तो किस-उपायसे?' इसप्रकारके गहन तार्किक विषयोंपर चर्चा चलाकर एतद्विषयक सिद्धान्त निश्चित किये जाते थे। पवित्र गंगा-तटके समान रम्य स्थानमें निवास, साधारण रहन-सहन, खाने-पीनेकी शिन्ताका अभाव, इन परिस्थितियोंमें तत्कालीन ऋषियोंको इन प्रश्नोंकी सांगोपांग और शान्त रीतिसे चर्चा करनेमें सुविधा थी। वह चर्चा किस प्रकारकी होती थी इस बातका पता हमें उपनिषद्में लगा जाता है। अन्य आवश्यक प्रश्नोंके साथ परमेश्वरकी प्राप्ति-के साधनोंका भी विचार होता था। उपनिषद्में ज्ञान, योग और कर्म इन साधनोंके साथ-साथ नाम-मार्गका भी उल्लेख मिलता है। केनोपनिषद् अण्ड ४ श्लोक १ में स्पष्ट लिखा हुआ है कि—'तद् तद्वत् नाम तद्वन्नमिर्युपासित-व्यम्।' अग्न्योपनिषद्के सातवें अध्यायके प्रथम अण्डमें

भी नामकी उपासनाका उल्लेख है। नाम-मार्ग अन्य साधनोंके समान ही प्राचीन है बहिष्कृत योगादि साधनोंकी अपेक्षा भी उसका अधिक पुराना होना बहुत ही स्वाभाविक है। जगन्वियन्ता ईश्वर है, एक बार यह मान लेनेपर उसको समीप बुलानेका सहज मार्ग मानव-स्वभावके अनुसार यदि है तो उसको पुकारना ही है। माँको सामने न देखकर जैसे बच्चा रो-रोकर उसे पुकारता है, उसी प्रकार व्याकुल होकर प्रेमसे उस छिपी हुई जगन्माताको दर्शन देनेके लिये पुकारना ही स्वाभाविक मार्ग है। उपनिषद्में इसका जो संक्षिप्त-सा उल्लेख मिलता है, इसका कारण यह है कि वे ग्रन्थ तत्त्व-चर्चा-विषयक हैं अतः तत्कालीन ऋषि-मुनियोंकी बुद्धिसे निकले हुए सिद्धान्त स्वरूपसे उनमें लिखे हुए हैं। यही कारण है कि भावना-प्रधान तथा अन्तःकरणको अंगीकृत होनेवाले मार्गका उनमें स्वभावतः ही विस्तार नहीं है। परन्तु हम मार्गका उनमें उल्लेख है, इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये। इस विषयमें इतना लिखनेका कारण यही है कि बहुतेरे लोग इस मार्गको अर्वाचीन और अधिक-से-अधिक मध्ययुगका मानते हैं। परन्तु उपर्युक्त चर्चासे यह मालूम हो जाता है कि उनका ऐसा समझना भूल है। हाँ, नाम-साधनके सच्चे महत्त्वको जानकर उससे पूरा-पूरा लाभ उठाकर उसका लाभ सब जीवोंको प्रदान करनेका श्रेय यदि किसीको प्राप्त है तो वह अवश्य ही मध्यकालीन साधु-सन्तोंको है। उपनिषद्में ब्रह्म ऋषि-मुनियोंका झुकाव ज्ञानकी ओर था, उस समय ईश्वर-विषयक चर्चा तथा उसकी प्राप्ति के साधनोंका अनुष्ठान गुफाओं अथवा आश्रमोंमें होता था। मध्ययुगीन नामनिष्ठ (भक्त) लोगोंने हरिभक्तिकी महिमा अधिक बढ़ायी और ईश्वर-विषयक प्रश्नोंको गुफाओं और आश्रमोंसे निकाल चौराहोंपर लाकर सबके लिये उन्हें सुलभ कर दिया। यह कहना असंगत न होगा कि इस युगका आरम्भ श्रीमद्भागवतपुराणसे हुआ है। श्रीमद्भागवतमें कलियुगका वर्णन करते समय स्पष्टरूपसे कहा है कि—

यत्र संकीर्तनमेव सर्वं स्वायंऽभिनम्यते ।

'श्रीमद्भागवतके नाम-संकीर्तनसे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष सभी अर्थोंकी प्राप्ति होती है।' श्रीविष्णुपुराण (१।१।१७) में भी यह स्पष्टतः कहा गया है कि नाम-संकीर्तन ही इस कलियुगका धर्म है। नारदके भक्तिसूत्र भी इसी प्रकारके

हैं। परन्तु इसकी अपेक्षा भी नामका प्रसार ईश्वरके नाम-का व्यवहार करते हुए हिन्दुस्तानभरमें यदि किसीने किया है तो वे प्रान्तीय भाषाओंमें कविता करनेवाले महा-पुरुष महात्मागण हैं। उनमेंसे कुछ प्रमुख महात्माओंके नाम कबीरदास, तुलसीदास, रैदास, दादू, चरणदास, नानक, मीराबाई, नरसीमेहता, चैतन्य, ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास और पुरन्दरदास प्रभृति हैं। और इसी नामके श्रेष्ठ सिद्ध करनेवालोंकी परम्परा अर्वाचीन साधु रामकृष्ण परमहंसतक पहुँची है।

इस विषयमें ध्यान देनेयोग्य एक अक्षरजकी बात तो यह है कि नामकी श्रेष्ठता तथा उसकी सामर्थ्यके विषयमें भारतके विभिन्न प्रदेशोंके सभी साधुओंका एकमत है। भारतके साधुओंको तो भगवत्नामकी श्रेष्ठता स्वीकृत है ही; बल्कि पाश्चात्य देशके साधु भी नामके महत्त्वको जानकर उसकी स्तुति करते हैं। चौदहवीं शताब्दीके एक पाश्चात्य साधुने 'The cloud of Unknowing' नामक एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा है उसमें 'नाम कैसा होना चाहिये तथा उसका क्या उपयोग है?' इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। यहाँ हम उसके वाक्य उद्धृत करते हैं—

And if thou desirest to have this intent lapped and folded in one word, so that thou mayest have better hold there-upon, take thee but a little word of one syllable, for so it is better than of two; for the shorter the word, the better it accordeth with the work of the spirit. And such a word is this word 'God' or this word 'Love.' Choose whichever thou wilt, or another; whatever word thou likest best of one syllable. And fasten this word to thine heart, so that it may never go thence for anything that befalleth.

This word shall be thy shield and thy spear, whether thou ridest, or peace or war.
(The cloud of unknowing p. 26-27.)

अर्थात् 'यदि तुम अपनी अभिलाषाको एक शब्दमें सन्निहित और सन्निहित करना चाहते हो जिससे तुम उससे अधिक लाभान्वित हो सको तो केवल एकस्वरयुक्त एक शब्द चुनो जो हो स्वरवाले शब्दसे अच्छा होगा। क्योंकि

जितना ही छोटा शब्द होता है उतना ही अधिक आत्म-शक्तिके अनुकूल होता है और ऐसा शब्द 'मगवान्' या 'प्रेम' है। इसमें तुम जो चाहो बन सकते हो; एक स्वर-वाले जिस शब्दको तुम अधिक पसन्द करते हो, वनो। और उस शब्दको अपने हृदयमें इसप्रकार रख लो जिससे वह कभी किसी भी बन्धुकी प्राप्ति होनेपर बाहर न निकले। यह शब्द तुम चाहे अङ्गारोहण करो, शान्तिमें रहो अथवा युद्ध करो, सदा तुम्हारी डाल और तलवारका काम देगा।'

ऐसा ही महन्व Thomas a Kamps के लिखे हुए 'Imitation of Christ' नामक ग्रन्थमें भी मिलता है। तात्पर्य यह है नामकी महत्ताका गुणगान प्राचीन, अर्वाचीन, पौराण्य, पाश्चात्य सभी सन्तोंने किया है।

२-दूसरे साधनोंके साथ नामकी तुलना

नाम-माहात्म्यके वर्णन करनेमें सब साधु-सन्तोंका जो एकमत दीख पड़ता है तथा अनेकों साधु-इरि-चिन्तनमें मग्न होकर संसारके त्रिविध दुःखोंको जो भूलें हुए दीख पड़ते हैं, इसके अनेक कारण हैं। उनमेंसे यहाँ मुख्यतः दो बातोंका विचार करना है, एक तो अन्य साधनोंकी अपेक्षा नामकी सुलभता और दूसरी नामकी अन्तरंगता। पहले नामकी सुलभताका विचार करना है।

ज्ञान, योग, कर्म आदि भगवत्प्राप्तिके प्रसिद्ध साधन हैं। हमें इस लेखमें यह सिद्ध नहीं करना है कि ये सब भगवत्प्राप्तिके साधन नहीं हैं। हमें तो यही दिखलाना है कि इन सब साधनोंकी अपेक्षा नाम-साधनकी सुलभता कहाँतक है, तथा पीछे यह भी दिखलाना है कि नाम-साधन सुलभ होनेपर भी वैसा ही फलदायी है जैसे अन्य साधन हैं।

यदि सब साधनोंका राजा कहलानेका गर्व किसीको प्राप्त है तो वह ज्ञानको है। 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' तथा 'ज्ञान जयाचें हातीं। तो चि समर्थ मुक्ति।' अर्थात् ज्ञानी ही मुक्त होता है। इसप्रकारके संकल्पों अर्थयुक्त वचन पण्डित, साधु, ज्ञानी पुरुषोंके ग्रन्थोंमें मिलते हैं। परन्तु इस श्रेष्ठताकी सिद्धि यद्यपि मुख्यमे या वाद्-विवाद-द्वारा करना सुगम है, तथापि ज्ञानका पूरा-पूरा माप करना, रद्द अपरोक्षानुभूतिके द्वारा 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्योंका अनुभव प्राप्त कर 'वासुदेवः सर्वमिति' की सत्यक् अनुभूति बहुत हो दुर्घट है। उसके प्राप्त करनेके साधनोंका विचार

करने समय जान पड़ता है कि तीव्र जिज्ञासु भी निराशा के गर्तमें जा गिरेगा। ज्ञानकी प्राप्ति के लिये मुख्यतः तीन बातोंकी आवश्यकता है, पहली तैलबुद्धि, दूसरी साधन-चतुष्टयसम्पन्नता और तीसरी बात है शब्दपर निष्णात ज्ञानी गुरुका प्रसाद।

इन तीनोंपर विचार करनेसे यही मालूम होता है कि सामान्य मनुष्यके लिये इन तीनोंमेंसे एकका भी प्राप्त होना दुर्लभ है। बहिर्मुखी इन्द्रियोंके लिये निश्चयी तैलबुद्धि पढ़नेवाले स्थूल जगत्को मायिक समझकर उसके अधिष्ठान परब्रह्मकी सत्यताको बुद्धिमें निश्चय करनेके लिये पढ़ने शास्त्राभ्यासकी आवश्यकता है। विभिन्न शास्त्रोंकी 'व्याप्ति' की चर्चा सविकल्पक प्रत्यक्ष तथा निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें सूक्ष्मभेद, स्फोटके समान वाद-यह सामान्य मनुष्यकी बुद्धिकी कक्षाकी बाहरकी बातें हैं। बल्कि इनमें श्रम करके शास्त्रोंकी एकवाक्यताके दुर्गम गढ़की जीतकर शास्त्र-सिद्धान्तको बुद्धिगम्य कर लेनेपर भी क्या काम निकल सकता है? केवल पुराने सिद्धान्तोंका समझना ही नहीं है, बल्कि नये-नये सिद्धान्तोंके रचनेवाले पण्डित बढ़ते जाते हैं, उनके सिद्धान्तोंका भी जानना आवश्यक है। परन्तु ऐसी बुद्धिसे केवल पाण्डित्य प्राप्त होगा, ईश्वरकी प्राप्ति इससे न होगी, उसके लिये तो वैराग्यकी आवश्यकता है। जैसे पाश्चात्य जर्मन देशके प्रसिद्ध दार्शनिक कैंप्टने कहा है कि अनुभवके बिना प्रत्यक्ष स्वयं है और प्रत्यक्षके बिना अनुभव निष्प्रयोजनीय है। (Percepts without concepts are blind and concepts without percepts are empty) उसी प्रकार एकनाथजीने विवेक और वैराग्यकी जोड़ीके सम्बन्धमें कहा है—'विवेक बिना वैराग्य अन्धा है और वैराग्यके बिना विवेक पंगु है, जैसे धतराष्ट्रने ज्येष्ठ होनेपर भी नेत्र बिना स्वराज्यको खो दिया।'

तीनों लोकोंमें प्रज्वलित अग्नि के समान विषयोका नाश करनेवाली प्रखर 'इष्ट-आनुश्रविकविषय-वितृष्णा' के बिना ज्ञानका उत्पन्न होना कभी सम्भव नहीं। साधुन कितना ही अच्छा क्यों न हो, परन्तु जिस पानीसे कपड़ा धोना है यदि वही गैरुखा है तो वह साधुन जिसप्रकार निरुपयोगी हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान कितना ही अधिक क्यों न हो, वैराग्यद्वारा यदि अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं हुई तो केवल बुद्धिगम्य ज्ञानका कोई भी उपयोग नहीं हो सकता। थोड़ी देरके लिये मान भी लिया जाय

कि ऐसे वैराग्य, विवेक तथा साधन-चतुष्टयकी प्राप्ति हो सकती है परन्तु तीसरी बात अर्थात् श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरुका समागम और प्रसादकी प्राप्ति तो अत्यन्त ही दुर्लभ है। इस विषयमें आगवतमें यह विदेहकी उक्ति प्रसिद्ध ही है कि—

'तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम्।'

—मन्त्र-तन्त्रके उपदेश करनेवाले गुरु घर-घर मिलते हैं परन्तु शिष्यके लिये ईश्वरका साक्षात्कार करानेवाले गुरु अत्यन्त दुर्लभ हैं। एकनाथने भी ऐसा कहा है कि 'चकोर-शावकको ही प्राप्त होनेवाला चन्द्र-किरणरूपी अमृत मनुष्यको बुभुक्षाको शान्त करे तो यह सम्भव है। बौना मनुष्य महासागरको अपने बाहुबलसे पार कर ले तथा अविराम चलनेवाले सूर्यचक्रकी गतिकी रोक ले, यह भी सम्भव है परन्तु सब संपुरुषकी प्राप्ति दुर्लभ है। तात्पर्य यह कि इन सब बातोंके योगके द्वारा ज्ञान-प्राप्ति होना तत्त्वके फणकी मणिकी प्राप्त करके उभे जीवन शेरके नाकके बालमें पिरोकर गलेमें पहननेके समान कठिन ही नहीं, बल्कि प्रायः असम्भव है।'

परन्तु नाम-स्मरणकी बात ऐसी नहीं। उसके लिये अत्यन्त कुशाग्र बुद्धिकी आवश्यकता नहीं है। भक्ति-शास्त्रोंमें भूत, उपमन्यु, प्रह्लाद आदि भक्त बालकोंने कुमारवस्थामें ही, शास्त्राध्ययनके पूर्व ही जगदीश्वरको प्राप्त कर लिया था, यह कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं। प्रेमसे 'हरि बोल' अथवा 'रामकृष्णहरि' की धुनि लगानेमें विद्वत्ताकी आवश्यकता नहीं। तुकारामका यही कहना है कि 'येईल वैसा बोल रामकृष्ण' देदा-मेदा जो कुछ हो प्रेमसे गानेवाले अपने भक्त बालककी उपेक्षा सर्व जीवोंकी जननीरूप परमात्मामे नहीं हो सकती। इसका अर्थ यह नहीं कि भक्तको ज्ञान-वृद्धकर अनाड़ी रहना चाहिये। परन्तु अधिकतः ऐसा देखनेमें आता है कि बड़े प्रभावशाली वक्ताकी अपेक्षा माँको अपने लालकी तोतली बोली ही अधिक प्यारी लगती है। और उसीमें उसे आनन्द आता है। इसी प्रकार उलटा-सीधा परन्तु प्रेमसे उच्चारण किया हुआ शब्द भगवान्को अति प्यारा लगता होगा। तुकाराम भी कहते हैं—'श्रीमाँका सहायक भगवान् अन्तरके प्रेमका आस्वादनकर केवल उसके भावको देखता है।'

इसका तात्पर्य यही है कि मिष्काम प्रेम होनेपर अधिक बुद्धि न होनेसे भी काम चक सकता है। क्योंकि

ईश्वर बुद्धिका उत्पादक है अतः वह अपने भक्तों स्वयमेव उत्कृष्ट ज्ञान दे देता है। यह बात पूर्वकाण्डके भुव आदि तथा अर्वाचीनकाण्डके तुकाराम नामदेव प्रभृतिके उदाहरणोंसे प्रसिद्ध है।

प्रेमपूर्वक हरिनामस्मरणमें एक और आनन्दकी बात यह है कि नाम-स्मरण करनेवालेमें वैराग्य धीरे-धीरे अपने आप उत्पन्न होने लगता है तथा स्वयं परमात्मा उससे गुरुरूपमें उपदेश देते, दर्शन देते और कृतार्थ करते हैं। इसके लिये बहुतेरे साधु-सन्तोंके चरित्र प्रमाण रूपमें प्राप्त होते हैं। नामसे चित्तकी शुद्धि किसप्रकार होती है, हमें इस आगे बतलावेंगे। अभी प्रसिद्ध सन्त तुकारामजीके तीन-चार बचनोंको देकर यह प्रसङ्ग समाप्त करते हैं। 'मेरा मन जो महात्मके गन्दा बना था (भगवत्कामसे) स्फटिक-जैसा शुद्ध हो गया। जिनको भगवान् 'विदुष' के तीन अक्षरोंका स्वाद मिला है, उनको उसके सामने अमृत भी फीका हो जाता है। मेरे भगवान् बिडोबा-का कैसा प्रेमभाव है कि वे स्वयं ही गुरु बनकर आये हैं। हरि-नाम-स्मरणसे तुरीया आदि समस्त अवस्थाएं प्राप्त होती हैं। सगुण भक्ति ही मुख्य उपासना है। शुद्धभावको जानकर भगवान् हृत्पूर्तिमें दर्शन देते हैं, भगवान् का नाम ही बीज और फल (साधन और साध्य) दोनों हैं। सांसारिक पुरुष गुरुके दाम नहीं हो सकते क्योंकि विषयी लोग वैराग्यका नाम सुनते ही काँपने लगते हैं। परन्तु पण्डरीनाथ भगवान् का नाम बैसा नहीं है उसके लिये भ्रम-की आवश्यकता नहीं पड़ती, वह सब अवस्थामें मधुर ही लगता है।'।

तात्पर्य यह कि सांसारिक मनुष्योंकी धीरे-धीरे विषेक-वैराग्ययुक्त बनाकर उन्हें भगवान् की प्राप्ति के लिये उत्कण्ठितकर उनको गुरुका समागम कराकर अन्तमें सुखम रीतिसे ईश्वर-साक्षात्कार कराना इत्यादि बातें नामस्मरणद्वारा हो जाती हैं, यह बात सारधुओंकी इक्ति और उनके अनुभवसे सिद्ध है। इसलिये सांसारिक मनुष्योंके लिये ज्ञानमार्गकी अपेक्षा नाम ही सुजन्म साधन है।

योगशास्त्रके विषयमें तो अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। योगके लिये वैराग्य और नैतिक ब्रह्मचर्य आदिकी आवश्यकता होती है। तथा उसके लिये 'सुखी देशे' पवित्र एकान्तमें रहनेके लिये तैयार होना चाहिये। एवं यह शरीर-चक्र जिस प्राण-वायुके आधारसे चलता है उस

वायुका निरोध, प्राण और अपानकी समता, प्राणका सुषुम्ना-नाडीमें प्रवेश आदि बातोंके लिये साधकद्वारा होनेवाली योग-विद्याकी जमता प्राप्त होनी चाहिये, परन्तु ये सारी बातें मुर्ख हैं। इतना होनेपर भी योग-मार्गके स्वतन्त्र होनेसे उसमें ऋद्धि-सिद्धियोंके अनेक प्रतिबन्धक हैं और इन ऋद्धि-सिद्धिरूपी देशमकी गोंठोंको काटनेके लिये तीक्ष्ण वैराग्यरूपी तलवारकी धारकी आवश्यकता है। यही कारण है कि स्वयं योगी लोग भी सामान्य मनुष्योंको इस मार्गमें न आनेके लिये ही उपदेश देते हैं। प्रसिद्ध योगिराज सन्त ज्ञानदेव कहते हैं कि—'योगमार्गमें धड़े उस्साहमे नवों द्वारोंका अवरोध करके कुण्डलिनीको तीनों नाडियोंके मध्य सुषुम्नामें संस्मरण करना पड़ता है। मुनिलोगोंका कहना है कि इस मार्गके साधनमें न लगकर निशिदिन श्रीभगवान् का चिन्तन करो जो मुक्तिस्थान (मोक्षरूप) है। योगमार्गमें हाथ-पैर टूटकर मृत्युकी प्राप्ति हो जा सकती है और उससे मोह और तृष्णाका नाश तो होना नहीं फिर ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? यह बड़ी भारी भूल है जो तुम भगवान् के चरणोंमें सिर नहीं नवाते। हे मानव-प्राणी! यदि तुम्हें मुक्तिकी अभिलाषा है तो अपने मनको मुकुन्दमें रमाओ।'।

अच्छा, योगके लिये इतना जी-जानसे परिश्रम करने-पर फल क्या मिलता है? केवल 'चित्त-वृत्ति-निरोध!' परन्तु नामनिष्ठ सन्त अपने अनुभवके द्वारा यह आश्वासन देते हैं कि चञ्चलताके लिये प्रसिद्ध मन और 'बलवान्' तथा 'प्रमाथि' कहलानेवाली इन्द्रियाँ नाम-चिन्तनके द्वारा साधकके वशमें हो जाती हैं। पैठणक-प्राम-निवासी एकनाथ महाराज अपना अनुभव कहते हैं—'हरि-नाम लेते-लेते जनादनके दास एकनाथकी इन्द्रियाँ विषय और कामको भूल ही गयीं।॥

तुकोबा कहते हैं—'नाम लेतेसे मन शान्त और स्थिर होता है तथा जिह्वासे अमृततरस झरने लगता है, तथा भगवत्प्राप्तिके अनेकों शकुन होने लगते हैं।'।

तात्पर्य यह कि नामचिन्तनके द्वारा इन्द्रियोंकी और चित्तकी शुद्धि होती है एवं मनमें एकाग्रता आती है।

* एका नार्दना पता हरिये नाम ।

निमार्णं इन्द्रिये विषय विसर्लभा काम ॥

† नामधेता मन निवे । जिह्वे अमृतवि सवे ॥
होताती बरे । ऐसे शकुन कामये ॥

अतः यह कहनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि नाम-चिन्तन योगसे भी सुख भव है।

अब रहा साधन-कर्म। वह तो 'सूत्रम्' नामसे प्रसिद्ध ही है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं कि,
'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।'

(४।१६)

और आजकल तो 'मेरा कर्म क्या है?' इसका निश्चय करना और उसके अनुसार यथाविधि अनुष्ठान करना बहुत ही कठिन हो गया है। इसके अतिरिक्त सूत्र, स्मृति निबन्धादि ग्रन्थोंका विचार करके विहित कर्मका निश्चय कर लेनेपर भी उसका आचरण करना इस परिवर्तित परिस्थितिमें अत्यन्त ही कठिन बल्कि असम्भव-सा हो गया है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि लेखकका अभिप्राय स्वकर्मका त्याग सूचित करनेका है। बल्कि सच बात तो यह है कि कर्मका अधिकार, देश, काल इन सबको देखकर ही कर्मानुष्ठानको निश्चित करना पड़ना है। एक समयका कर्म दूसरे समयमें होनेसे वह फलदायी नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि कर्मकी गति तथा स्थिति गहन है। नामकी स्थिति इसकी अपेक्षा निष्कुल ही भिन्न है। नामका अधिकार सब वर्णोंको, अन्यजनोंको भी एक समान ही है। सब जाश्रम, सब वर्ण, सब लिङ्गके मनुष्योंको नाम एक समान ही प्राण है। इसमें समय, बुद्धि तथा नर-नारीकी कोई कृद् नहीं है।

भगवन्नाम सर्वसाधारणके लिये प्रायश्चित्स्वरूप तो प्रसिद्ध ही है, इस विषयमें ज्ञानदेवका एक बहुत ही अच्छा अंश है। उसका महत्त्वपूर्ण अंश इसप्रकार है—'मन्त्रोंके विषयमें कहा जाता है कि उन्हें अशौचमें नहीं जपना चाहिये और न औरोंको सुनाना ही चाहिये क्योंकि ऐसा करनेसे लाभ तो होता नहीं, उल्टे हानि होती है। परन्तु ऐसी बात मन्त्रराज ओङ्कारि-नामके अपमें नहीं है। श्रीनारायण-नामकी तो हाथ डठाकर ऐसी गर्जना करनी चाहिये कि गाने और सुननेवाले भस्म हो जायें। नामके द्वारा ब्राह्मणमे लेकर अन्यजपर्यन्त सब मुक्तिके अधिकारी हैं।'।

तात्पर्य यह है कि इसमें देशकालकी कोई अड़चन ही नहीं है। नाम-चिन्तन सदा-सर्वदा पवित्र है। तथा चाण्डाल, सुवर्ण चुरानेवालेके समान पातकी तथा वेदया आदि सबको इसमें समान अधिकार है, एवं जिस गङ्गामें

ज्ञान करनेसे इनकी बुद्धि होती है वह तीर्थ नाम-गङ्गा ही है। आगीरथी पापोंका नाश करनेवाली है, यह ठीक है परन्तु वह भी कभी-कभी, 'ऐसा महापापी तो पहले कभी नहीं देखा-सुना था' यों कहकर अपने कानोंपर हाथ रख सकती है। लेकिन सब प्रायश्चित्तोंने जिनको त्याग दिया था उन वाक्यीकि, अजामिल, गणिका-जैसोंका उद्धार इसी पवित्र साधन नामसे ही हो गया। इस विषयमें ज्ञानदेवने (गीता ३।१४ श्लोक) 'सतत कीर्तयन्तो माम्' पर बहुत ही अच्छी टीका की है। पाठकोंसे इस उसके पङ्क्तिके लिये आग्रहपूर्वक विनती करते हैं।

अन्धकारके नाशके लिये सूर्यको, तथा शिकारियों पकड़नेके लिये सिंहको जैसे औरोंकी सहायताकी अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार नामको भी भगवत्प्राप्ति प्रदान करनेमें अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं होती। नाम साधकको सहज ही ईश्वरमें मिला देता है। यही कारण है कि नामके अन्तरंग साधन होनेके कारण हमने ऊपर ब्रँसा कहा है।

नामके ऊपर एक शंका हो सकती है कि परमेश्वर तो निर्गुण निराकार प्रसिद्ध है, तथा नाम, रूप, सम्बन्ध, ज्ञान, क्रिया, भेद आदिकी प्रतीति केवल साकार और सगुण वस्तुमें ही होती है। अर्थात् अजाति, अनाम और निर्गुण परमेश्वरका नाम देना तथा उस नामका अवलम्बन कर उसके द्वारा परमेश्वरको प्राप्त करनेकी चेष्टा करना बिना नींवके मकान उठानेके समान ही मूर्खतापूर्ण है। अनामीको नाम कहाँसे प्राप्त हो सकता है? शंका ठीक ही है। परन्तु यह जैसी कठिन दीख पड़ती है बतनी कठिन है नहीं। इसमें थोड़ा-सा भ्रममात्र है। ब्रह्म अथवा ईश्वरको नाम नहीं है, इसमें कोई नवीनता नहीं, परन्तु विचारनेयोग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कौन-सी साकार वस्तु अपने साथ नाम लेकर पैदा होती है? क्या किसीने नवजात शिशुको अपने सिरपर नामका सिङ्गा लगाकर जन्मते देखा है? शिशुके जन्मके उपरान्त ही उसके माँ-बाप उसका नामकरण-संस्कार करते हैं, उसे पालनेमें रखते हैं और उसका नाम चरते हैं। परन्तु आश्चर्यकी बात यह है कि बारम्बार उस नामसे पुकारते-पुकारते वह बच्चा उससे इतना अभ्यसित हो जाता है कि दस-पाँच आश्रमियोंके बीच यदि वह सोया हुआ हो और उसका नाम लेकर पुकारा जाय तो वही जाग उठता है। उसी प्रकार तुम्हारी-हमारी सबकी आत्मा अति भगवत्तीने,

संसार-भयसे त्रस्त हुए जीव अपना दुखड़ा सुनानेके लिये भगवान्के पास जायँ, इस उद्देश्यसे, प्रारम्भमें भगवान्का 'ओम्' नाम रख दिया और सब जीवोंके लिये उसके साथ व्यवहारका मार्ग खोल दिया।

मूलमें भगवान्का एक ही नाम था, पीछे उन्हें सबों नाम प्राप्त हुए और वह भगवान् ऐसे दयालु हैं कि प्रेमसे किसी भी नामसे पुकारनेपर ध्यान देते हैं और बुलाने-वालेका कष्ट दूर करते हैं।

२—नाम और अन्तःकरण-शुद्धि

ऐसी ही एक और दूसरी शक्ताका विवेचन करना है। उसका निराकरणकर इस लेखके अन्तिम और महत्वपूर्ण विषय 'अठ्याष्टन नाम-स्मरणसे प्राप्त होनेवाली स्थिति' का विचार किया जायगा।

ऊपर हम जित्त चुके हैं कि नाम-स्मरणसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, प्रबल (अजेय) हस्त्रियाँ भी साधकके वशमें हो जाती हैं। इसपर स्वभावतः यह शङ्का उठ सकती है कि चित्त-शुद्धि और नाम-स्मरणमें ऐसा कौन-सा सम्बन्ध है कि नाम-स्मरणके साथ चित्तकी शुद्धि होती ही है? इसका उत्तर यह है कि सद्भाव और प्रेमसे यदि साधक नियम नाम-स्मरण करे तो नाम और नामीका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होनेके कारण क्रमशः जैमे-जैमे उसकी वृत्ति भगवन्नाममें तल्लीन होती जायगी वैसे-ही-वैसे वह राजस और तामस विषयोंमें दूर होता जायगा और नामी अर्थात् परमात्माका रंग उसके अन्तःकरणपर चढ़ता जायगा। हमें व्यवहारमें भी ऐसा ही अनुभव मिलता है। बच्चेको मरे चाहे छः महीने बीत गये हों, उसकी माताके सामने उस बच्चेका नाम लेते ही उसके नेत्रोंमें आँसू टपके बिना नहीं रहते। नाम-उच्चारणके साथ ही वृत्तिमें नामीकी स्थिति हो जाती है। जो बात विचारसे, ज्ञानसे अथवा चर्चासे नहीं होती वही क्षणमात्रके प्रेमसे सिद्ध हो जाती है। भावना अथवा प्रेममें ऐसा बल है कि अन्तःकरणकी शुद्धिकेलिये विचारोंकी अपेक्षा कहीं अधिक उसका उपयोग होता है, ऐसा मानस-शास्त्र-वेत्ताओंका कहना है। तात्पर्य यह है कि प्रेमपूर्वक नाम-चिन्तन होनेपर धीरे-धीरे अन्तःकरण सात्विक हो ही जायगा। इस विषयमें यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि माछिकके घरमें आनेपर जानवर स्वयं उस घरको छोड़कर दूसरे दूरे-दूर स्थानों की ओर चले

जाते हैं। उसी प्रकार नाम-स्मरणसे अन्तःकरणमें हृषीकेशका विश्वास होनेपर काम-क्रोधादि कुतोंका वहाँ रहना सम्भव नहीं हो सकता। अपरिपक्व बुद्धिवाले नास्तिककी बातोंपर विश्वास करनेकी अपेक्षा हम उन महात्माओंके वचनोंपर क्यों न विश्वास करें, जिन्होंने अपना सारा जीवन साधनामें बिताया तथा जिनके मिथ्यावादी होनेकी तनिक भी शङ्का नहीं की जा सकती? भगवत्साक्षात्कारका अनुभव जैसा उन्हें मिला, वैसा हमें भी मिल सकता है यदि हम उनके कथनानुसार सद्भाव, प्रेमके साथ नियमपूर्वक भगवान्का नाम लिया करें। श्रीएकनाथ महाराजने कहा है—

'जिसे परमार्थकी अभिलाषा हो, वह सब झमेलोंको छोड़े और नियम नियमसे आदरपूर्वक भगवद्भजन प्रारम्भ कर दे। खण्डन-मण्डन छोड़कर वासुदेवके नामकी ही रट लगाया करे। आदरपूर्वक नाम-स्मरण करनेसे अनायास ही मुक्तिकी प्राप्ति होगी।'

इसप्रकार प्रेमसे, भावशुद्ध अन्तःकरणसे नियम-पूर्वक नाम-स्मरण करनेपर साधककी वृत्ति बदलने लगती है, उसे जाग्रत-दशामें अलस भगवन्नाम तथा गुणके कीर्तन करनेकी लालसा लगी रहती है, इसी स्थितिकी दृढ़ता हो जानेपर उसका भगवद्विषयक प्रेम दृढ़ होता जाता है और स्वप्नमें भी उसकी वैसी ही स्थिति हो जाती है, तथा दिन-दिन उसका भगवान्में प्रेम बढ़ता जाता है। अन्तमें उस भक्तकी देहभूति प्रेमकी बादमें विलीन हो जाती है। उसके शरीरमें आठों सात्विक भाव प्रकट होते हैं तथा वह विदेहावस्थाको प्राप्त हो जाता है। इसीको प्रेमसमाधि अथवा उन्मादावस्था कहते हैं। भक्ति-शास्त्रका इसके परे कुछ साध्य नहीं है, परन्तु विशेष आश्चर्यकी बात यह है कि इस अवस्थाका निर्वचन पण्डित लोग अपने ज्ञानबलसे कर ही नहीं सकते? इस अवस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष कभी गाता, कभी रोता, कभी खिलखिलाकर हँसते हुए नाचने लगता है। वहिमुख वृत्तिवाले पुरुष, चाहे वे शास्त्रोंके पण्डित ही क्यों न हों, ऐसे पुरुषको पागल समझते हैं। परन्तु भक्ति-शास्त्र महारत्ना कहते हैं कि उनके गाने, रोने और नाचनेमें जगत्का उद्धार होता है। अभी थोड़े ही दिन हुए जब साधु रामकृष्ण परमहंसने इसी उन्माद-अवस्थामें अपने समीपके एक मनुष्यको पैर छुआकर उसकी हृष्टदेहका दर्शन करा दिया था, यह बात

प्रसिद्ध ही है। यह विद्वेद-अवस्था केवल काल्पनिक स्थिति नहीं है, बल्कि अनुभवसिद्ध बात है, इसके साक्षी अनेकों महात्मा पुरुष हैं। नारदजी अपने भक्तिसूत्रमें लिखते हैं—

यं कृष्ण पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति ।
यत्प्राप्य न किञ्चित् वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही
भवति । स तरति स तरति स लोकांस्तारयति ।

जिस प्रेमको पाकर पुरुष सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है, तृप्त हो जाता है, जिसे पाकर फिर किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता, किसी बातका शोच नहीं करता, किसीमें द्वेष या राग नहीं करता, विषय-सेवनमें उत्साह नहीं करता, वह तरता है, वह तरता है और वह लोकोंको तारता है।

४-प्रेमोन्मादकी अवस्था

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

पर्वव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हस्तयथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादबन्नुपति लोकबाह्यः ॥
(११।२।४०)

इसप्रकार प्रेमका व्रत लेकर अपने परमप्रिय प्रभुके नाम-संकीर्तनका अनुरागी वह भाग्यवान् पुरुष अलौकिक भावसे कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी रोता है, कभी चिल्लाता है, कभी ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी उन्मत्तके समान नाच डटता है।

परमात्मासे प्रार्थना है कि हमारे भारतदेशमें नित्य ऐसे ही महात्मा पैदा हों, क्योंकि देहकी विमृष्टि कराने-वाका प्रेम भगवत्कृपाके बिना प्राप्त नहीं हो सकता।

इस उच्च भूमिकाको पहुँचानेवाला नाम-स्मरण किस-प्रकार होना चाहिये यह बतलाकर इस लेखको समाप्त

किया जायगा। वस्तुतः इसका विचार तो ऊपर हो ही गया है परन्तु यहाँ उसका थोड़ा-सा स्पष्टीकरण होना आवश्यक है। वैखरी याणीद्वारा नामोच्चारण करना तो केवल साधनाका आरम्भ है। नामोच्चारण किया जाय परन्तु उसके साथ-साथ स्मरण होना भी आवश्यक है। तुकाराम महाराज कहते हैं—

‘कण्ठसे नाम-उच्चारण करते समय यही भावना और अनुभव भी करना चाहिये कि भगवान् मेरे सामने खड़े हैं, इसी प्रकार ध्यान धरना चाहिये और मन-ही-मन चिन्तन करना चाहिये।’ श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—‘विट्ठलको स्मरण करते समय उस नामाके रूपका भी चिन्तन करो।’ यह नाम-स्मरण ऊपर कहे अनुसार प्रेमपूर्वक तथा भावपूर्वक होना चाहिये। नहीं तो उसमें एक प्रकारका बनावटीपन आ जाता है। प्रेम न हो तो नाम-स्मरणका कुछ भी महत्त्व नहीं है, चैने तो नाम समी लेते हैं। परन्तु तुलसीदासजी कहते हैं—

राम राम सब कोई कहे ठग ठाकुर अरु चोर ।
बिना प्रेम रीझे नहीं तुलसी नन्दकिसेर ॥

पहलेके महात्माओंको नाम-स्मरणद्वारा परमात्माकी प्राप्ति होनेका कारण यही है कि उन्होंने नाम-स्मरण प्रेम-पूर्वक किया था। नाममें प्रेम होनेकी परीक्षा यही है कि नाम-स्मरणमें लग जानेपर भूख-प्यास अथवा लौकिक सुख-दुःखोंकी खबर ही न रहे, तथा स्वप्नमें भी नामकी ही धुनि होती रहे।

गोपियाँ, श्रीचैतन्य, तुकाराम, तुलसीदास, कबीर और आधुनिककालके श्रीरामकृष्ण परमहंसके समान भगवत्प्रेम सबको प्राप्त होना कठिन है। तथापि उनके प्रेमका लेशमात्र ही हम भारतवासियोंको प्राप्त हो तथा हमारे इस भारतदेशमें यह भगवत्प्रेमकी ज्योति इसी प्रकार सदा जलती रहे, मैं उस प्रेमस्वरूप श्रीहरिके चरणोंमें यही प्रार्थना करके इस लेखको समाप्त करता हूँ।

अगम अगोचर

रूप रेख बरनी कहा, कोटि सूर परगास ।

अगम अगोचर रूप है, पावे हरिको दास ॥

—यारी साहेब

ईश्वरकी सत्ता

(लेखक — दण्डिस्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती)



महा सृष्टिका सञ्चालन नियमितरूपसे करनेवाला कोई एक सर्वशक्तिःसम्पन्न विशिष्ट चेतन है या नहीं, यह बहुत ही पुराना प्रश्न है और प्रारम्भसे ही इसका उत्तर दोनों ही रूपमें अवतक दिया जाता है। इस सृष्टिके मूलमें कोई ऐसा चेतन है, इस विषयमें मतैक्य कभी नहीं हुआ। एक दल जहाँ ऐसे चेतनका पक्षी है तहाँ

दूसरा उसका विपक्षी भी पाया जाता है। यह भी नहीं कि जिस चार्वाक या लोकायतिककी नास्तिक-शब्दसे स्पष्टतया सम्बोधित करते हैं, केवल वही ईश्वरीय सत्ताका विपक्षी है। हिन्दुओंके जिन मीमांसा और सांख्य-दर्शनोंको साधारणतया आत्मिक ही समझा जाता है उन्होंने भी ईश्वरकी सत्ता माननेसे इन्कार किया है। हिन्दुओंके छः दर्शनोंमें न्याय तथा वैदेषिककी पृथक् माननेके लिये कोई वैसा विशेष आचार नहीं है जैसा कि सांख्य, योगादिके लिये। उन दोनोंमें कोई मौलिक भेद (Fundamental difference) नहीं है। अतएव नवीन तार्किकोंने दोनोंको एक ही मानकर या दोनोंको मिलाकर ही अपने ग्रन्थ लिखे हैं। इस तरह अब पाँच ही दर्शन स्पष्टरूपसे रह जाते हैं। इनमें जहाँ दो ईश्वर-सत्ताके विपक्षी हैं वहाँ दो ही (योग और न्याय) उसके स्पष्टरूपसे समर्थक हैं। क्योंकि वेदान्त-दर्शनकी गति निराली है। उसका छुकाव दोनों ओर है। यों तो उस दर्शनमें ईश्वर ओत-प्रोत पाया जाता है और उपनिषदों, व्याससूत्रों तथा गोतामे लेकर आधुनिक ग्रन्थोंतकमें ईश्वरका निरूपण और उस सम्बन्धमें विपक्षियोंके मतका खण्डन पाया जाता है। अतएव उसे अनीश्वरवादी कह नहीं सकते। फिर भी वेदान्तकी चरम गति जो जीवात्मिका या अद्वैत ब्रह्म है, उससे और साधारण ईश्वरवादसे क्या सम्बन्ध है? जिस अभेदको वेदान्ती चरम लक्ष्य समझते हैं और जिसके सिवा शेषकी वास्तविक सत्ता नहीं मानते, वह सर्वसाधारण दार्शनिक व्यवहारका न तो जीव ही है और न ईश्वर ही। इसीसे वेदान्तको हमने बीचमें माना है। इतना ही क्यों? नैयायिकोंके

ईश्वरको तो वेदान्ती भी अन्तमें वैसे ही अस्वीकार करते हैं जैसे अन्य विपक्षी। इस तरह स्पष्ट है कि ईश्वरवादके बारेमें हिन्दू-दर्शनोंकी तराजूका पलड़ा दोनों ही ओर है।

एक बात और। ईश्वर-सत्ताके विपक्षियोंको दो दलोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक तो वे हैं, जो एकदम किसी भी रूपमें उसे माननेको तैयार नहीं, उसे असाम्य कहते हैं और इस श्रेणीमें मीमांसक, चार्वाक तथा आजकलके हेकल और निट्शे आदिको ले सकते हैं। लेकिन उनकी एक श्रेणी और भी है जिसका कहना है कि यदि ईश्वर हो भी तो उसके जाननेका कोई साधन हमारे पास न होनेके कारण हम उसे जान नहीं सकते—वह अज्ञेय है। सांख्य-सूर्योंके भाष्यकार विज्ञानभिक्षुके मतसे सांख्य-दर्शन इसी कोटिका है जैसा कि उसके 'ईश्वरसिद्धेः' आदि सूत्रोंके भाष्यसे सिद्ध है। हालाँकि दूसरे लोग सांख्यको भी प्रथम श्रेणीमें ही मानते हैं। वर्तमान युगके हर्बर्ट स्पेन्सर और ह्यूम आदिका अज्ञेयवादका सिद्धान्त भी उसी प्रकारका है। और यदि हम अपने—अतएव संसारभरके—प्राचीनतम ग्रन्थ—क्योंकि अब तो सभी मानते हैं कि बुनियातमें ऋग्वेदसे प्राचीन कोई ग्रन्थ नहीं है—ऋग्वेदको देखते हैं तो उसमें भी ईश्वरकी इस अज्ञेयताका स्पष्ट आभास पाया जाता है। उसके 'नास-दासीव' इत्यादि नासदीय सूक्तके निम्नलिखित दो मन्त्रोंके पढ़नेसे यह बात ध्यानमें आ जाती है। वे मन्त्र हैं—

को अद्वा वेद क इह प्रवोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जने-
नाथा का वेद यत आबभूव॥
इयं विसृष्टियत आबभूव
यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याप्यक्षः परमेन्मोमन्
सो अंग यदि वा न वेद॥

इन दो मन्त्रोंमें पहलेमें कहा गया है कि इस सृष्टिके मूलतत्त्व उस विशिष्ट-चेतन (ईश्वर) के जाननेका कोई साधन है ही नहीं। अतएव उसे कौन जान सकता है? दूसरे मन्त्रमें कहा गया है कि यद्यपि उसके

जाननेके साधन नहीं हैं तथापि वह स्वयमेव अपनेको जान सकता है। अथवा नहीं भी जान सकता है। विस्तारभयसे इन मन्त्रोंके बारेमें हम अधिकन लिख केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि इनमें जो ईश्वरीय सत्ताके मानने-नमाननेका विचार है वह आजकलकी दार्शनिक रीतिका है, अतएव अत्यन्त युक्तियुक्त है जैसा कि उसके 'अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेन' तथा 'सो अंग यदि वा न वेद' से स्पष्ट है। अतएव आजकल अज्ञेयतावादी द्वाय आदि तथा अमान्यतावादी हेकल आदि और उनके अनुयायियोंकी बाढ़ देखकर हमें चौंकाया या बेचैन न होना चाहिये, क्योंकि यह कोई नयी बात नहीं है।

यदि ईश्वर इन्द्रियग्राह्य होता तब शायद उसके बारेमें ऐसा विवाद नहीं होता। हालांकि प्रत्यक्ष पदार्थोंके बारेमें भी विवाद होता ही है और यह प्रश्न होता है कि जब आँखोंके दोषसे खेत शङ्ख भी पीछा प्रतीत होता है तब हड्डीकी पीतिमा भी क्या वस्तु सत्ता रखती है या वैसी ही है? फिर भी वे बहुत दूरकी बातें हैं साधारणतः प्रत्यक्षमें विवाद नहीं होता। हाँ, अनुमेय पदार्थोंमें तो विवाद होता ही है। यही कारण है कि ईश्वरीय-सत्ता बहुत बड़े विवादका विषय है। उसी विवादका थोड़ा बहुत दिग्दर्शन हो जानेसे इस विषयकी गम्भीरताका पता लग सकता है। साधारणतया अनीश्वरवादियोंको दो दलोंमें विभक्त किया जा सकता है। एक तो दल ऐसीका है जो एकमात्र प्रत्यक्ष-प्रमाणके माननेवाले हैं। इसीलिये वे ईश्वरको स्वभावतः स्वीकार नहीं कर सकते। दूसरे दलमें ऐसे लोग हैं जो अनुमानको भी यद्यपि मानते और अनुमेय पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करते हैं, फिर भी ईश्वरीय सत्ताका माननेमें असमर्थ हैं। पहले दलमें अग्रणी चार्वाक हैं और दूसरेमें सांख्य, मीमांसक और हेकल आदि। प्रत्यक्ष नहीं होनेसे उसकी सत्ता न माननेवालोंके मतमें सबसे बड़ा और स्थूल दोष यह है कि वे अपने वंशके मूलपुरुष या अपनेसे दस-पाँच पीढ़ी पूर्वके किसी पुरुषकी सत्ता मान नहीं सकते। क्योंकि उस पुरुषकी प्रत्यक्ष करनेका कोई भी साधन नहीं। वह तो केवल अनुमानगम्य है परन्तु प्रत्यक्ष न होनेसे ही उस पुरुषकी सत्ताका अपलाप नहीं हो सकता। यदि कोई मूल-पुरुष न था तो वे हजरत जन्मे कहाँसे? इस तरह जो अपने ही पूर्वजोंकी सत्ता नहीं मान सकता वह

संसारके पूर्वज (ईश्वर) की सत्ता न माने तो आश्चर्य ही क्या?

लेकिन जो अनीश्वरवादी अनुमान-प्रमाणको भी मानते हैं, न कि केवल प्रत्यक्षको ही, उनकी दलीलें अवश्य ही निस्सार नहीं होती हैं। फलतः ईश्वरवादियोंकी जबर्दस्त भिन्नता उन्हींके साथ होती है। सांख्योंने पुरुष (जीव) और प्रकृतिको अनुमानगम्य ही माना है और मीमांसकोंका स्वर्ग, परलोक या अदृष्ट भी अनुमेय ही है। इसी प्रकार वर्तमान विज्ञानके कट्टर भक्त हेकल प्रभृतिके ईथर (Ether) और कल्लरस (Protoplasm) को वस्तुगत्या अनुमेय पदार्थ ही समझना चाहिये। चुम्बककी आकर्षणशक्ति दूरस्थ लोहेपर जब काम करती है तो चुम्बकसे निकलकर लोहेमें जानेके लिये बीचमें उसका कोई आधार चाहिये, क्योंकि कोई शक्ति निराधार टिक नहीं सकती! बस, वही आधार-द्रव्य वैज्ञानिकोंका ईथर है। एक पदार्थसे दूसरेमें विद्युत-शक्ति आदिके गमनागमनका आधार भी वही है। यद्यपि वैज्ञानिक उस ईथरको सर्वव्यापी, गति-शक्तिका अनन्त भण्डार और निष्क्रिय तथा अखण्ड मानते हैं, फिर भी उसका वास्तविक रूप क्या है यह बात अभीतक विवादग्रस्त ही है और इसकी सर्वव्यापिता आदि केवल अनुमानसिद्ध ही हैं। इसी प्रकार कल्लरस (Protoplasm) की भी बात है। वैज्ञानिक इतना ही कह सके हैं कि वह कार्बन, ऑक्सीजन, नाइट्रोजन और हाईड्रोजनके विलक्षण मेलसे बना है जिसमें जल, गन्धक आदिका भी अंश है। मगर वह विलक्षण संयोग कैसा है इसका पता उन्हें नहीं है, नहीं तो अपनी प्रयोगशालामें उसी विलक्षण संमिश्रणके द्वारा कल्लरस बनाकर वे लोग भी सजीव सृष्टि कर लेते। अतएव उनकी यह कल्पना भी केवल अनुमानमात्र ही है। इसप्रकार केवल अनुमानके ही बलपर लम्बी उड़ान भरनेवाले वैज्ञानिक भी ईश्वरकी कल्पनासे घबराकर भयभीत हो जाते हैं। यदि यह कहा जाय कि उनका अखण्ड एकरस ईथर (Ether) ईश्वर या ब्रह्माका ही नामान्तर है तो कोई अशुक्ति नहीं। क्योंकि दोनों ही अनन्त शक्तिके भण्डार माने गये हैं और जिसप्रकार ब्रह्मवादी उसकी शक्ति या माया (प्रकृति) का ही परिणाम संसारको मानते हैं उसी प्रकार वैज्ञानिक भी उसी शक्तिका ही रूपान्तर-द्रव्य मानते हैं! ऐसी विलक्षण समताके रहते हुए भी उन्हें ईश्वरमें विवाद है! इसी तरह जब बालूसे तेल

यही पैदा होता तो फिर निर्जीवसे सृष्टिके आरम्भमें या कभी भी हेकड़का सजीव पदार्थ कैसे उत्पन्न होगा ? यदि दो परस्परविरोधी पदार्थोंका उपादान-उपादेय (कार्य-कारण) भाव माना जाय तो नीमके बीजसे आमकी या सभीसे सबकी उत्पत्ति क्यों न मानी जाय ? ऐसी बे-सिर-पैरकी कल्पना करनेवाले वैज्ञानिक यदि जीवात्मा या ईश्वरके माननेमें नाक-भौं सिकोड़ते हैं तो यह उनकी छोछा हो ठहरी ! अतएव निराधार Protoplasm आदिकी कल्पनाके लिये भी हारकर उन्हें यही मानना होगा कि चेतना इस जगत्के प्रत्येक अणुमें व्याप्त या ओतप्रोत है और उन्हीं चेतनाविशिष्ट अणुओंके सम्मिश्रणसे कलसरसकी प्रक्रियाद्वारा सजीव सृष्टिका विकास होता है। इस तरह सर्वत्र व्याप्त चेतनरूप ईश्वर (ब्रह्म) को तो उन्होंने स्वीकार कर ही लिया, चाहे इस बातको स्पष्टतया वे न कहें !

ईश्वरवादियोंने ईश्वरकी कल्पनामें बे-सिर-पैरकी उद्धान्तसे काम न लेकर बहुत ही युक्तियुक्त एवं वैज्ञानिक सरणीका अवलम्बन किया है। एक मकान, घड़ी या पुस्तक-को देखते ही बिना आगा-पीछाके एकाएक यह निश्चय हो जाता है कि हो-न-हो इन सभी पदार्थोंके मूलमें कोई बुद्धिपूर्वक कार्य करनेवाला चतुर चेतन शिल्पी है। इसके विपरीत दूसरा भाव कभी भी किसीके भी मनमें उद्भूत नहीं होता। इसी प्रकार घड़ीकी चाल (क्रिया) को देखकर भी यही खयाल होता है कि इस निर्जीव पदार्थकी क्रियाके मूलमें भी चेतन शिल्पीका ही हाथ है। एक बहुत बड़े कारखानेमें जहाँ सैकड़ों प्रकारके कल-पुर्जे अलग-अलग काम करते हैं, जानेपर पता लगता है कि या तो उन सभीकी क्रियाके मूलमें कोई-न-कोई चेतन सञ्चालक मौजूद है, या अगर सभीको चलानेवाली कोई विद्युच्छक्ति है तो उस शक्तिके मूलमें ही चेतन शिल्पी वर्तमान है। इसी तरह इस ब्रह्माण्डरूपी भव्य भवन, बड़ी जबर्दस्त घड़ी या बड़े कारखानेको देखकर जिसकी रचना निरासी है और ब्रह्म, तारे आदिकी चाल (क्रिया) बराबर जारी है, सहसा यह ध्यान प्राचीनोंको हो आया कि इसके मूलमें कोई असाधारण चातुरी एवं सामर्थ्यवाला चेतन शिल्पी मौजूद है। बस, उसी शिल्पीका नाम उन्होंने ईश्वर रख दिया। जिस तरह भूम और अग्निकी व्याप्ति (नियम—Law Inseparable Connexion) देखकर भूमसे अग्निका अनुमान होता है, ठीक ऐसी ही व्याप्ति यहाँ भी है।

अतएव यह अनुमान निर्दोष तथा विस्फुल्ल हो बैसा ही स्वाभाविक है जैसा कि धूर्तसे आगका अनुमान।

इस व्याप्तिमें बहुत-से अनीश्वरवादियोंने व्यभिचार या दोष (Fallacy) दिखानेका यत्न किया है। उनका कहना है कि जब अग्नि-सम्पर्कसे बारूदमें भड़का होता है और वह एक तरहकी क्रिया ही है और जब चुम्बकके संसर्गसे लोहेमें क्रिया होती है—वह चलने लगता है, हालाँकि आग और बारूद तथा चुम्बक एवं लोहा सभी अचेतन ही हैं। तब यह कैसे माना जाय कि अचेतनकी क्रियाका मूलकारण साक्षात् या परम्परया चेतन ही होता है ? लेकिन ऐसा कहनेवाले यह भूल जाते हैं कि बारूद या लोहेकी क्रियाएँ अनियमित एवं आकस्मिक हैं। इसके विपरीत ईश्वरवादियोंने जिन क्रियाओंकी व्याप्तिका आधार माना है वे नियमित और सदा होनेवाली हैं। यदि हम चाहें कि लोहेकी क्रिया भी उसी तरह सदा होती रहे जिसप्रकार हमारे हाथ-पाँव या चन्द्र-नारे आदि तथा अणुओंकी, तो यहाँ भी मध्यस्थ चेतनकी आवश्यकता पड़ेगी, जो या तो बराबर लोहेको चुम्बकमें सटनेके बाद हटा दिया करे या दूसरी ओर एक दूसरा बड़ा चुम्बक लगा दिया करे या ऐसा ही कोई प्रबन्ध करे। बारूदके भड़कनेके बारेमें भी बार-बार आग और बारूदके संयोगके लिये चेतन-प्राणी अपेक्षित होगा।

इतना ही नहीं, दो जब पदार्थोंके संसर्गसे जो क्रिया होती है वह एक ही प्रकारकी होती है। जब चुम्बक लोहे-को अपनी ओर खींचता है तो यह सम्भव नहीं कि ठीक उसी समय उसको अपनी ओरसे अलग करे। यही नहीं, दूसरे समय भी वह अपनेसे उसे अलग नहीं कर सकता। मगर सृष्टिके पदार्थोंकी क्रियामें यह बात नहीं है। जो अणु आपसमें अपनी ही क्रियासे मिलकर किसी द्रव्यकी रचना करते हैं वही कालांतरमें जुदा होकर उसका नाश भी कर देते हैं। इसप्रकार सृष्टिकी उत्पत्ति और विनाशका क्रम जारी है। यदि उनमें मिलनेकी शक्ति मानी जाय तो जुदाईकी शक्ति न रहेगी और पृथक् होनेकी शक्ति मानने-पर मेलकी शक्ति असम्भव है। दो विरुद्ध शक्तियोंका एक ही जब-पदार्थमें बराबर रहना अराम्भव है। समय-भेदसे दोनों विरुद्ध शक्तियोंका एकमें समावेश हो नहीं सकता। क्योंकि जब एक शक्तिके अस्तित्वके समय दूसरी उसमें न थी तो पीछे जायी कहाँसे ? क्योंकि जहाँ जो चीज सूक्ष्म या

शक्तिरूपसे भी नहीं रहती वहाँ वह कभी भी व्यक्त नहीं हो सकती जैसे बालूसे तेल कभी नहीं निकलता। जड़-पदार्थोंका काम तो अन्धेका-सा है। वह किसी नियमके सहारे चला करते हैं। उनमें दो विरोधी नियम स्वयं-सिद्धरूपसे रह नहीं सकते। मगर चेतनके लिये यह बात लागू नहीं है। वह तो इच्छा या उद्देश्य-शक्तिके बलसे सब कुछ कर सकता है और जहाँको भी चाहे जैसे नचा सकता है। अतएव जड़-सृष्टिकी क्रियाके मूलमें चेतना-विशिष्ट सञ्चालक अपेक्षित है। नहीं तो समय-समयपर विरोधी क्रियाएँ उसमें हो नहीं सकतीं।

रचनाके बारेमें हेकलने अपनी 'विश्वपहेली' (Riddle of the universe) नामक पुस्तकमें लिखा है कि यदि यह सृष्टि किसी चेतनकी रची होती तो वह बहुत-सी व्यर्थकी चीजें क्यों बनाता? दृष्टान्तके लिये पुरुषोंके स्नान-चिह्न आदिको उसने लिखा है। उसके मतसे जड़ प्रकृतिके बारेमें तो यह प्रश्न हो नहीं सकता। कारण, वह तो रचनाके प्रयोजनका विचार नहीं कर सकती। परन्तु ऐसा लिखते समय शायद उसे याद नहीं रहा कि जड़के तो सभी काम किसी व्यवस्थित नियमके ही अनुसार चलते हैं। उसमें जरा भी फेरफार होनेसे सारी क्रिया ही चौपट हो जाती है। रेलकी पटरी छोड़ते ही इंजिन नीचे जा गिरता है। मगर चेतनका काम तो किसी नियममें बाँधा नहीं है। अतएव इच्छा होनेपर उसमें उलट-फेर भी हो सकता है। ऐसी दशामें तो जड़वादियोंके लिये ही उन स्तनों आदिकी उत्पत्तिका प्रयोजन बताना अपरिहार्य हो जाता है, न कि ईश्वरवादियोंके लिये। यह तो एक बात हुई। वस्तुगत्या तो विज्ञान अभी शीशवाक्स्थामें ही है और उसे अभी सृष्टिकी बहुत-सी पहेलियाँ सुलझानी हैं। ऐसी दशामें जब वह प्रौढ़ होगा तो शायद पुरुषोंके स्नानचिह्नों आदिका भी उपयोग मालूम हो जाय। अभी अधीर होनेकी कोई बात नहीं। उन स्तनोंको व्यर्थ कहना वैसा ही है जैसा आरम-तत्त्व-विवेकमें उद्द्यनाचार्यके भूताविष्ट मनुष्यका दूरसे हाथी देखकर पहले उसके बारेमें ऊल-जलूल तर्क करना और अन्तमें यह कह देना कि यह कुछ नहीं है! सृष्टिके रहस्योंकी अनभिज्ञता तो हेकलने अपनी उक्त पुस्तकके अन्तमें उपसंहार करते हुए स्वयं स्वीकार की है और एक प्रकारमें ईश्वरवादका समर्थन ही किया है। जैसा कि 'प्रकृति-परिज्ञानकी उन्नति' होनेसे 'इधर जगत्-सम्बन्धी

बहुत-से गुप्त भेद खुल गये हैं। अब केवल परमतत्त्वका भारी भेद रह गया है। वह सत्ता कैसी है जिसे वैज्ञानिक विश्व या प्रकृति कहते हैं, दार्शनिक परमतत्त्व कहते हैं और भक्तजन ईश्वर या कर्ता कहते हैं? क्या हम कह सकते हैं कि आधुनिक विज्ञानकी अपूर्व उन्नतिसे इस 'परमतत्त्व' का भेद खुल गया है, या कुछ खुलनेवाला है? इस अन्तिम प्रश्नके विषयमें यही कहना पड़ता है कि यह आज भी उसी प्रकार बना हुआ है जिसप्रकार दार्ष्टिकी हजार वर्ष पहलेके तत्त्वज्ञोंके सामने था। बल्कि यों कहना चाहिये कि इस परमतत्त्वके अनेकानेक व्यक्त रूपोंका जितना ही अधिक ज्ञान हमें होता जाता है उसका रहस्य हमारे लिये उतना ही अभेद्य और अपार होता जाता है। इस नाम-रूपारमक दृश्य-जगत्की ओटमें वस्तुतः क्या है यह हम न जानते हैं और न जान सकते हैं। पर, इस 'वस्तुतः' के फेरमें हम क्यों पड़ने जायँ जब कि हमारे पास उसके जाननेका कोई साधन नहीं, जब कि यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसका अस्तित्वतक है या नहीं।'

ऊपरके उद्धरणसे सिद्ध है कि अन्तमें हेकल भी, जिसे अनीश्वरवादियोंका आचार्य कहा जाता है, ईश्वरकी अमान्यताको छोड़कर अश्रेयताका ही पक्षपाती हो जाता है, उसे अपनी पट्टीके बाहरकी वस्तु समझता है और इस सृष्टिके रहस्योंके सम्बन्धमें आधुनिक विज्ञानको अबोध बालककी ही तरह समझता है जिसका ज्ञान बहुत ही परिमित है। हमारे विचारसे तो कोई भी वस्तुगत्या अनीश्वरवादी हो ही नहीं सकता जैसा कि हेकल-जैसे कट्टर जड़वादी कहे जानेवालेके उक्त कथनसे पता लगता है। किसी भी पदार्थको हम तीन ही दृष्टियोंसे देखते हैं—मित्रदृष्टि, शत्रुदृष्टि और उदासीनदृष्टिसे। इनमें भी यद्यपि उदासीन पुरुष उस पदार्थके अत्यन्त निकट नहीं पहुँचता तथापि यह नहीं कहा जाता कि एकदम पहुँचता ही नहीं। फिर भी मित्र और शत्रु तो उस पदार्थके अत्यन्त निकट पहुँच ही जाते हैं। बल्कि यों कहना चाहिये कि पक्का प्रेमी या मित्र भी शायद उतना निकट नहीं पहुँचता जितना निकट पक्का या कट्टर शत्रु पहुँचता है। मित्र या प्रेमी तो शायद कभी मूल भी जाता है, मगर सच्चा शत्रु तो निद्राकालमें भी नहीं मूलता। इसीलिये मानना पड़ता है कि यदि आस्तिकजन भक्तके रूपमें उसे याद करते हैं, जपते हैं, नहीं मूलते हैं, तो नास्तिकजन शत्रुके रूपमें उसे भक्तोंकी

ही तरह, बसिक उनसे भी ज्यादा याद करते, जपते और नहीं भूलते हैं और यह मानी हुई बात है कि ईश्वर तो उसीका निकटवर्ती है, उसे ही सद्गति देता है जो उसे निरन्तर याद करे, कभी न भूले। उसके दरबारमें तो आस्तिक-नास्तिकका विभाग (Label) नहीं है। यह विभाग तो मनुष्योंका बनाया हुआ है। वह तो मनकी प्रवृत्ति, मनोवृत्ति, मनःप्रवाह या लगनको देखता है और वह लगन मन्दिर, मस्जिद आदिमें जाने, कण्ठी-माला, गेरुआ पहनने, आँख-नाक मूँदने या आस्तिक कहानेमें नहीं है। वह तो मनका धर्म है, हृदयका न्यापार है, न कि शरीरका धर्म। इसीलिये इतिहास-पुराणोंके आख्यानोंसे पता लगता है कि यदि भुव, प्रह्लादादि भक्तोंको भगवान् ने सद्गति दी तो रावण, कंस, हिरण्यकशिपु आदिको दुर्गति न देकर परमलोक ही प्रदान किया। यदि भक्ति या भक्त-के वही लक्षण होते जिन्हें हमने मान रक्खा है और यदि एकमात्र भक्तोंको ही भगवान् सद्गति देते, तो फिर भगवद्बिरोधियों (नास्तिकोंके भी दादाओं) दानवों और राक्षसोंका कल्याण कैसे हुआ रहता जिसका उल्लेख धर्म-ग्रन्थोंमें पाया जाता है? हमारे जानते उस उल्लेखका यही रहस्य है। अतएव हमारे विचारसे ईश्वरवादियोंको—सबसे आस्तिकोंको—सबसे निरीश्वरवादियोंमें भयभीत होनेका कोई कारण नहीं है, दोनोंके मार्ग दो होनेपर भी लक्ष्य और पहुँच एक ही है, जैसा कि 'यं शंवाः समुपासते शिव इति' इत्यादि वचनोंसे भी सिद्ध है और पुष्पदन्ताचार्यके 'नृणामेको गण्यस्त्वमसि पयसासमर्णव इव' का भी तात्पर्य

है। हाँ, यदि भयका कोई कारण है तो केवल यही कि ईश्वरवादी और अनिश्चरवादी दोनों सबे और पक्के न होकर बनावटी और दिखावटी हों। नामधारी आस्तिक और नामधारी नास्तिक दोनों ही समानरूपमें भगवद्-द्रोही और धार्मिकोंके लिये भयके कारण हैं? अतएव उन्हींसे बचना तथा सजग रहना चाहिये। इसीलिये ईश्वरवादका अद्वितीय ग्रन्थ 'न्यायकुसुमाञ्जलि' लिखकर उसके अन्तमें उपसंहार करते हुए उद्‌यनाचार्य लिखते हैं कि—

इत्येवं श्रुतिनीतिसम्प्रवर्जलैर्भूयोभिराक्षाक्षिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः ।
किन्तु प्रस्तुत विप्रतीपविप्रयोऽप्युच्चैर्भवेच्चिन्तकाः
कालं कारुणिक त्वयैव कृपया ते भावनीया नराः ॥

इसका भावार्थ यह है कि हे भगवन् ! हमने आपके विरोधियों (नास्तिकों) के अत्यन्त मलिन हृदयोंको बोन-के लिये इस तरहके तर्क, युक्ति और आगम-प्रमाण-स्वरूप निर्मल सोतेका जल यद्यपि तैयार किया है, तथापि इतनेपर भी यदि उनके अत्यन्त मलिन हृदयोंमें पवित्रता तथा कोमलता न आकर आपके लिये स्थान नहीं मिलता, तो इस यही कहेंगे कि वे वज्रहृदय हैं। फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि वे नास्तिक लोग भी आपके प्रचण्ड शत्रु बनकर आपका चिन्तन (आपकी याद) बहुत अच्छी तरह करते ही हैं। साथ ही, आप ठहरे कृपालु। अतएव समय पाकर उन लोगोंका भी उद्धार आपको कृपा करके करना ही होगा।



पार उतारो

म्हनि पार उतारोजी, धनि निज भक्तनकी आन ।
हमरे अखगुन नेक न चितवो, अपनो ही करि जान ॥ १ ॥
काम क्रोध मद लोभ मोह बस, भूल्यौ पद-निर्वाण ।
अब तो सरन गही चरननकी मत वीजो मोहि जान ॥ २ ॥
लख चौरासी भरमत भरमत नेक न परी पिछान ।
भव-सागरमें बह्यौ जात हौं रखिये श्याम सुजान ॥ ३ ॥
हौं तो कुटिल अधम अपराधी नहि सुमिरयो तेरो नाम ।
'नरसी' के प्रभु अधम-उधारन गावत वेद-पुरान ॥ ४ ॥

—नरसी मेहताजी

प्रभुका निवास

(लेखक—प्रो० श्रीजयेन्द्रराव भगवानलाल दूरकाळ एम० ए०)



शुका नियन्ता कोई है या नहीं, इस प्रश्न-का संक्षेपमें ही समाधान करना है। क्योंकि ईश्वरका अस्तित्व तर्क या प्रत्यक्ष-ज्ञानका नहीं परन्तु अपरोक्ष-ज्ञानका विषय है। इसकी ओर जिसकी दृष्टि है, उसको तो सभी जगह इसके दर्शन होते हैं। उसको तो बस—

जिस तरफ देखूँ उधर ही दरस हो श्रीरामका ।

आँख भी मूढ़ तो दीखे मुसकमल धनश्यामका ॥

परन्तु जिसकी दृष्टि दूसरी ओर फँसी हुई है, उसको वह न दीखे तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। जिसको इस सादे तीन हाथके साँचेमें प्रभु नहीं दिखलायी देता, उसको खोजनेपर दूसरी जगह भी शायद ही दिखलायी पड़े। हिरण्यकशिपुने तीनों भुवनोंका छान झाँका, उसे कहीं प्रभु नहीं मिले, क्योंकि उसने उन्हें अपने अन्तरमें देखनेका प्रयत्न नहीं किया। इस विषयमें हमसे कोई विवाद करना चाहे तो हम यही कहेंगे कि 'माई ! प्रभु किसी दूसरेके दिखलानेसे दीख जाय, ऐसी बात नहीं है। वह किसी समय तुम्हींको दीख पड़ेगा।' परन्तु वस्तुतः ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें शंका करनेवाले मनुष्य थोड़े ही होते हैं। अधिकांश भ्रमर 'अपने' 'पराये' परमेश्वरको लेकर होते हैं। किसी एक परमेश्वरको लेकर नहीं, अतएव वह सारी गड़बड़ 'मेरे-तेरे' की है, परमेश्वरकी नहीं।

छन्दोंको भी वेद-वृक्षके पत्ते कहा गया है। कहा है कि छन्दरूपी पत्तोंवाले वेद-वृक्षको जो जानता है उसको वेदविव समझना चाहिये। हमें प्रतीत होता है कि संसार-रूपी महावृक्षके छन्दोंको जो जानता है उसको भी पण्डित कहना चाहिये। यह तो दूरकी बात है, एक पत्तेके अन्दर भरे हुए प्रकाशको भी हम यथार्थमें देखें तो उसमें लीन हो जायँ। यह अतिशयोक्ति नहीं है। पीपलके पत्तेको हाथमें लेकर देखिये, उसमें कैसी ताजगी है, कैसा रंग है, कैसा जीवन, कितनी अकक कला और कैसी अप्रमेयता दृष्टिगोचर होती है ? उसमें जो सुन्दर पीली-पीली नलें दीखती हैं उनको किसने बनाया ? उसमें जो रस बहता है उसे कौन बहाता है ? उसके अणु-अणुमें जो जीवन भरा

है, वह कहाँसे आया ? ये महान् प्रश्न क्या महान् नास्तिक-को भी आस्तिक बना देनेकायक नहीं हैं ? हमलोग जीते हैं और जीनेमें ही सराबोर रहते हैं परन्तु हमारे इस जीवनको अस्तित्व किसी दूसरेसे मिला है, इस समय भी यह जीवन हमारे हाथमें नहीं है और किसी दूसरी सत्ताकी घटनासे ही यह जीवन किसी समय समाप्त हो जायगा, इस वस्तु-स्थितिका यदि हमलोगोंको भलीभाँति ज्ञान हो जाय तो हमारे जीवनकी उस नियामक सत्ताको जो एक जड़-तत्व कहता है उसे हमलोग अपना अपमान करनेवाला माने बिना नहीं रह सकते। पत्तेमें जीवन छोटे रूपमें व्यक्त होता है और मनुष्यमें अधिक विविधरूपमें, परन्तु दोनोंके जीवनकी महिमा एक ही है। जीवनके अन्दर रहनेवाली चेतना यदि हमें प्रभुके प्रकाशपदका दर्शन नहीं करायेगी तो और कौन करावायेगा ?

जब हम देखते हैं कि अपनी दृष्टिरेखाके अनुसार सृष्टि-का रूप बदलता है, पदार्थ-विज्ञानकी चाल हृदय-ने-उधर घूम जाती है। जो नहीं है वह शृंगारिकाके जल्की तरह दीख पड़ता है और जो है वह दिनमें तारोंकी तरह नहीं दीखता, तब हमें ऐसा प्रतीत होता है मानो वेदान्तका दृष्टि-सृष्टिवाद सोलहों आने सखा है।

गैलीलियोके पहलेका यूरोप आजके यूरोपके विपरीत आजके ही जितने आग्रहसे सूर्यको पृथ्वीके आसपास फिरनेवाला मानता था। पाँच सौ वर्ष पहले हमारे पूर्वजों-को धर्म-पुनर्कोंकी कोई भी बात असम्भव नहीं दीखती थी, परन्तु कदाचित् उनको यह बात कि, दो हजार योजनाकी दूरीपर बैठे आदमी दो ही चार क्षणमें एक दूसरेसे बात-चीत कर सकते हैं, असम्भव लगती। सृष्टिका दर्शन बहुत कुछ हमारी दृष्टिपर निर्भर करता है; इतना ही नहीं, एक प्रत्यक्ष या अपरोक्ष अनुभव बुद्धिजन्य या तर्कजन्य अनेकों सिद्धान्तोंको छिन्न-भिन्न कर डालता है। ऐतिहासिक सिद्धान्तोंके दृष्टि-बिन्दु बदलकर जाते हैं। वैज्ञानिक सिद्धान्तोंमें तो समय-समयपर परिवर्तन होते ही रहते हैं। अच्छी बात है कि हमारे विज्ञानपूजकोंने इसका एक यह स्पष्टीकरण कर रक्खा है कि सिद्धान्तोंका परिवर्तन 'वैज्ञानिक

प्रगति' है। मनुष्योंके स्नेह-मन्दिर और पूजा-स्थान भी बढा करते हैं, फिर औरोंका तो कहना ही क्या है ?

अमूर्तको मूर्तिमान् बनाना, मानव-हृदयका एक स्वयम्भू अभिलाष है। सौन्दर्य, शृंगार, वैभव ये सब प्रभुमें पूर्णरूपसे विराजते हैं, परन्तु उनका कल्पना-चित्र स्थिर नहीं रहता। अवश्य ही मानसिक कल्पनामें विशालता अधिक है परन्तु उसमें चञ्चलता भी बहुत है। मूर्तिके प्रत्यक्ष दर्शन ध्यानको सुलभ करते हैं और उसका मनोहारी सौन्दर्य, उसके विशाल कृपापूर्ण नेत्र और सुन्दर नासिका, आब-दर्शनसे स्मृतिमें स्थिर हो जाते हैं। परन्तु सौन्दर्य तो केवल उसकी मायाका विलास है। वस्तुतः सौम्य और असौम्य सर्वरूपोंमें भगवती माया ही विहरती है। रूप केवल विकारी ही नहीं, वह कल्पनात्मक और मायामूलक है, इस बातके जाननेवालेको बम्बईके माधव-बागके मन्दिरकी श्रीलक्ष्मीनारायणजीकी श्वेत मूर्ति और श्रीजगन्नाथरायजीकी काष्ठमयी कृष्णमूर्तिमें एक ही समान दिव्य भाव और पुण्य-दर्शन प्रकट करनेमें कोई व्यवधान नहीं आता। इसी सत्यकी झाँकीसे पति कान्तके रूपमें सम्पूर्ण कमनीयताका आरोपण कर सकता है और करता है। प्रभुके जगत्की तरह, यह मानव-जगत् भी सिर्फ उसकी भावनाकी-संस्कारकी-मनोदशाकी प्रत्यक्ष मूर्ति है। हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि जिसप्रकार आज वैज्ञानिक लोग रंगका केवल दृष्टि-भेदका ही कार्यरूप मानते हैं, उसी प्रकार आगे चञ्चल स्थूल-द्रव्यको भी मानसिक दृष्टि-भेदका परिणामरूप मानने लगेंगे। स्थूलत्वका ज्ञान करानेवाला स्पर्श, रूपका ज्ञान करानेवाले चक्षुसे विशेष नहीं है।

परन्तु अप्रमेय, अचिन्त्य, अवर्णनीय और प्रायः अप्राप्य प्रभुकी प्रत्यक्ष मूर्तिमें स्थित पीयूषका नेत्रोंसे पान करना, उसके चरण-स्पर्शसे, उसमें केन्द्रित हुई प्रभुकी महिमाके शक्तिपातसे रोमाञ्चका अनुभव करना;

प्रभुके चरणारविन्दमें जगत्का सम्यक् दर्शन या जीवनका सिंहावलोकन करते-करते प्रभुकी लालाकी अकलताका अनुभव करना और मानो जीवनके एक धन्य क्षणमें समग्र जीवनके सम्बोधका अनुभव करते हुए हर्षके या विषादके या दोनोंके आँसुओंसे गदगद होकर द्रवित-हृदयमें श्रीमुखके दर्शन करना, यह कितना बड़ा सौभाग्य है ? इस दर्शनमें असीम अशुभाशय धुल जाते हैं। अनेकों पुण्योंका समुदाय प्रकट होता है एवं भावी जीवनकी कसौटीके कल्पनके और काळमें विलय होनेके गम्भीर क्षणोंकी शाश्वत शान्तिके बीज हृदयमें विराजित होते हैं। जिनको उस प्रभुके अहर्निश दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त है, उनको धन्य है। उसकी महत्ता और सर्वव्यापकताको समझे बिना भी उसके दर्शन करनेवालेके जीवनको धन्य है। क्योंकि समझना और न समझना क्या है ? समझने-वाला समझा ही नहीं और समझमें आ जाय ऐसा वह तत्त्व ही कहाँ है ? जो मूक बनकर प्रभुके दर्शन करता है और दर्शनमें ही लहीन हो जाता है, उसीने जाना है। जानना अर्थात् भेद-भाव समझना। अन्य वस्तुओंमें स्पष्टीकरण करना। परन्तु प्रभु तो व्यवहारके परस्पर भेद-दर्शनसे भिन्न हैं। वह तो इस विश्वसे दशांगुल आगे ही खड़े हैं। वह यहाँ भी खड़े हैं, वहाँ भी खड़े हैं। और कहाँ नहीं हैं ? वर्ण दृष्टिके आधारपर स्थित नहीं हैं, हमारे राग और द्वेष भी दृष्टि-भेदके ही विपरिणामरूप हैं। इसीलिये भक्तोंको दूसरा दर्शन ही नहीं होता। वे तो बस यही अनुभव करते हैं कि 'हमारा प्यारा ही सर्वत्र बस रहा है।' ज्ञानसे एकत्वका दर्शन करनेवालेको शोक नहीं होता, परन्तु भक्तिसे एकत्वका अनुभव करनेवाले महात्माको तो शोभ भी नहीं होता, क्योंकि उमें तो सर्वत्र प्रभु श्रीबालकृष्णकी माधुरी छवि ही दीखती है और उनकी बाल-बेष्टाएँ उसके हृदय-साम्राज्यको हिलाती नहीं, परन्तु हँसाती हैं। अथवा हँसाती भी नहीं, केवल लीलाका आनन्द प्रदान करती हैं।

लाज रखो

मैं नाहीं, कछु हौं नहीं कछु आहि न मोरा ।

औसर, लज्जा राखि लेहु, सदन जन तोरा ॥

—सदनाजी कसाई

ब्रह्मकी अखण्ड सत्ता

(लेखक—स्वामीजी श्रीशिवानन्दजी)



इस अर्थात् ईश्वरके स्वरूपका निर्वचन नहीं हो सकता। हाँ, उसका संकेतरूपसे निर्देश किया जा सकता है। सत्-चित्-आनन्द अर्थात् नित्य-सत्ता, नित्य-ज्ञान एवं नित्य-आनन्द ही उसका स्वरूप है। ब्रह्म अर्थात् ईश्वरको उपकरणों-से सिद्ध नहीं किया जा सकता। किन्तु कतिपय अनुभवसिद्ध प्रमाणोंसे उसकी सत्ताका अनुमान किया जा सकता है, जिनका उल्लेख क्रमशः नीचे किया जाता है—

१—समस्त भूतप्राणियोंकी अन्तरात्माके रूपमें ब्रह्मकी सत्ता सभीके अनुभवका विषय है। क्योंकि प्रत्येक प्राणी-को अपनी सत्ताका बोध होता है, उसके विचारमें यह बात कभी नहीं आती कि 'मैं नहीं हूँ।' यदि किसीको अपनी सत्ताका अनुभव न होता तो प्रत्येक प्राणी यही सोचता कि 'मैं नहीं हूँ।' जिसकी सत्ताका सबको अनुभव है, वह आत्मा ब्रह्म ही है।

२—घोड़ी त्रेकरे लिये अपनी आँखें मूँदकर यह कल्पना करो कि मैं मर गया हूँ। आप ऐसा कभी नहीं कर सकेंगे। आप यह कभी नहीं सोच सकते कि (मृत्युके बाद) हम नहीं रहेंगे। आप यही कल्पना कर सकेंगे कि आपका निर्जीव देह भूमिपर पड़ा हुआ है और आप साक्षीरूपमें उसे देख रहे हैं। इससे यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि आप सर्वदा साक्षी अथवा दृष्टारूपमें रहते हैं। प्रत्येक प्राणीका यह आन्तरिक अनुभव होता है कि 'अहमस्मि' अर्थात् मैं हूँ।

३—किसी वस्तुको प्रमाणोंसे सिद्ध करनेकी क्रियाका आधार आत्मा ही है, अतएव इस क्रियाके पूर्व ही आत्माका भान होता है और इसीलिये आत्माकी सत्ताको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ब्रह्म अर्थात् आत्माकी सत्ताको अस्वीकार करना अपनी ही सत्ताको अस्वीकार करना है, जो तर्कसे असिद्ध है। सारी कल्पनाओं एवं उपपत्तियोंका आधार ब्रह्म ही है।

४—प्रत्येक कार्यका कोई कारण अवश्य होता है। अतः इस दृश्यमान जगत्का भी कोई कारण अवश्य होना चाहिये। वह कारण ब्रह्म है, जो स्वयं कारणरहित होनेके कारण 'परम कारण' कहलाता है। स्वयं सृष्टिकर्ताके कारण-

की कल्पना तर्कविरुद्ध है। यदि सृष्टिकर्ताका भी कोई कारण माना जाय तो उस कारणका भी कोई कारण अवश्य होना चाहिये और इसप्रकार कारणके कारणका अनुसन्धान कभी समाप्त ही नहीं होगा। इसमें अनवस्थाका दोष आवेगा। इसप्रकार सृष्टिके आदिकारणकी कल्पनामें भी ईश्वरकी सिद्धि होती है।

५—प्रत्येक परिच्छिन्न वस्तुकी कल्पना करते समय हमें यह विचार अवश्य होता है कि उसके परे भी कोई वस्तु है। मनका स्वरूप ही ऐसा है कि वह असीमकी कल्पना किये बिना ससीमकी कल्पना नहीं कर सकता। इस कारणकी कल्पना किये बिना कार्यकी कल्पना नहीं कर सकते। अशुचिता, द्वैत, प्रतिकूलता, भेद, मरणधर्मता इत्यादिकी कल्पनाके साथ हमें शुचिता, अद्वैत, अनुकूलता, अभेद, अमरत्व इत्यादिकी कल्पना भी अवश्य करनी पड़ती है। ब्रह्मकी सत्ताका सिद्ध करनेकी यह मनोबैज्ञानिक पद्धति है। अनन्तता ही ब्रह्मका स्वरूप है। जिसप्रकार ताप एवं प्रकाश अग्निका स्वभाव है; इसी प्रकार सत्-चित्-आनन्द ही ब्रह्मका स्वभाव है।

६—जब आप अंधेरेमें अथवा कहीं परदेकी ओटमें हों, उस समय यदि कोई आपसे पूछे कि 'कौन है?' तो उस समय आप स्वाभाविकतया यही उत्तर देंगे कि 'यह तो मैं हूँ।' इसके अनन्तर दुबारा विचार करनेपर आप यह कहेंगे कि 'मैं अमुक नामवाला व्यक्ति हूँ।' 'मैं अमुक नामवाला व्यक्ति हूँ' यह केवल हमारे मनकी कल्पना अथवा झूठा आरोप है जो हमने अपनी अविद्या अर्थात् अज्ञानके कारण कर लिया है। पहले पहल आपके मुँहसे सहसा 'मैं' शब्द निकला जो आपकी अपरिच्छिन्न सत्ताके सम्बन्धमें आपके आन्तरिक अनुभवका द्योतक है। हमारा 'अहमस्मि' यह आन्तरिक अनुभव अबाधरूपमें रहता है।

७—सबको अपने ज्ञानका विषय करनेवाले एवं भूत, भविष्य तथा वर्तमान इन तीनों अवस्थाओंमें अभिन्न-रूपमें रहनेवाले सनातन आत्मतत्त्वकी सत्ताको स्वीकार किये बिना स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञान इत्यादिकी सिद्धि नहीं हो सकती जो हमारे देहा, काल एवं कारण-सम्बन्धी मानसिक संस्कारोंपर अवलम्बित हैं। आत्मा संकल्पोंसे

विलक्षण ही नहीं, किन्तु उनसे परेकी वस्तु है, क्योंकि संकल्पोंके लिये कोई ऐसा आधार अवश्य होना चाहिये जो उनका समन्वय एवं परस्पर अनुसन्धान कर सके। वह आधार-तत्त्व आत्मा ही है जिसके द्वारा उन संकल्पोंका भी ज्ञान हो सकता है।

८ संस्कृतके 'अहम्' शब्दका अर्थ है 'मैं' और 'इदम्' का अर्थ है 'यह'। अपने लिये हम 'अहम्' शब्दका और दूसरोंके लिये 'इदम्' शब्दका प्रयोग करते हैं। किन्तु जब कोई हमसे बात करता है उस समय यह क्रम बदल जाता है। हम जिसके लिये 'इदम्' शब्दका प्रयोग करते थे उसके स्थानमें अब 'अहम्' शब्दका प्रयोग होता है और अपने लिये जो हम 'अहम्' शब्दका प्रयोग करते थे उसके स्थानमें अब 'इदम्' शब्दका प्रयोग होने लगता है। इससे यह सिद्ध होता है कि 'अहम्' यह प्रत्यय जब प्राणियोंके अन्दर समानरूपसे रहता है। 'इदम्' यह हमारे मनकी कल्पना अथवा झूठा अध्यारोप ही है, जिसप्रकार रज्जुमें सर्पका अध्यारोप होता है। सर्प रज्जुका 'विवर्त' है, इसी प्रकार 'इदम्' 'अहम्' का विवर्त है।

९-हम दृश्यमान जगत्में कार्य-कारणका जो चक्र चल रहा है उसके परे हमें कोई ऐसी सत्ता ढूँढनी चाहिये जो निर्विकार, कूटस्थ एवं स्वतन्त्र हो, जो सर्वदा अभिन्नरूपसे रहती हो और जो इन समस्त विकारोंका कारणरहित अर्थात् 'परम' कारण हो। यह निर्विकार, स्वतन्त्र, अनादि वस्तु, अतीन्द्रिय (इन्द्रियोंसे अप्राप्त) अर्थात् अदृश्य एवं निर्गुण अर्थात् उन गुणोंसे रहित होनी चाहिये जो दृश्य पदार्थोंमें पाये जाते हैं। यहाँ सारे विकारोंका अन्त हो जाता है, मनकी गति रुक जाती है और उस विद्वांसका अंकुर जम सकता है जिसे हम संसार-के विनाशशील पदार्थोंमें व्यर्थ खोजते हैं।

१० ब्रह्म-ज्ञानके लिये हमें सबसे पहले इन्द्रियोंकी प्रवेशा होती है, किन्तु इनका सम्बन्ध किसी और वस्तुसे होता है। ये स्वतन्त्ररूपसे उन विषयोंका ग्रहण नहीं कर सकतीं। उन्हें इसके लिये मनकी अपेक्षा होती है, क्योंकि मनकी सहायताके बिना किसी विषयकी उपलब्धि नहीं हो सकती। तो क्या फिर मन ही परम कारण है? नहीं, कदापि नहीं, क्योंकि मन तो स्वयं ससीम है। गाढ़ मिट्टाकी अवस्थामें मन भी प्रयुक्त रहता है। जिससे यह

सिद्ध होता है कि वह भी परतन्त्र है। हमारा ज्ञान परिमित है, इसीसे यह प्रतीत होता है कि कोई अपरिमित ज्ञान भी है। इस परिणामपर पहुँचनेके बाद यदि हम अपने निजस्वरूपपर पुनः विचार करें तो हमें मालूम होगा कि हमारे अन्दर एक ऐसा शाश्वत-तत्त्व है जिसका ज्ञानके समस्त रूपान्तरोंमें सम्बन्ध है। वह तत्त्व आत्मा है, जो कानोंसे सुनता है, आँखोंसे देखता है, मनसे मनन करता है एवं बुद्धिसे जानता है; जिसका ज्ञानकी भिन्न क्रियाओंके साथ अन्त नहीं हो जाता, जो उन सारी क्रियाओंमें अविकृतरूपसे रहता है और जिसके बिना वे सारी क्रियाएँ हो नहीं सकतीं। वही हमारा आत्मा अथवा परमात्मा है, जो केवल ज्ञानरूप, अपरिमेय एवं ज्ञानके विषयोंसे निरपेक्ष सत्तावाला है। वह प्रकाशों-का प्रकाश, जीवनोंका जीवन, मनोंका मन एवं आत्माओं-का आत्मा है। वह अत्यन्त जीवन है जिसमें प्रत्येक परमाणु अनुप्राणित हो रहा है, वह प्रच्छन्न उद्योगिता है जो प्रत्येक जीवके अन्दर जगमगा रही है, वह निगूढ़ प्रेम है जो सबको एकताके सूत्रमें बाँधता है, वह मनके सारे व्यापारोंका मूक साक्षी है और उपनिषदोंका ब्रह्म वही है।

११-अब ज़रा आइये ! इस क्षुद्र 'अहम्' का विद्वलेषण करें, जो हमारे समस्त क्लेशों, दुःखों एवं कष्टोंका मूक है और जो झूठमूठ हमारे आत्मापर अधिकार कर बैठा है।

यह भौतिक शरीर 'मैं' नहीं है, हाथ अथवा पैरके कट जानेपर भी 'मैं' की भावना बनी रहती है। यह शरीर पञ्चभूतोंका बना हुआ है और अज्ञात ही विकार है, इसलिये हमें शास्त्रोंमें 'अज्ञमय कोप' कहा गया है। यह सावयव है, आदि और अन्तवाला है, विनाशी अर्थात् नाश होनेवाला है, जड अर्थात् अचेतन (ज्ञानरहित) है। इन्द्रियाँ भी 'मैं' नहीं हैं, वे भी जड हैं, आदि-अन्तवाली हैं, रजोगुण एवं सत्त्वगुणके विकार हैं, जो पञ्चतन्मात्राओंसे बने हुए हैं।

मन भी 'मैं' शब्दका वाच्य नहीं है। सुषुप्तिमें 'मन' शरीरके साथ नहीं रहता, किन्तु फिर भी ज्ञानका तौता नहीं टूटता। फिर मन भी जड एवं आदि-अन्तवाला है। वह परिवर्तनशील संकल्पोंका एक पुञ्जमात्र है। वह अन्धकारमें अमिश्रित होता है, दुःखमें डूब जाता है और अत्यन्त भयभीत-अवस्थामें

शुष्क-काष्ठकी भाँति स्तब्ध हो जाता है। प्राण भी 'मैं' नहीं है। वह रजोगुणका विकार है, जब एवं आदि-अस्तवाला है। प्राणायामसे प्राणोंकी गति रुक जानेपर भी ज्ञानका तौता नहीं टूटता।

इसी प्रकार आनन्दमय कोष अथवा कारणशरीर भी, जो मूल-अविद्याका नाम है और जो वासनाओं एवं संस्कारोंसे बना हुआ है, 'मैं' नहीं है। वह जब एवं आदि-अस्तवाला है। जब हम अपने लिये 'मैं' शब्दका प्रयोग करते हैं उस समय हम इस बातका यथार्थ अनुभव करते हैं कि 'मैं हूँ'। यह हमारा सत्स्वरूप है। हम इस बातको समझते हैं कि 'मैं हूँ', यह हमारा चित्त-स्वरूप है और हम आनन्दका अनुभव करते हैं यह हमारा आनन्दस्वरूप है। आत्मनिरीक्षणके द्वारा सावधानीसे विश्लेषण करनेपर इस हमारे शुद्ध अहंकारका विस्फुल्ल अभाव हो जाता है, जिसप्रकार प्याजके छिलकोंको निकाल देनेपर शेषमें कुछ नहीं रहता। किन्तु सबकी तहमें हमें उस महान् अनन्त 'अहम्'—सच्चिदानन्द ब्रह्मकी उपलब्धि होती है, जो इन सारे मिथ्या आत्माओं, अनेक शुद्ध अहंताओंका आधार अथवा अधिष्ठान है।

१२-मान लीजिये कि हमारे सामने एक आमका वृक्ष खड़ा है। इसके नाम और रूप दोनों हैं। यह स्कन्ध, शाखाओं, टहनियों, पत्तों, बीर एवं फल इत्यादि अनेक अवयवोंसे युक्त है। साधारण दृष्टिके मनुष्यको वृक्षके इन्हीं दो स्वरूपों अथवा अङ्गोंकी उपलब्धि होती है। नाम और रूप इन दो स्वरूपों अथवा अङ्गोंमें ही मनुष्यजति तल्लीन एवं लुभाई हुई रहती है। उन्हें उस तथ्यका ज्ञान नहीं है जो उस आमके वृक्षके अन्दर छिपा हुआ है। इन दो स्वरूपोंके अतिरिक्त उस आमके पेड़के तीन और स्वरूप अथवा अङ्ग हैं। आमका वृक्ष 'है' यह उसका सत् (अस्ति) स्वरूप है। वह भासता भी है; अर्थात् आपकी समझमें यह बात आती है कि एक आमका पेड़ आपके सामने खड़ा हुआ है; आपकी इन्द्रियों एवं मनके द्वारा उसका ग्रहण होता है; यह उसका चित् (भाति) स्वरूप है। वृक्षकी सत्तासे आपको आनन्द मिलता है, यह उसका आनन्द (प्रिय) स्वरूप है। अब यदि उस वृक्षको काटकर हम उसके तरुने बनवा लें, तब भी उन तत्त्वोंमें सच्चिदानन्दकी अभिव्यक्ति

अवश्य होती है। तल्ला है, वह भासता है, उसे आप जानते हैं, उससे आपको आनन्द मिलता है, उसकी आप कुर्सियाँ, बेंच वगैरह बनवा सकते हैं। अब यदि उस तल्लेकी हम आगमें रखकर जला डालें तो उसकी राखमें भी सत्-चित्-आनन्दकी प्रतीति होगी। राख है, वह भासती है, आप उसे जानते हैं, उससे आपको आनन्दकी प्राप्ति होती है, उससे आप कई काम लेते हैं। इसप्रकार हम देखते हैं कि नाम-रूप बदलने रहते हैं किन्तु सत्-चित्-आनन्द सदैव बना रहता है। यही सत्य है। प्रत्येक रूपमें सत्-चित्-आनन्दकी अलग-अलग अभिव्यक्ति होती है। रूप अलग-अलग (व्यतिरेकी) हैं किन्तु उनके अन्दर रहनेवाली वास्तविक सत्ता एक (अन्वयी) है।

१३-हम अपने स्त्री-पुत्रादिसे उस आत्मा (ब्रह्म) के रूपमें ही जो उनके शरीरके भीतर छिपा हुआ है एवं उसीके नाते प्रेम करने हैं। यदि आप यह कहें कि हम तो यथार्थमें उनके पाञ्चभौतिक शरीरसे ही प्रेम करते हैं तो उस दशामें आपको उनके निर्जीव एवं सड़ते हुए शवसे भी प्रेम करना चाहिये, परन्तु होता हमके विपरीत है; आप उनके शवको, जितना जल्दी हो सके, घरसे बाहर निकालनेकी चेष्टा करते हैं।

१४-मान लीजिये घरमें आग लगी है। ऐसी दशामें सबसे पहले हम अपनेको बचानेका प्रयत्न करते हैं और धन-शौलन, पुत्र-कलत्र आदिकी परवा नहीं करते। हमसे यह स्पष्टतया सिद्ध होता है कि हम अपने पाञ्चभौतिक शरीरके अन्दर रहनेवाली किसी वस्तुसे अत्यधिक प्रेम करते हैं। उससे बढ़कर हमें संसारकी कोई भी वस्तु प्रिय नहीं है। वह वस्तु आत्मा अथवा ब्रह्म है, जो समस्त भूतप्राणियोंका अन्तरात्मा है। एक सर्वव्यापी चेतना तथा सारे विश्वका अधिष्ठान है।

१५-अखिल संसारमें पाँच ही इन्द्रियाँ हैं जिन्हें विषयी अथवा ग्राहक कहते हैं, (जिनसे विषयोंका ग्रहण होता है) और पाँच ही उनके विषय हैं। नेत्र रूपका ग्रहण करते हैं, रूप अप्रितत्त्वका विकार है और नेत्र भी अग्नि-तन्मात्रसे बने हुए हैं। इसप्रकार नेत्र एवं रूपमें सजातीय सम्बन्ध है। नेत्रोंके द्वारा शब्दका ग्रहण नहीं होता। कर्णेंद्रिय शब्द-तन्मात्रसे बना हुआ है और शब्द आकाशतत्त्वका परिणाम है। अतएव कर्णेंद्रिय एवं

शब्दमें सजातीय सम्बन्ध है। क्योंकिन्द्रियसे रूपका ग्रहण नहीं हो सकता। पाँचों इन्द्रियों जब अर्थात् अचेतन (ज्ञानशून्य) हैं। उन्हें आत्मा अर्थात् शुद्ध चैतन्यसे ही प्रकाश एवं शक्ति प्राप्त होती है जो इन इन्द्रियोंका अधिष्ठान है, जिसप्रकार पानीके कठोरेकी धूपमें रख देनेसे उसके अन्दर सूर्यकी गर्मी आ जाती है। आत्मा नेत्रेन्द्रिय एवं विषयोंकी सहकारितासे जगत्की उपलब्धिका कारण होता है। यह सारा जगत् आत्मा अथवा ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। आत्माके द्वारा ही आत्माका साक्षात्कार हो सकता है। आत्मासे ही आत्माकी उपलब्धि होती है। हमारी अन्तरात्मा एवं जगत्के रूपमें भासनेवाली बाह्यआत्माके बीचमें सजातीय सम्बन्ध है। और तो और, एक कंकड़ भी आत्मा अथवा ब्रह्माका ही रूप है। मन एवं चक्षुकी सहायतासे ब्रह्म ही कंकड़के रूपमें भासने लगता है। व. वमें यह सारा संसार ब्रह्मरूप ही है (सर्वस्विवद् हा)। आत्मा एवं अनात्मामें कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

१६-सुषुप्ति-अवस्थामें न तो इन्द्रियाँ रहती हैं, न विषय रहते हैं और न मन ही रहता है; किन्तु फिर भी उस समय हमें निरतिशय आनन्दका अनुभव होता है। जब विषय ही नहीं हैं तो हमें यह आनन्द कहाँसे प्राप्त होता है? वास्तविक यह है कि सुषुप्तिकालमें मनकी सत्ता ब्रह्ममें रहती है और वहीमे उसे आनन्दकी उपलब्धि होती है। हमके अतिरिक्त सुषुप्तिकालमें जब और किसी मनुष्यका अस्तित्व नहीं रहता, केवल 'मैं' की सत्ता रहती है।

१७-लैटिन-भाषामें एक कहावत है 'Cogito ergo sum.' इसका अर्थ यह है कि 'मैं विचार करता हूँ इसी-लिये मैं हूँ।' डेकार्टे (Descartes) नामक प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिकके मतमें अध्यात्म-शास्त्रकी मूलभूति यही है। श्रीशंकराचार्यका भी यही कहना है कि आत्मा भिन्ना नहीं हो सकता, क्योंकि जो पुरुष आत्माकी सत्ताको अस्वीकार करता है, वह ऐसा करता हुआ भी उसकी सत्यताका अनुभव करता है।

१८-यद्यपि ब्रह्माका वास्तविक स्वरूप अनिर्वचनीय एवं अग्राह्य है फिर भी हम उसका संकेतरूपसे निर्देश करनेकी चेष्टा करेंगे। अद्वैतवादिश्योंके कुछ ऐसे विशेषण अथवा लक्षण बतलाये हैं, जिनसे हम ब्रह्माके स्वरूपको दूसरे गुण-

वाले पदार्थोंसे पृथक् कर सकते हैं और जिनकी सहायतासे हम उसका ध्यान कर सकते हैं। ये लक्षण भी दो प्रकारके हैं—स्वरूप-लक्षण एवं तटस्थ-लक्षण। सत्, चित्, आनन्द ये स्वरूप-लक्षण हैं और सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, सृष्टि-कर्तृत्व इत्यादि गुण तटस्थ-लक्षण कहलाते हैं। पाश्चात्य दार्शनिक भी इस बातकी स्वीकार करते हैं कि इस विश्वके पीछे एक महान् संकरूप अथवा चैतन्य-शक्ति काम कर रही है। ब्रह्म ही संसारका कारण एवं वेदोंकी धोति है, अतः वह सर्वज्ञ अवश्य होना चाहिये।

१९-कर्म जब अर्थात् अचेतन हैं। जीवोंको उनके किये हुए कर्मोंका फल भुगतानेवाला कोई अवश्य होना चाहिये। संसारमें कोई गरीब है कोई अमीर; कोई नीरोग है तो कोई अनेक प्रकारकी व्याधियोंमें घिरा हुआ रहता है; कोई जन्मसे ही प्रतिभा-सम्पन्न होते हैं तो कोई निरे कुण्ठितबुद्धि और कोई जन्मसे ही लूले-लंगाड़े, बहरे और गूंगे होते हैं। इन सारी विचित्रताओंका युक्तियुक्त समाधान कर्म-सिद्धान्तसे ही हो सकता है। मान लीजिये किसी जगह ठेकेका काम हो रहा है, जिसमें अनेक मजदूर काम करते हैं। उनकी देख-रेखके लिये जो निरीक्षक (overseer) नियुक्त है वह उनकी योग्यता तथा उनके कामकी देखकर उन्हें उचित मजदूरी देता है। इसी प्रकार विश्वका नियन्ता हम सब जीवोंके कर्मों एवं नीयतको जानता है और उसके अनुसार हमें अपने कर्मोंका फल देता है।

२०-अनेकों बार हम कई प्रकारके मनसूचे बाँधते हैं किन्तु कोई ऐसी शक्ति है जो उन्हें सफल नहीं होने देती। हममेंसे प्रत्येकको अपने कार्योंमें इसका प्रतिदिन अनुभव होता है। इससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि प्रत्येक मनुष्य-के कार्योंका नियमन करनेवाली कोई सर्वोपरि प्रेरक शक्ति अवश्य है; वही ईश्वर है।

२१-शुभ कर्म करनेमें हमारे मनको सन्तोष एवं सुख होता है और ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी आत्मा उन्नत हो रही है। इसी प्रकार पाप करते समय हम अत्यन्त भयभीत हो जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? इससे यह प्रकट होता है कि हमारी चेतनाके पीछे कोई सर्वोपरि शक्ति है जो हमारे बुरे मले कामोंको (कर्मोपश्रुत रूपसे) देखती है और हमारे मनकी स्फुरणाओंको भी जानती है।

२२-‘केनेषितं पतति प्रेषितं मनः.....’ अर्थात् इस मनका प्रेरक कौन है? (केन० सं० १)

मनका कार्य संकल्प-विकल्प करना है। इस इन्द्रिय-से काम लेनेवाला कोई इसका नियन्ता अवश्य होना चाहिये। जीवात्मा इसका सञ्चालक नहीं है, बल्कि हम देखते हैं कि साधारण मनुष्योंको मन निर्दयतापूर्वक मथित करता रहता है। अतः हमें मनका सञ्चालन करनेवाली कोई दूसरी सर्वोपरि सत्ता माननी पड़ेगी। वह सत्ता अन्तर्यामी परमात्मा है।

२३-मन एक प्रबल इन्द्रिय है। इसके लिये एक अत्यन्त बुद्धिमान् डाह्वरकी आवश्यकता है। वह डाह्वर ब्रह्म है।

२४-ब्रह्मकी सिद्धिमें एक प्रमाण और है। नेत्रका पर्याय-वाचक शब्द 'दृक्' है, जिसका अर्थ है देखनेवाला और नेत्रोंका विषय ही दृश्य अर्थात् देखनेवाली वस्तु है। हमी प्रकार मन देखनेवाला है और नेत्र उसका विषय है। ब्रह्म मनका द्रष्टा है और मन तथा उसकी वृत्तियाँ दृश्य हैं। यदि ब्रह्मके भी द्रष्टाकी खोज की जाय तो इसमें 'अनवस्था' दोष आवेगा। अतः ब्रह्म स्वयम्भू, स्वयंजात, स्वतःप्रकाश, स्वतन्त्र, अश्वय, निर्विकार एवं दिक्कालाघनवच्छिन्न है। उसका द्रष्टा कोई दूसरा नहीं है। नेत्रके विषय रूप अनेक हैं, किन्तु देखनेवाला नेत्र एक ही है। इन्द्रिय अनेक किन्तु उनका द्रष्टा मन एक है। मन अनेक है किन्तु उनका द्रष्टा ब्रह्म एक है। अनेकके पीछे एक छिपा हुआ है। इसको समझनेके लिये विचारकी आवश्यकता है।

२५-ब्रह्म शून्य नहीं है। उसे पोल अथवा थोथ नहीं कह सकते। मनके द्वारा शून्यका चिन्तन नहीं हो सकता। ब्रह्म घन है, परिपूर्ण है; क्योंकि वहाँ जाकर सारी वासनाएँ विलीन हो जाती हैं और निरनिशय एवं निर्य-नृति मिलती है। वह सब कुछ है। इस झूठे मिथ्या अहंकार-को नष्ट करके शून्य बन जानेपर हमें सब कुछ मिल जाता है, हम सब कुछ बन जाते हैं (परमाप्नोति, ब्रह्मैव भवति)।

२६-प्रकृतिके नियमोंमें आस्था करना ईश्वरमें विश्वास करना है। सारी मृष्टिका व्यापार निश्चित एवं सुव्यवस्थित नियमोंके अधीन होता है। संसारमें यह चला अथवा आकाशिक घटना कोई वस्तु नहीं है। ईश्वर ब्रह्मका ही तटस्थ-लक्षण है। भक्तोंकी पूजा ग्रहण करनेके लिये निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म अर्थात् ईश्वरके रूपमें प्रकट हो जाता है, वास्तवमें सगुण ब्रह्म कोई अलग वस्तु नहीं है। जो कुछ है केवल सत्ता-ही-सत्ता है, वही परमसत्त्व है, वही सत्य है।

२७-जिसप्रकार हम अपने सामने किसी वृक्षको देखते हैं, उसी प्रकार हमारे मनकी स्फुरणाओंका भी कोई साक्षी अवश्य होना चाहिये, अन्यथा कर्म-कर्तृत्वभाव-सम्बन्धमें विरोध आवेगा। वह साक्षी कूटस्थ-ब्रह्म है।

२८-हम दो संकल्पोंकी तुलना करके उनके सादृश्य अथवा वैसादृश्यका पता लगा लेते हैं। इसमें यह सिद्ध होता है कि उनकी तुलना करनेवाली कोई एक अलग सत्ता अवश्य होनी चाहिये जो उन संकल्पोंपर बाह्यरूपमें विचार करती है। वह सत्ता आत्मा अथवा ब्रह्म ही है।

२९-विपत्तिमें ईश्वरके स्मरणसे दुःख-मोचनरूप जो तत्काल फल होता है उसमें यह समझमें आता है कि हमारे कार्योंका नियमन करनेवाली कोई सर्वोपरि प्रेरक शक्ति अवश्य है।

३०-घोर नास्तिक एवं देहात्मवादीको भी जब किसी घने जंगलमें बाधका मुकाबला हो जाता है, या जब उस-पर कोई घोर विपत्ति आती है, या वह जिस जहाजपर सवार हो वह डूबनेको होता है, अथवा जब वह पक्षाघात-रोगमें पीड़ित होता है, या जब भूकम्प आता है, अथवा ज्वालामुखीका विस्फोट होता है, अथवा अर्धरात्रिके समय जब वह अकेला किसी निर्जन वनमें होता है और उसे बिजलीकी कड़क और बादलकी गरज सुनायी देती है उस समय दृढात् उसके मुखमें ये शब्द निकल ही जाते हैं कि 'हे परमात्मन्! मेरे अपराधोंको क्षमा करो और मेरी रक्षा करो।'

३१-रात्रिके समय जब घोर अन्धकार होता है, हम यह कहते हैं कि यहाँ कोई नहीं है। यह हमने कैसे जाना? इसीलिये कि वास्तवमें हम साक्षी हैं। वह साक्षी ब्रह्म ही है।

३२-हम अपने दैनिक व्यवहारमें 'मेरा शरीर', 'मेरे प्राण', 'मेरी इन्द्रियाँ' इसप्रकारके शब्दोंका प्रयोग करते हैं। इसमें यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि हमारा आत्मा जिसके लिये हम 'मैं' शब्दका प्रयोग करते हैं, शरीर, मन, प्राण एवं इन्द्रियाँ अतीत है। मन और शरीर हमारे परिचारक अथवा उपकरणमात्र हैं। ये हमारी अपेक्षा उतने ही बाह्य हैं जितने हमारे वस्त्रभूषण, बरतन इत्यादि हैं। हम शरीरको उसी प्रकार धारण किये हुए हैं जैसे कोई अपने हाथमें एक लम्बी छड़ी किये हुए हो।

३३-मान कीजिये हमने कोई बड़ा अपराध किया है। उसके दण्डस्वरूप यदि कोई हमारी आँखें बचाकर हमारे हाथ काटना चाहे तो हम हर्षपूर्वक अपने हाथ कटवा देंगे। इससे यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि कर्मन्त्रियोंकी अपेक्षा ज्ञानेन्द्रियों हमारे अधिक समीप अतएव अधिक प्रिय हैं। पाँसीकी सजाकी अपेक्षा हमें अपनी आँखें निकलवा लेनेमें कम संकोच एवं दुःख होगा। इससे यह प्रकट होता है कि इन्द्रियोंकी अपेक्षा प्राण हमारे निकटतर अतएव अधिक प्रिय हैं। यदि हम किसी भयंकर एवं असाध्य रोगसे पीड़ित हों और उससे मुक्त होनेका कोई उपाय न सूझता हो तो हम यह चाहेंगे कि हमारे प्राण भले ही चले जायँ किन्तु हम किसी प्रकार इस व्याधिसे मुक्त हो जायँ। इससे यह व्यक्त होता है कि हमारी आत्मा हमें प्राणोंसे भी अधिक प्यारी है।

३४-मनुष्यों एवं अन्य प्राणियोंके अन्दर दो स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ बड़ी बलवान् हैं, एक तो आत्मरक्षणकी और दूसरी सन्तानोत्पादनकी। हमें जो भूख लगती है वह पहली अर्थात् आत्मरक्षणकी प्रवृत्तिकी शोतक है और हमारे अन्दर जो कामवासना है वह दूसरे प्रकारकी अर्थात् सन्तानोत्पादनकी प्रवृत्तिकी बतलाती है। आत्मरक्षणकी प्रवृत्तिका मूल हमारे आत्माकी अमरता ही है। भ्रान्तिवश हमारा जीवात्मा यह सोचता है कि शरीर ही आत्मा एवं नित्य है और आत्मरक्षणकी प्रवृत्ति शरीरकी चिरकालतक कायम रखने तथा उसे अमर बनानेकी चेष्टा करती है। इसीका नाम अभिनिवेश है। भ्रमसे आत्माकी अमरता शरीरमें आरोपित कर ली जाती है। यद्यपि वह पाञ्चभौतिक शरीर नष्ट हो जाता है किन्तु जीव यह सोचता है कि मैं सदैव बना रहूँगा। प्राणियोंके अन्दर यह जो आत्मरक्षणकी प्रवृत्ति है वह अविनाशी ब्रह्म अर्थात् परमेश्वरकी सत्ताको प्रमाणित करती है।

३५-आवागमनका सिद्धान्त अटल है। महात्मा ईसाससीदने भी बाइबलमें इस विषयका विवेचन किया है। मृत्युके बाद भी जीवात्मा बना रहता है और भौतिक शरीरके छूट जानेपर भी संस्कारोंके बलसे उसे पूर्व-जन्मकी स्मृति बनी रहती है। अतएव हमलोगोंके अन्दर यह

नैसर्गिक भावना रहती है कि भौतिक शरीरके नाश हो जानेके बाद भी हमारी सत्ता कायम रहती है। इस सत्ताका नाम ही ब्रह्म है, यही ईश्वरीय सत्ता है।

३६-मरते समय मनुष्य प्रायः अपने मनमें यह सांख्यता है कि मैंने इस जीवनमें अनेक कष्ट भोगे, अनेक विपत्तियाँ झेलीं और अनेक कठिनाइयोंका सामना किया। मैंने बहुत-से सारकर्म भी किये, जिनका फल मुझे अवश्य मिलना चाहिये। क्या मैंने यह सारा परिश्रम केवल इसी जीवनके लिये किया था? नहीं, यह कभी नहीं हो सकता, मैं अमर हूँ। उस समय वह अपने लिये अमरत्वकी कल्पना करता है। साधारण विवेक-बुद्धिसे भी मनुष्य इसी निश्चयपर पहुँचता है कि आत्मा अमर है।

३७-बचपनमें हम सभी अपनी माँकी गोदमें खेलते हैं और कुछ बड़े होनेपर हम पाठशाला जानेके योग्य हो जाते हैं। यौवनका विकास होनेपर हम नारी-प्रेमके अभिलाषी बन जाते हैं। आगे चलकर हमारे मनुष्यत्वका पूर्ण विकास होता है और अन्तमें हम वृद्ध होकर लाठीके सहारे चलने लगते हैं। एक जीवनके अन्दर ही हम अनेक अवस्थाओंका अनुभव करते हैं। इन भिन्न-भिन्न अवस्थाओंको साक्षीरूपसे देखनेवाला कोई अविकारी आत्मा अवश्य होना चाहिये। अन्यथा इस प्रकारकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंका अनुभव नहीं हो सकता। वह अविकारी तब आत्मा अथवा ब्रह्म है। वही इन सारी अवस्थाओंकी प्रतीतिका आधार है। शैशव, बाल्य, यौवन एवं जरा इन चारों अवस्थाओंका अनुभव एवं अनुसन्धान करनेवाला कोई अविकारी आत्मा अविच्छिन्नरूपसे रहना चाहिये।

३८-रात्रिके समय अन्धकारमें हम किसी वस्तुको ढूँढ़ते हैं और किसी प्रकारके प्रकाशके न होनेपर भी हाथोंसे टटोलकर उसे पा लेते हैं। बताइये, उस समय हमें कौन-सा प्रकाश उपलब्ध है? इसका उत्तर यह है कि हम अधिष्ठान चैतन्य अर्थात् ब्रह्मके प्रकाशके द्वारा ही ऐसा कर पाते हैं। ब्रह्म स्वतःप्रकाश ही नहीं, सर्वप्रकाशक भी है। वह बुद्धि, चक्षु, सूर्य, एवं अन्य सारे पदार्थोंको प्रकाश देनेवाला है।



मिश्रदेशीय सन्त मैकेरियस

(लेखक—फादर बी० एलबिन महोदय)



प्यास्मा मैकेरियसने मिश्रकी मरुभूमिके निर्जन एवं निर्जल प्रान्तोंमें अपने जीवनके साठ वर्ष व्यतीत किये। साठ वर्षतक लगातार वे अपने चारों ओर बालू एवं चट्टानोंका निरीक्षण करते और सायंकालको प्रतिदिन रक्तवर्ण रश्मिमालीकी निर्जनताके अथाह समुद्रमें प्रवेश करते देखते रहे। यहींपर उन्होंने अपनी आत्म-विजय प्राप्त की और ईश्वरकी उपलब्धि की। उन्होंने अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं। उदाहरणतः अनेकों रोगियोंको अच्छा किया, मुर्दोंको जिलाया, भूत-प्रेतोंको निकाला और भविष्यवाणियाँ कीं। वे अपनी तपश्चर्याके लिये विख्यात थे। उनकी कुटियासे एक सुरंग किसी गुप्त गुफातक चली गयी थी। उनमें मिलनेके लिये आये हुए लोग उनका पता न पा सकें, इसलिये वे बहुधा उस गुफामें चले जाया करते थे। मेरे एक मित्रने एक बार उनसे आत्म-संयमके बारेमें पूछा तो उन्होंने कहा कि—'बेटा, हिम्मत रखो। मैंने बीस वर्षतक लगातार कभी न तो भरपेट रोटी खायी है, न पानी पीया है और न मैं नींदभर सोया हूँ। मैं नियमितरूपसे तौल-तौलकर कुछ खाता रहा हूँ, इसी प्रकार निश्चित नापका पानी पीता रहा हूँ और दीवारके सहारे बैठकर स्वल्प-सा सो लिया करता हूँ।'

सन्त मैकेरियसके साहस, धैर्य तथा ईश्वरमें विश्वासकी बतलानेवाली अनेक घटनाएँ सुनी जाती हैं। एक बारका जिक्र है कि वे टोकरियोंका एक बोझा सिरपर लादे स्केटिस (Scetis) नामक स्थानमें ऊपर पहाड़की ओर जा रहे थे। मार्गमें उन्हें इतनी थकावट प्रतीत हुई कि वे बैठकर भगवान्में यों प्रार्थना करने लगे कि 'हे प्रभु! तुम जानते हो कि मैं अब नहीं चल सकता।' उनका इतना कहना ही था कि वे मुरन्त ही अपने निर्दिष्ट स्थानपर पहुँच गये।

एक दिन उन्होंने एक बालकको अपनी मातासे यह कहते हुए सुना कि 'अम्मा, एक धनी आदमी मुझसे प्रेम करता है किन्तु मैं बदलेमें उससे घृणा करता हूँ। साथ ही एक गरीब आदमी मुझसे घृणा करता है किन्तु मैं उसे प्यार करता हूँ।' मैकेरियसकी यह सुनकर आश्चर्य हुआ और जब उनके शिष्योंने उनके आश्चर्यका कारण पूछा तो

उन्होंने उत्तर दिया कि 'भाई! बात विशुद्ध ठीक है; हमारे प्रभु बहुत बड़े धनी हैं और वे हमसे प्रेम भी करते हैं किन्तु हम उनकी अवहेलना करते हैं, इसके विपरीत हमारा शत्रु शैतान (Devil) अति दीन है और वह हमसे घृणा करता है, किन्तु फिर भी हम उसकी उस गन्दगीसे प्रेम करते हैं।'

एक दिन एक शिष्यने मैकेरियसके पास जाकर उनसे मुक्तिका साधन पूछा। तपस्वीने उत्तर दिया कि 'तुम कमिस्तानमें जाकर वहाँ गड़े हुए मुर्दोंको गाळियाँ दो।' शिष्यने वहाँ जाकर मुर्दोंको गाळियाँ देना और उन्हें परधरोंमें मारना शुरू किया, तदनन्तर वह अपने गुरुके पास लौट आया। गुरुने उससे पूछा कि 'उन लोगोंने तुमसे कुछ कहा तो नहीं?' वह बोला 'नहीं, किसीने घूँतक नहीं किया।' तब गुरुजी बोले, 'अच्छा कल एक बार फिर जाओ और वहाँ गड़े हुए मुर्दोंकी प्रशंसा करो।' शिष्य वहाँ गया और मुर्दोंको ईश्वर-वृत एवं सन्त-महारसा कहकर उनकी प्रशंसा करने लगा। इसके बाद गुरुजीके पास लौट आया। उन्होंने फिर पूछा 'क्या तुम्हें अबकी बार भी कोई उत्तर नहीं मिला?' उसने कहा 'नहीं एक शब्द भी सुनायी नहीं दिया।' मैकेरियसने कहा—'बस, यह (समता) ही मुक्ति प्राप्त करनेका उपाय है। तुम जानते हो, तुमने उनका कितना अपमान किया, किन्तु उन्होंने बदलेमें तुमको कुछ भी उत्तर नहीं दिया। और तुमने उनकी प्रशंसा की तब भी उन्होंने तुमसे कुछ नहीं कहा। यदि तुम अपने उद्धारकी इच्छा करने हो तो उनकी तरह मान-अपमानकी ओरसे उदासीन बन जाओ। लोग तुम्हारा कितना ही अहित क्यों न करें, कुछ परवा न करो और न तुम उनकी ओरसे की जानेवाली स्तुतिपर ही ध्यान दो। उनकी ओरसे जीते ही मुर्दे बन जाओ। फिर तुम्हारे उद्धारमें कोई शङ्का नहीं रहेगी।''

मैकेरियसने अपने मिलनेवालोंको समय-समयपर जो उपदेश दिये थे, अथवा अपने शिष्योंके प्रश्नोंके जो उत्तर दिये थे, उनमेंसे पचास उपदेशोंका एक संग्रह उपलब्ध हुआ है, जो 'Fifty Homilies' के नामसे प्रसिद्ध है और जिसका साहित्यिक दृष्टिसे भी बड़ा महत्त्व है। उक्त संग्रह-

में कई विषयोंका प्रतिपादन किया गया है और धर्मके अनेक महत्वपूर्ण प्रश्नोंपर प्रकाश डाला गया है। बिशप गोरे (Bishop Gore) नामक धर्मशास्त्रज्ञ, जो इस विषयके अच्छे ज्ञाता हैं और इस सम्बन्धमें अपना मत देनेकी योग्यता रखते हैं, इन उपदेशोंके सम्बन्धमें यह लिखा है कि आध्यात्मिक जीवनका मार्ग दिखलानेवाले इस कोटिके उपदेश ईसाई-धर्ममें होने-गिने ही हैं।

स्थान-संकोचके कारण हम यहाँ सन्त मैकेरियसके केवल प्रार्थना-सम्बन्धी उपदेशोंका ही वर्णन करेंगे। उनका कहना यह है कि 'प्रार्थना वही कर सकता है जिसकी आत्मा बहुत ऊँची उठी हुई हो। जीवामा न तो परमात्मा ही है और न वह स्वरूपसे दुष्टस्वभाव अथवा अन्धकारमय है। जीवामा बुद्धिप्रधान, सुन्दर, महान् एवं अद्भुत है तथा ईश्वरकी साक्षात् प्रतिरूपिता है। परन्तु उसका निवास अन्धकारकी नगरीमें है अतः उसके लिये यह आवश्यक है कि वह इस नगरीको छोड़कर अपने घरकी ओर प्रस्थान करे। जब कोई मनुष्य किसी नगरीमें देहत्याग करना है तब वह न तो वहाँके लोगोंका शब्द सुनता है, न उनकी बातचीत समझता है और न वहाँके कोलाहलको ही सुनता है, क्योंकि वह संसारकी आगमें सड़ाके लिये आँखें मूँद लेता है और एक ऐसे लोकको चला जाता है जहाँ न तो वहाँके किसी मनुष्यका शब्द सुनायी देता है और न इस नगरका कोलाहल ही सुन पड़ता है। इसी प्रकार जीवामा जब इस वासनामय नगरकी ओरसे, जिसमें उसका निवास है, सड़ाके लिये मूँद मोड़ लेता है तब वह अपने अन्दर अन्धकारके आलापको नहीं सुनता। तब उसे न तो निरर्थक वादविवादकी ध्वनि एवं कोलाहल ही सुनायी पड़ता है और न अन्धकारकी आत्माओंका शोर-गुल ही। वह एक ऐसे नगरमें पहुँच जाता है, जहाँ शान्ति एवं सौजन्यका ही साम्राज्य है और जहाँ ईश्वरकी ज्योति जगमगाती है। वहाँ रहकर वह वहीके शब्द सुनता है, वहीके अधिकारोंकी प्राप्त करता है, वहीके लोगोंसे वार्तालाप एवं सम्भाषण करता है और वहीके ऐसे आध्यात्मिक कार्य करता है जो ईश्वरके अनुरूप होते हैं। इस आध्यात्मिक नगरमें रहनेवाली आत्माका नैसर्गिक व्यापार प्रार्थना ही होता है।' मैकेरियसके सिद्धान्तके अनुसार प्रार्थना वास्तवमें एक क्रियात्मक विश्राम अथवा विश्रामयुक्त क्रिया है। जो लोग प्रभुके निकट पहुँचना चाहते हैं उन्हें नीरव एवं

शान्तिमय स्थानमें बड़ी समाहितताके साथ प्रार्थना करनी चाहिये। ईश्वरकी ओरसे जब सच्चा उत्तर मिलता है तो उसका चिह्न शान्ति ही होता है। प्रार्थनाकी दूसरी शक्ति चित्तकी एकाग्रता है। प्रार्थना करनेवाले मनुष्यको चाहिये कि वह एक किसानकी तरह अपने मनरूपी खेतको सारू करता रहे। उसे चाहिये कि वह अमल-सङ्कल्परूपी झाड़ियोंको काट डाले, जिनसे उसका मन घिरा हुआ है। क्योंकि पापके बोझसे दबी हुई आत्माकी दशा एक पहाड़ी जङ्गलकी-सी, नदीके सरकण्डोंकी-सी अथवा कँटीली झाड़ियोंके वनकी-सी हो जाती है। इनमेंसे होकर जो लोग जाना चाहते हैं, उन्हें अपने हाथोंको बढाकर परिश्रमके साथ एवं बलपूर्वक मार्गको रोकनेवाली इन झाड़ियोंको हटाना पड़ता है। आत्माको परमात्म-प्राप्तिके योग्य बनानेके लिये भी इसी प्रकारके परिश्रम एवं अव्यवसायकी आवश्यकता होती है।

हमारी आत्माको एक चतुर व्यापारीका-सा वर्तव्य करना चाहिये, जो धनकी प्राप्तिके लिये केवल एक ही उपायमें काम लेकर समुत्पन्न नहीं होता किन्तु आगे बढ़कर यह प्रयत्न करता है कि उसके मुनाफेमें उत्तरोत्तर वृद्धि हो और चारों तरफसे धन आवे। एक उपायको काममें लाकर वह दूसरेका अवलम्बन लेता है, फिर तुरन्त ही तीसरेका और साथ-ही-साथ उन सारी क्रियाओंसे बचना भी रहता है जिनसे उसके व्यापारमें हानि पहुँचती हो। यदि किसी काममें उसको अधिक लाभ प्रतीत होता हो तो वह थोड़े लाभके कामको छोड़कर उस अधिक लाभवालेको प्रारम्भ कर देगा। इसी प्रकार हमें भी चाहिये कि हम अपनी आत्माको अनेक साधनोंमें सम्पन्न बनावें, जिससे कि हमें सबसे बड़ा लाभ अर्थात् ईश्वरकी प्राप्ति हो (यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः) क्योंकि ईश्वर ही हमें सच्ची प्रार्थना सिखलाता है। जिस आत्माकी कृतियाँ अच्छी हो जाती हैं उसकी ईश्वर अवश्य सहायता करता है। वह उस आत्मापर अपना प्रकाश डालता है, उसे सच्ची याचना सिखलाता है, ईश्वरके अनुरूप विपुल आध्यात्मिक प्रार्थनाकी शक्ति प्रदान करता है और सबे मनकी पूजा बतलाता है। सूक्ष्म जगत्की सभी बातें अलौकिक होती हैं। आप अपने मनसे जो-जो क्रियाएँ करते हैं, वे सब बहुत ठीक हैं और ईश्वर उन्हें अङ्गीकार भी करता है, परन्तु बेसर्बथा विपुल नहीं होती। उदाहरणके लिये आप

ईश्वरसे प्रेम करते हैं, किन्तु जैसे करना चाहिये, वैसे नहीं करते, (क्योंकि आपके मनको वैसे प्रेमके स्वरूपका पता ही नहीं है) ऐसी दशा में प्रभु स्वयं आकर आपको अविचल प्रेम—दिव्य प्रेम प्रदान कर जाते हैं। आप स्वाभाविक ही शङ्का एवं अस्थिरताको लिये हुए प्रार्थना करते हैं। ईश्वर आपको विशुद्ध प्रार्थना, सच्चे मनकी प्रार्थना बतला जाते हैं। वाम्बवमें योगयुक्त प्रार्थनाका यही लक्षण है कि उसके अन्दर यह भाव रहता है कि 'हम जो कुछ भी करते हैं अपने बलपर नहीं, किन्तु वह वस्तु हमें भगवान्से प्राप्त हुई है।' आत्मा उस समय अपने अधिकारमें नहीं रहती, उसपर परमात्माका अधिकार हो जाता है और वह उसमें अपनी इच्छाके अनुसार कर्म करवाना है।

योगयुक्त प्रार्थनाका दूसरा लक्षण यह है कि प्रार्थना करनेवालेको ईश्वर-प्राप्तिकी इच्छाके सामने ईश्वरके द्वारा दी हुई शक्तियाँ नुच्छ जान पड़ती हैं। जिसप्रकार किसी धनिककी लड़कीकी सगाई हो जानेपर उसे विवाहसे पूर्व अपने आवी पतिकी ओरसे वस्त्रालङ्कार अथवा बहुमूल्य पात्रोंके रूपमें अनेक उपहार प्राप्त होते हैं, परन्तु उसे तबतक सन्तोष नहीं होता जबतक उसका पाणिग्रहण होकर वह अपने पतिकी अधोक्त्रिणी नहीं बन जाती। इसी प्रकार जीवरूप कन्याकी परमात्मरूप उस दिव्य वरके साथ सगाई हो जानेपर, सम्भव है कि उसे ईश्वरीय-प्रसादके चिह्नरूप रोगियोंको रोगमुक्त करनेकी शक्ति, ज्ञान या दिव्य प्रतिभाके रूपमें परमात्मा—वरकी ओरसे अनेकों उपहार मिलें, परन्तु उसका मन उनमें तनिक भी नहीं लुभता, उसे तबतक सन्तोष नहीं होता जबतक उसका ईश्वरके साथ पूर्ण योग अर्थात् अविचल एवं व्यभिचाररहित प्रेम न हो जाय। जिन भाम्यवान् पुरुषोंने इस वस्तुकी आकांक्षा की, वे विकारों एवं चिन्तासे सदाके लिये मुक्त हो गये।

इसी बातको हम एक दूसरे दृष्टान्तमें भी समझ सकते हैं। मान लीजिये, एक भूखे शिशुको यदि कोई मोतिपोंकी माला तथा बहुमूल्य वस्त्रोंमें सुसज्जित करे तो उसे उन वस्त्रों एवं आभूषणोंकी तनिक भी परवा नहीं होती, बल्कि वह उनसे घृणा करता है। उसे अपनी माताके स्नोंके अतिरिक्त कोई भी वस्तु अच्छी नहीं लगती, वह तो क्षम्यपानसे ही सुखी होता है। इसी प्रकार उस जीवको, जिसे परमात्माको प्राप्त करनेकी मूर्ख लगी हुई

है, उसीके द्वारा दी हुई आध्यात्मिक शक्तियोंसे भी शान्ति नहीं मिलती, वह तो उन शक्तियोंके मूल स्वज्ञानको पाकर ही सन्तुष्ट होता है।

जो इसप्रकार अपनी अधम वृत्तियों एवं विषय-वासनाओंका ही नहीं, किन्तु उच्च एवं आध्यात्मिक आकांक्षाओंका भी दमन कर लेते हैं, उनको उपहाररूपमें स्वयं प्रभु मिलते हैं जो हमारे लिये स्वर्गलोक, सत्जीवनवृक्ष, सुकाफल, किरिटी, शिखरी, कृषक, यातनाओंको भोगनेवाले, दुःख भोगनेमें असमर्थ, मनुष्य, ईश्वर, सुरा एवं सुधा, मेघशावक, दृष्टा, योद्धा, कवच एवं सब कुछ है।*

मैकेरियसने ध्यानकी अवस्थाके सुखका कई जगह बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। उन्होंने इस अवस्थाका लक्षण यह बतलाया है कि ध्यान करनेवालेके अन्दर हृदयपर अनन्तताके विचारकी गहरी छाप पड़ जाती है, वह माधुर्यके समुद्रमें गोते लगाने लगता है तथा ईश्वरीय एवं दिव्य पदार्थोंके चिन्तनमें मग्न हो जाता है। वह आनन्दके उद्रेकमें उसी प्रकार उल्लसित हो जाता है जिसप्रकार पक्षी अपने पतिके साक्षिभ्यमें आनन्दमें मिह्र उठती है। उसके अन्दर ये भाव इतने प्रबल हो जाते हैं कि मनुष्य सारे बन्धनोंको तोड़कर प्रार्थना करता हुआ देह-बन्धनमें छूटनेकी इच्छा करने लगता है। किन्तु यह भाव स्थायी नहीं होता, उसकी तीव्रता घटती-बढ़ती रहती है, जिसप्रकार अग्नि एक बार सहसा भभक उठती है और फिर उसकी ज्वाला मन्द होते-होते बिल्कुल क्षीण-सी हो जाती है। यदि ऐसा न हो तो मनुष्यका सांसारिक पदार्थोंमें कोई सश्रब्ध न रह जाय और वह किसी एकान्त स्थानमें सदा समाधि-दशामें ही उन्मत्तकी भाँति पड़ा रहे।

ऐसा प्रतीत होता है कि, मैकेरियसको प्रार्थनामें अनेक विचित्र-विचित्र अनुभव हुए थे। एक बार उन्हें ऐसा भान हुआ, मानो कृसका चिह्न तेजोमय रूपमें उनके सामने

* "Who is made all things to us—paradise, tree of life, pearl, crown, builder, husbandman, sufferer, incapable of suffering, man, God, wine and living water, lamb, bridegroom, warrior, armour, choist all in all."

प्रकट हुआ और उनकी अन्तरात्मा पर आकर चिपक गया। दूसरी बार उन्हें एक विषय पोशाक प्राप्त हुई जो उन्हें पहना दी गयी और यह देखकर उन्हें बड़ा कौतुक एवं आश्चर्य हुआ। एक बार उनके अन्तरकी ज्योति ने भीतरी, गम्भीर एवं अध्यक्त ज्योतिको व्यक्त कर दिया, जिससे वह ध्यानके आनन्दमें मग्न होकर उस समयके लिये मुक्त हो गये।

एक दिन किसी शिष्य ने, जो बड़ा साहसी था, गुरुजीसे ध्यान तथा उसके फलके सम्बन्धमें पूछा। मैकेरियसने उसके प्रश्नका जो उत्तर दिया, उससे हमारे हृदयोंमें मन्तोंकी पूर्णताके प्रति प्रेमका भाव अच्छी प्रकार जागृत हो सकता है। उन्होंने कहा कि 'ध्यानमें शरीरके सारे अवयव एवं हृदय भी शान्त हो जाता है और आत्माके अन्दर आनन्दकी एक ऐसी बाढ़-सी आती है, जिसके कारण उसकी दशा एक भोले-भाले निर्दोष शिशुकी-सी हो जाती है। उम्र प्रवृत्तिकी प्राप्ति हो जाती है, फिर उसमें किसीकी निन्दा नहीं होती; वह सबको अपनी विशुद्ध दृष्टिमें समानरूप देखता है, वह अखिल विश्वमें समनुष्ट रहता है और उसकी यह अभिलाषा होती है कि सब लोग प्रभुके भक्त एवं प्रेमी बन जायें।'।

'जिनका अन्तःकरण शुद्ध है उनमें बढ़कर कोई सुखी नहीं, वे ही ईश्वरके लाडले लाल हैं। कभी उन्हें इतना आनन्द एवं अनिर्वचनीय प्रसन्नता होती है मानो (कंगाल-को) किसी राजप्रामादमें आतिथ्य स्वीकार करनेका अवसर प्राप्त हो गया हो और कभी उनकी उस नववधूकी-सी दशा हो जाती है जो अपने नवविवाहित पतिके समागमका दिव्य आनन्द लूट रही हो। कभी-कभी उनका शरीर इतना लघु एवं सूक्ष्म हो जाता है कि उनका रूप देवताओं-जैसा अपार्ष्व हो जाता है। उनका जीवन यथार्थमें एक

वास्तविक जीवन होता है। वह ध्यान किस कामका जो हमारे अन्दर मनुष्यताका विकास न करे और हमारी सारी मनुष्य-जातिसे एकता न कर दे। अतएव कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि मानो वे ईश्वरके प्रेमी मनुष्य-जातिके लिये आठ-आठ आँसू रो रहे हैं और विषाद कर रहे हैं। मानो मनुष्य-प्रेमकी ज्वालाने उन्हें जला डाला है। कभी-कभी उनकी आत्मामें आनन्द एवं प्रेमका ऐसा बाहुल्य होता है कि उन्हें मानो ऐसी इच्छा होती है कि भुरे-भले-का विचार न कर प्राणीमात्रको अपने गले लगा लें। उनके आनन्दका पार नहीं रहता, क्योंकि उनके लिये ईश्वरके धामका द्वार खुल जाता है। वे अनेक व्योदियोंमेंसे होकर भीतर जाते हैं और ज्यों-ज्यों आगें बढ़ते हैं त्यों-ही-त्यों उनके लिये क्रमशः भीतरी प्रामादोंके द्वार खुलते जाते हैं। वे ईश्वरके प्रेम-रूपी धनकी पाकर धनी हो जाते हैं और ज्यों-ज्यों उनका यह धन वृद्धिमान होता है, त्यों-ही-त्यों उनके सामने नये-नये रहस्योंका उद्घाटन होता है और उन्हें ईश्वरकी ओरमें वह अधिकार एवं सम्पत्ति प्राप्त होती है जिसका वाणीके द्वारा वर्णन तो बुर रहा, निर्देश भी नहीं हो सकता।'।

'जब जीव सिद्धावस्थाको प्राप्त होकर विकारोंमें सर्वथा मुक्त हो जाता है और उसका परमात्माके साथ भूक मिलन होता है यद्यत्त कि वह परमात्मामें मिलकर उसीका रूप बन जाता है, उस समय वह केवल प्रकाशमय, द्रष्टा-रूप, चिन्मय, आनन्द-स्वरूप, शान्तिरूप, आह्लादमय, प्रेमस्वरूप, दयामय, सौजन्यसागर एवं कल्याणमय बन जाता है। जिसप्रकार समुद्रतलमें पड़ा हुआ पत्थर चारों तरफमें जलमें व्याप्त रहता है उसी प्रकार सर्वतोभावेन परमात्मामें लीन हुए पुरुष साक्षात् प्रभुके सदृश बन जाते हैं।'।



प्रभु-विश्वास

जगतमें आहूके बिसरयो है जगतपति, जगत कियो है सोई जगत भरतु है।
तेरे निशिदिन चिन्ता और ही परो है आय, उद्यम अनेक भाँति-भाँतिको करतु है ॥
इत उत जायके कमाई करि लाऊँ कछु नेकु न अज्ञानी नर धीरज धरतु है।
सुन्दर कहत एक प्रभुके विश्वास चितु, बादहीकुँ कृथा शठ पचिके मरतु है ॥

—सुन्दरदासजी

ईश्वरके नामकी महिमा

(लेखक-पं० श्रीजगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी)

ईश्वरके नामोंकी महिमा अमन्त और अपार है। नाम-कीर्तन और स्मरणसे पापपुञ्ज नाश हो जाता है। यह आत्युक्ति नहीं, सत्य है।

‘नारायणो नाम नरो नराणां

प्रसिद्धचोरः कथितः पृथिव्याम्।

अनेकजन्मार्जितपापसंश्रयं

हरत्यशेषं स्मरतां सदैव॥’

और इस कलियुगमें तो कल्याणका कोई दूसरा उपाय ही नहीं है।

‘हरिनाम हरिनाम हरिनामैव केवलम्।

कलौ नामयेव नामयेव नास्त्येव गतिरन्यथा॥’

क्योंकि—

‘हरिर्हरति पापानि दृष्टचित्तरपि स्मृतः।’

हरि-नाम-कीर्तनसे बड़े-बड़े पापियोंके पाप सहज ही नाश हो जाते हैं। केवल यही नहीं, मङ्गल और कल्याण भी होता है। यही हरिनामकी महिमा है।

जिन्हें ईश्वरकी सत्तामें ही सन्देह है वह नामोंकी महिमा क्यों मानने लगे? वह कहते हैं कि ‘पानी-पानी कहनेसे जैसे प्यास नहीं जाती वैसे ही ईश्वरके केवल नाम रटनेसे शान्ति नहीं मिलती। जैसे पानी पीनेसे ही प्यास बुझती है वैसे ही ईश्वरकी प्राप्तिसे ही आत्मानन्द तथा शान्ति प्राप्त होती है। ईश्वरकी प्राप्तिका उपाय बिना समझे-बुझे नाम रटना नहीं बल्कि ज्ञान उपार्जन करना है।’ यह भी एक उपाय है। केवल यही है दूसरा नहीं, ऐसा कहना ठीक नहीं। जो ऐसा कहते हैं, वह ईश्वरके नाम और पानीको एक-सा ही समझते हैं। भला पानी ईश्वरके नामोंका क्या मुकाबला कर सकता है? कहाँ पानी और कहाँ ईश्वरके नाम! ईश्वर स्वप्न और पानी सृष्टि है। दोनोंके गुणोंमें अमीन-आसमानका फर्क है। पानी लौकिक गुणयुक्त और वह अलौकिक गुणसम्पन्न है। पानीसे लौकिक शान्ति मिलती है और ईश्वरके नामसे वह शान्ति मिलती है जो कभी जाती नहीं।

‘उलटा नाम जपत जग जाता। बाल्मांक भये ब्रह्ममना॥’

जब उलटे नामका यह प्रभाव है तब सीधे नामकी महिमा कौन कह सकता है? कहा है—

राम नाम आराधनां तुलसी वृथा न जाय।

लरिकाईका पैरिबो आगे होत सहाय॥

तुलसी अपने रामको रीझ मजो या खीज।

उल्टे-सीधे जामिंह खेत पर तें बीज॥

इसलिये नामका जप या कीर्तन करना चाहिये।

इससे लाभ-ही-लाभ है, हानि नहीं। जिन्हें विश्वास न हो वह भी एक बार परीक्षाकर देख लें फिर जैसी इच्छा हो करें। सिर्फ दुर्लाल और तर्कमें समय नष्ट करना ठीक नहीं। उम्र थोड़ी है। वह भी खड़ी-खड़ी घटती ही जाती है—

‘गाफिक तुझे घड़ियाल य देता है मनादी।

गरदूने घड़ी उम्रकी एक और घटा दी॥’

इसलिये—

‘राम-नामकी लूट है लूट सकें तो लूट।

अन्तकाल पछतायगा प्रान जायेग लूट॥’

इसके सिवा यह भी याद रखनेकी बात है—

‘फिलासफीकी बहसके अन्दर खुदा मिलता नहीं।

बोरका मुकद्दा रहे ह और सिरा मिलता नहीं॥’

एक बात और है। जैसे विषका स्वाभाविक धर्म मारना, अमृतका जिलाना, अश्लिषा जलाना है वैसे ही हरि-नामका भी कल्याण करना है। जान-अनजान, हँस या रोकर चाहे जैसे अग्निमें हाथ डालनेसे जल जाता है, विष खानेसे मृत्यु और अमृतसे अमरता हो जाती है। वैसे ही हरि-नामसे भी कल्याण हो जाता है। गोस्वामी तुलसीदासजी भी कह गये हैं—

‘भाव कुमाव अनख आलसहूँ। नाम जप मगल दिमि दसहूँ॥

राम-नाम सुन्दर करनारी। ससयविहँग उड़ावनहारी॥’

महापापी अज्ञानिकके मुक्ति पानेका कारण भी नाम-महिमा ही है। मरनेके समय उसने अपने लडके ‘नारायण’ को पुकारा, पर आ गये सात्वान् नारायण और हो गया उसका उद्धार। यही नामका अलौकिक गुण है।

अतएव अज्ञात हो हरिनाम-कीर्तन करना चाहिये और जहाँतक बने इसका प्रचार भी करना चाहिये। इसमें आपदा दूर होती है और सुख प्राप्त होता है। यह बड़ा ही कल्याणकारी है। इसकी महिमा अमिद है—

‘रामन सकुटि नाम-गुन गाई॥’

किर मेरी गिनती ही क्या है? आजकल तो इसकी विशेष आवश्यकता है, क्योंकि—

‘कलियुग केवल नाम अधारा।’

कल्याण और सुखका इससे बढ़कर सहज उपाय और कोई नहीं।

‘राम-नाम मनिदीप धरु जह देहरी द्वार।

तुलसी भीतर बाहरहूँ जो चाहसि उजियार॥’

श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्य और ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीपुरुषोत्तमजी शर्मा चतुर्वेदी, साहित्य-आचार्य)

उपक्रम



स समय श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्य-चरण भूतलपर आये, उस समय लोगोंकी यह स्थिति नहीं थी कि वे ईश्वरपर ही विश्वास न करते हों। उस समय भारत-वर्षमें यवन-साम्राज्य था। यवन लोगोंमें अन्य विरोधी बातोंके होने हुए भी, इसमें कोई सन्देह नहीं कि, वे ईश्वरपर दृढ़ विश्वास रखते हैं। जैन, चार्वाक आदि अनीश्वरवादी लोग उस समय पहलेसे ही प्रायः शान्त हो चुके थे, अतः श्रीमद्ब्रह्मसूत्रभाष्यके ईश्वर-सिद्धिपर स्वतन्त्र विचार करनेका कोई अवसर नहीं था। तथापि शास्त्रीय विचार करने समय यत्र-तत्र ईश्वरके विषयमें कुछ बातें उनके ग्रन्थोंमें आ गयी हैं, आज हम 'कल्याण' के पाठकोंके समक्ष उन्हीं विचारोंको संकलित, परिष्कृत अथवा विवृत करके रख रहे हैं।

क्या ईश्वर है ?

यह एक ऐसा विचित्र प्रश्न है कि इसका उत्तर 'हाँ' और 'नहीं' दोनों ही तरह देना बड़ा कठिन है। और यही होता भी चाहिये। यदि यह प्रश्न प्रत्यक्ष-प्रमाणसे हल कर दिया जा सकता तो सारी अनुपपत्तियाँ निवृत्त हो जातीं और प्रायः सभी प्रश्नज्ञानी हो जाते। इसी अति कठिनताके कारण साधारण बुद्धिके लोग ईश्वरके अस्तित्वका निषेध करके अथवा उसके विरुद्ध विचार प्रकट करके अस्थान्त सरलतासे लोगोंको बहका सकते हैं। पर इन बातोंमें विचारशील लोगोंका ईश्वरके अस्तित्वपरसे विश्वास उठ नहीं सकता। इसका कारण यह है कि संसारमें ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जिसे अपने निजके अस्तित्व-पर विश्वास न हो—अर्थात् वह यह समझता हो कि 'मैं कुछ नहीं हूँ।' और 'मैं कुछ हूँ।' इसी विश्वासके साथ अपने अन्दर अपूर्णताकी प्रतीति अनिवार्य है। प्रत्येक मनुष्य इस बातका अनुभव करता है कि 'मैं अपूर्ण हूँ' क्योंकि वह अपनी अशक्ति समझता है। यह अपूर्णता इस

बातकी सूचना देती है कि मैं किसी पूर्ण पदार्थका अंश हूँ जिसमें संसारकी सब शक्तियाँ हैं और जिसमें मुझे किसी अंशमें ये प्राप्त हुई हैं।

अच्छा, अब यह सोचिये कि यह 'मैं' मानी जाने-वाली चीज क्या है ? सोचते-सोचते अन्ततः आपको इस तत्त्वपर अवश्य ही पहुँचना पड़ता है कि यह वस्तु 'स्वप्रकाशज्ञान' रूप है—अर्थात् यह 'मैं' पदार्थ वह वस्तु है जिससे सारा जगत् प्रकाशित होता है, पर यह स्वयं अपने आप प्रकाशित होता है, हमें अन्य कोई प्रकाशित नहीं करता। हम सभी सांसारिक वस्तुओंको सूर्य, अग्नि, बिजली आदि पदार्थोंसे प्रकाशित होते देखते हैं। यदि ये पदार्थ प्रकाश न दें तो सारा जगत् हमारे लिये अन्धकारमय अथवा यां कहिये कि अज्ञानमय हो जाय। पर सोचनेपर आपको प्रतीत होगा कि ये सब-के-सब प्रकाशक पदार्थ भी हमारी आरम्भज्योतिसे ही प्रकाशित होते हैं। यदि हम सुर्वा हो जायें तो एक सूर्य क्या करोड़ सूर्य उदय हों तब भी हमें किसी वस्तुका बोध नहीं हो सकता। इसीलिये भगवनी श्रुतिने लिखा है—

‘न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नमा विद्युतो भाति कुताऽयमग्निः ।
तमेव मान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

वहाँ (आत्माके विषयमें) न सूर्य प्रकाशित होता है, न चन्द्रमा तथा सब तारे मिलकर प्रकाशित होते हैं और न ये बिजलियाँ प्रकाशित होती हैं, फिर हम अग्नि-की तो बात ही क्या ? उस (आत्मा) के प्रकाशित होने-पर यह सब अनुप्रकाशित होता है, यह सब उसके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहा है।

पहले हम कह आये हैं कि जिनमें हम 'मैं' रूपमें समझे हुए हैं, उसकी अपूर्णताका बोध हमें हमेशा होता रहता है। हम देखते हैं कि हमें डाक्टरकी कुछ बातों-का बोध होता है तो फिलसफीकी बातोंका नहीं; यदि इन दोनोंका बोध है तो अन्य किसी बातका नहीं। और जिन कुछ बातोंका बोध होता भी है तो वही अपूर्ण। इस

प्रकृतिके रहस्यको—इस सृष्टिके तत्त्वको—पूर्णरूपसे न किसीने समझा है, न आगे कभी समझ सकता है।

इसके साथ एक बात और समझनेकी है। जितने अपूर्ण पदार्थ हैं वे किसी पूर्ण पदार्थके अंश होते हैं। यदि आप एक ग्लोबमें बिजली चमकती देखते हैं तो वह अवश्यमेव उस अनन्त बिजलीका अंश है, जो सारे जगत्में व्याप्त है, ऐसा न होता तो एक ग्लोबकी बिजलीके साथ दूसरे ग्लोबकी बिजलीकी कुछ भी समानता न होती और जब जहाँ चाहिये वहाँ बिजली प्रकट नहीं की जा सकती।

अतः आपको यह भी अवश्यमेव स्वीकार करना पड़ेगा कि इस अपूर्णरूपमें दिखायी देनेवाले पूर्णका 'स्वप्रकाश-ज्ञान' की भी कोई अनन्त निधि है और वही है ईश्वर। अतएव भगवती श्रुति कहती है—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् त्रिकालमें अबाधित अनन्त ज्ञानका नाम ही ब्रह्म अथवा ईश्वर है और भगवद्गीतामें जीवको ईश्वरका अंश बतलाया गया है।

अतः यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य यदि यह समझता है कि 'मैं कुछ हूँ' तो उसे अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि 'ईश्वर अवश्यमेव है' और ऐसी दशमें ईश्वरके अस्तित्वका निषेध स्वयं अपने आपको धोखा देना है तथा बुद्धिके सरासर विरुद्ध है।

ईश्वरका स्वरूप

ऊपर हम लिख आये हैं कि 'स्वप्रकाश अनन्त ज्ञान' का नाम ही ईश्वर है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह

* इस अनन्त ज्ञानकी ईश्वरताके विषयमें श्रीमद्ब्रह्माचार्य-चरणने लिखा है—

'येष्वक्षरमात्रेऽपि वेदेन न विरोधस्तत्त्वविदः । ... ते किं वदन्तीत्याह—यत्त्वद्वितीयं ज्ञानं द्वैतनिवर्तकं (तत्) तत्त्वमित्यर्थः । ... भूतिमृतिपुराणेषु तस्यैव नाममेदं इत्याह—'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्धये' इति ।

(भा० प्र० स्क० अ० २ श्लोक ११ की सुबोधिनी)

मन्विदानन्दरूप तु ब्रह्म व्यापकमन्ययम् ।

सर्वशक्तिमत्तत्त्वं च सर्वज्ञ गुणवर्जितम् ॥

सज्जतीयविजातीयस्वगतद्वैतवर्जितम् ।

मन्यादिगुणमाहृत्यैकमात्मात्मिकः सदा ॥

सर्वाधारं वक्ष्यमायमानन्दाकारमुत्तमम् ।

प्रापञ्चिकपदार्थानां सर्वेषां तद्विलक्षणम् ॥

केवल ज्ञानरूप ही है। उसमें अन्य धर्म भी हैं। श्रीमद्ब्रह्माचार्यने ईश्वरके स्वरूपका वर्णन इसप्रकार किया है—

'ब्रह्म 'सत्' अर्थात् सर्वदा विद्यमान है, सारे जगत्का नाश हो जानेपर भी वह हमेशा मौजूद रहता है। वह ज्ञानरूप है। वह आनन्दरूप है अर्थात् ईश्वरके तिरोभावका नाम ही दुःख है और ईश्वर सदा सुखरूप है। हमें जो कुछ सुख प्राप्त होता है वह उसीके एक अंशरूपमें। वह व्यापक है—कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ वह न हो। वह अव्यय है—उसमें कभी कोई कमी नहीं होती। उसमें सब शक्तियाँ हैं।

वह स्वतन्त्र है अर्थात् उसमें ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति निरवधि हैं—अनन्त हैं। वह सब कुछ जानता है, उसमें कोई बात छिपी नहीं है। वह प्रकृतिके गुणोंमें रहित है।

संसारमें तीन प्रकारके भेद हैं। पहला—जैसे एक पेड़का दूसरे पेड़से, यह सजातीय भेद कहलाता है; दूसरा—जैसे पेड़का पत्थरसे, यह विजातीय भेद कहलाता है; तीसरा—जैसे पेड़का फल-फूल आदिमें (वे पेड़के एक अंश-रूप होनेपर भी पेड़ नहीं कहला सकते), यह स्वगत-भेद कहलाता है। ईश्वर इन तीनों भेदोंमें रहित है, अर्थात् वह जगत्में किसी प्रकार भिन्न नहीं। वह सत्य, शौच आदि सहस्रों गुणोंमें सदा युक्त है वह सबका आधार है। माया उसके वशमें है। आनन्द उसका आकार है। वह सबसे उत्तम है, उसमें ऊपर और कुछ नहीं। वह (जगद्रूप होते हुए भी) जगत्के सब पदार्थोंमें विलक्षण है। वह जगत्का उपादान-कारण है (अर्थात् जगत् उस ईश्वररूप पदार्थसे ही बना हुआ है) और वही निमित्त-कारण (बनाने

जगतः समवायि स्यात्तदेव च निमित्तकम् ।

कदाचिद्द्रुमं त्वस्मिन् प्रपञ्चेऽपि क्वचित्सुखम् ॥

... ये सर्वत्रैव सन्निष्ठप्रन्तरः सस्पृशस्तत् ।

शरीरं त न वेदेत्थं योऽनुविश्य प्रकाशने ॥

सर्वबादानवसरं नानाबादानुरोधि तत् ।

अनन्तमूर्तिं तद्ब्रह्म कृतस्य चलेमेव च ॥

विरुद्धसर्वेषामीणायाश्रयं (यो ?) युक्त्यगोचरम् (र. ?)

आविर्भावानिरोधविमोहनं बहुरूपतः ॥

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, शास्त्रार्थप्रकरण

श्लो० ६५-७२)

१-निरवधिज्ञानक्रियाशक्तियुक्तः स्वतन्त्रो भवति ।

प्रकाश (तत्त्वदीपकी स्वीकृत व्याख्या)

वाला) है। वह कभी अपनी आत्मा में रमण करता है (तब प्रलय होता है) और कभी आनन्दपूर्वक जगत् में रमण करता है (तब सृष्टि होती है।)

... .. वह सभी जगह पूर्णतया रहता है, पर जिसमें रहता है उसे स्पर्श नहीं करता। उसका शरीर (जगत् के पदार्थ) उसे नहीं जान पाता। इस तरह जो अनुप्रविष्ट होकर प्रकाशित हो रहा है, उसमें किसी वाद् (मत-मतान्तर) को अवसर नहीं और वह अनेक बाद्वाँका अनुसरण करनेवाला है अर्थात् वास्तवमें कोई वाद् ऐसा नहीं जो ईश्वर के स्वरूपको समझा सके और वैसे कोई भी वाद् ऐसा नहीं कि जिसकी बात ईश्वरमें घटित न होती हो। उसकी अनन्त सृष्टियाँ हैं। वह पहाड़की तरह स्थिर है और साथ ही चल भी है। सारांश यह कि वह सभी विरोधी धर्मोंका आश्रय है। जगत् के जितने परस्पर-विरोधी धर्म हैं वे सब उसमें विद्यमान हैं, उनमेंसे युक्ति-द्वारा एकका निवारण नहीं किया जा सकता। जैसे कोई कहे कि पृथ्वीमें साँप रहते हैं तो वृह नहीं रह सकते—यह बात मान्य नहीं, उसी तरह ईश्वरमें अमुक धर्म हैं और अमुक नहीं, यह कथन भी मान्य नहीं हो सकता।

वह आविर्भाव और तिरोभावके द्वारा बहुतेरे रूप धारण करनेके कारण सबको मोहित करता रहता है अर्थात् ईश्वर जगत् के उन्हीं पदार्थोंमें कुछ धर्मोंको आविर्भूत करके और कुछ धर्मोंको तिरोभूत करके अनेक रूप धारण करता रहता है और इस तरह लोग चक्करमें पड़ जाते हैं।

यह है श्रीमद्ब्रह्मसंहिता के जो भगवत्स्वरूपके विषयमें बातें लिखी हैं उनका संक्षेप।

ईश्वर यदि है तो दिखायी क्यों नहीं देता ?

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ईश्वर है और उसका उपयुक्त प्रकारका स्वरूप भी है तो वह दिखायी क्यों नहीं देता ? इसके विषयमें श्रीमद्ब्रह्मसंहिता के अष्टमोऽध्यायके १७-१९ श्लोकोंकी व्याख्या करते हुए लिखा है—

ईश्वर प्रत्यक्षसे तो दिखायी देता ही नहीं, पर कार्य (जगत्) के द्वारा भी दिखायी नहीं देता अर्थात् जगत् रूपसे दिखायी देनेपर भी ईश्वर रूपसे उसके दर्शन नहीं हो सकते, क्योंकि जहाँ वह कार्यरूपसे रहता है

वहाँ कार्यरूपसे नहीं और जहाँ कारणरूपसे रहता है वहाँ कार्यरूपसे नहीं—दोनों रूप एक साथ कहीं भी दिखायी नहीं दे सकते। अतः हमलोग कार्यरूप जगत् को ही देख सकते हैं, कारणरूपसे वर्तमान ईश्वरको नहीं देख सकते।

ऐसी दशामें शंका की जा सकती है कि—‘महाशय ! तब आप सीधे शब्दोंमें यही क्यों नहीं कह देते कि—ईश्वर वस्तुतः ही दुर्ज्ञेय है, उसका जानना अत्यन्त कठिन अथवा असम्भव है, न कि किसी साधनके अभावके कारण।’ सारांश यह कि उम्मे जाना जा सकता है अथवा नहीं—यह नहीं कहा जा सकता। वेद स्वयं भी यही कहता है ‘जो उम्मे (ईश्वरको) नहीं मानना उसने उम्मे मान रक्खा है और जिसने मान रक्खा है वह उम्मे नहीं जानता। वह एक ऐसी वस्तु है कि उम्मे विशेषरूपसे जाननेवाले बिल्कुल नहीं जानते और बिल्कुल न जाननेवाले अच्छी तरह जानते हैं।’ वेदमें यह भी लिखा है ‘कौन इस तरह जानता है कि वह कहाँ है अर्थात् उसका किसीको पता नहीं।’ अतः साफ-साफ यही कह दीजिये कि ईश्वर अज्ञेय ही है और उसके ज्ञानकी प्रार्थना व्यर्थ है।

इसके उत्तरमें कहा जाता है कि वह प्राणिमात्रके बाहर-भीतर (सब जगह) स्थित है, अतएव उसका ज्ञान भी सुलभ है। सब वस्तुओंमें वस्तुस्वरूप वही है—उसीके अस्तित्वसे ये सब वस्तुएँ विद्यमान हैं। पर उसका समझानेवाला दुर्लभ है। तब आप कहेंगे कि उम्मे अज्ञेय क्यों कहा जाता है ? इसका उत्तर यह है कि उम्मे विरुद्धधर्मा समझानेके लिये—अर्थात् वह दुर्ज्ञेय भी है और सुज्ञेय भी—यह समझानेके लिये ऐसा कहा जाता है। उपयुक्त श्रुतिका यही तात्पर्य है। अतः यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है अतएव उसका ज्ञान सुलभ है।

इसपर यह प्रश्न होता है कि, जय ईश्वर बाहर-भीतर सब जगह विद्यमान है, तब सबको ईश्वरका प्रत्यक्ष बोध क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि उसके ऊपर मायाका परदा आ रहा है। इसका अर्थ यह है कि सब वस्तुओंमें वस्तुस्वरूप होनेपर भी मायाके द्वारा अभ्यन्धरा प्रतीति होनेके कारण ईश्वरका प्रत्यक्ष बोध नहीं होता।

अर्थात् हमें सब चीजें दिखायी देनेपर भी वे स्त्री-पुत्र, शत्रु-मित्र-उदासीन, हानिप्रद-लाभप्रद अथवा निरर्थक आदि रूपोंमें दिखायी देती हैं—वास्तविक स्वरूपमें नहीं। क्योंकि मायाने उन सब वस्तुओंपर अहंता-ममताका जाल बिछा रक्खा है। अतः हमें भ्रम हो रहा है और हमारी दृशा 'पर्यक्षपि न पर्यति' की-सी हो रही है—हम देखत-भ्रूलोके चक्करमें आ रहे हैं।

आप कहेंगे—भाई, भ्रमकी वान ठीक हो सकती है; पर सबको सब जगह भ्रम नहीं होता, किन्तु किसीको किसी विषयमें हो सकता है। 'मारी दुनियाको भ्रम हो रहा है' यह कथन ठीक नहीं। क्योंकि भ्रम इन्द्रियके माध दोष रहनेसे होता है, इन्द्रियमें दोष न होनेपर भ्रम कभी नहीं हो सकता। अतः जब हमारी इन्द्रियोंमें किसी तरहका दोष न हो तब, जैसे घट आदिका अमरहित बोध होता है, वैसे ईश्वरका भी शुद्ध बोध हो सकता है। तो इसका उत्तर यह है कि ईश्वर अधोभ्रज है। अर्थात् इन्द्रियों-ने उत्पन्न ज्ञानमें ईश्वर नहीं समा सकता—इन्द्रियोंके ज्ञान-का सामर्थ्य नहीं कि वह वहाँतक पहुँच सके। अतएव श्रुतिमें लिखा है कि—'इन्द्रियोंको ईश्वरने बाहरकी तरफ जानेवाली बनाया है, इसीसे (मनुष्य) बाहरकी तरफ देखता है, आत्माके अन्दर नहीं।' अतः ईश्वरके वस्तुस्वरूप होनेपर भी और सर्वत्र विद्यमान होनेपर भी उसका इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष बोध नहीं होता। (सुबोधिनी प्र० स्क० अ० ८ श्लो० १७-१९ देखिये)

ईश्वर और जगत्का सम्बन्ध

शुद्धाद्वैत-सिद्धान्त (अर्थात् श्रीमद्ब्रह्मभाचार्यके मत) में ईश्वर और जगत्का तादात्म्य-सम्बन्ध है। ईश्वरसे जगत् अभिन्न पदार्थ है। 'तत्त्वार्थदीप' (निबन्ध) में लिखा है—

* यह जगत् न प्रकृतिये बना हुआ है, न परमाणुओंसे, न अमरूप है, न अदृष्ट (प्रारब्ध) आदिके द्वारा उत्पन्न और न असत्की सत्ता ही है—अर्थात् पहले कुछ नहीं था और अब दिखायी दे रहा है, किन्तु भगवान् अर्थात् जिससे

* अर्थ प्रपञ्चो न प्राकृतः, नापि परमाणुजन्यः, नापि विवर्त्तात्मा, नाप्यदृष्टाद्विद्वारा जातः, नाप्यमतः सत्तारूपः, किन्तु भगवत्कार्यः—परमकाष्ठापन्नवस्तुवृत्तिसाध्यः । तादृशोऽपि भगवत्कार्यः, अन्यथा व्रसतः सत्ता स्यात् ।माया हि भगवतः

ऊपर कोई वस्तु नहीं उस वस्तुके प्रयत्नसे बना हुआ है और न केवल उसके प्रयत्नसे बना हुआ ही है, किन्तु भगवद्रूप है। क्योंकि एक ईश्वर ही सत् पदार्थ है, यदि जगत्को उससे भिन्न माना जाय तो 'असत्' की सत्ता हो जाय अर्थात् जो वस्तु कभी नहीं थी उसका अस्तित्व हो जायगा, जो कि सर्वथा विरुद्ध है।

यह जगत् मायाद्वारा उत्पन्न होता है अर्थात् माया इसकी उत्पत्तिका साधन है। यह माया भगवान्की एक शक्ति है। भगवान्में जो सर्वरूप बन जानेकी शक्ति है उसे ही माया कहते हैं, जैसे कि पुरुषमें काम करनेकी शक्ति।

सारांश यह कि, ईश्वरकी उस ताकतका नाम जिसके द्वारा वह सब तरहके रूप धारण कर सकता है 'माया' है। उसके द्वारा ही वह सर्वरूप बना हुआ है। जगत्में उससे भिन्न कोई वस्तु नहीं। यह माया भी ईश्वरमें अतिरिक्त पदार्थ नहीं, किन्तु ईश्वररूप ही है; क्योंकि शक्ति शक्तिमान्में भिन्न नहीं हुआ करती।

अतः यह सिद्ध हुआ कि भगवान्ने अन्य किसीका आश्रय न लेते हुए अपनी शक्तिसे अपने आत्मारूप इस जगत्को बनाया है।

आपका सिद्धान्त है कि—

आत्मैव तदिदं सर्वं ब्रह्मैव तदिदं तथा ।

इति श्रुत्यर्थमादाय साध्य सर्वैयथामति ॥

अयमेव ब्रह्मवादः शिष्टे मोहाद्य कतिपयतम् ।

(तत्त्वदीप, नवनिर्णयप्रकरण, कारिका १८४)

'यह सब आत्मा ही है' 'यह सब ब्रह्म ही है' इस श्रुतिके अर्थको लेकर सबको अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार मिद्ध करना चाहिये। यही ब्रह्मवाद है, दोष सब लोगोंको चक्करमें डालनेके लिये कल्पना की गयी है।

यह सिद्धान्त होनेपर भी जगत्में तीन प्रकारके अधिकारी हैं। उत्तम अधिकारी जगत्को भगवान् समझते हैं; मध्यम अधिकारी भगवान्से जगत्की उत्पत्ति मानते हैं और कार्य-कारणमें तादात्म्य-सम्बन्ध होनेके कारण जगत्को भगवान्के समान मानते हैं। मूर्ख अधिकारी शक्ति-संबन्धनसामर्थ्यरूपा तन्त्रेव स्थिता; यथा पुरुषस्य कर्मकरणादौ सामर्थ्यम् । तेन स्वामार्थनान्यानुपजीवनेन स्वात्मरूपं प्रपञ्चे कृतवानिति फलितम् ।

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, भा० प्र० २७ वीं कारिकाका प्रकाश)

भगवान्को प्रत्यक्षता मानते हैं और भगवत्को नाश होने-वाली वस्तु; अतः भगवान्के सर्वदा विद्यमान रहनेके कारण और जगत्के नाशवान् होनेके कारण भगवान्को जगत्से भिन्न मानते हैं ।'

(श्रीमद्भागवत १-५-२० की सुबोधिनी)

ईश्वरकी प्राप्ति का उपाय

श्रीमद्भक्तभाष्यने—

वैराग्यज्ञानयोगेन प्रेम्णा च तपसा तथा ।

प्रेमनापि हृदयेन भजन् सिद्धिमवाप्नुयात् ॥

(निबन्ध, भा० प्र० १, ६)

—की व्याख्या करते हुए लिखा है—'पाँच अंगोंसे युक्त पुरुष भगवान्की भक्ति करे । उनमेंसे पहला अंग है वैराग्य, क्योंकि वैराग्य न होनेसे भगवान्का आवेश नहीं होता । अतः भजन सिद्ध नहीं हो सकता । दूसरा अंग है ज्ञान, जिसका अर्थ है सब पदार्थोंका और भगवान्का यथार्थ स्वरूप समझना; इसके अभावमें निश्चय न होनेसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती । तीसरा अंग है योग—अर्थात् चित्तका एकाग्र करना, क्योंकि मनके चञ्चल रहनेपर भक्ति नहीं हो सकती । चौथा अंग प्रेम है, प्रेम न होनेसे भक्ति स्वतः फलरूप नहीं हो सकती, क्योंकि बिना प्रेमके भक्तिमें रस नहीं आता । पाँचवाँ अंग है तप, तप न होनेपर देहादि कष्ट रहते हैं, ऐसे देहादिसे भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती । तपसे देह-इन्द्रिय आदि परिपक्व हो जाते हैं ।

होने तो ये पाँचों ही चाहिये, पर पाँचोंका समुदाय दुर्लभ है, अतः पाँचोंमेंसे एकको भी हट करके यदि ईश्वरका भजन करे तो मनुष्य अवश्य सिद्धि को प्राप्त होता है ।

इसके बाद आपने लिखा है—

एवं सर्वं ततः सर्वं स इति ज्ञानयोगतः ।

यः सेवते हरिं प्रेम्णा श्रवणादिभिरुत्तमः ॥

प्रेमाभावे मध्यमः स्वाज्ञानाभावे तथ्यदिमः ।

उभयोरप्यभावे तु पापनाशस्ततो भवेत् ॥

इन श्लोकोंकी व्याख्या 'आवरण-भंग' का आशय लेते हुए यों है—वेदोंके अनुसार ईश्वरका ज्ञान दो प्रकारका है—'सब कुछ ईश्वरसे है' यह गौण ज्ञान और 'ईश्वर ही सब कुछ है' यह मुख्य ज्ञान; इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंसे युक्त होकर प्रेमके साथ श्रवण-कीर्तन आदि प्रकारसे जो भक्ति करता है वह भक्तिमार्गमें उत्तम भक्त कहलाता है । जिसे वेदार्थका ज्ञान नहीं है, पर प्रेमसे भक्ति करता है वह मध्यम भक्त है, अथवा प्रेमरहित ज्ञान हो तो वह भी मध्यम भक्त है । यहाँ इतना और समझ लेना है कि ज्ञानके अभावमें यदि प्रेम उत्कट हो तो मध्यम भक्त होता है, अन्यथा हीम कोटिका । और प्रेम तथा ज्ञान दोनोंसे रहित होकर जो भगवत्सेवा करता है तो उससे पापका नाश होता है । सारांश यह कि प्रेम-ज्ञान-रहित भगवत्सेवक भक्त नहीं, किन्तु धर्मात्मा होता है ।

उपसंहार

इस तरह संक्षेपमें श्रीमद्भक्तभाष्यका ईश्वर-विषयक सिद्धान्त दिखाया गया है । पर वास्तविक सिद्धान्त तो उनका यह है कि—

अतौकिकं तत्प्रमयं न युक्त्वा प्रतिपद्यते ।

तपसा वेदयुक्त्वा वा प्रसादान् परमात्मनः ॥

अर्थात् ईश्वर एक ऐसा प्रमय है जो युक्तिसे नहीं समझा जा सकता । उसके बोधके केवल तीन साधन हैं—एक तप, दूसरा वेदानुसारिणी (न कि केवल) युक्ति—अर्थात् वेदवाक्योंका मनन और तीसरा तथा सबसे मुख्य उपाय है परमात्मा—आत्माके भी आत्मारूप उस प्रभुकी कृपा ।

इन सब बातोंका विस्तार श्रीमद्भक्तभाष्यके निबन्ध, सुबोधिनी, अणुभाष्य आदि ग्रन्थोंमें देखा जा सकता है । आशा है, कृपालु पाठक अभी इसनेसे अपना सन्तोष कर लेंगे ।

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

विनती

यह दरियाकी बोनती तुम सेतो महराज । तुम भृंगी में कीट हूँ मेरी तुमको लाज ॥

—दरिया साहिब मारवाड़वाले

लीला-लावण्य

(केवल—पुरोहित श्रीमतापनारायणजी 'कविरत्न')

(१)

ईश्वर ! कैसे कहे तुम्हारा मैं वर-वर्णन ?
वर्णनीय तुम नहीं और मैं साधारण जन ।
फिर भी ऐसा जान, तुम्हीं मुझमें रहते हो ।
करते-हरते तुम्हीं, तुम्हीं सुनते-कहते हो ।
किन्तु हूँ दो शब्द मैं, क्योंकि भाव तुम भर रहे ।
मैं तो कुछ करता नहीं, तुम्हीं समी कुछ कर रहे ॥

(२)

ले करके अवतार और बन प्रतिदिन-जन्मा
रहते हो तुम विमो ! किस तरह सदा अजन्मा ?
मुझे तुम्हारा रूप नहीं दिखलाई देता—
तो भी दर्शन नित्य तुम्हारा मैं कर लेता ।
रोम-रोममें रम रहे, तो भी तुम्हें न जानता ।
नहीं प्रमो ! पहचानता, अद्भुत तुम्हें बखानता ॥

(३)

'ईश्वर कुछ भी नहीं, समी कुछ यह माया है ।
जड़ तत्वोंसे बनी स्वयं सबकी काया है ।'
ऐसा कहते आज मूढतम जो मानव हैं—
मलिन-नुद्धि हैं, मोहग्रस्त हैं, वे दानव हैं ।
सर्वाऽधिप ! सर्वत्र ही, रहते हो तुम सर्वदा ।
फैल रही संसारमें, सुखद तुम्हारी सम्पदा ॥

(४)

माया क्या है, ईश ! तुम्हारी वह छाया है ।
तुम उसके हो नाथ, तुम्हारी वह जाया है ।
स्वामी हो तुम और तुम्हारी वह दासी है ।
विश्वनाथ तुम और तुम्हारी वह काशी है ।
कारण हो तुम और वह कार्य-रूप बन मोहती ।
सूक्ष्मरूप तुम और वह इयूक-रूप बन सोहती ॥

(५)

हो तुम गन्ध अमन्द और वह पृथ्वी उज्ज्वल ।
हो तुम रस-माष्यार और है वह निर्मल-जल ।
हो तुम रूप अनूप और वह ज्योति मनोरम ।
हो तुम सुन्दर-स्पर्श और वह स्पर्शन अनुपम ।
तुम सुखदायक शब्द हो, स्वच्छ-नील-आकाश वह ।
हाम जोड़ रहती खड़ी, सदा तुम्हारे पास वह ॥

(६)

माया कहते उसे, ब्रह्म तुम कहलते हो ।
वह हो आती प्रकृति, पुरुष-पद तुम पाते हो ।
शङ्कर हो तुम और दिव्य वह शक्ति तुम्हारी ।
सीता है वह और राम तुम हों असुरारी ।
राधा है वह कृष्ण तुम, जीवन तुम वह देह है ।
तुम उसके आधार हो, विश्वरूप वह गेह है ॥

(७)

रहते हैं सब जीव तुम्हारे होकर वशके ।
महा-मधुरतम-सिन्धु तुम्हीं हो अद्भुत-रसक ।
लेकर अग-लावण्य हो रहे तुम कुक्ष हो ।
घरते रूप अनेक, विश्वमें तुम अनूप हो ।
हरे ! त्रिलोकीनाथ ! तुम निज-भक्तोंके दास हो ।
रहकर उससे दूर भी तुम प्रेमीके पास हो ॥

(८)

तुम्हें चाहता नहीं क्योंकि तुम घट-घट-जासी ।
किन्तु तुम्हारी एक कृपाका मैं अभिलाषी ।
दे दो उसको प्रमो ! उसीका मैं इच्छुक हूँ—
और नहीं मगवान् ! तुम्हारा मैं मिथुक हूँ ।
दान दयाको दो अमी, कृपा-पात्र मुझको करो ।
मग्न-भाव मुझमें करो, पाप-ताप मेरे हरो ॥

सर्वस्रष्टा

(लेखक—महाकवि कृष्णजी बल्लुवा बी० प०)

अपने चारों ओर दृष्टि-निक्षेप करनेपर मुझमें एक भावना जागृत होती है। वह है—इस विस्तृत विश्वास एक महान् श्रॉकीके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

प्रातःकाल स्निग्ध-उषा-लालिमान्वित लाल-पीले-नीले-हरे फूलोंको नय्यश्री-प्लावित देखता हूँ, ओस-विन्दुओंको हरीतिमा-राजिपर मोतियों-सा जगमगाते पाता हूँ, मन्द-मन्द मलय-समीरणका मृदुल स्पर्श अनुभव करता हूँ, इठला-इठलाकर किलोल करती लहरियोंकी मृदुल रागिनी सुनता हूँ और कह उठता हूँ—कितना सौन्दर्य ! कितना लावण्य !

मध्याह्नमें व्यस्त पुरुषोंके कार्य-कलाप देखता हूँ। कोई द्रुतगति भागा जा रहा है, तो कोई अपनी वस्तुकी प्रशंसा करते-करते नहीं अघाता; कोई पल-पलपर लाखोंका धारा-न्यास कर रहा है, तो कोई उदर-पूर्तिके लिये पसीना बहानेमें लगा है और मैं कह उठता हूँ—कितनी शक्ति ! कितनी विभूति !

सन्ध्याको सुनता हूँ किमीकी प्रशंसा, किसीकी निन्दा।

कोई चिन्ता और दुःखोंकी कढ़ाही कह रहा है, तो कोई हास्य और व्यंग्यसे चतुर्विक् गुंजा रहा है; किसीका मुखड़ा उदास है, गति शिथिल है, तो किसीपर कान्ति दमदमा रही है, अस्ती और मादकता बरस रही है और मैं उलझते कष्टन आवेने सोचता हूँ—कितना वैयर्थ ! कितना विरोध !

जब कभी रात्रिको आँखें खुल पड़ती हैं, तो देखता हूँ—नील गगनमें चन्द्रमा तारिकाओंसे क्रीड़ा कर रहा है; मोठी-मोठी शीत उमक रही है; समस्त विश्व निद्राकी शान्त, निश्चिन्त, सुखद गोदमें पड़ा है और मनमें भाव उठता है—कितनी शान्ति ! कितना सुख !

सोचता हूँ—यह सुन्दर लावण्य, सदाक विभूति, विषम विरोध और शान्त सुख किसकी सृष्टि है ? मानव-महत्त्वका यह निर्माण नहीं। अणभंगुरताका यह परिचय नहीं। यह अमर है, अपरिवर्तनीय है।

ऐसे ही समय मेरी नास्तिकता आस्तिक बन जाती है। मुझे विश्वास हो जाता है कि मनुष्य जिसका निर्माण किया हुआ सजीव पुसका है, उस मानव-हृत्तर शक्तिका आस्तिक्य अप्राप्त नहीं।

कल्याणका मार्ग

(लेखक—जेनधर्मभूषण ब्रह्मचारी श्रीगीतकप्रसादजी)

मानव-जातिका कर्तव्य है कि अपने कल्याणके मार्ग-को ढूँढ़े और अपने जीवनको सफल बनावे।

वास्तवमें एक अन्तरंग लोक है, दूसरा बहिरंग लोक है। जहाँ जब-चेतनका मिश्रण है और केवलमात्र जड़-ही-जड़ है, वह सब बहिरंग लोक है। इसके मोहमें पड़ा हुआ यह मानव विषयान्ध होकर, नाना प्रकार पापकर्म बाँधकर भय-भवमें भटकता करता है। जो अन्तरंग लोकको पहचानता है, वही कल्याणके मार्गको पा लेता है। अन्तरंग लोक एक केवल आत्माराधन है जो पूर्ण ज्ञानमय, पूर्ण शान्तिमय, पूर्ण आनन्दमय, अमूर्तिक, चिदाकार है, वही परमैश्वर्यमय परमेश्वर है, वही सर्व ज्ञेयोंमें ज्ञानद्वारा व्यापक होनेसे विष्णु है, वही परब्रह्मस्वरूप है, वही आनन्दका विधाता है, इससे ब्रह्मा है; वही कर्म-बन्-संहारक है, इससे रुद्र है; वही कामादि शत्रुओंसे अपराजित है, इससे महावीर

है; वही सर्वज्ञ, सर्वदर्शी है, इससे बुद्ध है; वही परब्रह्म मंगलका कर्ता है, इससे शिव है; वही सर्व पदार्थोंमें महान् है—स्वपरमकादाक है, इससे अक्षय है और वही सर्व पुरुषोंमें उत्तम है, इससे पुरुषोत्तम है—वह आत्माराधन ही परमाराधन है। वह ज्ञानानन्दका महान् अद्भुत गम्भीर सागर है। इन्द्रियजनित, ज्ञानिक, अतिसिकारी आकुलतामय सांसारिक विषय-सुखसे विकल्पात् अतीन्द्रिय, शाश्वत, परम तृप्तिकारी और निराकुल आरम्भिक सुखका वही एक सुखसागर है। जो मानव बहिरंग लोकके मलिन जलसे कलोल करना छोड़ अन्तरंग लोकके क्षीर-जलवत् परम निर्मल जलमें क्रीड़ा करता है—उसीके रसका पान करता है, वही कल्याणका मार्ग पाता है। अन्तरंग लोकमें अद्याप्यर्षक रमण करना ही मोक्ष-मार्ग है, सर्व पाप-मलको धुवानेवाला है, संसारी आत्माको शीघ्र शुद्ध बनानेवाला है, यही धर्म है। जो इसको

धारे वह धर्मात्मा है। वही धर्मात्मा भगवान् परमात्माका अन्तरंग दृष्टिसे दर्शन करता है, परम सुख-शान्तिका लाभ करता है, बीतरागताकी बुद्धि पाकर रागद्वेषादिको मिटाता है। आत्मिक धनन्त बलको चमकाता है। कहा है—

‘निज घटमें परमात्मा, चिन्मुरति भइया ।
ताहि बिलोकि सुदृष्टिधर पण्डित परखेया ॥’

जो इन्द्रिय-रसोंके स्वादोंमें सुख मोड़ आत्मिक रसका स्वाद लेता है, वही ईश्वरकी सखी भक्ति करता है—वही सखी आत्मानुभूतिरूपी राधाका आराधक, पक्का उपासक है। जो आत्मिक गङ्गामें स्नान करता है, वही पवित्र हो जाता है। बालक-वृद्ध-युवाको, स्त्री तथा पुरुषको, क्षत्रिय-ब्राह्मण-वैश्य तथा शूद्रको, शासक व प्रजाको, व्यापारी व मजूरको, सेठ व सेवकको, ऊँच व नीचको निरन्तर प्रातःकाल और सायंकाल कम-से-कम पाँच मिनटके लिये तो आत्मिक विश्रान्ति-गृहमें जाकर विश्राम करना ही चाहिये। सर्व बहिरंग लोकसे बेखबर हो जाना चाहिये। यही सखी पूजा है, इस पूजाके करनेमें हर कोई स्वतन्त्र है, कोई किसीको रोक नहीं सकता। यहाँ अछुत तथा दूतका विकल्प नहीं है। आत्मिक मन्दिरमें परमात्मादेव विराजित हैं, उसके चरणका स्पर्श हर कोई प्रेमी आत्मा कर सकता है। जो इस नित्य-कर्तव्यको पालता है वही मानवीय कल्याण इत्यागन करता है। सर्व विश्व वृक्ष-लतादि, पशु-पक्षी आदि मानवादि प्राणियोंसे भरपूर है। हरएक प्राणीके भीतर अन्तरंग लोक समान है। सबको समान निरखकर हृस्व और दीर्घका भाव हटाकर जो विचार करता है वह परम साम्यभावका आश्रय करता है। उसे समतादेवीका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है, वह विश्वप्रेमका हार गलेमें पहन लेता है। सर्व विश्वके जङ्ग-चेतन-मिश्रणरूप प्राणीका भी अवलोकन किया जाय तो सबमें समानता है। सब ही जीवित और सुखी होना चाहते हैं। यही विचार अहिंसा-बलको जागृत कर देता है, इसमें दयाका भाव सममें उमड़ आता है। यही भाव स्वरक्षा-पररक्षामें प्रवर्तन कराता है। यही भाव साधुको परम अहिंसक और गृहस्थको यथासम्भव अहिंसक बना देता है। जो संकल्पी हिंसासे बचाता है, आरम्भीमें यथाशक्ति यत्नमें बर्ताता है, निरर्थक हिंसा नहीं होने देता है। जो भाव तन-मन-बल सब दूसरेकी सेवार्थ अर्पण कर

देनेकी प्रेरणा करता है, वह मानव-जीवनको कल्याणकारी बनानेवाला यही अहिंसक भाव है। कुछ कल्याणकारी वाक्योंका लाभ पाठकगण लें।

विरम किमपरेणाकार्यंकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य वष्मासमेकम् ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्विजवाप्तो
ननु किमनुपलब्धिर्मांति किंचोपलब्धिः ॥

भावार्थ—ऐे आइ ! विरक्त हो, पृथा कोलाहलमें क्या ! स्वयं ही निश्चल होकर लगातार छः मासतक उस एकको अनुभव कर तो क्या तेरे हृदय-सरोवरमें पुद्गल जड़ने भिन्न परम तेजस्वी आत्माका लाभ न होगा ! अवश्य होगा।

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेवां शुद्धतत्त्वोपलभम् ।
प्रचलितमखिलान्यद्रव्यदूरं स्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥

भावार्थ—जो भेद-विज्ञानकी शक्तिसे अपने आत्माकी महिमामें रत हो जाते हैं, उनकी नियतरूपसे शुद्ध आत्मबलका लाभ होता है। ऐसा होते हुए ही उन परद्रव्योंमें दूर रहनेवालोंको परम निश्चल अविनाशी मोक्षका लाभ हो जाता है।

मुहस्त्वमि श्रामुभगत्वमनुते
द्विषन् त्वमि प्रत्ययवत् प्रलीयते ।
भवानुदासीनतमस्तयोऽपि
प्रभो परं चित्रमिदं तवहितम् ॥

भावार्थ—जो आपसे मित्रता करता है, वह परम-लाभको पाता है, जो आपसे द्वेष करता है वह प्रत्ययके समान लोप हो जाता है। आप तो हे प्रभु ! दोनोंपर उदासीन हैं तो भी आपकी चेष्टा बड़ी आश्चर्यमय है।

सुखामिलाषानरुदाहमूर्च्छितं
मनां निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः ।
विदिध्वपस्त्वं विषदाहमाहितं
यथा मिषमंत्रगुणैः स्वविप्रहम् ॥

भावार्थ—सांसारिक सुखकी इच्छारूपी अभिषेक दाहसे जलते हुए मनको अपने आत्मज्ञानमय अमृतके जलने उसी तरह बुझा डाल जिस तरह वैद्य विषके दाहसे मूर्च्छित शरीरको मन्त्रोंके द्वारा विपरहित कर देता है।

प्रकृतिमें परमेश्वर

(लेखक—नेवरेण्ड भी अर्थर ई. मैस्मी)

क्या ही यथार्थ वचन है—

‘The fool hath said in his heart there is no God.’

‘मुख्य अपने मनमें यह कहकर संतोष कर लेता है कि ईश्वर नहीं है।’

बाम्बवमें इस बातके बहुसंख्यक प्रमाण सर्वत्र विद्यमान हैं कि कोई सर्वव्यापक एवं सर्वोपरि चैतन्यशक्ति अवश्य है। इसको सिद्ध करनेके लिये हमें ज्ञात लगभग अज्ञात तत्त्वका अनुसन्धान करना होगा। हम स्वयं विद्यमान हैं, इस विषयमें किसीको तनिक भी सन्देह नहीं है। हमारे जीवनका एक स्वरूप यह भी है कि हम उस अलक्ष्य-शक्ति-को व्यवहारमें ला सकते हैं, चाहे हम स्वयं अपने हाथसे उसका प्रयोग करें अथवा अप्रत्यक्षरूपसे इस भौतिक जगत्के उन तत्वोंके सहारे करें जो हमारे आस-पास मौजूद हैं और जिनके अन्दर उस शक्तिने पहलेसे ही काम करना शुरू कर दिया है। किसी Cylinder मेंमे Piston को ऊपर उठानेकी दो वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ हैं, एक तो अपने हाथोंकी शक्तिसे उसे उठाना और दूसरे किसी Boiler के अन्दर पानीको वाष्पमें परिणतकर उस वाष्पके द्वारा अपनी निगरानीमें उसको ऊँचे उठवाना।

हम नयी-नयी वनस्पतियों और कई प्रकारके सुन्दर पदार्थोंको उसी प्रकार उत्पन्न कर सकते हैं, जिस प्रकार प्रकृति-के द्वारा इस कार्यका सम्पादन होता है। हम अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये अथवा केवल विनोदके लिये सूर्यकी रश्मियों-का कई नूतन एवं रोचक प्रकारोंसे उपयोग कर सकते हैं। सूर्यके प्रकाशके अभावमें हम कृत्रिम प्रकाश उत्पन्न कर सकते हैं। कहाँ तक गिनावें, हम हजारों तरहसे अपनी बुद्धिके द्वारा प्राकृतिक शक्तियोंका उपयोग कर सकते हैं एवं अपनी इच्छानुसार उनमें उल्ट-फेर कर सकते हैं। इस प्रकार अपनी परिमित शक्तिके अनुसार हम प्रमाण्ड-तत्त्वको रच सकते हैं। जिस कामको हम अपनी संकल्प-शक्तिकी प्रेरणा एवं आदेशके अनुसार अपूर्व ढंगसे कर सकते हैं, वही कार्य प्रकृतिमें अधिक पूर्णता एवं व्यवस्थाके साथ प्रति-दिन होता रहता है और यह उस समयसे होता आ रहा है जब हमारा अथवा हमारे-जैसे और किसी चेन्नानायुक

प्राणीका अस्तित्व ही नहीं था। इससे हमारा यह अनुमान ऐसी प्रकार अनुचित नहीं कहा जा सकता कि विश्वके अन्दर एक ऐसी अन्य निरपेक्ष संकल्प-शक्ति काम कर रही है जिसके साथ हमारी संकल्प-शक्तिका वही सम्बन्ध है जो हमारे दैनिक जीवनके प्रत्येक कार्यमें किसी प्रधान कर्मचारीके साथ उसके अधीनस्थका अथवा स्वामीके साथ उसके नौकर-का होता है। अतः यह स्पष्ट है कि हमें इस संसारमें उसके विकास एवं व्यवस्थामें विवेकपूर्ण भाग लेनेके लिये जन्म दिया गया है और यद्यपि हमें अपने-अपने अधिकारका काम करनेके लिये कुछ स्वतन्त्रता अवश्य दी गयी है किन्तु हमारे लिये सदा अपने सर्वनियन्ता एवं सर्वोद्देश्य प्रभुके नियमों एवं आदेशोंका पालन करना आवश्यक है।

इस विश्वकी रचना एवं इसके सञ्चालनके सम्बन्धमें समय-समयपर कई प्रकारके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है। उन सब सिद्धान्तोंकी समालोचना न करके हम एक बात निःशंक होकर कह सकते हैं कि सारे उद्योतिषियों एवं पदार्थ-विद्या-विशारदोंका इस विषयमें एकमत है कि विश्वके अतीत कालका इतिहास एवं उसकी वर्तमान स्थिति यह बनलाती है कि उसके अन्दर एक शक्ति निरन्तर ऐसी सावधानीसे कार्य कर रही है कि उसके द्वारा भ्रमसे अथवा किसी आकस्मिक कारणसे या अनियमितताके शोषसे सौर-मण्डलके किसी ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र और तारोंको कभी क्षति नहीं पहुँचती। अवश्य ही कभी-कभी प्रत्यक्षमें ऐसा प्रतीत होता है कि इस विश्वके महान् सञ्चालनमें त्रुटि हो रही है, किन्तु बाम्बवमें वे त्रुटियाँ अपने ही अज्ञानसे अथवा प्राकृतिक नियमोंकी पूर्णतया न समझनेके कारण होती हैं, उस नियामक शक्तिके प्रबन्धमें कहीं भूल नहीं होती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्राकृतिक शक्तियाँ नियमपूर्वक एवं ढंगके साथ क्रमशः अत्यन्त सूक्ष्मकी ओर अग्रसर होती हुई कार्य करती रहती हैं। इष्टमान एवं अदृश्य-जगत्में परस्पर निरन्तर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है जिसके अन्दर बड़े-से-बड़े तार्किकों भी सृष्टिके आदिमें तथा इस समय भी एक निश्चित उद्देश्य एवं व्यवस्था दृष्टिगोचर हुए बिना नहीं रह सकती। उस सनातन पुरुषके लिये अतीत अथवा भविष्यकी कल्पना नहीं हो सकती, उसके द्वारा सबैक क्रिया होती रहती है।

प्रसिद्ध भूगर्भ-विद्या-विशारद प्रो० लायल (Professor Lyall) ने उन क्रमिक एवं बहुधा होनेवाले प्राथिव विकारोंके सम्बन्धमें यह लिखा है—

‘भूगर्भ-विद्याका अध्ययन हमें यह बतलाता है कि पृथ्वीकी वर्तमान आकृति ही असंख्य जीवोंके निवासके योग्य हो, यह बात नहीं है। अतीत कालमें उसकी जो आकृति थी वह भी उस समयके प्राणियोंकी व्यवस्था और रहन-सहनके लिये अनुकूल ही थी। समुद्रों, विस्तृत भू-भागों (महाद्वीपों), द्वीपों तथा उनके जल-वायुमें बराबर परिवर्तन होते रहे हैं। साथ ही जीवोंके अन्दर भी परिवर्तन होते रहे हैं किन्तु ये सारे परिवर्तन वर्तमान कालकी वनस्पतियों एवं प्राणियोंके परिवर्तनके अनुरूप ही हुए हैं इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विश्वके अन्दर आदिसे अन्ततक एक ही उद्देश्य काम कर रहा है।

चार्ल्स डार्विन (Charles Darwin) जैसे वैज्ञानिकोंने अपनी गवेषणाओंसे यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि प्रकृतिके अन्दर कोई दिव्य शक्ति सदैव काम करती रहती है जो उन जीवोंको छुँट-छुँटकर उनकी वंश-परम्पराको कायम रखती है, जो पृथ्वी-तलकी भौतिक अवस्थाके पूर्णतया अनुकूल हैं। मनुष्यकी उत्पत्तिके लिये तथा छोटे-छोटे जीवोंसे बड़े-बड़े जीवोंके विकासके लिये एक नवीन नियमका लागू होना आवश्यक हो गया है। वह नियम है The law of sexual selection अर्थात् नारीद्वारा नरका चुनाव। डार्विन (Darwin) के सिद्धान्तके अनुसार इस नियमका आधार यह है कि बड़े-बड़े जानवरोंमें नर-जातिके अन्दर ही आकर्षकता होती है, जैसे पक्षियोंमें नर-पक्षीके पंख अधिक रंग-विरंगे एवं देखनेमें सुन्दर होते हैं। अर्थात् प्राकृतिक विवेक (Natural selection) से नर-जातिके

अन्दर ये गुण चिरस्थायी हो गये हैं। इसके अतिरिक्त जीवोंकी अनेक जातियोंमें इन गुणोंका पूर्ण विकास केवल यौवन-कालमें और किन्हीं-किन्हीं जातियोंमें केवल उस ऋतुमें होता है जो मिथुनोपयुक्त (Breeding season) होती है। उस लेखकका कहना है कि यह बात विश्वासमें नहीं आती कि यह सब लीला उद्देश्यहीन हो।*

इसप्रकार हमें उस अदृश्य एवं सर्वव्यापक शक्तिका पता लगता है जिसके विषयमें वैज्ञानिकोंका यह अनुभव है कि वह जड़-पदार्थोंका सञ्चालन करती है और जिसे स्पन्द (Motion), ऊष्मा (Heat), प्रकाश (Light), रासायनिक क्रिया (Chemical activity) इत्यादिके स्वरूपमें भौतिक शक्ति (Physical Force) कहते हैं और सजीव प्रकृतिके श्रेष्ठमें जिसके व्यापारको प्राण-शक्ति (Vitality) अथवा जीवन-शक्ति (Vital energy) कहते हैं। साथ ही हमें यह भी पता चलता है कि वह शक्ति एक एवं अखण्ड है और कतिपय नियमों (Laws) के अनुसार अथवा एक ही अटल विधानके अनुसार एक निश्चित योजनाको चरितार्थ कर रही है। अन्तमें उस शक्तिके कार्योंपर विचार करनेमें तथा उसकी कार्य-प्रणाली-पर ध्यान देनेमें यह सिद्ध होता है कि यह शक्ति एक सर्वश एवं सर्वदर्शी चैतन्य-शक्तिके अधीन तथा उससे साक्षात् सम्बद्ध रहकर कार्य करती है। विश्वके अन्दर शक्ति और ज्ञानके इस समन्वयको मनुष्यने श्रेष्ठता (Goodness) का आदर्श समझा और इसीलिये उसे ईश्वर (God) के नामसे पुकारना प्रारम्भ कर दिया।

‘गगन-मण्डल उस परमात्माकी महिमाका बखान करता है और अनेक ग्रहों और नक्षत्रोंकी पंक्ति उसकी अनुपम कारीगरीका प्रमाण है।†

मन भगवान्में

सत समर्थ ते राखि मन, करिय जगतको काम।

जगजीवन यह मन्त्र है सदा सुख विसराम॥

—जगजीवन साहेब

* ‘It is incredible that all this display should be purposeless.’

† The Heavens declare the glory of God and the firmament sheweth His handiwork.’

ईश्वर नहीं तो कुछ नहीं

(साधु डॉस्टॉय)

(१)

लोग अनेक प्रकारसे ईश्वरका स्मरण करते हैं, लेकिन उसे समझने और अनुभव करनेका मार्ग सबका एक ही है ।

(२)

लोग कहते हैं, ईश्वर स्वर्गमें रहता है, वे उसे स्वर्गका राजा कहते हैं और वे यह भी कहते हैं कि वह मनुष्यमें रहता है ।

जब कोई आदमी कुछ बुरा करता है, तो लोग उससे पूछते हैं—‘क्या तुममें राम नहीं है ?’ और यह ठीक है । जिसे हम ईश्वर कहते हैं, उसे हम स्वर्ग और मनुष्य दोनोंमें देखते हैं । यदि हम शरद्-ऋतुकी किसी रातमें आकाशकी तरफ देखें तो हमें तारे, तारे और तारोंमें भी परे अनन्त सितारे दिखायी पड़ते हैं ।

और जब हम सोचते हैं कि इनमेंसे हर एक तारा हमारी इस पृथ्वीसे कई गुना बड़ा है; यह जो तारे हमें दिखायी पड़ते हैं, उनसे परे सैकड़ों, हजारों, लाखों तारे उनके-से या उनसे भी बड़े हैं; और यह कि न तारोंका अन्त है, न आसमानका, तब हम समझने लगते हैं कि कोई ऐसी चीज जरूर है जिसे हम ग्रहण नहीं कर सकते । और इस ‘कुछ चीज’ को जिसे हम ग्रहण नहीं कर सकते, ईश्वर कहते हैं ।

जब हम अपने अन्दर देखते हैं, तो हम अपने तर्ह अपनी आत्माको देखते हैं । यह आत्मा न छुई जा सकती है, न सुनी जा सकती है, न देखी जा सकती है, न समझी जा सकती है, लेकिन और चीजोंकी अपेक्षा हम उसे अच्छी तरह जानते हैं और उसके द्वारा हम दुनियामें

जो कुछ भी है, उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं । हमारी अपनी आत्मामें यह जो अज्ञेय लेकिन सर्वज्ञ है, उसे भी हम ईश्वर कहते हैं ।

इस तरह हम अपनेसे बाहर अपने आस-पासकी भौतिक सीमामें ईश्वरको जानते हैं और साथ ही आध्यात्मिक सीमामें भी, जिसका हम अपनी आत्माके अन्दर अनुभव करते हैं ।

(३)

मनुष्य यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकता कि उसके जीवनके साथ कुछ किया जा रहा है, वह किसीका इधियार है । लेकिन अगर वह किसीका इधियार है, तो ऐसा कोई अवश्य होना चाहिये जो उसे निमित्त बनाकर काम करता हो । वह कोई जो उसे निमित्त बनाकर काम करता है, ईश्वर है ।

(४)

मनुष्यको प्रेम करना चाहिये, लेकिन वह वास्तविक प्रेम उसीसे कर सकता है, जिसमें कोई बुराई नहीं है । इसलिये ऐसी कोई चीज जरूर होनी चाहिये, जो बिल्कुल निर्दोष है । और सिर्फ एक ही ऐसी वस्तु है, जिसमें कोई बुराई नहीं है—ईश्वर !

(५)

आप ईश्वरका नाम लेनेसे बच सकते हैं, आप इस शब्दको टाल सकते हैं, लेकिन आप उसके अस्तित्वको स्वीकार करनेसे बच नहीं सकते । यदि वह नहीं है, तो कुछ भी नहीं है ।

[अनु०—मीकाशीनाथ नारायण त्रिवेदी]



ईश्वर-विश्वास

मनसा वाचा कर्मणा जिनके है विश्वास ।

पलटू हरिपर, रहत हैं तिन्हके पलटूवास ॥ १ ॥

पलटू संसय कूटिगे मिलिया पूरा यार ।

मगन आपने क्यालमें भाड़ पड़े संसार ॥ २ ॥

—पलटू साहिब

दर्शनोंमें ईश्वर

(लेखक—स्वामीजी आदयानन्दजी)



बल कलिके प्रतापसे धर्महीन जगत्-की दृष्टि कुछ दिनोंसे जगदाधार, जगन्निष्पन्ता ईश्वरकी सत्ताको उड़ाने-की ओर लगी हुई है। सोविषट् रूसमें तो भगवान्के अस्तित्वपर चोट लेकर अधिक बोटोंसे भगवान्को भगा दिया गया है, जिसके फलस्वरूप वहाँके प्रार्थना-मन्दिर(गिर्जे)या तो तोड़ दिये गये हैं या क्षिप्यकलाके कारखाने बना दिये गये हैं। इस देशमें भी ऐसी संस्थाओंकी कमी नहीं है, जहाँ ईश्वरकी नितान्त अनावश्यकता बतलायी जा रही है। 'ईश्वर-सत्ताके माननेसे ही साम्प्रदायिक विरोध बढ़कर भारतके उद्धारमें देर हो रही है, लोग वृथा बलबन्दीमें फँसकर जातीय एकताको नष्ट कर रहे हैं, बन्धनहीन निरंकुश स्वतन्त्र जीवनके लिये तो ईश्वरका मानना सदाके लिये केवल मानसिक दासताको मोल लेना है, क्योंकि ईश्वर-सत्ताके स्वीकारमात्रसे ही धर्म-बन्धन, कर्तव्याकर्तव्यका बन्धन, आचार-अनाचार-विचारका बन्धन—इसप्रकार अनेक बन्धन उत्पन्न होकर चिन्तके स्वाधीनता-सुखको सदाके लिये नष्ट कर डालते हैं, अतः ईश्वर हो या न हो, हमें अपनी सुखमय जीवन-यात्राके निर्वाहके लिये उसकी कोई भी आवश्यकता नहीं है।' इसप्रकारकी दूषित विचारधारा आजकलके आसुरी-प्रकृतियुक्त जीवोंके हृदयको बहुत ही कलुषित कर रही है। अतः इस निबन्धमें ईश्वर-सत्ताकी सत्यतापर विचार करनेके पश्चात् किस-किस वैदिक दर्शनने ईश्वरके विषयमें क्या-क्या सम्मति दी है, उसका दिग्दर्शन कराया जायगा।

ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें सन्देह करना केवल अपने विवेकका गला घोटना है। धीरे-धीरे अन्तरात्मासे पृथक्-पर तो स्वयं ही पता लग जाता है कि अनादि, अनन्त सृष्टिके मूलमें कोई कर्ता अवश्य ही है। बेदानुमत सम्प्रदायोंमें प्रकृतिको जब कहा गया है। देवीभागवतमें लिखा है—

जहाऽहं तस्य साक्षिण्यात्प्रमथामि सचेतना।

अयस्कान्तस्य साक्षिण्यादयस्यचेतना यथा॥

'जिसप्रकार लुम्बकके साक्षिण्यमें रहनेसे जब छोहमें सञ्चलन-शक्ति आती है, उसी प्रकार ईश्वरके अधिष्ठानसे जब प्रकृतिमें चेतनाजनित सृष्टि, स्थिति, प्रलयशक्ति आती है।' परन्तु वास्तवमें प्रकृति जब है। प्रकृतिका यह जडत्व अर्थात् स्वयं कर्तृत्वशक्तिका अभाव केवल समष्टि-प्रकृतिमें ही नहीं किन्तु उसके परिणामजात पदार्थोंके भी भ्रंग-भ्रंगमें देखनेमें आता है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि प्रकृति-परिणामसे उत्पन्न सभी पदार्थ जब हैं। उनमेंसे किसीमें भी स्वयं कार्य करनेकी शक्ति नहीं है। पृथ्वी स्वेच्छासे भिन्न-भिन्न प्रकारका शम्य उत्पन्न नहीं कर सकती, जल स्वयं बरस नहीं सकता, वायु स्वयं गहीं बह सकता और अग्नि स्वयं भौति-भौतिके कार्य नहीं कर सकता। इनके अन्दर अवश्य कोई व्यापक चेतन-सत्ता है, जिसके सञ्चालनमें ये सब जड वस्तुएँ अपना-अपना कार्य करती हैं। वही सर्वव्यापक सर्वाधिष्ठाता प्रकृतिके प्रेरक चेतनसत्ता ईश्वर हैं। इसमें यदि यह सन्देह हो कि प्रकृति-परिणामजात पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदिका स्वभाव ही शम्य उत्पन्न करना, बरसना, बहना या जलाना इत्यादि है तो इसका समाधान यह है कि किसी प्राकृतिक वस्तुका स्वभाव तभी नियमितरूपसे कार्य कर सकता है, जब उसकी नियामक कोई चेतनशक्ति हो। माना कि पृथ्वीका स्वभाव शम्य उत्पन्न करना है, परन्तु किस देशमें, किस कालमें तथा किस ऋतुमें कैसा शम्य उत्पन्न होना चाहिये, इसका नियमन कौन करेगा? यह नियमन जब पृथ्वीके द्वारा कदापि नहीं हो सकता। इसके लिये पृथ्वीके अन्तर्बिहारी नियामक चेतन होना चाहिये। जड स्वभावका परिणाम या क्रिया अन्धपरिणाम या अन्धक्रिया है, चेतनसत्ताके अस्तित्वमें ही उसकी अन्धता नष्ट होकर उसमें नियमानुवर्तिता आ सकती है। जलका स्वभाव बरसना हो सकता है, परन्तु ऋतुके अनुसार ठीक-ठीक बरसना और जिस देशमें जितनी 'वर्षा' होनी चाहिये, उसको उसी नियमसे ठीक-ठीक बरसाना तभी सम्भव हो सकता है जब जलराज्यके अन्तर्बिहारिणी कोई चेतन सञ्चालक-शक्ति हो। इसी प्रकार वायुमें प्रवाहित होने-का अन्धस्वभाव रह सकता है परन्तु वसन्त-ऋतुमें मलय-

पवन बहना, वर्षा में पूर्वदिशासे प्रवाहित होना, शीतकाल में पश्चिम या उत्तरसे और ग्रीष्म-ऋतु में पश्चिमसे बहना आदि नियमित वायुप्रवाह अन्धस्वभावके द्वारा कदापि सम्भव नहीं। इसके लिये अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि वायुमण्डलको नियमित सञ्चालित करनेवाली कोई नियामक चेतन सत्ता है। इस संसारके सामान्य कार्य में देखते हैं कि अबतक चेतनकी सहायता और प्रेरणा न हो तबतक किसी जड़ वस्तुद्वारा नियमानुसार कार्य नहीं हो सकता। दृष्टान्त-रूपसे समझ सकते हैं कि अग्नि में जलको वाष्प बनाकर उसी वाष्पके द्वारा नाना प्रकारके यन्त्र और इंजिन आदि चला सकनेकी शक्ति अवश्य है परन्तु जिस परिमाणसे वाष्प बननेपर और जिस तरहसे इंजिन या मशीन में उसके संयोग होनेपर इंजिन या मशीन ठीक-ठीक कार्य कर सकेगी, यह हिंसाब या नियमानुसार वाष्प-संयोग करनेकी शक्ति अग्नि में नहीं है। वह शक्ति अग्निका नियोग तथा वाष्पका संयोग करनेवाले चेतन मनुष्य में ही है जो नियमके अनुसार जल में अग्नि के संयोगद्वारा वाष्प बनाता है और उसी वाष्पको ठीक परिमाण में प्रयोग करके समस्त वाष्पीय यानों तथा यन्त्रोंको चलाता है। इसमें और भी विचारनेका विषय यह है कि, यद्यपि वाष्प में इंजिन चलानेकी और इंजिन में गाड़ी खींचनेकी शक्ति है तथापि यदि जड़ इंजिनका चला देनेवाला कोई चेतन मनुष्य न होगा तो योग्य शक्तिये निर्दिष्ट समयानुसार रेलगाड़ीका चलना, नियमित स्टेशनपर ठहरना, पुनः नियमित वेगके अनुसार स्टेशनसे चलना, आवश्यकतानुसार वेगका न्यूनाधिक होना इत्यादि बानें कभी जड़ इंजिनके द्वारा स्वतः नहीं हो सकतीं। जड़ अन्ध-शक्तिये यह हो सकता है कि, यदि इंजिन चल पड़े तो चलता ही रहेगा, कभी ठहरेगा नहीं और यदि कभी ठहर जाय तो फिर चल नहीं सकेगा। नियमित चलने-ठहरने तथा वेगवान् होनेके लिये किसी नियामक चेतन-शक्तिके अधिष्ठानकी अवश्य ही आवश्यकता होती है। अब विचार करनेका विषय यह है कि, जब संसारके साधारण लौकिक कार्यके नियमित चलानेके लिये भी चेतन सत्ताकी आवश्यकता होती है तो अनादि, अनन्त प्रकृतिका महान् सृष्टि-स्थितिकार्य, जिसमें हतना अमोघ नियम सदा ही प्रत्यक्ष हो रहा है कि एक पत्तीतक उसी नियमके बिना हिल नहीं सकते, उसमें कोई सर्वव्यापी नियामक चेतन सत्ता नहीं है इसप्रकार कल्पना करना उन्मत्त चिन्ता और उन्मत्त प्रलापके सिवा और कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यदि जड़ प्रकृति-

के सञ्चालक या अधिष्ठाता चेतन ईश्वर न होते तो कभी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमयी विराट् प्रकृति में सृष्टि, स्थिति, प्रलयका नियमित क्रम नहीं रह सकता। सृष्टि-स्वभावमयी प्रकृति अनन्त कालतक सृष्टि ही करती रहती, कभी प्रलयका समय नहीं आता और यदि कभी प्रलय हो जाता तो प्रलयके गर्भमें नियमानुसार तथा निर्दिष्ट कालानुसार पुनः सृष्टिका उदय नहीं हो सकता। जीवोंकी कर्मानुसार उच्च-नीच गति, रवि-शशिका नियमित उदय, ऋतुओंका नियमित विकास, शम्य-समृद्धिकी नियमित देशकालपात्रानुसार उत्पत्ति, दिवा-रात्रि, अस्मानिशा और पाणमासीका चक्रवत् परिवर्तन, चन्द्रकलाका नियमित विकास, भगवान् भास्करका राशिचक्र में नियमित संक्रमण आदि सर्वतो-जावृह्यमान प्राकृतिक कोई भी क्रिया नियमित सघटित नहीं हो सकती। यह सभी विश्वनिदान, विश्वकर्ता, जगत्पाता, अनन्त करुणावरुणालय परम पिता ज्ञानस्वरूप चैतन्यमय परमेश्वरकी अनादि, अनन्त प्रकृतिके अन्तर्हृदय में सर्वव्यापीनी नित्यस्थिति और अधिष्ठानका कल्याणमय फल है, जिसको अज्ञानवान् भक्त प्रतिपल अनुभव करता हुआ परमानन्द-सागर में लीन होता है, मिथ्या कुनक-कर्कशचित्त अज्ञानी जनोंके अन्धकारमय हृदय में इस ज्ञान-ज्योतिका विस्तार होना कठिन तथा उन्हेंके कृपा-कटाक्ष-सापेक्ष है।

अब यह बतलानेकी चेष्टा की जाती है कि किस-किस दर्शनने अपनी ज्ञान-भूमिके अनुसार परमेश्वरकी इस सत्ताको कहाँतक कैसे प्रकट किया है ?

ईश्वरकी व्यापक अद्वितीय सत्ता प्रकृतिविलासकला-सम्पर्कसे निलसि होनेके कारण, जिन दर्शनों में प्रकृति परिणाम, प्रकृति अथवा कार्य ब्रह्मके साथ सम्बन्ध रखकर निज-निज ज्ञान-भूमियोंके अनुसार मुक्ति वतलायी गयी है, उन सब दर्शनों में ईश्वर-सत्ताका प्रधानतया निर्देश अथवा मुक्तिके साथ साक्षान् सम्पर्क नहीं दिखलाया गया है। उन सब दर्शनों में केवल सुख-दुःख-मोहमयी प्रकृतिमें सुख होना ही अपवर्गका साधन है, प्रायः इसी प्रकारका सिद्धान्त बताया गया है जो उनकी ज्ञानभूमियोंके अनुसार यथार्थ ही है। परन्तु जिन दर्शनोंकी ज्ञान-भूमि प्रकृति-विकार तथा अत्यन्त-प्रकृतिमें अतीत-पदकी ओर मुसुष्टुको धमसर करती है, उनमें ईश्वर-सत्ताके साथ निःश्रेयस्पदका साक्षात् सम्बन्ध बतलाया गया है और इसीलिये उन सब दर्शनों में केवल प्रकृति-परिणाम-जात दुःखकी निवृत्तिकी

ही मुक्तिका लक्ष्य न बताकर नित्यानन्दमय परमात्मपद-में स्थितिको ही निःश्रेयसपदका प्रधान साधन बतलाया गया है। अब उपर्युक्त दो विभागोंके अनुसार किस दर्शन-में किसप्रकारसे ईश्वर-सत्ताका वर्णन किया गया है, इसपर विचार करना है।

न्यायदर्शन

न्याय-दर्शनकी ज्ञान-भूमिमें आत्माको प्रमेय-कोटिके अन्तर्गत करके इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख और ज्ञानको उसके लक्षणरूपसे बतलाया गया है। इच्छा, द्वेष आदि वास्तवमें अस्त-करण-धर्म हैं। अतः इच्छा-द्वेषादिके साथ आत्माका सम्पर्क बतानेके कारण न्याय-दर्शनकी ज्ञान-भूमि प्रकृति-परिणाममे बहुत ही सम्बन्धयुक्त है, ऐसा सिद्धान्त होता है। जिस अणुको नियत बताकर उसीके सम्मेलनमे न्याय-दर्शनमें समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति बतलायी गयी है वह अणु भी वास्तवमें प्रकृतिका ही विकारमात्र है। अतः प्रकृति-परिणाम तथा प्रकृतिके साथ साक्षात् रूपसे जिसकी ज्ञान-भूमिका सम्बन्ध है ऐमें न्याय-दर्शनमें ईश्वरकी अद्वितीय व्यापक सत्ताका साक्षात् सम्पर्क और वर्णन नहीं हो सकता। इसीलिये न्याय-दर्शनकी मुक्ति केवल प्रमाण-प्रमेयादि षोडश पदार्थोंके तत्त्वज्ञानमे ही मानी गयी है अर्थात् इन पदार्थोंके तत्त्वज्ञानमे दुःखकी आत्यन्तिकी निवृत्ति होकर सुसुखको अपवर्ग-लाभ हो जाता है। इस अपवर्गके साथ ईश्वरका कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। तथापि न्याय-दर्शन आस्तिक-दर्शन होनेमे कर्मफलके साथ उसमें ईश्वरकी निमित्त-कारणताका सम्बन्ध बतलाया गया है और अनुमान-प्रमाणद्वारा परोक्षरूपसे सृष्टिके साथ ईश्वरका सम्पर्क भी कथन किया गया है। यथा—

ईश्वरः कारण पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।

(न्यायदर्शन)

इसके भाष्यमें महर्षि वात्स्यायनने कहा है—

पराधीनपुरुषस्य कर्मफलराधनमिति यदधीनं स ईश्वरः ।
तस्मात् ईश्वरः कारणम् ।

जीवका पराधीन कर्म-फल-भोग जिसके अधीन है, वह ईश्वर है। अतः ईश्वर ही जीवके कर्म-फल-दाता है। इस तरहमे जड़ कर्मके चेतन प्रेरकरूपसे ईश्वरकी निमित्त-कारणताका सम्पर्क बतलाकर न्याय-दर्शनने अपनी आस्तिकताका परिचय दिया है। प्रसिद्ध न्याय-वृत्तिकार विश्वनाथजीने इसी आश्रितिके २१ वें सूत्रमें—

‘क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत् ।’

— इसप्रकार सृष्टिवृत्तिद्वारा संसारकी उत्पत्तिके प्रति ईश्वरकी निमित्त-कारणता प्रतिपक्ष की है अर्थात् घटकी उत्पत्तिके लिये जिसप्रकार कुम्भकार निमित्त-कारण है उसी प्रकार जगत्की उत्पत्तिके लिये ईश्वर निमित्त-कारण है। जिसप्रकार कार्य देखनेसे कारणका अनुभव होता है, उसी प्रकार कार्यब्रह्मरूप जगत्को देखनेसे उसके सृष्टि-कर्त्ता निमित्त-कारणरूप ईश्वरका अनुमान होता है। यही प्राचीन न्याय-दर्शनमें ईश्वर-सत्ताकी सिद्धि है।

वैशेषिकदर्शन

वैशेषिकदर्शनकी ज्ञान-भूमि भी स्थूलतः न्याय-दर्शन-की तरह है। उसमें भी प्रकृति-परिणाम-जात सुख-दुःखादि-के साथ मनके द्वारा आत्माका सम्बन्ध बतलाया गया है और द्रव्य-गुणकर्मोदि पद पदार्थोंके तत्त्वज्ञानमे आत्यन्तिक दुःख-निवृत्तिरूप अपवर्गका वर्णन किया गया है। इस निःश्रेयसके साथ केवल दुःख-निवृत्तिका सम्पर्क होनेसे नित्यानन्दमय ब्रह्मपदके साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। अतः वैशेषिकदर्शनको मुक्तिके साथ ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता। और न इसकी ज्ञान-भूमिके साथ ही ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध हो सकता है। तथापि वैशेषिकदर्शनने अपनी आस्तिकताको प्रमाणित करनेके लिये न्यायदर्शनकी तरह अनुमान-प्रमाणकी सहायतामे जगदुत्पत्तिके लिये ईश्वरकी निमित्त-कारणता प्रतिपादित की है। यथा—

‘संज्ञाकर्मत्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् ।’

‘प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञाकर्मणः ।’

(वैशेषिक २०)

इन सूत्रोंके उपस्कारमें शंकर मिश्रजीने लिखा है—

‘संज्ञानाम कर्म कार्यं क्षित्यादि तदुभयं अस्मद् विशिष्टानां ईश्वरमहर्षाणां सत्त्वंऽपि लिङ्गम् । घटपटादिसंज्ञानिवेशनमपि ईश्वरसंकेताधीनमेव । यः शब्दो यत्र ईश्वरेण संकेतितः स तत्र साधुः । तथा च सिद्धं संज्ञाया ईश्वरलिङ्गत्वम् । एवं कर्मापि कार्यमपि ईश्वरे लिङ्गम् । तथा हि क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्घटवत् इति ।’

अर्थात् ‘संज्ञा या नाम और कर्म अर्थात् क्षिति, अप आदि कार्य ये दो कौनिक मनुष्यसे विशेषतयायुक्त ईश्वर, महर्षि आदिके आस्तिकको प्रमाणित करते हैं। जड़-पट

आदि नामसे जो तत्त्वपदार्थोंका बोध हो जाता है उसमें ईश्वर-सङ्केत ही कारण है। क्षिति, अप आदि जब कार्य हैं, तो इनके वर्त्ता भी कोई अवश्य होंगे, वही कर्त्ता ईश्वर हैं।

अतः यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि जगदुत्पत्तिके लिये ईश्वरकी घटकुलालवत् निमित्त-कारणता है। यही वैशेषिकदर्शनका आत्मिक-मन है। इस दर्शनके प्रसिद्ध टीकाकार प्रशन्नपादाचार्यजीने तो कई अन्य स्थानोंमें भी वैशेषिकदर्शनके सूत्रोंके साथ ईश्वरका सम्बन्ध बताकर इस गम्भीर दर्शनकी परम आत्मिकता प्रतिपादित की है। पदार्थ-समूहोंका तत्त्व-ज्ञान ही मोक्षका कारण है इस प्रसंगमें प्रशन्नपादाचार्यजीने—

‘तच्च ईश्वरानन्दनामव्यक्ताद्वमादेव’

‘वह तत्त्व-ज्ञान ईश्वर-प्रेरणान्जनित धर्मसे उत्पन्न होता है’—ऐसा कहकर वैशेषिकदर्शनोक्त मुक्तिके साथ भी ईश्वरका परम्परा-सम्बन्ध बता दिया है। निरय परमाणुओं-के संघातसे सृष्टि और विश्लेषणसे प्रलयके विषयमें वैशेषिकदर्शनके सिद्धान्तोंका वर्णन करते समय प्रशन्न-पादाचार्यजीने लिखा है कि ‘मकल भुवनपति महेश्वरकी अलौकिक इच्छा-शक्तिके द्वारा ही परमाणुओंमें स्पन्दन-शक्ति उत्पन्न होकर इसप्रकार सृष्टि और प्रलय हुआ करता है।’

अतः वैशेषिकदर्शनकी परम आत्मिकता निर्विवाद सिद्ध है, इसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। परवर्त्तीकालमें नव्य वैशेषिकोंने भी अनुमान-प्रमाणकी सहायतासे वैशेषिक-दर्शनमें ईश्वर-स्वत्ताकी विशेष सिद्धि की है और कहीं-कहीं ज्ञान आदि कई गुणोंके साथ भी ईश्वरका सम्बन्ध निर्णय किया है।

योगदर्शन

सप्त ज्ञान-भूमियोंमेंसे तृतीय भूमिस्थानीय दर्शन योग-दर्शन है। इसमें प्रकृतिको अविद्या, अस्मिता, रागद्वेषादि दुःखोंका आगार कहकर प्रकृतिके द्वारा बद्ध पुरुषकी उससे मुक्ति होनेपर अत्यन्त दुःख-निवृत्तिरूप कैवल्यप्राप्ति होती है, यही योगका परम पुरुषार्थ बतलाया गया है, अतः दुःख-निवृत्ति ही मुक्तिका लक्ष्य होनेसे परमानन्दमय ब्रह्मपदके साथ इस दर्शनकी ज्ञान-भूमिका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। योगदर्शनके अनुसार जब साधककी मुक्ति होती

है उस समय पुरुष केवल स्वरूपस्थित होकर प्रकृतिके सम्पर्कका त्याग कर देता है, उसके साथ फिर प्रकृतिका बन्धन-सम्बन्ध नहीं रहता। परन्तु उससे प्रकृतिका अस्तित्व लुप्त नहीं होता है, केवल वह मुक्त पुरुष प्रकृतिके साथ कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सम्बन्धको छोड़कर उदासीनवत् प्रकृतिका दृष्टा बन जाता है। अतः योगदर्शनकी ज्ञान-भूमिके अनुसार भी मुक्तिके साथ ईश्वर-स्वत्ताका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। तथापि परम आत्मिक योगदर्शनमें मुक्ति-प्राप्तिके साधनरूपसे ईश्वर-स्वत्ताका अपूर्व वर्णन किया गया है। यथा—

‘ईश्वरप्रणिधानाद्वा’

‘केशकर्मविपाकाशयैरपगमुष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।’

‘तत्र निरतिशयं सर्वशुबीजम्’

‘स एष पूर्वेषामपि गुरुः कलिनानवच्छेदान्।’

‘तस्य वाचकः प्रणवः’

‘तज्जपस्तदर्थभावनम्’

‘ततः प्रत्यक्षतन्नाविगमोऽप्यन्तर्गमोऽभावश्च’

‘समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्’

इन सब सूत्रोंमें ईश्वरका योगदर्शनोक्त स्वरूप तथा उनके ध्यान, उनके प्रति भक्ति और उनके विषय नामके अप-का फल बताया गया है।

योगदर्शनके—

‘ईश्वरप्रणिधानाद्वा’

—इस सूत्रका अर्थ भगवान् वेदव्यास लिखते हैं—

‘प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जितः ईश्वरस्तत्तुगृहाति अभि-ध्यानमात्रेण, तदभिध्यानादपि योगेन आसन्नतमः समाधिलाभः फलञ्च भवतीति।

‘विशेष भक्तिके साथ आराधना करनेसे साधकके प्रति प्रसन्न होकर ‘हसका अभीष्ट सिद्ध हो जाय’ ईश्वर ऐसी इच्छा करते हैं जिससे शीघ्र ही योगीकी चित्तवृत्तिनिरोध-द्वारा असंप्रज्ञात समाधिलाभ हो जाता है।’ इसप्रकारसे ईश्वरभक्तिद्वारा उपाय बताकर अगले तीन सूत्रोंमें महर्षि पतञ्जलिजीने ईश्वरका स्वरूप बताया है। ईश्वर अविद्यादि पञ्चलेश, कर्म, कर्मफल और संस्कारमें रहित पुरुष-विशेष हैं। अर्थात् सांख्य-प्रवचनका जो पुरुष है उससे कुछ विशेष सत्ता ईश्वरकी है। योगदर्शनभूमिमें प्रकृति-सम्बन्धका विशेष अस्तित्व रहनेके कारण वेदान्तभूमिकी तरह इसमें

ईश्वरकी व्यापक अद्वैत सत्ता प्रकट नहीं हो सकती। इसलिये प्रकृति-बन्धनयुक्त सांख्यीय पुरुषसे विक्षेपता बतानेके अर्थ महर्षि पतञ्जलिजीने अपने दर्शनमें ईश्वरको 'पुरुष-विशेष' कहा है। इस 'पुरुष-विशेष' ईश्वरमें निरतिशय सर्वज्ञताका बीज है और कालके द्वारा परिच्छिन्न न होनेसे वे ज्ञानी महर्षियोंके भी गुरु हैं। क्योंकि महर्षिगण चाहे कितने ही ज्ञानी क्यों न हो जायें, वे कालके द्वारा परिच्छिन्न होनेसे नित्य ईश्वरके ज्ञानको प्राप्त नहीं कर सकते। इसलिये ईश्वर महर्षियोंके भी गुरु हैं। इसके बाद परवर्ती तीन सूत्रोंमें ईश्वर-साधनका उपाय बतलाया गया है। जैसे प्रणव उसका नाम है, प्रणवके साथ ईश्वरका वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, इसलिये प्रणव-जप और उसकी अर्थभावनाके द्वारा प्रत्यगाम्ना-पुरुषका साक्षात्कार और व्याधि-संशयादि अन्तराय दूर हो जाते हैं। इसप्रकारमे ईश्वरभक्तिद्वारा समाधि-सिद्धि और पुरुषकी स्वरूपोपलब्धि हो जाती है। यही आत्मिक-योगदर्शनोक ईश्वर-सत्ताका परिष्कृत प्रमाण है। इसके सिवा अनेक बहिरंग तथा अन्तरंग साधनोंमें भी योगदर्शनमें ईश्वर-प्रणिधानकी महिमा और उपयोगिता बतायी गयी है। यथा—

'तप-स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगाः'

'शौचसन्तोषनयः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः'

समाधि-भावना और अविद्यादि हेतुदूरीकरणके लिये योगशास्त्रमें जो क्रिया-योगका उपदेश किया गया है, उसमें तप और स्वाध्यायके अनिरिक्त 'ईश्वरप्रणिधान' भी एक श्रंग है। यहाँपर 'ईश्वरप्रणिधान' का अर्थ महर्षि वेदव्यासजीने यह किया है—

'ईश्वरप्रणिधान—सर्वक्रियाणां परमगुरौ अर्पण तत्फल-संन्यासो वा।'

'ईश्वरप्रणिधानका अर्थ परम गुरु ईश्वरमें समस्त कर्मों-का समर्पण अथवा कर्म-फल-त्याग है।' दूसरे सूत्रमें यम-नियमादि योगके अष्टांगोंमेंसे द्वितीयंग नियमका लक्षण बताया गया है जिसमें शौच, सन्तोष, तप और स्वाध्यायके अनिरिक्त 'ईश्वरप्रणिधान' को भी नियमके अन्यतम अंग-रूपसे बताया गया है। यहाँपर भी 'ईश्वरप्रणिधान' का अर्थ महर्षि वेदव्यासजीने—

'तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्'

—परम गुरु ईश्वरमें समस्त कर्मोंका अर्पण ही ईश्वर-

प्रणिधान है—ऐसा किया है। अतः योगदर्शनकी आत्मिकता सर्वथा निर्विवाद है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है।

सांख्यदर्शन

योगदर्शनकी तरह सांख्यदर्शनमें भी प्रकृतिकी प्रधानता होनेसे मुक्तिके साथ ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका है। अनादि अविवेकद्वारा प्रकृतिके साथ पुरुषका औपचारिक सम्बन्ध हो जाता है। जिससे अभ्यास, अधिदैव और अधिभूत इन तीनों प्रकारके दुःखोंके द्वारा पुरुष विमोहित हो जाता है। तत्त्व-ज्ञानका उदय होनेसे जब पुरुष अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वरूपको समझ जाता है तभी पुरुषकी मुक्ति होती है। अतः प्रकृतिसम्बन्ध-विच्छेदद्वारा त्रिविध दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही सांख्य-ज्ञान-भूमिके अनुसार मुक्ति है। इसमें परमानन्दमय ब्रह्मपदमें स्थितिके साथ मुक्तिका सम्बन्ध नहीं है। अतः इस दर्शनमें ईश्वरकी व्यापक सत्ताकी उपलब्धिके साथ मुक्तिका सम्बन्ध नहीं हो सकता। जिस पुरुषकी स्वरूपो-पलब्धद्वारा सांख्य-भूमिमें मुक्ति बतलायी गयी है, वह पुरुष जीवशरीरस्थित कूटस्थ चैतन्य है। व्यापक ईश्वरकी जो निलिप्त, निर्विकार जानमय सत्ता प्रतिपिण्डावच्छेदमे देहमें बिद्यमान रहती है, उसीको कूटस्थ चैतन्य या पुरुष कहते हैं। वह ईश्वरका हो देहावच्छिन्न ग्रंथ होनेके कारण सदा निलिप्त और नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है। सांख्य-दर्शनमें प्रकृतिके साथ उसी पुरुषके अनादि, औपचारिक सम्बन्धको 'स्फटिक लोहादित्यवत्' बन्धन और स्पष्टिका कारण माना है और तत्त्वज्ञानद्वारा उस औपचारिक सम्बन्धकी निवृत्तिको मोक्ष माना है। अतः सांख्यदर्शनके अनुसार जो मुक्ति होती है वह जीवशरीरमें कूटस्थ चैतन्यकी उपलब्धिके द्वारा होती है। उस समय पुरुष जान लेता है कि प्रकृतिके स्थूल, सूक्ष्म, कारण किसी विभागके साथ उसके कर्तृत्व-भोक्तृत्वाका सम्बन्ध नहीं है। वह वास्तवमें प्रकृतिमें निलिप्त, उन्नामीन और उसका द्रष्टा मात्र है। यही सांख्यदर्शनोक मुक्ति है। अतः स्पष्ट है कि सांख्यीय मुक्ति-भूमिमें प्रकृतिकी व्यापक सत्ता अनुपलब्ध रहती है, ईश्वरकी व्यापक सत्ता जान नहीं पड़ती, केवल अपने शरीरमें स्थित ईश्वरका चैतन्यमय भाव उपलब्ध होता है। अतः अपने शरीरके विचारमें प्रति देहमें पुरुषकी भिन्न-भिन्न बहुत सत्ता मानना, प्रकृतिको नित्य मानना और अपनी ज्ञान-भूमिमें

मुक्तिके लिये ईश्वरकी सत्ताके माननेका प्रयोजन न समझना सांख्य-दर्शन-भूमिके अनुसार ठीक है। तथापि सांख्य-दर्शनने अलौकिक प्रत्यक्षकी सहायतासे जो ईश्वरके अस्तित्वको माना है, उसके द्वारा सांख्यदर्शनकी विशेष आस्तिकताका परिचय प्राप्त होता है। यथा—

‘योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वात् दोषः।’

‘लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्दोषः।’

‘ईश्वरसिद्धेः।’

‘मुक्तबद्धयोरन्यतराभावात् तरिसिद्धिः।’

‘उभयथाप्यस्तकस्त्वम्।’

‘मुक्तमनः प्रशमा उपाससिद्धस्य वा।’

‘हिन्द्रियोंकी सहायतामें लौकिक प्रत्यक्षके अतिरिक्त योगिगण योगबलसे जो अतीन्द्रिय वस्तुओंका प्रत्यक्ष करते हैं, उसका सांख्य-ज्ञान-भूमिमें प्रयोजन न रहनेपर भी ऐसे प्रत्यक्ष करनेमें कोई दोष नहीं है। योगिगण इस प्रकार अलौकिक प्रत्यक्ष-शक्तिद्वारा अतीत, अनागत, सूक्ष्म, व्यवहित वस्तुओंका भी अनुभव कर लेते हैं। जैसा कि ईश्वर अति सूक्ष्म तथा लौकिक प्रत्यक्षके अगोचर और इसलिये सांख्य-ज्ञान-भूमिके अनुसार असिद्ध होनेपर भी योगिगण अतीन्द्रिय अलौकिक प्रत्यक्षके द्वारा उनको जान लेते हैं। लौकिक विचारसे सांख्य-भूमिमें ईश्वर सिद्ध नहीं होने क्योंकि ईश्वर न तो सुप्त ही हो सकते हैं और न बद्ध। मुक्त होनेपर उनमें अभिमानाभावसे सृष्टि-कर्त्तृत्व नहीं आ सकेगा और बद्ध होनेपर उनमें सृष्टिकी शक्ति ही नहीं आ सकेगी। अतः लौकिक प्रत्यक्ष विचारसे ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकते।’ इतना कहकर फिर सांख्य-दर्शन कहता है कि ‘यद्यपि लौकिक विचारसे ईश्वरकी सत्ता प्रमाणित नहीं होती परन्तु मुक्तात्मा पुरुषगण और उपामनाके द्वारा सिद्ध पुरुषगण बारम्बार शास्त्रमें ईश्वरकी स्मृति कर गये हैं। इसलिये ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें सन्देह नहीं करना चाहिये।’ अर्थात् लौकिक प्रत्यक्षके द्वारा ईश्वर असिद्ध होनेपर भी मुक्तात्मा और सिद्ध पुरुषोंकी अलौकिक प्रत्यक्ष-शक्तिके द्वारा सदा ही उपलब्ध होते हैं। इसप्रकारसे आस्तिकतापूर्ण विचारद्वारा निज ज्ञान-भूमिमें अप्राप्य होनेपर भी सांख्य-दर्शनमें ईश्वरकी सिद्धि की है। यह सांख्य-दर्शनकी विशेष आस्तिकताका ही निदर्शन है। वत्स-पोषणार्थ अचेतन दुग्धकी प्रकृतिकी तरह पुरुषके भोग और मोक्षार्थ अचेतन प्रकृतिकी प्रकृति हो

सकती है, ऐसा साधारण रीतिसे कहनेपर भी समष्टि और व्यष्टि-प्रकृतिपर जबतक चेतनपुरुष और जीवका अधिष्ठान नहीं होता है तबतक न तो जड़-प्रकृतिमें परिणामकारिणी चेतन-शक्ति ही आ सकती है और न प्रकृति परिणामद्वारा सृष्टि-विस्तार ही कर सकती है, ऐसा अपने सुत्रोंद्वारा प्रतिपादित करके सांख्यदर्शनने और भी आस्तिकताका परिचय प्रदान किया है। यथा—

‘तत्सज्जिघानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्।’

‘विशेषकार्येऽपि जीवनाम।’

जिसप्रकार अयस्कान्तमणिके पास रहनेमें ही लोहेमें चलन-शक्ति आ जाती है उसी प्रकार ‘सांख्यमें अनन्त’ चेतनामय पुरुषके अधिष्ठानमें समष्टि-प्रकृति कार्य करती है और प्रति पिण्डमें औपचारिक बन्धनसे बद्ध जीवभावापन्न पुरुषके अधिष्ठानमें व्यष्टि-प्रकृति कार्य करती है। यह बात पहले ही कही गयी है कि प्रकृतिपर अधिष्ठित पुरुष कूटस्थ चैतन्य है जो जीव-देहावच्छेदमें ईश्वरकी हो सत्ता है और—

‘अनेनैव जिवेनमनाऽनुप्राविश्य नामरूपे व्याकरंत्।’

उसी परमात्माने जीवरूपमें अनुपवेश करके नाम और रूपका विकार उत्पन्न कर दिया, इस छान्दोग्य श्रुत्युक्त सिद्धान्तके अनुसार वह चेतन-सत्ता जब ईश्वरका ही भावान्तरमात्र है, तो समष्टि और व्यष्टि दोनों प्रकृतियोंके साथ ईश्वरका सम्बन्ध सांख्यदर्शनद्वारा सम्यक् प्रतिपादित हुआ। केवल वेदान्तादि दर्शनोंके साथ उसका इतना ही भेद रह गया कि वेदान्तदर्शनमें ईश्वरकी इच्छामें प्रकृतिका परिणाम और सृष्टि-क्रिया मानी है और सांख्यदर्शनमें कूटस्थ चैतन्यके अधिष्ठानमात्रसे प्रकृतिका परिणाम बताया है। फलतः आस्तिकताके विषयमें दोनों दर्शनोंमें कोई विरोध विभिन्नता नहीं पायी गयी। अधिष्ठानमात्रसे प्राकृतिक परिणामके विषयमें स्मृतिधर्मों भी प्रमाण मिलता है। यथा—

निरिच्छे सस्यिते रणे यथा लोहः प्रवर्तते।

सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः॥

अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम्।

निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्ता सज्जिघामात्रतः॥

जिसप्रकार इच्छारहित अयस्कान्तमणिके पास रहनेमें ही लोहेमें चेष्टा होती है, उसी प्रकार ईश्वर या पुरुषके

अधिष्ठानमात्रसे ही संसारकी क्रिया होने लगती है। इस विचारसे आराममें कर्तृत्व भी है और अकर्तृत्व भी है, क्योंकि हृष्टद्वारहित होनेसे वे अकर्ता हैं और साक्षिण्यद्वारा कर्ता भी हैं। यही पुरुषरूपसे प्रकृतिपर ईश्वरका अधिष्ठान है और यही सांख्यदर्शनकी परम आत्मिकताका परिचय है। मीमांसादर्शनोंमें ईश्वरकी 'विभुतया अनन्त सत्ता' का वर्णन किया गया है और अपनी ज्ञान-भूमिमें प्रयोजन न होनेसे सांख्यदर्शनमें ईश्वरकी 'संख्यया अनन्त सत्ता' का वर्णन किया है।

कर्म-मीमांसा-दर्शन

इसके अनन्तर मीमांसा-दर्शनोंकी भूमियोंमें परमारमा-के ऐश्वर्य, माधुर्य और ज्ञानभावकी क्रमशः पूर्णतया मिद्धि की गयी है। ऐश्वर्य-भावमें परमारमा ईश्वर अष्टष्टके विधाता, पुण्यके फलदाता, पापियोंके शासनकर्ता और धर्मके प्रतिष्ठाता, सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं। यज्ञ उनका स्वरूप है, वेद उनकी वाणी या निश्वास है और देवतागण उनके आज्ञाकारी—उन्हींकी दैवी विभुतिके स्वरूप हैं। यही कारण है कि कर्म-मीमांसा-दर्शनमें वेद, वेदाङ्गकूल यज्ञ-भेद कर्म और देवताओंकी इतनी महिमा बनायी गयी है। यथा, कर्म-मीमांसामें—

'अध्यायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शनात् ।'

और भी—

यजते स्वर्गकाम ।

यजते जातमपूर्वम् ।

अपाम सोमं अमृता अमूम ।

अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति । सर्वान् लोकान् जयति, मृत्युं तरति, पाप्मानं तरति, ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते ।

वेदकी यज्ञप्रतिपादिका श्रुतियाँ ही मुख्य हैं। यज्ञके द्वारा अमृतत्व लाभ होता है। यज्ञीय सोमपान करके सब अमर हो जाते हैं। चातुर्मास्ययाग करनेवालेको अक्षय्य पुण्य-लाभ होता है। अश्वमेधयज्ञद्वारा लोकजय, मृत्युजय, पाप-जप और ब्रह्महत्या-जैमे पापपर भी विजयलाभ होता है। इसप्रकारसे कर्म-मीमांसा-दर्शनमें यज्ञकी महिमा बताकर प्रकारान्तरेसे कर्मप्रेरक देवताओंकी महिमा, यज्ञरूप भगवान् विष्णुकी महिमा और यज्ञक्रिया बतानेवाले वेदके कर्ता ईश्वरकी महिमा बनायी गयी है। यही कर्म-मीमांसाद्वारा ईश्वरके ऐश्वर्य-भाव-वर्णनका रहस्य है।

भक्ति-मीमांसा-दर्शन

इसके अनन्तर भक्ति-मीमांसा-शास्त्रमें ईश्वरके माधुर्य-भावका स्पष्टीकरण है। इस भावमें भगवान् दयामय, स्नेहमय, प्रेममय प्रभु हैं। इस भावमें भक्तके निकट उनके प्राण विक्रीत हैं, करुणाकी धारा जाद्वी-यमुनाकी धारा-रूपसे प्रवाहित है, जीवोंके दुःख दूर करनेके लिये (लोक-दृष्टिमें) स्वयं अनन्त दुःखभोग उनका परममत है, इस भावमें भृगुपदाघात उनके हृदयका भूषण है, द्रौपदीका लज्जा-निवारण परम पौरुष है और करुणाकी होमाग्निमें समस्त ऐश्वर्योंका आहुति-प्रदान जीवनका महाव्रत है। इस भावमें भगवान् भक्तवत्सल प्रभु हैं, करुणामय स्वामी हैं, प्रीतिमय सखा हैं, स्नेहमय पुत्र हैं और प्रेममय कान्त हैं। इसी भावकी अलौकिक मधुरतामें उन्होंने भक्त-शिरोमणि प्रह्लादमें क्षमा माँगी थी। यथा—

केद वपुः क च वयः सुकुमारमेतत्

केता प्रमत्तकृतदाहणयाननास्तं ।

आलोकितं

विषममेतदभूतपवं

अनन्वयमह ! यदि मे समये विनम्रः ॥

'कहाँ तुम्हारा यह सुकुमार कोमल शरीर और छोटी उम्र और कहाँ मदीन्मत्त निष्ठुर हिरण्यकशिपुका तुम्हारे ऊपर प्रचल अत्याचार ! इस अभूतपूर्व विषमताको मैंने खूब देख लिया है, प्रिय ! यदि मेरे आनेमें कुछ देर हो गयी हो तो मुझे क्षमा करो।' भक्ति-मीमांसा-शास्त्रमें इस माधुर्य-भावका भृरि-भरि वर्णन है जैसा कि इस शास्त्रके प्रतिपादक महर्षि शाण्डिल्य और देवर्षि नारदके भक्ति-सूत्रोंके पढ़नेसे पता लगता है। वेदमें भी—

'रसो वै सः'

'आनन्दरूपं परमं यद्विभाति'

'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'

'आनन्दं ब्रह्मणा विद्वान् न विभेति कुतश्चन ।'

इत्यादि मन्त्रोंके द्वारा इस भावका पूर्ण प्रतिपादन किया गया है। भक्ति-दर्शनके सूत्रकार महर्षि शाण्डिल्यके मतमें 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वरके प्रति परमप्रेम या अनुगमको भक्ति कहते हैं। देवर्षि नारदने भी 'सा कर्म परमप्रेमरूपा' 'अमृतरूपा च' 'यज्ञात्वा मतो भवति, लब्ध्वा भवति, आस्मारातो भवति' इत्यादि सूत्रों-के द्वारा ईश्वरके प्रति परमप्रेमको ही भक्तिका लक्षण कहा है। भगवत्प्रेममें मग्न हो जानेपर भक्तको बाहरी

विषयोंका भान नहीं रहता है, वह उन्मत्त स्तब्धकी तरह रात-दिन परमात्माके रमणमें ही लगा रहता है। उसका हृदय-कमल सहस्रदल कमलकी तरह विकसित होकर श्रीभगवान्‌के पवित्र चरण-कमलोंमें विज्ञानताको प्राप्त हो जाता है। यही मानव-जीवनका सार लक्ष्य है और इसी सर्वोत्तम लक्ष्यकी प्राप्ति करानेके लिये ही भक्ति-मीमांसा-शास्त्रका पवित्र पुरुषार्थ है।

ब्रह्म-मीमांसा-दर्शन

इसके अनन्तर अन्तिम मीमांसा अर्थात् ब्रह्म-मीमांसा-दर्शनमें ईश्वर परमात्माके अग्रगण्य भावोंके साथ उनके ज्ञानभावकी सम्यक् सिद्धि की गयी है।

ब्रह्म-मीमांसा-दर्शनमें ब्रह्मके उस अध्यात्मभावकी मीमांसा की गयी है, जिस भावके साथ मायाका कोई सम्बन्ध नहीं है, जो भाव मायामे अतीत है और जहाँ माया लय हो रहती है। इसलिये वेदान्त-दर्शनमें मायाको मिथ्या और सान्त कहा गया है और जब मायाकी वस्तुमत्ता इस तरह-से अपनी भूमिमें अस्मीकृत हुई तो विश्व-जगत्‌को प्रकृतिका परिणाम न कहकर ब्रह्मका विवर्त ही कहा जायगा। इसलिये वेदान्त-दर्शनमें संसारको ब्रह्मका विवर्त कहा गया है अर्थात् रज्जुमें सर्प-भ्रमकी तरह मोहिनी मायाके प्रतापसे ब्रह्ममें ही जगत्‌की भ्रान्ति हो रही है, वास्तवमें यह हर-मान संसार ब्रह्म ही है, ऐसा वेदान्त-दर्शनका सिद्धान्त है। वेदान्त-भूमिके अनुसार स्वरूप-पल्लवि-दशामें मायारहित तथा जगत्-प्रत्यक्षरहित निर्गुण ब्रह्मभावमें स्थिति होनेके कारण ही उस दशके अनुसार व्यावहारिक दशामें भी जगत्‌को ब्रह्मका विवर्त माना गया है, क्योंकि मायाके मिथ्यात्व और जगत्‌के ब्रह्म-रूपत्वकी धारणा सुसुक्ष्म साधक-के चित्तमें जितनी प्रबल होगी, प्रपञ्चकी निवृत्तिके द्वारा स्वरूपोपलब्धि उतनी ही निकटवर्त्तिनी हो जायगी। अतः संसारको विवर्तित ब्रह्मका रूप कहना और उसी विवर्त-को जानकर आनन्दमय ब्रह्मपदमें विराजमान होना मुक्ति है। ऐसा कहना निज ज्ञान-भूमिके अनुसार वेदान्त-दर्शनके लिये उपयुक्त ही है।

इस वेदान्त-दर्शनमें सगुण ब्रह्म ईश्वरकी सत्ता पूर्णतया प्रत्यक्ष होती है क्योंकि जब वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म मायासे अतीत हैं, तो माया-सम्बन्धीय सृष्टि, स्थिति, पालनादि सभी कार्य मायाशक्तित, सगुण ब्रह्म ईश्वरके अधिकारमें ही होना चाहिये। इसलिये इस दर्शनमें ईश्वर-

को जगत्‌का निमित्त और उपादान दोनों कारण ही माना गया है। निमित्त-कारण इसलिये कि उन्हींके द्वारा सृष्टि, स्थिति, प्रलयकार्य चलता है और उपादान-कारण इसलिये कि उन्हींपर सुवर्णमें कटक-कुण्डलकी नाई मायाने समस्त विश्वकी भ्रान्तिरो दिल्खाया है। उनकी निमित्त-कारणता-के विषयमें वेदान्त-दर्शनमें अनेक सूत्र मिलते हैं।

यथा—

‘जन्माद्यस्य यतः’ ‘जगद्विचित्रत्वं’ इत्यादि

संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय सगुण ब्रह्म ईश्वरके द्वारा ही होती है। ईश्वर ही समस्त जगत्‌के कर्त्ता हैं। उनकी उपादान कारणताके विषयमें भी वेदान्त-दर्शनमें अनेक सूत्र मिलते हैं।

यथा—

‘प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादष्टान्तानुरोधात् ।’

इसके भाष्यमें श्रीभगवान्‌ शंकराचार्यने लिखा है:—

एवं प्राप्ते ब्रूनः । प्रकृतिश्चापादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च । न केवलं निमित्तकारणमेव ।

सगुण ब्रह्म केवल जगत्‌के निमित्त-कारण ही नहीं हैं अधिकन्तु उपादान-कारण भी हैं। फिर—

‘योनिस्र हि गीयते’

—इस सूत्रके द्वारा भी उपादान-कारणता प्रतिपन्न होती है।

‘तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः’ ‘तथाऽन्यप्रतिषेधात्’

इन दोनों सूत्रोंमें भी जगत्‌ और ब्रह्मकी एकता करके त्रिसप्रकार कुण्डल-वलय आदि सुवर्णालंकारोंमें वास्तविक कोई भेद नहीं, केवल नाम-रूपका ही भेद है, वस्तुतः सब सुवर्ण ही है, उसी प्रकार जगत्‌ विविध नाम-रूप वैविध्य-पूर्ण होनेपर भी वास्तवमें ब्रह्म ही है। ऐसा कहकर जगत्‌-के विषयमें ब्रह्मकी उपादान-कारणता विशेषरूपसे सिद्ध की गयी है।

‘तस्माद्ब्रह्मकार्यं विवर्तितं सिद्धम्’

आकाश, वायु आदि भूतोत्पत्ति सगुण ब्रह्म ईश्वरका ही कार्य है। इस सूत्रके द्वारा जगदुत्पत्तिके विषयमें ईश्वरकी निमित्त-कारणता सिद्ध की गयी है। अतः वेदान्त-दर्शन-भूमिके अनुसार ईश्वरकी उभय-कारणता ही प्रतिपादित होती है। ब्रह्म सगुण है या निर्गुण, इस विषयमें ब्रह्मसूत्रमें कहा है—

‘न ह्यनतोपि परस्य उभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।’

ब्रह्म सर्वत्र उभयलिङ्ग है, उपाधि-सम्बन्ध होनेपर भी निर्गुण-भावका विलोप नहीं होता है। ब्रह्म सगुण और निर्गुण उभय ही है। इसमें यदि यह आपत्ति हो कि ब्रह्म सगुण होनेपर साकार हो जायेंगे, इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें सूत्र है—

‘अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्’

ब्रह्म निराकार है, उपाधि-सम्बन्ध होनेपर भी साकार नहीं होते। ‘प्रकाशवत् चावैयर्थ्यम्’ जिसप्रकार सूर्यका प्रकाश आधार-भेदसे सरल, चक्र आदि भाव धारण करता है उसी प्रकार निराकार ब्रह्म भी उपाधिके द्वारा नानारूप प्रसीत होते हैं, वास्तवमें उनका कोई रूप नहीं है। रूप न होनेपर भी उपाधि-संबोधसे यदि ससीम हो तो इस सन्देहके उत्तरमें वेदान्त-दर्शन बताता है—

‘अतोऽनन्तेन तथा हि निगमा’

ब्रह्मके सगुण अथवा निर्गुण दोनों ही स्वरूप अनन्त हैं।

‘प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्वात्’

प्रकाशरूप ब्रह्ममें सगुण-निर्गुण-भेद केवल उपाधि-भेदसे है, स्वरूपगत कोई भी भेद नहीं है। इसप्रकार निर्गुण ब्रह्मसे स्वरूपतः अभिन्न मायोपाधियुक्त सगुण ब्रह्म ईश्वरसे जगत्की उत्पत्ति होता है, इसलिये घटकुलालवत् निमित्त-कारण ईश्वर कहे गये हैं। अब इसमें प्रश्न यह होता है कि जब ईश्वर चेतन हैं और जगत् अचेतन है तो चेतन ईश्वरसे अचेतन जगत्की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें कहा है कि ‘चेतनसे अचेतनकी उत्पत्ति संसारमें हुआ करती है’—जैसे चेतन पुरुषसे अचेतन नख-लोमादिकी उत्पत्ति। अतः ईश्वरसे जगत्की उत्पत्ति शंकाजनक नहीं है, द्वितीय प्रश्न यह होता है कि कुम्भकार दूध, चक्र आदि उपकरणकी सहायतासे घट निर्माण करता है। ईश्वरका जब कोई उपकरण नहीं है तो वे सृष्टि कैसे करेंगे? इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनने कहा है—

‘क्षीरवद्धि’ देवादिबद्धि लोके’

जिसप्रकार दुग्ध आदि उपकरणके बिना ही दधि आदि रूपमें परिणत हो जाते हैं और जिसप्रकार देवता आदि उपकरणके बिना ही संकल्पमात्रसे सृष्टि करते हैं उसी प्रकार चेतन ईश्वर उपकरणके बिना ही स्वतः जगत्-सृष्टि करते हैं। तृतीय प्रश्न यह होता है कि, ‘ईश्वर जब निराकार

हैं तो उनसे सृष्टि-कार्य कैसे सम्पन्न हो सकता है? इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनने कहा है—

‘विकरणत्वादिति चेत् तदुक्तम्’

अथयुक्तः—

‘अपाणिपादो जवनो ग्रहीता’

इत्यादि प्रमाणद्वारा यह सिद्ध होता है कि निराकार-से भी सृष्टिकार्य हो सकता है। पुनः यह शंका होती है कि ईश्वर जब आप्तकाम हैं तो उनको सृष्टिकार्य करनेका क्या प्रयोजन है? इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनने कहा है—

‘लोकवत् लीलाकैवल्यम्’

सृष्टि उनका लीला-विलासमात्र है। जिसप्रकार शिशु बिना प्रयोजन ही क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार सृष्टि भी उनके अधिष्ठानसे प्रकृतिद्वारा स्वतः होती है। पुनः यह आपत्ति होती है कि संसार वैषम्यका आधार है। इसमें कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी, कोई दरिद्र, इसप्रकार देखनेमें आता है। यदि जगत् ईश्वरकी रचना है तो वे बड़े ही पक्षपाती या निष्ठुर होंगे, इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनने कहा है—

‘फलमतः उपपत्तेः’

‘कृतप्रपन्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषद्धा वैयर्थ्यादिभ्यः’

‘वैषम्यनिवृत्त्यर्थेन मापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति’

ईश्वर कर्मफलके दाता है परन्तु कर्मके वैचित्र्यानुसार ही जीवको फल देते हैं, ऐसा न होनेसे शास्त्रीय विधि-निषेध निरर्थक हो जायगा। ईश्वर जीवकृत कर्मानुसार ही भिन्न-भिन्न सृष्टि करते हैं। जिसका पूर्व सुकृति है उसे सुखी करते हैं। जिसका मन्द प्रारब्ध है उसे दुःखी करते हैं। अतः इसमें ईश्वरका पक्षपात या निष्ठुरता सिद्ध नहीं होती। पृथग्पाद भाष्यकारने ईश्वरके कर्मानुसार सृष्टि-रहस्यके विषयमें कहा है—

‘ईश्वरस्तु पञ्चमवद् द्रष्टव्य । यथा हि पञ्चन्यो ब्रीहियवादिमुष्टौ साधारणं कारणं भवति ब्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्विजगतान्येवामाधारणानि सामर्थ्यानि कारणाणि भवन्ति, पद्ममीश्वरो देवमनुष्यादिमुष्टौ साधारणं कारणं भवति देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तद्विजगतान्येवासाधारणानि कारणाणि कारणाणि भवन्ति । पद्ममीश्वरः सापेक्षत्वात् वैषम्यनिवृत्त्याभ्यां दुष्मति ।’

सृष्टिके विषयमें ईश्वरको मेघकी तरह समझना चाहिये। जिसप्रकार भीहि, बब, धान्य आदिके विषयमें

मेघ साधारण कारण है अर्थात् मेघके जलसे ब्रीहि, यवादि उत्पन्न होते हैं परन्तु उसमें प्रत्येकके भीतर जो प्रकृति-वैषम्य है उसके लिये मेघ कारण नहीं है। उसके लिये ब्रीहि, यवादिके बीजगत असाधारण सामर्थ्य ही कारण है। ठीक उसी प्रकार देवमनुष्यादि-सृष्टिके विषयमें ईश्वर साधारण कारण है, परन्तु उनके प्रत्येकके पृथक्-पृथक् सुख-दुःख, ऐश्वर्य या दारिद्र्य आदि विशेषताके लिये जीवोंके पृथक् कर्म ही असाधारण कारण हैं। ईश्वर उन्हीं पृथक्-पृथक् कर्मोंके अनुसार प्रत्येक जीवकी सृष्टि करते हैं। अतः सृष्टिके विषयमें पर्जन्यवत् साधारण कारण होने-से ईश्वरमें पक्षपात या निष्ठुरताका कलंक नहीं लग सकता है। श्रुति कहती है—

‘पुण्या वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन ।’

पुण्यकर्मद्वारा जीवको पुण्यलोक या सुखप्राप्ति और पापकर्मद्वारा पापलोक या दुःखप्राप्ति होती है। अब इसमें यह आपत्ति होती है कि यदि कर्मानुसार ही जीव-का ईश्वर फल प्राप्त कराते हैं तो उनमें प्रेरणार्थ कैसे समझा जाय ? कर्मके अधीन हुए वह सर्वशक्तिमान् और स्व-तन्त्र कैसे कहला सकते हैं ? यह आपत्ति अकिञ्चित्कर है क्योंकि दाह्य वस्तुके न होनेसे अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, इसलिये अग्निमें दाहिका शक्ति नहीं है ऐसा कहना पागल-पन होगा। दाहिका शक्ति होनेसे ही अग्नि दाह्य वस्तुओं-को दग्ध कर सकती है। जलादिमें दाहिका शक्ति नहीं है इसलिये दाह्य वस्तुओंके संयोग होनेपर भी जलादि उनको दग्ध नहीं कर सकते। इसी तरह जड़ कर्मके नियामक सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें अनन्तशक्ति होनेसे ही वे जीवकृत-कर्मानुसार उनको फल दे सकते हैं, शक्ति न होती तो जीवके कर्म करनेपर भी उचित फल नहीं दे सकते। अतः जीवकृत कर्मोंकी अपेक्षा रहनेपर भी ईश्वरमें सर्वशक्तिमत्ताकी अभाव-कल्पना नहीं हो सकती, प्रजाओं-के कर्मानुसार राजा दण्ड-पुरस्कारादि प्रदान करते हैं इसमें राजाओं शक्ति या स्वतन्त्रताकी अभाव-कल्पना नहीं हो सकती। इसी प्रकारसे अनेक प्रमाणों तथा विचारोंद्वारा वेदान्त-दर्शनमें ईश्वरकी परमसत्ता जगत्पञ्चपरिचालनके विषयमें प्रमाणित की गयी है। इस ईश्वर-सत्ताका स्वरूप

यथा है जिसको साधनाके द्वारा साधकगण प्राप्त करते हैं। इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें लिखा है—

‘आनन्दमयऽभ्यासात्’

—ईश्वरकी वह सर्वव्यापक अद्वितीय सत्ता आनन्दमय है, जिसका साधनाके द्वारा साधक प्राप्त कर सकते हैं। साधनाके द्वारा ईश्वर कब प्राप्त होते हैं इस विषयमें वेदान्त-दर्शनमें कहा है—

‘अपि सग्राघने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ‘परानिध्यानानु तिरो-हितम्’ ‘तदोक्तोऽग्रज्वलने तत्प्रकाशितद्वारे हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।’

योगिगण शक्ति, ध्यान, प्रणिधानादिके द्वारा ईश्वरका दर्शन करते हैं। ईश्वरकी साधनाके द्वारा सिद्धि प्राप्त होनेपर जीवका भूला हुआ ब्रह्मभाव उसे भगवत्प्रसादसे प्राप्त हो जाता है। जानी साधकका हृदयाग्र प्रज्वलित होता है। जिसके प्रकाशसे साधकको निर्गमनद्वार अर्थात् मुक्तिमें प्रवेशद्वार विदित हो जाता है। वह उपासक भगवत्कृपासे पूर्ण होकर उज्ज्वलित सुषुम्ना-पथसे निष्क्रान्त हो उत्तरा-यण या सहज-गतिसे परमधामको प्राप्त हो जाता है। यही ईश्वराराधनके द्वारा वेदान्तवर्णित निःश्रेयस्-पदवी-प्राप्ति-का परम उपाय है। अतः वेदान्त-दर्शनकी आत्मिकता सहज सिद्ध है, इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

वैदिक दर्शनोंमें ईश्वर-सत्ता-विषयक विचारके द्वारा यही सिद्धान्त निश्चय हुआ कि अपनी-अपनी ज्ञान-भूमिके अनुसार सभी दर्शनोंने ईश्वर-सत्ताको प्रतिपादित किया है और वह प्रतिपादन दार्शनिक भूमियोंकी क्रमोन्नतिके अनुसार क्रमोन्नत होता हुआ अन्तिम दर्शन वेदान्तकी अन्तिम भूमिमें आकर पराकाष्ठाको प्राप्त हो गया है। आत्माके इसप्रकार श्रुति, शास्त्र और विचारसम्मत त्रिविध भाव और निश्चय शुद्ध बुद्ध निखिलकारण परम कर्णामय स्वरूपकी सत्यक् उपलब्धि होनेपर मुमुक्षु जीवका संसार-बन्धन निरस्त हो जाता है, समस्त संशयजाल छिन्न-विच्छिन्न हो जाते हैं और राजयोगीकी दुःखलवलेशविहीन निर्या-नन्दमय परमपदमें चिरविलीनता प्राप्त हो जाती है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

वेद और ईश्वर

(कलक-पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, सञ्चारक 'स्वाध्यायमण्डल')



द्वितीय विचार करनेवाले युरोपीय और भारतवर्षीय आधुनिक विद्वानों की सम्मति है कि 'वेदों में ईश्वर-विषयक विचार नहीं है, क्वचित् नासदीय सूक्त के समान कुछ विचार हैं, परन्तु वे अपवाद हैं। वेदों में सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि पदार्थों की स्तुति है, परन्तु ब्रह्म, परमात्मा अथवा ईश्वरविषयक कोई विशेष विचार नहीं है।' इन विद्वानों का यह भी कहना है कि परमात्मविषयक कल्पना वेदसंहिताओं में नहीं थी, वह उपनिषदों में उत्पन्न होकर बढ गयी है और सगुण उपासना तो पुराणों में ही फैली है।

आधुनिक विद्वानों की इस सम्मतिको देखकर जब हम प्राचीन भारतीय विद्वानों की सम्मति देखने का यत्न करते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि 'वेद समस्त विद्याओं का भाण्डार है और उसमें आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त की सभी विद्याएँ निहित हैं।' उपनिषद् और गीता में तो स्पष्ट कहा है कि—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्तं पदं संग्रहेण ब्रवीमि ॥ ओमित्येतत् ।
(कठ० १।२।१५)

'सम्पूर्ण वेद जिसका वर्णन करने हैं, सब तप जिसकी प्राप्ति के लिये किये जाते हैं और जिसके उद्देश्यसे ब्रह्मचर्य-का पालन किया जाता है, वह (परमात्मा) स्थान ओंकारसे बोधित होता है।' यहाँ ऐसा स्पष्ट कहा है कि सम्पूर्ण वेद-मन्त्र परमात्मा का ही वर्णन कर रहे हैं अर्थात् उपनिषद्कारकी सम्मति इस विषयमें निश्चिन्त है। यही भाव गीता में भी है—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः । (१५।१५)

'सम्पूर्ण वेदों के द्वारा मेरा (ईश्वर का) बोध होता है।' जो लोग कहते हैं कि वेदों में ईश्वर-विषयक ज्ञान नहीं है, उपनिषद् की और भगवद्गीता की सम्मति उनके विरुद्ध है।

वेदों में ईश्वर-विषयक ज्ञान है या नहीं, इसका जब हम विचार करने लगते हैं, तब हम उपर्युक्त वचनों की पृथक् नहीं कर सकते। आधुनिक विचारक जिन उपनिषदों में ब्रह्म-ज्ञान का वर्णन बतलाते हैं, उन्हीं उपनिषदों की यह सम्मति है कि वेदों के सभी वचनों में एक ही अद्वितीय सत्त्व का विचार किया गया है। यहाँ एक बात और यह विचारणीय है कि स्वयं उपनिषद् अपने ज्ञान के आविष्कार के प्रसंग में वेदसंहिता के वचनों की ही प्रमाणरूपसे आदरणीय मानते हैं। जो लोग उपनिषदों का अध्ययन करते हैं, उन्हें इस बात का पता है। इससे सिद्ध होता है कि अध्यात्मज्ञान का उपदेश करनेवाले उपनिषद् वेद-मन्त्रों की ही प्रमाण मानते हैं, इसलिये वेद-मन्त्रों में भी आत्मा, ब्रह्म अथवा ईश्वर-विषयक ज्ञान अवश्य होना चाहिये। स्वयं संहिता के मन्त्र-में भी यह बात स्पष्ट शब्दों में कही है—

यस्तु ज वेद किमुचा करिष्यति ।
(ऋग्वेद १।१६४।३९)

'जो उसको नहीं जानता, वह वेद-मन्त्र लेकर क्या करेगा?' अर्थात् वेद-मन्त्र पढ़ने की सार्थकता तभी होगी जब उस पढ़नेवाले को (तत् वेद) उस परमपद का ज्ञान होगा। जिसको वह ज्ञान नहीं होगा, उसका वेदाध्ययन व्यर्थ है। इस मन्त्र का विचार करने पर भी यही स्पष्ट होता है कि वेद-मन्त्रों की अन्तिम सिद्धि परमात्म-पद का ज्ञान ही है।

इन सब वचनों पर मनन करनेसे हमें ऐसा स्पष्ट पता चलता है कि आधुनिक विद्वानों का यह मत कि वेदों में ईश्वर-विषयक ज्ञान नहीं है, सर्वथा अशुद्ध है। यहाँ कई पाठक कहेंगे कि 'केवल वचनों को उद्धृत करनेसे इस पक्ष की सिद्धि कैसे हो सकती है?' यह कहना ठीक है, अतः अब हम वेद-संहिता के मन्त्रों से ही ईश्वर-विषयक ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है, इसका प्रमाणसहित विवरण करते हैं। इस विषयमें सबसे प्रमुख यह वेद-मन्त्र विचार करने योग्य है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुर्गो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

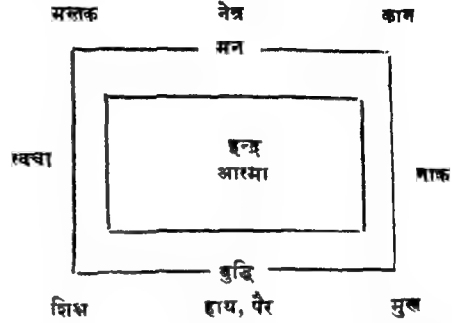
(ऋग्वेद १।१६४।४६)

‘(एकं सत्) सत्य तत्त्व एक ही है, परन्तु (विप्राः बहुधा वदन्ति) ज्ञानी लोग उसका वर्णन अनेक रीतिले करते हैं, इसी एक तत्त्वको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुत्मान्, यम और मातरिश्वा कहा जाता है ।’ अर्थात् उसी एक आत्मतत्त्वके ये अनेक नाम हैं । एकके अनेक नाम व्यवहारमें भी होते हैं । एक ही मनुष्य पुत्र, पिता, भाई, पति, चाचा, मामा, भतीजा आदि नामोंसे पुकारा जाता है और यदि वह अधिकारी हुआ तो उसीको तहमीलदार, जज, दीवान आदि नामोंसे पुकारते हैं । व्यावहारिक नातेमें ये विविध नाम होनेपर भी इन अनेक नामोंसे बोधित होनेवाला मनुष्य एक ही होता है । इसी तरह अग्नि, इन्द्र, पूषा आदि अनेक नामोंसे सम्बोधित होनेवाला एक ही ब्रह्म, आत्मा अथवा ईश्वर है । नाम अनेक होनेपर भी तत्त्व अनेक नहीं हैं ।

‘अग्नि, वायु आदि सृष्टिके अन्तर्गत तत्वोंकी ही पूजा वेदमें कही है’ यह मत उपर्युक्त वेद-मन्त्रद्वारा खण्डित हो जाता है और ‘अग्नि आदि अनेक नामोंसे एक ही आत्माका बोध होता है’ यह बात सिद्ध हो जाती है । इसपर भी आधुनिक विद्वानोंका यह कथन है कि ‘यह मन्त्र अवोचीन है, अतः प्रामाणिक नहीं है ।’ इस कारण अब हम इस विषयपर अन्य रीतिसे विचार करते हैं—

पाठक ! ‘इन्द्रिय’ शब्द जानते हैं; ‘इन्द्र’ शब्दके साथ शक्तिवाचक ‘य’ प्रत्यय लगकर (इन्द्र+य) इन्द्रिय शब्द बना है । ‘इन्द्रिय’ शब्दका मूल अर्थ ‘इन्द्रकी शक्ति’ है । परन्तु वेद मन्त्रोंमें तथा भाषामें ‘इन्द्रिय’ शब्द आँख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि इन्द्रियोंके लिये प्रयुक्त होता है । क्योंकि इन आँख, नाक, कान, हाथ, पैर आदिसे उनके अन्दर निवास करनेवाले ‘इन्द्र’ की शक्ति प्रकट होती है । यदि आँख, नाक, कानोंमें ‘इन्द्र-शक्ति’ कार्य कर रही है तो इससे निःसन्देह यह अनुमान हो सकता है कि इनके पीछे अथवा बीचमें इन्द्रदेव बैठा है । यदि इनके पीछे इन्द्रदेव न होता, तो इनमें इन्द्र-शक्ति कहाँसे आती और इनका इन्द्रिय नाम भी कैसे सार्थक होता ! अतः यह

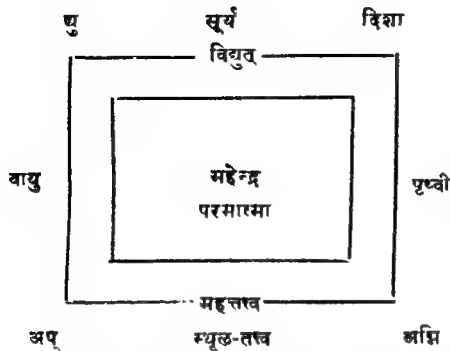
निःसन्देह सत्य है कि इन आँख, नाक, कान आदिके पीछे इन्द्रदेव विराजमान हैं, देखिये—



इसी प्रकार यहाँ पाठक अन्यान्य इन्द्रियोंकी भी कल्पना कर सकते हैं । इन्द्रदेवकी शक्ति प्रथम बुद्धिमें आती है और वहाँसे मनमें तथा मनसे इन्द्रियोंमें आकर कार्य करती है । इस विचारसे सिद्ध होता है कि इन्द्र-देवता अपने अन्दर है और उसकी शक्ति अपनी इन्द्रियोंमें आकर कार्य करती है । यह इन्द्रदेव हमारा ‘आत्मा’ ही है । वेदके मन्त्रोंमें जो इन्द्रदेवताका वर्णन है वह इसी आत्माका वर्णन है । और जो आत्माका वर्णन है वही परमात्माका वर्णन होता है; क्योंकि घटाकाश, मठाकाश और महाकाश इन तीनों आकाशोंमें वस्तुतः एक ही आकाश है, अतः किसी भी आकाशका वर्णन किया जाय वह उस एक ही आकाशका वर्णन होता है, इसी तरह—

| | |
|----------|---------------------------|
| जीवात्मा | परमात्मा |
| इन्द्र | महेन्द्र |
| देव | महादेव |
| ब्रह्मा | परब्रह्मा, ज्येष्ठब्रह्मा |
| ईश | ईश्वर, परमेश्वर |
| पुरुष | पुरुषोत्तम |
| नर | नारायण |
| रुद्र | महारुद्र |
| जीव | शिव |

इत्यादि शब्द-प्रयोगोंमें विभिन्न वस्तुका वर्णन नहीं है, प्रत्युत एक ही सर्वगत स्थाणु आत्माका वर्णन है । अतः अपनी इन्द्रियोंके पीछे जो ‘इन्द्र’ है वही इन्द्र किंवा महेन्द्र, अग्नि आदि देवताओंके पीछे है, देखिये—



यहाँ भी पाठक अन्यान्य देवताओंकी कल्पना कर सकते हैं। शरीरमें इन्द्र है और सृष्टिमें महेन्द्र है, शरीरमें आत्मा है और सृष्टिमें परमात्मा है, शरीरमें देव है और जगत्में महादेव है, शरीरमें ईश है और जगत्में परमेश्वर है। यहाँ जो छोटे-बड़ेका भाव है वह अज्ञानोंके बोधके लिये है, वस्तुतः इनमें भेद नहीं है क्योंकि दोनों स्थानोंमें एक ही तत्त्व है, इसका वर्णन भगवद्गीतामें इसप्रकार है—

नित्यः सर्वगतः स्थानुरचलोऽयं सनातनः ।

(१ । २४ ।)

‘यह आत्मा नित्य (सर्वगतः) सर्वव्यापक (स्थानुः) सर्वाधार अचल और सनातन है। ऐसी स्थितिमें यदि हमने अपनी सुबोधताके लिये शरीरव्यापी आत्माका नाम ‘जीवात्मा’ किंवा ‘इन्द्र’ रख लिया और जगद्रूपापक आत्माका नाम ‘परमात्मा’ किंवा ‘महेन्द्र’ रखा तो उस मूल एक तत्त्वमें कौन-सा भेद हो गया ? अन्तु ।

इस तरह वेद-मन्त्रोंमें जो इन्द्र-देवताका वर्णन है, वह निःसन्देह इसी एक आत्मतत्त्वका ही वर्णन है। जो पिण्डमें है वही ब्रह्माण्डमें है, पिण्ड-ब्रह्माण्डका न्याय एक ही है और हमी न्यायमे परमेश्वरका ज्ञान हो सकता है। वेद-मन्त्रोंमें इसी रीतिमे परमेश्वरका ज्ञान दिया गया है। किसीको सन्देह न हो इसलिये यह बात वेदने ही स्पष्ट कर दी है; देखिये—

ये पुरुष ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमंष्ठितम् ।

(अथर्ववेद १० । ७ । १७)

‘जो पुरुषमें अर्थात् मनुष्यके शरीरमें ब्रह्म देखने हैं वे परमेश्वरोंका भी ज्ञान सकते हैं।’ अर्थात् मनुष्यके शरीरमें जो आत्मा, ब्रह्म अथवा इन्द्रका साक्षात्कार करते हैं वे

समष्टि-जगत्में परमात्मा, परब्रह्म किंवा महेन्द्रको जान सकते हैं क्योंकि पिण्ड-ब्रह्माण्डका एक ही नियम है।

इस विवेचनसे पाठकोंने जान लिया होगा कि वेद-का इन्द्र देवता किस तरह परमेश्वरका बोध करता है और साथ ही जीवात्माका भी वर्णन करता है। जो लोग इस तरह वेदका अध्ययन करेंगे, वे ही वेद-मन्त्रोंमें सर्वत्र परमात्म-ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे। आधुनिक लोग केवल शब्दका ऊपरी अर्थ देखते हैं, अतः वे वेद-मन्त्रोंके मुख्यार्थसे वञ्चित रह जाते हैं। शरीरमें जीवात्मा है, इतना ज्ञान होनेसे ही जगत्में परमात्मा है यह ज्ञान हो जाता है। इस तरह इन्द्र देवतामे जीवका और ईश्वरका ज्ञान होता है। जो कहते हैं कि इन्द्र देवता किसी अन्य पदार्थका बोध कराता है, वे गलतीपर हैं। व्याकरणार्थ भगवान् पाणिनि मुनिने भी ‘इन्द्रिय’ शब्दकी सिद्धि करने हुए कहा है—

इन्द्रियं इन्द्रसिंहं इन्द्रहृष्टं इन्द्रमृष्टं इन्द्रजुष्टं इन्द्रदत्तं इति वा ॥

(अष्टा० ५ । २ । ९३)

इन्द्रः आत्मा तस्य लिङ्गं करणेन कर्तुंरनुमानात् ।

(कीमुदी ।)

‘इन्द्र नाम आत्माका है, यह आत्मा अन्दर है ऐसा अनुमान इन्द्रियव्यापार देखनेमे होता है, क्योंकि यह इन्द्रने किया है, बनाया है और वही इससे कार्य करता है।’ इस सूत्रके देखनेमे सिद्ध होता है कि ‘इन्द्र’ शब्दका जो अर्थ हमने कहा है वह ऋषिसम्मत है। अतः वेदका इन्द्र देवता शरीरस्थित स्थायी जीवात्माका और सृष्टिव्यापक परमात्माका समानतया बोधक है। उदाहरण देखिये—

इन्द्रो यातेऽवमितस्य राजा

शमस्य च श्रुतिणा वज्रबाहुः ।

सदु राजा क्षयति चर्वणांताम्-

राज नमिः पारिता बभूव ॥

(ऋग्वेद १ । ३२ । १५)

‘इन्द्र स्थावर-जङ्गम-जगत्का राजा है, वही प्रभु शान्त और सींगवाले मारक पशुओंका भी स्वामी है। सब प्रजाओंका वही एक राजा है। जिस तरह नेमिके चारों ओर चक्र होता है, उसी प्रकार उस प्रभुके चारों ओर यह विश्व है।’ इसप्रकारके मन्त्रोंमें इन्द्र शब्द परमात्मा किंवा परमेश्वरका वाचक है। अब जीवात्माके विषयमें देखिये—

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धं
न मृत्यवेऽवतस्ये कदाचन ॥

(ऋग्वेद १०।४८।५)

‘मैं इन्द्र हूँ, मेरा पराजय नहीं होता, यह धन मेरे पास ही रहता है, मैं कभी नहीं मरता, मैं अमर हूँ।’ यह वर्णन शरीरमें रहनेवाले प्रबुद्ध जीवार्त्माका है। यहाँ पाठक इस बातको ध्यानमें रखें कि आज जो जीव है, वही कालान्तरमें उन्नत होता हुआ शिव बन जाता है। आज जो बूढ़ा है वही एक दिन महेन्द्र बनेगा, आज जो बूढ़ा है वही मुक्त होगा। इसीलिये जीवार्त्मा और परमात्माके नाम एक ही वेदमें आये हैं। अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि नाम इसी कारण वेदमें इन दोनोंके हैं। पिता-पुत्रके नाम एक होना ही सिद्ध करता है कि जो आज पुत्र है वही कुछ समय व्यतीत होनेके पश्चात् पिता बनेगा। प्रत्येक पुत्र पिता होनेका अधिकारी है, इसी तरह प्रत्येक आत्मा परमात्मा बनेगा, प्रत्येक इन्द्र महेन्द्र होगा, प्रत्येक जीव शिव होगा और प्रत्येक पुत्र कभी-न-कभी पुरुषोत्तम हो जायगा। इस तरह वेद-मन्त्रोंमें जैसा पुरुषका वर्णन है वैसा ही पुरुषोत्तमका भी वर्णन है, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है कि ‘सब वेदोंमें ईश्वरका ही वर्णन होता है।’ (गीता १५।१५) यहाँतक जो विवेचन किया गया है उससे यह वैदिक वर्णनकी शैली सुस्पष्ट हो जायगी।

अब विशेष स्पष्टीकरणके लिये अग्निदेवका थोड़ा-सा वर्णन देखते हैं—

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोताऽस्या विधो अमवो दस्स होता ।

(ऋग्वेद ६।१।१)

‘हे अग्ने ! (त्वं प्रथमः मनोता) तू पहला मननकर्ता है और तू (दस्स) दर्शनीय अग्ने ! तू (धियः होता) बुद्धिका प्रदाता है ।’ यहाँ सायणाचार्य ‘मनोता’ शब्दका अर्थ ‘मनः यत्र ऊनं सम्बद्धं भवति’ ऐसा करते हैं। जहाँ मन सम्बद्ध हुआ होता है वह मनोता है। इन्द्रियाँ मनमें और मन आत्मामें सम्बद्ध होता है, यह बात प्रत्येक मनुष्य अपने अन्तःकरणका विचार करके जान सकता है। इसी प्रकार बुद्धिका दाता यहाँ आत्मा ही है। इसलिये यह वर्णन जीवार्त्मापरक है। यही विषय ऐतरेयब्राह्मणमें अधिक स्पष्ट किया गया है। अब वह भाग देखिये—

त्व ह्यग्ने प्रथमो मनोतति । ... तिस्रो वै देवानां मनोतास्तामु हि तेषां मनांस्योतानि ।

मनांस्योतानि । गौर्वै देवानां मनोता... अश्विर्वै देवानां मनोता... (ऐ० ब्रा० २।१०)

‘देवोंके तीन मनोता हैं, वाक् देवोंका मनोता है क्योंकि उसमें देवोंका मन सम्बन्धित हुआ होता है। गौ और अश्वि ये दूसरे दो मनोता हैं।’ यहाँ जो वाणीकी मनोता कहा है, उससे शरीरान्तर्गत जीवार्त्माके साथ इस मन्त्रका सम्बन्ध स्पष्ट होता है। इसी विषयमें निम्नलिखित मन्त्र देखिये—

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु । अयं स यज्ञे ध्रुव अनिषतोऽमर्त्यस्तन्वा वर्धमानः ॥ (ऋग्वेद ३।१५।४)

‘यह पहिला हवनकर्त्ता अग्नि मरणधर्मवाले मनुष्योंमें अमर ज्योतिरूप है। यह (अमर्त्यः तन्वा वर्धमानः) अमर होता हुआ भी शरीरके साथ बढ़ता है और इस जीवनरूप यज्ञमें स्थिर है।’ यहाँ मर्त्य-शरीरोंमें जो अमर आत्माकी ज्योति है, उस आत्माशक्ति ही वर्णन है। मनुष्यका जीवनरूप शनसांवात्सरिक यज्ञ चल रहा है और इस जीवनयज्ञमें यही आत्मज्योतिरूप अमर आत्माशक्ति प्रदीप्त है। श्रीसायणाचार्य इस मन्त्रका अर्थ (मर्त्येषु “शरीरेषु अमृतं मरणरहितं इदं ज्योतिः जाठररूपेण वर्तते) ‘मरनेवाले शरीरमें अमरज्योति उद्भूतमें पाचक-शक्तिरूपमें है।’ ऐसा करते हैं। तात्पर्य, यहाँका अग्नि आग नहीं है, परन्तु मर्त्य-शरीरोंमें जो अमर सत्य तत्त्व है, वही है। अब ‘अग्नि’ शब्दसे परमेश्वरका वर्णन निम्नलिखित मन्त्रमें देखिये—

अंशर्वयं प्रथमस्यामृतानां

मनामहे चारु देवस्य नाम ।

स नो मह्यादितये पुनर्दात्

पितरं च ददोयं मातरं च ॥

(ऋग्वेद ४।२०।१)

‘हम (अमृतानाम् प्रथमस्य अग्नेः) अमर देवोंमें पहले अग्निदेवका (चारु नाम) सुन्दर नाम (मनामहे) मनमें लाते हैं। वही हम सबको प्रकृतिमें (पुनः दात्) पुनः पुनः डालता है और जिससे हम अपने माता-पिताको बारम्बार देख सकते हैं।’

यहाँ सम्पूर्ण अमर देवोंमें सबसे प्रथम स्थानमें रहने अग्निदेवका वर्णन है, यह अग्निदेव जीवार्त्माको पुनः पुनः पुनः डालता है। यह निःसन्देह परमेश्वर है। यहाँ नाम-स्मरण करनेका उल्लेख है। यहाँ

कहेंगे कि यहाँ तो 'अग्नि' नाम स्पष्ट है, अतः इससे मुख्य-देवका ग्रहण कैसे किया जा सकता है? इस विषयमें यह कथन है कि वेदमें बहुधा सभी देवताओंके लिये प्रायः सभी नाम प्रयुक्त हुए हैं, अर्थात् अग्निको इन्द्र कहा है और इन्द्रको भी अग्नि कहा है। इसी प्रकार अन्य देवताओंको भी अन्य देवताओंके नाम दिये हैं। इस कारण हम कह सकते हैं कि इन शब्दोंका जो अर्थ लौकिक संस्कृतमें है, वही अर्थ वेद-मन्त्रमें नहीं है, देखिये—

पथ ब्रह्मा ण्व इन्द्रः ॥ (ऐ० उ० ५।१)

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः (महानारा० १।१, ३; कैवल्य ५)

स इन्द्रः सोऽग्निः सोऽक्षरः । (नृ० पू० १।४)

पथ हि खत्वात्मा इन्द्रः । (मैत्री उ० ६।८)

'वही ब्रह्मा, इन्द्र, शिव, अग्नि, अक्षर और आत्मा है।' अर्थात् ये सब नाम एक सत्त्वके हैं। जो तत्त्व पूर्वोक्त ऋग्वेदके 'इन्द्रं मित्रं' इत्यादि मन्त्रमें कहा गया था, वही यहाँ कहा गया है। वेदमें भी अग्निको 'तू इन्द्र है' ऐसा कहा है और इन्द्रको भी 'तू अग्नि है' ऐसा कहा है, देखिये—

त्वमग्न इन्द्रो वृषभ... त्वं विष्णु... त्वं ब्रह्मा... ब्रह्म-
णस्पते० ॥ त्वमग्ने राजा वरुणः... त्वं मित्रः... त्वमर्यमा...
त्वमेग० ॥ त्वमग्ने त्वष्टा... त्वमग्ने रुद्रो अमुरः० ॥ त्वं भग० ॥
(ऋग्वेद २।१ म० ३-७)

इन मन्त्रोंमें अग्निके लिये 'इन्द्र, वृषभ, विष्णु, ब्रह्मा, ब्रह्मणस्पति, राजा वरुण, मित्र, अर्यमा, अंश, त्वष्टा, रुद्र, असुर, भग' ये शब्द प्रयुक्त किये हैं। इसमें भी 'एक मध्य वस्तुके अनेक नाम होने हैं' यही बात सिद्ध होनी है और अग्नि शब्दमें 'आग' अर्थ लेनेवालोंका पक्ष खण्डित हो जाता है। जो यूरोपियन विद्वान् कहते हैं कि ऋग्वेदका 'इन्द्रं मित्रं' मन्त्र आधुनिक होनेके कारण अप्रमाण है, वे यदि, वही बात इसप्रकार अग्निस्मृतमें भी कही है, देखेंगे, तो उनको अपना मत बदलना पड़ेगा। केवल अग्निस्मृतमें ही नहीं, प्रायः सब देवताओंके विषयमें ऐसा ही वर्णन आता है अर्थात् वेदका अग्नि इन्द्र है और इन्द्र अग्नि है, अतः दोनों एक हैं, यह बात इसीमें सिद्ध होगी; और यदि इसी विचार-परम्परामें सब देवताओंमें एक ही सत्य वस्तुका ज्ञान हुआ तो फिर 'सब वेद एक ही परमपदका वर्णन करते हैं' यही बात सिद्ध हुई। फिर 'सब वेद एक ईश्वरका वर्णन करते हैं' इस विधानमें किसीको भी सन्देह ही नहीं रहेगा।

यदि अग्नि और इन्द्र एक ही हैं, तो दोनोंके वर्णन एक दूसरेके लिये भी प्रयुक्त हो सकते हैं। इतनी बात कोई न भी माने, परन्तु इन्द्रस्मृतमें जो इन्द्र देवताका स्वरूप वर्णन किया है वह तो मानना ही पड़ेगा, वह देखिये—

रूपं रूपं प्रतिक्रियो बभूव

तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय ।

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते० ॥

(ऋ० ६।४७।१८)

'इन्द्र प्रत्येक पदार्थके रूपमें तद्रूप होकर रहा है, यह उसका रूप देखनेयोग्य है। यह इन्द्र अपनी शक्तियों-में बहुत रूप धारण करता है।'।

इस मन्त्रमें तो यह बात निःसन्देह कही गयी है कि 'परमेश्वर ही अपनी मायामें अनेक रूप धारण करता है' यह वेदान्त-शास्त्रका कथन है और वह इन्द्रस्मृतमें है। यह मन्त्र देखकर म० विरहमनने कहा है कि -

Indra is here identified with Parameshwara, the supreme first cause, identical with creation

इन्द्रस्मृतमें इसप्रकार परमेश्वरका स्वरूप वर्णन किया है।

यूरोपियन लोगोंने अन्तःकरणोंमें इस विषयमें सन्देह होना स्वाभाविक है, परन्तु भारतीय विद्वान् जब कुछ भी विचार न करने हुए उन्हींके मुखमें अपना मुर मिलाकर उन्हींके समान नाचने लगते हैं, तब आश्चर्य होता है। अस्तु, जो बात इन्द्रके विषयमें कही है, वही अग्निके विषयमें भी सत्य है, क्योंकि अग्नि और इन्द्र एक ही हैं, भिन्न नहीं, यह बात इसमें पूर्व कही जा चुकी है।

इस तरह वेदमें अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवताओंके वर्णनमें एक ही परमात्माका वर्णन किया गया है, जो पाठक इसप्रकार देखेंगे उनको यह बात स्पष्ट हो जायगी कि वेदके मन्त्र एक ही परमसत्त्वका बांध करते हैं।

वेदमें जो ब्रह्मके वर्णनके सूक्त हैं, जैसे नामदीय सूक्त, वे तो स्पष्ट ही हैं; अथर्ववेदमें अथारामविद्याके अनेक सूक्त हैं, उनके विषयमें भी किसीको सन्देह नहीं हो सकता, परन्तु यहाँ हमने वेदके उस भागमें परमेश्वरका वर्णन सिद्ध करनेका यत्न किया है कि जिसके विषयमें सर्वसाधारणको सन्देह है। आशा है कि विद्वान् इसका

विचार करके इस दृष्टिसे वेद-मन्त्रोंका मनन करेंगे और वेदके मन्त्रोंसे जो परमपदका ज्ञान मिलता है वह प्राप्त कर उस परमपदकी प्राप्तिके लिये यत्न करेंगे।

अब इस स्थानपर एक शंकाका विचार करना आवश्यक है। वह यह कि 'परमेश्वरकी क्या आवश्यकता है और जब उसकी हमें आवश्यकता नहीं तो फिर हम उसका विचार ही क्यों करें?' आजकलके शिक्षित लोग ऐसा प्रश्न करते हैं, अतः इसपर भी थोड़ा-सा विचार करना अत्यन्त आवश्यक है।

इसप्रकारकी शंका करनेवाले अपनी परमन्त्रताको नहीं जानते। जानते होते तो ऐसा प्रश्न ही नहीं कर सकते। मनुष्यकी प्रत्येक शक्ति अल्प है और उस शक्तिका विकास विश्वकी महती शक्तिके साथ सम्बन्ध होनेपर ही सम्भव है। उदाहरणके लिये देखिये—

मनुष्यके आँख हैं, पर वह सूर्यके होनेसे ही कार्य कर सकती हैं, सूर्यके बिना वह शक्तिहीन हैं। सूर्यप्रकाशके साथ उसका सम्बन्ध होनेसे ही उसकी शक्ति विकसित होती है, अन्यथा नहीं। अर्थात् मनुष्यकी दृष्टि अल्प-शक्तियुक्त है और वह महती सौर शक्तिसे सम्बन्धित होनेपर ही कार्यक्षम होती है।

मनुष्यकी दूसरी इन्द्रिय कान है, वह आकाशके साथ सम्बन्धित होनेपर ही कार्य कर सकती है। जहाँ आकाश नहीं, वहाँ कान कुछ भी कार्य नहीं कर सकते अर्थात् मनुष्यके छोटे-से कान महान् आकाशके साथ सम्बन्धित हैं।

मनुष्यके शरीरके घन और द्रवभाग क्रमशः अन्न और जलके साथ सम्बन्धित हैं। खानेका अन्न और पीनेको पानी न मिले तो ये शरीरके भाग क्षीण होंगे और अन्तमें मृत्युकी शरण आनेकी अवस्था ही प्राप्त होगी।

मनुष्यके शरीरमें प्राण हैं और वह विश्वव्यापक

महाप्राण वायुके साथ सम्बन्धित है। यदि विश्वव्यापक महाप्राणसे मानवी-शरीरका प्राण वियुक्त हो जाय तो जीवन ही समाप्त हो जाय।

इसी प्रकार मानवी शरीरके सब सर्वांश विश्व-व्यापक महातत्त्वोंके साथ सम्बन्धित हैं। मनुष्य-शरीरमें एक भी ऐसा सर्व नहीं कि जो विश्वव्यापक महातत्त्वोंसे वियुक्त होनेपर भी कार्यक्षम रह सके।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जब ऐसी वस्तुस्थिति है तो हमारा आत्मा किसके साथ सम्बन्धित होकर अपनी उन्नति कर सकता है, इसका विचार प्रत्येक विचारकको करना चाहिये। यदि परब्रह्म, परमात्मा, परमेश्वर अथवा ईश्वर न माना जाय और उसके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़ा जाय, तो उस निराधार स्थितिमें हमारा यह स्फुल्लिङ्गरूप आत्मा किमप्रकार विकसित हो सकता है? अतः नास्तिक-तत्त्वज्ञान अपने आत्माको निराधार बनाने-वाला है, इसलिये कदापि स्वीकार करने योग्य नहीं है। और आस्तिक-तत्त्वज्ञान अपने आत्माको महती परमात्म-शक्तिका अखण्ड आधार देता है इसीलिये वह सर्वथा आदरणीय है।

पुत्र कुछ समयके पश्चात् पिता अवश्य होगा, परन्तु बालकपनमें उसको अपने पिताके आधारसे ही अपनी उन्नति करनी चाहिये। इसी प्रकार प्रत्येक नर कभी-न-कभी नारायण अवश्य बनेगा; परन्तु जबतक वह नारायण नहीं बनता, केवल नर ही है, तबतक उसको नारायणकी सहायता लेनी ही चाहिये। इसीलिये ईश्वरमें भक्ति करना प्रत्येक नरके लिये योग्य है। 'भगवान्' की भक्तिसे ही 'नर' का निःसन्देह 'विजय' होगा। अतः कुतर्क छोड़कर प्रत्येक मनुष्य भगवान्की शरण ग्रहणकर आत्माको कृतकृत्य करे।

रब्बका आशिक

तुल्ला आसिक हो यों रब्बदा, 'मुलाप्रत' होवे लाख।

लोग 'काफर काफर' आखदें, तू 'आहो आहो' आख ॥

—बुलेशाह

वैदिक संहिताओंमें ईश्वर या पुरुष

(लेखक—श्रीमंगलदेवजी शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल, आक्सन)



वैदिक साहित्यमें और विशेषकर वैदिक संहिताओंमें ईश्वरवाद—इस विषयपर विचार करते हुए सबसे पहली बात, जो बहुत-से लोगोंको अजीब-सी प्रतीत होगी, यह है कि केवल वैदिक-संहिताओंमें ही नहीं, किन्तु वैदिक साहित्यभरमें 'ईश्वर' शब्द रूढ़ि-रूपसे परमेश्वरके अर्थमें कहीं भी प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता। यही नहीं, चर्मसूत्रों, पाणिनिमुनिकी अष्टाध्यायी, व्याकरण-महाभाष्य और कौटिल्यके अर्थशास्त्रके विषयमें भी यही बात है। जहाँतक हम कह सकते हैं, यह शब्द उक्त अर्थमें सबसे पहले एक-दो बार मनुस्मृतिमें तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें आया है। महाभारत और रामायणमें यदि इसका प्रयोग मिले तो भी कोई बात नहीं; क्योंकि वे वैदिक साहित्यके अन्तर्गत नहीं हैं।

इसका विस्तार हम यहाँ नहीं करना चाहते। इस विचारको हम किसी दूसरे लेखके लिये स्थगित रखते हैं। इस लेखमें हमारा सम्बन्ध 'ईश्वर' शब्दसे उतना नहीं है जितना उसके आलकलके प्रचलित अर्थसे। हम दृष्टिसे यदि हम वैदिक संहिताओंको लेकर देखते हैं तो दो-चार ही शब्द ऐसे मिलते हैं जो परमेश्वरके व्यापक और महत्त्वके अर्थमें प्रयुक्त हुए कहे जा सकते हैं। वैदिक देवताओंमें अधिकतर (अग्नि, इन्द्र, वायु, सविता, विष्णु, रुद्र आदि) ऐसे ही हैं जिनका स्थान और कर्म नियत है। दूसरे शब्दोंमें हम उन्हें कार्मिक (Functional or Departmental) तथा स्थानिक (Local) देवता ही कह सकते हैं। तभी तो निरुक्तमें यास्कमुनिने कहा है—

तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवी स्थानः। वायुर्वा इन्द्रो बान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो धुम्रानः। तासां महा-भान्यादिकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्। (७। ५)

उपासक या स्तोता स्तुति करते हुए, उनका कितना ही बड़ाकर वर्णन करे, उनमेंसे, वास्तवमें कोई भी 'परमदेव' या 'परमेश्वर' नहीं कहा जा सकता।

हाँ, वेदान्तके अर्थमें ब्रह्मका और 'परम पुरुष'

(या विराट् पुरुष)के अर्थमें पुरुषका वर्णन, चारों संहिताओं-को मिलाकर, बहुत ही थोड़े सूक्तोंमें आया है। यह वर्णन बड़े महत्त्वका है। इनमें ब्रह्मका विचार इतना गूढ़ है कि वह सर्वसाधारणके 'परमेश्वर' का प्रयोजन सिद्ध नहीं कर सकता। विद्वान् ही उसे पहचान या समझ सकते हैं। वास्तवमें वह निर्गुण है।

पुरुषका वर्णन ऐसा नहीं है। उसका वैदिक वर्णन बहुत कुछ परमेश्वरका वर्णन कहा जा सकता है। वास्तवमें यह कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओंमें परमेश्वरका वाचक मुख्य शब्द 'पुरुष' है। भगवद्गीता आदि ग्रन्थोंमें इसी अर्थमें 'पुरुषोत्तम' शब्द आया है। इसलिये इस लेखमें हम इसी शब्दको लेकर विचार करना चाहते हैं।

चारों संहिताओंमें लगभग २० सूक्तोंमें 'पुरुष' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिन सूक्तोंमें मनुष्यके अर्थको छोड़कर परम पुरुष या विराट् पुरुषके अर्थमें इसका प्रयोग हुआ है उनमेंसे प्रसिद्ध 'पुरुष-सूक्त' सबसे मुख्य है। 'पुरुष-सूक्त' की परम प्रसिद्धि का कारण भी इससे स्पष्ट हो जाता है।

'पुरुष-सूक्त' थोड़े-बहुन पाठान्तरों तथा कुछ कम या अधिक मन्त्रोंके साथ सामवेदकी संहिताको छोड़कर शेष तीनों संहिताओंमें आया है। तो भी शुक्ल-यजुर्वेदीय माध्यन्दिन-संहिताका ही पुरुष-सूक्त सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसलिये इस लेखके लिये उसीको हमने अपना आधार माना है। इस संहिताका यह ३१ वाँ अध्याय है। यहाँ हमारा अभिप्राय सारे सूक्तके अनुवादके देनेमें नहीं है। पुरुष-विषयक मुख्य-मुख्य विचारोंको ही हम यहाँ दिखाना चाहते हैं। विस्तारके भयमें यहाँ हम ऊपर शीर्षकके साथ तद्द्योतक मन्त्र या मन्त्रावयवको देकर उसके भावार्थ-को देना ही पर्याप्त समझेंगे। इसप्रकार पुरुष-सूक्तको समाप्त करके हम इसी अर्थमें पुरुषको वर्णन करनेवाले अन्योन्य वैदिक स्थलोंका भी संक्षेपमें दिग्दर्शन कराना चाहते हैं।

प्रथम, पुरुष-सूक्तको लीजिये।

विराट् पुरुषका रूप अति महान् है

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।

स भूमिः सवतः स्पृत्वात्यसतिहृद्दशाङ्गुलम्॥

अर्थात्—अनेकानेक शिरों, चक्षुरादि इन्द्रियों और पैरों-वाला वह महान् पुरुष ब्रह्माण्डरूपी भूमिको सब ओरसे व्याप्त करके उसके बाहर भी अवस्थित है।

वह सबका कारण और स्वामी है

पुरुष एवेदं सर्वं यद्वत्तं ब्रह्म मात्मानम् ।
उतामृतत्वस्येशानो बदन्तनातिरोहति ॥

अर्थात्—यावत् अतीत, वर्तमान और भविष्य पदार्थ हैं वे सब पुरुष ही हैं। अर्थात् पुरुषमें उत्पन्न हुए हैं। वह ही अमृतत्वका तथा बढ़नेवाले पदार्थोंका स्वामी है।

पुरुषकी महिमा लोकातीत है

प्रतावानस्य महिमातो ज्वायांश्च पुरुषः ।
पादाऽस्य विद्या भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥

अर्थात्—यह सारा ब्रह्माण्ड पुरुषकी महिमा है। पर वह स्वयं इसमें भी बड़ा है। सारे पदार्थ उसके केवल एक अनुयायिके समान हैं। उसके अविनाशी तीन अनुयाय इस ब्रह्माण्डमें बाहर प्रकाशमान स्वरूपमें अवस्थित हैं।

पुरुष ज्ञानका स्रोत और जगदुत्पादक है

तस्माद्यज्ञात्सर्ववृत्तः संभूत पृषदाज्यम् ।
पशून्स्तान्श्चक्रं वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ॥
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुन ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥
तस्मादग्ना अजायन्त ये के चोभयादत ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥

अर्थात् - उसी यजनीय परम पुरुषमें घृतादि यावत्-भोग्य पदार्थ तथा वायुपर आश्रित जंगली तथा ग्रामीय पशु—जैसे अश्व, गायें, भैंस और बकरियाँ—उत्पन्न हुए। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अन्य छन्द भी उसीसे उत्पन्न हुए हैं।

मनुष्य-समाजके अंग पुरुषके अंग-स्थानीय हैं

ब्राह्मणाऽस्य मुखमासीद्ब्राह्म राजन्यः कृतः ।
ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत ॥

अर्थात्—उस पुरुषके ब्राह्मण मुखरूप, क्षत्रिय बाहु-रूप, वैश्य ऊरुरूप और शूद्र पादस्वरूप हैं।

उसके ज्ञानको छोड़कर मृत्युको पार करनेका अन्य उपाय नहीं है

तमेव विदित्वा तिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

अर्थात्—उसी प्रकाशस्वरूप पुरुषको जानकर मनुष्य मृत्युको उल्लंघन कर सकता है। मृत्यु या संसार-सागरको पार करनेका दूसरा मार्ग नहीं है।

वही देवोंका देव या महादेव है

यो देवेभ्य आतपति यो देवानां पुरोहितः ।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातः ॥

अर्थात्—वही पुरुष देवताओंके लिये प्रकाश करता है। वही उनका नेता है। वह देवताओंकी उत्पत्तिसे पूर्व भी मौजूद था।

ऊपर पुरुष-सूक्तमें पुरुष-विषयक मुख्य-मुख्य विचारों-को ही हमने दिखलाया है। शुक्ल-यजुर्वेदके अगले (३२वें) अध्यायमें भी पुरुषका ही वर्णन है। उस अध्यायसे भी दो-चार मन्त्रोंको लेकर हम यहाँ दिखाना चाहते हैं।

पुरुष त्रिकालातीत है

सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि ।
नैनमूर्ध्वं न तिर्यश्च न मध्ये परिजग्रमत् ॥

अर्थात्—सब निमेष (या काल) पुरुषसे ही उत्पन्न हुए हैं। कोई इसके किसी क्षोरको नहीं देख सकता।

पुरुषकी प्रतिमा नहीं हो सकती

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
... .. ॥

अर्थात्—उस पुरुषकी, जिसका यश महान् है, प्रतिमा (या उपमा) नहीं हो सकती।

पुरुष सर्वत्र व्यापक है

... स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजाम् ॥

अर्थात्—वह पुरुष प्रजाओंमें ओतप्रोत है और व्यापक है।

पुरुषके साथ हमारा सम्बन्ध

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता
चामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
... .. ॥

अर्थात्—वह परम पुरुष हमारा बन्धु है, वह हमारा उत्पादक है। वही सब ब्रह्माण्डका धारण करनेवाला है और सब पदार्थों और स्थानोंको जानता है।

पुरुष शब्दका अर्थ

परमात्माके अर्थमें पुरुषका जो वर्णन वैदिक संहिताओं-

के दो-चार सूक्तोंमें आया है उसका सार हमने ऊपर दिया है। अब देखना है कि पुरुष शब्दका यह अर्थ किस आधार-पर किया जाता है। शतपथ-ब्राह्मण (१३।६।२।१) में इसप्रकार 'पुरुष' शब्दका निर्वाचन किया है—

इमे वै लोकाः पूरयन्ते पुरुषो याऽयं पवते साऽस्यां पुरि शेते तस्मात् पुरुषः ।

अर्थात्—त्रिकोकीरूपी पुरीमें व्याप्त होनेके कारण ही वह 'पुरुष' कहलाता है ।

पर अथर्ववेद (१०।२।२८-३३) के देखनेसे प्रतीत होता है कि यही मनुष्यका शरीर वह पुरी है जिसमें रहनेसे उसको पुरुष कहते हैं। नीचेके मन्त्रों या मन्त्रा-वयवोंमें मनुष्य-शरीरको, बाइबिलके 'देवगृह' या

(Temple of God) के ही अर्थोंमें स्पष्टतया परमात्मा-की पुरी कहा है और यह ठीक भी है; क्योंकि भगवान्‌के दर्शन अपने हृदयमें ही होते हैं। उक्त मन्त्र या मन्त्रा-वयव यह हैं—

... सर्वा दिशः पुरुष आब्रूव ।

पुरं यो ब्रह्मणो वेद सस्याः पुरुष उच्यते ॥

अष्टा चक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोष्या ।

तस्यां हिरण्मयः काशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥

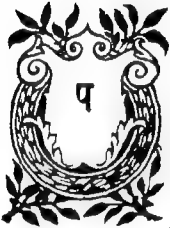
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृतम् ।

पुरीं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥

उसी परमपुरुष अकालपुरुष या पुरुषोत्तमके लिये हमारा बार-बार नमस्कार है ।

वेदान्तके भिन्न-भिन्न सिद्धान्तोंके अनुसार ईश्वरका स्वरूप

(लेखक—श्रीयुत श्रीपर मजूमदार एम० ए०)



रिच्छिन्न जीवात्माके लिये यह अत्यन्त कठिन ही नहीं, वरं असम्भव है कि वह अपरिच्छिन्न समष्टि-चेतन अथवा ब्रह्मके स्वरूपको सहसा यथार्थरूपमें समझ सके, फिर शब्दोंद्वारा उसके वास्तविक वर्णन करनेकी तो बात ही कौन-सी है ? महर्षि व्यास-प्रणीत

ब्रह्मसूत्रोंपर अनेक आचार्योंने भाष्य लिखे हैं और उनमेंसे प्रत्येकने ब्रह्मके स्वरूपका जो वर्णन किया है, वह देखनेमें एक दूसरेसे बिल्कुल भिन्न प्रतीत होता है। परन्तु उनमेंसे प्रत्येकने ही श्रुतिके प्रमाणोंका आश्रय लेकर अपने-अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। श्रुतियोंमें जो ज्ञान भरा हुआ है वह प्राचीन तत्त्व-वेत्ता महर्षियोंके साक्षात् अनुभवका फल है। अतः उनमेंसे किसीके भी निर्णयपर शंका करना श्रुतियोंपर शंका करना है जिसे आस्तिक विद्वान् पाप समझते हैं, क्योंकि श्रुतियोंमें भिन्न-भिन्न तत्त्वदर्शी ऋषियोंका आन्तरिक अनुभव भरा हुआ है जो उन्होंने स्वतन्त्र विचार एवं साधनसे प्राप्त किया था। निम्नलिखित श्रुतिको ध्यानमें रखनेसे ये सारे मतभेद दूर हो सकते हैं—

अचित्यमव्यक्तमनन्तरूपं

शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मसोनिम् ।

तमादिमध्यान्तविहङ्गनमेकं

विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ॥

अर्थात् वह ब्रह्म अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, शान्ति-स्वरूप, अविनाशी, अखिल सृष्टिका कारण, अद्वितीय, सर्व-व्यापक, चिदानन्द-स्वरूप, आदि, मध्य एवं अन्तसे रहित, अलक्ष्य एवं अद्भुत है।

प्रत्येक आध्यकारने ब्रह्मके उसी स्वरूपका वर्णन किया है जो उसके ध्यानमें आया, अतः हम उसे पूर्ण नहीं कह सकते, प्रत्येक भाष्यकारके साथ निष्पक्ष रहते हुए हम यह नहीं कह सकते कि अमुक भाष्यकारने ब्रह्मका जो स्वरूप बतलाया है वही पुरातन ठीक है और अन्य भाष्यकारों-का निरूपण ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करनेसे श्रुतिके प्रमाणमें विरोध आयेगा जो प्राचीन तत्त्ववेत्ता महर्षियोंके आन्तरिक अनुभवकी सुदृढ़ भित्तिपर स्थित है। ब्रह्मके सम्बन्धमें महर्षियोंका जो इसप्रकारका आन्तरिक अनुभव है, उसका आध्यात्मिक जगत्‌में उतना ही आदर है जितना वैज्ञानिक जगत्‌में अपने हाथोंद्वारा किये हुए प्रयोगोंका है। अन्तर केवल इतना ही है कि ऋषियोंके अनुभवमें, जिसे दिव्य ज्ञान (Revelation) कहते हैं, आन्तिका लेख भी नहीं होता। अतः उपर्युक्त कारणोंसे हमें यह मानना पड़ेगा कि ब्रह्मके वास्तविक स्वरूपमें भिन्न-भिन्न

भाष्यकारोंद्वारा निरूपित सारे स्वरूपोंका समन्वय हो जाता है और कुछ शेष भी रह जाता है जो अविन्य, अन्यक्त एवं अतर्क्य है।

जगत्प्रसिद्ध महावृत्तार्थनिक स्वामी शंकराचार्यके द्वारा निरूपित अद्वैत-सिद्धान्तमें ब्रह्मका स्वरूप मायातीत अर्थात् शुद्ध बतकाया गया है, उनका सिद्धान्त बान्तवमें बहुत ऊँचा है। वह सिद्धान्त हमें यह बतकाता है कि इस दृश्यमान जगत्-से आरम्भाका कोई सम्बन्ध नहीं है और ब्रह्मके जिस अंशमें माया है वह मायातीत (शुद्ध) अंशके मुकाबलेमें बिल्कुल तुच्छ है (देखिये छान्दोग्योपनिषद् ३-१२-६)। ❀

भक्त आचार्य श्रीरामानुजने अपने विशिष्टाद्वैतके सिद्धान्तमें ब्रह्मका विश्वव्यापी रूप ही लिया है और ब्रह्माखण्ड-को उसका विग्रह मानकर यह बताया है कि हमारा काम संसारके बिना नहीं चल सकता। † भक्तिरसमें डूबे हुए आचार्य श्रीमध्वने द्वैतका आश्रय लेकर ब्रह्मको सृष्टि-कर्ता और इस दृश्यमान जगत्को उसका कार्य माना है। यह सिद्धान्त भी आपेक्षिक दृष्टिमें ठीक ही है। शान्तिप्रिय श्रीनिश्चार्काचार्यने किसी दूसरे भाष्यकारका खण्डन न करते हुए द्वैत एवं अद्वैत दोनोंको ठीक माना है, इसीलिये उनका मत द्वैताद्वैत-सिद्धान्तके नामसे विख्यात है। वे ब्रह्मके माया-तीत (शुद्ध) एवं माया-विशिष्ट दोनों रूपोंको दृष्टि-भेदसे ठीक मानते हैं।

उपर्युक्त समस्त भाष्यकारोंने वेदान्तका आश्रय लिया है। अतः हम सभी आचार्योंके चरणोंमें सादर प्रणाम करते हैं एवं यह मानते हैं कि ब्रह्मके स्वरूपका जैसा-जैसा वर्णन उन्होंने किया है वह सभी बान्तवमें ठीक एवं समानरूपसे मान्य है, क्योंकि श्रुति कहती है कि ब्रह्म हमारे अनुभवका विषय है, तर्कका नहीं। अपनी परिमित बुद्धिके चरमेसे ये भिन्न-भिन्न निरूपण चाहे हमें परस्पर-विरोधी प्रतीत हों, किन्तु वे सभी पूर्णरूपसे ब्रह्मपर घटते हैं जो दिक्कालाघनवच्छिन्न है।

वेदान्तका किसी मतके साथ विरोध नहीं है। वह तो हमें उस सार्वभौम धर्मकी शिक्षा देता है जिससे जगत्के सारे धर्मोंकी सृष्टि हुई है।

प्रत्येक व्यष्टि-चेतन (जीव) के लिये यह सम्भव नहीं कि वह सहसा समष्टि-चेतन (ब्रह्म) के स्वरूपकी झलक पा सके। इसीलिये वेदान्तने अधिकार-भेदसे कई सीढ़ियों-की कल्पना की है, जिनमें द्वैतवादको प्रारम्भिक सीढ़ी और अद्वैतवादको, जिसमें सबका समावेश हो जाता है, अन्तिम सीढ़ी माना है। द्वैतसिद्धान्तमें भी साधककी रुचिके अनुसार भगवद्-भक्ति एवं ईश्वरोपासनाके वाच्य, स्वयं, वाग्सत्य, माधुर्य आदि कई प्रकार माने गये हैं और वेदान्तको वे सभी मान्य हैं, क्योंकि उसके मतमें सभी मार्ग उस एक लक्ष्य—ब्रह्मकी प्राप्तिकी ओर ही ले जानेवाले हैं।

गोपालको भजो

जा दिन मन-पंछी उड़ि जैहैं।

ता दिन तेरे तन तरुवरके सबै पात भरि जैहैं॥ १॥

घरके कहैं बेग ही काढ़ो भूत भये कोउ खैहैं।

जा प्रीतमसे प्रीति घनेरी सोऊ देखि डरैहैं॥ २॥

कहैं वह ताल कहाँ वह सांभा, देखत धूर उड़ैहैं।

भाई-बन्धु कुटुंब-कबीला, सुमिरि-सुमिरि पछतैहैं॥ ३॥

बिना गुणाल कोउ नहि अपना जस कीरति रहि जैहैं।

सो तो सूर दुर्लभ देवनको, सतसंगतिमें पैहैं॥ ४॥

—सूरदासजी

० तावानस्य माहमा तनो ज्यायाश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वाभूतानि त्रिपादस्यामृते दिवाति ॥

† भूमिर्मूर्धो चक्षुषी चन्द्रसूरी दिशः ओत्रे वाग्विश्रुताश्च वेदाः ।

वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी क्षेत्रं सर्वभूतान्तरात्मा ॥

वेदमें ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीश्रीशचन्द्रजी चट्टोपाध्याय, प्रयाग-विश्वविद्यालय)

वेदमें ईश्वरका स्वरूप क्या है, यह जाननेके पहले हमें समझना चाहिये—वेद क्या है, उसकी अवधि कहाँ तक है ? कारण यह है कि सम्पूर्ण वेदका समन्वय करनेपर ही हम ईश्वरका वैदिक स्वरूप ठीक-ठीक समझ सकते हैं, अन्यथा एकदेशमात्रका ग्रहण करनेसे हमें उसके सच्चे रूपका पता नहीं लगेगा ।

हमारे प्राचीन आचार्य 'वेद' पदसे मन्त्र और ब्राह्मण-को लेते हैं । ब्राह्मण प्रधानतया मन्त्रोंका व्याख्यान है । ब्राह्मण वैसा ही वेद है जैसा कि मन्त्र । वेदकी कुछ शाखाओंमें मन्त्रांश और ब्राह्मणांश भिन्न ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं । यथा—शुक्ल-यजुर्वेदके मन्त्र हैं वाजसनेय-संहितामें और उन मन्त्रोंके ब्राह्मण हैं शतपथ ब्राह्मणमें । परन्तु कृष्ण-यजुर्वेदमें मन्त्र और ब्राह्मण एक ही साथ पाये जाते हैं । यथा—काठकसंहिता, मैत्रायणीयसंहिता, तैत्तिरीयसंहिता । ब्राह्मणोंमें और दो प्रकारके ग्रन्थ पाये जाते हैं, आरण्यक और उपनिषद् । श्रुति या वेदकी अवधि उपनिषद् तक है । दूसरी दृष्टिसे वेदके दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । ज्ञानकाण्डमें प्रधानतया उपनिषदोंको और कर्मकाण्डमें वेदका अवशिष्ट अंश समझना चाहिये । उपनिषदोंका और एक नाम है वेदान्त, अर्थात् चरम ज्ञान । कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें यद्यपि उद्देश्यका भेद है, तथापि परमार्थमें भेद नहीं है । कारण, ज्ञानस्वरूप वेदमें आत्म-विरोध नहीं रह सकता, अतएव वेदमें ईश्वरका

१ देखिये ब्रह्मसूत्र १-१-४ 'तत्तु समन्वयात्' ।

२ आपस्तम्ब-यज्ञ-परिभाषा-सूत्र १-२१ मन्त्रब्राह्मणयो-
वेदनामधेयम् महासुनि जैमिनिका भां यही मत है । 'तच्चो-
दकेषु मन्त्राख्या' इम सूत्रमें (पृ० भी० सू० २ । १ । ३२)
मन्त्रका लक्षण देकर आपने कहा है कि वेदका अवशिष्ट अंश
ब्राह्मण है—'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (२ । १ । ३३)

३ यद्यपि तैत्तिरीय ब्राह्मण नामका एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है
तथापि उसमें तैत्तिरीयसंहिताकी तरह मन्त्र और ब्राह्मण दोनों
पाये जाते हैं ।

४ कही मन्त्रसंहितामें, यथा वाजसनेय-संहितामें ईशोपनिषद् ।

स्वरूप कैसा बताया गया है यह समझनेके लिये मन्त्र-
संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् सबका उपयोग
करना चाहिये । इस प्रबन्धमें सम्पूर्ण वेदका उपयोग किया
जायगा । परन्तु अधिक ध्यान मन्त्र और ब्राह्मणके ऊपर ही
रहेगा ।

कुछ लोगोंका यह विचार है कि वेदमें देवताओंका
नाम या स्तुति नहीं है, जो कुछ स्तुति है सब ईश्वरकी ही
है । ये लोग 'अग्नि', 'इन्द्र' इत्यादि पदसे उन नामके
देवताओंको न लेकर परमेश्वरको ही लेते हैं । परन्तु श्रुति
स्वयं इस बातका विरोध करती है । देखिये—

ऋक्संहिता १-१-४, 'हे अग्नि ! तुम जिस हिंसारहित
यज्ञको चारों ओरसे घेरे हो, वह यज्ञ देवोंके पास
पहुँचता है' ।

ऋ० सं० १-२४-१ 'अमरोंमें मैं अब किम देवताका
सुन्दर नाम लूँ ? मुझे कौन अब पृथ्वीपर लौटा देगा,
जिससे कि मैं पुनः अपने माता-पिताको देख सकूँ' ।

यहाँ भिन्न देवोंका उल्लेख बहुवचनसे किया गया है ।
साध्यन्दिनसंहिता १-१०-१ 'सवित्र देवकी प्रेरणासे अग्नि-
देवोंके बाहुमें पूपाके हस्तमें अग्निके लिये तुम प्रिय हविःको
मैं ग्रहण करता हूँ' ।

यहाँ सविता, अश्वि कुमारद्वय, पूषा और अग्नि इन
देवोंमें भेद किया गया है ।

इन देवताओंकी स्तुति ऐहिक और पारलौकिक अम्यु-
द्यके लिये की गयी है । ये देवता, जगत्की सृष्टि करना,

५ अग्ने य यज्ञमध्वरं विभवत् परिभूरसि । स ईद्वेषु गच्छति ॥

६ कस्य नूनं कतमस्यामृतानां
मनामहे चारु देवस्य नाम ।

को नो मन्वा अदितये पुनर्दात्
पितरं च इशेयं मातरं च ॥

७ देवस्य त्वा सविनुः प्रसवेऽदिवतो-
र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्रे जुष्टं गृह्णामि ॥

अथवा सृष्ट जगत्का यथावत् सन्निवेश करना आदि नाना प्रकारकी शक्तियोंसे सम्पन्न हैं।

ऋ० सं० १-१५४-१ 'मैं अब विष्णुकी शक्तियोंकी महिमा गाऊँ, जिन्होंने पृथ्वीलोकका पूरा विस्तार नाप दिया है। इत्यादि।'।

श्रुति भिन्न-भिन्न देवोंका उल्लेख करके ही चुप नहीं रहती है। वह यह भी बतलाती है कि ये सब देवता वास्तवमें एक ईश्वरके ही रूप हैं। देखिये—

ऋ० सं० १-१६४-४६ 'ज्ञानी लोग एक सत् (अर्थात् ब्रह्म) को ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य सुपर्ण, गरुमान्, यम, मातरिश्वा इत्यादि बहु नामसे कथन करते हैं।'।

इसमें यह सिद्ध होता है कि देवता तो बहुत हैं परन्तु उन सबके पीछे परमार्थमें ईश्वर एक ही है, जिसके गुण, जिसकी महिमा अन्यान्य देवोंमें संक्रान्त हैं। उपनिषदोंमें ईश्वरको जगत्का स्रष्टा बताया गया है^{१०}। मन्त्रोंमें जहाँ कहीं कोई देवता सृष्टि-व्यापारसे संसृष्ट पाया जाता है, वहाँ यही समझना चाहिये कि परमार्थमें ईश्वर ही स्रष्टा है। सामवेदके केनोपनिषद्में यह कहा गया है कि ब्रह्मकी ही शक्तिले उसीकी प्रेरणामें हम मनका प्रयोग करते हैं, श्वास लेते हैं, बोलते हैं, सब कार्य करते हैं; देवता लोग भी ब्रह्मकी शक्तिले ही अपना कार्य करते हैं^{११}। उपनिषद् और

मन्त्र-वाक्योंका समन्वय करनेमें यही सिद्ध होता है कि ईश्वर ही जगत्का स्रष्टा है और सब शक्तियोंका मूल है।

श्रुति इससे भी आगे बढ़ जाती है। केवल सब देवता ही ईश्वरके रूप नहीं हैं, सारा संसार ईश्वरमें अभिन्न है। पुरुष-सूक्तमें कहा गया है पुरुष अर्थात् ईश्वर ही सब कुछ है^{१२}। उपनिषदोंके 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (सब कुछ ब्रह्म ही है), 'तत्त्वमसि' (जीव और ब्रह्म एक है) इत्यादि वाक्योंका यही तात्पर्य है। ऋक्-संहिताके प्रसिद्ध देवी-सूक्त (१०।१२५) में ब्रह्म और आत्माका ऐक्य माना गया है। इसी कारणसे वहाँ कहा गया है कि एक ही आत्मा रुद्र, वसु प्रभृति सबमें अनुगत रहता है, वह सभी कर्म करता है, सभी कुछ वह है। ऋक्-संहिताके चतुर्थ मण्डलके २६ वें सूक्तमें भी यही बात पायी जाती है। वहाँ वामदेव कहता है कि मैं ही मनु हुआ था, मैं ही सूर्य इत्यादि। अतएव उपनिषदोंमें कथित जीव और ब्रह्मका ऐक्य मन्त्रोंके साथ पर्याप्त रूपमें मेल खा जाता है। यही ईश्वर या जगत्के सम्बन्धमें श्रुतिका चरम सिद्धान्त है।

अब ईश्वरका वैदिक रूप क्या है, हमें यह जानना चाहिये। ब्राह्मणोंमें और कहीं-कहीं मन्त्र-संहिताओंमें ईश्वर 'प्रजापति' नामसे पुकारा गया है। वहाँ प्रजापति अनिरुक्त, अर्थात् कथनमें बाहर कहा गया है^{१३}। इसका अर्थ यह है कि प्रजापतिका रूप दुर्ज्ञेय है। इसका हम उपनिषदोंके साथ मिलान करें तो यह समझमें आ जायगा कि अनिरुक्त प्रजापति निर्विशेष ब्रह्म ही है^{१४}। यही निर्विशेष,

८ विष्णोर्नुक्तं बीर्वाणि प्रबोच

यः पार्थिवानि विममे रजोसि । इत्यादि

९ इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः-

रभो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।

एकं सद्विप्रा बहुधा वद-

न्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

१० यथा छान्दोग्य उपनिषद्, षष्ठ प्रपाठक, द्वितीय खण्ड; तैत्तिरीय उपनिषद्, ब्रह्मानन्दवल्ली, प्रथम अनुवाक।

११ केनेषितं पतति प्रेषित मनः केन प्राणः प्रथमः प्रेति युक्तः । केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥ श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मनो यद्वाचो ह वाचं स उ प्राणस्य प्राणः । चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य भीराः प्रेत्यास्मान्नोकादमुता भवन्ति ॥ के० उ० १।१-२ ॥

देवता लोग भी ईश्वरहीका शक्तिले शक्तिमान् हैं, इसके लिये इस उपनिषद्का द्वितीय खण्ड देखिये।

१२ पुरुष एवेदं सर्वं यद्वृत यन्म भाव्यम् ऋ० सं० १०।१०।२, मा० सं० ३१।२ इत्यादि

१३ देखिये ब्रह्मसूत्र १।१।३० 'शान्त्वइष्ट्या तूपदेशो

वामदेववत्' और उसपर श्रीशङ्करानार्यजीका भाष्य।

१४ माध्यन्दिन-संहिता १।६।१, शतपथ-ब्राह्मण १।१।१।१३ इत्यादि

१५ बृहदारण्यक-उपनिषद् ४।२।४, 'स षष्ठ नेति नेतीत्यात्मा' छान्दोग्य-उपनिषद् ६।१२।२, 'त होवाच यं वै सोम्यैतमाणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्येषोऽणिम एवमब्रह्मन्त्यग्रोऽपिष्ठनि' का भी यही अर्थ है। ब्राह्मणोंके 'अनिरुक्त' प्रजापतिका अर्थ कैसे 'निर्विशेष' ब्रह्म है यह दिखानेके लिये एक स्तम्भ लेखनी अपेक्षा है।

सब गुणोंमें अतीत रूप ही ईश्वरका पारमार्थिक रूप है और व्यवहारके लिये सभी रूप उसके हैं।

अब हमें यह देखना है कि इस ईश्वरसे हमारा क्या काम है, इस विषयपर भुति क्या कहती है। ऐहिक और पारलौकिक लाभ देवोंकी पूजासे होते हैं, वे तो वास्तवमें ईश्वरहीके कारणसे हमें मिलते हैं। परन्तु एक बात

केवल ईश्वरहीसे सिद्ध होती है जो और किसीसे नहीं होती। 'उसीको जाननेसे लोग मृत्युलोकको अतिक्रमण कर जाते हैं, मोक्षका और कोई उपाय नहीं है।' ⁹⁶ अतएव मोक्षके लिये हमें तन-मनसे ईश्वरकी उपासनामें लग जाना चाहिये।

पुराणोंमें ईश्वर

(लेखक—जी बी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार एम० ए०)

'Encyclopaedia of Religion and Ethics' के लेखकने उस ग्रन्थके दसवें भागके ४२१ वें पृष्ठमें इस-प्रकार लिखा है—

'The theology taught is heterogeneous and most deities that enjoyed a certain amount of popular acceptance can be found praised in the Puranas.'

'अर्थात् पुराणोंमें ईश्वर-सम्बन्धी जो कुछ विवेचन मिलता है उसमें एकता नहीं पायी जाती और जिनकी जनतामें थोड़ी बहुत मान्यता थी, उनमेंसे अधिकांश देवताओंकी स्तुति की गयी है।'

त्रिमूर्ति अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिवके अतिरिक्त उनमें इन्द्र, अग्नि, वरुण, मित्र और मातरिषा इन प्रधान देवताओंका उल्लेख मिलता है। छोटे देवोंकी तो गिनती ही नहीं है। त्रिदेव अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु और शिवका तथा इन्द्र, अग्नि प्रभृति अधिकांश वैदिक देवताओंका पुराणोंमें भी वही स्थान है जो वेदोंमें पाया जाता है। उपरिलिखित एवं अन्य देवताओंकी पुराणोंमें जो महिमा वर्णन की गयी है उसके आधारपर स्वर्गीय H. H. Wilson ने, जिन्होंने विष्णुपुराणका अंग्रेजीमें भाषान्तर किया है, इस सिद्धान्त-पर जोर दिया है कि पुराणोंका ढंग साम्प्रदायिक है। इस सिद्धान्तका विरोध उपर्युक्त विद्वान्के समयमें भी हुआ था। पुराणोंका विचारपूर्वक अध्ययन करनेवालेको उनमें साम्प्रदायिकताका भाव कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। हाँ, इतनी बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिये कि सारे पुराणोंमें एक ही विषयका प्रतिपादन नहीं है और न यही कहा जा सकता है कि जिस रूपमें भिन्न-भिन्न पुराण इस समय उपलब्ध

हैं, उन सबकी रचना एक ही कालमें अथवा एक ही पुरुष के द्वारा हुई है। मूल-ग्रन्थोंकी रचनाके पीछे बहुत-से अर्वाचीन पुराणोंकी भी रचना हुई और इन अर्वाचीन ग्रन्थोंमें, सम्भव है, कहीं-कहीं साम्प्रदायिकताकी झलक आ गयी हो। सारे पुराणोंपर दृष्टि डालनेसे यह पता चलता है कि अद्वैतवाद ही उनका सिद्धान्त है, जो वेदान्तदर्शनका प्रतिपाद्य विषय है। यह बात उन दार्शनिक भागोंके अध्ययनसे स्पष्ट हो जाती है जिनकी पौराणिक साहित्यमें न्यूनता नहीं है। पीछेके पुराणोंमें तो छद्म दर्शनोंके सिद्धान्तोंका दिग्दर्शन मिलता है, किन्तु वायु, ब्रह्माण्ड एवं मत्स्य आदि प्राचीन पुराणोंमें केवल सांख्य, योग एवं वेदान्तके सिद्धान्तोंका ही आभास मिलता है। जिन दिनों पुराणोंके मूल-ग्रन्थ बने थे उस समय भिन्न-भिन्न दर्शनोंका सूत्रीकरण नहीं हुआ था यह मान लेना अयुक्तिकर्ण नहीं जान पड़ता। युक्तियोंके द्वारा यह जाननेमें आता है कि उस समय दार्शनिक विचारोंकी धारा सामान्यरूपसे प्रवाहित थी तथा किसी दर्शन-विशेषका निर्माण नहीं हुआ था। इधर-उधर बिखरे हुए सिद्धान्तवाक्योंको एकत्रित करनेपर इस निर्णयपर पहुँचना युक्तियुक्त हो जाता है कि प्राचीन पुराणोंमें पीछेसे सूत्रबद्ध किये गये वेदान्त-दर्शनकी पूर्व-छटा दिखायी पड़ती है। वस्तुतः पुराणोंके रचनाकालमें योगदर्शनका विकास हो चुका था और वेदान्त-दर्शनका रचना-विकास होनेवाला था।

वेदान्त-दर्शन कुछ इने-गिने लोगोंकी सम्पत्ति बन गयी। चिरकालीन परम्पराके अनुसार वैदिक साहित्यका पठन-पाठन द्विजाति वर्णोंके लिये विहित होनेके कारण प्राचीन

ऋषि-मुनियोंने एक विशेष प्रकारके ग्रन्थोंका निर्माण किया, जिनसे सर्वसाधारणकी ज्ञानपिपासा शान्त हो सके। सर्वसाधारणके उपयोगके लिये लिखे जानेके कारण पुराणोंमें विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों, उपासनाके भिन्न-भिन्न प्रकारों तथा अनेक मत-मतान्तरोंका यहाँतक कि पितरोंकी उपासना एवं नास्तिक सिद्धान्तोंका भी वर्णन करना आवश्यक था। प्रमुख देवो-देवताओंके सम्बन्धमें रोचक एवं प्रभावोत्पादक आख्यानोंकी रचनाके द्वारा जन-साधारणके हृदयोंमें धार्मिक भावोंका जागृत करना ही इनका एकमात्र उद्देश्य जान पड़ता है। उपासनामें व्यक्तिगत रुचिको प्रधानता दी गयी है। प्रत्येक मनुष्यको अपने मतके अनुसार आचरण करनेकी पूर्ण स्वतन्त्रता है, यदि उससे दूसरेके धर्माचरणमें बाधा न पड़ती हो। इसप्रकारकी शिक्षण-पद्धतिके मूलमें वही भावना पायी जानी है जिसका भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको कुरुक्षेत्रके मैदानमें निम्न-लिखित शब्दोंमें उपदेश दिया था। भगवान् आज्ञा करते हैं—

लोग चाहे जिस रूपमें मेरी उपासना करें और चाहे जिस नामसे मुझे पुकारें, उनकी उपासना और पुकार मुझे ही पहुँचती है क्योंकि मेरे सिवा अन्य कोई वस्तु है ही नहीं।*

अद्वैत-सिद्धान्तकी यह उच्च भावना पुराणोंके ईश्वर-सम्बन्धी सिद्धान्तकी समझनेकी कुञ्जी है। पुराणोंमें उन मनुष्योंकी निन्दा की गयी है जो देवोंमें छोटे-बड़ेकी कल्पना करते हैं। पुराणोंमें कहीं इस बातका उपदेश नहीं दिया गया है कि अन्य देवताओंको छोड़कर किसी एक देवता-विशेषकी उपासना करो, इस सिद्धान्तके पोषक वाक्योंमेंसे वायुपुराणका निम्नलिखित वाक्य उदाहरणरूपमें लिया जा सकता है। उसका आशय यह है कि जो मनुष्य देवताओंमें भेद-बुद्धि रखता है वह वस्तुतः ईश्वरके प्रति अपराध करता है एवं जो उनमें अभेद-बुद्धि रखता है वही सच्चा ज्ञानी है। अनेक स्थलोंमें परमेश्वरके लिये 'नारायण' शब्दका प्रयोग किया गया है और इस शब्दका वैष्णव-सम्प्रदायके उपास्य देवके अर्थमें ही व्यवहार नहीं हुआ है। ईश्वर अथवा योगीश्वर अर्थात् निर्गुण ब्रह्मके अर्थमें ही इसका जहाँ-तहाँ प्रयोग हुआ है। समस्त देवता उस एक परमात्माके ही विभिन्न रूप हैं जिसे हम नारायण,

* य यथा मां प्रपद्यन्त तास्तथैव भजाम्यहम्।


मम कर्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

(गीता ४।११)

ईश्वर, महेश्वर, परब्रह्म, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, देवी इत्यादि अनेक नामोंसे पुकारते हैं। जबतक हम एक ईश्वरकी सत्ताको मानते हैं तबतक नाम-रूपके भेद हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। अंग्रेजीमें एक कहावत है—All roads lead to Rome अर्थात् सारे राज-मार्ग रोम-नगरकी ओर जाते हैं। 'नृणामेको गम्यस्वमसि पथसामर्णव इव'। चाहे जिस पद्धतिसे और चाहे जिस नामसे लोग उसकी पूजा करें, पूजा एक उसीकी होती है। कर्म, अनुष्ठान, योगाभ्यास एवं यम-नियमादि केवल साधन हैं अर्थात् वे उस शाश्वत अविकारी उपास्य देवके पदारविन्दके समीप पहुँचानेवाली सीढ़ियाँ हैं जिसके सिवा अन्य सब असन् हैं। वस्तुतः कठिन व्रत-साधन एवं अनुष्ठानादि शरीर और मनको मोक्ष-साधनके योग्य बनानेके लिये संस्कारमात्र हैं। सधे हुए मन और शरीरके द्वारा ही मनुष्य संसारके बन्धनसे मुक्त होनेकी चेष्टा कर सकता है। अतः पुराणोंके उपदेशके भावको ठीक-ठीक समझना चाहिये, किसी एक देवता अथवा मतकी प्रशंसाका यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि इससे अन्य देवताओं अथवा सिद्धान्तोंकी निन्दा की गयी है। क्योंकि पुराणोंके मतमें प्रत्येक वस्तु उस सर्वमयका ही रूप अथवा अंश है। इसका प्रमाण यह है कि शिव-पुराणोंमें केवल शिवकी अथवा वैष्णव-पुराणोंमें केवल विष्णुकी ही प्रशंसा नहीं की गयी है। उदाहरणार्थ वायु-पुराणमें, जिसकी गणना शिव-पुराणोंमें है विष्णुके पराक्रमका एवं नारायणकी महिमाका वर्णन किया गया है। उसमें विष्णु अंर महेश्वरके अवतारोंकी कथाएँ आती हैं, शिवपुरी तथा विष्णुपुरी दोनोंका उल्लेख मिलता है तथा सृष्टिकर्ता ब्रह्माकी भी प्रशंसा की गयी है, यहाँतक कि उसमें इस बातका स्पष्ट उल्लेख है कि इन तीनों देवताओंमें कोई भेद नहीं है। इसप्रकार जान पड़ता है कि वायुपुराणमें अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासनाका विधान किया गया है। एक ही पुराणमें विष्णु और शिव दोनोंका उत्कर्ष इतना स्पष्ट है कि उसे सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। अन्तमें यह कह देना पर्याप्त है कि पुराणोंका ढंग साम्प्रदायिक है यह सिद्धान्त बिल्कुल निराधार है। वास्तवमें एक नहीं, सभी पुराणोंका एक ही ईश्वरमें विश्वास है, जिसे हम नारायण अथवा ईश्वर कहते हैं।

पुराण और ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, बी०ए०)



आ

आर्य यास्कने पुराण-शब्दकी निरुक्ति 'पुरा नवम्' बतायी है। प्राचीन समय-में जो नया रह चुका हो वही पुराण है। वृत्तरे शब्दोंमें 'पुराण' शब्दका अर्थ है पुराना। पुराण नामक शास्त्र-का उपनिषद्में भी उल्लेख है, उदा-हरणार्थ, 'इतिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्' (छान्दोग्य० अ० ७, खं० १)। पुराण पञ्चम वेद है। संहिता-भेदसे यही पञ्चम वेद अष्टादश भागोंमें भगवान् वेदव्यासद्वारा प्रणीत हुआ है। पुराणोंमें ईश्वर-सम्बन्धी विचारोंकी प्रचुरता उपलब्ध है। निम्नलिखित पंक्तियोंमें उनका दिग्दर्शन कराने-की चेष्टा की जाती है।

तारा-मण्डल-मण्डित, अनेक-चमत्कार-वेष्टित, गिरि-गगनालङ्कृत, सरित्सरस्समुद्र-परिवृत, अतर्क्य विस्तार, अतुल्य प्रसार, अनेक कोटि ब्रह्माण्ड पुराण-पुरुष श्रीभगवान् एक-एक रोममें इसप्रकार अहर्निश अप्रमत्तरूपमें विचरण कर रहे हैं जिसप्रकार किसी विशाल-कनंबर वातायनमें होकर अगण्य परमाणु-पुञ्ज भ्रमण करते हैं। छोक-पिता-मह श्रीब्रह्मदेवने बाल-गोपालकी स्तुतिमें कहा था कि—

‘काहं तमोमहदहंसचराम्निवाभू-
संवर्द्धिताण्डघटसप्तवितस्ति कायः ।

कंदर्ग्विधाऽविगणिताष्टपराणुचर्या-
वाताध्वरोमविवास्य च ते महित्वम् ॥१॥

यही भाव यजुर्वेदके --

‘तस्मिन्ह तस्थुर्मवनानि विश्वा।’

—मैं निहित है। पुराणोंक ईश्वर निम्नस्नेह 'महतो महीयान्' हैं। सलिलान्तर्गत कप-मकरादि उष्णावध जीव-निकाय जिसप्रकार समुद्र-पथमें समक लिये जाते हैं, उसी प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड भगवदन्तर्गत होनेके कारण 'ईश्वर' पथसे विहित हो जाते हैं—

‘यस्य कक्षाविदं सर्वं सात्मं माति यथा तथा ।’

प्राकृतिक गुण-जालसे परे होनेके कारण ईश्वर अगुण
अथवा निर्गुण कहे जाते हैं ।

‘तथापि भूमन् महिमाऽगुणस्य ते
विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात्स्वानुमवादरूपतो
ह्यनन्यबोध्यस्तमया न नान्यथा ॥’

परन्तु भक्तवत्सलता प्रभृति गुणप्राप्तसे मण्डित होनेके कारण तथा भक्तमनोरथानुसार प्राकृतिक गुणत्रयसे संग करनेके कारण ये सगुण भी हैं—

‘गुणात्मनस्तेऽपि गुणात्विमातुं
हितावतीर्णस्य क ईशिरेऽस्य ।
कालेन यैर्वा विमिता मुकल्पै-
र्भूपांसवः स्वं मिहिकाद्युभासः ॥’

संख्यामें ईश्वर एक हैं। एक समयमें अनेक रूप धारण करनेपर भी उनका पारमार्थिक एकरूप अव्याहत ही रहता है। पुराणोंमें एक ईश्वरके अनेक रूपोंका वर्णन है। उनके प्रधान रूप पाँच बताये गये हैं, यथा—१ मोदक-सुराशो-भित, मूषकवाहन, विप्रविनाशन, सङ्कटहारी श्रीगणपति; २ त्रिशूल-विराजित, वृषभवाहन, दारिद्र्यवद्हन, गङ्गाधारी श्रीसदाशिव; ३ तेजोविराजित, एकचक्ररथवाहन, तमो-विलापन, बुद्धि-वृद्धिकारी श्रीसूर्यदेव; ४ श्रीवरसपदाङ्कित, गरुडवाहन, अज्ञानविध्वंसन, भक्तापत्तिनिवारी श्रीमन्ना-रायण; और ५ वराभयकरा, सिंहवाहिनी, मधुर-मूर्ति, जगदम्बिका श्रीदुर्गादेवी। ये पाँचों वस्तुतः अभिन्न हैं। पुराणोंमें इन पाँचोंका ही ईश्वरत्व प्रतिपादित है। विभूति-के तारतम्यके वर्णन भाव-प्रधान हैं। उस तारतम्यमे एक रूपका दूसरे रूपसे हीन अथवा अधिक होना सिद्ध नहीं होता। इन पाँचों रूपोंके विभिन्न दिव्य लोकोका विशाल वर्णन पुराणोंमें वर्णित है, जहाँ पहुँचनेपर पुनरावृत्ति-का अभाव हो जाता है। इन अलौकिक ईश्वरीय धामोंकी समष्टिका कथन मानव-सामर्थ्यका विषय नहीं है। मानव जनोके सन्तोषके हेतुमे श्रीध्यासदेवने उनका परम सुन्दर वर्णन किया ही है। श्रीमन्नारायणके वैकुण्ठलोकका आभास इन पद्योंमें मिल सकता है—

‘वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्तयः ।
येऽनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाश्रयन् हरिम् ॥

यत्र चाद्यः पुमानस्ते भगवान् शन्दगोचरः ।
सर्वं विद्वन् विरजं स्वानां नो मूढयन्वुषः ॥
यत्र नैःश्रेयसं नामवनं कामदुर्वैर्द्रमैः ।
सर्वतुष्टीभिर्विभ्राजकैर्नित्यमिव मूर्तिमत् ॥

वैष्णव-पुराण होनेपर भी, देखिये, श्रीमद्भागवतमें महादेवजीकी ईश्वरता किसप्रकार बतायी गयी है—

‘जाने त्वामीशं विश्वस्य जगनो योनिबीजयोः ।
शक्तः शिवस्य च परं यत्तद्व्रज्य समातनम् ॥’

उपयुक्त पाँचों ही ईश्वरीय रूप वैचित्र्यको अंगीकार-
कर इतनी छोटाएँ करते हैं कि शेषजी भी उनको नहीं
कह सकते हैं—

‘गमन् गुणान्दशशतानन आदिदेवः
शेषाऽधुनाऽपि समवस्थति नाऽरम्य पारम् ।’

पुराणोंके ईश्वर सृष्टिके कर्ता, पाकक तथा संहारक हैं—

‘आत्ममायां समाविद्य सोऽहं गुणमयीं द्विज ।
सृजन् रक्षन् हनन् विश्वं दप्रे संज्ञां क्रियोचितान् ॥’

यह भाव वैदिक ही है। उपनिषद्-ब्रह्मके जिये जो
‘तज्जान्’ कहा जाता है, उसका अभिप्राय यही है।
इसी विचारको सम्मुख रखकर आचार्य बादरायणने
‘जन्माद्यस्य यतः’ की रचना की; और श्रीमद्भागवत-पुराण
भी ‘जन्माद्यस्य यतः’ से प्रारम्भ होता है।

श्रुतिमें ईश्वरको अन्तर्यामी कहा गया है—

‘यो विश्वमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्यामिमुतः’
(बृहदारण्यक)

इसी तत्त्वको वेदान्तका ‘अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्वसं-
व्यपदेशात्’ यह सूत्र कह रहा है। पुराणोंकी ओ ईश्वरका
अन्तर्यामिरव अर्भाह है। श्रीकृष्णचन्द्रजीके विषयमें कहा
गया है कि—

‘गोपीनां तपतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम् ।
योन्तश्चरति सोऽध्यक्षः श्रीवनेनेह देहभाक् ॥’

बृहदारण्यकान्तर्गत मैत्रेयी ब्राह्मणमें कहा गया है
कि—

‘अत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यत्मा वा अरे द्रष्टव्यः
श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिष्यासितन्वः ।’

अर्थात् आत्माके जिये ही संसारकी सब वस्तुएँ अच्छी

लगती हैं, उसी आत्माका दर्शन, श्रवण और ध्यान करना
चाहिये। यहाँ आत्मा शब्दसे जीवात्माका बोध नहीं होना
चाहिये, वह परमात्माके लिये प्रयुक्त है। शंकराचार्यजी-
ने ‘वाक्यान्वयात्’ नामक सूत्रपर भाष्य करते हुए स्पष्ट
ही लिखा है कि—

‘किं विज्ञानात्मैवायं द्रष्टव्यत्वादिरूपेणोपदिश्यत आहोस्वित्
परमात्मेति ।’..... ‘परमात्मोपदेश एवायम् ।’

परमात्माके लिये ही सांसारिक भोगोंकी प्रियता
पुराणोंकी भी अभीष्ट है। भागवतमें स्पष्ट लिखा है—

‘तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामेव देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मानम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देही वा माति मायया ॥’

पातञ्जल-दर्शनमें ईश्वरको सर्वज्ञ बताया गया है—
‘तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।’ पुराणोंके ईश्वर भी सर्वज्ञ
हैं। श्रीकृष्णजीके लिये ‘विश्वविन’ पदका प्रयोग इस
बातका समर्थक है, यथा—

‘काप्यदृष्टान्तर्विपिनं वत्सान् पालांश्च विश्ववित् ।
सर्वं विधिहन्तं कृष्णः सहसावजगाम ह ॥’

जिसप्रकार उत्तर-मीमांसाके अनुसार इस जगत्की
सृष्टिमें भगवान्की छोटा ही हेतु है—‘लोकवत्तु लोका-
कैवल्यम्’—उसी प्रकार, पुराणोंके अनुसार, भगवान् जो
नानाविध चरित्र करते हैं उनमें उनकी छोटा ही प्रधान
हेतु है। पुराणोंमें स्थान-स्थानपर छोटा-शब्दका प्रयोग
पाया जाता है, उदाहरणार्थ—

‘इत्युक्तैकेन हस्तो ह्रस्वा गोवर्धनाच्चलम् ।
दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः ॥’
‘भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत्प्रभुः ।
पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया ॥’

पुराणवर्णित, मनोनयनवर्धन, प्रसन्नवदन ईश्वरके
आरुतम चरण-नखिन-युगलका ध्यान करनेसे ऐहिक अभ्युदय
तथा आध्यात्मिक निरक्षयस्की अनायास उपलब्धि होती
है। हे पुराणप्राण ! पुराण-पुरुष ! जगन्मङ्गल ! श्रीभगवन् !
हमें अपने चरणोंमें पराभक्ति दीजिये।

वेदोंमें ईश्वर

(लेखक—श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम० ए०, एल० एल० बी०)

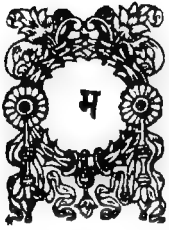
चत्वारि शृङ्गाक्षयो अस्य पादा

द्वे शीर्षे सप्त हस्तास्तो अस्य ।

विषा बद्धो वृषभो रोरनीति

महो देवो मर्त्याः प्राविवेश ॥

(ऋग्वेद मं० ४ । सूक्त ५८ । मन्त्र ३)



वेदोंमें महादेव वृषभने प्रवेश किया है। वह त्रिधातु होकर उकराता है। उसके चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं। वह महादेव अमृत है, मर्त्यके साथ उसका सम्पर्क हो गया है। यही जड-चेतनकी गाँठ पकी है। अनिर्वचनीय महादेव मूर्त और निरुक्त हो गया है। यह महादेव वृषभ इन्द्र है। वेदोंमें जिसे इन्द्र कहा है वही उपनिषत्कालमें आत्मा है। इस इन्द्र वृषभके मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चार सींग हैं; ज्ञान, कर्म, उपासना तीन चरण हैं; त्रिपाद और एकपाद—अनन्त और सान्त दो सिर हैं और सप्त प्राण इसके सात हाथ हैं। सख, रज, तम इन तीन गुणोंसे यह जडवृक्ष बाँधा हुआ है। इस देवकी महिमा अनन्त है। निज स्वरूपमें यह सहस्ररीची और सहस्रपाद है। परन्तु मर्त्यसम्पर्कसे यह विराट् विष्णु वामन हो गया है। इस साढ़े तीन हाथमें जकड़े हुए देवको लोग वामन समझकर उसका अनादर करते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषी तनुमाश्रितम् ।

परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥

वे नहीं जानते कि वामनका असली रूप विष्णु है—

वामनो ह विष्णुरास

(शतपथ १ । २ । ५ । ५)

उसके तीन चरणोंके विचक्रमणमें पृथ्वी-अन्तरिक्ष-लोक समाये हुए हैं। वह भूत, भविष्य, वर्तमान सबका परिच्छेता है। अपने वामनरूपसे उसने हम सबको छुल किया है। मोहके कारण ही हम मायामें पड़े हुए हैं और उस एकरस नित्य इन्द्रको अनेक रूपवाला मर्त्यधर्मा समझकर स्वयं ही कर्बतासे हीन बन गये हैं।

इन्द्रो मायाभिः पुरुषप ईयते

अनन्तसे साम्त होनेका नाम माया है (Finitising Principle) विष्णुका वामनावतार माया है, महादेवका मर्त्योंमें आना माया है। शां स्वरूपका आवरण करनेवाला यह शम्बर बहुत प्रबल है, इसपर विजयी बनकर ही इन्द्रको साम्राज्य प्राप्त होता है। इन्द्रकी शम्बर-विजय मनुष्यका आत्मदर्शन है। आत्मदर्शनके बिना इन्द्रके तीन पाश नहीं छूटते। कौपीनकी उपनिषद्में कहा है—‘अव-तक इन्द्रने आत्माको नहीं जाना तबतक असुर उसको हराते रहे। जब उसने अपने आपको जान लिया तब वह असुरोंको जीतकर सब भूतोंसे श्रेष्ठ और ज्येष्ठ बन गया। उसने स्वराज और आधिपत्य प्राप्त कर लिया। (४।२०)

इस इन्द्रको बाँधनेवाले नाम और रूप हैं। इन्हींको देश और काल, कृत और मर्त्य भी कहते हैं। शतपथ-ब्राह्मणमें कहा है—

‘अथ ब्रह्मैव पराईमगच्छत् । तत्पराईं गत्वा पेषुत कथं निर्मल्लिकान् प्रत्यवेयामिति । तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैद् रूपेण चैव नाम्ना च ॥’ (११।२।३।३)

अर्थात् ब्रह्म तीन लोकोंसे अतीत था। अतीत रहते हुए उसने प्रेरणा की कि किस तरह मैं इनमें प्रविष्ट होऊँ। नाम और रूपके द्वारा वह इन लोकोंमें प्रविष्ट हुआ। अमृत ब्रह्म नामरूपके द्वारा मर्त्य बनकर सामने आया है। उस मर्त्य-धर्मसे छूटनेका उपाय ब्रह्मकी शरण या ब्रह्मका यथार्थ ज्ञान है—

मर्त्या ह बाऽग्रे देवा आसुः । स यदैव ते ब्रह्मणापुरया मृता आसुः ।

अर्थात् मर्त्यदेव ब्रह्मको पाकर अमर बने।

वेदोंके अध्यात्मशास्त्रका यही मर्म है। ब्रह्म और आत्मा दोनों इन्द्रकी संज्ञाएँ हैं। वह इन्द्र अन्य देवोंके साथ कार्य करता है। ये अन्य देव इन्द्रियाँ हैं। ये देव इन्द्रबुद्धि, इन्द्रदत्त, इन्द्रसृष्ट, इन्द्रकिंग हैं। असुरोंके साथ इन देवोंका सनातन युद्ध है। इन्द्रकी विजयसे सब देवोंकी महिमा बढ़ती है। इन्द्रके अज्ञानसे देवता असुरोंके

सामने हार जाते हैं। वस्तुतः यह वेवासुर-संश्राम पाप और पुण्यकी द्विविध प्रकृतियोंका युद्ध है। प्रजापतिके विधानसे ही असुर पापमय हैं। वस्तुतः इन्द्र तो अजात-शत्रु, इन्द्रास्तीत है। न वह पहले कभी लड़ा है और न आज उसका किसीसे युद्ध है, उसके संश्रामोंकी कथा भाषा है। (देखिये शतपथ ब्राह्मण ११।१।६।१०)

मृष्टिके मूलमें ही समाधि और व्याधि, पुण्य और पाप, आत्म और अनात्म, चेतन और अज्ञ, प्रकाश और तम, सत्य और अनृतका इन्द्र निहित है। ब्रह्मके संकल्प-का आदिरूप यह द्वैत है। ब्रह्माण्डगत समस्त प्रक्रियाओंमें इसके दर्शन होते हैं। भौतिक प्रकृति शक्ति-प्रकाशके इस द्वैतमें सुक्त नहीं है। अव्यक्त-दशामें एक रहते हुए यह शक्ति प्रकटरूपमें अनेक है। संख्यामें अमृष्ट होनेकी कल्पना-मात्र एकता है। संख्यामें संस्पृष्ट होना अनेकता है।

देवीमें इन्द्रकी महिमाका स्वर ही सबसे प्रधान है। अनेक गीतोंकी टेक यही है—‘विषन्मादिन्द्र उत्तरः’ अर्थात् इन्द्र सबसे श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है, वह सर्वभूतमहेश्वर है, वह महादेव है। इन्द्र अप्रतिरथ है। वह शतक्रतु है। प्रजापति-ने इन्द्रको सब देवीमें ज्येष्ठ बनाया है जिसके प्रतापमें बलवान् असुर भी काँपते रहते हैं। देवीने कहा—इन्द्र ही हम सबमें वीर्यवान् है—

ते [देवाः] होचुः । इन्द्रो वै नो वीर्यवत्तमः ।

(श० ४।६।६।३)

इन्द्र सब देवीका उपदेश। होनेसे उनमें अग्रणी है—

इन्द्रः खलु वै अष्टो देवतानामुपदेशनात् ।

(ते० २।३।१।३)

तस्मादाहुः इन्द्रः सर्वा देवता इन्द्रश्रेष्ठो देवा इति ।

(श० १।६।३।२२)

अर्थात् सब देवता इन्द्रके ही रूप हैं। इन्द्रके कारण देवीकी महिमा है।

इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः ।

(ऐ० ७।२६)

अर्थात् इन्द्र सब देवीसे ओज, बल, वीर्य, शक्ति-प्रवेशमें अतिशायी है। उसको सब एकवीर कहते हैं। उसने ही निकटतम आकर ब्रह्मको पहले पहचाना, जहाँतक इन्द्र गया वहाँतक और कोई देव नहीं जा सका—

इन्द्रोऽतितरामिव अन्यान् देवान्, स हि पन्तु नेदिष्ठ परस्पर्श, स हि पन्तु प्रथमो विदाश्चकार ब्रह्मेति ।

इन्द्रको ही ब्रह्मका ज्ञान हुआ। अग्निने कहा—‘मैं जातवेदा हूँ, जिसे चाहूँ भस्म कर दूँ’, परन्तु यक्षके विद्ये हुए एक तिनकेको अग्नि भस्म नहीं कर सका। वायुने कहा—‘मैं मातरिश्वा हूँ, जिसे चाहूँ उड़ाकर फेंक दूँ’। यक्षने उसके आगे एक तिनका रख दिया, वायु जोर लगाकर थक गया पर तिनकेको न हिला सका। तब इन्द्र-से देवीने कहा—तुम यक्षको जानो—यह है कौन? इन्द्र-के समक्ष यक्ष अन्तर्हित हो गया। तब उसी नामकी सार्विकी बुद्धिमें इन्द्रने यक्षका प्रत्यक्ष किया। इस मनो-हर कथामें ब्रह्मने यक्षरूपमें सब देवीकी परीक्षा लेकर इन्द्रको ही अपना रूप विवृत करके दिखलाया। वस्तुतः ब्रह्म यक्ष या यज्ञका परमरूप है। उसका ज्ञान प्राणके दर्प-से होना अशक्य है। अग्नि, सूर्य, वायु, वरुण, अनेक देव एक शक्तिके रूप हैं, इनके बलमें इन्द्रको कौन जान सकता है? Heat, Light, Electricity, Magnetism, Sound आदि नाना देव ब्रह्माण्डके आधार बनकर उसको धामे हैं। पर ये ही अन्तिम शक्तियाँ नहीं हैं। इनके द्वारा चैतन्य-तत्त्वका ज्ञान असम्भव है। ब्रह्मका ज्ञान तो स्वयंवर-से होता है—

यमेवैव वृणते तेन कम्प-

स्तस्मैव आत्मा विवृणते तन् स्वात्मा ।

आत्मा जिसको स्वयं वर लेती है उसके ही समक्ष अपना तन्म विवृत करती है। यहाँ प्रवचन, ज्ञान, तप, ब्रह्मचर्य सब साधनमात्र हैं, सिद्धिकी प्राप्ति स्वयंवराधीन है।

ब्रह्मकी ही संज्ञा इन्द्र है। पिण्डमें वही इन्द्र आत्मा है। ब्रह्माण्डमें जो सूर्यादि देव या दिव्य शक्तियाँ (Cosmic Forces) हैं उनके ही प्रतिनिधि हम शरीरमें इन्द्रियाँ हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनोंमें एक ही जीवन-प्रवाह (Life-flow) है। जो हिरण्यगर्भ है वही वैश्वानर है—

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमास्थितः ।

हम वायीसे बोलते हैं, वह वाक् अक्षिकी उद्योति है। नासिकाके द्वारा प्राणवन्त होकर हम विराट् वायुके साथ एकता स्थापित करते हैं। सूर्य-प्रकाशसे वस्तुओंको रूप प्राप्त हुआ है, उसी रूपका प्रत्यक्ष करनेवाली हमारी

चक्षुरिन्द्रिय है। आकाश शब्दोत्पत्तिका हेतु है, वही शब्द हमारे कानोंसे सुना जाता है। बाह्य-जलके ही समान हमारी देहमें वीर्य है जो जीवनकी स्थितिका कारण है। इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्डकी एकता है। बाह्य-जगत्की विद्युत्में जो सूक्ष्म परिवर्तन भी होता है उसीका प्रभाव तुरन्त हमारे शरीरपर पड़ता है। विराट् प्राणके साथ शरीरस्थ प्राणकी एकता है। एक-एक नक्षत्रकी ज्योतिका प्रभाव शरीरस्थ प्राणपर पड़ता है। दोनोंमें एक ही प्रकारकी विद्युत् है। विद्युत्की शक्तिये आज हम सब नन्द हो गये हैं। इसकी सूक्ष्म चेतना विश्वव्यापी है। जगत्में विद्युत्की तरंगें पृथ्वीमण्डलमें व्याप्त हो जाती हैं। इसी विद्युत्की वैदिक संज्ञा प्राण है। इस प्राणकी ही देव कहा गया है। मूलमें एक होने हुए भी इसके अनेक रूप हैं। उन अनेक देवोंका वर्णन वैदिक मन्त्रोंमें है। परन्तु मूलमें वे एक हैं। वैदिक ऋषियोंने सब देवोंकी एकताको अली प्रकार जान लिया था—

इन्द्र मित्र वरुणमग्निमाहु-

रयो दिव्यः स सुपर्णो गरुमान् ।

एकं सद्भिप्रा बहुधा वद-

न्त्वग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(ऋ० १ । १४४ । ४६)

अर्थात् विप्र लोग एक ब्रह्मका ही अनेक नामोंसे बलान करत हैं। उन्हींको इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुमा, सुपर्ण, यम, मातरिश्व कहा गया है। व्यावहारिक या सापेक्ष सत्तामें ये देव सविशेष कार्योंके करनेवाले हैं। व्याकृत दशामें (Differentiated state) सब देवोंके अपने-अपने धर्म हैं। पर अव्याकृतरूपमें वे एक ही हैं। यही बात जगत्में है। एक शक्तिके अनेक रूप विविधधर्मी हैं। एक ही सूर्य-प्रकाशकी अनेक रश्मियाँ हैं जिनका पारस्परिक भेद है भी और नहीं भी है। सौर-रश्मियोंके साठ सप्तकोंमें अनन्त किरणें हैं जिनका आपसका भेद लम्बाईकृत है। कुछ किरणें बहुत छोटी हैं और फिर उत्तरोत्तर क्रमसे लम्बाईकी दृष्टिसे अन्य-अन्य कार्य करनेवाली किरणें हैं। यहाँ कुछका नाम हीट, लाइट और इलैक्ट्रिक आदि है। पर मूलमें सब एक हैं। यही बात वैदिक ऋषियोंने प्रत्यक्ष की थी। अनेकता है पर साथ ही एकता भी है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ या परमाणुकी द्विविध स्थिति है। अनेकताके साथ उसका सम्बन्ध सृष्टि है, एकताके साथ

उसके सम्बन्धकी खोज समाधि की ओर प्रगति है। इन्हींके वैदिक नाम त्रिपाद् और एकपाद् हैं। सर्वप्रथम सहस्र-शीर्षा पुरुष या अनन्त ब्रह्म था। वह स्वयं ही द्विधा व्याकृत हुआ। त्रिपाद् और एकपाद्। त्रिपाद् सापेक्ष ब्रह्म है, एकपाद् भूतभव्यभुवन है जिसमें सब लोक समाये हुए हैं। त्रिपाद्की ओर जानेका नाम समाधि है, एकपाद्की ओर उरकान्त होनेका नाम व्याधि है। यह क्रम किसी क्षण रुका नहीं रहता। सृष्टि और प्रलय संतत होते रहते हैं। बिना द्विविध प्रक्रियाके सत्ता असम्भव है। हम देशमें ठहरे हुए हैं और अपना एक रूप व्यक्त कर रहे हैं। साथ ही कालके प्रवाहमें आगे बढ़ रहे हैं, अर्थात् परिवर्तित हो रहे हैं। निष्कम्प स्थिति असम्भव है। जब-जगत्में अच्युत-धर्म नहीं देख पड़ता। हम परिवर्तन और प्रवाहके मध्यमें भी एकरम रहनेवाला ब्रह्म हैं जो उपहित होकर कूटस्थ चैतन्यरूपमें हम सबमें विद्यमान है। वह इन्द्र अनेजत् है, वह अच्युत है। उसमें सब काँपते हैं, उसे कँपानेवाला कोई नहीं है। यह सृष्टि बहुत विलक्षण है। इसके अगुमात्रका भी वर्णन ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता। सर्वत्र शब्दोंकी गति कुण्ठित हो जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ प्रत्येक पदार्थकी सापेक्षिक सत्ता है।

द्वे वाक् ब्रह्मणा रूपं मूर्तं त्वामूर्तं च । अथ यन्मूर्तं तदसत्यं, यदमूर्तं तत्सत्यं तद्ब्रह्म । तज्ज्योतिर्यज्ज्योतिः स आदित्यः स वा एष ओमित्येतदाम्ना । स त्रैधर्मान् व्यकुरुत ।

अर्थात् ब्रह्मके दो रूप हैं मूर्त और अमूर्त, परोक्ष और प्रत्यक्ष (Formless and Formed) मूर्त माया है, अमूर्त सत्य है। ब्रह्म एक ज्योति है, जो प्रकाश आदिरूपमें है, जो ओ३म् है, वही ज्योति आत्मा है। उसने तीन प्रकारसे तीन गुणोंके द्वारा अपने आपको प्रकट किया है। सर्वत्र ही मूर्त और अमूर्त (Immanent and Transcendent) का द्वन्द्व है। परमाणुका मूर्तरूप है, अमूर्त भी है। मूर्तका निर्बचन किया जाता है, अमूर्त अनिर्वचनीय है। मूर्त एक अंशमात्र है, अमूर्त अनन्त है। मूर्तकी संज्ञा विध्यु है, अमूर्त शेष है। शेष और विध्युका सम्बन्ध बहुत अद्भुत है। मूर्त अमूर्तके आधारसे ठहरा हुआ है। प्राण अमूर्त है, शब्द उसका मूर्तरूप है, पर दोनों ही ब्रह्म-रूप हैं। कम मूर्त है, ज्ञान अमूर्त है। इस पारस्परिक सापेक्ष-कर्मका कहीं अन्त नहीं है। वेदों और ब्राह्मणोंमें

अनेक परिभाषाओंमें मूर्त और अमूर्तके सम्बन्धका वर्णन है। यजमान मूर्त है, उसकी तुलनामें पुरोहित अमूर्त है। अन्न मूर्त और अन्नाद् अमूर्त है। मूर्तमें अमूर्त बहुत बड़ा है। इन्द्रके ही दो रूप मूर्त और अमूर्त हैं। मूर्तरूप प्राण है, अमूर्तरूप आत्मा है। मूर्तको सत्य मानना अनुचित है। मूर्तरूपको ही ब्रह्मका अन्त समझना भूल है—

यत्प्राणिन न प्राणिति येन प्राण प्रणीयते।

तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यद्विदमुपासते॥

प्राण, वज्र, श्रोत्र मूर्त-कार्य हैं। इनका नियन्ता अमूर्त है, वही ब्रह्म है। प्राणकी शक्ति भी अचिन्त्य है। पर इन्द्र या ब्रह्म प्राणसे भी महान् है। असुर लोग प्राण-शक्तिको ही परम सत्ता समझते हैं, वे प्राणके भी प्राणको स्वीकार नहीं करते। हमीं लोग देव और हमीं असुर हैं। जीवनकी प्रवृत्तियोंके दो भेद देवी और आसुरी कहलाते हैं। भौतिक प्रकृतिकी उपामना करना असुर-वृत्ति है। चैतन्यकी उपासना देवी है। असुरोंके गुरु विरोचनने शरीरको ही आत्मा समझ लिया था। इसलोगोंमें बहुतेरे ऐसे ही हैं जो मुँहसे तो चैतन्यकी सत्ता स्वीकार करते हैं, पर आचरणमें शरीरको ही आत्मा माने हुए हैं। इस सगुण या मूर्तमें आसक्त हैं, उसकी ठीक उपासना, जो मोक्षका हेतु हो, इससे नहीं बन पड़ती। अविद्या, मूर्तरूप या सृष्टि भी ब्रह्मका ही विकास या उपाधि है। उसका यथावत उपयोग हमसे नहीं बन पड़ता। हम उसका त्याग इन्द्र या आत्माके लिये नहीं कर सकते। यही कारण है जो हमारे यज्ञका भाग इन्द्रको न मिलकर अन्य देवों या असुरोंको मिल रहा है। देवी विधानसे पूर्ण होनेवाले यज्ञोंका यक्ष या यजनरूप इन्द्र है, वह ही उस इक्षिका अधिकारी है। इन्द्र देवाधिदेव या महादेव है। 'इन्द्रश्रेष्ठा वै देवाः'। इन्द्रके भाग पानेसे अन्य देव भी पुष्ट होते हैं। इन्द्रबुष्ट होकर ही इन्द्रियों संयम और विषय तेजके पथमें विचरती हैं। इन्द्रके आधिपत्यमें बहिष्कृत होना इन्द्रियों या देवोंकी पराजय है।

वेदों और ब्राह्मणोंमें इन्द्रियोंको ही पञ्च पञ्चजनाः कहा गया है। इन्द्रकी पाञ्चजन्य प्रजापति इन्द्रियाँ हैं। बुद्धारमयक उपनिषद्में कहा है—

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।

तमेवमन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मायुतेऽमृतम्॥

(४।४।१७)

अर्थात् मैं अमृत ब्रह्मका विद्वान् हूँ। मैं बताता हूँ कि आत्मा वह है जिसकी सत्तामें पञ्चजन या इन्द्रियों आकाश (Ether) में स्थितिमन्त हैं। आकाश महाप्राणका स्रोत है। उस महाप्राणसे एक सूत्रमें पिरोये हुए पञ्च इन्द्रियाख्य देव अत्यन्त ऊर्जसम्पन्न होकर जिसकी सत्तासे स्थितिशील हैं वह आत्मा है। ऋग्वेदमें भी कहा है—

यत्पाञ्चजन्यया विशा इन्द्र घोषा अमुधत।

अस्तुणाद्वर्हणा विषो अयो मानस्य स क्षयः॥

(८।६३।७)

अर्थात् पाञ्चजन्य प्रजापति संमनस् होकर इन्द्रकी जो मूर्ति की उसमें इन्द्र शत्रुओंका बध कर सका और वह मानका पात्र बना। पाञ्चजन्य विश्वोंकी अनुकूलता प्राप्त करके इन्द्र स्वराट् बनता है, वह कामनमें विष्णुस्व-पद् पाता है। इन्द्रियसंयम ही समन्त नीति और अध्यात्मका मूल है। विश्व अर्थात् प्रजाओंमें ओजस्वी होनेके कारण ही इन्द्र-को विद्यौजा (विद्+ओजस्) कहते हैं। उसने देवोंका आधिपत्य प्राप्त करके बल, गोत्र, वृत्र, नमुचि, शम्बर, पाक आदि असुरोंको पदक्षित किया है। वह इन्द्र मरुत्मान है। मरुत् संज्ञा प्राणोंकी है। प्राणसे इन्द्रका विरोध होना आसुरी है। प्राण इन्द्रके सहायक हों तो इन्द्रका बल अप्रतिरथ हो जाता है। इन्द्र और मरुत्का संवाद वेदोंमें है जहाँ मरुत् इन्द्रकी सहायताका वचन देने हैं। वस्तुतः महाप्राण या शक्ति एक ही है। परन्तु कार्य-भेद और उपाधि-भेदसे उसके अनेक भेद कल्पित किये गये हैं। प्राण पौंच हैं, प्राण सात हैं, प्राण ग्यारह हैं, इसी प्रकार प्राणोंकी उत्तरोत्तर संख्या बाईससे निन्यानबे तक वर्णित है। इन्द्र उन नवमवति पुरोंका विजेता है। वे पुर जबतक आयसी अर्थात् लोहेके हैं तबतक प्राणोंकी वृत्ति तामसी है। त्रयस्, रजत, स्वर्ण—ये तम, रज, सत्त्वकी वैदिक संज्ञाएँ हैं। असुरोंने इन पुरियोंका निर्माण किया और इन दुर्गोंमें, कन्दराओंमें छिपकर वे इन्द्रसे लड़ते रहे। इन्द्रने पुरोंका भेदन किया, जिससे वह पुरन्दर कहा जाता है। त्रिपुरासुरके इन्हीं पुरोंका भेदन करनेके कारण शिवका त्रिपुरारि कहने हैं। पुरन्दर और त्रिपुरारि एक ही कल्पनाके दो रूप हैं। त्रिगुणात्मक शक्तिको आत्मसात् करनेके रहस्यका वर्णन ही दोनों जगह हुए हैं। तीन गुणोंके माना भेदोंसे निरन्तर युद्ध करके इन्द्र स्वराट् बनता है। प्राणोंके अवाप्तर-भेद अजन्त हैं, वे शत और सहस्र हैं। इन्द्र भी शत और

सहस्रक्रतु और प्रज्ञावाला है। प्राण भी पूर्ण और इन्द्र भी पूर्ण है। ये वैदिक वाक्मयकी विशेषताएँ हैं। इन गुरु अध्यात्मतत्त्वोंके विषयमें शब्दोंकी अभिधा परिमित है। उनकी अनन्तताको प्रदर्शित करनेके लिये बहुत-सी परिभाषाएँ रची गयी हैं। स्वर्णके पुत्र त्रिशिरासे इन्द्रका संग्राम भी त्रैगुण्य और चेतनका इन्द्र है। इन गुरु संकेतोंका ज्ञान न होनेसे अल्पज्ञान कथाकी भूल-भुलैयामें ही भटक रहते हैं। वेदोंकी शैली बहुत अपूर्व है। उसमें अधिराष्ट्र, अधिदैव, अध्यात्म आदि अर्थ समकक्ष होकर साथ-साथ चलते हैं। उनके शब्दोंकी व्यञ्जना भी अनन्त है। एक इन्द्र-शब्दके ही प्रकरण-भेदसे अनेक अर्थ हैं। ब्रह्मा, आत्मा, सूर्य, प्राण, मन, वाक्, राजा, क्षत्र, वीर्य, वायु आदि इन्द्र-शब्दके अर्थ ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें पाये जाते हैं। ये ही अर्थ ब्रह्म-शब्दके हैं। इस अनन्ततासे चकित होकर वैदिक ज्ञानके विषयमें निश्चय-रूपसे मतवादी होना दुष्कर है। वेदका मत इतना ही है, यह दावा अवैदिक-सा हो जाता है। इस देशके ब्रह्मवादी आचार्योंने वेदकी महिमाको भलीप्रकार जानकर उन्हें ब्रह्म-ज्ञानका प्रधान कारण माना था। श्रुतिको पक्षपात कुछ नहीं है। प्रकृतिको ही क्या पक्षपात है? विराट्में सब कुछ है। असत्यपर वे हैं जो हट करके एक ही पक्षपर आरुढ़ होकर दूसरेका खण्डन करते हैं। 'एकं मद्रिमा बहुधा वदन्ति' और 'नेह नानामि किञ्चन' इन विरोधिनी श्रुतियोंका तारतम्य जान लेनेसे मूर्त और अमूर्त, आस्तिक और नास्तिक,

सगुण और निर्गुण सब पक्षोंका समन्वय जाना जा सकता है। हमारे सामने नदी-तटपर पड़ा हुआ एक-एक परमाणु ब्रह्मका मूर्त और सगुण लिंग है। उसके रूपको जाननेके लिये इस समय भी असंख्य विज्ञानवेत्ता प्रयत्नशील हैं। पर उसके असली रूपको कोई नहीं जान पाया है। मूर्त और अमूर्तकी सन्धिको हम जान जायें तो सारा भेद खुल जाय। पर इस भेदको प्रकृति हमसे गुप्त रखना चाहती है। समस्त प्रकृतिकी गाथा कौन कहे, आकाशमें निरन्तर बृंहणत्वको प्राप्त होनेवाले ब्रह्माण्डकी इयत्ता कहाँ श्रेय है, हमारे लिये तो एक परमाणु भी ब्रह्माण्डका यथेष्ट लिंग है, जिसने हमारे समस्त ज्ञान-विज्ञानको सफलतापूर्वक चुनौती दे रखी है। इस अनन्तताकी कुछ भाँकी मान्य-के उदाहरणमें हमारे सामने आ जाय, इस प्रयत्नका आयोजन वेदोंमें है।

‘भूमा वै सहस्रम्’। (श० ३।३।३।८) भूमा अनन्त है, अनन्त अज्ञेय है वहाँ तक और शब्दोंकी गति कुण्ठित है। इन्द्र वैकुण्ठाधिपति है। जिस लोकमें अनुभव कुण्ठित नहीं होता वह इन्द्रका धाम है। वह इन्द्र सब छन्दोंका लक्ष्य है, उस विश्वरूपने छन्दोंके अमृतमें जन्म लिया है।

यश्छन्दसामृषमो विश्वरूप
छन्दोभ्यां अध्यमृतात्संभवः ।
स मन्त्रो मेघया स्पृणोतु ।

द्वैतवादमें ईश्वर

(लेखक— आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी)

‘ईश्वर नहीं है’ यह ईश्वर-निषेधक वाक्य ही आपनेमें पूर्व ईश्वरका होना सिद्ध करता है।

‘ईश्वर है’ यह स्वतन्त्र वाक्य अपना ही विधायक है। इसी भाँति अद्वैतवाद ही ‘द्वैतवादमें ईश्वर’ की सिद्धि बतला रहा है। ज्ञान सर्वदैव द्वैत है, वह ज्ञाता और ज्ञेयके बीचमें होता है। ज्ञात्र-अवस्था और प्रकाश भी द्वैत हैं, जबतक ज्ञान, जागृतावस्था, एवं अन्धकारका नाशकर प्रकाशकी प्राप्ति नहीं होती तबतक ‘बुद्धिवाद’ के चक्करमें पड़े हुए मनुष्यके लिये किस वादमें ईश्वर है, यह निश्चय कर लेना सहज नहीं है। हाँ, जब कभी भी उक्त अवस्थाकी प्राप्ति होगी, तभी समस्त

वादाविवादोंको, वाद देकर द्वैतवादमें ईश्वरकी सिद्धि और साधनाकी सफलतामें साधकको तनिक भी सन्देह नहीं रह सकेगा। दूसरी बात यह है कि द्वैतवादी एवं अद्वैतवादी दोनों ही इस बातको मानते हैं कि भगवान् श्रीशङ्कराचार्यजीने द्वैतवादका खण्डनकर अद्वैतवादको स्थापित किया। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि श्रीशङ्कराचार्यजीने पूर्व ‘द्वैतवादमें ईश्वर’ सिद्ध हो चुके हैं।

यसद्दन्तु शास्त्राणि यसदध्यात्मन्तु तार्किकाः ।

जीवनं मम चैतन्यपादाभ्योऽसुखं तु ॥

(श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती)

नैयायिकोंके ईश्वर

(लेखक—पण्डितवर श्रीपञ्चाननजी तर्करत्न)

नित्यज्ञानैश्वर्ययत्न्याऽयशक्तिः

‘अक्षपादमते देवः सृष्टिसंहारकृच्छिवः ।’

अयोमक्तिकज्ञानकर्मप्रयुक्तिः ।

(जैन हरिभद्र सूरि)

कारुण्यान्विर्विश्वबन्धोऽनवधः

पायादीशः सर्वतोदत्तविधः ॥

ईश्वर नैयायिकोंके सर्वस्व हैं, ईश्वरके अनुग्रह बिना जीवके सभी कर्म निरफल हैं। इसीसे नैयायिकगण यज्ञ-यागादि कर्म-मार्गमें ईश्वर-निष्ठ हैं, योग-मार्गमें ईश्वर-निरत हैं, भक्ति-मार्गमें ईश्वर-परायण हैं और ज्ञान-मार्गमें ईश्वर-तत्पर हैं।

न्यायशास्त्र-प्रवर्तक हरिदुमान् अहल्यापति अक्षपाद गौतम मर्षिकोः महेश्वरकी साधनायें योगसिद्धि प्राप्त हुई थी। उन्होंने तर्कवादमें शिवजीको समुत्प्रेक्षित किया था। देवीपुराणके अमुद्रित शुग्म-निशुग्म-मथनपादमें अक्षपाद नाम आया है और माधवाचार्यरचित शंकर-द्विजयमें ‘चरणोक्षय’ आदि अक्षपादके पर्यायवाची शब्दोंके हेतुका वर्णन है। तारानाथ तर्कवाचस्पतिने अपनी तत्त्वकौमुदी-टीकामें भी ऐसा ही वर्णन किया है। अक्षपाद शिवांश और शिवावतारके शिष्य थे (ब्रह्माण्डपुराण अनुषंगपाद) अतएव उनका शैव-सम्प्रदाय था। प्राचीन न्याय-निबन्ध-में प्रायः शिवकी बन्दना भी की जाती है। सूत्रिकृत ‘यद्-दर्शन-समुच्चय’ में लिखा है—

* अनावृष्टिसे दग्ध हुए विशुष्क भारतमें वर्षणके वरसे गौतमके आश्रममें ही मदा हरिद्वर्ण वृक्षोंकी पंक्तियाँ विद्यमान रहती थीं; चोह अहल्याके पति, गोदावरी-समानेता और गौतम-वंशमें भेष्ट होनेके कारण हो, अथवा देवीपुराणोक्त शास्त्रार्थ-विजयी होनेके कारण हो, उनका एक नाम गौतम था। शिवपुराण ज्ञान-संहितामें अहल्यापति गौतमका चरित्र आया है। स्कन्द-पुराणके माहेश्वरखण्ड कुमारिकाखण्डमें लिखा है—

‘अक्षपादो महायोगी गौतमाख्योऽभवन्मुनिः ।

गोदावरी समानेता अहल्यायाः पतिः प्रभुः ॥’

(शिवपुराण ज्ञानसंहिता, स्कन्दपुराण कुमारिकाखण्ड देखिये ।)

न्यायोद्धारगभीरानिमलंगिरा गौरीपतिस्तोषितो

वद्रे येन किराटिनेन समरे देवः किराताकृतिः ।

(न्यायमञ्जरी मूल देवीपुराण)

इस सम्प्रदायका प्रधान साधन-मार्ग योग था। इसी-लिये प्राचीन कालमें न्याय-दर्शनका नाम योग था।

न्यायसूत्रके भाष्यकार वात्स्यायनने गौतमसूत्र १-१-२१ के भाष्यमें जो ‘योगके मतमें असत्की उत्पत्ति’ बतलायी है उसमें भी न्याय-शास्त्रके योग नामका समर्थन होता है। क्योंकि प्रचलित योगदर्शनके मतमें असत्की उत्पत्ति नहीं होती, ‘नासतो विद्यते भावः ।’ विशेषतः ‘अभिधान-चिन्तामणि’ में योग और नैयायिक दून दोनों शब्दोंको एकार्थक कहा है। कौटिलीय अर्थनीतिके आन्वीक्षिकी विभागमें भी न्यायके बटुके जो ‘योग’ नाम आया है वह भी ‘न्याय-शास्त्र’ का समानार्थक ही है, क्योंकि वात्स्यायनने न्याय-भाष्यमें आन्वीक्षिकीका ‘प्रदीपः सर्वशास्त्राणामुपायः सर्वकर्मणाम् । आश्रयः सर्वधर्माणां’ यह स्वरूप बतलाया है। कौटिलीय अर्थ-नीतिमें भी यही दिखाया गया है। वर्तमान पातञ्जल-योगदर्शन अब भी सांख्य-प्रवचन-दर्शनके नाममें प्रसिद्ध है। खैर, यह अवा-न्तर विषय है। असल बात यह है कि इन दोनों दर्शनोंमें अर्थात् प्राचीन कालके योगदर्शन न्यायसूत्रमें और वर्तमान कालके योगदर्शन पातञ्जलमें—दोनोंमें ही ईश्वरका नाम लेकर स्पष्टरूपसे उनका अस्तित्व स्वीकार किया गया है। ईश्वर सर्वश्रेष्ठ आत्मा हैं, अन्य वस्तु नहीं हैं; जीवात्मा अनेक हैं, वे उपासक हैं और ईश्वर उपास्य हैं। यह सिद्धान्त दोनों ही सम्प्रदायोंमें समान है। वैशेषिक-दर्शनके—

‘तद्वचनादात्मनायस्य प्राप्त्यप्यम्’ (१ । १ । ३)

इस सूत्रमें ‘तत्’ शब्दका अर्थ ईश्वर है, भाष्यकार प्रशस्तपादने यह कहकर ईश्वरवादकी स्थापना की है। पर उसका मूल न्याय-सिद्धान्त ही है, अतएव उसको अलग समझना निरर्थक है। सांख्य या कापिलदर्शन न्यायादि-सम्मत ईश्वरवादके प्रतिकूल है। वेदान्तसूत्रका सुप्रसिद्ध शांकरभाष्य अद्वैत-तत्त्वका प्रचारक है। उसके मतमें ईश्वर और जीव एक ही हैं। केवल उपाधि-भेदमें उनमें संज्ञा-भेद है, शांकर-मतमें वस्तुतः उपास्य-उपासकका भेद नहीं

है, साधन-साधन-भाव नहीं है, केवल एक अखण्ड चिन्तामय ही सत्य है; कर्म, योग, भक्ति ये सभी कल्पनामात्र हैं। भक्ति-तत्त्वोपदेशक महाप्रभु श्रीगोराङ्गदेवने इस मत-की बड़ी निन्दा की है। सैर, हम अदरकके व्यापारियोंको जहाजकी क्षयरसे क्या मतलब ? हमें तो यहाँ यही कहना है कि न्याय-शास्त्रके साधन-पथमें भक्ति-मार्ग भी सुविस्तीर्ण और सत्य है।

मीमांसक कर्मशक्तिवादी हैं, वे ईश्वरको स्वीकार करनेमें पराङ्मुख हैं। कर्म ही स्वर्गका हेतु और कर्म ही नरकका कारण है।

‘नमस्तत्कर्मैर्मो विधिरपि न येन्यः प्रभवति’

नैययिक कहते हैं कि कर्म अचेतन है, उसकी शक्ति भी अचेतन है और उसका व्यवस्थापक शास्त्र-वेद भी अचेतन है। यह अचेतनवर्ग किसी चेतनके अधिष्ठान बिना क्योंकर कोई कार्य कर सकता है ? विशेषकर विधान-दाताके करुणामय, विचक्षण और सत्यवादी न होनेपर, न तो उसके विधानानुसार चलनेसे कभी हृद-सिद्धि होती है और न उसके विधानको नहीं माननेसे कोई अनिष्ट ही हो सकता है। मीमांसकोंके मतमें इसप्रकारका विधानदाता कोई नहीं है, परन्तु न्यायके मतमें वह विधानदाता ईश्वर है। उन ईश्वरके आज्ञानुवर्ती कर्म ही धर्म या सत्य हैं और उनकी आज्ञाके विरुद्ध कर्म ही अधर्म या असत्य हैं। याग-यज्ञादि कर्म उन्हींके द्वारा उपदिष्ट हैं और योग, भक्ति, ज्ञान भी उन्हींके द्वारा उपदिष्ट हैं। विद्याधी-के अधिकार-भेदके अनुसार गुरु जिसप्रकार पाठ-भेदकी व्यवस्था करते हैं, उसी प्रकार ईश्वरने भी उपासकोंके अधिकार-भेदसे साधन-भेदकी व्यवस्था की है।

‘सन्तानकी हित-कामनां जननि तदि ताडन करे’-

इस सैद्धांतिक लोकोक्तिको सामने रखनेपर ईश्वरको सर्वज्ञ ही करुणामय कहनेमें कोई बाधा नहीं होती। पापकर्मोंके लिये ईश्वर दण्ड नहीं दें तो हमारे उन पापों-का क्षय किसप्रकार होगा ? सार्वकाम फल चित्त-शुद्धि है, शुद्ध-चेताको ईश्वर-रूपासे ही योग, भक्ति और ज्ञानकी प्राप्ति होती है (यह जयन्त भट्टका मत है)।

रूपामय ईश्वर सर्वकर्मप्रवर्तक, सर्वविद्यागुरु और सर्व-शिक्षावि-शिक्षक हैं। उनके अनुग्रह बिना मनुष्यका कोई भी कर्म सफल नहीं होता। बड़ी बेव-शास्त्रोंके

उपदेश हैं, बड़ी कर्मकार, रथकार और धनुर्धर आदिके रूपमें होकर शिक्षा देते हैं। यजुर्वेद, ह्यद्राध्याय और अनेक श्रुतियोंमें उन्हीं ईश्वरके तत्त्वका वर्णन है, उसी श्रुति-मूलक ईश्वर-तत्त्वका भगवान् गौतमने अपने सूत्रमें व्यक्त एवं गूढ़ भावसे उपदेश दिया है।

अनेक नैयायिकोंके सेव्य ईश्वर शिवरूप होनेपर भी त्रिमूर्ति हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर यह तीनों ही ईश्वर-मूर्ति हैं और त्रिमूर्ति होनेपर भी वे स्वरूपतः निराकार हैं। ॐ नमः (ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वररूपधारीको प्रणाम है)।

त्रिमूर्ति-चिन्तामणि, गौतमसूत्र, वाग्व्यायन-भाष्य, वार्तिक, तात्पर्य-टीका, कुसुमाञ्जलि, न्यायमञ्जरी, तत्त्व-चिन्तामणि, दीक्षिति, दीक्षिति-प्रकाश इत्यादि नव्य-प्राचीन सभी प्रकारके न्यायग्रन्थ ईश्वर-तत्त्वके प्रतिपादक हैं। इनमेंसे कुछ ग्रन्थोंमें चावक, बौद्ध, जैन, सांख्य और मीमांसकोंके निरीश्वरवादका खण्डनकर अपने मतकी स्थापना विशेषरूपसे की गयी है, जिनमें कुसुमाञ्जलि विशेष उल्लेखनीय है। ईश्वर-विषयक सर्व-श्रेष्ठ ग्रन्थ ईश्वरानुमान-चिन्तामणि है। मूल गौतम-सूत्रसे आरम्भ करके यथाम्भव उसकी आलोचना की जाती है।

‘ईश्वर. कारणं पुरुषकर्मफलदर्शनात् ।’

इस गौतमसूत्र ४।१।१९ से ४।१।२१ तक तीन सूत्रोंमें ईश्वरवादका स्पष्ट वर्णन है। इस सूत्रका भाष्यादि-सम्मत अर्थ यह है—

पूर्वपक्ष कहता है कि ईश्वर ही जगत्का एकमात्र कारण है, नहीं तो पुरुषकी चेष्टा विफल नहीं होती। जिस वस्तुमें जो पदार्थ उत्पन्न होनेवाला नहीं है, उसके लिये मनुष्य कितनी भी चेष्टा क्यों न करे, उसकी वह चेष्टा कभी सफल नहीं होती। कोई यदि सूतके बड़े सिंहीसे कपड़ा बुनना चाहे और इसके लिये चाहे जितनी चेष्टा करे, कभी कपड़ा नहीं बुना जायगा। कहीं-कहीं तो सूतसे कपड़ा बुननेकी चेष्टा करनेपर भी बीचमें सूतने बिघ्न आ पड़ते हैं कि कपड़ा तैयार नहीं हो पाता। इसका कारण यही है कि इस विश्व-संसारका एकमात्र कारण ईश्वर है, मनुष्य इस बातको समझता नहीं। कर्म-बन्धुओंके अगोचर ईश्वरके न देख पड़नेके कारण वह दूसरी-दूसरी चीजोंसे अपना काम निकालना चाहता है

परन्तु कार्यके मूलमें ईश्वरके न रहनेपर कार्य सम्पन्न नहीं होता, अतएव ईश्वर ही कारण है। (यह सूत्र मल्लके परिणामवाद और विवर्तवाद-मतका शापक है) —ऐसा तात्पर्य टीकामें कहा है। अगले सूत्रमें इस मतमें दोष दिखलाया गया है—

‘न पुरुषकर्माभावे फलानिपत्तेः’ (४-१-२०)

‘यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मनुष्यके कर्म न करनेपर उसे फलकी प्राप्ति नहीं होती। अतएव मनुष्यका कर्म अर्थात् पुरुषार्थ ही फलप्राप्तिका हेतु है, ईश्वर नहीं। इसके बाद न्याय-मतका चरम सिद्धान्तसूत्र है—

‘तत्कारितत्वादहंतुः’ (४-१-२१)

उस पुरुषार्थके मूलमें भी ईश्वर है—पुरुषार्थके अनुप्राहक ईश्वर है उन्हींके द्वारा फलकी प्राप्ति होती है। ईश्वर एकमात्र कारण न होनेपर भी (एवं परिणामोपादान या विवर्तोपादान न होनेपर भी) कर्मसापेक्ष निमित्त-कारण है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यह व्याख्या भाष्य और उसकी टीकाओंके भावोंके आधारपर लिखी गयी है। इसमें वाचस्पति मिश्रके विचार और समाधान सम्मिलित हैं। अपना स्वमत पीछे दिखलाया जायगा।

कोई भी व्याख्या हो, सबका मूल ईश्वरवादपर प्रतिष्ठित है, प्रदर्शित सूत्र इस बातका एक विशेष प्रमाण है। २-१-६८ के सूत्रमें भी आत्मरूपके वेदवक्ता ईश्वरका प्रामाण्य निगूढ़ भावमें सूचित किया गया है। इस सूचनाने परवर्ती अनेक निबन्धोंमें ईश्वरके प्रमाणमें एक प्रबल युक्तिका काम दिया है।

‘तदर्थं यमनियमाभ्यामात्ममस्कारां योगाद्याध्यात्मविधुपाधिः’

(४-२-४३)

इस सूत्रकथित नियमोंमें ईश्वरप्रणिधान भी एक है। अध्यात्म-विधुपायमें ईश्वर-तत्त्वके श्रवणादिका ग्रहण किया जा सकता है। अतएव इस सूत्रके साथ भी ईश्वर-तत्त्वका गहरा सम्बन्ध है। यहाँ यह आपत्ति होती है कि—

‘मूलदर्शनके षोडश पदार्थोंमें या उनके विभाग-बोधक सूत्रोंमें कहीं भी ईश्वरका नामतक नहीं आया है। दूसरी जगह जो ईश्वरकी चर्चा है वह एक प्रकारसे अप्रासंगिक है, वेदवक्ता आत्मका जो प्रमाण दिया जाता है वह अप्रासंगिक न होनेपर भी स्पष्टतः ईश्वर-तत्त्वका बोधक नहीं

४३

है। वह आत्मपदवाच्य ऋषियोंके लिये भी प्रयुक्त हो सकता है। अतएव निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि प्राचीन सूत्र-ग्रन्थके साथ ईश्वर-तत्त्वका सम्बन्ध है। इस आपत्तिका खण्डन दो प्रकारसे हो सकता है—

(१) भाष्यकारने कहा है—

तस्यात्मकत्वात् कल्पान्तरानुपपत्तिः।

—अर्थात् ईश्वरमें आत्मत्व जाति है, आत्मासे ईश्वरमें विजातीयता नहीं है।

अतएव षोडश पदार्थोंमें जो द्वितीय पदार्थ प्रमेय है, उसके अन्तर्गत उपर्युक्त आत्मा ईश्वरका भी बोधक है। ईश्वरमें द्वेष-दुःख न रहनेपर भी इच्छा, प्रयत्न और ज्ञान उसके अनुमापक हैं। आत्मजातीय जीवात्मा और परमात्मा (ईश्वर) दोनोंहीके अनुमापक-हेतु ‘इच्छा-द्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानात्मनो लिङ्गम्’ (१-१-१०) —इस सूत्रमें संगृहीत है। दोनोंके सम्बन्धमें इनकी यथायोग्य योजना कर लेनी चाहिये। ‘आत्मनो लिङ्गम्’ इसके ‘आत्मनः’ इस एकवचनद्वारा आत्मत्व-जाति सूचित होती है। तीसरे अध्याय, २ आदिकके ७० वें सूत्रमें आत्माका नानात्व स्वीकृत है, अतएव सभी आत्माओंका अनुमान इच्छादि-द्वारा करना पड़ता है। यह निश्चित होनेपर भी सूत्रमें ‘आत्मनः’ ऐसा एकवचन आत्मत्व-जातिके साथ अन्वय किये बिना सिद्ध नहीं होता। वही आत्मत्व-जाति ईश्वरमें भी विद्यमान है। सूत्रका ऐसा अभिप्राय समझकर ही भाष्यकारने ईश्वरमें आत्मत्व-जातिका होना स्वीकार किया है और ‘आत्मान्तरमीश्वरः’ कहा है अतएव यह निर्णय हुआ कि ईश्वर प्रमेयके अन्तर्गत है।

(२) गौतमसूत्रमें ‘प्रमेय’ शब्द पारिभाषिक है।

जीवात्माका साक्षात्कार ही मुक्तिका प्रत्यक्ष कारण है। इसीलिये प्रमेयमें जीवात्माका ही स्थान रक्खा गया है। इसप्रकार ईश्वरको प्रमेयके अन्तर्गत न लिये जानेपर भी काल, दिशा प्रभृतिकी भाँति (२।१।२२) उनका अस्तित्व सम्यक् प्रकारसे स्वीकृत है।

न्यायसूत्रके षोडश पदार्थ विचारके प्रधान श्रंग हैं। विचार उसीको कहते हैं, जिसने जीवात्माका मनन, जीवात्माका योग और जीवात्माका साक्षात्कार होता है। न्यायसूत्रका यह भाव नहीं है कि उक्त षोडश पदार्थोंके अतिरिक्त और कोई पदार्थ है ही नहीं। वैसा माना जाय तो

पञ्चभूत, सुख, संयोग, समवाय इत्यादि द्रव्यगुणादिका अस्तित्व भी अस्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि ये वस्तुएँ षोडश पदार्थोंमें नहीं हैं। पञ्चभूतोंकी तरह ईश्वर भी प्रसिद्ध है, अतएव षोडश पदार्थोंमें उसका नाम न आनेपर भी उसका उल्लेख-ईश्वर-कारणवाद-अप्रासंगिक नहीं है। प्रेत्य-भावके विचारमें उत्पत्ति-विचार अपरिहार्य है, उत्पत्तिके विषयमें जो मत उस समय प्रचलित थे, उनका विचार-प्रसंग क्रमसे ही वहाँ किया जाना अप्रासंगिक नहीं था। वेदवक्ता आस ईश्वर नहीं है, यह बात न्यायसूत्रमें कहीं नहीं कही गयी है। इसके विपरीत पक्षान्तरमें न्यायसूत्र ३।१।२९ में श्रुतिप्रमाणकी स्वीकार किया गया है, इसलिये 'तस्माद्यज्ञात्सर्वं हुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' (पु० सू० ७) इस श्रुतिवाक्यके अनुसार वेदवक्ता आसके रूपमें ईश्वरको ग्रहण करना किसी प्रकार युक्तिके विरुद्ध नहीं है। ईश्वर-योग-सिद्धि होनेपर जीवात्म-साक्षात्कार सहज ही हो जाता है। अतएव तत्त्वज्ञानके उपयोगी आत्मसंस्कारके लिये भी ईश्वरप्रणिधान सर्वथा युक्तियुक्त है।

यह समाधान भाष्यकार प्रभृतिके मतानुसार किया गया। अब मैं दूसरी पद्धतिसे समाधान करनेके लिये 'ईश्वरकारण' इत्यादि (४-१-१६ से २१ के) सूत्रोंकी व्याख्या और तरहसे करता हूँ। यह मेरी छल्ला है तथापि मैं सुधी-समाजके सामने इसे विचारार्थ उपस्थित करता हूँ।

'पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः' यह प्रेत्यभाव आत्माके निरर्थक होनेसे ही सिद्ध होता है। देहात्मवादी या नैरात्मवादीका प्रेत्यभाव या पुनर्जन्म सिद्ध नहीं होता। इस भावका सूत्र है—
आत्मनित्यमेव प्रेत्यभावमिच्छिः (४-१-१०)

इस सूत्रसे जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि उत्पत्ति किस-प्रकार होती है? उसका स्वमतसिद्ध उत्तर और साथ ही नास्तिकोंका समाधान अगले तीन सूत्रोंमें है। इसके बाद अभाव-कारणवाद है, यह मत बौद्धोंका है। इस मतका सूत्र है—

अभावाभावेत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् (४-१-१४)

अभावसे ही आव-वस्तुकी उत्पत्ति होती है। यह बात प्रत्यक्ष है कि बीजकी ध्वंस क्रिये बिना अंकुरकी उत्पत्ति नहीं होती। सभी कार्य-कारण—ध्वंससे उत्पन्न होते हैं।

यदि यह मत कि, केवल अभाव ही कार्यमात्रका कारण है, खण्डित न हो तो, प्रभृति धर्माधर्मकी उत्पत्तिका

कारण नहीं हो सकती, रागादि दोष धर्माधर्मके कारण नहीं हो सकते, मिथ्या ज्ञान दोषका कारण नहीं हो सकता, क्योंकि प्रभृति प्रभृति सभी भाव-पदार्थ हैं, अभाव नहीं है। वस्तुतः भाव-पदार्थको कारण माननेसे न्यायसूत्रके मूल सिद्धान्त (जो १-१-२ सूत्रोंमें वर्णित है) की ही रक्षा नहीं होती। इसलिये यहाँ १५ वें सूत्रसे १८ वें सूत्रतक इस विषयपर विचार और अभावकारणवादका खण्डन है। इस बातको भाष्यकार प्रभृतिने भी स्वीकार किया है। परन्तु—

'क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः' (४-१-१८)

—इस सूत्रको भाष्यकार प्रभृतिने न्यायमतके अनुकूल अर्थमें ग्रहण किया है। मेरे अनुमानसे, इस सूत्रका सहज अर्थ अभावकारणवादके अनुकूल है। क्योंकि पूर्ववर्ती १७ वें सूत्रमें अभावकारणवादका खण्डन है। जैसे—

'न विनष्टस्योऽनित्यतेः'

बीजादि-ध्वंसको ही अंकुरादिका कारण कहें तो जो बीज-ध्वंस बहुत पहले हो गया है, फिर उसी ध्वंस-बीज-से अंकुरकी उत्पत्ति क्यों नहीं होती? वही ध्वंस आज भी तो विद्यमान है। वामनमें जब ध्वंससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता तब अभावको कारण नहीं कहा जा सकता। न्याय-शास्त्रकृत इस खण्डनपर अभावकारणवादकी यह उक्ति है कि—

'क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः'

अर्थात् न्यायशास्त्रकृत यह खण्डन या प्रतिषेध नहीं हो सकता। क्योंकि कार्य-कारणका अन्वयवचान क्रम निर्दिष्ट है। बीज-ध्वंस होते ही अंकुरोत्पत्ति हो यह क्रम है, अति पूर्वकालमें बीज-ध्वंस होनेपर काल-व्यवधानके कारण, क्रमभंग होनेसे अंकुर उत्पन्न नहीं होता। इसी आशंकाके उत्तरमें न्यायसूत्रकारने स्वमत-स्थापन करनेके लिये 'ईश्वरः कारणं...' (४-१-१९) यह सूत्र विन्यास किया है। अर्थात् केवल अभाव ही कार्यमात्रका कारण है, भाव-पदार्थ कारण नहीं है, यह नहीं हो सकता। सभी कार्योंमें ईश्वरको कारण मानना ही पड़ेगा; यदि नहीं, तो पुरुषार्थ विफल क्यों होता है? इसपर नास्तिक बौद्ध कहते हैं—

'न पुरुषकर्मभावे फलानित्यतेः' (४-१-२०)

'ईश्वर कारण नहीं है, क्योंकि पुरुषके कर्मोंके बिना फल नहीं होता, यह प्रत्यक्ष है। किसान खेती न करे तो

अनाज नहीं होता। कहना नहीं होगा कि यहाँ भी कृषि-कर्म-ध्वंसके बाद ही अनाजकी उत्पत्ति होती है। यह अभावकारणवादीका मत है। न्यायसूत्रकार इसका उत्तर देते हैं—

‘तत्कारितत्वादहेतुः’ (४-१-२१)

—अभावकारणवादीका प्रदर्शित कारण ईश्वरकारण-वादका खण्डन करनेमें अनुपयुक्त है। क्योंकि पुरुषका जो कर्म है वह भी ईश्वर-प्रवर्तित ही है। कोई भी कार्य केवल एक कारणसे उत्पन्न नहीं होता। बहुत-से कारणोंके सम्मेलनसे उत्पन्न होता है। इस सम्मेलनके मूलमें ईश्वर वर्तमान रहते हैं। वे अनुग्राहक हैं, इसीसे कार्य होता है, अन्यथा नहीं होता। अतएव बिना भावके कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार करना विरुद्ध अयुक्त है। यदि अन्वय-व्यतिरेक-युक्तिसे किसी भाव-पदार्थका कारणत्व साधित होना हो तो उसी युक्तिसे अन्य भाव-पदार्थको कारण माननेमें कोई आपत्ति नहीं रह जाती। इसप्रकार प्रवृत्ति प्रभृतिका कारणत्व अबाध रह गया। सुतरां प्रेत्यभाव-विचारके प्रसंगमें अपवर्ग-साधनके निरर्थक लिये इस विचार-विशेष-को आवश्यकता है। यहाँतक कि षोडश पदार्थ-निर्देशके मूलमें भी यह ईश्वरवाद वर्तमान है। अतएव कहना पड़ता है कि ईश्वर ही न्याय-दर्शनके प्राणस्वरूप हैं। जो ‘प्राणस्य प्राण’ हैं वे यदि न्यायके प्राणस्वरूप हों, तो कोई अनोखी बात नहीं है। अधिकतर न्यायशास्त्रके लिये वह अवश्य गौरवकी बात है, नैयायिकके लिये आशा और आश्वासनकी बात है। यहाँ मूल-सूत्रोंके साथ ईश्वरवादका अच्छे-से सम्बन्ध दिखलाया गया। ईश्वरके स्वरूपकी सूत्रमें विस्तृत आलोचना न होनेपर भी ‘तत्कारितत्वात्’ इस संकेतसे उसका सूक्ष्म सूत्र दिखलाया गया है। आत्म-प्राप्त्यर्थ-निर्देश, अपवर्ग-विचार, आत्माका नित्यत्व और नानात्व-ज्ञापन, ईश्वर-प्रणिधानसे आत्म-संस्कार इत्यादि मन्थनके फलस्वरूप हमें एक प्रकाश-सम्पात मिल गया है। इससे हम समझते हैं कि—

‘यः सर्वज्ञः सर्ववित्’ ‘द्यावाभूमौ जनयन् देव एकः’
‘नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्’
‘सर्वेन्द्रियगुणमासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्’
‘एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्यु-
र्य इमौलोकानौशत ईशानीभिः।’
‘यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं
कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनित्म्।’

तदा विद्वान्पुण्यपापं विभूय

निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥’

—इत्यादि उपनिषद्, रुद्राध्याय और विविध कर्म-काण्डका ईश्वरस्वरूप निर्णय ही न्यायशास्त्रका आधार है।

श्रुतिप्रमाणसिद्ध वे ईश्वर किसप्रकार अनुमानमें आ सकते हैं, ‘तत्कारितत्वात्’ एवं आत्म-प्राप्त्यर्थमें यही सूचित किया गया है। क्योंकि ईश्वरकी कृति और वेद-कर्तृत्व ईश्वरानुमानके उत्कृष्ट हेतु हैं।

भाष्यकारने ईश्वर-स्वरूपके सम्बन्धमें निम्नलिखित आलोचना की है।

‘अधर्ममिध्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञानसमाधिसम्पदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः, तस्य च धर्मसमाधिविफलमणिमादष्टैश्वर्यं संकल्पानुविधायी वास्य धर्मः प्रत्यक्षमवृत्तीन् धर्माधर्ममन्थयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति। आत्मकल्पश्चायं यथा पिताऽपत्यानां तथा पितृभूतईश्वरोभूतानाम्।’

भावार्थ—जीवार्थामें अधर्म, मिध्या ज्ञान और प्रमाद है। जिस आत्मामें यह सब नहीं है, बल्कि धर्मज्ञान, समाधि पूर्णरूपसे अवस्थित है, वैसा आत्मा ही ईश्वर है। उसकी धर्मसमाधिका फल अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य हैं। उनको धर्म-कर्म सापेक्ष नहीं है, संकल्पानुसार है। प्रत्येक जीवार्थमाका धर्माधर्म और पृथिव्यादि भूतोंकी प्रवृत्ति उन्हींके प्रभावसे होती है। सन्तानके लिये जिसप्रकार पिता यथार्थवादी हितोपदेष्टा और दयामय है, ईश्वर भी सब भूतोंके लिये वैसे ही पितृतुल्य है।

जरणीयायिक नामसे गंगेशद्वारा उल्लिखित जयन्त भट्ट कहते हैं—

‘ज्ञानमुत्केष्टाप्रयत्नधर्माः सन्तीश्वरं’

—अर्थात् ज्ञान, सुख, इच्छा, प्रयत्न और धर्म ईश्वरमें वर्तमान हैं। वार्तिककार उद्योतकर, तारपर्यटीका-कार वाचस्पति मिश्र, तात्पर्यपरिशुद्धिकार उदयनाचार्य और गंगेशोपाध्याय प्रवृत्ति नभ्य न्यायाचार्यगण ईश्वरमें सुख और धर्म स्वीकार नहीं करते। केवल दीधितिकार-शिरोमणिके मंगलाचरणमें ‘अखण्डानन्दबोधाय’ पद रहनेसे उनका मत जयन्त भट्ट आदिके साथ मिलता है या नहीं, इसमें सन्देह है। ईश्वरमें नित्य सर्वज्ञता, नित्य इच्छा एवं नित्य यत्न है और कोई विशेष गुण नहीं है, यह मत नैयायिक-समाजमें सुप्रतिष्ठित है।

ईश्वरके विषयमें नास्तिकोंको जो आपत्तियाँ हैं उनका उद्योतकर, जयन्त भट्ट, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य एवं गंगेशोपाध्यायने खण्डन किया है। वह इसप्रकार है—

१-क्रियाहीन कर्ता नहीं हो सकता। उद्योतकरने इसके उत्तरमें जो कुछ कहा है उसीका भावार्थ प्रकट करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि, ईश्वर क्रियाहीन नहीं है, ज्ञान, इच्छा एवं प्रयत्न भी क्रियाएँ हैं, केवल स्पन्दन ही क्रिया नहीं है। (४।१।२१ न्यायसूत्रका वार्तिक और तात्पर्य-टीका देखिये)

२-अशरीरी कर्ता नहीं हो सकता। जयन्त भट्टने इसके उत्तरमें कहा है—जिसप्रकार जीवात्मा वस्तुतः अशरीरी होकर भी सबका सञ्चालक है, उसी प्रकार ईश्वर भी अशरीरी होकर सर्वसञ्चालक हो सकते हैं। (न्याय-मञ्जरी, ३ आदिक ईश्वर-प्रकरण देखिये)

३-नित्य-वृत्त ईश्वरका जगत्-निर्माण करना निरर्थक है। निरर्थक कर्ममें मूर्खकी भी प्रवृत्ति नहीं होती, सर्वज्ञ ईश्वरका तो कहना ही क्या? इसके उत्तरमें जयन्त भट्ट कहते हैं—सृष्टि, स्थिति, संहार यह सूर्यके उदय-अस्तकी भाँति ईश्वरका स्वाभाविक धर्म है। अथवा अनादि जगत्-प्रवाहमें, जीवके प्रति स्वाभाविक दयावश होकर ही ईश्वर सृष्टि, स्थिति, संहार करते हैं। अनादि शुभाशुभ कर्म-पादोंमें बँधे हुए जीव मुक्ति-लाभ नहीं कर सकते, इसीलिये सुख-दुःख, स्वर्ग-नरककी रचना और वेदके उपदेशद्वारा शुभाशुभ कर्मोंका ज्ञान एवं भोगद्वारा कर्मक्षय करनेकी व्यवस्था ईश्वरने की है। वेदवाक्योंद्वारा त्रिविध उपासना और ज्ञानका उपदेश दिया है। क्रमसे सबको मुक्ति देना ही उनका उद्देश्य है। अतएव मुक्तिरूप परमपुरुषार्थकी सभी प्राप्ति हो, ईश्वरकी यह करुणाप्रणोदित इच्छा ही सृष्टिका कारण है। (न्यायमञ्जरीके उसी प्रकरणको देखिये)।

४-ईश्वरके अस्तित्वमें कोई प्रमाण नहीं है, इसका खण्डन वार्तिककारसे लेकर सभी न्यायाचार्योंने किया है।

इन चार प्रकारकी आपत्तियोंके अन्तर्गत कुछ और भी आपत्तियाँ हैं। उदयनाचार्यके न्याय-कुसुमाञ्जलि और गंगेशोपाध्यायके 'ईश्वरानुमानचिन्तामणि' ग्रन्थमें सारी आपत्तियोंका उल्लेख और उनका खण्डन विस्तारके साथ किया गया है। आचार्य और उपाध्यायने नास्तिकपक्षके अनुमानमें विध्यंगता अति निपुणतासे दिखका दी है।

उपाध्यायने स्वपक्षकी निर्दोषता सिद्ध करनेका अधिकतर प्रयत्न किया है।

नैयायिक-सिद्धान्तमें ईश्वर निराकार, सर्वज्ञ, जीवके अदृष्ट-फलदाता, नित्यप्रयत्न और नित्यऐश्वर्यसम्पन्न हैं। वे परम कारुणिक, सारे जगत्के पितृस्थानीय हैं। वे यज्ञादि कर्ममार्गसे, योगमार्गसे, भक्तिमार्गसे और ज्ञान-मार्गसे उपास्य हैं। श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं दर्शन भी उनकी उपासना है। उपासककी सिद्धिके लिये वे शिवरूपसे आविर्भूत होते हैं। उपासना-विशेषमें वे श्रीकृष्णादि रूप भी धारण करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ये तीनों मूर्तियाँ उन्हींकी हैं। गंगेशोपाध्यायने पुराणिको प्रणाम करते हुए जो मंगलाचरण किया है वह अनुशीलन करने योग्य है—

गुणतीतोऽपीशस्त्रिगुणसर्ववश्यः

त्रिमूर्तिर्यः सृष्टिस्थितिविक्रमकर्माणि तनुते ।

कृपापरावृत्तिः परमगतिरकस्त्रिजगतां

नमस्तस्मै कस्मै चिदमितमहिम्ने पुरमिदे ॥

ईश्वरकी प्रकृष्ट उपासनाके फलसे अदृष्टद्वारा या स्वात्मसाक्षात्कारद्वारा उपासकको मुक्तिकी प्राप्ति होती है। ईश्वरका ही दूसरा नाम परमात्मा है। उसीकी उपासना स्वर्ग-अपवर्ग-प्राप्तिका उपाय है। आचार्य उदयनने कहा है—

स्वर्गपवर्गयोगार्गमात्मनन्ति मनीषिणाः ।

यदुपास्तिमसावत्र परमात्मा निरुप्यते ॥

(कुसुमाञ्जलि १।२)

भक्त आचार्य उदयनने आगे कहा है—

इत्येवं ध्रुविनीतिसंज्ञवर्जनेभ्योभिराश्रयिते

येषां नत्पदमादधासि हृदये ते शैलसामाश्रयाः ।

किन्तु प्रस्तुतविप्रतीपविषयोऽप्युच्चैर्नवाचिन्तकाः

कस्ते कारुणिक त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः ॥

हे परमकारुणिक ! शास्त्र और मुक्तिमय प्रभूत जल-धारासे प्रक्षालित होकर भी जिनका हृदय तुम्हारे निवासके योग्य निर्मल भावको प्राप्त नहीं हुआ, वे पाषाण-हृदय हैं, परन्तु वे तुम्हारे प्रतिकूल विचारमें आसक्त होकर डकड़-रूपसे तुम्हारा ही चिन्तन करनेको बाध्य हुए हैं, अतएव

कृपा करके यथासमय तुम ही उनका निस्तार करना ।
तुम्हारी कृपा ऐसी ही है ।

श्रीमद्भगवत्तमै हसी कृपाका वर्णन है—

उक्तं पुरस्तादितं चैव सिद्धिं यथागतः ।

द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताऽपेक्षजप्रियाः ॥

यही नैयायिकोंका ईश्वरतत्त्व है । हाय ! मैं अचम
विषय-वासनामें गाढ़ अनुरक्त हूँ । ईश्वरतत्त्वके अनुकूल

या प्रतिकूल कोई भी चिन्ता मेरे हृदयमें प्रायः ही नहीं
आती, तथापि तुम परम कारुणिक हो—

भवदुपगमशून्ये मन्मनोदुर्गमध्वे

निवसति भयहीनः कामवैरिन् रिपुस्तु ।

स यदि तव विभेयस्तूर्णमामाञ्छ शम्भो

नृपतिरपिमुगदम् किं न कान्तारमेति ॥

X X X X

श्रीमद्भगवद्गीताके ईश्वर

(लेखक—श्री एम० एन० ताडपर्वकार एम० ए०)



मद्भगवद्गीतामें 'ईश्वर' शब्दका विभिन्न
स्थलोंमें छः बार प्रयोग हुआ है । सुगमता-
की दृष्टिसे सबसे कम महत्त्ववाले वाक्योंका
हम पहले उल्लेख करेंगे । जैसे गीता १६ ।
१४ में, जहाँ आसुरी सम्पत्तिवाले मनुष्यों-
के लक्षणोंका वर्णन किया गया है,
लिखा है—

'ईश्वरोऽहमहं भोगी'

अर्थात् मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ, इत्यादि । इस श्लोकमें
'ईश्वर' शब्दका अर्थ मालिक है, अतएव प्रस्तुत विषयके
लिये इस श्लोककी विशेष उपयोगिता नहीं है । 'ईश्वर' का
दूसरा उल्लेख अध्याय १३ । २८ में मिलता है, जहाँ उसके
लिये—'सर्वत्र समवस्थितम्' अर्थात् 'सर्वव्यापी' इस
विशेषणका प्रयोग किया गया है । इसके पश्चात् अध्याय
१५ । ८ में ईश्वरके सम्बन्धमें यह कहा गया है कि वह
शरीरकी भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंमें स्थित रहकर तथा उनको
नियन्त्रणमें रखकर विषयोंका उपभोग करता है (विषयानु-
पसेवेत) । और शरीरका त्याग अथवा ग्रहण करते समय
इनको लिये हुए जाता है (गृहीत्वेतानि संयाति) ।

कुल आगे चलकर—अर्थात् १० वें श्लोकमें—हसी
आशयको इसप्रकार व्याप्त किया गया है कि अविनाशी
ईश्वर तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर उनका धारण-पोषण
करता है (लोकत्रयमाविश्य बिभर्ति) और वह 'क्षर'
अर्थात् सब भूतोंसे तथा 'अक्षर' अर्थात् कूटस्थ—दोनोंसे
परे है और 'परमात्मा,' 'पुरुषोत्तम' कहलाता है ।

उपर्युक्त तीन स्थलोंमें भगवद्गीताके ईश्वरका क्या
स्वरूप है इसका दिग्दर्शन हो जाता है । इसका तात्पर्य
यह नहीं है कि भगवद्गीतामें ईश्वरके सम्बन्धमें अन्यत्र कुछ
नहीं कहा गया है । या तो ईश्वरका गीतामें जगह-जगह
उल्लेख आता है, किन्तु वहाँ उसका निर्देश 'ब्रह्म', 'आत्मा',
परमेश्वर इत्यादि शब्दोंसे किया गया है, 'ईश्वर' शब्दसे नहीं ।
यद्यपि उनमेंसे कई स्थलोंमें ये शब्द स्पष्टतया ईश्वरके ही
पर्यायवाची हैं, परन्तु हमें आज केवल उन्हीं स्थलोंपर
विचार करना है जिनमें 'ईश्वर' शब्दका प्रयोग हुआ है ।
हम ऊपर दिखला चुके हैं कि यह ईश्वर तीनों लोकोंमें
व्याप्त है, तीनों लोकोंका धारण-पोषण करता है और
'क्षर' एवं 'अक्षर' दोनोंसे परे है । यही ईश्वर हमारे
शरीरोंमें स्थित होकर उनका सञ्चालन करता है एवं
इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका उपभोग करता है ।

आगे चलकर अध्याय १८ । ६१ में यही बात संक्षेपमें
फिर दोहरायी गयी है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

आमयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

अर्थात् हे अर्जुन ! ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें निवास
करता है और अपनी मायासे समस्त भूतप्राणियोंको इस-
प्रकार घुमाता है जैसे कुम्हार अपने चक्रपर चढ़े हुए
पात्रोंको । यद्यपि डा० बेसेण्टने उपर्युक्त श्लोकका
इसी प्रकार अनुवाद किया है, परन्तु टीकाकारोंने इसके
कई अर्थ किये हैं । पैशाच-भाष्यमें 'यन्त्र' शब्दका अर्थ
शरीररूपी यन्त्र यह किया गया है—

‘सर्वप्रणिनाऽहं शयानोऽहमासीनोऽहं स्थितोऽहं जातोऽहं क्षीणोऽहमित्येवं प्रत्येयैः शरीराण्येवं यन्त्रमाखण्डान् भ्रामयतिष्ठति ।’

अर्थात् ‘मैं सोता हूँ, मैं बैठता हूँ, मैं खड़ा हूँ, मैं जन्मा हूँ, मैं दुर्बल हूँ इत्यादि अनुभवोंके द्वारा शरीररूपी यन्त्रपर आरुढ़ हुए समस्त प्राणियोंको वह घुमाता रहता है ।’

इसप्रकार यह सिद्ध होता है कि ईश्वर सर्वव्यापी होनेपर भी सबसे अलग है और अपनी शक्तिके द्वारा सबका सञ्चालन करता है । उसीकी कृपासे परम शान्ति—शाश्वत पदकी प्राप्ति होती है । इसीलिये श्रीकृष्ण अर्जुनको उसी प्रभुकी शरण जानेके लिये कहते हैं तथा इस ज्ञानको गुह्यसे भी गुह्यतर बतलाते हैं ।

इन श्लोकोंमें हमें ईश्वरकी महिमा बतकायी गयी है और उस ईश्वरकी ‘सर्वतोभावेन शरण’ होनेको कहा गया है । यहाँतक तो ठीक है । इसके अगले ही श्लोकमें श्रीकृष्ण अर्जुनको अपना गुह्यतम रहस्य बतलाते हैं और कहते हैं कि मैं ही वह ईश्वर हूँ और मेरी शरणमें चले आओ (गीता १८ : ६५) ।

इसप्रकार यह स्पष्ट होता है कि १८ वें अध्यायके ११, १२ श्लोकोंमें ईश्वर, उसकी महिमा एवं शरणागति आदिका वर्णन है और उससे अगले श्लोकमें हमें यह

गुह्यतम बात बतायी गयी है कि श्रीकृष्ण ही साक्षात् ईश्वर हैं और मनुष्यको उन्हींकी शरणमें जाना चाहिये । इन दो बातोंका क्रमशः उल्लेख होना भगवद्गीताका अध्ययन करनेवालोंके लिये एक नयी एवं मार्केकी बात बतलाता है, जिसपर जहाँतक मैं जानता हूँ अबतक किसी विद्वान्का ध्यान नहीं गया है । वह बात यह है कि भगवद्गीताके अधिकांश स्थलोंमें श्रीकृष्णने अपने लिये उत्तम पुरुषका व्यवहार किया है जैसे ‘अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।’ ‘मामनुस्मर युध्य च ।’ ‘मन्मना भव मद्भक्तो’ इत्यादि-इत्यादि । इसके साथ ही कई श्लोक धारा-रूपसे ऐसे मिलते हैं जिनमें ईश्वर अथवा ब्रह्मका निर्देश अन्य पुरुषके द्वारा किया गया है । इसके उदाहरणरूपमें अठारहवें अध्यायके उपर्युक्त अवतरण पर्याप्त हैं ।

इनके अतिरिक्त अध्याय ४ : ९ में भी ईश्वर शब्दका उल्लेख मिलता है । वहाँ श्रीकृष्णने अपने लिये उत्तम पुरुषका प्रयोग करते हुए यह कहा है कि मैं सारे भूतोंका ईश्वर हूँ—‘भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।’ उपर्युक्त श्लोकमें अवतारके सिद्धान्तका निरूपण किया गया है और उस प्रसंगमें श्रीकृष्णने कहा है कि मैं अपनी मायाके बलमें हम संसारमें अवतीर्ण होता हूँ ।

भगवत्-प्रेम

‘दया’ प्रेम प्रगट्यौ तिनहूँ, तनकी तनि न संभार ।
हरि-रसमे माने फिरें गृह बन कीन बिचार ॥ १ ॥
प्रेममगन जे साधवा बिचरत रहत निसंक ।
हरिरसके माने ‘दया’ गिने राख ना रंक ॥ २ ॥
प्रेम-मगन जे साध जन, तिन गति कही न जात ।
रोय-रोय गावत हँसत, ‘दया’ अटपटी बात ॥ ३ ॥
हरि-रस माने जे रहैं, तिनको मतो अगाध ।
त्रिभुवनकी सम्पति ‘दया’ तून-सम जानत साध ॥ ४ ॥
प्रेममगन गद्गद बचन, पुलकि रोम सब अंग ।
पुलकि रह्यो मन रूपमें ‘दया’ न हूँ चित भंग ॥ ५ ॥
कहूँ धरत पग परत कहूँ डिगमिगात सब देह ।
‘दया’ मगन हरि-रूपमें दिन-दिन अधिक सनेह ॥ ६ ॥

—दयाबाई

उपनिषद् और ईश्वर

(लेखक—श्रीमहानन्दजी सिङ्गान्तालङ्कार, आयुर्वेदमार्तण्ड)

तमीश्वराणां परम महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।

पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ (श्वेता० ६।७)

यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं यो वै वेदोऽक्षि प्रहिणोति तस्मै ।

तच्छ देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ (श्वेता० ६।१८)

ईश्वरकी जिज्ञासा



दृष्टे अनादिकालसे दो प्रकारके पुरुष होते आये हैं, एक तो वे जो अपने स्वरूपके ज्ञानके लिये प्रयत्न करते रहे हैं और दूसरे वे जो 'स्व' का विचार न करके 'पर' का ही अनुशीलन करते रहे हैं। मानवीय-प्रकृतिकी बनावट ही इसप्रकारकी है कि जो अधिक ज्ञानवान् संस्कृत-संस्कार-सम्पन्न हैं, वे ही अपने स्वरूपका मनन करते हैं और जो स्थूल-बुद्धिके हैं, वे इस सूक्ष्म विषयको समझ ही नहीं सकते, और सूक्ष्मात्-सूक्ष्म जो परमेश्वर है, उसपर विचार करनेकी योग्यता उनमें नहीं होती, इसलिये उनको ईश्वर-विषय अप्रिय होता है। इसी विषयमें कठ उपनिषद्में आता है—

पराश्चि स्नानि व्यतृणत् स्वयम्भू-

स्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत

आवृत्तचक्रमृतत्वमिच्छन् ॥

—कि इन्द्रियोंके गोलक और विषय दोनों ही बाहर हैं, इसलिये स्वभावतः पुरुष बहिर्मुख होता है, कोई ही धीर पुरुष, जिसमें अमृतत्वका भाव प्रबल होता है, इन्द्रियोंको रोक एवं अन्तर्मुखी करके अपने स्वरूपका दर्शन करता है। धीरके सम्बन्धमें कवि कालिदासने क्या सुन्दर कहा है कि—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते

येषां न जेतसि त एव वीराः ।

विकृत हो सकनेवाली परिस्थितिमें घिरे होनेपर भी जो विकारको प्राप्त नहीं होते, अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको संयममें रख सकते हैं, वे ही धीर होते हैं, अन्यथा—

प्रथमे वयसि यः शान्तः स शान्त इति मे मतिः ।

घातुषु क्षीयमाणेषु शान्तिः कस्य नोपजायते ॥

—के अनुसार जब इन्द्रियों भोग करनेमें असमर्थ हों, उस समयकी बलात् शान्तिमें यथार्थ शान्तता नहीं कही जा सकती, यौवनकी मादकताके अवसरपर जो शान्त रहता है, वही शान्त कहा जाता है।

आरम्भ-जिज्ञासा और ईश्वर-जिज्ञासा जिसप्रकार उच्च संस्कारोंका फल है, उसी प्रकार परिपक्व बुद्धिका भी परिणाम है। बुद्धिके परिपाकका सम्बन्ध शरीरानुपाती नहीं है, इसी कारण महापुरुषोंकी जीवनिर्वाण यह बतलाती है कि कई बाल्यकालमें ही विरक्त हो गये और उन्होंने सारा आयुष्य उसी परमेश्वर-चिन्तनमें बिताया। बुद्धिके परिपक्व न होनेपर—

अङ्गं गङ्गितं पल्लि मुण्डं

दशनविहीन जात तुण्डम् ।

बुद्धौ याति मृहीत्वा दण्डं

तदपि न मुञ्चत्यशापिण्डम् ॥

—की अवस्था आ जानेपर भी यह अनुभव होता है कि—'तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा' या—

'अङ्गानि शिथिलयन्ते तृष्णैका तरुणापते'

—सब शरीर जीर्ण-शीर्ण और जर्जरित हो गया है, टोंग कमरमें लटकी हुई है, पर तृष्णा-पिशाचिनी पूर्ण तरुणावस्थाको प्राप्त होती जा रही है। इसलिये ईश्वरोन्मुखी-वृत्ति सुकृतियोंकी ही हुआ करती है।

उपनिषद्कालमें जब संस्कारी जीव अधिकतामें थे, तो यह प्रश्न सामने था कि—

(१.) 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्य-सितव्यः ।'

(ब० ४।५।६)

'तमेवैकमात्मानं विजानथ अन्या वाचो विमुश्चथ अमृत-स्येव सेतुः ।'

(मु० ३।५)

(२) इह चेदवेदीदय सत्यमस्ति
न चेदिहवेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः
प्रेत्यास्माह्लाकादशृता मवन्ति ॥
(कन० २।५)

(३) इह चेदशकद्वाहं प्राक् शरीरस्य विस्मयः ।
(कठ० ६।४)

(४) इहैव सन्तोऽयं विद्यस्तद्वयं
न चेदवेदीर्महती विनष्टिः ।
ये तद्विदुरशृतास्ते भवन्त्य-
थेतरे दुःखमवापिषन्ति ॥
(वृ० ४।४।१४)

(५) तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायद्ब्रूञ्छब्दान् वाचां विस्लापन हि तत् ॥
(वृ० ४।४।२१)

(६) सा होवाच मंत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन
कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदंश मे विवृहीति ॥ (वृ० ४।५।४)

इन सबका सारांश एक ही है कि प्राचीन कर्मोंका फल भोगते हुए इस शरीरसे अमृतत्वको प्राप्त हो परमपिता परमात्माका साक्षात्कार कर मनुष्य-शरीरको सफल करें। यह शरीर और यह मनुष्य-योनि बड़े महत्वकी है, ज्ञानवान् मनके साथ इसी शरीरमे परम पदको प्राप्त किया जा सकता है। एक-एक क्षण उसी परमपदकी प्राप्तिमें बीते; सोते-जागते, खाने-पीते एक ही तप हो कि इसी अन्तर्में ईश्वरकी पुनीत क्रांतिमें हम विचरण करें, ऐसा न हो कि समय बीत जाय और हमें हाथ मल-मलकर पछताना पड़े। जब इतनी तप होती है तभी मनुष्य ईश्वर-जिज्ञासु कहलाता है। जब मनुष्य ईश्वर-विषयपर शीकिया बात-चीत करता है, या मनबहलाव-से प्रेरित होकर इस विषयपर कुछ सुन लेता है, या पढ़ लेता है, तो यह 'वाचोविग्लापन' है। प्राचीन समयमें तत्त्व-जिज्ञासामे प्रेरित होकर यत्र-तत्र ऋषि-मुनि, तपस्वी, ब्रह्मचारी विचरा करते थे और स्वयं शान्त होते हुए समाजमें शान्ति स्थापन करते थे।

ईश्वर-जिज्ञासाके विघ्न

उपनिषदोंमें ईश्वर-जिज्ञासाके जो विघ्न बतलाये हैं, वे सदासे सभी जिज्ञासुओंके समक्ष रहते आये हैं। इनका

नचिकेता और यमके संवादमें बड़ा अच्छा वर्णन मिलता है। नचिकेतापर अत्यन्त प्रसन्न यमने उसे तीन वर माँगनेके लिये आज्ञा दी। नचिकेताने तृतीय वर यह माँगा कि—यह बतलाइये कि मनुष्य मरकर कहाँ जाता है? आत्मा इसके बाद रहता है या नहीं? हम सुनते हैं—'भस्मी-भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः' और इसके विपरीत सुनते हैं—

'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावमावितः ॥'

दोनोंमेंसे क्या सत्य है? 'अन्तमता सो गता' सिद्धान्त माननीय है या त्याज्य? प्रश्नका स्वरूप है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-

ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चंके ।

पतद्विद्यामनुशिष्टस्वयाहं

वराणामेष वरस्तृतीयः ॥

(कठ० १।२०)

इसके उत्तरमें यमने कहा कि—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुनः

न हि भुविज्ञेयमण्डेष धर्मः ।

अन्यं वरं नचिकेता वृणीष्व

मा मां परांस्तीरति मा मूजैनम ॥

(कठ० १।२१)

यह बड़ा सूक्ष्म प्रश्न है, इसमें देवताओंको भी सन्देह हो गया था इसलिये इसके स्थानपर अन्य वर माँगा, इसका आग्रह छोड़ दो। नचिकेता इसके उत्तरमें कहता है कि जब आप भी हमे इतना सूक्ष्म बतला रहे हैं, जब देवोंको भी इसमें सन्देह हो गया था, तो भगवान्, आप-सरीखे ज्ञाता और वक्ता फिर काहेको मिलने लगे, मैं तो यही आपसे वररूपमें पछता चाहता हूँ—

'देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल

त्वं च मृत्या यज्ञं भुविज्ञेयमाव्य ।

वक्ता चास्य त्वादगम्यां न लभ्यो

नान्यो वरस्तुल्य पतस्य कश्चित् ॥'

(कठ० १।२२)

इसके उत्तरमें यमने फिर कहा कि—

शतायुषः पुत्रपौत्रानृणीष्व

बहून्पशून्महिर्हिरण्यमश्वान् ।

भूमेर्महदायतनं वृणीष्व
स्वयं च जीव शरदां यावदिच्छसि ॥
पततु त्वं यदि मन्यसे दरं
वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महामयी नश्चितस्त्वमेधि
कामानां त्वा काममाजं करोमि ॥
ये ये कामाः दुर्लभाः मर्त्यलोके
सर्वान् कामान् दत्तुन्दतः प्रार्थयस्व ।
इमा रामाः सरथाः सत्पथा
नहीदशा लम्भनीया मनुष्यैः ॥
आभिर्मत्प्रतापिः परिचारयस्व
नश्चितो मरणं मानुषाक्षीः ॥

(कठ० १।२३—२५)

अर्थात् १०० वर्षतककी दीर्घ आयुवाले पुत्र-पौत्र चाहो तो मैं देता हूँ। बहुत-से पशु हाथी-घोड़े चाहो तो मैं देता हूँ। बहुत-सा धन और तेज चाहो तो मैं देता हूँ। बर्षा भारी जायदाद या भूमि चाहो तो वह माँगो और दीर्घ आयुष्य माँगो, सौ वर्ष या हजार वर्ष या जबतक तुम्हारा जी चाहे जीते रहनेका वरदान देता हूँ। इसके अतिरिक्त इस संसारमें जो-जो कार्य बड़े दुर्लभ हैं, जैसे आकाशगामी होना, समुद्रान्तःगामी होना Telepathy, television या अणिमा, गरिमा, कविमा, महिमा आदि सिद्धियाँ या जो भी तुम्हारी कल्पनामें आ सकता है, ऐसी वे सब वस्तुएँ निम्नकोच होकर माँगो। इसके अतिरिक्त दारीरसे, रंग-रूपसे मनःप्रसादकारी परम सुन्दर और रमणीय स्त्रियाँ, जो नाना प्रकारके वाहनोंमें सजजकर बैठी हैं, तुम्हारे उपभोगके लिये देता हूँ। ये तुम्हें भवभय स्वीकार करनी चाहिये। ये जो कुछ अनन्त और कल्पनातीत भोग-सामग्री तुम्हें देता हूँ, इसका तुम निर्भय होकर भोग करो और भोगजन्य रोग या इन्द्रियक्षीयता या क्लेश तुम्हें न हो, यह भी वर तुम्हें देता हूँ। ये भोग अन्तःशान्त या नाशवान् न हों, सदा तुम इनसे परिपूर्ण रहो—यह भी सब कुछ दे सकता हूँ। पर आरम्भ-सम्बन्धी ऐसे गुरु प्रश्न तुम मत पूछो।

इसी प्रकार बृहदारण्यकके चतुर्थ ब्राह्मणमें याज्ञवल्क्य और मैत्रेयीके संवादमें यह आता है कि मैत्रेयी बोली 'भगवन्, आप जो अपना सर्वस्व छोड़कर अन्यत्र जाने लगे

हैं और अपनी सब सम्पत्ति बाँटकर देना चाहते हैं, तथा कहते हैं कि अब बटवारा हो जानेपर तेरा कात्यायनीमें लक्षार्द्ध-भगवान् न रहेगा, तो भगवन्! यह तो बतलाइये कि—

'सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तं न पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्मामिति।' 'नतः होवाच याज्ञवल्क्यो 'यथैवापकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यात्—अमृतत्वस्य तु नास्ति वित्तं नेति' सा होवाच मैत्रेयी 'येनाऽहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां' 'यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहीति ।'

(बृ० ४।५।३-८।)

'यदि आप सारी पृथ्वी धनमें पूर्ण करके मुझे दें तो क्या उसमें मुझे अमृतत्व प्राप्त हो जायगा?' याज्ञवल्क्यने कहा कि 'नहीं, जैसे उपकरणसाधनसम्पन्न राजा-महाराजाओंका जीवन है, वैसा ही तेरा जीवन हो जायगा। धनमें मोक्षकी प्राप्ति करना दुराशामात्र है।' यह सुनकर मैत्रेयी बोली कि 'जिस वस्तुमें मुझे मोक्ष प्राप्त न हो, उसका संग्रह करके मैं क्या करूँगी? आप तो मुझे उसीका उपदेश कीजिये, जिसे जानकर आप वह सब त्याग रहे हैं।'

इस वृत्तान्तमें यह स्पष्ट है कि जबतक पुरुषमें अन्य सांसारिक ईप्सयाओंकी विद्यमानता है, वह ईश्वरकी तरफ कभी प्रवृत्त नहीं हो सकता, 'प्रेममग्नौ अति सौकरी तामें दी न समार्य'। जबतक जन, धन, पदकी भोग-वासनाएँ प्रबल रहेंगी, तबतक ईश्वर-विषय 'व्यर्थ' 'समय नष्ट करना' 'पागलपन' 'बहम' आदि शब्दोंसे तिरस्कृत होगा। जब सांसारिक विषयोंमें मन भरकर उन्नत जाता है, सबको अनिष्ट, नाशवान् और हेय समझकर सत्-नित्य अविनाशी तत्त्वकी तरफ प्रवृत्त होकर उसकी प्राप्तिके लिये तड़पने लगता है, तभी वह इस कठिन मार्गकी ओर चल सकता है। सांसारिक भोग और भोगोंकी इच्छा, मार्गके भारी विघ्न हैं, इसी प्रकार पूर्ण वैराग्य, पूर्ण त्याग और अन्तर्मुखीन वृत्तिका अभाव तथा परमेश्वरके लिये तड़प न होना ईश्वर-विषयमें भारी विघ्न हैं।

ईश्वरका स्वरूप

(१) आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्... स इमाल्लोकानसृजत ॥ (ऐत० १।१-२)

(२) सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥ (तै० २।१०)

(३) सर्वं कश्चिदं ब्रह्म तन्वज्जलानिति शान्तं उपसीत ॥

(छा० १।१४।१)

(४) स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यते, अशीर्यो न हि शीमेतऽसन्नो न हि सन्नतऽसितो न व्यथते न रिप्यति । विज्ञा-
तारमरे केन विजानीयात् ॥ (बृ० ४।५।१५ ॥ बृ० ३।९।२६ ॥
बृ० ४।२।४)

(५) स यथाद्वैद्यानेरभ्याहितस्य पृथग् धूमा विनिश्चरन्त्येवं
वा अरेऽस्य महतो मूतस्य निःश्वसितमेतच्छट्गुर्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो-
ऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणि विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्य-
नुष्माक्यानानि व्याख्यानानिष्ट-कुतमाशितं पायितमयं च लोकः
परब्रह्म लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥
(बृ० ४।५।११)

(६) स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु
य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन्ध्येते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः
सर्वस्याधिपतिः..... एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेव मूतपाठ
एषः ॥ (बृ० ४।४।२२)

(७) स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता
तस्य लोकः स ठ लोक एष ॥
(बृ० ४।४।१३)

(८) प्राणस्य प्राणमुत अक्षय्यमुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो
ये मनो विदुः । ते निश्चिक्वुर्ब्रह्म पुराणमग्रम् ॥ (बृ० ४।४।१८)

(९) एकैवानुग्रहस्येतदग्रमेयं ध्रुवम् ।

विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः ॥

(बृ० ४।४।२०)

(१०) अस्य परम आनन्द पतस्यैवानन्दस्यान्मानि भूतानि
मात्राणुपजीवन्ति ॥ (बृ० ४।३।३२)

(११) विज्ञानमानन्दं ब्रह्म । (बृ० ३।९।२८)

(१२) अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु... अस्मिन्नात्मनि
तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो-
ऽयमेव स योऽयमात्मदेममृतमिदं ब्रह्मदस्त्वम् ॥ (बृ० २।५।१४)

(१३) स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्णं पुरिशयो नैनेन
किञ्चनानावृतं नैनेन किञ्चनासंवृतम् ॥ (बृ० २।५।१८)

(१४) एवं वा अरे इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन
एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रत्य
संक्रास्ति । (बृ० २।४।१२)

(१५) द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तौ वैवामूर्ते च ॥ (बृ० २।३।१)

(१६) स यथोर्णामिस्तन्तुनोश्चरेष्याऽग्नेः शुद्धा विस्फु-
लिता ग्गुच्छरन्त्येवमेवासादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे

देवाः सर्वाणि भूतानि ग्गुच्छरन्ति तस्योपनिषत्स्यस्य सत्यमिति ॥
(बृ० २।१।२०)

(१७) अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः ।

(बृ० २।४।१३)

आत्यैवेदमग्र आसीदेक एव ॥ (बृ० २।४।१७)

(१८) तेनात्मनेदं सर्वममुजत यदिदं किञ्चनो मजु...
सामानि छन्दांसि यज्ञान् प्रजाः पशून्... सर्वस्यैतस्यात्मा
भवति सर्वमस्यालं भवति ॥ (बृ० २।२।५)

(१९) य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको-
ऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजि-
ज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानामिति ॥ (छा० ८।७।१)

(२०) अयं वा आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषाम् ॥ (छा० ८।४।१)

(२१) एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति ॥
(छा० ८।३।४)

(२२) सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥

(छा० ६।२।१)

(२३) रसो वै सः । (तैत्ति० ७।७)

(२४) ओमिति ब्रह्म ॥ ओमितीदं सर्वम् ॥ (तै० १।८)

(२५) ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानमूतं
भवद्भविष्यदिति सर्वमोक्षारण्ययश्चान्यत्रिकाकालीतं तदप्योक्षारण्य
मर्वं ब्रह्मेतद् ब्रह्म । अयमात्मा ब्रह्म । सोऽयमात्मा जनुः ॥
(माण्डूक्य० १।२)

(२६) यदर्विमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिन्-

लोका निहिता लोकिनश्च ।

तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाह्मनः ॥

तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्ब्रह्मं सोम्य विद्धि ॥

(मु० १।२।२)

(२७) यस्मिन् क्षौः पृथिवी ज्ञान्तरिक्ष-

मेतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।

तमेवैकमात्मानं जानय । (मु० २।२।५)

(२८) यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैव महिमा मुनिः ॥

तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा

आनन्दरूपममृतं यद्विमिति ॥

(मु० २।२।७)

(२९) विरजं ब्रह्म निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिष्क-
दग्रमविबो विदुः । (मु० २।१।९)

- (३०) तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥
(मु० २।२।१० कठ० २।५।१५)
- (३१) यदा पदयः पदयते रुक्मवर्णं
कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ॥
(मु० ३।१।३)
- (३२) अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि
शुभ्रो..... ।
(मु० ३।१।५)
- (३३) बृहन् तदित्यमचिन्त्यरूपं
सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात् सुदूरे तद्विहन्तिकं च
पश्यन्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥
(मु० ३।१।५)
- (३४) मनदेन्द्रियमग्रायमगोत्रमवर्ण-
मचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विमु सर्वगतं सुसूक्ष्म
तदन्यथं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥
(मु० १।१।६)
- (३५) यथा सतः पुरुषात्.....
तथाक्षरान् सम्भवतीह विद्वन् ॥
(मु० १।१।७)
- (३६) यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमज्ञं च जायते ॥
(मु० १।१।९)
- (३७) ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म
पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चास्तरेण ।
अबक्ष्यार्थं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं निश्वसितं बरिष्ठम् ॥
(मु० २।१।११)
- (३८) तदक्षरं वेदयन् यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवा-
विवेशेति ॥ (प्रश्न० ४।११)
- (३९) एकस्तथा सर्वमूतान्तरात्मा ॥ (कठ० २।५।१०, ११)
- (४०) एकां वशी सर्वमूतान्तरात्मा
एकं रूपं बहुधा यः करोति ॥
(कठ० २।५।१२)
- (४१) नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनाना-
मको बहुनां यो विदधति कामान् ।
(कठ० २।५।१३)
- (४२) य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतमन्यस्य..... ॥ (कठ० २।४।५)
- (४३) अणोरणीयान् महतो महीया-
नात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ॥
(कठ० १।२।२०)
- (४४) अक्षरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विमुमात्मानं..... ॥
(कठ० १।२।२१)
- (४५) ओजस्य श्रोत्रं मनसा मनो यद्
बाहो ह वाक् एतत् प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः
प्रेत्यास्माकं कादमृता भवन्ति ॥
(केन० १।२)
- (४६) न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न
बिदूषो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादयो अवि-
दितादयि । (केन० १।३)
- (४७) ईशावास्यामिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ॥
(ईश० १)
- (४८) अनेजदेकं मनसा जवीयो
नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्जत ॥
(ईश० ४)
- (४९) तदेजति तजैजति तदूरे तद्वन्तिके ।
तदेन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्वतः ॥
(ईश० ५)
- (५०) स पर्यगाष्टुक्रमकायमव्रण-
मस्त्राविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूयाथातथ्य-
तोऽर्थान् ऋषदवाष्ठादवतीर्यः सामान्यः ॥
(ईश० ८)

इयंका सारांश यह है—

(१) आत्मा एक ही पूर्व था, उसने यह सब लोक-
लोकान्तर बनाये ।

(२) ब्रह्म सत्य, ज्ञान, अनन्तरूप है ।

(३) जिससे सब संसार पैदा होता है, जिसमें फिर
सब विलीन होता है और जिसके कारण संसारका
संरक्षण, पाकन-पोषण होता है वह ब्रह्म है ।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रत्यमिविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व—तद्व्रक्षन्ति—

यह दूसरी श्रुति इसी अर्थको बताती है।

(४) यह ब्रह्म ग्रहण नहीं किया जा सकता, अविनाशी है, असंग है, मन-बुद्धिसे परे है।

(५) इसी परमात्माने सब वेद, पुराण, उपनिषदादि शास्त्र, लोक-लोकान्तर बनाये हैं।

(६) यह अजन्मा विज्ञानमय है, सबका स्वामी, अभिपति और रक्षक है।

(७) यह परमात्मा समस्त संसारका रचयिता है।

(८) यह प्राणोंका प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन आदिका प्रकाशक और श्रेष्ठ पुरातन ब्रह्म है।

(९) वह ईश्वर भुव है और अप्रमेय है, निर्मल है, अजन्मा और महान् भुव है।

(१०) यह आनन्दमय है, इसीके आनन्दकी भावनासे अन्य वस्तुओंमें आनन्दका अनुभव होता है। यह महानन्द है—‘यो वै भूमा तन्मुखं मात्पे सुखमग्नि’—यहाँ आनन्दका पारावार नहीं है।

(११) विज्ञान आनन्दस्वरूप ब्रह्म है।

(१२) सब संसारका मिठास यही है, और यह अमृतमय तथा नेत्रोमय है।

(१३) यह पुरुष है, प्रत्येक पदार्थके अन्दर विद्यमान है—इससे कोई स्थान खाली नहीं है।

(१४) यह ब्रह्म महान् है, अमन्त है, पार पानेकी सीमामे परे है, इसीमे सब पैदा होता है, और इसीमें सबका लय हो जाता है।

(१५) इस ब्रह्मके दो रूप हैं एक नून, एक अमृत।

(१६) जैसे अग्निमेंमे विष्फुलिंग निकलते हैं, इसी प्रकार इस परमात्मानेमे सब प्राण, सब लोक-लोकान्तर, सब देव, सब भूत पैदा होते हैं, यह सत्य है।

(१७) यह आत्मा सब लोक-लोकान्तरके प्राणियोंका आश्रय है। और यह एक ही आत्मा सबसे पूर्व था।

(१८) उस ईश्वरने यह सब कुछ बनाया, जो कुछ वेदादि शास्त्र हैं या यज्ञ, प्रजादि हैं, उसीने बनाये हैं और सब उसीमें विलीन हो जाते हैं एवं सब उसीका भोजन बनते हैं।

(१९) वह परमात्मा भूत-प्याससे रहित, जरा-मरण-पापसे रहित, सत्यकाम, सत्यसंक्षप है।

(२०) यह ब्रह्म सब पापोंसे और संसार-सागरसे तारनेवाला है (सेतु है) और सबका धारणकर्ता है।

(२१) यह आत्मा अमृत और अभय है।

(२२) पहले सत्स्वरूप परमात्मा ही था, एक ही था, दूसरा नहीं।

(२३) यह परमात्मा ‘रस’ रूप है। सब संसारका ‘रस’ यही है।

(२४) इस परमात्माका नाम ‘ओ३म्’ है, इसीने सब कुछ पैदा किया है।

(२५) ओ३म् यह अविनाशी सदा विद्यमान है, इसीसे भूत, अविष्यत् पैदा होता है। यह कालसे परे है, सब कृति इसी ईश्वरकी है।

(२६) वह प्रकाशस्वरूप है, अणुमे अणु है, उसीमें सब लोक-लोकान्तर और प्राणी स्थित हैं, यह अप्सर है, प्राणोंका प्राण है, मत्तोंका मन है और वाणियोंकी वाणी है। यह सत्यम्बरूप है, अमर है, यही ज्ञातव्य है।

(२७) जिसमें घौ, पृथिवी और अन्तरिक्ष मन और प्राणोंके साथ पिरोये हुए हैं, उसी एक आत्माको जानो।

(२८) जो सर्वज्ञ, सर्वव्यापक है, जिसकी महिमा यह संसार है, जिसके लिये—

असितगिरिसमं स्यात् कज्जं सिन्धुपात्रे

सुरवरतरुशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।

लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं

तदपि तव गुणानामीश ! पारं न याति ॥

यदि समुद्ररूपी दावातमें असितगिरिरूपी काली स्याही डालकर, इन्द्रलोकके कण्ठवृक्षरूपी लेखनीसे पृथिवीरूपी कागजोंपर शारदा-जैसी विदुषी सदा हर समय तेरे गुणोंको लिखती रहे, उनका वर्णन करती रहे, तब भी हे परमात्मन् ! उनका अन्त नहीं हो सकता।

उम आनन्दरूप अमृतमय परमेश्वरको धीरे लोग विज्ञानद्वारा देखते हैं।

(२९) वह परमात्मा निर्मल, पवित्र, उज्ज्वल ज्योतिषोंकी ज्योति है, उसे आत्मज्ञानी लोग प्राप्त होते हैं।

(३०) उसीके प्रकाशसे सूर्य, चन्द्र, तारा, बिन्दु

प्रकाशित होते हैं, सबका प्रकाशक वह है, उसका प्रकाशक कोई नहीं है, उसीके प्रकाशकी मात्रा अन्य प्रकाशोंमें है।

(३१) वह परमात्मा तेजस्वरूप, सबका कर्ता, सबका स्वामी और सर्वव्यापक है।

(३२) वह ज्योतिर्मय निर्मल, पवित्र प्रकाश सब शरीरोंके पोछे छिपा है।

(३३) वह परमात्मा बृहत् है, दिव्य है, अचिन्त्य है, सूक्ष्ममे भी सूक्ष्म है, दूरमे दूर है और पाससे पास है, हृदय-गुहा (अपनी ही) में छिपा है। (Ultra Microscope) अत्यन्त तीक्ष्ण सुदर्शीनें उसकी सूक्ष्मताको नहीं पा सकतीं और महा भीमकाय दुरबीनें (Telescopes) उसकी दूरीको नहीं छल्ल सकतीं। इस सूक्ष्मता और महत्तामें जो कुछ घट रहा है, उसे अचिन्त्य ही कहकर मौन धारण करना पड़ता है।

(३४) उस ईश्वरका कोई मोत्र, जाति, वर्ण नहीं है, उसके आँख-कान नहीं हैं, उसके हाथ-पैर नहीं हैं, वह निश्चय है, विभु है, सर्वव्यापक है, अत्यन्त सूक्ष्म है, वह अविनाशी है, वह संसारका उत्पादक है, उसे धीर खोग देखते हैं। यहाँपर श्वेताश्वतरका यह वचन खूब संगत होता है—

अपाणिपादो जवनेऽप्रहीता
पदयत्यक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता
तमाहुरग्रयं पुरुषं महान्तम् ॥

(३ । १९)

दूसरे शब्दोंमें वही पूर्वीक अतिका अनुवादमात्र है कि —

बिना हाथ-पैरके बलपूर्वक पकड़नेवाला है, बिना आँख-कानके देखता-सुनता है, वह सबका ज्ञाता है उसका ज्ञाता कोई नहीं है, वह श्रेष्ठ, महान् पुरुष कहलाता है।

(३५) उस सत् अक्षरब्रह्ममे यह सब विश्व पैदा होता है।

(३६) जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक परमात्मा है, जिसका ज्ञानमय तप है, उस ब्रह्ममे यह नाम, रूप और अक्ष ये तीन वस्तुएँ पैदा होती हैं।

(३७) वह अमृतमय ब्रह्म सामने है, वही ब्रह्म पीजे,

वाहिने, बाबें, नीचे, ऊपर सर्वत्र फैल रहा है, वही सबसे श्रेष्ठ है।

(३८) जो उस अविनाशी ब्रह्मको जानता है, वह उसे सर्वज्ञ, सर्वव्यापक देखता है।

(३९) वह एक है और सब भूतोंका अन्तरात्मा है।

(४०) वह ईश्वर एक है। सबका नियामक है। सर्वव्यापक और सर्वान्तर्दामी है, एकमे अनेक वही बनाता है।

(४१) वह नित्य पदार्थोंसे भी नित्य है, चेतनोंका भी चेतन है, एक है, सबका बनानेवाला वही है।

(४२) वह भूत और अविष्यत्का भी स्वामी है—वह मनु है और संसारमें मिठासके देनेवाला भी वही है।

(४३) वह सूक्ष्मोंमे भी सूक्ष्म, महान्मे भी महान् इस प्राणीके अन्तरात्मामें छिपा है।

(४४) वह अशरीरी है और सब शरीरोंमें व्यापक है। वह अस्थिरोंमें स्थिर है, वह महान् है और विभु है।

(४५) वह श्रोत्रोंका श्रोत्र, मनका मन, वाणियोंकी वाणी, प्राणोंका प्राण, चक्षुओंका चक्षु है। ऐसे सबके आदिभूत परमात्माको धीर लोग मरनेके बाद प्राप्त करके अमर हो जाते हैं।

(४६) उस परमात्माके स्वरूपको न आँखोंमे देख सकते हैं, न वाणीसे कह सकते हैं, न मनमे कल्पना कर सकते हैं, न वह समझमें आता है कि उस ज्ञात और अज्ञात दोनोंसे परे ईश्वर-तत्त्वका कैसे उपदेश करे ?

(४७) इस संसारमें जो भी कुछ है, सब वही है और जो कुछ परिवर्तन हो रहे हैं, जो यह संसार प्रतिक्षण परिवर्तित हो रहा है, वह सब परमात्माकी शक्तिमे ही। वह इसका स्वामी और अधिष्ठाता है।

यहाँपर भगवद्गीताका यह वचन कितना संगत होता है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

जैसे मशीनके पुरजे हों, ऐसे, अपनी माया-शक्तिमे क्रमबद्धगतिसे ईश्वर सब प्राणिमात्रको उनके हृदय-देशमें स्थित होता हुआ चला रहा है।

(४८) वह ईश्वर एक है, वह स्वयं न हिलता हुआ

संसारमात्रको, मनकी गति-तुल्य गतिसे चका रहा है। हमे इन्द्रियाँ प्राप्त नहीं कर सकतीं, यह स्वयं पूर्वप्राप्त है।

(५९) वह स्वयं गति नहीं करता पर सबको गति-में लाता है। वह दूरसे दूर और पाससे पास है। वह सर्वव्यापक होनेसे सबमें व्याप्त होता हुआ, सबसे परे भी है।

(५०) वह शुद्धस्वरूप, शरीररहित, नाबी आदि बन्धनोंसे रहित, तेजोमय, पापरहित है। वह सर्वज्ञ, सर्व-व्यापक स्वयम्भू है और सब संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और लय यथायोग्य अनादिकालसे करता आ रहा है।

इन्से परमात्माके बहुत-से गुणोंका बोध हो जायगा। इनकी व्याख्याकर लेखकी बदानेसे लाभ नहीं है। *



सांख्यमें ईश्वरवाद

(लक्षक—डा० भीमतीन्द्रकुमार भज्जदार पृ० ५०, पी-५८० डी०, बार-५८ ला।)



सांख्य-दर्शन ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करता है? इस प्रश्नकी संक्षिप्त भीमांसा करना ही इस निबन्धका उद्देश्य है। साधारणतः सबकी यह धारणा है कि सांख्य निरीश्वरवादी है, वह ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें कोई प्रमाण नहीं देता। इतना ही नहीं, यह ईश्वरके अस्तित्वको ही सर्वथा स्वीकार करता है। इस धारणाका प्रत्यक्ष सम्बन्ध सांख्यके कुछ सूत्रोंपर ही अवलम्बित है; उन सूत्रोंके मर्ममें प्रवेश न कर, केवल बाह्य दृष्टिसे देखनेपर यही प्रतीत होता है मानो वास्तविक ही सांख्य ईश्वरके अस्तित्वको सर्वथा स्वीकार नहीं करता और जब हम यह देखते हैं कि सम्पूर्ण सांख्य-दर्शनमें किसी भी विषयको ईश्वरसे सम्बन्धित कर समझानेकी चेष्टा नहीं की गयी, तो हमारी यह धारणा और भी दृढ़ हो जाती है। परन्तु हम यहाँ यह दिखलानेकी चेष्टा करेंगे कि सांख्यके सम्बन्धमें निरीश्वरताकी धारणा सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। सांख्य-सूत्रोंकी असंयुक्त व्याख्याके कारण ही ऐसा हुआ है। नहीं तो सांख्य-दर्शन वेदान्त-दर्शनके सदृश ही सेश्वर है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

जिन सूत्रोंके सहारे सांख्यमें निरीश्वरभावकी अभिव्यक्ति होती वे सांख्य-प्रवचन-सूत्र प्रथम अध्यायके ९९

से ९९ और पाँचवें अध्यायके २ से १२ सूत्र हैं। परन्तु इन दोनों अध्यायोंके सूत्रोंकी भलीभाँति व्याख्या करनेमें ज्ञात होता है कि इनका मुख्य उद्देश्य ईश्वरके अस्तित्वको अप्रमाणित करना तो ही नहीं, प्रयुक्त ईश्वरके अस्तित्वमें कोई प्रमाण नहीं है, यह दिखलाना भी नहीं है। प्रथम अध्यायके सूत्रोंमें जिस युक्तिकी कल्पना की गयी है, उसका उद्देश्य केवल यही बतलाना है कि इन्द्रिय-प्रत्यक्ष ईश्वरका अस्तित्व नहीं दिखलाया जा सकता और हमलोग भी इन्द्रियोंके द्वारा उसको नहीं जान सकते। पूर्वोक्त ९६ और ६६ सूत्रोंमें तो स्पष्ट शब्दोंमें ही ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार किया है। पाँचवें अध्यायके सूत्रोंका उद्देश्य बिल्कुल ही भिन्न है। उनका उद्देश्य तो यह है कि प्रत्यक्ष सम्बन्धसे जगत्का वास्तविक कारण प्रकृति ही है, ईश्वर नहीं है; ईश्वर केवल परोक्षभावसे प्रकृतिके साथ संयुक्त हैं, और श्रुति भी यही कहती है कि साक्षात् सम्बन्धसे प्रकृति ही जगत्का कारण है, अतः ईश्वरके बिना प्रत्यक्ष सम्बन्धसे जगत्का कारण होनेमें कोई भी शास्त्रीय अथवा आगम-प्रमाण नहीं है। अवश्य ही ईश्वरको गौण कारण कहा जा सकता है, क्योंकि प्रकृतिने ईश्वर-साक्षिप्यके कारण ही सृष्टि करनेकी शक्ति प्राप्त की है; परन्तु ईश्वर स्वरूपतः निर्यमुक्त और असंग हैं। सांख्य-दर्शनके पूर्वोक्त सूत्रोंमें यही बात सिद्ध की गयी है। अतएव यह बड़े आश्चर्यकी और हमलोगोंके ज्ञानसे परेकी बात है कि अनिरुद्ध भट्ट, विज्ञानमिश्र,

* इस लक्षमें आगे ईश्वर-भौतिकीके उपनिषदात्मक सुन्दर साधनोंका वर्णन था परन्तु स्थानाभावसे उक्त अंश नहीं छापा गया, लेखक महादय क्षमा करें। —सम्पादक

† तत्सन्निधानादिषाठतृत्वं मणिवत् । अन्तःकरणस्य तद्वृत्त्यलितत्वाद्बहुवचिष्ठातृत्वं ॥

(सांख्य १।९६, ९९)

और महादेवके समान विश्व व्याख्याकारोंने पूर्वोक्त सूत्रोंसे एक ऐसे भिन्न सिद्धान्तका प्रतिपादन किया जो केवल आध्यात्मोपादक ही नहीं, प्रत्युत सांख्य-सम्बन्धी अन्याय्य अधिक विश्वसनीय व्याख्याओंसे भी भेद नहीं खाता। अधिक क्या, यह व्याख्या विज्ञानभिक्षुके निम्नलिखित अपने ही वाक्योंसे असंख्य है। वे वाक्य यों हैं—‘कपिल-मूर्तिधारी भगवान्ने इस विवेक-शास्त्रद्वारा आत्मानात्म-विवेकके सम्बन्धमें, अतिके अविरोधी इस छः अध्यायवाले ग्रन्थका उपदेश दिया था।’ फिर आगे लिखा है कि ‘अबके अशेष दुःखोंको दूर करनेके अभिप्रायसे एवं बेहोषवृष्टि सत्यको जिसमें सब लोग प्राप्त कर सकें, इसी उद्देश्यसे सम्पूर्ण शास्त्रोंका उपदेश करनेके लिये नारायणदेव कपिल-मूर्ति धारण कर सांख्य-प्रणेतारके रूपमें पृथ्वीपर अवतीर्ण हुए, उनको मैं नमस्कार करता हूँ।’ (सांख्य-दर्शनकी विज्ञानभिक्षुकृत आध्यात्मिक भूमिकामें देखिये) इस भूमिका-से ऐसे और भी अनेकों वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं, परन्तु हमारे लिये इतने ही पर्याप्त हैं। इन उद्धृत वाक्यों-में हमें एक बातपर लक्ष्य करना चाहिये। वह यह कि स्वयं भगवान्ने ही यदि कपिल-मूर्ति धारणकर सांख्य-दर्शनका उपदेश किया था तो वे वेदविरुद्ध मतका प्रचार कैसे करते? क्योंकि वेदमें ईश्वरका अस्तित्व अनेकों जगह स्पष्ट स्वीकृत है। यह स्मरण रखना चाहिये कि ‘तत्त्व-समास’ ‘पञ्चशास्त्रसूत्रम्’ और ‘सांख्य-कारिका’ में ऐसा कोई भी वाक्य नहीं है, जिसमें ईश्वरका अस्तित्व अस्वीकार होता हो, या ईश्वरके अस्तित्वमें कोई प्रमाण नहीं है ऐसा कहा गया हो; वरं देखनेसे सहज ही पता लगता है कि केवल उपर्युक्त वाक्योंमें ही नहीं, पर सांख्य-प्रवचन-सूत्रमें भी ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें स्पष्ट प्रमाण है। वे इसीके तीसरे अध्यायके २६ और २७ वें सूत्र हैं। ॥

यद्यपि व्याख्याकारोंने इन दोनों सूत्रोंकी व्याख्या भी दूसरी तरहसे की है, परन्तु हमारे मतमें इनका यथार्थ तात्पर्य यही है कि प्रकृति जिस आत्माके अधीन होकर और जिसके प्रभावसे प्रभावान्वित होकर पुनः आविर्भूत होती है एवं सृष्टि करती है वह आत्मा सर्वज्ञ और सर्वकर्ता ईश्वरके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि अतिवाक्यानुयायी सांख्यमें ईश्वरको

निष्क्रिय कहा है, अतः वे सर्वकर्ता किसप्रकार हो सकते हैं? इसका साधारण उत्तर यह है कि जिसप्रकार राजाको युद्ध करनेबाधा कहा जाता है परन्तु वास्तवमें राजा युद्ध नहीं करता, उसके सैनिक ही उसकी आज्ञाके अधीन हो उसीकी परिचालनासे युद्ध करते हैं, उसी प्रकार प्रकृति ईश्वरके प्रभाव और परिचालनमें ही कार्य करती है, अतः ईश्वरको अन्ततः परोक्षभावसे सब कार्योंका और सम्पूर्ण कर्तृत्वका मूल निर्धार कहा जा सकता है। ॥ यह बात पीछे प्रमाणित की जायगी कि वास्तवमें ईश्वर ही प्रकृत कर्ता है, प्रकृति तो उसके हाथका यन्त्रमात्र है।

सांख्य-दर्शन-सम्बन्धी सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ ‘सांख्य-कारिका’ में ही ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें स्पष्ट प्रमाण मिलता है। दशवें और ग्यारहवें श्लोकोंमें † स्पष्ट कहा गया है कि जिसप्रकार जगत्में केवल एक परमा प्रकृति है, उसी प्रकार केवल एक परम पुरुष भी है।

हम यदि सांख्य-सूत्रका प्रमाण स्वीकार करें, तो उसमें भी उपर्युक्त विषयपर प्रथम अध्यायके १५० से १२४ के सूत्रोंमें‡ इसी सिद्धान्तको निर्धारित किया है।

पातञ्जल-योगसूत्रको देखिये। सभी विद्वान् योगसूत्र-को सांख्यदर्शनका एक अति आवश्यक परिशिष्ट मानते हैं और इसको सांख्यदर्शन ही कहते हैं। महाभारत-शान्तिपर्वमें ३०५ से ३०७ अध्यायतक वशिष्ठ ऋषिने और ३१६ अध्यायमें याज्ञवल्क्य ऋषिने यही बात कही है। अतएव यह कहना व्यर्थ है कि सांख्यदर्शनको भलीभाँति

* मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सृष्टे सचराचरम्।

गीतामें भगवान् कहते हैं कि मेरी अध्यक्षतामें प्रकृति चराचर जगत्को रचती है।

† हेतुमदनित्यमव्यापि मक्तिवमनेकमाश्रित किङ्कम्।

सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ॥

त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतन प्रमथमभि ॥

व्यक्त तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्।

(सांख्यकारिका १०।११)

‡ उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्यैव वदामिभिः।

उपाधिभिष्यते न तु तद्वान् ॥

एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विश्वप्रमाणाध्यासः।

अन्यथैवेऽपि नारोपात् तस्मिन्निरेकरवात् ॥

नादौतद्वृत्तिविरोधो आतिपरत्वात् ॥

* स हि सर्ववित् सर्वकर्ता । ईश्वरोऽवसरसिद्धिः सिद्धा ।

(सांख्य० १।५६।५७)

(सांख्य० १।१५०—१५४)

समझनेके लिये योगदर्शनका पूरा ज्ञान विशेष आवश्यक है और योगसूत्रका व्यास-भाष्य केवल योगसूत्र समझनेके लिये ही अत्यन्त आवश्यक नहीं है, परन्तु समग्र सांख्य-दर्शन समझनेके लिये भी उसकी अत्यन्त आवश्यकता है; कुछ महानुभावोंका कहना है कि व्यास-भाष्य योगसूत्रकी सर्वोत्कृष्ट व्याख्या है। साधारणतः पातञ्जल-दर्शनको सेश्वर-सांख्य और कापिल-सांख्य को निरीश्वर-सांख्य कहा जाता है, परन्तु ऐसा विभाग क्यों किया गया, यह समझना कठिन है। क्योंकि यह तो पहले निश्चय किया जा चुका है कि कापिल-सांख्य निरीश्वर नहीं है। महा-भारतमें भी सिद्ध होता है कि सांख्य और योगदर्शनमें कोई पार्थक्य नहीं है, दोनों एक ही उपदेश देते हैं। सम्भवतः इस भेद-बुद्धिका कारण सांख्य-प्रवचनके कुछ सूत्रोंकी भ्रान्त व्याख्या ही है। (जिसके विषयमें पहले विचार किया जा चुका है।) अथवा कापिल-सांख्यमें जीवकी मुक्तिके लिये ईश्वरको आवश्यक नहीं समझा गया है क्योंकि इसमें जीवका प्रधान उद्देश्य मोक्ष-साधन है। परन्तु योगदर्शनमें जीवकी मुक्तिके लिये ईश्वरकी आवश्यकता स्पष्ट स्वीकार की गयी है अतः निरीश्वर-सांख्यमें जीवकी मुक्तिके लिये ईश्वरको स्वीकार न करना और सेश्वर-सांख्यमें ईश्वरकी आवश्यकता स्वीकार करना, यही समझना पड़ेगा। पातञ्जल-दर्शनमें अनेकों स्थलोंपर इसप्रकार आवश्यकतासे अधिक जोर दिया गया है। (समाधिपाद २३ से २६ के सूत्र देखिये) ईश्वरके सम्बन्धमें कई अन्य सूत्रोंमें भी वर्णन आया है (समाधिपाद सूत्र १, ३२, विभूतिपाद सू० ६)। इन सूत्रोंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीवकी मुक्तिके लिये पातञ्जल-दर्शनमें ईश्वरका अस्तित्व और उसकी आवश्यकता स्वीकार की गयी है और यह भी स्पष्ट है कि इसमें परम-पुरुष और जीव-पुरुष ये दो प्रकारके पुरुष स्वीकार किये गये हैं। यहाँ इस बातपर लक्ष्य रखना चाहिये कि पातञ्जल-दर्शनमें कहाँ यह नहीं कहा गया है कि मनुष्यकी मुक्तिके लिये ईश्वरकी एकान्त ही आवश्यकता है। केवल भक्ति-विशेषके द्वारा ईश्वरकी उपासना करनेसे उनकी मुक्ति निकटतम होती है। मुक्ति-प्राप्तिके और भी बहुत-से उपाय हैं जिनमें ईश्वरकी उपासना प्रधान है (इस विषयमें विशेषकर समाधिपादके २१ और २२ के सूत्र देखिये)। अतएव वस्तुतः इस विषयमें सांख्य और पातञ्जलदर्शनमें कोई विशेष पार्थक्य नहीं है।

महाभारत-शान्तिपर्वके ३०१ से ३१८ अध्यायतक सांख्य-दर्शनपर एक सुन्दर विवरण मिलता है। ३०१ अध्यायमें सांख्य-दर्शनकी बहुत प्रशंसा की गयी है और सांख्य-ज्ञानका भी अति विस्तृत वर्णन है। यहाँतक कि सांख्य-ज्ञानको स्वयं ब्रह्म ही बतलाया गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि सांख्यमें ईश्वरके अस्तित्वको अस्वीकृत करना तो दूर रहा, इसमें वर्णित ज्ञानको स्वयं ईश्वरसे एकीभूत किया गया है और उसे ईश्वरका मूर्त-स्वरूप ही बतलाया है। यहाँतक लिखा है कि वेदोंमें जो ईश्वर-ज्ञानकी बातें हैं वे भी सांख्यसे ही ली गयी हैं। शान्तिपर्वके ३०२ अध्यायके ३८ से ४२ श्लोकोंमें वशिष्ठ-मुनिके कथनसे ऊपर-का मत और भी समर्थित हो जाता है। इसी पर्वके ३०५ अध्यायके ३०, ३७, ३८, ३९ श्लोकोंमें भी वशिष्ठजीने ईश्वरके अस्तित्वको अधिकतर स्पष्टभावसे स्वीकार किया है। (इस सम्बन्धमें ३०७ अध्यायके २६-२७ श्लोक भी देखिये)। जनक और याज्ञवल्क्यके कथोपकथनमें भी सांख्यके सम्बन्धमें हम इस एक ही सिद्धान्तको पाते हैं (अ० ३१४ श्लो० २ और अ० ३१० श्लो० ५५, ५७ देखिये)।

ऊपरके विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सांख्य ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करता है। परन्तु कुछ श्लोक ऐसे हैं जो इस अनुमानके विरोधी-में प्रतीत होते हैं—अ० ३०७ के ४५ और ४६ वें श्लोकोंमें कहा गया है कि सांख्य जीवके सिवा अन्य किसी तत्त्वके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करता, केवल योगदर्शन ही यह स्पष्ट स्वीकार करता है, पर ऊपरके विवेचनमें हम दिखा चुके हैं कि अन्यान्य अनेक सूत्रोंमें ही पचीस तत्त्वके अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व-को अर्थात् ब्रह्म या ईश्वरके अस्तित्वको सांख्यने स्पष्ट स्वीकार किया है। अब इन दोनों विरोधी वाक्योंकी संगति कैसे बैठायी जाय? इसका सामञ्जस्य अनेक प्रकारसे किया जा सकता है। प्रथम तो इन श्लोकोंमें पाठ-भेद ही हो सकता है। दूसरे इनका प्रक्षिप्त होना भी सम्भव है, तीसरे पूर्व-कथित श्लोकोंसे इनका सम्पूर्ण असामञ्जस्य भी नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त श्लोकोंका यह अर्थ हो सकता है कि पचीस तत्त्व हैं अर्थात् पुरुष ही परम तत्त्व हैं और जो इनके ऊपर है वह निम्नतत्त्व है, उसीका दूसरा नाम ईश्वर या ब्रह्म है। अतएव यदि सांख्य पचीस तत्त्वके अतिरिक्त अन्य एक तत्त्वको न भी स्वीकार करे तो भी किसी प्रकारकी असंगति नहीं होती। सांख्यके पूर्व-सूत्रोंमें यह स्पष्ट लिखा

है कि सम्पूर्ण तत्त्व, (यहाँ तक जीव भी) परम पुरुषका ही सर्ग है अतः यदि सांख्य परम पुरुषको किसी भी तत्त्वरूपमें न स्वीकार करे तो इसमें कोई दोषकी बात नहीं है । फिर पूर्व-सूत्रोंमें यह भी स्पष्ट कहा है कि जीव (जो पचीस तत्त्व है) त्रिगुणी या त्रिगुणान्वित ईश्वरके सिवा अन्य कुछ भी नहीं है, इस उपाधिके त्याग करनेपर जीवकी ईश्वरके साथ एकता हो सकती है । यों कहकर यदि सांख्य ईश्वरको एक अतिरिक्त तत्त्व न माने तो इससे कोई विशेष हानि नहीं होती, असामञ्जस्यकी तो कोई बात ही नहीं । पर यह स्मरण रखना चाहिये कि पूर्वोक्त सूत्रोंमें बार-बार दृढ़ताके साथ यह कहा गया है कि सांख्य और योग एक हैं अर्थात् दोनोंका एक ही विषय है, योग-दर्शनमें ईश्वरके सम्बन्धमें स्पष्ट कहा गया है, इसमें यह ज्ञात होता है कि यद्यपि सांख्य सांख्यान सम्बन्धमें ईश्वरके विषयमें कुछ नहीं कहता (यद्यपि यह सत्य नहीं है) तो भी अन्ततः वह परोक्षभावमें ईश्वरको स्वीकार करता है । अस्वीकार करनेकी तो कोई शंका ही नहीं है, इससे पूर्वोक्त विषयकी भीमांसा हो जाती है ।

श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायमें जीवके स्वभाव या प्रकृति, जीव एवं ईश्वरके सम्बन्धमें सांख्यके मतका भली-भाँति वर्णन किया गया है । (श्लोक २४, २५, ३० और ७२; अ० १३ श्लो० २२, २७ और अ० १४ श्लो० ३, ४ देखिये) भगवद्गीताके मतमें भी सांख्य ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करता है और जीव ईश्वरका ही बहुधा प्रकाशमात्र है । दूसरे शब्दोंमें जीव त्रिगुणी या त्रिगुणान्वित ईश्वर है ।

श्रीमद्भगवत्के कपिल और देवहूति-संवादमें जो सांख्यका वर्णन है, उसमें भी हम ईश्वर-अस्तित्व-सम्बन्धमें यही बात पाते हैं (स्क० ३ अ० २५ श्लो० १५, १७ अ० २६ श्लो० ३ ७ देखिये)

उपनिषद् भी इसका समर्थन करते हैं । उपनिषद्का दर्शन-तत्त्व सांख्यमें ही गृहीत है । वहाँ यही कहा गया है कि सांख्य निरीश्वरवाद या श्रद्धेयवादका उपदेश नहीं करता, परन्तु ईश्वरके अस्तित्वका ही प्रत्यक्षरूपमें प्रतिपादन करता है ।

—❁❁❁❁❁—

नृसिंहरूप

दैत्य हिरण्यकश्यपने अपने आतङ्कको,
धर्माऽवलम्बियोंपर देशमें जमाया था ।
सत्यका असत्यने, नीतिको अनीतिने जब,
धर्मको अधर्मने अकारण सताया था ॥
'कुसुमाकर' कामी कुचाली मौज करते थे,
दम्भ दुराचारसे समाज घबराया था ।
जब विपरीत सब रीति हो गई थी नाथ ।
तब तू नृसिंहरूप ले करके आया था ॥१॥
अत्याचारियोंका निज बाहु-बल-बीरतासे,
दीन-जन-रक्षा-हित नकशा बिगाड़ा था ।
सुनीतिकी ध्वजाको फहराया था चारों ओर,
धर्म-अवरोधियोंके झण्डेको उखाड़ा था ॥
दुष्ट दम्भियोंका पशु-बल चूर करनेको,
'कुसुमाकर' आकर प्रभु तू दहाड़ा था ।
हिरनाकुश दैत्यसे बलिष्ठ स्वेच्छाचारीको,
धरके नृसिंहरूप पलमें पछाड़ा था ॥२॥
देवीप्रसाद गुप्त (कुसुमाकर) बी० ए०, एल.एल. बी०

योगदर्शनमें ईश्वर

(लेखक—पं० बालकृष्णजी राजपेयी)



हमारे संस्कृत-साहित्यमें छः दर्शन छः ऋषियोंके बनाये हुए हैं। उनमें योग-दर्शन महर्षि पतञ्जलिका है। प्रायः सभी ऋषियोंने तीन तत्त्व मुख्य माने हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति। अवश्य ही, सबने सबका मुख्यरूपसे प्रतिपादन नहीं किया है। अपने-अपने प्रतिपाद्य विषयपर ही विशेष जोर दिया है, परन्तु सबको एक साथ मिलाकर पढ़नेसे तत्त्व एक ही निकलता है।

अद्वैत-वेदान्त जीव और प्रकृतिको गौण मानकर, जो कुछ इन्द्रिय और अदृश्य है, सबको ईश्वर ही मानता है। सांख्य-शास्त्रके प्रयेता कपिलमुनि ईश्वरको न मानकर जीव और प्रकृति दोको ही अपना प्रतिपाद्य विषय बनाते हैं; और भगवान् पतञ्जलि तीनोंका प्रतिपादन करके जीव और ईश्वर दोनोंको मुख्यता प्रदान करते हैं; और फिर उनमें भी ईश्वरको ही मुख्य मानते हैं।

पतञ्जलि ऋषिने मनुष्यको पूर्ण बनानेके लिये तीन शास्त्रोंकी रचना की है—(१) योगदर्शन, (२) व्याकरण-महाभाष्य और (३) राजसूत्रांश इत्यादि आधुनिकके ग्रन्थ। मन, वचन और शरीर तीनोंकी जब शुद्धि हो, तभी मनुष्य पूर्णताको प्राप्त कर सकता है, अतएव भगवान् पतञ्जलिने मनको शुद्ध करनेके लिये योग, वचन यानी वाक्यको शुद्ध करनेके लिये पाणिनि-महाभाष्य और काय-शुद्धिके लिये वैद्यकके ग्रन्थ रचे। यों तो देखनेमें ये तीनों बातें अलग-अलग दिखायी देती हैं, पर तीनोंका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अस्तु।

‘योग’ शब्दका अर्थ जोड़ना है। इस शब्दका उच्चारण करते ही द्वैतकी भावना आती है—अर्थात् जहाँ दो, अथवा दोसे अधिक चीजें होंगी, वही वे आपसमें जोड़ी जायँगी। अतएव पतञ्जलि-ऋषि द्वैतको मानकर चलते हैं—यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं। ‘जीवात्माका परमात्मासे संयोग’—यही योगका अर्थ है। याज्ञवल्क्य-ऋषिने कहा है—

‘संयोगो योग इत्युक्ते जीवात्मपरमात्मनोः।’

अर्थात् जीवात्मा और परमात्माके संयोगको ही योग कहना चाहिये—यही मनुष्यका परम और चरम सोमाका पुरुषार्थ है। महायोगेश्वर श्रीकृष्णचन्द्रजीने अपनी गीतामें कई स्थानोंपर—विशेषकर छठे अध्यायमें ‘योग’ शब्दकी पूरी-पूरी व्याख्या कर दी है। केवल व्याख्या ही नहीं, बल्कि योग-साधन, योगीके लक्षण इत्यादि भी विस्तारपूर्वक बतलाये हैं। भगवान्ने बतलाया है कि इस आत्माके साथ दुःखका जो भयंकर संयोग—मायाका आवरण कहिये—लगा हुआ है, उससे आत्माका वियोग होना—यही योग है। दूसरे अध्यायमें ‘समत्वं’ को योग बतलाया है और कहा है कि संगको त्यागकर—फलाशको छोड़कर कर्म करो, सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखो। यही योग है। एक जगह कहा है कि कर्मको कुशलतापूर्वक करना ही योग है। सबका मतलब एक ही है। अस्तु! भगवान् पतञ्जलि योगलक्षण इसप्रकार बतलाते हैं—

‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।’

अर्थात् चित्तवृत्तियोंका निरोध ही योग है। इसमें चित्तकी समावस्था, अर्थात् ‘समाधि’-अवस्था प्राप्त होती है, जिसको भगवान् श्रीकृष्णने ‘समत्वं’ योग कहा है।

महर्षि पतञ्जलिने सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात ये दो भेद योग या समाधिके किये हैं; इसी प्रकार चित्तका स्वभाव तीन प्रकारका माना है—प्रकृता, प्रवृत्ति और स्थिति, देखे अथवा सुने हुए पदार्थोंका मनमें विचार करते रहना ‘प्रकृता’ है, फिर उन विषयोंमें सम्बन्ध करना ‘प्रवृत्ति’ है; और फिर उन विषयोंमें स्थित होना मनकी ‘स्थिति’ है। उपनिषदोंमें भी यही कहा है—

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति, यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते।

अर्थात् मन जिस विषयका ध्यान करता रहता है, वही वाणीसे निकलता है और जो वाणीसे निकलता है, वही जीव कर्मसे करता है और जैसा कुछ करता है वैसा ही परिणाम निकलता है।

यह चित्तकी वृत्तियोंका ही फल है। सर्व, रज, तम गुणोंके अनुसार चित्तवृत्तियोंकी अनन्त शाखाएँ फूटती हैं।

जब चित्तकी वृत्ति सत्त्वगुणसे अधिक संयुक्त होती है तब मन केवल ईश्वरका चिन्तन करता है, जब तमोगुणसे युक्त होती है तब अधर्म, अज्ञान और विषयासक्तिका चिन्तन करता है; और जब शुद्ध रजोगुण चित्तमें अधिक हो जाता है तब मन धर्म और वैराग्यका चिन्तन करता है। इस पिछली अवस्थाको योगी लोग 'परं प्रसंस्थान' कहते हैं। इस अवस्थामें चित्त करीब-करीब सत्त्वगुणके पास पहुँच जाता है।

जो ज्ञानशक्ति परिणामसे रहित और शुद्ध होती है, वही सत्त्वगुण-प्रधान है—उस वृत्तिमें तम और रजका अभाव हो जाता है। चित्तवृत्ति एकाग्र होकर एक सत्त्वगुणके आश्रयमें रहती है। बाह्य विषयोंकी ओर ध्यान जाता है; पर चित्त उनमें रमता नहीं। यह सम्प्रज्ञात-योग है। परन्तु जब सत्त्वगुणके संस्कार भी नहीं रहते—केवलमात्र एक आत्मरक्तिकी ही अवस्था प्राप्त होती है—जीव आत्मचिन्तनमें ही मग्न रहता है, उस दशाको निर्विकल्प-समाधि या असम्प्रज्ञात-योग कहते हैं। असम्प्रज्ञातका अर्थ ही यह है कि जहाँ एकमात्र ध्येय (ध्यान करने योग्य यानी ईश्वर) के अतिरिक्त और किसी विषयका ज्ञान अथवा भान न हो।

अस, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र और निरुद्ध, ये पाँच अवस्थाएँ चित्तको बतलायी गयी हैं।

अस-अवस्थामें चित्त ऐसा चञ्चल रहता है कि जैसे हवामें दीपककी ज्योति लपलपाया करती है—स्थिर नहीं रहती। तमाम हृदय-उदरके मनोरथोंमें चित्त डाँवाँडोल रहता है। यह रजोगुणकी अवस्था है।

विक्षिप्त-अवस्थामें भी रजोगुणकी ही प्रधानता रहती है; परन्तु बीच-बीचमें थोड़ा-सा सत्त्वगुण भी हाँकता रहता है, जैसे म्यायाधीशके सामने जब मुकदमा होता है, तब बार-बार वह यही सोचता है कि इस अपराधीको दण्ड ही देना चाहिये; परन्तु बीच-बीचमें कभी-कभी कुछ दयाका भाव भी उसके चित्तमें आ जाता है। यह विक्षिप्त-अवस्था है।

तीसरी मूढ़-अवस्था, इसमें तमोगुणकी पूर्ण प्रधानता रहती है। काम-क्रोधादिके वश होकर जब चित्तका कर्तव्य-ज्ञान बिल्कुल नष्ट हो जाता है, तब उसे मूढ़ावस्था कहते हैं।

अब चौथी एकाग्र-अवस्थामें रजोगुण और तमोगुणका

बिल्कुल लय हो जाता है; और सत्त्वगुणका प्रभाव बढ़ता है। उदाहरणार्थ—इन पंक्तियोंके लेखकका चित्त एक बार अपने लेखन-कार्यमें इतना एकाग्र था कि दरवाजेमें एक बड़े धूस-धामकी सवारी बाजे-गाजेके साथ निकली, परन्तु कुछ मालूम ही न हुआ; और जब भान हुआ तब जलूस निकल गया था। अन्य लोग जो वहाँ थे, जलूस देख चुके थे। चित्तकी यह एकाग्र-अवस्था—यह भूमिका-अवस्थामें जब एक प्रकारकी आदत-सी बन जाय—मनोधर्म ही जब इसप्रकारका बन जाय—तब उस भूमिकाको एकाग्र-अवस्था कहेंगे।

अब पाँचवीं निरुद्ध-अवस्था लीजिये। इस अवस्थामें चित्त अन्य सब विषयोंमें निरावलम्ब होकर केवल ईश्वर-में तल्लीन हो जाता है। इसमें सत्त्वगुण भी नहीं रहता। सम्प्रज्ञात-समाधिमें ध्येयका ध्यान और ज्ञान, किसी-न-किसी रूपमें रहता है; परन्तु जब चित्तकी निरुद्धावस्था होती है तब ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी नष्ट होकर चित्तका लय अपने कारणमें हो जाता है। यही असम्प्रज्ञात-समाधि है। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'—यही चित्तकी निरुद्धावस्था-योग है।

अब चित्तकी वृत्तियोंका विचार करना चाहिये। भगवान् पतञ्जलिनै चित्तकी उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं—अर्थात् भूमिकाओंकी तरह पाँच ही चित्तकी वृत्तियाँ भी मानी हैं। ये वृत्तियाँ सुख-दुःख-कारक हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोहादिके संसर्गमें चित्तवृत्तियोंके दुःखाकार होनेपर आत्मा भी उनके संस्कारसे दुःखका अनुभव करता है। इसी प्रकार धर्म, विवेक, ज्ञान, वैराग्य, परोपकार इत्यादिकी वृत्तियोंमें आत्मा सुखी होता है। वास्तवमें तो आत्मा सुख-दुःखसे अलग है; परन्तु चित्तवृत्तियोंका आरोप उसपर होता है। जैसे युद्धमें सिपाही जीतता और हारता है; परन्तु जीत और हारका आरोप राजापर होता है। स्फटिक-मणि स्वयं शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल, स्वयंप्रकाश है, परन्तु भिन्न-भिन्न रंगोंके आभासमें आकर वह भी भिन्न-भिन्न रंगोंकी दिखायी देती है। इसी प्रकार आत्माकी भी समझना चाहिये। अब यह देखना है कि उक्त पाँच क्लिष्ट और अक्लिष्ट चित्तवृत्तियाँ कौन-सी हैं—

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पाँच चित्तवृत्तियाँ हैं। यों तो चित्तवृत्तियाँ देखनेमें अचानक हैं—

उनका कुछ ठिकाना नहीं है; परन्तु पतञ्जलि-मुनिने इन्हीं पाँचोंके अन्दर सबको ग्रहण कर लिया है।

प्रथम प्रमाणवृत्तिके तीन भेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। प्रत्यक्ष वह है, जिसको हम स्वयं देख-सुनकर निश्चय कर लेते हैं। अनुमान—जब किसी एक वस्तुको देखकर उसीके सदृश अथवा उससे विरुद्ध वस्तुओंपरसे उसको मिलाकर अथवा भिन्न करके उसका ठीक-ठीक अनुमान करते हैं। जैसे, जहाँपर धुँवाँ होगा, हम अनुमान कर लेंगे कि वहाँ आग अवश्य है, अथवा जैसे नक्षत्र और चन्द्रमा अपने स्थानपर एक ही सराश नहीं रहते, हम इससे अनुमान करते हैं कि उनमें गति अवश्य है। अब तीसरा प्रमाण 'आगम' है। आगम आस पुरुषोंके वाक्योंको कहते हैं। जैसे कोई विद्वान्, सत्यवक्ता—जिसपर हमारी पूर्ण श्रद्धा है और जिसके विषयमें हम यह समझते हैं कि हमने स्वयं अनुभव किया है, उसकी बातको हम बिना अनुमान और प्रत्यक्षके ही 'प्रमाण' मान-लेते हैं। बस, प्रमाणवृत्तिके यही मुख्य तीन भेद यांग दर्शनमें बतलाये गये हैं।

अब चित्तकी दूसरी वृत्ति 'विपर्यय' को लीजिये—विपर्यय विपरीत या मिथ्या ज्ञानको कहते हैं। है कुछ और ही, और हमको भास कुछ और ही होता है। रातको अँधेरेमें रस्सी, वृक्षकी जड़ अथवा अन्य किसी काली लम्बी चीज़को देखकर हम सर्पका भान करते हैं। दूरमें खम्भेको देखकर उसको हम आदमी समझते हैं। सांसारिक सुख सब इसी प्रकारके हैं, जिनको हम सुख समझते रहते हैं, पर हैं वान्धवमें वे दुःखरूप—उनका परिणाम दुःख है। यह चित्तकी दूसरी वृत्ति विपर्यय है।

अब तीसरी वृत्ति विकल्पको लीजिये—यह वृत्ति भी मनको बहुत बाधित करती है। इसका आधार केवल शब्दज्ञान है। वान्धवमें है कुछ नहीं; पर शब्दमात्रमें हम जलला रहे हैं कि यह चीज़ है। जैसे वन्ध्याका पुत्र। वन्ध्याका पुत्र होता ही नहीं; और यदि पुत्र है, तो वह वन्ध्या कैसी? इसीको विकल्प कहते हैं।

चौथी निद्रा-वृत्ति है। यह वृत्ति अभावज्ञानपर अवलम्बित है। ऊपर-ऊपरसे तो हम समझते हैं कि निद्रामें हमको कोई ज्ञान नहीं रहता; पर वास्तवमें निद्रामें भी एक प्रकारका ज्ञान रहता है। अन्यथा जागृत होनेपर हम यह कैसे कहते—'वाह! आज हम कैसे सुखसे

सोये। बड़ी गहरी नींद आयी। दिमाग़ तरोताज़ा हो गया' अथवा, 'आह! आज नींद अच्छी नहीं आयी। सुस्ती बनी हुई है। आज काममें मन कैसे लगेगा।' इत्यादि इसप्रकारकी भावना, जागनेपर मनमें होती है। इसीका नाम अभाव-ज्ञान है। निद्रामें चित्त सांसारिक विषयोंसे अलग रहते हुए भी एक विशेष वृत्तिमें रहता है। यह निद्राकी वृत्ति भी योगमें विघ्नकारक है। इसलिये अन्य वृत्तियोंकी तरह इसका भी निरोध करके इसको भी अपने वशमें करना होता है।

अब पाँचवीं स्मृति-वृत्ति है। जिन विषयोंका हमने अनुभव किया है, उनको हम अपने अन्दर चुरा नहीं सकते। बार-बार हम उनको अपने अन्दर-ही-अन्दर जाहिर किया करते हैं। यह जो एक मनोवृत्ति है, इसीको स्मृति कहते हैं।

उपर्युक्त पाँचों वृत्तियाँ अवसर-अवसरके अनुसार सुखदायी और दुःखदायी होती हैं; परन्तु योगी इन सभी चित्तवृत्तियोंको दुःखदायी ही मानता है; क्योंकि जिसमें हम समझते हैं कि सुख है, उसका भी परिणाम विवेकसे दुःख ही है। कारण, सुखका अनुभव होनेके बाद—उसका वियोग होनेपर—दुःख अवश्यगत्भावी है। इसलिये इन सभी चित्त-वृत्तियोंका निरोध करके—उनके वशमें न होते हुए उनको अपने वशमें करके—अक्षय सुखको प्राप्त करना मनुष्यका परम पुरुषार्थ है; और वही—चित्त-वृत्तियोंका निरोध करके समाधि-सुखका अनुभव करना—जीवारम-परमारामयोग होना—मगवान पतञ्जलिके मतमें योग है।

अब देखना चाहिये कि यह शुभ योग कैसे प्राप्त हो। चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेके लिये महर्षि पतञ्जलि दो मुख्य उपाय बतलाते हैं—

‘अभ्यासवैराग्याभ्यां तजिरां च।’

अर्थात् अभ्यास और वैराग्यसे चित्तवृत्तियोंका निरोध होता है। चित्तरूपी नदीके दो प्रवाह हैं। एक कैवल्यके उच्च शिखरसे निकलकर विवेक-भूमिमें बहता हुआ कल्याण-सागरमें जाकर मिलता है और दूसरा प्रवाह संसार-रूप पर्वतसे निकलकर शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयोंकी भूमिपर बहता हुआ पाप-सागरमें गिरता है। जब चित्तकी वृत्तियाँ विषयोंमें फैसती हैं तो उसका परिणाम पाप, और जब वे विवेकमें चलती हैं तब उसका परिणाम 'कल्याण'

अर्थात् मोक्ष होता है। सुसुख पुरुष चित्तके इन दोनों प्रवाहोंको क्षय-क्षणपर जाँचता रहता है, देखता रहता है, कि इस क्षणमें हमारा मन किधर जा रहा है और उसको किधर ले जाना है। मनका धर्म है कि वह किसी-न-किसी ओर जायगा अवश्य। यदि हम उसको कल्याण-की ओर नहीं ले चलेंगे, तो फिर दूसरा मार्ग पापका खुला है ही—उसीकी ओर वह बहने लगेगा। इसलिये पापकी ओरके प्रवाहको रोकनेके लिये 'वैराग्य' के बाँधकी जरूरत है। सांसारिक विषयोंमें जब हमको दोष-ही-दोष दिखायी देने लगते हैं और उनमें हमको पूर्ण घृणा हो जाती है, तब उस स्थितिको 'वैराग्य' कहते हैं। जिसको यह स्थिति प्राप्त हो जाती है, उसका मन फिर विषयोंके पापकी ओर नहीं चलता, वह अन्तर्मुख होकर आत्मा अर्थात् 'कल्याण' की ओर चलने लगता है। मनको इसी ओर कायम रखनेके लिये प्रयत्न और अभ्यासकी आवश्यकता है। महायोगेश्वर श्रीकृष्णने भक्तप्रवर अर्जुनको इसी अभ्यास और वैराग्यके विषयमें समझाने हुए गीताके छठे अध्यायमें कहा है कि, इस संकल्प-विकल्पात्मक मनमें जितने प्रकारकी कामनाएँ अथवा वासनाएँ उठती हों, उन सबमें पूर्णतया वैराग्य धारण करो और तब विवेकसे सम्पूर्ण इन्द्रियोंको चारों ओरसे रोककर उनको अन्तर्मुख करो, जैसे ऋजुआ अपने सब अंगोंको भीतर समेट लेता है। फिर तब धैर्यके साथ, विवेकर्षक, धीरे-धीरे चित्तको आत्मामें स्थिर करनेका प्रयत्न करो। यह चञ्चल और अस्थिर चित्त जिधर-जिधरकी जावे, उधर-ही-उधरमें इसको घेरो; और घेर करके इसको तब तक साथ अपने वशमें लाओ। इसमें सन्देह नहीं कि यह चित्त अत्यन्त चञ्चल और वायुकी तरह दुर्निग्रह है; परन्तु उपयुक्त अभ्यास और वैराग्यसे यह अवश्य ही वशमें हो जाता है।

यह अभ्यास और वैराग्य उतना सहज नहीं है जितना हमको कहनेमें मालूम होता है। वास्तवमें इसी अभ्यास और वैराग्यके लिये दम, नियम, शासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इत्यादि अष्टाङ्ग-योगमाधन भगवान् पतञ्जलिने बतलाया है और हमारे प्राचीन ऋषि-मुनि इसीके लिये अपने शरीरको मिट्टी (बाँझी, वस्तीक) तक बना डालते थे; और फिर उसी मिट्टीसे उनका दिव्य शरीर—तप्तकाञ्चनवर्णीय दिव्य शरीर—निकलता था। अन्तु, अब हमको यह देखना चाहिये कि पतञ्जलि ऋषिने

समाधिसाधन अथवा भगवत्प्राप्तिका सबसे सुगम उपाय क्या बतलाया है। उन्होंने अपने योगदर्शनमें कहा है—

‘ईश्वरप्रणिधानाद्।’

चित्तकी चञ्चलताको रोककर उसको अन्तर्मुख करके आत्मस्वरूपमें स्थापित करना बहुत ही कठिन उपाय है। सर्वसाधारण संसारी साधकोंको यह साधन सहज-साध्य नहीं है। इसलिये महामुनि पतञ्जलि ‘ईश्वर-प्रणिधान’ का सहज उपाय बतलाते हैं। ‘प्रणिधान’ कहते हैं ‘भक्ति’ या ‘उपासना’ को। ईश्वरकी उपासना ही समाधिसाधनका सबसे सरल उपाय है। यह उपासना क्या है? अपने प्रत्येक विचार और कार्यमें भगवान्का अधिष्ठान मानकर, जो भी कुछ विचार अथवा कार्य हमसे सम्पन्न हों, सब उसीके लिये—और उसीको अर्पण किये जायँ। ईशोपनिषद्के दो मन्त्रोंमें ईश्वरोपासनाका बहुत थोड़ा स्वरूप दिखलाया है; और गोपालनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उपनिषदोंको दुह करके जो गीता-दूध निकाला है, उस दूधकी कढ़ इन मन्त्रोंसे भलीभाँति मालूम होती है—

ईशावस्यमिदं सर्वं यद्विच जगत्सं जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यभिवद्भनम् ॥

कुर्वन्नबेह कमाणि जिजीविषेच्छत ममा ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽभित न कर्म रिष्यते नर ॥

अर्थात् यह जितना भी कुछ स्थावर-जङ्गम जगत है, सबमें ईश्वर व्याप्त हो रहा है—यहाँतक कि हमारे हृदयके अन्दर जो एक छोटोसे भी छुट्टी विचारकी लहर उठती है, उसपर भी ईश्वरकी सत्ता है—वह सर्वत्र हाजिर-नाजिर है। इसलिये, इसमेंसे—इस जगत्मेंसे—जितना कुछ उसने तेरे लिये दिया है, उतनेका हो तू भोग कर—जितना तेरा अधिकार है, उतने ही पैर फैला ! अन्याय-पूर्वक दूसरेकी वस्तु हरण करनेकी इच्छा मत कर, क्योंकि यह सांसारिक सुख-वैभव किसीका नहीं है—एकमात्र ईश्वर ही इसका स्वामी है।

इसी प्रकार इस संसारमें आकर अपने कर्तव्य कर्मोंको करते हुए ही तू सौ वर्ष या उसमें भी अधिक,—जोनेकी इच्छा कर, क्योंकि इसप्रकार निष्काम—अर्थात् ईश्वरार्पण-पूर्वक—कर्म करनेसे ही तुझका कर्मका लेप नहीं होगा। तू संसार-बन्धनमें नहीं फँसेगा। इसके सिवा कर्मकच्चेसे छूटनेका और कोई भी मार्ग नहीं है।

तब यह निकलता है कि हम सब जगह ईश्वरकी सत्ता-का अनुभव करके, निश्चिन्त उसका चिन्तन करते हुए, यावज्जीवन निष्काम कर्म करते रहें और ऐसे ही कर्म करें कि जिनको ईश्वरके प्रीत्यर्थ अर्पण करनेमें हमको स्थानि न हो, तो हमारा चित्त शुद्ध होगा और भगवान् हमारे ऊपर अनुग्रह करके हमको दर्शन देंगे। समाधिस्थिति होनेका यही मार्ग 'ईश्वरप्रणिधान' के शब्दसे महर्षि पतञ्जलि हमको सूचित करते हैं और सम्पूर्ण उपनिषद् और गीता भी इसीका समर्थन करती हैं।

अच्छा, अब जिय ईश्वरकी उपासनामें हमारा परम कल्याण है, उसका स्वरूप क्या है? ईश्वरका क्या लक्षण है कि जिससे हम उसको पहचानें? महात्मा पतञ्जलि अपने योगदर्शनमें बतलाते हैं—

‘कृशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः’

अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चार बातोंमें निर्लिप्त जो पुरुषविशेष है, वही ईश्वर है। क्लेश पाँच प्रकारके हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इन पाँचों क्लेशोंमें अविद्या ही मुख्य है। अविद्याके ही कारण अन्य दुःखोंकी उत्पत्ति होती है। अनित्यमें नित्य, अपवित्रमें पवित्र, दुःखमें सुखकी और अनात्ममें आत्मबुद्धि होना ही अविद्या है। महर्षि कणादने वैशेषिक दर्शनमें कहा है कि हिन्दुओं और संस्कारोंके दोषसे अविद्याकी उत्पत्ति होती है। दूसरा क्लेश अस्मिता है। इसका अर्थ है अहंभाव। अहंभावमें, (आत्मज्ञानमें विरहित) अपनेकी ही कर्त्ता-भोक्ता सब कुछ मानना अस्मिता है। राग सुखके आधार-पर होता है। जिन वस्तुओंमें हमको सुख होता है—ऐसा हम समझते हैं—उनपर जो हमारी प्रीति है, वही 'राग' है। यह भी एक क्लेश ही है। द्वेष दुःखके आशयपर चलता है। जिससे हम दुःख समझते हैं, उसमें द्वेष या घृणा करते हैं। यह चौथा क्लेश है। अब पाँचवाँ क्लेश 'अभिनिवेश' है। यह मृत्युका भयंकर दुःख है। झोटेपे लेकर बकेंतक, मूखोंसे लेकर बड़े-बड़े विद्वानोंतक—मृत्युका दुःख सबके सामने है। इन पाँचों क्लेशोंमें ईश्वर अलग है।

कर्म दो प्रकारके हैं—पुण्यात्मक और पापात्मक, और इसका विपाक, अर्थात् शुभाशुभ फल, और उनका आशय अर्थात् शुभाशुभ कर्मोंकी वासनाएँ, इन सबमें भी ईश्वर अलग है।

उपर्युक्त अविद्यादि क्लेश, कर्म, विपाक और आशय जीवमें माने जाते हैं, अविद्या इत्यादिमें जीवको दुःख होता है। वैशेषिक विधि-निषेधात्मक कर्मोंमें जीव फँसता है और उनके विपाक 'जन्म, आयु और भोग' भी जीवार्त्ताको प्राप्त होते हैं; और इन भोगोंका आशय या संस्कार या वासनाएँ भी जीवके साथ लगी रहती हैं। यों तो जीवार्त्ता भी चेतन, शुद्ध, बुद्ध, नित्य और निष्कलंक है, परन्तु मनुष्योंके चित्तमें जो क्लेशादि होते हैं, वे जीवमें ही आरोपित किये जाते हैं—जीव उनमें निर्लिप्त नहीं है। ईश्वर इन सब बातोंमें अलग 'पुरुष-विशेष' है। पुरुषसे उसको विलक्षण बतलाया गया है। 'पुरुष' जीवको भी कहते हैं और ईश्वरको भी। शरीररूपी पुरका स्वामी होनेसे जीव पुरुष कहलाता है और सम्पूर्ण जगत् रूपी पुरका एकमात्र अध्यक्ष होनेसे ईश्वर भी पुरुष कहलाता है, परन्तु दोनोंमें भेद इतना ही है कि एक उपर्युक्त उपाधियोंमें लिप्त है, तो दूसरा सबसे विद्वक्कुल निर्लिप्त है। मुण्डकोपनिषद्में लिखा है—

इह सुपर्णा सयुजा सखाया

समानं वृक्षं परिवत्सजते।

तस्योग्नयः विष्पलं स्वादुत्स-

नश्नन्नन्योऽभिन्नाकशीति ॥

अर्थात् जीव और ईश्वर दोनों पक्षी 'सुपर्णा'—सुन्दर सामर्थ्यमें युक्त हैं और 'सयुजा' अर्थात् व्याप्य-व्यापक-रूपमें विद्वक्कुल एक-दूसरेमें मिले हुए हैं और 'सखाया' अर्थात् समान क्वालिवाले नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त अतएव मैत्रीधर्ममें रत हैं और प्रकृतिरूप एक ही वृक्षपर दोनों प्रेमसे रहते हैं परन्तु भेद इतना ही है कि इनमेंसे एक अनाविकालमें प्रवृत्त कर्मपाशमें बद्ध होनेके कारण, उस वृक्षके शुभाशुभ कर्मोंके फलकी यथावत् भोगता है और दूसरा कर्म-विपाकमें सर्वथा निर्लेप (अपरामृष्ट) रहकर अपनी सर्वज्ञतासे उस जीवार्त्ताके कर्मोंका साक्षीरूप रहता है। यही ईश्वरका ऐश्वर्य है। महात्मा पतञ्जलि कहते हैं—

‘तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम्’

वहाँ, अर्थात् ईश्वरमें निरतिशय सर्वज्ञताका बीज है। अर्थात् वह स्वयं ज्ञानस्वरूप है और जितना कुछ ज्ञान दिखायी देता है, वह भी सब उसीमें है। जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशस्वरूप है; और जितना कुछ प्रकाश जगत्में है, वह

भी सब सूर्यहीसे है। ईश्वरकी परमावधि सर्वज्ञताका बीज सृष्टिकी रचना, धारण और संहारकी शक्तिमें मालूम होता है। उसके इस ज्ञानमय तपका प्रभाव वेदादि सब शास्त्रोंसे पूर्णतया प्रकट है—

ऋतञ्च सत्यञ्चामीद्वान्तपसोऽप्यजायत । ततो रात्र्यजायत,
ततः समुद्रो अर्णवः, समुद्रादण्विवादधिसंवत्सरो अत्रायत ।
अहोरात्राणि निदधद्विद्विष्यन्मिषतो वशी । सूर्याचन्द्रमसौ वाता
मथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्तः ॥

—ऋग्वेद

अर्थात् उसी ज्ञानमय और प्रकाशस्वरूप ईश्वरकी अनन्त शक्तिसे ऋत अर्थात् वेदज्ञान और सत्य अर्थात् त्रिगुणात्मक प्रकृति उत्पन्न हुई। इसके बाद रात्रि अर्थात् प्रलयका महाघोर अन्धकार और तब एक प्रकारके विकल्पाय प्रकम्पनके साथ पृथ्वी तथा आकाशमें सर्वत्र जलतत्त्व उत्पन्न हुआ। इसके बाद सम्पूर्ण विश्वको स्वाभाविक ही अपने वशमें रखनेवाले उस भगवान् ने दिन, रात और वर्ष इत्यादि कालकी सीमा प्रदर्शित करनेवाली गतिको उत्पन्न किया। सम्पूर्ण जगत्का धारण (पाठन-पोषण) करनेवाले उस धाताने जिसप्रकार पूर्वकल्पोंमें अपने ज्ञान-रूप तपोबलसे सूर्य, चन्द्र, शुक्र, पृथ्वीलोक, अन्तरिक्ष, स्वर्गलोक इत्यादि सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको रचा, उसी प्रकार इस कल्पमें भी रचा है और इसी प्रकार रचता आया है एवं आगे भी रचता जायगा।

इसीलिये ईश्वर 'निरतिशय सर्वज्ञबीज' कहा गया है। सर्वज्ञतामें सिर्फ उसके अनन्त ज्ञानका ही लक्षण नहीं है, बल्कि उसकी स्वाभाविक ज्ञानबलकी क्रियाका भी इसी सर्वज्ञबीजत्वमें अन्तर्भाव है। क्योंकि बिना क्रियाशीलताके केवल ज्ञान कोई चीज़ नहीं है। सृष्टिके सृजन, धारण और संहारमें ईश्वरकी जो अनन्त क्रियाशीलता देखी जाती है, उसीकी ओर पतञ्जलि मुनिने अपने उपर्युक्त सूत्रमें निर्देश किया है। भगवान् वेदव्यासने भी अपने वेदान्त-दर्शनमें 'जन्माद्यस्य यतः' लिखकर यही सूचित किया है। सभी शास्त्रोंकी तरह गीता-शास्त्रमें भगवान् श्रीकृष्णने भी यही बतलाया है—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमन्वयस्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥

जिससे इस सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति हुई है और जो इस ज्वाबर-जंगम जगत्में व्याप्त होकर सबका धारण कर

रहा है, उसकी पूजा अपने कर्मोंसे ही करके मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ऐसे कर्म करो, जिससे वह प्रसन्न हो। यही ईश्वरकी सर्वोत्तम पूजा है। ऐसा भगवान् श्रीकृष्णका मत स्पष्ट है। अस्तु, अब ईश्वरका अन्य लक्षण पतञ्जलि-मुनि बतलाते हैं—

‘स पूर्वेषामपि गुरुः कलिनानबच्छेदात् ।’

अर्थात् पूर्वकालमें ब्रह्मादि जितने ऋषि, मुनि और ज्ञानी हो चुके हैं, वह सबका गुरुवादा है। वह कालमें पैदा नहीं हैं—अनादि, अनन्त हैं।

सृष्टि-उत्पत्तिके प्रारम्भमें, जीवोंकी उत्पत्तिके साथ ही, ईश्वरने अपना वेदरूपी ज्ञान प्रकट किया और उसी ज्ञानका उसने पूर्व-ऋषियोंको उपदेश दिया, मनुस्मृति और उपनिषद्में भी, इसका बहुत विस्तारके साथ वर्णन है। मुख्यकोपनिषद्में लिखा है—

तस्मादङ्गः साम यजुषि दीक्षा

यज्ञाक्ष सर्वे क्रतवो दक्षिणाक्ष ।

संवत्सरं च यजमानश्च लोकाः

सोमो यश्च पवते यत्र सूर्यः ॥

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रभूताः

साध्या भग्न्याः पशवो दयासि ।

प्राणापानी त्रीदिव्यौ तपश्च

मद्या सर्वं ब्रह्मचर्यं विविक्ष ॥

(मुण्डक० २ । १ । ४-७)

तस्माच्चज्ञात्सर्वद्वृत ऋचः सामानि जहिरे ।

ऊर्दासि जहिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥

—यजु०

इसी प्रकार वेद, उपनिषद्, छुओं शास्त्र, ब्राह्मणग्रन्थ, सब स्मृतियाँ, सब पुराण और गीता इत्यादि सब शास्त्र एकमतसे यह मानते हैं कि ईश्वरने पहले अपना वेदरूप ज्ञान (चारों वेद) ऋषि, वायु, आदित्य, अग्निरा, इन चार ऋषियोंके हृदयमें प्रकाशित किया, फिर उनसे ब्रह्माजीने चारों वेद पढ़े, जिससे वे चतुर्मुख कहलाये। आज भी लोग कहते हैं कि विद्या पढ़नेसे मनुष्यके चार आँखें हो जाती हैं। इसी प्रकार चारों वेदोंके ज्ञाता ब्रह्माजी चतुर्मुख कहलाते हैं। भगवान् मनुने कहा है—

अग्निवायुर्विष्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम् ।

द्वयोह ब्रह्मसिद्धयथं मुख्यजुःसामलक्षणम् ॥

ब्रह्माजीके पीछे विराट्, फिर वशिष्ठ, नारद, दक्षप्रजापति, स्वायम्भुव मनु आदि हुए। इन सब ऋषियोंके मनमें परम्परामे ईश्वरने ही अपने ज्ञानका प्रकाश किया। उसीमे सब ऋषि उत्पन्न हुए और उसीने कृपा करके उनको ज्ञान भी दिया। जैसे पिता बालकको जन्म देकर उसको विद्याभ्यास इत्यादिमें लगाता है वैसे ही उस दयालु भगवान्ने मनुष्यको उत्पन्न करके, उसके लिये जीवनके साधन प्राणपान, अन्नदि शोषधियाँ और वेदके विधि-निषेधके द्वारा तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य इत्यादिका ज्ञान दिया। इसी प्रकार वह अनादि कालमें ज्ञान देता चला आता है और ऐसा ही ज्ञान देता चला जायगा। न उसका अन्त है और न उसके ज्ञानका अन्त है। भूत, वर्तमान, भविष्य सब उसीमें समाया हुआ है—

पुरुष प्रवेदं सर्वं यद्रूपं यच्च मान्मसम् ।
उतामृतत्वम्भक्षानां यदजनातिगोहृति ॥

—यजु०

यह जो कुछ हो चुका है, वर्तमान है और जो भविष्यमें होनेवाला है, वह सब उसीके अन्दर समाया हुआ है। मोक्षरूप अमृतका अधिष्ठाता वही है; और अन्नादि ओषधियोंसे लेकर जितने स्थावर-जंगम प्राणी उत्पन्न होते हैं, उन सबका स्वामी वही एक है।

इसप्रकार वह हमारा उत्पादक, हमारा ज्ञानदाता और हमारे पूर्वज गुरुओंका गुरु है। उसको हम कैसे जानें? भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

‘तस्य वाचकः प्रणवः’

अर्थात् उसका वाचक प्रणव, अर्थात् ओंकार (ओ३म्) है, ईश्वर वाच्य है और प्रणव ओंकार उसका वाचक यानी जतकानेवाला है। प्रणवका अर्थ है कि जिसके द्वारा उत्तम रीतिसे स्तुति की जाय। अथवा जो उत्तम रीतिसे स्तुति दशावे, उसे भी प्रणव कहते हैं। ओ३म् और ईश्वरका वाच्य-वाचक-भाव-सम्बन्ध नित्य, अनादि है। इस संकेतसे उसको प्रकाशित किया जाता है; किन्तु बनाया नहीं जाता। जैसे पिता और पुत्रका सम्बन्ध कोई बनाता नहीं है। यह स्वाभाविक सम्बन्ध है। सिर्फ संकेत-मात्र किया जाता है कि यह पुत्र और यह उसका पिता है।

ओ३म् ईश्वरका सर्वोत्तम नाम है। इसमें ईश्वरके सभी

गुणोंका अन्तर्भाव हो जाता है। माण्डूक्योपनिषद्में अकार, उकार, मकार इत्यादि मात्राओंका विश्व, तैजस और प्राज्ञके रूपमें बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। इससे ईश्वरकी सर्वशक्तिमत्ताका पूर्ण बोध होता है। इसप्रकार प्रणव ईश्वरवाचक शब्द है। शब्द और अर्थका नित्य-सम्बन्ध है। शब्दके पीछे-पीछे अर्थ दौड़ता है। इसीलिये हमारे साधु-सन्तोंने नामकी बड़ी महिमा गायी है। बिना नामके रूप नहीं जाना जाता। नाम जपते-जपते उसका अर्थ हृदयमें समाता है। इसीलिये महर्षि पतञ्जलिने अगले सूत्रमें कहा है—

‘तजपस्तदर्थभावनम्’

प्रणवका जप क्या है? उसके अर्थ—अर्थात् ईश्वरकी भावना करना। ईश्वर-चिन्तन करना ही ओंकारका जप है। इससे चित्त एकत्र होकर समाधि सिद्ध होती है। मुण्डकोपनिषद्में लिखा है कि किसी लक्ष्यको वेधनेके लिये तीन वस्तुओंकी आवश्यकता होती है—एक धनुष, दूसरे बाण और तीसरे मनकी एकाम्रता—अर्थात् मनकी सब वृत्तियोंको चारों ओरसे हटाकर एक लक्ष्यकी ही ओर लगाना। जबतक ये तीनों साधन अनुकूल न हों, तबतक लक्ष्य-वेध नहीं हो सकता। इसलिये जो ब्रह्मरूप अति सूक्ष्म लक्ष्यको वेधना चाहता है उसको पहले उपनिषद् यानी ब्रह्मविद्याका दृढ़ धनुष हाथमें लेना चाहिये और फिर उपासना यानी अभ्यासयोगसे तीक्ष्ण बाणको उसमें जोड़ना चाहिये। इसके बाद अपने मनकी सब वृत्तियोंको सांसारिक सब विषयोंसे हटाकर ब्रह्मरूप लक्ष्यमें स्थिर करना चाहिये। ऐसा करनेसे हम अवश्य ही अपने लक्ष्यको वेध सकेंगे। इस विषयमें उपनिषदोंने कई तरहसे कहा है—

प्रणवा धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।

अग्रमत्तेन वेद्वत्त्वं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

—मुण्डक०

अर्थात् ओंकार ही धनुष है। जीवात्मा उसका बाण है और ब्रह्म लक्ष्य है। मुमुक्षु पुरुषको ओंकाररूप धनुषमें आत्मरूप बाणको चढ़ाना चाहिये—अर्थात् ओंकारका बारम्बार अभ्यास करके अपनी आत्माको बलिष्ठ, उज्ज्वल, निर्विकार बनाना चाहिये। फिर अग्रमत्त होकर अर्थात् जितेभ्यः प्रयाता पूर्वक चित्तवृत्तियोंको सांसारिक विषयोंसे जीविकर चित्तको एकत्र करके—वाचककी सहायतासे

वाच्यरूप लक्ष्यको आभाररूप वाणसे वेचना चाहिये । जिस-
प्रकार वाण लक्ष्यमें पहुँचकर तन्मय हो जाता है, उसी
प्रकार आत्मा भी ईश्वरमें प्रविष्ट होकर तन्मय हो जाती
है । आत्मा कहाँ ईश्वरसे अलग थोड़े ही है । 'यस्य
आत्मा शरीरम्' अर्थात् जिसप्रकार जीवात्मा इस पाञ्च-
भौतिक शरीरका चोगा पहने है, उसी प्रकार जीवात्मा
ईश्वरका शरीर ही तो है । जीवात्मा—जो हृत्ना सुश्रुति-
भूषण है, वही—उस ईश्वरका शरीर है । इस जीवात्माका
उपाधिरूप मल दूर हो जानेपर वह उस दिव्य परमात्मामें
आप-ही-आप मिला हुआ तो है ही । उसी मलको दूर
करनेके लिये—चित्तको स्वच्छ, चमकदार दर्पणकी तरह
बनानेके लिये—प्रणवका जप भी एक अभ्यास है । इवेता-
म्रतर-उपनिषद्में भी इसी तरहका एक दृष्टान्त दिया है—

स्वदेहमरणि कृत्वा प्रणवश्चोत्तरारणिम् ।

ध्याननिर्मथनाभ्यासादिवेपथ्यजिगृढवत् ॥

अर्थात् जैसे एक अरणीको दूसरी अरणीपर रखकर—
फिर खूब रगड़कर अग्नि निकालते हैं, उसी प्रकार अपनी
देह (हृदय) रूप एक अरणीपर प्रणव-आकार-रूप
दूसरी अरणीको धारण करके खूब रगड़वाजी करनी

चाहिये—अखण्डरूपसे ओंकारका जप करनेमें उसके अर्थ,
अर्थात् ईश्वरका हृदयके अन्दर चिन्तन करनेसे ध्यान लग
जाता है और जिसप्रकार दो लकड़ियोंके रगड़नेसे उनके
भीतर छिपी हुई अग्नि प्रकाशित होती है, उसी प्रकार
हृदय और प्रणवकी रगड़वाजीमें अन्दर छिपा हुआ परमेश्वर
वहाँ हृदय-मन्दिरमें प्रकाशित होता है और तब मनुष्य
कृतार्थ होकर जिस आनन्दका अनुभव करता है, उसका
वर्णन नहीं हो सकता—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो

निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।

न शक्यते वर्णयितुं मिरा तदा

स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

उपयुक्त उपासना-योगके अभ्यासमें, समाधि-साधन
करके, जो मुमुक्षु अपने चित्तके अज्ञानादि सब मेल को
ढाळता है और अपनी आत्मामें ही स्थिर होकर फिर उस
शुद्ध-चित्तको परमात्मामें लगाता है, उसको जो अपूर्व
सुख होता है, वह वाणीद्वारा वर्णन नहीं किया जा
सकता; क्योंकि उस परम आनन्दको तो जीवात्मा अपने
अन्तःकरणमें ही अनुभव कर सकता है ।

यही मनुष्य-जन्मका परम पुद्गलार्थ है ।

साइयाँ

पिया मैं आरत तेरी हो ।

मानी तेरे नाममें मैं साँभ सवेरी हो ॥ १ ॥

या तनको दियलो करूँ मनसा करूँ बानी हो ।

तेल भराऊँ प्रेमको बालूँ दिन राती हो ॥ २ ॥

पटिया पारूँ ज्ञानकी सुमति माँग सवाकूँ हो ।

पिया तेरे कारने धन जोवन वारूँ हो ॥ ३ ॥

सेजड़िया बहुरँगिया चंगा फूल बिछाया हो ।

रैन गई तारा गिणत प्रभु अजहुँ न आया हो ॥ ४ ॥

सावन भादों ऊमड़ो बरखा ऋतु छारि हो ।

भौह घटा घन घेरिके नैनन भरि लाई हो ॥ ५ ॥

मात पिता तुमको दर्ई तुम ही भल जानूँ हो ।

तुम तजि और भतारको मनमें नहिँ आनूँ हो ॥ ६ ॥

तुम हो पूरे साइयाँ पूरन पद बीजै हो ।

मीरा व्याकुल बिरहनी अपनी कर लीजै हो ॥ ७ ॥

—मीराबाई

हिन्दू-धर्ममें ईश्वर

(लेखक—सर सर्वापल्ली राधाकृष्णन्, केटी०, डी-लिट्, बारमन्-चासलर, आन्ध्र-विश्वविद्यालय)



नवीय संस्थाके रूपमें धर्म एक सजीव वस्तु है। इसमें उसी प्रकारका एकत्व और आत्मत्व है जैसा कि सजीव वस्तुओंमें होता है। यह एकत्व अपरिवर्तनीय सम्प्रदायका नहीं, किन्तु सतत परिवर्तनशील जीवनका है। धर्मका वास्तविक स्वरूप न तो उसकी प्रतीतावस्थामें मिल सकता है और न वर्तमान-अवस्थामें। धर्मकी व्याख्या उसके उद्देश्यके अनुसार होनी चाहिये, बाह्य शाब्दिक-रूपके अनुसार नहीं। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) ने एम्प्योडोक्सस (Empedocles) के सिद्धान्तोंकी व्याख्या इसी शैलीसे की थी (Metaphysics. 1.985 a 3)। यदि हम धर्मके इतिहासकी क्रमिक अवस्थाओंका अनुशीलन करें तो हमें उसमें एक गम्भीर और मौलिक वस्तुका पता लगेगा, जो पुनः-पुनः अभिव्यक्त होती रहती है परन्तु पूर्णरूपसे अभिव्यक्त कभी नहीं होती। यही विकासत्मक आदर्श-प्रवर्तक तत्त्व जो प्रत्येक अवस्थामें अपूर्ण ही व्यक्त होता है, धर्मका यथार्थ तत्त्व, तारण्य या स्वरूप है। जो समग्र ऐतिहासिक प्रगतिमें ओतप्रोत है।

यदि हिन्दू-धर्मके तत्त्वपर विचार करें तो हम उसे आध्यात्मिक अनुभवकी सत्यतापर आरुढ़ पावेंगे। आत्माके अन्तर्तम प्रदेशमें हमें सत्यकी अनुभूति होती है। धर्मकी अन्तर्दृष्टिमें आग्रह, उसकी अपरोक्षता अथवा अनुभवशीलताका हिन्दू-धर्मके इतिहासमें आदिसे अन्ततक निर्वाह किया गया है। हिन्दू लोग जो वैदिककालको अपने धर्मके आदिप्रवर्तकोंका युग मानते हैं उसका अभिप्राय यही है कि तत्कालीन ऋषि हमारे आदि-मार्ग-दर्शक, नेता तथा आध्यात्मिक साम्राज्यमें सर्वश्रेष्ठ तत्त्वान्वेक थे, संस्कृत-भाषाका 'ऋषि' शब्द इशू (देखना) धातुसे बना है। इससे धर्मका अर्थ है दर्शन, साक्षात्कार और अपरोक्ष-अनुभव। ऋषियोंने जिस सत्यका पता लगाया है वह तार्किक आलोचना अथवा क्रमबद्ध दार्शनिक गवेषणाका परिणाम नहीं है बल्कि यह आध्यात्मिक

अन्तर्बोध, दृष्टि अथवा प्रत्यक्ष अनुभव है। ऋषियुग्म केवल वेदोंमें विहित तत्त्वोंके प्रतिपादक ही नहीं हैं, वे साक्षात्दर्शी सिद्ध पुरुष हैं जो अपने आत्माको परमात्माके साथ मिला करके शाश्वत-सत्यका उद्घाटन करनेमें समर्थ हुए थे। उनका कोई भी वचन क्षणिक ज्ञानपर अवलम्बित नहीं है बल्कि उस दीर्घकालीन अनुभवके आधारपर है जो उन्होंने तपोमय जीवन और आध्यात्मिक शक्तियोंके विकाससे प्राप्त किया था। 'सदा पश्यन्ति सूरयः।' आज वेद जो सर्वश्रेष्ठ आसप्रमाणके रूपमें माने जाते हैं इसका कारण यही है कि वास्तविक अनुभवमें बढ़कर कोई दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता। ईश्वर निरा आदर्श नहीं है, जिसे हम ध्येय बनावें; बल्कि वह एक अनुभवगम्य यथार्थ सत्य है। आध्यात्मिक अनुभव हमारी कल्पना नहीं है बल्कि सत्यके साथ हमारा साक्षात् सम्बन्ध है।

जो सतत केवल सुनी-सुनायी बात नहीं कहते बल्कि जिनका ईश्वरके साथ साक्षात् परिचय है उन्हें ईश्वरके निर्बचनकी आवश्यकता नहीं होती। उन्हें कभी शंका और अश्रद्धा हो ही नहीं सकती। उनकी अपूर्व और सरल निश्चयात्मिका बुद्धि किसी प्रकार भी विचलित नहीं हो सकती। परन्तु साधारण मनुष्योंके लिये, जिनका धर्मके विषयमें कोई निजी अनुभव नहीं होता, तथा जो बिना ही साधनके धार्मिक जीवनका आनन्द लटना चाहते हैं, एवं जो धर्म-मार्गमें फलश्रुतियुक्त कथाओं तथा कर्मकाण्डके सहारे आगे बढ़ना चाहते हैं, लुभानेके लिये ही पुष्पित-वाणीका प्रयोग करनेकी आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त अपना अनुभव दूसरोंके प्रति प्रकट करने, उसके रहस्यकी समझाने तथा विरोधियोंके आक्षेपोंका खण्डन करते हुए उसका समर्थन करनेके लिये भी हमें तर्क और भाषाकी सहायता आवश्यक होती है। हिन्दू-धर्ममें हमें अत्यन्त निगूणसे लेकर म्यूक्त सगुणरूपतकके अनुभवोंका क्रमिक वर्णन प्राप्त होता है।

जब कोई अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न पुरुष तर्क और युक्तिकी सहायतासे अपने अनुभवके समझानेकी चेष्टा करता है तो उसे श्रद्धाकी आवश्यकता पड़ती है जो परमतत्त्वके निरूपणके लिये स्वयमेव अपेक्षित होती है। वह जानता

है कि आत्माका एक ऐसे जगत्से घनिष्ठ, प्रत्यक्ष और उद्घोस सम्बन्ध है जो ऐन्द्रिय-ज्ञानकी भूमिसे बिल्कुल ही अतीत है तथा बुद्धिके द्वारा प्रकट की हुई लौकिक भूमिसे कहीं अधिक दीप्तिमान और सत्य है। बुद्धि, दिव्य-दृष्टि और आध्यात्मिक अनुभव समानरूपसे एक ऐसे पुरुषके सत्ताकी साक्षी देते हैं जो वस्तुतः चैतन्यमय है तथा अखिल सृष्टिका मूल आधार है, एवं 'अमृत और मृत्यु जिसकी छाया है'—'यस्य दृष्ट्यामृतं यम्य मृत्युः' (ऋग्वेद १०।१२१)। आध्यात्मिक अनुभवकी सबसे बड़ी विशेषता है अनिवचनीयता। जब हम अपने अनुभूत सत्यके समझानेकी चेष्टा करते हैं, तो हमें विवश होकर याद्य विधियों और भावनाओंका प्रयोग करना पड़ता है। परन्तु कोई भी बाह्य विधि अथवा भावना कितनी ही व्यापक क्यों न हो, वह उस परमसत्यका वर्णन करनेमें असमर्थ ही रहती है। भगवान् बुद्धने आध्यात्मिक अनुभवकी सत्यताको स्वीकार किया है, परन्तु वे इस बातको नहीं मानते कि उस अनुभवमें किसी हृत्संसे परेकी वस्तुकी अभिव्यक्ति होती है। आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा ईश्वरके साथ हमारा साक्षात् सम्बन्ध हो जाता है, यह विचार उनके मतमें एक अनुमानमात्र है, स्वतःसिद्ध तथ्य नहीं है। बुद्ध स्वीकृत सिद्धान्तोंकी सीमाके अन्दर रहनेकी चेष्टा करते हैं और वे केवल इस बातको मानते हैं कि इस दृश्य और शृङ्खल जगत्के भीतर एक गम्भीर आध्यात्मिक जगत् ओतप्रोत है। महात्मा हिन्दू-दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता श्रीशङ्कर कहते हैं कि समस्त ब्राह्मरूप असत् है और वह सब वस्तु इन सत्यमें परे है। उपनिषद्, बुद्ध, शङ्कर और उनके अनुयायी मानते हैं कि शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा, जो अखण्ड, अद्वैत, केवल है तथा अनेकता और विकारमें युक्त जगत्से परे है, अथवा इसके अन्दर ओतप्रोत है, एक निरुपाधिक सत्ता है, जिसके वास्तविक स्वरूपका पूर्णतः चिन्तन करना अथवा वाणीद्वारा वर्णन करना नितान्त असम्भव है। बिना संप्रतिपत्तिके हम स्वीकार कर लेते हैं कि ईश्वरकी महिमा अवर्णनीय है और मन तथा वाणीकी पहुँचके परे है। वह ज्ञेयसे भिन्न है और अज्ञेयसे परे है, 'तद्विदितादधो अविदितादधि'—(केन० १।३)। वहाँ नेत्रकी गति नहीं है और न वाणी ही पहुँच सकती है, न मन ही, 'अच्छुक्त्वा' 'अवागमनः'—(बृहदारण्यक० ३।८।८)। परन्तु इस बौद्धिक नज्जा

और आध्यात्मिक अनङ्कारतामें एक आपत्ति है। परमतत्त्व-के विषयमें भगवान् बुद्धकी मौनताने उनके ऊपर नास्तिकताका छापछान लगाया है। परमतत्त्वकी समस्त गुणों और सम्बन्धोंसे रहित मानकर हम उसे केवल सत्तामात्रमें परिणत कर देते हैं जो एक प्रकारसे निरीक्ष्यता है। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि केवल सन्द-मति पुरुष आनुभविक गुणोंके अभावको सर्वसत्ताके अभावके रूपमें मान लेते हैं। निर्विदोष प्रज्ञाके महान् गौरवका जो ज्ञान आत्माका प्राप्त है, उसकी व्यक्त करनेके लिये ही इसप्रकारके निषेधात्मक वाक्योंका आश्रय लिया गया है कि वह 'अन्य ही है' और उसके विषयमें 'नेति-नेति' के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

हिन्दू-धर्म केवल 'नेति-नेति' कहकर ही सन्तोष नहीं करता। आध्यात्मिक अनुभवके तीन मुख्य स्वरूप हैं—सत्यता, ज्ञान और स्वनन्दनता। (सत्, चित और आनन्द)। यदि हमारे अनुभवके कुछ अंश इन विशेषताओंके साथ प्राप्त होंगे तो समझना चाहिये कि समस्त अनुभवकी प्राप्ति इसी प्रकारसे सम्भव है। वह चेतना, जिसके अन्दर समस्त अनुभव अपनी अव्यवहितता, व्यक्तता और इतर-व्यावृत्तिके साथ विद्यमान रहता है, ईश्वरीय सत्ता-चेतना है और वही हमारा आदर्श है। ईश्वरीय सत्तामें सत्य स्वयं ही अपना साक्षात् द्रष्टा है, स्वयं अपने स्वरूपका ज्ञाता तथा स्वयमेव सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो उसकी सत्तामें न हो, तथा उसमें अभिव्यक्त न होती हो; साथ ही सब प्रकारकी विषमताओंका भी उसमें अत्यन्त अभाव है। वह पूर्ण सत्, पूर्ण चित और पूर्ण आनन्द है। संकल्प और उसके मूर्तरूपका, इच्छा और उसकी अभिव्यक्तिका, तथा प्रेम और उसके माधुर्यका वही आधार है। इन मानवीय प्रतिकृतियोंमें द्वैत, विरोध और संघर्ष रहता है। यही कारण है कि ईश्वरीय दिव्य गुणोंकी पूर्णताके सामने ये मानवीय तथा परिच्छिन्न गुण सर्वथा अपूर्ण हैं। परमतत्त्व वास्तविक है, सत्य नहीं; पूर्ण है, उत्तम नहीं। इसका स्वातन्त्र्य ही उसका जीवन है, उसका वास्तविक स्वभाव है।

यद्यपि आध्यात्मिक तत्त्वकी पूर्णता हमारे गुणोंमें बहुत ऊँची है, तथापि उसकी प्रकृति उस उच्चतम सत्तासे सादृश्य रखती है जिसका हमें अपने अन्दर ज्ञान होता है। यदि वास्तविक तत्त्व मनुष्यकी आत्मासे बिल्कुल ही परे होता तो उसकी सत्ताकी अस्पष्टरूपसे समझना भी हमारे लिये

हिन्दू-धर्ममें ईश्वर

(लेखक—सर मर्वापली राधाकृष्णन्, केटी०, बी-एड्, वास्-चांसलर, आन्ध्र-विश्वविद्यालय)



नवीय संस्थाके रूपमें धर्म एक सजीव वस्तु है। इसमें उसी प्रकारका एकत्व और आत्मत्व है जैसा कि सजीव वस्तुओंमें होता है। यह एकत्व अपरिवर्तनीय सम्प्रदायका नहीं, किन्तु सतत परिवर्तनशील जीवनका है। धर्मका वास्तविक स्वरूप न तो उसकी

श्रुतितावस्थामें मिल सकता है और न वर्तमान-अवस्थामें। धर्मकी व्याख्या उसके उद्देश्यके अनुसार होनी चाहिये, बाह्य शाब्दिक-रूपके अनुसार नहीं। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तू (Aristotle) ने एम्पेडोक्लस (Empedocles) के सिद्धान्तोंकी व्याख्या इसी शैलीसे की थी (Metaphysics. 1.985 a 3)। यदि हम धर्मके इतिहासकी क्रमिक अवस्थाओंका अनुशीलन करें तो हमें उसमें एक गम्भीर और मौलिक वस्तुका पता छगेगा, जो पुनः-पुनः अभिव्यक्त होती रहती है परन्तु पूर्णरूपसे अभिव्यक्त कभी नहीं होती। यही विकासत्मक आदर्श-प्रवर्तक तत्त्व जो प्रत्येक अवस्थामें अपूर्ण ही व्यक्त होता है, धर्मका यथार्थ तत्त्व, तात्पर्य या स्वरूप है। जो समग्र ऐतिहासिक प्रगतिमें ओतप्रोत है।

यदि हिन्दू-धर्मके तत्त्वपर विचार करें तो हम उसे आध्यात्मिक अनुभवकी सत्यतापर आरुढ़ पावेंगे। आत्माके अन्तर्तम प्रदेशमें हमें सत्यकी अनुभूति होती है। धर्मकी अन्तर्दृष्टिमें आग्रह, उसकी अपरोक्षता अथवा अनुभवशीलताका हिन्दू-धर्मके इतिहासमें आदिसे अन्ततक निर्वाह किया गया है। हिन्दू लोग जो वैदिककालको अपने धर्मके आदिप्रवर्त्तकोंका युग मानते हैं उसका अभिप्राय यही है कि तत्कालीन ऋषि हमारे आदि-मार्ग-दर्शक, नेता तथा आध्यात्मिक साम्राज्यमें सर्वश्रेष्ठ तत्त्वान्वेक थे, संस्कृत-भाषाका 'ऋषि' शब्द इशू (देखना) धानुमे बना है। इससे धर्मका प्रार्थ है दर्शन, साक्षात्कार और अपरोक्ष-अनुभव। ऋषियों जिस सत्यका पता लगाया है वह तार्किक आलोचना अथवा कम्बद्ध दार्शनिक गवेषणाका परिणाम नहीं है बल्कि वह आध्यात्मिक

अन्तर्बोध, दृष्टि अथवा प्रत्यक्ष अनुभव है। ऋषिबृन्द केवल वेदोंमें विहित तत्त्वोंके प्रतिपादक ही नहीं हैं, वे साक्षात्दर्शी सिद्ध पुरुष हैं जो अपने आत्माकी परमात्माके साथ मिला करके शाश्वत-सत्यका उद्घाटन करनेमें समर्थ हुए थे। उनका कोई भी वचन क्षणिक ज्ञानपर अवलम्बित नहीं है बल्कि उस दीर्घकालीन अनुभवके आधारपर है जो उन्होंने तपोमय जीवन और आध्यात्मिक शक्तियोंके विकाससे प्राप्त किया था। 'सदा पश्यन्ति सूरयः।' आज वेद जो सर्वश्रेष्ठ आसप्रमाणके रूपमें माने जाते हैं इसका कारण यही है कि वास्तविक अनुभवसे बढ़कर कोई दूसरा प्रमाण नहीं हो सकता। ईश्वर निरा आदर्श नहीं है, जिसे हम ध्येय बनावें; बल्कि वह एक अनुभवगम्य यथार्थ सत्य है। आध्यात्मिक अनुभव हमारी कल्पना नहीं है बल्कि सत्यके साथ हमारा साक्षात् सम्बन्ध है।

जो सन्त केवल सुनी-सुनायी बात नहीं कहते बल्कि जिनका ईश्वरके साथ साक्षात् परिचय है उन्हें ईश्वरके निर्वचनकी आवश्यकता नहीं होती। उन्हें कभी शंका और अश्रद्धा हो ही नहीं सकती। उनकी अपूर्व और सरल निश्चयात्मिका बुद्धि किसी प्रकार भी विचलित नहीं हो सकती। परन्तु साधारण मनुष्योंके लिये, जिनका धर्मके विषयमें कोई निजी अनुभव नहीं होता, तथा जो बिना ही साधनके धार्मिक जीवनका आनन्द लुटना चाहते हैं, एवं जो धर्म-मार्गमें फलश्रुतियुक्त कथाओं तथा कर्मकाण्डके सहारे आगे बढ़ना चाहते हैं, लुभानेके लिये ही पुष्पित-वाणीका प्रयोग करनेकी आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त अपना अनुभव दूसरोंके प्रति प्रकट करने, उसके रहस्यको समझाने तथा विरोधियोंके आक्षेपोंका खण्डन करते हुए उसका समर्थन करनेके लिये भी हमें तर्क और भाषाकी सहायता आवश्यक होती है। हिन्दू-धर्ममें हमें अत्यन्त निगुणमे लेकर स्थूल सगुणरूपतकके अनुभवोंका क्रमिक वर्णन प्राप्त होता है।

जब कोई अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न पुरुष तर्क और युक्तिकी सहायतासे अपने अनुभवके समझानेकी चेष्टा करता है तो उसे श्रद्धाकी आवश्यकता पड़ती है जो परमसत्यके निरूपणके लिये स्वयमेव अपेक्षित होती है। वह जानता

है कि आत्माका एक ऐसे जगत्से घनिष्ट, प्रत्यक्ष और उद्दीप्त सम्बन्ध है जो ऐन्द्रिय-ज्ञानकी भूमिसे बिल्कुल ही अतीत है तथा बुद्धिके द्वारा प्रकट की हुई कौकिक भूमिसे कहीं अधिक दीप्तिमान और सत्य है। बुद्धि, दिव्य-दृष्टि और आध्यात्मिक अनुभव समानरूपमें एक ऐसे पुरुषके सत्ताकी साक्षी देते हैं जो वस्तुतः चैतन्यमय है तथा अखिल सृष्टिका मूल आधार है, एवं 'अमृत और मृत्यु जिसकी छाया है'—'यस्य च्छायायामृतं यम्य मृत्युः' (ऋग्वेद १०।१२१)। आध्यात्मिक अनुभवकी सबसे बड़ी विशेषता है अनिवचनीयता। जब हम अपने अनुभूत सत्यके समझानेकी चेष्टा करते हैं, तो हमें विवश होकर बाह्य विषयों और भावनाओंका प्रयोग करना पड़ता है। परन्तु कोई भी बाह्य विधि अथवा भावना कितनी ही व्यापक क्यों न हो, वह उस परमसत्यका वर्णन करनेमें असमर्थ हो रहती है। भगवान् बुद्धने आध्यात्मिक अनुभवकी सत्यताको स्वीकार किया है, परन्तु वे इस बातको नहीं मानते कि उस अनुभवमें किसी इससे परेकी वस्तुकी अभिव्यक्ति होती है। आध्यात्मिक अनुभवके द्वारा ईश्वरके साथ हमारा साक्षात् सम्बन्ध हो जाता है, यह विचार उनके मतमें एक अनुमानमात्र है, स्वतःसिद्ध तथ्य नहीं है। बुद्ध स्वीकृत सिद्धान्तोंकी सीमाके अन्दर रहनेकी चेष्टा करते हैं और वे केवल इस बातको मानते हैं कि इस इन्द्रिय और शृङ्खल जगत्के भीतर एक गम्भीर आध्यात्मिक जगत् ओतप्रोत है। महान् हिन्दू-दार्शनिक और तत्त्ववेत्ता श्रीशङ्कर कहते हैं कि समस्त ब्राह्मरूप अमृत है और वह सब वस्तु इन सत्यमें परे है। उपनिषद्, बुद्ध, शङ्कर और उनके अनुयायी मानते हैं कि शुद्ध चैतन्य-स्वरूप आत्मा, जो अखण्ड, अद्वैत, केवल है तथा अनेकता और विकारसे युक्त जगत्से परे है, अथवा इसके अन्दर ओतप्रोत है, एक निरुपाधिक सत्ता है, जिसके वास्तविक स्वरूपका पूर्णतः चिन्तन करना अथवा वाणीद्वारा वर्णन करना नितान्त असम्भव है। बिना संप्रतिपत्तिके हम स्वीकार कर लेते हैं कि ईश्वरकी महिमा अवर्णनीय है और मन तथा वाणीकी पहुँचके परे है। वह ज्ञेयमें मिश्र है और अज्ञेयमें परे है, 'तद्विदिताद्यो अविदितादधि'—(केन० १।३)। वहाँ नेत्रकी गति नहीं है और न वाणी ही पहुँच सकती है, न मन ही, 'अचक्षुष्क... अवागमनः'—(बृहदारण्यक० ३।८।८)। परन्तु इस बौद्धिक नभ्रता

और आध्यात्मिक अनङ्कारतामें एक आपत्ति है। परमतत्त्व-के विषयमें भगवान् बुद्धकी मौनताने उनके ऊपर नास्तिकताका छाप छन लगाया है। परमतत्त्वको समस्त गुणों और सम्बन्धोंसे रहित मानकर हम उसे केवल सत्तामात्रमें परिणत कर देते हैं जो एक प्रकारसे निरी शून्यता है। श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि केवल मन्द-मति पुरुष आनुभविक गुणोंके अभावको सर्वसत्ताके अभावके रूपमें मान लेते हैं। निर्विशेष ब्रह्मके महान् गौरवका जो ज्ञान आत्माका प्राप्त है, उसको व्यक्त करनेके लिये ही इसप्रकारके निषेधात्मक वाक्योंका आश्रय लिया गया है कि वह 'अन्य ही है' और उसके विषयमें 'नेति-नेति' के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

हिन्दू-धर्म केवल 'नेति-नेति' कहकर ही संतोष नहीं करता। आध्यात्मिक अनुभवके तीन मुख्य स्वरूप हैं—सत्यता, ज्ञान और स्वतन्त्रता। (सत्, चित् और आनन्द)। यदि हमारे अनुभवके कुछ अंश इन विशेषताओंके साथ प्राप्त होने हैं तो समझना चाहिये कि समस्त अनुभवकी प्राप्ति इसी प्रकारसे सम्भव है। वह चेतना, जिसके अन्दर समस्त अनुभव अपनी अव्यवहितता, व्यक्तता और इतर-व्यावृत्तिके साथ विद्यमान रहता है, ईश्वरीय सत्ता चेतना है और वही हमारा आदर्श है। ईश्वरीय सत्तामें सत्य स्वयं ही अपना साक्षात् दृष्टा है, स्वयं अपने स्वरूपका ज्ञाता तथा स्वयमेव सम्पूर्ण स्वातन्त्र्य है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जो उसकी सत्तामें न हो, तथा उसमें अभिव्यक्त न होनी हो; साथ ही सब प्रकारकी विषमताओंका भी उसमें अत्यन्त अभाव है। वह पूर्ण सत्, पूर्ण चित् और पूर्ण आनन्द है। संकल्प और उसके मूर्तरूपका, इच्छा और उसकी अभिव्यक्तिका, तथा प्रेम और उसके माधुर्यका वही आधार है। इन मानवीय प्रतिकृतियोंमें द्वैत, विरोध और संघर्ष रहता है। यही कारण है कि ईश्वरीय दिव्य गुणोंकी पूर्णताके सामने ये मानवीय तथा परिच्छिन्न गुण सर्वथा अपूर्ण हैं। परमतत्त्व वास्तविक है, सत्य नहीं; पूर्ण है, उत्तम नहीं। इसका स्वातन्त्र्य ही उसका जीवन है, उसका वास्तविक स्वरूप है।

यद्यपि आध्यात्मिक तत्त्वकी पूर्णता हमारे गुणोंमें श्रुत ऊँची है, तथापि उसकी प्रकृति उस उच्चतम सत्तामें सादृश्य रखती है जिसका हमें अपने अन्दर ज्ञान होता है। यदि वास्तविक तत्त्व मनुष्यकी आत्मासे बिल्कुल ही परे होता तो उसकी सत्ताको अस्पष्टरूपसे समझना भी हमारे लिये

असम्भव था। इसलिये हमारा यह कहना युक्त नहीं कि परमतत्त्व सर्वथा अन्य ही है। मनुष्यकी आत्माके भीतर, उसके जीवनके केन्द्रमें, बुद्धिये भी परे एक वस्तु है जो परमतत्त्वके ही अनुरूप है। परमतत्त्वके अनुभवके लिये मनुष्यके जीवनकी भीतरी तहमें एक यथार्थ आधार है। ईश्वरीय प्रकाश और मनुष्यका ध्यान, यह दोनों एक ही वस्तुकी दो दिशाएँ जान पड़ती हैं। मनुष्यमें और ईश्वरके अन्दर चैतन्यकी समानरूपसे स्थितिका दृढ़ निश्चय प्रत्येक आध्यात्मिक ज्ञानके लिये आवश्यक है। यह केवल अनुमानकी बात नहीं है, आध्यात्मिक अनुभवमें ही आत्मा और परमात्माके बीचकी दीवाल अपने आप ही दूर हो जाती है। हम उस परमतत्त्वके हैं और वह तत्त्व हमारे अन्दर प्रतिभासित है। 'तत्त्वमसि' अर्थात् वह तू है—यह महावाक्य एक अनुभूत तथ्यको बतलाता है। बाइबलके इस वाक्यसे कि, 'ईश्वरने मनुष्यको अपने ही सदृश बनाया; ॐ (Genesis 1. 27) इस वातका समर्थन होता है कि मनुष्यकी आत्मामें ईश्वरकी सच्ची अभिव्यक्ति हुई है। 'मनुष्यकी आत्मा ईश्वरका दीपक है' (Proverbs XX27) प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक प्लेटो (Plato) का कहना है कि मनुष्य जीवनके सनातन रूपका एक प्रबल भागीदार है, वह इहलोकके नश्वर और अवास्तविक पदार्थोंसे अलग रहकर उसे आत्मसाद कर सकता है।¹⁾ महात्मा ईशाने इसी गुण तत्त्वको इसप्रकार प्रकट किया है—'I and my father are one' अर्थात् मैं और मेरे पिता एक ही हैं।

ईश्वर अपरिच्छिन्न आत्मा है जो हमारे भीतर भी है और बाहर भी है। यदि ईश्वर हमारे भीतर न होता तो हमें अभावका ज्ञान न होता और यदि वह हमारे बाहर न होता तो हममें पूजाकी भावना न होती। यदि हम परमेश्वरके तत्त्वको जीवात्मासे ऊँचा मानते हैं तो हमारा धर्म शक्ति-प्रधान हो जाता है। ईश्वरके विषयमें हमारा जो सर्वोच्च ज्ञान होता है वह भी आंशिक ही होता है। सदा कुछ-न-कुछ अवशिष्ट रह ही जाता है जिसको न तो हम जानते हैं और न वर्णन ही कर सकते हैं। विशिष्ट धार्मिक भावना अपनेमे एक श्रेष्ठ तत्त्वके सम्पर्कमें आनेका आग्रह करती है, जिसके साथ अभिन्न होना मनुष्यके लिये असम्भव

* So God created man in his own form; in the image of God created he him.

† The spirit of man is the candle of God.

है। ईश्वरके साथ मनुष्यके इस वैयक्तिक सम्बन्धकी विभिन्न स्थितियाँ हैं जिसमें परमेश्वरके सम्मुख अत्यन्त दीनभावसे लेकर उस परम प्रेममय प्रभुके साथ एकत्वका समावेश तक होता है, जिसकी कृपा महान्-से-महान् पापीको भी प्राप्त होती है। परम तत्त्वके साथ उस सर्वोच्च जीवन (आत्मा) की, जिये हम जानते हैं, तुलना करना किसी नीची वस्तुके साथ उसकी तुलना करनेकी अपेक्षा कहीं अधिक सत्य है। भक्त पुरुष परमात्माको उस सगुणरूपमें देखता है जो इस जगत्का कर्ता, भर्ता और हर्ता है। निर्विशेष ब्रह्म और सगुण ईश्वरमें केवल दृष्टिकोणका भेद है, वस्तुतः कोई भेद नहीं। यदि भेद है तो केवल यही कि निर्गुण ब्रह्मका वास्तविक स्वरूप निर्गुण है और प्रातिभासिक स्वरूप सगुण है। सगुणता उसका मूर्त स्वरूप है, और यदि हम इस मूर्तरूपकी उपेक्षा करते हैं तो सत्यका यह द्वार हमारे लिये बन्द हो जाता है।

हिन्दू-धर्म भारतवर्षके आध्यात्मिक साक्षात्कारकी प्रतिकृति है। यह परमात्माकी पूर्णता और एकताके अन्तर्ज्ञानपर अवलम्बित है। मानव-जीवन सदा सर्वत्र ईश्वरका ही एक अंश है, इस सिद्धान्तको मानकर इस धर्मने अन्य सब धर्मोंके साथ सौजन्यका भाव स्थापित किया है। हिन्दू-धर्म स्वीकार करता है कि एक ही अनुभव अनेकों प्रकारसे वर्णित हो सकता है। यदि हममेंसे कई मनुष्य ग्रीष्ममें सन्ध्याका दृश्य देखने बैठें तो विचार और भावकी दृष्टिसे हमारे अनुभव एक-से नहीं होंगे, तथा उन अनुभवोंके वर्णनमें भी विभिन्नता हो जायगी। परन्तु इस विभिन्नताको संशय-वादके समर्थनमें लगानेकी जरूरत नहीं होती।

कालको कौन जीतेगा ?

रामके काम मोकाम नहिं करत नर
फिरत संसार चहुँ ओर धाया ॥
करत संताप सब पाप सिरपर लिये
साध और सन्न नहिं नेह लाया ॥
बाँधिहैं काल जंजाल जम-जालमें
रहत नहिं चैन सब सुधि हेराया ॥
कहैं गुलाल जो रामको जानिहैं
जीतिहैं काल सोइ ज्ञान पाया ॥

—गुलालसाहबजी

बौद्ध-धर्म और ईश्वरवाद

(लेखक—भिक्षु श्रीसोयेन शाकु, जापान)



बौद्ध-धर्मके मौलिक सिद्धान्तोंमें एक यह सिद्धान्त भी है कि जगत्के अनन्त और नाना प्रकारके दृश्य एक ही तत्त्वसे उत्पन्न होते हैं और उसीके अन्दर जीवन धारण करते हैं और वह तत्त्व देश और कालसे अपरिच्छिन्न है।

यह जगत् नानात्वसे पूर्ण है; तथापि मनकी रचना ही ऐसी हुई है कि वह एक ऐसे एकता प्रदर्शित करने-वाले तत्त्वको खोजता है जिसकी कल्पना दृश्योंकी प्रतीतिके लिये अनिवार्य है।

इसप्रकार बौद्ध-धर्म दो द्वारोंको स्वीकार करता है—समताका द्वार और इसके विपरीत नानात्वका द्वार। हमें और स्पष्टतासे कहें तो कह सकते हैं कि बौद्ध-धर्म नानात्व और समताके दो तत्त्वोंके समवायको स्वीकार करता है। पदार्थ अनेक होते हुए भी एक हैं और एक होते हुए भी अनेक हैं। इसलिये बौद्ध-धर्म ब्रतलाता है कि जहाँ हम जगत्की किसी विशेष अवस्थाको स्वीकार करते हैं जिसमें व्यक्तिवकी प्रधानता होती है, वहाँ हमें यह न भूलना चाहिये कि समताके द्वारसे आँकनेपर समस्त भेद-भाव एकत्रके एक महान् तत्त्वमें विलीन हो जाते हैं।

इनमेंसे समताके द्वारको किसी अंशमें ईश्वरकी समानता और नानात्वके द्वारको व्यक्तिगत (जीव) की समानता ही जा सकती है।

समता और नानात्वके साथ ही बौद्ध-धर्म एक तीसरे 'कर्मके सिद्धान्त' को भी मानता है। जिसका निर्देश है कि समस्त पदार्थ गतिशील हैं और कर्म करते हैं। इस सिद्धान्तको केवल भौतिक जगत्में ही सीमित नहीं रखा जाता, बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक जगत्में भी यही सिद्धान्त कार्यान्वित हो रहा है। इन्हीं शक्तियोंकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियासे जगत् अपने अस्तित्वमें स्थित (निर्मित) है।

बौद्ध-धर्म ईश्वर अर्थात् समताके सिद्धान्तको जगत्में अन्तर्स्थ (व्यापक) मानता है, परन्तु वह 'ईश्वर' शब्दका प्रयोग नहीं करता। ईश्वरके पर्यायरूपसे बौद्ध-धर्म

'धर्मकाय' शब्दका व्यवहार करता है जिसे बुद्धकाय अर्थात् बुद्धका शरीर भी कहते हैं और 'समता' का बोध भी इन्हीं शब्दोंद्वारा होता है।

तत्त्वतः धर्मकाय अपरिच्छिन्न है, परन्तु इसके व्यक्त रूप सीमित और परिच्छिन्न हैं। बुद्धकायका यह आन्तरिक स्वभाव है कि वह दृश्य जगत्के नानात्वमें स्वयमेव व्यक्तिव-रूप धारण करता है, वह किसी विशेष अस्तित्वके बाहर नहीं खड़ा रह सकता बल्कि वह उसमें निवास करके उसे जीवन प्रदान करता है। जब हम इन समस्त वैयक्तिक दृश्योंकी विभिन्नतामें विचार करते हैं तो सर्वत्र इनके भीतर धर्मकायको उपस्थित पाते हैं जहाँ वस्तुओंकी समता हमूँगोचर होती है।

परन्तु यद्यपि बौद्ध-धर्म दृश्य जगत्की यथार्थता और नानात्वको मानता है तथापि उसका विश्वास है कि जो पदार्थ हमारे चतुर्विक् दीक्ष पड़ते हैं वह सब एक अन्तिम कारणसे उत्पन्न होते हैं जो सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ और सर्वप्रिय है। यह जगत् उस कारण, आत्मा अथवा जीवन-का व्यक्त स्वरूप है। अतः वस्तुओंमें चाहे कितनी ही विभिन्नता क्यों न हो वह परमतत्त्वके स्वभावसे युक्त होती हैं। केवल मनुष्य ही नहीं, बल्कि तिर्यक् जन्तु तथा निर्जीव पदार्थ भी देवत्व (समता) को अपना कारण अभिव्यक्त करते हैं।

इसलिये ईश्वर जो इस जगत्में नहीं है वह अमत् है; और जगत् जो ईश्वरमें नहीं है वह मिथ्या है। सब पदार्थ एकमें चले जाते हैं और एक ही समस्त पदार्थोंके रूपमें कर्म करता है। अनेक एकमें हैं और एक अनेकमें है। ईश्वर और जगत्के विषयमें बौद्धोंकी यही धारणा है। तरंग, लहरें, बीच-राशि तरंगित, लहराती और उमंगित होती हुई भी केवल एक जलके नित्यस्वरूपकी विभिन्न गतियाँ हैं। इसी प्रकार विद्वान् बौद्ध जगत् और ईश्वरका चिन्तन करते हैं।

परन्तु ईश्वर अपने अस्तित्वको इस जगत्की अभिव्यक्ति-में ही लगा देता है तथा वह अपनी सृष्टिसे अभिन्न है, एवं जगत्का नाश होते ही वह नित्य शून्यतामें विलीन हो जाता है। ऐसा समझना अत्यन्त अमूर्ण है। इसलिये हमें यह

नहीं समझना चाहिये कि ईश्वर केवल समस्त व्यष्टिका समूहमात्र है। वहिक समस्त सृष्टिके नष्ट हो जानेपर भी ईश्वर रहता है। वह नित्य है और इस जगत्के नष्ट होनेपर वह पलभरमें दूसरे जगत्की सृष्टि कर सकता है।

इसपर कुछ प्रश्न उठते हैं—यदि ईश्वर 'समता' का तत्त्व है तो हम किसप्रकार पदार्थोंकी समतामें आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त कर सकते हैं? तथा किसप्रकार अपने मनको ऐसा स्वच्छ बना सकते हैं जिसमें उस नित्य सत्यको प्रत्यक्ष कर सकें? किसप्रकार हम दृष्ट जगत्में 'समता' के तत्त्वको जान सकते हैं? तथा अभिलाषाओं, वेदनाओं, वासनाओं, सहज ज्ञान तथा प्रवृत्तियोंकी विभिन्नतामें उसे पहचान ही कैसे सकते हैं? किसप्रकारमे हम धर्मकायको उसकी विभिन्न क्रियाओंके अन्तर्गत देख सकते हैं तथा उसे प्राप्त कर सकते हैं?

उन प्रश्नोंके उत्तर निकालनेकी व्यावहारिक रीति केवल बुद्धिकी विवेचना नहीं है। हमें पहले मानसिक ज्ञान्ति प्राप्त करनी चाहिये। हमें आध्यात्मिकरूपमें पवित्र होना चाहिये। हमें समस्त बाधक वासनाओं, पक्षपातों और अन्धविश्वासोंमें मुक्त होना चाहिये। बौद्ध-धर्म आदिमें अन्ततः एक धर्म है और हमका उद्देश्य मनुष्य आध्यात्मिक और व्यावहारिक है। तथा वह मार्ग जो हम (व्यावहारिक धर्मवादियों) को उपयुक्त प्रश्नोंके समाधानकी ओर ले जाता है, एकाम्रताका अभ्यास है जिसे बुद्धमतानुयायी 'ध्यान' कहते हैं। धर्मका अर्थ अनुभव करना है, प्रदर्शन करना नहीं। हमलिये धार्मिक पुरुष तत्त्वकी जिज्ञासा करते हैं, छायाकी नहीं; प्रकाश चाहते हैं, प्रतिविम्ब नहीं; और इनकी प्राप्ति तर्क-वितर्कद्वारा कदापि नहीं हो सकती हमें इस परिच्छिन्नतासे आगे बढ़कर साहसपूर्वक अज्ञानके अतलगाभमें कूद पड़ना होगा।

क्या एक विनम्र प्राणी अपनी परिच्छिन्न चेतनामें उस क्षेत्रका अन्तर्ज्ञान कर सकता है जो बुद्धिगोचर नहीं है? नहीं, जबतक वह केवल अपनी बुद्धि-सम्बन्धी क्षमतापर निर्भर करता है तबतक वह इसके लिये समर्थ नहीं हो सकता। बुद्धि हमारे अन्तर्जीवनमें बिल्कुल अभिज्ञ होती है। केवल किसी वस्तुके समस्त गुणों, विशेषताओं तथा क्रियाओंको जानकर ही यह नहीं कहा जा सकता कि हमें उसका पूर्ण ज्ञान हो गया। इन सबका ज्ञान इन्द्रियोंसे तथा बुद्धिकी शक्तिसे हो सकता है, तथापि

वस्तुके कुछ स्वरूप अवशिष्ट रह जाते हैं जिनके ज्ञान होनेसे ही कहा जा सकता है कि हमें उस वस्तुका पूर्ण ज्ञान हुआ। विज्ञान और दर्शन-शास्त्रने बड़ा काम किया है परन्तु वे एक दुखी जीवकी विश्राम, सुख, आनन्द और श्रद्धा प्रदान करनेमें असमर्थ हैं क्योंकि उनसे हमें पूर्ण तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती तथा वे जीवनके रहस्य-को खोलनेमें असमर्थ हैं। वे जो कुछ उपदेश देते हैं वह केवल जीवनके छिलके हैं। क्योंकि किसी वस्तुका ज्ञान तबतक पूर्ण नहीं होता, जबतक उसका मूल कारण अथवा अन्तर्जीवन अनुभूत नहीं होता। दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि जबतक ज्ञाता (मन) और ज्ञेय (विषय) का द्वैत दूर नहीं होता और जीवन बौद्धिक विभिन्नतामें परे अपने तात्त्विक रूपमें नहीं जाना जाना तबतक वस्तु-तत्त्वका पूर्णज्ञान नहीं हो सकता। बौद्ध-धर्म यतलाता है कि एक घासकी पत्ती भी जो सायंकालके शीतल समीरमें थिरकती है तबतक पूर्णतया नहीं जानी जा सकती, जबतक हम अपने इस व्यक्तित्वमें अलग होकर अपनी व्यक्तिगत आत्माको घासकी आत्मामें निमज्जित नहीं कर देते।

जहाँतक धर्मका सम्बन्ध है वहाँतक ईश्वरके अस्तित्व तथा उसके असीम प्रेमके विषयमें केवल विश्वास करना, अथवा केवल बातें करना मूल्यता है। यदि ईश्वर है तो उसकी प्राप्ति करनी चाहिये। यदि वह प्रेमस्वरूप है तो उसका परीक्षण होना चाहिये तथा उसे अपने अन्तर्तम जीवनका तत्त्व बनाना चाहिये। धार्मिक भावनाको जागृत किये बिना ईश्वर छायामात्र है, आत्मा प्रेत है और जीवन स्वप्नके समान है। हम जन्मको बौद्ध-धर्ममें 'प्रज्ञा' के नामसे पुकारते हैं।

ईश्वरके अस्तित्व अथवा अभावके सिद्ध हो जानेपर दार्शनिक सन्तुष्ट हो जाते हैं क्योंकि वह इसके लिये अपनी बुद्धिका अन्यतम प्रयोग करते हैं जो उनके समर्थन तथा खण्डनका एकमात्र अस्त्र है। परन्तु जबतक मनुष्यके हृदयमें किसी अधिक तात्त्विक, जीवनप्रद, निरै सैद्धान्तिक तथा अमूर्त भावनामें अधिक आकर्षक अवर्णनीय वस्तुकी उत्कण्ठा है, तबतक हम इस परिणामपर पहुँच सकते हैं कि हमारी चेतना, चाहे वह समीप ही क्यों न हो, बुद्धि-व्यापारके अतिरिक्त दूसरे मार्गमें वस्तुओंके अन्तर्तम जीवनके सर्गकर्मों आ सकती है। इसीलिये बौद्ध-धर्ममें प्रज्ञाके अस्तित्व-

को माना गया है तथा इसी शक्तिकी आगुतिके किये बौद्धों-में धार्मिक नियमोंका पालन किया जाता है।

परन्तु क्या विनश्वर प्राणी इस दृश्यमान जगत्में किसी नियम वस्तुको प्राप्त कर सकता है? जब प्रत्येक वस्तु जीवन और मृत्युके अलंघ्य नियमोंके वशीभूत है तो हम अविनाशी और नियम वस्तुके लिये अपनी अन्तःप्रेरणाको किसी प्रकार समुत्पन्न नहीं कर सकते। बौद्ध-धर्म हमारी इस आध्यात्मिक भाकांक्षाको जानता है और हमें बतलाता है कि दृश्य जगत्के परे एक अवस्था है जहाँ आत्मा पूर्ण परिपुष्ट हो सकता है।

यह अदृश्य जगत् भौतिक सीमासे परे है और इसलिये जन्म-मृत्युके नियमोंसे बहिर्भूत है। इसप्रकार सर्वोत्कृष्ट होनेके कारण वह दुःख-सुखकी पहुँचके परे है जो वासनाशील पुरुषोंकी प्रवृत्ति और आचारको प्रेरित करते हैं। जो मनुष्य परिदृश्यमान जगत्की शृङ्खलासे मुक्त हुआ है उसे जगत्-के विकार प्रभावित नहीं कर सकते। वह अदृश्य जगत्में शान्तिपूर्वक निवास करता है। केवल यथार्थ धार्मिक पुरुष भौतिक आवर्तन (जन्म-मृत्युके चक्र) के परे जा सकते हैं और नियम शान्तिमय जीवन बिता सकते हैं।

सारांश यह है कि जगत् अनित्य और परिवर्तनशील है। जो लोग सांसारिकतासे ऊपर नहीं उठते वे वासनाके चक्रवातमें ऊपर-नीचे ठोकरें खाते हैं। परन्तु जो लोग वस्तुओंकी दृश्यवस्थाको जानते हैं वे ससीममें असीमको देखते हैं, दृश्यमें अदृश्यको देखते हैं और विपत्ति और क्लेशोंके बीच कल्याणको प्राप्त होते हैं।

इस लोकोत्तर जीवनकी प्राप्तिके लिये ध्यानका अभ्यास बहुत ही आवश्यक समझा जाता है। ध्यान एक शान्तिप्रद अवस्थाका साधन है। इसमें मनको विचारके लिये अवसर देना होता है और उत्कृष्ट होनेसे उसे बचाया जाता है। इससे हमें ऐन्द्रिय विषयोंसे परे परम तत्त्वके लिये अभिरुचि उत्पन्न होती है। परन्तु धार्मिक दृष्टिसे यह ध्यान जबतक प्रज्ञाको आगुत न करे तथा जीवनके परम तत्त्वको दृश्यरूप में न करावे तबतक उतना उपयोगी नहीं समझा जायगा।

आत्म और अनात्मके आदान-प्रदानके ऊपर उठनेके लिये प्रज्ञा जगत्को इसकी अन्तिम एकता (चरम अद्वैतस्वरूप) को देखती है तथा जीवनके समस्त रूपोंकी वास्तविक अभिन्नताको प्रत्यक्ष करती है। वह जानती है कि जिस प्रेरणाकी उसे अनुभूति हो रही है, वह समस्त अस्तित्वोंकी उद्दीपक आत्मा है। प्रज्ञाका आदेश अन्तिम आदेश होता है, हमारी चेतनामें उससे कोई श्रेष्ठ शक्ति नहीं है जो उस आदेशको छुट कर सके।

जैसे प्रत्येक मनुष्यकी चेतना बर्फकी टण्डा तथा आगकी गरम अनुभव करती है वैसे ही प्रज्ञा अपने अन्तर्तम जीवनमें जो कुछ देखती या अनुभव करती है वह सर्वत्र एक ही होता है, हमारे जीवनके अन्तर्गुहामें जो अनुभूति होती है उसे ही गॉड (God), अल्लाह, धर्मकाय, ताव, ब्रह्म आदि नाना नामोंसे पुकारते हैं।

केवल एक ही महान् तत्त्व है, हम सब उसके क्षणिक स्वरूप हैं। जब हम उस परमात्माकी इच्छाका अनुसरण करते हैं, तब हम नियम हैं; जब हम अपने अहंकार और अज्ञानके द्वारा उसके विपरीत चलते हैं तो नाशको प्राप्त होते हैं। उसकी आज्ञाका अनुवर्तनकर हम जीवन धारण करते हैं और उल्लंघन करनेपर हम नियम प्रज्वलित अग्निमें डाल दिये जाते हैं।

वह परम तत्त्व पृथ्वीपरके विभिन्न देशोंमें उनकी संस्कृति, शिक्षा और संगके अनुसार विभिन्न नामों और उपाधियोंसे जाना जाता है। यथार्थतः मानव-जातिके एक होनेके कारण उस परम नैतिक और आध्यात्मिक शक्तिका ज्ञान उसे कभी-न-कभी होगा ही, जो जगत्का नियन्त्रण करती है तथा जिसकी आज्ञाको, हम विनाशके भयसे, विवश होकर आदरपूर्वक पालन करते हैं।

* भिक्षु सोपेन शाकुंके उपदेशोंका अनुवाद डा० डा० टी० सुजुकिने मंगरेजीमें किया था, वहाँ Sermons of a Buddhist Abbot के नामसे पुस्तकरूपमें शिकागो अमेरिकाकी Open Court Publishing Company के द्वारा प्रकाशित हुआ था, हम लेखमें उसी पुस्तकके कुछ उपदेशोंका हिन्दी अनुवाद है।—स० और प्रे० मतोशचन्द्र पुह



ईसाई-धर्ममें ईश्वर

(लेखक—श्रीशुक्त एड्विन मोन्स, इंग्लैण्ड)



क ही मनुष्यके फोटो यदि बीस फोटोग्राफों-द्वारा लिये जायें तो यह निश्चित है कि प्रत्येक फोटोमें कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य रहेगा। सम्भव है कि वह अन्तर, उसे प्रकाशमें रखनेमें, मसालेमें, कागज़में अथवा फोटोग्राफरकी दक्षता-में फर्क होनेके कारण आया हो, किन्तु अन्तर होगा अवश्य। कोई एक फोटो तो ऐसा उत्तम हो सकता है कि उसे हम 'बोलता हुआ चित्र' कहनेको तैयार होते हैं और दूसरा चित्र बहुत ही भद्दा हो सकता है। जब एक मनुष्यके फोटोका यह हाल है जिसे हम अच्छी तरहसे देख सकते हैं और जिसका फोटो वैज्ञानिक रीतिमें तैयार किया जाता है, तब हम ईश्वरके सम्बन्धमें यह आशा कैसे कर सकते हैं कि मनुष्यके द्वारा उसके स्वरूपके वर्णनकी चेष्टा सर्वथा यथार्थ ही हो? नेत्रोंसे किसीने उसे देखा नहीं और हमारे मन दुर्बल, शक्तिहीन, पापके कारण दूषित एवं कलुषित हो गये हैं। बहुधा हमारे वर्णनके पीछे आन्तरिक अनुभवका आधार नहीं होता, हमलोग केवल दूसरोंसे सुनी-सुनायी बातोंको ही प्रायः दोहराते हैं और जितने हमने वे बातें सुनी होती हैं वे भी प्रायः हमारी ही तरह होते हैं—'अन्वेषेनैव नीयमाना यथान्धाः'।

सृष्टिके आदिमें लेकर अबतक ईश्वरके न मालूम कितने चित्र खींचे गये हैं? इनमेंसे कई तो ऐसे हैं जो अपूरे ही नहीं किन्तु दोषबहुल हैं और कदाचित् ईश्वरके स्वरूपको बिल्कुल ही विकृत कर देनेवाले हैं।

हमारा प्रयोजन इस समय यह नहीं है कि इसप्रकारके ईश्वर-विषयक निरूपणोंमेंसे किसी एकका वर्णन करें, उसके गुण-द्राव्योंका विवेचन करें अथवा उनकी भूलोंको सुधारें। हमारा उद्देश्य तो केवल इस बातको बतलानेका प्रयत्न करना है कि ईसाइयोंके मतमें 'ईश्वरका क्या स्वरूप' माना गया है। यह कार्य भी सहज नहीं है। कारण यह कि ईसाइयोंके भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंमें इस विषयमें बहुत मतभेद है। यही नहीं, बल्कि एक ही सम्प्रदाय-सिद्धान्त-को माननेवाले विद्वानोंके निरूपणमें भी अन्तर है। ऐसी स्थितिमें मेरा यह दावा करना कि 'ईसाइयोंके मतमें

ईश्वरका स्वरूप वही है जो मैं बतलाता हूँ' निरी धृष्टता एवं दुःसाहसमात्र होगा। मैं तो अधिक-से-अधिक ईसाइयोंकी ईश्वरीय धारणाका वही स्वरूप बतलानेकी चेष्टा करूँगा जो मैंने समझा है, तथा बाइबलके अध्ययन, अन्य महाग्रन्थों एवं विद्वानोंके उपदेश एवं लेख, चिन्तन तथा वैयक्तिक अनुभव और दीर्घकालतक प्रभु ईसासमसीहके शिष्यत्वमें रहनेके फलस्वरूप प्राप्त हुए ज्ञानके आधारपर स्थिर किया है।

बाइबलमें ईश्वर-विषयक जितने निरूपण मिलते हैं, उनका ईसाई-जगतमें बड़ा मान है। अतएव हमारे लिये यह जिज्ञासा होना उचित ही है कि बाइबलके जेनिसिस (Genesis) नामक प्रथम अध्यायमें लेकर 'रिवीलेशन' (Revelation) नामक अन्तिम अध्यायतक क्या ईश्वरके सम्बन्धमें स्पष्टतया एक ही तरहका अविसंवादी वर्णन मिलता है? इसके उत्तरमें हम निःसंकोच यह कह सकते हैं कि 'नहीं मिलता।' निःसन्देह कुछ लोगोंका यह मत है कि बाइबलके अन्तर्गत जितने भी ईश्वर-विषयक निरूपण हैं उनमें वस्तुतः कोई भेद नहीं है। अन्तर केवल इतना ही है कि पुराने संस्करण (Old Testament)में ईश्वर-विषयक निरूपण उतने स्पष्ट एवं सर्वांगीण नहीं हैं जितने नये संस्करण (New Testament) में। इजरायल ईसाके द्वारा व्यक्त हुए हैं। परन्तु यह कहना पर्याप्त नहीं है। Old Testament एवं New Testament के वचनोंमें जो अन्तर है, उनकी बात तो किनारे रही, उक्त दोनों संस्करणोंमें ही भिन्न-भिन्न लेखकोंके वाक्यों-में भी इतना अन्तर है कि उनका समन्वय कर उनमें एक सुसंगत निरूपण करना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि बाइबलके अन्दर अद्भुत सामंजस्य है; परन्तु साथ ही कोई यह भी अस्वीकार नहीं कर सकता कि उसके अन्दर वैषम्य भी अनेक एवं महान् है। बाइबल एक पुस्तक नहीं है, किन्तु भिन्न-भिन्न युगोंमें भिन्न-भिन्न मनुष्योंद्वारा लिखी हुई पुस्तकोंका एक संग्रह है और जिन लोगोंने ये पुस्तकें लिखी हैं उनका ईश्वर-विषयक ज्ञान एक-सा रहा हो अथवा अपने-अपने ज्ञानको आपा-के द्वारा व्यक्त करनेकी योग्यता समान रही हो, यह बात भी

किसी प्रकार नहीं कही जा सकती। उनके अनुभव एवं ज्ञानमें महान् अन्तर था।

जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वरीय ज्ञानकी अभिव्यक्ति क्रमिक होती है, उनका कथन यथाथं एवं भावगर्भित है। ईश्वरीय ज्ञानकी अभिव्यक्ति केवल व्यक्त हरयसे ही नहीं होती किन्तु अपने और दूसरोंके अनुभव तथा परम्परागत सिद्धान्तोंके द्वारा भी होती है। युगोंके बीत जानेपर लोगोंकी समझमें यह बात आती है कि एक युगतक जो सिद्धान्त सर्वमान्य रहा, वही अनुभवसे असत्य सिद्ध हुआ है और उसमें संशोधन एवं परिवर्तनकी आवश्यकता है। ज्ञानकी क्रमशः वृद्धि होती है। (Knowledge grows from more to more) सिद्धान्त जिसप्रकार भौतिक पदार्थोंके ज्ञानके सम्बन्धमें सत्य है उसी प्रकार ईश्वरीय विज्ञानके सम्बन्धमें भी पूर्णतया चरितार्थ होता है। जो बात एक व्यक्तिके जीवनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंमें घटती है, वही बात कालरूपी आघन्तहीन प्रवाहके भिन्न-भिन्न युगोंपर लागू होती है। यदि किसी मनुष्यके विचार सत्तर वर्षकी अवस्थामें भी वैसा ही रहें जैसे सात वर्षकी अवस्थामें थे, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि उस मनुष्यके विकासमें निरोध हुआ है। अर्थात् उसका विकास पूर्ण नहीं हो पाया है, वह केवल अवस्थामें बड़ा हो गया है, परन्तु उसे जीवनका अनुभव पूर्णतया प्राप्त नहीं हुआ।

जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर जगत्में विष्कुल भिन्न है, उनसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं। जो लोग ईश्वरके सम्बन्धमें यह कहते हैं कि वह अपने स्वरूपमें ही स्थित है, मनुष्योंके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं, उनका यह कहना केवल प्रलापमात्र है, विचारपूर्ण नहीं। यदि ईश्वरका हमारे साथ कोई सम्बन्ध न हो तो फिर उसके साथ वैयक्तिक सम्पर्क अथवा उसके विषयमें वैयक्तिक अनुभवकी तो बात ही दूर रही, अपने विचारोंको भी उसके समीप पहुँचानेका कोई मार्ग न रह जाय; हम ईश्वरके सम्बन्धमें उतना ही जान सकते हैं, जितना उसके साथ हमारा सम्बन्ध होता है, हमारे प्रति जैसा उसका मनोभाव होता है, हमारे साथ वह जैसा व्यवहार करता है और हम उससे सहायता, तथा और भ्यायकी जितनी आशा करते हैं। हम जिस अगर्भमें रहते हैं, उसके अन्तर

होनेवाले ईश्वरीय व्यापारोंसे ही हम उसके स्वरूपका निर्णय करते हैं।

बहुतसे लोगोंकी यह धारणा है कि बाइबलके अन्दर ईश्वर-सम्बन्धी जितने वाक्य हैं वे सब ईश्वरीय वाक्य हैं, उनके अन्दर कहीं-कहीं जो विरोध या वैषम्यका दोष झलकता है, उसका कारण हमारी बुद्धिकी दुर्बलता ही है, जो लोग हमसे अधिक बुद्धिमान् हैं वे इन वचनोंका समन्वयकर उनकी एकवाक्यता कर सकते हैं और उन सबको एकत्र कर उनसे एक ऐसा निरूपण तैयार कर सकते हैं जिसमें ईश्वरके सारे गुणोंका समन्वय हो जाय। अवश्य ही उन लोगोंकी यह धारणा किसी इच्छेके कारण नहीं, किन्तु अतिरिक्त श्रद्धाके कारण है जो एक प्रकारकी मानसिक दुर्बलता है।

वास्तविक सध्यको सामने रखकर हमें यह मानना पड़ता है कि मनुष्य उसी वस्तुको देख सकता है जिसे देखनेकी शक्ति उसके अन्दर है। मनुष्योंको ईश्वरके सम्बन्धमें जो साक्षात् अनुभव हुए, वे सब आंशिक थे, क्योंकि उनको पूर्णतया ग्रहण करनेकी शक्ति उनके अन्दर नहीं थी; पूर्ण सत्य इतना महान् है कि उनकी दृष्टि उसको समग्ररूपसे ग्रहण न कर सकी। मनुष्योंने अपनी-अपनी मानसिक एवं आध्यात्मिक योग्यताके अनुसार ही ईश्वरका निरूपण किया। मनुष्यका ज्ञान एवं अनुभव ज्यों-ज्यों बढ़ता गया, स्थो-ही-स्थो उसका ईश्वरीय ज्ञान भी अधिक विस्तृत एवं गम्भीर होता गया। जो बात मनुष्योंके लिये थी, वही बात युगोंके सम्बन्धमें माननी चाहिये। जजों (Judges) के समयमें डेविड (David) के पूर्वजोंने ईश्वरका जो निरूपण किया, उसकी अपेक्षा वह स्वयं कदाचित् भक्त सेमुअल (Samuel) के उपदेशोंसे प्रभावित होकर अधिक महत्त्वका निरूपण कर सकता। कदाचित् उसकी आध्यात्मिक अवस्थाके अनुसार उसका ज्ञान भी घटता-बढ़ता रहा; कभी वह अधिक विशदरूपसे चमकने लगता तो कभी उसकी पापमय प्रवृत्तियोंके कारण उसपर कालिमा छा जाती। ईसाइया (Isalah) ने अपनी आयुका अधिकांश समय जिसप्रकारके पवित्र वातावरणमें व्यतीत किया, उसका अनुभव सुलेमान (Solomon) अपने विद्यासितामय एवं पतित जीवनमें किसप्रकार कर सकता था ?

Old Testament के कुछ अध्यायोंमें ईश्वरका

जो निरूपण किया गया है, उसमें, और ईसामसीहके अन्दर उस पवित्र, दयामय, श्रुतस्वभाव प्रेमपूर्ण पिताके जिस स्वरूपकी अभिव्यक्ति हुई थी, उसमें, आकाश-पातालका अन्तर है। पर साथ ही उसके अन्दर कुछ ऐसे अवतरण मिलते हैं जिनमें ईश्वरकी महत्ताका ही नहीं, किन्तु उसके सौजन्य, प्रेम एवं दयालुताका ऐसा विशद बर्णन है कि उससे अधिक विशद बर्णन कदाचिद् (New Testament) में भी नहीं मिलेगा।

ईसाहूयोंका ईश्वर-सम्बन्धी निरूपण अब्राहमको अच्छा नहीं लगा। ईसामसीहकी श्रुत्युसे, जो उस परम पिताके प्रेमकी सर्वोच्च अभिव्यक्ति थी, हमें वह अनुभव प्राप्त हुआ जो कदाचिद् उनसे पूर्ववर्ती महर्षियों एवं धर्म-प्रवर्तकोंको नहीं प्राप्त हुआ था। हमारे प्रभु ईसाके प्राकट्यसे उनके जीवन तथा देह-त्यागसे उनके पुनरुज्जीवन (Resurrection) एवं स्वर्गारोहण (Ascension) की घटनायें तथा उनके द्वारा परमात्माकी पवित्र उद्योतिके प्रसारमें ईश्वरकी वह अभिव्यक्ति हुई है, जो किसी दूसरे प्रकारसे हो ही नहीं सकती थी।

त्रैतवाद (Trinity) के सिद्धान्तमें यानी परमात्माके तीन स्वरूपोंके प्रतिपादनमें अद्वाय विद्वानोंको बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है। हम यह जानते हैं कि इस सिद्धान्तमें बहुत कुछ सत्यताका अंश है, परन्तु इस सिद्धान्तको यदि कोई तर्ककी कसौटीपर कसना चाहे तो उसे असफलता एवं निराशा ही होगी। त्रैतवादी और ऐक्यवादी अर्थात् ईश्वरके तीन स्वरूपोंको और एक ही स्वरूपको माननेवालोंके विभिन्न सिद्धान्त अकाञ्च हैं, किन्तु जब उनका युक्तिसे समर्थन करने तथा दूसरोंके मतका खण्डन करनेकी चेष्टा की जाती है, तब गड़बड़ी मच जाती है। ईश्वरके तीन स्वरूप माननेवाले (Trinitarians) यद्यपि ईश्वरके स्वरूप तथा उनके सम्बन्धोंकी पूर्णताको स्वीकार करते हैं, परन्तु कभी-कभी वे ऐसी बातें कह जाते हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि वे (Tritheism) अर्थात् तीन ईश्वरोंकी सत्ता मानते हैं। ऐक्यवादी (Unitarian) अर्थात् ईश्वरका एक ही स्वरूप माननेवाले इस सिद्धान्तका विरोध करते हैं और एक ऐसी निरपेक्ष सत्ताको स्वीकार करते हैं जिसका किसी दूसरी वस्तुके साथ कोई सम्पर्क अथवा सम्बन्ध नहीं है। उनका ईश्वर सम्बन्धहीन एवं गुण-रहित है।

कदाचित् अधिकांश ईसाहूयोंके धार्मिक—उपासना-मय—जीवनमें इसप्रकारके ईश्वरके माननेमें कोई अडचन नहीं होती, किन्तु उसके आधारपर किसी निश्चित मतका प्रतिपादन करना अत्यन्त कठिन ही नहीं, बल्कि असम्भव-सा हो जाता है। इस तरहका कोई भी सिद्धान्त युक्तिसंगत नहीं हो सकता जो तीन व्यक्तियोंको एक ही उद्देश्यके लिये सम्मिलित मानता है। यदि यह कहें कि एक ही व्यक्तिके तीन स्वरूपोंकी कल्पना की गयी है तो इसमें प्रभु ईसाके उन वचनोंकी एकवाक्यता नहीं होती जिनका बाइबलमें उल्लेख मिलता है। साथ ही प्राचीन ईसाई ईश्वरके Father, son and holy spirit अर्थात् पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा—ये जो तीन विभाग करने थे, उनमें भी विरोध आता है। यद्यपि दृष्टान्तों एवं उदाहरणोंका आश्रय सदा लाभदायक नहीं होता, फिर भी हम एक दृष्टान्त देनेका साहस करते हैं। जैसे बिजली कभी प्रकाश, कभी ताप एवं कभी शक्ति इत्यादि अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त होती है वैसे ही यह मान लेनेमें क्या कोई आपत्ति है कि पिता, पुत्र और पवित्र आत्मा (Father, son and holy spirit) वे तीन भिन्न-भिन्न ईश्वर नहीं, किन्तु एक ही ईश्वरके तीन रूप हैं?

उपर्युक्त मुख्य विचारोंका आधार लेकर हम संक्षेपमें यह बतलानेकी चेष्टा करेंगे कि ईसाहूयोंके ईश्वर-सम्बन्धी निरूपणमें प्रधान बातें कौन-कौन-सी हैं?

१-ईश्वरकी सगुणता—व्यक्तित्व (Individuality) का अर्थ दूसरोंसे पृथक् एवं विच्छेदित सत्ता है किन्तु सगुणता (Personality) के अन्दर सम्बन्ध अथवा सापेक्षताकी प्रधानता होती है। सगुणता ईश्वर-सम्बन्धी कल्पनाका एक मुख्य अंग है। चाहे कोई मनुष्य अपनी बुद्धिसे परमात्म-तत्त्वकी गहनता एवं उच्चताकी याह न पा सके, किन्तु उसका जगत्के साथ तथा जगत्के जीवोंके साथ जो सम्बन्ध है, उसकी कई रूपोंमें अभिव्यक्ति हो चुकी है और अनुभवसे उसका समर्थन भी हो चुका है। उसकी पूर्णतम अभिव्यक्ति ईसाके विग्रहमें हुई है। ईसा मनुष्यके देहमें अवतरित ईश्वर हैं और व्यक्त अथवा अभ्यक्तरूपमें सदा इस संसारमें विद्यमान रहते हैं। ईश्वर उन्हींके विग्रहको माध्यम बनाकर हमारे साथ सम्पर्क करता है और हमारे सम्पर्कका विषय होता है। हमारे आध्यात्मिक जीवनके साथ

बनिहता हो जानेपर वह पवित्र आत्मा (Holy Spirit) अर्थात् ईश्वर हमारे ज्ञान, हमारी इच्छाओं एवं हमारे संकल्पोंको सञ्चालित और प्रभावित कर सकता है। इस आत्माको परमपिता परमात्माकी भेजी हुई आत्मा अथवा ईसाकी आत्मा कह सकते हैं। हम ईश्वरको जगत्से बिल्कुल परे नहीं मानते। वह तो सक्रियरूपसे संसारमें और विशेषकर हमारे हृन्-प्रदेशों तथा मन-मस्तिष्कोंमें निवास करता है। सगुणता (Personality) का अर्थ यही है कि ईश्वर एवं जीवके बीचमें अबाध सम्बन्ध है।

२-प्रेम (जिनका चरम विकास आत्मोत्सर्ग है) — ईश्वरका यह गुण इतना व्यापक एवं सुख्य है कि किसी भक्त साधकने ईश्वरको प्रेमका स्वरूप ही बता दिया (God is love)। उसका स्वरूप एवं सत्ता प्रेममयी है। ईश्वर स्वीधी नहीं है, दूसरोंकी मंगल-कामना एवं हित-साधन ही उसका एकमात्र ध्येय है। वह उन लोगोंके प्रेम एवं विश्रम्भके लिये लालायित रहता है जिन्हें उसने अपने ही अनुरूप बनाया है। पापने उस सम्बन्धका विच्छेद कर दिया है। ईश्वरका विरह है जीवको पापरूपी पाशसे मुक्त करना और अपने साथ प्रेम एवं मत्स्यका सम्बन्ध स्थापित करनेमें उसकी मदद करना। यह कार्य सर्वशक्तिमत्ताका छिछोरा पीटनेसे नहीं हो सकता, केवल नैतिक बलसे ही हो सकता है। जीव ईश्वरकी ओर नभी मुक सकता है जब उसे ईश्वरके असीम सौहार्द एवं प्रेमका विश्वास हो जाय और तभी वह बदलेमें ईश्वरके साथ प्रेम करने तथा उसपर पूर्णतया निर्भर होनेके लिये बाध्य होता है। अन्य मतावलम्बी ईश्वरकी गरिमा और महानतापर जोर देते होंगे, किन्तु ईसाइयोंके मतमें तो वह महानता उसके प्रेममें ही है। उसकी अनुप्यरूपमें अभिव्यक्तिकी अवज्ञा तथा उसके अवतार-ईसासही-की यातनाएँ और मृत्यु, यही उस ईश्वरकी महानताका एक सबसे बड़ा प्रमाण है। ईश्वर मनुष्योंकी-सी लीला इसीलिये करता है कि हमलोग उन लीलाओंमें योग दे सकें। Cross अर्थात् (बलिदान) का मार्ग ही उसका मार्ग है। हमलोग अपने अन्तःकरणकी शुद्धताके कारण यह कह सकते हैं कि ईश्वर जो हमसे इतना ऊँचा है, किसलिये इस मर्थलोकमें आवेगा और कष्ट सहकर मृत्युका आलिंगन करेगा? इसके उत्तरमें हम यही कह सकते हैं कि प्रेमके अन्ध एक नेसी बिलक्षण शक्ति है जो प्रेमीसे सब कुछ करवा सकती है।

हमारे पिताकी सर्वज्ञता कैसी, यदि वह अपने बच्चोंके दुःख और दर्दको न जान सके?॥

ईसासही-का अवतार, उसकी यन्त्रणाएँ एवं देहत्याग ऐतिहासिक घटनाएँ हैं, जो इसी पृथ्वीपर एक निश्चित कालमें हुई थीं और जो उस सनातन पुरुष (परमेश्वर) की ही अभिव्यक्तियाँ थीं।

यह सिद्धान्त कि पिता अपने पुत्रको वे यातनाएँ भुगाना है जो वह स्वयं नहीं भोग सकता, प्रायश्चित्त (Atonement) का यथार्थ स्वरूप नहीं है। ईसासही-के रूपमें ईश्वर ही संसारको अपने सम्मुख कर रहा था। ईसासही-ने स्वयं कहा था कि 'जिसने मुझे देख लिया उसने ईश्वरको भी देख लिया।'†

३-पवित्रता (Holiness) — 'वह सर्वशक्तिमान् परमेश्वर पवित्र है, पवित्र है, पवित्र है' — Old Testament में यह बात बार-बार दोहरायी गयी है। New Testament में भी इसका कई जगह उल्लेख मिलता है। ईश्वरमें अपवित्रताका लेश भी नहीं है; इतना ही नहीं, किन्तु संसारमें जितनी भी अयोग्य वस्तु है वह उन सबमे परे है। बाइबलमें कुछ ऐसे वाक्य मिल सकते हैं जिनमें ईश्वरकी ऐसी अनेक लीलाओंका वर्णन है जिनमे उक्त कथनमें विरोध आता है। इसका यही अर्थ है कि या तो हमने उन वाक्योंको ठीक तरहसे पढ़ा नहीं या हम उनके आशयको भली-भाँतिसे समझ नहीं सके अथवा वे वाक्य ही भ्रममूलक हैं। ईश्वरकी पवित्रताके विषयमें सन्देह करनेकी अपेक्षा बाइबल ईश्वरका रत्ना हुआ है इस सिद्धान्तको न मानना कहीं अच्छा है, क्योंकि यह सिद्धान्त आखिर मनुष्योंका ही तो स्थिर किया हुआ है।

४-औचित्य-प्रेम (Righteousness) — अंग्रेजीके 'Righteousness' शब्दका कुछ लोगोंने 'न्यायकारिता' (Justice) अर्थ किया है, परन्तु उसका अर्थ यह नहीं है। 'Justice' शब्दका प्रायः बहुत संकुचित अर्थ लिया जाता है। वह है पाप (दुष्कर्म) के बदलेमें दण्ड और

* 'Shall, then, the Father all things know, Except the children's want and pain?'

† 'He that hath seen me hath seen the Father'

पुण्यधर्मात् सत्कर्मके बदलेमें पुरस्कार तौल-तौलकर देना । 'Righteousness' इससे ऊँची वस्तु है । उसका सम्बन्ध है औचित्य (Rightness) से । ईश्वर वही करता है जो उचित एवं श्रेष्ठ है । वह आसतापीका सर्वनाश नहीं कर देता किन्तु उसके दुश्चरित्र एवं दुष्टाचरणको क्षुब्धकर उसे ठीक कर देता है, अर्थात् अपने प्रति, दूसरोंके प्रति तथा ईश्वरके प्रति उसके बर्तावको सुधार देता है । ईश्वरके औचित्य-प्रेमका यह भाव है कि उसका उद्देश्य इस अव्यवस्थित एवं विरोधग्रस्त जगत्में एकता एवं सदाचारको स्थापित करना है, ताकि इस विश्वरूपी वाद्यमेंसे एक ऐसा सुमधुर संगीत निकले जिसमें कोई एक भी विसंवादी स्वर न हो ।

५-सर्वशक्तिमत्ता—कभी-कभी इसका अर्थ लोग यह समझ लेते हैं कि ईश्वर जो चाहे सो कर सकता है । यह ठीक नहीं है । ईश्वर अपनी इच्छानुसार सब कुछ कर सकता है इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु वह ऐसे कार्यको करनेकी इच्छा ही नहीं करता जो सर्वथा उचित न हो । ईश्वर प्रेमी है एवं उसके विधान औचित्य-पूर्ण होते हैं हमीलिये हम इस बातकी देखकर प्रसन्न होते हैं कि वह सर्वशक्तिमान् है । ईश्वर हमारा मंगल चाहता ही नहीं किन्तु कर भी सकता है इसी विश्रयसे हमारा उसके अन्दर विश्वास बढ़ जाता है और भरोसा बढ़ता है । ईश्वर मुहूर्त होनेपर भी शक्तिहीन होनेके कारण हमारे हित-साधनमें असमर्थ है यह बात हमारी कल्पनामें भी नहीं आ सकती ।

६-विज्ञान (Wisdom)—इसका अर्थ है व्यावहारिक ज्ञान अथवा पूर्णतया उपयोगमें आनेवाली बुद्धि । अपने ज्ञान-

के ही द्वारा ईश्वर अपने सनातन उद्देश्यकी सिद्धिके लिये सारे पदार्थोंसे मिलकर काम करवाता है—इस विश्वाससे कि हमारा पिता परमेश्वर सब कुछ जानता है तथा उसे हमारी चिन्ता है और उसकी शक्ति, जो उसके ज्ञानके द्वारा सञ्चालित होती है और उसके प्रेमसे प्रभावित होती है, सर्वसमर्थ एवं विजयिनी है, उन लोगोंको बड़ा आश्वासन मिलता है जो जीवनकी जटिल समस्याओंको देखकर घबरा जाते हैं ।

इसी प्रकार उसकी दया, क्षमा, मृदुता, सहिष्णुता एवं अन्यान्य अनेकों गुणोंका वर्णन किया जा सकता है, किन्तु स्थान-संकोचसे उन सबका विवरण नहीं दिया जाता । वास्तवमें ये सब गुण उन्हीं गुणोंके रूपान्तर अथवा प्रकारान्तर हैं और उन्हींके अन्तर्गत हैं जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । इतना लिखकर हम अपने इस निबन्धको समाप्त करते हैं । हमने ऊपर जो कुछ भी लिखा है वह इस महान् विषयका एक साधारण-सा चित्र है । इन पंक्तियोंका लेखक इस बातको अच्छी तरह जानता है कि वह ईश्वरके स्वरूपकी "री तरहमें समझने अथवा उचित रीतिसे उसका वर्णन करनेमें सर्वथा असमर्थ है । हम सबके लिये आवश्यकता इस बातकी है कि हम नृपचाप एवं धैर्यपूर्वक उस सुभवसरकी प्रतीक्षा करें, जब वह ईश्वर स्वयं हमारी आत्माके सम्मुख प्रकट हो, ताकि उसकी दयालुताको अधिकाधिक समझकर हम उसके साथ अधिक प्रेम कर सकें, उसपर पूरा भरोसा कर सकें और प्रभुके अनुयायी बनें, क्योंकि उनके रूपमें ईश्वर ही तो अवतीर्ण हुए हैं

त्रिभुवन-कर्ता

साईं तेरी सरन हों अन्नकी मोहिं निघाज ।
दूलनके प्रभु राखिये यहि बानाकी लाज ॥ १ ॥
चहिये सो करिहै सरम साईं तेरे दस्त ।
बाँधो चरन सनेह मन, दुलनदास रसमन्त ॥ २ ॥
त्रिभुवन कर्ता रामजी दास तुम्हार कहा ।
तुम्हें छाड़ि दूलन कही, केहि को याँचन जाइ ॥ ३ ॥

—दूलनदासजी

बौद्ध-धर्ममें ईश्वर-भाव

(लेखक—श्रीगङ्गाचरणलालजी चट्ठा, सभी भारतीय बौद्धसभ)



प्रकारके मनुष्योंमें धर्मके भावकी हानि होती है। एक वे हैं जो धर्मकी भावमें पाप करते हैं और अपना पेट पालते हैं। जब कोई पुरुषार्थी मनुष्य स्वभावात् जनताकी आँखें खोल देता है, इनके दुष्ट कर्मोंका स्वातन्त्र्य ही जाता है। परन्तु अत्यधिक हानि उन मनुष्योंमें होती है जिन्हें धर्मके नामपर अधिकार मिले होते हैं, जिसके कारण उनके हृदयमें ईश्वरताका भाव जाता रहता है। उनकी पजा होती है जिस कारण वे मालिककी यात्रा भूल जाते हैं। इनकी बात मानी जाती है जिस कारण वे किसी नये भावको ग्रहण नहीं कर सकते। इनके हृदयमें सत्यकी खोज नहीं होती, ये सुबहके नये सूरजके चमककारको नहीं देख सकते और बहती हुई नदीके बहावकी कल्पना नहीं कर सकते, ये लोग दस्तावेजी धर्मके कायल होते हैं। जब धर्मकी बागडोर ऐसे अधिकारियोंके हाथमें आ जाती है तब बड़े-बड़े अन्याय होने लगते हैं, प्राणिमात्र दुःखित और व्याकुल हो जाते हैं, वपोंकी तरफ़ी रुकी रहती है। और एक बड़े परिवर्तनकी आवश्यकता होती है।

प्रायः ऐसे ही संकटके समय नास्तिकता या ईश्वर और धर्मके अविश्वास और स्वयंकी तलवार विध्वंसका काम करती है। धर्मकी बाड़को रोकनेवाले अधिकारियोंको हटाकर नये धार्मिक जीवनकी उत्पत्तिके लिये मार्ग साफ़ करनेके लिये धार्मिक संशयवाद या नास्तिकताका युग भी आवश्यक है। एक बार कृष्ण इटनेपर धर्मका नया द्रव्य और स्वरूप प्रकट होता है। संसारकी प्रायः सभी संस्थाओंकी बिगड़ी हुई अवस्था और प्राणिमात्रके दुःखोंको देखते हुए मुझे आश्चर्य नहीं होता कि नास्तिकता बढ़ती जाती है। हम लेखोंसे और व्याख्यानोंसे किसी नास्तिकको ईश्वरका उपासक नहीं बना सकते। संसारमें नास्तिकताके मिटानेका एक ही उपाय है और वह यह है कि ईश्वर-उपासक सच्चा और सेवाका जीवन व्यतीत करें और परिवर्तनके लिये तैयार रहें।

भारत ही नहीं, दूसरे देशोंमें भी यह बात फैली हुई है कि भगवान् बुद्ध ईश्वरकी हस्तीमें विश्वास नहीं रखते थे। इस भ्रमका कारण यह है कि बौद्ध-धर्ममें भी वे दो प्रकारके धर्मग्रही हो गये जिनका मैंने ऊपर जिक्र किया है और जो भगवान्के बताये परिवर्तनके लिये तैयार न थे। और भगवान्की बनायी हुई संघ, उस आदर्श जीवनसे जिसके द्वारा भगवान् अपने ऊँचे भावोंको संसारके सामने दर्शाना चाहते थे, पतित हो गयी। भगवान् बुद्धने ईश्वरताके भावको धर्म-स्वरूपमें वर्णन किया। इस धर्म-शब्दका जितना गूढ़ और मनोहर वर्णन बौद्ध-ग्रन्थोंमें किया गया है उतना किसी अन्य ग्रन्थमें नहीं मिलता। मगर भगवान्ने यह शिक्षा दी कि इस भावका अनुभव ग्रन्थोंके पढ़नेसे नहीं होता, उसके लिये उपासनाकी आवश्यकता है। और यह उपासना एक सच्चे सेवकका जीवन है जिसकी प्रति भगवान्के बताये हुए अष्टांग-मार्गपर चलनेसे होती है।

जिस समय भगवान्ने भारत-भूमिपर अवतार लिया उस समय धर्मके नामपर बहुत अन्याय प्रचलित थे। देवी-देवताओंको प्रसन्न करनेके बहाने लोग मृक पशुओंका जीवन तिनके बराबर भी नहीं समझते थे। राजा विस्त्र-सारके यज्ञमें भगवान्ने स्वयं अपने आपको निर्दोष पशुओंकी रक्षाके लिये अर्पित करके अर्घ्य दियाका मोता बहाया था। इस एक कर्ममें जितना ईश्वर-भाव व्यक्त होता है उतना सहस्रों उपदेशोंमें नहीं हो सकता था।

मूढ़ लोगोंका विश्वास था कि जिसप्रकार ऊँचे अधिकारियोंको रिश्वतके द्वारा अधर्म करनेके लिये खरीदा जा सकता है, उसी तरह देवताओंको भी धर्मकी रिश्वत देकर अधर्मपर सही छाप लगा देनेके लिये राजी किया जा सकता है। ऐसी हालतमें अच्छे धार्मिक जीवनका रहस्य लोग भूल गये। ठीक इसी समय भगवान् बुद्धने अपने तपःपूत धार्मिक जीवनके द्वारा उपासना-मार्ग और धर्मके ऊँचे आदर्शको सामने रखकर मनुष्य-जातिको नास्तिकताकी निराशासे बचाया।

भगवान्ने आत्माको एक नाश होनेवाली वस्तु बताकर

हर एक प्राणीको निर्वाणका अधिकारी बनाया। पर बौद्ध-ग्रन्थोंमें जिस वस्तुको आत्मा कहा है वह वह वस्तु है जो संस्कारों और कर्मोंके कारण एक दूसरेमें भिन्नता कर देती है और जो निर्वाणकी प्राप्तिपर नाश हो जाती है। इस आत्माका एक नष्ट होनेवाला सम्बन्ध उस वस्तुमें है जो हर एक चराचर जीवमें व्यापक है, जो बोधचित्त है, जो अपनी सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त होकर संस्कारों और कर्मोंमें पैदा होनेवाले चरोंको तोड़कर निर्वाण पद पाती है। यह नश्वर सम्बन्ध कर्मानुसार स्थूल और सूक्ष्म हो जाता है और क्षिण-क्षिणमें बदलता रहता है। भगवान् बुद्धका यही भाव था जिसका श्रीशंकराचार्यजीने वेदान्तके नामसे प्रचार किया।

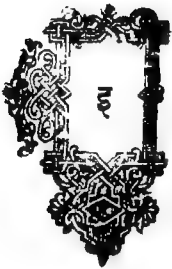
धार्मिक ग्रन्थोंमें ईश्वरताके बड़े-बड़े मनोहर वर्णन

मिलते हैं। उनमें वेदान्तका नेति-नेति वर्णन सबसे ऊँचा माना गया है। मगर मेरा तो ऐसा विचार है कि भगवान् का मौन, उनकी चुप और मुस्कान ही उसका सबसे ऊँचा और सच्चा वर्णन है। यह तो निराकार भावकी महिमा है, पर भक्तोंकी इससे तृप्ति नहीं होती। वे लोग भगवान् के साकार और सगुण स्वरूपके उपासक हैं जिसकी उपासना करके करोड़ों मनुष्य इस भवसागरसे तर गये।

कल्याणमें मुझको बड़ा प्रेम है और जब कभी मित्र लोग मुझको पढ़नेके लिये उसके शंकु दे देते हैं, मैं उनमें बहुत-से ऐसे भाव पाता हूँ जिनका उपदेश मेरे भगवान् ने किया। मगर मैं भगवान् के साकार और सगुण स्वरूपका उपासक हूँ जिसका वर्णन कल्याणमें पानेको आँखें सदा प्यासी रहती हैं।

इस्लाम-धर्ममें ईश्वर

(लेखक—सैयद कासिमअली विशारद, माहिवा/लकार)



इस्लाम-धर्मके प्रवर्तक इज़रत मुहम्मदने अरबकी भूमिमें, जब कि वहाँ अन्धधुन्ध अरायाचार और अतिशय बीभत्स अनैतिकताका गहरा अन्धेरा छाया हुआ था, ईश्वरीय प्रेरणामें भलीभाँति आवश्यक सुधार और ईश्वरीय ज्ञानका प्रचार किया। उनके बनाये हुए नियम या मार्ग आज भी सबका खुदाकी सच्ची राह बता रहे हैं। इस्लामके कुछ सिद्धान्त देखिये—

(१) ईश्वर एक है, सर्वशक्तिमान् है और निराकाररूपमें सारे भूमण्डलका शासक है।

(२) उस परमात्माको छोड़कर दूसरेकी भक्ति और प्रार्थना कभी न करनी चाहिये।

(३) वह खुदा तोबा करनेमें (माफी माँगनेमें) सब कसूर माफ करता है।

(४) अल्लाह (ईश्वर) सब भले-बुरे कामोंका फल देता है और रोज-कियामत अथवा प्रलयके दिन सबके पाप-पुण्यका विचार करके विशेष फैसला करेगा।

(५) परमेश्वरकी गति जानी नहीं जाती, वह इस

संसारका शासक, पोषक और नियमपूर्वक चलानेवाला ईश्वर अदृश्य अनुलित शक्ति रखता है।

उसकी (खुदाकी) आज्ञाएँ

(१) नमाज़ (ईश्वर-प्रार्थना)—प्रत्येक मनुष्य प्रत्येक स्थानमें पवित्र होकर प्रतिदिन पाँच बार अवश्य करे।

नमाज़ हर हालतमें सभी स्त्री-पुरुष, राजा-रंक, अमीर-फकीर, बाल-बृद्ध सबको अनिवार्यरूपमें पढ़नी चाहिये। जनसमूहके साथ पढ़ना अति उत्तम है। मसजिदमें छोटे-बड़े, अमीर-गरीब, रंग-कुरंग आदिका विचार नहीं करना चाहिये, वहाँ सभी लोग समान हैं। सबका एक-सा व्यवहार होता है तथा सब समान स्थानमें बैठते हैं।

(२) रंजा—खासकर वर्षमें रमजान नामक माहमें एक महीनेतक दिनभर बाल-बृद्ध, स्त्री-पुरुष सभीको निरंतर निराहार रहना चाहिये। और पूरा महीना रोजा रख चुकनेके बाद ईदुलकित्र (खुरीका भाग) अन्न करना चाहिये। इस उपवासी मामले आरम्भकी शान्ति और ईश्वर-भक्तिकी महानताको प्राप्त होकर प्रत्येक मुस्लिम (ईमानदार) सिपाहीके रूपमें अपना ज़ादश प्रकट करता है।

(३) जकात—सत्येक मुस्लिमको अपनी आमदनीका चाहीसबों भाग निकाजकर दीन-हीन, अपाहिज और दुखी नर-नारियोंकी सहायता करनी चाहिये ।

(४) हज-संसारके मुसलमानोंको सालमें एक बार अपने मक़्के-मदीने आदि पवित्र तीर्थ-स्थानोंका दर्शन करना चाहिये । उसके लिये भी एक दिन ईदुज्जुहा (आदर्श त्यागका काल) मुकर्रर किया गया है । इस दिन संसारके सभी स्थानोंके थोड़े-बहुत प्रतिनिधि इकट्ठे होकर अपने नैतिक विचार, परोपकारी कार्य और ईश्वरभक्तिके मार्गको सुदृढ़ और सुविशाल बनानेकी योजना रचते हैं ।

(५) कुरान—‘एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति’ पर विश्वास-कर अपने आदर्शपर चलना ।

इस्लाममें हर घड़ी पवित्रतासे इबादत बतलायी गयी है । अनेकों महान् वेदान्ती (सूफी) और कई अलमम फकीर ‘अहं ब्रह्म’ की सिद्धिपर पहुँचकर देशका अतिशय कल्याण कर चुके हैं । मुस्लिम-मजहबमें फिलासफीके जो कुछ सिद्धान्त प्रकट हुए हैं वे सब स्वाभाविक संगठनकी प्रभावशालिनी शक्तिके साथ जुड़े हुए हैं और एकतामें केन्द्रित हैं; इस्लाममें एक खुदा, एक धर्मग्रन्थ कुरान, एक पैगम्बर (ईश्वरीय प्रचारक) अथवा इज्जत मुहम्मद, एक रास्ता, एक ही इबादत, एक भाषा, एक भूषण, एक भाव, एक रखरिवाज, एक ही प्रकारकी मसजिद और एक कानून है । सब लोग एक खुदाको मानते हैं । मुस्लिम-नाम-धारी मनुष्य किसी स्थानमें कैसी भी शिक्षा पाकर खुदाकी खुदाईको न माननेवाला कठिनतासे मिलेगा । कोई दैनिक नमाज़ नहीं पढ़ेगा तो आठवें दिन जुम्मा (शुक्रवार) को अवश्य मसजिदमें जायगा या सालमें ईदके दिन तो अवश्य ही

नमाज़ पढ़ने जायगा और अपने भ्रम, मूल, पापोंकी तोबा करेगा (माफी माँगेगा) ।

इस्लामके सिद्धान्तमें खुदा सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, अजन्मा, अकृत्रिम, अदृश्य, अनोखा, अलबेका, अपरम्पार, कौतुकी, दयालु, न्यायी, निराकार और निर्विकार है । उसकी मूर्ति, उसका चित्र या उसका रूप बनाकर पूजना उसकी अपकीर्ति करना है । क्योंकि जब वह मिट्टीमें और फूलोंमें सबमें व्यापक है तो उस एक भगवान्को दूसरे भगवान्पर चढ़ाना ठीक नहीं, इससे उसकी विशालताकी अनन्तशक्ति-पर आच्छेप होता है । जब खुदा हमसे जुदा नहीं है; हमारे अन्दर है तो हम उसका भय रखकर पापोंसे बच सकते हैं । हिजरत (असहयोग) और शहीद होने (वीरगति) का मन्त्र प्रत्येक मुसलमानके रोम-रोममें इसीलिये फूँका गया है कि जहाँ अजर्म, अत्याचारका तम छाया हो वहाँ वह एकदम चला जाय और ईश्वरीय मार्ग,—ईश्वरीय भक्तिमें हँसते-हँसते अपने प्राण दे दे । उसकी यह वीर-गति अति आदरणीय है । परन्तु खुदा बुरे कामोंसे—पापोंसे सदा दूर रहनेका आदेश देता है और ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, लोभ, मोह, काम, क्रोध, मदमे बचे रहनेका मार्ग बताता है । खुदाके साम्राज्यमें खुदाका कुदरती कानून हमें हमेशा चलावनी देता है और भूल करनेपर दण्ड भी देता है । हाँ, इस्लाममें खुदाकी इबादत हम गृहस्थीमें भी रहकर कर सकते हैं और जो इबादत हम करते हैं वही हमारे जी-समाजके लिये भी है । इस्लाम-मतमें खुदा अवतार नहीं लेता, वह अपने प्रिय भक्तोंकी प्रार्थना सुनकर उनकी सहायता करता है और अपनी आश्चर्यमयी प्रभासे समय-समयपर उन्हें दर्शन भी देता है । वह अपने भक्तोंका कयाल सदा रखता है ।

× × ×

प्रेम-प्याला

आठ पहर चौंसठ घरी जन बुलाधर ध्यान ।

नहिं जानो कौनी घरी आइ मिलैं भगवान् ॥ १ ॥

आठ पहर चौंसठ घरी, भरो पियाला प्रेम ।

बुला कहै बिचारिकी रहै हमारो नेम ॥ २ ॥

जग आये जग जागिये पगिये हरिके नाम ।

बुला कहै बिचारिकी छोड़ि देहु तन धाम ॥ ३ ॥—बुला सादेब

* जो लोग हज़को जाते हैं वे अपने हाथसे केवल एक ही कपड़ा तैयार करके पहनते हैं, वे किसी भी जीवको दुःख नहीं दे सकते, बर्हंत कि अपने छोरिकी जूँ तक भी वही मार सकते ।

सिख-धर्म और ईश्वरवाद

(लेखक—श्रीमान् बानी लालमिहजी ५।० प०)



ख-धर्म ईश्वरवादी है । इसमें ईश्वरके नीचे, सिवा गुरुके और किसीकी सत्ता नहीं मानी जाती । यह एक व्यावहारिक धर्म है । दूसरे शब्दोंमें, यह धर्म सांसारिक लोगोंका धर्म है, दार्शनिकोंका नहीं । सिख-गुरुओंने सांसारिक (गृहस्थी) लोगोंमें रहकर उन-जैसा जीवन व्यतीत किया और उनकी अपनी सरल भाषामें वाणी उच्चारण की और इसप्रकार अपने व्यक्तित्वका प्रभाव डालकर उन्होंने लोगोंके जीवनको ऊँचा बनाया ।

ईश्वर क्या है ?

सिख-धर्मने ईश्वरके भिन्न-भिन्न नामोंके बारेमें कोई झगड़ा नहीं किया । श्रीगुरु-ग्रन्थसाहबकी वाक्यांशमें राम, रहीम, अन्नाह, खुदा, गोविन्द और हरि इत्यादि अनेक नामोंका प्रयोग हुआ है । उस अपार शक्तिके स्वरूपको, जिसे देश, काल और भाषाके भेदमें भिन्न-भिन्न नामोंसे याद किया जाता है—‘आदि श्रीगुरु-ग्रन्थसाहब’ की पहली दो तुकोंमें बतलाया है । सगुरु नानकदेवजी, अपने प्रीतमको, ‘निरंकार’ (निराकार) कहकर सम्बोधन किया करते थे । उनके समयमें संसार साकार ईश्वरका उपासक हो रहा था । उन्होंने बतलाया कि साकार बिकारयुक्त होगा, इसलिये निराकार ही निर्विकार है । जैसा कि—

‘कपन रेखन रंग किल, त्रिहु गुणते प्रम भिन्न’

इस निराकारको समझनेके लिये सचगुरुजीने उसका वह स्वरूप बतलाया है, जिससे शुद्ध अकाल पुरुष (ईश्वर) का ऊँचा स्वरूप समझमें आ जाय और किसी प्रकारका भ्रम न रह जाय । वह स्वरूप यह है—

‘१ ओ सत्त नामु कर्ता पुरुख निरभउ निरवैर
अकाल मूर्ति अजूनी सैम गुरप्रसादि’

पाठकोंकी सुगमताके लिये हम इस मूल-मन्त्रकी गुरुवाणीके आधारपर विशेषरूपेण निम्नप्रकारसे व्याख्या करते हैं—

(१) अकाल-पुरुष एक है—

‘एकौ सिमरो नानका जल-थल रहिआ समाह ।’
‘दूजा कहि सिमरीष जमै तै मरि जाह ।
प्राण अघार मीत साजन प्रम एकै पकंकारै ।
समते ऊचा ठाकुर नानकका बार-बार नमसकारै ।’

(२) अकाल-पुरुष सत्त है—

‘रूप सत्त जका सत्त असधान’

(३) अकाल-पुरुषका नाम-रूप—

नामके धारें सगल जंत । नामक धारें खंड ब्रह्मांड ।
नामके धारें सिमृत बेद पुरान । नामके धारें सुनन ग्यान धिआन ।
नामके धारें आगास पताल । नामके धारें सगल आकार ।
नामके धारें पुरीआ सम भवन ।

(४) अकाल-पुरुष कर्ता है । तमाम सृष्टि इसीकी रची हुई है—

कक्षा कारन कर्ता मोठ

× × × ×
सम तेरी कुदरत तू कादिर कर्ता

(५) अकाल-पुरुषका पुरुष स्वरूप—

‘एका पुरुख सबई नाह’

(६) अकाल-पुरुष निर्भय है—

‘नानक निरभउ निरंकार होर कंते राम रवाल’
‘समना भठ लिखिआ सिर लेख, नानक निरभउ निरंकार सख एक’

(७) अकाल-पुरुष निर्वैर (शत्रुतामें रहित) है—

‘निरवैर अकाल मूरत’

(८) अकाल-पुरुष मरता नहीं—

‘काल रहत अनकाल सरूपा’

(९) अकाल-पुरुष जन्म-मरणमें नहीं आता—

‘जनम न मरे न आवै न जाह’
‘हरी जनम मरन निहान’
‘तू पारब्रह्म परमेश्वर कोनि न आवही’

(१०) अकाल-पुरुष स्वतः प्रकाश है। अपने आप हुआ है। उसे बनानेवाला कोई नहीं है—

यापिया न जाइ कीता न होइ
आपे आप निरंजन सोइ

बस, इसी प्रकार गुरुसाहबानने श्रीगुरुग्रन्थसाहबमें ईश्वरके और भी अनेकों गुणोंका वर्णन किया है। जैसा कि—वह सर्वशक्तिमान् है, न्यायाधीश है और उसका भय सबके ऊपर है इत्यादि।

ईश्वरके ये गुण किसी अन्य देव, देवी, पीर-पैगम्बर आदिमें नहीं हैं और सिख केवल उसी एककी ही उपासना करते हैं।

ईश्वर-प्राप्ति

सिख-धर्ममें ईश्वर-प्राप्तिका सबसे बड़ा साधन भक्ति माना गया है। जब मनुष्य भक्तिमें लीन हो जाता है तो दोष सभी गुण—जैसे—लोकमेवा, देशमेवा और प्रभुकी आज्ञामें रहना इत्यादि स्वयं ही आ जाते हैं। जिसका है—

‘भाई रे मगतिहीन काहे जग आया’

‘नानक बिन मगती जग बडाराना, साचै शब्द मिलाई ।’

परन्तु सिख-धर्ममें ईश्वरकी भक्ति भी अन्य धर्मोंमें कथित भक्तिमें कुछ विलक्षण प्रकारकी है। श्वास-श्वासपर ईश्वरके गुणोंका गान करना, मद्दा उमं याद रखना और स्मरण करना ही सिख-धर्ममें ईश्वरकी भक्ति है। भक्ति-भावकी जड़को सदा हरी-भरी रखना अत्यन्त आवश्यक है और उसका सर्वोपरि साधन हरिकीर्तन है—

हरि कीर्ति साधसंगत है, सिर करमनके करमा।

मगति भाइ हरिकीर्तन करीये, जपि पारब्रह्म नानक निसतराणि॥
बिन सिमरन कूर हरकाया। साकत होमी बंधन पाया॥

मनुष्यका आत्मा उस अकाल-पुरुष परमात्माका अंश है। जबतक यह अपने स्रोतमें सम्बन्धित रहता है, तब-तक बलवान् और निर्मल रहता है। उसमें पृथक् होकर दुःखों और संकटोंमें फँस जाना है, इसलिये सदैव सुखी रहनेका उपाय केवल उस परमात्मासे जुड़े रहना ही है। जुड़े रहनेका उपाय केवलमात्र उस प्रभुसे प्रेम करना और

अपने अस्तित्वको उसके प्यारमें भुला देना है। भक्ति-भावमें उस ईश्वरका श्वास-श्वासपर स्मरण करनेका अमोघ उपाय प्रेम है। सिखोंका गुरुमन्त्र ‘वाहिगुरु’ शब्द है, पर जिस समय रसनाद्वारा इसका जाप होता है उस समय ध्यान उसी अपार शक्तिका होता है, जिसे कि गुरुग्रन्थसाहबमें कई नामोंसे याद किया है।

सिख-धर्मके अनुसार परमात्मा सर्वत्र प्रकाशमान है, इसलिये उसको पानेके लिये जंगलोंमें घूमना, पहाड़ोंकी कन्दराओंमें बैठना या तीर्थोंमें भ्रमण करना व्यर्थ है। वह समीप-से-समीप और हाजरा-हज़र है। पुरुषके भीतर-बाहर वही बस रहा है इसलिये सिख परमात्माको अपने भीतर ही ढूँढ़ता है—

‘सम किछ घर महि बाहरि नाहीं। बाहरि टोले सो मरम भुलाहीं॥

मन कर हल्ले मेरे प्रांतमा हरि रिदै माल भलाइ।

मन कर हल्ले मेरे प्यारिआ बिन्ध देही जोत समाक।’

बस, स्मरणद्वारा ही सिखके भीतर सदैव उसकी याद बनी रहती है। वह प्रत्येक कार्य करता हुआ यह समझता है कि ईश्वर मेरे कार्योंको देख रहा है, इसलिये वह वही कार्य करता है जो ईश्वरको भजे लगे। अर्थात्, वह ईश्वरकी आज्ञामें चलता है और उसकी इच्छामें ही आनन्दित रहता है—

तन मनु घनु सम सटप गुरु कठ हुकम मल्लिये पाइये।

कहु नानक जिन हुकम पछाता, प्रमसाहिबका भेद तिन जाता।

अमृतवाणी ठबरा हरिजमु, मिठा लागे तेरा माना राम।

स्मरण रहे कि, सिख-धर्ममें भक्ति और स्मरणके अति-रिक्त, अन्य शुभ कर्मकोई विशेष महत्व नहीं रखते। परमात्माकी यादके बिना शुभकर्म तो मनुष्यको अहंकारी बना देते हैं और मद्दा गिरा देनेका खतरा रखते हैं। इसलिये ईश्वर-प्राप्तिका केवलमात्र साधन ‘एकस सिउ लिब लाए’ है। अर्थात् अपनी वृत्तिको सदा उस एकके साथ लगाये रखना है। उसका स्मरण करे, उसे याद रखे और इस-प्रकार उस अपार शक्तिये जुड़ा रहे।

(अनुवादक : आशुतोषचरण शर्मा)



थियोसफीमें ईश्वर

(लेखिका— श्रीमती सेफिया वाबिया)



थियोसफी-मत ईश्वरके सगुण एवं मानवीय गुणोंसे युक्त स्वरूपका निषेध-अग्रहण करता है, इसीसे इसके अनुयायियोंको लोग नास्तिक कहते हैं। मैडम एच० पी० ब्लावट्स्की (Madame H. P. Blavatsky) ने, जो थियोसफी-मतके सभी सच्चे अनुयायियोंकी गुरु हैं, अपने 'Secret Doctrine' नामक ग्रन्थकी पहली जिल्दके पृष्ठ २०६ पर लिखा है—

'यह गुप्त सिद्धान्त (Secret Doctrine) निरीश्वरवादका उपदेश नहीं देता। हिन्दू लोग मूर्तिपूजा अथवा सगुण ईश्वरको न माननेवालेके लिये 'नास्तिक' शब्दका प्रयोग करते हैं। इसी अर्थमें हम यह कहते हैं कि यह सिद्धान्त भी अनीश्वरवादका उपदेश करता है। इस अर्थमें हम प्रत्येक रहस्यवादीको नास्तिक कह सकते हैं।'

इस प्रसंगमें मैडम ब्लावट्स्कीने इस बातको स्पष्ट कर दिया है कि थियोसफी ईश्वरके कौन-से स्वरूपको नहीं मानती और साथ ही यह भी बता दिया है कि हिन्दू लोग भी वस्तुतः ईश्वरके इस स्वरूपको नहीं मानते। सुप्रसिद्ध अथवा धानुनिर्मित मूर्तिकी ही पूजा हिन्दू-धर्ममें नहीं है। सर्वव्यापक एवं अमर-जीवनके सारतत्वको प्रकट करनेवाली अथवा जीवनकी किसी विशिष्ट शक्ति अथवा अवस्थाविशेषको अभिव्यक्त करनेवाली मूर्तिका ध्यान एवं पूजन करना प्रकृतिके अन्तर्मूलमें रहनेवाले एवं अभिव्यक्तिके सारभूत रहस्यको समझनेकी चेष्टा करना है। अतः सच्चे हिन्दुओंको मूर्तिपूजक कहना उतना ही भ्रम-मूढक है जितना थियोसफी-मतके सच्चे अनुयायियोंको नास्तिक बतलाना !

इसके अतिरिक्त मैडम ब्लावट्स्की कहती हैं कि थियोसफी-मत प्रकृतिके अन्दर एक निरपेक्ष दिव्य-तत्त्वकी आवश्यकताको सिद्ध करता है। जिसप्रकार वह सूर्यका निषेध नहीं करता, उसी प्रकार वह ईश्वरका भी निषेध नहीं करता। अन्तरंग सिद्धान्तने प्रकृतिके अन्दर ईश्वरका कभी निषेध नहीं किया और न उसने निरपेक्ष एवं अमूर्त-तत्त्वके माननेमें कभी आनाकानी की। हाँ, एकेश्वरवाद

कहलानेवाले धर्मोंमें ईश्वरका जो स्वरूप माना गया है वह उसे मान्य नहीं है, उनके ईश्वर मनुष्यकी ही सृष्टि एवं प्रतिकृति हैं और इसप्रकार उन्होंने उस अज्ञेय-तत्त्वका तिरस्कार एवं उपहास-सा ही किया है। (देखिये Secret Doctrine Vol. I. Page XX.)

थियोसफी किसप्रकारके ईश्वरका निराकरण करती है ? जो लोग ईश्वरको मूर्त सन्तान उत्पन्न करनेवाला सर्वविवेकी पिता, सत्त्वहीन मानवोंकी सृष्टि करनेवाला सर्वशक्तिमान् शासक, दीन, घसहाय, दुखियोंको दत्त करनेवाला अतिशय दयालु व्यवस्थापक, दुराचारी, भूतों, व्यभिचारियों एवं खोराँको पैदा करनेवाला सर्वज्ञ सृष्टिकर्ता एवं सौषाचारविहीन व्याधिग्रस्त स्वार्थान्ध जीवोंका रचयिता परमपावन प्रेमी मानते हैं वे थियोसफीके मतमें ईश्वरका तिरस्कार ही करते हैं। इसप्रकारके सृष्टिकर्ताको मानना बुद्धिको गिराना एवं सदाचारको दूषित करना है।

अब हमें यह देखना है कि थियोसफी ईश्वरका कैसा स्वरूप मानती है ? थियोसफीके मतमें ईश्वर एक, सर्वव्यापक, सनातन, अपरिच्छिन्न एवं अविकारी तत्त्व है जिसके लिये हम 'जीवन' शब्दका प्रयोग कर सकते हैं। निर्गुणता ही उसका प्रधान लक्षण है। थियोसफी इस बातपर जोर देती है कि निर्गुणताको ही थियोसफीके अध्यात्मवादका मुख्य सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिये। इस बातको सिद्ध करनेके लिये मैडम ब्लावट्स्कीके लेखोंमें कई अवतरण दिये जा सकते हैं। परन्तु इस समय तो हमें थियोसफीके द्वारा निरूपित ईश्वरके तत्त्वका ही कुछ विवर्णन कराना है।

यहाँ मैं निर्गुणताके सम्बन्धमें कुछ कहना चाहती हूँ। निर्वाणकी भाँति निर्गुणता भी जीवन अथवा चेतनाकी एक अवस्था है। जिसप्रकार निर्वाणका अर्थ समुच्छेद नहीं है इसी प्रकार निर्गुणता कोई अनिर्देश्य कल्पना नहीं है। प्राकृत मनुष्योंके अनुभवके शब्दोंमें हम निर्गुणताके स्वरूपका वर्णन नहीं कर सकते। किन्तु जिन्होंने अहंकारका संबंध त्याग कर दिया है, ऐसे पुरुषोंके चरित्रका शान्तिपूर्वक मनन करनेसे तथा अहंकारशून्यताकी अवस्थाको प्राप्त करनेकी इच्छासे जो साधक पुरुष जीवनमें इसप्रकार बननेका अभ्यास करते हैं

उनके आचरणोंपर गम्भीर विचार करनेसे निर्गुणताका भाव समझमें आ सकता है। सबे जीवन्मुक्त पुरुष अहंकार-शून्य होते हैं, 'गुरु ज्ञानी' कहलानेके अधिकारी बाल्यमें से ही हैं। ये सब गुरु अपने शिष्योंको शिक्षा एवं उपदेश देनेके लिये जिस पद्धतिका अनुसरण करते हैं उसके द्वारा उनको धीरे-धीरे और क्रमशः अहंकारशून्यताकी अवस्था प्राप्त करनेमें सहायता मिलती है। साधारण मनुष्योंकी जीवाम्मा समुच्चत होकर महात्माके पदपर पहुँच जाती है। ये महात्मा ईश्वरानुत्पन्न होते हैं, इन्हें हम दिव्य मानव कह सकते हैं। ये स्वयं अहंकारशून्यताके स्थूल एवं सजीव चित्र अथवा मूर्तियाँ होती हैं और इनकी जीवन-सरणि उसका अमूर्त स्वरूप होती है, उनकी स्थिति उन श्रीकृष्णके अन्दर होती है, जिन्हें जगत्का आधार (जगन्निवास) कहा गया है। परम पदपर प्रतिष्ठित होते हुए भी वे सदैव सर्ग-क्रियामें सक्रिय सहायता देते रहते हैं। अतएव यह बात विनकुल ठीक है कि गुरु-कृपाके बिना ईश्वर-प्राप्ति नहीं हो सकती। ईसाई योगी भी यही कहते हैं कि पुत्र (ईसामसीह) की सहायताके बिना पिता (परमेश्वर) की उपलब्धि नहीं हो सकती।

थियोसफीके मतमें God, Logos, ईश्वर, Master Adept (ज्ञानी) एवं महात्माका क्या स्वरूप है इस सम्बन्धमें जनतामें बहुत भ्रम फैला हुआ है, अतएव हमें इन भ्राम्यङ्गिक बातोंका उल्लेख करना पड़ा। जो लोग थियोसफीके सच्चे सिद्धान्तकी वास्तवमें जिज्ञासा रखते हों, उनमें मैं प्रार्थना करूँगी कि वे मैडम ब्लॉवट्स्कीके ग्रन्थोंका अध्ययन करें, क्योंकि थियोसफीके आधुनिक सिद्धान्तोंके आधार वे ही हैं। जिस-प्रकार श्रीकृष्णका असली सम्देश जानना हो तो स्वयं गीताको पढ़ना चाहिये, उसके भाष्यों और टीकाओंके पढ़नेसे श्रीकृष्णका वास्तविक अभिप्राय समझमें नहीं आ सकता, इसी प्रकार थियोसफीके सिद्धान्तोंसे अवगत होनेके लिये मैडम ब्लॉवट्स्कीके मूल ग्रन्थोंको पढ़ना चाहिये, उनकी व्याख्याओं, विद्वत्सिद्धियों, एवं टीकाओंसे काम नहीं चलता।

अब हमें यह देलना है कि थियोसफी हमें ईश्वरके विषयमें क्या सिखाती है? थियोसफी वास्तवमें 'ब्रह्मविद्या' का ही नाम है अतएव उसके सिद्धान्त एवं उपदेश वही हैं जो वेदों, उपनिषदों तथा महर्षि व्यासप्रणीत ब्रह्म-

सूत्रोंमें पाये जाते हैं और भगवद्गीता जो इन सब ग्रन्थोंका सार है, ब्रह्मविद्याका प्राण ही है। उसके अन्दर राजविद्या अथवा गुह्यविद्याका उपदेश दिया गया है, गीताके उपदेशोंमें तथा मैडम ब्लॉवट्स्कीके अन्तरंग उपदेशोंमें बड़ा सादृश्य है। बात यह है कि उपर्युक्त महिलाने आधुनिक युगके लिये भगवद्गीताके उपदेशोंको ही दोहराया है।

थियोसफी ईश्वरके दो रूप मानती है—एक तो वह जो इस व्यक्त जगत्में अतीत है हमें थियोसफीकी भाषामें Be-ness (सत्तामात्र) कहते हैं। ईश्वरका दूसरा रूप वह है जो प्रकृतिमें ओतप्रोत है, इसे Be-coming (व्यक्तरूप) कहते हैं।

थियोसफीमें जिसे Be-ness कहा गया है उसीको दार्शनिक कृत्स्न (Absolute) कहते हैं और हिन्दू परब्रह्म कहते हैं एवं उसका स्वरूप निर्गुण अर्थात् गुण-रहित माना गया है। Be-coming अर्थात् ईश्वरका व्यक्त रूप वह है जिसे ब्रह्मका निःश्वास अर्थात् जीवन कहते हैं और जिसका स्वरूप अविच्छिन्न गति, अपरिच्छिन्न देश एवं अनन्त काल है। उपनिषदोंके 'तत्' और 'एतत्' शब्द मैडम ब्लॉवट्स्कीके 'Be-ness' और 'Be-coming' के ही पर्याय हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भगवद्गीतामें अपने इन्हीं दो स्वरूपोंका वर्णन किया है। (देखिये गीता अ० १० श्लो० ४२)

व्यवस्था जीवनका स्वरूप है। इस व्यवस्थाके कारण ही जीवन क्रिया, देश एवं काल इन तीन रूपोंमें अभिव्यक्त होता है। इस व्यवस्थाके कारण ही जीवन अव्यक्त अवस्थाको प्राप्त होता है। व्यवस्थाकी प्रेरणाने जागृत होनेपर जीवन क्रिया, देश एवं कालरूप विश्वको अभिव्यक्त करता है। क्रिया, देश एवं काल अभिव्यक्तिके समानाधिकरण हैं, ईश्वर अथवा परमाणु, शक्ति अथवा रूप, स्थूल जगत् अथवा सूक्ष्म जगत्, जीवनके ये तीन स्वरूप क्रिया, देश एवं कालकी अभिव्यक्ति हैं, जिन्हें सारी त्रिमूर्तियोंकी योनि, परम त्रिमूर्ति कहते हैं। जीवनकी स्वरूपभूत व्यवस्थाका नाम कर्म है जो कारण एवं कार्यके रूपमें व्यक्त होता है, अथवा जिसे कार्य-कारण-भाव कह सकते हैं। एक रजः-कणमे लेकर तेजःपुत्र सूर्यतक संसारमें जितने भी व्यक्त पदार्थ हैं वे सब किसी-न-किसी कारणके कार्य हैं और उनसे अन्य कार्योंकी उत्पत्ति होती है। भगवद्गीता (८।३) में भूतप्राणियोंकी उत्पत्ति करनेवाली तथा उनकी सत्ताको

कायम रखनेवाली प्रकृति को कर्म कहा गया है। व्यवस्थासे ही सृष्टि की उत्पत्ति अर्थात् जीवन की अभिव्यक्ति (प्रभव) होती है और उसीसे उसका संहार अर्थात् जीवन का तिरोभाव (प्रलय) होता है। इसीसे श्रीकृष्णने भगवद्गीता (६।७) में कहा है—कल्पके अन्तमें सारे भूत मेरी प्रकृतिमें लौट आते हैं और अगले कल्पके प्रारम्भमें उन्हें मैं फिर उत्पन्न करता हूँ।^{१६}

हमसे यह सिद्ध हुआ कि ईश्वर सर्वव्यापक जीवन है, सर्वशक्तिसम्पन्न व्यवस्था है। जीवन एवं व्यवस्थाके रूपमें ईश्वर सर्वत्र एवं सर्वदा क्रियाशील रहना है। विश्वका सञ्चालन यह चक्षुषे अथवा काकतालीय न्यायवत् नहीं होता और न वहाँ किसीकी मनमानी अथवा स्वेच्छाचारिता ही चलती है। प्रत्येक परमाणुमें, प्रत्येक शरीरमें, मनुष्यके प्रत्येक व्यवहारमें व्यवस्था अनवच्छिन्नरूपसे कार्य करती रहती है। देवताओं एवं देवियों, मनुष्यों एवं ऋषियों सभीके अन्दर व्यवस्थाका ही साम्राज्य है। देवताओंका देवत्व, मनुष्योंका मनुष्यत्व एवं ऋषियोंका ऋषित्व इसीके आधार पर स्थित है। मैडम ब्लॉवट्स्कीने Secret Doctrine (Vol. 1, pp.274/75) में लिखा है—

‘निर्जीव अथवा प्रजाहीन प्रकृति कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि व्यवस्था विवेकशून्य अथवा अचेतन नहीं हो सकती।’ विश्वका सञ्चालन एवं नियमन भीतरसे बाहरकी ओर होता है। ... विश्वका सञ्चालन, नियमन एवं धारण-पोषण करनेवाली आत्माओंके अनन्त भेद एवं श्रेणियों हैं, उनमेंसे प्रत्येकको कोई-न-कोई कार्य अवश्य करना पड़ता है और उन्हें हम चाहे जिस नामसे पुकारें, चाहे उन्हें ध्यान-चोहान कहें अथवा देवदूत कहें वे सारे-के-सारे कर्मकी व्यवस्था एवं विश्वके नियमोंका सञ्चालन करनेवाले हैं और इसी अर्थमें हम उन्हें दूत अथवा सन्देशवाहक कह सकते हैं। उनके ज्ञान एवं बुद्धिमें परम्पर महान् अन्तर है और उनके सम्बन्धमें यदि हम यह कहें कि वे विशुद्ध आत्माएँ हैं और उनके अन्दर पार्थिव अंशका लेश भी नहीं है, अतएव वे कालातीत हैं तो लोग यह कहेंगे कि यह हमारी कल्पना-मात्र है।’

इससे दो बातें सिद्ध होती हैं जिनको हमें पूरी तौरसे समझ लेना चाहिये—

* सर्वभूतानि कौन्तव्य प्रकृतं यानि मामिकान् ।

कल्पये पुनस्तानि कल्पादौ विद्युज्जम्बहू॥

(१) ईश्वर सर्वव्यापक है। उसका निवास वैकुण्ठ-लोकमें ही नहीं किन्तु पृथ्वीपर भी है। वह केवल भक्तोंके हृदयागारमें अथवा तत्त्वदर्शी सुनियोंके मस्तिष्कमें, एवं याज्ञिकके अंगोंमें ही नहीं रहता, किन्तु पापी, अज्ञानी, स्वार्थपरायण एवं रोगग्रस्त मनुष्योंके अन्दर भी उसका निवास है। उस जीवनके हाथ, पाँव, नेत्र, शिर, मुख एवं कान सर्वतोमुख हैं।^{१७}

(२) ईश्वर अन्तर्यामिरूपसे विश्वका सञ्चालन एवं नियमन करता है। स्फटिककी सुन्दर आकृति साँचेमें ढली हुई-सी प्रतीत होती है, परन्तु वाम्बवमें उसे कोई बाध सत्ता साँचेमें ढालने नहीं आती, पुष्पमें रंग अथवा गन्ध कहीं बाहरसे नहीं आता, पक्षीको उड़नेकी शक्ति कहीं बाहरसे प्राप्त नहीं होती और मनुष्यकी शुभ एवं अशुभ वृत्तियाँ, लूटने अथवा उर्मस्य करनेकी प्रवृत्ति बाहरसे नहीं आती। सारी सृष्टि एक विकासकी क्रिया है, प्रत्येक आकारकी वृद्धि, प्रत्येक प्रक्षालनका विस्तार उस आकारके अन्दर रहनेवाले जीवनके स्पर्न्दमे ही होता है।

उपर्युक्त दो मूल-सिद्धान्तोंमें हम तकके आधारपर इस निर्णयपर पहुँचने हैं कि एक जीवन ही असंख्य रूपोंमें प्रतिभामित होता है। जड़ एवं चैतन्यकी, प्रकृति एवं पुरुषकी वाम्बवमें भिन्न अथवा विलक्षण सत्ता नहीं है, वे एक ही जीवनके दो स्वरूप हैं और प्रकृतिके समस्त रूप जीवनके ही रूप हैं। उपनिषद्वाक्य यह उपदेश कि ‘सर्वके अन्दर एक ही आत्मा है, किन्तु सबके अन्दर उसकी अभिव्यक्ति समानरूपसे नहीं होती’ इसी बातको बतलाता है।

जीवनके त्रिगुणातीत स्वरूपके विवेचनके बाद हमने उसके त्रिगुणमय स्वरूपका विचार किया और अब हमें मनुष्य-जातिके अन्दर जीवनकी श्रोतप्रोत्पत्तिका विचार करना है।

मानव-जातिमें चैतन्यके अन्दरसे विमर्श-शक्ति उत्पन्न होती है अर्थात् चैतन्यको स्वसवेद हो जाता है। जंगली मनुष्यसे लेकर तत्त्ववेत्ता सुनियोजित सबके अन्दर आत्मविमर्शक ज्ञान रहता है, उन सबके अन्दर ‘मैं हूँ’

* सर्वतःपाणिपाद तन्मवेतोऽक्षिश्रोमुखम् ।

सर्वतःश्रोतमलोके सर्वमावृत्य निष्ठति॥

(गीता १३।१३)

यह कहनेकी शक्ति विद्यमान रहती है। अन्य प्राणियोंकी तरह मनुष्योंमें भी यही नियम लागू होता है और उसका व्यापार भी इसी तरह अर्थात् भीतरमें बाहरकी ओर होता है। 'मैं' अथवा 'अहम्' का निवास मनुष्यके अन्दर होता है और उसकी शक्तियाँ तथा क्षमताओंका विकास इसी प्रकार होता है जिसप्रकार बीजमें वृक्षकी उत्पत्ति होती है। अथवा कलिका पुष्पके रूपमें प्रस्फुटित होती है। अतः हमें अपने दोष एवं दुर्गुण किसी दूरवर्ती लोकमें रहनेवाले ईश्वरमें नहीं मिले, वे सब हमारे अन्दरमें ही प्रादुर्भूत हुए हैं। यही हाल हमारे मद्गुणों एवं शक्तियोंका है।

तब हम ईश्वरको कहाँ ढूँढ़ें ? वह तो हमारे अन्दर ही है। फिर यह बाह्य जगत् जो हमें दिखायी देता है क्या है ? यह केवल स्वसंवेदी मनुष्यके ज्ञानका साधनमात्र है, ज्ञानकी शक्ति तो मनुष्यके अन्दर ही रहती है। नैश्वर्की सहायतामें हम सूर्य एवं चन्द्रमाके प्रकाशको देख पाते हैं, मनकी सहायतामें हम विश्वकी रचनाको समझनेमें समर्थ होते हैं, समुद्रतटपर पड़े हुए कंकड़ एवं आकाशमें स्थित ग्रहसंख्य लोकोंकी सुषुमाका अनुभव हम इसीलिये कर सकते हैं कि हमारे अन्दर मौजूदयका विकास हो रहा है। अधिक क्या, हम महान् विश्व अर्थात् जगत्के आन्तरिक रहस्यको हम इसीलिये समझ पाते हैं कि हमारे हृदयके अन्दर हम उस रहस्यको समझ चुके हैं क्योंकि हममेंसे प्रत्येकके अन्दर एक सूक्ष्म जगत् अलग-अलग है। विश्वमें अभिव्यक्त होनेवाली प्रकृतिकी सारी शक्तियाँ एवं क्षमताएँ वास्तवमें मनुष्यकी ही शक्तियाँ एवं क्षमताएँ हैं, मनुष्य विश्वकी एक छोटी-सी प्रतिकृति ही तो है। विश्वमें एक भी ऐसी वस्तु नहीं है जो मनुष्यके अन्दर न हो। मनुष्य प्रच्छन्न ईश्वर है, वह ईश्वरत्वकी धोर कमराः अग्रसर हो रहा है।

अतः आत्मनिरीक्षण करनेपर हम अन्तमें अपनी सत्ताकी तहतक पहुँच सकेंगे और तब हमें यह विदित होगा कि हमारी सत्ताका केन्द्र और सारी सृष्टिका केन्द्र वास्तवमें एक ही है, क्योंकि यह ऊपर बताया जा चुका है कि पुरुष और प्रकृति एक ही है। तब हमें इस महत्तम विषयका अनुभव कब होगा ?

अनुभूतिके जिस मार्गपर मनुष्यको विवेकपूर्वक एवं सावधानीके साथ चलना चाहिये उसका वर्णन 'The

Voice of the silence' (नीरवताका नाद) नामक पुस्तकमें मिलता है, मैडम ब्लॉवट्स्कीने उन कतिपय लोगोंके लाभकेलिये जिन्हें वह पुस्तक समर्पित की गयी है उसका भाषांतर करके उसपर अपनी ओरमें टिप्पणियाँ भी दी हैं। यह छोटी पुस्तक कई भागोंमें विभक्त है और लाण् अर्थात् चेलोंके दैनिक उपयोगके लिये संकलित की गयी है। उसमेंके कुछ पथोंका सारांश नीचे दिया जाता है। देखिये गीताके उपदेशोंमें उसके उपदेश किनने मिलने-जुलने हैं।

(१) कितने शोककी बात है कि सभी मनुष्योंका 'आलय'में सम्बन्ध होने हुए भी अर्थात् उनकी उम्र परमात्मा-में अभिज्ञता होनेपर भी वे उस 'आलय'में कुछ भी लाभ नहीं उठाते।

यह अवतरण हमें साधनकी पहली सीढ़ी बतलाता है। अधिकांश नर-नारी इधर-उधर भटकते हुए अपनी जीवन-यात्राको समाप्त कर देने हैं, किन्तु यह नहीं समझ पाते कि मनुष्य एक पथिक है और वह उस गुप्त गुहाकी यात्रा कर रहा है जहाँ ईश्वरका निवास है। हमारा हृदय ही वह गुहा है, ईश्वरका हमारे हृदयमें निवास है इस बातको जान लेना साधनकी पहली सीढ़ी है। ऐसी अवस्थामें हमें दो कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है, एक तो ईश्वरकी सत्ताके निषेधका और दूसरे ईश्वरको बाहर ढूँढ़नेका। जीवन एवं व्यवस्थाकी सत्ताको अस्वीकार करने-वाला अथवा जीवन और व्यवस्था भीतरमें बाहरकी ओर प्रसारित होती है, हम बातका निषेध करनेवाला शास्त्र आधिभौतिक ही है, चाहे उसका विषय विज्ञान, दर्शन अथवा धर्म कुछ भी हो। अतः हमें इस बातको समझ लेना चाहिये कि हमलोग यात्री हैं और हमारे हृदयरूपी गुहामें रहनेवाले ईश्वरका साक्षात्कार ही हमारा गम्य-स्थान है।

(२) शुरु तो अनेक हैं किन्तु 'आलय' अर्थात् प्रधान आत्मा अथवा परमात्मा एक है। जिसप्रकार उस परमात्माका आलोक तुम्हारे अन्दर निवास करता है उसी प्रकार तुम उसके अन्दर निवास करो। जिसप्रकार तुम्हारे सहचर उस परमात्माके अन्दर निवास करते हैं उसी प्रकार तुम उनके अन्दर निवास करो।

'आलय' (प्रधान आत्मा) आत्मा अथवा परमात्माका ही नाम है। प्रत्येक मनुष्यके अन्दर उसका प्रकाश होता है और इसप्रकार वह उस परमात्माके साथ एकताका सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

यदि ईश्वर हमलोगोंमें प्रत्येकके अन्दर विद्यमान है तो वह उस सर्वव्यापक अंशिका ही स्वरूप होना चाहिये। हम रश्मिकी सहायतासे उस प्रकाशके उद्गम-स्थानको पा सकते हैं जहाँसे रश्मि आविर्भूत होती है। हमारी आत्मा ही वह रश्मि है और जिस समय उसे यह ज्ञान हो जायगा कि 'मैं उस सूर्यसे अभिन्न हूँ जिसका मैं अंश हूँ।' उसी समय वह महात्माओंकी कोटिमें पहुँच जायगी, मरणशील प्राणी अमर हो जायगा, मनुष्य ईश्वरत्व प्राप्त कर लेगा और यात्राका अन्त हो जायगा।

अतः हमारे लिये यह ज्ञान लेना आवश्यक है कि मुक्त होनेकी शक्ति हमारे ही अन्दर विद्यमान है, आलोक-रश्मि ही वह मार्ग है जो हमें उस आध्यात्मिक सूर्यके निकट पहुँचा देती है जिये हम श्रीकृष्ण, ईश्यामसीह, अहुरमज्द, अथवा अवलोकितेश्वर इत्यादि नामोंसे पुकारते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि उस आलोकमार्गपर चलनेकी शक्ति किसप्रकार प्राप्त हो। आत्म-निर्भरता एवं आत्म-विश्वाससे ही हम उस शक्तिको प्राप्त कर सकते हैं। जो मनुष्य दूसरोंपर निर्भर करता है, दूसरोंके भरोसे रहता है वह उस मार्गपर नहीं चल सकता। जो लोग दूसरोंपर निर्भर करते हैं वे अन्धकारके मार्गमें जाते हैं जहाँ दुःख-ही-दुःख है। इसीलिये मनु महाराजने हमें यह उपदेश दिया है कि परचरता दुःख एवं शोकका मूल है और स्वाधीनता सुखका मूल है। किन्तु उपर्युक्त अवतरण-में हमें परस्पर सहायताका भी उपदेश दिया गया है। जो लोग परस्पर सहायता अथवा सार्वभौम भ्रातृभावके महत्त्वको न समझते हुए केवल आत्मविश्वासी होते हैं वे अहंकार एवं विनाशके मार्गको ग्रहण करते हैं। अतः हमें चाहिये कि हम दूसरोंके अन्दर भी परमात्माको देखें और उसकी पूजा करें। इच्छाकी स्वतन्त्रता प्रत्येक नर-नारीका जन्मसिद्ध अधिकार है और हममेंसे किसीको यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरोंको दबाकर अपने अनुकूल बनावे। इतना ही नहीं, हमें यह भी सीखना चाहिये कि किसीकी इच्छाके विरुद्ध अथवा उसके अनजान में उसके संकल्पको न बदलें। इस दिशामें हमलोगोंमें प्रत्येक मनुष्य अहंकारशून्यताका अभ्यास कर सकता है। इसके लिये हमें अपने बगैरे लोगोंकी उपेक्षा अथवा अवहेलना करनेकी आवश्यकता नहीं है; सहिष्णुता, कृतज्ञता एवं आदरके द्वारा अपनेकी सबकी सहायता

एवं सेवाका साधन बनाकर हम इसका अभ्यास कर सकते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि हमें इस बात-को भी समझना चाहिये कि जिसप्रकार हम दूसरोंकी सहायता करते हैं उसी प्रकार दूसरे लोग भी हमारी सेवा एवं सहायताके साधन बने हुए हैं। हमलोग सब 'देविद-नारायण' हैं, व्याधिग्रस्त देवता हैं, हममेंसे किसीमें एक दोष है तो दूसरोंमें दूसरे ही प्रकारका दुर्गुण है, कोई शारीरिक व्याधिसे पीड़ित है तो कोई चरित्र-अष्ट है, कोई हाथोंमें परिश्रम नहीं करता तो किसीका मज्जक कोई काम नहीं करता, इत्यादि-इत्यादि। इसप्रकार अपने सबके दोषोंको स्वीकार कर लेनेसे हमें सबकी महत्ता एवं गौरव-का परिश्रान हो जाता है। इसप्रकार भ्रातृभाव हमारा ध्येय हो जाता है और मेवा ईश्वरके निकट पहुँचनेका मार्ग बन जाती है।

(३) तुम्हें अपनेको विशुद्ध 'आलय' से तर कर लेना है, प्रकृतिको आत्मा-संकल्पसे एकता स्थापित करना है। उसके साथ एक हो जानेपर तुम अज्ञेय हो जाओगे, किन्तु उसमें पृथक् रहते हुए तुम संवृत्तिकी प्रीडाभूमि बन जाओगे, जो संसारके सारे अज्ञानोंका मूल है।

इससे पूर्वके उपदेशमें जो बात कही गयी है उसीका यह उपसंहार है। हमें दैवीप्रकृति अथवा शक्तिकी शरीर-के प्रत्येक द्वारपर प्रवाहित करना है। (देखिये गीता १४।११) हमें चाहिये कि हम प्रकृतिके विवेकपूर्ण कार्यों-के माध्यम बन जायें। उस ज्ञानके बिना देखनेकी चेष्टा करना नेत्रबाधे मनुष्योंका अन्धकारमें देखनेकी चेष्टाके समान है। सारे पदार्थोंको देखनेकी, सारे विषयोंको समझनेकी एवं सारे भूतप्राणियोंको आत्माका प्रकाश देनेकी चेष्टा करना, उनका सच्चा महत्त्व समझना है, आत्माके प्रकाशके बिना हम बँधे ही हैं जैसे अन्धोंके समु-दायमें अन्धे। हमारे संसारमें आज भी अधिकांश मनुष्यों-की यही दशा है। वे स्वयं अन्धे होते हुए भी दूसरे अन्धोंको मार्ग दिखानेकी चेष्टा करते हैं। जो लोग आत्मा-की खोज करते हैं वे ही देखना प्रारम्भ करते हैं और जो लोग देखने लग जाते हैं वे दूसरोंकी आँखें खोलनेमें सहायक हो सकते हैं।

स्थानके संकोचमें मैं तेजोमय पुरुषोंके निवास-स्थान ज्ञानागार अथवा प्रकाशमय अगणको पहुँचानेवाले

प्रकाश-मार्गकी मंज़िलोंका सविस्तर वर्णन नहीं कर सकती किन्तु 'The Voice of Silence' के उपयुक्त अवतरणों-में हमें विचारके छिये पर्याप्त सामग्री मिल गयी है। और उनपर विचार करनेसे हमपर भगवान् श्रीकृष्णके निम्न-लिखित उपदेशकी सत्यता प्रकट हो जायगी जो उन्होंने अहंनके प्रति दिया है।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रदानेन सेवाया।

उपदेशयन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।

येन भूतान्यशेषेण द्रव्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

(गीता ४। ३४-३५)

विनयसे प्रभोत्तरके द्वारा तथा सेवा एवं तीव्र जिज्ञासाके द्वारा तू उस ज्ञानको प्राप्त कर। जिन ज्ञानी महात्माओंने तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया है वे तुझे उस ज्ञानका उपदेश देंगे, जिये प्राप्तकर तू फिर कभी मोहको प्राप्त नहीं होगा। और उस ज्ञानके द्वारा तू सारे भूत-प्राणियोंको पहले अपने अन्दर देखेगा फिर मेरे अन्दर देखेगा।

ज़रथोस्ती-धर्ममें ईश्वरवाद

(लेखक—प्रिन्सिपल श्री एच० जे० एम० तारापुरवाला, बी० ए०, पी०-एच० डी०, बार-एट-ला)

'उदत-नो ज्ञातो आग्रव, यो स्तिपतामो ज़रथुदत्रो'

(फरवरदीन यन्न, १४)

बड़े सौभाग्यसे (हमारे) गुरु स्तिपतम ज़रथुरत्रने जन्म लिया।

जगतके प्रसिद्ध महापुरुषोंमें एक अशो ✽ ज़रथुरत्र थे। प्राचीनकालमें ईरानी आर्योंको धर्म सिखलाने और ईश्वर-प्राप्तिका मार्ग दिखलानेके लिये उन्होंने जन्म लिया था। इनके जन्मके समय ईरानमें पर्वप्रचलित धर्म बहुत ही बुरी स्थितिको पहुँच गया था। सत्य, नम्रता, दया आदि सद्गुण प्रायः नष्ट हो चुके थे। ईरान-देश मानो अत्याचार, असत्य और द्वेषकी ही कोला-हूलि बन गया था, सब लोग दुष्टी थे। उनको सुमार्ग दिखलाने-वाला कोई न था। अवस्थाकी गायामें कहा गया है कि उस समय पृथ्वी माताने गौका स्वरूप धारणकर ईश्वरके दरबारमें जाकर पुकार मचायी कि 'भगवन्! मुझपर कैमे-कैमे संकट आ रहे हैं, मुझको कैमे-कैमे दुःख झेलने पड़ते हैं, मैं क्यों पैदा की गयी? आज मुझे बचानेवाला कोई नज़र नहीं आता। मेरा उद्धार करे ऐमे किसी वीर-का दर्शन कराइये, जिससे मेरे दुःखोंका नाश हो।' यह सुनकर जगत्कर्त्ताने पृथ्वीको धीरज दिया और कहा कि 'मैं यह काम ज़रथुरत्रको सौंप दूँगा और वही तेरा उद्धार करेगा।'

✽ 'अशो' शब्दका मूल अर्थ संस्कृतके 'अशि' शब्दसे मिलता-जुलता है। इन्हें हम महर्षि कह सकते हैं।

इसके कुछ ही दिनों बाद ईरानके रप (रघ) नामक शहरमें राजवंशी कुटुम्बके एक सद्गुणी और सुशिक्षित पुरुष पोउरुशास्पके घर एक पुत्र पैदा हुआ। पोउरुशास्प बड़े विद्वान् और सदाचारी थे। उनका मन सदा ईश्वरभक्तिमें लगा रहता। उनकी पत्नी दोगदो (दुग्धोवा) भी इन्हीं-जैसी थीं। पति-पत्नीमें प्रगाढ़ प्रेम था और उनका मन ईश्वर-सेवामें सदा लगा रहता था।

इस बालकके पैदा होनेके पूर्व ही अत्याचारी बादशाह और सरदारोंकी अशुभ शकुन होने लगे। उन्हें मालूम हो गया कि पोउरुशास्पका बालक हमारे नाशके लिये ही जन्मेगा। इसलिये वे पहलेसे ही उसके विनाशकी युक्तियाँ सोचने लगे। इस बातकी सूचना मिलते ही पोउरुशास्पने तुरन्त ही अपनी गर्भवती पत्नीको उसके नैहर रप शहरमें भेज दिया। गर्भवत्य बालकका तेज इतना प्रभावशाली था कि वह माताके उदरसे ही दीखता था। ज्यों-ज्यों जन्म-समय निकट आता गया, त्यों-ही-त्यों माता दोगदोका शरीर अधिक तेजस्वी और प्रकाशमय होता गया।

जन्मके समय बालकके मुखपर हँसी छिटक रही थी, मानो वह दिव्यधामसे अनन्त आनन्दको अपने साथ ही लाया हो। पोउरुशास्पने उसका नाम स्तिपतम रक्खा। कारण, इस नामके एक बड़े वीर पुरुष उनके कुटुम्बमें हो चुके थे। बाल्यावस्थामें इस बालकके नाशके लिये दुष्टोंने बहुत प्रयत्न किया, परन्तु 'जाको राकै साहयों मार

मकै नहिं कोय' इसके अनुसार उसका कोई एक बाल भी बाँका न कर सका। कहा जाता है कि एक बार इस बालक-को जलती हुई आगमें डाल दिया गया था परन्तु अग्नि स्वयं बुझ गयी। एक बार इसको बाघोंके झुण्डमें फेंक दिया गया, परन्तु उन हिंसक पशुओंके जबड़े ही जकड़ गये। एक बार इसका घोबोंकी टापोंसे रौंदि जानेके लिये घोबोंके समूहमें रख दिया गया परन्तु एक बच्चा सफेद घोड़ा उसके ऊपर खड़ा हो गया और बालकको अपने पैरोंके बीचमें लेकर उसे बचा लिया। स्थितमकी उम्र ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी, त्यों-ही-त्यों पोउरुशास्यका हर्ष भी बढ़ता गया। उनको अपने इस बालकमें भावी पैगम्बरके चिह्न स्पष्ट दिखायी देने लगे। इसलिये उसको पढ़ानेका भार उन्होंने अपने ही ऊपर ले लिया। बालकको ईश्वर-भक्तिकी ओर लगानेवाले उसके पिता ही थे। उस समय ईरानी पन्द्रह वर्षकी उम्रमें युवक समके जाकर गृहस्थाश्रमी बन जाते थे। परन्तु स्थितमने इसी उम्रमें वनकी राह ली। वह मनुष्यमात्रकी सेवाके उद्देश्यमें संसार, घर-बार, कुटुम्ब-वैभव सबको छोड़कर एकान्त वनवासी हो शान्त मनमें अपने हृदयको ईश्वरमें लगा देनेका प्रयत्न करने लगे। इस महाभारत-तपश्चर्यामें उन्होंने लगभग पन्द्रह वर्ष बिताये।

ईश्वरका कोई सेवक जब मनुष्य-जातिके उद्धारके लिये तप करता है, तब दुष्ट शक्तियाँ उतनेही जोरके साथ उसका तप भंग करनेकी चेष्टा किया करती हैं। जिस-प्रकार भगवान् बुद्धकी तपस्याको रोकनेके लिये असुर मार अपनी सारी सेना लेकर पहुँचा था, जिसप्रकार ईसाको छल्लवानेके लिये शैतानने उनको मारे पृथ्वीके साम्राज्यका छोम दिखाया था, उसी प्रकार स्थितमकी तपस्याके समय भी दुष्ट-शक्तियोंके सरदार अहेरेमन ने उनपर हमला किया। अनेक प्रकारके लालच और भय दिखावाये, कहा कि 'सारी पृथ्वीका साम्राज्य ले ले, ईश्वरमें क्या रक्खा है' परन्तु दृढ़निश्चयी न तो लोभमें आये और न भयभीत हुए। उन्होंने अहेरेमन से स्पष्ट कह दिया कि 'बाहे मेरे प्राण निकल जायँ, शरीरकी इच्छियाँ अलग-अलग होकर गिर पड़ें, पर मैं ईश्वरकी आराधना (माइदयश्री) कभी नहीं छोड़ूँगा।' यह उत्तर सुनकर दुष्ट अहेरेमन निराश होकर अपने स्थान—गाढ़ अहंकारमें

* स्थितम अपने भाई-बहनोंमें सबके 'बिचरे' थे।

भग गया। अब स्थितम सिद्धि प्राप्तकर अपनी तपश्चर्या पूरी कर ज़रथुश्र-नामसे प्रकट हुए। ज़रथुश्रका अर्थ सुनहरी (ज़रथ=हरित) रौशनी (उरश्र) वाला होता है। उनके अन्दरमें ईश्वरका प्रकाश पद-पदपर निकलता था, इसलिये उनको यह नाम प्राप्त हुआ।

सम्पूर्ण ज्ञान और परम ज्ञान्ति प्राप्तकर अब वह अपने कर्तव्य-पालनके लिये पूर्णतया तैयार हो गये और वनवास छोड़कर वापिस पुनः घर आ गये। इस समय उनकी अवस्था अनुमान तीस वर्षकी थी। जवानीका पूरा जोश था, हृदयमें साहस था और थी ईश्वरमें अडिग श्रद्धा। घर लौटते ही उन्होंने अपना सन्देश सुनाना शुरू कर दिया। सन्देश कुछ नया तो था नहीं, वही सनातन सत्य, वही सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वरकी आराधना और वही मानव-मेवा, जिसका सब देशोंमें, सभी कालमें अनेकों महागुरुओंद्वारा समय-समयपर उपदेश दिया जा चुका है। इस सनातन सत्यको बीच-बीचमें लोग भूल जाते हैं, इसीसे बारम्बार देश-कालके अनुसार शब्दोंमें उसे कहना पड़ता है।

अशो ज़रथुश्रका सन्देश सबसे पहले माननेवाले उनके चचेरे भाई अहध्यामाह थे। इस पहले शिष्यने जीवनपर्यन्त उनके साथ रहकर उनकी अनेकों सेवाएँ की। पैगम्बरकी अड़े समयपर डाँसाहित करनेवाले, उनके संकटोंमें हिम्मा बँटानेवाले, उनकी आशा और निराशाके भागीदार बहुत वर्षोंतक केवल यह माइदयामाह ही थे। संसारने आरम्भमें इस नये पैगम्बरकी कोई कद्र नहीं की। उनमें ईश्वरी शक्ति थी परन्तु दुनियाँकी आँखों-पर उस शक्तिकी कोई स्पष्ट झलक नहीं पड़ी। धर्म-संस्थापकके सम्बन्धमें प्रायः ऐसा ही हुया करता है। उनका पहला सन्देश प्रवण करनेवाले प्रायः साधारण मनुष्य ही हुआ करते हैं। आगे चलकर जब अधिकार-सम्पन्न और संसारकी नजरमें बड़े-बड़े आदमी उनकी सहायता करते हैं तभी उस धर्मका प्रसार होता है। इसी प्रकार ज़रथुश्र भी वर्षोंतक फिरते रहे, परन्तु किसीने उनका पक्ष नहीं लिया। उनकी बड़ी इच्छा थी कि स्वदेश (पश्चिम ईरान) में ही उनका कार्य सफल हो परन्तु ऐसा नहीं हुआ और अन्तमें ठेठ पूर्व बर्ष

उप-धातुमें 'उरश्र' बनता है। इस धातुका अर्थ है 'प्रकाश करना' मस्कृतमें उष्ण आदि शब्द इसी धातुमें बनते हैं।

(बक्त्री, Bactria) के बादशाह वीरताम्ब (गुरताम्ब) ने उनका स्वागतकर सन्देश स्वीकार किया। वीरताम्बके साथ ही उसके दो प्रसिद्ध वजीर आमास्प और फ़रथोइत्र भी ज़रथुष्ट्रके शिष्य बन गये।

इसके बाद नये ज़रथोस्ती-धर्मका विस्तार बड़े बेगसे होने लगा। इसनेपर भी धर्मके किये वीरताम्बको कई बार बड़ी कठिनाइयाँ सेकनी पड़ीं। अन्तमें सत्यकी जय हुई, दुष्टोंका पराजय हुआ और एक बार फिर पृथ्वीमाता-परमे पापका भार षट्कर क्षान्ति और सत्यका राज्य स्थापित हुआ। अश्वे ज़रथुष्ट्र स्वयं इस विजयको देख सके और अपना कार्य अलीभाँति पूराकर कम्बो उन्नयमें आपने देहरयाग किया।

ज़रथुष्ट्रके काल-निर्णयका भार विद्वानोंपर छोड़कर हम यहाँ यही देखना चाहते हैं कि इन महागुरुने मनुष्यको सुक्तिका कौन-सा मार्ग बतकाया और इनके आनेसे पहले वहाँ किस धर्मका प्रचार था ?

प्राचीन कालमें एक प्रजा अपनेको आर्य कहती थी। उसको इस नामका बड़ा अभिमान था। अनार्य नाम नीच-से-नीच गिना जाता था। वह आर्य प्रजा मध्य एशियामें खासकर पामीरके पहाड़ोंमें बसती थी और एक ही धर्मका पावन करती थी तथा एक ही भाषा बोलती थी। इस प्रजाके लोग ईश्वर-रचित दिव्य तत्वोंकी—सूर्य, अग्नि, चन्द्र, वायु, जल आदिकी आराधना करने और उन देवताओंकी प्रशंसाके स्तोत्र बनाते तथा गाते। तथापि उन्हें इस बातका अलीभाँति ज्ञान था कि ईश्वर एक है। वे उस ईश्वरको 'अहुरा' के नामसे पुकारते। वे इस बातको भी जानते थे कि सत् एक ही है।

एकं सद्भिप्रा बहुधा वदन्ति

अग्नि यमे मातरिश्वातमाहुः ॥

(सत्य एक ही है, विद्वान् उसे नाना प्रकारसे कहते हैं, उसे अग्नि, यम अथवा वायु कहते हैं।) उपनिषद्में 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि शब्द बार-बार आते हैं।

उन लोगोंके भाव और आदर्श बहुत ठाढ़ थे। वे अपना जीवन सादृश्यासे बिताते थे परन्तु ईश्वर-भक्तिमें विशेष मन रखते थे। इनके जीवनका मुख्य आदर्श वेदके

* वेदके एक मन्त्रमें 'अमुरः पिता नः' (अमुर हमारा पिता) ये शब्द वर्णक किये आते हैं।

४६

'अमुर' शब्दमें समाया हुआ है। यही शब्द अवस्तामें 'अष' के रूपसे मिलता है, जिसका अर्थ बिस्फुल 'अत' जैसा ही होता है। परवर्ती कालमें हिन्दू-शास्त्रोंने धर्म शब्दका जो अर्थ किया है, वौद्दोंने जिसको 'धम्म', मुसलमानोंने इस्लाम, ईसाईने Righteousness कहा है, यह अत वा अष भी वही है।

इसके सिवा उन लोगोंमें उस समय भी तीन मुख्य वर्ग ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य (अवस्तामें—आश्रव, रथएस्तार और वास्त्रव) माने जाते थे और उनका उपनयन-संस्कार होता तभी वे द्विज (दुबारा जन्मे हुए) कहाँ जाते थे। पारसियोंमें इस संस्कारको 'नवजोत' (नया जन्म) आज भी कहते हैं। यह नया जन्म अर्थात् धर्म-संघमें जन्म प्राचीन कालमें स्त्री और पुरुष दोनोंका ही होता था। आज भी हिन्दू उस समय जनेऊ और मेखला धारण करते हैं तथा सिरपर शिखा रखते हैं एवं पारसी सुदरेह और कुस्ती धारण करते हैं तथा सिरपर टोपी रखते हैं।

इस आदर्शको माननेवाली और इस सनातन-धर्मका पावन करनेवाली यह आर्य-प्रजा सवियौतक एक ही बनी रही। फिर पता नहीं क्यों उसके दो भाग हो गये। शायद कोई धार्मिक मतभेद रहा होगा। इससे कितने ही शब्दोंके अर्थ तो एक दूसरेसे सर्वथा विपरीत हो गये। हिन्दुओंने अमुर (अहुर) शब्दका अर्थ उल्टा किया तो इसके जवाबमें ईरानियोंने देव (दएव) शब्दका अर्थ 'बुरी शक्ति धारण करनेवाला' अर्थात् राक्षस कर दिया। इसी तरह अन्य कितने ही देवताओंका स्वरूप भी पलट गया। ईरानियोंमें इन्द्र, नासत्य, विद्याता इत्यादि कतिपय देवता बड़े दानव माने गये, फिर भी सोम (हओम), ख्वर-अथवा सूर्य (हरे-अएत, खुरशीद), मास् (चन्द्रमा—माओइह) मित्र (मिथ्र, मेहेर), यम, (यिम) आदिके स्वरूप वही बने रहे। इसी प्रकार उपनयन, वर्णभेद आदिको भी दोनों भागोंने बनाये रक्खा।

परन्तु समयके प्रवाहके साथ ही ईरानमें एक ईश्वरकी आराधना धीरे-धीरे कम होती गयी, ईश्वर (अहुर) की सर्वश्रेष्ठताको झूलकर लोग अधिकांशमें दूसरे देवताओंका पूजन करने लगे। इसीके साथ पुरातन 'अष' का सारा (अयहे पन्ताओ—ऋतस्य पन्थाः) भी विस्मृत हो गया। धर्म होने लगा, आस्थाचारियोंका जोर बढ़ गया।

और सगुरुओंपर दुःख पड़ने लगे। ऐसे ही समय जगत्में महात्मा गुरु अवतरित होकर प्रजाको विस्मृत मार्ग एक बार पुनः दिखाया करते हैं (देखिये गीता ४।७।८)। अतएव ईरानी प्रजाके उद्धारके लिये, उन्हें फिर एक बार ईश्वर (अहुरमजद) की भक्ति सिखानेके लिये, फिर अपने मार्गपर चढ़ानेके लिये महागुरु ज़रथुश्त्रने जन्म धारण किया। उनका उपदेश प्रायः इन्हींके शब्दोंमें, हमारे औभाग्यसे आज भी सुरक्षित है। समयके प्रवाहमें पड़कर ईरानी आर्य-प्रजाको दो बार भारी पराजयका सामना करना पड़ा। पहली बार ईस्वी सन्के ३३१ वर्ष पूर्व यूनानी सिकन्दर (Alexander) के हाथों और दूसरी बार ई० सन् ६५१ में अरबोंद्वारा इन दोनों विप्रलोंमें असली ज़रथोश्ती-धर्मके ग्रन्थोंका नाश किया गया। तो भी ईश्वर-कृपासे कुछ साहित्य दम्तों (धर्म-गुरुओं) के कण्ठस्थ होनेके कारण बच ही गया। उसमें यज्ञ-क्रियाके मूल-मन्त्र भी हैं। उनके संग्रहको यज्ञ (यज्ञ) अथवा ईज्ज कहा जाता है। इसके बहत्तर मन्त्रोंमें* ज़रथुश्त्र पैगम्बरका उपदेश भी शामिल है। इसे गाथा कहते हैं। और ये सब मिलाकर पौष हैं। अहुनवर्ति (हा २८-३४), ऊश्तवह्ति (हा ४३-४६), स्पेन्त-मइन्यु (हा ४७-५०), वोहु-क्षथ (हा ५१) और वहिश्तो-इश्ति (हा ५३)। इन पौषोंमें (खासकर गाथा अहुन-वर्ति) में अशो ज़रथुश्त्रका सन्देश है।

इनके उपदेशोंके तीन भाग हो सकते हैं—(१) ईश्वर-आराधना, (२) सत्य-असत्यका भेद और (३) जीवन किसप्रकार बिताना चाहिये इसका उपदेश।

ईश्वर एक है, वह सर्वोपरि है और वही चराचर जगत्का रक्षक करनेवाला है, यह शिक्षा ज़रथुश्त्रने फिरसे लांबा कर दी। वह दादा (सष्टा) अहुरमजदके सिवा और कोई नहीं है। सारी सृष्टि उसीमेंसे निकलती है, और उसीमें लय हो जाती है। यह उनका सन्देश था। अहुरमजदके सिवा और किसीकी आराधना नहीं करना, यह उनका फ़रमान है। अहुरमजद निराकार होनेसे उनकी उपासना एक ही प्रकारसे की जा सकती है। वह आराधना यह है कि उनके जो बड़े-बड़े खास गुण हैं

उनका स्मरण और मनन करना। ज़रथुश्त्रने भगवान्के ऐसे छः मुख्य गुण बतलाये हैं। (१) अय, (२) वोहु-मनो, (३) क्षथ-वर्ध, (४) स्पेन्त-आर्महति, (५) हुऊवर्तात् और (६) अमृततात्। पीछेसे इन्हीं गुणोंको 'देवता' अथवा फरिस्ता बना दिया गया है। और वे अमेपा-स्पेन्ता* (अमशारुपद) के नामसे प्रसिद्ध हैं।

अय (ऋत) — ईश्वरका यह गुण प्राचीन कालसे ही प्रसिद्ध है। विश्वमें जो कुछ भी हो रहा है वह केवल उसके कारण ही है। यही 'धर्मचक्र' भगवान् बुद्धने भी समझाया था। उसके ही कारण स्वयं अहुरमजद (ईश्वर) अपने स्थानपर स्थित हैं। सारे संसारकी भित्ति अथवा ही निर्भर है। सृष्टि-रचनाके समय ईश्वरकी जा इच्छा थी, जिसके अनुसार यह सब उसने रचा, जो इस स्थावर-जंगमका हेतुरूप है वह अय ही है। दूसरी प्रकारसे देखें तो ईश्वरकी उस इच्छाके पूर्ण करनेमें, ईश्वरकी इस रचनामें सहायक होने-में हमें जो कुछ आचरण करना चाहिये, वह भी अय ही है। ईश्वरेच्छाका अनुसरणकर, उसके नियमोंका पालनकर, सृष्टिकर्ममें सहायक बनना यही अय है। अहुरमजद इसी कारणसे अपने पदपर विराजित हैं और मनुष्य भी यही प्रार्थना करते हैं कि 'सर्वोत्तम अयको लेकर, सर्वश्रेष्ठ अयको लेकर, (हे अहुर!) हम तेरा दर्शन करें, हम तेरे पास पहुँचें और तेरे अन्दर समा जायें'†

परन्तु इसप्रकारकी गूढ़ फिलॉसफीमें पूर्ण अयका रूप सर्वसाधारणकी समझमें नहीं आता। उनके लिये इसका स्मरण और मनन करना बहुत कठिन होता है। इसीलिये पैगम्बरने धर्मके चिह्नस्वरूप आतश (आतश-अग्नि) का स्वीकार किया और आतशको अपना बाह्य स्वरूप माना। आतशको इसप्रकार माननेके दो कारण हैं, एक तो यह कि आतश जिस वस्तुका स्पर्श करता है उसको अपने जैसा ही बना देता है और दूसरा यह कि अग्निकी कपट सदा ऊपरकी ही उठती है। इसी कारणसे ज़रथोश्ति-योंको आतश-परस्त (अग्नि-पूजक) माना जाता है और वे अय-वहिश्त (अग्निदेव) आतशके फरिस्ता कहलाते हैं।

* इस नामका अर्थ पवित्र अमर (शक्तियों) होता है।

† मुसलमान इसीको इस्लाम कहते हैं।

‡ अय वहिश्त, अय कयश्त, देरेशम व्या, पहरि व्या जम्याम, हमेस व्या हस्म।—होशवाम।

* ये मन्त्र पारसियोंमें 'हा' के नामसे प्रसिद्ध हैं इन्हीं ७२ 'हा' के सारकस्वरूप हमारी कुस्ती ७२ कनके तारोंसे बनायी जाती है।

बोहु-मनो—(भला मन) यह ईश्वरका दूसरा गुण है। ईश्वरका मन भला ही होता है। उसकी उत्पत्ति की हुई सब चीजें भी भली ही होती हैं। मनुष्यको उसके मार्गपर जानेमें बोहु-मनो (बहमन) फरिश्ता मदद करता है। संकटके समय केवल यही हमारी रक्षा कर सकता है। भले मनका एक स्वरूप प्रेम है और वह प्रेम सिर्फ मनुष्यों-के प्रति ही नहीं, समस्त जीवोंकी ओर उसकी धारा बहनी चाहिये। इसी कारण बोहु-मनो (बहमन) अमशास्पंद गौ-पशुओंका रक्षवाल्ह गोपाल माना जाता है। गाय-पशुओंका पालन करनेमें, उनको भरपेट चारा-पानी देनेमें, उनकी हिंसक प्राणियोंसे रक्षा करनेमें इमें बहमनका आशीर्वाद प्राप्त होता है। आज भी पारसी मांसाहारी होनेपर भी हर महीनेकी दूसरी तारीख (बहमन रोज) को मांस नहीं खाते और कुछ लोग तो बहमन (११ वें) महीनेके तीसों दिन मांसका त्याग करते हैं। बहमनके आशीर्वादे मनुष्यका मन शुद्ध होता है और उसे अपना माग भलीभाँति समझने लगता है तथा उसके ज्ञानकी वृद्धि होती है।

अश्व-वर्य—(शहरेवर) यह ईश्वरके प्रभुत्वाका सूचक है। ईश्वर विश्वके प्रभु है, सबपर एकचक्र-मत्ता-धारी अद्वितीय स्वामी है। शहरेवर अमशास्पंद ईश्वरकी अपार, अनन्त शक्तिका स्मारक है। वह शक्ति जिस मनुष्यपर उतरती है वह मनुष्य कार्यदेक्ष हो जाता है, ईश्वरका साथी बन जाता है। और लोक-कल्याणके कार्य करनेमें समर्थ हो जाता है। शहरेवर हमारे इस स्थूल भुवनमें धातु और धनके सरदार (स्वामी) है। क्योंकि इस निम्न संसारमें यही धनुष्य शक्तिका स्वरूप मानी जाती है।

स्पेन्त-आर्महति—(अमपन्दारमद) का मूल अर्थ पवित्र सदबुद्धि होता है। ॐ यह धर्मपर एकनिष्ठ श्रद्धा और अहुर (ईश्वर) के प्रति अनन्य भक्तिभाव प्रदर्शित करती है। धर्मकी अधिष्ठात्री यही अमशास्पंद मानी जाती है। प्रत्येक ज़रथोस्ती नवजोत होनेपर इसीकी शरणमें जाता है। यही अमशास्पंद धरतीमाता हमारा भार वहन करने-वाली पृथ्वीपर अधिकार रखती है। जब कोई ज़रथोस्ती

* इन छः अमशास्पंदोंमें पहले तीन नर-जाति-सूचक और दूसरे तीन नार-जातिके हैं। ज़रथोस्ती धर्ममें स्त्री-पुरुषका ज़रा भी भेद नहीं है, उसका यह भी एक प्रमाण है।

देहत्याग करता है तब वह इसी स्पेन्त-आर्महति की गोदमें जाकर सोता है ॐ।

हऊवर्नात्—(खोरदाद) यह अहुरमज्दकी सम्पूर्ण-ताका सूचक है। ईश्वर सब प्रकारसे पूर्ण है और उसकी सम्पूर्णताको प्राप्त करनेके लिये प्रत्येक जीव प्रयत्नवान् है। यह अमशास्पंद जलकी अधिकारिणी है। इसके साथ अमृततान् (अमरदाद) अमशास्पंदका नाम सदा युक्त किया जाता है। अमरदाद ईश्वरका अमरत्व दर्शाता है और मनुष्यको मृत्युमुखमें दूर करता है। यह अमशास्पंद वनस्पतिके साथ सम्बन्धित है।

इन छः अमशास्पंद और सातवें अहुरमज्द अर्थात् इसप्रकारके पदगुण-सम्पन्न ईश्वरकी आराधना करना अथवा ज़रथुश्त्रने ईरानी प्रजाको सिखाया और आतश् (अग्नि) का अपने धर्मका विद्वत् रूप मानकर, उसे परम पवित्र तत्त्व समझकर उसकी रक्षा करनेकी ईरानी प्रजा-को आज्ञा दी।

इन छः अमशास्पंदोंके अतिरिक्त ज़रथुश्त्रने एक और भी शक्तिका वर्णन किया है और अमशास्पंदोंकी भाँति उसको भी दैवी स्थान देकर मानो देवताकी ही उपमा दी है। वह स्रोप (सरोश) यजद (फरिश्ता) † है। स्रोप शब्द स्रो (श्रु) धातुसे बना है, जिसका अर्थ प्रायः सम्कृत-के 'शुश्रूषा' जैसा ही होता है। मनुष्यमें यह सर्वोत्तम गुण माना जाता है। ईश्वरकी भक्ति, उसके नियमोंमें अहिंस श्रद्धा और उसकी शुश्रूषा (सेवा)—सरोश इन सबका सूचक है। गाथामें यजदोंमेंसे सिर्फ इसीका ही नाम मिलता है। मनुष्यको जब यह प्राप्त होता है तबो वह मुक्तिके मार्गपर आरुढ़ हो सकता है। एक स्थानपर

* मृत शरीरोंके दहमपर चढ़ानेके बाद बहापर उपस्थित मर लोग 'स्पेन्त-आर्महति' को नमस्कार करके मनोभाषण करते हैं।

† इसी कारण पारसी मृत देहको जलमें नहीं, क्योंकि मुर्देके रसमें आतश् अपवित्र हो जाता है, उस शवको भूमिमें नहीं गाढ़ा जाता और जलमें भी नहीं फेंका जा सकता। दहमा बँधकर उसमें शवको सुला रख देते हैं। बड़ा पक्षी उसका भक्षण कर जाते हैं। हड्डियाँ सूर्यके तापसे माफ होकर अन्तमें धूल बनकर दहमाके अन्दरके ऊँधमें गिर पड़ती हैं।

‡ यजद अर्थात् पूजनार्थ (यन् धातुसे)। यजदोंका स्थान अमशास्पंदसे कुछ नोचा है।

जरथुश्च स्वयं प्रार्थना करते हैं कि 'हे मजदा ! तू जिसको चाहता है उसके पास सरोश, बहमन (भला मन) के साथ मिलकर जाता है ॥' अर्थात् तेरी कृपा होती है तभी मनुष्यमें तेरी सेवा करनेकी इच्छा उत्पन्न होती है और उसका मन भला बन जाता है ।

गाथामें अहुरमजदके अतिरिक्त इन सातों (छः भमशास्पंद और एक सरोश) के नाम मिलते हैं, परन्तु अगले देशताओंमेंसे किसीका नाम नहीं मिलता । इसमें यही सार निकलता है कि जरथुश्चने अहुरकी और उनके छः मुख्य गुणोंकी ही स्मृति की है एवं मनुष्यजातिके लिये सरोश (शुभ्रषा) की आवश्यकता दिखलायी है । गाथाके इन नामोंको उनके असली अर्थमें लेनेसे खेसका अर्थ स्पष्ट समझमें आ जाता है । तो भी कई जगह इन गुणोंको 'आलंकारिकरीति' में (Allegorically) फरिश्ता माना गया है । गाथामें सबसे महान् उपदेश मनुष्यकी उत्पत्ति-विषयक है । इस उपदेशमें जरथोश्ती-धर्मकी गूढ़ फिलॉसफी समायी हुई है । गाथामें यह शिक्षा स्पष्ट शब्दोंमें दी गयी है कि सृष्टिके प्रारम्भमें अहुरमजदने दो दैवी शक्तियोंको (महन्त्यु-मिनो) उत्पन्न किया । ये दोनों शक्तियाँ मदा ही एक दूसरेकी विरोधिनी हैं । जब ये दो शक्तियाँ मिलीं, तब इन्होंने सृष्टिका कार्य सफल करनेके लिये, प्रथम जीवन और अ-जीवनको उत्पन्न किया । † इन दोनों मीनोंके नाम स्पेन्तो-महन्त्यु (स्पेनामीनो) अर्थात् 'पवित्र शक्ति' और अंग्रो-महन्त्यु (अहेरेमन) अर्थात् 'बुरी शक्ति' है । इन दोनों शक्तियोंके मिलनेमें ही सृष्टिकी उत्पत्ति हो सकती है । वस्तुतः यह बुरी शक्ति भी ईश्वरका ही एक रूप है । अगर यह न हो तो हम भलेको (पवित्रको) पहचान ही न सकें । जिसप्रकार हिन्दू-सांख्यवादमें प्रकृति और पुरुष साथ मिलकर सृष्टि रचते हैं वैसे ही अंग्रो-महन्त्यु और स्पेन्तो-महन्त्यु दोनोंने मिलकर यह सब उत्पन्न किया है । परन्तु अन्तमें तो अंग्रो-महन्त्युकी ही हार है । हमारा आत्मा इस स्थूल लोकमें उतर आया, इसलिये हमने ही अंशमें हम अंग्रो-महन्त्युके वशमें हो गये । परन्तु हमारे अन्दर दैवी अंश भी है । स्पेन्तो-महन्त्यु भी हमको उत्पन्न करनेमें सहायता करता है और हमारा कर्तव्य है कि धीरे-धीरे हमारे अन्दर

स्पेन्तो-महन्त्युका विकास होकर अन्तमें वह पूर्णरूपसे प्रकट हो जाय ।

एक रहिते अंग्रो-महन्त्यु आभासमात्र (माया रूप) है । वह सिर्फ अ-जीवन ही पैदा करता है । वह केवल अभावरूप (Negation) है तो भी हमको वह सत्य-सा भासता है । इस अज्ञान-अन्धकारके भिटेने ही स्पेन्तो-महन्त्युका तेज पूर्णरूपसे झिलमलाने लगता है । जैसे तेजके साथ छाया भी होती है, वैसे ही स्पेन्तो-महन्त्युके साथ अंग्रो-महन्त्यु भी रहता है । जबतक हमलोग छायामें रहते हैं तबतक तेजको नहीं देख सकते और अन्धकारमें गोता खाते रहते हैं, परन्तु यह याद रहे कि छाया स्वयं कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है ।

इस गहरी फिलॉसफीके कारण जरथोश्ती-धर्मको अनेकों यूरोपियन विद्वान एक प्रकारका द्वैतवाद (Dualism) कहते हैं, परन्तु वे इस मूल तत्त्वको मूल जते हैं कि इन युगल शक्तियोंको उत्पन्न करनेवाला अहुरमजद तो एक और अद्वितीय ही है । फिर जरथोश्ती-धर्म शुद्ध 'अद्वैतवाद' नहीं तो क्या है ?

यहाँतक तो विद्वानोंके कामकी फिलॉसफीका वर्णन हुआ । साधारण मनुष्य तो इन सारी ज्ञानोंमें केवल ईश्वराश्रय ही समझ सकता है और ईश्वरके छः गुणोंकी स्मृति करने-करते उनको फरिश्ताकी उपमा दे देता है । अंग्रो-महन्त्यु अमानक है, उसमें दूर रहना चाहिये, यों विचारकर बालक ज्यों अन्धकारमें डरता है त्यों ही वह उसमें दूर भागता है । अतो जरथुश्चके धर्ममें यदि केवल हतनी ही बात होती तो उस धर्मका हतना अधिक प्रचार नहीं हो सकता था । इस धर्मका स्वास रहस्य तो उनका बतलाया हुआ जीवन बितानेका मार्ग है और इसी कारण हजारों वर्ष बीत जानेपर भी आज लाखों आदमी भक्ति और प्रेमके साथ उनके पवित्र नामका स्मरण कर रहे हैं ।

धर्ममें तीन प्रकारके मार्ग हो सकते हैं;—ज्ञान-मार्ग, भक्ति-मार्ग और कर्ममार्ग । दूसरे शब्दोंमें ईश्वरको तीन प्रकारसे पहचाना जा सकता है—ज्ञानसे, भक्तिसे अथवा कर्मसे । अवश्य ही जो महात्मागण ईश्वरके साथ एकत्वको प्राप्त हो गये हैं, जो भक्ति प्राप्त कर चुके हैं, उनमें तीनों शक्तियोंका एक ही साथ पूर्ण विकास देखा जाता है । परन्तु साधारण मनुष्योंके लिये अपनेमें जिस शक्तिकी अधिकता हो, उसीके अनुकूल मार्ग ग्रहण करना चाहिये ।

* 'किस ना मजदा' यह मन्त्र दिनमें अनेक बार पढ़ा जाता है ।

† गाथा अनुसन्धर्षित ।

जिसप्रकार किसी एक मनुष्यके लिये अमुक मार्ग विशेष उपयोगी सिद्ध होता है उसी प्रकार एक प्रजाके जीवनमें भी अमुक शक्ति अधिकांशमें प्रकट होती है और तब वह प्रजा उस अपने अनुकूल मार्गको स्वीकार करके ही विजयिनी होती है। ईरानी प्रजा कर्मशील थी और इसीलिये ज़रथुश्त्रके धर्ममें कर्ममार्गपर विशेष जोर दिया गया। आज भी पारसी-जाति उसी मार्गपर चल रही है।

अवस्थामें कहा गया है कि जब अहुरमज्दने सृष्टिकी रचना की तब उसने 'अहुन-वह्य' कलामका उच्चारण किया। जब अंग्रो-मरन्तु ज़रथुश्त्रको मारने आया, तब उन्होंने उस स्वरमें यह मन्त्र पढ़ा, जिसमें डरकर अंग्रो-मरन्तु वहाँसे भाग गया और उसके साथी अन्याय्य 'दएव' गण भी अन्धकारमें जा छिपे। यह 'अहुन-वह्य' मन्त्र ज़रथोश्टी-धर्ममें सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। इस मन्त्रके लिये यह कहा गया है कि अहुनेम-वडरीम तनूम पाइनि (अहुन-वह्य शरीरकी रक्षा करता है)। एक दूसरे स्थल-पर लिखा है कि जो इस कलामको अलीभांति समझकर स्पष्ट रीतिमें उचित स्वर और रागके सहित हुम्मे गाता है उसको शेष पूरे अवनारके पाठका पुण्य होता है। सारांश यह कि इस कलामका रहस्य बहुत ही गम्भीर माना जाता है। ज़रथोश्टी-धर्ममें यह मन्त्र सबसे पवित्र और पावनकर्ता समझा जाता है। इसका एक यही कारण हो सकता है कि हममें ज़रथोश्टी-धर्मका वास्तविक तत्त्व समाया है। और इसी समझको ज़रथुश्त्रका पैगाम या सन्देश समझा जा सकता है। साधारण मनुष्यकी दृष्टिमें भी हम इस कलामको समझें तो हमें सहज ही पता लग जायगा कि आज तक शरती इस पुरातन-धर्मको क्यों पकड़े हुए हैं?

हम कलामका अर्थ निम्नलिखित है—

'यथा अहु वडर्यो अथा रतुश अपान्-चिन् हवाः
वडहेउश दङ्गा मनङ्गो यथोथननाम् अङ्गहेउश
मङ्गार्ः शप्रेम-त्रा अहुगाइ आ यिम् त्रिगुण्यो दवत्
वास्तारम् ॥'

अर्थ जैसे एक अहु (संसारका स्वामी) सर्वोत्तम (सबसे अधिक शक्ति और प्रभावशाली) (इस स्थूल लोकपर) होता है उसी प्रकार एक रतु (महात्मा ऋषि)

* इस मन्त्रके कम-से-कम २५ अनुवाद अलग-अलग हो चुके हैं। यह अनुवाद तो मैं अपनी शक्तके अनुसार कर रहा हूँ।

(अपने) अथ (सत्य) (केवल) के कारण (सब भुवनो-में सर्वोत्तम है)।

बहुमन अमशान्पदकी नेट उनके लिये है जो सृष्टिके स्वामी (अहुरमज्द) के लिये कार्य कर रहे हैं।

अहुरकी शक्ति उस मनुष्यको प्राप्त होती है जो सहायार्थियोंको (योग्य पात्रोंको) सहायता देता है।

मन्त्रमें तीन पंक्तियाँ हैं, तीनोंका पृथक्-पृथक् अर्थ दिखाया गया है। पहली पंक्तिमें अहु और रतुकी महत्ता-की समानता की गयी है। अहु अर्थात् संसारका स्वामी, सारी पृथ्वीपर जिसकी हुदाई फिरती हो ऐसा बादशाह। और रतु अर्थात् महाशानी धर्मोपदेशक ऋषि। अहु चाहे जितना बड़ा हो परन्तु रतु का स्थान उसकी अपेक्षा कहीं ऊँचा है। अहु तो केवल अपने देशमें ही पूजित होता है परन्तु रतु तो सारे भूमण्डलमें ही नहीं, स्वर्ग-लोकमें भी उच्च स्थानपर विराजता है। किस कारणसे? अपने अथकी शक्तिके कारणसे। जो महात्मा अथमें स्थित सृष्टिके रहस्यको समझ लेते हैं वे अपने ज्ञान-बलसे प्राप्त तपोबलके द्वारा उच्च स्थान प्राप्त करते हैं। जिसप्रकार आर्यावर्तमें और इसी प्रकार ईरानमें भी धर्मगुरु (आश्रव) का स्थान राजामें ऊँचा गिना जाता था। अवस्थामें वेगके स्वासीकी अपेक्षा 'दम्पुरान दन्पुर' का दर्जा ऊँचा माना गया है। इसमें उनका ब्रह्मवर्चस—दैवीतेज ही कारण है। जिसने अथ प्राप्त किया उसीको यह तेज भी मिलता है। और तभी उसका प्रभाव 'देशके पति' से भी अधिक होता है।

हमके बाद यह बतलाया गया है कि अथके मार्गपर चलनेवाले मनुष्यको क्या करना चाहिये? वह मनुष्य 'सृष्टिके स्वामीके लिये कार्य करता रहे।' अथका मार्ग ही अहुरका (ईश्वरका) नियम है और उस पथपर चलना ही अहुरमज्दके सृष्टिक्रममें सहायता पहुँचाना है। ऐसा मनुष्य जो कुछ करता है वह सब ईश्वरको ही अर्पण करता है। उसके हाथमें जो कुछ भी कार्य होता है, सब सृष्टिके स्वामीके लिये ही होता है। अगवद्वर्णित कर्मोंमें पापको स्थान नहीं है क्योंकि ऐसा मनुष्य फलकी

* यत्करोषि यदश्राम यज्जुहोषि ददासि यद्।

यत्तपस्यासि कान्तेय तत्कुर्वन्स्य मर्दपणम् ॥

(गीता ९। २७)

आशा ही नहीं करता। वह सदा-सर्वदा ईश्वरमें निमग्न रहकर निष्काम कर्म करता रहता है।

इसका फल क्या होगा? 'बह्मन अमशास्पदकी प्राप्ति।' बह्मन अमशास्पद अर्थात् 'भला मन' और उसकी प्राप्ति अर्थात् मनका शुद्ध हो जाना—निर्मल हो जाना। इससे हमारे मनका सारा पापरूपी कीचड़ धुलकर मन स्वच्छ हो जायगा और जिसप्रकार स्वच्छ दर्पणपर सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार स्वच्छ मनपर ईश्वरका प्रतिबिम्ब चमक उठेगा। ऐसा मनुष्य ईश्वरकी इच्छाको स्पष्ट समझ सकता है, उसका मन निर्विकारी हो जाता है और उसमें सार-असार, सत्-असत्का विवेक उत्पन्न हो जाता है एवं उसकी अन्तर्दृष्टि खुल जाती है।

अमितम पंक्तिमें जो यह कहना गया है कि 'योग्यपात्रों' की सहायता करनेसे हमें अहुरकी शक्ति प्राप्त होती है। पात्रका अर्थ है जिसके पास किसी वस्तुका अभाव हो। ऐसे पात्रकी अमिलिषित वस्तु यदि हमारे पास हो तो हमें उसको अवश्य ही वह देनी चाहिये और उसके अभावको मिटाना चाहिये। जिनके पास ईश्वर-प्रदत्त वस्तुएँ होती हैं उनको चाहिये कि जिनके पास उन वस्तुओंकी कमी हो उनको उनका हिस्सा दें। किसीके पास अपार धन है, कोई विशाल ज्ञानसे सम्पन्न है, कोई शारीरिक बलसे पूर्ण है, किसीका धर्मबल अत्यन्त बढ़ा हुआ है। ऐसे लोग यदि ईश्वरसे पायी हुई इतनी देनको अपने ही पास रख लें तो उससे क्या लाभ हुआ? एक जगह पड़ा हुआ जल सब जाता है, हममें कीड़े पड़ जाते हैं और एक स्थानपर इकट्ठी की हुई खाद नुगन्ध और बीमारियाँ फैलाती हैं। परन्तु वही जल और खाद यदि उचित स्थानोंमें बाँट दी जाय तो उससे अनाज पैदा होता है और प्रजाका अमित उपकार होता है। इसी प्रकार ईश्वरने हमलोगोंको जो कुछ भी दिया है, बटोरकर रखनेके लिये नहीं परन्तु योग्य पात्रोंको देनेके लिये है।

हमलोगोंकी एक जगह पड़े तालाबके जलकी तरह न बहकर बहनी नही बनना चाहिये। इसप्रकार दूसरोंको देनेसे हमारी शक्ति, धन, ज्ञान, बल अथवा धर्म आदि कभी घटने नहीं, उल्टे बढ़ने हैं। ऐसे मनुष्योंकी ईश्वर अधिकाधिक देना ही रहता है। * और उर्थो-उर्थो हमारी

* दुर्निपाकी धन दौलत कदाचित् घट सी जाय, परन्तु उसके बरलमें अहुरकी शक्ति (ईश्वरीय शक्ति) तो मिलती ही है। स्थूल

शक्ति बढ़ती है उर्थो-ही-उर्थो हमारे द्वारा मनुष्य-सेवा भी अधिक होती है।

एक ही शब्दमें ज़रथोश्ती-धर्मका सार निकाला जा सकता है, वह है—'परोपकार'।† सच्चा ज़रथोश्ती वही है जो अपने लिये कुछ भी नहीं माँगता और प्रत्येक कर्ममें दूसरोंकी भलाई देखता है। परोपकारका अर्थ है स्वार्थसे विपरीतता। यही अर्थके मार्गपर चलना है। इस महामन्त्र-को पूरा समझकर जो स्पष्टरूपसे गाता है उसमें 'अंग्रो-मइन्नु' हार जाता है। यह कहना क्या अतिशयोक्ति गिना जायगा?

ऐसा आदर्श-जीवन बिता देनेके लिये ईरानके महागुरुने मनुष्य जातिके लिये तीन ही आदेश दिये थे—हुमन (सुविचार), हुस्त (सुवचन) और हु-वर्तन (सुकर्म)। इन तीनोंमें सब धर्मोंके सब आदेश समाजाने हैं। मनसा, वाचा, कर्मणा कभी ऐसा कोई कार्य न करना जिससे दूसरेको पीड़ा पहुँचे। इन तीनोंमें प्रथम स्थान सुविचारका है। धर्ममें, अच्छे मार्गपर जानेमें (निष्ठि-मार्गमें) विचार ही सर्वोपरि है। मनमें कुकर्म करनेवाला पापी ही माना जाता है।‡ इस मार्गमें पहली बुद्धि मनकी ही है। और एक ज़रथोश्तीमें जबतक हुमन न हो तबतक वह एक पैर भी आगे नहीं बढ़ा सकता।

हुस्तका अर्थ ज़रथुश्तने मनु भगवान्के समान ही किया है §। सत्य बोली, मीठी बोली, कभी मशूर भी बोली, परन्तु असत्य भाषण न करो। असली ईरानी सारे जगत्में सत्यवादी माने जाते थे। ग्रीक लोग जब आपसमें लड़ते तो व्याव करानेके लिये ईरानके शाहन्शाहके समीप आते थे। क्योंकि उनको ईरानी सत्य वचनपर पूरा विश्वास था।

हु-वर्तन है उपर्युक्त कर्म-मार्ग। जबतक ईरानमें जगत्की दौलत घटनी है परन्तु दिव्यधामकी सम्पत्ति बढ़ती ही रहनी है।

+ अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचन इयम्।

परोपकारः पुण्याय पापाय पर्यायिनम् ॥

† कर्मैन्द्रियाणि मयस्य य आसन् मनसा सारम्।

इन्द्रियाण्यन्विमुदात्ता मिथ्या वागः स उच्यते ॥

§ सत्यं ज्ञानं प्रयत्नं ज्ञानं ज्ञानमन्वयमप्रियम्।

प्रियं च तानृतं ज्ञानं पथं धर्मः मनोतनः ॥

(मनुस्मृति)

ज्रथुद्र महागुरुकी शिक्षाके आदर्श जीवित थे, तबतक ईरानकी ध्वजा दशों दिशाओंमें फरकती थी। कालचक्रके साथ-साथ उन आदर्शोंकी विस्मृति होती गयी। प्रजाके नेता परोपकार भूलकर स्वार्थी बनने लगे, बस, तभीसे ज्रथोइती आर्य-धर्मकी अवगति हुई, धर्मका रहस्य गया, जीव गया; केवल क्रियाकर्मकायका सूना ढाँचा रह गया। परिणामस्वरूप जिस समय नबीन प्रकट हुए जज्जत महम्मदके इस्लाम-धर्मसे विग्रह हुआ तब ज्रथोइती-धर्म ईरानमें नष्ट-प्राय हो गया। परन्तु फिर भी जिन कुछ इन्धनोंमें पवित्र अहुरमज्दका वह पुराना आतशू (अग्नि) प्रज्वलित रह गया था, वे निरुपाय होकर धर्मके लिये अपना देश छोड़ 'भारत मौसी' के शरणमें आये। वे पारसी पूर्वपुरुष अपने साथ 'ईरानशाह' ईरानके पवित्र आतशू को लेते आये। यह आतशू पहले-पहल कब प्रज्वलित किया गया, इसकी तो किसीको खबर नहीं है। पर हजारों वर्षोंतक वह पवित्र ज्वाला ईरानमें प्रकाशित रही और आज भी वही ज्वाला उद्बाहके ईरानशाहमें जल रही है और पारसियोंके हृदयस्थ अन्तर्ज्योति—'अहुरके पुत्र आतशू' को प्रज्वलित कर रही है। यह आतशू जबतक पारसीहृदयमें जलता रहेगा तबतक ज्रथुद्रका सन्देश जीना रहेगा और ज्रथोइती जगतके कल्याणार्थ कार्य करते रहेंगे।

पारसी इस भारत-भूमिमें सुखी हैं, सम्माननीय स्थानको प्राप्त हैं, इनका दूसरी प्रजाओंके साथ मित्रताका सम्बन्ध बना है, इन सब बातोंका केवल यही एक कारण

है कि वे अभीतक अपने पैगम्बर—धर्मगुरुको भूले नहीं हैं। अभी उनके अन्तःकरणमें अहुरका आत्मज्ञ जल ही रहा है। इस देशने पारसियोंको अपनाया और पारसियोंने भी इस देशको अपना ही मान लिया है।

अब ईरानमें नई जागृति आ रही है। ईरानके सचे सेवक फिर एक बार ज्रथुद्रका सन्देश समझनेका प्रयत्न कर रहे हैं। ईरानके नये शाहने अपना नाम रीआशाह पहेल्वी रक्खा है और अपने पुत्रको शाहपुरका प्राचीन नाम दिया है, यह बहुत अर्थसूचक समझा जाता है।

अविष्यके गर्भमें क्या है, इस बातको तो ईश्वर ही जानें; परन्तु इतना विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि अशो ज्रथुद्रने फिरसे आर्यप्रजामें सनातन-धर्म जागृत किया था और हजारों वर्ष बीतनेपर भी आज उस धर्मका असर स्पष्ट दिखलायी पड़ रहा है। ज्रथुद्रका स्थान जगत्का उद्धार करनेके लिये समय-समयपर प्रकट होने-वाले महागुरुओंमेंसे एक है और अन्तमें हमलोग यही इच्छा करते हैं 'रतुओंके रतु' अशो ज्रथुद्रका आशीर्वाद सदा इस जगत्का मिलता रहे जिससे उनके फर्मान (हुमत, हुकत, हु-वशत) कभी विस्मृत न हों और जिससे उनका जलाया हुआ आतशू अनन्त कालतक जलता रहकर पृथ्वीसे अज्ञानके अन्धकारको दूरकर मनुष्यजातिको अहुरमज्दकी (ईश्वरकी) प्राप्तिका एक ही पथ—अपका पथ—दिखावे।

मैं दास हूँ

तुम्हरी कहा अस्तुति करूँ मो पै कही न जाय ।
इतनी सक्ति न जीभको महिमा कहै बनाय ॥ १ ॥
किरपा करी अनाथपर तुम ही दीनानाथ ।
हाथ जोड़ माँगूँ यही मम सिर तुम्हरे हाथ ॥ २ ॥
आदि पुरुष परमात्मा तुम्हें नवाऊँ माथ ।
चरन पास निवास दे कीजै मोहिं सनाथ ॥ ३ ॥
तुम्हरी मक्ति न छोड़ूँ तन मन सिर क्यों न जाय ।
तुम साहिब मैं दास हूँ मलो बनो है दास ॥ ४ ॥

—चरनदासजी

* कुछ लोग यों मानते हैं कि ज्रथुद्र वह आतशू स्वयं 'अहुरमज्द' के पाससे आये थे।

बौद्ध-धर्ममें ईश्वर

(लेखक—काव्यतीर्थ प्रो० श्रीलोट्टसिंहजी गौतम एम० ए०, एल० टी०, एम० आर० ए० एम०)



ज २५०० वर्षोंसे बौद्ध-धर्मकी छत्रच्छायामें अनेक मनुष्य जीवनके अन्तिम कथ्य प्राप्त करनेका उद्योग कर रहे हैं। आज भी संसारके अनुमानतः एक तिहाई जन 'नमो बुद्धाय शुद्धाय' की धुनमें अपनी जीवन-सरिताको अनन्त महा-सागरमें मिलानेका भगीरथ प्रयत्न करते हैं। हिन्दू-दर्शनोंमें आज बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन सम्मिश्रित कर किये गये हैं और सनातनी हिन्दू 'बुद्ध' को भगवान्का अवतार माननेमें तनिक भी नहीं हिचकते; अधिक क्या, संसारका विद्वन्मण्डल यतः परो नास्ति भगवान् बुद्धकी पवित्र आरमा और उनके उच्च उपदेशोंकी गुणग्राहकता दिखाना विद्वत्ताका क्लृप्त समझता है।

भगवान् गौतम बुद्धकी इतनी महत्ता होते हुए भी जब भावुकजन सुनते हैं कि बौद्ध-धर्म नास्तिक है, उसमें ईश्वरवादका गन्ध नहीं है, वह शुष्क कर्मकी गतिपर आश्रित है तो उनका चित्त खिन्न हो जाता है और वह सोचने लगते हैं कि वह धर्म ही क्या जिसमें ईश्वरको स्थान नहीं है? वह 'निर्वाण' कैसा जिसमें ब्रह्मानन्दका अनुभव नहीं है? वह 'मोक्ष' कैसा जिसमें कोरा शून्यवाद हो? वह जीवन कैसा जिसमें निराशाकी कर्मनाशा निरन्तर सुख और शान्तिका अय किया करती है? आशय यह है कि बौद्ध-धर्म एक धोखेकी टट्टी मालूम होने लगता है और भावुक जनता उसे भयावह समझकर हरिनामके जहाजपर चढ़कर भवसागरको पार करना चाहती है।

इतना होते हुए भी यह प्रश्न उठता है कि यदि बौद्ध-धर्म सचमुच अनीश्वरवादी है तो इसकी इतनी उन्नति क्यों हुई? जिस धर्ममें ईश्वरका प्रकाश नहीं है वह कभीका सब गया होता। असः निश्चित है कि बौद्ध-धर्म वास्तवमें विकक्षण और विचित्र है। बौद्ध-धर्ममें ईश्वरका ठोल नहीं पीटा गया किन्तु यह भी नहीं कहा गया कि ईश्वर है ही नहीं। अपने भावको स्पष्ट करनेके लिये बौद्ध-धर्मके

उदय होनेके कारण और उसके वास्तविक सिद्धान्तपर दो-चार शब्द लिखे जायेंगे और इस धर्मका हिन्दू-धर्मसे सादृश्य दिखानेका भी प्रयत्न किया जायगा। इसके विकास-को दिखानेमें ईश्वरी कल्पनाका भी डबकेल होगा। यह भी सिद्ध करनेका उद्योग किया जायगा कि बौद्ध-धर्मको अनीश्वर-धर्म समझना भ्रम है। अस्तु।

महाभारतकी अनेक शताब्दियोंके पश्चात् आर्य-धर्म बाह्याङ्गशरीरका अङ्ग हो गया था। उपनिषदोंके उच्च धर्मके नामपर अनेकों अर्याचार और दुराचार हाने लगें थे। अन्ध-विश्वासके जम्हावातसे ज्ञानदीपक बुझ चला था। पुजारी-वर्ग भावुक जनताको उल्लू बनाकर अपने स्वार्थकी सिद्धि कर रहा था। वामनिक धर्म—नित्य सत्य, मनुष्यता, दया, सौजन्य, करुणा आदि—प्रथा और कृतियोंके नीचे दबा था। व्यावहारिक जीवनमें इन गुणोंकी कुछ क्रिया-शीलता नहीं थी। समाज जर्जर हो गया था। राजनीति अवकाकी नाई विवश समाजका पैशाचिक कारण देख रही थी। धर्मनीतिने अपना रंग बदल लिया था। अर्थका अनर्थ हो रहा था। यही प्रतीत होता था कि समाज-वृक्ष उल्टा जायगा। अभिप्राय यह कि जैसे यूरोपमें ईस्वी ४१० से ८०० तक अन्धकारयुग (Dark ages) और जैसे यूरोपमें १३ वीं शताब्दीमें १६ वीं शताब्दीतक पोपलीलाका ताण्डव नृत्य चल रहा था, लगभग वैसे ही विक्रमाब्देमें कोई ६०० वर्ष पूर्व भारतकी दशा हो गयी थी। एक प्रकारसे यह लहर संसारव्यापिनी थी, किन्तु भारतमें धर्मको बलिदान करनेकी पूरी-परी तैयारी हो गयी थी। उसी समय शाक्य मुनि सिद्धार्थ गौतमका अवतार हुआ। कपिलवन्तुके राजा शुद्धोदनके घरमें एक उद्योति उत्तर आयी जिसके प्रकाशमें पाखण्डका निराकरण हुआ। गौतम बुद्धने उस समयके प्रचलित धर्ममें जीवन-समस्याके हल करनेका साधन न पाया। वे घर-बारको छोड़कर उस 'चिन्तामणि' की खोजमें निकले जिसके प्राप्त हो जानेपर फिर चिन्ता न रह जाय। घोर तपस्याके पश्चात् उन्हें वह 'उद्योति' दिलायी पड़ी जिसमें 'निर्वाण' अथवा 'मुक्ति' मिल सकती है।

जीवनका उद्देश्य 'निर्वाण,' 'मोक्ष' या 'मुक्ति' है।

यों तो समय-समयपर बौद्ध-सम्प्रदायने निर्वाणका अर्थ भिन्न-भिन्न समझा है और यह निर्वाण यद्यपि खुले तौरपर हम हिन्दुओंका 'ब्रह्मानन्द' नहीं तथापि वासना, अज्ञान आदि विषयोंकी उच्छादको बुझा देनेका ही नाम 'निर्वाण' है। अथवा यों समझिये कि सभी विषयोंमें नितान्त उपराम होनेपर एक अवस्थाविशेषका नाम 'निर्वाण'वाक्या है और यह एक प्रकारका हमारा ब्रह्मानन्द ही है। व्यावहारिक सत्यका अनुभव होनेपर 'परमार्थ-सत्य' की खोज की जाती है। इसी परमार्थ-सत्यका अनुभव करना निर्वाण प्राप्त करना है। गौतम बुद्धकी इस खोजमें सभी दर्शन सहमत हैं। 'सर्वप्रपञ्चानामुपशमः' सभी प्रपञ्चोंका नाश करना ही 'निर्वाण' प्राप्त करना है। इस निर्वाणको बौद्ध-धर्मकी भिन्न-भिन्न शाखाओंने भिन्न-भिन्न रूपमें समझा है—जैसा ऊपर कहा गया है। निर्वाणके मुख्य दो भेद हैं—(१) उपाधिरोष (२) अनुपाधिरोष। निर्वाण प्राप्त होता है 'तृष्णोच्छेद' से। 'तृष्णोच्छेद' ही सांख्य-शास्त्रका 'वासना-राहित्य' है। संसारकी वासनाओंका अन्त होगा 'अस्वार्थ आर्यसत्यानि' अर्थात् चार आर्य-सत्योंके अनुभवसे। ये चार आर्य-सत्य हैं—दुःख, समुदय, निरोध, प्रतिपत्ति। संसारमें दुःख-ही-दुःख है। यह जीवन दुःखान्त-नाटक है। इस दुःखका उदय होता है 'जीवकी वासनासे'। इसका निरोध हो सकता है और इसकी प्रतिपत्ति 'अष्टांगि-मार्ग' और 'दशशील' आदिमें होती है। अष्टांगि-मार्ग है—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि। इस मार्गके बाधक हैं—(०) सव कायदृष्टि, (२) विचिकित्सा (३) शीलहत परामर्श, (४) काम, (५) प्रतिष, (६) रूपराग, (७) अरूपराग, (८) मान, (९) औदुर्य और (१०) अविद्या। दश निषेधारमक शिक्षाएँ हैं—

(१) प्राणसंयम, (२) आदत्तादान, (३) अग्रहचर्य, (४) सुषावाद, (५) पैशुन्य, (६) औदत्य, (७) वृथा-प्रकाप, (८) क्रोध, (९) द्वेष, (१०) विचिकित्सा। यही बौद्ध-धर्मकी सूक्ष्म कियारमक बातें हैं। ये व्यावहारिक हैं और मनुष्यको प्रकाशमें लाती हैं। प्रारम्भमें गौतम बुद्धने इसी 'सत्कर्म' की भित्तिपर अपना 'धर्म' खड़ा किया था। यही सच्चा और ठोस संसारव्यापी धर्म है। भगवान् बुद्धने 'अच्छवाद' अर्थात् 'आत्मवाद' की निन्दा की थी।

इसे भी एक प्रकारका 'आत्मत्व' बताया था। जैन-धर्ममें कर्म भगवान्का रूप धारण करता है किन्तु बौद्ध-धर्ममें कर्म ही 'भगवान्' और 'आत्मा' दोनोंका रूप धारण करता है। उस समय इस 'कर्म' पर बल देनेकी आवश्यकता थी। भगवान् बुद्धने 'अच्छवाद' की निन्दा की थी परन्तु उनके शिष्योंको यह सिद्ध करना पड़ा कि 'आत्मा' है या नहीं। इससे इन्हें भी दर्शनकी शरण लेनी पड़ी।

प्रथमतः बुद्धने कहा था 'नह्यत्र सत्त्वानि बहुनि नानानि।' बहुधा प्रकारके सत्य नहीं हैं। थोड़े-से नित्य सत्य हैं। उन्हींके अनुसार चलना चाहिये। उसीमें सच्चा प्रकाश मिलता है और जीवन सफल होता है। दर्शन-वाक्योंको भी अपने-अपने दर्शनका 'मोड़' रहता है। तर्क अप्रतिष्ठ है अतः दर्शन हानिकारक है। है तो यह ठीक, पर दर्शन बिना आन्तरिक ज्ञान होता भी नहीं। अतः गौतम बुद्धके शिष्योंमें दो बर्ग हो गये। पहले बौद्ध-धर्मके दो सम्प्रदाय हीनयान और महायान हुए। हीनयानमें भी दो बर्ग हो गये (१) वैभासिक और (२) सौतात्रिक। वैसे ही महायानमें दो बर्ग हुए—(१) योगाचार और (२) साध्यमिक। इन दर्शनोंके पदनेमें विदिन होता है कि इनकी विचारशीली आर्य-ग्रन्थोंपर आधारित है।

जब बौद्ध-धर्मको महायानरूप दिया गया उस समय बुद्धको 'भगवान्' का रूप दिया गया। महायान-सम्प्रदायमें तो ईश्वरवाद है ही। महायान-सम्प्रदायके आचार्य नागार्जुनके गुरु कृष्ण भगवान् कहे जाते हैं। यदि वे कृष्ण वही वासुदेव श्रीकृष्ण हैं तो महायान पूर्णतया ईश्वर-मय है, और भारतीय इतिहासकी इस नयी खोजमें श्रीमद्भगवद्गीता संसारका धर्म-ग्रन्थ सिद्ध हो जायगा। पुराने हीनयानमें भी भगवान् बुद्धका 'तुपितस्वर्ग' में रहना लिखा पाया जाता है। अशोकके समयके 'कथावस्तु' ग्रन्थमें इसका उल्लेख है। इसके वर्णनमें ईश्वर-कल्पना गम्य है। यदि ईश्वर नहीं तो 'तुपितस्वर्ग' कैसा? भगवान् बुद्धने लोगोंको कर्मकी ओर प्रेरित करना चाहा अतः ईश्वरका विषय 'अन्याकरणीय' कहकर छोड़ दिया। पश्चात् महाराज कनिष्कके समयमें आवश्यकतानुसार नागार्जुनने सारा महायान उपनिषद्पर आधारित किया। नागार्जुनका सूत्र्यवाद श्रीशंकराचार्यका 'ब्रह्मवाद' ही है।

यदि भगवान् शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं तो नागार्जुन भी प्रच्छन्न वेदान्ती हैं। थोड़ेमें यों समझिये कि बौद्ध-मत आर्य है, इनकी क्रियाएँ आर्य हैं। वेदने भी ईश्वरको 'नेति-नेति' कहा, गौतमने भी इन आध्यात्मिक प्रश्नोंको 'अप्याकरणीय' कहा। अतः यह निश्चय है कि बौद्ध-धर्म अनीश्वरवादी नहीं है। उसने सुकर्मद्वारा 'निर्वाण' प्राप्त होना बताया था; किन्तु 'हीनयान' सम्प्रदायमें ईश्वर प्रत्यक्ष नहीं आया। अतः जब धार्मिक विकासमें ईश्वरकी आवश्यकता आ पड़ी तो कनिष्कके समयसे बौद्ध-धर्ममें महायान-शाखा चला पड़ी, जो महायान-धर्म हिन्दू-धर्मका एक रूपान्तरमात्र है। इसमें योग, भगवद्भक्ति, उपासनाके साथ कर्मपर जोर दिया गया है।

बौद्ध-धर्मका षड्वर्णनके साथ अनेक बातोंमें सादृश्य है। सारे वर्णनोंका मूल दुःख है। उसका अन्त दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति ही है और यही मानव-जीवनका लक्ष्य है। सुकर्म ही मनुष्यकी मुक्तिके साधन हैं। कर्म, पुनर्जन्म, सांसारिक जीवन, मोक्ष-विचार इत्यादि सभी बातोंमें बौद्ध-दर्शन हिन्दू-दर्शनसे मिलता-जुलता है। यह सत्य है कि इसमें कर्मपर अत्यन्त अधिक बल दिया गया है। जिसे हम लोग 'अष्ट' 'भगवद्गीता' आदि कहते हैं। उसीको बौद्ध लोग अपने कर्मका 'कलाप' समझते हैं।

एक छोटे-से लेखमें दर्शनकी अत्यन्त सूक्ष्म बातोंका विवेचन नहीं हो सकता, तथापि यह मानना पड़ेगा कि हमारे अनेक आचार्योंने बौद्ध-दर्शनकी अनेक बातोंका खण्डन इसलिये किया है कि उन लोगोंने बौद्धोंके दृष्टि-कोणतक पहुँचनेका अवसर न पाया और अनेकोंने बात

वही कही जो बौद्ध कहते थे, किन्तु उल्ट-मेर कर।

तात्पर्य यह कि बौद्ध-मत हिन्दू-धर्मका एक शिष्ट है। इसमें कुछ पैरुक्त गुण हैं और कुछ अपने गुण भी हैं। उसने बड़ी उन्नति की है। इससे हिन्दू-धर्म भी बढ़ा है, फला-फूला है। इसी बौद्ध-धर्मका बच्चा ईसाई-धर्म है और इसी ईसाई तथा मूसाई-धर्मके आधारपर इस्लाम-मजहबकी हमारा उठायी गयी है। कोई जाने अथवा न जाने, ऐतिहासिक सत्यका सूर्य अज्ञानकी काली लट्टासे चिरकाष्ठक छिप नहीं सकता। इसी सत्यके नाते हमें बौद्ध-धर्मके बाल्विक रूपको जगत्के सामने रखना है। इस समय न तो हम पिछले बौद्धोंके अस्तिव्युत्पन्न दम्भ तथा अज्ञानकी आलोचना करेंगे और न हम उन समालोचकोंका उत्तर देंगे जो निट्से (Nietzsche) के साथ बौद्ध-धर्मकी यह समालोचना करते हैं कि इसने जीवनकी अमर-वैलिकी मुरझा दिया है (Life is rejected)। अब समय आ गया है जब हम-लोग भगवान् बुद्धके बाल्विक उपदेशोंको समझकर उसे हिन्दू-धर्मका सच्चा अंग बना लें और संसारके अन्य समोंका उचित स्थान निश्चित करें। संसारके बौद्धोंका पवित्र देश भारत था, है, और रहेगा। उनके प्राचीन स्थानोंमें फिर उम्मी आर्य-धर्मका समथानुसार सुसंस्कार करना चाहिये। जब बौद्धोंका कर्म जग जायगा तो वही हिन्दू-धर्म-कथित श्रीकृष्ण भगवान्के कर्मयोगका रूप धारण करेगा।

बौद्धोंका शुष्क कर्म-वृक्ष ईश्वरभावके अमृत-जलसे लहलहा उठेगा। तभी मन्त्री ईश्वर-भक्ति होगी और अखण्ड ज्ञानोदय होगा। इसीसे भारत और संसारका कल्याण भूव है।

भजन करो

एक घड़ीका मोल ना, दिनका कहा बखान ।
सहजो ताहि न खोइये, बिना भजन भगवान ॥ १ ॥
बैठे लेटे चालते खान पान व्यीहार ।
जहाँ तहाँ सुमिरन करै सहजो हिये निहार ॥ २ ॥
सहजो भज हरिनामकूँ तजो जगतसुँ नेह ।
अपना तो कोइ है नहीं अपनी खगी न वेह ॥ ३ ॥

—सहजोबार्

श्रीस्वामिनारायण-सम्प्रदायमें परमेश्वर

(लक्षक—दाशमिकपञ्चानन षड्दर्शनाचार्य न्यायवैशेषिकशास्त्री पं० श्रीकृष्णबळभाचार्य स्वामिनारायण)

सर्वज्ञः सत्यसङ्कल्पः सर्वकर्मफलप्रदः ।

अन्तर्यामी सर्वशक्तिसेवितः परमेश्वरः ॥

(मत्स्यगिर्जीवन)

परमेश्वर सर्वज्ञ है, ब्रह्मलोक, ईश्वर-सृष्टि, जीव-सृष्टि तथा माया इन सबके स्वरूप, स्वभाव आदिका ज्ञाता है ।

‘यः सर्वज्ञः स सर्वविद्’ (श्रुति)

और—

‘अपहृतपाप्मा बिजरो निभृत्युर्विशाको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यसङ्कल्पः सत्यकामः ।’ (श्रुति)

वह पुण्यापुण्यरहित है, ज़रारहित है, निष्प है, शोक-मंसर्ग-शून्य है, अमर है, कुञ्जा-नृणा-रहित है और मध्यमङ्गल्य है ।

‘मो वेति युगपत्सर्वे प्रत्यक्षेण सदा स्वतः’

उस परमात्माको सब पदार्थोंका नित्य प्रत्यक्ष-ज्ञान है तथा वह सर्व प्राणियोंको कर्म-फल देनेवाला है । वह अन्तर्यामी है—

‘स आत्मा अन्तर्याम्यमृतः ।’ (श्रुति)

‘सर्वस्य चाह हृदि सत्त्वितः ॥’ (गीता)

सबके हृदयमें वह परब्रह्म परमात्मा अन्तर्यामीरूपसे विराजमान है ।

‘सर्वत्रैवाऽस्मिन् शक्त्या व्यतिरिक्तः स्वतः स्थितः ।

नियन्ता कालमायादेः सर्वकारणकारणम् ॥’

(सत्सगिर्जीवन)

वह परमात्मा अन्तर्यामीस्वरूपसे सर्व पदार्थोंमें अन्वय-व्यापक है । वह व्यापक होता हुआ भी अतिरिक्त दिव्य सच्चिदानन्दाश्रययुक्त साकारस्वरूपसे अनन्तकोटि मुक्त ब्रह्मपुरुषोंके इष्टिगोचर है ।

‘मोऽक्षरे तिष्ठजक्षरादन्तरः’ ‘अक्षरात्परतः परः’ ‘यस्तमसि तिष्ठन्तमसोऽन्तरः’—बः स्वमकेभ्यो रमते सः सर्वस्वः

वह परमेश्वर मायातील अक्षर-ब्रह्ममें रहता हुआ भी उससे पर—भिन्न है, वह विराटादि ईश्वरोंसे पर है । वह मायामें प्रवेश करके रहता हुआ भी मायासे पर है एवं

अपनेमें भक्तिवाले मुक्त पुरुषोंके साथ खेळ खेलता है । भगवान्ने कहा है—

यस्यात्पश्चरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोकं वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (गीता)

सबको अपने उद्गरेमें रखनेवाली माया तथा अक्षर-ब्रह्म इन दोनोंमें मैं पर हूँ, इसलिये वेदोंमें तथा लोकमें—जीवलोकमें, ईश्वरलोकमें, ब्रह्मलोकमें सर्वत्र मैं पुरुषोत्तम भगवान् कहलाता हूँ ।

‘मत्तः परतर नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय’

हे धनंजय ! मेरेसे पर कोई भी नहीं है ।

‘शुद्धे महाविभूताऽऽख्ये परे ब्रह्मणि शन्यते ।

मेत्रेय भगवच्छन्दः सर्वकारणकारणे ॥’

(विष्णुपुराण)

शुद्ध महाविभूतिसंज्ञक परब्रह्म परमात्मा सर्वकारण-का कारण है, वही भगवान् शब्दमें व्यवहृत है, भगवान् शब्दका अर्थ है ऐश्वर्यवाला, जिसमें सर्वोत्तम ऐश्वर्योंकी पराकाष्ठा हो, जिसके ऐश्वर्योंके समान तथा अधिक ऐश्वर्य अन्य किसीमें न हों, ऐसे ऐश्वर्ययुक्तका नाम भगवान् है । वह अक्षर ब्रह्मपर्यन्त सबका स्वामी है ।

‘ब्रह्मैश्वर्याणां पराकाष्ठा स नारायणः परमेश्वरः पर ब्रह्माऽक्षरातीतः पुरुषोत्तमः सर्वस्वामी’

—जिसमें अनवधिकातिशय समग्र ऐश्वर्योंकी सीमा है वह नारायण, परमेश्वर, परब्रह्म, अक्षरातीत, पुरुषोत्तम, स्वामिनारायण, परमात्मा इत्यादि नामोंसे स्मरणीय-भजनीय, वन्दनीय, उपासनीय है । वह चिदचिदात्मक शरीरवान् होनेसे सविशेष शरीरी है तथा सर्व भगवद्बतारोंका कारण है । वह परमेश्वर पाँच प्रकारसे व्यवस्थित है—यथा ‘पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी, अर्चा ।’

परस्वरूप वह है जो अक्षरधाम संज्ञक ब्रह्मलोकमें अनन्त मुक्तपुरुषोंको दिव्य साकारस्वरूपसे दर्शन दे रहे हैं, वह मुक्तिदरा है ।

व्यूहस्वरूप वह है जो कि बासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अचिरहृत्स्वरूपसे प्रख्यात हैं ।

विभवस्वरूप वह है जो कि किसी एक ऐश्वर्य तथा विशेष शक्तिसहित प्रकट होते हैं, उसमें भी मुख्य, गौण, पूर्ण, अंश, आवेश इत्यादि भेद हैं।

मुख्य अवतार—‘दिव्यस्वरूपसे अकस्मात् प्रकट होनेवाले नृसिंहादि।’

गौण अवतार—‘नियत कार्यके किये प्रकट होनेवाले विष्णु आदि।’

पूर्ण अवतार—‘अनेक कलाओंसे परिपूर्ण श्रीकृष्ण, श्रीरामचन्द्रादि।’

अंश अवतार—‘किसी एक कलाविशेषने जीवमें प्रवेश करके प्रकट होनेवाले।’

आवेश अवतार—‘जिसमें स्वयं ईश्वर प्रवेश करके प्रकट हुए हों।’

अन्तर्यामीस्वरूप वह है जो सबके द्यमें विराजमान है।

अर्चास्वरूप=मूर्ति—प्रतिमास्वरूपसे अर्कोंको भावनाके अनुसार शुभ मन्दिरादिमें विराजमान है।

इन पाँच स्वरूपोंमेंसे व्यूह तथा विभव ये दोनों श्रीकृष्ण-परमात्माके स्वरूप हैं और ईश्वर जो कि विराट्, नारायण, प्रधानपुरुष, महापुरुष, प्रकृतिपुरुष, महाविष्णु आदि हैं उनके द्वारा विभवावताररूपसे प्रकट होते हैं। और परब्रह्म परमात्मा—परस्वरूपसे ब्रह्मलोकमें—अन्तर्यामीस्वरूपसे सर्वत्र और अर्चास्वरूपसे मन्दिरोंमें विराजमान हैं। परमेश्वर तथा उनके अवतार विभूति-ऐश्वर्य-शक्ति-दिव्यकल्याणगुण आदि उपनिषदों तथा शास्त्रोंमें सिद्ध हैं। उनकी ऐकान्तिक भक्तिये भाग्य होता है। वह परमात्मा निरतिशय सर्वज्ञताका बीजरूप है। पूर्णानन्द है, सब अवतारोंका कारणभूत है, सर्व विभूतियोंका स्वामी है, सर्व सुख आनन्दका समुद्ररूप है स्वयः परिपूर्ण है, सर्वनियन्ता सर्वाधार है, सर्वसाश्री तथा सबका उपास्य मूर्ति है, सर्वरसमय अलण्डमूर्ति है, सर्व-सुन्दरता, छावययता, कल्याणिका भण्डार है। इस चतुर्विध भुवनोंके ब्रह्माण्डमें रहे हुए जो जीवजात तथा ब्रह्माण्डमें याहर और हिरण्यमयकोश—प्रकृतिके उद्भूतके भीतर रहनेवाले चिराटादि, इन सबका स्वामी अक्षरब्रह्म

गुणातीतानन्दमूर्ति है और उसका स्वामी परब्रह्म परमात्मा है।

श्रीस्वामिनारायणमतमें—ईश्वर तथा परमेश्वर भिन्न वस्तु हैं, यथा—

देहवये विराट्पादौ व्याप्योत्पत्तिस्थितिस्थयान्।

करोति जगतां यन्तु बहुज्ञो ज्ञेय ईश्वरः॥

विराट्, सूत्रारमा, अम्याकृत—इन शरीरोंमें रहकर जो ब्रह्माण्ड आदिके उत्पत्ति, पालन तथा क्षयको करता है वह जीव तथा देवोंकी अपेक्षासे बहुज्ञ है—वही ईश्वर है। ईश्वरोंको मायाकी उपाधि है। मायाके पार अक्षर ब्रह्मलोक है, उस अक्षर ब्रह्मके स्वामी परमेश्वर परब्रह्म हैं। कोई उनके चौबीस अवतार कहते हैं और कोई उनतालीस कहते हैं; उन सबमेंसे—

‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।’

—जो जिन स्वरूपको भजता है उसको उसकी भावना-अनुसार भगवान् फल-सिद्धि देते हैं, इस वाक्यसे, ‘परमेश्वरके किसी भी स्वरूपके भजनेवालेका कल्याण तथा उसे भगवान्की प्राप्ति होती है।’

जहाँ-जहाँ परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीस्वामिनारायण परमात्मा हैं तथा जहाँ-जहाँ अक्षर ब्रह्मको जाननेवाले सगुरूप हैं, वही सर्व ऐश्वर्य, विभूति, विजय तथा अविचल नीति है।

राम

जो तुम तोरी राम मैं नहिं तोऊँ।
तुमसों तोरि कवन सों जोऊँ ॥देका॥
तीरथ बरत न करूँ अँदेसा।
तुम्हरे चरनकमल के भरोसा ॥१॥
जहँ-जहँ जाउँ तुम्हारी पूजा।
तुम-सा देव और नहिं दूजा ॥२॥
मैं अपना मन हरि सों जोरयो।
हरिसों जोरि सबन सों तोरयो ॥३॥
सबही पहर तुम्हारी आसा।
मन क्रम ध्वज कहै रैदासा ॥४॥

—रैदासजी

प्रकृतिवादकी झुटियाँ ❁

(लेखक—प्रोफेसर श्रीभीमनलालजी आत्रेय एम० ए०, डी० लिट्)



ज्ञानके नाना विभागोंमें प्रकृति-वादकी उपयोगिता चाहे जितनी हो, दार्शनिक सिद्धान्तकी हैसियत-से प्रकृतिवाद बहुत ही झुटिमय है। यह कहना असंगत न होगा कि दर्शन-जगत्में प्रकृतिवादका स्थान बहुत ही नीचा है। इस युगमें तो प्रायः वह कोई स्थान ही नहीं रखता। कुछ विद्वानोंका कहना तो यह है कि प्रकृतिवाद बहुत दिन हुए मर चुका और अब उसके पुनर्जीवनकी कोई सम्भावना ही नहीं है। प्रकृतिवादपर बहुत-से आक्षेप किये गये हैं। उनमेंसे कुछका हम यहाँपर उल्लेख करते हैं।

१—मानसिक क्रियाएँ प्राकृतिक अर्थात् प्राधिभौतिक क्रियाओं, गतियों अथवा स्पन्दनोंसे नितान्त ही भिन्न हैं। शरीर अथवा मस्तिष्क और मन एवं उनकी चेतन क्रियाएँ भिन्न पदार्थ हैं। मस्तिष्क देशान्तर्गत है, मन देशान्तर्गत नहीं है, मन देशका द्रष्टा है। सारा देश मनका विषय है। मस्तिष्क वर्तमानकालमें रहनेवाली वस्तु है, किन्तु मन भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी कालोंका द्रष्टा है। मस्तिष्कमें केवल प्राकृतिक स्पन्दन होते हैं और उनके भौतिक संस्कार (Impressions) ही रहते हैं। मनमें उन संस्कारोंके अर्थ समझनेकी शक्ति है। मनमें वस्तुओंके सम्बन्ध समझनेकी शक्ति भी है जो मस्तिष्कमें नहीं है। प्राकृत जगत्में रूप, रस, गन्धादि गुणोंका तथा सुख-दुःखका अनुभव नहीं है। केवल क्रिया और स्पन्दन है। प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता एडिगटन साहबने ठीक कहा है कि यदि मनका जगत्से निकाल दिया जाय तब जगत् केवल प्राकृतिक शक्तियोंके स्पन्दनसमूहके अतिरिक्त और कुछ नहीं रहेगा। चेतना चेतना है और प्राकृतिक स्पन्दन प्राकृतिक स्पन्दन है। एकका दूसरेके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होनेपर भी दोनों भिन्न हैं। चेतनाकी किसी प्रकारका गति-सञ्चालन समझना या मनकी प्राकृतिक पदार्थ कहना

वैसा ही है जैसा कि बिल्लीकी कुत्ता कहना या कालेको छाल कहना है। चेतना गति-सञ्चालनके कारण जागरित भले ही हो जाय या शरीर अथवा मस्तिष्कमें खराबी आनेसे मनकी क्रियाएँ भले ही रुक जायँ किन्तु गति-सञ्चालनमात्र मन अथवा चेतना नहीं हो सकते। दोनोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध होनेपर भी दोनों एक नहीं हो सकते।

२—यह भी नहीं कहा जा सकता कि चेतना प्राकृतिक क्रिया-कलापका कार्य है। यदि प्रकृतिमें चेतनाके सभी गुण और सभी शक्तियाँ वर्तमान नहीं हैं तो यह चमत्कार हमारी समझमें कदापि नहीं आ सकता कि किसप्रकार प्रकृतिसे चेतनाका उद्भव हो गया। और यदि प्रकृतिमें चेतनाके सभी गुण और शक्तियाँ किसी रूपमें सदैव ही वर्तमान रहती हैं तो प्रकृतिका अर्थ ही दूसरा हो जाता है। वह प्रकृतिवादियोंकी प्रकृति न रहकर एक जगदुत्पादक चेतनशक्ति (ब्रह्म) हो जाती है। ऐसा न मानना कार्य-कारण-सम्बन्धी नियमके प्रतिकूल होगा। कार्य कारणही-का रूपान्तर होता है, कोई नया वस्तु नहीं होता।

३—यदि चेतनाकी प्रकृतिसे भिन्न माना जाय और यह भी मान लिया जाय कि चेतनाकी प्रकृतिसे उत्पत्ति होती है तो इसका अर्थ यह होगा कि प्रकृतिसे किसी अप्राकृत वस्तुकी उत्पत्ति हुई और वह अप्राकृतिक वस्तु प्राकृतिक जगत्से बाहर पदार्थ है। समस्त विज्ञानको यह सिद्धान्त मान्य है कि जब किसी कारणसे किसी कार्यकी उत्पत्ति होती है तो कारणकी शक्तिका कार्यरूपमें परिणाम होता है अर्थात् वह शक्ति जब कारणरूपमें न रहकर कार्यरूपमें वर्तमान रहती है। यह सब मान लेनेसे विज्ञानके उस व्यापक सिद्धान्तका अपवाद होगा जो कि सब विज्ञानोंका आधारभूत है, कि संसारमें भौतिक शक्तिका परिमाण सीमित एवं निश्चय है। प्रकृतिसे चेतना पैदा होनेमें प्रकृतिकी कुछ शक्तिका हास अवश्य ही हो जायगा।

४—प्रकृतिवादियोंका कहना है कि मानसिक क्रियाएँ

* सम्मान्य श्रीआत्रेयजीके लेखके दो भाग थे, पहले भागमें प्रकृतिवादका स्वरूप बतलाकर दूसरे में उसकी झुटियाँ बतलायी गयी थीं। लेख बहुत बड़ा होनेके कारण पहला भाग छोड़ दिया गया है। इससे इस अगले भागकी उपदेयतामें कोई कमी नहीं हुई है, आत्रेयजी क्षमा करें। —सम्पादक

प्राकृतिक संघटनोंपर निर्भर होती हैं। कोई भी दार्शनिक इस बातका प्रतिवाद नहीं करेगा किन्तु दो पदार्थोंमें इस सम्बन्धके होनेका यह आवश्यक अर्थ नहीं है कि दोनोंमें कार्य-कारण-सम्बन्ध है, अथवा दोनों एक दूसरेको पैदा कर सकते हैं।

५.—सृष्टिके इतिहासमें चेतनाके पैदा होने और नष्ट होनेके विषयमें कुछ कहा ही नहीं जा सकता, क्योंकि इन महत्वपूर्ण घटनाओंका ज्ञान भी चेतनाद्वारा ही हो सकता है। चेतनाको अपनी उत्पत्ति और अपने नाशका अनुभव होना सर्वथा असम्भव और युक्तिहीन है। जेम्स, प्रीन आदि विद्वानोंकी यह सम्मति है कि चेतनाको सृष्टिके आदिकालमें ही वर्तमान होना माने बिना बहुत-सी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ेगा। किसी-न-किसी रूपमें चेतनाको आरम्भकालमें ही माने बिना सर्वथा अचेतन प्रकृतिमें उसका उदय होना मान लेना अपनी इच्छाओंके ऊपर दार्शनिक बुद्धिको बलिदान कर देना है। विकास-वादीके लिये भी चेतनाकी संवरण-शक्तिकी उपस्थितिकी अभ्यन्त आवश्यकता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडगल साहबने अपने लेखोंमें यह भलीभाँति दिखलाया है कि सृष्टिमें, विशेषकर जीवन-सृष्टिमें, चेतनाकी प्रयोजनात्मक क्रिया चारों ओर दिखलायी पड़ती है। बिना किसी प्रयोजनात्मक संवरण-शक्तिको माने विकासका रहस्य समझमें ही नहीं आ सकता।

६.—यदि प्राकृतिक पदार्थ परमाणुओं अथवा विद्युत-कणोंद्वारा संगठित हैं और उनके अतिरिक्त उनका द्रष्टा कोई चेतन पदार्थ नहीं है तो यह कहना कि प्रकृतिके परमाणु अथवा विद्युत्कण नाना नाम-रूप धारण करते हैं नितान्त ही निरर्थक है। विद्युत्कणों अथवा परमाणुओंके दृष्टिकोणसे यदि देखा जाय तो जगत्में परमाणुओं अथवा विद्युत्कणोंके अतिरिक्त कोई पदार्थ ही नहीं है। संघातका अर्थ किसी चेतन द्रष्टाहीके लिये हो सकता है, संघटित पदार्थोंके लिये नहीं। ऑक्सीजन और हायड्रोजनके विशेष अनुपातमें मिलनेसे पानी बन जानेका अर्थ यही है कि परमाणुओंका यह संघात कुछ चेतन प्राणियोंको जलरूपमें दिखायी देता है। वास्तविकरूपमें तो जल ऑक्सीजन और हायड्रोजनके अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं।

७.—इसी प्रकार परिणाम अथवा रूपान्तरमें तबदीली भी बिना चेतन द्रष्टाके निरर्थक उक्ति है। 'अ' का 'ब' में

परिवर्त होना किसी चेतन द्रष्टाहीके दृष्टिकोणसे समझमें आ सकता है, 'अ' और 'ब' के दृष्टिकोणसे नहीं। क्योंकि 'अ' जब 'ब' के रूपमें परिणत होता है तब 'अ' नहीं रहता और 'ब' का जबतक उदय नहीं होता तबतक 'ब' ही नहीं। उसके लिये परिणाम निरर्थक है। यदि 'अ' और 'ब' दोनों नाम-रूपोंके अन्तर्गत अपरिणत और समानरूपसे रहनेवाला कोई प्रकृति-तत्त्व भी मान लिया जाय तो उसके दृष्टिकोणसे भी तबदीली निरर्थक है। क्योंकि वह तो दोनों अवस्थाओंमें अपने अपरिणतस्वरूपमें स्थित रहता है। अतः किसी चेतन द्रष्टाहीके अनुभवमें परिणाम शब्द सार्थक है।

८.—समुद्र्यात्मक विकासवादीका कहना है कि पदार्थोंके संघातमें अथवावीमें एकदम नये गुण उत्पन्न हो जाते हैं। चेतनाशक्ति भी शरीरमें उत्पन्न हुआ एक ऐसा ही गुण है। इस विषयमें मैकडगलने अपनी पुस्तक Modern Materialism and Emergent evolution में और मर आलिवर लॉजने अपनी पुस्तक Beyond physics में यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है और उनका कथन ठीक भी मालूम पड़ता है कि जिन गुण-धर्मोंका आरम्भात्मक समुद्र्य प्रकृतिवादी मानते हैं उनको अव्यक्त-रूपमें उपस्थित माने बिना समुद्र्यात्मक विकासवाद समझमें नहीं आ सकता। कारणात्मक परिस्थिति, संगठन अथवा संयोग उन अव्यक्त वस्तुओं अथवा गुणोंके व्यक्त होनेके निमित्त हैं। ये विद्वान् तो यहाँतक कहते हैं कि इन अव्यक्तरूपमें वर्तमान तथ्योंके व्यक्त करनेके निमित्त ही ये कारण उपस्थित होते हैं। और इस व्यक्तीकरण-क्रियामें किसी चेतन पदार्थका हाथ है। समुद्र्यात्मक विकासवादका जन्मदाता लॉयड ऑगन (Lloyd Morgan) भी इसी सिद्धान्तका पक्षपाती ज्ञात होता है।

९.—इस बातके लिये कि जो वस्तु मिराकार या अव्यक्त है, अथवा जो कोई जगह नहीं घेरनी, वह अव्यक्त अथवा मर्याहीन है, कोई भी स्वयंमिद युक्ति नहीं दी जा सकती। औसिक पदार्थोंके विषयमें यह भ्रमे ही कहा जाय कि वे कुछ-न-कुछ जगह अवश्य घेरेंगे। किन्तु मानसिक अथवा आध्यात्मिक तथ्योंके विषयमें यह बात नहीं कही जा सकती। मनोवैज्ञानिक अन्वेषणोंद्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि एक मनुष्यके मानसिक विचार दूसरे मनुष्यके मनमें व्यक्त किये जा सकते हैं। तथा किसी भी देश और कालमें

संघटित मानसिक घटना किसी दूसरे देशका हमें अपने यथार्थ स्वरूपमें अनुभव की जा सकती है। आधुनिक भौतिक विज्ञानके निष्कर्ष भी हमें स्थूल तथा साधारण प्रकृतिवादसे दूर ले जाते हैं। आधुनिक भौतिक विज्ञानने संकल्पशक्ति और दृष्टांशकिके अस्तित्वके पक्षमें हमारे किये मार्ग खोल दिया है। वैज्ञानिक परमाणुको अब विद्युत्कणोंका संघात मानने लगे हैं। और वे विद्युत्कण कोई स्थूल पदार्थ नहीं हैं, प्रत्युत किसी अज्ञात शक्तकी स्पन्दन-क्रियाएँ हैं। विज्ञान भी अब ऐसे कारणोंकी शरण लेने लगा गया है जिनके विषयमें उसको कुछ भी ज्ञान नहीं है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक एडिंगटन सहोदयने अपने प्रसिद्ध व्याख्यान 'On the Nature of the Physical World' (1928) में कहा है, 'कोई अज्ञात कारण किसी अज्ञात क्रिया-कलापमें प्रवृत्त है और इस इसके विषयमें कुछ भी नहीं कह सकते। हमें किसी ऐसे मूल-तत्त्वका सामना करना पड़ रहा है जो भौतिक जगत्के परेका पदार्थ है।' आधुनिक भौतिक विज्ञानके ये निष्कर्ष प्रकृतिवादको सदाके लिये खोल्ला कर देते हैं। भौतिक पदार्थोंको परम सत्ता, देश और कालकी वाम्बिकता, परमाणुओंका सबोन्नतिक अस्तित्व तथा समस्त घटनाओंका निष्प्रयोजन नियति नियन्त्रण, इन सबकी जब हिल गयी है।

१०-विश्वका कारणारमक क्रिया-कलाप एकदम प्रयोजनहीन कदापि नहीं कहा जा सकता। हम केवल संघटनाओंका क्रमशः आविर्भाव देखते हैं। उनके प्रयोजन हमारे दृष्टिगोचर नहीं होते। उनके विषयमें हम केवल अनुमान ही कर सकते हैं। मनुष्योंको हम रेलकी ओर दौड़ते देखते हैं किन्तु वे क्यों दौड़ रहे हैं यह हमारे दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी प्रकार संसारकी घटनाओंको भी हम देखते हैं परन्तु उनका क्या प्रयोजन है यह हम कैसे जान सकते हैं? किसी कारणका न मिलना, उद्देश्य अथवा प्रयोजनका अदृश्य होना, उनकी सत्ताको अस्वीकार करनेके लिये पर्याप्त नहीं है। अदृष्ट तथा अदृश्यको असत्य कहना एक बड़ी भारी दार्शनिक भूल है। संसारकी घटनाओंमें एक प्रकारकी संवरण-क्रियाका वर्तमान होना इसका पर्याप्त प्रमाण है कि ब्रह्मावृत्तके अन्तस्तकमें कोई

उद्देश्य-सिद्धि निहित है। जब प्रकृति उद्देश्यमय क्रिया कैसे कर सकती है यह बात बुद्धिमें नहीं आती। यह मान लेना कि किसी खरस चेतनाके प्रभावसे परमाणुओंके संघात किसी उद्देश्यके लिये बनते और बिगड़ते हैं किसी प्रकार युक्तिहीन नहीं है, क्योंकि हमारे जीवनमें उद्देश्य-पूर्ण क्रियाओंका होना इस बातका संकेत है कि विश्व-शक्तिकी क्रिया, जिसके इस भी कार्य हैं, किसी अन्तिम उद्देश्यके लिये ही हो रही होगी।

११-प्रत्येक दार्शनिक सिद्धान्तकी कमीटी प्रमाणवाद है। प्रकृतिको प्रमाणवादकी कसौटीपर कसनेसे उसका खोखलापन और भी स्पष्ट हो जाना है। यदि हम अपने अनुभवका विरलेषण करें तो यह स्पष्ट मालूम पड़ेगा कि कोई भी ज्ञान बिना ज्ञानाके नहीं हो सकता।

हमारा अनुभव द्रष्टा और दृश्य दोनोंकी स्थितिकी माहौल देता है लेकिन प्रकृतिवादी ज्ञाता या द्रष्टाको एक-मात्र भूलकर दृश्यके ही अस्तित्वका समर्थन करता है। द्रष्टाके बिना दृश्यके अस्तित्वका कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। दृश्यका स्वरूप अधिकांशमें द्रष्टाके ऊपर निर्भर है। जैसा कि विज्ञानवादियोंने सिद्ध कर दिखाया है। दृश्यको ही अनुभवका एकमात्र उपकरण मान लेना किसी वस्तुके बहुत-से अंगोंमेंसे एकहीको सब कुछ मान लेना है। फिर दृश्यमें भी प्रकृतिवादी सारे दृश्य जगत्मेंसे उसके एक अंग प्रकृतिस्वरूपको ही सत्य वस्तु मानते हैं। और अंगोंकी अवहेलना करके उनको अत्यप्राम्य ही समझ लेते हैं। प्रकृतिवादी दृश्य जगद्व्यापी गुणोंको दो भागोंमें विभक्त कर देते हैं। एक मुख्य दूसरा गौण। परिमाण-सम्बन्धी गुण-धर्मोंको वे मुख्य गुण कहते हैं और शब्द, रूप, रसादिको गौण कहते हैं। गौण-धर्मकी स्वतन्त्र सत्ताको अस्वीकार करते हुए वे वस्तुओंके मुख्य धर्मोंको ही सत्य मानते हैं। यह उनकी बड़ी भारी भूल है। वह तत्त्व सिद्धान्तपूर्ण और युक्तिसंगत कभी नहीं कहा जा सकता जो अनुभवप्राप्त किसी भी गुण-धर्मका निषेध करता है। प्रकृतिवादियोंके निषेध तो अग्रगण्य हैं। द्रष्टाको सत्य जगत्-से बाहर कर देना सबसे बड़ी दार्शनिक भूल है।

उपर्युक्त विचार-धारासे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकृतिवाद युक्तिसंगत दार्शनिक सिद्धान्त नहीं है।



विज्ञान और ईश्वरका अस्तित्व

(लेखक—भ्रीगणेशजी पय० प०, बी० एस-सी०)



में ईश्वरने बनाया या नहीं, सो तो ईश्वर ही जाने, पर यह निश्चित है कि प्रत्येक तत्त्ववेत्ताने अपने-अपने ईश्वरकी स्वयं रचना की है। पूर्वीय अथवा पाश्चात्य दार्शनिकोंमेंसे किस दार्शनिकने ईश्वरका कौन-सा रूप स्थिर किया है सो तो दर्शन-शास्त्रके इतिहासोंमें भरा पड़ा है। यहाँ केवल यही देखना है कि आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों तथा शुद्ध दार्शनिक तर्कोंके आधारपर निष्पक्ष भावसे क्या कोई ऐसी सत्ता सिद्ध की जा सकती है कि जिसे हम सर्वश्रेष्ठ कहकर बन्दन कर सकें।

वैज्ञानिक आविष्कारोंने यह बात अब निश्चित हो चुकी है कि समस्त ब्रह्माण्डका द्रव्य अविनाशी है। रसायन-शास्त्र (Chemistry) के अनुसार ८६ से ऊपर तत्वोंका पता लगा चुका है, पृथ्वी तथा पृथ्वीपरके समस्त जड़ तथा जीवित द्रव्य इन्हीं तत्वोंके बने हैं। प्रकाश-विश्लेष (Spectroscopic analysis) द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि आकाशके नक्षत्र-तारे आदि भी इन्हीं तत्वोंके बने हैं। ये समस्त तत्व स्वयं केवल दो तत्वोंके रूपान्तरमात्र हैं—इन दो तत्वोंको ऋण विद्युत् (electrons) तथा धन-विद्युत् (Protons) कहते हैं। विद्युत् तथा उष्णता आदि भिन्न-भिन्न शक्तियाँ (energy) भी इन्हीं दो तत्वोंके रूपान्तर हैं। अनुमान किया जाता है कि ये दो तत्व भी ईश्वर नामक एक आकाश-तत्वके भँवर (whirlpools) मात्र हैं। इसप्रकार अन्तिम सिद्धान्त यही निकलता है कि समस्त ब्रह्माण्डका द्रव्य (matter and energy) अविनाशी है—न उसका कभी पूर्ण नाश हो सकता है और न वह शून्यमें बनाया जा सकता है। ब्रह्माण्डके समस्त द्रव्यका माप, चाहे उसके कितने ही रूपान्तर हों, गणितकी दृष्टिसे सदैव अ्यों-का-त्यों है।

‘नास्तो विद्यते मावो नामावो विद्यते सतः।’

—इस गीताके वाक्यमें भी उपरके सिद्धान्तका ही निचोड़ है। ‘सत्’ यह शब्द संस्कृतकी ‘अस्’ धातुसे बना है। ‘अस्’ का अर्थ है ‘होना’, इसप्रकार जो कुछ ‘है’ वसे

सत् कहते हैं। उपर्युक्त नियमको ही सांख्य ‘सर्वायंवाच्’ के नामसे पुकारता है। सत् (existence), यह जगत्की द्रव्य-सत्ताका प्रथम सिद्धान्त है।

द्रव्यके सिवा इस संसारमें बड़े महत्वकी एक सत्ता और है जिसे चैतन्यता (awareness) अथवा चित् (consciousness) कहते हैं। ‘मैं चैतन्य हूँ’ इसकी धारा कभी नहीं टूटती। यह जीवित शरीर चाहे जैसी अवस्थामें रहे, पर रहता है सदैव चैतन्य। जाग्रद्-अवस्था-में चैतन्यताद्वारा ही सब अनुभव होते रहते हैं; स्वप्न-अवस्थामें भी स्वप्नका अनुभव मुझ चैतन्यको ही होता है और निद्राकी वह अवस्था जिसमें कोई स्वप्न नहीं दिखायी देता, उसका अनुभव भी मुझे ही होता है क्योंकि स्वप्न-विहीन निद्रा (सुषुप्ति) में ‘मैं सुखमें सोया अथवा दुःख-से सोया’—ऐसा अनुभव जागनेपर मुझे ही होता है। सुषुप्तिके ऐसे अनुभवकी जाग्रद्-अवस्थामें स्मृति ही सुषुप्ति-में चैतन्यताके अमिट्वाका प्रमाण है। मैं सुषुप्तिमें न होता तो मैं दुःखमें सोया अथवा सुखमें—ऐसा अनुभव ही मुझे जाग्रतमें कैसे होता? तीव्र-से-तीव्र नशेमें अथवा क्लोरो-फार्मकी घेहोशीमें भी चैतन्यता रहती है क्योंकि रिफ्लेक्स (reflex actions) ऐसी अवस्थामें भी होते हैं। शरीरकी रक्षाके लिये शरीरके किसी भी अंगमें जो हलचल होती है उसे रिफ्लेक्स कहते हैं जैसे आँखोंकी पुतलीके पास किसी भी वस्तुके आते ही पलकोंका हट्ठा न रहते हुए भी गिर जाना इत्यादि। सुषुप्ता काटकर मेंढकके मस्तिष्कको उसके शरीरकी शिराओंमें भिन्न कर देनेपर भी उसके किसी अंगमें तेजाव लगानेपर उसका हाथ उस तेजावकी जगहको रगड़ने लगता है—ऐसे रिफ्लेक्ससे यह सिद्ध होता है कि थोड़ी-बहुत चैतन्यता उसके पीड़ित अंग तथा हलचल करनेवाले अंगमें अवश्य है।

प्रत्येक जीवित शरीरमें जन्मसे मृत्युपर्यन्त यह चेतनता बनी रहती है। शरीरके मृत्युद्वारा नाश होनेपर भी यह चेतन-सत्ता बनी ही रहती है, इसका सबसे पुष्ट प्रमाण उन बालकोंका वृत्तान्त है जो स्वयं अपने मुखसे अपने पूर्व-जन्मका वर्णन करते हैं और जो वर्णन कुछ उदाहरणोंमें

जो जगत् द्वारा सत्य भी प्रमाणित हुआ है। अगस्त सन् १६२० की (पूर्णसंख्या ९१ वीं) 'माथुरी' में वरेलीवाले जगदीश-चन्द्रका हृत्मान्त उन उदाहरणोंमेंसे एक है जिसका पूरा अनुसन्धान किया गया है और उस बालकका वर्णन ठीक पाया गया है। उदाहरण चाहे कम हों, पर हैं वे अवश्य, और सत्यके खोजियोंके लिये ये उदाहरण प्रकृतिके बेसंकेत हैं जिनके द्वारा जगत्के गुप्त रहस्योंकी ओर वे बढ़ सकते हैं। प्रकृतिके ऐसे संकेतोंको हम पहले अपवाद (Exceptions) कह देते हैं, पर भाग्य चक्कर ये ही अपवाद साधारण सिद्धान्तोंका स्वरूप ले लेते हैं। वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारोंके इतिहासमें यही बात इतलतः दीख पड़ती है।

मृत्युके पश्चात् सूक्ष्मदेहके बुद्धि-तत्त्वके साथ जिसमें कि सब संस्कारों तथा स्मृतिथोंका अङ्का रहता है, चैतन्यता अथवा चित्छक्ति दूसरे स्थूलदेहमें चली जाती है, इससे यह सिद्ध होता है कि स्थूलदेहके नाशके समय 'चित्' का नाश नहीं होता, यह 'चित्' मनुष्य, पशु तथा वृक्ष प्रत्येक जीवधारीमें स्थित है। अब देखना यह है कि क्या यह चित् जड़ द्रव्यमें भी मौजूद है ?

हमें जड़-जगत्का अनुभव होता है; हम ज्ञानेन्द्रियों-द्वारा बाह्य पदार्थोंको अपनी चैतन्यतामें काते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि बाह्य पदार्थोंमें यह शक्ति है कि वे 'चित्' से सम्बन्ध कर सकें अथवा यों कहिये कि चित्में लहमे मेल करनेकी शक्ति है। दो ही बातें हो सकती हैं— या तो चित्में कुछ जड़ताका गुण है या जड़में चित्का कुछ गुण है, नहीं तो यह असम्भव है कि चित् और जड़ ये दो विष्कुल भिन्न वस्तु आपसमें मेल कर सकें और चित्को जड़का ज्ञान हो सके ! दो विष्कुल भिन्न सत्ताओंमें किसी प्रकारका भी मेल-मिलाप नहीं हो सकता; मेल-मिलापके लिये उनमें कुछ-न-कुछ समानता अवश्य चाहिये। चित्में जड़का कुछ गुण और जड़में चित्का कुछ गुण अनिवार्य है। बाह्य द्रव्यसत्तामें अवश्य चैतन्यता भी है। विचारण्यने पञ्चदशोंमें इसी सिद्धान्तको यों कहा है कि—

‘स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जावरूपतः’

अर्थात् चैतन्य-सत्ता स्वयं जगत् बन गयी। शंकरका अद्वैततत्त्व ही यहाँतक ठहर पाता है। सांख्यका 'प्रकृति पुरुष' डेकार्टेके 'जड़ तथा चेतन' के समान बहुत पीछे रह जाता है।

इतना ही नहीं कि जड़ द्रव्यमें चित्का वंश है परन्तु जड़ द्रव्यमें ज्ञानेन्द्रियोंकी शक्ति भी व्याप्त है; क्योंकि ऊपरकी ही विचारधाराके अनुसार यह भी मानना होगा कि जड़ द्रव्यमें ज्ञानेन्द्रियों भी होनी चाहिये, नहीं तो जड़ द्रव्यका ज्ञानेन्द्रियोंसे सम्बन्ध नहीं हो सकता। गौतमके न्यायशास्त्रका यह परम सिद्धान्त आज दिन वैज्ञानिक आविष्कारोंसे भी सिद्ध हो रहा है। श्री० जगदीशचन्द्र बोसने अपने (Artificial retina) नामक ग्रन्थमें यह सिद्ध किया है कि नेत्र-शक्ति जड़-पदार्थोंमें भी मौजूद है। उन्होंने यह बताया है कि जीवित नेत्रोंमें भिन्न-भिन्न शक्तियों (उष्माता, विद्युत् आदि) से जो विकार होते हैं वे ही विकार उनके बनाये हुए कृत्रिम नेत्रोंमें भी होते हैं।

यदि उपर्युक्त सिद्धान्त सत्य है तो फिर 'मृतक देह' का क्या अर्थ है ? मृतक देहमें चैतन्यता भी है, इन्द्रियोंकी शक्तियाँ भी हैं परन्तु उसमें जीवन-तत्त्व (Protoplasm) की वह अवस्था नहीं है, जिससे उसमें जीवनके चिह्न दिखायी पड़ें। जैसे बिजली सब जगह है परन्तु बिजलिके लैम्प (bulb) में ही उसका प्रकाश होता है, बिगड़े हुए लैम्प (fused bulb) में उसका प्रकाश नहीं होता, वैसे ही चित् तथा इन्द्रिय-शक्तियाँ मृतक देहमें रहती हुई भी जीवन-तत्त्वके बिगड़ जानेपर (stoppage of respiration in protoplasm) अपने आपको प्रकट (manifest) नहीं कर सकतीं। मृतक स्थूलदेहमें यदि सब कुछ विद्यमान है तो पुनर्जन्ममें उसमेंसे निकलकर क्या चला गया ? इस प्रश्नका उत्तर असंगत हो जानेसे छोड़ दिया जाता है। यहाँ केवल इतना कह देना बस है कि सर्वव्यापी बुद्धि-तत्त्वमें 'अहं' के सम्बन्धमें वैयक्तिकता आ जाती है और नये-नये संस्कारोंको लेकर सूक्ष्मदेहकी अपने आप रचना हो जाती है। इस वैयक्तिकताके कारण ही सूक्ष्मदेह एक स्थूलदेहको छोड़कर पुनर्जन्ममें दूसरे स्थूलदेहमें चला जाता है। यदि आज 'विज्ञान' इतना बढ़ जावे कि किसी मृतक स्थूलदेहको जीवित कर दे तो उसमें अपने आप एक नूतन सूक्ष्मदेहकी रचनाका आरम्भ हो जायगा और यदि उसमेंसे निकला हुआ सूक्ष्मदेह उसमें वापस लाया जा सके तो पूर्ववत् संस्कारोंवाला मनुष्य पुनः ठठ बैठेगा। प्राचीन भारतीय 'योग' में ऐसी शक्तिका वर्णन आता है।

इसप्रकार समस्त जगत्में जो द्रव्य व्याप्त है उसके दो

गुण सिद्ध हुए—एक तो सत् (existence) और दूसरा चित् (consciousness)। उस सत्ताका तीसरा गुण आनन्द (bliss) है। आनन्द आत्माका एक वह बल है जिसके आधारपर समस्त जीव-जगत् ठहरा हुआ है। शास्त्रकारोंने तीन प्रकारके दुःखोंका वर्णन किया है—आध्यात्मिक, आधि-दैविक और आधिभौतिक। संसारमें सैकड़ों-हजारों प्रकारके दुःख दिखायी देते हैं। परन्तु यदि सुख-सदृश कोई पदार्थ न होता तो जीवमात्र प्रयत्नशील तथा आशावान् दिखायी न देंगे और अणमात्रमें समस्त जीवधारियोंका नाश हो जाता, जैसे कि एक नितान्त निराश मनुष्य आत्मघात कर लेता है। यदि हम सदा दुःखोंका ही ध्यान करें तो जीवन असम्भव हो जावे। सब दुःखोंके बीचमें भी हमें आनन्दका अनुभव होता ही रहता है। दुःख स्थायी नहीं है परन्तु आनन्द स्थायी है, क्योंकि तत्त्व-ज्ञानके पश्चात् आनन्द-ही-आनन्द रह जाता है।

‘तत्र को माहः क. शाकः एकत्वमनुपदमतः।’

दुःखसे परम निवृत्तिका नाम मोक्ष तथा परमानन्द है। अन्तर्दृष्टिसे अपने अन्दर स्वयं देखनेपर अपना स्वभाव परम आनन्दमय प्रतीत होता है। यही आनन्द जिसे हम जब द्रव्य कहते हैं उसमें भी है। जब द्रव्योंमें उपपन्न होने-वाले विषय-भोगोंको मनुष्य आनन्दके लिये ही करता है। दुःख प्राप्त होता है अनियामकता तथा अज्ञानसे। सुख-दुःखके अनुभवको जो सम्बन्ध-सम्बन्धी (Relative) मानते हैं वे ठीक हैं, पर उससे आगे और उससे परे मनुष्य तथा जीवमात्रमें जो आनन्द-प्राप्तिकी समान इच्छा है, वह सम्बन्ध-सम्बन्धी (Relative) नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थायी इच्छा दुःख-प्राप्तिकी किसीको नहीं है। यह स्थायी आनन्द आत्माका अविनाशी गुण है।

राग-रागिनियाँ दुःखमें नहीं, वरं आनन्दमें निकला करती हैं। अभी हालमें ही डा० रमनने प्रयोगोंद्वारा सृष्टि-के समस्त द्रव-पदार्थों (Liquids) में राग-रागिनियाँ सिद्ध की हैं। प्रत्येक द्रव एक अमुक प्रकारकी रागिनीकोलगाता रह रहा है। यह इतनी ऊँची ध्वनि है कि मनुष्यके कान से नहीं सुन सकते; इसलिये डा० रमनने उस ध्वनिके बेग (Fitch) को यन्त्रोंद्वारा इतने नीचे उतार दिया है कि उसे अब कोई भी मनुष्य सुन सकता है। अलग-अलग द्रव्योंकी भिन्न-भिन्न राग-रागिनियोंको पयानों इत्यादि बाजों-

के साथ मिलाकर संगीतकी मञ्जिस जमानेमें भी वे कृत-कृत्य हुए हैं।

एक ही सत्ता अथवा तत्त्वमें उपर्युक्त प्रकारसे सत् (Existence), चित् (Consciousness) और आनन्द (Bliss) ये तीन सिद्धान्त मिले। पर ये कोई ऐसे गुण नहीं हैं जिनका अलग-अलग अस्तित्व सम्भव हो। संस्कृत-भाषामें तो इनकी सन्धि ‘सच्चिदानन्द’ करनेपर होती है परन्तु प्रकृतिमें ये तीनों बिनापताएँ ऐसी मिळी हैं कि इनकी सन्धिकी तोड़ना अस्वाभाविक मालूम होता है। ‘मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ’ इस बातका अनुभव मनुष्य-मात्रको लगातार हो रहा है। ‘मैं नहीं हूँ’ अथवा ‘मैं जब हूँ’ अथवा ‘मैं दुःखमय हूँ’—ये आसनाएँ ही स्वयं अमानक-सी मालूम होती हैं। मैं जो कुछ हूँ उसका प्रमाण मुझे प्रत्यक्ष अपने आप हुआ मिल रहा है। श्री रामतीर्थ-ने कहा है और ठीक कहा है कि ‘मनुष्यमात्रको किसी न-किसी स्वरूपमें तथा भांशमें चापलूसी (flattery) पसन्द है इसका एकमात्र कारण केवल यही है कि मनुष्य स्वयं उन सब गुणोंमें युक्त और शाहन्शाह है, अपने स्वरूपकी स्मृतिमें आनन्दका आना स्वाभाविक है।’

अब यहाँ एक बड़ा कठिन प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब सर्वत्र एक ही तत्त्व सच्चिदानन्दस्वरूप व्याप्त है तो द्रष्टा (Subject) और दृश्य (Object) ये दो भिन्न परिस्थितियाँ कैसे सम्भव हो सकती हैं? द्रष्टा सर्व दृश्य-में भिन्न ही रहेगा अन्यथा द्रष्टा और दृश्य ऐसे दो शब्द भी केवल शब्द अद्वैत-तत्त्वमें नहीं बन सकते। चित् (द्रष्टा) को जब (दृश्य) का ज्ञान हो इसके लिये जहाँ यह आवश्यक है कि दोनोंमें कुछ-न-कुछ समानता हो, वहाँ यह भी आवश्यक है कि द्रष्टा और दृश्य दोनोंमें कुछ-न-कुछ असमानता भी हो, नहीं तो दर्शनेके सदृश कोई क्रिया ही होना असम्भव है। प्रश्न यद्यपि कठिन है पर इसका उत्तर त्रिकुल सरल है।

सर्वव्यापी एक ही अविनाशी सच्चिदानन्दस्वरूप तत्त्व-में किसी भी कारणसे अथवा लीलायात्रामें अथवा स्वभावसे नामरूपादिद्वारा अनेकता प्रकट होती है, जैसे कि एक ही ईथरमें ऋण-विद्युत् (Electrons) तथा धन-विद्युत् (Protons) ये दो तरहके अँवर हो जाते हैं अथवा जैसे समुद्रके जलके अन्दर लहरें, बुदबुदे तथा अँवर आदि होते हैं। इन नाना प्रकारके भेदोंमें एक इच्छामय प्रेक्षा भी

हो जाता है जहाँ कि चित्तके चित्तत्वकी सम्भावना हो जाये। जैसे कि विष्णु सब जगह ओतप्रोत भरी हुई है, पर वह बल्यमें ही प्रकाशरूपमें प्रकट होती है, वैसे ही चित्त सर्व-स्थलमें रहते हुए भी केवल एक अमुक प्रकारके इन्तजाममें ही द्रष्टा बनता है। वह इन्तजाम इसप्रकार है—जीवित स्थूल देह (जो जीवन-तत्त्व protoplasm से बनता है), इस स्थूल देहमें पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी शक्तियोंके प्रकटो-करणके लिये पाँच प्रकारकी स्थूल इन्द्रियाँ और तब इस स्थूल देहके अन्दर मन, बुद्धि और संस्कारोंकी वैयक्तिकता देनेवाला 'अहं' तत्त्व। यह सब हो चुकनेपर एक अमुक शरीरके अन्दरके चित्त (Consciousness) में चैत्य (Awareness) होता है और उससे द्रष्टाका नाम मिल जाता है और बाह्य-जगत् उसका हृदय बन जाता है।

यह सब कुछ होते हुए भी वह पूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूप तत्त्व निर्विकार ही रहता है, क्योंकि उस तत्त्वमें कोई अन्तर नहीं आने पाता, जैसे कि सुवर्णके कई प्रकारके गहने बन जानेपर भी वह पूर्ण तत्त्व सुवर्ण-ही-सुवर्ण है। हम अर्थमें इस नामरूपात्मक जगत्को मिथ्या तथा भ्रम कह सकते हैं, अर्थात् एक तत्त्वके सिवा कुछ ही ही नहीं। 'अहं' एक ऐसा तत्त्व है कि जिसके द्वारा एक सर्व-व्यापी चित्तमें अनेकता प्रकट हो जाती है। प्रत्येक शरीरमें रहनेवाला चित्त 'अहं' से बँधकर अपनेको परिमित व्यक्ति समझने लगता है। यह बात उस सर्वव्यापी चित्त (चिदाकाश या ब्रह्म) के महान् अंशके साथ नहीं है जो कि देहोंमें बँधकर 'जीव' नहीं हो पाया है। वह चिदाकाश अहंकारसे अपरिमित होनेके कारण और प्रत्येक जीवने तादात्म्यता (Continuity) के कारण समस्त जीवोंके अनुभवोंका ज्ञाता रहता है।

ईश्वरके अस्तित्वके जितने प्रमाण दिये जाते हैं, उनमें तीन ही योग्य प्रमाण हैं, अर्थात् (१) कार्य-कारण भाव-मूलक (Cosmological), सत्तामूलक (Ontological) तथा प्रयोजनमूलक (Teleological)। कैअर्ड (Caird) ने इन प्रमाणोंका विस्तारसे वर्णन किया है। कैण्टने इन प्रमाणोंका खूब खण्डन किया है।

(१) कार्य-कारण भाव-मूलक प्रमाण

समूर्ण संसार कार्य है इसलिये इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिये। 'उस कारणका भी कोई कारण होना

चाहिये और फिर उसका भी कोई कारण होना चाहिये'—इसप्रकारसे यदि चलते चले तो कहीं कारणोंका अन्त न होगा और अनवस्था-दोष आ जायगा। इसलिये जगत्का कोई एक ही नजदीकका कारण है और उसे ईश्वर कहते हैं।

मैं इसप्रकारके प्रमाणोंको निन्दाकी दृष्टिसे देखता हूँ क्योंकि इसमें प्रमाण देनेवालेके हृदयमें सत्यके खोजकी कुछ भी इच्छा नहीं दीखती, केवल डार-जीतकी इच्छा, दुराग्रह और अज्ञान ही दिखायी देता है। नव्यन्यायमें भी ऐसी ही बातोंकी भरमार है, जैसे 'मनुष्यत्वावच्छिन्नो मनुष्यः' 'मनुष्यत्वावच्छेदको घटः' इत्यादि।

(२) सत्ता-मूलक प्रमाण

एन्सेल्स, हेकार्ट आदिने कहा है कि यदि ईश्वर कोई वस्तु न होता तो ईश्वरका प्रत्यय हृदयमें कैसे आता? गैलोजियो, कैण्ट आदिने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि 'मनुष्यके हृदयमें ईश्वरकी कल्पना होनेके कारण यदि उसका अस्तित्व मान लें तो संसारमें जितने भिन्नक हैं वे इनमें अशक्तियोंकी कल्पना करके करोड़पति हो जायें।'

इस प्रमाणका बाल्विक अर्थ वैसा नहीं है जैसा गैलीलियो आदि समझ बैठे हैं। इस प्रमाणमें कुछ तथ्य है जो कि तुलनात्मक धर्म-शास्त्र (Comparative Religion) की शाखा धर्मशास्त्र-सम्बन्धी मनोविज्ञान-शास्त्र (Psychology of religion) में है। समस्त संसारमें जितने धर्म हैं उनमें किसी-न-किसी महान् सत्ताका उल्लेख अथवा वर्णन होता है। नास्तिकों आदिको छोड़कर मनुष्य-मात्रके हृदयके अन्दर किसी-न-किसी महान् सत्ताके प्रति आदर, भय तथा श्रद्धा दिखायी देती है। संसारभरके धर्म तथा सम्प्रदायोंके अध्ययन करनेके बाद अन्तमें यह निष्कर्ष निकलता है कि विश्वकी किसी महान् सत्ताके मनुष्यमात्रके हृदयके अन्दर घर-सा कर रक्खा है। बिना किसी-न-किसी धर्मको माने मनुष्यके चित्तकी स्थिति भागी असम्भव-सी दीखती है। दक्षिण-अफ्रिका तथा मध्य-आस्ट्रेलियाकी अशिक्षित तथा जंगली जातियोंमें भी टोटैमिज्म (Totemism) नामका धर्म कई प्रकारकी शाखाओंमें प्रचलित है। इस धर्ममें अनेक प्रकारके अद्भुत-अव्युक्त विश्वास भरे हैं जो इन जातियोंमें स्वाभाविक ही उत्पन्न हुए दीखते हैं। इनका भी विश्वको अद्भुत सत्ताकिनी जातियोंमें विश्वास है।

वहाँ प्रश्न यह है कि जब किसी-न-किसी प्रकारकी अद्भुत सत्ता ने मनुष्यमात्रके हृदयमें अपना घर कर रक्खा है तो क्या ऐसी कोई सत्ताका अस्तित्व मान लिया जाय या यों मान लिया जाय कि यह मनुष्यका एक जन्म-सिद्ध स्वभाव (Instinct) है कि वह ऐसी किसी-न-किसी सत्तामें विश्वास करे ? यदि ऐसा नहीं है तो क्या कारण है कि इस विकासकी बात ने मनुष्यके हृदयको भय तथा अज्ञा-से भर रक्खा है ? तुलनात्मक धर्म-शास्त्र (Comparative Religion) की प्रधान शाखा धर्ममूलारमक मनोविज्ञान-शास्त्र (psychology of religion) के अनुसार कुछ ऐसी परीक्षाएँ की गयी हैं कि जिनमें नवजात बालकको जन्मसे ही धर्म तथा ईश्वर-सम्बन्धी सब बातोंसे दूर रक्खा गया है—यह देखनेके लिये कि ईश्वर-सम्बन्धी कोई बात उसके अन्दर स्वाभाविक ही उठती है अथवा नहीं। यद्यपि ऐसी परीक्षाएँ अधिक नहीं की गयी हैं परन्तु जितनी भी हुनी-गिनी परीक्षाएँ की गयी हैं उनसे यह पता लगा है कि ईश्वर तथा धर्म आदि सम्बन्धी कोई भी बात मनुष्यमें स्वाभाविक नहीं पायी जाती; ये बातें उसे दी जाती हैं। जो कुछ भी हो इस ओर खोज होनी चाहिये क्योंकि जो कुछ अभी तक हुआ है उसे मैं धन्युक तथा मिश्रित माननेको तैयार नहीं हूँ, क्योंकि इन परीक्षाओंके साथ-ही-साथ महात्मा गान्धीके समान परीक्षक और सत्य-के खोजी भी विद्यमान हैं जिन्होंने अपने चित्तके हर एक विषयको मँजकर उसे फिरसे विपक्षभावसे स्थिर किया है। शुद्ध सत्यके प्रेमी महात्मा गान्धीने यह कहें बार कहा है कि उनके हृदयमें ईश्वरकी प्रेरणा होती है। वे जो कुछ करते हैं, उसी प्रेरणाके अनुसार करते हैं। ईश्वरके इस सत्तामूलक प्रमाणको कोई-कोई मनोविज्ञानशास्त्र-मूलक प्रमाण (Psychological proof) भी कहते हैं।

अब अन्तिम प्रयोजन-मूलक प्रमाण (Teleological proof) की परीक्षा करनी है। सृष्टिका जितना कार्य है वह किसी एक गुप्त प्रयोजनको लेकर हो रहा है और उसी रहस्यमय गुप्त उद्देश्यकी ओर सृष्टि बढ़ी चली जा रही है। उद्देश्य केवल चेतन व्यक्तियों ही हो सकता है, अचेतनमें नहीं, इसलिये किसी चैतन्य स्रष्टिका अस्तित्व है जिससे हम 'ईश्वर' कह सकते हैं। भौतिक तथा प्राविशास्त्रसम्बन्धी विज्ञानकी जितनी भी शाखाएँ हैं उनमेंसे प्रत्येक सृष्टिके किसी-न-किसी एक गुप्त प्रयोजनकी

ओर संकेत करती हैं। विस्तारमें न जाकर हम कुछ आवश्यक शाखाओंको ही लेकर यह देखेंगे कि उनमेंसे प्रत्येक किसप्रकारसे अपने-अपने ढंगपर विकासवाद (Evolution) को सिद्ध कर रहे हैं।

सृष्टि छः दिनमें नहीं बन गयी, जैसा कि बाइबलमें लिखा है परन्तु सृष्टि आज जैसी है वैसे अवस्थामें धीरे-धीरे वह सहस्रों सदियोंमें विकासद्वारा पहुँची है। विकास-का अर्थ है किसी निश्चित उद्देश्यकी ओर धीरे-धीरे आगे बढ़ना।

ज्योतिष-शास्त्र (Astronomy) द्वारा अब यह भली-भाँति सिद्ध हो चुका है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पहले एक बड़े भारी नीहारिका (Nebula) की हालतमें था जिसमें कि आगे चलकर करोड़ों सौर-जगत् (Solar systems) की उत्पत्ति हुई है। हमारा सौर-जगत् आकाश-गंगाके करोड़ों सौर-जगत्मेंसे एक है। हमारी पृथ्वी हमारे सूर्यका ही एक टुकड़ा है जो ठण्डा होते-होते आज हमारे रहनेके योग्य हुई है अभी तो यह पूरी ठण्डी नहीं हुई है। इसके अन्दर अभी जलता हुआ गरम लावा (lava) भरा हुआ है जो कि ज्वालामुखियोंद्वारा निकला करता है।

भूगर्भशास्त्र (Geology) द्वारा यह विचारसे सिद्ध हो चुका है कि पृथ्वीका तल, डमरूके समुद्र, पहाड़ तथा नदियाँ आदि किस-किस प्रकारसे बनते-बनते ऐसी बनी हैं जैसी आज हैं। आज जहाँ हिमालय पर्वत है वहाँ पहले टेथिस नामका समुद्र था और आज जहाँ बंगालकी खाड़ी है वहाँ पहले आस्ट्रेलिया समुद्र था—इत्यादि सैकड़ों बातें सप्रमाण भूगर्भशास्त्रने सिद्ध कर दी हैं। गरम जलने हुए सूर्यके टुकड़े 'पृथ्वी' ने सदियों बाद आज वर्तमान परिस्थिति प्राप्त की है।

अब यह पृथ्वी जीवधारियोंके रहनेके योग्य हो गयी तब विचित्र प्रकारसे इसके समुद्रोंके अन्दर जीवनतत्त्व (Protoplasm) की उत्पत्ति हुई। यह प्रोटोप्लाज़्म—कारबन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन, ऑक्सीजन तथा फास्फोरस आदि पदार्थोंका वह विचित्र सन्मिश्रण है जो मनुष्यसे लेकर प्रत्येक जीवित प्राणी तथा पौधोंमें वर्तमान है और जिसके बिना जीवन नहीं रह सकता। विज्ञानवेत्ता जिस दिन इस पदार्थको प्रयोगशाला में अपने हाथमें तैयार कर लेंगे—जैसी कि उन्हें आशा है—उस दिन वे सृष्टिपर

विजय प्राप्त कर लेंगे। जीवन-तत्त्व समुदायों में पहले-पहल अनेक प्रकारके जीवोंके रूपमें प्रकट हुआ। फिर विकास होते-होते उसने एक ओर मछली आदिका और दूसरी ओर वनस्पतियों आदिका रूप लिया। पशुओंमें बनते-बनते बन्दर बना, तब वनमानुष और फिर मनुष्य। इन सब बातोंका विस्तार वनस्पतिशास्त्र (Botany) तथा पशु-विज्ञान-शास्त्र (Zoology) में भरा पड़ा है। यह भी सिद्ध किया जा रहा है कि मनुष्यका भी विकास हो रहा है। मनुष्य-विज्ञान-शास्त्र (Anthropology) ने यह दिखलाया है कि मनुष्य पहले केमंडा जंगली था और उसने किसप्रकार अपना जगत्पीन किया। 'Riddle of Mars' अर्थात् 'मंगल तारेकी पहेली' नामक पुस्तकमें यह सिद्ध किया गया है कि मंगल तारेपर मनुष्य रहने हैं और वे हमसे भी अधिक उन्नतिशील हैं। वहाँके

इंजीनियर्सने ऐसी केनाल् (Canals) बनायी हैं जिनका बनना हमारे यहाँ तुच्छ है।

रसायनशास्त्र (Chemistry) के एक बड़े आचार्य मेबटेलेजिफने यह सिद्ध किया है कि समस्त ब्रह्माण्डके जितने भी तत्वाण हैं उन सबका विकास हुआ है। रेडियम आदि तत्त्वोंके विकासकी अवधितकका पता लगा गया है। विकासका आरम्भ हाइड्रोजन-तत्त्वसे हुआ है और अभीतक तत्वाणुओंका विकास यूरेनियम नामक धातुतक पहुँच पाया है।

हमप्रकार जहाँ देखो वहीं विकास-ही-विकास होता चला जा रहा है। तत्त्वज्ञानोंकी श्रम यह समयमें कठिन समस्या उनके सामने उपस्थित है कि सृष्टिके इस रहस्यमय विकासके पीछे अवश्य ही कोई चेतन कर्ता होना चाहिये।



विज्ञान और ईश्वर

(लेखक—श्रीवासुदेवशरणजी एम० ए०)



विज्ञान ईश्वरके विषयमें निरपेक्षतासे मौन है। विज्ञानकी परीक्षाएँ हरय, स्थूल और सूक्ष्म जगत्के परमाणुओं-तक परिमित हैं। प्रकृतिकी खोज विज्ञानका श्रीगणेश है, उसका अन्त कहाँ चलकर होगा यह अभी नहीं कहा जा सकता। ज्ञेयके प्रतिपादनमें विज्ञानने अज्ञेय या परीक्ष्य विषयोंके विश्वासको धक्का पहुँचाया।

यह अच्छा ही हुआ। उन्नीसवीं शताब्दीमें उद्भूत बुद्धिवाद बहुत जोरोंपर था। युग-युगान्तरमें लोग जिन कल्पनाओंके दास थे, उन सबको विज्ञानकी प्रचण्ड अग्निमें झुलसा दिया। वीर मोक्षकी भाँति विज्ञानने तर्क और बुद्धिके अक्षोंमें विश्वासके दुर्गमें भीतर घुसकर प्रहार किया और धर्म और मतोंके संकीर्ण पुजारियोंको डसकी बढ़ती हुई विजयके सामने अपने हथियार रख देने पड़े। यह आँधी इस युगकी विशेषता है। मनुष्यने तर्क और बुद्धिको सिंहासनपर अधिष्ठित करनेका संकल्प कर लिया है, इसमें दोष या असमर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं है। बुद्धिके

प्रचण्ड नदके सामने जो बाधकरूपमें थाया अथवा आवेगा वही वह जायगा।

सृष्टि कबसे है, संसारमें प्राणियोंकी सत्ताको कितना समय बीत गया, पृथिवीका सौरमण्डलमें क्या स्थान है, कमोंकी प्रेरणामें बाध हेतु क्या है—इन सब विषयोंपर उन्नीसवीं सदीके वैज्ञानिकोंने मनुष्य-जातिको नये पाठ पढाये और लोगोंने पुराने दकियानुसी विचारोंको निम्नार जानकर पीछे छोड़ दिया। धर्म-शास्त्रोंका स्थान विज्ञान-शास्त्रोंने ले लिया। मनुष्य-जातिके नन्हें बच्चे नये प्रकारसे शिक्षित और आनन्दित होकर स्वतन्त्र सिपाहीकी भाँति प्राकृतिक रहस्योंके नये देश जीतनेको निकल पड़े। उनकी दिव्यजय सर्वतोमुखी, आश्चर्यमयी और प्रतिभाशालिनी हुई। सृष्टिकी आयुके जीर्ण विचार जाने रहे। एक ही सपाटमें ऐसा मालूम होने लगा मानो यह पृथिवी कई करोड़ वर्षोंसे है। उत्तरोत्तर अनुसन्धानसे आज सब वैज्ञानिकोंकी ऐसी धारणा है कि पृथिवीकी आयु (Age of the Earth) दो अरब वर्ष (2000 million years) है। रेडियमकी खोजने इस परिणामको सत्य करवाया है। वर्ष है आर्य-जातिमें प्रचलित सृष्टि संवरसर

१९७२६७३१ से यह विज्ञानका अनुमान मिलता हुआ है। इसके अतिरिक्त दूरबीक्षण-यन्त्रने पृथिवीका ब्रह्माण्डमें क्या स्थान है, इसपर प्रकाश डाला। पहले लोग इसी गोलकी सब जगत्का केन्द्र मानते थे। विज्ञानने बताया कि हमारे सौरमण्डलका केन्द्र सूर्य है और पृथिवी उसकी तुलनामें बहुत ही छोटी है। धीरे-धीरे यह खोज यहाँतक बढ़ी कि आज यह पृथिवी समस्त ब्रह्माण्डकी अपेक्षामें एक कणके बराबर भी नहीं है। इस विश्वमें जितने सागरोंके रजःकण हैं, वे सब यदि ग्रह और ताराओंकी संख्याके बराबर मान लिये जायें तो यह पृथिवी एक रजःकणके भी सुःमातिसूक्ष्म अंशके बराबर नहीं कही जा सकती। हमारे गणितके अंक रो देते हैं। इस अनन्तताको शब्दोंमें व्यक्त करनेका साधन हमारे पास नहीं है। जहाँतक गणितके अंक हमारे साथ रहें वहाँतक तो हमारी स्थिति हृदयपर समझी जाती है। जब हम इस अनन्तता या विशालताकी कुछ भी कल्पना निश्चित शब्दों और अंकोंमें नहीं बता सकते, तब मानो हम सत्य (Fact)को खोकर पुराण (Legend) के क्षेत्रमें चले जाते हैं। इस जगत्में सत्य कुछ ही दूरतक हमारा साथ देता है। आगे चलकर भौतिक अनुसन्धानमें भी हमें अपने आपको पुण्यके हाथोंमें सौंप देना पड़ता है। पुराने पुराणोंकी छोड़ दीजिये। नये विज्ञानके पुण्योंकी शरण लिये बिना गति नहीं है। विश्वकी विराट्मा पुराण ही है। वस्तुतः संसार निरुक्त और अनिरुक्तका, सत्य और पुराणका, सान्त और अनन्तका अद्भुत सम्मिलन है। आधुनिक ज्योतिर्विज्ञानने हमें कल्पनाके जगत्में उठाकर निम्नहाय ढोड़ दिया है—

Dr. Hubble estimates that about two million such nebulae are visible in the great 100-inch telescope at Mount Wilson, and that the whole universe is about a thousand million times as big as the part of space which is visible in this telescope. Let us now multiply 1000 million by 2 million, and the product by 1000 million. The answer (2×10^{21}) gives some indication of the probable number of grains of sand spread over England would make a layer hundreds of yards in depth. Let us reflect that our earth is one millionth

part of one such grain of sand, and our mundane affairs, our troubles and our achievements, begin to appear in their correct proportion to the universe as a whole.

[Eos by Dr. Jeans, p. 21]

यह वैज्ञानिक सत्य है। इसके लिये बंदोबेन कहा है— 'एतावानमय महिमा।' पर विज्ञान 'अतो ज्यायांश्च पुरुषः' कहनेकी आज्ञा हमें नहीं देता, अतः हम पुरुषके विषयमें कुछ न कहेंगे। इस वर्णन-शैलीका नाम पुराण या कल्पना है जो अनिरुक्त पक्ष या अनन्तताका पोषण करती है।

यह तो सृष्टिकी विशालताका दिग्दर्शन हुआ। वहाँ विज्ञानकी गति अवरुद्ध हो गयी है। जब सृष्टि-प्रक्रियापर किञ्चित् विचार करना है। यह सृष्टि जिस रूपमें हमारे सामने फैली है यह क्या पहली ही बारका आयोजन है, अथवा इससे पूर्वमें भी कभी सृष्टि थी, या इसके बाद भी फिर कभी सृष्टि होगी ? हम जान चुके हैं कि पुराने ईसाई-धर्मकी कल्पना या अन्य धर्मोंकी कल्पनाओंकी पछाड़कर विज्ञानने आगे कदम उठाया था। परन्तु सृष्टि-प्रक्रिया का सन्तोषदायक कोई भी समाधान आजतक विज्ञानके हाथ नहीं आया है। यह विषय भी हरय परिमित ज्ञानकी शृंखलाओंमें नहीं बँधना चाहता। वैज्ञानिक विश्वयुग्ममें इस सृष्टिके पहले क्या था, कुछ नहीं कहते। हाँ, यह सृष्टि हमारे सामने फैली है यह भ्रूव घटना है। इस घटनाका अध्ययन विज्ञानको हट है। इस अध्ययनमें एक नियम बहुत महत्व रखता है। उसका अंग्रेजी नाम Second Law of Thermodynamic है जिसका प्रतिपाद्य विषय यह है कि शक्तिका प्रवाह ऊँच केन्द्रमें नीचे केन्द्रकी ओर होता है। उदाहरणार्थ एक बन्तुमें पाँच सहस्र डिग्री सेन्टीग्रेडकी गर्मी है और दूसरीमें दो हजार डिग्री। तापका प्रवाह पहलीमें दूसरीकी ओर होगा और तबतक बराबर होता रहेगा जबतक दोनोंमें समत्व-स्थिति न हो जाय। प्रकृतिके ज्ञात अनुभवोंमें ऐसा कभी नहीं देखा गया कि दो हजार डिग्रीका ताप जिसमें है उसमेंमें उल्टा प्रवाह ऊँचकी ओर होने लगे। शक्तिका प्रवाह अधोमुख या प्रलयकी ओर है। प्रलयका तात्पर्य यह समता (Equilibrated condition) है जहाँ शक्तिके हस्ताम्सरित न हो सकनेमें कोई कार्य नहीं हो सकता। वैज्ञानिक मानते हैं कि सूर्यके समान अनेक शक्तिके केन्द्र

ब्रह्माण्डमें हैं जिनकी शक्ति अनवरत बेगसे आकाशमें विघीर्ण हो रही है। यदि यही प्रवाह चलता रहा और कोई कारण ऐसा समझमें नहीं आता जिससे इस प्रवाहमें बाधा हो, तो एक समय ऐसा आयागा जब शक्तिके सम-वितरणसे विश्वमें कोई कार्य न हो सकेगा और सब प्रकृति शक्तिरूपमें परिवर्तित होकर अव्यक्त आकाशमें फैल जायगी। ऐसी दशामें फिर सृष्टिको सम्भव कर सकना असम्भव है। यदि उपर्युक्त दूसरे नियमका प्रतिद्वन्दी ऐसा भी कोई नियम हो जिसके अनुसार शक्तिके नये गर्भित केन्द्रोंकी रचना हो सके, तब तो प्रलयके बाद सृष्टिका प्रवाह पुनः प्रचलित हो सकता है। परन्तु अभी तक इस विषयमें हम कुछ नहीं जानते। विज्ञान ७०० जीन्सकी तो यहई तक कल्पना है कि उस बिप्रतिपत्तिसे छुटकारा पानेका उपाय यह है कि विश्वके बाहर किसी कारणको हम पुनः सृष्टिका हेतु मान लें। पर विज्ञान हमें इस विषयमें कुछ कहनेकी आज्ञा नहीं देता। हम तो संक्षेपमें यही कह सकते हैं कि आद्य-कल्पनामें अमोक्ष तपसे सृष्टि मानी गयी है। यह तप ही शक्तिके गर्भित केन्द्र हैं। पर तपका जनयिता ब्रह्म है जो योगनिद्रामें इस तपको उत्पन्न करता है। निद्राकी कल्पनाके साथ जाग्रतकी कल्पना भी है। अर्थात् सृष्टि और प्रलय ये दोनों नैसर्गिक प्रवाहगत क्रम हैं जो परस्परापेक्षी हैं। दोनोंका आधार चैतन्यका ज्ञान है।

अब हम एक ऐसे विषयकी ओर आते हैं जिसका अनुसन्धान विज्ञानका महत्वपूर्ण अंग है। यह प्रश्न जड़-जगत् और शक्तिके सम्बन्ध रहता है। जड़-प्रकृति (Matter) का अन्तिम रूप क्या है इसका उत्तर सारा संसार विज्ञानसे माँग रहा है। और क्यों नहीं? जिस प्रकृतिकी प्रतिष्ठा इतने समारोहसे वैज्ञानिकोंने की है उसका परीक्षण भी होना चाहिये।

विज्ञानका ही सत्यप्रियताने विद्वानोंको इस बातके जाननेकी विवश किया कि प्रकृतिका अन्तिम रूप क्या है? पहले वैज्ञानिकोंने इस बातका पता लगाया कि स्थूल-जगत्में वानये तत्त्व या पदार्थ (Elements) ऐसे हैं जिनके संयोगसे ही सारे रूप बनते हैं। ब्रह्माण्डमें कहीं चले जाइये, समस्त प्रकृति इन्हीं मौलिक पदार्थोंका संवह है। मौलिक विज्ञान और ज्योतिर्विज्ञानकी सम्मिश्रित जोड़ोंसे अब यह ज्ञान लेना बहुत सरल हो गया है कि सूर्य या और भी जलिन्य दूरीबाके नक्षत्रोंमें कितने तत्व

(Elements) हैं। प्रत्येक तत्त्वका प्रकाश अलग-अलग है और किसी भी नक्षत्रमें आनेवाले प्रकाशके विश्लेषण (Spectrum analysis) से यह मालूम कर लेना बहुत आसान है कि उसकी प्राकृतिक रचना किन तत्त्वोंके संयोगसे है। इसप्रकार कुछ कालतक इन ज्ञानसे तत्त्वोंको विश्वका मूलभूत आधार मानते रहनेके बाद विज्ञानने एक पग और आगे रक्खा। यहाँपर वैज्ञानिकोंने परमाणु (Atom) के अन्तिम स्वरूप और उसकी आन्तरिक रचनाकी खोज आरम्भ की। आधुनिक शानाद्वीके अनुसन्धानोंमें परमाणुकी रचना-विषयक खोज बहुत ही महत्वकी है। हमने विज्ञान-शास्त्रमें आसूल क्रान्ति कर दाकी है। कोई समय था जब परमाणुको केवल अविभक्त मानते थे। अब इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है कि परमाणुकी रचना सौर-मण्डलके दंगपर है। परमाणुके बीचमें एक केन्द्र है जिसे प्रोटोन (Proton) कहते हैं। इस केन्द्रमें ही परमाणुका सारा वजन सञ्चित रहता है। इसके चारों ओर कुछ विद्युत्कण चक्कर काटते हैं जिनका नाम इलेक्ट्रॉन (Electron) रक्खा गया है। वस, परमाणु प्रोटोन और इलेक्ट्रॉनके समवायका नाम है। प्रोटोनके चारों ओर घूमनेवाले इलेक्ट्रॉनोंकी संख्या हर तत्त्वके परमाणुमें अलग-अलग है। चार्ज और सोनेका भेद असक्रियतमें कुछ नहीं। दोनोंके परमाणुओंके भीतर इलेक्ट्रॉनोंकी गिनतीमें भेद होनेसे यह ऊपरी भेद हो जाता है। इस आविष्कारने यह सिद्ध कर दिया है कि भौतिक प्रकृतिकी रचना परमाणु-मय है और एक मूल-पदार्थके परमाणुका दूसरेमें भेद केवल इलेक्ट्रॉनोंकी संख्यापर निर्भर है। वस्तुतः भेद कुछ नहीं है। परमाणुका स्वरूप क्या है? इस विषयकी खोजसे यह फल निकला कि परमाणुका स्वरूप विद्युत् रूप है। प्रोटोन और इलेक्ट्रॉन दोनों धन और ऋण विद्युत्के रूप हैं। विद्युत् एक ही है। उसका दो तरफसे प्रकट होना अनिवार्य है। बिना ऋण-धनके कोई कार्य नहीं हो सकता। वास्तविक दृष्टिसे ये दोनों उपाधिमित्र हैं। मूल विद्युत् एकरस है। इसप्रकार भौतिक प्रकृतिका सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश जो परमाणु है वह केवल विद्युत्का ऋण-धनात्मक प्रकाश-मात्र है। इस खोजने पुराने सब विचारोंको अस्तव्यस्त कर दिया है। सैटर और इनर्जीका सम्बन्ध ठीक-ठीक हम अभी तक नहीं जान पाये हैं। परमाणुके स्वरूपके बारेमें

भी वैज्ञानिकोंमें बहुत मतवाद है। दार्शनिक ग्रेट्ट हेडने तो परमाणुको चेतनधर्मविशिष्ट कार्यसमूह मान लिया है। पर इसमें समस्या किसी तरह हल नहीं होती। जैसे हम शक्तिके बारेमें अनभिज्ञ हैं वैसे ही चैतन्यके वैज्ञानिक स्वरूपके विषयमें तो हम और भी कोरे हैं। परमाणुओंकी भट्टीमें पककर दृश्य स्थूल जगत् हमारे हाथोंमें निकल आता है। प्रत्यक्षवादको इसमें बहुत चक्का पड़ेगा है। और हम इसलिये बहुत विकल हैं कि हमारे स्थूल जगत्की रक्षा क्या हमारे देखते-देखते किसी तरह न हो सकेगी? परियाम चाहे कुछ हो विज्ञानको तो सत्यकी पूजा करनी है। हमें सत्यकी खोज है, प्रत्यक्ष या परोक्षसे हमें क्या मतलब?

इसी प्रसंगमें एक और जटिलता आ गयी है। उसका वैज्ञानिकनाम Quantum Theory है। हमारा आधार यह था कि प्रकृति अखण्ड है। अखण्डता (Continuity) के कारण ही शक्ति एक स्थानमें दूसरे स्थानपर जाती है। आगकी गर्मी लोहेमें पहुँचती है क्योंकि दोनोंको मिलानेवाला एक अखण्ड माध्यम है जिसके द्वारा शक्तिका सञ्चार होता है। इस अखण्डताके कारण ही हम यह आशा करते थे कि प्रकृतिकी उत्तरोत्तर खोजमें हमारी सारी सीढ़ियाँ व्यक्तरूपमें हमारे सामने रहेंगी और अहाँ भी प्रकृति और शक्तिकी ग्रन्थि होगी उसे हम पकड़ सकेंगे। परन्तु अब हमें मालूम होता है कि शक्तिका प्रवाह एकरस माध्यमका मुत्तापेक्षी नहीं है। शक्ति मण्डूक्युक्तिमें छोटे-छोटे बन्दलोंमें, जिन्हें कण्टा कहते हैं, स्थानान्तरित होती है। अर्थात् जैसे मँटरका कण परमाणु है वैसे ही शक्तिका कण भी है। उसकी संज्ञा क्वैन्टम है। प्रकृति और शक्तिकी अखण्डताको सन्देहमें डाल देनेवाला यह नया सिद्धान्त अभीतक ठीक तरह पचाया नहीं आ सका है।

परन्तु भौतिकवादको संशयास्पद बनानेके लिये मानो हतनाकाफी नहीं था, इसलिये सापेक्षवाद (Relativity) के सिद्धान्तने इस अखाड़ेमें प्रवेश करके विज्ञानकी जमी हुई जड़ोंको और भी चलायमान कर दिया। या यों कह लीजिये कि देश-काल-सम्बन्धी हमारे वैज्ञानिक भाषोंका नवीन जीर्णोद्धार हो रहा है। वज्र और लम्बाईको हम निरपेक्ष सत्य मानकर न्यूटनके शिष्य बने हुए थे। अब आइन्स्टाईनने हमें बताया है कि ये आब देश-कालसे

सापेक्ष हैं। जो वस्तु इस पृथिवीपर एक गज है, वही एक लाख पचास हजार मील की-सेकण्डकी गतिसे चलनेपर आध गजकी रह जायगी। यही हाल वज्रमका है। और शायद् एक लाख छियासी हजार मील गतिसे चलनेपर तो उसमें कुछ भी लम्बाई या वज्रन नहीं रह जायगा। यह सब आश्चर्यमय आविष्कार हैं जो स्थूल जगत्की कल्पनाको हमारे सामने बड़े वेगमें बदल रहे हैं। आइन्स्टाईनके अनुसार देश-काल विनत (curved) हैं और जहाँ मँटर सबसे अधिक है, वहाँ यह झुकाव (curvature) सबसे अधिक है। पृथिवी सूर्यके चारों तरफ जिस मार्गमें घूमती है उसका कारण आकर्षणका नियम नहीं है, बल्कि पृथिवीके लिये आकाशमें उसके अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही नहीं है। निज प्राकृतिक पदार्थकृत विनति तथा सूर्यकृत विनतिके घसीझत होकर उसे उसी मार्गमें जाना ही पड़ता है। सापेक्षवाद-सिद्धान्तके अनुसार विश्वका केन्द्र सर्वत्र है। हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति विश्वकी नाभिपर है जिसका अपना-अपना देश-काल-कृत चौखटा है। उस पत्रमें मानों वह जड़ा हुआ है। अभी नहीं कहा जा सकता हमारे सांसारिक जीवनपर इस सिद्धान्तका क्या प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ेगा।

जड़-जगत्की रचनाके विषयमें विज्ञानकी विप्रति-पत्तियोंको हमने कुछ देखा। चेतनाके विषयमें हमारा ज्ञान और भी परिमित है। जैसे हम परमाणुके अन्तिम रूपको नहीं जानते वैसे ही यह मानते हुए भी कि चैतन्यका अन्तिम रूप सेल (Cell) है, हम अभीतक इस बातका पता नहीं लगा सके कि सेलमें जीवनका स्रोत क्या है? सेलके केन्द्रमें उसका चैतन्य है, पर उसका मूल हेतु और उत्पत्ति क्या है यह हमें विष्कुल नहीं मालूम। प्रकृति और चैतन्य दोनोंके मूलका अधूरा ज्ञान हमें है। इसमें सन्देह है कि कभी भी इनका कृत्रिम ज्ञान हमें हो सकेगा। मनके विषयमें कुछ जाननेका प्रयत्न हमने अभी प्रारम्भ ही किया है। हम नहीं कह सकते किसप्रकार प्राकृतिक मन जड़-चेतनकी सन्धिकी नियन्त्रित कर रहा है। गुप्त मन (Subconscious mind) की शक्तियोंको बिना जाने हमारा विज्ञान अधूरा ही है। प्राणिविज्ञान, भौतिकविज्ञान और मनोविज्ञान ये तीन बड़े शाखा इस समय हैं। तीनोंमें ही चैतन्य, प्रकृति और मनका स्वरूप हमसे छिपा हुआ है। बहुत कुछ जान केनेपर भी जो अभी नहीं जान

पाया वही महत्त्वका है। आज वैज्ञानिक प्राणपणसे इन उलझनोंको हल करनेमें लगे हुए हैं। मविष्यकी सफलता-के विषयमें क्या कहा जा सकता है? विज्ञानकी स्वीकृत परिभाषाओंको मानते हुए हमारा ब्रह्माण्ड-विषयक ज्ञान किस रूपमें सन्तोषदायक होगा, यह भी कहना कठिन है। ईश्वरके विषयमें मौन ग्रहण करना ही अलम् है। जड़-चेतनकी प्रतिक्रियाका जिस दिन कुछ निपटारा होगा उस दिन सम्भवतः इस प्रश्नका कुछ सहज हो। आज हमारा

भाव सत्यके जिज्ञासुका है। हम स्वयं अपने घरको ठीक करनेमें व्यस्त हैं, यह अनुकूल अवसर नहीं है जब वैज्ञानिक अपने घरमें निकलकर दूसरोंका दुर्ग ठाहनेकी चेष्टा करें। विज्ञानकी विजय अनुरूपकी विजय है। सृष्टिकी जानने और समझनेका उन्मेष जो साधन मिला है उसका प्रयोग विज्ञान है। उसने सत्यको जाननेके लिये नम्रतासे उसका प्रयोग करना सीखा है और आगे भी करता रहेगा।

विज्ञानशास्त्रके ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीशारदाप्रसादजी मिश्र 'ओपनिषद्' काव्योपनिषद्प्रकाशकणवेशन्तमीमांसातर्कपुराणतीर्थ)



ह या चेतन जगत्के जितने पदार्थ हैं, उनमें मनुष्य ही सबसे श्रेष्ठ है। जब तो ज्ञानशून्य है, उनकी बात ही क्या परन्तु चेतन प्राणिजगत्में जितने स्तर हैं, सबसे ज्ञानकी मात्रा मनुष्यकी अपेक्षा बहुत ही न्यून मानी जाती है। मनुष्य, देखने-सुनने आदि जितने ऐन्द्रिय अनुभव होते हैं, उन्हींमें सन्तोष नहीं कर लेता, किन्तु यहाँसे उसके ज्ञानकी बाराखड़ी ही प्रारम्भ होती है और आगे चलकर वह इसप्रकार विचार-तरंगोंमें डूब जाता है कि सामने आयी हुई वस्तुओंका भी अनुभव नहीं कर पाता। मनुष्यने अपने इस अद्भुत स्वभावके द्वारा ही अनेकों प्रकारके ऐसे साहित्य और कलाका आविष्कार और उनकी रचना की है जिनके द्वारा केवल मनुष्योंके ही अद्भुत स्वभावका परिचय नहीं मिलता, किन्तु जड़वर्गके भी रहस्यमय महत्व समझे जाते हैं। क्या ऐसा हुए बिना जड़वर्ग रेल, तार आदिके रूपमें अपनी करामात दिखा सकते थे? प्राचीन कालमें इसप्रकार आविष्कार हुए थे या नहीं इसकी उलझनमें न पड़ यदि हम वर्तमान समयकी ही ओर झूँझ उठाकर देखें तो भी इन दिनों-दिन बढ़ते हुए आविष्कारोंने कम आश्चर्यस्मित नहीं होते। अनेक आध्यात्मिक वीर अपने भगीरथ परिश्रमसे असम्भव समझे जानेवाले कार्योंको भी कर दिखलाते हैं। जो विद्या इन सभी चमत्कारोंकी माता है उसे ही विज्ञानविद्या कहते हैं। यद्यपि कुछ लोग विज्ञानकी इस उन्नतिकी अस्वाभाविकताकी ओर अग्रसर होना बताकर काँपित करते हैं

परन्तु यह उचित नहीं, क्योंकि साधारण लोग जिन विज्ञानके कार्योंको अस्वाभाविक बताते हैं, विज्ञानशास्त्री उन्हें भी स्वाभाविक ही बताते हैं। कैसे बिना किसी चेतन प्राणीको जोते गाड़ीका चलना साधारण लोग अस्वाभाविक बताते थे परन्तु विज्ञानशास्त्री कहते हैं कि पेट्रोल, कोयला, पानी, भाप इत्यादिके उन-उन संयोगोंके होनेपर गाड़ीका स्वतः चलना ही स्वाभाविक है। अतः वे लोग होते हुए किसी कार्यकी अस्वाभाविकताको कबूत नहीं करते, करें भी क्यों, जब कि वे पदार्थोंके स्वभावोंको ही समझनेके लिये इतनी मगजपच्ची करते हैं और उसीमें सफलता पाते हैं। वस्तुओंके स्वभाव ही उनके सारे प्रयत्नोंकी मूलभूति है। इस तरह स्वभावोंके पिछलगू होकर ही तो कितने विज्ञानशास्त्री यहाँतक कह बैठते हैं कि सभी पदार्थ अपने-अपने स्वभावोंके ऊपर ही निर्भर हैं, ईश्वरकी कोई आवश्यकता नहीं। अन्तु, विज्ञानशास्त्रीकी ही मूलभूतिकी मानकर यदि हम ईश्वरके विषयमें विचार करें तो क्या नतीजा निकलेगा? प्रारम्भमें उनके सर्वम्ब स्वभावको ही लेकर विचार करना होगा। मिट्टी, पानी, तेज प्रभृति जितने पदार्थ हैं उनके स्वभाव यदि अलग-अलग हैं तो उन स्वभावोंका जो एक-दूसरेपर प्रभाव पड़ता है उसमें कौन स्वभाव कारण है? कोई भी पदार्थ बिना किसी अन्य पदार्थके संयोगके रूपान्तरमें नहीं परिणत होता। अतः उन अलग-अलगके स्वभावोंको मिलानेके लिये एक-एक माध्यम स्वभावोंको मानना अनिवार्य होगा। यदि मिट्टीके प्रत्येक अणुओंके अलग-अलग स्वभाव माने जायेंगे तो उनमें धक्का बनानेके एक सम्मिलित स्वभावको भी मानना

ही पड़ेगा। इसलिये और मिट्टीके एक अणुके और दूसरे अणुके स्वभावमें भी कुछ भेद न रहनेके कारण भी स्वभावोंमें अभेदको मानना ही युक्तिसंगत होगा। इस-प्रकार मिट्टीमात्रका जो एक स्वभाव है उसीके अधीन होकर वह तथा उसके अणु-परमाणु अपने कार्य कर सकेंगे। ऐसे ही मिट्टी और पानी मिलकर जो चीजें बनती हैं उनके लिये भी एक सम्मिलित स्वभावको मानना उचित ही है। माननेपर दोनोंकी कार्यकारिता उसीपर निर्भर होगी। चलना, हिलना, सुगन्ध, दुर्गन्ध, स्पर्श आदि अनुभवयोग्य जितने विषय हैं वे सभी जिस स्वभावके परतन्त्र माने जायेंगे वही महान् स्वभाव संसारमात्रका शासक होगा। प्रत्येक पदार्थमें सत्तारूपी स्वभावका अनुभव होता है इसलिये वह सबका स्वभाव-सत्ता ही सभी जगत्की सत्ताकी शासक होगी। उसको सत्तारूप समझते हुए भी सद् रूप समझना उचित है, क्योंकि यदि सत्ता असत् होगी तो उसका स्वभाव-असत्ता उसमें रहेगी और असत्तामें सत्ता रहेगी इसीलिये ऐसा मानना उचित नहीं है। स्वभावोंको अलग समझ लेनेपर फिर स्वभाववान् क्या रह जायगा? इसलिये दोनोंमें अभेद ही उचित समझा जायगा। इसप्रकार संसारका शासक जो पूर्णस्वभाव होगा वह सर्वस्वभावमय एक पूर्णद्रव्यरूप ही सिद्ध होगा। जड़-मात्रमें वर्तमान क्रिया-शक्तिरूपी स्वभाव, चेतनमें विद्यमान ज्ञानशक्तिरूपी स्वभाव उनमें पूर्णतया व्याप्त रहेगा और वह तन्मय होगा। वही जड़ोंकी कर्मशक्तिका और चेतनोंकी ज्ञानशक्तिका मूलस्रोत होगा। यदि कहें कि जिसप्रकार जगत् उसके परतन्त्र है वैसे ही वह भी जगत्की प्रत्येक

वस्तुके परतन्त्र होगा तो इसका यह उत्तर है कि एक-एक वस्तुके उत्पन्न और नष्ट होनेपर जब उसमें जरा भी विच्छेदता नहीं आती प्रत्युत छोटी-छोटी शक्तियाँ भी प्रत्येक वस्तुको उसीके द्वारा मिलती हैं तो यदि वह उन शक्तियोंके परतन्त्र होगा तब इसका मतलब यही होगा कि वह शक्तिमय अपने ही परतन्त्र है। अपने परतन्त्र और स्वतन्त्र रहना एक ही बात है। उसको छोड़कर अन्य कोई भी स्वभाव या स्वभाववान् नहीं है। वही स्वभावरूपसे समझा जाकर स्वभाववानोंका और स्वभाववान् समझा जाकर स्वभावोंका नियामक होगा। वह सत्स्वभाव-मय, पूर्ण सत्चित्तस्वभावमय, पूर्ण चित्तानन्दस्वभाव-मय, पूर्णानन्द और सर्वशक्तिमय सर्वशक्तिमान् है। यदि कहें कि वह सर्वजडतामय, पूर्ण जड सर्वअसत्तामय, शून्य और सर्वदुःखमय पूर्ण दुःखी क्यों नहीं माना जाता, तो इसका उत्तर यही होगा कि यदि जडतामे कर्मस्वभावोंको समझा जाय तब तो वह सर्वकर्ममय है ही। यदि जडतामे ज्ञान-शून्यताका ग्रहण करते हैं तो वह ज्ञानशक्तिमय कैसे ज्ञानशून्य जड माना जा सकता है? इसी तरह वह सर्वमय होते हुए शून्य कैसे माना जा सकता है और इसी वाक्यमे ज्ञानानन्द होते हुए किसीकी त्रुटि बिना वह दुःखमय कैसे हो सकता है क्योंकि अभीष्ट वस्तुओंकी त्रुटियाँ ही दुःखका रूप धारण करती हैं। जगत्में प्रतीत होती हुई वस्तुओंमें अपूर्णताको देखकर ही इन शब्दोंका प्रयोग होता है।

इन युक्तियोंमें स्वभाववादात्मक विज्ञान-शास्त्रका भी विश्रामधाम वही अद्वितीय सच्चिदानन्द सर्वनियन्ता पूर्ण परमेश्वर ही सिद्ध होता है।

साहेबकी याद

पानीकी एक बूँद सूँ, साज बनाया जीव।
अन्दर बहुत अँदस था, बाहर बिसरा पीव॥१॥
अधोमुखी जब रहे थे तल सिर ऊपर पाँव।
राखनहारा राखिया, जठर-अग्निकी लाव॥२॥
जठर-अग्निसे राखिया, ना सार्ह गुन भूल।
वह साहिब दरहाल है, क्यों बोवत है सुल॥३॥
अलिफ अलहकूँ यादकर जिन्ह कीन्हा यह साज।
उस साहिब कूँ यादकर पाला बिन जल-नाज॥४॥

—गरीबदासजी

ईश्वर-दर्शन

(लेखक—शुद्धादितभूषण दे० पं० श्रीमानाथजी शास्त्री)



गवमें मित्र-मित्र प्रकृतिके मनुष्य हैं अतएव अवतक सृष्टिमें मनुष्यकी सत्ता रहेगी, कभी किसी एक विषयमें एक मत नहीं हो सकता। यह बात आस्तिक और नास्तिक दोनों ही सिद्धान्तोंसे ठीक है। आस्तिक कहते हैं कि भेदके बिना ईश्वरकी क्रीडाका आनन्द लिया नहीं जा सकता और नास्तिक कहते हैं कि प्रकृति (नेचर) का वैविध्य ही स्वभाव है। हजार मनुष्योंमें लेकर चार मनुष्योत्तकका किसी अप्रत्यक्ष विषयमें कभी एक सिद्धान्त नहीं हुआ। कुछ-न-कुछ विभिन्नता रहती ही है। इसलिये जगत्में यदि ईश्वरको माननेवाले और न माननेवाले दोनों मिलें तो कोई आश्चर्य नहीं।

ईश्वर और धर्म दोनों वस्तु लौकिक अप्रत्यक्ष हैं। धर्मके विषयमें हम अपने 'धर्म-दर्शन' में सब कुछ कह चुके हैं। आज कुछ ईश्वरके विषयमें लिखना है। प्राचीन दार्शनिक लोग और विशेषकर भारतीय विद्वान् ईश्वरके विषयमें इतना लिख गये हैं कि उसका अनुवाद करना भी कठिन हो रहा है। वैदेशिक लोग जिनमेंसे अधिकांश अभी तक वास्तविक जीव-सत्तातक भी अब नहीं पहुँच सके हैं तब वे ईश्वरको मानते हैं या नहीं, यह चर्चा करना भी भूल है। सच्चा आस्तिक भारतवर्ष है। यहाँके निवासियोंमें प्रायः सबने किसी-न-किसी प्रकारसे ईश्वरकी सत्ता स्वीकार की है। ज्ञानी और भक्तोंका तो ईश्वरको माने बिना एक पद भी नहीं चलता। इसलिये प्रायः भारतवासी सब-के-सब ईश्वरके अस्तित्वमें सहमत हैं।

कुछ लोगोंका कहना है कि मीमांसक (कर्मवादी) लोग ईश्वरको नहीं मानते। किन्तु हमारी समझमें यह बात ठीक नहीं है। मीमांसकने यदि ईश्वरका जोरसे प्रतिपादन नहीं किया तो उसका निषेध भी नहीं किया है। प्रतिपादन नहीं करनेमात्रसे ईश्वरका निषेध नहीं माना जा सकता। जिसने चेतनकी और उसमें भी आनन्द-सहित जीवकी सत्ता स्वीकार कर ली, उसे ईश्वरके माननेमें कोई आपत्ति न होनी चाहिये। जिसे सुखका अनुभव होता है वही तो जीव है और जिसे पूर्ण आनन्द-का अनुभव है किंवा जिसमें पूर्ण आनन्द हो, वही ईश्वर

है। जो थोड़े ज्ञान, थोड़े आनन्द और थोड़ी सामर्थ्यवाला हो, वह जीव और जो पूर्ण ज्ञान, पूर्ण आनन्द और पूर्ण सामर्थ्यवाला हो, उसे ही सब आस्तिक ईश्वर कहते हैं। जीवको माननेवाले मीमांसक भी ईश्वरके पासतक पहुँच ही चुके हैं। प्रकाशका एक स्थिर केन्द्र न माना जाय तो फिर 'सबको प्रकाश कहाँसे मिल रहा है' यह प्रश्न सर्वदा बना रहता है, जलका उत्पादक या जलका एक अटूट मूल खजाना न माना जाय तो वर्षा कहाँसे होती है यह प्रश्न शेष रहता ही है। हमी तरह यदि आनन्दानुभवका एक स्थिर और अपार भण्डार ईश्वर ही न माना जाय तो फिर यह खण्डशः आनन्दानुभव सहसा कहाँसे आ गया, यह प्रश्न किसी तरह हल नहीं होता। कारणके बिना कभी कार्य नहीं होता।

कोई मीमांसक कहता है कि 'कारण और कार्यका' भगवा हमारे मिटाये मिटता नहीं, इसलिये हमारी बुद्धि ईश्वरको स्वीकार नहीं करती। वृक्षके फल या फूलमेंसे बीज पैदा होता है और बीजसे वृक्षको पैदा होते देखा है तब फिर कार्य-कारणके भगवेंको कौन मिटावे? वृक्षसे बीज पैदा होता है इसलिये वह कारण हो सकता है लेकिन फिर वह वृक्ष बीजसे ही पैदा होता है, अब कहिये कौन कारण और कौन कार्य?

नहीं-नहीं, यह बात ठीक नहीं है। वृक्ष और बीजका हटान्त देनेवाला यह तो स्वीकार करता है कि 'कार्यका कारण अवश्य होता है। यह बात दूसरी है कि वृक्षको कारण मानें कि बीजको? हमारी समझमें तो जब एकसे दूसरेको (वृक्षसे बीजको या बीजसे वृक्षको) उत्पन्न होते देखते हैं तो किसी एकको कारण माननेमें भगवा हो ही नहीं सकता, चाहे बीजको मानो चाहे वृक्षको। जो अप्रत्यक्ष वस्तु हो उसमें युक्तिका बाध या सहयोग हो सकता है, किन्तु जो वस्तु प्रत्यक्ष है, उसे उसी प्रकारकी माननी पड़ेगी जैसी वह है। जब देखते हैं कि वृक्षसे बीज पैदा होता है और बीजसे वृक्षका अंकुर भी पैदा होता है तो दोनोंको कारण और दोनोंको कार्य भी माननेमें क्या हानि है? कितने ही युक्तिप्रधानवादियोंने प्रकृति और विज्ञति उभयात्मक पदार्थ माने हैं। इसी प्रकारसे वृक्षादिको कार्य-

कारण उभयारम्भक माननेमें क्या दोष है ? प्रत्यक्ष उन्हें उसी प्रकारका बता रहा है ।

अस्तु, किसीको भी कारण मानो किन्तु यह बात तो माननी ही पड़ेगी कि कारणके बिना कोई भी कार्य हो नहीं सकता । जब यह सिद्धांत सर्वसामान्य है तब सबका आदिकारण ईश्वरके माननेमें क्या दोष है ?

कितने ही कर्मवादी लोग कहते हैं कि कर्मसे सब कुछ होता है, कर्म ही सब जगत्को पैदा करनेवाला है । ईश्वरकी आवश्यकता नहीं है, ईश्वर भी तो कर्मके अनुसार ही व्यवस्था करता है, यदि कहो कि ईश्वर कर्मके बिना ही सबको फल-दान आदि करता है तब तो उसे भारी अन्यायी मानना पड़ेगा । और जब कर्मके अनुसार ही वह सुफल-कुफल दे सकता है, अन्यथा नहीं, तो फिर कर्म ही सब कुछ है ईश्वर कोई चीज नहीं है । ईप्ते असौ ईश्वरः । जो स्वतन्त्र रहकर कुछ कर सके उसे ही ईश्वर कहना उचित है । ईश्वरसे भी कर्मके बिना कुछ होता नहीं, कर्मसे ही सब कुछ होता है तब ईश्वरको मानना व्यर्थ है ।

ठीक है, कर्मसे ही सब कुछ होता है किन्तु कर्म जब है उसीको ही सब कुछ करनेवाला माननेमें दीवालको भी कर्ता मानना पड़ेगा । हम देखते हैं कि क्रियामात्र चेतन-प्रयुक्त होती है । चेतनके बिना क्रिया हो नहीं सकती इसलिये जड़-स्वभाव कर्मको कर्ता मानना भूल है ।

कितने ही कहते हैं कि वायु भी तो जड़ है किन्तु जब वायु भी चलता-फिरता तो है फिर जड़में क्रिया नहीं होती, चेतनमें ही हो सकती है यह कैसे माना जाय ? इसलिये जगत्को पैदा करनेके लिये किसी विशिष्ट चेतनकी (ईश्वरकी) अपेक्षा नहीं है ।

इसके उत्तरमें कितने ही आत्मिक विद्वान् कहते हैं कि वायुमें भी चेतन अन्तर्हित है, कोई ऐसा स्थान और कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जहाँ चेतन न हो । ईश्वर व्यापक है अतएव उसका चैतन्यगुण भी व्यापक है । वह सर्वत्र मौजूद है अतएव जब वायुमें तत्प्रयुक्त क्रिया होती है । वास्तवमें तो चेतनका धर्म क्रिया नहीं किन्तु ज्ञान है । सत्का धर्म क्रिया है, वायु सत् है इसलिये उसमें क्रिया भी है । जबी सत्-पदार्थ है, एक बार उसमें घाबी लगा देनेसे वह आठ रोज या आठ प्रहर चलती रहेगी । चलना उसमें है किन्तु कौन-सा घन्ट

(साँचा) बनाकर कहाँ-कहाँ किस तरह रख देनेसे वह आठ रोज निरन्तर चलती रहेगी यह ज्ञान चेतनका है । वायु सत् है, उसमें क्रिया है किन्तु किस समय और कितना वायु चलना उचित है यह किसी ज्ञाताके ऊपर ही निर्भर है । अन्यथा आज्ञातक कभीका प्रलय हो गया होता । रथ चल रहा है, चाबी दी हुई गाड़ी चल रही है, पर यदि चेतन सहायक न हो तो उनका चलना व्यवस्थित नहीं रह सकता या गति ही उत्पन्न होगी । इसलिये जब पदार्थको गतिशील करनेमें और उसकी गतिको व्यवस्थित रखनेमें किंवा नियमित समयमें उसकी गतिको रोकने या परिवर्तित करनेके लिये किसी एक सर्वविशिष्ट चेतनकी अपेक्षा रहती ही है ।

पश्चिमीय अनेक विद्वानोंने भी इस जगत्के निर्माण, स्थिति और इसके नाशपर बहुत-सा विचार किया है । ऋषिचिन्तन और हक्सले प्रभृति दार्शनिकोंके मतमें यद्यपि परस्पर नितान्त भेद है तथापि ये सब लोग 'नेबुला' से सृष्टिकी उत्पत्ति स्वीकार करते हैं । इनके मतमें यह 'नेबुला' एक वायवीय प्रकाशमान पिण्ड है । उनका कहना है कि गोफनमें रक्खी हुई मिट्टीकी भाँति घूमते हुए नेबुलाके बिखरते हुए अवयवोंके रूपमें विविध ग्रह और उपग्रहों (चन्द्र-सूर्य-तारा प्रभृति) की सृष्टि हुई है । इनके मतमें यह नेबुला स्वतन्त्र है, उत्पन्न है, और अनियन्त्रित है । इसके ऊपर किसीका अंकुश नहीं है । किन्तु विचार हूतना ही है कि क्या यह बात सम्भव है ?

इसप्रकारमे अवयवोंके बिखरनेके लिये भी किसी विशेष प्रकारकी मिट्टीकी अपेक्षा रहती है । मिट्टीको पानीमें घोलकर बिल्कुल पतली कर ली जाय तो वह मिट्टी इस कार्यके उद्युक्त न होगी । जोतेके अन्दर जल भरकर और उसे बोरीमें बाँधकर तेजीसे घुमाया जाय तो चाहे छोटा कितना ही देड़ा-तिरछा होता रहे किंवा उल्टा भी हो जाय तथापि उसमेंसे एक बूँद भी जल उसके बाहर नहीं निकल पाता । चिकनी मिट्टीको पानीमें खूब कढ़ी सामकर और गोफनमें रक्खकर यदि ठमे घुमावें तो उसका भी यही परिणाम होगा, अर्थात् उसका एक कण भी गोफनमे बाहर नहीं निकलेगा । हाँ, यदि कुछ रक्खी कबावाली मिट्टी किसी विशेष परिमाणके साथ तपे हुए जलमें मिलाकर गोफनमें घुमायी जाय तो कदाचित् उसके कण इधर-उधर बिखर सकें और इस तरह नेबुलासे

सौरचक्रकी उत्पत्ति मान ली जाय। किन्तु फिर भी नेबुलासे सौरचक्रकी उत्पत्तिके लिये उसमें एक विशेष आकार-प्रकार, एक विशेष गति-विधि और विशेष घन-विरलभावकी अपेक्षा रहती ही है। इतने अधिक नियमित और नियत आकार-प्रकार, गति-विधिवाले सौरमण्डलकी (जिसमें सूर्य, पृथ्वी, चन्द्र प्रभृति सब भगण आ जाते हैं) उत्पत्ति अनियमित, अनियत आकार-प्रकारवाले एवं अनियत गति-विधिवाले उच्छृंखल प्रकृति नेबुलासे हुई है यह माननेको साधारण बुद्धि भी तैयार नहीं है ? इसलिये मानना पड़ेगा कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और नाशके प्रत्येक कार्यमें किसी सर्वज्ञ शक्तिका हाथ अवश्य है।

विश्वके भीतर अभी भी क्रम और नियम काम कर रहे हैं, विश्वमें एक प्रकारकी स्थिरता है, विश्वके अन्दर प्रतिक्षण विविध सञ्चालन नियम और क्रमसे होते रहते हैं और यह सब बानें हैं बोधगम्य। तो क्या ऐसी वस्तु-को पैदा करनेमें किसी पूर्ण विचारशक्तिकी आवश्यकता नहीं रहती ? यह सब बातें ऐसी हैं जिनका उपपादन, प्रत्येक पदार्थमें अन्तर्हित किसी अनिवार्यनीय विचार-शक्तिको माने बिना हो ही नहीं सकता। किसी भी बड़े कार्यको सुचारुरूपसे चलानेके लिये हमें विचारशक्तिकी आवश्यकता पड़ती है। मारे भारतमें क्या सारे संसारमें रेलोंका जाल बिछा हुआ है। रेलोंका व्यवस्थित प्रबन्ध भी हो रहा है। डाक, पैसेंजर, एक्सप्रेस, माल और स्पेशल सब गाड़ियाँ छुटती हैं, सब रुकती हैं परन्तु कितनी व्यवस्थितिसे ? किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित नहीं होती। परन्तु उन सबका सञ्चालन, किसी विचार-शील मन्त्रिचक्रके बिना तो नहीं हो रहा है। अवश्य ही किसी विचारशील शक्तिके बिना रेलकी व्यवस्था स्थिर नहीं रह सकती। सैन्य-सञ्चालनमें भी किसी असाधारण ज्ञानशक्तिवाले महापुरुषकी आवश्यकता पड़ती है। इतना ही नहीं, जहाँ कहीं भी हम कोई क्रम, नियम और व्यवस्था देखते हैं, स्वाभाविक रीतिसे इस विचारपर पहुँचते हैं कि उसके पीछे अवश्य ही कोई असाधारण विचारशक्ति कार्य कर रही है, इसी तरह जब हम देख रहे हैं कि जगत्का विकास क्रम, नियम और व्यवस्थासे हो रहा है, इसका सञ्चालन क्रम, नियम और व्यवस्थासे हो रहा है और होगा और इसका नाश भी क्रम, नियम और व्यवस्थासे हो रहा है और होगा भी, जो फिर इसके

उत्पादन, स्थिति और नाशमें किसी सर्वज्ञ महापुरुषको कारण न मानना कितनी भारी मूर्खता है ?

किसी उत्तम कविकी कविताको देखकर प्रत्येक सहृदयके हृदयमें यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इसका बनानेवाला कौन है ? अब यदि कोई कह दे कि 'अजी यह तो एक रोज बड़े जोरसे आंधी चल रही थी उस समय प्रेसमें टाइप जो उड़-उड़कर चिपकने लगे तो यह कविता अपने-आप इस तरहकी बन गयी।' कहिये ! ऐसे उत्तरपर ऐसा कौन सचेतन पुरुष है जिसे हँसी आये बिना रह जायगी ? अवश्य ही ऐसा उत्तर देनेवाला पागल या बालक समझा जायगा। जो लोग कहते हैं कि सम्पूर्ण विश्वकी इस तरहकी रचना करनेवाला, स्वतन्त्र उच्छृंखल और अनियमित जड़ नेबुला है, या अन्धी प्रकृति है वे अवश्य ही विज्ञ-समाजमें परिहासके पात्र हैं। एकमे अनेक हो जानेका अनुभव और अनेकसे एक हो जानेका अनुभव, बस, हमीको विद्वान् लोग विज्ञान और ज्ञान कहते हैं। एक सुवर्ण ही अनेक प्रकारके गहने हो गया है या सब गहने ही यह पिघला हुआ सोना है। विज्ञान और ज्ञान दोनों ही इस विश्वमें फैले हुए हैं और यह स्पष्ट कह रहे हैं कि हमारे पीछे ही छुपा हुआ एक अनन्त ज्ञान-राशि बैठा है।

स्वाद्य-सामग्री मानव-जीवनके लिये एक अपरिहार्य वस्तु है। इस स्वाद्य-सामग्रीका यदि विश्लेषण और वैशोष्य भेद किया जाय तो मेरी समझमें वह विश्लेषण और वैशोष्य-निरूपण एक विशाल विश्वके रूपमें परिणत हो जायगा। स्वाद्य-सामग्रीके पहरस, उनमेंसे प्रत्येक रसके अन्तर्भूत सैकड़ों पदार्थ और उन सब पदार्थोंमें भी एक-एकके अनेकों भेद, इसप्रकारकेवल हमारी स्वाद्य-सामग्रीका परिगणन भी हमारी गणित-सीमाके बाहर निकल जाता है। परन्तु इस अनन्त-स्वाद्य-विश्वको भी आजके वैज्ञानिक-सिद्धान्तोंने परिमित कर दिया है। अनेक प्रकारकी स्वाद्य-सामग्रीका विरलेषण कर लेनेके बाद आजके वैज्ञानिक इस परिणामपर पहुँचे हैं कि उनकी सृष्टि केवल छः प्रकारके मौलिक पदार्थोंके परमाणुओंसे हुई है। कार्बन (Carbon), ऑक्सीजन (Oxygen), हाइड्रोजन (Hydrogen), नाइट्रोजन (Nitrogen), सल्फर (Sulphur) और फास्फोरस (Phosphorous)। यह छः तत्व हैं, जिनसे कि हमारे इस अनन्त स्वाद्य-जगत्की उत्पत्ति हुई है। इन

हने-गिने मूल-तत्वोंसे किसप्रकार अनन्तकी अपरिमितकी उत्पत्ति होती है, यही तो आश्चर्य है। इससे भी विशेष आश्चर्य भारतीय दर्शनोंमें है। भारतीय दर्शन और पुराणोंमें इस अमेय, अपरिच्छेद्य विश्व-विभेद (विज्ञान) को रजस्, सत्त्व और तमस् इन तीन ही तत्वोंमें समेट लिया है। उनका कहना है कि इन तीन गुणोंका ही यह सब फैलाव है। आश्चर्य ! आश्चर्य !! एक ही बगीचेमें लगे हुए आम, जामुन, केले, हमलो, अनार, नीबू प्रभृतिके वृक्ष, सूर्य-जल-वायु-पृथ्वीसे समान सम्बन्ध रखते हुए भी किसप्रकार विभिन्न फल, फूल, पत्ते और रसोंकी सृष्टि करते हैं, क्या यह अन्ध-प्रकृतिका या रासायनिक परिवर्तनका ही परिणाम है ? कभी नहीं, कभी नहीं। अचेतन प्रकृति और जह रासायनिक परिवर्तन, किसी तरह भी इस क्रमयुक्त अश्वत्थमन्त्र, नियमित, नियत और सांकुश विश्वका उत्पादक नहीं हो सकता। तत्त्व छः मानिये या तीन, उसके विकास, वैचित्र्य और बहुभवनमें किसी एक अपरिमित ज्ञान-राशि महापुरुषकी अपेक्षा रहती ही है। जड-पदार्थोंसे अपने-आप इस सम्पूर्ण विश्वका विकास, वैचित्र्य और बहुभवन मानने-वाले उतने ही परिहासके पात्र हैं कि जितना यह कहने-वाला कि प्रेसके कम्पोजीटरोने धैलेमें अक्षरोंको भरकर खूब जोरसे दैरतक हिलाया तो उनके अन्धधर्षणसे या उलट-पुलट होनेसे धैलेमें एक अमरकोषकी पुष्पक बनकर तैयार हो गया। वास्तवमें अमरकोषका बनानेवाला कोई विद्वान् नहीं है। इसलिये जगत्के आश्चर्यमय पदार्थ सूर्यादि ग्रहराण, इसका वैचित्र्य, इसका क्रम-विकास, इसका बहुभवन और ज्ञान-विज्ञान ही—ये स्वयं कह रहे हैं कि इस विश्वका उत्पादन किसी अनन्त ज्ञानराशि, कल्याण-गुणमण्डित, निर्दोष, आनन्दमय पुरुषोत्तमसे ही हुआ है, वही इस अपार विश्वका मूल है।

जिसप्रकार विश्ववैचित्र्यादि अपने मूल पुरुषोत्तमका विश्वास कराते हैं इसी प्रकार विश्वकी बोधगम्यता भी अपने मूलमें विचारशील मस्तिष्कका विश्वास कराती है। जिस वस्तुको एक मस्तिष्क समझ सकता है, अवश्य ही उसकी उत्पत्ति भी किसी विचारशील शक्तिसे ही होनी चाहिये। उदाहरणतः आजकल प्राचीन अन्वेषण-कर्ताओंने अनेक स्थानोंपर जमीन खोदकर प्राचीन जगत्के अनेकानेक प्लेस्टोसिनोसोंका जीर्णोद्धार किया है। भारतीय खुदाईमें

बौद्धकालीन और उससे भी प्राचीन अनेक शिलालेख जहाँ-तहाँ मिले हैं। बैबीलोनिया और मैसोपोटामियामें भी इसप्रकारकी सामग्रियाँ उपलब्ध हुई हैं। आज हजारों वर्ष बीत जानेके बाद भी जब कि उस भाषाका ज्ञानने-वाला, जिनमें कि यह शिलालेख लुटे हुए हैं, शायद कोई शेष नहीं। किन्तु विशेषज्ञ विद्वानोंने ऐंड़ीसे प्योटीतक अपना पसीना बहाकर उन शिलालेखोंके पढ़नेका प्रयत्न किया और उसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। उन प्राचीन-तम शिलालेखोंमें शायद कोई भी ऐसा न बचा होगा जो पढ़ न लिया गया हो, इसका कारण क्या है ? वास्तवमें उनकी रचनामें एक विशेषता थी और उस विशेषताकी सृष्टि किसी विचारशील मस्तिष्कसे हुई थी। इसीलिये हमारे मस्तिष्कने उसे समझ लिया। इसी प्रकार यदि विश्वकी गति-विधिका कोई अर्थ है, प्रयोजन है, यदि उसका स्वरूप किसी मस्तिष्कद्वारा समझा जा सकता है तो अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि इसकी उत्पत्ति भी किसी अनन्त ज्ञान-अण्डार शक्तिशाली महापुरुषसे हुई है।

कितने ही मनुष्योंके मनमें यह सन्देह रहता है कि यदि ईश्वर नामक कोई व्यक्ति इस जगत्में वर्तमान है तो फिर हमें दीखता क्यों नहीं ? आजतक किसीको भी उसके दर्शन नहीं हुए ? नदी, पर्वत, आकाश प्रभृति पदार्थ जब जगत्में विद्यमान हैं तो सबको उनका प्रत्यक्ष हो रहा है। ईश्वर भी यदि जगत्में है तो कभी-न-कभी उसके दर्शन हो ही जाने चाहिये। हमलोगोंमें किसीको भी उसके दर्शन नहीं होते इसलिये ईश्वर कोई वस्तु ही नहीं है, यही मानना ठीक है।

उन लोगोंमें हमारा यह प्रश्न है कि क्या जो-जो पदार्थ विद्यमान हैं वे सब-के-सब आपको प्रत्यक्ष होते ही हैं ? प्रथम तो यह कहना कि 'जो पदार्थ विद्यमान हैं वह दीखता ही है' बड़ी भूल है। दुनियामें बहुत-से ऐसे पदार्थ हैं जिन्हें विद्यमान रहते भी हम नहीं देखते। प्रत्यक्ष होनेके कारणोंकी सत्ता और बाधकोंका अभाव होनेसे ही प्रत्यक्ष होता है अथवा नहीं। कितने ही पदार्थ वर्तमान हैं तथापि अति दूर होनेसे हम उन्हें नहीं देख सकते। कोई वस्तु अति समीप होनेसे भी नहीं दीखती, जैसे अपनी ही आँखका काजल। प्रत्यक्ष करनेकी इन्द्रियकी वधार्यता न होनेपर भी प्रत्यक्ष नहीं होता, अतएव अति सूक्ष्म कीटाणुओंके छिपे और ताराओंके देखनेके छिपे

वैज्ञानिकोंको एक पृथक् ही यन्त्रका आविष्कार करना पड़ा। क्या उसके पहले सूक्ष्मतम तारों और कीटाणुओंकी सत्ता ही नहीं थी? किसी समय अपने-अपने स्वरूपमें नहीं होता तो सामने रखी हुई वस्तु भी नहीं दीखती। अभिभवसे भी पदार्थका दर्शन नहीं होता। दिनमें भी तारे विद्यमान रहते हैं किन्तु सूर्यके तेजसे उनका अभिभव हो जाता है इसलिये उनका दर्शन नहीं होता। समान वस्तुमें मिल जानेसे भी पदार्थका प्रत्यक्ष नहीं होता। अपनी अत्रलिका जल यदि घड़ेके पानीमें मिला दिया जाय तो उस अत्रलिके जलकी सत्ता रहते हुए भी उसका पृथक् प्रत्यक्ष नहीं होता। दुग्धमें घृत होता ही है किन्तु वह कितने ही पदार्थोंके साथ इस तरह मिला हुआ है कि उसके होते हुए भी उसका पृथक् प्रत्यक्ष नहीं होता।

इसलिये यह दलील तो किसी कामकी नहीं कि 'ईश्वर है तो दीखता क्यों नहीं? हमें दीखता नहीं इसलिये उसकी सत्ता ही नहीं।' जिस पदार्थके दर्शनकी जो रीति है, जो मार्ग है, उस मार्ग और उस रीतिका अवलम्बन करनेसे उसका दर्शन होता है, इसी प्रकार ईश्वरका दर्शन होता है, हुआ है और हो सकता है। पवन सर्वत्र विद्यमान है किन्तु किसी समय (बहुत गरीबके समय) हमें यह कहना पड़ता है कि 'आह! आज तो हवा बिस्कुल नहीं है, थोड़ा पंखा तो करो' जब पंखा करने लगे तो हवा आने लगी। इस जगह यह प्रश्न अवश्य होता है कि यह हवा कहाँसे आ गयी? क्या पंखेमें रखी थी जो टपक पड़ी, या क्या पंखेने पैदा कर दी? नहीं-नहीं, यह बात नहीं है, पञ्चमहाभूत सर्वत्र विद्यमान ही हैं, पवन भी पञ्चभूतोंमेंसे एक है अतएव सर्वत्र सदा ही अपने स्वरूपसे वर्तमान रहता है। जिस समय हमें गरमी लग रही थी उस समय भी वह विद्यमान था, किन्तु उसके प्रत्यक्ष होनेका जो मार्ग था वह किसीने ग्रहण नहीं किया था इसलिये वह प्रकट नहीं हुआ था। जब पंखा उठाया और हिलाया तो पंखेके आघातसे वह प्रकाशित हो गया।

माना कि ईश्वर है और दीखता भी नहीं किन्तु क्या इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर है ही नहीं? ईश्वरकी प्राप्तिके लिये जो-जो मार्ग अपने-अपने अधिकारानुसार शास्त्रमें कहे गये हैं उनका अनुसरण करो, उपायानुसार अपने मनका नियोग करो, ईश्वर दीखेगा। बड़े-बड़े विद्वान् अनुभवी महत्तमाजोंसे ज्ञान और भक्ति से दो उपाय ईश्वर-

का साक्षात्कार होनेके लिये बताये हैं, ज्ञान और भक्तिके साधनोंका ग्रहण करो, श्रम करो, मनको वशमें रखो, जब उसकी इच्छा होगी, दीखेगा।

छोहा, कोयला, पथर, जल, अग्नि और बुद्धि तथा कृति किंवा जो-जो पदार्थ रेलके बनने और चलनेमें अपेक्षित हैं वे सब रेल बननेके दो सौ वर्ष पूर्व भी विद्यमान थे। रेलके दर्शन क्यों न हुए? इसका उत्तर इतना ही है कि जो मार्ग उसके बनने या प्रत्यक्ष होनेका था, वह किसीके ध्यानमें नहीं आया, रेल न बनी और न दीखी, अब जब उसका निर्देशक मिल गया, रेलका प्रत्यक्ष होने लगा। इन अनित्य पदार्थोंके प्रत्यक्ष होनेमें जिस और जैसी निर्देशक और प्रत्यक्ष होनेकी रीतकी अपेक्षा रहती है उस उपदेष्टा और वैसी ही रीतिकी नित्य पदार्थोंके प्रत्यक्ष होनेमें भी अपेक्षा रहती ही है। आकाश नित्य पदार्थ है वह सर्वत्र विद्यमान है किन्तु जहाँतक उसपरसे आवरण न हटाया जायगा और उसका निर्देशक न होगा उसका प्रत्यक्ष नहीं होगा। बड़े पहाड़में विशद आकाश मौजूद है। कहीं एक जगहसे गुफाके द्वारा उसके भीतर प्रवेश किया जाता है किन्तु उसका भी मार्ग और उपदेष्टा मिलना चाहिये, जहाँतक मार्ग और निर्देशक नहीं होगा, उसका अवलोकन नहीं हो सकता।

इसी प्रकारसे ईश्वरके प्रत्यक्ष होनेमें भी मार्ग-साधना-चरण और उपदेष्टाकी आवश्यकता है ही। किसी फलकी प्राप्तिमें यद्यपि साधनोंका निर्देश अनादिकालसे लिखित, पठित रहता है तथापि उसके उपदेष्टाकी अपेक्षा रहती ही है। वेदादि शास्त्रोंमें ईश्वर-प्राप्तिके उपाय कहे हुए हैं तथापि तन्मार्ग और तत्साधनोंके उपदेष्टाओंकी आवश्यकता रहती ही है।

आजकल स्वतन्त्रताका वायु बड़े जोरसे बह रहा है। आजकल सभी स्वतन्त्रता चाहते हैं। वास्तवमें स्वतन्त्रता ही जीवमात्रका ध्येय है, परन्तु वह स्वतन्त्रता कहाँ है? सुख, स्वतन्त्रता, ज्ञान, दाक्षिण्य, दया प्रभृति गुण भी किसी-न-किसी अप्रमेय स्रजानेमेंसे ही आते हैं, अन्यथा—

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।'

इस सिद्धान्तके अनुसार किसी भी पदार्थका आकस्मिक दर्शन होना ही अविश्वसनीय समझा जायगा। सुख, स्वातन्त्र्य, दया, दाक्षिण्य और ज्ञान प्रभृति गुणोंका जो पूर्ण भण्डार है वही ईश्वर है। पर उसका प्रत्यक्ष दर्शन ज्ञान-

मार्ग, भक्तिमार्ग प्रभृति उपायोंके द्वारा ही हो सकता है। बाहरी धोये प्रपञ्चोंमें नहीं।

पाठकगण ! जो लोग भारतीय आध्यात्मिक विद्यासे शून्य हैं, विदेशीय विद्या, भाषा, सभ्यता और विदेशीय भावोंमें भरे हैं, उन्हीं लोगोंको ऐसी जट-पटांग बातें और विचारशक्तिकी कसौटीपर क्षणमात्र भी न ठहरनेवाले तर्क सूझा करते हैं। जो लोग हृद आस्थिक हैं, जिन्होंने अपने

घरको अच्छी तरह देख लिया है, जिन्हें अपने शास्त्र, अपने पूर्वज और उनके ज्ञानपर पूर्ण विश्वास है तथा जिन्हें परमार्थमात्र पर भक्ति है वे लोग तो ऐसी पापमयी बातोंको न तो अपनी जिह्वापर भी लाना चाहते हैं और न कानोंमें सुनना ही चाहते हैं। उन्हीं तो वृक्षोंके प्रत्येक पत्र, फूल और ढालियोंपर, आकाशमें, पृथ्वीपर, वायुमें, समुद्रमें किंवा विश्वके समस्त पदार्थोंमें ईश्वरके दर्शन हो रहे हैं !

परमात्माका अस्तित्व

(लेखक—भाचार्य भीक्षितान्द्रनाथ ठाकुर)

द्विप्रथमे परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।



उदित होगा । ॐ

१-ऋषि-प्रदर्शित पथ—

भारतके पुराणश्लोक ऋषियोंद्वारा ही सर्वप्रथम सत्य-धर्मका प्रचार हुआ था। इसका प्रधान कारण भारतके ऋषियोंका आरम-प्रत्यय था। ऋषियोंने कभी आरम-प्रत्ययका त्याग नहीं किया, प्रत्युत वे उसीका अवलम्बनकर शरीर, मन और वाणीसे अध्यात्म-तत्त्वकी खोजमें लगे रहे। इस आरम-प्रत्ययने ही उनको बतलाया कि 'आत्मा है और वह अपनेको आप ही पहचान सकता है।' इसी आरम-प्रत्ययके आधारपर उन्होंने आरम-स्वरूपकी प्राप्ति की और अपनेको कृतार्थ समझा। आरम-प्रत्ययमें उन्हें यह निश्चय हो गया था कि भूमा ईश्वर है। इसी निश्चयके सहारे उन्होंने आरम-स्वरूपकी प्राप्तिमें लगकर आरम-प्रत्यय-सिद्ध जिन अमूर्त सत्य तत्त्वोंका आविष्कार किया था, आज भी वे सब सत्य मुक्तकण्ठमें उनका यशोगान कर रहे हैं। इसके पश्चात् जब आर्यगण अपने पूर्वपुरुष ऋषियोंके प्रदर्शित पथसे विपरीत चलकर उष्यो-ज्यौ आरम-

प्रत्ययकी अवहेलना करने लगे, स्यों-ही-स्यों भ्रान्त मत और उपधर्म आदिका प्रचार बढ़ने लगा। पर हमें आशा है कि हम पुनः वैदिक ऋषियोंके बतलाये हुए आरम-प्रत्ययके सन्मार्गका अवलम्बनकर जगत्में फिर सत्य-धर्मका प्रचार कर सकेंगे; और अध्यापक टिप्पण-जैसे वैज्ञानिक विद्वान्की उपयुक्त उक्तिमें हमारी इसी आशाकी प्रतिध्वनि सुनायी दे रही है।

२-ब्रह्मतत्त्वमें आरम-प्रत्यय—

अध्यात्म-तत्त्वकी प्राप्तिमें एकमात्र आरम-प्रत्यय ही सर्वोत्तम उपाय है। इस आरम-प्रत्ययके आश्रयमें आत्मा और आत्मज्ञानके सम्बन्धमें जो जाननेमें आता है, कुतर्क छोड़कर युक्तियुक्त विचार करनेपर उस सबकी सत्यता ही सिद्ध होती है। यहाँ हमें देखना है कि ब्रह्मतत्त्वके सम्बन्धमें आरम-प्रत्यय जो कुछ बतलाता है वह सत्य है, कल्पना नहीं है।

३-ब्रह्मज्ञान आरम-प्रत्यय-सिद्ध सत्य है—

जिसप्रकार अपनेको जान सकना आरम-प्रत्यय-सिद्ध एक महान् सत्य है, उसी प्रकार ब्रह्मज्ञान भी आरम-प्रत्यय-सिद्ध महान् सत्य है। आरम-प्रत्यय स्पष्ट कहता है कि ब्रह्मसत्ता सर्वापेक्षा अधिक और महत्तम सत्य है। सुतरां हमें यह कहनेका विशेष अधिकार है कि यदि ब्रह्मका वस्तुतः अस्तित्व है और यदि वह सम्पूर्ण सत्त्वोंका मूलतम सत्य है तो हम ब्रह्म जगत्में और अन्तर्जगत्में सर्वत्र उसका किसी-न-किसी प्रकार परिचय अवश्य पावेंगे। ब्रह्मन्तरूपमें यौतिक जगत्के एक सत्यको ही छीजिये।

* True religion once come from the east and from the east it shall come again.

‘मध्याकर्षण’ (यह शक्ति है जिसके बलसे विश्व-ब्रह्माण्डके सम्पूर्ण परमाणु निर्विघ्न नियमके अनुसार एक दूसरेको आकर्षित कर रहे हैं) यह भौतिक जगत्का एक सुप्रतिष्ठित सत्य है। पर जिस समय पहले-पहल इसका आविष्कार हुआ था, उस समय इसको लोगोंने सत्य नहीं समझा था। उस समय यह केवल एक मत था कि सम्पूर्ण परमाणुओंमें एक नियमित आकर्षण-शक्ति है, चाहे वे परमाणु जलते हुए सूर्यमें हों, ग्रहोंमें घूम रहे हों, वायुमें बहते हों यथवा प्राणियोंके देह-यन्त्रोंमें निवास करते हों। फिर परीक्षा होते-होते यह निश्चय हो गया कि इस सत्यमें कहीं व्यतिक्रम नहीं है। तब सबने मध्याकर्षणके नियमकी सत्यताको स्वीकार कर लिया। ग्रहों और उपग्रहोंके परिभ्रमणमें, वस्तुओंके पृथ्वीपर पड़नेमें, विषुववृत्त (Equinoctial) और केन्द्रवर्ति-स्थानोंमें, भारकी तारतम्यतामें, समुद्र-गर्भमें, भारकी अधिकतामें—इसप्रकार नाना प्रकारकी घटनाओंमें मध्याकर्षणरूप सत्य-नियमका प्रसार सर्वत्र देखने लगा। अतः जिस-प्रकार हम मध्याकर्षणरूप नियमको हमछोगोंने आरम्भमें किसी प्रकार प्राप्त किया और फिर परीक्षासे इसकी सत्यताको मान लिया, इसी प्रकार हम जानते हैं या हमारी धारणा होती है (चाहे वह आरम्भ-प्रत्ययके अवलम्बनसे हो या अन्य किसी उपायसे, यह जाननेकी यहाँ आवश्यकता नहीं) कि ईश्वर है और वह सम्पूर्ण सत्यका मूलाधार है, वही सत्यका मूल निर्मा—परम सत्य है। अब हमें यह देखना है कि हमारी यह धारणा केवल कल्पना ही है या सत्य है। इसके लिये यह देखना होगा कि हमें जिन विषयोंका ज्ञान होता है उन सभीमें ईश्वर है या नहीं। जब हम ईश्वरको सब सत्त्वोंका मूल कहते हैं तब ज्ञानके किसी एक ही अंगविशेषको देखनेसे ही काम नहीं चलेगा। ज्ञानके समस्त अंगोंमें हमें ईश्वर देखना होगा।

४-ईश्वर हमें पूर्णरूपसे प्राप्त नहीं हैं, इसीसे उनका अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यहाँ एक बात समझ लेनी चाहिये कि यदि हम ईश्वरको पूर्णरूपसे नहीं समझ सकते या वह जिन नियमोंसे जगत्का नियमन करता है, उन सब नियमोंको नहीं जान सकते, तो इससे ईश्वर है ही नहीं, ऐसा कभी नहीं हो सकता। ऐसा मानना तो सर्वथा पागलपन है। हम यह जानते हैं कि

मध्याकर्षणका नियम जगत्में कार्य करता है और इसीलिये उसके अस्तित्वको भी स्वीकार करते हैं। परन्तु वह इस-प्रकार कार्य क्यों करता है? इस नियमकी रक्षा किस तरहसे होती है? और वस्तुतः यह क्या शक्ति है? इन बातोंमें गहरा रहस्य भरा है। एक ग्रहके परमाणु दूसरे ग्रहके परमाणुओंसे हजारों कोस दूर रहकर भी बिना ही किसी जब-जबलम्बनके किसप्रकार परस्पर आकर्षण करते हैं, यह हमारी विचार-चारासे अतीत है। तो भी इस शक्तिको काम करते देख और जब-जगत्में उसका परिचय प्राप्त कर हम स्वीकार करते हैं कि निश्चय ही यह शक्ति है। इसी प्रकार ईश्वर इस जगत्का किस शक्तिके द्वारा नियमन करते हैं या उनका स्वरूप क्या है इत्यादि बातें पूर्णरूपसे समझमें न आनेपर भी यदि हमें इस विश्व-ब्रह्माण्डमें सर्वत्र उनका परिचय प्राप्त हो, सभी जगह उनका हाथ देख पड़े तो हमें बाध्य होकर मानना पड़ेगा कि परमात्मा अवश्य है और वही सब सत्त्वोंके मूलाधार, परम सत्य है।

हमारी बुद्धि उन्हें चाहे न समझ सके, उनकी ‘स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया’ चाहे सम्पूर्णरूपसे हमारी बुद्धिमें न आवे, परन्तु कनक-किरण-रजित प्रभात-गगन उनकी महिमा गानेसे कभी निवृत्त नहीं होगा और न गम्भीर रात्रिमें व्याकुल-चित्त साधकके समक्ष अगणित ग्रह-नक्षत्र पद्-पद्पर नाचते हुए ईश्वरकी सत्ताका सन्देश सुनानेसे कभी विरत होंगे। समग्र मानव-समुदायके आत्मा-से सर्वथा ही ब्रह्म-जिज्ञासाका महासंगीत ध्वनित होता रहेगा।

५-हमारे ज्ञानके कितने अंग हैं—

पहले कहा जा चुका है कि हमें अपने ज्ञानके समस्त अंगोंमें ईश्वरका परिचय प्राप्त करना पड़ेगा। अतः हमें सबसे पहले यह देखना होगा कि हमारे ज्ञानके कितने अंग हैं। साधारणतः हम आत्मज्ञानके प्रधान चार अंग देखते हैं—इच्छाशक्ति, प्रज्ञा, नीतिज्ञान और श्रद्धा।

(१) इच्छाशक्ति—हम समझते हैं कि हम इच्छा करते हैं और हम ही उस इच्छाके अनुसार कार्य भी करते हैं। इच्छानुसार किये हुए यत्न और चेष्टाओंको ही कार्यका कारण समझते हैं। क्योंकि कार्य-परम्परा हमें उस कारणा-का अनुसरण करतो दीखती है। इसलिये हम मानते हैं कि हमारी सफलताका असली कारण हमारी इच्छा ही है।

(२) प्रज्ञाशक्ति-प्रज्ञाकी शक्तिये ही हम श्रृंखला और अश्रृंखलाका भेद समझ पाते हैं। इसीके द्वारा हम किसी-किसी उद्देश्य-साधनके लिये अनेकों उपायोंको काममें लानेकी चेष्टा करते हैं। इसीसे हम वस्तुओंके विभिन्न अंगोंमें सामञ्जस्यका अनुभव करते हैं। सारांश यह कि जिन सब कार्योंको ज्ञानका कार्य कहा जाता है, वे सभी इस प्रज्ञाशक्तिद्वारा सम्पादित होते हैं। इसप्रकार हम समझते हैं कि एक प्रज्ञाशक्ति हमारे अन्दर है जो अविवक्षित-के प्रति इच्छा रखती है एवं उद्देश्य स्थिर करने आदिका कार्य करती है।

(३) नीतिज्ञान-इमें ज्ञात है कि हमारे अन्दर न्याय और अन्यायका भाव इदमात्रे अंकित है। न मालूम कौन बुधके-बुधके कह जाता है कि यह कर्तव्य है, इसको करना ही पड़ेगा एवं यह अकर्तव्य है, इसका परित्याग करो। कर्तव्य-पाठनमें उत्पन्न होनेवाली आत्मप्रसन्नता और अकर्तव्य-कर्मके सम्पादनमें पैदा होनेवाली आत्म-स्थानि किसीमें क्षिपी नहीं है। जबतक हम अपनेको मनुष्य कहेंगे, तबतक मनुष्योचित दायित्वमें हम कभी मुक्त नहीं हो सकते। जिसप्रकार मत्कर्मोंकी प्रशंसा किये बिना हममें नहीं रहा जाता, इसी प्रकार बुरे कामोंमें पृष्टा किये बिना भी चित्त नहीं मानता। अतः यह सिद्ध है कि हम सत्-असत्की विवेचनार्थ रहित दायित्वहीन नहीं, प्रत्युत नीतिज्ञानयुक्त और दायित्व-विशिष्ट मनुष्य हैं।

(४) श्रद्धा-इमें यह ज्ञात है कि हमारे आत्माके अन्दर एक भाव श्रद्धा है। इसीके प्रभावमें हम किसी सीमित पार्थिव-पदार्थमें किसी प्रकारमें या किसी भी ज्ञानमें सन्तुष्ट न होकर सबके आश्रयरूप, अनन्तस्वरूप परिणाम परमपिताका साक्षिण्य प्राप्त करनेकी योग्यता लाभ करते हैं। यह श्रद्धा ही मानव-आत्माका उच्चतम अधिकार है। यही हमें सिखलाती है कि हम भी उस शुद्ध-बुद्ध-सुकस्वरूपकी सन्तान हैं। इसी श्रद्धाकी सत्तामें हमारे आत्मामें ईश्वरकी पवित्र मूर्ति प्रतिकल्पित होती है। श्रद्धाके कारण ही हमें यह ज्ञात होता है कि हम केवल इस पृथ्वीके जीव नहीं हैं, एक लोकसे लोकान्तरमें जाकर उत्तरोत्तर उन्नति प्राप्त करते हुए हम प्रभुकी महिमाकी और भी अधिक उत्साहमें बोधना कर सकते हैं।

इसप्रकार मानव-आत्माके ज्ञानको म्यूक्ततः चार भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। मनुष्यमात्रमें ये

चारों अंग समान स्वरूपसे ही प्रस्फुटित हैं, यह बात नहीं है। उन्नत, सुसम्भ साधुके हृदयमें इनका जैसा समुच्चक प्रकाश होता है, दक्षिण-अमेरिकाके असम्भ मनुष्य-हृदयमें वैसी उज्ज्वलतासे इनका प्रकाश नहीं हो सकता। परन्तु ज्ञानके इन चारों अंगोंके बीज तो अवश्य ही मनुष्यमात्रके हृदयमें हैं। आदिस मानवके हृदयमें भी इस चतुर्विध ज्ञानका बीज बोया हुआ था; इसके अनेकों प्रमाण हैं। परन्तु उसके निकट इनके पूर्णावस्थाओंका खोजने जाना, बड़े भारी वट-वृक्षकी गुष्ठावली जाननेके लिये वट-बीजके पास जानेके समान व्यर्थ है।

६-आत्मज्ञान ही ब्रह्मज्ञानका सोपान है—

मानव-आत्मा अपने ज्ञानके चार अंगोंके आधारपर परमात्माको चार प्रकारसे उपलब्ध करता है—

(१) कारणवाद-ईश्वरको हम सर्वशक्तिमान्, ईश्वरामय पुरुष जानते हैं। वे ईश्वरमें ही इस विश्वको रचकर और नियमित बनाकर अपना मंगलमय उद्देश्य सफल कर रहे हैं। पाश्चात्य दार्शनिक ईश्वरको जगत्के स्रष्टा और पालन-कर्ताके रूपमें स्वीकार करनेकी 'कारणवाद' कहते हैं।

(२) प्रज्ञावाद जब विश्व-शिक्ष्यकी आँखमें बुद्धिके द्वारा पता लगानेपर हम कौशलको कार्य करने देखते हैं तो हम स्वभावतः ही उस विश्व-रचयिताके ज्ञानस्वरूपका दर्शन करते हैं, तब हमें स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह 'सर्वज्ञ' 'सर्वविद्' है, वह सम्पूर्ण घटनाओं और समस्त विषयोंको साधारणरूपमें भी जानता है एवं विशेषरूपमें भी। यही समग्र ज्ञानकी चरम सीमा है। वह प्रत्येक प्राणीके योग्य उपयुक्त व्यवस्थाकर सब बातोंका विधान करता है। 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधान शाश्वतीभ्यः समाभ्यः,' इस-प्रकार जगत्में कौशलका प्रसार देखकर ईश्वरको ज्ञान-स्वरूपमें उपलब्ध करना ही पाश्चात्योंका बुद्धिवाद (Argument from design) है।

(३) नीतिवाद जब हम अपने आत्मामें अपने ही भीतरमें सदा-सर्वदा पवित्र रहनेका एवं सुपथपर चलनेका आदेश प्राप्त करते हैं, तो हमें उस आदेशदाता परमगुरुके पवित्र 'शुद्धमपापबुद्धिम्' शुद्ध-बुद्ध-सुकस्वरूपके दर्शन होते हैं। उस समय हमें ज्ञात होता है कि वह परिपूर्ण न्यायस्वरूप है। इस स्वरूपमें उसका कभी पतन नहीं होता। इस पवित्र भावसे पवित्रस्वरूप ईश्वरको उपलब्ध करनेका नाम नीतिवाद है।

(४) अद्वैतवाद—जब हम अपनेको उसकी सन्नाह समझते हैं तब हमें उस ईश्वरके पिताके रूपमें दर्शन होते हैं। उस समय हम उसे परमपिता, कल्याणायी माता, प्रेममय सत्ता आदि नामोंसे सम्बोधित करते हैं। उसे अनन्त प्रेमके परिपूर्ण प्रत्यवर्णके रूपमें अनुभव करते हैं। यही मनुष्यकी उन्नततम अवस्था है। यही अध्यात्म-धर्मकी सुप्रशस्त पत्तन-भूमि है। इस अवस्थाका कृणिक न रहकर स्थायी हो जाना ही आत्माका चरम लक्ष्यपर पहुँच जाना है। यही अध्यात्म-योग-संसिद्धि है। इसप्रकार आध्यात्मिक भावसे ईश्वर-पितृत्व उपलब्ध करना ही अद्वैतवाद है।

हमने यह देखा कि आत्मा अपने इन चार चर्योंके अवलम्बनसे ईश्वरको चार प्रकारसे उपलब्ध करता है। कोई-कोई ऐसा कहकर भ्रष्टाकर करते हैं कि इसप्रकारकी ईश्वरोपलब्धि उसका मानवीकरण है, परन्तु हम इसको मानवीकरण नहीं कह सकते। प्रतिपक्षियोंका कहना है कि हमारे अन्दर जो चार प्रकारका ज्ञान है उस ज्ञानके साथ मिले हुए मनुष्यभावके एक वृहत् या भूमाकूपकी कल्पनाको—उस वृहत् मनुष्यको हम ईश्वरका नाम देने हैं। पर हमारा यह कहना है कि हम ईश्वरकी वृहत् मनुष्यरूपमें कल्पना नहीं कर सकते। हमें यह पता है कि हमारे आत्मामें जो शक्तियाँ हैं, ईश्वरमें वे शक्तियाँ हममें अनन्तगुण अधिक हैं। यह भी सम्भव है कि हमारी आत्म-शक्तियोंके अतिरिक्त और भी अनेक विभिन्न शक्तियाँ ईश्वरमें हैं। अथर्व ही उन सब शक्तियोंके विषयमें हम कुछ भी जाननेमें समर्थ नहीं हैं। हम अपने

ज्ञानकी सीमाका किसी प्रकार अतिक्रमण नहीं कर सकते। देवलोकमें जानेपर यदि हमें कोई विशेष शक्ति प्राप्त होगी तब हम उस शक्तिके आधारपर एक नवीन भावसे ईश्वरका परिचय पा सकेंगे। हम अपनी हृन्द्ियोंके कार्योंको जान सकते हैं, इसीलिये अन्य व्यक्तियोंके भी उन्नत या अनुन्नत हृन्द्िय-कार्योंको समझते हैं। हमारी हृन्द्ियोंके अतिरिक्त कोई विशेष हृन्द्िय है, या विशेष हृन्द्ियका कोई विषय है, इस बातकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। हमारे अन्दर जो भाव, वृत्ति या ज्ञान हैं, वे सभी अन्य जीवोंमें न्यूनाधिक परिमाणमें हैं। यह कल्पना हम अनायास कर सकते हैं, परन्तु हमारी ज्ञानवृत्तियोंसे अतिरिक्त भिन्न प्रकारकी ज्ञानवृत्तिवाले जीवकी धारणा हम किसी प्रकार नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि ज्ञान चाहे कितनी ही उच्च सीमापर आरोहण कर जाय, वह अपनी अभिज्ञताके अतिरिक्त अन्य किसी स्थानसे उपकरण संग्रह नहीं कर सकता। हमीलिये हम कहते हैं मानव-आत्मा-द्वारा ईश्वरको जानना उसका मानवीकरण करना नहीं है। ईश्वरकी जो शक्तियाँ हैं, अन्ततः उनमेंसे कुछ शक्तियाँ उस परमप्रभुने मानव-आत्मामें निहित कर दी हैं। अतएव परमात्मसे मानव-आत्माका कुछ अंशमें तो निश्चय ही वस्तुगत सादृश्य है। जब हम भूमाके प्रति मानव-आत्माकी एक गहरी आकांक्षा देखते हैं और यह देखते हैं कि जगत्में तृप्या, क्षुधा प्रभृति नाना प्रकारकी आकांक्षाओंकी पतिके उपाय विद्यमान हैं तब फिर क्या हम आकांक्षाकी तृप्तिका कोई उपाय नहीं होगा? अधिक क्या, यह आकांक्षा ही उस भूमा पुरुषके अस्मिन्त्वकी साक्षी देती है।

ईश्वर सब भूतोंके सुहृद्

(लेखक—श्रीअनन्तराव कोल्हटकर, बी० ए०)

इस औत्तिक सुधारोंके युगमें, लोग प्रायः स्वार्थपरायण हो रहे हैं, हृन्द्िय-भोग ही उनका एकमात्र ध्येय हो गया है। स्वार्थके लिये परपीडन करते समय, निवारण करनेवाले ईश्वर-रांश अन्तरात्माकी आवाजको सुनकर भी वे नहीं मानते। ईश्वररांश और स्वाभूत अन्तरात्माको न माननेवाले लोग अह-रथ तथा अधिम्य परमात्माको कैसे मान सकते हैं? विश्वका पालक विश्वमंगलके हेतु तुम्हारे ही हृदयमें आ बैठा है और तुम्हें सर्वदा पापसे निवृत्त करता रहता है, उसीकी आज्ञा मानते आओ और सर्वसे सुख तथा शाश्वत कल्याणके आगी बनो।

ईश्वरमें विश्वास

जब मनुष्यको यह विश्वास हो जाता है कि ईश्वरने मेरा हाथ पकड़ लिया है, तब वह ईश्वरके इतना नजदीक पहुँच जाता है कि उसके हृदयमें आशंका या भय रहता ही नहीं। उसको प्रतीत होता है कि जगत्की कोई भी वस्तुस्थिति उसपर आघात नहीं पहुँचा सकती। 'ईश्वर सदा-सर्वदा हमारा हाथ पकड़े हमारी रक्षा कर रहे हैं' ऐसा विश्वास होनेपर जीवनमें विलक्षण निश्चिन्तना आ जाती है। और अपनेको वह शान्ति तथा शक्ति मिलती है जो अन्य किसी भी वस्तुसे नहीं मिल सकती।

—आरिसन मादेन्

शक्ति और शिव

(लेखक—पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी, साहित्यरत्न)



मुल्यका जीवन-स्रोत यदि अनन्त-तक प्रवाहित होता रहता, महा-मोहके द्वारा परिपूरित इस परम-रमणीय जगत्के उद्यानमें मनुष्य यदि अमर पक्षीके समान सदा चहकता रहता, यदि वासनारूपी लुब्धिका अपने अग्न्यन्त लुभावने ललित आलमें जीवोंको फँसाकर फिर 'वास-ना' 'वाम-ना' रूपी हृदय-विदारक सार्वभौम घोषणाको न मनाती तो जगन्की जिज्ञासामें कौन लगाता ? तब तो जीवनकी तरी मया सुख-सागरके तरंगोंमें तरंगायमान होती हुई बहती चली जाती ! ओह ! जीवनके सुखही तहमें भी मृत्युका कोमल लास्य कैसा भयानक परिणाम उपस्थित करता है जिसके स्मरणमात्रमे अखिल प्राणी काँप उठते हैं । सृष्टाने जगन्रूपी कमनीय, कोमल कुसुमकलिकाके कलेवरको भौंति-भौंतिके मनो-मुग्धकारी रंगोंसे रञ्जितकर इसके अन्तर्गत अपने इकोंमे मृत्यु-व्यथामे व्यथित करनेवाले कालकीटको आश्रय क्यों दिया ? सुख-दुःख, ईर्ष्या-देष, लोभ-मोह आदि नाना प्रकारके इन्द्रोंके मध्य स्वीचातानामें पड़ा हुआ जगन् कैसा कोलाहल मचा रहा है ? बड़ा ही हृदय-विदारक दृश्य है !

इसी दृश्यमे द्रवीभूत होकर भागते मनस्वियोंने सहस्रावधि संवत्सरपर्यन्त कष्ट सहकर महान तपके द्वारा जीवोंको इस दुःखसे उद्धार करनेकेनिमित्त विभिन्न मार्गोंका अन्वेषण किया । दिन-रात हम प्राणधारियोंको दुःखमे अय-भीत होकर डममे छुटकारा पानेके लिये चेष्टित देखते हैं, जगन्में दुःखकी यह व्यापकता इतने स्फटिकरूपमे दीख पड़ती है कि इसकी ओरसे निःशंक होकर जीता हुआ कोई भी दृष्टिपथमें नहीं आता । इस परम सत्यको कि—संसार दुःखोंसे आवृत है, दुःखोंमे निर्मित हो दुःखोंके द्वारा ही परिचालित हो रहा है—समी महापुरुषोंने एक स्वरमे स्वीकार किया है । भगवान् बुद्धके चार परम सत्थोंमें सर्व-प्रथम इसीकी गणना हुई है कि जीवन-जगत् दुःखमय है । भगवान् पतञ्जलिने भी यही कहा है कि—

'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।'

वस्तुतः जब हम दुःखमे अयभीत होकर उससे बचने-में ही सबको संलग्न देखते हैं तो इस तथ्यको अस्वीकार कर ही कैसे सकते हैं ? अथवा इसमें सन्देह ही कैसे उपस्थित हो सकता है ? ईश्वरकृष्ण अपनी कारिकामें सांख्यतत्त्वान्वेषणके आदिभूत इस सिद्धान्तका निरूपण करते हुए कहते हैं—

दुःखत्रयमभिधाताजिज्ञासा तदभिधातके हेतौ ।

इदं साऽप्राप्या चैकैकान्ताऽत्यन्ततोऽभावात् ॥

अर्थात् 'तीनों प्रकारके दुःखोंमे संताड़ित होकर उसके नाशके कारणोंको खोजनेमें मनुष्य लग्न हुए हैं, परन्तु हम उनको जिन उपायोंका प्रयोग करते हुए देखते हैं, वे ठीक नहीं हैं, क्योंकि उनमे दुःखका अग्न्यन्त अभाव नहीं होता ।' जगन्में दुःखमे बचनेकी चेष्टामें रत हो जो मनुष्य सुखास्वादनके लिये लालायित हो रहा है, उसके लिये सावधान करने हुए भगवान् बुद्ध कहते हैं—

कां नु हासो किमानन्दो निष्प पञ्चलतो सती ।

अन्धकारेण ओलद्धा पदीपेनो गवेस्सय ॥

अर्थात् 'हे मनुष्य ! इस निष्प्रति प्रज्वलित जगत्में सुख कहाँ और आनन्द कहाँ ? अरे ! अज्ञानान्धकारमे ठके हुए उस ज्ञान-दीपकको क्यों नहीं खोजता ?' वस्तुतः प्रज्वलित त्रिनापानलमे श्राय पानेके लिये उस ज्ञान-दीपकके खोजनेकी आवश्यकता है जिसकी प्राप्तिमे भगवान् के उपयुक्त संकेतके अनुसार यथार्थ सुख और आनन्दको पाकर जीव कृतार्थ हो सकता है ।

पहले कहा जा चुका है कि भारतके मनस्वियोंने एतदर्थ विभिन्न मार्गोंका अन्वेषण किया है, अतः उनके पदोंका ही अनुसरण करते हुए यथामति संश्लेषमें अज्ञानान्धकारसे ठके ज्ञानदीपकके खोजनेकी चेष्टा की जाती है ।

मानव-जीवन जिस जगन्में आवृत हो रहा है उसे हम जीव भागोंमें विभाजित कर सकते हैं—औषिक

जगत्, मानसिक जगत् और बौद्धिक जगत्। जीवनके समस्त क्रियाकलाप इन्हीं तीन भूमिकाओंमें होते हैं। इनके ही ज्ञानरूपी बन्धन (जिसे अधिष्ठानधकार कह सकते हैं) में पड़ा हुआ मानव-जीवन दुःख अनुभव करता है।

भौतिक जगत्के ऊपर यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि यह समस्त क्रीड़ा केवल तीन ही खेलाड़ियोंकी खेल है, वे हैं—द्रव्य, गुण और कर्म। उदाहरणके लिये एक छोटे-से बालक को लीजिये; वह द्रव्य है, उसमें रूप, रंग, अंकुरित होना तथा पुष्पित, पल्लवित होना आदि गुण हैं और कर्मके द्वारा हम इन गुणोंको उसमें प्रत्यक्ष देखते हैं। पृथ्वी एक द्रव्य है, उसमें आकर्षण, उत्पादन आदि गुण हैं और दैनिक तथा वार्षिक गति (कर्म) के द्वारा वह दिन-रात तथा ऋतुओंका प्रादुर्भाव करती हुई नाना प्रकारकी ओषधियों, वनस्पतियों एवं प्रजाका उत्पादन और धारण-पोषण करती है। सारांश यह है कि भौतिक जगत्में जहाँ कहीं जो कुछ दीख पड़ता है वह द्रव्य, गुण और कर्मकी क्रीड़ाके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह तीनों इसप्रकार एक साथ मिलकर खेलते हुए दीख पड़ते हैं कि इनको अलग करना असम्भव-सा जान पड़ता है।

इन तीनोंको यदि हम दार्शनिक भाषामें व्यक्त करें तो कह सकते हैं कि द्रव्य तम है, गुण सत्त्व है और कर्म रज है। सांख्य-शास्त्रमें वर्णित सत्त्व-रज-तमकी परिभाषाये इन द्रव्यादि तीनोंको मिलाते-से इनमें तनिक भी अन्तर नहीं दीख पड़ता। ईश्वरकृष्ण कहते हैं—

सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं च तं च रजः।

गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवत्तार्थतो वृत्तिः ॥

अर्थात् 'सत्त्व लघु और प्रकाशक, रज उपष्टम्भक और खल, तथा तम भारी और आवरण डालनेवाला होता है।' अब इनमे द्रव्यादि तीनोंको मिलाइये। वृत्त द्रव्य

* यद्यपि अन्नमट्टने 'द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया भावाः सप्त पदार्थाः' इसप्रकार सप्त पदार्थोंको स्वीकार किया है तथापि सामान्य, विशेष, समवाय और अभावकी सप्ता द्रव्यादि तीनोंके नानात्वसे आपेक्षित होनेके कारण मूलतः तीन ही पदार्थ माने गये हैं।

है, इसमें भारीपन और आवरण है; वृक्षको प्रकाशित करनेवाले गुण हैं रंग, रूप आदि, जो लघु और प्रकाशक हैं। उसमें बड़नेका कर्म उपष्टम्भक और खल है। अतः भौतिक जगत्को दूसरे शब्दोंमें कह सकते हैं कि वह सत्त्व, रज, तमकी क्रीड़ा है।

अब मानसिक जगत्को लीजिये। मानसिक व्यापारों-पर ध्यानपूर्वक विचार करनेसे उन्हें भी तीन ही प्रमुख तत्त्वोंमें हम विभाजित हुआ पाते हैं—ज्ञान, इच्छा और क्रिया। इसमें वेदना, स्मृति आदिका समावेश ज्ञानके अन्दर, लोभ-द्वेषादिका इच्छाके अन्दर, तथा विचार, चिन्ता, संकल्प आदिका क्रियाके अन्दर हो जाता है। मानसिक व्यापारोंका यह विश्लेषण उदाहरणद्वारा सुगमता-से समझमें आ जा सकता है। मान लीजिये वृक्षपर एक फल है। उसे चक्षुरिन्द्रियद्वारा देखकर मनमें फलके होनेका ज्ञान हुआ, तत्काल उसके प्राप्त करनेकी इच्छा (लोभ) उत्पन्न हुई और उसने कर्मेन्द्रिय (हाथ) को इसके लिये प्रेरित किया। यहाँ प्रेरणा क्रिया हुई। दूसरा उदाहरण लीजिये, रास्तेमें एक सर्पको आँखोंद्वारा देखकर मनको उसका ज्ञान हुआ, उसे घातक समझकर बचनेकी इच्छा हुई और भागनेके लिये कर्मेन्द्रिय (पैरों) को प्रेरणा करना क्रिया हुई। इसी प्रकार समस्त मानव-जगत्को हम ज्ञान, इच्छा और क्रियासे ओतप्रोत पाते हैं। परन्तु यह तीनों भी सत्त्व, रज और तमके ही रूपान्तर हैं। योगदर्शनके भाष्यमें वेदव्यासजी कहते हैं—

‘चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम्।’

अर्थात् चित्त (मन) की तीन अवस्थाएँ हैं—प्रख्या- (प्रकाश) शील ज्ञान, प्रवृत्तिशील क्रिया और स्थिति-शील इच्छा। इन प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थितिको सत्त्व, रज और तमका ही पर्याय समझना चाहिये। इसप्रकार मानसिक जगत्को भी हमने सत्त्व, रज और तमकी क्रीड़ाके रूपमें देखा।

अब रहा बौद्धिक जगत्। मानव-व्यापारके उपरम होनेपर जो जीवनकी स्थिति होती है उसे हम बौद्धिक जगत्के नामसे पुकार सकते हैं, उस समय बुद्धि या तो सत् अवस्थामें रहती है या चित् अथवा आनन्दकी अवस्थामें। इसप्रकार बौद्धिक जगत्का विश्लेषण भी तीन ही प्रमुख तत्त्वोंके अन्तर्गत होता है। सत्त्व, चित् और

आनन्दको हम सत्त्व, रज और तमका ही रूपान्तर समझते हैं, क्योंकि सत्त्व प्रकाशक है, चित्त्व चक्षु है और आनन्द गुरुत्वपूर्ण है।

इसप्रकार व्यक्त जगत्की तीनों अवस्थाओंका विश्लेषण करनेसे यह ज्ञात हो गया कि यह समस्त लीला सत्त्व-रज-तमकी क्रीड़ा है। इस क्रीड़ाके देखनेके हमारे पास तीन साधन हैं—बाह्यकरण, अन्तःकरण और बुद्धि। बाह्यकरण (इन्द्रियों) से भौतिक जगत्के व्यापार, अन्तःकरण (मन) से मानसिक जगत्के व्यापार तथा बुद्धिके द्वारा बौद्धिक जगत्के व्यापारोंका बोध होता है। बुद्धिके व्यापारके परे सत्त्व, रज और तमकी साम्यावस्था (अर्थात् जहाँ सत्त्व, रज और तम विकृतरूपमें न होनेके कारण अव्यक्तावस्थामें हैं) प्रकृति पदमें बँधी हुई यह सारी लीला करती जा रही है। ईश्वरकृपा कहते हैं—

प्रकृतमर्हस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्रूपद्वयं बोधशकः ।

तस्मादपि बोधशकत्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥

जिस जगत्रूपी खेलको हम द्रव्य (तम), गुण (सत्त्व) और कर्म (रज) की क्रीड़ा समझते थे वह वस्तुतः इन तीनोंकी साम्यावस्था अर्थात् प्रकृतिका खेल है। प्रकृतिरूपी नदी रंगभूमिमें आती है, 'वह मायाविनी अव्यक्तरूपमें रहकर बुद्धि (महत्)' को प्रकट करती है, बुद्धिमें अहंकार उत्पन्न होता है, अहंकारमें पञ्च तन्मात्राएँ और ग्यारह इन्द्रियाँ आती हैं, पञ्चमहाभूत प्रादुर्भूत हो जाते हैं।' इसप्रकार इस विलक्षण विश्वरूप रंगभूमिको सजाकर प्रकृति-नदी नृत्य करती है।

* इसी निश्चयको सगर्जान उदरफटते अपने 'Power as matter' नामक ग्रन्थमें एक Syllogism के द्वारा इस प्रकार सिद्ध किया है—

The mass of moving charge is a function of its velocity; the mass of matter is wholly the masses of the charges by which it is constituted; therefore, the mass of matter is also a function of velocity. Mass of things is thus dependent on its stress-system, or what may be called in sanskrit shaktivyuha

भावार्थ यह है कि द्रव्याश्रित गुणोंका अन्वित्र क्रियापर निर्भर करता है और द्रव्य गुणका परिणाम है। इसलिये द्रव्य

यह तो हुआ शास्त्रीय दृष्टिमें प्रकृतिका विवेचन; अब देखिये आधुनिक वैज्ञानिक इस विषयमें क्या कहते हैं। विज्ञानवादी द्रव्य (matter) के दो प्रकारके विशिष्ट गुण मानते हैं—मुख्य और गौण। मुख्य गुणोंके अन्तर्गत आकुञ्चन (distraction), प्रसरण (extension), गुरुत्व (weight), दबाव (resistance) आदिका और गौण गुणोंके अन्तर्गत रंग (colour), गन्ध (smell) आदि का समावेश होता है। इनमें मुख्य गुणोंको यदि हम खूब विचार करके देखें तो यह सभी शक्तिके अन्तर्गत आ जाते हैं जिसे वैज्ञानिक stress या energy कहते हैं। और दूसरे प्रकारके गुण तो केवल इन्हीं मुख्य गुणोंके प्रभावमें हमें प्रत्यक्ष सीख पड़ते हैं। इसप्रकार जगत्की समस्त क्रीड़ा-शक्तिकी क्रीड़ा ही समझी जा सकती है। इसी शक्तिको सांख्य प्रकृति नाम प्रदान करता है। इसीका स्तवन करता हुआ देवीभागवत कहता है—

त्वमसि भूसक्तिं पवनस्तथा

समपि बहिर्गुणश्च तथा पुनः ।

जननि तानि पुनः करणानि च

त्वमसि बुद्धिमनोऽप्यथहृत्तः ॥

(३।५।)

अर्थात् 'हे जननि ! तू ही पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश (पञ्चभूत); तथा इनके गुण (पञ्च तन्मात्रा), वस्तों इन्द्रियाँ, बुद्धि, मन और अहंकार है।'।

इसप्रकार क्या पिण्ड, क्या ब्रह्माण्ड सबकी रचना यह प्रकृति (शक्ति या माया) ही अव्यक्तरूपमें कर रही है। पिण्डमें गुरुत्व-गुण-विशिष्ट भौतिक शरीर मानसिक जगत्का आवरण करती हुई तमस-प्रधाना सृष्टि है। इस आवरणके भीतर मनोविकारोंका समष्टिरूप सूक्ष्म शरीर रजःप्रधाना सृष्टि है, एवं मानस-व्यापारके परे प्रकाश-शीला बुद्धि अर्थात् महत्त्व कारण-शरीर सत्त्व-प्रधाना सृष्टि है। इसी प्रकार भूलोक तमःप्रधान, अन्तरिक्ष रजःप्रधान और गोलोक सत्त्वप्रधान होनेके कारण ब्रह्माण्डकी सृष्टि भी ठीक पिण्डवत् ही सीख पड़ती है, इसीलिये कहा गया है कि, 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे।' यह तो स्थूल दृष्टिकी बात हुई; सूक्ष्म दृष्टिसे भी यदि जगत्के प्रत्येक दर्योपर विचार किया जाय तो सर्वत्र ही एक ब्रह्माण्ड और क्रियापर निर्भर करता है। इसप्रकार समस्त द्रव्य-गुण-कर्म-शक्ति-व्यूह (Stress-system) अर्थात् प्रकृतिपर अवलम्बित है।

अव्यक्तरूपसे प्रकृति (शक्ति या माया) की ही लीला दीख पड़ेगी ।

इस शक्तिके स्वरूपका अन्वेषण भी अनेक प्रकारसे किया गया है । आधुनिक विज्ञानवादी विद्युत् के धनात्मक (positive) और ऋणात्मक (negative) दो स्वरूपोंका प्रत्यक्षकर उनके अद्भुत सम्मिश्रणसे जगत् के नाना विकारों (modifications) को चरितार्थ होते देखते हैं । धनात्मक और ऋणात्मक राशिका परम संयोग (sum total) गणित-शास्त्रके अनुसार $(+)+(-)=0$ शून्य ही होता है और शून्यका विवेचन नहीं किया जा सकता । वेदान्त भी मायाको अनिर्वचनीय ही कहकर विराम लेता है । इस-प्रकार शक्ति (प्रकृति या माया) के विषयमें आधुनिक भौतिक विज्ञानका विवेचन और वेदान्तका निश्चय एक हो जाता है ।

अब यह स्पष्ट हो गया कि जगत् में यावद्विकार हो रहे हैं, सब शक्तिके खेल हैं । शक्ति ही सबको उत्पन्न करती है, वही सबका पोषण कर रही है और अन्तमें उसीके द्वारा सबका नाश भी हो रहा है । यही कारण है कि शक्तिसे भयभीत होकर उसका अनुग्रह प्राप्त करनेके लिये जगत् में नानारूपेण उसकी पूजा की जाती है । निबन्धके अख्यन्त बढ़ जानेके भयसे शक्तिके जिन नाना रूपोंकी पूजा अति प्राचीनकालसे जगत् के प्रायः सभी सभ्य देशोंमें होती आयी है उसका विवेचन यहाँ नहीं किया जा सकता । इसलिये शक्तिके विषयमें प्रयोजन और आधार-सम्बन्धी दो प्रश्नोंका उत्तर देकर ही विराम लिया जायगा ।

शक्तिकी इस क्रीड़ाको देखकर सामान्यतः यह प्रश्न उठता है कि इसका प्रयोजन क्या है और यह किस आधार-पर नृत्य कर रही है ? सांख्य-शास्त्र उत्तर देता है—

पुरुषस्य दर्शनार्थं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ।

अर्थात् 'प्रकृति (प्रधान) की प्रवृत्ति, इसकी समस्त लीला पुरुषके दर्शनके लिये है ।' सांख्यके इस उत्तरमें दूसरे प्रश्नका भी समाधान हो जाता है, अर्थात् पुरुषके देखनेके लिये पुरुषके ही आधारपर प्रकृति (शक्ति या माया) नृत्य कर रही है ।

इसप्रकार संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप समस्त क्रियाओंके कर्ताके रूपमें जिसे प्रकृति (शक्ति या माया) को हमने देखा था अब पथार्थतः वह पुरुषकी ही महिमा है,

उसकी क्रीड़ा है, पुरुष पद्मा तमाप्ता देख रहा है और उसके इशारेपर नृत्य करती हुई प्रकृति अनन्त-अनन्त ब्रह्माण्डोंका सृजन, पालन और संहार करती जा रही है ।

अरे वैज्ञानिक ! तु शक्तिकी क्रीड़ाके अवलोकनमें ही क्यों मुग्ध हो रहा है ? देख शक्तिके तले कौन सोया हुआ मुस्करा रहा है—वह शिव है, मंगलमय है । अहा ! कैसा आश्चर्य है ! जो शक्ति (सती) शिवकी निन्दा सुनते ही दृष्टके यज्ञमें योगाग्निद्वारा शरीर त्याग करती है, वही सुस शिवके वक्षःस्थलपर शिवके संकेतसे ही ❁ इसप्रकार नृत्य कर रही है । परम आश्चर्य है !

शिवस्य निन्दया हि याऽत्यजद्रुपुः स्वमेकदा ।

तदङ्घ्रिपङ्कजद्वयं शिवं शिवं किमद्भुतम् ॥

शक्ति उसकी महिमा है वह पुरुष (शिव) इससे कहीं महान् है, वह अखिल सृष्टि तो उसका एक तुल्य भ्रंश है, उसका अधिकांश अमृतमय शुद्धोक्तमें है । परन्तु बिना शक्तिके शिवका दर्शन होना तुल्य है; शक्तिके साधनसे, शक्तिकी कृपासे ही शिवकी प्राप्ति होती है । यही कारण है कि शिवके नाम लेनेके पहले शक्तिको स्मरण किया जाता है । सीता-राम, राधा-कृष्ण, गौरी-शंकर प्रभृति लोकविश्रुत नामोंमें सीता, राधा, गौरी, यही क्यों लक्ष्मी, सरस्वती, काली आदि समस्त शक्तिके नाम हैं और राम, कृष्ण, शंकर प्रभृति शिवके नाम हैं । इसी शिवको प्राप्त करना मानव-जीवनका परम ध्येय है । श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदध सस्यमस्ति

न चेदिहवेदीन्महती विनाष्टिः ।

भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः

प्रत्यास्माल्लोकादभृता भवन्ति ॥

अर्थात् यदि इस जन्ममें शिवको प्राप्त कर लिया तो ठीक है, नहीं तो महान् विनाशको प्राप्त होगा अर्थात् बारम्बार जन्म-मरणके चक्रमें पड़कर त्रितापानलमें दग्ध होता रहेगा । इसलिये धीर पुरुष अखिल विश्वमें उस शिव-

❁ काली और शिवकी एक प्रतिकृति बहुत व्यापकरूपेण पायी जाती है । बिहार और बंगालमें ओ कालीकी स्मृति होती है, वह इसी प्रकारकी होती है । नन्वे शिव मोये रहते हैं और उनमें वक्षःस्थलपर काली खड़ी रहती है । यह प्रतिकृति ही इस निबन्धके शक्ति-शिव-विवेचनकी प्रतिमा है ।

को विचार करके (प्राप्त करके) मरनेपर अमरत्वको प्राप्त होते हैं ।

जिसकी महिमा (शक्ति) के विषयमें कहा जाता है—

असितगिरिसमं स्थात्कज्जलं सिन्धुपात्रे

सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुनी ।

लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं

तदपि तत्र गुणानामीश पारं न याति ॥

तथा नेति-नेति कहकर वेद भी जिसके वर्णनमें विराम लेते हैं, उस शिवके विषयमें कुछ न कह मादरा पामर और तो इसीपर सन्तोष करते हैं कि—

मूर्तिमृदा बिल्वदलेन पूजा-

ऽप्रवाससाध्यं बदनं च बाष्पम् ।

फलं तु तद्यन्मनसामिकाङ्क्षं

विश्वस्य निवेदयन् एष देवः ॥



ईश्वरके नाम पत्र

(लेखक—मुन्शी श्रीकन्हैयालालजी एम० ए०, एल०-एल० बी०, एडवोकेट)



क गरीबकी झोंपड़ी थी । दर्जी चिन्तित बैठा था । उसे नया टैक्स देना था, पर खानेहीको पैसे न थे, टैक्स कहाँसे देता ? अधीर होकर उसने बड़े प्रेम और श्रद्धासे ईश्वरके नाम एक पत्र लिखा और वह उसे डाकखानेमें छोड़ आया ।

सार्टरोंके हाथमें जब वह पत्र गया तो वह हैरान हुए कि इसका क्या करें ? पता इस तरह लिखा था—

‘सेवामें ईश्वर दीनदयालुके’

किफ्राफ्रेपर टिकट जगे थे । सार्टरोंने पत्रको पोस्ट-मास्टर जेनरलके पास भेज दिया, उसने उसे गवर्नरको दिया । उसमें लिखा था—

‘प्यारे ईश्वर ! मेरा नाम वी० काज़म्सकी है । मैं दर्जाका काम करता हूँ । तू जानता ही है कि मैं बहुत-से टैक्स लगा जानेके कारण कितना कर्जदार हो गया हूँ; अब और नया टैक्स लगा गया है, उसको देनेके लिये मैं असमर्थ हूँ; इसलिये मेरी चीजें भी कुर्क होनेवाली हैं । अतः प्यारे भगवन् ! मैं बड़ी चिन्तामें हूँ और तेरी दयाके लिये प्रार्थना करता हूँ, क्योंकि तेरे सिवा मुझे और कोई शरण नहीं दे सकता । यदि तूने मेरी सहायता न

की तो मैं और मेरे घरके लोग भूखों मर जायेंगे । मुझे तुरन्त एक हजार लाठी (तीन सौ रुपये) भेज दे । इससे मेरे घरमेंसे चिन्ता दूर हो जायगी और फिरसे आनन्द हो जायगा ।’

पत्रके नीचे दर्जीने अपना हस्ताक्षर किया था ।

गवर्नरने कुछ सोचा, फिर अपने सेक्रेटरीको बुलाकर यह उत्तर लिखवा दिया—

‘मिस्टर वी० काज़म्सकी ! मुझे तुम्हारा पत्र मिला । इस पत्रके साथ पाँच सौ लाठीकी हुयडी भेज रहा हूँ । मैं आशा करता हूँ कि तुम अपने देशके प्रेमी और एक सदाचारी पुरुष बनोगे ।’

पत्र गवर्नरके लेटर-पेपरपर भेजा गया था और उसके महलका पता उसपर छपा था ।

कुछ दिन बाद धन्यवादका पत्र गवर्नरके महलके पतेसे पहुँचा । उसमें यह लिखा था—

‘प्यारे ईश्वर ! मैं तेरी दयाके लिये, जो तूने एक गरीब दर्जीकी दुर्दशा देखकर की, अनेकों बार धन्यवाद देता हूँ । सधमुख तू नेकी और प्रेमका ईश्वर है । हाँ, एक प्रार्थना और है कि अगर तू कभी फिर मेरी सहायता करे और रुपये भेजे तो गवर्नरके हाथों न भेजना । वहाँके लोग हर रकमका आधा फौजके खर्चके लिये ले लेते हैं ।’ ॥

॥ यू० पी० की एक सच्ची घटना ।



ईश्वर

(लेखक—पं० श्रीहनुमान्जी शर्मा)

(१)



सा नहीं, किस प्रयत्नसे प्राणोंका पोषण होता आ रहा था। व्यापक अन्व-कारके अन्दर-ही-अन्दर अगणित योनि, आयु और अवस्थाओंके बिता देनेपर किसी प्रकारके प्रकाशकर पदार्थ (ज्ञान या सूर्य) का आभास हुआ। उससे अश्रुत और अदृष्टपूर्व अनेकों प्रकारके लोक-आलोक, वन-उपवन, प्राणी-पदार्थ और नानाविध पदार्थ यथाक्रम दीक्ष पड़े।

उनमें इन्द्रकी उपलब्धिसे शक्तिका सञ्चार हुआ, वरुणकी प्राप्तिसे बड़ा सहारा मिला, अग्नि की आराधनासे अनेकों काम हो गये और अन्तमें मरुतुके मिश्रणसे सब सम्पत्ता मिटा दिये। मालूम हुआ कि और भी अनेकों प्रकारके उपधारणीय पदार्थ प्रभुत हैं। उनके अनुभवसे विचार हुआ कि ये सब क्या हैं? कहाँसे आये हैं? और इनका दाता, प्रणेता या निर्माता कौन है?

सम्भव है ये सब उस अन्धी बुढ़ियाके खेल हैं जिसका पंगु पति उसके कन्धोंपर चढ़ा हुआ उससे यथेच्छ काम करवाता है। और आँखोंवाले उसे विश्वम्भरको बनाने या बिगाड़नेवाली 'आयुर्वलकरा शुभा' मानते हैं। अन्धीके ऐसे विलक्षण काम और पंगुके ऐसे उत्कृष्ट अधिकार! बड़ी ही विचित्र बात है! समझमें नहीं आता कि असली तत्त्व क्या है?

लोग कहते हैं कि इन्द्र, अग्नि, मरुद्गण, देव-दानव, मानवगण, पृथ्वी, आकाश, लोहगण और पशु-पक्षी-कीटाणु-गण आदि प्रकृति-प्रदत्त पदार्थ हैं। संसारमें चर-अचर और दृश्य-अदृश्य जो कुछ विद्यमान हैं, प्रकृतिकी विभूति हैं। सारे संसारको सावयव बिगाड़ देना या बना देना प्रकृतिका स्वभाव है।

संसार प्रकृतिकी विकृतिसे बनता है और उसकी सत्कृतिसे बिगाड़ता है। सृष्टिकी रचना प्रकृतिका विकार है और महाप्रलय उसका सुखाम्भ्य या शयन है। यह विकार या सुखाम्भ्य किसी एक हृदयक होते हैं और एकके पीछे दूसरा यथाक्रम होते रहते हैं।

भू-पृष्ठके किसी भागको जलप्रावित रखना, किसीको जड़ती हुई बालूका भूदान बना देना, सूखे और रेतिले भू-भागोंको हरे वृक्षोंसे वेष्टित रखना, या जनशून्य जंगलोंको प्राण्य और पदार्थोंसे व्याप्त करना, अथवा अमित व्याप्तिको मिटाकर उनको शून्य बना देना, इत्यादि सब काम प्रकृतिके ही हैं।

संसारमें जितने प्रकारके प्राणी-पदार्थ, उद्भव-विनाश, शुष्क-आर्द्र, शीत-उष्ण, जन्म-मरण और ऋतु-परिवर्तन आदि जो कुछ हैं वे सब प्रकृति-साम्राज्यके प्रयत्न या विधानमात्र हैं। इन्हीं विधानोंसे विश्वको सर्दी, गरमी, वर्षा, वन-बारा-बगीचे, खेती-बारी, गन्ध-सुगन्ध, औंधी-तूफान, निम्नस्थता और पञ्चभूत-समुद्भूत, उपद्रव या शान्ति आदिका अनुभव होता है। इन्हींके पूर्वाचार्योंने प्रकृतिको देवी शक्ति, महामाया, महेश्वरी, जगदम्बा, विश्वेश्वरी, जगद्धात्री, स्थिति-संहार-कारिणी, निद्रा, भगवती, नटी, नर्तकी, मध्यावना और नानामुखी कहा है। ऐसी अवस्था-में सन्देह होता है कि फिर ईश्वर कौन है?

(२)

उक्त सन्देहकी निवृत्तिके लिये कहा जा सकता है कि किसी भी देश, जाति, समुदाय या अवस्थाके प्रायः सभी मनुष्य अपनी-अपनी भावना या धारणामें प्रेरित होकर 'इष्टसिद्धि या अनिष्ट-सम्भावना आदिमें 'ईश्वर करे ऐसा हो' 'ईश्वर करे ऐसा न हो' 'ईश्वरने ही ऐसा किया है' या 'ईश्वरने ऐसा नहीं किया' इत्यादि वाक्य उच्चारण किया करते हैं। क्यों किया करते हैं? इसलिये कि उस समय उनकी अन्तराराममें प्रकृतिका प्रभाव फीका पड़ जाता है और वे किसी अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तस्वरूप, अदृष्ट सत्ता या सत्त्वमें तन्मय हो जाते हैं। तब स्वतः वैसा उच्चारण होता है और उस उच्चारणके अमिट और सत्यसम्भव सत्त्वपर वे विश्वास रखते हैं। ऐसा करनेपर भी उनको ईश्वरका सादृश रूप या तदाभास नहीं होता परन्तु वे मान लेते हैं कि यह ईश्वरने ही किया है या ईश्वर ही ऐसा करेगा, अथवा यही ईश्वर है। ऐसी धारणा उनकी उसी प्रकारकी होती है जिसप्रकार किसीने दूध नहीं देखा

हो किन्तु दहीके मिखनेपर भान लेता हो कि यह बूधका सख्य है ।

परन्तु इसप्रकार इस रूपमें ईश्वरको भान लेनेवाले मनुष्य अत्यल्प होते हैं । जिन्होंने इष्टलाभ या आपत्ति-निवारण अथवा प्रकृतिविरुद्ध सम्भवका अनुभव किया हो अथवा करते रहते हों, वे किसी अवसरपर या किसी अंशमें ईश्वरको या उसकी सत्ताको भान लेते हैं किन्तु जो लोग इसप्रकारके कल्पनागत इष्टसिद्धि अथवा अनिष्ट-निरसन-मात्रमें मनमाने रूपमें की गयी कल्पनाओंको सहज ही ईश्वर नहीं मानते । वे कब मानते हैं ? जब कि प्रकृतिकी सामर्थ्यके समस्त कार्य असफल हुए चले जा रहे हों और उसके चाहकर विनष्ट किये हुए सकल काम सफल हुए चले जा रहे हों । तब वे विवश होकर ईश्वरकी सम्भावना भान लेते हैं । कुछ उदाहरण लीजिये —

प्रकृतिका नियम है कि अग्निमें पड़े हुए प्राणी या पदार्थ तत्काल या कुछ कालमें गल जाते, पिघल जाते या भस्म हो जाते हैं; पानीमें डूबे हुए उतराते, गल जाते या विनष्ट हो जाते हैं; पृथ्वीमें दबे हुए सब जाते, मर जाते या उग आते हैं; हवामें उड़े हुए सूख जाते, बिखर जाते या हलके हो जाते हैं और आकाशमें गिरे हुए गड़ जाते, टूट जाते या विलुप्त हो जाते हैं । इसी प्रकार महाविषके ज़ानेसे मनुष्य मर जाते हैं; ग्राहादिके प्रसनमें गजादि प्रस्त हो जाते हैं; बाज आदिके आक्रमणमें क्षुद्र पक्षी त्रस्त हो जाते हैं; सिंहदि हिंसकोंके दाढ़में गये हुए गौ आदिका बचना कठिन हो जाता है । खड्ग-प्रहारमें गलविच्छेद होकर रहता है, सुनीक्षण बाणके मद्य प्रहारमें शश-शावक मर ही जाते हैं और तोप या बन्दूक आदिमें कोई भी प्राणी गत-प्राण हुए बिना नहीं रह सकते ।

कदाचित् नाश-नाशक, भेद्य-भेद्यक और भक्ष-भक्षक आदिके यथायोग्य योग होनेपर भी नाशका नाश न हो, भेद्यका भेदन नहीं किया जाय या भक्षका भक्षण न हो सके तो मानना पड़ता है कि प्रकृतिका पराभव नहीं, किन्तु प्रकृतिप्रणता ईश्वरकी सत्ताका प्रभाव है । ऐसे ही अवसरों, कारणों या घटनाओंके संघटित होनेपर ईश्वरमें आस्था रखनेवाले कहा करते हैं कि 'यह ईश्वरने ही किया है' अथवा 'ईश्वर ही ऐसा कर सकता है ।'

(३)

कुम्हारके आँखोंमें आग लगायी गयी है । उसकी

अनन्त ज्वालाओंने मिट्टीके बर्तनोंको जाल बना दिया है । और आग शीतल होनेपर बीचके घड़ेमें बिछीके बच्चे भाग गये हैं । सैकड़ों घरोंके छान और छप्पर जल गये हैं । उनके अन्दर अनेकों जीव मय सामानके स्नाक हो गये हैं । और एक सुकोमल शिशु स्वस्थ सोया हुआ मिलता है । तीन मञ्जिलके ऊँचे मकानमें अबोध बालक गिर गया है, प्रांगणके कठोर पथरोंपर पड़कर पहले कई बन्तुएँ विनष्ट हुई हैं और उन्हीं पथरोंपर पड़कर वह बालक हँसी-खुशी उठ बैठा है । पचास फीट ऊँची वृक्ष-शाखासे एक नित्यका अभ्यासी जल-कुण्डमें कई बार कूदा है और एक बार वह उसके तटवर्ती तृणमें अटककर मर गया है । बरसाती बादके आकस्मिक आक्रमणमें मार्ग-मध्यके प्रायः सब गाँव बह गये हैं और बगलका एक सौंपका बच गया है तथा अति दूरका एक सुखद महल पानीकी फटकारमें टूट गया है ।

प्यासा राज जलाशयमें गया है, वहाँ ग्राहने उसे प्रस्र किया है, प्राण जानेमें सँडका अग्रमात्र शेष है । ऐसी अवस्थामें राजके पदतलमें ग्राहतन्तु टूट गया है और राज बच गया है । कौरवोंकी सभामें पाण्डवोंके सामने लज्जा-शीला द्रौपदीका चीर उतारा जाता है, नम होनेमें दस राज चीरका कुछ ही अंश शेष रहा है और अन्तरात्माके आग्रहमें वह अनन्त हो गया है ।

महाभारतके युद्धोद्यत वीरोंमें व्यास भूमिमें गर्भिणी टिटहरी आ गयी है । उस भूमिपर अगणित वीर और उनके रथ, घोड़े, हाथी आदि हताहत होकर डेर हो गये हैं । उन्हींके बीचमें राज-घण्टाके नाँचे टिटहरी-शावक पोपित हुए हैं । अति विशाल लोह-मग्नको अग्निमें आतपसे लाल किया गया है । उसी मग्नमें चिपक जानेके किये बालक प्रह्लादको आज्ञा हुई है । उसी क्षण लोह-मग्नपर अगणित चीटियाँ विचरण करती हुई देखी गयी हैं और अन्तः प्रह्लाद हँसी-खुशी उसके चिपक गया है ।

इसप्रकारके नये और पुराने अगणित उदाहरण शास्त्रोंमें और संसारमें सुप्रसिद्ध हैं । इस क्षुद्रकाय लेखमें उनका दिग्दर्शन भी नहीं हो सकता । फिर भी कुछ उदाहरण इस जमानेके और दिये जाते हैं ।

(४)

पिछली साज पेंसीस आदमी नावमें बैठकर यमुनाके परकी पार गये थे । रास्तेमें मेह-आँधी आयी और बिजली गिरी । सबके बीचमेंमे उठकर एक आदमी मछाहके पास

पहुँचनेपर बिजलीसे मर गया। दूसरी यात्रामें पूरे पचास आड़मी नावमे गये। तूफानके वेगसे समूची नाव उलट गयी और एकके सिवा सब मर गये।

सुरभ्य महलके सुप्रकाशित प्रांगणमें सुरवेत शय्यापर श्यामसिंह सोये हुए थे और कितने ही संरक्षकोंके साक्षिभ्यमें उनकी काला सर्प काट गया था। एक फूटे घरकी टूटी खटियापर अबोध शिशु सो रहा था, उसके समीप एक साँप भी था और बबूके उछल-कूदमे वह दबता-भिचता या आकुञ्चित भी होता था परन्तु फिर भी साँपने शिशुको काटा नहीं था।

मीराके मारनेके लिये सोनेके प्यालेमें हलाहल भेजा गया था। वह उमे ईश्वरका शरणोदक मानकर पी गयी थी और प्रसन्नताके साथ जोवित भी रही थी।

(५)

कदांतक कहें, ईश्वरकी सत्ताका आभास करानेवाली अनेकों कथाएँ हैं। उनको सुनने, देखने और ध्यानमें लानेसे ईश्वरका होना माना जाता है। कठिनाई इस बातकी है कि उसका स्वरूप समझमें नहीं आता। शास्त्रोंमें उसको अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्त, अनादि, निरञ्जन, निराकार और ज्योतिःस्वरूप आदि बतलाया है। फिर सामान्य मनुष्य कैसे जान सकते हैं कि ईश्वर ऐसा है ?

त्रिकालदर्शी महापिंयोंने चराचर सृष्टिके प्रत्येक प्राणी

और पदार्थमें ईश्वरकी सत्ता स्वीकार की है और जन-समुदायके उद्धारके लिये उन्होंने कई देवी-देवताओंको ईश्वरतुल्य माना है। साथ ही ईश्वरके भी अनेकों अवतार बतलाये हैं। जो लोग ईश्वरके स्वरूपको समझ नहीं सकते किन्तु मृष्टिमें ईश्वरकी सत्ता मानते हैं, उनके ध्यानके लिये भगवान्के स्वरूप और आकार-प्रकार भी निश्चित किये हैं।

अधिकांशने अग्नि, वायु, वरुण और सूर्यादिको ईश्वरके अंश बतलाया है। विशेषकर सूर्यको ईश्वर माननेमें किसीने संकोच नहीं किया है। विचारकर देखा जाय तो अनन्त, अव्यक्त, अनादि, अचिन्त्य, निरञ्जन, निराकार या ज्योतिःस्वरूप आदिका आभास सूर्यमें प्रत्यक्ष आभासित होता है। अतः सूर्यको ईश्वरका प्रतिनिधि माननेमें कोई आपत्ति नहीं किन्तु बहुत दिनोंतक ईश्वरका और ईश्वरतुल्य सूर्यका स्मरण किया जाय एवं इनके स्वरूपका विचार किया जाय तो बौध हो सकता है कि ईश्वरके दरबारमें ऐसे अनेकों सूर्य और अनेकों मृष्टि हैं।

कदाचित् कायदेके साथ कल्पना की जाय और सूक्ष्म दृष्टिमे ध्यान दिया जाय तो ईश्वरका और उनकी सावयव मृष्टिका अथवा सूर्यादिका सम्पूर्ण समावेश या समाधान हमारे शरीरके अन्दर हो जाता है। फिर क्या चाहिये ? यही कि वंसी धी-धारणा और विचार हों।

सिरजनहार साई

साई किया सो है रहा जो कुछ करै सो होइ ।
करता करै सो होत है काहे कलपै कोइ ॥ १ ॥
साई हमारा साइयाँ जो सबका पूरणहार ।
दादू जीवन मरणका जाके हाथ विचार ॥ २ ॥
सगं भवन पानाल मधि आदि अन्त सब सिष्ट ।
सिरजि सवन कौं देत है सोई हमारा इष्ट ॥ ३ ॥
मनसा वाचा कर्मणा साहिबका बेसास ।
सेवग सिरजनहारका करै कौनकी आस ॥ ४ ॥
सिरजनहारा सवनका पेसा है समरत्थ ।
सोई सेवग है रहा जहं सकल पसारे हत्थ ॥ ५ ॥
धनि-धनि साहिब तू बड़ा कौन अनूपम रीति ।
सकल लोक सिर साइयाँ, है करि रहा अतीत ॥ ६ ॥
हैं बलिहारी सुरतकी सबकी करै संभाल ।
कीड़ी कुञ्जर पलकमें करवा है प्रतिपाल ॥ ७ ॥ दादूदासजी

ईश्वरका साक्षात्कार और नाम-महिमा

(लेखक—स्वामीजी। आएका मानन्दजी)



रम प्रिय वाचकवृन्द ! अनेक जन्मोंके मलिन संस्कारोंके कारण पुरुषकी बुद्धिमें ईश्वरके अस्तित्व और उनके नामकी महिमाके विषयमें सन्देह उत्पन्न होता है।

उस सन्देहके निवारण करनेवाले साधनोंका उल्लेख आगे किया जाता है।

लिप्यप्रकार रसायन-शास्त्रके प्रयोगशालामें ऑक्सिजन और हाइड्रोजन इन दो गैसोंको मिलाकर बिजलीकी गर्मी देने ही पानी बन जाता है और हमें देखकर विद्यार्थियोंको जल-तत्वके सम्बन्धमें सन्देह नहीं रह जाता। उसी प्रकार श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ महारामाके पास जाकर अभ्यास करनेसे ईश्वरका साक्षात्कार होता है और तब समस्त सन्देह अपने आप दूर हो जाते हैं।

बिजली अथवा व्यापकरूपसे सब जगह वर्तमान रहती है, परन्तु सबको दिखलायी नहीं देती; केवल विद्युत्-शास्त्रका ज्ञाता ही उसे अपनी प्रयोगशालामें देख सकता है। वैसे ही ईश्वरको योगाभ्यासी अन्तर्दृष्टिसे तथा वेदान्तके पारदर्शी ज्ञानचक्षुसे देखने हैं। अतः ईश्वर-साक्षात्कारके लिये योगी तथा ज्ञानी बननेकी आवश्यकता है।

दो लकड़ियाँ हाथमें लो। दोनोंमें अग्नि है परन्तु दीखती नहीं। जब दोनों लकड़ियोंका घर्षण किया जायगा तब अग्नि प्रकट होगी। इसी प्रकार ईश्वर व्यापकरूपसे सब शरीरोंमें तथा दृश्य जगत्मात्रमें है, परन्तु दीखता नहीं। अभ्यासरूपी घर्षणके प्रभावसे परमात्मा प्रकट होता है। उस अभ्यासके विषयमें श्रुति कहती है—

स्वदहमरणं कृत्वा प्रणव चोत्तरारणिम्।

ध्याननिमग्ननाभ्यासादिव पदयत्निगृहवत्॥

अर्थात् अपने शरीरको अरुणि (नीचेकी लकड़ी) और अँको उत्तरारणि (ऊपरकी लकड़ी) बनाकर ध्यानरूपी निमग्ननके अभ्यास करनेपर ईश्वररूपी अग्नि प्रकट होती है। तात्पर्य यह है कि सद्गुरुकी बतायी हुई विधिसे अँकारका जप करनेसे शरीरमें अधोमुख कमल मुरतिके बलसे उर्ध्वमुख हो जाता है, नाद सुल जाता है, कमल खिल जाता है और हमें देखकर साधक आश्चर्यके समुद्रमें निमग्न

होने लगता है। इसे तत्काल ही ईश्वरका साक्षात्कार होता है। अनुभवी योगी कहते हैं कि—

‘उलट कमलकूँ पलट देख ले सब घट राम बिगाडा॥’

सब घट मोरा साध्यों मूनी सज न कोय।

बहिहारी बा घटका जा घट परगट होय॥

श्रुति भी इसी रहस्यका उद्घाटन करती हुई कहती है—

एका देवः सर्वभूतेषु गुढः

सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।

कर्माध्यक्षः सर्वभूतविदासः

साक्षी चेताः केवला निर्गुणश्च॥

ईश्वर एक है; उसके सगुण और निर्गुण दो रूप हैं। निराकाररूपसे ईश्वर सब शरीरोंमें तथा दृश्य जगत्मात्रमें गुप्तरूपसे स्थित है, सबमें ओतप्रोत हो व्याप्त हो रहा है, वह सबका अन्तरात्मा है, सबमें वाम कर रहा है, जीवोंके पाप, पुण्य और दृश्य जगत्का साक्षी है; ज्ञानस्वरूप है, एक है और तीनों गुणोंसे परे रहकर उनका द्रष्टा है।

परमात्माके प्रकाशके लिये सबसे सुगम उपाय यह है कि सद्गुरुकी बतायी हुई विधिके अनुसार भगवन्नामका सवाकोटि जप करनेसे ईश्वरका साक्षात्कार अवश्य होगा। यतिधर्मप्रकाश नामक ग्रन्थमें लिखा है—

यस्तु द्वादशसाहस्र नित्यं प्रणवमभ्यसेत्।

तस्य द्वादशभिर्मासैः परब्रह्म प्रकाशते॥

अर्थात् जो प्रतिदिन बारह हजार प्रणवमन्त्र (ॐ) का अभ्यास करता है उसको बारह महीनेमें परब्रह्मका प्रकाश दीख पड़ता है।

भगवान् श्रीकृष्णजीने श्रीमद्भगवद्गीतामें ब्रह्म-साक्षात्कारके तीन साधन बतलाये हैं—

ध्यानैनात्मनि पश्यन्ति कैचिदत्मानमात्मना।

अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥

अर्थात् ‘कोई तो अपने आत्मामें आत्माके द्वारा—ध्यान-द्वारा परमात्माको देखते हैं, दूसरे सांख्ययोगके द्वारा तथा तीसरे उसे कर्मयोगके द्वारा प्राप्ति करते हैं।’

ये ताश्चर-उपनिषद्में ब्रह्मवादियोंकी पारम्परिक जिज्ञासा होती है—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता
जीवाम केन कच्च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन मुखेतरेषु
वर्तामहे ब्रह्मविदोऽव्यवस्थाम् ॥

अर्थात् 'हस संसारका कारण कौन है? हम कहाँसे उत्पन्न हुए हैं? किसके द्वारा जीवन धारण कर रहे हैं? हम कहाँ प्रतिष्ठित हैं? किसके द्वारा अधिष्ठित होते हुए हम ब्रह्मवादियोंकी सुखरहित (दुःखमय) अवस्थाको प्राप्त हो रहे हैं?' इसके उत्तरका चिन्तन करने हुए वे कहते हैं कि—

कारुः स्वभावां नियतिर्यदृच्छा
मृतानि यानिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
समान पथां नरत्वात्मभाव-
दान्मायनोऽशः मुखदुःखहेतोः ॥

'काल, स्वभाव, भाग्य, यहच्छा, पञ्चभूत, प्रकृति, अथवा पुरुष इसके कारण हैं; अथवा इन सबके संयोगसे संसार बना है। परन्तु आत्माके अभावमें इनमें कुछ नहीं हो सकता है और आत्मा भी तो सुख-दुःखके कारण पराधीन है।' इसप्रकार प्रश्नको हल न होते हुए देखकर—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्य-
न्दवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालमयुक्तान्याधतिष्ठत्येकः ॥

'उन्होंने ध्यानयोगद्वारा अपने गुणोंमें निगूढ आत्म-शक्ति (माया) के साथ ईश्वरको देखा जो काल, स्वभावादिसमस्त कारणोंके कारण रूपमें एक होकर अधिष्ठित था।'

इसप्रकार जिज्ञासुओंके हितार्थ ईश्वर-साक्षात्कारके साधनोंके विषयमें लिखा गया । अब ईश्वर-साक्षात्कारके फलोंका किञ्चित् उल्लेख कर नाम-साहाय्यपर कुछ लिखा जायगा ।

ब्रह्म-साक्षात्कारके फल—

'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति', 'तरति शोकमात्मवित्', 'ब्रह्म-विदोप्नोति परम्', 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः' ।

'वेदाहमेत पुरुषं महान्त-
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वानिमृत्यमति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥'

'तेषां सुखं शाश्वतमेतरेषाम्', 'मुखकान्तिर्न नश्यति', 'विद्वान् हर्षशोकौ जहाति', 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्म-प्येति', 'य एव वेद अहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति', 'स्वेन रूपेणाभिनिपद्यते स उत्तमः पुरुषः ।'

सारांश यह कि ब्रह्म-साक्षात्कारमें मनुष्यके समस्त दुःख नष्ट हो जाते हैं, उसके मुखकी कान्ति दिव्य तेजसे पूर्ण हो जाती है, उसके प्राण मरनेके पश्चात् उत्क्रमण नहीं करते, बल्कि ब्रह्ममें ही खोने हो जाते हैं, उसे परम शान्ति और शाश्वत सुखकी प्राप्ति होती है, इत्यादि ।

पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्म-साक्षात्कारका सबसे सुगम साधन भगवन्नाम-स्मरण है । परमात्माकी अनन्त शक्तियाँ हैं और तदनुसार नाम भी अनन्त हैं । जिसे जिस नामसे प्रेम हो, वही नाम जपे । हाँ, प्रेम होना चाहिये । कहा भी है—

'प्रमत्तं प्रगट् होहि भगवान् ।'

अग्नि जैसे सूखे तृणको दग्ध कर देती है, उसी प्रकार प्रेमसे लिया हुआ ईश्वरका कोई भी नाम सारे पापोंको दग्ध कर डालता है । कहा है—

'साक्षात्कारसामग्र्यां भक्तिरिव गरीयसी'

अर्थात् भक्तिके जितने साधन हैं सबमें भक्ति श्रेष्ठ है । भक्ति माता है और ज्ञान-वैराग्य उसके दो पुत्र हैं । भक्ति न होनेसे ज्ञान-वैराग्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

निर्विघ्णानां ज्ञानयोगो कर्मयोगस्तु कामिनाम् ।

न निर्विघ्णानां तसक्तं भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥

अर्थात् 'विरक्त पुरुषको ज्ञानयोग, कर्मासक्त पुरुषको कर्मयोग तथा ऐसे पुरुषको जो न विरक्त है और न आसक्त, भक्तियोग श्रेष्ठ है।' भक्तिके उपदेश देनेवाले महारत्ना कहते हैं कि—

श्वास श्वासपर नाम जप नृया श्वास मत् खोष ।

का जानों या श्वासको आवन होय न होय ॥

कबीरदासजी कहते हैं—

अगर है शोक मिलनेका तो हरदम लौ लगाये जा ॥

ठीक है, निरन्तर नाम-जपके द्वारा भगवान्‌का साक्षात्कार अवश्यम्भावी है। यद्यपि भगवान्‌के निर्गुण और सगुण दोनों रूप अगम हैं, तथापि नाम जपनेवालोंको दोनोंका ज्ञान सुगमतासे हो जाता है। ऐसा ही सन्तोंका अनुभव है। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

देखिय रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहीं नामविहीना ॥
नाम रूप अति अकथ कहानी। सम्पन्नत सुखद न परत बखानी ॥
अगुण सगुण बिच नाम समाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुमाखी ॥
जाना चाहहि गूढगति जेऊ। नाम जीह जपि जानहि तेऊ ॥
साधक नाम जपहि लव लाये। होहि सिद्ध अणिमदिक पाये ॥
नाम जीह जपि जागहि योगी। विरति विरोचि प्रपंच विधेगी ॥
ब्रह्म मुखहि अनुभवहि अनुषा। अकथ अनामय नाम न रूपा ॥
शिव ब्रह्मादिक शुक्र मुनि योगी। नाम-प्रताप ब्रह्म-रस-मोगी ॥
उलटा नाम जपत जग जाना। बाल्माक भये ब्रह्म समाना ॥
उभय अगम युग युगम नामने। कहिहुँ नाम बड ब्रह्मराम ते ॥
कहै लगि बरनौ नाम बडाई। राम न सकहि नाम-गुण गाई ॥

महारामा कबीरदासजी कहते हैं—

मूर मिंगावे चन्दको चन्द मिलावे मूर।
याहि भेद जिन जानियाँ ताहि मिला गुह पुर ॥

जा पवनपर चन्दा बस ताहि न ग्रसे काल।
जो यह भेदे जानहीं सोही जौहरी लाल ॥
पानीमें पावक बसे अति घन बरसे मेह।
तीनों अधर अकास है कौन पवनको छेह ॥
बलिहारी उस नामकी जिनकी दयासे दीन्ह।
जो यह भेद बतावही सीस अरपि तेहि दीन्ह ॥
आस आसपर सुमिरन लागी। कहै कबीर विषय सब भागा ॥

गुरु नानक साहेब कहते हैं—

आत्म उपदेश संयम इन्द्रियका जापसो अजपा जाप।
सदा रहै कंचनसी काया काल न कबहुँ व्याप ॥

दरिया साहेब कहते हैं—

नामहि जपे शून्य मन धरं। पोंबो इन्द्रिय बसमें करं ॥
ब्रह्म अग्रिमं होमि काया। ताका विष्णु पक्षिं पाया ॥

नाम-जपकी अनन्त महिमा है। इन्में जो जितना ही गहरा पैठता है, उतना ही अधिक उसे आनन्द मिलता है। किनारे ही बैठकर कोई रख चाहे तो कहाँसे पा सकता है। कबीर साहेबने ठीक ही कहा है—

जिन खोजा तिन पाइया गहर पानी पैठ।
हौं बाँरी बूडन डरी गही किनार बैठ ॥



जीवन-वैचित्र्य

जीवनकी तरल-तरङ्गे, नित उठती है लहराती,
पर खुद ही टकराकर है हांतीं विनष्ट अज्ञानी। १। हम नित्य भूल जाते हैं, यह भीषण-प्रथा पुरानी। ४।
यह जीवन-लीला-माया है इसकी चलन अनोखी,
बस सदन खेल है इसका, कन्दन है अकथ कहानी। २। अद्वैत रत्नकी, उसने प्राक्पणमें चादर तानी। ५।
इस दग्ध क्षुब्ध सागरमें, नीरव उठती है लहरे,
बस मूक वेदनाकी है, उनमें वह एक निशानी। ३। यह 'अहम्' भावना ही तो, 'तू-नू-मै-मैं' सिखलाती,
बस द्वैत-राज्यमें तब तो, वह करती है मनमानी। ६।

जिसने भी परम पिताका, दर्शन है सबमें पाया,
वह मुक्त हुआ मायासे ओ बना आत्म-विज्ञानी। ७।

—प्रेमनारायण त्रिपाठी 'प्रेम'



ईश्वरीय सत्ता

(लेखक—श्रीपापजी महाराज)

ईश्वर. सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्राह्णानि मायया ॥



श्वकी दृश्य-अदृश्य सभी वस्तुओंमें ईश्वरका निवास है । अनन्त महाशक्तका सञ्चालन भगवान् की मायाद्वारा हो रहा है । प्रत्येक गतिमें, प्रत्येक स्पन्दनमें मायाकी क्रीड़ा हो रही है । राग-द्वेष मायाके प्रधान स्वरूप है । राग-द्वेषके वशीभूत होकर हम सभी सत्य-चिन्तनसे पृथक् हो गये हैं । इस पृथक्तामें मायाकी अन्तरंग-लीला काम कर रही है । यही कारण है कि ईश्वरके अस्तित्व एवं श्रीकृष्णके प्रेम-मत्त्वमें अविश्वासकी लहर उठ रही है ।

प्रपञ्चके मानी हैं पञ्च महाभूतोंका संयोग । इस संयोगमें, इस प्रपञ्चके प्राक्त्वमें ईश्वर-तत्त्वका गम्भीर बांध दूर हो जाता है । भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं 'मम माया दुरत्यया' मेरी माया बड़ी दुरत्यय है । इसके चक्करमें पड़कर सभी प्राणी पिस रहे हैं । विश्वके प्रत्येक पदार्थमें जो संघात हो रहा है वह मायाका म्थूल खेल है । तारों एवं नक्षत्रोंके सञ्चालनमें जो क्रिया हो रही है वह मायाकी अन्तरंग-लीला है । आपुनिक संसारमें, भाई-भाईमें, पिता-पुत्रमें, पति-पत्नीमें, शत्रु-मित्रमें जो संघात चल रहा है वह स्वार्थका म्थूल स्वरूप है । मायानिहित कार्योंमें स्पष्ट आवेने यही दृष्टिगोचर हो रहा है । अनादिकालसे राग-द्वेषके वशीभूत होकर एक प्राणी दूसरे प्राणीकी निगल जानेके उद्देश्यमें युद्ध करता आ रहा है । साधनाका लक्ष्य ईश्वर-तत्त्व एवं श्रीकृष्णके महा प्रेम-तत्त्वको जानना है । हमारी प्रत्येक चेष्टामें यही उद्देश्य निहित है । प्रकृति-जगत्के समस्त प्राणी अनादि विराट्में निकलकर अनन्त विस्तारकी ओर जा रहे हैं । जिन्होंने यत्किञ्चित् साधनमें सफलता प्राप्त की है उन्होंने यही अनुभव किया है कि ईश्वर सब भूतोंमें निवास कर रहा है । भगवद्दर्शन एवं आत्मसम्मेलनमें कोई भी अन्तर नहीं है । आत्म-दर्शनकी प्रणाली ईश्वर-दर्शनकी प्रणाली है । ईश्वरीय बोध मनुष्यको पुप कर देता है । इसी तरह प्रेम-तत्त्वके गम्भीर प्रदेशमें घुसनेवाले जोगोंने अपने आपको खोकर एक अनिर्बंधनीय आनन्दकी उपपत्ति की है । किन्तु

निषेधात्मक अवस्थामें मनुष्य अपने निर्दिष्ट साधन-पथसे पृथक् होकर नास्तिकताके वायुमण्डलमें प्रवेश कर जाता है । उस वक्त हमें ईश्वरीय बोध और ईश्वरकी व्यापकतामें नास्तिकताकी प्रतीति होने लगती है । उस समय उसकी सारी शक्तियाँ नास्तिकताके परमाणुओंमें झोतझोत हो जाती हैं । वह बहुत दिनोंतक नास्तिकताके घोर कुण्डमें पड़ा हुआ अहंभावके साथ खेल करता रहता है । भगवान् उसकी स्थिति बतलाते हुए कहते हैं—

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।

इदमर्त्तादिमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥

असौ मया हृतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।

ईश्वरोऽहमहं भोगी मिदोऽहं बलवान्मुखी ॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।

यद्यपि दास्यामि मोदिये इत्यज्ञानविमोहिताः ॥

अनकचित्तिभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।

प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽगुचौ ॥

(गीता १६ । १३-१६)

सचमुच आस्तिकतासे रहित जीवन अन्धकारमय है । भगवान् कहते हैं—'ते पतन्ति नरकेऽगुचौ' वे प्राणी महाघोर नरक-कुण्डमें पतित हो जाते हैं । ऐसे प्राणियोंका कल्याण नहीं । जब वे धीरे-धीरे अपने प्रारब्ध-कर्मके अनुसार अपने नरक-कुण्डके जीवनकी समाप्ति कर पाते हैं तब ईश्वरीय कृपाका अनुभव करने लगते हैं ।

बिमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।

संसारके वे प्राणी जो रात-दिन कामिनी-काञ्चनके चक्करमें पड़े हुए हैं, ईश्वरीय महातत्त्वको नहीं जान सकते, किन्तु जिनके जीवनमें दिव्य नेत्र हैं वे ही उस महातत्त्वको देख और समझ सकते हैं । भगवान् कहते हैं—

'मयि सर्वमिदं प्रातः सूत्रं मणिगणा इव ।'

यथार्थतः विश्वकी प्रत्येक वस्तुमें ईश्वरीय सत्ता निवास कर रही है, ईश्वरीय सत्तासे रहित कोई भी वस्तु नहीं है ।

अस्ति, भाति एवं प्रीतिसे रहित कोई भी वस्तु नहीं है। 'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्' प्रत्येक वस्तुमें निहित है। प्रकृति-जगत्के महाव्यापारमें ये तीनों अव्यक्तरूपसे निवास करत हैं। इस स्थलमें तीनोंकी अव्यक्तावस्थाका अर्थ पाठक यह न लगायें कि तीनोंका विशाल अस्तिव सीमित हो जाता है और उनका स्वरूप अशतः परिमित हो जाता है। किन्तु प्रकृति-जगत्के विराट् व्यापारमें भौतिक दृष्टिमें इनका अस्तिव स्पष्ट नहीं प्रतीत होता। ज्यों ही मनुष्य मायाकी क्रीडामें अलग होकर तात्त्विक विषयपर दृष्टि डालता है त्यों ही उसे 'सूत्रे मयिगणा इव' इस वाक्यका यथार्थ बोध हो जाता है। महामाया प्रकृतिके विराट् खेलमें समस्त प्राणी मोहित हो रहे हैं। प्रकृति समस्त प्राणियोंको कन्दुककी भांति नीचे-ऊपर फेकनेमें

व्यस्त है। जब ईश्वरीय कृपा होती है तभी प्रकृतिके हाथमें प्राणीका सुटकारा होता है। जो व्यक्ति ईश्वरीय बोध प्राप्त करना चाहता है उसे प्रकृति-जगत्से सुटकारा प्राप्त करना होगा। सुटकारा प्राप्त करनेके लिये ईश्वरीय कृपाको याचना करनी पड़ेगी। अपने अहंकी हस्या करनी होगी। अहंका नाश होते ही ईश्वरीय कृपाकी सुनहरी किरणें दृष्टिगोचर होने लगेंगी। उन दिव्य किरणोंके द्वारा मनुष्य-जीवनकी सारी अन्धता मिट जायगी। फिर वह अपने हृदयमें ईश्वरकी महा मञ्जुल मूर्तिका दर्शन करने लगगा इसीलिये तो भगवान् कहते हैं—'इदंशेऽर्जुन तिष्ठति'

ॐ शान्तिः

ईश्वर निराकार और साकार दोनों है

(लेखक—स्वामी आचार्यनामदासजी उदात्त, न)

कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं शक्त ईश्वरः ।



थाव 'जो करने, न करने अथवा अन्यथा करनेमें समर्थ हो वही ईश्वर है।' ईश्वरका यह लक्षण निराकार और साकार दोनोंमें वर्तता है। ईश्वर एक है, परन्तु वादभेदसे दो प्रकारका माना जाता है। उसे निराकारवादी निराकार मानते हैं और साकारवादी निराकारके साथ उसे साकार भी मानते हैं। जो निराकारवादी हैं वह निराकार-सत्तामें ही पदार्थोंके प्रति कर्तृत्व, अकर्तृत्व तथा अन्यथा कर्तृत्व-शक्ति मानते हैं।

साकारवादी निराकारमें कुछ नहीं मानते। वह निराकार ब्रह्मको 'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः' अर्थात् आकाशके समान सबमें स्थित और व्यापक होकर सबसे निर्लेप रहनेवाला तथा नित्य मानते हैं। साकारवादिनोंमें साकार ब्रह्मको विभिन्नरूपसे माना जाता है; कोई तो उसे ब्रह्माण्ड (विराट्) रूपमें मानता है, जैसा कि—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।

स भूमिं विश्वतो वृन्वाऽत्यनिष्ठदशाङ्गुलम् ॥

—श्रुतिके इस मन्त्रमें व्यक्त किया गया है। कोई साकारवादी मायाद्वारा ईश्वरकी कल्पना करते हैं अर्थात्

ब्रह्मका मायामें पड़ा हुआ आभास ही ईश्वर है। वे कहते हैं—

निम्बत्वं प्रतिनिम्बत्वं यथा पुरुषकल्पितम् ।

जीवत्वमीश्वरत्वञ्च तथा ब्रह्मणि कल्पितम् ॥

तार्पर्य यह है कि एक ही चेतन (ब्रह्म) का प्रतिबिम्ब मायामें पड़ता है तो वह ईश्वर होता है और वही प्रतिबिम्ब अन्तःकरणमें पड़ता है तो वह जीव होता है। इसप्रकार बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद निराकार और साकार दोनों ईश्वरको मानता है।

जगत्का कर्ता कुछ लोग साक्षात् निराकारको मानते हैं और कुछ लोग परम्पराद्वारा मानते हैं। परन्तु उपयुक्त लक्षण दोनोंमें घटनेके कारण दोनों ही ईश्वरके वाचक हैं। ईश्वरका स्वरूप व्यापक और नित्य है और यही परम तत्त्व है, इसीके कारण ईश्वर सर्वशक्तिमान् होता हुआ अनादि है।

ईश्वर स्वयं अतर्क्य है। अज्ञानियोंकी तर्कनामे तर्कद्वारा वस्तुकी सिद्धिकर प्रत्यक्षको पुनः प्रत्यक्ष कराया जाता है। ईश्वरके अस्ति, भाति और प्रियरूप होनेसे उसकी सत्ता अनादिरूपा है जो निराकार और साकार दोनोंमें घटती है। इसलिये ईश्वरको निराकार और साकार दोनों मानकर उसकी उपासना करनी चाहिये।

मेरा ईश्वर

(लेखक—पं० बी.देवशर्मा 'अमय' विद्यालंकार, आचार्य गुरुकुल विश्वविद्यालय, कांगड़ी)



श्वर क्या है ? और उसकी भक्ति क्या है ? यह मैं नहीं कह सकता। पर मैं भी अपने एक ईश्वरकी भक्ति ज़रूर करता हूँ। अतः मुझे यह शिकायत भी नहीं होती कि लोग ईश्वर-भक्ति नहीं करते हैं। क्योंकि मेरी समझमें ईश्वर-भक्ति तो प्रत्येक मनुष्य करना है। पर मुझे यह शंका ज़रूर होती है कि असली ईश्वरको हमलोग बहुत कम जानते हैं। हम जिसे ईश्वर समझते हैं उसकी भक्ति तो हम करते हैं—स्वभावतः और सब दिव्यमे उसकी भक्ति करते हैं। जो मनुष्य धनको सर्व-समर्थ वस्तु देखता है वह दिन-रात धन-संग्रहमें लगा हुआ है और इसप्रकार अपने धन-प्रभुके लिये सब कुछ (अपना स्वास्थ्य, अपना धर्मतक) कुर्बान कर रहा है। क्योंकि वह धनमे परे किसी अन्य ईश्वरको नहीं देख पाता है। इसी तरह संसारके असंख्यो मनुष्य विषयानन्दको, प्रतिष्ठाको, प्रभाव-को, विद्वत्ताको, संगठन-शक्ति आदिको ईश्वर समझते हुए उनकी उपासनामें लगे हुए हैं।

इन लोगोंको यह कौन बतावे कि यह ईश्वरकी भक्ति नहीं है, इन धन आदिमें ईश्वरत्व नहीं है। इन्हें धन आदिमें ईश्वरता (सर्व-समर्थता) साफ दिखायी देती है।

हाँ, जब कोई क्रुश वा आपत्ति आती है और ये धन आदि उस समय हमारी रक्षा नहीं कर सकते, ये अनीश्वर मिट्ट होते हैं तब हम अवश्य कुछ देरके लिये दीन और नम्र हो जाने हैं। माना हुआ हमारा आधार छिन जानेमे हम किसी अज्ञात शक्तिकी (असली ईश्वरकी) तरफ मुकते हैं। पर दुःख—आपत्ति टलते ही फिर सब भूल जाते हैं और भौतिक सुखोंके सहारे अपने दिन मज़ेमें काटते जाते हैं। रिवाज़ या फैशनके तौरपर ईश्वरका नाम लेते जाते हैं, सन्ध्या-बन्दन, जप, पाठ भी करते जाते हैं, पर हमें ईश्वरकी और उसकी भक्ति करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। सुख देनेवाले विषयों आदिके रूपमें हम अपने ईश्वरकी भक्ति अच्छी तरह करते जाते हैं और असली ईश्वरमे दूर रहते हैं।

असली ईश्वरकी झाँकी (असली ईश्वरका झणिक

दर्शन) हमें दुःख—आपत्तिके आ पहुँचनेपर क्यों दीखती है ? इसका उत्तर मेरी समझमें यह है कि दुःखोंके आ जानेसे स्वार्थका पर्दा कुछ देरके लिये हट जाता है। आपत्ति आनेपर स्वार्थका बाह्यद्वार छिन्न-भिन्न हो जाता है (यद्यपि अन्दर स्वार्थ-वृत्ति बनी रहती है जो फिर अपने इस बाह्य संसारको बना देती है)। मनुष्य स्वार्थ ही वह वस्तु है जो मनुष्यको ईश्वर-दर्शनसे रोके हुए है, मनुष्यकी आँखोंमे असली ईश्वरत्वको ओमल किये हुए है। जिन लोगोंपर आया हुआ दुःख-क्रुश उनके स्वार्थको ढीला करनेका भी कारण नहीं होता, उनके समीप दुःख-जैसा ईश्वरीय दूत भी बेकार आता है। दुःखमे, वैराग्यमे और ज्ञानमे या किसी भी प्रकारसे अथवा किसी भी क्रमसे स्वार्थका धुन्ध हट जाय तो ईश्वर दीख जाता है। ईश्वरका स्वरूप क्या है ? ये सूक्ष्म बातें मैं नहीं जानता। मुझे तो इतना दीखता है कि स्वार्थके क्षय होनेपर जो कुछ दिखायी देता है वह सब कुछ ईश्वर है। मुझे इस ईश्वरके स्मरण करनेमे सुख मिलता है। इसका अनुभव करनेपर अपार आनन्द मिलता है। इसके बिना मैं रह नहीं सकता। यह परमेश्वर जब कुछ देरके लिये भी दीखना बन्द हो जाता है, तो मेरा जी धबराते लगता है। निष्काम, निःस्वार्थ, निरहंकार होनेपर दीखनेवाले (अनुभव होनेवाले) इस तरवमे परे मुझे और कोई ईश्वर नहीं दीखता। इसके आगेकी किसी सूक्ष्म वस्तुको मेरी बुद्धि नहीं समझ सकती।

यह, सब प्राणियोंमें सम होकर रमा हुआ, हर एक वस्तुमें समाया हुआ, मेरा ईश्वर है। संसारमें दीखनेवाली धन, जन आदिकी सब भौतिक, अर्भौतिक शक्तियाँ इस जगत्-सञ्चालक महाशक्तिके क्षुद्र अंश हैं। अतः इसमें अपनेको अर्पित करके मैं निश्चिन्तताका अनुभव करता हूँ। इससे परे किसी भी वस्तुमें ईश्वरत्व मुझे नहीं दीखता। इस वस्तुके स्मरण आते ही उसके लिये स्वभावतः प्रेम (भक्ति) उमड़ता है। सदा सब वस्तुओंमें उसके साथ अपनी एकता करनेमे परितुष्टि प्राप्त होती है। बिच्छुल निःस्वार्थ हो प्राणियोंकी सेवा करनेसे उसकी सेवाका परम सुख मिलता है। केवल मनुष्य और पशुओंमें ही

नहीं, किन्तु वृक्ष आदि प्रत्येक जड़ वस्तुके साथ भी एकताका अनुभव किये बिना शान्ति नहीं मिलती। वह तब सर्वव्यापक है और अपना (आत्मा) है। प्रत्येक वस्तुके अन्तरतममें (प्रत्येक वस्तुकी आत्मा होकर) वही बैठा हुआ दिखायी देता है। उसके साथ एक हो जानेकी आन्तर-वीर्य इच्छा सदा बनी रहती है। स्वार्थशून्यताद्वारा उसके साथ एकताका अनुभव करनेमें अपार सुख मिलता है। साफ देखता हूँ कि जो धादमी दिन-रात नाम जपता है पर वह यदि स्वार्थ-धुन्धको परे हटा, सर्वव्यापक होकर बीखनेवाली इस वस्तुको नहीं देखता; जो मनुष्य घण्टों समाधि लगाता है, पर राग, द्वेष, अहंकारको नहीं भूलता वह मेरी समझमें असली परमेश्वरसे बहुत दूर है। दूसरी तरफ जो मनुष्य सब प्राणियोंकी सेवामें अपने-आपको भूला रहता है, स्वार्थकी धुन्धसे ऊपर उठ जाता है, वह सन्ध्या-वन्दन न करता हुआ, कभी भक्ति-स्तोत्र न गाता हुआ भी प्रभुका सच्चा भक्त है।

मेरा ईश्वर तो यही है। जब मैं इसे अपने किसी अन्य भार्गवको दिखलानेकी चेष्टा करता हूँ तो यही कहकर दिखा सकता हूँ कि स्वार्थ, अहंकारके डट जानेपर,

अपने इस शरीरसे बाहर और जुदा, अपने-आपको देख लेनेपर 'सब जगह रमी हुई सब वस्तुओंको अन्दरसे मिलानेवाली जो एक सर्वगत वस्तुका अनुभव होता है वही परमेश्वर है।' इस प्रभुकी याद करके मैं अमर हो जाता हूँ। मरना-जीना एकसम हो जाता है। इस अपने प्रभुकी यादमें संसारका घोर-मे-घोर भी कष्ट ऐसा नहीं जिसे मैं सुखमें नहीं सह सकता। इसे देख लेनेपर (मेरी समझमें) मनुष्य किसी अन्यकी भक्ति नहीं कर सकता, ये मेरे प्रभु चुपकेमे मेरे ऐसे प्यारे और अजनीय हो गये हैं कि जब थोड़े क्षणोंके लिये भी मेरा बाह्य व्यापार बन्द होता है तो मेरा प्राण, मेरा मन, मेरी बुद्धि—ये सब-के-सब उस प्रभुका भजन करने लगते हैं, कुछ देर बाद शरीरका भी एक-एक अणु इस भजन-संगीतमें सम्मिलित हो बजने लगता है और जो कुछ दिन-रात बाह्य व्यापार करता हूँ वह सब भी उस प्रभुके लिये—उसकी प्रीतिकी भावनामें—किया करता हूँ। हे मेरे प्रभु! मेरा सब कुछ चौबोंसी घण्टे सर्वभावसे तेरे लिये अर्पित है। हे मेरे पाठक भाइयो! ईश्वर-भक्तिपर मैं इसके सिवा और क्या लिख सकता हूँ!

ईश्वर अनन्त है

(लेखक—पं० श्रीगंगाप्रसाद जी महता एम० ए०)



गणेशदेवके प्रसिद्ध दार्शनिक कवि ब्राह्मनिगने नीचे लिखी पंक्तियोंमें परमात्माके अस्तित्वके विषयमें अपने गम्भीर अनुभवका इसप्रकार उल्लेख किया है—

Though Master keeps aloof,
Signs of His Presence multiply
From roof to basement
Of the building.

कविके उक्त कथनका सारांश यह है कि विश्वका स्वामी यद्यपि स्वयं अलग रहता है तथापि उसके अस्तित्वके सूचक लक्षण इस विश्वके समस्त अंग-प्रस्थंगोंमें देख पड़ते हैं। यह सारा विश्व उस प्रभुकी रचना-चानुरीका निदर्शन है—उसकी कमनीय कलाका कौशल है। चित्रकारके समान उसने बिना किसी उपादानके इस अमृत और सुन्दर विश्वको मानो रचकर खड़ा कर दिया है। महात्मा कसीदासने ठीक ही लिखा है—

'केशव ! कहि न जाय का कहिये ।
देखत तब रचना विचित्र अति, समुत्ति मनहि मन रहिये ॥'

× × × ×

'निरुपादानसम्भारमभितावेव तन्यत ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाशक्त्याय श्रुतिने ॥'

यह परिरक्ष्यमान विश्व एक महान् आश्चर्य है। उसका रचना-क्रम विचित्र है। उसका निर्माण बुद्धि-पुरःसर हुआ प्रतीत होता है। उसके संगठनमें नियम और उद्देश्यकी हमें प्रतीति होनी है। यह सारा विश्व किसी अक्षर शक्तिके प्रशासनपर स्थित मालूम होता है—

'पतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गी द्वावापृथिव्यौ विभूते तिष्ठतः ।'

जैसे अग्निमे विस्फुलिंग और सूर्यमे किरणें प्रकट होती हैं और उनमें ही लीन हो जाती हैं वैसे ही उस स्वयं प्रकाश प्रभुमे यह सारा प्रपञ्च प्रकट होता है—

‘यथार्थिवाऽग्रेः सवितुर्ममस्तयो।

निर्यान्ति संयन्त्यसङ्कस्वरोषिषः ।

तथा यतोऽयं गुणसंप्रबाहो

बुद्धिर्मनःशानि शरीरसर्गाः ॥’

(गजेन्द्रस्तुति)

यह विश्व क्यों और किस क्रमसे प्रकट हुआ, इस प्रश्नके विषयमें मुक रहना ही अच्छा है। परमात्माकी ‘अघटितघटनापटोयसी’ मायाके कार्यको पूर्णरीत्या समझ लेना मनुष्यकी बुद्धिके बाहर है। उसकी पराशक्ति अनिर्वचनीय है—

‘न तस्य कार्यं करणं च विद्यते

न तत्समश्चाभ्यविकश्च दृश्यते ।

पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥’

(चैतान्धनर उपनिषद्)

यह जगत् परमाणुओंके आकस्मिक संपर्कमे नहीं बना है, परमाणुओंके आकस्मिक संयोगमे क्या यह ‘रचना विचित्र’ हो सकती थी? क्या महाकवि शेक्सपियरकी नाटकीय रचनाएँ, अंगरेजीकी वर्णमालाके २६ अक्षरोंके आकस्मिक संयोगमे उत्पन्न हो सकती थीं? ये कल्पनाएँ नितान्त युक्तिशून्य हैं। विश्वकी घटनाएँ नियमबद्धरूपमे चलती हैं। उसकी रचनामें क्रम देख पड़ता है। वह मचेत पुरुषकी कृति मालूम होती है। चेतन ही इस जगत्का निमित्त और उपादान कारण है। प्रकृति परमात्माके संस्कारका उद्गार है—‘स ऐलत लोकांशु सृजा इति ।’ यह सारा विश्व उसीमें ओतप्रोत है और उसमे जुदा भी नहीं। भगवान्ने गीताजीमें कहा है—

‘मत्तः परमरं नाप्यकिञ्चिदस्ति धनंजय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं मत्तु मणिगणा इव ॥’

परमार्थऽष्टिमे यह सारा विश्व हरिरूप है—

‘हिरैव जगत् जगदेव हरि-

हैरितो जगता नहि भिन्नतनुः ॥’

जगत् और जीवको हरिरूप कहनेका यही अभिप्राय है कि ये दोनों उसके ही अंश हैं जैसा कि गीतामें लिखा है—

‘यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्ध्वितमेव वा ।

तत्तत्त्वेनावगच्छ त्वं मम तेजोऽसम्भवम् ॥

अथवा बहुनतेन किं ज्ञातेन तवाग्नेन ।

विदम्याहमिदं कृच्छ्रमकांशनं स्थितो जगत् ॥’

जीव और जगत्को हरिरूप मानते हुए जीव और जगत्से हरिकी महिमाको परिमित करना उचित नहीं। श्रुति पुकारकर कहती है—

‘पतावानस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पूरुषः ।’

गीतामें कहा है—

‘नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परतप ।’

जो कुछ हमारे चर्म-चक्षुओंसे दीक्षता है उसमे भी अधिक आश्चर्यजनक ईश्वरकृत सृष्टियाँ विद्यमान हैं जो हमें बुद्धिगोचर नहीं होतीं—जो हमारी कल्पना-शक्तिकी पहुँचके बाहर हैं। महाकवि शेक्सपियरने यथार्थ लिखा है—

‘There are more things in Heaven and Earth, Horatio! thou are dreamt of in your Philosophy.’

उस प्रभुके ऐश्वर्य और माधुर्यका पारावार नहीं। जीव उस दिव्य उपांतिका विस्फुलिंगमात्र है। जगत् उसके जाज्वल्यमान तेजकी एक किरणमात्र है। यदि आकाशमें सहस्र सूर्य एक साथ उदित होकर अपना प्रकाश फैलावें तो कदाचित् उनका समस्त तेज परमात्माके विराट् तेजकी बराबरी कर सके—

‘दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्यगपटुत्थिता ।

यदि माः सदृशी सा स्याद्भास्तस्य महत्तमनः ॥’

ईश्वरको तत्त्व-दर्शियोंने द्विविधरूपमें अनुभव किया है। वे उसका ‘ब्रह्म’ और ‘आत्मा’ इन नामोंमे वर्णन करते हैं। वह बृहत् है और विश्वका उपबृंहण (वृद्धि) करने-वाला है इसलिये ‘ब्रह्म’ कहलाता है।

‘वृद्धत्वाद्वृद्धणत्वाच्च आत्मा ब्रह्मैव गीयते ।’

वह मनुष्यके अन्तर्जगत्का ‘साक्षी’ और ‘चेता’ है इसलिये उसे ‘आत्मा’ कहते हैं। वह सत्, चित्, अनन्त है। वह उपनिषदके महावाक्यके ‘तत्’ और ‘एवम्’ पदोंमे लक्षित होता है। वे ‘तत्’ और ‘एवम्’ ब्रह्म और आत्मा—एक ही हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

‘वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।

ब्रह्मेति परमात्मैति भगवन्निति शब्धत ॥’

उस परम तत्त्वको अपने संकीर्ण दृष्टिकोणसे देखनेके कारण हमें उसकी—

‘अणोरणीयान्महतो महीयान्’

—महिमाका परा-परा आभास नहीं मिल सकता । अतएव, श्रुतिमें 'सत्त्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' कहकर उसका निर्देश किया है । उसे 'अनन्त' अथवा 'भूमा' कहनेका यही तात्पर्य है कि इस किसी भी नाम, कल्पना अथवा विचार-सम्प्रदायसे उसका याथातथ्य वर्णन नहीं कर सकते । लार्ड टेनीसनने ठीक ही लिखा है—

'Our little systems have their day;

They have their day and cease to be;

They are but broken lights of Thee,
And Thou, my Lord, art more than they.'

मनुष्यके संकीर्ण और दिक्कालपरिच्छिन्न विचार पर-मात्माकी अनन्तताको, उसकी असंख्य विभूतियोंको तथा आश्चर्यमयी कृतियोंको समझ नहीं सकते ।

उस 'अनन्तके अनुकूल' होकर अथवा उस 'अनहद-नाद' के स्वरमें स्वर मिलाकर जीना और मरना मरणधर्माका पवित्र ध्येय होना चाहिये ।

ईश्वर-सिद्धि

(लेखक—रावबहादुर भाविन्तामणि विनायक बेघ, एम० ए०, एल.एल० बी०)



श्वर है या नहीं' इस विषयपर जगत्के विद्वानोंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । नास्तिक तो 'ईश्वरसिद्धि' कहते हैं और किसी भी शास्त्रीय प्रमाणसे ईश्वरका सिद्ध होना नहीं मानते । स्पेन्सर कहता है कि 'आदिकारण अज्ञात और अज्ञेय है ।' ईश्वरके लक्षणमें सभी एकमत हैं । ईश्वर जगत्-कारण और बुद्धिमान् है, ईश्वरकी यह कल्पना सर्वत्र मान्य है । परमात्मा परब्रह्म आदि शब्दोंमें ईश्वरका वर्णन किया गया है । सभी धर्म ईश्वरके अस्तित्वपर ही प्रतिष्ठित हैं । बह्मिक ईश्वरको माने बिना धर्मकी कल्पना ही नहीं हो सकती । ईश्वरके स्वरूप-पर मतभेद हो सकता है परन्तु ईश्वरके अस्तित्वपर किसी धर्मका मतभेद नहीं है । बहुत-से विद्वानोंका मत है कि शब्दप्रमाणके अतिरिक्त अन्य प्रमाणोंसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती । अनुमान, प्रत्यक्ष, उपमान-प्रमाणोंसे ईश्वर सिद्ध नहीं होता । वेदान्तसूत्रका आरम्भ ही इसी सिद्धान्तमें है । 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' इस प्रथम सूत्रमें इस विषयका उपन्यास करके दूसरे ही सूत्रमें ब्रह्मका यह लक्षण बतलाया गया है 'ज-मादि अन्य यतः अन्य जगतः जन्मादि जन्मस्थितिलयाः धन्य सकाशात् तदवस्था ।' अर्थात् इस जगत्की अहाँमें उत्पत्ति, स्थिति और लय होता है वही ब्रह्म है । इस व्याख्यामें ईश्वर-विषयक दोनों-तीनों प्रकारकी कल्पनाओंका अन्तर्भाव है । ईश्वरने जगत् निर्माण किया अर्थात् ईश्वर जगत्का कारण है । कारण दो प्रकारके

होते हैं—निमित्त और उपादान । बटर्हने रथ बनाया, इसमें बटर्ह रथका निमित्त-कारण है और किसी वृक्षकी लकड़ी उपादान कारण है । ईश्वर किसी सिद्धान्तमें केवल निमित्त-कारण माने गये हैं और किसीमें उपादान भी । बाइबलमें कहा है God said let there be water and there was water ईश्वरने कहा,—'बहाँ पानी हो, और पानी हो गया ।'

इसमें ईश्वरको केवल निमित्त-कारण बतलाया गया है और जगत्का निर्माण शून्यमें माना है । ईश्वरकी कल्पना-में अचिन्त्य शक्तिमत्त्व है अर्थात् वह शून्यमें भी सृष्टि-निर्माण कर सकता है परन्तु यह कथन अलौकिक है । उप-निषद्में पूछा है, 'कथमयतः सज्जायेत', और 'सदेव सोम्येवमग्र आसीत्' यह उत्तर दिया गया है । कुछ विद्वान matter अथवा chaos यानी प्रकृतिको ईश्वर-भिन्न मानकर यह कहते हैं कि ईश्वरने Chaos से सृष्टि बनायी, यही सिद्धान्त हमारे यहाँ सांख्य-तत्त्वज्ञानका है । सांख्य-का सिद्धान्त है कि प्रकृति और पुरुष विभिन्न हैं एवं पुरुष-सन्निधिसे प्रकृति अर्थात् जड़-प्रधान सृष्टि निर्माण करता है । परन्तु यह मत भी रुचिकर नहीं है ।

'प्रकृतिः पुरुषश्चैव विद्वयनादी उभावपि'

यहाँ दो अनादि पदार्थ मानने पड़ते हैं अर्थात् ईश्वर-के न निर्माण किये हुए अनादि पदार्थ मानने पड़ते हैं । यह भी सम्भव है क्योंकि ईश्वरकी कल्पनाको किसी संकुचित करनेमें कोई बाधा नहीं । तथापि इस अरुचिको स्वीकारकर अद्वैत-सिद्धान्त यह कहता है कि ईश्वर जगत्को

अपने ही शरीरमें प्रकट करता है। इसके लिये 'यथोर्ण-नाभिः' आदि दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। और ईश्वर ही निमित्त और उपादानरूपमें जगत्का कारण है। इसीको वेदान्त-शास्त्रमें 'अभिन्ननिमित्तोपादान' सिद्धान्त कहा है और—
'तदनन्यत्वमात्ममणशब्दादिभ्यः'

इस वेदान्तसूत्रमें इसका प्रतिपादन होता है। ये तीनों सिद्धान्त (१, ईश्वरने सून्यमें जगत् निर्माण किया, २, ईश्वरने matter अर्थात् प्रकृतिमें जगत् निर्माण किया और ३, ईश्वरने अपनेसे ही जगत्का निर्माण किया) वेदान्तके 'जन्माद्यस्य यतः' सूत्रमें युक्तिमें प्रतिपादित हुए हैं। यतःका अर्थ उपादान मुख्य है परन्तु निमित्त भी हो सकता है। 'येन' अथवा 'यस्मिन्' न कहकर 'यतः' कहना ठीक ही हुआ है।

ईश्वर अथवा प्रकृति जगत्का जगत् है, यह मूल कल्पना सब धर्मोंमें और प्राणीमात्रके हृदयमें जड़ जमाये हुए है। परन्तु बुद्धिमान् पुरुष पृच्छते हैं कि इस कल्पनामें प्रमाण क्या है? वेदान्तसूत्र इस प्रश्नका यही उत्तर देता है कि इसमें केवल शब्द ही प्रमाण है, इसके लिये प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान-प्रमाण नहीं हो सकते। शब्द-प्रमाणका अर्थ है—आप्तवाक्य-प्रमाण। अन्तर्दर्शी अतीन्द्रिय-ज्ञान-सम्पन्न ऋषियोंने ऐसा कहा है। यह उत्तर तीसरे सूत्रमें है 'शास्त्रयोनित्वात्' अर्थात् शास्त्र—वेद ईश्वरको जगत् जगत् बतलाता है। 'तत्तु समन्वयान्' इस चौथे सूत्रमें यह कहा है कि सारे शास्त्र-वचनोंका समन्वय करनेपर यही बात सिद्ध होती है। मन्त्र, ब्राह्मण और उपनिषद्ओंमें ऐसे अनेक वाक्य हैं जिनका समन्वय करना चाहिये। ईसाई और इस्लाम आदि अन्य धर्मोंके लोग बाइबल और कुरान आदि ग्रन्थोंको आप्त-प्रमाण मानते हैं।

निश्चय ही यही सिद्धान्त मानना होगा। ईश्वर प्रत्यक्ष-प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वह अतीन्द्रिय है। बुद्धिमान् मनुष्य भौतिक शास्त्री की रीतिमें ईश्वरकी खोजमें अर्हातक गये हैं वहाँतक उन्हें ईश्वरका पता नहीं लगा है। किसी नैयायिकको मृत्युकालमें यह कहा गया कि 'जगत्कारणं स्मर' उसने 'परमाण्वः' का स्मरण किया, ईश्वरका नहीं। पर आजका भौतिक शास्त्री तो इन अनेक परमाणुओंके भी परे Electron तक पहुँच गया है। किसी समय बहुत-से Elements माने जाते थे पर अब

एक Electron ही रह गया है, परन्तु वह Electron ईश्वर नहीं है। अभिप्राय यह है कि प्रत्यक्ष-प्रमाणसे ईश्वर सिद्ध नहीं किया जा सकता। अनुमान-प्रमाणका तो यहाँ अवसर ही नहीं क्योंकि ईश्वरके विषयमें व्याप्ति नहीं हो सकती। 'यच्च दृष्टं तदुत्पत्तिमत्, यथा रथः' इस व्याप्तिमें सृष्टि उत्पत्तिमत् है अर्थात् उसका कोई कर्त्ता है। परन्तु ईश्वरका कर्त्ता कौन है, यहाँ अनुमान कुण्ठित हो जाता है। बड़ईने रथ बनाया, वह रथका कर्त्ता हुआ और बड़ईका भी कर्त्ता ईश्वर है पर ईश्वरका कर्त्ता कौन है? ईश्वर एक ही वस्तु होनेसे यहाँ अनुमान-प्रमाणकी अवसर नहीं। यही हालत उपमान-प्रमाणकी है। क्योंकि ईश्वर निरूपमान है, उसमें कोई दृष्टान्त नहीं बैठता। प्रारम्भमें ऋषियोंने रथके उपमानसे ईश्वरकी कल्पना की थी और इसलिये रथकारकी भाँति ईश्वरको बुद्धिमान् माना है। क्योंकि जड़ (संख्या-का प्रधान) सृष्टिका कारण नहीं माना जा सकता। अनेक प्रकारकी कुशलतायुक्त सृष्टि-रचना देखकर (जैसे मनुष्य-का शरीरयन्त्र किसप्रकार सूक्ष्म और विभिन्न व्यापार-शक्तियोंमें युक्त है) आश्चर्य होता है। 'रचना-नुपपत्तेश्चानुमानम्' इस वेदान्तसूत्रमें यह बतलाया गया है कि जड़-प्रकृति इसप्रकार रचना-चातुर्य नहीं दिखला सकती। पाश्चात्य तत्त्ववेत्ताओंने ईश्वरकी सिद्धिके लिये इसीको Argument of design कहा है। ये सब प्रमाण ईश्वरकी सम्भवताको सिद्ध करनेवाले हैं परन्तु शास्त्रीय प्रमाणकोटितक नहीं पहुँचते।

इसप्रकार यह मानना पड़ता है कि ईश्वर-सिद्धिके लिये प्रत्यक्ष या अनुमानरूप शास्त्रीय प्रमाण नहीं मिलते। तथापि मेरा अपना ख्याम मत यह है कि इस विषयमें प्रत्यक्ष-प्रमाण भी मिल सकता है। सूक्ष्म रीतिमें उचित खोज होनी चाहिये। हम श्रद्धावान् लोग शब्द-प्रमाणको और ऋषि-मुनियोंके वचनोंको अवश्य सत्य मानते हैं, परन्तु यदि कोई वादी आकर पूछे कि 'अमेरिका है?' तो हम यही कहेंगे कि 'है' क्योंकि जिन लोगोंने जाकर अमेरिकाको देखा है उन आप्त—विश्वसनीय पुरुषोंके वचन हम मानते हैं। तथापि इसपर भी कोई शंका करे तो हम उसे जहाजमें बैठाकर समुद्रपर ले जाकर अमेरिका दिखला सकते हैं। इसी तरह हमारे ऋषियोंके अतीन्द्रिय-ज्ञानी होनेपर कोई शंका करे तो उसे हम अमेरिका ले जाकर दिखानेकी आँखि प्रत्यक्ष बसला सकते हैं या नहीं? यह

प्रश्न आता है। मेरी समझमें तो इसका यही उत्तर होना चाहिये कि 'हाँ, बतला सकते हैं।' अवश्य ही इस विषय-की विशेष खोज होनी चाहिये और भौतिक शास्त्र-वेत्ताओंकी चित्तवृत्ति इस ओर झुकनी चाहिये। यह मार्ग स्वप्न-सृष्टिका है। बहुत लोगोंको इस बातका अनुभव होगा कि प्रातः-कालके समय हम कोई-कोई स्वप्न देखते हैं जो सच निकलते हैं। एक समयकी बात है, मैंने प्रातःकालके समय स्वप्नमें एक मुर्देको ले जाते देखा और साथ जाने-वालेमें पूछनेपर यह मालूम हुआ कि अभी इनका देहान्त हुआ है। मैं यह स्वप्न देख ही रहा था कि चित्रशाला-प्रेसके स्वामी श्रीवासुदेवराव जांशीने आकर मुझको पुकारा कि 'उठो, चलो, दाम्ने सीताराम पन्तका देहान्त हो गया।'

मैं जग पड़ा और स्वप्नकी बात सत्य देख आश्चर्य करने लगा। विचार करनेपर इसका यही कारण प्रतीत हुआ कि प्रत्येक जीवात्मा परमात्माका अंश होनेके कारण विद्युत्-संदेशकी भाँति आवी बातोंमें परिचित होता है। स्वप्न-शास्त्रका भी यह मत है कि प्रातःकालके समय जो अकल्पित स्वप्न आता है। वह प्रायः सच होता है। मेरी समझसे इसका अनुभव करनेको सबानोंको होगा। तात्पर्य यह है कि ईश्वर सर्वव्यापी ज्ञानस्वरूप है और सृष्टिकर्ता एवं सृष्टिमें अभिन्न है, इसका अनुभव मनुष्यको होता है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है और ईश्वर-सिद्धिके सम्बन्धमें भौतिक शास्त्रज्ञोंके लिये सर्वथा विचारणीय है।

स्वराज्य

(लेखक—स्वामी श्रीप्रज्ञानपादजी महाराज)



वके प्रवृत्ति-निवृत्ति-मूलक प्रत्येक वृत्ति, स्पन्दन या कर्मके मूलमें प्रयोजन-बोध रहता है। प्रयोजन-बोध या तज्जनित संकल्प अथवा कामनाके बिना किसी जीवकी कोई भी क्रिया नहीं होती। इसीलिये कहा है—

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते

अतः जीव-जीवनकी मूल-वामनाओं (Instincts) पर विचारकर जीवनके सहज स्वाभाविक आदर्श या लक्ष्यपर पहुँचना युक्ति-युक्त और विचार-मिद्ध है।

जीवनकी सारी प्रवृत्तियोंका विद्ध्येण करनेपर पता लगता है कि उनके मूलमें, आहार, निद्रा, भय और मैथुन-का एक स्वाभाविक प्रयोजन-बोध है। कहा भी है—

आहारनिद्रामयैमैथुनश्च

सामान्यमेतत् पदुर्निर्गणान् ।

प्रवृत्तिका अर्थ है बाहरी जगत्की ओर गतिकी चेष्टा। परन्तु प्रकृतिका एक अलङ्घ्य नियम यह है कि ज्यों ही बाहरी ओर गति या क्रिया (action) होती है, त्यों ही उस बाह्य क्रियाके प्रतिकूल एक विपरीत क्रिया (re-action) उत्पन्न होती है। इस क्रिया और प्रतिक्रियामें गतिकी विपरीतता होती है पर मात्राकी समानता हो रहती है, (For every action, there is an equal and opposite re-action —Newton's third

law of motion') यह जड़-विज्ञानका मुख्य नियम है, प्रकृतिके समस्त अंगोंमें एक ही नियम कार्य करता है। अतः मानसिक-विज्ञान या अध्यात्म-विज्ञानका भी यह एक प्रधान नियम है। हमीलिये प्रत्येक प्रवृत्ति, प्रत्येक बाह्य-गति (——) के साथ-साथ उतनी ही निवृत्ति या अन्तर्गति (——) की भी उत्पत्ति हुआ करती है। यह प्रवृत्ति-निवृत्ति, सुख-दुःख, सम्पद्-विपद्, पाप-पुण्य, जन्म-मृत्यु आदिकी अविरल, अवच्छेदगर्हित घारा ही जीवन या संसार है। हमीलिये कहा जाता है संसार इन्द्रात्मक है—दोका ललाक्षेत्र है। संसारमें—जीवनमें जो कुछ हो रहा है, यह सभी इस प्रवृत्ति-निवृत्तिमूलक इन्द्रके अविवर्ज्य, रहस्यमय, परिवर्तनशील भावकी अभिव्यक्ति-मात्र है। हमी तत्त्वको बंग-कवि दूसरे शब्दोंमें कहते हैं—

सुख-दुःख दुष्टि भाई,

सुखेर लागिमाये कर पीरिनि, दुःख जाय तारे डाई—

अर्थात् सुख-दुःख दोनों भाई हैं, जो सुखके लिये सुखमें प्रेम करता है, दुःख उसके पास आप ही जा पहुँचता है।

इन्द्रकी यह विपरीत क्रिया, इतने अज्ञातरूपमें एवं इतने तीव्र वेगमें चलती है कि उसीका एक अंग होनेके कारण मन उसे पकड़ नहीं पाता। उसी प्रवाहमें बहा जाता है; मनको प्रवृत्ति-निवृत्तिका ऐकान्तिक, तात्त्विक या

एककाकीन बोध नहीं होता, यदि होता तो मन देखता कि जिस वही प्रवृत्ति उद्य होता है उसी क्षण उसनी ही निवृत्तिकी भी उत्पत्ति होनेसे प्रवृत्ति-निवृत्तिकी विपरीतता एवं समानताके कारण, वे प्रति मुहूर्त परस्पर ध्वंस हो रही हैं। (—) सुतरां उद्य या देश, काज, पात्र नामक कुछ भी नहीं रह जाता या नहीं है; खण्ड, सक्रिय, स्पन्दन-शील 'कुछ' भी नहीं है; है एक अखण्ड, शान्त केवल—जिसका इशारा श्रुति करती है—

‘तदेवावशिष्टः शिवः केवलोऽहम्’

—‘मैं शिव, केवल ही निर्य अवशिष्ट हूँ।’ मैं हूँ—
शून्य, शान्त, प्रज्ञानम्, ‘शान्तं शिवमद्वैतम्।’ मैं ही हूँ; दूसरा तो और कुछ भी नहीं है। ‘यदि और भी कुछ है’ ऐसा कहा जाय, तो वह भी मैं ही हूँ, मेरा ही नामान्तरमात्र है, इसीलिये तत्त्वदर्शी कहते हैं—

‘इहं आत्म-संस्थित कीराया निरोध, तव,

अहङ्कार-चित्त-बुद्धि-मन।

जनिने स्वरूप स्त्रीय, ब्रह्मा, विष्णु, आत्मा, शिव,

तोमारई वैदिक विशेषण॥

अर्थात् अहंकार, चित्त, बुद्धि और मनके निरोध करने-पर जब आत्म-संस्थित हो जाओगे, तब अपने स्वरूपका बोध होगा। उस समय जानोगे कि ब्रह्मा, विष्णु, आत्मा, शिव सब तुम्हारे ही वैदिक विशेषण हैं यही वेदोपनिषद् है, यही सम्बोध है, यही प्रज्ञान है। एकमात्र ‘अहम्’ ‘अहमस्मि’ और जिस किसीका ही अस्तित्व स्वीकार क्यों न किया जाय, वह भी मैं हूँ। केवलमात्र ‘सोहम्’।

यदि ‘इश्वर’ स्वीकृत है तो वह मैं हूँ। शेष सब इत्य-मात्र, मायामात्र है, कुछ भी नहीं है; मनके सामने, अपने ही सामने, अपना ही खेलमात्र है। यह केवल, शान्त, शिव स्थिति ही निर्य सत्य है। पर यह स्थिति मनके अगोचर है इसलिये प्रवृत्तिके साथ ही हम शान्त, शिव, केवल स्थिति-से बाहर निकलनेकी चेष्टाके साथ ही, इस चेष्टाको ध्वंसकर निर्य-स्थितिको स्थिर रखनेके लिये निवृत्तिका उद्य होता है। यह निवृत्तिका भाव सभी जीवोंमें है। अण्वक रूपसे जिसमें हम निवृत्तिकी तीव्रता होनी है, उसीका नाम है—मुमुक्षु। हम निवृत्तिका व्यक्त-बोध ही धर्म-बोध है। जिसमें हम ज्ञानका उद्य होता है वही मानव है, वही नर है। इसीलिये प्रवृत्तिका भाव है—

आहारनिद्रामयैमैथनञ्च

सामान्यमंतत् पशुभिर्नराणाम्।

और निवृत्तिकी वाणी है—

बभौ हि तेषामधिकं विशेषेण

वर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

आत्मेतर वस्तुमें—एक ‘मैं’ तत्त्वके सिवा अन्य किसी अज्ञानजनित कल्पित वस्तुमें श्रद्धा करने और द्वैत-बुद्धिका आश्रय ग्रहण करनेका नाम पशुता है; एवं अद्वैत ‘मैं’ में स्थिति प्राप्त करनेकी चेष्टाका नाम ही मानवता है; इसीसे श्रुतिका आदेश है—

‘आत्मेत्येवोपामीतात्र ह्यने सर्व एकं भवन्ति, ‘योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्वोऽहमस्मीति न स वेद, यया पशुरेव स देवानाम्’

और इसी बातको मीळाना रुमने बड़ी सुन्दर भाषा-में व्यक्त किया है—

तत्कृद् द रूहे हैदानी बुक्क

रूहे बाहिद रूहे इन्सानी बुअद्

—पशुमें द्वैतका ज्ञान और मनुष्यमें अद्वैतका ज्ञान रहता है।

द्वैत विषय या आत्मेतर वस्तुको सत्य जान उनके पीछे न दौड़कर अद्वैत, अविषय या आत्म-वस्तुमें स्थित होनेका भाव जीवमात्रका सहज स्वाभाविक धर्म है, परन्तु यह धर्म अव्यक्त भावसे रहता है, इसलिये उसके अस्तित्वका बोध प्रत्यक्षमें नहीं होता, इसीसे मनुष्य और पशुमें भेद है। पर-राज्य त्यागकर स्व-राज्यमें सुपतिष्ठित होनेकी चेष्टाका व्यक्त रूप ही मानव-जीवन है; इसीलिये ‘स्वराज्य’ मनुष्यका जन्म-सिद्ध अधिकार है। यही मानव-धर्म है, यही आर्य-धर्म है। और मनुष्य हम धर्मकी अभिव्यक्ति है इसीलिये मनुष्यका गौरव है। इसीसे भागवतमें कहा है—

सुद्धा पुराणि विविधान्यत्रयाऽऽत्मशक्त्यः,

वृक्षान् सरासुपपशून् खगदंशमत्स्थान्।

तैस्तैरतृप्तदयं मनुज विधाय.

ब्रह्मावबोधविषणं मुदमाप देवः॥

—मानवेतर सगुण सृष्टि करके भी ब्रह्माजीको तृप्ति नहीं मिली; तब अन्तमें उन्होंने बुद्धियुक्त विचारशील मानवकी सृष्टि करके तृप्ति प्राप्त की।

ईश्वर-स्वरूप

(लेखक—स्वामीजी श्रीसर्वदानन्दजी महाराज)



मनुष्य अल्पज्ञ है और समय-समयपर यह अपनी अल्पज्ञताका परिचय देता रहता है। इसी अल्पज्ञताके कारण वह कभी-कभी स्वयं सन्मार्गको छोड़कर विपरीत मार्गपर चलता है तथा औरोंको भी उस मार्गमें ले जानेका प्रयत्न करता है, जिसका फल अन्तमें दुःख उठाना होता है। उसकी यह अल्पज्ञता दो प्रकारकी होती है—एक, किसी वस्तुका यथार्थ ज्ञान न होना और दूसरी, किसी वस्तुको विपरीत समझना। इसमें पहली हानिकारक है और दूसरी दुःखप्रद। पहली दोनताकी जगती है तो दूसरी पराधीनतामें फैलती है। यह लोक-प्रत्यक्ष बात है।

ईश्वर वेदादि सत्छास्त्रप्रसिद्ध, अनन्तशक्ति, अनुल-बल, अद्भुत-महिमा, विश्वव्यापक, विश्वभर, विश्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्यामी, निराकार, निर्विकार, निराधार, धाता-विधाता, कर्मफलप्रदाता, निश्चय, निरञ्जन, न्यायकारी, पवित्र, विचित्र, सर्वमित्र, असहाय, एक और सच्चिदानन्द-स्वरूप है। एतद्विशेषणविशिष्ट ईश्वरका वेद पक्षपाती है। वह बतलाता है कि ईश्वर ही मंगलमय, मंगलस्वरूप और मंगलकारी है, उसीकी उपासना करनेसे मानव-समाजका कल्याण होता है। ईश्वर ही सबका इष्टदेव और उपास्य है। उसके यथार्थ स्वरूपको न जानकर पुरुष दुःख उठाता है, तथा उसके यथावत् ज्ञानसे मनुष्य सन्मार्गमें आकर सत्यप्रिय हो जाता है।

किसी कारणवश वेद-प्रचारके मन्द पड़ जानेसे जन-समाजको क्षिप्त-मिथ कर देनेवाले बहुमतवाद खड़े हो गये। मत-मतान्तरकी अधिकतासे एकता नष्ट हो गयी और मनुष्य-समाजका अहित होने लगा। वेद-प्रतिपादित ईश्वरस्वरूपको मूल जानेके कारण, मनमाना कल्पनाओं-से ईश्वर-स्वरूपका निरूपण होनेके कारण, तथा विपरीत मिथ्या विश्वासमें संलग्न होकर पारम्परिक ईर्ष्या-द्वेषमें भग्न होनेके कारण मनुष्य समस्त प्रकारके गौरवसे हाथ धो बैठा। सम्प्रदाय-भेदसे नाना प्रकारके बख्से उत्पन्न हो गये। यह सबको प्रत्यक्ष ही है।

ऐसी अवस्थामें यदि वर्तमानकालके नवयुवकोंके मनमें परमेश्वर-विचार-विषयक सन्देह उत्पन्न हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? सामान्यतः मनुष्य-समाज और विशेषतः युवक-समाजकी रुचि ईश्वरमें बढाये रखने तथा उन्हें प्रभु-प्रेमसे विमुख न होने देनेका एकमात्र यही उपाय है कि उनको ईश्वरका यथार्थ स्वरूप बतलाया जाय और सत्यासत्य-विवेक-विहीन मत-वादोंका दोष भी दिखलाया जाय। अन्यथा उनकी प्रकृति नास्तिकताकी ओर बढ़ती ही जायगी, बन्द न हो सकेगी।

इस ईश्वर-विचार-प्रधान देशमें ऐसी प्रकृतिका उठना निरूप्यन्देह ग्लानि और हानिकर है, इसलिये विद्वान् और विचारशील अनुभवो पुरुषोंको इस कुत्सित गतिके दूर करनेका यथोचित यत्न करना चाहिये, क्योंकि जो मनुष्य सन्मार्गमें दूर हो जाता है, उसे हृष्ट-उत्तर भटकना ही पड़ता है तथा उसका अन्तःकरण अनेक प्रकारके विचारों-का म्यान बन जाता है। आज अधिकांश मनुष्योंकी यही दशा है। ईश्वर एकतत्त्व, अपरिवर्तनशील तथा स्थिर-स्वभाव है; परन्तु जिज्ञासु जब उसके विषयमें कुछ जानना चाहता है तो उसे एक ईश्वरके विषयमें अनेक प्रकारके उत्तर मिलते हैं। ऐसी अवस्थामें नवयुवकोंके मनमें, जिनकी प्रकृति तत्काल तीव्र और उत्साहित होती है, इसप्रकारके विचार सहज ही उठने हैं कि 'या तो ईश्वर है ही नहीं और यदि है भी तो उसे कोई जान नहीं सकता, जिस मनुष्यके मनोराज्यमें जैसा जैचता है वह उसे वैसा ही मान लेता है, ईश्वरको मानना ही सब बखेड़ोंका मूल कारण है, इससे जन-समाजको नाना प्रकारके दुःख उठाने पड़े हैं, अतएव इसका परिस्थान ही ठीक है।' भारतवर्षमें तो इसप्रकारके विचार अभी संकुचित ही हो रहे हैं। परन्तु पाश्चात्य देशोंमें यह वृत्तिके रूपमें आकर अपना कटु फल भी प्रदान कर रहे हैं।

जब इसप्रकारके अमूर्ण विचार ईश्वरके विषयमें हो रहे हैं तब वेदप्रतिपादित दार्शनिक विचारसम्मत ईश्वरस्वरूपका निरूपण करना, तथा उसे ही एकमात्र उपास्यदेव मानकर उसकी उपासनाके लिये लोगोंको प्रेरित करना ही इस कुविचारधाराके रोकनेका उचित

उपाय जान पड़ता है। इसलिये ईश्वर-विषयमें वेदका विचार उपस्थित किया जाता है—

‘सर्वेषां वेदानां ब्रह्मणि तत्पर्यवसति।’

अर्थात् ‘साक्षात् वा परम्परा-सम्बन्धसे सब वेदोंका सात्त्विक ब्रह्मको जानने और उसकी प्राप्ति करनेमें ही है।’ जो पुरुष चारों वेदोंको पढ़कर उस परमेश्वरके जाननेका यत्न नहीं करता, वह मनुष्य-जन्मके यथार्थ उद्देश्यको पूरा नहीं करता है; अतएव वेद-पठनसे जो काम होना चाहिये उसमें वह बन्धित ही रह जाता है। वह जिन धर्मादि वस्तुओंके उपाजनमें सदैव तत्पर रहता है वह तो साथ नहीं देती हैं और जो साथ देनेवाकी वस्तु ही उसको वह प्राप्त नहीं करता है। अन्तमें वह अपनी बेसमझीपर पछताता और नयनोंमें नीर बहाता हुआ शरीरको छोड़ देता है।

स एव एक एव वृत्त एक एव तस्मिन् सर्वे देवा एकवृत्ता भवतीति।

अर्थात् परमात्मा एक है। एकको तीन बार कथन करनेसे यह सिद्ध हो रहा है कि वह परिणाम-विकारसे शुन्य सदा एकरस है, वह मोक्षस्वरूप है और अपने अर्कों-के लिये मुक्तिका दाता है। वह विश्वव्यापक है। जिज्ञासुका अन्तःकरण यदि सच्च, विशेष और धारणसे रहित हो तो उसे उसमें परमात्माके दर्शन होते हैं। सर्वाधार सर्वाधिकरणकी व्याप्तिमें ही समस्त ब्रह्मायुक्त व्याप्यरूपसे विशदमान है। व्याप्य-व्यापक भावके सम्बन्धसे एक होते हुए भी दोनों स्वरूपसे भिन्न हैं। इस आश्चर्यमय महान् शक्तिका प्रतिपादन वेद जिसप्रकार करता है वह युक्ति-युक्त है। संसारके विद्वान् अपनी-अपनी भाषामें वेदानुकूल ईश्वरका ही संकेत करते हैं। इससे कोई विमुक्त नहीं हो सकता। जो विमुक्त होता है वह दुःख उठाता है। यह तो एक ऐसी शक्ति है जो स्वीकृति (इच्छार) तथा अस्वीकृति (इनकार) दोनों अवस्थाओंमें प्रकट होती है।

वेदसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखनेवाला शास्त्र-शिरोमणि वेदान्तशास्त्र कह रहा है—‘जन्माद्यस्य भूतः।’ अर्थात् इस संसारकी उत्पत्ति, पालन और यथासमय संहार जिसके अधिकारमें है वह ब्रह्म है। इसी एक ब्रह्मके गुण-कर्म-भेदसे ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि अनेक नाम हैं। ईश्वर-सम्बन्धी प्रश्नका यह कितना महत्त्वपूर्ण उत्तर है, इसे सुनकर मनुष्य मूक हो जाता है, उसके मनमें हर्ष और

अथकी विचारधारा बहने लगती है। इसका वारम्बार जनन करनेसे मनुष्यके मनसे अनिष्ट-चिन्ता दूर हो जाती है तथा सत्यता, निर्भयता, सहिष्णुता और उदारताका अन्तःकरणमें प्रकाश होने लगता है। ईश्वरका यथार्थ विचार करनेसे मनुष्य प्राचीमात्रसे प्रेम करना सीखता है।

इसलिये जो मनुष्य ईश्वरकी उपासना, उसकी चर्चा तथा उसकी भक्तिका उपदेश जनतामें देता है उसका अन्तःकरण विनयभावसे युक्त तथा ईश्या-द्वेषादि दोषोंसे मुक्त होना चाहिये। परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता, प्रयुक्त इसके विपरीत उदाहरण मिलते हैं। निर्धन और अशिक्षित पतित पुरुष, जिनकी विचारशक्ति हिन्दू-समाजके पीछे चकती है तथा जो हिन्दू-समाजके धर्म और श्रमजीवी हैं उनके उत्थानका जब प्रश्न उठता है तो साधारण जन-समाज तो उनका साथ देता है, परन्तु ईश्वरके पुजारी ही इस कार्यमें बाधक होते हैं। ईश्वरका पूजन करे और उसका स्वभाव इसप्रकार सरलतासे दूर और कठोरतासे भरपूर हो तो बलकाइये लोगोंको किसप्रकार ईश्वरमें विश्वास और उसके पूजनमें रुचि हो सकती है? ईश्वर-भक्तके स्वभावमें सुदृढ़ता, बचनमें मजबूती और लोकहितकी प्रवृत्ति होनी चाहिये। भारतीय नवयुवक-समाजका ध्यान जो ईश्वरसे विमुख हो रहा है, उसका कारण यह तथा-कथित ईश्वरके पुजारी हैं जो अपनेको सर्वोपरि मान रहे हैं।

वह जन-समाज स्वयं पतित हो जाता है जो औरोंको पतितावस्थामें देखना चाहता है। जो यथार्थ ईश्वरका भक्त होता है उसके अन्तःकरणमें ईश्वरकी दयालुता, न्याय आदि गुण स्वाभाविक ही उपस्थित रहते हैं, वह दूसरोंको कष्टमें नहीं देख सकता; बल्कि स्वयं दुःख उठाकर औरोंका हित करना उसका स्वभाव हो जाता है। वह बात वेद-विहित ईश्वरके ज्ञानसे मनुष्यके मनमें जागृत हो जाती है। वेदोंमें इसप्रकारके उपदेश स्थान-स्थानपर मिलते हैं जिनका पालन करनेसे मनुष्यका अन्तःकरण विश्वप्रेमसे पुरित हो जाता है, इस बातके न जाननेसे ही संसारमें बलेड़े बढ़ते जा रहे हैं, तथा धर्मप्राण भारतीय नवयुवकोंकी विचारधारा भी विपरीतगामिनी हो रही है।

लोके ग्युत्पन्नस्य वेदार्थप्रतीतिः।

अर्थात् ‘जो मनुष्य लोक-व्यवहारमें चतुर होते हैं, वेदार्थका बथार्थ ज्ञान इन्हींको होता है,’ यह महाराम

कपिछका अनुशासन बड़ा ही महत्वपूर्ण है। वेद और श्लोकशक्तिमें कोई भेद नहीं है। जब वेदार्थका ज्ञान ही नहीं रहेगा तब तक्षिण परमात्माका यथार्थ बोध कैसे हो सकता है? यही कारण है कि विपरीत ज्ञानके फलमें पक्ष भारतवर्षमें बड़े-बड़े अनर्थ उत्पन्न होते जा रहे हैं। अतः

जो मनुष्य-समाज छोकम्पापरमें जितना ही मिथुण होता जायगा वह उतना ही वेदार्थके समीप होकर ईश्वरके यथार्थ स्वरूपको तथा उसकी प्राप्तिके मार्गको अनुभव करेगा। यह सत्य है और यदि इस विचारकी ओर गति हो तो संसारकी उन्नति निस्सन्देह है।

ईश्वर प्रत्यक्ष हैं

(लेखक—स्वामीजी श्रीसोमतीर्थजी महाराज)



सारकी ओर विचार करके देखनेपर चेतन-सत्ताकी स्थिति दो प्रकारकी दीख पड़ती है—अभिमानिकी रूपमें और आधेयके रूपमें। उदाहरणके लिये मनुष्यको ही लीजिये, वह अपने शरीरका अभिमानी है और पृथ्वीका आधेय है अर्थात् पृथ्वीके आश्रयपर ठहरा हुआ है। (शरीरके) अभिमानिकी शरीर-सम्बन्धी बाह्य क्रियाएँ बिना किसी श्रम या पक्के स्वभावतः हुआ करती हैं; अभिमानिकी उसने किये कोई यत्न नहीं करना पड़ता। जैसे हम लोगोंकी पलकोंके गिराने-उठाने, मल-मूत्र त्यागने, सोते समय करबट बदलने आदिमें किसी प्रकारके यत्नकी अपेक्षा नहीं होती है। यह सभी काम स्वभावतः ही होते रहते हैं।

हम देखते हैं कि आधारका प्रयोजन, केवल आधेयके भोगके लिये ही होता है। पृथ्वीके कारण हम सब भोग भोग सकते हैं और हमारे शरीरके आधारपर रहनेवाले जूँ तथा कीटाणुओंको हमारे शरीरहाग ही भोगकी प्राप्ति होती है। जिसप्रकार हमें पृथ्वीके माप, तौल, परिमाण आदिका ज्ञान नहीं होता, उसी प्रकार प्रत्येक आधेयको आधारके माप-तौलका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता है। हमारे सिरमें रहनेवाली जूँके लिये सिरके बाल वनस्पतिके तुल्य हैं; यदि उन्में संयोगवश पीठपर जाना पड़े तो उन्में यह एक वनस्पतिशून्य स्वरूप मैदानके ही समान जान पड़ेगा। अथवा यदि उन्में कानके भीतर जाना पड़े तो इसे वह एक बड़ी लम्बी-खोई अन्धकार-मयी गुफा समझेंगे। कहनेका तात्पर्य यही है कि हमारे शरीरके कीटाणु हमारे शरीरकी हृत्ताको उसी प्रकार ठीक-ठीक नहीं जानते जिसप्रकार हम लोग अपने आधार पृथ्वीकी हृत्ताको नहीं जानते हैं। जिसप्रकार हमलोग

खाना-पीना, शौचादि करना, सन्तानोत्पादन करना प्रभृति कर्म पृथ्वीपर अनायास करते हैं और पृथ्वीको कोई शरीर नहीं मानते उसी प्रकार जूँ, मांस तथा हथिरके कीटाणु अपने सभी प्रकारके कर्म हमारे शरीरपर करते हैं और हमारे शरीर नहीं, बल्कि पृथ्वी-जैसी बड़ी चीज़—आधार मानते हैं। हम इन कीटोंमें बने हुए कीटमय शरीरके अभिमानी हैं और पृथ्वीके आधारपर टिके हुए हैं। इसी प्रकार हमारे शरीरके समस्त कीट अपने-अपने शरीरके अभिमानी हैं और हमारे शरीरके आधारपर टिके हुए हैं।

अब यदि थोड़ा-सा और सूक्ष्म विचार करें तो जान पड़ेगा कि इन कीटोंका शरीर भी हमारे शरीरके समान ही सूक्ष्मतर कीटोंसे मिलकर बना है। क्योंकि यह निश्चय बात है कि प्रत्येक शरीरमें कीट होते हैं और कोई भी स्थान ऐसा नहीं जहाँ कीट न हों। सूक्ष्मबीक्षण यन्त्रसे देखनेपर यह जाना जा चुका है कि हमारे शरीरके रक्तके एक बूँदमें असंख्य कीटाणुओंके शरीर हैं, तथा साफ पानीके एक बूँदमें भी असंख्य कीट होते हैं। अन्त, हमारे शरीरके कीटाणुओंके शरीर अपर सूक्ष्म कीटाणुओंसे निर्मित हुए हैं तथा हमारे शरीरके कीटाणु उन सूक्ष्म कीटाणुओंके आधार हैं, एवं वे सूक्ष्म कीटाणु अपने-अपने शरीरके अभिमानी हैं।

यदि हमी प्रकार आगे बढ़ने जायें तो यह ताँता बढ़ीं जाकर खतम होगा जहाँ चेतन प्राणमय सत्ताके अतिरिक्त कुछ भी न बच रहेगा। यह चेतन-सत्ता उन सूक्ष्मातिसूक्ष्म कीटाणुओंसे लेकर हमारे शरीरतकमें झोतझोत है। बीचके समस्त अभिमानी शरीरोंका जरा-सा भी स्थान ऐसा नहीं, जो उस चेतन-सत्तासे रहित हो।

यह तो हुई सूझकी बात, अब ज़रा आइये बिभुकी ओर बढ़ें। पृथ्वी हमारा आधार है और हम उसके आधेय हैं। जिसप्रकार हमारे शरीरके आधारपर रहनेवाले आधेय-रूप कीटाणु हमारे शरीरसे पृथक् नहीं बल्कि इसके ही एक अंग हैं उसी प्रकार हम भी पृथ्वीके एक अंग हैं। और पृथ्वी भी एक शरीर है। वैदिक साहित्यमें सभी पदार्थोंका एक अभिमानी देवता माना गया है। मनुष्य-शरीरका अभिमानी देवता मनुष्य है, पृथ्वीका अभिमानी देवता पृथ्वी और सूर्यका अभिमानी देवता सूर्य है। जो होता है उसीका वह शरीर होता है और वह किसीका आधेय होता है। पृथ्वी एक अभिमानी आत्माका शरीर है जिसका आधार सूर्य है। सूर्य अपने शरीरका अभिमानी देवता है, जिसमें समस्त ग्रहमण्डलका समावेश हो जाता है, अतः उसका आधार कोई उसमें बड़ा मण्डल है। इसी प्रकार आगे बढ़ते जायें तो इस अनन्त विश्वका एक चरम सीमाका 'अर्थात्' निःसीम अभिमानी देवता मिलेगा। उमे ही हम ईश्वर कहते हैं।

वह ईश्वर सबका आधार है। उसका कोई आधार नहीं। यदि कोई उसका आधार होता तो वह उसको

भोग प्रदान करनेके लिये होता। जैसा हम पहले कह चुके हैं कि आधार आधेयके भोगके लिये ही होता है। परन्तु ईश्वर सर्वभय है अतः वह निराधार है।

ईश्वरको, जो समस्त विश्वका अभिमानी चेतनारमा है, संसारके सम्हालन करनेके लिये उसी प्रकार यत्न नहीं करना पड़ता है जिसप्रकार कि हमें आँखके भ्रूपकानेमें यत्न नहीं करना पड़ता क्योंकि उसकी बाह्य तथा आन्तरिक समस्त क्रियाएँ स्वाभाविकी होती हैं—

स्वामाविकी ज्ञानबलक्रिया च। (श्रुति)

भगवान्का निरूपण तो हुआ, परन्तु उसका प्रत्यक्ष कैसे होता है? ऊपरके विवेचनके पढ़नेसे स्पष्ट हो जाता है कि ईश्वरका प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि जब हम कहते हैं कि मनुष्य प्रत्यक्ष दीखता है तो इसका तात्पर्य यही होता है कि हम शरीर-विशिष्ट चेतन-सत्ताको प्रत्यक्ष करते हैं। केवल आत्मा कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः अब यह निर्विवाद मानना होगा कि यह समस्त विश्व ईश्वरका शरीर है और हमें शरीर-विशिष्ट ईश्वरका प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष हो रहा है।

भगवान् मेरे बगीचेमें

(लेखक—श्रीयुक्त मोर्टन अलेक्जेंडर, सम्पादक हथमानिया, अमेरिका।)

आज सुबह मैंने भगवान्के दर्शन किये। धन्य हैं वे आँखें जिन्होंने उस प्यारे मनमोहनकी छविको निहारना! अमल कालसे प्राण उसकी खोजमें छटपटा रहे थे। लोगोंने उमे पुकारते-पुकारते रात और दिन एक कर डाला।

उममेंमे कई चिन्ता उठे—'देखो, भगवान् ये रहे।' कोई दूसरा कहने लगा—'भगवान् यहाँ नहीं, वहाँ हैं।' परन्तु हाय! कोई भी उनका पता न लगा सका! रात्रिमें जिसप्रकार बालक नींदमें चिन्ता उठते हैं उसी प्रकार असंख्य प्राणी 'हे भगवान्! तुम कहाँ हो? सम्मुख क्यों नहीं आते?' इसप्रकार चिन्ताते-चिन्ताते अपनी दुःख एवं नैराश्यपूर्ण स्वल्प जीवन-लीलाको समाप्त करके चले गये परन्तु उसका पता नहीं पा सके।

खाखों दूसरे आई 'यह सत्र मिथ्या है, कहीं कोई ईश्वर नहीं है', इसप्रकार बिलखते-बिलखते और निराशा-के अन्धकारमें विलीन हो गये।

परन्तु मेरे प्यारे भाइयो! क्या ही अच्छा होना यदि आजके भाग्यदाली उषाकालमें आप मेरे साथ मेरे बगीचे-में चलते! अहा! मैंने उम प्रियतमकी छविको देखा ही नहीं, उसके हृदयहारी मन्द मधुर स्वरको इन भाग्यवान् कानोंमें सुना भी। इतना ही नहीं, मैंने उसके सलौने अंगोंसे प्रस्फुटित होनेवाली उल्लासजनक स्वर्गीय सुगन्धका भी अनुभव किया।

पहले मुझे सन्देह हुआ कि कहीं आँखें मेरी बख्शना तो नहीं कर रही हैं? क्या यह मधुर मूर्ति जिसे मैं देख रहा हूँ, सच्ची है? सामने आच्छादकी शाखापर नव किसलयोंके कोठमें बैठी हुई बुरबुर बोल उठी, 'क्या तुम नहीं देखते? क्या तुम नहीं देखते, यह वही तो है? निस्सन्देह वही है।'।

हँसाने क्या ही अच्छा कहा है—'वही लोग ईश्वरका साक्षात्कार कर सकते हैं, जिनका अन्तःकरण शुद्ध है।'।

कर्मफल ईश्वराधीन

(लेखक—पं० भीमदेवजी शास्त्री वैद्यतीर्थ)

अज्ञानाश्रयानस्य संशयात्मा विनश्यति ।

नयं कोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ (गीता)

सारमें आकर जो अज्ञ-अनजान रहेंगे, विध्याज्ञानमें फँसे रहेंगे, अथवा विज्ञ होकर भी अज्ञाह्वान-अज्ञाविहीन रहेंगे, अथवा संशयात्मा-सन्देहवादी बने रहेंगे किंवा सन्देह-सागरमें गोते खाते रहेंगे, ऐसे लोगोंको तो न यह लोक है, न परलोक है और न किसी प्रकारका सुख ही है ।

इसीलिये अज्ञानावस्थासे बाहर निकलनेके लिये अथवा विज्ञ रहने भी अज्ञाह्वान कोटि किंवा सन्देहवाक्-को मिटानेके लिये गीताने जो सुन्दर उपाय बतलाये हैं, वह ये हैं—

तद्विद्धि गणिनेन परिप्रदनेन सेवया ।

उपेक्षयन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

अर्थात् तत्त्वदर्शी, साक्षात्कृतधर्मा प्राप्त ज्ञानी पुरुषों-के पास आकर प्रणिपातसे (आत्मरिक्त अज्ञाका घोसक नमस्कार, अमिवाहनादि) सेवया-सेवासे क्योंकि—

यथा स्नानं स्निग्धेण नगे वार्धविगच्छति ।

तथा गुरुता विद्यां शुश्रूषितच्छति ॥

जिसप्रकार कुर्दको खोदनेवाला कुड़ाखीमे खोदता-खोदता कुछ काकमें अलको पाता है इसी प्रकार शुश्रूषुपुरुष गुरुता विद्याको प्राप्त करता है । प्रणिपात और सेवा इन दो आवश्यक साधनोंके साथ-साथ, परिग्रह अर्थात् जिज्ञासित विषयको स्पष्ट करनेके लिये, गुल्मे ठनकी बातको स्पष्ट करानेके लिये, विविध प्रश्न—इसप्रकार पुरुष विज्ञ, अज्ञान और संशयरहित बनकर इष्ट वस्तुको प्राप्त कर लेता या पर अथ बहुत परम्परा सुस-सो होती जाती है ।

अब ऐसी गुरु-शिष्य-परम्परा कम देखनेको मिलती है और विदेशी पद्धति एवं विदेशी शासनमें शिक्षा-प्रयाची भी विदेशी और अस्वाभाविक हो रही है, इसीलिये हममें देख-

के युवक स्वशिक्षा, स्वशास्त्र, स्वधर्म और स्वकर्मके गहन तत्त्वोंसे अनभिज्ञ, अज्ञाह्वान और संशयात्मा हो रहे हैं । इनके मस्तिष्कमें ऐसे ज्ञान-विज्ञान भरे अथवा ढूँँसे जाते हैं कि इनको न तो ईश्वरमें विश्वास रहता है और न कर्मफलमें वे कोई संशयात्मा बन जाते हैं, इसीलिये भारत दुखी है, यह नवयुवक सदा पूछते रहते हैं कि 'तुम्हारा ईश्वर कहाँ है ? जीता है या मरा है ? यदि जीता है तो फिर भारतकी दुर्दशा क्यों हो रही है ? यह दिन-दहाड़े अपत्याचार और अनाचार क्यों बढ़ रहे हैं ? धार्मिक भारत-वासियोंको, सांख्यिक भारतवासियोंको, दैवी सम्पदके उपासक भारतीयोंको ये—

‘ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्मुखी॥’

‘कोऽन्योऽस्ति सहशो भया’

‘प्रद्विपन्तोऽभ्यमुयकाः’

धामुरी सम्पदवाले क्यों दबोचे जा रहे हैं, क्यों लाये जा रहे हैं ? इत्यादि ।

प्रश्न करनेवालोंको यह विदित नहीं कि कर्मफल भी कोई वस्तु है और वह उस ईश्वरके अधीन है जो कि हमारे कर्मानुसार कभी हमारे प्रयत्नोंको सर्वथा निष्फल कर देता है, कभी प्रयत्नोंका फल बहुत देरमें देता है, कभी (प्रयत्नरूपमें प्राप्त नहीं पड़ता कि हमने कुछ किया किन्तु) बिना कुछ किये ही दोनों हाथोंमे फल देता है और हम चकित रह जाते हैं कि हमने न कुछ किया और न कराया, यैत-यैतमें यह फल कैसे मिल गया ? हम अज्ञ, अज्ञाह्वान, संशयात्मा यह नहीं जानते कि किसी समय, जन्म-अन्तर्गतमें सज्जन कर्मका यह फल आया है । हम यह समझते हैं कि किये जानेवाले कर्मोंका फल तुरन्त ही अपने सामने आ जाय तो ईश्वर है नहीं तो नहीं, यह हमारी मुर्खता है । अज्ञा अनन्त कर्माशयकी बातको तो हम कब जान सकेंगे जब कि हम इसी जीवनमें जीते-जी देखते हैं कि इस-पाँच सालकी बाततकको हम भूल जाते हैं । हाँ, अग्रजिग्रहमें सौर्य रत्नकेवाले घोषीअब अवश्य ही

जन्म-जन्मान्तरके कर्मोंको जान लेते हैं, पर वह भी पूर्ण रीतिसे नहीं—एक-दो जन्मके कर्मोंको जान भी लिया तो क्या बात हुई ?

प्रायः नवविश्वित यह कहते रहते हैं—यदि किया हुआ कर्म निष्फल नहीं जाता तो वह कर्म स्वयं जब चाहे, जिस रूपमें चाहे जितनी मात्रामें चाहे, फलेगा और अवश्य फलेगा। इसके फलनमें ईश्वरका अहंता क्यों लगाया जाय ? इन संस्थापनाओंको यह विदित नहीं कि जड़-कर्म चेतनाश्रयके बिना स्वेच्छामें फल नहीं दे सकते। यदि कर्मोंमें इसप्रकारकी चेतना-शक्ति होती तो सम्भवतः ईश्वरकी आवश्यकता न रहती, कर्म स्वयं ही एक दूसरा ईश्वर बन बैठता। इन लोगोंको यह पता नहीं कि कर्म करना, न करना, उल्टा करना, यह सब जीवार्थमाके अधीन है। इसलिये जीवार्थमा कर्म करनेमें स्वतन्त्र और फल भोगनेमें परतन्त्र है। इसीलिये वेदोंमें उपदेश दिया गया है कि—

कवञ्जवेह कर्माणि जिवीविवेच्यतः समाः।

एवं त्वाय नान्यथेतेऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

(यजुः—शंशोपनिषद्)

हे मनुष्य ! शुभ कर्मोंको करते हुए और फलकी इच्छा छोड़कर सौ वर्षतक जीनेका प्रयत्न कर, इसमें तुझको कर्म नहीं विपटंगे और तू भी कर्मजालमें जल-कमलवत् रहकर मुल-दुःखोंसे ऊपर उठेगा।

बात तो ठीक है, गीता भी ऐसा ही कहती है, उपनिषदोंका अस्पर्शवाद, गौडपादकारिकाका अलेषवाद, कर्मयोग आदिका यही अभिप्राय है क्योंकि फल अपने अधीन नहीं है। हम संसारकी घटनाओंको सूक्ष्म दृष्टिसे देखें तो विदित होगा कि कर्मोंकी विचित्र गति है। महाभाग्यकार पतञ्जलिने एक प्रसंगपर कहा है कि—

समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते
अपरे न तत्रास्माभिः किं कर्तव्यम् ।

छात्रोंमें समानरूपसे पढ़ने और प्रयत्न करनेवालोंमें कुछ तो उस अर्थको प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् उस विषयको जान जाते हैं, दूसरे कोरे बुद्ध रह जाते हैं। इसमें हम क्या करें ? यही बात दूसरी जगह हम प्रत्यक्ष-रूपमें देखते हैं कि एक ही वस्तुके लिये कोई और प्रयत्न

करके भी फलसे वञ्चित रह जाता है, कोई नाममात्र फल पाता है, कोई बहुत कुछ न करके भी न जाने बैठे-बैठे फल पा जाता है। कोई जन्मसे ही राजपुत्र, कोई जन्मसे ही त्रिप्रनारायण, कोई जन्मसे ही गायक, कवि, विद्वान्, बुद्धिमान् और कोई जन्मसे ही जड़ होता है। यह आर्थिक, बौद्धिक और भौतिक प्रकारकी विषमताएँ क्यों? सबका उत्तर एक है—कर्मफल। दूसरी ओर देखने हैं कि इसी जन्ममें किये गये बहुत-से कर्मोंके फल मिलते भी हैं, नहीं भी मिलते। यह क्यों ?—कभी-कभी उल्टे भी मिलते हैं, यह क्या आश्चर्य नहीं ? इसीलिये मानना पड़ता है कि कोई ऐसी अदृश्य शक्ति पीछे अवश्य है जो कर्म-सूत्रोंको हाथमें लेकर प्राणियोंको स्वेच्छापूर्वक कटपुतलीकी तरह नचाती रहती है। इसी बातको न्याय-दर्शनमें बहुत स्पष्ट किया गया है—

पुरुषपक्ष—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मापत्त्यदर्शनात् ।

(४।१९)

अर्थात् पुरुष जो प्रयत्न करता है वह आवश्यक नहीं उसका फल अवश्य ही पावे। इसमें ज्ञात होता है कि फल पराधीन है और वह जिसके अधीन है वही ईश्वर है।

उत्तरपक्ष—

न पुरुषकर्माभावं फलनिष्पत्तं ।

(४।२०)

यदि फल ईश्वराधीन है तो फिर पुरुषको बिना कर्म किये ही फल क्यों नहीं मिलता, बिना कर्मके ही फल मिलना चाहिये।

सिद्धान्तपक्ष—

तत्कारितत्वाद्देतुः (४।२१)

जब पुरुष प्रयत्न करता है तब यदि ईश्वर अनुग्रह करता है तो उसका फल मिलना है, यदि पुरुषके पुरुषार्थके साथ उसका (ईश्वरका) अनुग्रह न हो तो वह कर्म निष्फल जाता है—इसलिये तुम जो कह रहे हो कि बिना ही कर्मके ईश्वर फल देवे यह बात युक्तियुक्त नहीं।

इसपर कोई यह आपत्ति कर सकता है कि किया हुआ कर्म मष्ट हो जाय यह बात कैसे ? समझानेके लिये मोटी-सी बात यह कह सकते हैं कि पूर्व-जन्ममें तुमने

किसीके किये-कराये कामको बिगाड़ा था, इस जन्ममें तुमने इसी प्रकारका काम किया, तुमको तो बह बात—बिगाड़नेकी बात याद नहीं रही। पर न्यायकारी ईश्वर जानता है, उसने भी न्याय-परायणतासे तुम्हारा किया-कराया काम बिगाड़ दिया, खेल बिगाड़ दिया अर्थात् तुम्हारे कर्मको निष्फल कर दिया—इसीसे इसप्रकारके विफल कर्मोंकी बात समझ लीजिये। किसीने पूर्व-जन्ममें इतना अधिक पुरुषार्थ किया कि इस जन्ममें बिना पुरुषार्थसे ही उसको विपुल धन, विपुल सामग्री, विपुल बुद्धि, विपुल विद्या मिली। इसमें किसीसे ईर्ष्या-हाड़की अथवा ईश्वरको कोमते रहनेकी क्या बात है? मोटा-सा दृष्टान्त लीजिये—

एक किसानने खेतमें हल चलाया, बीज बोया, हट्टि भी हुई, फसल भी खड़ी हुई, पर देववश उमे कोई और ही काट ले गये अथवा वह स्वयं अचानक मर गया और उस फसलका उपभोग दूसरे ही ले रहे हैं जिन्होंने ज़रा भी पुरुषार्थ नहीं किया था। इसी एक दृष्टान्तसे प्रारब्ध, क्रियमात्र और सञ्चित कर्मोंकी बात समझमें आ जायगी। यह कर्म-मीमांसा और उसकी फल-मीमांसा इतनी गहन है कि भगवान् श्रीकृष्णको भी 'गहना कर्मणो गतिः' कहना पड़ा।

यह जन्म-चक्र-परम्परा भी इस कर्म-वैचित्र्यके कारण ही है। इसीलिये मनुष्य जो कर्म करता है—धर्म-अधर्म करता है उसके फलोंका नाम शास्त्रकारोंने 'अदृष्ट' रख छोड़ा है। 'अदृष्ट' अर्थात् जो देखे नहीं जाने किन्तु जिनको भुगनना पड़ता है। अदृष्ट संस्कारोंकी भी यही महिमा है। जब 'अदृष्ट' प्रतियन्धक पड़ जाते हैं तब पुरुषार्थ नहीं फलता। जब 'अदृष्ट' अनुकूल पड़ जाते हैं, जितने अंशमें अनुकूल पड़ जाते हैं उतने अंशमें फल भी मिलता है। इस अदृष्टचक्रका प्रवर्तक है वही न्यायकारी प्रभु। गीतामें इस बातको—

(१) अधिष्ठानं तथा (२) कर्ता (३) करणं च पृथग्विद्यम्; विविक्षाश्च पृथक् (४) चेष्टा (५) देवं चैवात्र पञ्चमम् ॥

—कहकर स्पष्ट किया है। किसी कार्यकी सफलताके पाँच कारण हैं (१) अधिष्ठान अर्थात् स्थान (२) कर्ता = करने-वाला (३) करण अर्थात् उपकरण (४) चेष्टा = प्रयत्न और (५) देव अर्थात् परमेश्वर जिसको हम देव कहते हैं वही देव है। इन पाँचोंमेंसे एक भी न रहे तो

कार्य विफल हो जाता है। प्रथम चार विद्यमान भी हों और पाँचवाँ नैव प्रतिकूल रहे तो सब अर्थात् अधिष्ठान, कर्ता, करण और चेष्टा विफल हो जाती हैं। एक कुम्हार मिट्टी, उपकरण अर्थात् दण्डादि सामग्री लेकर घड़ा बनाये बैठता है इतनेमें अदृष्टवश ऐसी आँधी घाती है कि उस आँधीसे पासके एक पेड़की बड़ी शाखा बने-बनाये घड़े पर आ पड़ती है और बना-बनाया घड़ा नष्ट हो जाता है। अथवा बने-बनाये घड़े छाँवेमें रख दिये और आँधा तैयार होने-पर देखते हैं कि आधा घड़ा पक गया, आधा कच्चा रह गया, अथवा घड़ा पक गया तो उसमें खीर पड़ गयी इसलिये कामका न रहा। कहिये कि नहीं देवविलसित? यही बात मनुष्य अपने प्रत्येक कर्ममें देखे तो न उसको हर्ष होगा न विषाद।

इसीलिये गीताने फलकी कामना छोड़कर निष्काम-भावसे कर्म करने रहनेका उपदेश दिया है। जब निष्काम-भावसे कर्म करोगे, फल मिले तो बाह्वा, न मिले तो विषाद नहीं; थोड़ा फल मिले तो भी सन्तोष रहगा। जिसने इस अदृष्टचक्रको समझा, जिसने कर्मकी गहन गतिको जाना, जिसने देवगतिकी पहचाना वह पुरुष जगद्गुरु है। जब अदृष्टचक्रका प्रवर्तक देव है—जैसा कि वेदान्त कहता है—युमाश्रुभक्ता प्रवर्तक वह है—तब क्यों न उसीपर सब कुछ छोड़कर हम निष्कामभावसे अपने कर्म करने रहें। जब हमारा कोई कार्य सफल नहीं होता तब हम समयको दोष देते हैं, ईश्वरको दोष देते हैं और प्रारब्धको कोसने लगते हैं। इसमें न समयका दोष, न ईश्वरका दोष, न प्रारब्धका दोष—यदि कुछ दोष है तो वह है कर्मदोष। बस, एक तथ्यको समझ लीजिये।

‘स्वकर्मभूतप्रतितां हि लोकः’

मुक्त-जैसा अवश्य इस विषयमें अधिक विवेचन करनेमें असमर्थ है। मैं गीता अध्याय १६ के एक वाक्यकी ओर अंगुलिनिर्देश करके इस लेखको समाप्त करता हूँ। वह वाक्य यह है और वह महत्वका है—

‘तस्मान्नाहं प्रमाणं ते’

अच्छा, समझकर! प्रत्येक कार्य करते हुए चाहे वह देसाका हो अथवा धर्मका, इस तत्त्वको न भूलिये। ईश्वरपर विश्वास रखिये और फलकी ओर न देख बेलटके आगे बढ़ते जाइये।

ईश्वर-समर्पण

(केलक—रूसी श्रद्धा श्रीनिकोलस रॉयरिक)



विक्षाकाशनवच्छिन्न सत्ता ! प्रकृति-
की साम्यावस्थामें जब जोम
हुआ उस समय तू विद्यमान थी;
समयके प्रवाहसे मी पूर्व तेरा
अस्तित्व था; तू निर्गुण है, तेरे
अन्दर तीनों शक्तियोंका समावेश
है; तू एक, सर्वव्यापक, चैतन्य
शक्ति है; तू नित्यरहित है, स्वयम्भू
है और अचिन्त्य है। तेरी सत्ता सब जगह परिपूर्ण है, सब
कुछ तेरे अन्दर समाया हुआ है, तू ही सृष्टिकी उत्पत्ति एवं
पालन करनेवाली है; तुझे हम ईश्वर कहकर पूजते हैं।

उपर्युक्त म्युति रूसके आर्थिकवि Dergavin के
अमर काव्यके (जो उसने सन् १९८४ में लिखा था)
प्रारम्भिक पद्यका भाषानुवाद है।

एक दूसरा रूसका महाकवि यों कहता है—

‘मैं गगनमयबलमें उस परमेश्वरकी छविको
देखता हूँ।’

गिरजाघरोंमें प्रार्थनाके समय निम्नलिखित वाक्यका
पाठ किया जाता है—

‘मेरा उस एक ईश्वरमें विश्वास है जो सर्वशक्तिमान्
पिता है और जो धावा, पृथिवी तथा प्रत्येक दृश्य एवं
अदृश्य पदार्थका रक्षयिता है।’

संसारकी समस्त जातियाँ अपनी-अपनी भाषामें उस
परात्पर पुरुषोत्तम, समस्त प्राणियोंके प्राण, सारी सत्ताओंके
आत्मारूप परमात्माको प्राप्त करनेके लिये ही अथक एवं
पवित्र प्रयत्न करती हैं। प्रत्येक पुरुष अपने-अपने संकुचित
हृदयमें तथा उस सौन्दर्य-राशि-विषयक परिच्छिन्न
ज्ञानकी सीमामें उस Elohim (परमेश्वर) के लिये
उत्तम-से-उत्तम नामोंका प्रयोग करता है। हम चाहते

* And in heaven I see God.

† ‘I believe in One God the Father,
Almighty, Creator of Heaven and Earth
and of every thing visible and invisible.’

हैं कि परमात्माकी पवित्र नामावली उत्तरोत्तर बढ़ती
रहे। जब हम उनको एकत्रित कर एक ही साथ उनका
उच्चारण करते हैं उस समय उनके अन्दर संसारकी सर्व-
श्रेष्ठ, सर्वोच्च वस्तुका मान होने लगता है, जिसके द्वारा
मनुष्यके मानसिक भावोंकी अभिव्यक्ति होती है और
जिससे म्यूल हाथोंपर पवित्रतम चित्रवर्ण लिखे जा सकते
हैं। जिस समय बालक नक्षत्रोंकी छटाका दर्शन करता
है और इसप्रकार अनन्त ग्रहायनोंकी श्रौर दृष्टिपात करता
है उस समय उसके मस्तिष्कमें उस सर्वशक्तिमान्
परमेश्वरकी पवित्र विकाररहित सत्ताका भाव अवश्य
जागृत होता है। इस उदात्त विचारमें उसके अन्दर वही
सनातन देदीप्यमान भाव उदित होता है जिसका वर्णन
निम्नलिखित पंक्तियोंमें किया गया है—

‘मेरे पिताके कई महल हैं।’

इसमें एक दूसरी उतिका भी समर्थन होता है जो
उत्तनी ही महान् एवं व्यापक है। वह इसप्रकार है—

‘परन्तु वह समय आता है और इस क्षण भी वर्तमान
है जब सच्चा पुजारी उस परम पिताकी सच्चं भावमें पूजा
करेगा क्योंकि वह पिता ऐसे लोगोंकी खोजमें रहता है,
जिनकी वह स्वयं सच्चं मनमें पूजा कर सके।’

A. H. cotton नामक विद्वान्ने ‘Has science
discovered God?’ (क्या विज्ञानने ईश्वरका पता
लगाया है ?) नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है
जो हालहीमें प्रकाशित हुई है। उस संग्रहमें मुख्य-मुख्य
वैज्ञानिकोंके ईश्वर-विषयक विचारोंका संकलन किया गया है।
उसके अन्दर Millikan, Einstein, Oliver Lodge,
Thompson, Byrd, Curtiss, Eddington,
Jeans, Mather आदि प्रसिद्ध विज्ञानविशारदोंके
विचार दिये गये हैं। इनमेंसे प्रत्येकने अपने ढंगसे
परमात्म-तत्त्वकी महिमा गायी है जो सबसे ऊँचा एवं
सबका समन्वय करनेवाला तत्त्व है और जिसके बिना
अनन्तताके महारवकी कल्पना भी असम्भव है।

वह समय अब नहीं रहा जब किसी झूठे वैज्ञानिक
अज्ञानके नामपर इस महान् तत्त्वका निराकरण किया

जाता था। मानव-जातिके इतिहासका परिशीलन करनेसे पता चलता है कि जब मनुष्यने अपने ही दोषोंसे अपनेको अज्ञानरूपी घोर अन्धकारसे घिरा हुआ पाया और अपने पार्ष्ववर्ती पदार्थों, महान् आकृतियों एवं मूल तत्वोंके अर्थको नहीं समझ सका तब उसने निराश होकर नास्तिकवादका आश्रय लिया। हमारे पूर्वज भी कभी-कभी इस अहंकारपूर्ण दृष्टि सिद्धान्तको मानने लगते थे कि हमारे अतिरिक्त किसीकी सत्ता नहीं है। समस्त दूरवर्ती लोकोंको वे अपने ही विनोदके निमित्त टिमटिमानेवाले दीपकमात्र समझते थे और सूर्यको भी वे अपने व्यक्तित्व आरामका साधन मानते थे।

बाजारफ़ (Bazaroff) नामक प्रसिद्ध नास्तिककी यह मूर्खतापूर्ण उक्ति थी कि मेरे मर जानेके बाद मेरी मिट्टीने केवल Burdock के फूल उगोंगे। परन्तु इस-प्रकारकी मूर्खतापूर्ण उक्तियोंसे कहनेवालेकी निरभिमानता प्रकट होती हो, सो बात नहीं है। वास्तवमें इसप्रकारकी उक्तियोंसे यह व्यवस्था करना चाहता था कि हमारे जब-शरीरके साथ ही हमारा भी अन्त हो जायगा। उन्ने अपने आपेक्षिक एवं भौतिक ज्ञानका बड़ा गर्व था। टर्जेनफ़ (Turgeneff) नामक उपन्यासलेखकने अपने प्रसिद्ध उप-न्यास 'Fathers and Sons' (पिता और पुत्र)में इसप्रकारके एक नास्तिकका वर्णन किया है। टर्जेनफ़ (Turgeneff) स्व जानता था कि इसप्रकारके सिद्धान्त कितने असम्पूर्ण होते हैं। एक दूसरे रूसी लेखक दोस्तोवस्की (Dostoevsky) ने इसी विषयपर एक उपन्यास लिखा है जिसमें उसने अविष्यमें होनेवाले नास्तिक किसानोंका एक उदाहरण दिया है। उसमें एक नास्तिक सिपाहीका वर्णन आता है जो गिरजाघरकी एक अत्यन्त पवित्र वस्तुको एक लम्बेपर रखकर उसपर गोली चलाता है। 'ईश्वर नहीं है' इस बातको अपने मनमें दृढ़ करनेके हेतुमें ही वह इस अपवित्र कार्यको करता है। उन्हीं ही वह यह कार्य करता है, त्यों ही अपने सामने ईसा मसीहकी-सी आकृतिको प्रकट होते देखना है। अविष्यमें आनेवाले नास्तिकवादके इस उदाहरणमें ईश्वरकी एक विचित्र प्रार्थनाका वर्णन है, जिसमें किसी पवित्र चिह्नके रूपमें चमत्कार दिखानेकी इच्छा प्रकट की गयी है और यह इच्छा मानव-हृदयके अन्तरगत प्रवेशमें सहासे बनी हुई है। इसप्रकार मनुष्य

अपने हृदयमें इस बातको समझता है कि विनाशका प्रत्येक रूप नास्तिकताका घातक है।

हमारे पास हालहीकी छपी हुई एक मार्केटी पुस्तक है जिसमें उन चमत्कारपूर्ण घटनाओंका वर्णन है जो पिछले वर्षोंमें हुई हैं। इस पुस्तकके अन्दर ऐसी अनेक घटनाओंका वर्णन है जो कई प्रायश्च-दर्शियोंद्वारा प्रमाणित हो चुकी हैं और जिनका समाचारपत्रोंमें भी उल्लेख हो चुका है। Lourdes नामक स्थानमें लोगों-को चमत्कारोंके द्वारा किसप्रकार स्वास्थ्यलाभ हुआ, इसका अन्य पुस्तकोंमें भी उल्लेख मिलता है। हमें यह भी पता लगा है कि सन् १९२५ ई० में वल्गा (Volga) नदीके तटपर स्थित Kostroma नामक नगरमें एक बृहत् साधु-का देहान्त हुआ। उसके पत्रोंमें हिमालयके तपस्वियों (Holies of Himavat) के आश्रमोंको कीन-सा मार्ग जाता है इसका वर्णन मिला है। इसके अतिरिक्त साइबेरिया-के कुछ लोग जो पुराने ईसाईमतको मानते हैं अब भी Belovodye (White Waters) नामक पवित्र तीर्थकी यात्रा करने हैं और ईश्वरके साथ ऊँचे-से-ऊँचा सम्बन्ध स्थापित करनेकी चेष्टा करते हैं। उसी मार्गमें 'Don-dam-donpa' ग्रामान् तिब्बतके बौद्धोंके अनुभव-का सघने ऊँचा ज्ञान प्राप्त होता है।

मनुष्य यदि विवेकहीन नास्तिकवादके मार्गको छोड़कर ईश्वरके मार्गपर आरुढ़ हो जाय जो ज्योतिर्मय सर्गारमक विचारका मार्ग है, तो उन्ने संसारकी सारी जातियोंसे ईश्वरकी सत्तामें असंख्य प्रमाण एवं उसमें विश्वास उत्पन्न करनेवाली अनेक सत्य घटनाएँ मिलने लगेंगी, जिनका महत्त्व शुद्ध अन्तःकरणवाले लोगोंपर तुरन्त प्रकट हो जायगा। वे सारी जातियाँ जो ईश्वर-प्राप्तिकी चेष्टा कर रही हैं और जो ईश्वरको प्रकट कर रही हैं, अपने मनमें यह भी जानती हैं कि उनका अविष्य बहुत उज्ज्वल है। सब अपने-अपने ढंगमें और अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार उसी उज्ज्वल अविष्यकी भाषा लगाये उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरसे दिल खोलकर प्रार्थना करते हैं। इस्फहानमें उस महापुरुषकी अगाधानीके लिये सकेद घोड़ा (White steed) अभीसे कसा-कसाया तैयार है। Hamadan का Rabbi यह कहेगा कि 'यदि तुम प्रकाशकी लोभमें

हो तो तुम भी Israel हो !* भारतवर्षके प्राकृण वसन्तऋतुके मये पुरपोंको लेकर तुम्हारे साथ भगवान् श्रीकृष्णकी अर्चा करने आ रहे हैं। उनमेंमे प्रत्येक मनुष्य जो अपने हंगसे उस श्रेष्ठ एवं प्रशस्त भविष्यकी प्रतीक्षामें लपोग कर रहा है ईश्वरको जानता है।

J. St. Hilaire द्वारा लिखित 'On Eastern crossroads' नामक प्रसिद्ध पुस्तकमें गुरु-भक्तिके विषयमें एक बड़ी भावपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक उक्तिका उल्लेख किया गया है जिसका भाव यह है—

“मुझे एक छोटी अवस्थाके हिन्दू-बालककी अच्छी तरह याद है जिसे गुरु मिल गया था। हमने उससे पूछा कि 'गुरुके अभावमें यदि तुम सूर्यकी ओर झाँको तो क्या तुम्हें सूर्यका प्रकाश साहस होगा ?'

लड़केने मुस्कराकर उत्तर दिया कि 'उस समय सूर्यकी सत्ता अवश्य रहेगी परन्तु अपने गुरुदेवके साक्षिभ्यमें मेरे लिये एक नहीं बारह सूर्योंका प्रकाश होगा।'

भारतवर्षके ज्ञानका सूर्य अवश्य चमकेगा क्योंकि नदीके तटपर एक ऐसा बालक बैठा है जो गुरुको जानता है।”

जो लोग विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न पुरुषोंका इसप्रकार आदर करते हैं उनके अन्दर ईश्वरकी सत्तामें अटल विश्वास प्रकट होता है। केवल विश्वास ही नहीं, उन्हें ईश्वरके स्वरूपका परोक्ष ज्ञान भी है ऐसा प्रतीत होता है। ज्ञानके अनन्तर ईश्वरकी खोज प्रारम्भ होती है और खोजमें उसकी अभिव्यक्ति होती है। ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है, कण-कणमें उसकी सत्ता व्याप्त है, इस बातको जान लेनेसे ईश्वरकी महत्तामें कोई अन्तर तो आता ही नहीं। बल्कि इस बातको जान लेनेपर सूक्ष्म-मे-सूक्ष्म अवस्थाओंमें, दूरवर्ती लोकोंमें, यहाँतक कि हमारे नेत्र जिन-जिन वस्तुओंको देखते हैं और हमारे हृदयके अन्तरतम प्रदेशमें हम जिस-जिस वस्तुका अनुभव करते हैं उन सबके अन्दर वास्तविकता आ जाती है। मनुष्यका हृदय सूर्योंका सूर्य है, वह उस सर्वशक्तिमान् प्रभुका मन्दिर है। सब पृथिवी तो विज्ञान और महान् धर्मोंमें चिरकालतक पार्यव्य नहीं रहता। शक्ति, रसिम, कहरें, स्वर और वे सारी

* 'You are also Israel if you search for the Light !'

५७

महत्ताएँ जो आँखोंमें नहीं दिखायी देती और जो ईश्वरकी वास्तविक शक्तिके चमकार हैं हमें इस बातके लिये प्रेरित करती हैं कि हम उनपर निष्पक्ष भावसे विचार करें, क्योंकि ऐसा करनेसे हम उस अनन्त ज्ञानार्णवके सम'प पहुँच सकते हैं, उन सबमें ऊँचे सुन्दर लोकोंमें जा सकते हैं जहाँ छोटे-छोटे सांसारिक भेद नहीं दीख पड़ते, जहाँ द्वेष और घृणाका अस्तित्व ही नहीं है किन्तु सर्गात्मक विचारकी प्रचण्ड ज्वाला जहाँ सदा प्रदीप्त रहती है और उस सर्वशक्तिमान्के महान् सङ्कल्पके प्रकाशमें प्रभुत्व-हृदयकी ज्वालासे मानवीय सङ्कल्प उदात्त हो जाता है।

अबतक पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने हृदयका व्यापार शरीर-तक ही सीमित बताया है, उन्होंने उसकी उच्चतर उप-योगिताको नहीं समझा है। हृदयका कार्य उन सूक्ष्माति-सूक्ष्म शक्तियोंका परिवर्तन करना है जो निरन्तर उसमेंमे होकर प्रवाहित होती रहती हैं और ज्ञानको परिपक्व एवं परिमार्जित करती रहती हैं। हिन्दुओंको प्राचीन परम्परा-से यह ज्ञान है कि मनरूपी दुर्धर्ष शक्तिका निवास हृदयमें है और यही कारण है कि वे लोग जब विचारकी बात करते हैं तब हृदयपर अपना हाथ रखते हैं। इसप्रकार मस्तिष्कका यन्त्र जिसे कभी-कभी लोग हृदयके व्यापारमें बलपूर्वक पृथक् कर देते हैं फिरमे वास्तविकताका सच्चा सहकारी बन जाता है और सहकारिताके इस भावमें आत्मा अर्थात् ईश्वरकी सर्वव्यापकताके महान् तरवकी अभिव्यक्ति होती है। सहकारिताका भाव जो मानव-जातिके उज्ज्वल भविष्यके लिये पूर्वनिश्चित है सच्ची ईश्वरानुभूतिके बिरकुल निकट है। जिन लोगोंकी आत्मा प्रबल होती थी वे ईश्वरका अनुकरण करनेके दायित्वपूर्ण कार्यसे भयभीत नहीं होते थे। Thomas a Kempis द्वारा रचित 'The Imitation of Christ' नामक पुस्तकमें अहंकारका भाव नहीं है अपितु उच्चतम सहयोगके लिये आह्वान है।

पूर्वीय देशोंमें प्राचीन कालमें ही ईश्वरकी भावना दृढ़ रही है, इसीलिये उन्हें इस बातकी देखकर आश्चर्य हुआ कि विज्ञान अपनेको ईश्वरमें पृथक् करनेकी चेष्टा कर रहा है। पूर्वीय देशोंमें हृदयको ईश्वरके निकट पहुँचानेवाली प्रथम सीढ़ी माना है। Mt. Sinai के तपस्वियोंने तथा सारे ऋषियों एवं धर्मप्रवर्तकोंने, जिन्हें ईश्वर-प्राप्तिका दृढ़

कग गया था, मानव-हृदयकी उन महान् शक्तियोंका पता लगा लिया था जो हमारे लिये आध्यात्मिक पथ-प्रदर्शक हैं।

स्वामी विवेकानन्दने ठीक कहा है कि कतिपय आधुनिक दार्शनिकोंने तत्त्वोंको समझनेकी शक्तिमें अन्तर होनेके कारण यह प्रश्न उठाया कि ईश्वर शब्दके स्थानमें किसी अन्य परिभाषाका रखना आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु उन विज्ञ स्वामीजीने यह निर्णय किया कि इस शब्दके अन्दर ऊँचे-से-ऊँचे मानवीय प्रयत्नोंकी शक्ति सन्निहित है, इसीलिये उसके गम्भीर वाच्यार्थमें परिवर्तन नहीं करना चाहिये। वास्तवमें इसप्रकारका निन्दनीय प्रयत्न उस आदियुगकी खोजके समान होगा जब मनुष्यका अन्तःकरण, जो कई प्रकारकी प्रारम्भिक परिस्थितियोंके बन्धनमें था, असीम महत्ताके तत्वकी अपनी पार्थिव एवं सापेक्ष बुद्धि और परिभाषाओंकी सीमामें छानेकी चेष्टा करता था।

परमात्म-तत्त्वका जिसके अन्दर ऊँचे-से-ऊँचे अनन्त गुणोंका समावेश है हम अपने पार्थिव एवं परिमित शब्दकोषके द्वारा वर्णन नहीं कर सकते। किन्तु हृदयकी भाषा इसप्रकार संकुचित नहीं है। वह उस भाषाके द्वारा असीमितके उस सर्वोच्च ज्ञानको समझ लेता है जिसकी रहस्यमयी श्वेतनारूपी कमल-कुहमलपर क्रीड़ा करती रहती है। मुझे स्मरण है कि एक बार मेरे स्वर्गीय प्रिय मित्र Alexander Block ने, जो एक प्रसिद्ध कवि थे Religious Philosophic Society (धार्मिक दार्शनिक परिषद्) में जाना छोड़ दिया था। जब छांगोंने उनकी अनुपस्थितिका कारण पूछा तो उन्होंने यह उत्तर दिया कि 'मैं वहाँ इसलिये नहीं जाता कि लोग वहाँ अनिर्वचनीयकी व्याख्या करते हैं ॥' उनके लिये यह महान् अनिर्वचनीय वाचामगोचर शक्ति वास्तविक थी। कविकी सूक्ष्म दृष्टिसे सम्पन्न होनेके कारण उन्हें यह बात बची छटतापूर्ण जघी कि इतने महान्, इतने सूक्ष्म एवं इतने अपरिच्छिन्न तत्त्वके विषयमें लोग वाक्कुलह करें, जिसकी पुकार केवल हृदयके कानोंको ही सुनायी देती है। ईश्वरके लिये हम चाहे कितने ही बड़े शब्दोंका प्रयोग क्यों न करें, उनके द्वारा

* Because they speak there of the Unspeakable.

उसकी वर्णनातीत महत्तामें परिच्छिन्नता आ ही जाती है, जो अस्तिकोंके लिये एक महान् दोष है। इस समय ईश्वरको, प्राचीन शास्त्रोंकी आज्ञाओंको, उस अनिर्वचनीय, वाचामगोचर वर्णनातीत अपरिच्छिन्न शक्तिको, उस वस्तुको जो हमारे निकटतम है तथा जिससे प्रत्येक मानवहृदय सर्व-हितका विचार करते समय परिपूर्ण रहता है, स्मरण करनेका खास अवसर है। शास्त्रके सर्वोत्तम आदेशोंमें ईश्वरकी सर्वव्यापकताका कैसा सुन्दर वर्णन है !

संसार अनेक प्रकारके सङ्घट्टोंमें छिन्न-भिन्न हो रहा है। इस विपत्तिमें, इस दैन्यावस्थामें आवश्यकता इस बातकी है कि एक बार फिर महान् ईश्वरीय तत्त्वका प्रचार हो। मनुष्य यदि उस तत्त्वका आंशिक अनुभव भी कर ले तो उसका जीवन नन्दनकानन बन जाय। जीवका ईश्वरमें विमुख होना, उस स्वतन्त्र, बन्धनरहित दैर्घ्यमान ज्ञानमें विमुख होना, पूर्णतः पूर्वनिश्चित आनन्दमें मुँह मोड़ना इस उपयोगी सांसारिक जीवनको शोकपूर्ण बना देना है। किन्तु हमारा भविष्य दुःखमय नहीं है, हमारे भाग्यमें विपत्ति नहीं छिबी है, हमारे लिये सर्वातिशायी आनन्द, सर्वात्मक विचारधारा एवं हृदयरूप मन्दिरमें निकलने-वाला सुखमय सौरभ ये सब निश्चित हैं। ईश्वरोन्मुख मनुष्योंको परिणाममें कभी दुःख नहीं मिलता, उनका निवाम सदा परिवर्तित परिश्रम एवं ज्ञानके सुखमय उद्यानमें ही होता है। कवि Derjavin अपनी ईश्वरविषयक कविता-को इसप्रकार समाप्त करता है—

'हे सृष्टिकर्ता ! मैं तेरी ही सृष्टि हूँ ! मैं तेरे ही ज्ञानका परिणाम हूँ ! तू जीवनके आनन्दमय स्रोतको बहानेवाला है, तू ही मेरी आत्माका जीवन है, उसका स्वामी है। तेरी विज्ञता यह चाहती है कि मेरी अमर सत्ता सृष्टिके अमानक गर्तमेंसे होकर गुजरे, मेरी आत्मा मर्यादोंकी सँर करे और सृष्टिके व्याजमें, प्रेषिता ! मैं तेरी अमनन्ततामें फिर समा जाऊँ !

ओ अनिर्वचनीय अचिन्त्यशक्ति ! मैं यह जानता हूँ कि मेरी आत्माकी कल्पनाएँ तेरी छायाको भी नहीं जान सकती। परन्तु यदि तेरी महिमाका गान ही किया जाय तो हम शक्तिहीन मर्त्यजीव इसमें बढ़कर तेरा क्या आदर कर सकते हैं कि हम अमर शरीर धारणकर तेरी दृष्टिसे ओझल हो जावें और तेरे लिये हुतज्वालाके आँसू बहावें !'

आन्तरिक ज्योति

(लेखिका—श्री लिलि एफ. एलन, धर्मपत्नी स्व० जेम्स एलन)



जब प्रातःस्मरणीय प्रभु ईसाभसीहने अपने शिष्योंमें यह कहा कि 'अपनी ज्योतिकी जनतामें इसप्रकार जगमगाने दो कि उसके द्वारा वे तुम्हारे सत्कार्यों को देख सकें और वे तुम्हारे रहनेवाले उस परम पिताकी महिमाका विस्तार हो, उनका अभिप्राय केवल स्व-कार्योंके प्रभावको बतलाना ही नहीं था। चिरकालतक हमारी यह धारणा रही कि उनकी इस उत्कृष्ट आशय केवल सत्कार्योंकी महिमाको बतलाना ही था, किन्तु कई वर्षोंके परिपक्व अनुभवमें जो दीर्घकालके मौन-साधन एवं ध्यानमें प्राप्त हुआ है, हमें यह ज्ञात हुआ है कि ईसाने सत्कार्योंमें प्रतिभासित होनेवाले प्रकाशमें विलक्षण किमी और ही प्रकाशका यहाँ संकेत किया है। पाश्चात्य एवं प्राच्य दोनों देशोंके धर्म-ग्रन्थोंमें ज्योतिका वर्णन आता है। उदाहरणके लिये निम्नलिखित वाक्यांश पर्याप्त हैं—

वह ज्योति जो मर्यादालोकमें आनेवाले प्रत्येक मनुष्य-को उद्भासित करती है (The light that lighteth every man that cometh into the world) आन्तरिक ज्योति (The Inner light) ईश्वरके मुखकी ज्योति (The Light of God's Face) इत्यादि। हमें अपने आन्तरिक अनुभवमें जब उस ज्योतिकी वास्तविक सत्ताका पता लगा, तभीमें हमारे ध्यानमें यह बात आ गयी कि जिन 'सत्कार्यों' का ईसाभसीहके उपर्युक्त वचनमें उल्लेख है वे उस ज्योतिका रूप नहीं, प्रतिबिम्बमात्र हैं। जीवका परमात्माके साथ निकट सम्बन्ध हो जानेपर अन्तरमें एक ज्योति जगमगाने लगती है और तब उसके तथा ईश्वरके मुखारविन्दके बीचमें कोई व्यवधान नहीं रहता। जब हमारा अन्तःकरण क्लमपहीन हो जाता है और हम पवित्रता एवं शान्तिके मार्गपर आरुढ़ होकर उस परम पिताके समीप पहुँच जाते हैं,

* Let your light so shine before men that they may see your good work and glorify your Father which is in Heaven.

उस समय हमें उस ज्योतिके सम्यक् दर्शन होते हैं। उस समय हमें उसके प्रसारका अनुभव होता है और हमें यह भी भान होता है कि दूसरोंको भी उसकी सत्ताका ज्ञान है। वह ज्योति अस्तिष्कके अन्दर वास्तवमें प्रदीप्त रहती है और चेहरेके प्रत्येक अवयवमें उद्भासित होती है। इतना ही नहीं, शरीरकी प्रत्येक चेष्टामें वह प्रतिभासित होती है।

ईसाभसीहने इस अन्तर्ज्योतिको 'विलक्षण नेत्र' के नामसे निर्देश किया है। उन्होंने एक स्थलपर कहा है—'तुम्हारे अन्दर जगमगानेवाली ज्योति यदि कहीं अन्धकारमें आवृत हो जाय तो बताओ वह अन्धकार कितना महान् होगा?' क्या हमलोग इस बातको नहीं जानते कि क्या वास्तविक पापाचरणसे—इन्द्रिय-परायणता, दुष्ट संकल्प, ईश्वरके अनुग्रहको प्राप्त करनेके साधनोंकी अवहेलना तथा ध्यान एवं प्रार्थनाकी आवश्यकताको भूल जानेके कारण हम उस प्रकाशको बुझा नहीं रहे हैं? हम जानते हैं कि हमारी क्रियाओं, संकल्पों एवं इच्छाओंमें वह प्रकाश शान्त हो जाता है। अधिक क्या, दर्पणमें यदि हम अपने मुखके प्रतिबिम्बको देखें तो हमें वह अन्धकार स्पष्ट दिखायी देगा, यद्यपि दूसरे लोग उस अन्धकारको नहीं देख सकें। वास्तवमें वह अन्धकार कितना महान् है! जबतक वह ज्योति फिरसे प्राप्त नहीं हो जाती तबतक आत्मामें कितनी पीड़ा और छटपटाहट रहती है! वह आन्तरिक ज्योति जिसके सम्बन्धमें योगियोंने तथा पुराने (Quaker) सम्प्रदायके अनुयायियोंने बहुत कुछ लिखा है, केवल आन्तरिक अनुभवकी अपेक्षा कहीं ऊँची वस्तु है। इन पंक्तियोंकी लेखिकाको लगातार कई वर्षोंमें मलीभौति यह विदित है कि जबतक आत्मा अपने अनुभवोंसे आज्ञानुवर्तिताका पाठ नहीं पढ़ लेता और उस ज्योतिको भीतर एवं बाहर निरन्तर जागृत रखने, उस पवित्र त्रीपको निरन्तर अखण्डरूपमें प्रदीप्त रखनेका उपाय नहीं जान जाता, जिससे कि वह सारे विश्वको उद्भासितकर उस परमपिताकी महिमाको बढ़ावे, वह प्रकाश कितनी ही बार बुझ जाता है।

वह ज्योति आध्यात्मिक नहीं है, प्रत्युत एक भौतिक ज्योति ही है, यद्यपि वह ऐसे सूक्ष्म तत्त्वसे बनी हुई है कि उसे कोई छू नहीं सकता और मनके अतिरिक्त कोई उसका नाश भी नहीं कर सकता। वह इतनी सूक्ष्म है कि वह स्थूल पदार्थोंके अन्दर प्रवेश कर सकती है, मांस और हड्डियोंके आवरणको भेदकर चेहरे एवं कपालके अन्दरसे दिवायी दे सकती है और जिस समय वह आरमाके स्नेहकी शक्तिको पाकर तेजीसे चमकने लगती है उस समय वह चारों दिशाओंमें फैल जाती है और अमावस्याकी रात्रिके अन्धकारको भी विदीर्ण कर सकती है। वह प्रकाश उस मनुष्यके चक्षुर्विशेष प्रस्फुटित होना

है जिसे उसपर अधिकार प्राप्त हो चुका है। जो लोग अन्धकारमें हैं और जिनपर मृत्युकी छाया पड़ी हुई है उनको प्रकाशका दान देनेका आधुनिक जगत्के साधारण धर्मोपदेशकोंने जो अर्थ समझा है उसकी अपेक्षा उसका वास्तविक अर्थ कहीं अधिक व्यापक है।

इन पंक्तियोंकी लेखिका इस बातको भलीभाँति जानती है कि मनुष्यको अपनी आरामसे समय-समयपर यह प्रश्न पूछते रहना चाहिये, जो उसके लिये अत्यन्त लाभदायक है—

‘क्या वह ज्योति तुम्हारे अन्दर स्पष्टतया उद्भासित है और संसारमें अपनी किरणोंका प्रसार कर रही है?’

ईश्वर-मीमांसा

(लेखक—मीठावालाप्रसादजी कानोबिया)

ध्वंयं वदन्ति शिवमेव हि कश्चिदन्ये

शक्तिं गणेशमपरे तु दिवाकरं वै ।

रूपेस्तु तैरपि विमोसि यतस्त्वमेव

नम्रात्तमेव शरणं मम चक्रपाण ॥



गुरुमें प्रायः सभी ईश्वरवादी हैं। कुछ लोग नर्कवाद या विद्या-बुद्धिके गर्वसे अनीश्वरवादको सिद्ध करनेका प्रयास करते देखे जाते हैं। परन्तु अन्तमें ईश्वरकी सत्ता सिद्ध हो ही जाती है। यदि कोई कहे कि मेरे मुखमें जीम नहीं है तो

उसका यह कहना निराधार है, क्योंकि उसके बोलनेसे ही जीमका होना सिद्ध है। इसी प्रकार यदि कोई यह कहे कि मेरे पिता हुए ही नहीं तो उसका यह कथन भी निराधार ही होगा, क्योंकि जब वह है तो अवश्य ही उसका जन्मदाता भी स्वतः सिद्ध है, चाहे वह उसको जाने या न जाने। यही बात ईश्वरके सम्बन्धमें है। जब कोई मनुष्य किसी घने जंगलमें आकर देखता है कि वहाँ एक मुन्दर मन्दिर बना हुआ है और उसके समीप एक सुरम्य वाटिका लगी है, जिसमें नाना प्रकारके फल-फूलोंके वृक्ष यथास्थान मुख्यवस्थित हैं, तथा जिसके एक ओर एक चिडियाखाना भी है, जिसमें विभिन्न प्रकारके पशु-पक्षी अलग-अलग विभागोंमें पिंजड़ोंमें बन्धे हैं, ऐसी अवस्थामें

उसे यह मानना ही होगा कि इन सबका बनानेवाला कोई अवश्य है। नियमित और मुख्यवस्थित कर्मके देखनेसे ही कर्ताका अनुमान होता है, यह स्वाभाविक है।

प्राचीन वैदिक युगमें एक समय इस जगत्को देखकर कुछ ऋषियोंके मनमें शंका हुई थी, उस समय उन्होंने जो निर्णय किया था उसका वर्णन खेताश्वतर-उपनिषद्में इसप्रकार है—

ॐ ब्रह्मवादिना वदन्ति ।

कि कारणं ब्रह्म कुत इमं ज्ञाता

जीवाम केन क च सम्प्रतिष्ठः ।

अधिष्ठिता केन मुखेऽरुण

वतामहं ब्रह्मविदा व्यवस्थाम ॥

अर्थात् ‘ब्रह्मवादी कहते हैं, क्या ब्रह्म कारण है? हम किससे जन्मे हैं? किससे जीते हैं? और किसमें कौन होते हैं? हे ब्रह्मवेत्ताओ! बताओ वह कौन अधिष्ठाना है जिसकी व्यवस्थामें हम मुख-दुःस्वामें बँटते हैं?’ इसके बाद स्थूलदृष्टिसे शीघ्र पढ़नेवाले मूल-कारणोंको प्रत्यक्षता स्वयं शंकायुक्त शब्दोंमें कहता है और साथ ही उनका निराकरण भी करता है—

कालः स्वभावा नियतिर्देहच्छा

मूर्तानि यानिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।

संयोग एषा नन्वात्ममात्रा-

दान्मात्प्यनंशः मुक्तुं ब्रह्मतेः ॥

अर्थात् क्या काल, स्वभाव, नियति, देहच्छा, मूर्तानि, संयोग एषा नन्वात्ममात्रा-दान्मात्प्यनंशः मुक्तुं ब्रह्मतेः

पञ्चभूत कारण है, या जीवात्मा कारण है? यह बात विचारणीय है। इनका संयोग भी कारण नहीं हो सकता क्योंकि ये अनात्म-पदार्थ अज हैं। और जीवात्मा भी सुख-दुःखमें छित रहनेके कारण सर्वशक्तिमान् नहीं है।

काष्ठ शब्दका अभिप्राय यही है कि समस्त सृष्टि-सम्बन्धी क्रियाएँ काष्ठ-विशेषमें ही होती हैं, जैसे सभी वस्तुएँ अपनी ऋतुमें ही उत्पन्न होतीं, फलती-फूलतीं और नष्ट होती हैं, इसीलिये कारणरूपमें काष्ठका अनुमान किया गया है।

पदार्थोंके स्वभावसे ही जगत्में मारी क्रियाएँ होती देखी जाती हैं, जैसे अग्निका स्वभाव जलानेका है और जलका गलानेका इत्यादि; अतएव स्वभावको कारणरूपसे अनुमान किया गया है।

नियति शब्दका अर्थ है होनहार। जैसे कोई मनुष्य पूर्ण सावधानीसे चला जा रहा है, अचानक वज्रपातसे उसकी मृत्यु हो जाती है और लोग कह उठते हैं, 'होनहार ही ऐसी थी।' इसी प्रकार अकारण ही नियतिरूपमें समस्त क्रियाएँ होती हैं, नियतिको कारण कहनेवाले ऐसा बतलाते हैं।

बिना चेष्टाके जो काम अपने-आप हो जाय उसे यदृच्छा कहते हैं, जैसे बिना किसी चेष्टाके किसी वस्तुका बीज किसी सुनसान स्थानमें पहुँचकर वृक्षके रूपमें उत्पन्न हो जाता है, इसी प्रकार यदृच्छामे जगत्का अस्तित्व है। ऐसा यदृच्छाको कारण माननेवाले कहते हैं।

भूतानि शब्दसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पञ्च महाभूतोंका ग्रहण होता है और पुरुष शब्द जीवात्माका घोटक है।

इसप्रकार कालादिको कारणरूपसे अनुमान करके उसका निराकरण भी इसी श्लोकमें कर दिया गया है। अर्थात् यह सब जड़ होनेके कारण कर्त्ता नहीं हो सकते, तथा जीवात्मा चेतन होनेपर भी अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान् एवं सुख-दुःखका भोक्ता होनेके कारण कर्त्ता नहीं है। इसप्रकार मूल-कारणका निश्चय न होते देख ऋषियोंने ध्यानमग्न होकर देखा—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्य-
न्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।

यः कारणानि निःशक्तानि तानि

कालात्मयुक्तान्यर्थादित्येव ॥

अर्थात् 'तब उन लोगोंने ध्यानयोगमें मग्न होकर अपने गुणोंमें छिपी हुई परमात्मशक्तिको देखा। जो स्वयं काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पञ्चभूत तथा आत्मारूप समस्त कारणोंके एक ही कारणरूपमें अधिष्ठित है।'।

इसप्रकार शास्त्रोंमें जगत्की उत्पत्तिमें मूलभूत अन्य सब कारणोंका निराकरण करके एकमात्र ईश्वरको ही आदि-कारण सिद्ध किया है। इसपर यदि कोई कहे कि हम शास्त्रोंकी बात नहीं मानना चाहते, तो उमे तर्क और युक्तिद्वारा भी ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार करना पड़ेगा। जो नार्मिक विचारवाले जगत्की उत्पत्तिका मूल-कारण प्रकृति (Nature) को मानते हैं, ईश्वरको नहीं मानते, उनसे यह पूछा जा सकता है कि, 'क्या सृष्टि सुव्यवस्थित, नियमित और ज्ञानपूर्वक है अथवा अव्यवस्थित, अनियमित और अज्ञानपूर्वक?' इसका उत्तर यदि यह मिले कि, वह अव्यवस्थित, अनियमित और अज्ञानपूर्वक है, तो यह सर्वथा असंगत होगा क्योंकि लोकमें इसके विरुद्ध देखा जाता है। जगत्में कोई भी कार्य अव्यवस्थित नहीं है, बल्कि जिस वस्तुकी जहाँ आवश्यकता है वही वहाँ रक्खी गयी है। जीवोंके अङ्ग-प्रत्यङ्गमे लेकर समस्त ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति सुव्यवस्थित और नियमित देखी जाती है। सूर्य-चन्द्र आदि समस्त ग्रहोंका एक निर्दिष्ट गतिमें बतना, उनका क्रमानुसार उदय-अस्त होना, ऋतुओंका नियमित-रूपसे आना, अपने-अपने बीजसे वृक्ष और प्राणियोंका उत्पन्न होना, पाप-पुण्यका यथोचित फल यथा-समय बलात् प्राप्त होना, ब्रह्माण्डके समस्त स्थावर-जंगम जीवोंके लिये जीवन-धारणोपयोगी जल, वायु, आहार आदिकी यथायोग्य व्यवस्था इत्यादि अनेक प्रकारकी सुव्यवस्थाएँ देखी जाती हैं जिनको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता और न उन्हें अनियमित ही कह सकता है।

जो व्यवहार प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर और ज्ञानगोचर होता है उसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं होती; तथा जो कार्य नियमित और सुव्यवस्थित होता है वह ज्ञानपूर्वक ही माना जाता है और इसप्रकार उसका कर्त्ता भी अवश्य होता है। क्योंकि अज्ञानपूर्वक और प्रकृतितः हुए कार्यमें व्यवस्था और नियम नहीं रह सकते। अतएव यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सुव्यवस्थित और सुनियमित सृष्टि ज्ञानपूर्वक होती है। इसप्रकार प्रकृतिको सृष्टिका

मूल-कारण माननेवालोंको यह मानना पड़ेगा कि या तो प्रकृति (Nature) चेतन है या स-चेतन ।

यदि प्रकृतिको चेतन मान लिया गया तो ईश्वरकी सत्ता स्वीकृत हो गयी । तब केवल नाममात्रका ही भेद रह जाता है अर्थात् नामिक उसी चेतन सत्ताको प्रकृति कहते हैं जिसे शास्त्र ब्रह्म, परमात्मा, ईश्वर प्रभृति नामोंसे पुकारते हैं । केवल नाम-भेदसे वास्तविक भेद नहीं माना जाता, क्योंकि जगत्में देश, जाति, भाषा और सम्प्रदाय-भेदसे सृष्टि-कर्ताको अनेक नामोंसे सम्बोधन किया जाता है । और यदि पूर्वपक्ष प्रकृतिको चेतन न मानकर स-चेतन मानता है तब भी अनीश्वरवाद सिद्ध नहीं होता, क्योंकि चेतनायुक्त प्रकृतिको स्वीकार करना स्वविशेष परमात्माको स्वीकार करना है । शास्त्र भी कहते हैं कि प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन है, जड़-चेतनके संयोगसे जगत्की उत्पत्ति है ।

यावत्संजयं किञ्चित्सत्त्वं स्याद्वरजगमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्प्रकृतिः सततधनम् ॥

(गीता १२।२६)

अर्थात् 'हे अर्जुन ! यावत् किञ्चित् स्थावर-जंगम वस्तु उत्पन्न होती है, उस सबको तू क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न हुआ ही समझ ।' तात्पर्य यह है कि प्रकृति और पुरुषके पारस्परिक सम्बन्धसे सम्पूर्ण जगत्की रचना है । अतएव सब प्रकारसे यह मानना पड़ता है कि सृष्टिका मूलकारण परमात्मा है ।

कोई-कोई मनुष्य ऐसा भी कहने लगे कि यदि ईश्वर है तो हम उसे देख क्यों नहीं पाते ? हमका उत्तर यह है कि जगत्में ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं जिनको हम प्रत्यक्ष नहीं देखते, पर उनकी सत्तामें निश्चिन्तरूपसे विश्वास करते हैं । जैसे, वृद्धमें व्यापक सम्बन्ध, काष्ठमें स्थित अग्नि इत्यादिको हम प्रत्यक्ष नेत्रोंसे नहीं देखते, पर इनके अस्तित्वमें हमें तनिक भी सन्देह नहीं होता और साधनके द्वारा हम इन्हें प्रकट करके प्रत्यक्ष भी देखते हैं । इसप्रकार जब सांसारिक वस्तुओंके प्रत्यक्ष न होनेपर भी उनका अस्तित्व माना जाता है तब ईश्वरके, जो युक्ति, अनुमान तथा शास्त्रसे सिद्ध है, अस्तित्वमें क्योंकर सन्देह हो सकता है ? साथ ही ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि साधनद्वारा ईश्वरका भी प्रत्यक्ष होता है ।

वस्तुतः अमित्य जागतिक पदार्थोंकी सत्ताके अनुस्यू ईश्वरकी सत्ताको प्रमाणित करना ठीक नहीं है । क्योंकि जितने जागतिक पदार्थ हैं, जिनकी सत्तामें हमें रह विश्वास है तथा जो इन्द्रिय-गोचर भी हैं वे सभी भाविक, अनित्य, परिणामी, क्षणभंगुर और नाशमान हैं । इसके विपरीत ईश्वर नित्य, सत्य, अपरिणामी और अविनाशी है । ईश्वरके इस बिलक्षण रहस्यको धीरे-धीरे ज्ञानी पुरुष ही जान सकते हैं । श्रीभगवान् गीतामें स्वयं कहते हैं—

नास्तो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत ।

उभयोरपि दृष्टाऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

(२।१६)

अर्थात् 'असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है और सत्का अभाव नहीं है, इन दोनोंका तत्त्व ज्ञानी पुरुषोंद्वारा देखा गया है ।'

तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष कहने लगे कि एक परमात्मा ही इस इश्य जगत्का आधार और स्वरूप है अर्थात् यही हमका अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण है । अभिन्ननिमित्तोपादान-कारण उसके कहने लगे जो स्वयं निमित्त-कारण भी हो और उपादान-कारण भी । घटका उपादान-कारण मिट्टी है, और निमित्त-कारण कुम्भकार, चक्र आदि हैं । वस्तु जिसमें बनती है वह उपादान कहलाता है । वस्तु कार्यरूप होती है और उपादान कारणरूप होता है, जैसे मिट्टीमें घट आदि बनते हैं, इसमें घट कार्य है और मिट्टी उपादान-कारण है । घट बान्धवमें मिट्टी ही होता है, क्योंकि कार्य कारणसे निम्न अथवा विज्ञानीय नहीं होता । निमित्त-कारण उसे कहते हैं जिसकी सहायतासे कार्यकी उत्पत्ति होती है । जैसे घटकी उत्पत्तिमें उपादान-कारण मिट्टी है, परन्तु मिट्टी स्वयं घटरूप नहीं बन जाती, बल्कि घटके बननेमें कुम्भार, चक्र आदिकी सहायता अपेक्षित होती है, अतएव यहाँ कुम्भार, चक्र आदि निमित्त-कारण हैं । वेदान्तके अनुसार इस जगत्की उत्पत्तिमें परमात्मा स्वयं ही उपादान और निमित्त-कारण है, इसीलिये उसे अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण कहा जाता है । श्रुति कहती है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

अर्थात् 'वह परम अक्षर सच्चिदानन्दधन परमात्मा पूर्ण है, यह जगत् (भी) पूर्ण है (क्योंकि) पूर्ण ब्रह्मसे

(ही यह) पूर्णरूप जगत् निकलता है। यह पूर्ण जगत् पूर्ण ब्रह्म परमात्माको लेकर (पूर्ण ब्रह्म परमात्मामें ही अनन्यभावे स्थित रहनेके कारण) पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशिष्ट रह जाता है।' तथा—

सर्वं सत्त्विद्रं ब्रह्म तज्जगन्निति शान्त उपासीत'

अर्थात् 'यह सब ब्रह्म है, उस ब्रह्ममें ही इस जगत् की उत्पत्ति है, उसीमें इसकी स्थिति है और उसीमें इसका लय होता है। अतएव शान्त होकर उस ब्रह्मकी उपासना करनी चाहिये।' इत्यादि अनेक वचनोंमें ईश्वर ही जगत्-रूपमें प्रतीत होता है, यह बात सिद्ध होती है। परन्तु 'ईश्वरके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है' यह धारणा तत्त्व-ज्ञानके बिना नहीं हो सकती। तथापि शान्तिपूर्वक विचार करनेमें यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि इस जीवका ईश्वरके साथ अनिर्दिष्ट कालमें एक अखण्ड सम्बन्ध चला आ रहा है और उसमें कोई भी जीव किसी प्रकार अलग नहीं हो सकता, क्योंकि जीव ईश्वरका ही अंश है।

मगवान् कहते हैं—

ममैवांशो जीवत्वात् जीवमृत. सनातनः।

(गीता १५।७)

अर्थात् 'इस देहमें जीवामा मेरा ही सनातन अंश है।' गो० तुलसीदासजीने भी कहा है—

ईश्वर अश जीव अविनाशी। चेतन अमर महज सुखराशी॥

इसीलिये जीव अज्ञातरूपमें ईश्वरको मानता हुआ साधारणतः उसकी ओर आकर्षित भी होता है। जैसे सोया हुआ पुरुष जाग्रत-अवस्थामें व्यवहृत वस्तु अथवा विशेष सम्बन्धवाले मनुष्यका नाम अज्ञानतः भी कभी-कभी बोल उठता है, इसी प्रकार ईश्वरकी सत्ता न माननेका अभिमान करनेवाला पुरुष भी जब विशेष आपत्तिमें प्रसूत हो जाता है तो अनिच्छापूर्वक भी ईश्वरको पुकारने लगता है। एक नास्तिककी कहानी प्रसिद्ध है। एक बार वह जहाजमें बैठकर कहीं जा रहा था। उसी समय समुद्रमें एक भारी तूफान आया और वह जहाज डूबने लगा तब तो उस नास्तिकके मुँहसे भी बरबस यह आवाज निकल पड़ी कि 'हे अगवन्! इस विपत्तिसे बचाओ।'।

इसप्रकार सामान्यतः (इच्छा या अनिच्छासे) नास्तिक-नास्तिक सभी ईश्वरको माननेवाले ठहरेंगे। परन्तु वस्तुतः विचार करके देखा जाय तो यथार्थरूपसे ईश्वरको

माननेवाले बहुत कम मिलेंगे। क्योंकि जो लोग 'ईश्वर है' ऐसा कहते हैं, वे भी अधिकांशमें सचमुच ईश्वरको माननेवाले नहीं ठहरते। ईश्वरके माननेवालेके प्रधान लक्षण हैं—पापाचरणसे निवृत्ति, सदाचरणमें प्रवृत्ति, ईश्वरमें प्रेम, दुःख और हानिमें उद्वेगशून्यता और अचल शान्ति। यह सब लक्षण अर्कतवरूपमें उसीमें मिलेंगे जो यथार्थतः ईश्वरको माननेवाला होगा। इस कसौटी-पर कसपर प्रत्येक मनुष्य अपनी परीक्षा प्राप्त कर सकता है कि वह कहाँतक ईश्वरका माननेवाला है।

इसप्रकार निश्चय हो गया कि यद्यपि सामान्यतः सभी ईश्वरको मानते हैं परन्तु विशेषरूपमें उसे माननेवालोंकी संख्या बहुत ही कम है। परन्तु विशेषरूपसे माननेवाले ही विशेषरूपमें ईश्वरकी ओर आकर्षित होते हैं। ईश्वरका सामान्य ज्ञान जीवकी सम्पूर्ण दुःखोंमें सुख नहीं करता; उसका विशेष ज्ञान ही परम कल्याण-प्रद होता है। जैसे पारसके निरुद्ध रहनेपर और उसे पारस कहते रहनेपर भी जवतक उसके गुण, प्रभाव और उपयोगका ज्ञान नहीं होता तबतक मनुष्यकी दरिद्रता बनी ही रहती है, जैसे ही उसके गुण, प्रभाव और उपयोगका विशेष ज्ञान हुआ वैसे ही दरिद्रता भी नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार परमात्माके विशेष ज्ञानमें दुःखोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

ईश्वरके प्रधानतः दो भेद माने जाते हैं—निर्गुण और सगुण। निर्गुण स्वरूपको शुद्ध ब्रह्म, परमात्मा, केवल, चैतन्य आदि नाममें भी पुकारा जाता है। यह माया-रहित और केवल है। श्रुति कहती है—

यत्तद्वैद्वयमग्राह्यमगोत्रमवर्ण-

मच्चक्षुरश्रोत्रं तदपाणिपादम।

नित्यं विभुं सर्वगतं सुमुखम्

तदव्ययं बद्धमृतयोनिं परिपश्यन्ति धीमताः॥

(मुण्डक० १।६)

अर्थात् 'जो न देखा जाता है, न पकड़ा जाता है, जिसके न गोत्र है, न वर्ण है, न नेत्र हैं, न श्रोत्र हैं, न हाथ हैं, न पाँव हैं; वह नित्य, विभु अर्थात् सबमें व्यापक बहुत सूक्ष्म और अव्यय है। ऐसे सब भूतोंके मूल-कारणको और पुरुष देखते हैं।' श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि ब्रह्मत्वात्मातमश्नुते।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तज्ज्ञासद्ब्रह्मते॥

(११।१२)

अर्थात् 'जो जानने योग्य है तथा जिसको जानकर मनुष्य परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको अच्छी प्रकार कहूँगा; वह आदिरहित परम ब्रह्म है, न उसे सर्व ही कहा जा सकता है और न असत् ही कहा जा सकता है।'

इत्यादि अनेक श्रुति-स्मृतियों निर्गुण ब्रह्मका प्रतिपादन करती हैं; परन्तु 'इयंभूत' रूपसे उसका वर्णन हो ही नहीं सकता। वेद उसका परिचय 'नेति-नेति' शब्दोंसे कराता है, अथवा केवल 'अस्ति' (है) इस शब्दसे उसका परिचय कराया जाता है—

नैव वाचा न मनसा प्राप्नु शक्यो न चक्षुषा ।

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥

(कठ० ६।१२)

अर्थात् 'परमात्मा वाणीसे, मनसे अथवा नेत्रसे नहीं प्राप्त किया जा सकता। वह परमात्मा केवल 'अस्ति' अर्थात् 'है' इसके अतिरिक्त कैसे उपलब्ध होता है?' इस प्रश्नका उत्तर इसके आगेकी श्रुति देती है—

अस्तिमेवोपलब्धस्तत्त्वमसि न चोभयोः ।

अस्तिमेवोपलब्धस्य तत्त्वमसि प्रसीदति ॥

(कठ० ६।१३)

अर्थात् 'वह है', इस रूपसे तथा तत्त्व-स्वरूपसे उसको जानना चाहिये। जब 'वह है' इसप्रकार अनुभव कर लिया तो उसका तत्त्वस्वरूप स्पष्ट हो जाता है।' वस्तुतः निर्गुण ब्रह्मका स्वरूप मन, वाणी आदि इन्द्रियोंसे अतीत है, किसीकी सामर्थ्य नहीं कि उसे पकड़ सके। श्रुति कहती है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।'

अर्थात् 'जहाँसे मन और वाणी उसको प्राप्त किये बिना ही लौट आते हैं।' भला, अलौकिक वस्तुको पार्थिव वस्तुओंके द्वारा कोई कैसे जान सकता है ?

परम ब्रह्मके इस निर्गुण स्वरूपकी उपलब्धि होनेपर भी यह कथन नहीं बनता है कि मुझे ब्रह्मकी प्राप्ति हो गयी है। इसी बातको श्रुति स्पष्टरूपसे कहती है—

यदि मन्यसे सुवेदति दप्रमेवापि नूनं त्वं वेत्य ब्रह्मणो रूपं यदस्य त्वं शदस्य च देवेभ्यश्च नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥

(केन० २।१)

अर्थात् 'यदि तू समझता है कि मैं उसको पूरा-पूरा

जानता हूँ तो निस्सन्देह तू ब्रह्मका स्वरूप अल्प ही जानता है। इसका स्वरूप जो तू जानता है और जो देवताओंमें है (वह भी अल्प है)। तब मैं समझता हूँ कि तुझे अपना जाना हुआ अभी विचारने योग्य है।' इसके आगेवाली श्रुतिमें ऋषि अपने तरबनिष्ठ शिष्यसे पूछता है कि क्या तुम्हें ब्रह्मज्ञान हो गया है ? शिष्य उत्तर देता है—

नाह मन्ये सुवेदति नो न वेदति वेद च ।

यो नस्तद्देव तद्देव नो न वेदति वेद च ॥

अर्थात् 'मैं यह नहीं मानता कि मैं ब्रह्मको पूर्णरूपेण जानता हूँ, न यही कि मैं उसे नहीं जानता हूँ, क्योंकि मैं उसे जानता हूँ। हममेंसे जो कोई उस ब्रह्मको जानता है, वह मेरी इस बातको जानता है कि मैं न तो उसे नहीं जानता हूँ और न जानता हूँ।' ऐसे विक्षेप निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन क्यों नहीं हो सकता है, इसका कारण भी श्रुति बतलाती है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न विदुर्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्मदं तद्विदितादभो अविदितादधि ॥

अर्थात् 'न वहाँ नेत्र पहुँचते हैं, न वाणी पहुँचती है, न मन ही पहुँचता है। हम नहीं समझते, नहीं जानते कि कैसे उसका उपदेश किया जाय ? वह जाने हुएसे निराळा है और न जाने हुएसे भी निराळा है, यह हमने बड़ोंसे सुना है जिन्होंने हमारे लिये इसका कथन किया है।'

ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान होनेपर ज्ञाता ज्ञेयमें भिन्न नहीं रहता, अर्थात् परिच्छिन्न ज्ञानाकी अलग सत्ता नहीं रहती, केवल एक सच्चिदानन्द परमात्मा ही रह जाता है। उस समय न ज्ञाता रह जाता है, न ज्ञेय और न ज्ञान, अर्थात् त्रिपुटी मिट जाती है। तब क्या रहता है ? इस प्रश्नका उत्तर देना कठिन है, केवल इतना ही कहा जा सकता है कि 'ज्ञेयमात्र रहता है' अथवा 'ज्ञातामात्र रहता है'—दोनोंका भाव एक ही है। निर्गुण ब्रह्मके स्वरूपमें सजातीय विजातीय अथवा स्वगत कोई भी भेद नहीं है। एक मनुष्यका दूसरे मनुष्यके साथ, अथवा एक पशुका दूसरे अपने ही जातिके पशुके साथ सजातीय भेद होता है। परमात्माके समान किसी दूसरे परमात्माके न होनेके कारण उसमें सजातीय भेद नहीं होता। दो विभिन्न जातिकी वस्तुओंमें जो पारस्परिक भेद होता है, उसे विजातीय भेद कहते हैं, जैसे मनुष्य और बृहद दोनों विभिन्न जातिके

हैं अतः इनका पारम्परिक विजातीय भेद है। परमात्मा-में यह भेद भी नहीं है क्योंकि परमात्मामें भिन्न कुछ है ही नहीं—

‘मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनजय ।’

मनुष्य-शरीरमें हाथ, पैर, सिर आदि तथा वृक्षमें मूल, डाली, पत्ते, फल, फूल आदि अनेक भेद होते हैं। अपने भीतर ही होनेवाले इसप्रकारके भेदको स्वगत-भेद कहते हैं। परमात्मामें अन्दर इस स्वगत-भेदका भी अभाव है। इसप्रकार निर्गुण शुद्ध ब्रह्म तीनों प्रकारके भेदोंमें रहित है।

अब सगुण ब्रह्मका विचार किया जाना है। माया-सहित ब्रह्मको सगुण ब्रह्म कहते हैं। क्योंकि स्वप्न, रज, तम तीनों गुण ही मायाके स्वरूप हैं, इसलिये सगुण (गुणविशिष्ट) ब्रह्म मायायुक्त ही माना जाता है। सगुण ब्रह्मके भी दो भेद हैं—सगुण निराकार और सगुण साकार। परमात्मामें सर्वव्यापक मायासहित स्वरूपको सगुण निराकार कहते हैं। सृष्टिके आदिमें उसका सङ्कल्प-में सृष्टिकार्य आरम्भ होता है। जैसे—

मया ततमिदं सर्वं जगद्व्यक्तमविना ।

मत्स्यानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

(गीता ९।४)

अर्थात् ‘मुझ सच्चिदानन्दधन परमात्मामें अव्यक्तरूपमें यह सब जगत् परिपूर्ण है और सब भूत मेरे अन्तर्गत सङ्कल्पके आधारपर स्थित हैं इसलिये वास्तवमें मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।’ श्रुति भी कहती है—

पकां वशी सर्वभूतान्तरात्मा

एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्य येऽनुपदमन्ति धीराः-

स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

अर्थात् ‘सबको वशमें रखनेवाला, सब भूतोंका अन्तरात्मा, वह एक जो एकरूप (प्रकृति) को अनेक प्रकारका बनाता है उसको जो धीर पुरुष आत्मामें स्थित देखते हैं उन्होंनेको सदा सुखकी प्राप्ति होती है अन्योको नहीं।’ इसप्रकार जो परमात्मा अव्यक्त, सर्वव्यापक और इन्द्रियातीत है, जिसे ‘अणोरणीयान्महतोमहीयान्’ अर्थात् सूक्ष्ममें भी सूक्ष्म और महान्में भी महान् कहा जाता है, तथा जिसमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होता है वही परमात्मा सगुण निराकार-स्वरूप है। अब सगुण साकार-स्वरूपका विवेचन किया जाता है।

परमात्मामें जो स्वरूप मायासहित है तथा इन्द्रियोंके गोचर होने योग्य आकारवान् है उसे सगुण साकार-स्वरूप कहते हैं। जैसे—

शान्ताकारं भुक्तगन्धयनं पञ्चनाभं सुरेशं

विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ।

लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिमिध्मनगम्यं

वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वभोक्तैकनाथम् ॥

अर्थात् ‘जिसका शान्त स्वरूप है, जो शेषनागकी शय्यापर शयन किये हुए है, जिसकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंका भी ईश्वर है तथा सम्पूर्ण विश्वका आधार है, जो आकाशके समान व्याप्त है, नीले मेघके समान जिसका वर्ण है, जिसके सम्पूर्ण अंग अतिशय सुन्दर हैं, जिसे योगीजन ध्यानके द्वारा प्राप्त करने हैं, उस सम्पूर्ण लोकोंके स्वामी, संसारके भयको दूर करनेवाले श्रीलक्ष्मीपति कमलनयन विष्णु भगवान्को मैं प्रणाम करता हूँ।’

इसप्रकारके सगुण साकाररूपके, सम्प्रदाय और मत-भेदमें, अनेकों नाम और रूप माने जाते हैं, जैसे—ब्रह्मा, शिव, सूर्य, गणेश, दुर्गा आदि। भगवान्के इस रूपभेद-का कारण भक्तोंके भावोंकी भिन्नता है। हिन्दू-सम्प्रदायमें भावकी ही प्रधानता है; इसलिये धातुमयी, पाषाणमयी, मृण्मयी, दारुमयी और मनोमयी आदि जितने प्रकारकी मूर्तिकी उपासना की जाती है, सबमें भावकी ही प्रधानता होती है। धातु या पाषाणकी पूजा नहीं होती। इसके धार्मिक रहस्यको न समझ सकनेके कारण कुछ लोग मिट्टी या पाषाणकी मूर्तिकी पूजामें शंका करते हैं। परन्तु वे ठीक यदि पूजा और स्तुतिके मन्त्रोंके अर्थोंपर ध्यान दें तो सहज ही ज्ञात हो जायगा कि उनमें कहीं भी पाषाण, मिट्टी या धातुकी प्रशंसा नहीं होती। अतएव उपासक अपने हृदय (भाव) और वाणी (स्वन) से जिसकी पूजा करता है वास्तवमें पूजा उसीकी होती है।

भगवान्के रूपकी सीमा बाँध लेना और यह कहना कि भगवान्का केवल एकरूप यही स्वरूप है, कदापि उचित नहीं। कुछ साम्प्रदायिक भाववाले लोग अपने इष्ट-देवके सिवा अन्य रूपोंकी निन्दा भी कर देते हैं, पर ऐसा करना बालकवत् अज्ञता है। जो पुरुष अपने इष्टदेव—भगवान्की प्रशंसा और दूसरेके भगवान्की निन्दा करते हैं वह वास्तवमें अपने ही इष्टदेवका तिरस्कार करते हैं। इस विषयकी एक आख्यायिका प्रसिद्ध है।

एक पिताके दो पुत्र थे। उन्होंने अपने पिताके दोनों

पैरोंकी सेवा अलग-अलग बॉट रखी थी। एक दिन जब दोनों अपने-अपने हिस्सेके पैरोंकी सेवा कर रहे थे कि संयोगसे एक पैर दूसरे पैरमें जा लगा और उस पैरकी सेवा करनेवाले लड़केने दूसरे पैरमें एक घूँसा जमा दिया और कहा कि 'तू मेरे सेव्य पैरमें क्यों आ लगा?' अपने श्रेष्ठ चरणको मार खाते देखकर दूसरा लड़का क्रोधमें आया और उसने दूसरे पैरपर दो घूँसे जमाये। इसप्रकार परस्पर क्रोधित हो दोनों पुत्र अपने पिताके पैरोंको पीटने लगे। उन बेचारोंके यह नहीं समझमें आया कि इसप्रकार अपने पिताका अनिष्ट कर रहे हैं। पैरोंमें चोट लगनेसे पिताने उनको रोका, तब दोनों पुत्रोंने अपनी-अपनी शिकायत कह सुनायी। पिताने उनकी मूर्खतापर अफसोस करते हुए उन्हें बतलाया कि दोनों ही जिसे सेवा समझते थे वह वस्तुतः सेवा न थी, बल्कि पारम्परिक द्वेषके द्वारा मूर्खतावश पिताका अनिष्ट किया गया था।

इसी प्रकार जो लोग अपने इष्टको उपासना करते तथा अन्य लोगोंके इष्टको तुच्छ मानकर उसका निरस्कार करते हैं वह अपने ही इष्टका निरस्कार करते हैं। हाँ, इष्टदेव चाहे जिस रूपमें हो उसकी उपासना ईश्वररूपमें ही करनी चाहिये; उसको सर्वेश्वर माननेमें कोई हानि नहीं है। परन्तु किसी देवकी निन्दा करनेका आधिकार किसीको नहीं है। ईश्वरमें विश्वास रखनेवाले तथा उसकी उपासना करनेवालेको नीचे लिखी बातोंपर विशेष ध्यान रखना चाहिये।

- १ ईश्वर एकमे अधिक नहीं हो सकता।
- २ ईश्वर एकदेशीय नहीं होता।
- ३ ईश्वर एकजातीय नहीं होता।
- ४ ईश्वर अल्पज्ञ नहीं होता।
- ५ ईश्वरकी सामर्थ्य परिमित नहीं होती।
- ६ ईश्वर पक्षपाती और स्वार्थी नहीं होता।
- ७ ईश्वरमें अन्य कुछ भी तथा कोई भी श्रेष्ठ नहीं है।
- ८ ईश्वर किसी प्रकार पापाचरणका प्रेरक नहीं होता।
- ९ ईश्वर सर्वोच्च है और महापापीका भी हितैषी है।
- १० ईश्वर एककालीन नहीं होता।
- ११ ईश्वर परम व्याप्त, सर्वज्ञ और आनन्दरूप है।

सभी उपासकोंको अपने-अपने इष्टमें इन ग्यारह भावोंको अवश्य ही रखना चाहिये। जहाँ भावना अल्प होती है वहाँ काम भी अल्प होता है और जहाँ भावना महान् होती है वहाँ फल भी महान् होता है। यदि

वस्तुतः कोई ईश्वरका यथार्थ रूप देखना चाहे तो बुद्धिबलसे उसको देखना या दिखाना नहीं हो सकता। उमे तो यथार्थतः वही जानता है, जिसको वह प्रभु स्वयं जना देता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है कि—

‘सो जानै जहि देहु जनाई।’

तुम्हारी कृपा तुमहि रघुनन्दन। जानत सक भक्त हर-चन्दन ॥

श्रुति भी कहती है—

‘यमेवैव वृणुते तेन लभ्यः’

वस्तुतः भगवान् क्या हैं, इमे तो स्वयं वही जानते हैं, या उनके सबे प्यारे भक्त उन्हींकी कृपामें कुछ जान सकते हैं। ‘अन्योंके कथन ठीक नहीं’, यह नहीं कहा जा सकता, और ‘ईश्वर ह्यधभूत अर्थात् ऐसा ही है’, यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ईश्वरका रहस्य अलौकिक है। प्रायः ईश्वरके विषयमें कहनेवाले अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार कुछ वृत्तक कहते भी हैं, फिर भी उनका कहना अपूर्ण ही रह जाता है। इस बातको स्पष्ट करनेवाली हार्थीके स्वरूपके सम्बन्धमें पैर, सूँड़, कान और हाँतको ही हार्थी बतानेवाले चार अर्थोंकी छोटीकोक्ति प्रसिद्ध ही है।

अतः ईश्वरके जितने भी स्वरूप शास्त्रोंमें वर्णित हैं, तथा सबे भक्तोंने स्वीकार किये हैं। उन सभीको सम्मानकी दृष्टिसे देखना चाहिये और अपनी प्रीति या रुचि जिस भाव (रूप या नाम) में हो उसीकी ईश्वरभावनामें उपासना करनी चाहिये। सत्यमें अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि साधकको अपने इष्टमें किसी प्रकारकी अपूर्णता नहीं देखनी चाहिये, क्योंकि जहाँ अपूर्णता है वहाँ ईश्वरत्व नहीं है। साधकका भाव पूर्ण और सर्वोच्च होना चाहिये, फिर वह चाहे जिस नाम-रूपकी उपासना करे, वह सर्वेश्वर पूर्ण ईश्वर ही उपासना समझी जायगी। परन्तु यदि नाम-रूप द्यति मनोहर और श्रेष्ठ है, पर भाव श्रेष्ठ नहीं है तो वह उपासना सर्वेश्वर महेश्वरकी नहीं हो सकती। अब अन्तमें उस सर्वेश्वर परमात्माको प्रणाम करके लेख समाप्त किया जाता है—

ॐ नमो वायुमार्गि सन्निभे मही च

उपानिषि सर्वाणि दिशो दुर्मादीन् ।

सरिस्समुद्रांश्च दहोः शरीरं

यत्किञ्च भूत प्रणम्येदनन्यः ॥



ईश्वर अतर्क्य है

(लेखक—श्रीगुप्तिहाराजी वर्मा, लुधियाना)



भोग्यवश संस्कृत-विद्याका हास होनेके कारण आजकल वातावरण कुछ ऐसा हो गया है कि देशके नवयुवक केवल उसी बातको मानना चाहते हैं जो युक्तियुक्त हो और बुद्धिकी कमीटीपर कसी जा सके। हमलिये 'ईश्वर है' ऐसा कहनेवालोंमें भी वह ईश्वरके अस्तित्वमें युक्ति माँगते हैं। वह यह कदापि नहीं सोचते कि हम विषयमें युक्ति माँगना न्यायानुकूल है या न्याय-विरुद्ध? क्योंकि युक्ति या तर्कमें वही बन्नु जानी जा सकती है जो परिच्छिन्न हो। अपरिच्छिन्न और विभु बन्नुकी युक्तिद्वारा मित्र माननेमें निम्नलिखित अनेक दोष बलात्कार आ प्राप्त होने हैं।

१—जो किसी बन्नुको सिद्ध करता है वह न्यायानुसार अधिक-देशवर्ती होता है और जिस बन्नुकी सिद्धि की जाती है वह न्यून-देशवर्ती होती है। अधिक-देशवर्ती बन्नु न्यून-देशवर्ती बन्नुकी अपेक्षा विभु होती है। अतः यदि युक्तिने ईश्वरकी सिद्धिका प्रयास किया जाय तो वह माधक होनेके कारण ईश्वरकी अपेक्षा विभु टहरेगी और ईश्वर साध्य होनेसे युक्तिकी अपेक्षा परिच्छिन्न हो जायगा तथा परिच्छिन्न होनेसे घट-पट आदिकी भाँति नश्वर और अनारम्भ-पदार्थ टहरेगा। परन्तु यह किसी भी ईश्वरवादी-को अभीष्ट नहीं है। अतः विभु पदार्थमें युक्ति माँगना ही मवंधा युक्तिहीन और असम्भव है।

२—युक्ति कहते हैं हेतु या कारणको; जो एक प्रकारसे अन्तःकरण अर्थात् बुद्धिकी परिणामी वृत्ति है। क्योंकि बुद्धि जितनी अधिक कुशल होती है उतनी ही अधिक पदार्थ-प्राप्ति और युक्तिप्रधान होती है। परन्तु वह स्वयं प्रकृतिका कार्य होनेके कारण जड़ है, तथा चेतनके आभासको प्राप्त करके ही चेष्टा करती और पदार्थोंको निश्चय करती है। शास्त्रोंने बुद्धिका लक्षण भी—'निश्चयात्मिका बुद्धिः' बतलाया है। परन्तु स्वयं जड़ होनेके कारण वह ईश्वरको नहीं जान सकती।

'यो बुद्धेः परतरस्तु सः' (गीता)

'बुद्धिरात्मा महान् परः' (गुडि)

—हत्यादि श्रुति-स्मृतियोंका भी यही अभिप्राय है कि ईश्वर बुद्धिसे भी परे है। अतः बुद्धिके परिणाम अथवा कार्यरूप युक्ति उस परमात्माको कैसे जान सकती है? इसप्रकार बुद्धिरूप कारण और युक्तिरूप कार्यको ईश्वर-सिद्धिमें कारण माननेमें 'भ्रमं मुख्यं जिह्वा नास्ति' के समान बलात्कार व्याघात-दोष आ उपस्थित होता है। क्योंकि जो बन्नु स्वयं जिसके बिना अमिद्ध है, उस अपने पूर्वभूत सिद्ध साधकको वह किसप्रकार सिद्ध कर सकती है? अतः जड़ और परिच्छिन्न बुद्धिसे चेतन और विभु ईश्वरकी सिद्धिकी अभिलाषा करना सर्वथा अयुक्त है।

३—प्रायः यह बात मनुनेमें आती है कि नीच मे-सीध बुद्धिवाला मनुष्य भी किसी सांसारिक कठिन समस्याके आ पड़नेपर कड़ उठता है कि यह बात मेरी बुद्धिमें नहीं आती। जब सांसारिक घटनाओंके समझनेमें ही बुद्धिमानोंकी बुद्धि असमर्थ रहती है तो उसके द्वारा उस ब्रह्माण्ड-नायक प्रभुको जानना व्याघात-दोष-प्रसिद्ध बात नहीं तो और क्या है? पाञ्चरात्र-आगममें कैसा सुन्दर कहा है कि—

अपि त्वां भगवन् ब्रह्मांशवशकमहर्षयः।

प्रष्टुं शक्नुं अभीष्टानुमद्यापीशं नदीशिवे ॥

अर्थात् 'उस परमेश्वरको देखने, यज्ञ और प्रशांसा आदिये बाधातथ्य जाननेमें ब्रह्मा, शङ्कर, इन्द्र और महर्षिगण भी समर्थ नहीं होते हैं।' अतः जो जगन्नायक ब्रह्मा और शिवादि-जैसे समष्टि-बुद्धिवालोंकी बुद्धिका भी अविषय है उसे हम-जैसे क्षुद्र व्यष्टि-बुद्धिवालोंकी बुद्धि कैसे प्रत्यक्ष कर सकती है?

४—जो बुद्धि पहले ही अज्ञानावृत्त होनेके कारण अपनेमें ईश्वरके प्रत्यक्षका अभाव प्रकट करती है, उस अज्ञान-तिमिरसे प्रसिद्ध बुद्धिरूप अधिकरणमें साक्षात् ज्ञानके पुञ्ज और प्रकाशस्वरूप ईश्वर कैसे प्रकट हो सकते हैं? क्योंकि न्यायानुसार तम-प्रकाशकी भाँति दो परस्पर-विरोधी गुणोंका एक ही समयमें, एक ही अधिकरणमें रहना असम्भव है। युक्तिरूप कार्यका कारण बुद्धि स्वयं ही अज्ञानका कार्य है और चिदाभासके बिना अस्थान जड़ है, एवं कूटस्वरूप अधिष्ठानमें कल्पित है—

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित् प्रतिनिम्बकः ।

(पञ्चदशा ६ । २३)

—अर्थात् कूटस्थमें, कल्पित बुद्धिमें चैतन्यका आभास पड़ता है अतः ऐसी स्वमत्ताहीन, कल्पित, जड़ और परप्रकारय क्षुद्रबुद्धिके भी कार्यस्वरूप क्षुद्रातिक्षुद्र युक्तिये ज्ञानस्वरूप, चेतन परमात्मदेवका ज्ञान प्राप्त करना स्वप्न तथा शशशृंगवत् आश्रयन्त असम्भव है ।

५—जो मनुष्य यह कहे कि ईश्वर मेरी बुद्धिमें नहीं आता, उसे कैसे मानूँ ? उसमें गड़बड़ चाहिये कि भाई ! बुद्धिसे परे तो तुम्हारे मनमें कोई वस्तु है ही नहीं, फिर जो तुम कहते हो 'मेरी बुद्धि,' तो इस 'मेरी' से तुम्हारा क्या अभिप्राय है ? बुद्धिमें 'मेरेपन' का अभिमान करने वाला वह कौन है ? क्योंकि जो मनुष्य 'मेरी' पुस्तक' ऐसा कहता है वह निश्चय ही पुस्तकसे पृथक् कोई भिन्न वस्तु होता है । जिसप्रकार पुस्तक और उसमें अपना स्वयं प्रकट करनेवाले पुस्तकमें परम्पर वस्तु और स्वासीका सम्बन्ध होता है उसी प्रकार बुद्धि और 'मेरी बुद्धि' कहनेवालेमें भी वस्तु (सेवक) और स्वासीका सम्बन्ध निश्चय है । क्योंकि 'मेरी' कहनेवाला बुद्धिका स्वामी हुआ और बुद्धि उसकी वस्तु (सेविका) ठहरी । फिर सेविकामें उसके स्वासीकी अनुभूति, उसके ऐश्वर्यजन्य आनन्द और सुखकी सीमा पृथक् सर्वथा अयुक्त है । पुनः उस मनुष्यमें, जो यह कहता है कि 'बुद्धिगारा मेरी बुद्धिमें ईश्वरको बैठा दो,' यह पृथक् चाहिये कि तुम जो 'मेरी' कहते हो वह 'मेरी' प्रयोग करनेवाला जड़ है या चेतन ? यदि जड़ है तो 'मेरी' कहकर स्वयं प्रकट करनेवाला कोई चेतन है या नहीं ? यदि इस 'मेरी' को जाननेवाला दूसरा और उस दूसरेको जाननेवाला तीसरा—इसप्रकार माने तो अनवस्था अथवा चक्रिक आदि दोष आ प्राप्त होंगे । और यदि वादी कहे कि बुद्धि स्वयं अपनेमें स्वयं करती है तो यह बान सर्वथा असिद्ध है । क्योंकि वस्तु किसीकी होती है, वह स्वयं वस्तुवाली नहीं बन जाती । जैसे पुस्तक किसी मनुष्यकी होती है, वह स्वयं पुस्तकवाली नहीं बन जाती । यदि बुद्धि स्वयं बुद्धिवाली (स्वयं प्रकट करनेवाली) बने तो इसकी अव्याप्ति पुस्तक, घट-पट आदिमें हो जाती है । अतः बुद्धि स्वयं अपनेमें स्वयंबुद्धि करती है ऐसा कहना नहीं बनता ।

परन्तु वह मनुष्य जिसके अंतमें युक्ति ही काय है

यदि यह कहे कि बुद्धिको 'मेरी' कहनेवालेको मैं नहीं जानता; मेरी युक्ति और बुद्धिसे वह परे है तो उससे कहना चाहिये कि 'भाई ! जब तुम्हारी बुद्धि और युक्ति तुम्हारे व्यष्टिरूप बुद्धिमें 'मेरी' कहनेवाले किसी पदार्थ-विशेषको नहीं समझ सकती और तुम्हारी बुद्धिका व्यष्टि अभिमानो स्वामी ही जब तुम्हारी बुद्धि और उसके कार्य युक्तिये परे है तो समष्टि-बुद्धियोंके एकमात्र सञ्चालक, प्रेरक और नियामकको जो तुम बुद्धिके परिणामरूप युक्तिये समझना चाहते हो, वह वस्तुपात्रका स्वप्नके चापसे शशशृङ्ग हो तोड़नेकी चेष्टा नहीं तो और क्या है ? बुद्धिके परिणामरूप युक्तिद्वारा ईश्वरके प्रत्यक्ष न होनेमें केवल शुष्क युक्ति ही प्रमाण नहीं, बल्कि वेद-भगवान् भी इस विषयमें उच्चस्वयं घोषित करते हैं --

'यन्मदं सर्वं विज्ञानात् न केन विज्ञानायामिदं विज्ञानं तस्मात् केन विज्ञानायामिदं'— बृहदारण्यक २ । ४ । १४ ।

अर्थात् 'हे मैत्रेयी ! जिसमें यह सम्पूर्ण जाना जाता है, उसको किससे जाना जाय, विज्ञानाको किससे जाना जाय ?'

'यं न ज्ञानं ज्ञाता अगृह्य नाह गृह्यते'

अर्थात् आत्मा यह नहीं है, नहीं है; आत्मा अगृह्य है, उसका ग्रहण नहीं होता—

'ना-योऽन्तेऽस्ति विज्ञाना' बृ० ३ । ७ । २३ ।

अर्थात् इस आत्मामें अन्त कोई विज्ञाना नहीं है—

'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विद्वानिति स भूमा, यत्रान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति अयद्विद्वानिति तदहं यो वै भूमा तदमृतमयं यदहं तन्मत्प्रमितिं दि'— छां० ७ । २४ । १ ।

अर्थात् जिसमें कोई नहीं देख सकता, जिसको कोई नहीं सुन अथवा जान सकता है वह भूमा अर्थात् आत्मा है । जिसमें दूसरा देख सकता है, जिसको दूसरा सुन सकता है, जान सकता है वह अणु है । भूमा निश्चय ही असूत है, जो अणु है वह मर्त्य अर्थात् मरणशील है ।

आत्रम्य आत्र मनमो मनो० कनोपानपद २)

अर्थात् जो श्रोत्रका श्रोत्र है और मनका भी मन है ।

'यो विज्ञानं तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्बोध्यमृतः'— बृहदारण्यक ३ । ७ । २२ ।

अर्थात् जो बुद्धिमें स्थित होकर बुद्धिमें रहा हुआ है,

और बुद्धि जिसको नहीं जानती, जिसका बुद्धि शरीर है वह बुद्धिके भीतर रहकर उसको व्यापारमें लगाता है वही तेरा अविनाशी अन्तर्धामी आत्मा है।

इसप्रकार अनेक धृतियाँ उस परमात्मदेवको बुद्धि तथा उसके कार्य युक्तिका अधिषय प्रतिपादन करती हैं।

यदि पूर्वपक्ष यह कहे कि बुद्धिमें 'मेरी' कहनेवाला कौन है, यह तो ईश्वर ही जाने, हम इसे क्या समझ सकते हैं, तो उसके कथनमें बलात्कार ईश्वरकी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि जिसको बुद्धि न जान सके और जहाँ जाकर समझ उक्ति, युक्ति, तर्क और बुद्धिमत्ताका पर्यवसान हो जाय, वही आत्मा, वहाँ ईश्वर और वही परमसाध्य और उपास्यदेव है। ऐसे विभु, अपरिच्छिन्न और पूर्णतम वस्तुमें युक्ति माँगना स्वयं न्यायाध्यक्ष बनने और ईश्वरको अपने न्यायाक्ष विषय बनानेकी चेष्टा करना है।

६-संसारकी प्रायः सभी वस्तुएँ त्रिपुटीप्रमित हैं। जैसे ज्ञाता, ज्ञान, जय; ध्याता, ध्यान, ध्येय; उपासक, उपासना, उपास्य इत्यादि। इसलिये यदि युक्तिरूप बुद्धिकी वृत्तिद्वारा ईश्वरका ज्ञान प्राप्त होना माना जाय तो युक्ति तो जाता होगी और ईश्वर जेय वस्तु ठहरेगा। ज्ञातारूप जज्ञकी अपेक्षा ज्ञेयरूप वस्तु सर्वदा परिच्छिन्न, छोटी और आज्ञानिवन्धनी होती है। जैसे न्यायाध्यक्षकी अपेक्षा विवादकर्ता दोनों पक्ष न्यूनस्थानीय होते हैं और उस प्रधान पुरुष हाकिमके हुक्मके बन्धनमें होते हैं, अपने कथनको उसके सामने निवेदन कर देनेके अनन्तर वह स्वयं जड़वत् उसकी सेवामें उपस्थित रहने हैं और उसकी आज्ञानुकूल चेष्टा करनेके अतिरिक्त और कुछ कार्य न्यायालयमें नहीं कर सकते। यही स्थिति हमारी युक्तिके ज्ञाना बननेपर न्यायानुसार विभु, अपरिच्छिन्न, सर्वाधिष्ठान, जगन्निबन्ता और सर्वान्तर्यामी ईश्वरकी हो जायगी, जो सर्वथा युक्तिहीन और न्यायविरुद्ध है।

इसप्रकार अनेकों युक्तियोंमें यह बात सिद्ध होती है कि ईश्वरके विषयमें युक्ति माँगना ही सर्वथा अन्यायप्रसिद्ध

और युक्तिहीन है। क्योंकि जो स्वयंप्रकाश और सबमें एकरस श्रोतप्रोत, सबका ज्ञाता, द्रष्टा और स्वयंसिद्ध है उस सबके साधकको दूसरा कौन किसप्रकार सिद्ध कर सकता है? वह ईश्वर मन और वाणीका भी विषय नहीं है—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

अर्थात् वाणी और मन उसके पासतक बिना पहुँचे ही लौट आते हैं—

'न तत्र चतुर्गच्छन्ति न वाग्गच्छन्ति न मनो न बिद्मो न विजानामो यथैतदनुशिष्यात्'

(कै. ७. ३)

अर्थात् 'उसके पासतक न श्रोत्र, न वाणी और न मन ही पहुँचते हैं, अतः नहीं समझमें आता कि उसका किमप्रकार याथार्थ्यसे उपदेश करें, क्योंकि न तो वह ज्ञान है और न बुद्धिमें ही आ सकता है।' इसप्रकार सर्वंगाच्छिरोमणि वेद भी जब पूर्णतया उसका निरूपण करनेमें अपनी असमर्थता प्रकट करने हैं तो दूसरा कौन उसे सिद्ध का दिखानेमें समर्थ हो सकता है?

इसलिये तुच्छ युक्तियोंमें उस परम अद्वय सर्वात्मा ईश्वरकी सिद्धिकी इच्छा करना केवल शुरुवात है, यह ज्ञान हमने ऊपर युक्तियोंद्वारा सिद्ध कर दी है। अतः जब युक्तिविरयक प्रश्नका करना ही नहीं बनता तो यों ही ऐसे अमिद प्रश्नके उत्तरमें युक्तियाँ स्थापन करना अन्यथासिद्ध अरण्यरोदन और जल त्रिलोक नवनीत निजालनेकी चेष्टा करनेकी भाँति व्यर्थ प्रयासमात्र है। गुरु तानकदेवकी इस वाणीके अनुसार कि, 'पिताकी बात क्या जाने पुत्र' दुर्बल और तुच्छ युक्ति उस प्रभुके पवित्र चरणौतिक नहीं पहुँच सकती। इसलिये उस परब्रह्मकी उक्ति-युक्तिमें परे, सबका कन्याण करनेवाला, भुक्ति और मुक्तिदायक, निरतिशय आनन्दका देनेवाला जानकर उसके परमपावन चरणरुमलोंमें सदा निःशङ्क होकर अनन्यभक्ति और गाढ़ प्रेमसे अपने मनरूपी भृंगको समर्पण करना चाहिये, जिससे जन्म-मरणकी दुःसह पीड़ा शान्त हो।



ईश्वरकी महिमा

(लेखक—श्रीमगवानदासजी हालना)



स्याण' के इस ईश्वरोंके लिये जो लेखोंकी सूची प्रकाशित हुई है उसमें एक विषय 'ईश्वरकी महिमा' भी है। इसी सम्बन्धमें कुछ शब्द निवेदन करनेकी मैं आज्ञा चाहता हूँ। वास्तवमें ईश्वरकी महिमा इतनी बड़ी और अपार है कि उसे यथार्थ-रूपमें वर्णन करना प्रायः असम्भव है। किन्तु जैसा कि रामचरित-मानसमें लिखा है कि—

निज निज मति मुनि हरि गुन गावहि ।
निगम शेष शिव पार न पावहि ॥

भगवान्की महिमाका वेद, शेषजी और शिवजी पार नहीं पा सकते, उनकी उस अपूर्व महिमाको अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार ऋषि-मुनियोंने कुछ-कुछ वर्णन किया है। मैं अपनी ओरसे कुछ न कहकर पहले ईश्वरके निर्गुण रूपकी परम कल्याणस्वरूप भगवान् शंकरने पार्वतीजीमें जो महिमा कही है उसीका नीचे रसास्वादन करनेकी पाठकों-से प्रार्थना करता हूँ—

निर्गुण रूपकी महिमा

आदि अन्त कौट जासु न पावा । मति अनुमान निगम अस गावा ॥
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना । कर बिनु करम करइ बिध नाना ॥
आननरहित सकल रस भोगी । बिनु बानो बकता नइ जोगी ॥
तन बिनु परस नयन बिनु देखा । ग्रहइ प्राण बिनु बास असेखा ॥
असि सब भक्ति अलौकिक करनी । महिमा जासु जाहि नहिं बरनी ॥

विज्ञ पाठकोंने देखा होगा कि भगवान् शंकरने कितने थोड़े शब्दोंमें ईश्वरके निर्गुण रूपकी कितनी सुन्दर महिमा कही है। अब नीचे उनके सगुण रूपकी महिमा दी जाती है। किन्तु इसमें पहले भगवान् शंकरहीके दो शब्दोंमें यह बता देना अनुचित न होगा कि ईश्वर निर्गुण ब्रह्मसे सगुण रूप अर्थां धारण करता है। महादेवजी ईश्वरके निर्गुण रूपकी ऊपर दी हुई महिमा वर्णन करनेके बाद कहते हैं कि—

जैहि इमि गावहि वेद बुध, जाहिं चाहि मुनि ध्यान ।
सोइ दसरथ सुब भगवति, कोसलपति भगवान् ॥

अर्थात् 'जिस ईश्वरको वेदके जाननेवाले पंडित इस-प्रकार गाते हैं और जिनका मुनीश्वर लोग ध्यान करते हैं वही निर्गुण ब्रह्म ईश्वर अर्थांके लिये दशरथके पुत्र होकर अयोध्यानाथ भगवान् श्रीरामचन्द्रका रूप धारण करते हैं।'

अब ईश्वरके इन्हीं सगुण रूपधारी 'कोसलपति' भगवान् रामचन्द्रकी अपूर्व महिमा सुनिये। परम ईश्वर-भक्त और ज्ञानी कागभुशुण्डिजीने श्रीरामचन्द्रजीकी जो अलौकिक महिमा वर्णन की है, उसे पढ़कर मनुष्य एक साथ ही भक्ति, प्रेम और आनन्दमें रातू हो जाता है। वह अमृततरस अब पान कीजिये—

सगुण रूपकी महिमा*

राम काम सत कोटि सुभग तन । दुर्गा कोटि अमित अरि मदन ॥
सक कोटि सत सरिस विशास । नम सत कोटि अमिन अवकास ॥

अर्थ—सौ करोड़ कामदेवोंके समान श्रीरामचन्द्रजीका शरीर सुन्दर है और वे करोड़ दुर्गाके समान अनगिनती शत्रुओंका नाश करनेवाले हैं। सौ करोड़ इन्द्रोंके समान जिनका भोग-विजास है और सौ करोड़ आकाशोंके समान जिनका विस्तार है।

मरुत कोटि सत बिपुल बल, रवि सत कोटि प्रकास ।
ससि सत कोटि सुसीतल, समन सकल भवनास ॥

अर्थ—सौ करोड़ पवनोंसे भी जिनका उयादा बल है और सौ करोड़ सूर्यके समान जिनका प्रकाश है। जो सौ करोड़ चन्द्रमाओंके समान शीतल हैं और संसारके सब तापोंको नाश करनेवाले हैं।

काल कोटि सत सरिस अति, दुस्तर दुर्ग दुरन्त ।
धूमकेतु सत कोटि सम, दुराधरष भगवन्त ॥

अर्थ—जो सौ करोड़ काष्के समान अत्यन्त दुस्तर (कठिनतासे तरनेयोग्य), दुर्ग अर्थात् कठिनाईसे प्राप्त होनेयोग्य और जो दुरन्त (जिनका अन्त नहीं) है। और जो भगवान् सौ करोड़ अग्निके समान कठिनतासे धारण करनेयोग्य हैं।

* नीचे दिये हुए पंथोंका अर्थ भी इसलिये दे दिया गया है कि सब पाठक पूर्णरूपसे इनका रस ग्रहण करें।—लेखक

प्रभु अगाध सत कोटि पताला। समन कोटि सत सरिस कराळा ॥
तीरय अमित कोटि सप्त पावन। नाम अखिल अधपुंज नसावन ॥

अर्थ—प्रभु सौ करोड़ पातालोंके समान अथाह हैं और सौ करोड़ यमराजोंके समान भयङ्कर हैं। वे करोड़ों तीर्थोंके समान पवित्र हैं और जिनका नाम सब पापके समूहोंको नाश करनेवाला है।

हिम गिरि कोटि अचल रघुवीरा। विष्णु-कोटि सत सम गंभीरा ॥
कामधेनु सत कोटि समाना। सकल कामदायक भगवाना ॥

अर्थ—जो करोड़ों हिमालय-पर्वतोंके समान अचल हैं, जो सौ करोड़ समुद्रके समान गहरे हैं और जो भगवान् सौ करोड़ कामधेनुओंके समान सबकी कामनाओंको पूरा करनेवाले हैं।

सारद कोटि अमित चतुरार्ध। विषि सत कोटि मृष्टि निपुनार्ध ॥
विष्णु कोटि सत पालनकरता। रुद्र कोटि सत सम संहारता ॥

अर्थ—जो करोड़ सरस्वतीके समान चतुर हैं और जो सृष्टिके उत्पन्न करनेमें सौ करोड़ ब्रह्मासे भी अधिक निपुण हैं, जो सौ करोड़ विष्णुके समान पालनकर्ता हैं और जो सौ करोड़ महादेवके समान संहारकर्ता हैं।

घनद कोटि सत सम घनवाना। माया कोटि प्रपञ्च निधाना।
भार धरन सत कोटि अहीसा। निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा ॥

अर्थ—जो सौ करोड़ कुबेरोंके समान घनवान् हैं और जो करोड़ों माया और प्रपञ्चके खजाने हैं, जो सौ करोड़ शेषजीके समान (पृथ्वीका) भार धारण किये हैं और जो अवधि और उपमारहित हैं।

हमारे पाठकोंने ऊपर सर्वशक्तिमान् ईश्वरके सगुण रूपकी कुछ महिमा देखी, किन्तु उसके अन्तमें जो कहा है कि 'निरवधि निरुपम प्रभु जगदीसा' वही बिल्कुल ठीक है। अर्थात् जो प्रभु जगदीश्वर हैं उनकी न कोई सीमा है और न उनकी कोई उपमा हो सकती है। जैसे करोड़ों पटबीजनोंसे सूर्यकी उपमा नहीं दी जा सकती, जैसे असंख्य तारागणोंसे चन्द्रमाकी उपमा नहीं दी जा सकती और जैसे समुद्रकी उपमा समुद्रहीसे दी जा सकती है उसी तरह वस्तुतः ईश्वरकी या रामकी या कृष्णकी किसीसे उपमा नहीं दी जा सकती। उनकी उपमा तो वहाँसे ही जा सकती है।



दशावतार

(लेखक—एक प्रेमी महाशय)

ईश्वरके अनन्त अवतार हैं। भक्तोंके दुःख दूर करनेको उन्हें अनेकों बार अवतरित होना पड़ता है—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय संमन्त्रामि युगे युगे ॥

(गीता ४।८)

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने स्वीकार किया है कि 'साधुओंकी रक्षा, दुष्कृतोंके विनाश और धर्मका सम्यक् स्थापन करनेके लिये मैं बार-बार प्रकट होता हूँ।'

जिसप्रकार ८४ लाख आसनों और योनियोंमें केवल ८४ आसन और ८४ योनियाँ प्रधान हैं और ८४ में भी सिर्फ ३२ ही मुख्य हैं। उसी प्रकार अनन्त अवतारोंमें भी २४ अवतार प्रधान या प्रख्यात हैं और उन २४ में भी केवल १० ही मुख्य माने जाते हैं।

पुराणोंमें उनका अव्युत्त, विचित्र और विस्तारके साथ वर्णन किया गया है, वहाँ भगवद्भक्तोंके हृदयोद्दीपनार्थ उनका

साधारण दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

सर्वप्रथम भक्त्यावतार हुआ था। उसके बाद कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि हुए।

(१) भक्त्यावतार

प्रत्येक कल्पके अन्तमें महाप्रलय होता है। जिस समय प्रजापति (ब्रह्मा) योगनिद्राके वश हो रहे थे, उस समय उनके मुखसे वेदादिका निष्काशन हो गया। उनको हयग्रीवने हड़प लिया तब वेदोद्धारके विचारसे भगवान्ने शफरी या हिल्सा नामकी मछलीका रूप धारण किया।

उस अवसरपर राजर्षि सत्यव्रत भगवत्प्राप्तिके लिये केवल जल पीकर कठिन तप कर रहा था। एक दिन वह कृतमाता नदीमें जाकर तर्पण करने लगा, उसी समय उसकी अङ्गुलिमें एक मछली आ गयी। राजाने जलाञ्जलि के साथ उसे भी नदीमें छोड़ दिया, तब वह मछली बोली कि—

राजन् ! मङ्गलीमार जन्तुओंसे मेरी रक्षा करनी चाहिये, नहीं तो वे मुझे खा जायेंगे। यह सुनकर सत्यव्रतने उसे अपने कमण्डलुमें डाल लिया और आश्रममें ले आया। वहाँ आनेपर वह एक ही रातमें इतनी बढ़ी कि कमण्डलुमें नहीं समायी। तब राजर्षिने उसे एक कुएँमें छोड़ दिया, वहाँ वह तीन ही मुहुर्तमें कुएँ-जितनी हो गयी। तब राजर्षिने उसे शतयोजनविस्तीर्ण जलाशयमें स्थान दिया, किन्तु वहाँ भी वह इतनी बढ़ी कि जलाशय उसीसे भर गया। यह देखकर राजर्षिने पूछा कि—

भगवन् ! आप कौन हैं ? एक ही दिनमें आपने इस शतयोजनविस्तीर्ण जलाशयको घ्यास कर लिया। सम्भव है आप कोई भवतार हैं। यह सुनकर मत्स्यने उत्तर दिया कि—‘आजसे सातवें दिन वह सम्पूर्ण भूमण्डल भूभुजादि लोकोंसहित जलप्लावित हो जायगा। उसी समय तेरे पास एक नाव आवेगी। उसके आते ही तू मेरे सींगमें उस नावको सर्परज्जुमें बाँध देना।’ यह कहकर वह अदृश्य हो गयी।

सातवें दिन सत्यव्रत कुशासनपर बैठकर मत्स्यावतारका ध्यान करने लगा। देखने-देखते समुद्र उमड़ चले। महामेघ बरसने लगे और सर्वत्र जल भर गया। इतनेमें एक नाव आयी, उसमें सप्तर्षियोंके साथ सत्यव्रत बैठ गया और स्तुति करने लगा। उसी अवसरपर एक शृंगधारी महान् मत्स्य देख पड़ा। राजर्षिने तुरन्त उसके सींगमें नौकाको बाँध दिया। वह उसे बड़े वेगमें खींच ले गया और ब्राह्मी निशामें उसने उनको तत्त्वोपदेश किया। अन्तमें हयग्रीवको मारकर ब्रह्माको वेद प्रदान किया और आप मत्स्यावतारमें स्वधाम पधार गये।

(२) कूर्मावतार

जिस समय प्रलय-कालके जलमें भगवान् सो रहे थे, उस समय उनके शरीरमें आध्यात्मिक उत्पन्न हुई। ईश्वरने उसने ब्रह्मा, विष्णु और महेशको प्रकट किया। तब वही शक्ति शवरूपमें ब्रह्माके निकट गयी, उन्होंने उसे चारों ओरमें देखा, इस कारण वे चतुर्मुख हो गये। फिर वह विष्णुके समीप गयी, उन्होंने उसे दूरमें ही झूटा दिया। अन्तमें उसने शिवके समीप रहनेकी इच्छा प्रकट की, तब शिवने कहा कि तुम सी बार शरीर बदल सको तो मैं तुम्हें स्वीकार कर सकता हूँ। यह सुन शक्तिने वैसा ही किया और वह जिकमें जीन हो गयी।

शक्तिके स्थिर होनेपर विष्णुने ब्रह्माको सृष्टि रचनेके लिये कहा किन्तु पृथ्वीका बीज न देखकर ब्रह्मा कुछ न कर सके। तब विष्णुने कर्बमलसे मधुकैटभ उत्पन्न किये। उत्पन्न होते ही वे खानेको दौड़े। तब ब्रह्माने विष्णुकी शरण ली और मधुकैटभको मरवा दिया। ब्रह्माने उनके मेदेसे मेदिनीको उत्पन्न किया। और हविष्योंसे पर्वत बनाये, किन्तु उनसे जब वह उगमगाने लगी तब भगवान्ने कूर्मरूप धारण किया।

(३) वराहावतार

ब्रह्मामे सृष्टिकर्म आरम्भ करनेकी आज्ञा पाये हुए मनुने पृथ्वीको जलप्लावित देखकर उनमें कहा कि—हे ब्रह्मन् ! यह समर्प्य भूमि प्रलय-पयोनधिमें निमग्न है। इसके उद्धारका उपाय कीजिये, जिससे हम और मरीचि आदि आपकी आज्ञाका पालन करें।

यह सुन ब्रह्माने विचार किया कि जिसने मुझे उत्पन्न किया है वही इसका प्रबन्ध कर सकेंगे। उन्हीं समय विचार-मग्न ब्रह्माके नामारम्भमें अद्भुतप्रमाण वराह बाहर निकले और बाहर आने ही उन्होंने राजेन्द्र-जैसा शरीर बनाकर ऐरावतकी तरह गर्जना की। तब ब्रह्मादिने उनका मन्त्रन किया। और वराह भगवान् जलमें प्रविष्ट होकर पृथ्वीको उपर ले आये। अन्तमें हिरण्यक्षको मारकर स्वधामको पधार गये।

कालिकापुराणमें लिखा है कि यज्ञोंकी उत्पत्ति वराहजीके भ्रम-प्रस्थंगोमें हुई थी और उस समय उनकी संख्या आठ हजार थी।

(४) नृसिंहावतार

ब्रह्मामे वर प्राप्त करके त्रितिके पुत्र हिरण्यकशिपुने गौ, ब्राह्मण, देवता और विष्णुमें वैर किया था। उसके चार पुत्र थे। उनमें प्रह्लाद सबसे बड़ा था। पुत्रवामत्स्यके अग्रजोषमें हिरण्यकशिपुने प्रह्लादकी गोदमें बैठकर एक बार पूछा कि—‘कहो बेटा ! तुम इतने दिनमें पढ़ रहे हो, तुमने क्या-क्या सीखा ? इसके उत्तरमें प्रह्लादने कहा कि—

‘श्रवण कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥’

(श्रीमद्भाग ७।५।२२)

पिताजी ! भगवन्-साक्षात्कार करनेवाली नौ प्रकारकी

अकि है। उनका मैंने गर्महीमें अन्वयन किया है। वहाँ आकर तो मैं उसका अनुशीलन कर रहा हूँ।

यह सुनकर हिरण्यकशिपुने विचार किया कि यह तो अपने बैरी विष्णुका भक्त बना जा रहा है। इसकी जीवित रक्षना विष-हृत्को बचाना है। यह विचारकर उसने प्रह्लादके मारनेके अनेकों षड् किये किन्तु भगवत्कृपासे सब निष्फल गये। तब उसने कहा कि 'कहो प्रह्लाद—हाथियोंमें, सवोंसे, पर्वतोंसे और अग्नि आदिसे तुम्हारी किसने रक्षा की—बढ़ि तुम कहो कि—'सर्वभ्यापी भगवान्ने।' तो क्या वह इस क्षणमें भी है? प्रह्लादने उत्तर दिया कि—'हाँ अवश्य है।' तब हिरण्यकशिपुने क्रोध करके अतिवेगसे उस क्षणमेंपर एक मुष्क मारा। ऐसा करते ही भक्तभगवद्गारी भगवान्ने नृसिंहावतार धारण करके गजंन करते हुए क्षणमें निकलकर दर्शन दिये और तत्काळ हिरण्यकशिपुको मारकर प्रह्लादको अभयदान दिया।

(५) वामनावतार

प्रह्लादके पोते बहिनने इन्द्रादिको घरास्त करके इन्द्रासन लेनका प्रयत्न किया था। यह देखकर देवमाता जलितिके प्रार्थना करनेपर भगवान्ने उसके गर्भमें उत्पन्न होकर इन्द्रादिको स्वर्ग विछानेकी प्रतिज्ञा की। तदनुसार उन्होंने वामनरूप धारण किया। यह सही है कि माँगनेसे अनुपपन्न होता हो जाता है। इस विचारसे भगवान् पहले ही वामन भंगुलके बाधने बन गये।

बहिराजाने उनमें बहुत कुछ माँगनेको कहा, किन्तु उन्होंने केवल तीन पैँड भूमि माँगी। बलि उसके देनेको तैयार हो गया। शुक्राचार्य जान गये कि वे भगवान् हैं। उन्होंने राजाको ज्ञान देनेसे मने किया। परन्तु बलि वाक्यबद्ध था, उसने संकल्प कर दिया। वामन भगवान्ने पृथ्वीपर पैँड छगाये। पहले पैँडमें पृथ्वी और दूसरेमें आकाश नाप लिया। तीसरा पैँड बाकी रह गया उस क्षणमें बहिकी बरबार जोड़कर पाताळमें जाना पड़ा। भगवान् भी उसकी उदरसे मुग्न्य होकर उसके द्वारपर द्वारपाछ बन रहे।

(६) परशुरामावतार

जमदग्निने पुत्र परशुराम रण्डकाके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। उनके पाँच भाई और थे। एक दिन जमदग्निने अपने

पुत्रोंको किसी कारण रण्डकाके सिर काटनेको कहा। माताको मारनेमें कोई भी पुत्र तैयार नहीं हुआ। अन्तमें उन्होंने परशुरामको कहा तब उसने तुरन्त अपने फरसाको उठाया और माताका मस्तक उड़ा दिया।

जमदग्नि इस बातसे बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उनसे बर माँगनेको कहा। तब परशुरामने कहा कि 'मेरी माता जीवित हो जाय और इन्हें मेरे इस कृत्यका स्मरण न रहे।' ऐसा ही हुआ। परशुरामजीने मरीचमल क्षत्रिय राजाओंका संहारकर पृथ्वीका भार उतारा।

(७) रामावतार

बुद्धावस्था आ जानेपर भी दशरथके सन्तान न हुई, तब वशिष्ठजीके अनुरोधसे उन्होंने 'पुत्रेष्टि' यज्ञ किया। उसके जिये अङ्ग-देशमें क्षयपशु आये थे। यज्ञके यथावत् सम्पन्न हो जानेपर यज्ञकुण्डमें एक पुरुष निकला। उसके हाथमें 'यज्ञचक्र' था। उसने वह दशरथको दिया। उस चक्रके प्रभावसे तीनों रानियोंके चार पुत्र हुए। उनमें बड़े रानी कौसल्याके उदरमें रामचन्द्र हुए। उनके आदर्श और शिक्षाप्रद चरित्र बाल्मीकीय रामायण आदिमें विस्तारसे वर्णित हैं। वे सर्वदापुण्योत्तम थे।

(८) बलरामावतार

विवाहके बाद देवकीको कंस पहुँचाने गया तब मार्गमें आकाशवाणी हुई कि 'जिसको तू पहुँचाने जा रहा है इसका आठवाँ गर्भ तेरा बालक है।' यह सुन कंसने बसुदेव और देवकी दोनोंको कैदखानेमें डाक दिया और जब-जब उसके गर्भसे बाकक जन्मे तब-ही-तब वह उनका मारता रहा।

सालबै गर्भमें जो बच्चा आया उसको योगमायाने च्छाँसे हटाकर रोहिणीके गर्भमें रख दिया। उस समय रोहिणी बसुदेवके मित्र नन्दबाबाके यहाँ थी। समय पाकर उस गर्भसे बलराम उत्पन्न हुए। उन्होंने बड़े-बड़े असुरोंका संहार किया और द्विविध नामके वानरको मारा। अन्तमें उन्होंने अपने शरीरका योगवत्तसे त्याग कर दिया। और स्वयंम वज्राय गये। उस समय उनके मुँहसे फलवाला एक महासर्प निकला था और समुद्रमें प्रवेश कर गया था।

(९) बौद्धावतार

एक बार वैश्वीने देवराज इन्द्रसे पूछा कि किस कामके

करनेसे हमारा स्थिर राज्य रह सकता है। शुद्ध भावसे हुन्ने उत्तर दिया कि तुम बन्ध और वेदविहित आचार करो। तब दैत्योंने महाभयका आरम्भ किया यह देख देवताओंने विष्णुकी शरण ली।

विष्णु संन्यासीका रूप धारण करके हाथमें एक झाड़ु लेकर अपवित्र वेशसे यज्ञमें गये। हुनको देखकर दैत्योंने परिचय प्राप्त किया। तब नवागतने उत्तर दिया कि— 'तुम जो यह यज्ञ कर रहे हो इसमें प्राणियोंका बध होता है। देखो जीवहिसाके छिन्ने मैं कितना सन्तप्त रहता हूँ। अब मैं चलता हूँ तो भूमिको कुहारीसे बहारकर पोंच रखता हूँ।'।

संन्यासीके उपदेशको सुनकर दैत्ययोग भी 'अहिंसा

परमो धर्मः' मानने लगे। और उस नवागत संन्यासीने बौद्धरूपसे त्रैलोक्यका रक्षण किया।

(१०) कल्कि अवतार

आगवतादिमें लिखा है कि—कलियुगके अन्तमें अत्याचारोंसे प्रदूषित देवताओंके प्रार्थी होनेपर विष्णुयशोके घर भगवान् कल्कि प्रकट होंगे। परशुराम उनको वेद पढ़ावेंगे। शिव शस्त्रास्त्रोंका सम्भान सिखावेंगे। साथ ही एक घोड़ा और एक खड्ग देंगे तब कल्कि भगवान् सब पापियोंका नाश करेंगे।

सरण रहे कि इस लेखमें अवतारोंकी विस्तृत कथा किसी अंशमें नहीं आ सकी है। किन्तु कुछ अपरिचित और ज्ञातव्य बातोंका ही समावेश किया गया है।

लोग ईश्वरको क्यों भूले जा रहे हैं ?

(लेखक—कु० श्रीनिबानंदामजी पोद्दार)



न तो विद्वान् हूँ और न ज्ञानी हूँ। ऐसी अवस्थामें मेरा ईश्वरके विषयमें चर्चा करना हास्यास्पद हो सकता है। इसलिये अपनी मूल-वृत्तके छिये समा चाहते हुए दयालु पाठकोंमें निवेदन कर देना चाहता हूँ कि वे इस लेखके दोषोंपर ध्यान न देते हुए कृपया इसमें यदि कुछ उपयोगी बात आ गयी हो तो इसीपर विचार करेंगे।

सत्ययुग, त्रेता तथा द्वापरयुगमें इस मूलछपर अनेकों राजस तथा जाततायी पुरुष उत्पन्न हुए, जिनके द्वारा नाना प्रकारके पापोंका संसारमें आविर्भाव हुआ। नास्तिक-बादके आदिप्रचारक भी थे ही थे; परन्तु यद्यपि उन युगोंमें इन राजसोंके अत्याचारमें समस्त जगत्में हाहाकार मच गया था और उनके भयमें लोग ईश्वरका नाम-तक लेनेसे डरते थे तथापि जनसमुदायके हृदयमें ईश्वरीय सत्ताके विषयमें हृद विश्वास तथा अटूट प्रेम था। परन्तु कलमें यद्यपि वैसे राजस साक्षात् नहीं सीखते तथापि जनताकी मनोकृतिमें ईश्वरीय सत्ताका अभाव देखकर आश्चर्य होता है। तथा यह जाननेको बड़ी उत्सुकता होती है कि 'जोम ईश्वरको क्यों भूले जा रहे हैं ?'

बात असल यह है कि इस कलमें भी पाप-प्रवृत्तिको प्रोत्साहन देनेवाला तथा नास्तिकताका प्रचलन प्रचार करने-वाला एक जड़ राजस आविर्भूत हुआ है। पुराने समयके राजस देवताओं तथा ऋषि मुनियों एवं ब्राह्मणोंके धर्म-कर्म करनेमें नाना प्रकारके विज्ञ उपस्थित करते थे और कभी-कभी तो वे इनके जानके गाहक हो जाते थे, परन्तु यह कल्किा राजस जड़ होनेपर भी इतना बड़ा भयानक नीतिज्ञ है कि इसने जनताकी रुचिको ही धर्म-कर्मकी ओरसे मोड़ लिया है, तथा अब इसके मनुष्यत्वको ही निर्मूलक नाश करना चाहता है।

कल्किाका यह महाराजस शक्तियन्त्र (Power-machine) है। यह बड़ा ही बलवान् और भयंकर है, इसकी समस्त चेष्टाएं मानव-जातिके अस्मिन्त्रको मिटानेके लिये ही हो रही हैं। मनुष्यमें मानवोचित गुणोंका यह धीरे-धीरे क्षोभ करता जा रहा है। इसने ईश्वरीय सत्ताके विरुद्ध ऐसा प्रबल विद्रोह खड़ा कर दिया है कि बहुत-से देशोंमें नास्तिकताका साम्राज्य प्रतिष्ठित हो रहा है। देखनेमें तो यह मनुष्यके लिये बड़ा ही उपकारी तथा आश्वाकारी प्रतीत होता है परन्तु थोड़ा-सा विचार करते ही इसका असली स्वरूप समझमें आ जाता है। वस्तुतः यह हमारा महात् गुप्त

शत्रु है और हमारे बीचमें रहकर अपने नाशकारी प्रयत्नों-द्वारा हमें प्रतिदिन मनुष्य, निकम्मा और ईश्वरपराङ्मुख बनाता जा रहा है !

भगवान् मनु लिखते हैं कि सांसारिक, अदिरापाय और मैथुनमें मनुष्यकी प्रकृति स्वाभाविक होती है, परन्तु निवृत्ति मनुष्यको सहायक प्रदान करनेवाली होती है। इसलिये सांसारिक विषयोंसे निवृत्त रहकर ही मनुष्य सहायकरूपी चैतन्य अवस्थाको प्राप्त कर सकता है। चौरासी लाख योनियोंमें एक मानव-योनिको छोड़कर शेष समस्त प्रकृतिके अधीन रहनेके कारण निवृत्तिके लिये यत्न करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। मनुष्य भी यदि प्रकृति-सागंमें ही जगा रहा तब तो बेचारा जीव सदा आवा-गमनके चक्रमें घूमता हुआ दुःख ही पाता रहेगा और कभी शान्ति न पा सकेगा।

परन्तु हम महाराष्ट्र शक्तियन्त्र (Power-machine) का आविर्भाव तो इसीलिये हुआ है कि लोग सदा प्रकृतिमें ही फँसे रहें। यह केवल बिलासिताकी सामग्रियाँ तैयार करता है और वह भी इतने अधिक परिमाणमें कि यदि मनुष्य उन्हे कितना ही अधिक उपयोगमें लावे, भयहार खाली नहीं हो सकता। शक्तियन्त्र अधिकाधिक बिलास-सामग्री तैयार करनेके लिये आगे बढ़ रहा है, इसके लिये दिन-पर-दिन नये-नये आविष्कार होते जा रहे हैं और मानव-जाति अधिकाधिक इसकी ओर आकर्षित होती जा रही है।

अच्छा, अब इस नाशकारी यन्त्रके प्रयत्नोंको देखिये। सबसे पहले हमने मनुष्य-जातिको दो हिस्सोंमें बाँटा—पूँजीपति और मजदूर। इनमें पूँजीपतियोंके पास आबश्यकतासे अधिक धन सञ्चय हो गया और वे बिलासिताके पुजारी बन मांटों और वायुयानोंद्वारा संसारकी हवा खाने लगे। दूसरे बचे बेचारे मजदूर, जो उन्हींकी मिलोंमें दिन-रात काम करके भी मरपेट भ्रष्ट खानेके लिये नहीं पाते। पहले परिश्रमी मनुष्य गाँवोंमें काम करके सुखसे अपनी जीविका भ्रष्टाते थे, आज हम राक्षस-यन्त्रने उन्हें निकम्मा बनाकर दाने-दानेके लिये मुहताज कर दिया है। दिन-रात पेटकी फिक्रमें छोड़े रहनेके कारण इनको धर्म या ईश्वरसे कुछ सरोकार ही नहीं रह गया है। पूँजीपति नित-नये कारखानोंकी व्यवस्था करने, अधिकाधिक लाभ तैयार कराकर बाहर भेजनेके ही

पचड़ेमें लगे हुए हैं, उन्हें भी कहाँ फुरसत कि धर्म या ईश्वरके विषयमें कुछ सोचें। धनकी लिप्सामें डूबता हो वे नये-नये आविष्कारोंके सफल करनेमें ही मानव-जीवनकी सफलता समझे बैठे हैं। विद्वानोंको भी इस राक्षस-यन्त्रने नहीं छोड़ा है, वे भी परमात्मा-विषयक तत्त्वोंकी खर्चा तथा धर्म-प्रचार छोड़कर शक्तियन्त्रकी उपयोगिता तथा भौतिक पदार्थोंकी उन्नतिके प्रोत्साहनमें ही अपने जीवनको जगाना अपना कर्तव्य समझते हैं।

पहले तो इसका प्रभाव शहरोंमें ही था पर अब वह संक्रामक रोगकी तरह धीरे-धीरे देहातके रहनेवालोंको भी अपने चमक-दमकते आकर्षित कर रहा है। जो बेचारे अपना जीवन सादृशी और पवित्रतासे व्यतीत करते थे वे भी अब इसके चक्रमें फँस गाँवोंको छोड़ मुण्ड-का-मुण्ड बाँधकर शहरोंमें आ रहे हैं। नगरोंकी जन-संख्या अब बाढ़के समान बढ़ रही है। उनके लिये बड़े-बड़े मकान बन रहे हैं जिनमें वे कबूतरखानेके समान ढूँसे जा रहे हैं। देहातोंकी खुजो हवामें रहनेवाले शहरोंकी गन्दगीमें आकर, और वह भी एक जगह रहकर अपने स्वास्थ्यमें भी हाथ धो रहे हैं।

जलकी गाथा भी बड़ी ही भयानक और दुःखद है। कूप, ताखाव और नदियोंका ताजा जल जो मिट्टी, हवा और सूर्यकी गर्मीसे शुद्ध होकर हमें मिलता था, वह आज लोहेकी टङ्कियों तथा लोहेके नलोंमें बन्द करके हमें पीनेके लिये मिलता है। इससे हमारा स्वास्थ्य नष्ट हो रहा है और हम दिन-प्रति-दिन कमजोर होते जा रहे हैं।

इसप्रकार इस शक्तियन्त्र (Power-machine) ने हमारे लिये दूषित पदार्थों तथा दूषित वातावरणको उपस्थितकर हमारे स्वास्थ्य और सात्विकताको नष्टप्राय कर दिया है। जिससे हम ईश्वरकी दूँदना तो दूर रहे दिन-प्रति-दिन सांसारिक पदार्थोंके अर्जनमें ही शक्तिकी तलाश करते हुए उत्सरोत्तर विनाशकी ओर बढ़े चले जा रहे हैं। इस यन्त्रने हमारे सामने धनकी महत्ताको इतना बढ़ा दिया है कि हम धन जुटानेमें ही व्यस्त रहते हैं। धनके द्वारा उच्च-से-उच्च बिलासितामय जीवन व्यतीत करनेके लिये हमारी पाशविक वृत्तियाँ व्याकुल रहती हैं। हम इतना भी नहीं विचार सकते कि सांसारिक सुख चाहे वह कितना ही बड़ा क्यों न हो, हमें शान्ति और सुख न दे सकेगा, बिलासिताकी ओर हम जितना ही बढ़े

आयोगे उतनी ही हमारी लूना बढ़ती जायगी और उतना ही अधिक हम ध्याकुल और दुखी होंगे। सुखप्रद तो केवल एक ही ईश्वर है जो अनन्त है जिसमें सारी काम-नाएँ खीन हो जाती हैं। परन्तु हम ईश्वरको भूल गये हैं, क्योंकि इस शक्तिपन्त्ररूपी महाराजसने हमारे दृष्टिकोणको बदलकर विलासितामय बना दिया है। यही प्रधान कारण है कि संसारमें नास्तिकता बढ़ रही है और वह विनाशके गर्तमें गिरता जा रहा है। समस्त अनर्थोंका प्रधान कारण यही शक्तिपन्त्र है। इसकी काशी करतूतोंसे हमारे पर्वज अच्छी तरह परिचित थे, तभी तो मनु महाराजने यन्त्रोंमें काम लेनेका निषेध किया है। चीन-देशके लियोट्यू नामक महापुरुषने, जो चीनके तीन बड़े धर्मोंमेंसे एक धर्मके प्रवर्तक थे, भी मशीनमें काम लेनेकी स्पष्ट शब्दोंमें मनाही की थी, इंग्लैण्ड-देशके भगवत् पण्डित कार्लोइकने भी मशीनोंको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा था।

उपर्युक्त विवेचनमें यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शक्तिपन्त्रके द्वारा मनुष्य भोगमें अत्यन्त प्रवृत्त होकर ईश्वरकी सत्ताको भूल गया है। जिससे वह विलासिताकी ओर बढ़ता हुआ दिन-पर-दिन कमजोर होता दुःख-ही-दुःख भोग रहा है। अतः अब वह आवश्यक हो जाता है कि हम इन सब बातोंपर विचारकर हममें बचनेका उपाय सोचें। यह रावणादिके समान जीवधारी राक्षस तो हैं नहीं कि इसके नाशके लिये महान् अक्ष-राक्षकी योजना करनी पड़े। इसका तो सारा कारोमदार हमारी मनोवृत्तियों-पर है, यदि हमारी मनोवृत्तियाँ ठीक रास्तेपर आ जायें तो इस महाराजस्यके नष्ट होनेमें देर न लगेगी। मनो-वृत्तियोंके ठीक करनेके लिये हमें बाह्यरूपमें तो विलासिता-का त्यागकर हाथकी कारीगरियोंको उत्तेजन देना होगा और साथ ही अपनी आन्तरिक शक्तिको भी जागृत करना पड़ेगा। परन्तु इसके लिये हमारे पास साधन क्या हैं? कलकालमें यज्ञ, पूजन आदि कार्योंका विधिवत् हो सकना सम्भव नहीं जान पड़ना, क्योंकि इसके लिये चतुर्दिक् शुद्ध वातावरण तथा पवित्र वस्तुओंका अभाव-सा ठीक पड़ता है। परन्तु हमारे पूर्वज महर्षि त्रिकाश्व होनेके कारण कलिके दोषोंको पूर्णतया जानते थे और इसीलिये उन्होंने एक स्वरमें कहा था कि —

‘हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।

कलौनास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥’

तथा—

‘कलौ केशवकीर्तनम्’

अर्थात् कलियुगमें केवल भगवन्नाम-स्मरण सब अनर्थों-का नाश होकर मानव-समाजका कल्याण हो सकता है। इसीलिये पतितपावन परम ब्रह्म परमात्माने स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुके रूपमें अवतार लेकर कलियुग परमपद-साधनरूप कीर्तन-विधिका उपदेश किया है। भगवान्ने श्रीनिष्ठानन्दप्रभुको विवाहकर गृहस्थ होनेकी आज्ञा दी, तथा गृहस्थाश्रममें रहते हुए ही भगवन्नामका प्रचार करनेके लिये उनको उपदेश दिया, जिसमें गृहस्थों-को भी कीर्तन करनेमें किसी प्रकारका संशय न हो। महाप्रभुने स्वयं भी एक जगह बैठकर कीर्तन नहीं किया बल्कि उन्होंने कीर्तनको व्यक्तिगत न रखकर उसे सार्वजनिक रूप दिया, तथा दूषित वातावरणको दूर कर जीवमात्रके कल्याणका मार्ग खोल दिया। यही कारण था कि उन्होंने गाँव-गाँव और गली-गली घूम-घूमकर कीर्तनके रहस्यकी शिक्षा लोगोंको दी। उन्होंने कीर्तनमें किसी सामग्रीविशेषपर जोर न डालकर बहोतक हो भगवच्चिन्तनमें मन लगाकर भगवन्नाम और गुणोंका कीर्तन करना ही बतलाया।

कैसा सुख साधन है ! हमें संसारके सब धर्मबाले छपना सकते हैं। क्योंकि ईश्वरको माननेवाले सभी धर्मों-के लोग उनके नामकी प्रार्थना तथा गुणानुवादको परम पवित्र कर्तव्य मानते हैं। अतः सभी नर-नारी एक साथ बैठकर इस क्लेशमय जीवनमें त्राण पानेके लिये कल्पभावमें भगवान्की प्रार्थना करें। कीर्तन करनेवाली मण्डलियाँ घूम-घूमकर शुद्ध प्रेमभावमें लोगोंमें भगवन्नाम-संकीर्तनके महत्त्वको बतलायें। यदि इस इसप्रकार सन्मिश्रित प्रार्थना करेंगे तो हमारे सब्बे आर्तनाइकी सुनकर भगवान्का आसन अवश्य डोल उठेगा और तब वह पतितपावन अन्धकारसख हमारा अवश्य ही त्राण करेंगे और कलिके कल्पयौमें हमारी रक्षाकर हमें उस मार्गमें लगावेंगे जिसपर चलनेसे मानव-समाज शाश्वत सुख और परम शान्ति प्राप्त कर सकेगा।



ईश्वरके अटल विश्वासी भक्त

(प्र०—पं० श्रीनन्दकिशोरजी शुक्ल वाणीभूषण)

(१)



ठलीको स्वतन्त्र बनानेवाला वीर नवयुवकोंका अग्रणी नेता गेरीवाल्ही इतना बड़ा नामी पुरुष क्यों हुआ ? इस योग्यताका कारण उसकी माताका ईश्वर-प्रेम है। वह बड़ी ही ईश्वर-परायणा साध्वी नारी थी और गेरीवाल्हीका चरित्र सुधारनेमें उसीका पूरा हाथ था। गेरीवाल्ही आत्मचरित पुस्तकमें लिखता है कि मुझमें असाधारण साहस देखकर जनता विस्मित होती है और संग्राममें मेरे पास किसी वैकी-नातिके होनेका अनुमान करनी है। इस साहस और शूरताका मूल कारण तो ईश्वरीय बलके ऊपर मेरे अटल विश्वासका होना ही है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जबतक सत्यत्वकी अवतार देवीमुल्य मेरी माता, मेरे प्राण-रक्षार्थ परमेश्वरकी आराधनामें मग्न रहेगी, तबतक मुझे अपने प्राणोंकी रक्षाके किये बुरा भी शक्य नहीं। मैं ईश्वरके भरोमे निश्चित हूँ।

परिणाम यह हुआ कि, गेरीवाल्हीके कानोंके पाससे युद्धक्षेत्रमें समसनानी हुईं गोळियाँ चलने लगीं और तोपोंके गोले फूट-फूटकर अग्नि बरसाने लगे। उस समय इस वीरकी यही जान पड़ता था कि मेरी माता मानो घुटने टेककर जगद्विभूता ईश्वरके निकट अपने पुत्रके प्राण बचानेके किये प्रबल प्रार्थना कर रही है।

(२)

एक अनुसूचने किसी फकीरमे तीन सवाल किये—
(१) 'ईश्वरकी सत्ता सर्वत्र है' ऐसा प्रत्येक जन कहता है, परन्तु मैं उसे क्यों नहीं देख सकता ? वह कहाँ है मुझे बतलाइये। (२) अनुसूचको उसके पापसे सजा किसकिये होती है ? क्योंकि अनुसूच जो कुछ करता है, प्रभुकी प्रेरणासे ही तो करता है। (३) ईश्वर सैतानको नरकाग्निमें डालकर सजा देता है, ऐसा भी क्यों होता है ? क्योंकि सैतान आप ही अधिरूप है, तो फिर अधिभी अधिके ऊपर क्या चलेगी ?

गम्भीरतासे इन प्रश्नोंको सुनकर फकीरने जमीनसे एक डेका उठाया और तानकर प्रश्नकर्ताके क्षिरपर दे आया।

वह चोट खाकर रोता-खिलाता काजीके पास पहुँचा, और उसने बालिका कर दी। काजीने फकीरको बुलाकर जवाब तलब किया कि बतलाओ तुमने इस आत्मीको परधरमे क्यों मारा ? फकीरने बेधड़क उत्तर दिया कि मैंने इसके तीन प्रश्नोंका यह उत्तर दिया है। यह बतलावे कि सिरपर चोट लगनेसे जो दुःख हुआ है, उसका रूप कैसा है और वह इमें क्यों नहीं दीख पड़ता ? पीछे इस इमे ईश्वर बतला देंगे। (अर्थात् ईश्वर आन्तरिक अनुभवद्वारा देखा जाता है) दूसरा उत्तर यह कि, हमने जो कुछ किया तो एकमात्र ईश्वरकी प्रेरणामे किया है, फिर ईश्वरकृत अपराधपर हमें सजा क्यों ? यह आत्मी हमारा कसूर क्यों मानता है ? इसका शरीर मिट्टीका बना है, तो फिर मिट्टीकी मिट्टीके ऊपर क्या चल सकती है ? फकीरमे इसप्रकार उत्तर पाकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। काजी साहब भी खुश हो गये।

(३)

तिरुवल्लुवारका दूसरा नाम मुनिवाइन था। ईस्वी सन् १००में दक्षिण भारतके एक चाण्डालके घरमें जन्म हुआ था। वह सङ्गातविद्यामें निपुण ईश्वरका परम भक्त था। भजन गाता-गाता बहुतो वह प्रेममग्न हो बाह्य-ज्ञान-शून्य हो पड़ता था। सुप्रसिद्ध काबेरी तीर्थ श्रीरङ्गम्में एक दिन नदीके मार्गमें गाते-गाते मूर्छित हो पड़ा था। इसी समय श्रीरङ्गनाथजीका एक पुजारी ठाकुरजीकी पूजाके लिये काबेरी जल भरने जाता था, चाण्डालद्वारा रास्ता रुका जानकर उसने क्रोधित हो उसे ऐसा मारा कि तिरुवल्लु होशमें आ गया। वह खड़ा हो गया और रास्ता खुल गया। पुजारी पवित्रतासे जल भरकर मन्दिर पहुँचा तो देखा कि भीतरसे दरवाजा बन्द है। तब तो इसने भगवान्की बड़ी स्तुति-प्रार्थनाकर क्षमा माँगी कि 'हे प्रभो ! मुझसे जाने-अनजाने जो भी अपराध हुआ हो, वह माफ करो।' मन्दिरसे आज्ञा सुन पड़ी कि—'यदि तू उस मेरे चाण्डाल भक्तको कन्धेपर बैठाकर, मन्दिरकी प्रदक्षिणा करे तो तुरन्त दरवाजा खुल जाय।' सेवक बहुत शरमाया। फिर धृति पश्चात्तापपूर्वक भगवान्की आज्ञाका पालन करनेपर मन्दिरका द्वार खुल गया।

(४)

एक ब्राह्मणके मनमें धनवान् बननेकी बड़ी छालसा थी। एतद्ग्रंथ वह व्यापार करता और साधु-संग भी करता था। पर किसी तरह भी काफी धन एकत्र न कर सका। किसी रोज़ सेवासे खुदा होकर एक साधुने कहा कि बृन्दावनमें श्रीसनातन गोस्वामीजीके पास पारसमणि है, जिसका स्पर्श होते ही छोटा सोना बन जाता है। जोभी ब्राह्मण दौधा हुआ गोस्वामीजीकी सेवामें पहुँचा और प्रार्थना कर कहने लगा कि आप मुझे पारसमणि दे दें, तो मैं आपकी दयासे देशमें सबसे बड़ा सेठ बन जाऊँ। गोस्वामीजी बोले, वह राखके ढेरमें पड़ी है, उठा ले जा। मेरे किसी कामकी नहीं। ब्राह्मण आश्चर्य-चकित हो गया। उसने हाथ जोड़ पड़ा, 'भगवन् ! क्या पारसमणिमें भी ज्यादा कीमती कोई पदार्थ आपके पास है कि जिसके कारण आपने ऐसी मणि बेपरवाहीसे फेंक रखी है ?' गुरुजी बोले, 'हाँ, मेरे पास एक ऐसी वस्तु है, जिसके सामने संसारकी सारी वस्तुएँ असार हैं।' ब्राह्मणने जब उसके छिये ही आग्रह कर दिया, तो महाशयने धीरेसे उसके कानमें 'हरिनाम' का मन्त्र सुनाकर धर्मके छिये उपदेश कर दिया। राम-धन लेकर वह सानन्द घर गया, और उसने सखित धन भी दान कर दिया। 'निधनके हरिनाम परम धन।'।

(५)

किसी बीका एक पुरुषसे सच्चा प्रेम हो गया था। वह उसके बिना संसारमें कुछ भी नहीं देखती थी, प्रियतमके वियोगमें उसका खाना-पीना और सोना सब छूट गया था। उसकी सुन्दर काया सूखने लगी। इतनेमें समाचार मिला, तो प्यारेसे मित्रनेको दौड़ खली। मार्गमें अकबर बादशाहका पड़ाव पड़ा था, बादशाह अपने खेमके पास जाजिम बिछाकर नमाज़ पढ़ रहा था। प्रेम-मत्वाकी बीका बादशाह या उसके आसनका कुछ भी क्यालन रखती हुई, जाजिम रौंदती उधरसे जा निकली। अकबरको क्रोध तो खूब बढ़ा, पर नमाज़ पढ़ता था, क्रोध रोकना ही पड़ा। वह बीका प्रियतमसे मित्रकर उसके साथ हँसती हुई जब लौटी, तब बादशाहने कहा 'अरी पापिन ! तूने इतना भी होश न रहा कि यह जाजिम है। यहाँपर नमाज़ पढ़ी जा रही है।' प्रेममग्न बीका ने निर्मयताके साथ हँसकर उत्तर दिया, 'बादशाह सच्चासच ! मैं जो मनुष्यके प्रेममें

पागल थी, इससे आपको न देख सकी। परन्तु आपने मुझे किस तरह देखा और जाना ! ईश्वरके प्रेमी और विश्वासी भक्त उस प्रभुके ध्यान-समय सर्वदा ही तन्मय रहते हैं। प्रेममें बेसुच रहते हैं। आप कुरान पढ़कर थक गये हैं, पर आपके दिलमें अभीतक 'मालिक' के प्रति सच्चा प्रेम नहीं उत्पन्न हुआ। नहीं तो ध्यानके समय मुझे न देखते।

नर-राणी सुखी नहीं तम कस लख्यो सुजान ?

यदि कुरान बौरा भए नहीं रच्यो रहमान :

(६)

भक्त राजनारायण बसु बुढ़ावस्थामें रोगके कारण राज-गृहीमें रहने थे। देयभक्त बाबू अश्विनीकुमार दत्तके भाव गुरु थे। रोगका समाचार पाकर अश्विनी बाबू गुरुदर्शनार्थ पहुँचे। तीन महीनोंमें बसु महाशय लकबसे पीड़ित थे, अश्विनी बाबू गम्भीर उदासीनमुख हो कमरेके अन्दर गये। प्रणाम करते ही बसु बाबू बहुत प्रसन्न हो सहर्ष बोले, अश्विनी ! आओ आओ, बहुत दिन हो गये तुम नहीं मिले थे। ऐसा कहकर एक हाथसे ही आश्विनान किया। दूसरा हाथ लकवा मारनेमें बेकाम था। तत्पश्चात् बातचीत शुरू कर दी। शोली, बायरन्, वड्सवर्थ, इफिज, भगवद्गीता और उपनिषदोंके वाक्य, श्लोकपर श्लोक बड़ी सुशीमे बोलने लगे। मानो दुःखकी जरा भी परवा नहीं। सानन्द तीन घण्टे व्यतीत हो गये। अश्विनी बाबूको हृदयमें कुछ आश्चर्य हुआ और विद्वा होने समय उन्होंने पूछा,—'आपकी तबियत अच्छी नहीं, यह जानकर मैं तो उदास हो आपको देखने आया था। परन्तु यहाँ आकर देखाता हूँ कि आपके आनन्दका कुछ ठिकाना नहीं ! तीन माससे आप बिस्तरपर पड़े हैं, तथापि क्या आपको दुःख नहीं होता ?' राजनारायण बसुने उत्तर दिया, 'अश्विनी ! मैं अब बूढ़ हो गया हूँ। जिस भगवान्को छुपाने इतने जीवनमें कितने ही सुन्दर हरय देखे, अनेक सुन्दर स्थान देखे, बहुत-से मोगलिक बनाव देखे और आनन्दका उपभोग किया, उसी प्रभुकी इच्छानुसार क्या थोके दिन मैं इस रोगशय्यापर प्रमत्ततासे पड़ा-पड़ा भजन नहीं कर सकता ?' इसीका नाम है सच्चा भगवत्प्रेम ! सच्चे भगवत्प्रेम रोगजमित वेदनाको भी वेदना नहीं समझते।

(७)

प्रार्थनाद्वारा रोग मिटानेका प्रयोग पाश्चात्य देशोंमें सम्यक् चले लगा है, अपने यहाँ भारतमें बंधू समाज

रीति है। संकटके समय ईश्वरपर पूरा विश्वास रखकर, उसीके भरोसे रोगीको छोड़ने और आरोग्य काम करनेवाले अनेक मनुष्य हैं। सर घामस म्यूरी भी परमारसाके प्रति ऐसी ही अटूट अट्ठा थी। इनकी प्यारी कड़की बहुत बीमार हो गयी। मामी-मामी डाक्टर हार गये। सब बपाय कर बाड़े। परन्तु किसी प्रकार भी उसकी निद्राको रोक न सके। अबस्था दिनों दिन खराब होती गयी। सगे-सम्बन्धी सब निराश हो गये। पुत्रीका दुःख देखकर म्यूरीका हृदय भर आया। वह अशरणके एकमात्र शरण भगवान्के शरण हो गया, जिसके अन्यासानुसार उपासना-गृहमें जाकर बुटने टंक अश्रु-खं नयन साज्जि प्रभुसे प्रार्थना करने लगा,—‘हे सर्वशक्तिमान् दयालु पिता ! तेरे किये कुछ भी असम्भव नहीं। वृ मेरी उपासनासे प्रसन्न हो तो मुझपर इतनी कृपा कर। मेरी प्यारी बेटीको बचा दे। मेरी यह नम्र प्रार्थना स्वीकार कर।’ योही हेर बाद स्वस्थ होनेपर अन्तर्दामी प्रभुकी कृपासे म्यूरीके मनमें ऐसा विचार उठा कि अमुक उपाय भी अजमा देना चाहिये। आशा है कि इस उपायसे रोगीको अवश्य

जात्र होगा। तुरन्त ही उसने डाक्टरोंको अपना अभिप्राय जना दिया। उन लोगोंने स्वीकार कर कहा, तुम्हारा विचार बहुत ठीक है। इस रोगपर यही उपचार सर्वोत्तम, सर्वमान्य है, अभीतक हमलोगोंको इसकी सुध नहीं आयी थी, ऐसी विस्तृतिके किये आश्चर्य है।

इस उपायसे रोग भग गया। कन्या मृत्युमुखसे बच गयी। पिताके शुद्ध अन्तःकरणकी अस्वरूप प्रार्थनाने जादूका असर किया। इस उद्गाहरणद्वारा यह नहीं कहा जाता है कि रोगावस्थामें कोई ओषधि आदि न करें। उपचारोंके साथ-साथ रोगी और उनके सम्बन्धी लोग प्रभुकी शरण एकदम उनका आशीर्वाद भी एकाग्रचित्त हो माँगना सीखें। यही हमारा उद्देश्य है। ऐसे समय जो शान्तिका वातावरण पैदा होता है, वह रोगीको थाराय करनेमें बड़ी मदद करता है। ईश्वर अपने भक्तोंकी सहायता अवश्य करता है।

शरणभक्तदीनान्वरिषणपरामर्शे ।

सर्वस्वार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तु ते ॥

(गुजराती भादश दृष्टान्तमाकासे)

ईश्वर और परमेश्वरका स्वरूप



सी महद्गुणका भुज्र वस्तुके ऊपर जो एक गौरवपूर्ण प्रभाव होता है, उसे ऐश्वर्य कहते हैं। इस ऐश्वर्यसे जो युक्त हो, उसकी ईश्वर संज्ञा है। संसारमें चेतन या अचेतन कोई भी ऐसी वस्तु नहीं, जिसपर ईश्वरके ऐश्वर्यका प्रभाव न हो; किन्तु इसकी अनुभूति चेतनाको ही होती है। महत्त्वैतन्य ईश्वरपर अद्वापूर्ण विश्वास करना भुज्रचैतन्य जीवोंका एक स्वरूपगत स्वभाव है। जड़-वद् जीवोंमें इस स्वभावका परिचय मनुष्य-जीवनमें ही विशेषरूपसे पाया जाता है। इसका कारण यह है कि जीवकी चेतनता जिसनी जड़भावापन्न होगी, यह स्वभाव उतना ही संकुचित होगा। चेतनता जिसनी जड़-भावसे युक्त होगी यह स्वभाव भी उतना ही विकसित होगा। समस्त प्राणिजोंमें मनुष्य ही जड़-भावसे अधिक युक्त है। विभिन्न ईशवासिनोंके जीवनपर विचार करनेसे यह बात अधिक

स्पष्ट हो जाती है। नितान्त वन्यजीवनमें लेकर अत्यन्त सम्य जीवनपर्यन्त मनुष्य-जीवनकी अनेक अवस्थाएँ हैं। इन सभीमें किसी-न-किसी रूपमें ईश्वर-विश्वास अवश्य पाया जाता है। वन्यजीवनके मनुष्य पशुओंके समान जीवन व्यतीत करते हुए भी अपने चेतनगत स्वभावके कारण बड़े-बड़े पर्वतोंको, नद-नदियोंको, वृक्षोंको एवं प्रकाशयुक्त सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि जड़िय पिण्डोंको अपना दाता, पाता, निबन्ता, ईश्वर जानकर एजते रहते हैं। जैसे-जैसे इनमें खटताका हास एवं चेतनताका प्रकाश होता जाता है, वैसे-ही-वैसे इनके ईश्वर-विश्वासरूप स्वभावका विकास होता रहता है। यही मनुष्य-जीवनकी उन्नतिका क्रम है।

कोई-कोई मनुष्य ऐसे भी पाये जाते हैं, जो ईश्वरपर विश्वास नहीं करते। यह उनके चेतनकी अस्वस्थ अवस्था है। वे जो गुणोन्मयवश बीचमें ही क्रमोन्नतिके पथसे पतित हो, कुसङ्ग और कुशिषाके द्वारा कुसंस्कारोंका बोध करते हुए कुतर्की बनकर अविश्वासके गर्तमें गिर

जते हैं। इससे इन्हींकी हानि होती है, ईश्वरकी कोई हानि नहीं होती। सत्य सर्वत्र और सर्वदा समान होता है। जिसप्रकार पाँच और पाँच एक होते हैं, वह बात सभी देशोंके लोग सर्वदा स्वीकार करते आये हैं। पाँच और पाँच बीस होते हैं, इसे कोई भी स्वीकार नहीं करता। यदि कोई ऐसा कहे भी तो वह पागल माना जायगा। इसी प्रकार ईश्वर-विश्वास सभी मनुष्य सर्वत्र सर्वदामे करते आये हैं। ईश्वर-विश्वास न करना स्वाभाविक नहीं है। यह लोगोंने पीछेले सीखा है।

कोई मनुष्य कितना भी विद्या, विज्ञान, कला, सभ्यतासे सम्पन्न क्यों न हो, यदि उसमें ईश्वर-विश्वास नहीं है तो उसका जीवन पशु-जीवनसे किसी प्रकार भी उत्तम नहीं है। बालविक मनुष्य-जीवनका परिचय ईश्वर-विश्वाससे ही मिलता है। ईश्वर-विश्वास करनेवालोंकी साधारणतः दो श्रेणियाँ हैं—एक कल्पित ईश्वरवादी, दूसरे यथार्थ ईश्वर-वादी। कल्पित ईश्वरवादी नीतिको ही सर्वप्रधान मानते हैं। समाज-संस्कारानके लिये जो नियम बनाये जाते हैं, उसे नीति कहते हैं। ये लोग ईश्वर-विश्वासको इसी नीतिका एक विशेष अंगमात्र मानते हैं। इन लोगोंका कहना है कि ईश्वर-विश्वासके बिना नीति समर्थ नहीं होती। ईश्वर-विश्वास-रहित मनुष्य कितना भी नीति-निपुण क्यों न हो, जब कभी उसकी इन्द्रियाँ विषय-भोगोंके लिये प्रवृत्तरूपसे जाकावित हो उठती हैं, उस समय वह प्रत्यक्षभावसे नहीं तो परोक्षभावसे नीतिविरुद्ध कार्य प्रायः कर बैठता है। ईश्वर-विश्वासीकी परोक्षमें भी अनाचारमें प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि ईश्वर परोक्षमें भी सब देखता रहता है। ये लोग यह भी कहते हैं कि यदि ईश्वर है तो उसके माननेवालेको बहुत कुछ काम है और यदि नहीं है तो भी उसके माननेसे कोई हानि नहीं है। इसके विपरीत यदि कहीं ईश्वर हुआ तो न माननेवालोंकी बहुत बड़ी हानि है। अतएव मनुष्यके सामाजिक जीवनके लिये ईश्वर-विश्वास बहुत ही हितकर है। दूसरी श्रेणीके ईश्वरवादी ईश्वरके अस्तित्वको यथार्थरूपसे स्वीकार करते हैं। इनका कहना है कि यदि ईश्वरको बालविक न माना जाय तो उसका ईश्वरत्व ही कुछ नहीं रहता—

‘कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः स्वतन्त्र ईश्वरः’

इस उक्तिके अनुसार सामान्यमानका नाम ही ईश्वर है। कल्पित ईश्वर नीति वा कर्मके बरतन रहता है।

उसका महत्त्व एक म्यामी शासक (मजिस्ट्रेट) से अधिक कुछ भी नहीं रहता। उसमें क्षमा-गुणका अभाव हो जाता है, जो कि उसकी ईश्वरताकी रक्षाके लिये अत्यन्त आवश्यक है।

ईश्वर इस विश्व-ब्रह्माण्डमें जीव और जड़ दोनोंकी अन्तर्भासी होकर व्यष्टि और समष्टिरूपसे अवस्थिति करता है। सबका नियमन करता है। ब्रह्माण्ड अनन्त है। ईश्वर प्रत्येक ब्रह्माण्डमें अपनी सृजन-शक्तिद्वारा ब्रह्माण्डरूपसे सृष्टि, पोषण-शक्तिद्वारा विष्णुरूपसे पोषण एवं विघ्न-शक्तिद्वारा रुद्ररूपसे संहार करता है। ये सब कार्य कभी स्वयं करता है, कभी शक्ति-सञ्चार कर अधिकारी जीवों-द्वारा कराता है। उस समय जीव भी ईश्वर-नामसे अभिहित-होते हैं। यही कारण है कि ईश्वरके अनेक रूप कहे जाते हैं, जिन्हें पद-सुनकर बहुत-से लोग अनेकेश्वर-वादी या सर्वेश्वर ईश्वरोपासक हो गये हैं।

परमेश्वर एक है। जिसका ऐश्वर्य परम अर्थात् सर्वोपरि है, उसे परमेश्वर कहते हैं। इसीके ऐश्वर्यमें सबके ऐश्वर्यका पर्यवसान है। समस्त ईश्वर-नाम-धारी ईश्वरोंकी ईशता इसीसे स्थिर है। यह ईश्वरोंका भी ईश्वर महेश्वर है—देवताओंका भी परम देवता है। श्रुति भी कहती है—

‘तमीश्वराणां परमं महेश्वरं
तं देवतानां परमं च देवतम्’

ईश्वर और परमेश्वर कोई पृथक्-पृथक् दो पदार्थ नहीं हैं, ये एक ही स्वरूपतरफके दो भावमात्र हैं। सृष्ट पदार्थोंके प्रति प्रसारित ईशताका नाम ईश्वर है एवं केन्द्रीयभूत ईशताका नाम परमेश्वर है। बालव वस्तु एकमात्र स्वरूप-तत्त्व ही है।

वस्तुमात्रका कुछ-न-कुछ एक स्वरूप अवश्य होता है, अतएव बालव वस्तुका भी एक स्वरूप है। अर्थात् वस्तु-का स्वरूप जड़मय होता है—चैतन्य वस्तुका स्वरूप चेतनमय होता है। वास्तव वस्तु चैतन्यवचन है—अतः उसका स्वरूप भी शुद्ध चेतनमय है—यही उसका आकार है। यह स्वरूप चर्म-पशुओंका विषय न होनेके कारण अनेक लोग इसके अस्तित्वमें भी सन्देह करते हैं।

मनुष्यको जो एक अनुभव-वृत्ति प्राप्त है, उसीसे इस स्वरूपका प्रत्यक्ष हो सकता है। यह अनुभव-वृत्ति जीव

प्रकारकी है—स्थूलदेहगत इन्द्रियजन्य ज्ञान, सूक्ष्म-
देहगत मनोज्ञबोध एवं आत्मगत चिदाज्ञानसामर्थ्य ।
इनमेंसे प्रथम दोनों प्राकृत हैं, इनमें स्वरूपका प्रत्यक्ष
होना असम्भव है । आत्मगत चिदाज्ञानसामर्थ्यसे ही
स्वरूपका साक्षात्कार होता है ।

श्रीकृष्ण ही स्वरूपतत्त्व हैं । यही ईश्वर और परमेश्वर
दोनोंके आश्रय हैं । ब्रह्मसंहितामें लिखा है—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।

अनादिरादिगोविन्दः सर्वकारणकारणः ॥

अर्थात्—सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ही परम ईश्वर हैं—
गोविन्द स्वयं अनादि, सबके आदि एवं समस्त कारणोंके
कारण हैं ।

श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें ही इस श्रीकृष्णस्वरूपके
सम्बन्धमें लिखा है—

‘वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलकम् ॥’

अर्थात् यही सबका वेद्य है, यही वास्तव वस्तु है,
कल्याणदाता है एवं तापत्रयका विनाशक है ।

कृष्णकिंकर बाळकृष्ण

हरि-नाम

भावुक-हृदय-सीपके मोती ! मानस-चिन्तामणि अभिराम !
दिव्य अर्थसे भरे हुए हे अनुपमेय सद्गुण-गण-धाम !
जगमें ब्रह्म-तत्त्वके प्रतिनिधि ! भक्तोंके सर्वस्व ललाम !
बसो निरन्तर रोम रोममें अविनश्वर बनकर हरि-नाम ॥१॥

जिहवा करे तुम्हारा ही अप, कान सुने वह मंजुल तान
आँखोंमें हो छाटा तुम्हारी, मनमें रहे तुम्हारा ध्यान ।
आसों-प्रश्नासोंमें भी बस उठे तुम्हारा ही फल गान
नब जानूँ जब स्वेद-छिद्र तक वही सुनावे नाद महान ॥२॥

प्रेम-सुधा-तरुके मीठे फल ! भव-सागरके सुहृद् पोट !
सत्यके पथिकोंके संबल ! सात्विक-शक्ति-सरितके स्रोत !
अभ्यन्तर-तमकं शुचि साबुन ! भुक्ति-मुक्तिके बर आगार !
हुआ करे मेरी नस-नसमें सदा तुम्हारा शुभ सम्भार ॥३॥

मुझ निर्धनके तुम ही धन हो, निर्बलके बल हो विख्यात
आश्रयहीन दीनके आश्रय, तुम्हीं पतितपावन अवदात ।
जीवन-नीकाके केवट हो, चित्त-पङ्कके शुचि जलजात !
सदा तुम्हारे पङ्के रँगमें रँगा रहे मेरा मन तात ॥४॥

नाम-रूप है एक, नाममें देखूँगा मैं रूप ललाम
‘हरि’ के परदेमें ही स्थित हैं श्रीहरि चिन्मय मोभा-धाम ।
हरि ईश्वर है, ईश्वर हरि है, वही जीवका बर विश्राम
जिहवे ! मज आनन्द-मग्न हो मधुराक्षर श्रीश्रीहरि-नाम ॥५॥

बलदेवप्रसाद मिश्र, पृ० ५०, एक-एक० बी०

ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धि

(लेखक-प० श्रीमदनमोहनजी शास्त्री, प्रि० मारवाड़ी संस्कृत-कालेज, काशी)



रमात्माके बनावे हुए इस जगत्में सभी प्राणियोंकी प्रकृति और निवृत्ति प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम-प्रमाणके अधीन है। इन प्रमाणोंके बिना सर्वसत् वस्तुओंका यथार्थ निर्णय न हो सकनेके कारण इष्टा-निष्ठका निर्णय करनेवाला ज्ञान नहीं हो सकता। और इष्टानिष्ठके ज्ञान बिना वस्तुओंमें इच्छा-द्वेष (अपेक्षा तथा उपेक्षा) की उत्पत्ति न होनेसे संसार-यात्रा ही लुप्त हो जाती है। यदि अनुमानकी प्रमाण्याता न मानें तो दूसरे पुरुषमें समवेत (रहनेवाले) संशय, विपर्यय आदिका केवल प्रत्यक्ष-प्रमाणद्वारा ज्ञान न हो सकनेके कारण परपक्षके बिना जाने ही उसके स्वरूपमें प्रवृत्त होनेसे अपनी कौंकितता और परीक्षकता नष्ट होती है। प्रमाणताके स्वतोप्राप्त होनेके कारण ज्ञानकी प्रमाणतामें संशय नहीं होता, अतः प्रमाणताकी शङ्का करनेवालेकी प्रकृति आदि किन्हींसे अनुमेय अनुमानकी प्रमाण्याता न माननेसे प्रत्यक्षकी ही प्रमाणता नष्ट हो जायगी। फिर धूमके देखनेसे अग्निका ज्ञान, सुखकी प्रसन्नतासे सुखका ज्ञान, सुखकी अजिततासे दुःखका ज्ञान, रोदन आदिसे शोककी अधिकता कैसे जानी जा सकती है? अतः ऐन्द्रिय प्रत्यक्षके समान अनुमानकी भी प्रमाणता अवश्य स्वीकार करनी चाहिये। इसी प्रकार आगम (शब्द-प्रमाण) का प्रमाण्याता न माननेसे बालकका अपने माता-पिताका निश्चय, वनके पशुओंमें व्याघ्र, गवय आदिके हिंस्र-अहिंस्र होनेका निश्चय, ओषधियोंके हितकर-अहितकर होनेका निश्चय, शंस और मृत पुरुषके कपाल आदिकी पवित्रता और अपवित्रताका निश्चय किसप्रकार किया जा सकता है? अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमकी प्रमाणता किसीके द्वारा भी खण्डन नहीं की जा सकती। इन त्रिविध जागरूक प्रमाणोंके रहते हुए आज जो प्रमाण-शक्तिये अनभिज्ञ, वेद-स्मृति-पुराण-इतिहास आदिका लेशमात्र भी ज्ञान न रखनेवाले, पाश्चात्य कुशिक्षामे युक्त मतिवाले, अर्थ और काममात्रमें जीन रहनेवाले सुधारक-धुरीण पुरुष ईश्वरके अस्तित्वमें ही शङ्का करते हैं तथा बहुमतके द्वारा ईश्वरका अभावतक निश्चय कर डालते हैं, उनके ब्यामोह (अम) को मिटानेके लिये ईश्वरका उपक्रम कर कुछ खिन्ना जाता है।

अब 'ईश्वर नहीं है', ऐसा जो कहा जाता है, वह प्रत्यक्ष-प्रमाणके अभावमें, अथवा अनुमान-प्रमाणके अभावमें या ईश्वरके प्रतिपादन करनेवाले आगम-प्रमाणके अभावमें कहा जाता है? यदि प्रत्यक्ष-प्रमाणके अभावमें, तो वह बाह्य प्रत्यक्षाभाव है या मानस प्रत्यक्षाभाव? यदि बाह्य प्रत्यक्षका अभाव मानें तो वह ठीक है, क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्षका उद्भूत रूप तथा स्पर्शन प्रत्यक्षका उद्भूत स्पर्श हेतु है और ईश्वरमें उद्भूत रूप और उद्भूत स्पर्शका अभाव है अतः ईश्वरका चाक्षुष और स्पर्शन प्रत्यक्ष नहीं होता। ज्ञान-रसनादि इन्द्रियाँ गन्ध और रसादि गुणोंका ग्रहण करती हैं और ईश्वर गुण नहीं, बल्कि गुणवान् द्रव्य है अतः गन्धरसादि गुणोंके अभावमें ईश्वरको प्रत्यक्ष करनेमें प्राणादि इन्द्रियोंकी असमर्थताके कारण ईश्वर-ज्ञानमें वहिरिन्द्रियोंकी प्रकृति नहीं हो सकती। दूसरे, यदि ईश्वरके अस्तित्वके न माननेमें मानस प्रत्यक्षके अभावके कारण मानें तो प्रश्न उठता है कि 'वह अभाव अपने मानस प्रत्यक्षका अभाव है अथवा सबके मानस प्रत्यक्षका अभाव है?' अपने मानस प्रत्यक्षके अभावमें वस्तुमात्रका अभाव मानना किसी भी विद्वान्को स्वीकृत नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा होनेसे अपने ज्ञानके अतिरिक्त समस्त वस्तुओंके अभावका प्रसङ्ग आ जाता है। यदि सबके मानस प्रत्यक्षका अभाव ईश्वरास्तित्वके न माननेका कारण है, तो यह कैसे निश्चय किया जा सकता है कि किसीको भी ईश्वरका प्रत्यक्ष नहीं हुआ। यदि कोई कहे कि तुमने यदि ईश्वरको प्रत्यक्ष किया है तो मुझे भी उसको दिखाओ। उसमें कहा जा सकता है कि तुम अपने प्रत्यक्ष किये हुए सुख-दुःखादिको मुझे दिखाओ। तो इसका उत्तर यहाँ मिलेगा कि मनोबोध सुख-दुःखादि दूसरोंको नहीं दिखाया जा सकते। उसी प्रकार यम-नियमादि अनेक प्रकारके उपायों तथा अनुष्ठानोंसे पवित्र किये हुए सनके द्वारा जाननेयोग्य ईश्वर भी किसीको दिखाया नहीं जा सकते। यदि कोई कहे कि इस-प्रकारका ईश्वरप्रत्यक्ष आम्तिमूलक है, इसमें बन्धुसिद्धि नहीं हो सकती; तो तुम्हारे सुख-दुःखादिके प्रत्यक्षको भी आम्ति-मूलक कहा जा सकता है और इससे सुख-दुःख भी सिद्ध नहीं हो सकते। इसपर यदि कोई कहे कि सुख-दुःखादिकी

वेदना सबको होती है, तो उससे पूछा जा सकता है कि किसके सुख-दुःखादिकी वेदना सबको होती है ? जैसे तुम और हम सभी अपने अपने सुख-दुःखादिको अपने-आप जानते हैं, उसी प्रकार विधि और अनुष्ठानके द्वारा जिसका मन शुद्ध हो गया है उसीके द्वारा ईश्वर जाना जा सकता है, दूसरों-के द्वारा नहीं, ऐसा कहा जा सकता है। यदि सुख-दुःखके विषयमें कोई यह शङ्का करे कि इष्ट-प्राप्तिका सुख और अनिष्ट-प्राप्तिका दुःख जैसा चैत्र (पुरुषविशेष) को अनुभूत होता है वैसा ही मुझे भी अनुभूत होता है। इसका उत्तर यह है कि शम, दम, तितिक्षामे युक्त निदिध्यासनशील चैत्र-को जिसप्रकार ईश्वरका अनुभव होता है उसी प्रकारसे मुझे भी अनुभव होता है, क्या इसमें भी कोई शङ्का है ? यदि ऐसा कहें कि अपने अनुभवके बिना हम दूसरेकी प्रतीतिमात्रपर विश्वास नहीं करने, क्योंकि दूसरे दोषवश शङ्काको भी पीला देवते हैं, बड़े चन्द्रमाको भी प्रादेश (तर्जनी और अंगुठके बीचकी दूरी) मात्र समझते हैं, शुक्ति (सीप) को भी रजनरूपमें ग्रहण करते हैं; भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्सा (प्रवृत्तना) आदिके कारण बन्तुओंको अन्यथा बतलाने हैं, अतः केवल दूसरोंकी प्रतीतिमात्रसे किसी बन्तुकी सत्ताका निर्णय नहीं किया जा सकता। परन्तु उपर्युक्त मनुष्योंमें जहाँ पित्त, दूरव्यना, भय, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोष होने हैं वहाँ भ्रम कहा जा सकता है। योगसाधन, अनुष्ठानादिये णीकस्मय वीतराग योगीमें लेशमात्र भी दोषकी सम्भावना नहीं होती। अतः उनके प्रत्यक्षके अप्रमाणत्वकी शङ्का करना अपने-आपको कलङ्कित करनेके लिये दुःसाहस करना है, नहीं तो उसकी अप्रमाणता सिद्ध नहीं की जा सकती।

यदि कोई शङ्का करे कि 'योगियोंमें दोषका अभाव भी कैसे निश्चय किया जा सकता है ?' इसका उत्तर यों है कि उनके अभ्यस्य, अपेय, द्वैतमें अनुराग, कुजीविका, कृतार्किकता, व्यग्रता, अभिसम्भि, पात्यवका संसर्ग, प्रवृत्तना आदि दोषोंने हीन होनेके कारण उनमें दोषभावका निश्चय किया जा सकता है। अपने मनके द्वारा दूसरेकी आत्माका प्रत्यक्ष न हो जाय इसलिये अपने मानस प्रत्यक्षके लिये परात्मव्यावृत्त विजातीय मनःसंयोगको हेतु मानते हैं, फिर ईश्वरका मानस प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ? और यदि इसको हेतु न मानें तो दूसरोंके भी सुख-दुःखादि अपने प्रत्यक्ष-गोचर हो जाते हैं, अतः ईश्वरका प्रत्यक्ष ज्ञान

सिद्ध नहीं होता।' इस शङ्काका उत्तर यह है कि ईश्वरमें आत्मस्व-ज्ञाति नहीं है। क्योंकि आत्मस्व-ज्ञाति सुख-दुःख-के समवायि-कारणके रूपमें सिद्ध होती है और ईश्वरमें सुख-दुःखका अभाव है। अतः ईश्वरके अस्मात्त्वकी सिद्धिमें मानस प्रत्यक्ष (प्रत्यक्ष-प्रमाण) का व्याघात नहीं होता।

ईश्वरकी सिद्धिमें अनुमान-प्रमाणका भी अभाव नहीं है। अनुमान-ज्ञान पक्षवृत्ति, सपक्षवृत्ति, विपक्षवृत्ति, अबाधित, असम्प्रतिपक्षित नामक हेतुओंमें होता है। इनका स्वरूप कहीं स्वयमेव और कहीं प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमनरूप पाँच अवयवोंद्वारा निर्धारित होता है। इसप्रकारके हेतुओंके ज्ञानसे निर्बाध साध्यकी प्रतीति देखी जाती है। जैसे धूम आदि हेतुओंसे पर्वतादिमें अग्नि-की प्रतीति होती है। ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धिमें, द्रव्य-कादिमें निर्धारित पक्षरूपोपेत कार्यरूप हेतु है। (जैसे, द्रव्यगुण सकर्तृक है—प्रतिज्ञा; क्योंकि यह कार्य है—हेतु; जो कार्य होता है वह सकर्तृक होता है, जैसे घट—उदाहरण; द्रव्यगुण भी कार्य है—उपनय; इसलिये वह सकर्तृक है—निगमन।) हममें उन द्रव्यगुणोंके उपादानको प्रत्यक्ष करनेवाला ज्ञान नहीं है और ऐसा कोई कर्ता नहीं दीख पड़ता जो उपादानको प्रत्यक्ष किये बिना कार्यका सम्पादन करे, एवं द्रव्यगुणको कार्यरूपमें देखकर उसके उपादानको प्रत्यक्ष करनेवाले ज्ञान, चिकीर्षा और कृतिमे युक्त कर्ता अर्थात् ईश्वरकी निर्बाध प्रतीति होती है। अतः कैसे कहा जा सकता है कि ईश्वरकी सिद्धि अनुमानद्वारा नहीं होती।

इसपर यदि कोई शङ्का करे कि प्रत्यक्ष न होनेके कारण 'द्रव्यगुण नहीं है, अतः वे कार्य भी नहीं हैं। इसप्रकार अनुमान-वाक्यमें पक्षासिद्धि और हेतुमें स्वरूपा-सिद्धि-दोष होता है।' परन्तु सावयव द्रव्य बाह्यन्द्रियों-द्वारा प्रत्यक्ष होते हैं। अतः 'प्रसरेणुका सावयव द्रव्यमे आरम्भ होता है, क्योंकि उसका बाह्य इन्द्रियोंमे प्रत्यक्ष होता है' इस न्यायसे द्रव्यगुण निरवयव नहीं सिद्ध होते हैं इसलिये पक्षासिद्धि-दोष नहीं आ सकता। द्रव्यगुणके सावयव होनेके कारण उसका कार्यत्व भी सिद्ध ही है अतः हेतुमें स्वरूपासिद्धि-दोष भी नहीं आता।

दूसरी शङ्का यह होती है कि 'अक्षुर आदि काय हैं परन्तु वे सकर्तृक नहीं देखे जाते, अतः यहाँ विपक्षा-भावकी प्राप्ति नहीं होती, इसलिये द्रव्यगुणका का

हेतु पर्याप्त नहीं है।' उत्तर यह है कि विपक्ष निश्चित-साध्याभाववान्को कहते हैं, न कि संविग्रह साध्यावान्को। परन्तु अङ्कुरादिमें सकर्तृत्वका सन्देह होनेसे संविग्रह-साध्य उपस्थित होता है अतः विपक्षकी आपत्ति नहीं आती। बल्कि अङ्कुरादिमें ईश्वरके व्याप्त रहनेके कारण उनमें सकर्तृत्व सिद्ध होनेसे विपक्षामावकी प्राप्ति हो जाती है। इसप्रकार हृण्युकादिका कार्यत्व-हेतु सिद्ध हो जाता है। और यदि संविग्रह-साध्यकी विपक्ष मानें तो पर्वतमें अग्निका सन्देह होनेसे भूमिरूप हेतुमें भी विपक्षसम्बन्धका अभाव हो जायगा, जिससे अनुमानमात्रके उच्छेदकी आपत्ति आती है।

यदि यह शंका उठायी जाय कि 'हृण्युक कर्तृजन्य नहीं है, क्योंकि उनमें शरीराजन्यत्व है' इत्यतर्कसे सप्रतिपक्षका प्रसङ्ग आता है। परन्तु शरीर-विशेषण-वर्णित होनेके कारण यह हेतु उपयुक्त नहीं। बल्कि जिसप्रकार पर्वतमें अग्निकी सिद्धि करनेके लिये नीलभूमिरूप हेतु व्याप्यत्वासिद्धि-दोषमे युक्त होता है, उसी प्रकार इस हेतुमें भी व्याप्यत्वासिद्धि-दोष है; और शरीर-विशेषणका उपादान न रहनेपर हेतुमें स्वरूपसिद्धि-दोषकी आपत्ति होती है। इसलिये सकर्तृत्व-साधक उपयुक्त हेतुमें सप्रतिपक्ष-दोष नहीं आ सकता।

बाधकान्तरमे भी इस हेतुका बाध नहीं होता। 'अग्नि क्षीणत है क्योंकि वह जलके समान ही कृतक (कृत्रिम) है,' 'शङ्खके समान प्राणीका अंग होनेके कारण नरशिरका कपाल पवित्र है' इत्यादि अनुमान-वाक्योंमें 'अग्निकी क्षीणता और कपालकी पवित्रता' के बाधक प्रत्यक्ष और आगम-प्रमाण मिलते हैं परन्तु अङ्कुरादिकोंके सकर्तृत्वके बाधक प्रत्यक्ष या आगम-प्रमाण कहीं नहीं मिलते।

यदि कोई शङ्का करे कि 'अङ्कुरादिके कर्ताकी उपलब्धि न होनेके कारण उपयुक्त हेतुमें साध्याभाव क्यों न निश्चय किया जाय?' तो इसका उत्तर यह है कि योग्य अनुपलब्धिले ही अभावका ग्रहण किया जाता है, यदि ऐसा न होता तो गुल्लक और संस्कारादिकी उपलब्धि न होनेके कारण उनका भी अभाव हो जाता, परन्तु ऐसी बात नहीं है अतः साध्याभावका प्रसङ्ग जाना अनुक्त है।

अब यह प्रसङ्ग उठता है कि ईश्वरके शरीर है या नहीं? यदि है तो द्रव्य है या अद्रव्य? परन्तु विपक्षवादी

न देनेके कारण द्रव्य शरीर नहीं माना जा सकता। अतएव शरीर भाननेपर भी उसके अवयवी होनेके कारण धनीमूल पाषाणके भीतर रहनेवाले मैतृक आदिके शरीरमें कार्य करनेके लिये अपनेको छिन्न-भिन्न किये बिना प्रवेश करना सम्भव न होनेके कारण ईश्वरमें कर्तृत्वका अभाव आता है अतः अतएव शरीर भी मानना ठीक नहीं। उस शरीरको नित्य परमाणुरूप भी नहीं मान सकते, क्योंकि अन्तराल न रहनेके कारण उसमें मनका अभाव हो जायगा जिससे इन्द्रियोंका आश्रयत्व ही सिद्ध न हो सकेगा। और 'चेष्टेन्द्रियायांश्रयः शरीरम्' इत्यमान्ये चेष्टा और इन्द्रियोंका आश्रय न होनेसे शरीरत्वका ही अभाव हो जायगा।

ईश्वरका शरीराभाव हो जानेपर यह अनुमान होता है कि 'घटादिके समान ईश्वर कर्ता नहीं है, क्योंकि वह अशरीरी है' इत्यप्रकार अकर्तृत्व सिद्ध हो जानेपर ईश्वरके अस्तित्वका ही अवलाप हो जाता है। परन्तु यह शंका ठीक नहीं, क्योंकि अभाव-ज्ञानका कारण अधिकरण-ज्ञान होता है। ईश्वरत्वमक अधिकरण-ज्ञानके अभावमें उसमें अशरीरित्वका ज्ञान न हो सकनेके कारण तत्त्वका कर्तृत्वाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। तथा अधिकरणके ज्ञानमें इम अनुमानद्वारा कर्तृत्वरूप धर्मिप्राहक-प्रमाणका ही बाध हो जाता है।

कर्ताको शरीरी होना ही चाहिये, यह म्यासि भी विपक्षबाधक तर्कके न होनेसे दुर्बल है, अतः वह कर्ता और कार्यमें कार्य-कारण-भावके अनुमन्धानात्मक प्रबल तर्करूप कर्तृत्व-कार्यत्वकी ध्यासिका विघात नहीं कर सकती। अब यह शङ्का होती है कि तब अशरीरीमें कर्तृत्व कैसे आ सकता है? क्योंकि सभी कर्ता कारक-स्वरूपका अवधारण (निश्चय) करते हैं तब इच्छा करते हैं कि इम अमुक पदार्थमे अमुक कार्य करेंगे। तत्पश्चात् प्रयत्न करते हैं, तब शरीरको व्यापारमें लगाने हैं, पश्चात् कार्योंको एकत्रकर कार्य करते हैं। कर्ता अवधारण (निश्चय), इच्छा, प्रयत्न, शरीर-व्यापार आदिके बिना कार्य नहीं करता है, इसप्रकार अन्वय-व्यातिरेकसे बुद्धिके समान शरीर भी कार्यकी उत्पत्तिमें कारण है अतः उसे छोड़ा नहीं जा सकता है। शरीरका परिश्रयान करनेपर बुद्धिका भी परिश्रयान करना होगा। क्योंकि यदि शरीरके बिना ही अपने विशेष प्रभावके कारण ईश्वर कार्य कर सके हैं तो वह बुद्धिके बिना भी करेंगे।

इस शङ्कापर यह आक्षेप होता है कि 'क्या शरीरित्व ही कर्तृत्व है अथवा परिहृत्सामर्थ्यकारकप्रयोक्तृत्व ?' यदि शरीरित्वको कर्तृत्व मानें तो सुषुप्त और उदासीन पुरुषके कर्तृत्वका प्रसङ्ग आ जाता है, अतः कोई शरीरी होनेसे ही कर्ता नहीं हो सकता। परिहृत्सामर्थ्यकारक-प्रयोक्तृत्व तो अशरीरीमें भी सम्भव है। जैसे आत्माके द्वारा प्रेरित हो अपना शरीर कार्य करता है, और इस शरीरकी प्रेरणारूपी कार्यमें आत्मा दूसरे शरीरकी अपेक्षा नहीं करता, तथा न स्वशरीरकी ही अपेक्षा करता है क्योंकि ऐसा करनेसे आत्मामें क्रिया-विरोध उत्पन्न होता है।

अब प्रश्न यह होता है कि शरीर न रहनेपर ईश्वरमें किसप्रकार ज्ञान, इच्छा और क्रिया होती हैं। क्योंकि ज्ञानादिकी उत्पत्ति शरीरके बिना नहीं होती। इसका उत्तर यह है कि जहाँ ज्ञान, इच्छा और क्रिया आगन्तुक तथा विनाशस्वभाववाली हैं वहाँ ही शरीरकी अपेक्षा होती है, जहाँ ये स्वतःसिद्ध हैं वहाँ शरीरकी अपेक्षा नहीं होती। अतः ईश्वरके शरीरी होनेका प्रसङ्ग नहीं आता। और न ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नकी निरयतामें कोई विरोध आता है। क्योंकि रूप आदि गुणोंकी आश्रय-भेद (परमाणु और कार्यरूप) से निरय और अनिरय दो गतियाँ देखी जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानादिकी भी दो गतियाँ—निरयानिरय हो सकती हैं, इसमें विरोध ही क्या है ? इसप्रकार कार्यविरोधसे सिद्ध कर्तृविरोधकी सर्वशक्ता सिद्ध होनेके कारण कोई विरोध शङ्का नहीं रह जाती। सर्वशक्ताके कारण उसमें मिथ्याज्ञान नहीं हो सकता, मिथ्याज्ञानके अभावमें रागद्वेषका अभाव और रागद्वेषके अभावमें क्रमशः प्रभृति, धर्माधर्म, सुखदुःखका भी अभाव होता है। तथा सर्वदा ही अनुभव होनेके कारण उसमें स्मृति और संस्कार भी नहीं होते हैं, इसप्रकार संख्या, परिमाण, प्रयत्न, संयोग, विभाग, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न-रूप आठ गुणोंसे युक्त भगवान् ईश्वर हैं। वह मिथ्याज्ञानरूपी बन्धनसे रहित होनेके कारण बद्ध नहीं हैं और उसके अभावसे वह युक्त भी नहीं हैं। इस तरह ईश्वरको अपनेसे विच्छेदन ही जानना चाहिये।

इसपर यदि कोई शङ्का करे कि 'जहाँ कार्य होता है वहाँ कर्ता भी अवश्य होता है, इस सामान्य व्याप्तिके द्वारा किसप्रकार ऐसे अलौकिक विच्छेदक कर्ताकी सिद्धि हो

सकती है ?' परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं, क्योंकि कार्य-विरोधके द्वारा कारणविरोधका अनुमान छोकसिद्ध है, जैसे अन्य भूमसे बिच्छेदन-भूमकी उपलब्धिसे बन्धनोद्भूत बहिका ही अनुमान होता है। तथा विच्छेदन कार्यसे विच्छेदन कर्ताकी ही अनुमान किया जाता है। जैसे सुन्दर वस्त्रको देखकर कुशल कुविन्द (जुहादे) का अनुमान होता है।

संसारकी सृष्टि और प्रलय ईश्वरकी इच्छाके अधीन है। क्योंकि उसके बिना सृष्टि और प्रलयकी व्यवस्था ही नहीं उपपन्न हो सकती है। सृष्टि-प्रलय-व्यवस्थाको ईश्वरेच्छाके अधीन न मानकर अदृष्टके अधीन मानना भी ठीक नहीं है। क्योंकि अदृष्ट अचेतन होनेके कारण नियामक नहीं हो सकता और नियामकताके अभावमें प्रभृति नहीं हो सकती।

यदि कोई कहे कि 'पुरुषके निमित्त प्रधानकी प्रभृतिसे सृष्टि और प्रलय होता है। क्योंकि पुरुषका निमित्त दो प्रकारका होता है—शब्दादिकी उपलब्धि और प्रकृति-पुरुषका भेद-दर्शन। और यह दोनों प्रधान (प्रकृति) की प्रभृतिके बिना सम्भव नहीं हैं। अतः पुरुषके निमित्त प्रकृत हुआ प्रधान (प्रकृति) जगत्का स्रष्टा है और अनागत पुरुषार्थ ही प्रकृतिका प्रयोजक है, इसप्रकार अन्योन्याश्रय-दोषका अवसर भी नहीं आता है। तथा अचेतनकी भी दूसरेके लिये प्रभृति देखी जाती है जैसे वस्त्रकी वृद्धिके लिये क्षीरकी प्रभृति होती है।' परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि इस मतसे सत्का विनाश नहीं होता, अतः असत्की उत्पत्ति न होगी। इससे सृष्टि-प्रलयके कभी-कभी होनेकी व्यवस्था नहीं हो सकती। क्योंकि पुरुषार्थके सर्वदा विद्यमान रहनेके कारण उसके द्वारा प्रयुक्त प्रधानमें सतत प्रभृतिकी आपत्ति होती है और पुरुषार्थका विनाश न होनेके कारण प्रलय भी नहीं हो सकता। इसपर यदि यह कहा जाय कि 'सर्व, रज, तमकी सागयावस्थारूप प्रकृतिमें रजोगुणकी अभिवृद्धिसे सृष्टि, सर्वगुणकी वृद्धिसे जगत्की स्थिति और तमोगुणकी अभिवृद्धिसे प्रलय होता है, इस-प्रकार सृष्टि, स्थिति और संहारका क्रम चलता है।' तो यह प्रश्न उठता है कि 'सर्व, रज, तममें इसप्रकारकी विषमता ही क्यों आती है ?'

क्षीरकी प्रभृति भी चेतनके अधिष्ठानसे ही होती है नहीं तो सूक्ष्म या सूतावस्थामें भी उसकी प्रभृति होनी

चाहिये थी। इसी प्रकार कालविरोध किंवा स्वभावविरोधके द्वारा जगत्की उत्पत्ति होती है, यह मत भी निराकृत हो गया, क्योंकि चेतनद्वारा अघिष्ठित होनेपर ही अचेतन कार्य करता है। और स्वभावके स्वतन्त्र न होनेके कारण सृष्टिके पूर्वमें उसकी स्थिति भी नहीं हो सकती।

यदि स्वभावकी परमायुनिष्ठ मानें तो यह प्रश्न उठता है कि वह नित्य है या अनित्य? यदि नित्य है तो सर्वथा ही सृष्टि होनी चाहिये; और यदि अनित्य है तो किस स्वभावसे संहार और किस स्वभावसे उत्पत्ति होती है यह कारण बतलाना होगा। और स्वभावकी एकमात्रमें वृत्ति रहनेसे अन्यमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती है; यदि उसमें अनेक-वृत्तियुक्त मानें तो यह शंका होती है कि स्वभाव एक है या अनेक? एक माननेसे एक स्वभावसे उत्पन्न कार्य भी एक ही स्वभाववाले होने चाहिये और इसमें अग्निमें भी शीतलता, तथा जलमें दहनशीलताकी आपत्ति हो जायगी। और यदि स्वभाव अनेक है तो यह प्रश्न उठता है कि वे चेतन हैं या अचेतन? यदि चेतन हैं तो उनके भिन्न-भिन्न अभिप्राय होनेके कारण नियतकालमें सृष्टि और प्रलय नहीं हो सकते। यदि यह माना जाय कि एक ही अभिप्रायसे सबकी प्रवृत्ति होती है तो हमारे मतकी अपेक्षा इसमें गौरव आ जाता है और इस महान् प्रयत्नके द्वारा अर्जित किये हुए मतका लाघव ही हमारा मत है। यदि स्वभाव अचेतन हैं तो इसका उत्तर ऊपर दिया ही आ चुका है। अचेतन चेतनके द्वारा अघिष्ठित हुए बिना कार्यरत्न नहीं हो सकते। इतनेसे ही —

‘अग्निश्छेदा जलं शीतं शीतस्पर्शस्तथातिलः ।

केनेदं चित्रितं तस्मात्स्वभावान्तद्वयवस्थितिः ॥’

‘अनिमित्ततो मावोत्पत्तिः कष्टकनैक्यादिदशनात् ।’

—हृष्यादि प्रलय भी निरस्त समझने चाहिये। क्योंकि संस्थानविशेषरूप तीक्ष्णता आदिकी उत्पत्ति अदृष्टविरोधसे ही होती है। महर्षि कणादने भी यही बात कही है—

‘अग्रे कर्षद्वलनं बायास्तिर्यग् गमनं

मनसश्चाद्यं कर्मादृष्टकारितम् ।’

अर्थात् ‘अग्निका ऊर्ध्वज्वलन, बायुका तिर्यक् गमन, तथा मानस-कर्मोंकी उत्पत्ति अदृष्टद्वारा ही करायी जाती है।’

यदि कोई यह शङ्का उठावे कि, ‘ईश्वरकी इच्छाके नित्य होनेसे सर्वथा ही जगत्की उत्पत्तिका प्रसङ्ग आता है

और सृष्टिकी इच्छाके नित्य होनेसे प्रलयकी प्राप्ति नहीं होती है। और प्रलयवेच्छाके नित्यत्वकी भी स्वीकार करनेसे सदा जगत्की सृष्टिकी प्राप्ति न होकर प्रलय ही बना रहेगा।’ तो इसका उत्तर यह है कि प्राणियोंके कर्मविपाकके अनु-सम्मानानुसार सृष्टि-प्रलय करनेवाली भगवान्की इच्छा स्वरूपतः नित्य होती हुई भी कभी सृष्टिविषयक और कभी संहारविषयक होती है, अतः इसमें एक दोषकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसपर यदि शङ्का हो कि ‘निष्क्रिय ईश्वरमें कर्तृत्व किसप्रकार सम्भव हो सकता है? क्योंकि जो क्रियावान् होता है उसीमें कर्तृत्व भी होता है।’ तो इसका समाधान यह है कि ‘ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नवान्में ही कर्तृत्व होता है, केवल क्रियावान्में कर्तृत्व मानें तो क्रियाके सर्वत्र मूलभ होनेके कारण सर्वत्र ही कर्तृत्वकी आपत्ति होती है। और ईश्वरमें ज्ञान-इच्छा-प्रयत्न अवा-धित हैं, अतः उसमें कर्तृत्वका व्याघात कैसे सम्भव हो सकता है?’

अब प्रश्न होता है कि ईश्वरके सृष्टि करनेमें क्या हेतु है—‘स्वार्थ अथवा परार्थ? उसकी सृष्टिका स्वार्थ हेतु नहीं हो सकता क्योंकि ईश्वर सुख-दुःखसे रहित होनेके कारण स्वार्थमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। यदि परार्थ सृष्टि होती है तो सबकी सुखी उत्पन्न करना चाहिये, नाना प्रकारके दुःखोंके भोगोंमें युक्त सृष्टि ठीक नहीं।’ उत्तर यह है कि ईश्वरकी सृष्टि परार्थ ही होती है; और परार्थ जो क्रिया होती है वह कल्याणहीन देखी जाती है। ईश्वरमें समस्त प्राणियोंके दुःख नाश करनेकी इच्छारूपी कल्याण है, उसीसे सृष्टि होती है। अनादि शुभाशुभ संस्कारोंमें युक्त अपने अमोघमूर्तकी शृङ्खलामें बंधे अपवर्ग-द्वारसे बहिर्भूत प्राणियोंके प्रति ईश्वरकी अनुकम्पा क्यों न हो? जिन कर्मोंके फल नहीं भोगे गये हैं उनका नाश सृष्टिके बिना नहीं हो सकता, अतः उन फलोंके भोगनेके लिये मरकादिकी सृष्टि करनेवाला ईश्वर क्या ही है। उपभोगप्रयत्नसे परिभ्रान्त हुए प्राणियोंको बीच-बीचमें विश्राम देनेके लिये वे प्रलय भी करते हैं, यह सब ईश्वरकी कृपा ही है।

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि ‘अविनाशी कर्मोंके फलोपभोगमें प्रतिबन्ध सम्भव न होनेके कारण समस्त जगत्का एक साथ प्रलय होना उपपन्न नहीं होता।’ परन्तु यह शङ्का युक्त नहीं है क्योंकि कर्मोंकी शक्ति ईश्वरकी इच्छासे प्रतिबद्ध होती है, उस इच्छासे प्रेरित होकर

ही कर्म-फल प्रदान करते हैं, उसकी इच्छासे प्रतिबद्ध हो कर्म-फलसे उपरत होते हैं। इसका कारण यह है कि अचेतन चेतनके अविद्यानके बिना अपने कार्यके उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं वेले जाते। अब यह साक्षात् होती है कि 'सृष्टि और प्रलयका हेतु ईश्वरेच्छा ही क्यों न मान लिया जाय, कर्मकी तो कोई आवश्यकता नहीं दीक्ष पड़ती।' इसका समाधान यह है कि कर्मके बिना जगत्-का वैचित्र्य सिद्ध नहीं होता; अतः कर्मोंके नियोजनमें ही ईश्वरकी स्वतन्त्रता है, जगत्के वैचित्र्यमें नहीं। इस-प्रकार केवल ईश्वरके कर्तृत्वमें नित्य सृष्टिका प्रसङ्ग, जगत्-की विधिप्रताकी अनुपपत्ति, अदृष्टकी अवेद्यामें उसीके द्वारा सृष्टि-सामञ्जस्य होनेके कारण ईश्वर-कल्पनाकी अनावश्यकता, स्वार्थ-सृष्टि आदिमें प्रवृत्त होनेसे ईश्वरकी अनौचित्यताका प्रसङ्ग, परार्थ प्रवृत्त होनेसे सुखमयी सृष्टिका प्रसङ्ग, समस्त जगत्के संहारकी अकाव्यता, तथा नरक-कारागारमें प्राणियोंके डालनेकी निष्ठुरता प्रकृतिप्रकाशोंका निराकरण हो जाता है।

यदि कोई कहे कि दुःखमयी सृष्टिके कारण ईश्वरमें निर्दयता आरोपित होती है, तो यह युक्त न होगा, क्योंकि इससे हितके लिये निष्ठुर व्यवहार करनेवाले पिता, अध्यापक तथा वृद्ध भी निर्दय कहलायेंगे, जो कदापि सज्जत नहीं है। दुःखमयी सृष्टिके कारण ईश्वरमें दुर्जनता भी नहीं आरोपित की जा सकती क्योंकि उसमें दोषोंका अभाव है। दोषोंके अभावका कारण उसमें मोहका अभाव है, तथा मोहाभावका कारण उसकी सर्वज्ञता है। सर्वज्ञता उसमें सकल जगत्के निर्माता होनेके कारण है इत्यादि बातोंका स्वयमेव विचार करना चाहिये। इसप्रकार ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्ध करनेवाला कार्यत्वरूप हेतु प्रत्यक्ष वर्तमान है और इसमें बाधक प्रमाणका भी अभाव है अतः द्वयणुकके कर्तृत्वरूपमें ईश्वरकी निराबाध सिद्धि होती है।

इसी प्रकार 'घटरूप कर्म प्रयोजन्य है अतः सृष्टिके आदिमें द्वयणुकप्रयोजक कर्म भी प्रयोजन्य हैं, 'चित्तिके कारण गगनमें पक्षियोंका पतन नहीं होता, गुरुत्वविशिष्ट परमाणुका भी पतन नहीं होता है अतः उस पतनके प्रतिबन्धक प्रबल (चित्ति) का कोई प्रयोक्ता है।' 'घटका नाश प्रयत्नसे होता है, अतः ब्रह्माण्डके नाशके प्रयत्नका

भी कोई प्रयोक्ता है।' जिसप्रकार आधुनिक कल्पित छिप्पायिका व्यवहार स्वतन्त्र पुरुषद्वारा प्रयोज्य है, उसी प्रकार व्यवहारत्वके कारण बटादि व्यवहार भी स्वतन्त्र पुरुषद्वारा प्रयोज्य है। 'जिसप्रकार चैत्रवाक्यजन्या प्रमा वक्तृव्यार्थवाक्यार्थजन्या है उसी प्रकार शब्द प्रमाके कारण वेदजन्या प्रमा भी किसी विच्छेदजन्य वक्तृव्यार्थवाक्यार्थ-जन्या है।' 'वेदत्वके कारण वेद असासारिक पुरुषप्रणीत है क्योंकि जिसमें वेदत्व नहीं है वह काव्य सासारिक पुरुष-प्रणीत है।' 'महाभारतादिके समान वाक्यत्वके कारण वेद भी पौरुषेय हैं।' 'एकत्वातिरिक्त संख्यात्वके कारण द्वयणुक-परिमाणको उत्पन्न करनेवाकी संख्या भी किसी बुद्धिकी अपेक्षासे उत्पन्न होती है।'—इत्यादि अनुमान भी साक्षात् अथवा परम्परामे ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धि करते हैं। यही बात उदयनाचार्यने अपनी कुसुमाञ्जलि-में कही है—

कार्यायोजनधृत्वादेः पदप्रत्ययतः श्रुतेः।

वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो निश्चयविद्वन्मयः॥

इसप्रकार अनुमान-प्रमाण निर्बाध गतिसे ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धिमें प्रवृत्त होता है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि ईश्वरास्तित्वकी सिद्धिमें अनुमान-प्रमाणका अभाव है। आगम-प्रमाणका भी इसमें अभाव नहीं है।

'विश्वतश्चक्षुरिति०' 'वाणिपादो०' 'अहं सर्वस्य प्रभवः०' 'यदा सदेव०' 'अतो जन्तुः०' 'ममाध्वक्षेण प्रकृतिः०' 'पिताहमस्य जगतः०' 'ईश्वरमुपासीत०' 'सोऽकामयत०' 'यः सर्वज्ञः स सर्ववित्०।'।

—इत्यादि अनेकों श्रुति, स्मृति, पुराण आदिके प्रमाणोंसे ईश्वरका प्रतिपादन होता है।

आवश्यकता पड़नेपर ईश्वर शरीरविशेषको परिग्रह करके प्राणियोंको तत्त्वकला-कौशल प्रभृतिका उपदेश देते हैं और सिलसलाते हैं, भगवन्निष्ठोंकी रक्षा करते हैं, दुष्टुत्तोंको दण्ड देते हैं। इसी अभिप्रायसे उदयनाचार्यने आत्म-तत्त्वविवेक ग्रन्थके मंगल श्लोकमें 'च्युरपत्तेः कारणम्' कहा है और भगवान् श्रीकृष्ण गीतामें कहते हैं—

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥'



सब ईश्वर ही है

(देखन—बाबा साधनानन्दजी)



क समय किसी शिष्यने अपने गुरुके पास जा दण्डवत् कर दोनों हाथ जोड़कर पूछा कि, 'हे भगवन् ! इस संसाररूपी आद्यम्बरका मालिक कौन है ? यह संसार किसके द्वारा प्रकाशित हो रहा है ?' गुरुजीने उत्तर दिया— 'शिष्य ! इस संसारका मालिक ईश्वर है। यह संसार ईश्वरमे उसी प्रकार पृथक् कभी नहीं रह सकता जिसप्रकार सूर्यसे धूप, तथा स्वर्णसे भूषण अलग नहीं रह सकते। हे पुत्र ! संसार और ईश्वरमें वस्तुतः कुछ भी भेद नहीं है, केवल अज्ञानीजनोंको ही इनमें भेद जान पड़ता है। अज्ञानके दूर होते ही संसार ईश्वररूप दीखने लगता है। जिसप्रकार जलमें लहर और बुदबुद दिखलायी देते हैं, परन्तु जलमे पृथक् न लहर है, न बुदबुद है, उसी प्रकार जो कुछ दीख रहा है अथवा सुननेमें आता है सब ईश्वर है। जब और चेतन सब उसके रूप हैं, उसके बिना न जब है न चेतन।'।

शिष्यने पुनः पूछा—'हे दीनदयालु ! इस जगत्को ईश्वरने बनाया है या और किसी प्रकार बना है ?' गुरुजीने उत्तर दिया—'हे पुत्र ! ईश्वरसे सिवा कोई वस्तु ही नहीं, तब वह कैसे किसको बनायेगा ? जैसे घट और मिट्टीमें भेद नहीं है, जहाँ घट है वहाँ मिट्टी भी है; बिना मिट्टीके घट नहीं बनना, घटका समस्त अंग मिट्टी ही है। इसी प्रकार संसार ईश्वररूप ही है। अज्ञानियोंको मृगानुष्णाके जलकी

भौंति इनमें भेद मालूम होता है। जब ईश्वरकी प्राप्ति किये अज्ञानी पुरुष कोशिश करते हैं और उनका अज्ञान दूर हो जाता है तो वह संसार ईश्वर-स्वरूप ही दिखलायी देता है।' शिष्यने फिर पूछा कि 'हे भगवन् ! जब यह संसार ईश्वर ही है तो यह माता-पिता, की-पुत्र, शत्रु-मित्रादि सब प्रपञ्च भी मिथ्या ही होगा ?' गुरुजीने कहा—'हे पुत्र ! यह प्रपञ्च अज्ञानसे आसता है। जब वृ भेद-बुद्धि दूर कर देगा तो तुझे यह संसार इस रूपमें नहीं आसंगा, सब ईश्वर ही दिखलायी देगा। ईश्वरसे अलग द्वैतभावमें संसार आसता है। जिसप्रकार जल और बुदबुद भेद-बुद्धिसे दो दीख पड़ते हैं, बुदबुदको यदि जलमे अलग करनेके लिये हम हाथ डालें तो केवल जल हाथ आता है, बुदबुद मिट जाता है; इसी प्रकार सांसारिक प्रपञ्चरूपी बुदबुदको ईश्वररूपी जलमे पृथक् करना चाहें तो वह कदापि अलग न होगा, ज्ञान होनेपर केवल ईश्वर ही दीख पड़ेगा।' तब शिष्यने कहा—'हे भगवन् ! जब हम सबको ईश्वररूप जानेंगे तब हममें पाप न होगा और पाप न होनेमें नरक भी नहीं जाना पड़ेगा। इसलिये हमारे ऊपर क्या करके वह उपाय बतलाइये, जिससे हम समस्त जगत्को ईश्वररूप जानें।' गुरुजी बोले—'हे पुत्र ! जो कुछ कहने-सुनने, देखने-दिखानेमें आ रहा है, वह सब ईश्वर ही है। तू मेरे इस वाक्यपर विश्वास कर और 'वासुदेवः सर्वमिति' 'सब ईश्वररूप हैं,' इस मन्त्रका स्मरण जाप कर तथा दूसरोंमें भी यही अर्पण कर। यही मोक्षका साधन है।

भक्तकी परख

भक्तकी परख थिक्क, छापा, माका, कपटी, रामनामी, मुण्डन या जटामे नहीं होती। ये सब आवरणक हैं, उत्तम हैं, परन्तु इनसे उसीकी शोभा बढ़ती है जिसका हृदय श्रीभगवान्के प्रेममें पूर्ण हो गया है। जिसके हृदयमें भगवान्की जगह भोगोंमें भर कर रक्खा हो, उसको न तो यह भक्तोंका बाना चारख करनेका अधिकार है और न इसमें कोई लाभ ही है। ऊपरका भेष देखकर किसीने भक्त मान भी लिया तो क्या हुआ ? भेषचारीको इसमें कोई लाभ नहीं। कंगालको ललपती माननेसे कंगाली नहीं छूट सकती। हृदय पापकी आगमें जलता ही रहेगा। भक्त वह है जो सर्वत्र सर्वदा अपने भगवान्को देखता है और उसके दिव्य गुण सरय, प्रेम, कल्याण, आनन्द, ज्ञान आदिका अनुसरण प्राण-पणसे करता है। बाना हो या न हो।

ईश्वर-भक्ति

(लेखक—पं० श्रीगयाप्रसाद शास्त्री 'आश्वरि')



श्वर' यह कितना सुन्दर शब्द है। इस शब्दमें शांति है, तृप्ति है, सन्तोष है, मिठास है और आकर्षण है। इस शब्दके सुनते ही हृदयमें प्रेम और आनन्द इन दोनोंका ही एक साथ सञ्चार होता है। इन सब बातोंमें पता चलता है कि 'ईश्वर' शब्दके वाच्यार्थके साथ हमारा कोई निकटन सम्बन्ध है। कौन-सा सम्बन्ध है इस बातका पता लगाना कठिन है। हाँ, वे कोई हमारे हैं अवरय, इस बातमें सन्देह नहीं। हम मोह-निद्रामें पड़े सो रहे हैं। हमारी आँखोंके आगे अज्ञानका पर्दा पड़ा हुआ है। हम देखते हुए भी नहीं देख रहे हैं। हम अपने सम्बन्धको भूल गये हैं। बहुत कुछ स्मरण करते हैं किन्तु मृत्ति-पथमें नहीं आता है। उनके साथ हमारे काल्पनिक सम्बन्ध तो बहुत-से हैं। वे अनन्त नील गगन हैं, हम उनके एक छोट-से नवल नक्षत्र हैं। वे परमपावन पारिजात-प्रसून हैं, हम उनके ही छुद्र किञ्चुक-कण हैं। वे प्रेमके प्रशान्त महासागर हैं, हम उनके ही एक छोट-से प्रेमविन्दु हैं। वे हमारे पूज्य इष्टदेव हैं और हम उन्हींके पथ-भ्रष्ट, भ्रान्त पुजारी हैं। हमारे और उनके बीच यही द्वैतभावना और काल्पनिक सम्बन्ध है। वे हमें क्या समझते हैं, यह वे ही जानें। उनके साथ हमारा कोई वास्तविक सम्बन्ध है कि नहीं, इस प्रपञ्चमें कौन पके ? हाँ, इतना तो हम अवश्य जानते हैं, वे भक्तवत्सल हैं, दीनदयालु हैं और हैं अशरण-शरण। यही उनका ऐश्वर्य या ईश्वरता है।

ईशान् शीलमन्येति 'ईश्वरः' अथवा ईष्टे इति 'ईश्वरः' सर्वैश्वर्यशाली, सर्वलोकनियामक इत्यर्थः, यही 'ईश्वर' शब्दका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। सच्चिदानन्दमय परमात्माका वर्णन ब्रह्म, ईश और विराट् इन तीन रूपोंमें पाया जाता है। क्रमशः इन तीनोंका सम्बन्ध परमात्माके अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत आदि भावोंसे है। एक और अद्वितीय परमात्मामें इसप्रकारकी भेदप्रतीति केवल

प्रकृति-सम्बन्धमें ही होती है। वाणी और मनमें अगोचर, माया-सम्पर्क-रहित परमात्म-सत्ताको 'ब्रह्म' कहते हैं। अप्यात्मभावनाके 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंमें यही 'तत्' पदवाच्य है। सर्वान्तर्दामी, सर्वलोकैकसाक्षी, सर्वैश्वर्यशाली, मायामस्यर्कमहित परमात्म-सत्ताको 'ईश' कहते हैं। अधिदैव-भावनाके 'मोऽहम्' आदि महावाक्योंमें यही 'सः' पदवाच्य है। समन्त विश्वके आधार, प्राकृतात्मक, परम सत्ताको 'विराट्' कहते हैं। अधिभूत-भावनाके 'कार्यब्रह्म' का सम्बन्ध इसी स्थूलभावमें है। श्रीमद्भगवद्गीतामें इन्हीं तीनों भावोंका स्पष्टीकरण निम्नलिखित मन्त्रके द्वारा किया गया है—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।

अधिभूतं भ्रो मावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ॥

अक्षर. परमब्रह्मका जो माया-सम्पर्क-रहित अपना भाव है, वही अध्यात्म है। उनका चरसंज्ञक जो प्रकृति-विलासमय भाव है, वही अधिभूत है। इसी प्रकार उनका पुरुषसंज्ञक जो प्रकृतिके ऊपर नियन्त्रकका भाव है, वही अधिदैव है। फलतः ब्रह्म, ईश और विराट् ये तीनों ही सच्चिदानन्दमय परमात्माके रूपान्तर हैं।

ॐ ॐ ॐ ॐ

'सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन् !'

हे सर्वव्यापिन् ! तुम सगुण तथा निर्गुण सभी हो। तुम्हारा निर्गुण रूप मन और वाणीमें संबंध अगोचर है। शक्तिमती माया तुम्हारे समीप पहुँचनेमें असमर्था होकर लज्जामें दूर हट जाती है। तुम सांसारिक सुख-दुःखोंसे रहित, निरवच्छिन्न आनन्दमय हो। तुम नित्य, निरञ्जन एवं निर्विकार हो, इसीलिये तत्त्वज्ञ लोग तुम्हें निर्विशेष 'ब्रह्म' कहते हैं। किन्तु हे सर्वान्तर्दामी !

'लीलया वापि युञ्जन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः'

वही तुम निर्गुण या निर्विशेष ब्रह्म लीलावश गुण और क्रियाओंसे युक्त होते हो। जो तुम किसी समय मन, वाणी और इन्द्रियोंमें अगोचर होनेके कारण भज, अजर, अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्ध, अक्षर, अमादि, अनन्त एवं अतिके द्वारा 'नेति-नेति' कहकर

सम्बोधित होते थे, वही तुम अपनी इच्छारूपिणी माया-शक्तिसे सम्पर्कित होनेपर सर्वलोकैकसाक्षी, सर्वलोक-नियामक, सर्वव्यापक, सर्वेश्वर, सर्वान्तर्दामी, अशरय-शरण, कल्याणमय, पतितपावन एवं भक्तवत्सल भगवान्‌के नामसे पुकारे जाते हो।

ब्रह्मन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।

ब्रह्मेति परमममेति भगवानिति शब्दन्ते॥

जिस अद्वितीय ज्ञानसत्ताको सर्वज्ञानी 'तत्त्वं' कहकर पुकारते हैं, वही निर्गुण ब्रह्म है, परमात्मा है और सगुण ब्रह्म भगवान् या 'ईश्वर' भी है। इसी भावको लेकर देवी-मीमांसादर्शनमें स्पष्टरूपसे लिखा गया है—

‘ब्रह्मेश्वोरैक्यं पार्थिवं तु प्रकृतिवैभवत्’

ब्रह्म और ईश अर्थात् 'ईश्वरपदवाच्य' दोनों ही एक हैं। इन दोनोंमें भेदकी प्रतीति तो केवल प्रकृति या मायाके वैभवके कारण हो है।

मायान्तु प्रकृतिं विद्वान्मायिनं तु महेश्वरम्।

तस्मादवयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

प्रकृतिको 'माया' और ईश्वरको उसके सम्बालक 'मायी' समझना चाहिये। वही मायापति, महेश्वर इस समस्त विशाल विश्वके प्रत्येक परमाणुमें व्याप्त हैं।

हे दीनबन्धो ! तुम्हारे निर्विशेषरूप 'ब्रह्म' और विश्वेश्वररूप 'ईश्वर' का यही तो सार है।

ॐ ॐ ॐ ॐ

वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति तथा पुराण आदि ग्रन्थोंमें सर्वत्र 'ईश्वर' का वर्णन तथा 'ईश्वर' की उपासना-का विधान पाया जाता है। सभी दर्शन तथा शास्त्र मन्त्र-मन्त्र प्रकारसे 'ईश्वर' की सत्ताका निरूपण करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश आदि सब 'ईश्वर' के ही नाम हैं। ईश्वरकी रजोगुणमयी सृष्टिकारिणी शक्तिका नाम ब्रह्मा, सत्त्वगुणमयी स्थितिकारिणी शक्तिका नाम विष्णु एवं तमोगुणमयी प्रलयकारिणी शक्तिका नाम रुद्र है। इसप्रकार जगद्गारमा सगुण ब्रह्म ईश्वर ही इस अनन्त विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयके नियामक हैं। 'ईश्वर' सर्वाधिपति, सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् और सबके सरस्वय है। समस्त चराचर विश्व उनके बलमें है और वे एकमात्र इस विशाल विश्वके शासक हैं। श्रीमद्भागवतमें किसी भक्तवत्सलने यह ठीक ही कहा है—

यसिद्धिं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम्।

योऽस्मात् परस्माच्च परस्ते प्रपद्ये स्वयम्भुवम्॥

जिनमें यह विश्व है, जिनसे यह विश्व है, जिनके द्वारा यह विश्व है, जो स्वयं विश्वरूप हैं एवं जो इस विश्व और इस विश्वके परसे भी परे हैं, मैं उन स्वयम्भू भगवान्‌की शरण लेता हूँ। अहो, कैसा सुन्दर वर्णन है और कैसी अनोखी भक्तकी भावना है। एक ही श्लोकमें—

‘तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मेश्वरतां ब्रजेत्’

अपनी शक्तिरूपिणी प्रकृतिकी उपाधिके संयोगसे निर्गुण ब्रह्म ही सगुण ब्रह्म 'ईश्वर' भावकी प्राप्ति होते हैं, इस सर्ववादि-सम्मत सिद्धान्तका कैसा सुन्दर समन्वय है। यही सगुण ब्रह्म 'ईश्वर' अपने प्यारे भक्तोंके भक्त-वत्सल, भगवान् तथा प्रेमपोषित प्राणियोंके प्राणधार हैं।

ॐ ॐ ॐ ॐ

प्रेममुपाका प्यासा आया, प्यासा ही अब जाना है।

सच है, 'श्रीहरि' प्रेमरसामृत-विना शान्ति क्या पाना है॥

यह समस्त विश्व प्रेमके पीछे पागल हो रहा है। प्रेमके लिये जीता है और प्रेमके ही लिये मरता है। संसारके लिये प्रेम ही सबसे अनोखी और बहुमूल्य चीज है। वह प्रेमके ऊपर सब कुछ निष्ठावर करनेको क्षणभरमें तैयार हो जाता है। यह प्रेमासक्तका प्यासा प्राणी मरुस्थलके मृगकी भाँति प्रेम-मरीचिकामें तबड़-तबड़कर मरता है और उसी प्यासको बुझानेके लिये बार-बार चौरासीका चक्कर भी काटता रहता है किन्तु हा, उसकी वह अपरिमित प्यास बुझनेमें नहीं आती है। तुम तो भला कैसे बुझें, वह अपने प्यारे प्रेम-मित्रको जोरकर विषयरूप ज्वालाभुलीके अंगारोंमें प्यासको बुझाना चाहता है। हे प्रेमरूप ! हरे !! यह आपकी कैसी प्रवृत्ति है ? कैसी अनोखी क्रीड़ा है ? तुम्हारी तो पानेके लिये यह सब कायद हो रहा है और तुम प्रत्येक प्राणीके हृदयदेशमें बैठे हुए यह सब कीतुक देख रहे हो ? प्रेममें सुख है, शान्ति है और ही अनिर्बन्धनीय आत्म-नृसि। इसीलिये तो इस प्राणि-जगत्‌का प्रत्येक प्राणी अपनी-अपनी दृष्टिके अनुसार मित्र, पुत्र, कन्या, भग-भान्य एवं मान-वैभव आदिमें प्रेमकी प्राप्ति-प्रतिष्ठा कर रहा है। संसारके सभी सम्बन्धोंका सूत्रधार प्रेम ही तो है। प्रेम ही संसारका कारण है अथवा प्रेम

ही संसार है। हे प्रेमसिन्धो ! तुम्हारे प्रेमका एक बिन्दु पाकर, जब यह जन्म-जन्मान्तरका व्यासा जीव अनन्त एवं अनिर्वचनीय आत्म-नृसिका अनुभव करता है, तो फिर जो पुण्यात्मा प्राणी तुम्हारी उपासना करते-करते अपने नाम और रूपको भूलकर सिन्धुगाम्भी नदी-नयकी भौंति तुम्हींमें मिल जाते हैं, उनके अनिर्वचनीय सुख, शान्ति तथा आत्मनृसिका वर्णन अज्ञा कौन कर सकता है ? नारदस्वयं परम भगवन् भगवान् नारदका यह कहना अक्षरशः सत्य है—

‘अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्’ ‘मूकस्वादनवत्’ ‘शान्तिरूपात् परमानन्दरूपात् ।’

शान्तिरूप और परमानन्दरूप होनेके कारण मूक (गूँगा) पुरुषके रमाव्वादनके समान प्रेमका स्वरूप सर्वथा अनिर्वचनीय है ।

* * *

‘द्वीभावपूर्विका मनसा भगवदाकाररूपना सन्निकल्प-वृत्तिर्भक्तिरिति’

भगवद्भावनामे द्वीभूत होकर परम प्रियतम भगवान्के साथ चित्तका जो सन्निकल्प तदाकार-भाव (भगवदाकाररूपता) है, उसीको ‘भक्ति’ कहते हैं । अथवा—

‘मा पगानुरक्तिर्ध्या’ ‘तन्मन्थस्यामृतत्वापदेशात्’

ईश्वरके प्रति परम अनुरागको ‘भक्ति’ कहते हैं । कारण, ‘ईश्वर’ के प्रति परम प्रेम होनेसे ही जीव अमृतत्व-को प्राप्त होता है । जीव-जगतका यही परम पुरुषार्थ, परमगति या चरम लक्ष्य है । हम पहले बतला चुके हैं, प्रेम ही संसारका कारण है अथवा प्रेम ही संसार है, अतः संसारके जितने भी सम्बन्ध हैं, वे सभी प्रेममूलक

हैं । एक प्रेम ही उपाधिमेवसे भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारा जाता है । मित्रके प्रति प्रेमको ‘स्नेह’ कहते हैं, पुत्रके प्रति प्रेमको ‘वासल्य’ कहते हैं, प्रणयिनीके प्रति प्रेमको ‘रति या प्रीति’ कहते हैं, गुरुजनोंके प्रति प्रेमको ‘भ्रूता’ कहते हैं । इसी प्रकार ईश्वर या इष्टदेवके प्रति प्रेमको ‘भक्ति’ कहते हैं । विश्वका प्रत्येक पदार्थ विनरवर होनेके कारण मित्र, पुत्र एवं कलत्र आदिमें जो प्रेम है, वह परिणामतापसे असम्पर्कित नहीं है । वहाँ प्रियजन-संयोग आदिमें जो प्रेमानन्दकी प्रतीति होती है, वह वियोग आदि दुःखोंसे संवर्जित होनेके कारण दुःखरूप ही है । यही कारण है निर्याननन्दप्रयासी जीव जब इस लौकिक प्रेमसे बार-बार प्रवर्जित होकर प्रेमजनित सुखके स्थान-पर भीषण परिणामतापको ही भोगता है, तो फिर उसे इस विनरवर लौकिक प्रेमसे विरक्ति हो जाती है । उस समय प्राक्तन पुण्य, गुरुजनोंकी कृपा, सम्पत्ति एवं तत्त्व-चिन्तनके द्वारा ‘ईश्वर’ के प्रति जो परम प्रेम उत्पन्न होना है, उसीका नाम ‘ईश्वर-भक्ति’ है । ‘ईश्वर-भक्ति’ के द्वारा मनुष्य केवल आत्मकल्याण ही नहीं करता है किन्तु वह इस दुःस्वप्न संसारको सुखमय स्वर्ग बना देता है । ‘ईश्वर-भक्ति’ के उच्च वह सांसारिक ऐश्वर्यों और स्वर्गिक सुखोंको कौन कहे ‘मोक्ष-सुख’ तकको निझाकर देता है । इस अलभ्य लाभको प्राप्त करनेपर उसे अन्य किसी लाभका प्रलोभन नहीं रह जाता । ईश्वर-भक्त कृत-कृत्य हो जाता है । अपने परम प्रियतम, प्रेमरूप भगवान्-के साथ एकरूप होकर अपने अपरूप नाम और रूपको सदाके लिये उनके प्रेमसागरकी तरंगोंमें बहाकर वह स्वयं ‘प्रेमरूप’ हो जाता है । यही ‘ईश्वर-भक्ति’ का रहस्य है ।

साक्षात्कार

माँकी ममतामें, छोह-भरी क्षमतामें,
स्नेहार्द्र पिताकी स्नेह-भरी समतामें,
बच्चोंकी कोमल-कंठ-कलित वाणीमें,
तू पातिपरायणा नारी कल्याणीमें,

घर घरमें रहता पग पगमें मिल जाता,
पर, अज्ञानी तुझको पहचान न पाता ।

—सोहनलाल द्विवेदी, बी० ए०

भक्तके भगवान्

(लेखक—महर्षि श्रीमथुरानाथजी शास्त्री साहित्याचार्य)

[कहानी]

अपि चेतुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति । कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणम्यते ॥ (गीता ९ । ३०-३१)

(१)



यमुपुरी मथुराके उन गली, रास्तोंमें लोगोंकी बेहद भीड़ मच रही है, जो यमुनाके बहुत निकट पड़ते हैं। सैकड़ों नर-नारी बगलमें धोती और कलसा लिये यमुनातटकी तरफ जा रहे हैं। उमंगभरे बच्चे यमुनामें खेल करनेकी लुत्तासे आगे-आगे दौड़े जा रहे हैं। घाटोंपरकी दूकानें खूब मालमे भरी हैं। सौदा खरीदनेवालोंके ठहलगे हैं। कण्ठी-मालावालोंकी आज बान आयी है, अच्छी तरह कण्ठी बाँधी जा रही है। इस धूमधामका यही कारण है कि आज कर्तिकगुरुका द्वितीया (यमद्वितीया) का पुण्य-पर्व है। इस दिन सूर्यनया भगवती यमुनाका स्नान विशेषकर पुण्यप्रद समझा जाता है। दूर-दूरके यात्री यमुनाकी 'बुक्की' लेने आये हैं। यमुनाके घाटोंपर लचालच भीड़ हो रही है। लोगोंको गोता लगाकर निकलना मुहाल हो रहा है।

जानने-घाटोंपर आज महिलाओंकी भीड़ है। कितनी ही हिन्दू-रमणियाँ पुण्य-प्राप्तिके निमित्त यमुनामें गोता लगा रही हैं। कोई घाटकी मोड़ियोंपर खड़ी होकर सूर्यदेवको प्रणाम कर रही है, कोई 'निहारो दरम मोहि भाव श्रीयमुने' कहकर प्रभाती ही गुनगुना रही है। जो पूजा-पाठ कुछ नहीं जानती वह केवल 'जय जमुने, जय जमुने' कहकर ही अपनी भक्ति प्रकट कर रही है। कई नवीनाएँ यहाँ भी अपने घरका ही पचड़ा लिये हैं। किम्बोने नौवाली कैसे मनी, इसका किस्सा शुरू किया। कोई अपनी अहंदा और चोटिका ही जिकर खेड़ बैठी, जो इनमें भी अधिकलज्जीली थी उनकी कानों-ही-कानोंमें काना-फुमी होने लगी। ऐसे नायक समयमें यकायक घाटपर एक हल्ला मच गया।

घाटके एक तरफ एक युवती स्नान कर रही थी, वह यो समाजमें कलंकितनी बालविधवा। नाम था कमला। घाटकी बहुत-सी स्त्रियाँ उमे जानती थीं। पहचाननेका एक कारण भी था। जिस मुहल्ले में कमला रहती थी, उसी

मुहल्लेकी बहुत-सी स्त्रियाँ इस घाटपर नहाने आयी थीं। इस पर्वके दिन कुलांगनाओंमें मटक़र उसे नहाते देख सतीत्वके तेजसे प्रकाशित, सावित्रीकी प्रतिमूर्ति श्रीमती महिला-मण्डली क्रोध और घृणासे गरज उठी। क्या लिखनेवालेको सच कहे बिना नहीं रहा जाना कि जिसे ये कलंकितनी बेरया समझती थीं, वह कोई बाज़ार बेरया न थी। यौवनके प्रलोभनमें पड़कर बालविधवा कमला एक पड़ोसी युवकके साथ घरसे निकल पड़ी थी। कुछ दिन अपने लानेवालेके साथ पुण्यक मकान रास्तेके किनारे किराये लेकर रही। अब इन दिनों एक साधारण मुहल्लेमें गृहस्थकी तरह रह रही है। यौवनकी धाँधी निकल जाने बाद कमलाने अपनेको सँभाला, लेकिन अब क्या हो सकता था? घर छोड़कर बाहर जानेके बाद समाज कब साथ दे सकता था? यौवनकी एकमात्र गलती कमलाके हृदयमें काँटे-सी खटकने लगी। अपने प्रणयीपर वह भाव न रहा। अधिक समय वह अकेलेमें बिताती थी। यमुना नहाने, देवदर्शन आदिमें बहुत काल व्यतीत कर देती थी, किन्तु जिस समय कमला अपने लानेवालेके साथ रास्तेवाले मकानमें रहती थी, उसी समय कमलाके प्रति लोगोंके भाव एकदम बदल गये थे। उमे लोग वेष्ट्याकी तरह अस्पृश्य समझने लगे थे। स्त्रियोंमें पापिनी समझी जाकर घृणाके साथ उसकी कड़ी आलोचना होने लगी।

यही कारण था कि जो स्त्री जोषपाठ कर रही थी, वह स्तुति बन्दकर, नाक-झौं चढ़ाकर बोली—'मर अमागी! इसी घाटपर मरने आयी यो क्या?' जो सूर्यदेवको प्रणाम कर रही थी, वह प्रणामकी छोटकर ज्येष्ठके सूर्यकी तरह गरमाकर बोल उठी—'हट यहाँसे, दिखायी नहीं देता, हमलोग यहाँ नहा रही हैं?'

कमला समाजसे कलंकितनी थी। जो पाप धोये नहीं धुलता, वह उमे घेरे हुए था। फिर वह यमुना-स्नानको क्यों जानी थी? यमुनाके पुण्यपर्वसे क्या बेरयाका पाप धुल सकता है? दोनों आँखोंकी रंगा-सरःवर्तिका प्र

यमुनामें मिला सकनेपर बेइयाका पाप भी, मालूम होता है, कुछ सकता है।

जो कुछ हो, कमला प्रतिदिन यमुना नहाने जाती है। आज भी आयी थी। किन्तु इसके पहले ऐसा तीव्र तिरस्कार उसे कभी सहना नहीं पड़ा था। तो भी वह विचकित न हुई। आँसूभरे मेँहको नीचे किये ही धीरे-धीरे ज्ञान समाप्त किया। पीतलके कलमेको जलमें भरकर घाटके ऊपर भायी। घाटके एक कोनेपर खड़े रहकर, डरते-डरते, आँसू बरसाती हुई आँखोंमें पुण्यसलिला यमुनादेवीको तरफ उमने देखा। कलमेको बगलमें लिये ही झुककर प्रणाम किया। इसके अनन्तर काले मेघकी तरह घने बालोंको पीठपर झुलाती हुई, वह गीले कपड़ोंमें अधखुले सिर रास्तेमें चलने लगी।

(२)

यमुनाके घाटमें कमलाका घर बहुत दूर था। अनुमान एक मील होगा। रास्ता चलते-चलते उसके चित्तमें विचार हुआ—‘सब लोग देवताको जल चढ़ाने जाते हैं। बहुत-सी स्त्रियाँ ठाकुरके मन्दिरमें पानपर, फूलघरकी सेवा भी करती हैं। कई ठाकुरके भण्डारमें दाल, चावल बीननेकी सेवा ही करती हैं। फिर मैं क्यों न करूँ? मेरा जल क्या ठाकुरजी स्वीकार नहीं करेंगे? नहीं करें तो मैं उनके मन्दिरकी सीढ़ियोंको ही धो आऊँगी। किन्तु उसका भी मुझे अधिकार है क्या? मेरा जल नीच जातियोंके भी काम नहीं आता। मेरे जलके छींटे लगनेपर वे लोग भी अपवित्र हो जाते हैं फिर मुझे दालान वा सीढ़ियोंके धोनेका अधिकार कैसे हो सकता है? देखें आज मदन-मोहनजी धोने देते हैं कि नहीं?’

ये बानें सोचती-सोचती कमला रास्ता तय करने लगी। यमुनाके घाटमें थोड़ी दूरपर ही श्रीमदनमोहनजीका प्रसिद्ध मन्दिर है। इस विशालकाय मन्दिरके चारों तरफ आने-जानेके आम रास्ते हैं, जिनकी लोहोंमें परिक्रमाके नामसे प्रसिद्धि है। इसी परिक्रमाके दक्षिणी प्रान्तमें कमलाका घर था। यह रास्ता और रास्तोंकी अपेक्षा कम चलता है। इसमें मकानोंकी संख्या भी बहुत हल्की थी।

कमला उस दिन घर न जाकर जलपूर्ण कलसा लिये मदनमोहनजीके मन्दिरमें जा पहुँची। मन्दिरके चौकमें आकर वह खड़ी हो गयी। आगे जानेका और ‘जगमोहन’

१ निजमन्दिरके आगेका आँगन।

की सीढ़ीपर चढ़नेका उसे साहस न हुआ। परिचित अनुष्ठानोंको देखते ही वह घबरा उठती थी। लजा ही क्या, अपने ऊपर उसे एक प्रकारकी शृणा हो रही थी। सीढ़ियोंके सहारे सटी हुई वह बहुत देरतक खड़ी रही। उसके मनमें इच्छा थी कि कलसेके जलमें मन्दिरके दालानको धोकर देव-सेवाके पुण्यमें कुछ भाग ले, किन्तु साहस न हुआ। वह समाजमें कलंकिनी है। उसका छुआ जल अपवित्र है। कमला किसीसे कुछ न कहकर चुपचाप एक तरफ खड़ी रह गयी।

मन्दिरकी टहलनी एक अहीरनी बुहारी लिये चौकमें बुहारी दे रही थी। वह कमलाको जानती थी। उसे वहाँ खड़ी देखकर उसने कहा—‘वहाँ क्यों खड़ी है? हट जा यहाँसे, बुहारी देने दे।’

कमला हटकर दूर खड़ी हो गयी। अहीरनीने झुंझलाकर कहा ‘तू चाहती क्या है?’ कमलाने झिझकते हुए जवाब दिया—‘मेरे इस कलमेके जलमें.....’ आगे बोल न सकी। बोलनेका साहस ही न हुआ।

‘नेरे जलका क्या होगा री? क्या ठाकुरजीको नहलाना चाहती है?’

‘ना’

‘तो?’

‘सीढ़ियाँ और दालानको धोना चाहती हूँ।’

‘हट यहाँसे। इसके भिजाज तो देखो! हमलोगोंका ही छुआ जल मन्दिरमें नहीं जाता। ये आयी है जल-सेवा करने! चल दूर हो यहाँसे।’

मन्दिरके ‘समाधानीजी’ जगमोहनमें बँडे कारण-विशेषसे दर्शनियोंका दर्शन कर रहे थे। ऊपरकी बात-चीतका कुछ हिस्सा उनके कानोंमें पड़ा। आगे बढ़कर उन्होंने चौककी तरफ देखा। वही गम्भीरताके साथ पूछने लगे—‘क्या हल्ला कर रहे है री?’

टहलनीने जोशसे कहा—‘हल्ला क्या है? लोगोंके आजकल भिजाज ही नहीं माने! बेरया जल लेकर आयी है और कहती है कि ठाकुरजीके मन्दिरको धोऊँगी।’

ठाकुरजीके परिषद् ‘समाधानीजी’ गौरवभरे स्वरमें कमलामें कहने लगे—‘देखो, तुम्हारा छुआ जल कोई काम नहीं आ सकता। चौकके धोनेमें भी नहीं लिया जा सकता। जबतक वह सूखे नहीं, उसपर लोगोंके पाँव पड़नेकी शंका है।’

कमलाने नीचा मुँह किबे ही समाधानीजीकी आज्ञा सुनी । इसके अनन्तर उदास-मन, धीरे-धीरे चौकसे हटकर वह मन्दिरके पीछे बगीचेमें पहुँची । वहाँ थोड़ी देर ठहरकर कुछ सोचा । फिर चारों तरफ नज़र दौड़ाकर एक बार देखा कि वहाँ भी कोई देखता तो नहीं है । फिर एकान्त देखकर वह भूमिपर बैठ गयी । ठाकुरजीका ध्यानकर कलसेका समूचा जल अर्घ्यकी भाँति भूमिपर डाल दिया । जलसे सिंची उस गीली मृत्तिकाको लेकर ललाट और जिह्वापर लगाया । इसके अनन्तर ठाकुरजीके उद्देश्यसे भूमिमें मस्तक टेककर प्रणाम किया । फिर खाली कलसेको बगलमें लिये वह घरकी चली ।

(१)

वर्षके तीन सौ उनसठ दिनोंको पारकर आज फिर 'यमद्वितीया' आयी है । कमला इस वर्ष प्रत्येक दिन यमुना-छानको गयी है और यमुना-जलमे कलसा भर मदनमोहनजीके मन्दिरके पीछे बगीचेमें बैठकर ठाकुरजीके उद्देश्यसे उसने प्रतिदिन भूमिमें जल सींचा है ।

आज फिर वही पुण्य-पर्व 'यमद्वितीया' उपस्थित है । कमला आज बड़े सवेरे ही यमुना-छानकी चली । प्रतिदिनकी तरह आज भी पवित्र जलमे कलसा भर भक्ति और गद्गद-कण्ठमे यमुनाजीको प्रणामकर वह घरकी तरफ लौटी । कमला उस दिन घर भी न गयी और न प्रतिदिनकी तरह वह मन्दिरके बगीचेमें ही पहुँची । आज वह यमुना-जल-पूर्ण कलसा लिये गीले वस्त्रोंमे मन्दिरके चौकमें खड़ी है । दर्शनके लिये उसका हृदय व्याकुल है, आँखोंमे आँसू टपक रहे हैं । वह चाहती है एक बार दूरसे फिर ठाकुरजीका दर्शन करूँ । मन्दिरके जगमोहनको धोकर देव-सेवाके पुण्यको अब वह अपने हिस्सेमें लेना नहीं चाहती । वह तो मनुष्योंकी भीड़में दूरसे ही केवल एक बार ठाकुरजीकी मनोहर मूर्तिका दर्शन चाहती है । एक वर्ष पूर्व इसी दिन चौकमें खड़ी होकर उसने ठाकुरजीकी मूर्तिके दर्शन किये थे । उस पर्वके दिन एक बारके दर्शनमें ही बंशी बजाते हुए श्रीमदनमोहनजीकी उस मनोहर मूर्तिको उसने अपने हृदयमें अंकित कर लिया है । उस दिनसे लेकर आजतक वर्षभर वह उसी मूर्तिका लगातार ध्यान करती रही है । मन्दिरके पिछवाड़े, आगके बृक्षके नीचे बैठकर उसी मूर्तिका ध्यान करती हुई वह कलसभरे जलसे अर्घ्य

देती रही है । ध्यानके द्वारा हृदयमें चित्रित की हुई उस मनोहर मूर्तिको प्रत्यक्ष दर्शनसे आज फिर उज्ज्वल करनेकी वासना लिये वह मन्दिरमें आयी है । क्या ठाकुरजी दर्शन नहीं देंगे ?

मन्दिरके दर्शन उस समयतक खुले नहीं थे । समाधानीजी भी किसी कामसे बाहर गये हुए थे । कमला बगलमें कलसा लिये चौकके एक तरफ खड़ी हो गयी । इस तरह खड़े-खड़े बहुत समय बीत गया, जलसे भरे कलसेको बहुत देरतक कमरपर लिये वह थक गयी थी, किन्तु ठाकुरजीके लिये लाये हुए कलसेको वह जमीनपर कैसे रख सकती थी ? उमे खाली भी करना नहीं चाहती थी । उसने स्थिर कर लिया था कि आज चौकके किनारेमे ठाकुरजीका दर्शन करते-करते इस कलसेके जलको उनके चरणोंपर चढ़ानेका ध्यान करूँगी । किन्तु ठाकुरजीका दर्शन दुर्लभ हो रहा है । बोझमे कमला बेवस हो चली । कमरपर बोझ लेकर खड़े रहनेकी बिल्कुल शक्ति न रही । वह बड़ी दीनतामे ठाकुरजीका ध्यान करती हुई कहने लगी—'हे स्वामी ! अब खड़ा नहीं रहा जाता । पलभरके लिये एक बार दर्शन दे दीजिये ।'

मन्दिरके मुखियाजी उसी समय कमलाके आगे होकर निकले । आजकल वह सेवामें सदा नहीं जाते । बूढ़ हो जानेके कारण उन्होंने इस पवित्र कर्तव्यसे छुट्टी जरूर ले ली थी तो भी भगवत्सेवामें हृदय-अनुराग होनेके कारण कुछ दिन अपनी इच्छामे सेवामें लिये छान करते हैं । आज भी सेवामें लिये भीतर जा रहे थे ।

उन्होंने देखा कि चौकके एक तरफ एक बड़ी कलसा लिये देरसे खड़ी है । उन्होंने पूछा—'बेटी ! तुम क्या चाहती हो ?'

यहाँ यह कह देना उचित होगा कि मुखियाजी कमलाको नहीं जानते थे परन्तु कमला उन्हें जानती थी और श्रद्धा भी करती थी । वे वास्तवमें भगवद्भक्त थे और उपासनाके तत्त्वको जाननेवाले थे । उन्होंने सभी सम्प्रदायोंके भक्ति-ग्रन्थोंका बड़े प्रेमसे मनन किया था । उनके बाह्य और यौवन-कालका परिचय हमें नहीं परन्तु वर्तमानमें वह बहुत ही श्रेष्ठ हो गये हैं । भगवान्में किसीका थोड़ा भी सत्य-प्रेम देखते हैं तो उनका हृदय पुलकित हो उठता है । वह पवित्र और भगवद्भक्त, यथोक्त और मार्मिक, सरळ

और उबार हैं। जो उन्हें एक बार भी पहचान जाता है वह उनमें भ्रष्टा किये बिना नहीं रह सकता।

कमलाको इससे पहले उनके हतने पास आनेका अवसर नहीं मिला था, वृत्तसे ही उसने इन्हें देखा था। शुभ्र केश, देवकान्तिमण्डित उस महापुरुषकी सात्विक मूर्तिको इस समय सम्मुख ही देखकर भक्तिप्लुतचित्तसे वह धुपचाप खड़ी रह गयी, कुल जवाब न निकला।

प्रश्नका उत्तर न पाकर बृद्ध मुखियाजीने फिर पूछा—‘कहो बेटी! क्या चाहती हो?’

कमलासे तो भी बोला न गया। मुखियाजीने कहा—‘क्या ठाकुरजीके लिये जल लेकर आयी हो?’

‘ना’

‘तो क्या चाहती हो?’

‘ठाकुरजीका एक बार....’

‘दर्शन करना चाहती हो?’

‘हाँ’

‘आओ, मेरे साथ आओ, अभी पट खोलता हूँ। आगे खड़ी होकर अच्छी तरह दर्शन कर लेना’ कहकर वह तेजीके साथ मन्दिरमें चले गये। द्वारका परदा हटाकर उन्होंने देखा कि वह वही वहाँ नहीं है। दूर नज़र डालकर उन्होंने देखा कि वह जगमोहनके नीचे चौकमें ही खड़ी है। मुखियाजीने संकेत किया—‘ऊपर आ जाओ।’

कमला एकचित्त होकर नीचेते ही ठाकुरजीका दर्शन कर रही थी। ध्यानभंग होनेके बाद उसने देखा कि मुखियाजी उसे बुला रहे हैं। दर्शन करती-करती वह बड़े व्यग्रभावसे आगे अवश्य बढ़ी परन्तु जगमोहनकी सीढ़ीके पास जाकर रुक गयी। आगे न जा सकी। अबके मुखियाजीने जोरसे पुकारकर कहा—‘ऊपर आकर दर्शन कर लो।’

कमलाको बड़ी तबड़काहट थी कि वह पास जाकर ठाकुरजीका अच्छी तरह दर्शन करे किन्तु अपनी उस प्रबल वामनाको दबाकर नीचा मस्तक किये ही वह बड़े धीर-भावसे बोली—‘आगे आनेका मुझको अधिकार नहीं।’

मुखियाजी-अधिकार क्यों नहीं है बेटी! जिसको ठाकुरजीके दर्शनकी इच्छा प्रबल है उसको सब अधिकार है।

कमला-मैं...मैं...

मुखि०—तुम कौन हो?

कम०—मैं कलंकिनी हूँ, समाजसे निर्वासिता हूँ।

मुखि०—नहीं, तुम कलंकिनी नहीं हो, ठाकुरजीकी भक्त हो। ऊपर चढ़कर निःशंक आगे आ जाओ।

कमला ठाकुरजीकी भक्त है! यह तो वह अबतक नहीं जानती थी। उसके शरीरमें एक बिजली-सी दौड़ गयी। उसको अब कोई रूकावट न रही। वह सीढ़ी चढ़कर जगमोहनके आरम्भके किनारेपर ही खड़ी हो गयी।

(४)

इसी समय पीछेकी तरफसे समाधानीजीका स्वर सुनायी दिया। वह किसी वैष्णवसे बात करते-करते आगे आ रहे थे। कमलाको जगमोहनमें खड़ी देखकर वह एक-दम अग्निशर्मा हो उठे। कर्कशकण्ठसे कहा—‘अभागी! जगमोहनमें चली आबी? वाह रे तेरे मिजाज! जा, नीचे उतर जा।’

कमलाका वह आनन्द और उस्साह एकदम जाता रहा। संकोच और अनुतापने उसके हृदयको एकदम दबा लिया। कलासे उसके पैर पथरके हो रहे थे, तो भी वह लौटनेकी कोशिश कर रही थी। इसी समय निजमन्दिरसे बाहर निकलकर मुखियाजीने समाधानीजीसे कहा—‘इस स्त्रीका तिरस्कार क्यों कर रहे हो?’

समा०—देखिये न! मन्दिरके पास ही आ गयी है।

मुखि०—तो इसमें क्या अपराध हुआ?

समा०—यह समाजकी कलंकिनी है, बेरया है।

मुखि०—बेश्याके लिये क्या ठाकुरजीके दर्शनका निषेध है?

समा०—दर्शन निषिद्ध न हो परन्तु पास आकर स्पर्शन जरूर निषिद्ध है।

मुखि०—यह आपको किसने समझाया है? बड़े-बड़े पीठस्थानोंमें क्या होता है?

समा०—बड़े भासोंके लिये कोई नियम नहीं।

मुखि०—तो किसी मन्दिरमें भी यह नियम नहीं है। मेरा विश्वास है कि पापी-से-पापीके स्पर्शसे भी भगवान् अपवित्र नहीं होते।

समा०—तो फिर पन्थाकृत आदिसे श्रीअंगरक्षोभनकी व्यवस्था क्यों है?

मुखि०—यह है अपने लोगोंके लिये, ठाकुरजीके लिये नहीं। भक्तलोग ठाकुरजीके शोधनका यत्न करके अपने मन-का शोधन करते हैं। जो भगवान् हैं, घर और अचरके स्वामी हैं, वह कभी अपवित्र नहीं होते। सैर, ठाकुरजीको तो इसने स्पर्श भी नहीं किया था। यह तो केवल चौकसे आगे आकर जगमोहनमें खड़ी हो गयी है। क्या इसीसे मन्दिर अपवित्र हो गया ?

समा०—हो क्यों नहीं गया ?

समाधानीजीको बहुत आगे बढ़ते देखकर प्रशान्त महासागरमें भी एक लहर उठी, मुखियाजीने जरा उत्तेजनाके स्वरमें कहा—‘अच्छा, प्रत्यक्ष देवता इन श्रीमदनमोहनजीके सम्मुख खड़े रहकर क्या आप यह कह सकते हैं कि आप और मैं इस मन्दिरमें खड़े रहकर मन्दिरको अपवित्र नहीं करते ? समाजमें चाहे यह प्रत्यक्षरूपसे कलंकित है परन्तु या आप और मैं अन्दर-में भी दूधके धोये ही निकलेंगे ? यौवनकी बातोंको याद करके सचे हृदयसे कहिये तो देखें ?’

समाधानी महाशय इस बार सहम गये। थड़ देर चुप रहकर कमलाकी तरफ देखकर बोले—‘क्यों री ! क्या आज फिर चौक धोने आयी है ? जा, जिस जगह नित्य जल ढालती आयी है वहीं जल ढाल दे।’

मुखियाजीने पूछा—‘नित्य कहाँ जल ढालती है ?’

समा०—मन्दिरके बगीचेमें।

मुखि०—चलिये देखें।

दोनों वहाँसे उतरकर मन्दिरके समीप बगीचेमें पहुँचे। वहाँ एक पेड़के नीचे प्रतिदिन जल ढालनेमें पड़ा हुआ एक गहड़ा दीखता था। उसको दिखाकर समाधानीजीने कहा—‘यह अभागिन नित्य यहीं जल ढालती है।’

मुखि०—जल कहाँसे लाती है ?

समा०—यह कौन जाने, परन्तु लोग कहते हैं कि नित्य यमुना-स्नानकी जाती है फिर वहाँसे आकर नित्य ही यहाँ अलका अर्घ्य देती है।

मुखि०—यह जल ठाकुरजीके जलघरमें क्यों नहीं देती ?

समा०—क्या कलंकितके छुपे जलसे देव-सेवा हो सकती है ? एक वर्ष पहले आजके ही दिन जगमोहन बोलनेके लिये वह आयी थी, वही बोलने नहीं दिया, फिर उसका जल सेवामें तो क्या काम आयेगा ?

मुखि०—आपके विचारसे काम न आवे, मैं काममें लूँगा। कहकर वह मन्दिरमें लौट आये। वहाँ आकर देखा कि जलका भरा कलसा लिये जगमोहनमें चढ़नेकी सीढ़ीके पास उसी तरह नीचा मस्तक किये कमला खड़ी है। मुखियाजीने कहा—‘तुम जल ठाकुरजीके जलघरमें ले चलो।’

कमलाको इस बातपर विश्वास नहीं आया। उसने पीछे फिरकर देखा, शायद और किसीके प्रति यह बात कही गयी है। किन्तु अपने पीछे किसीको न देखा। अब आश्चर्यभरी दृष्टिसे उसने मुखियाजीको ओर देखा। उन्होंने फिर कहा—‘यह जल जलघरमें ले चलो।’

असमजसमें पड़ी कमला बड़े संकोचसे दो-चार पैर आगे बढ़कर जगमोहनमें खड़ी हो गयी। यह स्थान उसके लिये परमपावन तीर्थक्षेत्र था। उस स्थानपर वह आज तक नहीं आ पायी थी। जो लोग यहाँ खड़े रहकर ठाकुरजीका दर्शन करते थे उन्हें वह बड़ा भाग्यवान् समझती थी। इस सौभाग्यके लिये उसने कई बार आँसू टपकाये थे। आज कमला ठाकुरजीकी कृपासे उसी स्थानमें खड़ी है।

कमला जलघरमें नहीं गयी। जगमोहनमें एक तरफ थोड़ी जगह दो बार हाथसे धोकर घड़ेको रख दिया। मुखियाजी स्वयं उभे उठाकर जलघरमें ले गये और थोड़ी ही देरमें घड़ेको खाली कर ले आये। आकर देखा कि कमला प्रांगणकी धूलिमें लोटकर साष्टांग प्रणाम कर रही है। जिस समय उठकर वह खड़ी हुई उस समय उसके कपोल और छातीसे होकर अश्रुधाराएँ बह रही थीं। देवोपम मुखियाजीने उसे लक्ष्यकर कहा—‘बेटी ! तुम जिस भक्तिसे ठाकुरजीके दर्शन करती आयी हो, मैं आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारी वह भक्ति अक्षय हो। भक्ति-प्लुतचित्तसे ठाकुरजीको लक्ष्य करके चाहे किसी भी स्थानपर अर्घ्य दिया जाय, ठाकुरजी उसे प्रेमसे ग्रहण करते हैं। ठाकुरजी आगे-पीछे भी कुछ नहीं गिनते। वे ब्राह्मण या शूद्र, गंगाजल वा साधारण पानी, इनमें भेदकी दृष्टि नहीं ढालते। वह तो चाहते हैं केवल भक्तका हृदय। तुम उनको अपना हृदय दोगे। अपने पापोंके लिये रोओ। तुम्हारे सब पाप धुल जायेंगे।’ मुखियाजीके चरणोंमें प्रणाम करके कमला र लौट आयी।

(५)

घरके आँगन आमके वृक्षके नीचे बैठकर एक युवा हुआ गुड़गुड़ा रहा था। उसने कमलासे पूछा—‘आज हवनकी देर क्यों हुई ?’

कमला कुछ जवाब न देकर अपने कोठेमें चली गयी और झन्डरसे उसने किवाड़ बन्द कर लिये। वह महीमरी भूमिपर छोटती हुई रोने लगी। उस रोनेका अन्त न था, विश्राम भी न था। किसीको मालूम न हो इसलिये मुखमें कपड़ा ठूसकर चुपचाप रोने लगी। उसके मनमें निरन्तर यही घूम रहा था कि 'पापोंके लिये रोओ। तुम्हारे सब पाप धुल जायेंगे।' रोती हुई कमला भगवान्‌को लक्ष्य करके मन-ही-मन कहने लगी—'ठाकुरजी ! मैं जीवनपर्यन्त निरन्तर रोज़गी। रो-रोकर अपनी छातीका रक्त आँखोंके द्वारा बाहर निकाल दूँगी। हे दयामय ! मेरे पापोंको धो दीजिये।'।

उसी समय किसीने दरवाजेको खटखटाया। कमला चौंककर बिजलीकी तरह एकदम उठ खड़ी हुई। बड़े यज्ञ-से उसने अपनेको संभाला। आँखोंका जल पोंछ डाला। किन्तु किवाड़ नहीं खोले। शय्यापर निश्चल होकर अपने अदृष्टकी बातें सोचने लगी। दरवाजेपर जार-जोरसे धक्के पड़ने लगे, किन्तु कमलाने उसपर दृष्टितक नहीं डाला। थोड़ी देर पीछे अपने मनमें कोई विचार स्थिर करके उसने द्वार खोल दिया।

द्वारपर वही युवा हाथमें हुक्का लिये खड़ा था। उसने कहा—'मालूम होता है कमले ! फिर तुम रो रही थी।'।

कमलाने जवाब नहीं दिया। युवाने कहा—'क्यों रो-रोकर अपने देहको छोड़ना चाहती हो कमला !'

कम०—देहके रखनेमे क्या सुख है ?

युवा—सुख ! जितने दिन पृथिवीपर रहा जाय उतने दिन सुख ही है।

कम०—उतने ही दिन दुःख है। निरन्तर पाप-मृतिकी यन्त्रणा है।

युवा—तुम घर छोड़कर मेरे साथ चली आयी हो, क्या इसीका यह दुःख है ? इसीसे क्या तुम बराबर रोती हो ? पहले तो तुम्हारी यह बात न थी। वर्षभरसे तुममें यह परिवर्तन देखता हूँ। आज सच-सच कह दो ! क्या करनेसे तुम फिर वैसी ही हो सकती हो ?

कम०—वैसा होना अब कठिन ही नहीं, असम्भव है। मैं जो कुछ छोड़कर आयी हूँ, उसे कोई अब लौटाकर पीछा नहीं दे सकता।

युवा—खैर, इसे जाने दो। यह बतलाओ इतना रोती क्यों हो ?

६२

कम०—रोती क्यों हूँ ? छाती चीरकर दिखाये बिना शब्दोंमें यह समझाया नहीं जा सकता।

युवा—कमले ! मैं ही तुम्हारे सब दुःखोंका मूल हूँ। तुम सुखसे पिता-माता, राजाधोंका-सा वैभव लिये संसार चला रही थी। मैं न जाने किस खोटे मुहूर्तमें तुम्हारे रूप और गुणोंपर मुग्ध होकर तुम्हें चाहने लगा था। यदि मैं केवल प्रेम करके ही रह जाता तो भी तुम्हारे हृदयमें आज यह अग्नि नहीं जलती। मैंने अपने प्रेमको तुमपर प्रकट किया। तुमने भी उसका प्रतिदान दिया। कमला ! कहो, अब किस उपायमे तुम सुखी हो सकती हो ?

कम०—क्या तुम वह कर सकोगे ?

युवा—कर सकूँगा। प्रायः देनेमे भी यदि तुम मुहूर्तभरके लिये भी सुखी होओ तो मैं उसके लिये तैयार हूँ।

कम०—तो तुम मुझे छोड़कर अपने घर लौट जाओ।

युवा—घरमें मेरा कौन है कमला !

कम०—घरमें तुम्हारे को-पुत्र-धन-जन सब कुछ तो है।

युवा—किन्तु कमला नहीं।

कम०—कमला पाप है, खी पुण्य। इतने दिन पापकी मेवा की थी, अब पुण्यका परिचय करो।

युवा—कमलाकी तुलनामें खी ?

कम०—खीके चरणोंके नीचे सैकड़ों कमलाएँ लोटती हैं। एक बार लौट जाकर तुम देखो तो सही।

युवा—कमला ! तुम जिस मार्गमें जाना चाहती हो, मुझे भी उसका साथी बना लो। तुम्हें छोड़कर मैं नहीं रह सकूँगा।

कम०—जिस सुखकी आशामे मेरा संसर्ग चाहते हो, वह सुख अब नहीं पा सकोगे। तुम्हारा सुख खीके संसर्गमें है। मेरा सुख स्वर्गागत स्वामीके चरणतलमें। मार्ग बिल्कुल अलग-अलग हैं। मुझे छोड़कर घर चले जाओ। नहीं तो... ..।

युवा—नहीं तो क्या करोगी कमला ?

कम०—नहीं तो, मैं ही इस घरको छोड़ जाऊँगी।

युवा—इतने प्रेमका यह प्रतिदान ?

कम०—मेरे सम्मुख तुम्हारे प्रेमका अब मूल्य नहीं।

युवा—कमला ! कमला ! इतने दिन पीछे हमछोगोंका वियोग हो ही गया ?

कमला अब उस जगह खड़ी नहीं रह सकी। वहाँसे दूसरी तरफ चली गयी।

(६)

एक वर्ष व्यतीत हो गया है। कमला अब अकेली है। अपने मनसे घरका काम करती है और चिन्ता करती है। घरके कामका अन्त है किन्तु चिन्ताका अवसान नहीं। अनन्त विचारसमूहोंको अपने हृदयमें दबाये हुए जलमे भरे गम्भीर मेघबल्लकी तरह कमला चारों तरफ चलती-फिरती है।

कमला पूजा नहीं करती, जप-तप कुछ भी नहीं करती। वह केवल एक कलसा यमुनाजलका भरकर मदनमोहनजीके मन्दिरमें दे आती है। वहाँ ही उसका सब कार्य समाप्त हो जाता है।

निम्नवध रात्रिमें जब समस्त पृथिवी बेसबर होकर सोती, उस समय कमला चुपचाप उठकर श्रीमदनमोहनजीके मन्दिरके सम्मुख पहुँचती। दरवाजेके आगे धूलिमें कोटकर बहुत देरतक रोती रहती। इस तरह वह प्रतिदिन करती। शीत-वर्षा कुछ भी नहीं गिनती। कमला किसीके भी घर नहीं जाती। उसके भी घर कोई नहीं आता। कमला किसीके भी साथ बातचीत नहीं करती, दूसरा भी कोई उससे बातचीत करनेके लिये लालायित न था। वह अकेली रोती। सप्ताहमें एक दिन बाज़ार जाती। वहाँमे ढाल-चावल जो कुछ भी ला सकती, उसीमे अपने दिन काटती। दाल, चावल, लवण और नाममात्रको घी इनके सिवा वह कुछ नहीं खाती, खानेकी ह्छा भी नहीं होती।

कमलाके पास रूप और यौवन दोनों ही थे। जहाँ ये दोनों होते हैं वहीं विपत्ति साथ है। कोई-कोई उसका पीछा करता। कमलाने एक दिन अपने हाथमे अपनी वह निविड केशराशि काट डाली। नाते लोहेमे कपोल और छातीको जलाकर विरूप बना डाला। उस दिनमे कोई पुरुष उसकी तरफ फिरकर देखनातक नहीं।

कमलाके पास कुछ रुपये और गहने थे। यमुनास्नान करके लौटती बार वह उसमेंमे गरीब-दुखियोंको बाँट देती। यह धन पापमे कमाया न था। पिताका घर छोड़ने समय वह साथ लायी थी। तो भी ठाकुरजीकी सेवामें इस पैसेको लगानेका कमलाको साहस नहीं होता था।

यमुनाके किनारेपर अगर कहीं उसे अच्छे फूल दिखायी देते, उन्हें अवश्य ठाकुरजीके लिये ले आती।

जगमोहनमें दूर खड़ी हुई कमला एक दिन ठाकुरजीके दर्शन कर रही थी। जब उसने देखा कि मेरे लिये हुए फूलोंसे ठाकुरजीके दोनों चरण दके हुए हैं तब वह भक्ति और आनन्दसे अधीर होकर रो उठी। उसने ठाकुरजीको प्रणाम नहीं किया। 'हे मदनमोहनजी' कहकर एक दफा पुकारा भी नहीं। वह केवल रोने लगा गयी। उस दिनमे आनन्द-विह्वलचित्त हुई कमलाके उसी दशामें कितने ही दिन बीत गये।

कमला प्रतिदिन ठाकुरजीकी सेवाके लिये यमुनाजल दे आती। फूल मिलनेपर फूल दे आती। कभी-कभी माछा गूँथकर ठाकुरजीके लिये दे आती। समाधानीजी अब कोई आपत्ति नहीं करने। कमला ठाकुरजीके लिये जो कुछ दे आती उसे वह सादर ग्रहण करने।

इस तरह एक वर्ष और बीत गया। कमलाने एक दिन बकीलके घर जाकर एक दानपत्र लिखवाया। उसकी स्थावर-ग्रन्थावर जो कुछ सम्पत्ति थी, उसको इस दानपत्रके द्वारा मदनमोहनजीके अर्पण कर दिया। दानपत्र मदनमोहनजीके मन्दिरमें रखकर कमला फिर मथुरामें दिखायी नहीं दी। कहाँ गयी, किसीको मालूम न हो सका।

(७)

कमला घर छोड़कर कौड़ी भी साथ न ले केवल एक साड़ी ही पहिने जगदीशके लिये रवाना हुई। राम्ना जानती नहीं, आने-जानेवालोंमे पृष्ठकर आगे बढ़ती है। पाममें एक पैसा नहीं, भिक्षा माँगकर पेट भरती है। दिन-पर-दिन बीतने लगे। कमला वहे उम्माहमें मार्गमें आगे बढ़ने लगी। इस तरह कई मास बीत गये। अभी जगदीशपुरी बहुत दूर थी। कमलामे अब पहलेकी तरह मार्ग नहीं चला जाता। कभी उपवास, कभी आधे पेट, यों करने-करते वह त्रिकुल दुर्बल हो गयी। उन्हाह धीरे-धीरे मन्द पड़ गया। चलनेकी शक्ति क्रम-क्रमसे घट चुकी है। कमला इस समय ध्यान करने लगी—'भगवन्! अब मेरी क्या गति होगी?'

कमला एक दिन राम्ना चलते-चलते एकदम थक गयी। सन्ध्याके समय ही वह राम्नाके किनारे एक वृक्षके नीचे सो गयी। सोती-सोती सोचने लगी—'माझूस होता

हे मेरे भाग्यमें जगदीशका दर्शन नहीं बढ़ा है। जो वहाँ एक बार चला जाता है उसके पाप कट जाते हैं। मैं रो नहीं सकी, इसीलिये मेरे पाप नहीं धुले। जगन्नाथजीके दर्शनको चली थी, मालूम होता है वह भी भाग्यमें नहीं है। हे ठाकुरजी ! मेरा क्या होनहार है ? इस पाप-भारको उठाने-की अब मुझमें शक्ति नहीं।'

सोचते-सोचते कमलाको निद्रा आ गयी। स्वप्नमें उसने देखा कि मध्याकाशमें एक मनोहर मूर्ति विराजमान है। वह देखने लगी—जिस जगह तारे खिखते हैं, चन्द्रमा सुशोभित होता है, उस स्थानपर नवजलधरश्याम, कमल-दललोचन श्रीमदनमोहन बंकिम-भंगिमा-ये खड़े वंशी बजा रहे हैं। उनके ओष्ठोंमें हास्य, नयनोंमें कण्ठा विराजमान है। शत-शत चन्द्रमाओंके प्रतिबिम्ब उनके नभोंमें पड़ रहे हैं। लक्ष-लक्ष नक्षत्र उनके चरणतलमें लोट रहे हैं। आकाश, पृथिवी सब लुप्त हो चुके हैं। सब जगत्का तेज इकट्ठा होकर उस मूर्तिको घेरे हुए है। कमलाने नींदमें ही पुलकित-गरीज होकर पूछा—'क्या आप ही श्रीहरि हैं ?'

उत्तर मिला — 'हाँ'

'क्या आप मुझे दर्शन देने आये हैं ?'

'ना'

'मैं आपके दर्शन करने जगदीशपुरी जा रही हूँ।'

'मैं जगदीशपुरीमें नहीं रहता।'

'तब कहाँ रहते हैं ?'

'मैं मनुष्योंके हृदयमें रहता हूँ। जो मुझको पुकार सकता है और मुझे देखना जानता है, वही मेरा दर्शन पा सकता है।'

'मैं पुकारना नहीं जानती। कृपा करके मुझे पुकारना सिखा दीजिये।'

कोई उत्तर नहीं मिला। कमला आवेगमें फिर कहने लगी — 'हे ठाकुरजी ! मुझे आपको पुकारना सिखा दीजिये।'

इस बार भी कोई जवाब नहीं मिला। देखते-देखते आकाशकी वह मूर्ति मन्द होती-होती आकाशपटमें लीन हो गयी। कमला व्याकुलहृदयसे पुकारने लगी— 'हे ठाकुरजी ! बता दीजिये किस उपायसे आप मिलेंगे ?'

दिग्दिगन्त प्रतिध्वनित करता हुआ फिर चीत्कार सुनायी दिया— 'हे दयाभय, बता दीजिये, किसप्रकारसे आप मिलेंगे ?'

उस कातर चीत्कारसे स्थावर-जंगम, आकाश-पृथिवी भी पुलकित होकर प्रतिध्वनि करने लगे— 'बता दीजिये दयाभय ! किस उपायसे आप मिलेंगे ?'

चीत्कार-शब्दसे कमलाकी निद्रा टूट गयी। वह उठकर चारों तरफ देखने लगी। उसने पृथिवी देखी, आकाश देखा, तारे देखे, किन्तु कहीं भी उस मूर्तिको नहीं देखा। निराशाकुल हृदयसे आकाशकी तरफ देखती हुई वह निस्त्वच बैठी रह गयी।

स्वप्नमें जो कुछ सुना था, कमलाको सब याद था। कमला एक-एक करके उन यातोंको विचारने लगी। सबेरा हो चला था। कमला वृक्षके नीचेमें उठ खड़ी हुई। जिस रास्ते होकर मथुरामे आयी थी, उसी रास्तेसे मथुराकी तरफ लौट चली।

(८)

कमलाका भ्रम टूट गया। वह अब जगन्नाथपुरी जानेके लिये खालायिन नहीं है। कमलाकी मालूम हो गया है कि हृदयकी अवस्थाविशेषका नाम ही है 'जगदीश-पुरी।' जब अन्तःकरणमें श्रीराधाकृष्णकी युगल मूर्ति निरन्तर विराजने लगती है तब ही मनुष्यको जगदीशके दर्शन हो पाते हैं। नहीं तो जगदीशपुरीमें पापाकुल हृदयसे चिरकालतक जीवन व्यतीत करनेपर भी मनुष्यको जगन्नाथका दर्शन नहीं होता।

राम्ना चलते-चलते कमला विचारने लगी— 'हाय हाय ! मैंने क्या किया। अज्ञान-अबोध मनके वशीभूत होकर मैं जगन्नाथपुरीकी तरफ दौड़ आयी ! हे मेरे मदन-मोहनजी ! अबोध पुत्रीको क्षमा करना। तुम्हारे चरण ही मेरे लिये जगदीशपुरी हैं, तुम्हारे चरण ही मेरे पुण्य-तीर्थ हैं। तुम्हारे चरणोंपर जल ढालते-ढालते ही मैंने पापोंके लिये रोना सीखा है। पत्थर छोटकर सोना पहिचाना है। तुम ही मेरे जगदीशपुरीके जगदीश हो। तुम ही मेरे बैकुण्ठके स्वामी श्रीहरि हो। हे ठाकुरजी, मेरे अपराधको क्षमा करना।'

कातरकण्ठसे मदनमोहनजीको पुकारती-पुकारती कमला रास्ता चलने लगी। दिन-पर-दिन—मास-पर-मास व्यतीत होने लगे। कमलामे अब पहलेकी भौंति रास्ता नहीं चला जाता। एक दिनके मार्गमें दस दिन लग जाते हैं। उपवासीसे क्षीण बने-मौंटे देहको किसी तरह बसीटती हुई बड़ी मुश्किलसे वह मथुरा पहुँची।

उस दिन यमद्वितीयाका पुण्य-पर्व था, किन्तु कमला-को मालूम न था। रास्ते-घाटोंपर चारों तरफ लोगों-की भीड़ थी। सबका मुख यमुनाकी तरफ था। कौतुक-वश ही कमलाने एक स्त्रीसे पूछा—‘हैं री ! तुमलोग सब कहाँ जा रही हो ?’ स्त्रीने अनखाकर जवाब दिया—‘भर अभागिन ! क्या तुझे यह भी मालूम नहीं है कि आज ‘यमद्वितीया’ है।’

कमला भी यमुनाजी नहाने चल पड़ी।

यमुनाजीके जलमें कण्ठपर्यन्त डूबकर कमला विचारने लगी—‘आज फिर वही यमद्वितीयाका दिन है। इसी दिन मैंने व्रत ग्रहण किया था, आज इस ही दिन व्रतका उद्घाटन करूँगी। हे मा यमुने ! मेरे पाप धो डालो। इस देहभारसे मुझे मुक्त कर दो मा ! मा ! मा !.....’

इससे आगे बोला न गया। दोनों गालोंपर होकर निरन्तर अश्रुधारा बहने लगी। दोनों आँखोंके दो प्रवाह यमुनाप्रवाहमें मिल रहे थे।

ज्ञान करके कमला मदनमोहनजीके मन्दिरकी तरफ चल पड़ी। उसके देहमें न जाने कहाँसे इस समय नवीन शक्ति आ गयी थी, मनमें नया उत्साह भर गया था। वह इस लम्बे रास्तेको बहुत थोड़े समयमें लौंघकर अति शीघ्रतासे मन्दिरके आँगनमें आ उपस्थित हुई।

उस समय दर्शन खुल गये थे। संकोचरहित कमला धक्कदाती हुई जगमोहनमें पहुँच एकचिन्तमें ठाकुरजीके दर्शन करने लगी। उस दिन वृद्ध मुखियाजी मेवामें स्वयं उपस्थित थे। आरतीके अनन्तर पीछे फिरकर उन्होंने देखा कि कमला खड़ी है। देखते ही वह उसे पहचान गये। उन्होंने कहा—‘आज बहुत दिन पीछे लौटी हो, ठाकुरजीको प्रणाम करो बेटी !’

कमला ठाकुरजीके चरणोंसे नेत्रोंको न हटाती हुई ही बोली—‘किसको प्रणाम करूँ ? ठाकुरजीको ? उनके चरणोंमें मैं निरर्थ कोटि-कोटि प्रणाम करती आयी हूँ। उनके चरणोंमें मैं लोटा करती हूँ। मैं उन्हींके चरणोंपर मस्तक रखने हुण पड़ी हूँ। अब कहाँ माथा टेककर किने प्रणाम करूँगी ?’

मुखियाजीको विस्मय हुआ। थोड़ी देर निमग्न रह-कर उन्होंने पूछा—‘चरणामृत लोगी ?’

कमला—‘चरणामृत ? चरणामृत कहाँ दोगे ? मुखमें स्थान नहीं। समस्त देहपर मदनमोहनजीका अधिकार हो चुका। मस्तकपर मदनमोहन, जिह्वापर मदनमोहन। चरणामृत कहाँ दोगे ?’

मुखियाजीको आश्चर्यके साथ-साथ कमलापर असीम श्रद्धा हो उठी। उन्होंने पूछा—‘क्या ठाकुरजीका प्रसादी-पुष्प लोगी ?’

कमला—‘फूल ? दो। उनके चरणोंके पुष्प उनके चरणों-पर ही खड़ा दो।’

कहकर कमलाने अपना पैर आगे बढ़ा दिया। महानुभाव मुखियाजी वंदे ज्ञानी थे, तो भी कमलाके पाँवपर प्रसादी-फूल चढ़ानेका माहस उन्हें न हुआ।

कमलाने किसी तरफ भी फिरकर न देखा। उसके दोनों नेत्र बन्द हो गये। वह ध्यानमग्न होकर धममे वहीं बैठ गयी। वह ध्यान फिर कभी भंग न हुआ और न वह नेत्र ही फिर कभी खुले ! कमला मदनमोहनजीमें मिलकर मदनमोहनजी बन गयी !

मन्ध्याके समय परमदयालु मुखियाजी कमलाके देह-को स्वयं बहान करके यमुनातटपर अग्निस्नकार कर आये !!



ईश्वर-श्रद्धा

दर्शन-शास्त्र चाहे जिस सिद्धान्तका प्रतिपादन करें, अध्यारम चाहे जहाँ जाय, परन्तु जबनक इस संसारमें मृत्यु है, जबतक मनुष्य-हृदयमें कमजोरी है और जबतक उस कमजोरीकी अवस्थामें मनुष्यके हृदयमें पुकार उठती है तबतक संसारमें ईश्वरके प्रति श्रद्धा बनी ही रहेगी। —स्वामी विवेकानन्द



ईश्वर-प्रेमकी विभिन्न अवस्थाएँ *

(लेखक—पं० आ.प्र.मुदत्तजी मल्लाचारी)

कैतवरहितं प्रेम नहि भवति मानुष लोके । यदि भवति कस्य विरहो विरहे सत्यपि को जीवति ॥



क-मर्यादाको भेटकर मोहनसे मन लगानेको मनीषियोंने प्रेम कहा है । प्रेमके लक्षणमें इतना ही कहना यथेष्ट है कि 'प्रेमैव गोप-रामाणां काम इत्यगमत् प्रथमम्' अर्थात् गोपियोंके शुद्ध प्रेमको ही 'काम' के नामसे पुकारनेकी परिपाटी पड़ गयी है । इससे यही तात्पर्य निकला कि प्रेममें इन्द्रिय-मुखकी इच्छाओंका एकदम अभाव होता है । क्योंकि गोपिकाओंके काममें किसी प्रकारके अपने शरीर-मुखकी इच्छा नहीं थी । वे जो कुछ करती थीं केवल श्रीकृष्णकी प्रमदताके निमित्त । इसलिये शुद्ध प्रेम इन्द्रिय और उनके धर्मोंसे परेकी वस्तु है । इसीको 'राग' के नामसे भी पुकारते हैं । इस 'काम', 'प्रेम' अथवा 'राग' के तीन भेद हो सकते हैं । पूर्वराग, मिलन, विछोह या विरह ।

जिसके हृदयमें प्रेम उत्पन्न हो जाता है, उसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार, संसारी विषयभोग कुछ भी नहीं सुहाते । सदा अपने प्यारेका ही चिन्तन बना रहता है । रागमार्गके उपासक बैष्णवोंने अपने ग्रन्थोंमें ऐसे प्रेमियोंकी भिन्न-भिन्न दशाओंका बड़े विस्तारके साथ वर्णन किया है, इस संकुचित स्थलमें न तो उनका उल्लेख ही हो सकता है और न यहाँ उनके उल्लेखका कुछ विशेष प्रयोजन ही दिखायी देता है । इस सम्बन्धमें अष्ट सारविक भावोंका बहुत उल्लेख आता है और वे ही अत्यन्त प्रसिद्ध भी हैं, अतः यहाँ बहुत ही संक्षेपमें पहले उन्हीं आठ भावोंका वर्णन करते हैं । वे आठ ये हैं—स्वप्न, कम्प, स्नेह, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वर-मंग, पुलक और प्रलय । अब इनकी संक्षिप्त व्याख्या सुनिये—

स्वप्न—शरीरका लब्ध हो जाना । मन और इन्द्रियाँ जब घेष्टारहित होकर निश्चल हो जाती हैं, उस अवस्थाको स्वप्न कहते हैं ।

कम्प - शरीरमें कँपकँपी पैदा हो जाय, उसे 'वैषधु'

या 'कम्प' कहते हैं । अर्जुनकी युद्धके आरम्भमें भयके कारण ऐसी दशा हुई थी । उन्होंने स्वयं कहा है—

'वैषधुश्च शरीरं मे रोमहर्षश्च जायते ।'

अर्थात् मुझे कँपकँपी छूट रही है, रोंगटे खड़े हो गये हैं ।

स्नेह—शरीरमेंसे पसीना छूटना, या पसीनेमें 'लघ-पथ' हो जाना हुये 'स्नेह' कहते हैं ।

अश्रु—दिना प्रयत्न किये शोक, विस्मय, क्रोध अथवा हर्षके कारण आँखोंमेंसे जो जल निकलता है, उसे 'अश्रु' कहते हैं । हर्षमें जो अश्रु निकलते हैं, वे ठण्डे होते हैं और वे प्रायः आँखोंकी कोरमें नीचेकी बहते हैं । शोकके आँसू गरम होते हैं और वे बीचसे ही बहते हैं ।

स्वर-मंग—मुखसे अक्षर स्पष्ट उच्चारण न हो सके । उसे 'स्वरभेद' 'गदगद' या स्वर-मंग कहते हैं ।

वैवर्ण्य—उपर्युक्त कारणोंसे मुखपर जो एक प्रकारकी उदासी, पीलापन या फीकापन आ जाता है उसे 'वैवर्ण्य' कहते हैं । उसका असली स्वरूप है, 'आकृतिका बदल जाना ।'

पुलक—शरीरके सम्पूर्ण रोम खड़े हो जायँ उसे पुलक या रोमाञ्च कहते हैं ।

प्रलय—जहाँ शरीरका तथा भले-बुरेका ज्ञान ही न रह जाय, उसे प्रलय कहते हैं । इन्हीं सब कारणोंसे बेहोशी आ जाती है । इस अवस्थामें प्रायः लोग पृथ्वीपर गिर पड़ते हैं । 'बेहोश होकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़नेका नाम प्रलय है ।'

उपर्युक्त भाव हर्ष, विस्मय, क्रोध, शोक आदि सभी कारणोंसे होते हैं, किन्तु ईश्वर-प्रेमके पक्षमें ही ये प्रशंसनीय हैं ।

पहले इस पूर्वराग, मिलन और वियोग अथवा विछोह ये तीन अवस्थाएँ प्रेमकी बता चुके हैं । अब उनके सम्बन्धमें कुछ सुनिये—

* गीताप्रसंगे प्रकाशित होनेवाली श्रीभीमैतन्य-चरितावलीके अमुद्रित पञ्चम खण्डके एक अध्यायका कुछ अंश ।

पूर्वराग—प्यारेसे साक्षात्कार तो हुआ नहीं है, किन्तु चित्त उसके लिये तड़प रहा है। इसे ही संक्षेपमें पूर्वराग कह सकते हैं। दिन-रात्रि उसीका ध्यान, उसीका चिन्तन और उसीके सम्बन्धका ज्ञान बना रहे। मिलनेकी उत्तरोत्तर इच्छा बढ़ती ही जाय, इसीका नाम पूर्वराग है। इस दशामें शरीरसे, घर-द्वार तथा जीवनसे भी एकदम बेराग्य हो जाता है। उदाहरणके लिये इसी श्लोकको लीजिये—

हे देव ! हे दयित ! हे भुवनैकबन्धो !
हे कृष्ण ! हे चपल ! हे करुणैकसिन्धो !
हे नाथ ! हे रमण ! हे नयनाभिराम !
हा ! हा ! कदा नु भवितसि पदं दशामें ?

हे देव ! हे दयालो ! हे विश्वमें एकमात्र बन्धु ! ओ काले ! अरे ओ चपल ! हे कृष्णके सागर ! हे स्वामिन ! हे मेरे साथ रमण करनेवाले ! हे मेरे नेत्रोंको सुख देनेवाले प्राणेश ! तुम कब मुझे दर्शन दोगे ?

इस श्लोकमें परम कल्याणपूर्ण सम्बोधनोंद्वारा बड़ी ही मार्मिकताके साथ प्यारेसे दर्शन देनेकी प्रार्थना की गयी है। सचमुच श्रुतुराग इसीका नाम है। ऐसी जगन हो, तब कहीं वह निगोडा इस ओर दृष्टिपात करता है। बड़ा निर्दयी है !

अब दूसरा है, सम्मिलन-मुख। यह विषय वर्णनातीत है। सम्मिलनमें क्या मुख है, यह बात तो अनुभवशाय्य है, इसे तो प्रेमी और प्रेमपात्रके सिवा दूसरा कोई जान ही नहीं सकता। इसीलिये कवियोंने इसका विशेष वर्णन नहीं किया है। सम्मिलन-मुखको तो दो एक होकर ही जान सकते हैं, वे स्वयं उसका वर्णन करनेमें असमर्थ होते हैं, फिर कोई वर्णन करे भी तो कैसे करे ? अनुभव होने-पर वर्णन करनेकी शक्ति नहीं रहती और बिना अनुभवके वर्णन व्यर्थ है। इसलिये हम विषयमें सभी कवि उदासीन-से ही देख पड़ते हैं। श्रीमद्भागवतादिमें वर्णन है, किन्तु वह आटेमें नमकके ही समान प्रसंगवश यत्किञ्चिद् है। सभीने विरहके वर्णनमें ही अपना पाण्डित्य प्रदर्शित किया है। और यदि कुछ वर्णन हो सकता है तो यत्किञ्चिद् विरहका ही हो भी सकता है। उसीके वर्णनमें मजा है। सम्मिलन-मुखको तो सिर्फ वे दोनों ही लुटते हैं। सुनिये, रसिक रसखानवीने दूर खड़े होकर इस सम्मिलनका बहुत ही थोड़ा वर्णन किया है। किन्तु वर्णन करनेमें कमाल कर

दिया है। दो प्रेमियोंके सम्मिलनका इतना सजीव और जीता-जागता चित्र शायद् ही किसी अन्य कविकी कवितामें मिले। एक सखी दूसरी सखीसे श्रीराधिकाजी और श्रीकृष्णके सम्मिलनका वर्णन कर रही है। सखी कहती है—

परी ! आज-कालिह सब लोक-लज त्यागि दोऊ,
सीसे है सबे विधि सनेह सरसायबो ।
यह रसखान दिन द्वे में नात फैलि जैहै,
कहाँसँ सयानी ! चन्द हाथन छिपायबो ॥
आज हौ निहायबो बीर, निपट कमिन्दी तीर,
दोउनको दोउन सौं मुख मुसकायबो ।
दोऊ परँ पैयाँ दोऊ नेत हैं बनेयौ,
उन्हें, भूल गया मैयाँ, इन्हें गागर उठायबो ॥

कैसा सजीव वर्णन है ! वह भी कलिन्दीकूलपर एकान्तमें हुआ था, इसलिये छिपकर सखीने देख भी लिया, कहीं अन्तःपुरमें होना तो फिर वहाँ उसकी पहुँच कहाँ ?

‘दोऊ परँ पैयाँ दोऊ नेत हैं बनेयौ,
उन्हें, भूल गया मैयाँ, इन्हें गागर उठायबो ॥’

—कहकर तो सखीने कमाल कर दिया है। धन्य है ऐसे सम्मिलनको !

अब तीसरी दशा है विरहकी। इन तीनोंमें उत्तरोत्तर एक दूसरीसे श्रेष्ठ हैं। पूर्वाणुरागकी अपेक्षा मिलन श्रेष्ठ है और मिलनकी अपेक्षा विरह श्रेष्ठ है। प्रेमरूपी दूधका विरह ही मक्खन है। इसीलिये कबीरदासजीने कहा है—

विरहा-विरहा मत कटौ, निरहा है मुलतान ।

जहि घट विरह न संचरै, सो घट जान मसान ॥

विरहके भी तीन भेद हैं। भविष्य-विरह, वर्तमान-विरह और भूत-विरह। इनमें भी परम्परमें उत्तरोत्तर उत्कृष्टता है। भावी-विरह बड़ा ही करुणोत्पादक है, उससे भी दुःखदायी वर्तमान-विरह। भूत-विरह तो दुःख-सुखकी पराकाष्ठासे परे ही है।

पहले भावी-विरहको ही लीजिये। ‘प्यारा कल खला जायगा’ बस, इस भावके उदय होने ही कलेजेमें लो एक प्रकारकी पेंडन-सी होने लगती है, उसी पेंडनका नाम ‘भावी-विरह’ है।

ऐसी विरह-वेदना अपने किसी प्रियके विछोहमें समी-
के हृदयमें होती है, किन्तु श्रीकृष्णके मथुरा-गमनका
समाचार सुनकर गोपिकाओंको जो भावी-विरह-वेदना हुई,
वह तो कुछ बात ही अनोखी है। वैसे तो समीका विरह
उत्कृष्ट है, किन्तु श्रीराधिकाजीके विरहको ही सर्वोत्कृष्ट
माना गया है। एक सखी इस हृदयको हिला देनेवाले
समाचारको लेकर श्रीमतीजीके समीप जाती है। उसे
सुनते ही श्रीराधिकाजी कर्तव्यविमूढ़-सी होकर प्रलाप
करने लगती हैं। उनके प्रलापका मिथिलाके अमर कवि
श्रीविद्यापति ठाकुरने बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है—
राधिकाजी कह रही हैं—

‘मैं क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ ? कुछ अच्छा नहीं लगता ।
अरे ! ये निष्ठुर प्राण भी तो नहीं निकलते । प्रियतमके
लिये मैं किस देशमें जाऊँ ? रजनी बीतनेपर प्रातःकाल
किसके कमल-मुखकी ओर निहारूंगी ? प्यारे तो दूर देशमें
जा रहे हैं, मैं उनके विरह शोकमें मर जाऊँगी । ससुदमें
कुदकर प्राण गँबा दूँगी, जिससे लोगोंकी दृष्टिसे ओझल
रह सकूँ । नहीं तो प्यारेको गलेकी माला बनाकर देश-
विदेशोंमें योगिनी बनकर घूमती रहूँगी ।’ यह भावी-
विरहका उदाहरण है। अब वर्तमान-विरहकी बात
सुनिये—

जो अबतक अपने साथ रहा, जिसके साथ रहकर
भौतिक-भौतिकीके सुख भोगे, विविध प्रकारके आनन्दका
अनुभव किया वही जानेके लिये एकदम तैयार खड़ा है ।
उस समय जो दिलमें एक प्रकारकी धक्कन होती है ।
सीनेमें कोई मानो साथ ही सैकड़ों सुइयों चुभो रहा हो,
उसी प्रकारकी-सी कुछ-कुछ दशा होती है उसे ही ‘वर्तमान-
विरह’ कहते हैं ।

गोपिकाओंके बिना इस विरह-वेदनाका अधिकारी
दूसरा हो ही कौन सकता है ? रथपर बैठकर मथुरा जाने-
वाले श्रीकृष्णके विरहमें ब्रजगंगनाओंकी क्या दशा हुई, इमे
भगवान् व्यासदेवकी ही अमर वाणीमें सुनिये । उनके
बिना इस अनुभवगम्य विषयका वर्णन कर ही कौन
सकता है—

पवं ब्रवाणा विरहातुरा मृशं

ब्रजप्रियः कृष्णविषकमानसाः ।

बिसुख लज्जा ककुदुःस्म सुखरं

गोविन्द ! दामोदर ! माधवेति ॥

श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षितसे कह रहे हैं—‘राजन !
जिनके चित्त श्रीकृष्णमें आस्थान्त ही आसक्त हो रहे हैं, जो
भविष्यमें होनेवाले विरह-दुःखको स्मरण करके घबड़ाया
हुई, नाना भौतिकीके आर्त-वचनोंको कहती हुई और लोक-
काज आदिकी कुछ भी परवा न करती हैं, वे जँचे
स्वरसे चित्ता-चिन्ताकर हा गोविन्द ! हा माधव ! हा
दामोदर ! कह-कहकर रुदन करने लगेंगी ।’ यही वर्तमान-
विरहका सर्वोत्तम उदाहरण है ।

प्यारे चले गये, अब उनमें फिर कभी भेंट होगी
या नहीं ? इसी द्विविधाका नाम ‘भूत-विरह’ है । इसमें
आशा-निराशा दोनोंका सम्मिश्रण है । यदि मिलनकी
एकदम आशा ही न रहे तो फिर जीवनका काम ही क्या ?
फिर तो क्षणभरमें इस शरीरको भस्म कर दें । प्यारेके
मिलनकी आशा तो अवश्य ही है, किन्तु पता नहीं वह
आशा कब पूरी होगी । पूरी होगी भी या नहीं, हमका
भी कोई निश्चय नहीं । बस, प्यारेके एक ही बार दूरसे
ही थोड़ी ही देरके लिये क्यों न हो, दर्शन हो जायँ !
बस, इसी एक लालसासे वियोगिनी अपने शरीरको धारण
किये रहती है । उस समय उसकी दशा विचित्र होती
है । साधारणतया उस विरहकी दशा दशाएँ बतायी गयी
हैं । वे ये हैं—

चिन्तात्र जागरोद्वेगा तानवं मलिनान्नता ।

प्रतापो व्याधिरुन्मादो मोहो मृत्युर्दशा दश ॥

(उज्ज्वलनीलमणि पृ० ६४)

‘चिन्ता, जागरण, उद्वेग, क्लेशता, मलिनता, प्रताप,
उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु ये ही विरहकी दस
दशाएँ हैं ।’ अब इनका संक्षिप्त विवरण सुनिये—

चिन्ता—अपने प्यारेके ही विषयमें सोते-जागते, उठते-
बैठते हर समय सोचते रहनेका नाम चिन्ता है । मनमें
दूसरे विचारोंके लिये स्थान ही न रहे । ब्रज-भाषा-गानके
परम प्रकाशवान् ‘सूर’ ने चिन्ताका कैसा सजीव वर्णन
किया है—

नाहिन रझो हियमें ठौर ।

नन्द-नन्दन अछन कैसे आनिये उर और ॥

चलत, चितवत, दिवस, जागत, स्वप्न, सोवत रात ।

हृदयते बह स्याम मूरति छिन न इत उत जात ॥

कहत कथा अनेक उषा लोक-लाज दिखात ।
कहा करी तन प्रेम-पूरन घट न सिन्धु समात ॥
रमाम गात सरोज-आनन ललित-गति मृदु हास ।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लेखन प्यास ॥

प्यासको फिर नींद कहाँ ? नींद तो आँखोंमें ही आती है और आँखें ही रूपकी प्यासी हैं, ऐसी अवस्थामें नींद वहाँ आ ही नहीं सकती । इसलिये विरहकी दूसरी दशा 'जागरण' है ।

जागरण—न सोनेका ही नाम 'जागरण' है, यदि विरहिणीको अणभरके लिये निद्रा भा जाय तो वह स्वप्नमें तो प्रियतमके दर्शन-सुखका आनन्द उठा ले । किन्तु उसकी आँखोंमें नींद कहाँ ? श्रीराधिकाजी अपनी एक प्रिय सखीसे कह रही हैं—

याः पश्यन्ति प्रियं स्वप्नं चन्मात्ताः सखि ! योषितः ।
अस्माकन्तु गते कृष्णे गता निद्रापि वैरिणी ॥
(पद्यावली)

'प्यारी सखी ! वे कियों धन्य हैं जो प्रियतमके दर्शन स्वप्नमें तो कर लेती हैं । मुझ दुःखिनीके आन्यमें तो वह सुख भी नहीं बढ़ा है । मेरी तो वैरिणी निद्रा भी श्रीकृष्ण-के साथ-ही-साथ मथुराको चली गयी । वह मेरे पास आती ही नहीं ।' धन्य है, निद्रा चाहे कहाँ, आँखोंमें तो प्यारके रूपने अङ्गु जमा लिया है । एक म्यानमें दो तलवार समा ही कैसे सकती हैं ?

उद्वेग-हृदयमें जो एक प्रकारकी हलचल और बेकली होती है, उसीका नाम उद्वेग है । भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने उद्वेगका कितना सुन्दर वर्णन किया है—

व्याकुल ही तड़पौ बिन प्रीतम,
कोऊ तौ नेकु दया डर लाओ ।
प्यासी तर्जो तनु रूप-सुधा बिन,
पानिय पीको पपीहै पियाओ ॥
जीयमें होस कहूँ रहि जाय न,
हा ! 'हरिचंद' कोऊ ठठि पाओ ।
आँख न आवै पियारो अरे ! कोठ
हाऊ तौ जाँके मेरो सुनावो ॥

पागलपनकी हद हो गयी न ! भला कोई जाकर

हाल ही सुना देता तो इससे क्या हो जाता ? अब चौथी दशा कृशताका समाचार सुनिये—

कृशता-प्यारकी यादमें बिना खाये-पीये दिन-रात चिन्ता करनेके कारण शरीर जो दुबला हो जाता है, उसे 'कृशता' या 'तानव' कहते हैं । इसका उदाहरण लीजिये । गोपियोंकी दशा देखकर उद्धवजी मथुरा लौटकर आ गये हैं और वड़े ही करुण-स्वरमें श्रीराधिकाजीकी दशाका वर्णन कर रहे हैं । अन्धे सूरने इस वर्णनमें कमाल कर दिया है, सुनिये—

चित्त दै मुनौ स्याम प्रवीन !
हरि ! तुम्हारे विरह राधा, मै जु देखी छीन ॥
तउयो तेर, तमोल, मूषन, अंग बसन मलीन ।
ककना कर नाम राख्यो, गाढ भुज गहि लीन ॥
जब सैंदसो कहन सुन्दरि, गवन मो तन कीन ।
खसि मुद्रावलि चरन अहसी, गिरि धरनि बरहीन ॥
कंठ बचन न बोल आवै, हृदय आँसुनि भीन ।
नैन जल भरि रोइ दीनों, प्रीति आषट दीन ॥
उठि बहुनि मर्या मट ज्यो, परम साहस कीन ।
'सूर' प्रनु कल्याण पंसे, जियहि आशा कीन ॥

यदि हमी एक अहिनीय पदकी विरहकी सभी दशाओंके लिये उद्धृत कर दें तो सम्पूर्ण विरह-वेदनाके चित्र खींचनेमें पर्याप्त होगा । विरहिणी श्रीराधिका 'कृशता' 'मलिनता' 'चिन्ता' 'उद्वेग' 'व्याधि' 'मोह' और मृत्यु-तककी दशां दशाओंका वर्णन हमी एक पदमें कर दिया है । मृत्युको शास्त्रकारोंने साक्षात् मृत्यु न बनाकर 'मृत्यु-मुल्य अवस्था' ही बताया है । श्रीराधिकाजीकी इसमें बढ़कर और मृत्यु-मुल्य अवस्था हो ही क्या सकती है ?

मलिनता—'शरीरकी मुधि न होनेसे शरीरपर मैल अम जाता है, बाल चिकट जाते हैं, वस्त्र गन्दे हो जाते हैं । हमें ही 'मलिनता' या 'मलिनता' कहने हैं । ऊपरके पदमें राधिकाजीके लिये आधा ही है—

'तउयो तेर, तमोल, मूषन, अंग बसन मलीन ।'

प्रलाप—शोकके आवेधमें अपने-परायेको भूलकर जो पागलोंकी तरह भूली-भूली बातें करने लगते हैं, उसका नाम 'प्रलाप' है । श्रीसीताजीकी लाजमें श्रीकृष्णजीके साथ श्रीरामचन्द्रजी बनोमें फिर रहे हैं । हृदयमें भारी विरह है,

अपने-परायेका ज्ञान नहीं, शरीरका होश नहीं, चौककर लड़ हो जाते हैं और प्रकाश करने लगते हैं—

कोई ब्रह्म सखे ! स्वयं स जगदानाथः स को राघवः
के यूनं बत नाथ ! नाथ ! किमिदं दासोऽस्मि ते कश्मणः ।
कान्तारे किमिहास्महे बत सखे ! देव्यागतिर्मृग्यते
का देवी ? जनकाधिरात्रतनया, हा ! जानकि ! कासि हा !!

भगवान् लक्ष्मणजीमे चौककर पड़ते हैं—‘जैसा ! मैं कौन हूँ, मुझे बताओ तो सही ?’

लक्ष्मण कहते हैं—‘प्रभो ! आप साक्षात् भगवान् हैं।’

फिर पड़ते हैं—‘कौन भगवान् ?’

लक्ष्मण कहते हैं—‘रघु महाराजके वंशमें उत्पन्न होनेवाले श्रीराम !’

फिर चारों ओर देखकर पड़ते हैं—‘अच्छा, तुम कौन हो ?’

यह सुनकर अत्यन्त ही भरी होकर लक्ष्मणजी दीनताके साथ कहते हैं—‘हे स्वामिन् ! हे दयालु ! यह आप कैसी बातें कर रहे हैं ? मैं आपका चरणसेवक लक्ष्मण हूँ।’

भगवान् फिर उसी प्रकार कहते हैं—‘तब फिर इस यहाँ जंगलोंमें क्यां घूम रहे हैं ?’

शान्तिके साथ धीरेसे लक्ष्मणजी कहते हैं—‘इस देवीकी खोज कर रहे हैं।’

चौककर भगवान् पड़ते हैं—‘कौन देवी ?’

लक्ष्मणजी कहते हैं—‘जगद्वन्दिनी, जनकवन्दिनी श्रीसीताजी।’

बस, सीताजीका नाम सुनते ही ‘हा सीते ! हा जानकि ! तू कहाँ चली गयी’ कहते-कहते भगवान् मूर्छित हो जाते हैं। इन बे-तिर-पैरकी बातोंका ही नाम ‘प्रकाश’ है।

व्याधि-शरीरमें किसी कारणवश जो वेदना होती है उसे ‘व्याधि’ कहते हैं और मनकी वेदनाको ‘आधि’ कहते हैं। विरहकी ‘व्याधि’ भी एक दशा है। उदाहरण लीजिये। श्रीराधाजी अपनी प्रिय सखी ककिलासे कह रही हैं—

उत्पापी पुटपाकतोऽपि गरुडआयादपि क्षोभणो
दग्गोकेरपि दुःसहः कटुरतं हन्मन्महादयादपि ।

तीव्रः प्रौढविसृष्टिकनिचयतोऽप्युच्चैर्ममामं बली
मर्माण्यस्य भिनत्ति गोकुलपतेर्विक्षेपजन्माज्वरः ॥

(ललितमाधव नाटक)

‘हे सखि ! गोकुलपति उस गोपालका बिच्छेद-ज्वर मुझे वही ही पीका दे रहा है। यह पात्रमें तपाये सुवर्णसे भी अधिक उत्तापदायी है। पृथ्वीपर जितने ज्वर हैं उन सबसे भी अधिक क्षोभ पहुँचानेवाला है, वज्रसे भी दुःसह है, हृदयमें छिदे हुए शक्यसे भी अधिक कष्टदायी है तथा तीव्र विसृष्टिकादि रोगोंसे भी बदकर यन्त्रधार्य पहुँचा रहा है। प्यारी सखि ! यह ज्वर मेरे मर्मस्थानोंको भेदन कर रहा है।’ इसीका नाम ‘विरह-व्याधि’ है।

उन्माद—साधारण चेष्टाएँ जब बदल जाती हैं और विरहके आवेशमें जब विरहिणी अटपटी और विचित्र चेष्टाएँ करने लगती हैं, तो उसे ही ‘विरहोन्माद’ कहते हैं। उदाहरण लीजिये। उद्धवजी मथुरा पहुँचकर श्रीराधिकाजीकी चेष्टाओंका वर्णन कर रहे हैं—

अमति भवनगर्भे निर्निमित्तं हसन्ती

प्रथयति तव वार्तां चेतनचेतनेषु ।

लुठति च मुनि राजा कम्पितांगी मुरारे

विषमविषयक्षेदोद्गारिविभ्रान्तिचिन्ता ॥

अर्थात् हे श्रीकृष्ण ! श्रीराधिकाजीकी दशा क्या पड़ते हो, उसकी तो दशा ही विचित्र है। घरके भीतर घूमती रहती है, बिना बात ही खिलखिलाकर हँसने लगती है, चेतन-अवस्थामें हो या अचेतनावस्थामें, तुम्हारे ही सम्बन्धके उद्गार निकालती है। कभी धुकिमें ही लोट जाती है, कभी घर-घर काँपने ही लगती है। हे मुरारे ! मैं क्या बताऊँ, वह विभुवदनी राधा तुम्हारे विषम विरह-खेदसे विभ्रान्त-सी हुई विचित्र ही चेष्टाएँ करती है।

नीचेके पदमें भारतेन्दु बाबूने भी ‘उन्माद्विनी’ का बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है, किन्तु इसे ‘विरहोन्माद’ न कहकर ‘प्रेमोन्माद’ कहना ही ठीक होगा। सुनिये, साँवरेके सनेहमें सनी हुई एक सखीकी कैसी विचित्र दशा हो गयी है, पद्य पढ़ते-पढ़ते भाव समीप होकर आँखोंके सामने नृत्य करने लगता है—

भूली-सी, अमी-सी, बौकी, जकी-सी, यकी गोपी,
हुकी-सी रहति कछु नाही सुधि देखकी ।

मोही-सी, लुमाई, कछु मोदक-सो खाये सदा,
 विसरी-सी रहै नेकु खबर न गेहकी ॥
 रिस मरी रहै, कबौ फूली न समाति अंग,
 हँसि-हँसि कहै बात अधिक उमेहकी ।
 पूछे ते खिसानी होय, उत्तर न आवै ताहि,
 जानी हम जानी है निसानी या सनेहकी ॥

मोह-अत्यन्त ही बियोगमें अंगोंके शिथिल हो जानेसे जो एक प्रकारकी मूर्छा-सी हो जाती है, उसे 'मोह' कहते हैं। यह मृत्युके समीपकी दशा है। इसका चित्र तो हमारे रसिक हरिचन्दजी ही बड़ी खूबीसे खींच सकते हैं। लीजिये, मोहमें मग्न हुई एक विरहिनके साक्षात् दर्शन कीजिये—

धाकी गति अंगनकी, मति परि गई भंद,
 सुखि सौझरी-सी है के देह लागी पियरान ।
 बाबरी-सी बुझि भई, हँसी काहु छीन लई,
 सुखके समाज, जित तित लागे दूर जान ॥
 'हरीचन्द' रावरे विरह जग दुखमयो,
 मयो कसु और होनहार लागे दिखरान ।
 नैन कुम्हिलान लागे, बैनहु अधान लागे,
 आयो प्राननाथ ! अब प्रान लागे मुरझान ॥

सचमुच यदि प्राणनाथके पधारनेकी आशा न होती तो वे कुम्हिलाये हुए नैन और अधाये हुए बैन कबके पथरा गये होते। मुरझाये हुए प्राण, प्राणनाथकी आशामे ही अटके हुए हैं। 'मोह' की दशाका इससे उत्तम उदाहरण और कहाँ मिलेगा।

मृत्यु-मृत्युकी अब हम ध्यान्मा क्या करें। मृत्यु हो गयी तो झगड़ा मिटा, दिन-रातके दुखमे बच्चे, किन्तु ये मधुररसके उपासक रागानुयायी भक्त कवि इतनेमे ही विरहिणीका पियल नहीं छोड़ेंगे। मृत्युका वे अर्थ करते हैं 'मृत्युके समान अवस्था हो जाना।' इसका दृष्टान्त लीजिये। बँगलाके प्रसिद्ध पदकर्ता श्रीगोविन्ददासजीकी अमर-वाणीमें ही ब्रजवासिनीकी दशमी दशाका दर्शन कीजिये—

माघव ! तुझ यब निरदय भेल ।

मिछई अवधि दिन, गणि कत राखव, ब्रजबधु-जीवन-शेख ॥१॥
 कोइ घरनितक, कोइ यमुनाजक, कोइ-कोइ लुइह निकुल ॥२॥
 पदविन विरह, मरज-पथ पेकलु, तोहे तिरिबध पुनपुन ॥३॥

तपत सरोवर, थोरि सलिल जनु आकुल सफरी परान ॥४॥
 जीवन मरण, मरण वर जीवन 'गोविन्ददास' दुख जान ॥५॥

वृत्ती कह रही है—'प्यारे माघव ! भला, यह भी कोई अच्छी बात है, तुम इतने निर्दय बन गये ? दुनियाभरके झूठे, कलकी कह धाये थे, अब कल-ही-कल कितने दिन हो गये। इसप्रकार झूठ-मूठ दिन गिनते-गिनते कबतक उन सबको बहकाते रहोगे। अब तुम्हें ब्रजकी दशमी दशा क्या सुनाऊँ, वहाँका दृश्य बड़ा करुणोत्पादक है। कोई गोपी तो धृत्वीपर लोट-पोट हो रही है, कोई यमुनाजीमें ही कूद रही है, कोई-कोई निमृत्त निकुओंमें ही कम्बी-कम्बी सोंस ले रही है। इसप्रकार वे अत्यन्त ही कष्टके साथ विन-रात्रिको बिता रही हैं। तुम्हारे विरहमें अब वे मृत्युके समीप ही पहुँच चुकी हैं। यदि वे सब मर गयीं तो मैं कबों कियोंके वधका पाप तुम्हारे ही सिर लगेगा। उनकी दशा ठीक उन मछलियोंकी-सी है जो थोड़े जलवाले गड्ढेमें पड़ी हों और सूर्य उस गड्ढेके सब जलको सोख चुका हो, वे जिसप्रकार थोड़ी-सी कीचमें सूर्यकी तीक्ष्ण किरणोंसे तड़पती रहती हैं, उसी प्रकार ये तुम्हारे विरहमें तड़प रही हैं। यह जीते हुए ही मरण है, यही नहीं, किन्तु इस जीवनसे तो मरण ही लाख दर्जे अच्छा। गोविन्ददास कहते हैं, उनके दुःखको ऐसा ही समझो !'

नियमानुसार तो यहाँ विरहका अन्त हो जाना चाहिये था, किन्तु वैष्णव कवि मृत्युके बाद भी फिर उसे होशमें लाते हैं और पुनः मृत्युसे आगे भी बढ़ते हैं। रागमागीय ग्रन्थोंमें इससे आगेके भावोंका वर्णन है।

अनुरागको शुरुपक्षके चन्द्रमाके समान प्रवर्धनशील कहा गया है। (प्रतिक्षयावर्द्धमानम्) अनुराग हृदयमें बढ़ते-बढ़ते जब सीमाके समीप तक पहुँच जाता है तो उसे ही 'भाव' कहते हैं। वैष्णवगण इसी अवस्थाको 'प्रेमका श्रीगणेश' कहते हैं। जब भाव परम सीमातक पहुँचता है तो उसका नाम 'महाभाव' होता है। महाभावके भी 'रूढ़' महाभाव और 'अधिरूढ़' महाभाव दो भेद बताये गये हैं। 'अधिरूढ़' महाभावके भी 'मोदन' और 'मादन' दो रूप कहे हैं। 'मादन' ही 'मोदन' के भावमें परिणत हो जाता है, तब फिर 'विष्णोन्माद' होता है। 'विष्णोन्माद' ही 'प्रेम' या रतिकी पराकाष्ठा या सबसे अन्तिम स्थिति है। इसके उपर्य्या, चित्र, जलपादि बहुत-से भेद हैं। यह विष्णोन्माद कीराविकाजीके ही शरीरमें प्रकट हुआ

था। दिव्योन्मादावस्थामें कैसी दशा होती है इस बातका अनुमान श्रीमद्भागवतके निम्नांकित श्लोकसे कुछ-कुछ लगाया जा सकता है—

पर्वव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो दुतप्ति उषैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नुत्यनि लोकाब्जः॥

(श्रीमद्भा० ११।२।४०)

श्रीकृष्णके श्रवण-कीर्तनका ही जिसने व्रत ले रक्खा है, ऐसा अवशचित्त पुरुष संसारी लोगोंकी कुछ भी परवा न करता हुआ अपने प्यारे श्रीकृष्णके नामसंकीर्तनमें अनुरागवश कभी तो हँसता है, कभी रोता है, कभी चिन्ताता है, कभी गाना है और कभी धिरक-धिरककर नृत्य करने लगता है।

इस श्लोकमें 'रौति' और 'रोदिति' ये दो धातु साथ ही हैं। इसमें खूब जोरोंसे आह मारकर रोना ही अभिव्यजित होता है। 'रू' धातु शब्द करनेके अर्थमें व्यवहृत होती है। जोरोंसे रोकनेके अनन्तर जो एक करुणाजनक 'हा' शब्द आप-से-आप ही निकल पड़ता है वही यहाँ 'रौति' क्रियाका अर्थ होगा। इसमें उन्मादकी अवस्थाका वर्णन नहीं है। यह 'उन्मादकी-सी अवस्था' का वर्णन है। उन्मादावस्था तो इसमें भी विचित्र होती होगी। यह तो सांसारिक उन्मादकी बात हुई, दिव्योन्माद तो फिर उन्मादमें भी बढ़कर विचित्र होगा। वह अनुभवगम्य विषय है, श्रीराधिकाजीको छोड़कर और किसीके शरीरमें यह प्रकटरूपमें देखा अथवा सुना नहीं गया।

आवोंकी चार दशा बतायी गयी हैं। (१) भावोदय, (२) भाव-सन्धि, (३) भाव-शावलय और (४) भाव-शान्ति।

किसी कारणविशेषसे जो हृदयमें भाव उत्पन्न होता है, उसे भावोदय कहते हैं। जैसे साधकाल होते ही श्रीकृष्णके आनेका भाव हृदयमें उदित हो गया। हृदयमें दो भाव जब आकर मिल जाते हैं, तो उस अवस्थाका नाम भाव-सन्धि है, जैसे बीमार होकर पतिके घर छौटनेपर पत्नीके हृदयमें हर्ष और विषादजन्य दोनों भावोंकी सन्धि हो जाती है। बहुत-से भाव जब एक साथ ही उदय हो जायें तब उसे भाव-शावलय कहते हैं। जैसे 'पुत्रोरपत्ति-के समाचारके साथ ही पत्नीकी भयंकर दशाका तथा पुत्र-

को प्राप्त होनेवाली उसके पुत्रहीन मातामहकी सम्पत्ति तथा उसके प्रबन्ध करनेके भाव एक साथ ही हृदयमें उत्पन्न हो जायें।' इसी प्रकार इष्टवस्तुके प्राप्त हो जानेपर जो एक प्रकारकी सम्पुष्टि हो जाती है, उसे 'भाव-शान्ति' कहते हैं। जैसे रासमें अन्तर्धान हुए श्रीकृष्ण सखियोंकी सहसा मिल गये, उस समय उनका अदर्शनरूप जो विरह-भाव था वह शान्त हो गया।

इसी प्रकार निर्वेद, विषाद, द्वैन्द्व, स्थानि, तप्त, मद, गर्व, शंका, त्रास, आवेग, उन्माद, अप्रसार, व्याधि, मोह, मृति, आलस्य, जाल्य, मोटा, अवहिता, स्मृति, वितर्क, चिन्ता, मति, धृति, हर्ष, औत्सुक्य, असर्प, असूया, चापल्य, निद्रा और बोध इन सबको व्यभिचारी भाव कहते हैं। इनका वैष्णव-शास्त्रोंमें विशदरूपमें वर्णन किया गया है।

इन सब बातोंका असली तात्पर्य यही है कि हृदयमें किसीकी छान लग जाय, दिलमें कोई धँस जाय, किसीकी रूप-मापुरी आँखोंमें समा जाय, किसीके लिये उन्कट अनुराग हो जाय, तब सभी बेबा पार हो जाय। एक बार उस प्यारेमें लभाने लगी चाहिये, फिर भाव, महाभाव, अधिरुदभाव तथा सात्त्विक विकार और विरह-की दशाएँ तो आप-से-आप उदित होंगी। पानीकी इच्छा होनी चाहिये। ज्यों-ज्यों पानीके बिना गला सूखने लगेगा, त्यों-त्यों तड़फड़ाहट आप-से-आप ही बढ़ने लगेगी। उस तड़फड़ाहटको बुलानेके लिये प्रयत्न न करना होगा। किन्तु हृदय किसीको स्थान दे तब न, उसने तो काम-क्रोधादि चोरोंका स्थान दे रक्खा है, वहाँ फिर महाराज प्रेमदेव कैसे पधार सकते हैं? सचमुच हमारा हृदय तो वज्रका है। स्तम्भ, रोमाञ्च, अश्रु आदि आठ विकारोंमेंसे एक भी तो हमारे शरीरमें स्वेच्छामे उदित नहीं होता। भगवान् बेव्यास तो कहते हैं—

तदश्मसारं हृदयं वन्दं
यद् गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः।
न विक्रियेताथ यदविकसो
नेत्रे जलं गात्रकंदेषु हर्षः॥

अर्थात् 'उस पुरुषके हृदयको वज्रकी तरह-फौलावकी तरह-समझना चाहिये, जिसके नेत्रोंमें हरि-नाम-स्मरण-मात्रसे ही जल न भर आता हो, शरीरमें रोमाञ्च न हो

जाते हैं और हृदयमें किसी प्रकारका विकार न होता हो।' सचमुच हमारा तो हृदय ऐसा ही है। कैसे करें, क्या करनेसे नेत्रोंमें जल और हृदयमें विकृति उत्पन्न हो? महाप्रभु चैतन्यदेव भी रोते-रोते यही कहा करते थे—

नयनं गलदश्रुधारया बदनं गदगदरुद्धया गिरा।

पुलकैर्निश्चितं वपुः कदातव नामग्रहणे भविष्यति ॥

अर्थात् हे नाथ! तुम्हारा नाम ग्रहण करते-करते कब हमारे दोनों नेत्रोंमेंसे जलकी धारा बहने लगेगी, कब हम 'गदगद्-कण्ठसे 'कृष्ण-कृष्ण' कहते हुए पुलकित हो उठेंगे? वे महाभाग तो अपनी साधको पूरी कर गये। १८ वर्ष नेत्रोंमेंसे इतनी जलधारा बहायी, कि कोई मनुष्य इतने रफका जल कभी बना ही नहीं सकता। गौर-भक्तों-का कहना है कि महाप्रभु गरुड-स्तम्भके समीप, जग-मोहनके इसी ओर जहाँ खड़े होकर दर्शन करते थे, वहाँ

नीचे एक झोटा-सा कुण्ड था, महाप्रभु दर्शन करते-करते इतने रोते थे कि उस गड्ढेमें अश्रु-जल भर जाता था। एक-दो-दिन नहीं, साल-दो-साल नहीं, पूरे अठारह साल इसी प्रकार वे रोये। उन्मादावस्थामें भी उनका जगन्नाथ-जीके दर्शनोंका आना बन्द नहीं हुआ। यह काम उनका अन्ततक अश्रुगण-भावसे चलता रहा। वैष्णव-भक्तोंका कथन है कि महाप्रभुके शरीरमें प्रेमके ये सभी भाव प्रकट हुए। क्यों न हों, वे तो चैतन्यस्वरूप ही थे। अन्तमें श्रीललितकिलोरीजीकी अभिलाषामें अपनी अभिलाषा मिलाते हुए हम इस वक्तव्यको समाप्त करते हैं—

जमुना पुलिन कुंज गहवरकी कोकिल है तुम कूक मचाऊँ।
पद्-पंकज प्रिय लाल मधुप है मधुर-मधुर गूज सुनाऊँ ॥
कूक है नन बीयिन डोलौ बचे सीध रसिकनके साऊँ।
'ललितकिसोरी' आस यही प्रम ब्रज-रज तजि छिन अनत न जाऊँ ॥



पुकार

(लेखिका—श्रीमती यशोदादेवी, धर्मपत्नी सु० कन्हैयालालजी एडवोकेट)

[कहानी]

(१)

तुम कृष्णके सागर तुम पालनकर्ता,
मैं अबोध अज्ञानी कृपा करो भर्ता,
ओ३म् जय जगदीश हंर।
तुम पूरण परमात्मा तुम अन्तर्यामी,
पारब्रह्म परमेश्वर तुम सबके स्वामी,
ओ३म् जय जगदीश हंर।
जय जगदीश हंर, प्रभु जय जगदीश हंर।

आरती सतत हो गयी, घण्टा, शंख, घड़ियाल रत्न दिये गये। सबने एकस्वरसे चिन्ताकर कहा, बोली—परमपिता परमात्माकी जय। जगत्पतिकी जय। सबने सिर नवाये। पर एक प्रौढ़ उसी तरह सिर झुकाये बैठी रही। आरती करनेवाले प्रौढ़ने कहा—'प्रिये! क्या आज भजन न गाओगी?'

प्रौढ़ने सिर उठाया, उस समय उसकी आँखोंमें आँसू बह रहे थे। बड़े कष्टसे उसने कहा—'देव, क्या इतने दिनोंकी सेवाका यही फल मिल रहा है?'

प्रौढ़-प्रिये! शान्त होओ, धैर्य धारण करो, वह दीनोंके नाथ, अक्षरणीको शरण देनेवाले जो कुछ कर रहे हैं,

अच्छा ही कर रहे हैं। आज तुम कैसी पगली हो गयी हो?

प्रौढ़ा—अगर उनको दया आती तो क्या हम गरीबोंकी आह न सुनते? आह! मेरे बच्चे भूखों मर रहे हैं, मेरी सुकुमार बच्चियाँ विलम्ब रही हैं। ठाकुरजीकी सेवा क्या यों ही निरर्थक जा रही है?

प्रौढ़—न कहो प्रिये, ऐसा न कहो। आज तुम बच्चोंकी विलम्ब, वस्त्रियोंकी तबड़ देखकर अधीर हो रही हो। निश्चय रक्खो, वे सब भंगल कर रहे हैं। वे इसलोगोंकी परीक्षा ले रहे हैं, इस परीक्षामें हमें उत्तीर्ण होना चाहिये। अधीर न होओ, उठो, शान्त होओ। मुझे बड़ा दुःख हो रहा है कि तुम्हारे विचार आज ऐसे क्यों हो गये?

प्रौढ़ा—देव, क्या करूँ, दुःख सहते-सहते मेरा कलेजा पक गया। सवा सुखमें पड़े हुए मेरे बच्चे आज जब रोती माँगेंगे तो मैं क्या दूँगी?

प्रौढ़—बस इसीलिये, इसीलिये भगवान्की दयापर सन्देह कर रही थी। अरे, इसके लिये तो मातृ-स्नेह काफी है, जहाँ तुम एक बार बच्चोंको प्यारसे हृदय लगा लोगी,

सारी भूख काफ़ूर हो जायगी। उठो, ठाकुरजीसे अपने आजके इस अपराधके लिये क्षमा माँगो। आहून्वा भूलसे भी कभी ऐसे विचार अपने चित्तमें न लाना। ज़रा सोचो तो सही। नौ महीनेतक पेटमें बच्चेका कौन पालन करता है? उसीकी दयासे तो आज इसलोग हाथ-पैरवाले बने हैं। उसीकी दयासे आज चलने-फिरने और सुननेकी शक्ति बनी है। यह सब उसीकी कृपाका फल है, उसकी असीम दयाको कौन वर्णन कर सकता है? उठो क्षमा माँगो।' इतना कहकर वे चले गये।

प्रौढ़ा जाकर ठाकुरजीके मिह्रासन्के समीप खड़ी होकर न जाने कितनी देरतक हाथ जोड़े खड़ी रही। उस समय वह ध्यानमें इतनी निमग्न हो गयी कि उसे दीन-दुनियाँकी खबर न रही। थोड़ी देर बाद एक बच्चेने आकर कहा—अम्मा, भूख लगी है कुछ खानेको दे।

प्रौढ़ाको अब होश हुआ। उसने बच्चेको हृदयसे लगाकर कहा—बेटी! ठाकुरजीकी हाथ जोड़ी, वे ही तुम्हें खानेको देंगे।

बच्चेने दोनों नन्हें-नन्हें हाथ जोड़कर कहा—ठाकुरजी महाराज! आज हमें अच्छी-अच्छी चीजें खानेको दो।

उस समय प्रौढ़ाकी आँखोंमें आँसुकी धार बह रही थी।

(२)

अम्मा! आज खानेको क्या बनेगा? सिरकी कलशी उतारती हुई सरोजनीने मातासे पूछा। सरोजनी चौदह-पन्द्रह वर्षकी सुकुमार बालिका थी, वह बाध्यकाज समाप्त करके युवावस्थामें पदार्पण कर रही थी। सरोजनी जैसी सुन्दरी थी वैसी ही सुशीला भी थी। सिरकी कलशी नीचे रख हाथकी धोती अरगनीपर फैलाकर वह आँगनमें खड़ी हो गयी।

माँ उस समय न जाने किस ध्यानमें मग्न थी, कुछ न बोली। सरोजनीने अपनी छोटी बहिन सरलासे पूछा—'सरला! बाबूजी कहाँ हैं?'

सरला—मुझे नहीं मालूम दीदी! आज जब तुम नहाने गयी, अम्मा बहुत रो रही थीं।

सरोजनी—तुम्हें मालूम है सरला! अम्मा क्यों रो रही थीं?

सरला—मुझे तो नहीं मालूम दीदी!

सरोजनी माताके पास जाकर बैठ गयी, उस समय उसकी माँ हाथमें शायद कोई कुरता लेकर सी रही थी। सोनेमें वह ऐसी तन्मय हो रही थी कि उल्टा-पुल्टा कुरता सी रही थी परन्तु उसे इतना ज्ञान न था कि वह क्या कर रही है। सरोजनीने हाथमे कुरता ले लिया और बोली—माँ, देखो न, तुम उल्टा कुरता सी रही हो? आज कैसे बैठी हो?

अब माताको अपनी तन्मयताका ज्ञान हुआ, उसने कहा—हाँ बेटी, भूल गयी, तुम कम नहाकर आयी।

सरोजनी—मैं तो बहुत देरसे आयी हूँ, मैं पूछ रही थी कि खानेको क्या बनाऊँ, अभी राजू, बिरजू भूखे आने होंगे।

माँ—देखो बेटी, शायद मटकीमें कुछ आटा हो, उसीको रोटियाँ सेंक लो।

सरोजनी—और पिताजी क्या खायेंगे माँ, ऐसी धूपमें कोई निकलनेका साहस नहीं करता, वे कहाँ गये?

माँ—बेटी, बेनौकरीकी तलाशमें गये हैं, कहाँ खबर थी।

सरोजनी—माँ, तुम और पिताजी तो चिन्ताके मारे घुले जा रहे हो; उठो न, नहा-धो डालो, कैसा सुँह सूख गया है?

माँ—अभी नहीं बेटी, कुरता पूरा हो जाय, कुबकी अम्माने इसे आज ही माँगा है। तुम जाकर रोटी बना लो।

सरोजनी एक दीर्घ निश्वास छोड़कर उठ खड़ी हुई। भण्डारघरमें जाकर उसने सब मटकियाँ ढूँढ़ डाली, पर किसीमें आटा न था। वह सन्न हो गयी। किस सुँहने जाकर कहे कि आटा नहीं है। भाई भूखे आने होंगे, पिता भूखे आते होंगे, सरोजनी क्या करेगी। वह आह करके ज़मीनपर बैठ गयी और रोने लगी। इतनेमें एक साधुने पुकारा—बच्चा भीख दो।

कोई न बोला। फिर साधुने आवाज लगायी—'बच्चा, साधु भूखा है, एक रोटीका आटा दे जाओ।'

अबकी सरोजनी झुझा पड़ी। इतनेमें राजू, बिरजूने दौड़े-दौड़े स्कूलसे आकर सरोजनीका पछा पकड़ लिया और बोले—'दीदी! बड़ी भूख लग रही है, खलो खानेको दो!'

सरोजनी बेचारी बड़े असमञ्जसमें पड़ी, उधर साधु बार-बार हाँक दे रहा था। सरोजनी आँखोंसे पछा छुड़ा-

कर दरवाजेके पास जाकर बोली—बाबा ! हमींलोग भूखों मर रहे हैं तुम्हें कहाँसे दें ?'

साधु—न कहो बेटी, ऐसा न कहो। परमात्माकी दयासे तुम्हारे घरमें सब कुछ है।

सरोजनी—बाबा ! तुम तो जिह कर रहे हो, अगर घरमें कुछ होता तो मैं तुमको भिक्षा न देती। हमारे दरवाजेसे भिक्षुक लौट जाय, इससे क्या मुझे कम दुःख हो रहा है, परमात्मा हम दीनोंकी पुकारको नहीं सुनते। पुकारते-पुकारते थक गयी हैं।

साधु—न बेटी, उस जगन्पिताकी दयाका पार नहीं है, उसकी सत्ता और महिमाका पार बड़े-बड़े ज्ञानी नहीं पा सकते। तुम भूखी हो, इसी कारण तुम परमात्माको कठोर समझ रही हो। देखो जाकर तुम्हारे घरमें आटा भरा है। इतना कहकर साधु एक थोरको चाल दिया। सरोजनी डगी-सी खड़ी रह गयी, पास ही माँ और भाई-बहिन खड़े थे। माँने कहा—बेटी, चलो घरमें चलें।

सरोजनी—(रोकर)—माँ बड़े दुःखकी बात है भिक्षुक भूखा चला गया।

माँ—क्या कहें बेटी। जो कुछ हो रहा है अच्छा हो रहा है, विपत्तिमें धैर्य धारण करना चाहिये, यह संसार परीक्षागृह है, यह सब परीक्षा हो रही है।

सरोजनीने अन्दर जाकर ढूँँदा, पीछेकी ओर जिसे सरोजनी देखना भूल गयी थी, सबमुच एक मटकमें आटा भरा था, उसने कहा—माँ ! देखो न साधु सब ही कह रहा था कि तुम्हारे घरमें आटा है, मैंने ढूँँदा ही नहीं।

माँ—बेटी, उस साधुकी कृपाका फल है, सर्वशक्तिमान् परमात्माने भेजा है, दुःखमें हमलोग पागल होकर न जाने क्या-क्या कह बैठते हैं ?

बोलो एक बार सर्वशक्तिमान् परमात्माकी जय !

सब बच्चे चिल्लाकर कह उठे ठाकुरजी महाराजकी जय। माँका मुख आनन्दमें खिल उठा। उसने बच्चोंको प्यारसे गले लगा लिया।

(३)

जयशंकरप्रसाद काशीके एक कपड़ेकी मिलके मैनेजर थे, काफी आमदनी थी, कम्पनीमें बड़ा मान था, मालिक इनमे बड़ा प्रसन्न रहा करता था, उसे इनपर असौम

विश्वास था। ये भी बड़ी सच्चाईमें काम करते थे, पर अन्य सारे कर्मचारी इनसे जलते थे, क्योंकि उन सबको इनके कारण ऊपरकी आमदनी नहीं होती थी, न तो वे खुद रुपया लूटते, न औरोंको लूटने देते। इनकी साधुता और म्याय-प्रियता कर्मचारियोंको असह्य हो रही थी। वे सब मिलकर पदच्युत करने लगे।

घरमें पत्नी श्यामा और दो लड़के राजमोहन, बालमोहन और दो लड़कियाँ सरला, सरोजनी थीं। वे २५०) तनखाइके पाते। उसीमें श्यामा और बच्चे सभी सुहा थे, सबमे बढ़कर उनके परिवारमें एक बात बर्बाद थी, वह यह कि जयशंकरप्रसाद और स्त्री-बच्चे सभी परमेश्वरके सब्भक्त थे। उनकी भक्ति ऊपरसे दिव्यात्माकी न थी। घरमें ठाकुरजीकी मूर्ति थी। सुबह-शाम आरती-पूजा होती, बच्चे घण्टा-घण्टियाल बजाने, जयशंकर आरती करते और श्यामा भजन गाती। कैसा सुन्दर दृश्य उस समय रहता ? जयशंकरप्रसाद दिव्यात्माको तो गृहस्थीमें थे, पर मन उनका सदा विरक्त रहता।

समय सदा एक-सा नहीं रहता। संसार कर्मक्षेत्र है, परीक्षाघर है, सबकी परीक्षा होती है। जयशंकरप्रसादके भी परीक्षाका समय आ गया। विपत्तियाँ कभी पूछकर नहीं आती। मिलके मालिकको लोगोंके लगाने-बुझानेमें इनके कार्योंपर सन्देह हो गया। धीरे-धीरे वह सन्देह बढ़ होता गया। दुरमनोंको चाल मूर्ख। कम्पनीके दो हजार रुपये गायब हो गये, जयशंकरप्रसादके हाथमें सारा कार्य था। कार्यकर्ता ही पकड़ा जाता है। बेचारे सन्न हो गये। मुरत नौकरी करने गुजर गयी थी, कभी किसीने अंगुलीतक न उठायी थी, आज वे खोर हो गये। मालिकका सन्देह और भी पक्का हो गया। कम्पनीकी तरफसे गबनका मुकद्दमा चला दिया गया और वे काम-परमे मुजल्ल कर दिये गये। घरमें पत्नी श्यामाने सुना तो सिर पीट लिया, जो बात कभी स्वप्नमें भी न आयी थी, वही हो गयी, पतिपर मिथ्या दोषारोपण कर दिया गया। जयशंकरप्रसाद आकर एकदम खटियापर पड़ गये और अपने भगवान्को पुकारने लगे।

यह विपत्ति तो थी ही, घरमें जो कुछ पूँजी थी, पत्नीके आभूषण थे, सब बेचबाचकर वे मुकद्दमेमें खगाने लगे। जयशंकरप्रसाद लूटे हाथके आदमी थे, रिश्तका पैसा लेना पाप समझते थे, नहीं तो आज उन्होंने सोनेकी

दीवार खड़ी कर ली होती। मुश्किलसे हजार-बेड़-हजारके सामान निकले होंगे, बेचकर काशीके पास ही गाँवमें चले आये। कारीमें उनकी इतनी बदनामी हो गयी थी कि घरसे बाहर निकलना कठिन था। शहरके लोगोंमें इतनी सद्भावपूर्ति नहीं होती कि वे विपत्तिमें एक दूसरेके सहायक हों।

जयशंकरप्रसाद गाँवमें आकर भी बदनामीसे न बच सके। सरोजनी काफी सयानी हो गयी थी। उसका ब्याह होना जरूरी था, यहाँ खानेको भी ठिकाना न था, ब्याह कैसे हो ? उधर मुकद्दमा दापर। कुछ समयमें न जाता था कि क्या करें। बच्चोंका सूना मुँह देखकर श्यामाका जी असोस उठता। जिन बच्चोंको इतने काढ़-प्यारने पाला था, उन्हीं बच्चोंको एक बार खबेना, सूखी रोटी खाने देखकर वह तड़प उठती। लड़कियोंके ब्याहके कितने मंसूबे उसने बाँधे थे, वे सब उसके हृदयमें रह गये, आज लड़कियोंकी सयानी देखकर वह घबड़ा जाती कि कैसे वह इनके हाथ पीले कर सकेगी। गाँवको स्त्रियाँ तरह-तरहकी बातें कहतीं। कोई-कोई तो श्यामामे कह बैठती, 'बहिन, तुम्हारे दाना कैसे हज़म होता है, सयानी लड़कीको बैठाकर क्या कमाई खाओगी ? सचमुच शहरी लोगोंको लज्जा नहीं आती, घरमें जवान लड़कियाँ बैठी रहें, उनके मनमें कुछ आती ही नहीं।' श्यामा बेचारी क्या उत्तर देती, वह सिर मुकाकर ताने सुन लिया करती थी।

दोनों लड़कियाँ दिन-पर-दिन निखरी चली आती थीं, श्यामा बेचारी उनको देख-देखकर खुशी जाती थी, पतिसे कहती तो वे यही उत्तर देते 'परमारमाको याद करो, वही सब दुःखोंको काटेंगे। वही हम सबोंकी विपत्तियोंका अन्त करेंगे।' कभी-कभी पत्नी घबड़ा उठती पर जयशंकरप्रसादके हृदयमें विश्वास, साहस और धैर्य था। वह सोचते थे कि प्रभु सब ठीक करेंगे।

(४)

सरोजनी रोज तालाबसे पानी लेने जाती, अकानसे तालाब दूर था, माँ चिन्ताके मारे सूखकर काँटा हो गयी थी, उसके बदनमें इतना जोर न था कि कलसी भरकर ले आये, सरला अभी छोटी थी, जयशंकरप्रसाद मुकद्दमेके पीछे हैरान रहते। कभी यहाँ, कभी वहाँ, इधर-उधर दीब-धूप लगाये रहते थे। जगह-जगह नौकरीकी तलाशमें मारे-मारे फिरते, पर कहीं भी ठिकाना नहीं मिला था। साथ

ही सरोजनीके खिये घर भी ढूँँ देते, पर घर मिलना आसान काम न था। जिसके लड़के होते हैं उसके मिजाज शानपर चढ़े होते हैं। जहाँ जाते, वही दो हजार, चार हजार सुनाते। जिसके घरमें दस रुपयेका भी ठिकाना नहीं, वह हजार रुपये कहाँसे लाये ? बेचारे चारों तरफमे हताशा-से होते जाते।

सरोजनी रोज सुबहको तालाबसे पानी लाने जाती। एक दिन वह तबके ही चली गयी। राहमें एक दुष्ट युवकने उसमे छेड़खानी की। सब और सबाटा था, कुछ-कुछ अंधेरा हो रहा था, लोग घरोंमें सो रहे थे, दुष्टने पीछेमे आकर सरोजनीका छाँचल पकड़कर खींचा। सरोजनीने उसे डाँटा, पर वह कब माननेवाला था ? निरुपाय अगलाने मन-ही-मन भगवान्को पुकारा। उसके मनमें निश्चय था कि 'जिसने द्रौपदीकी लाज रक्खी, जिसने गजराजको ग्राहके मुँहमे छुवाया, वह अवश्य मेरी रक्षा करेगा।' उसने कहा, 'दुष्ट ! भला चाहता है तो खोब दे मेरे छाँचलको, सतीकी न सता। कहीं भगवान्का कोप हो गया तो बे-मौत मारा जायगा।'।

युवक—डुला न अपने भगवान्को ! अब तो मैं तुझे नहीं खोब सकता।

यह कहकर वह युवक सरोजनीको पकड़ना ही चाहता था कि सरोजनी चिन्ता पड़ी—'कहाँ हो मधुसूदन, कहाँ हो भगवन् ! मेरी रक्षा करो, इस पापीके हाथोंसे मेरे सतीत्वको बचाओ।'।

जरा-सी भी देर होती तो न मालूम सरोजनीपर क्या बीतती, पर न जाने कहाँमे एक दूसरा युवक कूदकर आ पहुँचा, आते ही उसने पहले युवकका गला पकड़कर उसके पीठपर दो लातें मारी और बोला—पापी ! एक अबलाका सतीत्व भंग कर रहा था, बोल सुभर, तेरे माँ-बहिन नहीं हैं ?

युवक धर-धर काँपने लगा, उसने हाथ जोड़कर कहा—आप हैं भट्टयाजी ! मुझसे क्रूर हुआ। माफ कीजिये।

दूसरा युवक—मुझमे माफी न माँग ! माँग इस अपनी बहिनसे, खबरदार जो तूने अब किसीपर आँखें उठायीं !

न जाने कौन-सी प्रेरणा उस युवकके हृदयमें उठी। उसने हाथ जोड़कर कहा—'बहिन ! मुझ पापीको क्षमा करो।' सरोजनी धर-धर काँप रही थी, उसकी समझमें कुछ नहीं आता था। वह गद्गद हो गयी। भगवान्की प्रेरणासे आये हुए दूसरे युवकके प्रति उसका हृदय अफि-अझासे

भर गया। उसने अधु पूर्ण नेत्रोंसे मुक-भाषामें युवकका अभिनन्दन किया।

सरोजनीको बसानेवाला गाँवके जमींदारका सुशील सुशिक्षित पुत्र सुरेन्द्रनाथ था।

फिर उस युवकने कहा—बहिन! क्या मुझे क्षमा न मिलेगी?

सरोजनीने बड़े कष्टसे कहा—बहमा! मुझसे न माँगो। उस जगन्-पितासे माँगो जिसने दया करके तुम्हें आज कुर्मसे बचाया। उसीकी याद करो, जिसको तुम समझते थे कि वह कहीं नहीं है। आजसे तुम किसी भी स्त्रीको अपनी बहिन समझ सकोगे।

युवक—समझ सक्तीँगा बहिन, तुम्हारी दयामे! यह कहकर वह सरोजनीके पैरोंपर गिर पड़ा।

सुरेन्द्रनाथने कहा—‘क्या आप मेरे साथ चल सकेंगी? मैं आपको सुरक्षित घर पहुँचा दूँगा। इतने तबके पानी लेने न जाया करें।’

सरोजनी चल लखी हुई, इतनेमें सुरेन्द्रके पिताने, जो हल्ला सुनकर आ रहे थे, पास आकर कहा—क्या है सुरेन्द्र? यह क्यों हल्ला मचाया? तुम यहाँ कैसे? और यह इस समय क्यों आया? वह लड़की कौन है?

सुरेन्द्रने सब वृत्तान्त कहा। जमींदार अपने पुत्रका साहस सुनकर बड़े प्रसन्न हुए।

फिर सरोजनीमे पूछा—तुम किसको लड़की हो बेटी?

सरोजनी एक क्षण चुप रही। बड़े कष्टसे उसने लजाते हुए कहा—उधर जो मकान है, मेरे पिता जयशंकरप्रसाद हैं।

जमींदार—जयशंकरप्रसाद! तुम उन्हींकी कन्या हो, जैसे वह हैं, वैसे ही साक्षात् लक्ष्मी तुम हो बेटी! मुझे तुम अपने पिताके बराबर समझना, आजतक मैंने तुम्हें नहीं देखा था। जाओ बेटी, तुम्हारी माँ चबराती होगी!

सरोजनी एक बार उनके चरणोंमें सिर झुकाकर और मन-ही-मन अपने हृदयदेवको प्रणाम करके चली गयी।

× × × ×

(५)

आज काशीकी अदालतमें काफी भीड़ है। एक ईश्वरके सबे भक्त और सेवकको अदालतसे सजा मिलनेवाली है। कितने लोग इस वमाराशको देख रहे हैं, कितने लोग काना-फूली कर रहे हैं कि ‘देखो, कैसा पाखण्डी निकला, ऊपरसे कैसा लबा और ईश्वर-भक्त बना फिरता था और

भीतर इस तरहके खेल खेल रहा था।’ कुछ लोग कह रहे थे, ‘आई, यह कलजुग है ‘मुँहमें राम, बगलमें छुरी,’ ‘रामनाम जपना, पराया माझ अपना।’ वस आजकल ऐसे ही भक्त हैं।’ जेशारे जयशंकरप्रसाद एक तरफ कैदीकी तरह सिर झुकाये खड़े सब कुछ देख-सुन रहे थे। आज मुकद्दमेकी आखिरी पेशी है। आज ही उनके भाग्यका फैसला होनेवाला है, उनके खिलाफ गवाही हो रही है। परन्तु जयशंकर यही सोच रहे हैं कि ‘परमात्मा जो कुछ कर रहे हैं अच्छा ही कर रहे हैं। उनके कार्योंको कौन समझ सकता है?’ मन-ही-मन वह अपने हृदयदेवका स्मरण कर रहे थे। मालूम होता है कि प्रभुने उनकी गुहार सुन ली। जजने कहा—हिसाबका खाता लाओ।

मिलके मालिकने फौरन खाता पेश किया। जजने गौरसे देखा, देखते ही उसे विश्वास हो गया कि और सब जगहकी लिखावटोंसे यह लिखावट बिल्कुल भिन्न है, वह समझ गया कि यह आल जयशंकरका नहीं है, मिलके मालिकने भी देखकर मन-ही-मन कहा कि ‘दर-असल यह अचर तो किसी दूसरेके हैं।’

जजने कहा—वेक, जयशंकर, तुम बरी कर दिये गये, वह बिल्कुल बनाबटी जाल था।

जजका कहना था कि जयशंकर संकटसोचन भगवान्की जयका नारा लगा जजको प्रणाम कर अपने घरकी ओर दौड़े। उनके मनमें था कि चलकर पहले ठाकुरजीकी स्तुति करें, जिन्होंने इस विपद्में रक्षा की। मिलके मालिक पुकारते ही रह गये कि एक बात सुने जाओ, पर वहाँ कौन सुनता था, पागलकी भीति जयशंकरप्रसाद भागे जा रहे थे। उनके पैर ठिकाने न पड़ते थे, ठाकुरजीकी दयाके सिवा इन्हें इस समय और कुछ भी याद न था।

× × × ×

अपनी कोपड़ीमें जयशंकरप्रसाद श्यामा, सरोजनी, सरला, राजू, बिरजू सभीके साथ हरिभजनमें लगे हुए हैं। भगवान्की आरतीका समय है, आज आरतीमें कुछ विशेष आनन्द है, सरोजनीने कुछ ज्यादा फूल हल्का करके भगवान्के लिये मोटा हार गूँथा है। भगवान्का फूलोंसे शृंगार किया गया है। जो कुछ साग-सत्त घरमें मौजूद था उसे बड़े प्रेमसे बनाया गया है। आरती करके सब गुसाईं तुलसीदासजीका भजन गाने लगे।

हरि तजि और मजिये काहि?

नाहिने कोउ रामसो भगता व्रतत पर जाहि।

गानेमें ऐसे भग्न थे कि किसीको अपने तन-बदनकी सुधि न थी। मारे प्रसन्नताके सभी भूल गये, इतनेमें किसीने पुकारकर एक पत्र दिया, परन्तु उन्हें यह न सूझा कि उस पत्रको खोलकर पढ़ें। सब हरिभजनमें भग्न रहे। थोड़ी देर बाद एक आदमी दूसरा पत्र दे गया, उन्हे भी लेकर रख दिया।

दो घण्टेतक हरिभजनका समौ बँधा रहा। जब सब सावधान हुए, तब जयशंकरप्रसादने पहला पत्र खोला, पत्रको पढ़ते ही उनका चेहरा हर्षसे खिल उठा—‘रयामाने पूछा ‘क्या है, किसका पत्र है?’

जयशंकर—‘रयामा ! जरा भगवान्की भविष्यता तो देखो ! मिलके माझिकका पत्र आया है, उन्होंने लिखा है कि ‘आप मुझसे नाराज होकर चले गये, आइये, आपकी जगह स्थायी है, गलतीसे आपपर झूठा मुकद्दमा चला, इसका मुझे बड़ा दुःख है, मैंने कचहरीमें आपको पुकारा था परन्तु आप जल्दीमें भागे चले गये। यह दो हजार रुपयेका चेक इज्जतेका भेज रहा हूँ।’ बोलो रयामा ! किसकी दयासे ? सबने एक स्वरसे पुकारा, ठाकुरजीकी कृपासे, उस जगत्-पिताकी दयासे।

दूसरा पत्र खोला गया। वह सरोजनकी दुष्टके हाथसे बचानेवाले सुरेन्द्रनाथके पिताका पत्र था। उसमें लिखा था—

प्रिय जयशंकरप्रसादजी !

मैंने आपकी पुत्रीकी बहुत प्रशंसा सुनी है, साक्षात् खट्की है और मेरी बहू होने लायक है, आप हरिगुरु यह खयाल न कीजियेगा कि मैं धनवान् हूँ और आप गरीब हैं। रुपया कोई चीज नहीं है। आपकी पुत्री साक्षात् लक्ष्मीकी तरह मेरे घरमें उजला करेगी। आशा है कि आप इसे स्वीकार करेंगे।

आपका परमहितैषी

राजेन्द्रनाथ जर्मीदार

फिरसे सबने ठाकुरजीकी जयजयकार की। कहाँ तो हैं ही गरीब घर न मिलता था, कहाँ ठाकुरजीकी दयासे इतना बड़ा घर अनायास ही मिल गया। सबने चिल्लाकर जय पुकारी। परन्तु सरोजनीने मन-ही-मन कहा—‘वाह भगवन् ! आपने मेरी पुकार खूब सुनी !’

दार्शनिक विचारोंका केन्द्र ईश्वर

(लेखक—म० श्रीगुरुनारायणी वेदान्तकेसरी, न्यायमीमांसाभाष्याय, तत्त्ववेदान्ततीर्थ, वेदान्तशिरोमणि, दर्शननिधि)



मारे प्राचीन दर्शनकार वैदिक सिद्धान्तको ही आगे रखकर अपने-अपने दर्शनीय मतके प्रतिपादनमें कृतकार्य हुए हैं। अतएव समस्त दार्शनिक विचार मुख्यतया वेदानुसूल होते हुए कुछ थोड़े-से परिगणित गौण विचारोंमें ही पार्यवस्य सकते हैं। ‘इत्यते अनेनेति दर्शनम्’ इस ध्युत्पत्तिसे विश्राम (अर्थात् तत्त्वज्ञान) ही दर्शन शब्दका अर्थ है। इस अर्थके प्रतिपादक ऋषि-मुनि-प्रणीत दर्शनशास्त्र अनेक होते हुए भी प्रधानतया वेदान्त, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग, इसप्रकार षड्दर्शन ही माने जाते हैं। यद्यपि सर्वदर्शनसंग्रह नामक अपने बनाये हुए ग्रन्थमें साधवाचार्यजीने और भी अनेक दर्शनोंका संग्रह किया है, तथापि उनमें बौद्ध और चार्वाकादि दर्शनोंको छोड़कर वेदोंको माननेवाले समस्त आस्तिक दर्शनोंका उपयुक्त इन्हीं षड्दर्शनोंमें समावेश हो जाता है। इसी प्रकार क्षात्रिक्य-सूत्रादि भक्ति-प्रतिपादक दर्शनोंका भी उत्तर-

मीमांसामें समावेश समझना चाहिये। इन दर्शनोंके प्रतिपाद्य सिद्धान्तोंके प्रचारक और ग्रन्थरूपमें रचयिता श्रीवेदव्यास, जैमिनि, गौतम, कणाद, कपिल और हिरण्यगर्भ अथवा पतञ्जलि ये महर्षि माने जाते हैं। इन परावरज महर्षियोंने धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष शब्दोंसे कहे जानेवाले पुरुषार्थको उपादेय बतलाते हुए मोक्षको परम पुरुषार्थ सिद्धकर सर्वतोभावेन मोक्षको ही प्राप्तव्य माना है। और वह ईश्वरोपासनाजनित ईश्वरीय प्रसादसे ही साध्य है। इस मतको त्रिविवादरूपमें सब दर्शनाचार्य स्वीकार करते हैं। प्रत्येक दर्शनकी प्रकृति ईश्वरीय सत्ता और ईश्वरीय वैभवका वर्णन करते हुए अपने प्रतिपाद्य विषयका मुख्यपात्र ईश्वर है, इसीमें पर्यवसित होती है। और उन सब दार्शनिक विचारोंका केन्द्रस्थान एक परमतत्त्व ईश्वर ही सिद्ध होता है। ७

* लेख बहुत बड़ा होनेके कारण स्थानाभावमें पूरा नहीं दिया जा सका, अगले अंकमें अवकाशानुसार छापनेका विचार है। विद्वान् लेखक महोदय कृपया क्षमा करें। —सम्पादक

ईश्वरकी सत्ता, स्वरूप, स्थान, प्राप्तिके उपाय और फल

(लेखक—प० श्रीधरामजी शुक्ल पधार्थवाचस्पति)



ईश्वरकी सत्तामें सन्देह करनेवाले प्राचीन कालसे हैं। क्योंकि हिन्दू-शास्त्रोंमें जहाँ-तहाँ जैन, बौद्ध, चार्वाक आदि नास्तिकोंके मतोंका खरबदन मिलता है। ईश्वरके न माननेवालोंको नास्तिक कहते हैं, परन्तु पाणिनि मुनिने नास्तिकका दूसरा ही लक्षण किया है। उनके अष्टाध्यायी-सूत्रोंमें एक सूत्र है—‘अस्मि नास्ति दिष्टं मतिः’ अर्थात् ओ परलोक तथा कर्मफलको मानते हैं वे आस्तिक हैं और जो इन्हें नहीं मानते वे नास्तिक हैं। शास्त्रोंमें कई प्रकारके नास्तिकोंका वर्णन आता है उनमें पूर्ण नास्तिक चार्वाक-मतवाले होते हैं। उनका सिद्धान्त है कि ‘देहमे भिन्न कोई आत्मा कहीं नहीं मिलती अतः देह ही आत्मा है।’ यदि कोई कहे कि ‘हमारा देह’ यह प्रत्यय सबको होता है, अतः इससे सिद्ध है कि आत्मा स्वामी और देह उसकी वस्तु है। परन्तु ‘हमारी आत्मा’ ऐसा प्रत्यय भी तो हमें होता है, अतः देह स्वामी और आत्मा उसकी वस्तु हो गयी। इसलिये देह और आत्मामें कोई अन्तर नहीं। दोनों एक ही हैं। इसलिये जब मनुष्य मर जाता है तो पुनः उसका जन्म लेना सम्भव नहीं। जैसे दीपकके बुझ जानेपर पुनः उसे जलाकर यह नहीं कहा जा सकता कि वही रोशनी लौट आयी है। अतः आत्माकी सत्ता शरीरके साथ ही समाप्त हो जाती है। उस आत्माके लिये स्वर्ग, नरक आदिकी कल्पनाएँ बिल्कुल मूर्खी हैं और सब स्वर्गादि फल ही नहीं तो उसको प्रदान करनेवाला ईश्वर कहाँसे हो सकता है ?

बौद्ध और जैन ऐसे नास्तिक नहीं हैं क्योंकि वे कर्मके फलको पूर्णतया स्वीकार करते हैं। परन्तु कहते हैं कि ‘जैसे भाँग पीनेसे नशा हो जाती है उसी प्रकार कर्म सब वा असद् जैसा हाँ बैसा ही उसका फल भी हो जाता है। फलका देनेवाला कोई ईश्वर नहीं, ईश्वरको मानना भ्रम-मात्र है। इनके मतसे जीवकी दशा बहुत ऊँची मानी गयी है जिसको प्राप्त होनेसे मनुष्य तीर्थङ्कर बुद्ध हो जाता है और उसकी जगत्में प्रतिष्ठा और पूजा होती है। यदि हमसे पूछो कि ‘यदि ईश्वर नहीं है तो संसारका रचयिता

कौन है ?’ तो वह उत्तर देंगे ‘संसार कभी रचा ही नहीं गया।’ यदि पूछो, जगत्को कौन धारण कर रहा है ? तो वह कहेंगे जगत्को कोई धारण नहीं करता, यह अनन्त आकाशमें गिरता चला जा रहा है। सृष्टि आदि विषयोंमें भी इनके उत्तर इसी प्रकारके प्राप्त होते हैं। अब संक्षेपमें इनके सिद्धान्तोंका खरबदन किया जाता है। पुष्पदन्ताचार्य गन्धर्वराजने महिम्नोत्तममें कहा है—

हे देवेसा ! जिस-जिस वस्तुके अवयव (खण्ड) हो सकते हैं उनकी उत्पत्ति भी अवश्य होती है, यह नियम है और पृथ्वी आदिके टुकड़े हो सकते हैं। तब उत्पत्ति भी सिद्ध है ? आपको छोड़कर जगत्के नियमोंका अधिष्ठाता कौन हो सकता है ? यदि ईश्वर नहीं है तो चतुर्दश भुवनोंके उत्पादनमें कौन समय हो सकता है ? केवल मूढ़ पुरुष ही हे प्रभो ! आपकी सत्तामें शंका करते हैं ।

ईश्वरकी सत्ताके सर्ववन्धमें दो प्रमाण और हैं—

१—जन्मसे गुँगे और बहरे पुरुष आकाशकी ओर झंगुली उठाकर भगवान्का संकेत करते हैं ।

२—जगत्में ऐसी बहुत-सी घटनाएँ होती हैं जिनमें ईश्वरकृत माने बिना काम नहीं चल सकता। उन मनुष्यकी बुद्धि कारण खोजनेमें हैरान हो जाती है ।

अच्छा, ईश्वर है तो उसका स्वरूप कैसा है ? ऋषि-मुनियोंने अपनी दिव्य दृष्टिसे प्रत्यक्ष करके ईश्वरको सद्-चिद्-आनन्द तथा विरुद्ध चर्मयुक्त जैसे, निराकार और साकार, सर्व गुणयुक्त और निर्गुण, एवं सर्वाश्रयमय माना है। अब यह प्रश्न हो सकता है कि ईश्वर जब इसप्रकारका है तो उसका ज्ञान क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे दे रहे हैं—

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः ।

मूढोऽयं नामित्रानाति लोको मामजमव्ययम् ॥

(गीता ७ । २५)

अर्थात् ‘भगवान्की योगमायासे विमूढ़मति हुए पुरुष भगवान्का दर्शन नहीं कर पाते ।’ अब प्रश्न होता है, ईश्वर कहाँ रहता है ? इसका उत्तर यह है कि ऐसा

अर्थात् 'जिन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका चिन्तन, स्मरण, अर्चन, कीर्तन, दर्शन संसारके समस्त पापोंको धो देता है उन्हें हमारा बारम्बार नमस्कार हो।'।

जीव और ईश्वर

(लेखक—डा० एच० डब्ल्यू० वी० मोरिनो एम० ए०, पी०एच० डी०)



स्तिकवादके जितने भी सिद्धान्त हैं उन सबके विपक्षमें तथा आत्मा एवं परमात्माके अस्तित्वमें सबसे बड़ा एवं सबसे अधिक विश्वसनीय प्रमाण मनुष्यकी प्रतीति है, जो उसके जीवन एवं विकासकी सारी अभिव्यक्तियोंमें दृष्टिगोचर होती है। सभ्यताके आदियुगमें मनुष्यके अनुभवमें यह बात आयी कि इस दृश्यमान एवं व्यक्त जगत्की ओटमें कोई अदृश्य एवं अघ्यक्त तत्त्व भी है, जिसकी अभिव्यक्ति अधिक वास्तविक होती है। इसीका नाम आत्मा अथवा जीव रक्खा गया। इस धारणाके अनुसार उस समयके मनुष्य Animism (जीववाद) के सिद्धान्तको मानने लगे, तथा कृत्, घन एवं मनुष्य सबके अन्दर जीवकी कल्पना की जाने लगी। आत्मा ही प्रत्येक वस्तुका जीवन माना जाने लगा। ब्याष्टि-चेतनके पीछे समष्टि-चेतन अर्थात् ईश्वरकी स्थिति मानी गयी। अफ्रीकाकी अर्धनग्न जंगली जातियाँ, आस्ट्रेलियाके आदिम निवासी, मलायाप्रायद्वीपके अश्वभ्य निवासी, न्यूगिनीकी बर्बर जातियाँ, अर्द्धसभ्य मलानेशिया और फीजीद्वीपके निवासी, मेक्सिको और पेरूके जंगली 'अजटेक' और अमेरिकाके 'रेड इण्डियन' ये सभी प्रत्येक वस्तुके मूलमें जीवात्माका अस्तित्व मानते थे और बिधका आत्मा अर्थात् ईश्वर भी उसीके अन्तर्गत माना जाता था।

प्राचीन कालके मिश्र-देश-वासियोंमें गहन दार्शनिक तत्त्वोंके विवेचनकी शक्ति नहीं थी। उनका जीवात्मा अथवा ईश्वरके अस्तित्वमें उतने ही अंशमें विश्वास था, जितने अंशमें उनका मनुष्यके भावी सुख-दुःखके साथ सम्बन्ध होता था। मिश्र-देश-वासियोंका हाल बतलानेवाली सबसे प्राचीन पुस्तक पिरामिड टेक्स्ट्स (Pyramid Texts) है जिसमें मृत्युके पश्चात् राजाओंकी क्या गति होती है इसका वर्णन है। उसमें लिखा है कि राजाओं एवं धर्मात्मा पुरुषोंको मृत्युके अनन्तर स्वर्गसुखकी प्राप्ति होती है और दुष्कर्म करनेवालोंको नरकमें डूँडला जाता है और वहाँ उन्हें नारकीय आत्माओंके द्वारा अनेक प्रकारकी बातबाएँ मिलती

हैं। पुण्य और पापका निर्णय करनेवाला अधिकारी ओसिरिस (Osiris) कहलाता था। मिश्र-देश-वासियोंकी धर्म-पुस्तकोंमें—जो प्रेतात्माओंकी पुस्तकें कहलाती हैं—आत्मा और परमात्माके अस्तित्वको स्वतःसिद्ध माना है और उनका जीव और ईश्वरमें विश्वास होनेका सबसे बड़ा प्रमाण यही है। सुकरात (Socrates), अफलातून (Plato) और अरस्तू (Aristotle) ये यूनानके सबसे बड़े दार्शनिक माने गये हैं। अफलातूनद्वारा रचित अपोलोजी (Apology) नामक ग्रन्थमें सुकरातके विरुद्ध चलाये मामलेमें न्यायाधीशने क्या विचार किया तथा उसे किस-प्रकार मृत्युका दण्ड मिला, इसका विराद वर्णन है। यह ग्रन्थ हमें इस समय भी उपलब्ध है तथा संसारके साहित्यमें इसका बहुत ऊँचा स्थान है। सुकरातको इस विषयमें कोई शंका न थी कि जीवसंज्ञक कोई आध्यात्मिक शक्ति अवश्य है। उसका यह विश्वास था कि मृत्युके पश्चात् जीवात्मा शरीरको छोड़कर परमात्मामें मिल जाता है और उसके स्वरूपको कोई समझ नहीं सकता।

अफलातूनके अध्यात्मविषयक विवेचनपर उसके Theory of Ideas (सकलपसिद्धान्त) का गहरा प्रभाव पड़ा, जो त्रिलकुल स्वामाविक था। वह सिद्धान्त यह था कि मानसिक संकल्प एक वास्तविक सत्ता है और संसारका प्रत्येक पदार्थ उस वास्तविक तत्त्वका ही मूर्त्तरूप है जिसका अस्तित्व संकल्प-जगत्में है। अफलातूनके आध्यात्मिक विचारोंका उसके शिष्य अरस्तूपर भी बड़ा प्रभाव पड़ा और उसने एक जगह अमृतत्वकी सिद्धि (Achieving Immortality) का उल्लेख किया है। उसके Ethics (नीतिशास्त्र) नामक ग्रन्थ (१०-७) में यह लिखा है कि हमें उन लोगोंकी बात नहीं माननी चाहिये जो हमें मानवीय विचारोंकी सीमाके अन्दर रहनेको कहते हैं; किन्तु जहाँ तक हो सके, हमें अमरत्वको प्राप्त करने तथा अपने सारे कार्योंको मनुष्यत्वके उच्चतम आदर्शके साँचेमें ढालनेकी अरसक चेष्टा करनी चाहिये। प्लेटिनस (Plotinus) नामक दार्शनिकने 'अमिनव भाववाद' (Neo-platonism) नामक नये सिद्धान्तका प्रचार किया, जिसमें मनुष्यकी आध्यात्मिक वृत्तियोंके सम्बन्धमें और दिया गया है तथा

पह बतलाया गया है कि उनके द्वारा मनुष्य ईश्वर के साथ एकता एवं साहचर्य का रहस्यमय सम्बन्ध स्थापित कर सकता है।

प्राचीन रोमन-जातिके लोगों के आत्मा एवं परमात्मा के सम्बन्ध में क्या विचार थे, यह निश्चित रूप से बतलाना कठिन है। रोम-देश में जबतक प्रजातन्त्र-राज्य स्थापित नहीं हुआ तबतक उन लोगों में दार्शनिक विचार का प्रचार नहीं हुआ था। प्रजातन्त्र के युग में उनपर यूनान के दार्शनिक विचारों का प्रभाव पड़ा और तबसे वे भी स्वतन्त्र रूप से अध्यात्म-विषय पर विचार करने लगे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'Anima' एवं 'Deus' इन शब्दों का रोमन लोगों ने ही पहले-पहल प्रयोग किया था, किन्तु 'Anima' शब्द का उन्होंने केवल प्राणवायु के अर्थ में और 'Deus' शब्द का अपने अनेक देवताओं में से एक देवता के साकार रूप के अर्थ में प्रयोग किया था। रोमन साहित्य में एन्नियस (Ennius) नामक विद्वान के काल से पूर्व (जिसकी रचना ई.पू. १६९ वर्ष पूर्व की मानी जाती है) जीवात्मा एवं परमात्मा की स्वतन्त्र सत्ता का उल्लेख नहीं पाया जाता। एन्नियस (Ennius) के पश्चात्तरों दार्शनिकों एवं राजनीतिज्ञों में से भी कुछ ने इनकी सत्ता को स्पष्ट रूप से स्वीकार नहीं किया है। उदाहरणतः सिमरो (Cicero) एवं जूलियस सीज़र (Julius Caesar) दोनों ही संशयवादी थे; तथा ल्युक्रेटियस (Lucretius) के विचार स्थिर नहीं थे; उसके सिद्धान्त इपिक्यूरस (Epicurus) की भीति जड़वाद को छिपे हुए थे।

हिन्दू-शास्त्रों में अति प्राचीन काल से जीवात्मा की शरीर से भिन्न माना गया है और मृत्यु के बाद भी उसकी स्थिति मानी गयी है। उनके मत में ईश्वर ही एकमात्र पूर्ण पुरुष है जिसके अन्तर लीन होकर समस्त चराचर प्राणी शाश्वत सुख एवं पूर्णता का अनुभव करते हैं। कर्मों का फल अवश्य मिलता है, इसकी सिद्ध करने के लिये ही पुनर्जन्म के सिद्धान्त का आविष्कार हुआ। जगत् में पुरुषात्मा कह पाने हैं और दुष्ट लोग फूलते-फूलते हैं इस सनातन समस्या को हल करने के लिये हिन्दुओं ने काफी प्रयत्न किया। जीवन अनादि एवं अनन्त है तथा सांसारिक सुख एवं दुःख, सम्पत्ति एवं विपत्ति हमें अपने प्राप्त कर्मों में छिपे हुए कर्मों के फल-रूप में ही प्राप्त होती हैं। पुरुषों का सञ्चय बढ़ जाने से जीव आध्यात्मिक उन्नतिके उन्नततम शिखर पर पहुँचकर उस पूर्णब्रह्म परमात्मा में मिल जाता है अथवा क्रमशः अज्ञानिकों को प्राप्त होकर अपनी हड्डि एवं प्रयत्न से फिर ऊपर की ओर उठता है। मनुष्य की आत्मा एक अत्यन्त चैतन्यशक्ति है

और उसके कर्मों में उस चैतन्यशक्तिकी उसकी आन्तरिक ज्योतिके सामने अभिव्यक्ति होती है। बौद्ध-ग्रन्थों में जीवात्मा एवं शरीर के बीच में ही अन्तर बताया गया है कि जीवात्मा की न तो परिमाणा हो सकती है और न उसका वाक्यार्थ ही निश्चित किया जा सकता है। उपनिषदों में आत्मा के विषय में, जिसे ब्रह्म के नाम से भी निर्दिष्ट किया गया है, यह कहा है कि वह एक सर्वव्यापक तत्त्व है जो सारे मनुष्यों एवं सारी वस्तुओं में स्थित है। उनके मत में जीवात्मा उस समष्टि-चेतन रूप ब्रह्म का ही अंश है और मृत्यु के समय में देह के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा के अविनाशी बने रहने में कोई बाधा नहीं आती। जीवात्मा की समष्टि-चेतन रूप परमात्मा के साथ एकता को पहचान लेना ही उसके यथार्थ महत्त्व एवं गुणों को समझना है।

बैबीलोनिया-निवासियों के मत में जीवन का अर्थ आत्मा के साथ सम्पर्क होना नहीं किन्तु स्वतन्त्र रूप से स्थित रहने की शक्त का नाम ही जीवन है। उनका सिद्धान्त यह था कि मनुष्य मरने के बाद रसातल की किसी खोह में यातनामय जीवन व्यतीत करता है और उस समय उसका शरीर प्रायः सबी हुई अवस्था में रहता है। उनका शरीर से भिन्न शरीर की स्वतन्त्र सत्ता में विश्वास नहीं था, अतएव वे लोग प्रेतात्मा के शरीर को तृप्त करने के लिये उसकी कब्र के ऊपर की जमीन को पानी से सींचते थे।

यहूदी लोग आत्मा और परमात्मा के स्वरूप-ज्ञान के बहुत निकट पहुँच गये थे। उनके जिनिसिस (Genesis) नामक ग्रन्थ भाग (२-७) में यह लिखा है कि 'Jahweh ने मनुष्य के नासारन्ध्र में प्राण-वायु फूँक दी और वह जीती-जागती आत्मा बन गयी।' '1 Kings' नामक ग्रन्थ भाग (१७-२२) में Elials के एक बच्चे को पुनर्जीवित कर देने के प्रसंग में यह उल्लेख मिलता है कि 'उस बच्चे की आत्मा उसके शरीर में फिर आ गयी।' उनकी बाइबिल में मृत्यु के बाद आत्मा कहाँ रहती है इस सम्बन्ध में कुछ वाक्य मिलते हैं। इसाया (Isaiah) नामक ग्रन्थ भाग (१४। ९-११) के देखने से यह पता चलता है कि मृत्यु के बाद जीव शियल (Sheol) नामक छाया-जगत् (Shadow-world) में यातनाएँ भोगता है। इज़िकिल (Ezekiel) नामक ग्रन्थ में प्रेतात्माओं के निवास-स्थान शियल (Sheol) को रसातल-का एक भाग बतलाया गया है जहाँ सारी जातियों की प्रेतात्माएँ एकत्र हो जाती हैं और जहाँ के निवासियों को

Nephaim अर्थात् 'सुदृशपन्न प्राणी' कहा गया है। उस समयके ग्रन्थोंमें भी आत्माके अमरत्वका कहीं-कहीं उल्लेख मिलता है। उदाहरणके लिये डेनियल (Daniel) नामक ग्रन्थ भाग (१२-१३) में यह लिखा है कि 'जो लोग स्वयं समझदार हैं वे नष्टोंकी भाँति अपनी उद्योतिका प्रसार करेंगे किन्तु जो पवित्र आत्माएँ दूसरोंकी भी सन्मार्ग-गामी बनाती हैं वे अनन्त कालतक भुवसारकी भाँति चमकती रहेंगी।'।

जीवात्माको परमात्मासे अमरत्व प्राप्त हुआ है, इस सम्बन्धमें आगे चलकर Pharisee और Sadducee इन दो जातियोंमें मतभेद हो गया और Pharisee लोग यह मानने लगे कि एक निश्चित अवधिके अनन्तर प्रेतात्माएँ जागृत होकर फिरने अपने-अपने कर्मोंमें नैतिक आर्थिक, प्रेतात्माओंके जागृत होनेके सम्बन्धमें ईसाइयोंका जो मत है उसका मूल Sadducees का सिद्धान्त ही है। Old Testament के कतिपय स्थलोंमें भी जीवात्माके अमरत्वका उल्लेख मिलता है। उदाहरणतः उसके 'Proverbs' नामक भाग (२२-२७) में यह लिखा है कि 'मनुष्यकी आत्मा प्रसुकी उद्योति है।' Ecclesiastes नामक भाग (१२।७) में भी लिखा है कि 'आत्मा लौटकर परमात्माके पास चली जायगी, जहाँने वह आयी है।' Psalms नामक भाग (१६।१०, ११) में यह लिखा है कि 'तू मेरे जीवनका पथ-प्रदर्शक बन जा। तेरे साक्षिण्यमें ही मुझे पूर्ण आनन्दका अनुभव होता है।'।

ईसाइयोंका सिद्धान्त Old Testament के सिद्धान्तोंमें बहुत कुछ मिलता-जुलता है; क्योंकि New Testament में Old Testament की मनोवृत्तिका ही अनुसरण किया गया है। ईसायसीइकी आत्माकी पुनर्जागृतिके सिद्धान्तको प्राचीनकालके ईसाइयोंने अक्षरशः मान लिया, जिसके फलस्वरूप दो और बातें सिद्धान्तरूपमें मानी जाने लगीं—एक तो आत्माकी अमरता और दूसरी आध्यात्मिक पिताके रूपमें ईश्वरका साक्षात् रूपसे जीवकी सहायता करना। प्रेतात्माओंकी पुनर्जागृतिके सिद्धान्तको केवल ईसाइयोंने ही नहीं माना है। Pharisees में भी इसका प्रचार था और उनसे भी पहले ईरानदेशके Mithra सम्प्रदायवालोंकी तथा Babylonia देशके Tammuz नामक विद्वान्की मिश्रदेशके Osiris नामक पवित्रतको, यूनानके Dionysius नामक दार्शनिकको यह मत मान्य था। आरतवर्षके श्रीकृष्ण इस

सिद्धान्तकी मानते ही थे। Jerome नामक दार्शनिकके समयमें यह सिद्धान्त प्रचलित था कि ईश्वरके द्वारा ही जीवोंकी सृष्टि होती है। उन लोगोंका कथन यह था कि 'ईश्वरके यहाँसे प्रतिदिन जीवात्माएँ आती हैं केवल शरीरोंकी रचना माता-पिताके रक्त-बीजसे होती है।' Scholasticism मतके प्रधान अनुयायी Aquinas (ईस्वी सन् १२२४-१२७५) ने जीवके विषयमें यह कहा है कि इस नामरूपात्मक जगत्में सृष्टिकर्ता ईश्वर एवं उसकी औत्तिक सृष्टिके बीचका तत्त्व जीव ही है।

मुसलमानोंके कुरानपर भी Old Testament का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उसमें लिखा है कि जब पुण्यात्मा पुरुषोंका देहान्त होता है तब अल्हाइमियाँ उनकी आत्माओंको अपने निकट बुला लेते हैं और इयामतके दिनतक उन्हें अपने पास ही रखते हैं और फिर उन्हें वापिस अपना-अपना चोला बन्धा देते हैं। मुसलमानोंका भ्राम इयाज यह है कि रूह इन्सानके जिससे मुँहके जरिये बाहर निकलती है, अगर कुछ लोगोंका खयाल यह है कि वह श्मोषीके पिछले हिस्सेकी तरफसे निकलकर जिम्मेसे जुदा होती है।

विकास-सिद्धान्तके अनुसार जीवकी सबसे बड़ी उन्नति मनुष्य-देहमें होती है। 'मनुष्य मरकर फिर जन्म लेता है या नहीं' यह प्रश्न बहुत प्राचीन कालमें Job के समयमें भी पूछा गया था। अद्वालु पुरुष यह मानने हैं कि मरनेके बाद भी मनुष्यका सूक्ष्म (मानसिक) शरीर परमपिता परमात्माकी गोदमें निरन्तर निवास करता है। यह विश्वास केवल अन्ध-अद्वालुओंका ही नहीं, कबिकी कल्पना भी बड़ी है। कवि क्या कहता है, सुनिये—

तू हमें मिट्टीमें न मिलाता, तूने ही मनुष्यको सिरजा है। वह बेचारा इसका प्रयोजन क्या जाने? वह केवल इतनी बात समझता है कि तूने उन्हे मरनेके लिये नहीं बनाया। उसका बनानेवाला तू है और वह तू न्यायकारी है; बस, इसीमें उसको सन्तोष है।

मानव-हृदयकी यह आशा-खता अनन्त कालतक प्रवृत्ति एवं पुष्पित होती रहेगी कि उसकी आत्मा परमपिता परमात्माकी गोदमेंसे आवी है और इसलिये वह अमर है। मानव-जीवनकी सार्थकता केवल अपने जीवनको सुधारनेमें ही नहीं है, उसका उद्देश्य तभी सिद्ध होता है जब वह दूसरोंके जीवनको इसप्रकार उन्नत बना देता है कि वे पूर्णताके शिखरपर पहुँचकर ईश्वरके सहरा बन जाते हैं।

ईश्वर एक है

(लेखिका—श्रीमती चार० एस० सुब्बाळस्वामी जम्मल वी० ए०, एल० टी०)



क महान् तत्त्वदर्शीका कथन है कि संसारमें जितने मनुष्य हैं उतने ही देवता और उतने ही धर्म हैं। यदि हम अति प्राचीन कालसे मनुष्यकी उन्नति और उसके विकासका अभ्ययन करें और भिन्न-भिन्न युगोंमें मनुष्यकी अवस्था कैसी थी, इसका चित्र कल्पना-के पटपर यदि खींच सकें तो हमें ज्ञात होगा कि मनुष्यकी शारीरिक, मानसिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक अवस्थाओंमें किसप्रकार धीरे-धीरे एवं क्रमशः जागृति, विकास एवं उन्नति हुई है। प्रारम्भिक अवस्थामें मनुष्यका स्थूल शरीर अधिक बलिष्ठ होता है और आन्तरिक शक्तियाँ प्रायः सभी सुप्त रहती हैं। इसके अनन्तर मनकी बारी आती है। मनुष्य एक चिन्तनशील प्राणी है। उसके विचार तथा उसकी बुद्धि ही उसकी रक्षा करती है, क्योंकि उसकी शारीरिक शक्ति घटने, हाथी हत्यादि अधिक बलवान् जन्तुओंकी शक्तिके सामने नगण्य उड़ती है। उन्हीं-उन्हीं उसकी मानसिक शक्ति विकसित एवं उन्नत होती है, त्यों-ही-त्यों वह अपने चारों ओर देखने तथा अपने समीप-वर्ती पशुपक्षीकी जाँच-परख करने एवं उन्हें अपने अनुभव-की कसौटीपर कसकर उनपर विजय प्राप्त करनेका निश्चय करता है। यहाँतक कि वह भयंकर-भयंकर जंगली पशुपक्षीका भी, जिनमें उसकी अपेक्षा कहीं अधिक शारीरिक बल होता है, अपने वशमें कर लेता है। इससे यह सिद्ध होता है कि शारीरिक बलकी अपेक्षा बुद्धि-बल कहीं बड़ा है और वह मनुष्य, जो बिशिष्ट ज्ञान एवं बुद्धिसे सम्पन्न है, उस मनुष्यकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ है जिसका शरीर तो बलिष्ठ है परन्तु जिसकी मानसिक-शक्ति दुर्बल है। इसके पश्चात् मनुष्यकी नैतिक शक्तिका नम्बर आता है। कोई मनुष्य बहुत बुद्धिमान् है और भिन्न-भिन्न विषयोंमें उसका ज्ञान बहुत बढ़ा-बढ़ा है, परन्तु यदि उसमें चरित्र-बलकी कमी है तो समाजमें उसका उतना धातुर एवं सम्मान नहीं होता, जितना एक चरित्रसम्पन्न कम बुद्धिमान् पुरुषका होता है, अन्तमें मनुष्यका आध्यात्मिक विकास होता है।

आध्यात्मिक पुरुष वह है जिसके अन्दर वैवीर्यसम्पत्तिका यथेष्ट विकास हो, जिसने भगवत्-प्रेम, योगाभ्यास एवं तपके द्वारा अपनी अधम वृत्तियोंको, अपने आसुरी भावोंको दबा दिया हो और जिसने आध्यात्मिक भावोंको खूब जागृत कर दिया हो।

हम भली भाँति जानते हैं कि इन चार प्रकारके पुरुषोंमें, जिनकी शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक शक्तियाँ क्रमशः उन्नत हैं, परस्पर कितना अन्तर है। शारीरिक बलसम्पन्न पुरुषमें, जिसकी दूसरी शक्तियाँ उन्नत नहीं हुई हैं, तथा आध्यात्मिक पुरुषमें उतना ही अन्तर है जितना एक सर्वश्रेष्ठ जीव तथा अधम-से-अधम कोटिके मनुष्यमें है। मनुष्यजातिके क्रमिक विकासके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि किसप्रकार मनुष्य क्रमशः शारीरिक उन्नतिसे मानसिक उन्नतिको और, मानसिकसे नैतिक उन्नतिको और तथा नैतिकसे आध्यात्मिक उन्नतिको और अग्रसर होता है। अतः इन विभिन्न श्रेणियोंके मनुष्योंकी ईश्वरके विषयमें भी विभिन्न धारणा होती ही चाहिये। जिस मनुष्यकी आध्यात्मिक शक्ति बहुत बड़ी हुई है उसकी ईश्वर-विषयक भावना भी उस मनुष्यकी अपेक्षा कहीं अधिक ऊँची और उदात्त होगी, जिसकी मनोवृत्ति बहुत निम्नगामिनी है। यही नहीं, जिन लोगोंका आध्यात्मिक विकास समान कोटिका है उन लोगोंमें भी ईश्वरके सम्बन्धमें विभिन्न धारणाएँ होती हैं। इसलिये यह उक्ति यथार्थ ही है कि संसारमें जितने मनुष्य हैं उतने ही धर्म और उतने ही ईश्वर हैं। हाँ, यदि कोई अनुचित बात है तो यह है कि कभी-कभी वे लोग भी, जिनका आध्यात्मिक विकास बहुत बढ़ा-बढ़ा है, अपने-अपने ईश्वरके विषयमें झगड़ने लगते हैं और इस बातको भूल जाते हैं कि ईश्वर एक है, उसके सम्बन्धमें उनकी धारणाएँ ही विभिन्न हैं। 'एक सद्भिप्रा बहुधा वदन्ति,' 'एकमेवाद्वितीयम्' ये श्रुतियाँ इसी बातको बतलाती हैं कि ईश्वर एक है, उसे लोग अनेक नामोंसे पुकारते हैं तथा अनेक प्रकारसे उसका वर्णन करते हैं। गुलाबके फूलमें एक ही प्रकारकी सुगन्ध आयेगी, चाहे हम उसे किसी भी नामसे पुकारें। स्नेहमयी जननी अपने

छाछको अनेक बारसखपूर्ण नामोंसे पुकारती है, किन्तु उन नामोंसे बावकमें अनेकता नहीं आ जाती, इस सम्बन्धमें एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त है। चार यात्री, जिनकी बोली अलग-अलग थी, देव-संयोगसे एक ही स्थानपर पहुँच गये, थके-माँदे तथा भूख-प्याससे व्याकुल होनेके कारण वे एक वृक्षकी छायामें बैठ गये और अपनी भूख-प्यास मिटानेका उपाय सोचने लगे। चारों ही अपनी-अपनी भाषामें एक ही फलका नाम लेकर खबरें लगे। उन्हें इस बातका ज्ञान नहीं था कि हमलोग एक ही फलकी चाहते हैं। इतनेमें फल बेचवानेका उधरसे आ निकला। देव-संयोगसे उसके पास वे ही फल थे जिनके लिये चारों यात्रियोंमें झगड़ा हो रहा था। ज्यों ही उनकी दृष्टि उन फलोंपर पड़ी, सबके-सब आनन्दके मारे हलुल पड़े और कहने लगे कि हम इसी फलकी चाहते थे। सबका झगड़ा मिट गया। यह तो हुआ दृष्टान्त। इसका दार्ष्टान्त यह है कि जिसप्रकार एक ही फलके भिन्न-भिन्न भाषाओंमें भिन्न-भिन्न नाम हैं, इसी प्रकार ईश्वर एक है, उसके नाम, गुण एवं स्वरूप कई बताये गये हैं। तामिल-भाषाके एक महाकविने ईश्वरको समुद्रकी उपमा दी है। जिसप्रकार संसारकी समस्त नदियाँ समुद्रमें आकर अपने नाम, रूपको पूर्णतया विलीन कर देती हैं उसी प्रकार सारे धर्म ईश्वरके निकट पहुँचकर अपने भेद-भावको सर्वथा भूल जाते हैं। विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न मनुष्योंकी चाहिये कि वे इस बातको अच्छी भाँति हृदयंगम करके एक वृत्तके विचारोंके प्रति आदर एवं सहिष्णुताका भाव रखें और मामूली मतभेदके कारण

झड़ई-झगड़ा न करें। हम सब भगवत्प्राप्तिके मार्गपर धीरे-धीरे अग्रसर हो रहे हैं और क्रमशः उन्नतिकी सीढ़ीपर चढ़ रहे हैं। जबतक हमलोग भिन्न भवस्थाके साधक हैं तभीतक यह समझते हैं कि हमलोगोंके ईश्वर अलग-अलग हैं। कुछ ही आगे बढ़नेपर सारी अनेकताएँ मिट जाती हैं और यह अनुभव होने लगता है कि वास्तवमें ईश्वर एक है।

श्रीकृष्ण भगवान्ने गीतामें कहा है—

यो यो बां बां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति ।

तस्य तस्याचलां श्रद्धां तमेव विदधाम्यहम् ॥

(७।११)

जो-जो सकामी भक्त जिस-जिस देवताके स्वरूपको श्रद्धासे पूजना चाहता है, उस-उस भक्तकी मैं उस ही देवताके प्रति श्रद्धाको स्थिर करता हूँ।

यं यं वापि स्मरन्भाव त्यजत्यन्ते कलेश्वरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावमावितः ॥

(गीता ८।६)

हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! यह मनुष्य अन्तकाळमें जिस-जिस भावको स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागता है, उस-उसको ही वह प्राप्त होता है, परन्तु सदा उस ही भावको चिन्तन करता हुआ, क्योंकि सदा जिस भावका चिन्तन करता है, अन्तकाळमें भी प्रायः उसीका स्मरण होता है।

बस, हम चाहे जिस रूप या चाहे जिस नामसे ईश्वरकी उपासना करें, वह सबको स्वीकार कर लेता है, क्योंकि वह एक है।

ईश्वर-प्राप्तिके उपाय

१—ईश्वरके प्रभाव और महत्वको यथार्थ जाननेवाले महापुरुषोंका संग।

२—ईश्वरके प्रभाव और महत्वसे पूर्ण शास्त्रोंका अध्ययन।

३—ईश्वरके नामका जप और गुणोंका श्रवण-कीर्तन।

४—ईश्वरका ध्यान।

५—विश्वरूप भगवान्की निष्कामभावसे सेवा।

६—ईश्वर-प्रार्थना।

७—ईश्वरके अनुकूल आचरण यानी सत्य, अहिंसा, दया, प्रेम, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, धन्य, तप, स्वाध्याय, भास्तिकता और श्रद्धा आदिको बढ़ाना।

८—लोक-परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य।

९—सद्गुरुमें परम श्रद्धा और गुरु-सेवा।

१०—ईश्वरमें अखण्ड विश्वास।

११—घर-बाहर सर्वत्र ईश्वर-चर्चा।

१२—अभिमान, दम्भ और कठोरताका सर्वथा त्याग।

१३—काम क्रोध लोभसे बचना।

१४—नास्तिक-संगका सर्वथा त्याग।

१५—परधर्म-सहिष्णुता।

१६—सबमें ईश्वरबुद्धि रखने हुए ही बर्ताव करनेकी चेष्टा।

ईश्वर नहीं है, ऐसी बात न कहो

(लेखक—भिष्णु भांगोरीशंकरजी)



ईश्वरकी सत्तामें संशयके लिये अबसर ही नहीं है, इसलिये उसमें सन्देह करना उचित नहीं है। क्योंकि इस विषयको दर्शनकारोंने अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है, योगी-जनोंने इसे योगाभ्यासके द्वारा प्रत्यक्ष किया है, धर्ममें विश्वास रखनेवालोंकी ईश्वरमें निष्ठा सदासे

निश्चलरूपसे चली आती है और सर्वसाधारणकी धारणा तो ईश्वरकी सत्तामें परम्परासे देखनेमें आती ही है, अतः इस विषयपर कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं है; परन्तु आजकल कुछ लोगोंको पाश्चात्य-विद्या-पिशाचिनीके संस्कारोंसे तथा पाश्चात्य-संसर्गसे 'ईश्वर है या नहीं है,' इसप्रकारकी कुभावना पैदा होने लगी है। पाश्चात्य-देशोंमें नास्तिकताका जोर है, परन्तु वहाँ भी दैत्यपुरीमें प्रह्लादके समान ईश्वरकी सत्तामें विश्वास करनेवाले खोग पाये जाते हैं। कुछ ही दिन पहलेकी बात है। यूरोपके एक प्रधान नगरमें एक पुरुष रहता था जो ईश्वरकी सत्ताको सर्वत्र देखता था, परन्तु दूसरे पुरुषोंके विलासके लिये वह कहा करता था कि 'भाई, परमात्मा कोई वस्तु नहीं है और न कोई उसको सिद्ध हो कर सकता है।' विलासीजन प्रायः दूसरोंको चिढ़ाया करते हैं, अतः लोग उसको यह कहकर चिढ़ाने लगे कि 'ईश्वर है और उसे सिद्ध भी किया जा सकता है।'

परन्तु इस मजाकका उसपर उलटा असर पड़ा, वह स्वयं निश्चय कर बैठा कि ईश्वर यथार्थमें नहीं है। अपने इस निश्चयका वह प्रचार भी करने लगा। एक दिन वह बहुत-से पुरुषोंके बीच बैठा कह रहा था कि 'आज मैं आप लोगोंके सामने परमेस्वरको ली गालियाँ दूँगा। इससे यदि किसी प्रकारका दण्ड मुझको न मिला तो वह निश्चय हो जायगा कि ईश्वर है ही नहीं।' इतना कहकर वह गन्दी गालियाँ बकने लगा और साथ ही यह भी कहने लगा कि 'देखो भाई, आज साधारण मनुष्य भी किसीकी ऐसी गाली नहीं सह सकता, परमात्मा तो परम पुरुष कहलाता है, वह यदि होता तो क्योंकर सहता?' इतना कहना था कि अकस्मात् उसके ऊपर किसी पत्नीने थोट कर दी और उसी समय उसका शरीर दण्ड होने लगा। अन वह मनुष्य व्याकुल होकर इधर-उधर देखने लगा और नज्रतापूर्वक प्रभुके पवित्र नामोंका उच्चारण करते हुए लोगोंसे कहने लगा, 'देखो भाई, मुझे मजाकका फल मिल रहा है। अब आप लोग इससे सीख सकते हैं कि किसीको ईश्वरकी महत्ता या उसकी सत्तामें कभी सन्देह न करना चाहिये।' इस आश्चर्यजनक घटनाका अवतक वहाँ प्रभाव है। अतः हम लोगोंको भी, 'ईश्वर नहीं है,' इसप्रकारकी बात कभी दिव्जगोमें भी नहीं कहनी चाहिये। ईश्वरकी सत्तामें स्वप्नमें भी सन्देह करना उचित नहीं है।

प्रभो

प्रभो ! एक छुद्र प्राणी जिसे अपने ही अस्तित्वका पता नहीं, तुम्हारा अस्तित्व सिद्ध करनेका हास्यस्पद प्रयत्न कर रहा है, कहाँ तुम्हारी अनन्त शक्ति और कहाँ यह तुम्हारे ही हाथोंका बना एक छोटा-सा खिलौना !

लीलामय नटवर ! तुम्हारी लीला अनन्त आश्चर्यमयी अलौकिक है। इसकी मोहिनी मायाकी चमकमें चौंधियाकर मेरे चर्म-चटु अज्ञानान्धकारकी काखी यवनिकासे ढक गये। गूढ़ हो गया नाथ ! भूल गया अपने स्रष्टाको इस विज्ञानमयी भुलावनी विषय-नृष्णामें फँसकर ! बुद्धि तुम्हारे अस्तित्वमें भी सन्देह करने लगी।

बचाओ स्वामिन् ! बुद्धि दो, बहो शान्तिप्रदा स्थिर

बुद्धि जिसे पाकर तुम्हें मझी भोति समझ सख् ! 'मैं' के अममें अमित इस अनाथको सहारा दो नाथ ! नहीं तो इस अभिमानकी मन्तीमें मद्मत्त हो यह भक्त पाप-पंकमें धँस जायगा।

चाहे जितने अपराध क्यों न करूँ, पर हूँ तुम्हारी ही एक छुद्र-सन्तान ! प्रभो ! अपना मंगलमय हाथ मेरे मस्तक-पर रख मुझे अमय कर दो, जिससे फिर ऐसी भूल कभी न हो और तुम्हारे दिव्यलाये पथपर चिरकालतक चलता रहूँ।

प्यारे मालिक ! यह जीवनकी जीर्ण तरी तुम्हारे हाथों समर्पित है, मेरी सारी भूलोंको भुलाकर सँभालो अपनी जीवकी, यह जीर्ण-से-जीर्ण होकर टूट जाय तुम्हारे चरणतकमें।

—मोहन

अनीश्वरवादसे जगत्का संहार

(ले०—राजाबहादुर श्रीश्रीलक्ष्मीनारायण हरिचन्दन जगदेव यम० आर० प० पस०, पुरातत्त्व-विशारद, बिधावाचस्पति)

ईश्वर ही एकमात्र सनातन-तत्त्व है। वेदोंने उसे सत्य एवं अनन्त बतलाया है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' 'आनन्दं ब्रह्मको बिहान् न बिभेति कदाचन।' 'आबाम्मी जनयन् देव एको विरवस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।' अर्थात्—ब्रह्म आद्यन्तहीन है, वह ज्ञानरूप एवं आनन्दमय है।.....

वह पृथ्वी एवं आकाशका रचयिता है, विरवका अधिपति है एवं त्रिभुवनका रक्षक है। श्रीमद्भगवद्गीतामें लिखा है—

य एनं वेत्ति हन्तारं यज्ञेन मन्यते हतम् ।

उमौ तौ न बिभ्रानौतो नायं हन्ति न हन्यते ॥

न जायते म्रियते वा कदाचि-

ज्ञायं मृता भविता वा न भूयः ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः ।

न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

जो मनुष्य ईश्वरकी जन्मने एवं मरनेवाला मानता है वह मूर्ख है। वस्तुतः आत्मा नित्य है, शाश्वत है, पुराण है, वह शरीरके नाशसे नाश नहीं होता है। आत्मा इस अनित्य देहरूपी कारागारमें आबद्ध है, किन्तु जो लोग ज्ञानी हैं वे कर्म-फलके संन्यासके द्वारा अर्थात् भगवान्‌के श्रीचरणोंमें सब कुछ निवेदन करके उसीका निरन्तर स्मरण करते हुए इस कारागारसे मुक्त हो जाते हैं।

यदि जीव और ईश्वरमें भेद न होता तो ईश्वरकी सृष्टिका भोग नहीं बनता। उदाहरणके लिये किसी फलका आस्वादन तभी सम्भव होता है जब फल एवं उसका भोक्ता दोनों ही हों। यदि दोनोंमेंसे एकका भी अभाव हो तो आस्वादन नहीं हो सकता। इसी प्रकार जीव एवं ईश्वरकी भिन्न सत्ता होनेसे ही ईश्वरकी सृष्टिका भोग होता है। यदि हम ईश्वरकी सत्तामें विश्वास न करें तो जीवोंकी सृष्टि निष्फल हो जाती है और ऐसी दशामें जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती। परन्तु जो लोग यह समझते हैं कि सृष्टि बिना किसी कारणके ही उत्पन्न हो गयी, वे बालवमें बड़ी भूल करते हैं। हम देखते हैं कि बिना कारणके कोई कार्य नहीं हो सकता। उदाहरणतः घड़ा बनानेके लिये हमें मिट्टी, बोरी, चाक, जल और कुम्हार, इतने कारणोंकी आवश्यकता होती है। जिसप्रकार घड़ेकी उत्पत्ति इसने कारणोंके समवायसे होती है इसी प्रकार यह दृश्यमान जगत् भी किसी-न-किसी पुरुषके प्रयत्नका फल होना

चाहिये। जिसप्रकार साधारण प्रयत्नसे साधारण कार्य होते हैं इसी प्रकार असाधारण प्रयत्नसे असाधारण कार्य होते हैं। यह सृष्टि साधारण प्रयत्नसे नहीं हो सकती। अतः हमें यह मानना पड़ेगा कि इसे उत्पन्न करनेवाला कोई असाधारण पुरुष अवश्य है। वह असाधारण व्यक्ति ईश्वर है। उसकी सत्ताको अस्वीकार करना उतना ही मूर्खतापूर्ण है जितना किसी बालकका माता-पिताकी सत्ताको अस्वीकार करना। अतः ईश्वर इस सृष्टिका वास्तविक कारण है। हम प्रायः देखते हैं कि कार्यके न रहनेपर कारणके अभावका अनुमान होता है। उदाहरणके लिये जब हमारे पास कोई घड़ा नहीं होता उम समय हमें उसके कारणोंके सम्बन्धमें विचार करनेकी आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार यदि हम ईश्वरकी सत्ताको अस्वीकार करें तो हमें विश्वकी सत्ताका भी निषेध करना होगा। विश्वकी सत्ता उसके रचयिताकी सत्तामें सदा प्रमाद्य है।

ईश्वर न होता तो लोग पाप और पुण्यका विचार ही क्यों करते? यदि हमें अपने कर्मका फल देनेवाला कोई न हो तो हमारे लिये यह विचारनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती कि कौन-सा कार्य उचित और कौन-सा अनुचित है, क्योंकि उन्हें देखनेवाला और उनकी शुभाशुभताका निर्णय करनेवाला कोई नहीं है। हमारे अन्दर पापमें बचनेकी तथा धर्माचरण करनेकी जो आन्तरिक प्रवृत्ति होती है वह ईश्वरकी सत्ताको सिद्ध करनेके लिये पर्याप्त है।

पुराणोंमें लिखा है कि ईश्वर आनन्दका भण्डार है, वह आनन्द हृन्द, अग्नि अथवा अन्य किसी देवताको भी प्राप्त नहीं है। उस आनन्दकी प्राप्तिके लिये मनुष्य ईश्वरकी उपासना करता है और सदाचारमें प्रवृत्त होता है। उसके सत्कर्मोंके फलस्वरूप उसका भविष्य-जीवन सुखमय हो जाता है।

जिसप्रकार दीपकके बिना भवन अन्धकारमय हो जाता है और गृहपतिके अभावमें सारा गृहस्थ चौपट हो जाता है उसी प्रकार ईश्वरके बिना मनुष्यकी उन्नति असम्भव है। ईश्वरके अस्तित्वमें अविश्वास करना अपने-आप अपना संहार करना है। ईश्वरको न माननेसे उच्छृंखलता फैल जाती है और संसार दुराचारका आगार बन जाता है। अतः ईश्वरको अवश्य ही मानना चाहिये।

ईश्वरके अस्तित्वका समर्थन

(लेखक—स्वामीजी श्रीतपोवनजी महाराज)



श्वर है या नहीं' इसप्रकारका विकल्प अशिक्षित बुद्धिवालोंको हुआ करता है। शिक्षित बुद्धिवाले ऐसा विषाद नहीं करते, क्योंकि वे 'ईश्वर है' इसप्रकार जानते हैं और उसका अपरोक्ष अनुभव करते हैं।

'ईश्वर नामका कोई भी तत्त्व नहीं है,' यह

किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया जा सकता, 'ईश्वर एक तत्त्व है' यह प्रमाण-निपुण विद्वानोंके द्वारा सब प्रमाणोंद्वारा सिद्ध किया जाता है। 'यदि परमेश्वर नहीं है तो जगत् भी नहीं है,' इसप्रकार शरा-विषाख (श्वरगोशके सींग) के समान जगत्की रूपहीनताकी आपत्ति होती है जिसका पर्याय शून्य भी है। परन्तु यह कथन श्रुत्युक्त है, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंमें जगत्का अस्तित्व सिद्ध है। घट है, पट है, नाग (हन्नी) है, नग (पर्वत) है, नगर है इत्यादि घट-पट आदि विभिन्न आकारोंका संसार है, यही सब मनुष्य स्वीकार करते हैं। जगत् नहीं है, हमें न तो कोई स्वीकार करता है और न व्यवहारमें लाता है। ऐसी अवस्थामें सत्ताविशिष्ट इस उपादेयात्मक अर्थात् कार्यभूत जगत्का कोई सत्ताविशिष्ट उपादानात्मक कारण होना आवश्यक है, हममें लेशमात्र भी सन्देह नहीं; जैसे लोकमें स्वर्णनिर्मित कुण्डल, कंकण, मुद्रिका आदि कार्योंका उपादान स्वर्ण देखा जाता है। इसलिये इस सत्तात्मक वस्तु-जगत्का कारण तथा समस्त कार्योंमें समवेत ईश्वर-तत्त्व है। उस ईश्वर-तत्त्वके नास्तित्वका समर्थन अपनेको दार्शनिक माननेवाले प्राचीन अथवा आधुनिक पुरुष कैसे कर सकते हैं ?

सत्तात्मक होनेसे ईश्वरकी ज्ञानात्मकता तथा अनन्तता भी सिद्ध हो जाती है, क्योंकि जब और परिच्छिन्न वस्तुमें सत्ता अर्थात् अविनश्वरता नहीं रहती—जो जब और परिच्छिन्न वस्तु है वह विनाशशील और असत्य है, ऐसा लोकमें देखा जाता है। इसलिये सत्य और ज्ञानरूप परमात्मा देश, काल और वस्तुमें अपरिच्छिन्न है, तथा सर्वस्वतन्त्र शोकरहित प्रत्यगात्माके भी आत्मा एवं समस्त प्राणियोंके परम प्रेमपात्र होनेके कारण असीम आनन्ददायक,

और जगत्के आधारभूत भी हैं, इसमें कौन बुद्धिमान् सन्देह कर सकता है? बलिष्क कर्त्ताके बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, स्वर्णकारके बिना कुण्डल आदि नहीं बन सकते, इसलिये जगत्का कर्त्ता होनेसे ईश्वर निमित्तकारण भी है। तथा वही परमात्मा विश्वका उपादानभूत, सर्वस्व, सर्वशक्तिमान् अद्वितीय एवं सत्यज्ञानानन्दस्वरूप है, यह आपाततः स्वीकार करना पड़ता है। क्योंकि ईश्वरके अतिरिक्त इतर वस्तु है ही नहीं। वही सृष्टि करके जगत्को स्थितिकालमें नियमित करते हैं। 'अद्वितीय सर्वशक्तिमान् परमात्मा जगत्के कर्त्ता एवं नियामक हैं' यदि यह स्वीकार न किया जाय तो यह बतलाना होगा कि किसकी शक्तिमें नियन्त्रित होकर ये सूर्य, चन्द्रमा आदि तथा पर्वत, समुद्र आदि अपने-अपने स्थानोंका अतिक्रमण न करते हुए अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त हो रहे हैं। इससे यह भली भाँति निश्चय हुआ कि सबके कर्त्ता तथा सबके नियामक परमात्मा हैं, जिनकी शक्तिमें यह समस्त सूर्य, चन्द्र, पर्वत, समुद्र आदि अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त हो रहे हैं। अगवनी श्रुति भी अत्यन्त गम्भीर शैलीसे इसी अर्थका प्रतिपादन करती है—

'मीमांसादा वातः पवते मीमेदेति सूर्यः'

'अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे' इत्यादि।

जिसके भयमे वायु, सूर्य, चन्द्र, नदी, समुद्र प्रभृति मर्यादाका अतिक्रमण न करके अपने कर्ममें निरन्तर परिनिष्ठित देखे जाते हैं, वह 'सर्वेश्वर सर्वनियामक है' ऐसा समझना चाहिये; 'वह नहीं है' ऐसा समझना ठीक नहीं। इसप्रकार केवल न्यायके बलमे ही नहीं बल्कि अनुभवके बलसे भी विद्वानोंको ईश्वरकी सिद्धि होती है। विद्वान् परमहंस योगीजन सम्यक् पराभक्ति नामक अध्यात्मज्ञानदीपके प्रकाशमें उस सच्चिदानन्दस्वरूप ईश्वरका प्रत्यक्ष करके उसमें सदा रमण करते हैं। इसप्रकार निरन्तर हृदयके अभ्यन्तर साक्षात् ईश्वरका अनुभव करनेवाले हमारे प्राचीन महर्षियोंके उद्गारस्वरूप इन सूत्रात्मक वाक्योंको सब लोगोंको समझना चाहिये—

'सर्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।'

—हर्यादि ईश्वरके लक्षणपरक वाक्य उपनिषदोंमें प्रसिद्ध हैं। ये वाक्य शुष्क अनुमानमात्रका सहारा लेनेवाले, वस्तुतत्त्वका कुछ भी अनुभव नहीं रखनेवाले लोगोंके किये नहीं हैं, यह विशेषरूपसे कहना है। अतः यह बात सिद्ध होती है कि कोई निराकांक्ष परमेश्वर-तत्त्व अवश्य है और वह भी सत्तामात्र है, इसपर अब अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं।

उपर्युक्त विचारोंसे यह समर्थन किया गया कि ईश्वर-का मुख्य स्वरूप पारमार्थिक, निराकार एवं अपरिणामी है। अब उसके जो व्यावहारिक परिणामी तथा अप्रधान (गौण) अनेक रूप हैं उनकी भी उपपत्तिपूर्वक सिद्धि की जाती है। यदि अनुमान और अनुभवसे सत्तामात्रस्वरूप जगत्का कारण, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तर्धामी, कोई वस्तु ईश्वरपदवाच्य स्वीकार की जाती है तो 'वह वस्तु भक्तजनोंके ऊपर अनुकम्पित हो उनके द्वारा कल्पित भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकट होती है' ऐसा माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं होती। तथा स्वयं निराकार भगवान् भी चतुर्भुज, चतुर्मुख, त्रिनेत्र आदि और राम-कृष्ण आदि विभिन्न आकारोंको धारण करते हैं, एवं भक्तजनोंके दर्शन, कीर्तन और भजनका विषय बनते हैं, इसमें भी कुछ अयुक्त नहीं जान पड़ता। भगवान् कहते हैं—

ये यथा मां प्रपश्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।

अर्थात् 'जो भक्त जिस स्वरूपमें मेरी अनन्य भक्तिके द्वारा उपासना करते हैं मैं उन्हें उसी स्वरूपसे दर्शन देकर अनुग्रहीत करता हूँ।'

पुनः भक्तोंके संकल्पके अनुसार कल्याणकल्याण पर-मारमाने यथासमय उनके आगे अवतार धारण किया है और उन भक्तोंने भगवान्के मञ्जुल रूपको नेत्रोंसे देखकर अपने जन्मको कृतार्थ किया है। भक्तवत्सल परमेश्वरने उन लोगोंको असीम वरदान देकर अनुग्रहीत किया है, यह सब वृत्तान्त पुराण तथा भगवत्-चरित्रके जाननेवाले विद्वानोंसे छिपे नहीं हैं। जिसप्रकार अतीतकालमें ध्रुव, प्रह्लाद आदि तथा श्रीचैतन्य, तुलसीदास, मीराबाई प्रभृति श्रेष्ठ भक्तजनोंने अपने मनःकल्पित मनोहर स्वरूपोंसे अन्तर्धामी भगवान्का साक्षात् दर्शन किया था, उसी प्रकार आज भी कोई भी श्रद्धालु पुरुष अपनी अनन्यभक्तिके द्वारा अपनी भावनाके अनुसार कल्पित साकार स्वरूपसे

परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन कर सकता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं। इस विषयमें किसी भी विद्वान्को विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार वैदिक धर्मावलम्बियोंके समान वेद-वाङ्मय इस्लाम तथा ईसाई-धर्मके अनुयायी भी अपनी-अपनी भावनाके अनुकूल अपने परम इष्टरूपसे परमात्माको भागने, दर्शन, उपासना तथा कीर्तन करनेके योग्य हैं। इसका कोई भी निषेध नहीं कर सकता। यदि हम हिन्दू लोग चतुर्भुज आदि स्वरूपमें अपने प्यारे अन्तर्धामी भगवान्की उपासना तथा उनका साक्षात् दर्शन करनेमें समर्थ हो सकते हैं तो इतर धर्मावलम्बी भी अपने अनुकूल परम इष्टरूपसे उस प्रियतम परमात्माकी उपासना तथा उनका दर्शन क्यों नहीं कर सकते? अवश्य ही वे लोग भी ईश्वरका दर्शन कर सकते हैं, यह न्याय तथा अनुभवसे सिद्ध है।'

‘एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ।’

अर्थात् एक अपरिणामी पारमार्थिक ईश्वरतत्त्व ही विद्वानोंके द्वारा अनेक प्रकार तथा स्वरूपोंमें व्यवहृत होता है, इस परम सत्यको आजमें हजारों वर्ष पहले हमारे पूर्वपुरुषोंने उच्चस्तरसे घोषित किया था। इसलिये हम वैदिक धर्मकी महिमाको धन्य समझते हैं।

अतः श्रद्धालु और अधिकारी पुरुषोंके द्वारा स्वयं निराकार परमात्माकी भी साकाररूपसे उपासना और उनका साक्षात् दर्शन भी किया जा सकता है। इसप्रकार भक्तजनोंके मनको आनन्दित करनेवाले, जगत्को अनुग्रहीत करनेवाले जगत्-प्रतिपालक परमेश्वरके साकार स्वरूप भी हैं, ऐसा समझना चाहिये। 'उसके साकार रूप नहीं हैं' ऐसा समझना कदापि ठीक नहीं। यही क्यों, पाश्चात्य दार्शनिक विद्वानोंमें सबसे प्रधान जेटो, अरिस्टाटल, काण्ट, हेगल आदिने भी परमेश्वर-तत्त्वका प्रतिषेध नहीं किया है। यह बात उन महाशयोंको जाननी चाहिये जो महर्षि व्यास आदि प्राच्य मुनिवर्गोंके वाक्योंकी अपेक्षा पाश्चात्योंके वचनोंको ही प्रबल प्रमाण मानते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि वाणी और उनके गोचर न होने तथा कार्य-कारण-भावसे परे होनेके कारण प्रत्यक्ष या अनुमान किसी भी प्रमाणसे ईश्वर-तत्त्वका अच्छी तरह निर्णय नहीं किया जा सकता। परन्तु उनका यह सिद्धान्त ईश्वरकी असत्ताका प्रतिपादन नहीं करता बल्कि ईश्वर-तत्त्वके निर्णय करनेमें उनके असाधर्म्यका द्योतन करता

है। इसप्रकार इनके द्वारा स्वयं ईश्वरकी महिमाका समर्थन होता है। बल्कि, यदि सर्वनियामक परमेश्वर साकार अथवा निराकार हैं तो उनकी उपासनाके द्वारा प्राप्त होने-वाला उनका दर्शन ही मानव-समाजका मुख्य धर्म है, इस बातमें किसी भी सद्व्यक्तिकमें समर्थ विद्वान्को संशय नहीं हो सकता। जगत्पिता परमात्माकी उपासना तथा उसका साक्षात्कार करनेका अधिकार मनुष्यको ही है, पशुओंको नहीं, यह बात हमें विशेषरूपसे याद रखनी चाहिये। चारों पुरुषार्थोंमें ईश्वर-दर्शनरूप मोक्ष ही परम पुरुषार्थ है, अर्थ और काम नहीं। इस प्रसिद्ध पुरुषार्थके जाननेवाले हमारे पूर्वज महर्षियोंने इस भारत-वर्षमें अन्य देशोंके लिये ईश्वर-दर्शनमें लगानेवाली अपूर्व धर्म-मर्यादाको निश्चितकर उसका सम्यक् प्रचार किया था। यह हम भारतीयोंके लिये परम सौभाग्यकी बात है। स्नान, भोजन, मैथुन आदि सर्वसाधारणके समस्त कर्म भी जिसप्रकार परम्परासे ईश्वरानुभवमें साधक बनें उसी प्रकार उन्हें उन्होंने धर्मके रूपमें योजित किया है। ऐसी भारतीय धर्म-मर्यादाकी महिमा है। तात्पर्य यह है कि स्नान, भोजन, मैथुन आदिका आचरण विषयके आनन्द-भोगके लिये नहीं है बल्कि परम्परासे मोक्षके लिये है।

देखते-देखते नष्ट हो जानेवाली भौतिक सम्पत्ति नहीं, बल्कि नित्यानन्दस्वरूपिणी अध्यात्म-सम्पत्तिको प्राप्त करना ही उनका परम लक्ष्य था। इस प्रकृत धर्म-मर्यादाके सामर्थ्यसे ही आज भी हमारा हिन्दू-समाज सचेतन होकर जी रहा है। यह हमलोगोंके लिये अभिमानकी बात है। जगत्के इतिहासका निरीक्षण करनेपर यह कोई भी स्पष्टतः जान सकता है कि बहुतेरे समाज भौतिक सुख-सम्पत्तिको ही परम पुरुषार्थ मानते हुए वर्षाव्रतके छोटे-छोटे गुल्म आदिकी भाँति तत्तत्कालमें तत्तत्स्थानोंमें उदित हुए, बढ़े और नष्ट हो गये। परन्तु हिन्दू-समाज भौतिक सम्पत्तिसे संयुक्त अथवा वियुक्त होकर अध्यात्म-श्रद्धारूपी कवच शरीरमें धारणकर एकरूपसे पूर्वके समान ग्राह्य भी जीवित है। यह बात ऐतिहासिक लोग मानते हैं तथापि विषयगृह्णासे अन्धबुद्धि हुए अपनेको पण्डित समझनेवाले आधुनिक पुरुष परोक्षरूपसे भी परमात्माके अस्तित्वका निर्णय करनेमें असमर्थ होकर, जैसे दिवान्ध (उल्लू) पत्नीस्वयं सूर्यके दर्शनमें असमर्थ हो त्रिभुवनको सूर्यके अस्तित्वसे शून्य प्रमाणित करता है, वैसे ही जो निर्लज्जताके साथ संसारको ईश्वरहीन कहते हैं, वे चाहे स्वदेशी हों या विदेशी, ईश्वरवादी यथाथर्वणा पण्डितोंको उन बेचाराँपर दया करनी चाहिये।

भगवान्

स 'ईश्वर'क'में ईश्वरके सम्बन्धमें अनेक ऐसे-ऐसे पूज्यचरण सन्तों, महात्माओं, विद्वानों और गुरुजनोंके लेख प्रकाशित हो रहे हैं कि जिनकी पवित्र चरण-धूलिको मन्त्रकपर चढ़ाकर मुझे अपना जीवन सफल करना चाहिये। इनमें कई महानुभाव तो ऐसे हैं, जिनके चरणोंमें बैठकर आजीवन उपदेश ग्रहण करना मेरे लिये परम सौभाग्यका विषय है। ऐसी अवस्थामें मैं क्या लिखूँ? मुझमें न तो योग्यता है और न कुछ लिखनेको मेरे लिये रह ही गया है। तथापि कुछ प्रेमी मित्रोंकी अभिलाषा देखकर मैं बहुत ही संक्षेपमें अपने विचार लिख रहा हूँ।

१-सच्चिदानन्दघन परमात्मा स्वयं ही अपने स्वरूपके ज्ञाता है, वे अनिर्वचनीय हैं, अनुभवगम्य हैं।

२-भगवान् ही सब कुछ हैं, भगवान् ही सब रूपोंमें भासते हैं, भगवान् ही अपनी मायाशक्तिके द्वारा सब

रूपोंमें परिणत हैं, भगवान्में ही गवक्री उत्पत्ति है, उन्हींमें सबका निवास है, उन्हींमें सब लय होत है। सृष्टि-स्थिति-प्रलयके आधार, निवास और कर्ता बड़ी हैं। वे सन् हैं, सन्-यसन् हैं, सन्-असन् दोनोंमें परे हैं। सब कुछ उनमें है, वे सब कुछमें हैं, 'सब कुछ' कुछ नहीं है, केवल वे ही हैं। ये सभी बातें अपनी-अपनी गीमामें सत्य हैं। इतनेपर भी भगवान् इन सबसे विलक्षण हैं। जितना भी परमात्माके स्वरूपका वर्णन होता है, सय शास्त्राचन्द्र-म्यायमे उनका लक्ष्य करानेके लिये ही है।

३-भगवान् सर्वोधार, सर्वव्यापी, सर्वेश्वर, सर्व-शिरोमणि, सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वरूप, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, शिव, सुन्दर, गुणातीत और कालातीत हैं। वे निर्गुण हैं, सगुण हैं, निराकार हैं, साकार हैं, दोनोंसे परे हैं, उनमें सब कुछ सम्भव है। अनवकाशमें अवकाश और अवकाशमें अवकाश कर देना उनकी लीलासाध है। वे कर्तुमकर्तु-मन्यथाकर्तु समर्थ हैं।

४-वे एकदेशीय, एककालीन न होते हुए ही अवतार लेते हैं, प्रकट होते हैं, आपको उसकी इच्छानुसार दिव्य साकार दिव्य विग्रहमें दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं। यह संबंधा सत्य है। वे परम दयालु, परम सुहृद्, परम न्यायकारी, परम पिता, स्नेहमयी माता, स्वामी, सखा सब हैं। वे पतितपावन, दीनबन्धु, अशरणशरणा, भक्तवत्सल हैं, इसीलिये अपना दिव्य साकार रूप प्रकट करते हैं। वे सम, उदासीन, पक्षपातहीन, सबके आश्रय, शुभ-प्रेरक अशुभ-बाधक, रक्षक, योगक्षेमवाहक, शरणागतवत्सल, प्रेममय और पावनकर्ता हैं।

५-उनको प्राप्त करनेके अनेक मार्ग हैं, अपने-अपने अधिकारके अनुसार मार्गोंका अनुसरण होता है। अनेकों नाम-रूपोंमें आख्यात भगवान् वास्तवमें एक ही हैं, उनको पानेके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं। जैसे भगवान्की एकतामें कभी द्वैत नहीं हो सकता, ऐसे ही सभी मार्गोंकी कभी एकता नहीं हो सकती। लक्ष्य स्थान एक है, परन्तु वहाँ पहुँचनेके पथ सदा ही अलग-अलग रहेंगे।

६-अपने-अपने पथपर चलकर सबको भगवान्की ओर आगे बढ़ना चाहिये। मनुष्य-जीवनका यही परम और चरम उद्देश्य है।

७-जो हृत्त उद्देश्य-सिद्धिमें लगे हैं वही बुद्धिमान् हैं, शेष सब लोग भूलमें हैं। हृत्त भूलका परिणाम महान् दुःखदायी होगा।

८-ईश्वरके न होनेकी बात करना और सुनना वस्तुतः महापाप है। इस महापापसे सबको सदा बड़ी सावधानी-के साथ बचना चाहिये।

९-‘ईश्वर है’ यह विश्वास दृढ़ और पूर्ण होनेपर सारे दोष आप ही मिट जायेंगे और सद्गुरुके लिये परम शान्ति प्राप्त हो जायगी। ईश्वर-कृपापर भरोसा करनेसे ही ईश्वरमें विश्वास होगा।

१०-इसके लिये सन्त-महार्माओं और शास्त्रोंकी वाणीका विश्वासपूर्वक श्रवण, मनन करना चाहिये तथा शरणागत होकर भगवान्में आर्त प्रार्थना करनी चाहिये।

११-भगवान्के नामका जप प्रेमसहित सदा करते रहना चाहिये। जीवन बीता जा रहा है। यह व्यर्थ चला जायगा तो फिर पछुतावेका पार नहीं रहेगा।

विनीत—हनुमानप्रसाद पोद्दार



स० श्रीचन्द्रजी और बा० जहाँगीर

(प्रेषक—आसन्तप्रसादजी, साधुबेला)

बादशाह-हिन्दू कहते हैं कि ‘ईश्वर साकार है’ फिर वह दिखलायी क्यों नहीं पड़ता ?

सद्गुरु-निराकार ईश्वरने ही साकार जगत्का रूप धारण किया है, यह सारा जगत् ईश्वररूप है। अस्ति, भास्ति, प्रिय, नाम और रूप इन पाँच वस्तुओंसे यह जगत् बना है। इनमें अस्ति-सत्, भास्ति-चित् और प्रिय-आनन्द ये तीन ब्रह्म-ईश्वर हैं, और नाम, रूप जगत् है, ये दोनों नाश होनेवाले हैं, इसीलिये जगत् नाशवान् कहलाता है, पर सत्, चित्, आनन्दरूपसे ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है, अतः सर्वव्यापक है।

बादशाह-आपके हिन्दू-मतसे खास-खास मन्दिरोंमें ईश्वरको विराजमान समझकर मूर्ति-पूजा की जाती है, तब फिर ईश्वर सर्वव्यापक कैसे हुआ ?

सद्गुरु-सांसारिक व्यवहारमें लगे हुए जीवोंको ईश्वरकी सर्वव्यापकता समझाने एवं उनके चित्तको एकाग्र करनेके लिये ही मूर्ति-पूजा है। यह पत्थर या धातुकी पूजा नहीं है, पर पत्थरमें व्यापक ईश्वरकी पूजा है, पत्थरका नाम लेकर पूजा नहीं की जाती, ईश्वरका नाम लेकर की जाती है।

संसारके प्रत्येक मत-मतान्तरवाले अपने-अपने खास ढंगसे पूजा करते हैं, इसका क्या मतलब है ? यही कि, उक्त मतवाले परमात्माकी प्राप्तिका वही मार्ग समझते हैं जो उनके आचार्योंने बतलाया है। हमारे हिन्दू-धर्ममें तो यहाँतक कहा है कि—‘जले विष्णुः, स्थले विष्णुः’ सब जगह ईश्वरको व्यापक समझो, इन मूर्तियोंमें भी वही ईश्वर है, उसी सर्वव्यापी ईश्वरकी पूजा करो। इस मूर्ति-पूजामें तो ईश्वरकी सर्वव्यापकता ही सिद्ध होती है, यह तो हृदय शुद्ध करनेका एक मार्ग है, क्योंकि पवित्र हृदय होनेपर ही ज्ञान प्राप्त होता है।

ईश्वर सर्वव्यापक है, पर उनको देखनेके लिये दिव्य नेत्रोंकी आवश्यकता पड़ती है। जिसप्रकार वृद्धमें घी दिखलायी नहीं पड़ता, काष्ठमें अग्नि दृष्टिगोचर नहीं होती, पर दृष्टिको मन्थन करनेसे घी और काष्ठको रगड़नेसे अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार शुद्ध बुद्धिमें सद्गुरु एवं सरसंग-द्वारा श्रवणकर, मूर्ति-पूजा, भक्ति, योग आदि साधनोंमें निर्मल अन्तःकरण होनेपर ईश्वरज्ञान होता है। इसीसे जीवका कल्याण होता है।

क्षमा-याचना



स वर्ष कल्याण और सर्व-कल्याणधार श्रीभगवान् के प्रेमी, काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर महोदय ने बातों-ही-बातों में कहा कि 'कल्याण में ईश्वरवाद की मित्रिके सम्बन्ध में कुछ चर्चा होनी चाहिये। इस समय देश में कई कारणों से अनीश्वरवाद की ओर लोगों का कुछ झुकाव हो रहा है, ऐसी अवस्था में ईश्वरवाद के समर्थन में कल्याण में कुछ लेखों का प्रकाशित होना अति आवश्यक है।' उस समय कल्याण का 'कृष्णांक' प्रकाशित हो चुका था। इसके बाद जब अगले वर्ष के विशेषांक के सम्बन्ध में विचार होने लगा, तब प्रोफेसर महोदय के शब्दों के संस्कार हृदय में जग उठे और सर्वसम्मति से ईश्वरों के प्रकाशित करना निश्चित हो गया और तभी से—गत पौषमास में ही 'ईश्वरांक' की तैयारी आरम्भ कर दी गयी। काम बहुत बढ़ा था, हमलोग अपनी शक्त की अपेक्षा को खूब जानते थे, इससे बीच-बीच में साहस में कमी होना स्वाभाविक था, परन्तु ईश्वर की अपार कृपा के भरोसे काम चलने लगा। देश-विदेश के सम्मान्य सन्तों और विद्वानों से लेखों के लिये प्रार्थना की गयी और अति आनन्द की बात है कि हमारी प्रार्थना का बड़ा ही आशातीत उत्तर मिला। ईश्वरांक के लिये हूतने लेख आये कि परिशिष्टांक सहित ६०० से अधिक पृष्ठ की बहुत ठोस सामग्री दी जाने पर भी संख्या के हिसाब से दो तिहाई से अधिक लेख रह गये। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि अभी भारतवर्ष में ईश्वर पर जितना विश्वास है, उसको देखते अविश्वास का प्रचार करने वालों की संख्या आटे में नमक-जितनी भी नहीं है।

यह सत्य है कि न तो ईश्वर का यथार्थ स्वरूप ही शब्दों में बतलाया जा सकता है और न प्रमाणों के बल पर किसी के हृदय में ईश्वर का विश्वास ही कराया जा सकता है। ईश्वर-विश्वास तो ईश्वर-कृपा से ही होता है। फिर हम-लोगों में तो ऐसी कोई योग्यता ही नहीं है जो ईश्वर के सम्बन्ध में कुछ भी कह सकें। हम जब अपनी ओर देखते हैं तो हमें मुक्तकण्ठ से यह सत्य स्वीकार करना पड़ता है कि हमारी शक्ति, हमारी योग्यता और हमारी आकांक्षा का फल यह 'ईश्वरांक' नहीं है। भगवान् ने कृपा करके इसी बहाने इस पवित्र चर्चा में जीवन का कुछ अंश बिताने का

सुअवसर दे दिया; और भगवत्प्रेरणा से सन्त-महार्मा विद्वान् और प्रेमी महानुभावों ने लेख लिखकर, चतुर चित्रकारों ने चित्र बनाकर तथा अन्यान्य प्रेमी महानुभावों ने विविध प्रकार से सहायता कर हमें इस योग्य बना दिया जिससे हम अप्रशक्ति और अप्रमत्तिके व्यक्ति ईश्वर के नाम पर यह ग्रन्थ आपलोगों के सामने उपस्थित कर सके।

जिन महानुभावों से हमें इस कार्य में सहायता प्राप्त हुई है उनके नामों की पूरी सूची तो बहुत बड़ी है, हम उन सभी सज्जनों के हृदय में कृतज्ञ हैं, परन्तु जिन महानुभावों ने सत्परायण देकर, लेखकों के नाम-पते बतला कर, लेखकों से अनुरोध कर, अन्य भाषाओं के लेखों का अनुवाद कर, चित्र प्रदान कर, सामग्री-संग्रह में सहयोग देकर अथवा अन्य विविध प्रकार से हमारी सहायता की है, उनमें मुख्यतया निम्नलिखित सज्जनों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

पं० अजीवनशंकरजी याज्ञिक एम० ए०, पं० श्री-चिम्बनलालजी गोस्वामी एम० ए०, पं० श्रीगंगाप्रसादजी मेहता एम० ए०, पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज एम० ए०, पं० श्रीमदनमोहनजी शास्त्री, आचार्य श्रीक्षितीन्द्रनाथ ठाकुर, श्रीरघुवर मिट्टूलाल एम० ए०, महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरधरजी शर्मा, पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गद्रे, पं० श्रीरामसेवकजी त्रिपाठी, पं० श्रीनन्ददुलारेजी वाजपेयी, पं० श्रीरामदयालजी मजूमदार एम० ए०, श्रीराम-चन्द्र कृष्ण कामत, महाशय श्रीकाशीनाथजी, श्रीनारायण-दास के० गान्धी सत्याग्रह-आश्रम, श्रीरघुनन्दनप्रसाद-सिंहजी, श्रीसदानन्दजी, श्रीतारापुरवाला, श्रीफिरोज सी० दावर, श्रीगुरादित्तजी लक्ष्मा, पं० श्रीविष्णु वापट शास्त्री, श्री लिली एफ़न, व्यवस्थापक गीता-पाठशाला बम्बई, श्रीलक्ष्मीरामजी चूबीवाला, श्रीरामजीमल बाबूलाल, पं० श्रीलक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर बी० ए०, श्री आर० एस० नारायण स्वामी, श्रीरामरत्नजी गुरुकुल कांगड़ी, पं० श्रीकाशीनाथ नारायणजी त्रिवेदी बी० ए०, सम्पादक डान Dawn, सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार, पं० श्रीगणेशदत्तजी शास्त्री विद्यानिधि, सोहनलालजी गोयलीय आदि आदि।

इसके अतिरिक्त हम अपने परम प्रिय श्रीवासुदेवशरण-जी अग्रवाल, एम० ए० महोदय के बहुत ही ऋणी हैं, जिन्होंने

आरम्भसे अन्ततक विविध प्रकारकी सहायता देकर इस अंकको सर्वांगसुन्दर बनानेमें सबे हृदयसे अपनी शक्तिका पूरा प्रयोग किया है। यद्यपि खास पदपर प्रतिष्ठित होनेके कारण वे इस अंकके सम्पादकरूपमें पाठकोंके सामने नहीं आ सके, तथापि इस अङ्कमें उनका बहुत कुछ प्रयत्न है, यह बात तो निर्विवाद ही है।

ईश्वरांकमें प्रकाशित सभी मत न तो कल्याण-सम्पादकके हैं और न कल्याणके ही हैं। यह बात पाठक ध्यानमें रखें। अस्तु।

ईश्वरांकके लिये हिन्दीके अतिरिक्त संस्कृत, मराठी, गुजराती, बंगाली, उर्दू, अंगरेजी, फ्रेंच, गुरुमुखीमें अनेकों लेख आये थे, जिनका अनुवाद कराया गया। इस बारके लेखकोंमें युक्तप्रान्त, बंगाल, बिहार, उड़ीसा, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्णाटक, मद्रास, पंजाब, राजपूताना आदि विभिन्न प्रान्तीय भारतीय विद्वानोंके अतिरिक्त इंग्लैण्ड, अमेरिका, रूस आदि देशोंके विद्वान् भी हैं। इनमें सब सम्प्रदायोंके हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिख, मुसलमान, पारसी, ईसाई आदि सभी हैं। इससे सबकी ईश्वरप्रियताका पता लगता है।

हम अपने कृपालु लेखकों और कवियोंके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए विविध त्रुटियोंके लिये उनसे कर-बद्ध क्षमा-याचना करते हैं। लेखोंके बहुत अधिक आ जानेके कारण अनेक स्वीकृत लेख प्रेसमें देकर इच्छा न रहनेपर भी वापस लेने पड़े हैं। स्थानाभाव और अन्यान्य कारणोंसे काट-छाँट भी की गयी है। कई लेख अधूरे छपे हैं, तथा कुछका केवल अंशमात्र ही छपा है। इतना बड़ा अंक कर देनेपर भी सब लेख नहीं दिये जा सके, सब मिलाकर ४८६ कविता और लेख आये हैं, जिनमें केवल

१२६ ही छप सके हैं। लेख न छप सकनेके अपराधके लिये कृपालु लेखक महोदय कृपाकर क्षमा करें।

इस अंकके लिये जितने विषय सोचे गये थे, उनमेंसे बहुत-से रह गये हैं। सरलता छानेकी चेष्टा करनेपर भी विषयकी गम्भीरतासे ईश्वरांक कुछ गम्भीर हो गया है। एक पूज्य महानुभावने इसके कुछ लेखोंको सुनकर कहा कि यह तो दर्शनांक है। अस्तु, जैसा कुछ है, आपके सामने है, अच्छे-बुरेका निर्णय आप ही लोग करें। हमलोग तो आप गुरुजनोंकी आज्ञाके बाहक हैं और उसमें सदा त्रुटि हो जानेकी ही सम्भावना है। इस अंकके सम्पादन करनेमें हमने जो अनधिकार चेष्टा बन पड़ी है, गुरुजन, महात्मा, सन्त, ज्ञानी, भगवत्प्रेमी, ईश्वरपरायण, ईश्वर-मर्मज्ञ सुधी जन और पूज्य विद्वज्जन तथा अनुभवी सम्पादकगण उस छटताके लिये कृपया क्षमा करें।

जो मनसा और बचसा भी अश्लिष्य और अगम्य है, उसे शब्दोंकी सीमामें व्यक्त करनेका हमारा यह प्रयत्न तत्त्ववस्तु या परमार्थकी दृष्टिसे केवल मोह-जनित ही है।

अविद्याको आधार बनाये बिना इसप्रकारका आयोजन हो ही नहीं सकता। पर आत्मसन्तोष इतना ही है कि अविद्याजनित प्रयास भी सृष्ट्युत्पत्ति पार उतरनेका एक साधन बनाया जा सकता है। विद्या और अविद्या दोनों ही नारायणी सत्ता या मायाके भेद हैं। उस मायासे छूटनेके लिये हमारी प्रार्थना यही है—

असतो मा सद्गमय

तमसो मा ज्योतिर्गमय

मृत्योर्मा अमृतं गमय ॥

सम्पादक



स्वीकृत

(१)

घरसे यह सोच उठी थी
उपहार उन्हें मैं दूँगी
करके प्रसन्न मन उनका
उनके शुभ आशिष लूँगी

(२)

पर जब उनकी वह प्रतिमा
नयनोंसे देखी जाकर
तब छिपा लिया अञ्जलमें
उपहार-हार सत्कार

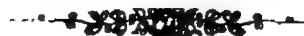
(३)

मेले कपड़ोंके भीतर
तण्डुल जिसने पहचाने
वह हार छिपाया मेरा
रहता कब तक अनजाने

(४)

मैं लजित मूक खड़ी थी
प्रभुने धीमे भस्काया
फिर खड़े सामने मेरे
हांकर निज शीश धुकाया

—‘बचन’



ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

परिशिष्टांक

प्रश्नोत्तरी



नमोस्त्वनन्ताय सहस्रमूर्तये
सहस्रपादाक्षिञ्जिरोरुवाहवे ।
सहस्रनाम्ने पुरुषाय शाश्वते
सहस्रकोटियुगधारिणे नमः ॥

वर्ष ७ }
अंक २ }

कल्याण कार्यालय,
गोरखपुर

{ भाद्रपद
{ १९८९

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



स्त्री-शूद्र-विड्-द्विज-नृपा ह्यधमास्ततोऽन्ये याताः समानपदवीं परमस्य पुंसः ।
कल्याणयानमधिरुह्य बलंन यस्याश्वतः कथं शरणमपि न भक्तिमनाम् ॥

वर्ष ७

गोरखपुर, भाद्रपद १९८९ सितम्बर १९३२

मंख्या २
पूर्ण संख्या ७४

कल्याण-प्रार्थना

ब्रह्मा दक्षः कुबेरा यमवरुणमरुदवह्निचन्द्रेन्द्ररुद्राः

शैला नद्यः समुद्रा ग्रहगणमनुजा दैत्यगन्धर्वनागाः ।

द्वीपा नक्षत्रतारा रविवसुमनयो ज्योतिर्भूशिनो च

संलीना यस्य सर्वे वपुषि स भगवान् पातु नो विश्वरूपः ॥

प्रार्थना

(१)

प्यारे ! तू ही हमसे अपनी कुछ प्रार्थना कराव तो कर सकते हैं, नहीं तो नहीं । तुझे रिझानेहारे हम होते कौन हैं ? न वह लगभगसे लहराता हुआ मस्त मन है, न वह पीरको भूमती हुई रस-अरी वाणी है और न प्रेम न सेवामें रंगे हुए हमारे वे स्थायिक कर्म ही हैं । अब कैसे करें तेरी प्रार्थना ! सुनते हैं, प्रार्थनासे ही तो तेरी रीझका रास्ता हमें मिलेगा, पर यहाँ तो उम कूबेकी तरफ जाने-को मन ही नहीं होता ।

नाथ ! हमारे छठकाते मनको यदि तू अपनी सुम-क्यानकी रसरसीसे बाँध ले, तब कहाँ उसपर तेरी मानिनी रीझके मोहन मन्त्र अंकित हो सकेंगे ।

हमारी विषय-विहारिणी बाणीको यदि तू अपने अर्द्ध-रसमें भिगो दे, तभी वह प्रेम-पीरमें मतवाली होकर तेरे मधुर नामकी रट लगा सकेगी । और, हमारे कठोरतम क्रूर कर्मोंको यदि तू कल्याके गहरे रंगमें बुको दे, तभी वे तेरी परम प्रीतिको आच्छिन्न दे सकेंगे ।

अभी वह सब कहाँ है ! तेरे प्यार-अरे संकेतोंका अर्थ लगाना तो बूर रहा, हमारी रुझी हुई नजर भी उन-पर नहीं जाती । हम अन्धे हैं; आँखें हैं, पर अन्धे हैं । हम तेरे प्रकाशकी भीख माँगते हैं । सुम्न दे प्यारे, अपनी रीझकी वह राह, वह गोकुलगाँवकी गली, फिर करा ले हमसे अपनी मन-चाही प्रार्थना, जितनी भी और जैसी भी तू कराना चाहे ।

हाँ, हम आज तेरे प्रेम-प्रकाशकी भीख माँगते हैं—उसे माँगते हैं हम अन्धी आँखोंसे, झूठे-भटके दिलसे, बीसलायी हुई बाणीसे और अपने काले-कुटिल कर्मोंसे । अब हमारे अगोखे स्वामी ! हम मिथारिबोंकी इस तड़पती हुई माँगको ही यदि तू, अपना मन समझानेके लिये, प्रार्थनाके रूपमें ले रहा है, तो अच्छी बात है, मुझमें ही हम तेरे प्रार्थियोंमें आ गये । पर तेरी सबसे बड़ी कृपा तो यही होगी, नाथ, कि हम प्रार्थना तो करते जायँ, पर मस्त रहा करें इसी बेल्बरीमें, कि तेरी प्यारी रीझ हमारी गिरफ्तसे अब भी कौनों दूर है । अरे हाँ, एक तो बैसे ही तब आ गये हैं अपनी मनुष्यता खुरीसे, अब वह और गलेसे न छिप्टे, बस यही तो तुझसे चाहते हैं ।

हममें जो कुछ भी 'हमारा' हो, उसे तू अपनी रीझके झीने तारोंमें उलझा ले, बस, इसीमें हमारे बेकार जीवनकी सारी उलझन सुलझ जायगी । तेरी खुशी, तेरी मज़ी, इसी अर्जको तू प्रार्थना मानता है, तो मानता बा, हमारा क्या करा !

प्यारे, प्रियतम, प्रभो ! कब सुझायगा तू अपने प्रेम-प्रकाशका वह प्यारा रास्ता, कि जिसके सहारे मैं तेरे पैरों-को अन्नरागमाके ओठोंमें खूब सकूँगा ।

—विद्योगी हरि

(२)

इन्दुं कैरविणीव कोकपटरीराज्योर्जितान्वल्लभं
मेघं चातकमण्डलीव मनुष्यश्रेणीव पुष्पजम् ।
मरुन्द पिकमुन्दरीव रमणीवात्मेश्वरं प्रेतिनं
चैतावृत्तिरियं सदा प्रियवर ! त्वां द्रष्टुमुत्कण्ठते ॥

जिसप्रकार कुमोदिनी चन्द्रमाके लिये, चक्रवा-चकवी सूर्यके लिये, चातक-मण्डली मेघके लिये, अमर-गाव पुष्पोंके लिये, कोयल आमाके लिये तथा सुन्दरी सती अपने प्रवासी पतिके लिये उत्कण्ठित रहती हैं उसी प्रकार हे प्रिय परमात्मन् ! तुम्हारे दर्शनके लिये हमारी चित्तवृत्ति उत्कण्ठित हो रही है ।

नो मुक्यैः स्फुटयामि नाथ विभवैः कार्यं न सांसारिकैः
किन्तु तामोन्मथय करी पुनः पुनरिदं त्वामीशमन्त्रधनम् ।
स्वप्ने जागरणे स्थितौ विचलने दुःखे मुक्तं मन्दिरं
कातरं निश्चिन्तासे न सततं भक्तिर्ममास्तु त्वयि ॥

हे प्रभो ! मैं न मोहकी हृष्टा करता हूँ और न सांसारिक भोगोंकी, किन्तु करबद होकर हे ईश ! मैं बार-बार तुझ स्वामीसे यही माँगता हूँ कि स्वप्नमें-जागृतियोंमें, स्थितिमें-गतिमें, दुःखमें-सुखमें, घरमें-बनमें, राज्ञिमें-विनमें निरन्तर आपमें ही मेरी भक्ति रहे ।

रात्रि कृष्ण रमे विष्णो सीते राम शिवे शिव ।

बासि सासि नमो निरयं योऽसि सोऽसि नमोऽस्तु ते ॥

आप चाहे रात्रि हों चाहे कृष्ण, चाहे लक्ष्मी हों चाहे विष्णु, चाहे सीता हों चाहे राम, और चाहे पार्वती हों चाहे शिव, चाहे जिस स्त्रीरूप या पुरुषरूपमें आप हों आप (ईश्वर) को निरय नमस्कार है, नमस्कार है ।

—संग्रह ० रामनरसिंह हरकालका

प्रश्नावली

- १-ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?
- २-ईश्वरको न माननेमें कौन-कौन-सी हानियाँ हैं ?
- ३-ईश्वरके होनेमें कौन-कौन-से प्रबल प्रमाण हैं ?
- ४-अपने जीवनकी ऐसी सच्ची घटनाएँ लिखिये,
जिनसे ईश्वरकी सत्ता और दयामें आपका
विश्वास बहुत बढ़ा हो ?

उपर्युक्त चार प्रश्न कुछ चुने हुए सन्त-महात्मा और विद्वान् पुरुषोंकी सेवामें पत्रद्वारा भेजे गये थे, और कुछ ऐसे विरक्त महात्माओंकी सेवामें, जिनमेंसे अधिकांश जन-कोलाहल-शून्य तपोभूमियोंमें निवास करते हैं और लिखने-लिखानेका न तो सामान रखते हैं तथा न लिखना चाहते ही हैं, प्रश्नावली देकर श्रीप्यारेलालजी डागा और श्रीगम्भीरचन्दजी दुजारीको भेजा गया था। बड़े ही आनन्दकी बात है कि बहुतेरे महानुभावोंने कृपा करके प्रश्नोंका उत्तर दिया है। चतुर्थ प्रश्नका उत्तर देनेमें सन्तोंने बहुत ही संकोच किया है। अपने जीवनकी शुद्ध आध्यात्मिक घटनाएँ बतलानेके लिये तो प्रायः ही अस्वीकार कर दिया। बात भी उचित ही है, सर्वसाधारणके सामने आध्यात्मिक अनुभवकी बातें प्रकट भी नहीं करनी चाहिये। इसीलिये जिन महानुभावोंने कृपा करके कुछ बातें बतलायी थीं, उनको भी पूरा-पूरा प्रकाशित करना उचित नहीं समझा गया, इससे वे छोड़ दी गयी हैं।

पहले प्रश्नका कुछ महानुभावोंने यह समझकर उत्तर दिया है कि 'ईश्वरको माननेमें क्या हेतु है' और कुछने यह समझकर कि 'ईश्वरको माननेमें क्या लाभ है।' कुछने चारों प्रश्नोंका एक ही साथ उत्तर दिया है। जिन प्रेमी सज्जनोंने सन्तोंसे उत्तर लिखवानेमें सहायता की है उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं।

महात्मा गांधीजीसे भी इसी आशयके कुछ प्रश्न पूछे गये थे। उन्होंने यरवदासे उत्तर भी दिया था, परन्तु निम्नलिखित शब्दोंमें छापनेको आज्ञा नहीं दी, इससे उन्हें नहीं छपा गया। महात्माजीके सत्यकी महिमाको बढ़ानेवाले शब्द ये हैं—

'छापना नहीं'.....बात यह है सरकारी लोग मेरे खतोंका या विचारोंका प्रकट होना चाहते नहीं हैं, उनकी दृष्टि मैं समझ सकता हूँ और उसके अनुकूल यथाशक्ति चलता हूँ.....यह सब व्यवहार विश्वाससे चलता है। सत्यको ही परम ईश्वर माननेवाला मैं इस विश्वासका घात करना नहीं चाहता हूँ। अस्तु।

अब उपर्युक्त प्रश्नोंकी उत्तरावली प्रकाशित की जाती है, पाठक-पाठिकागण इससे यथेष्ट लाभ उठावेंगे। ऐसी आशा है। —सम्पादक

उत्तरावली



(१) स्वामी श्रीउड़ियास्वामीजी महाराज

१, २, ३—मनुष्य किसी नवीन वस्तुको देखकर उसके जाननेकी इच्छा करता है, जिसप्रकार बच्चा चन्द्रमाको देखकर अपनी माते उसका नाम पूछता है, फिर उसे एकबनेकी इच्छा करता है, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्यमें तीन इच्छाएँ होती हैं—१ वस्तुको देखनेकी, २ उसको जाननेकी और ३ उसे प्राप्त करनेकी ।

उसका (जीवका) ज्ञान अपूर्ण है, इस बातको वह सदा अनुभव करता है और उसे पूर्ण करनेकी चेष्टा करता रहता है । वास्तवमें हम अल्प-ज्ञान, अल्प-शक्ति और अल्प-क्रिया हैं । इस अपूर्णताको पूर्ण करनेके लिये हमें ईश्वरको अवश्य मानना चाहिये; हमारा अल्प-ज्ञान, अल्प-शक्ति तथा अल्प-क्रिया ईश्वरको माने बिना कभी पूर्ण हो ही नहीं सकती ।

ईश्वरकी सत्ताको न माननेसे हम सदैव अल्प-ज्ञानी, अल्प-शक्ति तथा अल्प-वृष्टा ही रहेंगे; ज्ञानी कभी नहीं हो सकेंगे । क्योंकि ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार न करनेसे स्वाभाविक ही हमारी प्रकृति संसारकी ओर होगी; फलतः हम जब्बारी और जब्बमति हो जायेंगे । जीवका स्वभाव प्रेम करना है—ईश्वरको न माननेसे वह विषयरूप संसारसे ही प्रेम करेगा ।

अपने स्वाभाविक अल्प-ज्ञान, अल्प-क्रिया तथा अल्प-शक्तिका अनुभव होते रहनेसे स्वयमेव ही यह सिद्ध हो जाता है कि कोई एक ऐसा महान् ऊर्ध्व है, जो पूर्व-ज्ञान, पूर्ण-क्रिया और पूर्ण-शक्ति है । हमारी अपनी अपूर्णता ही किसीकी पूर्णता एवं महत्ताको सिद्ध करती है ।

हम जानते हैं कि हम पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि आदि-को केवल अपने व्यवहारमें ही का सकते हैं, उनको मिकार कोई नवीन वस्तु भी बना सकते हैं, परन्तु हम उन मूल-तत्त्वोंका निर्माण कभी नहीं कर सकते ।

हमारी यह अशक्ति ही किसी महान् शक्तिको सिद्ध करती है । जो जिस वस्तुका निर्माण-कर्ता होता है, वही

उसका वृष्टा भी होता है । हम इन पञ्च महाभूतोंके और इस अक्षिक ब्रह्माण्डके न अष्टा हैं, न वृष्टा हैं और न ज्ञाता ही हैं । हमारी यह अल्प-वृष्टि तथा अनभिज्ञता ही किसी सर्ववृष्टा तथा सर्वज्ञके अस्तित्वको सिद्ध करती है ।

जो लोग परमात्माके अस्तित्वको स्वीकार नहीं करते, उनको वह तो अवश्य मानना पड़ता है कि पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन पञ्च महाभूतोंका तथा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदिका कोई कर्ता अवश्य है, क्योंकि जब वस्तु अपने आप 'निर्मित' नहीं हो सकती, वो वस्तुओंके मिलनेसे तीसरी अवश्य बन जाती है, पर उसमें भी मिकानेवाला कोई कारण होता है । मिलाई जानेवाली मूल वस्तुओंका कर्ता होना तो अवश्यम्भावी है, परन्तु उसे लोग न तो स्पष्ट देख सकते हैं, न सूक्ष्मबुद्धिद्वारा उसका अनुभव ही कर सकते हैं, इसलिये किकर्तव्यविमूढ़ होकर बिना समझे-बुझे अनायास ही यह कह बैठते हैं कि सब कुछ अपने-आप ही बन गया । यद्यपि वे यह अवश्य अनुभव करते हैं कि उनका ऐसा कहना नितान्त ही निराधार, निस्सार एवं निर्मूल है ।

निज-निर्मित वस्तुओंको हम बना सकते हैं और बिगाड़ भी सकते हैं परन्तु ईश्वर-निर्मित वस्तुओंको न हम बना सकते हैं और न नष्ट कर सकते हैं ।

हम जलसे बर्फ और मिट्टीसे ईंट बना सकते हैं और उन्हें बिगाड़ भी सकते हैं परन्तु जल तथा मिट्टीको न हम निर्माण कर सकते हैं, न हम उन्हें नष्ट कर सकते हैं । जब हम अपने विचारसे उन्हें नष्ट हुआ समझते हैं, तब भी वे वास्तवमें नष्ट नहीं होते, केवल उनका रूपान्तर हो जाता है । हमारी यह असमर्थता ही उस सर्वसमर्थके अस्तित्वको सिद्ध करती है । हमारी सामर्थ्य और शक्तिका हास प्रतिपद्य होता रहता है, ईश्वरकी शक्ति कभी न तो बटती है, न नष्ट होती है, ईश्वर सदा-सर्वदा एकरस रहता है ।

हमारी असमर्थता और कथुता इसीसे प्रकट है कि विरन्तर जनेकानेक साधना करनेपर ही हमें सिद्धिप्राप्त

ही सकती है और वह भी बहुत ही परिमित। जनन्य सिद्धि की प्राप्ति हम नहीं कर सकते, हम सृष्टि कभी नहीं रच सकते, जीव सर्वव्यापक कभी नहीं हो सकता, पूर्व बिंदुको हम नहीं जान सकते। कोई कितना ही कुशल क्यों न हो, दूसरा उसमें दोष निकाल सकता है, ईश्वरके कार्योंमें कोई दोष नहीं निकाल सकता।

यों तो हम प्रतिदिन ही आपत्-अवस्थामें उत्पत्ति और सुवृत्ति-अवस्थामें प्रलय किया करते हैं परन्तु सर्व-उत्पत्ति और सर्व-प्रलय हम नहीं कर सकते।

हम आसके वृक्षको लगाते हैं, उसे नष्ट भी कर सकते हैं परन्तु बीजको नष्ट नहीं कर सकते। अतएव यह कि मित्र-निर्मित वस्तुओंको हम बना-बिगाड़ सकते हैं, ईश्वर-निर्मित वस्तुओंको नहीं।

यह अनुमान सर्वथा निमूलक है कि प्रकृति स्वयं ही सृजनका कार्य सम्पादन कर लेती है। क्योंकि प्रकृति क्रियाहीन और जड़ है, वह स्वयं कोई कार्य नहीं कर सकती। जिस प्रकार हमारी क्रिया-शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, हमारे अधिकारमें है। इसी प्रकार तत्त्वोंकी क्रिया-शक्ति भी उनके (प्रेरक) सञ्चालक प्रभुके हाथमें है। हममें दो शक्तियाँ हैं, १ आत्मिक (ईश्वरीय) और २ प्राकृतिक (मायिक)। हमारी इस दूसरी शक्तिका सञ्चालन पहली शक्तिके द्वारा ही होता है।

४—(क) हमारे घरमें देवीकी उपासना अधिक थी, मैंने भी देवीका अनुष्ठान किया था, वह इसलिये कि संसार बहुत दुखी है, किसी प्रकार उसका दुःख दूर किया जा सके तो उत्तम है। मेरे मनमें यह कामना हुई कि मुझे यदि त्रैलोक्यकी हाँडीका-सा एक पात्र मिल जाय तो अनायास ही लोगोंका कुछ उपकार हो सकता है। इस अनुष्ठानकी पूर्तिके लिये मैं कामरूप जाकर कामाक्षा-देवीकी उपासना करने लगा। कुछ दिनों पश्चात् कामरूपके निकटवर्ती एक महन्त ब्रह्मचारीका शिष्य हो गया। ब्रह्मचारीजीकी श्रुत्युक्त पश्चात् उनके स्थानपर लोगोंने मुझे महन्त बना दिया। महन्त होनेकी अवस्थामें भी मेरा अनुष्ठान लगातार चलता रहा, उस समय वहाँ बहुत लोग आया करते और रोज अन्नभोग तीन-चार सौ रुपये आते। मैं उन रूप्योंको स्पर्श न करता। दूसरे ही लोग उन्हें साधुजीके अवशारे आदिमें लब्ध करते

रहते। उस समय मैं किसीके लिये जो कुछ कह देता, वही सत्य हो जाता। किसीको दुराचारी-पारी कहता तो वह स्वयं स्वीकार करता, मुझमें यह दोष है। यह दुरा पत्नीस विनतक रही, फिर मैंने सोचा कि इस तरह रहना ठीक नहीं। यदि काल रुपये भी मिल गये तो एक गाँवका कष्ट दूर होगा। तत्पश्चात् यह बात ध्यानमें आयी कि यदि त्रैलोक्यकी तरहका मुझे कोई पात्र मिल जाय तो भी उससे क्या होगा? यह सब सोचकर मैं एक दिन सुपकेसे सौचके बहाने चल दिया और मैंने आठ कोसपर पहुँचकर ही दम लिया। इसके पश्चात् जंगलोंमें घूमता रहा। दुर्गाका उपासक था ही, अब मुझे श्रीकृष्ण-प्रेम भी होने लगा।

एक रातकी बात है; सूर्य अस्त हो गया था, चन्द्रमाकी चाँदनी छिटक रही थी, जंगलमें नहरके किनारे एक सुन्दर बालक और एक बालिका मेरे समीप आकर कहने लगे, 'कहो तो बाबाजी, हम रोटी लायें,' मैंने कहा 'इतनी रात तुम कहाँसे रोटी लाओगे?' उन्होंने कहा 'हमारा गाँव पास ही है।' वे घूम-घूमकर थोड़ी ही देरमें रोटी ले आये। मैंने रोटी खायी और वहीं सो रहा। प्रातःकाल बहुत सबेरे मेरे उठनेके पूर्व ही वे दोनों फिर आये और बोले, 'बाबा! मट्ठा पीओगे?' मैंने कहा 'तुम इतने सबेरे फिर कहाँसे आ गये और इस समय मट्ठा कहाँसे लाओगे?' उन्होंने कहा 'हमारा गाँव निकट ही तो है।' वे इधर-उधर घूमकर तत्काक ही मट्ठा ले आये और मैंने उसे पी लिया। उनके चले जानेपर मैंने खोज की तो मालूम हुआ कि वहाँ दूर-दूरतक कहीं गाँवका नामनिशान भी नहीं, जंगल-ही-जंगल है।

(ख) मेरे एक मित्र ब्रह्मचारीजी भगवान् श्रीकृष्णके उपासक थे। वे किष्किन्धामें किसी महारामा सिद्ध पुरुषको जानते थे और उनसे शिक्षा लेने जा रहे थे। मार्गमें उन्हें बड़ी व्यास लगी, उनका कष्ट सूखा जाता था; कोटा, डोर उनके पास थे, वे एक कुएँपर गये, तब मालूम हुआ कि कुआँ बहुत गहरा है। कोटा फाँसनेपर जलका पता नहीं। जल बहुत नीचा था, निराश होकर वे वहीं बैठ गये; अत्यधिक व्यासके कारण प्राण अत्यन्त छटपटाने लगे। ऐसा मालूम होता था कि अब दस-ही-पाँच मिनटोंमें प्राण निकल जायेंगे। उस समय वे 'हा कृष्ण! हा कृष्ण!' पुकारने लगे। इतनेमें ही अकायक एक बालक उनके पास आया और कहने लगा कि 'मुझे अपना खोटा-डोर दे दो,

मैं बल काजंगा।' ब्रह्मचारीजीका कौटा-बीर लेकर वह बालक उसी कुएँसे बल खींच लाया और उसने आकर उन्हें पिका दिया। तदनन्तर बालकने कहा 'तुम किस साधुके पास जाते हो वह महा पाखण्डी है।' ब्रह्मचारीजीने कहा कि 'तुम झोटे-से बालक उस साधुके पाखण्डको क्या जानते हो और तुम कहाँ रहते हो?' उसने उत्तर दिया कि 'मैं यहीं जंगलमें गाय चराया करता हूँ, मैं उस साधुको खूब जानता हूँ।' इसके बाद ब्रह्मचारीजी जब होशमें आये तो उन्हें वह बालक नहीं दीख पड़ा, कुएँपर आकर कौटा मौंसा तो माखून हुआ कि वह पहलेकी ही भाँति खूब गहरा है।

(ग) अतरीजी तहसीकमें एक कायस्थ गृहस्थ रहते थे, घरमें स्त्री, पुरुष तथा एक लड़की ये तीन प्राणी थे, पुरुष पटवारीका काम करते थे। किसी मामलेमें उन्हें सात साककी जेज हो गयी। घरमें कन्या और स्त्री रह गयीं। लड़की ब्याह-योग्य हुई, घरमें कुछ था नहीं; उसके मामाने विवाहका सारा भार अपने ऊपर लिया, विवाह पक्का हो गया। जब विवाहके तीन-चार दिन रह गये, तब किसी कारणसे मामाने साफ इन्कार कर दिया कि 'मुझसे कुछ भ्रमे नहीं हो सकेगा।' बरात आनेवाली है, ब्याहका दिन है, पर घरमें कुछ भी नहीं है। बेचारी स्त्री महान् कष्टसे पीड़िता होकर रात्रिको एक कोठरीमें जा पड़ी। पड़ोसी कायस्थोंने विचार किया कि, बरात आ रही है, यदि वह बिना सत्कार वापस कौट गयी तो हम सबकी बदनामी होगी। यह विचारकर उन लोगोंने कुछ प्रयत्न करके भट्टी खुदवानेका जमाा लगाया। सब बैठे थे, भट्टी खुद रही थी। उसी समय भट्टी खोदनेमें ही एक बड़ा निकला। लोगोंका ध्यान दूसरी ओर था, भट्टी खोदनेवाले दोनों आधुमियोंने सखाह करके बड़ा उड़ाना चाहा। उनमेंसे एक आधुमी उसे कपड़ेमें छिपाकर किसी कामके बहाने चखने लगा। भट्टी खुदनेकी जख्मी थी, लोगोंने कहा 'भाई, काम जोड़कर कहाँ जाते हो?' वह कुछ बहाना बताकर आगे बढ़ा। लोगोंको ऐसे बक उसका काम जोड़कर आना बहुत बुरा लगा। एकने उठकर उसे रोका, देखा तो कपड़ेमें कपेटा एक बड़ा है, उसे निकलवाया, तो माखून हुआ उसमें पाँच-साठ लो या कुछ कस-ज्यादा रुपये हैं, देखते ही सब लोगोंने कहा 'मगबाजूकी कुवा है, इस लड़कीके माख-से वह निकल है, तुम कहाँ ले जाते हो?' लोगोंने आकर

कन्याकी माँको कोठरीसे निकालकर उससे सारा हाथ कहा, और उसी रुपयेसे उस कन्याका विवाह सम्पन्न किया। भगवान्ने उसकी कसम-पुकार सुनी।

(घ) अलीगढ़में एक कायस्थ-घरानेके दो लड़के थे, एकको संग्रहणीकी बीमारी हो गयी। अनेकों वैद्य-डाक्टरोंका इलाज कराया गया, बरका सब जेवर नष्ट हो गया, पर कुछ लाभ नहीं हुआ। दैवयोगसे कोई महारामा वहाँ आ गये। उन्होंने उसकी हाथत देखकर कहा 'तुम्हें तो मरना-जीना एक बराबर है ही। मैं तुम्हें यह महामन्त्र बताता हूँ, इसका अलख आप करो। श्रीरामचन्द्रजीका इष्ट रक्खो।' उसने उसी समयसे महारामाजीके आदेशा-नुसार आप प्रारम्भ कर दिया। बिना किसी भी औषधिके एक मासके आपसे रोग पूर्ण शान्त हो गया। इसके बाद उसकी ऐसी स्थिति हो गयी कि श्रीराम, सीता और लक्ष्मण हर समय उसे अपने साथ रहते प्रतीत होने लगे। चकते-फिरते, नहाते-बोते, शौच आते सभी समय यही हाथ। एक दिन शौच आते समय उसने देखा कि वही मूर्ति सामने लक्ष्मी है, वह बोला 'महाराज ! शौचके समय तो मत आया करो' उसी दिनसे फिर दर्शन नहीं हुए।

(ङ) यमुना-किनारेका खेरकी तहसीलका एक जाट मेरे पास आता-जाता था, उसकी घटना है। वह हर पूर्णिमाको यमुनाजी पार करके वृन्दावन जाता और वहाँ श्रीबाले-बिहारीजीके दर्शन करता। यह नियम उसका तीस-चालीस वर्षसे था। एक समय पूर्णिमाके पहले दिन चतुर्विंशतीको उसके जवान लड़केकी मृत्यु हो गयी। एक ही लड़का था। गाँवभरमें हाहाकार मच गया, लड़केकी लाश लेकर गाँवके बहुत-से लोगोंके साथ वह यमुना-किनारे रमसान गया और उसने लड़केका दाह-संस्कार किया। इस कामसे झुट्टी पानेपर जब सब लोग चकने लगे तो वह जाट बोला 'भाई ! ओ होमा था सो हो गया, आप लोग तो सब घर जावें, मेरे कल पूर्णिमा है, मुझे श्रीबाले-बिहारीजीके दर्शन करने हैं। मैं तो अब वृन्दावन जाऊँगा।' सब लोग कहने लगे 'कैसा पागल है, जवान लड़का मरा है, लोग इसके घरपर आबेंगे और वह कहता है मुझे वृन्दावन जाना है।' कई लोगोंने उसे समझाया पर उसने नहीं माना और कहा कि 'मेरा तो बहुत दिनोंसे यह नियम है, मैं तो श्रीबालेबिहारीजीके दर्शनको तो भयस्थ जाऊँगा, चाहे कुछ भी हो।' इतना कहकर वह चक

दिया। हवा बदे बेगले चक रही थी। बर्षा भी होने लगी। साथके सब लोग तो घर चले जाये। उसने नाच-बाजेको यमुनाजी पार करनेको कहा, महाहने ऐसे जयकर पूजनमें नाच ले जानेसे साफ इन्कार कर दिया। जाटको पुत्र-शोक तो था ही, अब कल पूर्णिमाको सबेरे जियमा-नुसार श्रीबाँकेबिहारीजीके दर्शन नहीं होंगे, इस बातपर उसे बड़ा दुःख हुआ। वह शोकसे जयपात पीड़ित होकर उसी महाहकी कुटियामें जा पड़ा। उधर श्रीबाँकेबिहारीजीका पण्डा रात्रिके बारह बजेतक जाटका इन्त्यार करके अपने घर गया, क्योंकि जाट चतुर्दशीकी ही रात्रिको हुन्दावन पहुँच जाता करता था।

हजर रात्रिको जाटने देखा कि 'पण्डाजी सामने लपे हैं और प्रसाद दे रहे हैं। जाटने प्रसाद लिया, जल पिया और सो गया। सबेरे जाँस खुलनेपर जाटने अपनेको हुन्दावनमें उसी कोठरीमें पाया, जहाँ आकर वह हमेशा रात्रिको सोया करता था। तब उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा 'मैं तो यमुनाके उस पार सोया था, यहाँ कैसे आ गया' रात्रिको पण्डाजीके प्रसादकी घटना याद आयी, उसने पण्डाजीसे आकर पूछा तो, पण्डाजीने कहा कि 'जाई, मैंने तो प्रसाद नहीं दिया, हो न हो, तुम्हें भगवान् श्रीबाँकेबिहारीजीने दर्शन दिया है।' उस कोठरीमें जल और प्रसादके कण भी बिखरे हुए मिले। जाट बोला 'हाय! लाजाने बड़ा भोला दिया!' वह जाट अब मर गया है।

(च) मैं हरद्वारके कुम्भसे बापिस लौट रहा था, रास्तेमें जिला मुख्यालयनगरके एक गाँवमेंसे जाना हुआ, वहाँ एक ब्राह्मणने भिक्षा करायी। मैं वहाँ रुक गया। बहुत-से लोग वहाँ आये। उनमें एक ठाकुरसाहब भी थे—उनकी अबस्था ७०-७५ वर्षकी होगी, चेहरेपर बड़ा तेज, शरीर खूब दृढ़-पुष्ट था। वे प्रायः दिनभर जाजा लिये जप करते रहते। यों वे अपनेको आर्यसमाजी कहते। मैंने एक दिन उनसे पूछा, 'आप आर्यसमाजी हैं, फिर मालासे जप कैसे करते हैं?' उन्होंने अपने जीवनकी घटना इस-प्रकार सुनायी—

'मेरी अबस्था आठ-दस वर्षकी थी, तब मुझे श्री-स्वामी दयानन्दजीके दर्शनका सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनके ब्रह्मचर्य और सत्यताको देखकर मेरी उनपर अपार अज्ञा हो गयी। मैंने उनके ब्रह्मचर्य और सत्यका आदर्श

सामने रखकर जीवनभर इन दोनों ब्रतोंके पाठनका निश्चय किया। मैं स्वामीजीका पूर्ण अनुगामी बन गया। स्वभावतः मेरे विचारमें श्रीकृष्णके लिये यह अटल निश्चय हो गया कि कृष्ण ही भारतवर्षके पतनका कारण है। दुनियाभरके लाल-कपट, ध्वनिचार आदि जितने दोष हैं, सब उसमें थे। कृष्ण नहीं हुआ होता तो शायद भारतवर्षमें यह पाप इस रूपमें नहीं फैलता। इस भावनासे मैं कृष्णका भरपूर विरोधी हो गया। मेरा ब्रह्मचर्य और सत्यका ब्रत चालू रहा।

अनुमान २०-२२ वर्षकी उम्रमें मैं काशी चला गया, इस बीच मैं कुछ पढ़-लिख भी गया था। मैं पहलवानी करता था। काशीमें एक ठाकुरसाहबको एक ऐसे दृष्ट-पुष्ट पहलवानकी लड़ाई-झगड़ेके समयके लिये बसूरत थी। उन्होंने मुझे रख लिया। मेरे जिम्मे कुछ भी काम नहीं था। खूब कसरत करना, बादाम-ची इत्यादि चाहे जितने माल खाना, पहलवानी करना और ठाकुरसाहब जब कभी कहीं बाहर जायें तो ज़ाटी लेकर उनके साथ हो जाना। मैं नित्य प्रातः ११-४ बजे उठता। सौच-जान करके २-३ घण्टे खूब सन्ध्या-गायत्री-जप आदि करता। दिनमें प्रायः तीन बार बार खान करता। दोपहरकी और सायंकी सन्ध्या करता। मेरा जीवन खूब आचार-विचार, कर्म-कान्ठमें बीतता। इन सब बातोंके अतिरिक्त मैं रात्रिको नियमसे प्रतिदिन आर्यसमाजमें जाता और एक घण्टे व्याख्यान देता। व्याख्यानमें मेरा एकमात्र विषय रहता, कृष्ण और रामकी अपेक्ष निन्दा करना और उन्हें शक्तिभर गालियाँ देना। लिन ठाकुरसाहबके यहाँ मैं रहता था उनके एक श्रीकृष्ण भगवान्का मन्दिर था। उसके पुजारी श्रीकृष्णके बड़े भक्त थे। ठाकुरसाहबके घरमें भी ठाकुर-पूजा थी। घरके स्त्री-पुरुष बड़े-छोटे प्रायः सभी बड़े प्रेससे पूजा करते। यद्यपि मैं श्रीकृष्णका कट्टर विरोधी था परन्तु मेरे ब्रह्मचर्य और सत्यके ब्रतसे प्रसन्न होकर मन्दिरके पुजारी और ठाकुरसाहब दोनों ही मुझपर बड़ा स्नेह रखते। कभी-कभी पुजारीजी मुझसे कहते 'ठाकुरसाहब, यदि तुम कृष्णकी उपासना करो तो तुम्हारे-जैसे सच्चे आदमीको बहुत जल्दी साक्षात्कार हो जाय।' पुजारीजी तो मुझपर बड़ा अनुग्रह करके यह बातें कहते पर मैं उसके बदलेमें उनको और उनके कृष्णको अपेक्ष लोटी-खरी सुनाता। पुजारी

प्रायः यही कहते और मेरा बड़ी उत्तर होता। एक दिन पुजारीजीने जब फिर यही बात कही तो मुझे बहुत ही क्रोध आ गया। मैंने शक्तिभर कृष्ण और पुजारीको बहुत कुछ बुरा-भला कहा। यहाँतक कि उस दिनके मेरे इस कठोर कथनसे पुजारीजी व्यथित होकर रोने लगे।

उस दिन पुजारीजीको बहुत ही कष्ट हुआ। मैं उस दिन रात्रिको दस बजे वृष पीकर सदैवकी भाँति भूमिपर सो गया। पास ही तल्लपर पुजारीजी सो रहे थे। रात्रिको मेरी आँख खुली तो क्या देखता हूँ कि लूब उजाला हो रहा है, महान् सूर्यका-सा प्रकाश है, मैं एकदम फक्कड़ा-कर उठ बैठा, मैं प्रातः साढ़े तीन बजेका जागनेवाला, आज इतनी देर हो गयी, मुझे बड़ा कष्ट-सा हुआ। मैंने उठकर देखा, पण्डितजीके तल्लके पास दम-बारह वर्षका एक सुन्दर बालक खड़ा है और मुझे देख-देखकर हँस रहा है। मुझे उस बालकको इस तरह मुस्कराते देखकर गुस्सा आया और मैंने उससे फटकारकर कहा 'मेरी धोती-कोटा कहाँ है, जख्दी ला, हँसता क्यों है?' वह यह सुनकर और हँसने लगा। मुझे बड़ा बुरा लगा, मैं उसे मारनेको दौड़ा। बालक तल्लके चारों ओर भागने लगा। मैं उसके पीछे-पीछे भागता, बालक आगे-आगे तल्लके चारों ओर चक्कर लगाता, पर मेरे हाथ नहीं आता। वह उधो-ज्यो हँसता, ल्यो-ही-र्यो मुझे क्रांघ चढ़ता, मैं उसे फटकारता और चिछाता। मेरा चिछाना सुनकर पुजारीजी भी उठ बैठे, और भी आसपासके बहुत-से स्त्री-पुरुष वहाँ जमा हो गये। वे सब-के-सब आश्चर्यसे मुझसे बार-बार पूछने लगे, 'ठाकुरसाहब, क्या बात है? आज आपको क्या हो गया है?' मैं उस बालकके हँसनेकी शैतानी बतलाकर कहने लगा 'देखो, इस बालक-को समझा दो, नहीं तो इसके हकमें अच्छा न होगा।' वे बेचारे कुछ भी नहीं समझ सके। जब इस झगड़में बहुत देर हो गयी तब मैं देखता हूँ कि वह लड़का झटपट पुजारीजीकी गोदमें जा बैठे और तरकाज अररय हो गया। मैं भी हैरान रह गया। इसीके साथ मुझे जो बड़ा भारी प्रकाश दीख रहा था, वह जाता रहा, चारों ओर वही रातका अन्धकार छा गया। लोगोंसे तथा पुजारीजीसे बात हुई, तो वे कहने लगे 'ठाकुरसाहब! यहाँ तो कोई लड़का नहीं है, इस सब लोग बड़े आश्चर्यमें हैं कि आज इस रात्रिके समय आपको न जाने क्या हो

गया है?' मैंने अपनेको कुछ और सावधान करके बची दिखवायी तो रातका एक बजा था। मैंने सारी घटना लोगोंको सुनायी। सब कहने लगे 'ठाकुरसाहब, जिनकी आप बहुत निष्ठा करते थे, वह चमत्कार उन्हींका तो नहीं है?' मैंने कहा 'कुछ भी हो, ऐसी बातोंसे मैं कृष्णको भगवान् नहीं मान सकता। हाँ, आजसे मैं कृष्ण और पुजारीजीको गालियाँ नहीं दूँगा।' उस दिनसे मैंने गालियाँ देना बन्द कर दिया और प्रायः पुजारीजीके पास मन्दिरमें आने-जाने लगा।

एक दिन मैं मन्दिरमें जाकर देखता हूँ कि जिन ठाकुरसाहबके यहाँ मैं रहता था, उनका बारह-तेरह वर्षका एक लड़का, जो तीन-चार महीनेसे ननसाल गया था, वहाँ खड़ा है। उसे देखकर मैंने उसमें पूछा 'तू कब आया?' वह बोला 'मैं तो कल ही आ गया था।' मुझे झटपट बची चिढ़ थी। मैंने कहा, 'तू मेरे सामने झूठ बोलता है, मैं तो हर समय घरमें रहता हूँ, वहीं खाता-पीता हूँ, मैंने तो तुझे कलसे नहीं देखा।' लड़का यह सुनकर मेरी तरफ देख-देखकर हँसने लगा। मुझे बड़ा गुस्सा आया, एक तो मूढ़ बोलता है और फिर हँसता है नालायक—मैं उसे मारनेको दौड़ा। वह भी भागने लगा। वह फिरकर मेरी तरफ देखना और हँस देता; वहाँसे भागकर वह घरकी तरफ चला, मैं भी उसीके पीछे-पीछे दौड़ा। वह दौड़कर घरमें दम गया मैं भी चिछाता हुआ गुम्मेमें भरा घरमें चला गया, वहाँ भीतर घरमें मुझे चिछाते देखकर घरके स्त्री-पुरुष अवाक् रह गये और मुझमें पूछने लगे 'ठाकुरसाहब! क्या बात है?' मैंने कहा, 'यह तुम्हारा लड़का जो अभी घरमें भागकर आया है, बड़ा शैतान है—मुझमें झूठ बोलता है कि मैं कल आ गया था और मुझे देख-देखकर हँसता है। इसे जख्दी निकालकर लाओ, कहाँ आकर छिपा है?' घरके सब लोग कहने लगे 'ठाकुरसाहब! आपको आज क्या हो गया है? वह लड़का तो तीन-चार महीने हुए ननसाल गया है, वह यहाँ कहाँसे आया?' मैंने कहा, 'नहीं अभी मेरे सामनेसे भागकर आया है।' इसपर सब लोगोंने कहा 'आप चाहे जहाँ घरमें देख सकते हैं, यहाँ कोई नहीं है।' मैंने सारा घर ज्ञान डाला, उसे न पाकर मुझे बड़ा तारबुब हुआ। तब मैंने सब लोगोंने अपना हाक कहा। वह घटना सुनकर कई लोग कहने लगे, 'ठाकुरसाहब, यह उसी

कृष्णका चमत्कार दीखता है।' मैंने कहा 'आई ! चाहे जो कुछ हो, जबतक एक बार फिरसे ऐसी कोई बात नहीं हो जायगी तबतक मैं उसको 'मगवान्' नहीं मानूँगा।'।

मैं रोज मन्दिरमें पुजारीजीके पास जाता ही था, पूर्व घटनाके ठीक बाइसवें दिन, मैं देखता हूँ कि वही बाळक, जो घर भाग गया था आज फिर मन्दिरमें खड़ा हँस रहा है। मैंने कहा, 'कहो, कहाँ थे ?' बाळक बोला, 'बाह, हम तो यहीं रहते हैं।' मैंने कहा, 'उस दिन आप छूट क्यों बोले थे कि मैं कब आया हूँ ?' बाळक कहने लगा 'ठाकुरसाहब, आपको मालूम नहीं, हम लेकर

कई बार ऐसी छूट-बोख जाते हैं।' यह कहकर बाळक तुरन्त अदृश्य हो गया। मैं पुजारीजीके घरोंपर गिर पड़ा और अपने पूर्व अपराधोंके लिये क्षमा माँगने लगा। पुजारीजीने बड़े प्रेमसे मुझे उठाकर हृदयसे खगा किया और द्वादशाक्षर (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) मन्त्रका मुझे उपदेश किया। उसी समयमें मैं आर्यसमाजी होते हुए भी इसप्रकार माझाने द्वादशाक्षर-मन्त्रका जप करने लगा और मगवान् श्रीकृष्णका उपासक बन गया। तबसे अबतक मेरी वही स्थिति है।

(२) स्वामी श्रीअच्युतमुनिजी महाराज

चारों प्रश्नोंको सुननेपर आप बोले—

'पहले तीन प्रश्नोंपर तो खिलनेवालेकी सुविधा होनेसे खिलानेको जी चाहता है। चौथे प्रश्नके सम्बन्धमें मेरे जीवनमें बड़ी-बड़ी घटनाएँ हैं। मैंने तो यही समझा है कि ईश्वरमें विश्वास होनेपर जब मुझ-जैसेका उद्धार हो गया, तो कोई कैसा ही पापी-से-पापी क्यों न हो, विश्वास होनेसे उसका अवश्य ही उद्धार होगा। मेरा जीवन वृत्तान्त्रयसे कम नहीं है। मैंने अपने जीवनके चौबीसवें वर्षमें गुरुमें मन्त्रोपदेश किया। तभीसे मुझे तो आत्मदर्शन हो गया। मुझे तो प्रेम पीछे हुआ, दर्शन पहले। तभीसे मैं अपनेको कृतकृत्य मानने लगा।

(दूसरी बार कहा—)

यदि ईश्वर है तो, क्या हमारे न माननेसे वह नष्ट हो जायगा ? कुमारिक भइने इसी प्रकार ईश्वरको न मानने-वालोंको समझाया था कि ईश्वर यदि नहीं है और हम उसे मानते हैं तो उसके न होनेके कारण हमारे इस कोकके कर्म सिर्फ नष्ट हो जावेंगे और अधिक-से-अधिक हम तुम-जैसे ईश्वरके न माननेवाले हो जावेंगे, इससे अधिक-से-अधिक हमारी बड़ी हाजि होगी कि तुमने संसारके भोगोंको भोगकर मौज उड़ायी और हमने न उड़ायी। और यदि ईश्वर हुआ तो फिर तुम न माननेवालोंकी क्या दशा होगी ? तुमको तो फिर किसी भी प्रकार उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

कुमारिक भइने बिन गुरुओंसे बिना पढ़ी भी, उन्होंने-को पराजित किया। गुरुके पराजित करनेके पापके कारण

उन्होंने प्रायश्चित्त करनेका निश्चय किया, यद्यपि श्रीशंकर स्वामीने उनसे कहा था कि तुमने यह सब धर्मके लिये किया है तथापि कुमारिकने शिष्टाचारके नाने प्रायश्चित्तरूप अपनेको दाम सुकमाकर भस्म कर दिया।

भुक्तिका वाक्य है—

असंख्य स मन्त्रात् असद्ब्रह्मति वेद चेत् ।

अस्ति ब्रह्मति चेद्वेद सन्तमेनं ततो बिदुः ॥

(तैत्तिरीय उ० ६)

जो कहता है ब्रह्म नहीं है, वह आप भी नहीं है, वह अपनेको भी नहीं मान सकता। उसके आत्माका भी क्षयडन हो जायगा, वह धसप हो जायगा, मुर्दा हो जायगा। उसे मनुष्य-योनि नहीं प्राप्त होगी। जो ब्रह्मकी सत्ता मानता है, वही सत्स्वरूप ब्रह्मको जानता है और तभी वह अपनेको भी मान सकता है। ईश्वर-सिद्धिके लिये शारीरिक तृतीयाध्याय, द्वितीय पादके सूत्र ४८, ४९, ५०, ५१ देखने चाहिये। संक्षेपमें इन सूत्रोंका सिद्धान्त यह है—

मीमांसक कर्म और फल दोनोंके बीचमें एक अदृष्ट है यह मानता है, यज्ञ-कर्म किया तो किया तो कर्मके साथ नष्ट हो जाती है, फल होता है काष्ठान्तरमें, उस समय कर्म तो फल पैदा कर नहीं सकता। कर्म करनेसे जो अदृष्ट-संस्कार बनता है, वही फल देता है, वह तबतक नष्ट नहीं होता जबतक कि फल न हो जाय। उसका कहना है अदृष्ट तो तुमको भी मानना होगा, जब अदृष्टसे फल हो जायगा तो ईश्वरके माननेकी क्या जरूरत है ? वेदान्ती कहता है, अदृष्ट जड़ है और जड़

कभी फल दे नहीं सकता। इसलिये जो शास्त्रकारोंसे माना हुआ ईश्वर है, कर्म चाहे नष्ट हो जायँ, पर वह उस ईश्वरको मालूम रहता है और कालान्तरमें वही उसका फल देता है, इसलिये बीचमें घटके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

ईश्वरको माननेसे लाभ

कीट भ्रमरके भयसे उसका ध्यान करता है, ध्यान करते-करते वह तत्पुरुष हो जाता है। इसी प्रकार जो भगवत्-स्मरण करते हैं वे भगवद्रूप हो जाते हैं। ईश्वर—परमेश्वरके माननेसे, स्मरण करनेसे सब प्रकारके कष्ट दूर होते हैं, यह लाभ है। जो सदा उसका स्मरण करते हैं उनपर तो कष्ट आते ही नहीं। विपत्तिकालमें लोग

उसका स्मरण करते हैं, इससे सिद्ध है कि उसके स्मरणसे विपत्ति—कष्ट दूर होते हैं। विष्णुसहस्रनाममें पाठ है कि स्मरणमात्रसे जन्म-मरणरूप बन्धनसे मनुष्य छूट जाता है।

सारा संसार—सूर्य, चन्द्र आदि अपने-अपने नियमसे चकते हैं, यह बड़ा भारी प्रमाण है कि इनकी चकानेवाला कोई अवश्य है। दृष्ट सृष्टि सब नश्वर है, कार्य है, इसका बनानेवाला कारण अवश्य ही कोई होना चाहिये। हम जीव इसके कारण नहीं हो सकते। हम पहाड़ नहीं बना सकते, जल नहीं बना सकते, पृथिवी नहीं बना सकते, अतः इनका बनानेवाला कोई अवश्य है।

यही ईश्वरके अस्तित्वमें प्रबल प्रमाण है। यह शरीर तो जड़ है, वह तो तुम हो नहीं, इसमें जो चेतन प्रकृत है वही तुम हो !

(३) स्वामी श्रीनिर्मलानन्दजी महाराज

ऐसे प्रश्न न तो भक्त ही कर सकता है न तो ज्ञानी ही, यदि कोई भक्त या ज्ञानी है और वह कहता है कि 'ईश्वर है या नहीं' तो मैं उसे भक्त या ज्ञानी नहीं मान सकता। इसप्रकारके प्रश्नोत्तरसे भक्त या ज्ञानीको तो कुछ लाभ होगा नहीं। हाँ, नास्तिक या संशयचैताको अवश्य ही लाभ हो सकता है। यहाँ मेरे पास एक ठाकुर आया करते हैं, उन्होंने आकर एक दिन कहा कि बचपनमें तो वह संशय था ही नहीं। हाँ, कालेजमें जब पढ़ता था, तब संशयकी दृष्टिसे तो नहीं, पर कभी-कभी यह कल्पना एक नास्तिक मित्रके सहवाससे उठती कि 'ईश्वर है या नहीं ?'

मैंने उससे छः-सात प्रश्न किये, मैंने कहा 'पहले तु वह बता कि ईश्वर न माननेसे क्या लाभ है, माननेसे क्या हानि है ?' मेरा स्वभाव इसी प्रकार समझानेका है।

अनुभवके सम्बन्धमें तो मैं दावेके साथ कहता हूँ कि जो शास्त्रमें है उससे भिन्न किसीको कोई अनुभव हो नहीं सकता। यदि कोई कहता है तो उसकी वह साधारण कल्पना है, अनुभव नहीं। चाहे जितने विद्वान् आ जायँ मैं वह माननेको तैयार नहीं।

ऐसी बात नहीं है कि मेरे जीवनमें ऐसी घटनाएँ नहीं हुई हैं, बहुत हुई हैं, पर मैं इस विषयमें कुछ भी कहनेको तैयार नहीं।

प्रश्न पुनः पूछनेपर आपने प्रत्युत उत्तर दिया—

१-२-दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति और निरतिशय सुखकी प्राप्तिके लिये ईश्वरको मानना चाहिये। दुःखकी निवृत्ति तो सामान्य कर्मोंसे ईश्वरके न माननेपर भी हो सकती है जैसे प्यास या भूखका दुःख पानी या भोजन मिलने-पर निवृत्त हो जाता है। परन्तु उसमें आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती। कक फिर भूख या प्यास छोगी। ऐसे ही पुत्र-धनके भ्रमावमें दुःख होता है। जिसके भावमें सुख होता है, उसके भ्रमावमें दुःख होगा ही। इसप्रकार आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति—परम और निरतिशय सुखकी प्राप्तिके लिये ईश्वरको मानना चाहिये।

मैंने पूछा, 'निरतिशय सुख क्या है ?' तो आप बोले— जिसके अतिरिक्त और सुख हो ही नहीं सकता। सुखका स्वरूप जो कुछ कहा जा सकता है, जितना शब्दों-द्वारा व्यक्त किया जा सकता है, उतना ही किया जायगा। करके देखो, जो साधन आदिमें प्रवृत्त हुआ है, जिसका कभी दस मिनटोंके लिये भी चिन्त एकदा हुआ है, वही इसे जानता है। राज्य-भोगादि जगत्का सम्पूर्ण सुख एक ओर रक्खे और भगवत्-चिन्तनादिका क्षणभरका सुख एक ओर रक्खे तो यह उससे करोड़ों गुणा अधिक होता है ऐसा श्रुति और पुराणोंमें भी लिखा है और अपने निश्चयमें भी यही आता है।

सुखकी भिन्नताएँ तो सबको प्रत्यक्ष ही हैं। श्री-

सुख, भोजन-सुख आदिमें भिन्नता है। व्यावहारिक सुख जितना है, जिसे विषय-सुख कहते हैं उसकी बराबरी इस निरतिशय सुखसे नहीं की जा सकती, वह इससे बहुत दूर है।

सुखको सभी पुरुष जानते हैं। कोई भी पुरुष यह नहीं कह सकता कि सुख क्या वस्तु है, क्योंकि वह तो उसे अनुभूत है, चाहे वह विशेष सुख नहीं जानता हो। जो थोड़ा सुख है, उसीसे निरतिशय सुखका अनुमान करे। जो दुःख-निवारण नहीं करना चाहता है, वह न जाने, पर दुःख-निवारण और सुखकी प्राप्ति सब चाहते हैं। इसे सबको मानना ही पड़ेगा। यदि ईश्वरको मान लिया तो श्रुति, स्मृति आदि सब ईश्वरके ही तो आदेश हैं। उनका पाठन किया जाय तो दुःखकी आत्यन्तिक क्लृप्ति और निरतिशय सुखकी प्राप्ति हो जायगी। कोई यह कहे कि श्रुति, स्मृति तो ऋषियोंके वाक्य हैं, तो इसका उत्तर यह है कि ऋषियोंको ये कहाँसे मिले, ब्रह्मासे मिले, और ब्रह्माको कहाँसे मिले, उसी ईश्वरसे !

१-ईश्वरके अस्तित्वमें तीन प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष, आगम, अनुमान।

प्रत्यक्ष—जो इन्द्रियोंसे देखनेमें आवे।

आगम—अगवान्के आदेश श्रुति, स्मृति आदि। धर्म-जिज्ञासुओंके लिये परम प्रमाण श्रुति ही है, इससे परे और क्या है ?

अनुमान—थोड़ा देखकर आगेका निश्चय करना जैसे घुँसे अग्नि। अनुमान प्रत्यक्षके बिना नहीं हो सकता, वह प्रत्यक्षके अन्तर्गत है और प्रत्यक्ष ही मुख्य है (शास्त्र माननेवालोंके लिये शास्त्र प्रत्यक्ष है)।

जो कहता है, ईश्वरको नहीं मानना चाहिये, मैं उससे पूछता हूँ कि उसने कैसे जान लिया कि ईश्वर नहीं है ? यह उसने किस प्रमाणसे जाना ? जिससे कन्दन (इन्द्रजैयड) देखा नहीं, वह संशय कर सकता है कि 'वह है या नहीं ?' पर यह नहीं कह सकता कि 'है ही नहीं।' ऐसा तो वह तभी कह सकता है जब वह स्वयं वहाँ जाय और उसे कन्दन न मिले। × × × न विश्वास हो तो परिश्रम

और कष्ट स्वीकार करके वह इन्द्रजैयड जाकर देख ले, वहाँ जानेपर माखुस हो जायगा कि कन्दन है या नहीं। यही बात ईश्वरके सम्बन्धमें है, कोई कहे कि ईश्वर है ही नहीं, तब भी माननेमें बड़ा काम है।

एक समय अकिमती मीरापर एक कामी आसक्त हो गया। उसने बड़ी हिम्मत करके मीरासे एक दिन अपने मनकी बात कही। मीराने सुनकर उसके कल्याणके लिये कहा 'यह तो कोई बात नहीं, तुम इतनी चिन्ता न करो, कल अमुक समय अमुक स्थानपर मेरे पास आना और अपनी इच्छा पूरी करना।' वह बहुत प्रसन्न हुआ। बड़ी कठिनाईसे उसने दिन-रातका समय बिताया। जब मिलनेका नियत समय आया तो वह बड़े प्रसन्नचित्तसे नियत स्थानपर गया। मीराने पूर्वसे ही दो-चार अच्छे-अच्छे आदमी बुला रखे थे और उनके साथ सस्संगकी चर्चा हो रही थी। वह आदमी भी वहाँ जाकर बैठ गया और सोचने लगा 'सम्भव है मीरा इन लोगोंसे कुछ सुविधा पानेपर मेरी कामना पूर्ण करेगी।' थोड़ी देर बात कर चुकनेपर मीराने बड़े ही सरल भावसे उस कामीसे कहा, 'तुम जिस कामके लिये आये हो, उस अपनी कामनाको पूरी करो, मैं तैयार हूँ।' वह पुरुष बहुत सकुचाया और चुप हो गया। इसपर पासके बैठे लोगोंने बात पूछी तो मीराने सारी सत्य घटना कह सुनायी और वह उस पुरुषसे कहने लगी, 'मैं तो तैयार हूँ, तुम सझोच क्यों करते हो ?' वह पुरुष और भी कजित हुआ, पर अन्तमें बड़ी हिम्मत करके बोला, 'भला वहाँ ये लोग बैठे हैं इनके सामने ऐसा कैसे हो सकता है ?' मीरा कहने लगी कि 'इनके (सांसारिक जीवोंके) सामने नहीं कर सकते तो वह विश्वम्भर, अगश्चियन्ता जिससे कोई भी जगह लाली नहीं है, जो सब जगह मौजूद है, जो मेरा परम प्रेमी है, उसके सामने मैं कैसे कर सकती हूँ और तुम भी कैसे करोगे ?' वह पुरुष बहुत ही कजित हुआ और मीराके चरणोंपर गिरकर जमा माँगने लगा।

इसके बाद स्वामीजी महाराजने दो विचित्र सत्य घटनाएँ सुनायी, परन्तु प्रकाशित करनेकी आज्ञा नहीं दी, इससे उन्हें प्रकाशित नहीं किया गया।



(४) स्वामी श्रीहरिबाबाजी महाराज

चारों प्रश्नोंको पूछनेपर आप बोले—

मैं तो क्या कहूँ ? मुझे तो न किसी प्रकारका अनुभव है, न कोई ऐसी विशेष बात है। मैं तो इतना ही जानता हूँ कि भक्तजन मुझपर प्रेम करते हैं, मुझे अपना मानते हैं, यही मैं तो भगवान्की अपने ऊपर बड़ी कृपा मानता हूँ।

भगवान्के सम्बन्धकी बात तो क्या कहूँ। साधु-संन्यासियोंमें कहीं-कहीं वह बात नहीं मिलती, जो छोटे-छोटे बालकोंमें मिलती है। भगवत्-सम्बन्धी बात इन बालकोंसे पूछो (वैद्ययोगसे उसी समय कहींसे चार-पाँच बालक भी वहाँ आ गये)। श्रीस्वामीजीने उनसे पंजाबी (भाषा) में कहा, 'बालको ! भगवान्को तुमछोग जानते हो तो कहो।' कई बार पूछनेपर और तो सब चुप रहे परन्तु उनमेंसे एक बच्चा बोला, 'परमेश्वर सब जगह है,' स्वामीजी बोले 'सब जगह है, तुमने खोर्गोसे सुना है या देखा भी है ?' इसपर सब बालक कुछ चुप-से ही रहे। तब स्वामीजी महाराजने एक गुल्का उदाहरण देते हुए कहा कि 'दो शिष्य थे, उनसे गुरुजीने भगवान्का—ईश्वरका स्वरूप पूछा, एकने अनेक शास्त्रसम्मत बातें बतायीं, उसके रूपका विविध प्रकारसे वर्णन किया, दूसरेसे पूछा गया तो वह कुछ भी नहीं बोला, केवल चुप रहा।

ईश्वरको जो देखता है वह कुछ कह नहीं सकता। उसके लिये जब कुछ कहना होता है, तो उससे नीचेकी स्थितिमें उतरकर ही कहना होता है। ईश्वरका सच्चा वर्णन मौन है, ईश्वरको यदि देखनेकी इच्छा हो तो जाकर भगवान्के भक्तोंके दर्शन करो। वही ईश्वरका रूप है। संसारके उदाहरणसे ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता। भगवान्के भक्तोंके पास जानेसे स्वाभाविक ही सुख और शान्तिका अनुभव होता है। संसारके पाप-ताप नष्ट होते हैं। यही उसका प्रत्यक्ष रूप है, इसमें अधिक मैं कुछ नहीं कह सकता।

होशियारपुरके एक प्रेमी बकीक महोदयने श्रीहरि-बाबाजी महाराजके जीवनकी कई घटनाएँ बतलायीं, परन्तु श्रीबाबाजीकी आज्ञा बिना उनको प्रकाशित करना उचित नहीं समझा गया।

(पुनः प्रार्थना करनेपर निम्नलिखित पत्र आपने भेजा।)

ॐ श्रीहरिः श्रीगुरवे नमः।

यस्य देवे परामर्कियथा देवे तथा गुरौ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

महान् पुरुषोंका संग और सामीप्य ही श्रीभगवान्की सत्ता और उनके आनन्दको प्रत्यक्ष दिखाता है। पुरुषपाद श्रीगुरुदेवकी समीपतामें बिना ही किसी साधन या प्रयत्नके मुझे श्रीभगवान्की स्फूर्ति प्रायः निरन्तर रहती थी और यदि कभी स्वप्नमें भी संकट या भय होता तो अपने आप उसी अवस्थामें श्रीभगवान्द्वारा वह हट जाता था। श्रीगुरुदेवके वाक्यामृत इस समय स्मरण आते हैं। अकबरने वीरबलसे पूछा—

१-तुम्हारा सुदा कहीं रहता है ? २-क्या करता है ?

३-क्या खाता है और ४-संकल्पद्वारा ही सब कुछ करनेमें समर्थ होनेपर भी अवतार क्यों धारण करता है ? वीरबलने तीन प्रश्नोंका उत्तर दिया—

१-रहता तो सर्वत्र ही है पर प्रत्यक्ष प्रकट सन्तोंके हृदयमें होता है। यदि मिलना चाहो तो वहाँ मिलेगा।

२-काजियोंको पाजी और पाजियोंको काजी (अन-वच्छिन्न परिवर्तन)।

३-जीवाभिमान।

चौथे प्रश्नके उत्तरके लिये वीरबलने कुछ मुहफ्त माँगी और इसी बीचमें अकबरके छोटे शाहजादेके समान एक नकली बालक बनवाया जो ठीक वैसा ही दीख पड़ता था। बच्चेको सेलानेवाली दासीको समझा दिया कि 'जब आज सायंकालको बादशाह बाहरसे आकर जलाशयके पास बैठें और तुम्हें पुकारकर बच्चा माँगें तो असली बच्चेको दूसरेके पास छिपाकर नकली बच्चा देते समय पाँव फिसल जानेका बहाना करके गिर पड़ना और साथ ही नकली बच्चेको जलाशयमें गिरा देना।' नामको अकबरके बाहरसे आकर बैठने और दासीको बच्चेके लिये पुकारनेपर दासीने वैसा ही किया। बच्चेको पानीमें गिरते देख बादशाह घबराकर स्वयं जलमें कूदनेको तैयार हो गये, इतनेहीमें वीरबलने भट् असली बच्चा लाकर कहा 'सरकार ! घबराइये नहीं, शाहजादा तो यह मौजूद है।' अकबरको वीरबलकी देसी

चेष्टापर क्रोध आया और उसने वीरबल्लको दण्डका दण्ड दिया। वीरबल्लने कहा 'हजूर, मैंने तो आपके प्रसन्नता उत्तर दिया है। हम आपके सैकड़ों नौकर-चाकर मौजूद थे जो आपकी आज्ञापर प्रायतन देनेको तैयार थे, तो भी बन्धेपर आपका इतना स्नेह था कि आप स्वयं जलमें कूदनेको विवश हो गये। इसी प्रकार संकल्पमात्रसे ही सब कुछ करनेमें समर्थ होनेपर भी श्रीभगवान्‌की अपने भक्त इतने प्यारे हैं कि वह प्रेमविवश होकर स्वयं प्रकट होते हैं।

(क) श्रीश्रीगुरुदेवकी श्रीवृन्दावनमें प्रकट दर्शन

श्रीमहाराजजी (श्रीगुरुदेव) को यह जानकर कि, अब भी श्रीवृन्दावनके श्रीसेवा-कुञ्जमें श्रीश्यामसुन्दर पूर्ववत् सीला करते हैं, दर्शनकी बड़ी इच्छा हुई। श्रीसेवा-कुञ्जमें रातको कोई रहने नहीं पाता, इसलिये श्रीमहाराजजी भाभी रात्रिके करीब जाकर कुञ्जकी दीवारपर चढ़कर बैठ जाते और भगवत्-स्मरण करते रहते, फिर चार बजेके करीब उतरकर आ जाते। इसी प्रकार करते-करते जितने दिनोंका मनमें संकल्प किया था, उनमें केवल एक ही दिन शेष रह गया, पर दर्शन नहीं हुए। अन्तकी रात्रि आ गयी। मन आशा और निराशा दोनोंसे भरा था कि अकस्मात् सामने रासमण्डल प्रकट हुआ। एक सखीने कहा 'यहाँ तो कोई मनुष्य है।' श्रीश्यामसुन्दर बोले 'नहीं वह तो मेरे परम भक्त हैं।' रास आरम्भ हुआ, चारों ओर प्रेमानन्द छा गया। उस परमोत्कृष्ट रसको पानकर श्रीमहाराजजी प्रेमानन्दमें विभोर हो गये, इतनेमें श्रीश्यामसुन्दरने आकर श्रीमहाराजजीके कन्धेपर अपना करकमल रक्खा और कहा, 'मैं प्रसन्न हूँ, बर माँगो।' श्रीमहाराजजीने कहा 'आपके दर्शनसे परे और क्या है? बस, ऐसा ही आपके चरणोंमें प्रेम बना रहे।' श्रीश्यामसुन्दर 'तथास्तु' कहकर मण्डलसहित अन्तर्धान हो गये। श्रीमहाराजजी भी मन्तीमें झूमते-झूमते वहाँसे आ गये। श्रीमहाराजजीके मुक्तारविन्दसे जीवनभरमें एक बार एकान्तमें यह प्रसंग सुना था। सुनाते समय श्रीमहाराजजीके रोम-रोमसे विष्णुानन्द प्रकट हो रहा था और वही स्मृति मेरे जीवनका साधन है और साधन रहेगी।

(ख) — 'योगक्षेमं वहाम्यहम्'

श्रीमहाराजजी विद्याभ्ययन-काल (संन्यस्त अवस्था) में श्रीकाशीजीमें निवास करते थे। एक बार अनन्यायमें एक दूसरे बृद्ध आश्रम पण्डितजीके साथ वे बाहर वनभ्रमण और एकान्तसेवनको गये। वे सर्वत्र आनन्दपूर्वक प्रत्यक्ष श्रीभगवान्‌के प्रकाशका अनुभव करते और घूमते-घूमते दोपहरको जंगलमें एक टूटे हुए मन्दिरपर पहुँचे। धूप अधिक थी, विश्रामके निमित्त वहीं बैठ गये। दोनोंको भूल भी खूब लगा गयी थी, परन्तु मित्राके निमित्त पास कोई बस्ती नहीं। पण्डित बोले 'अब क्या किया जाय?' श्रीमहाराजजी बोले, 'गोविन्द-भजन करो, स्वर्तव्यः सदा विष्णुः विसर्तव्यो न जातुचित्।' इतनेमें ही एक विलक्षण पुरुष वनमें आया, उसके हाथमें एक दोना, जिसमें पाँच पेड़े थे, श्रीमहाराजजीके सामने प्रसाद रख प्रणाम कर, वह खला गया। कुछ बातचीत नहीं हुई। पण्डितजीने पूछा 'कोई आपका भक्त था क्या?' श्रीमहाराजजीने मुसकराकर कहा 'हाँ, भक्त ही था (क्योंकि चिरकालमे भक्तोंके सच्चे भक्त श्रीभगवान् ही हैं)। अब महाराजजी पण्डितजीसे और पण्डितजी महाराजजीसे आग्रह करने लगे कि 'इससे जलपान कर लें, आपकी बहुत भूल लगी है।' एक दूसरेको ऐसा कहें पर संकोचवश उन पेड़ोंको ग्रहण कोई न करें। तब फिर मन्दिरकी छतपरसे उसी पुरुषकी आवाज आयी, कि 'संकोच मत करो, दोनों ग्रहण करो।' कुछ आश्चर्य और आनन्दके पीछे दोनोंने एक-एक करके पेड़ा उठाना आरम्भ किया। दोनों खिचपूर्वक पेड़े खाते जायँ, पर दोनोंमें वही पाँच-के-पाँच। दोनोंने पेटभर प्रसाद पाया। पर दोनोंके पेड़े पाँच ही बच रहे (अनन्त श्रीभगवान्‌के सम्बन्धका समी कुछ अनन्त है)। श्रीभगवत्-सीलाको देख दोनों आनन्द-उत्साहसे भर गये। सायंकाल काशीजीमें आ सब किसीको उसमेंसे प्रसाद दिया। फिर भी दोनोंके पेड़े पाँच-के-पाँच। तब श्रीमहाराजजीने उस दोनोंको प्रसादसहित श्रीमागीरथीजीके अर्पण कर दिया।

ऐसी श्रीमहाराजजीके सम्बन्धकी बीसियों अलौकिक घटनाएँ सरण आ रही हैं, संकोचवश लिखनेका साहस नहीं। हरि ॐ

आपका—

स्वतः प्रकाश



(५) ब्रह्मचारी श्रीरामशरणदासजी

१-३ प्रश्न सुनकर आप बोले—

जीव ईश्वरका अंश है। जिसप्रकार बचपनसे बकरियों-में रहनेके कारण सिंह निज स्वरूपको भूलकर, अपनेको बकरीका बच्चा मानने लगता है, अपनी शक्ति-सामर्थ्य-स्वभावका उसे पता नहीं रहता। इसी प्रकार यह जीव भी अपनेको भूला हुआ है।

हतना बच्चा हमारा शरीर प्रारम्भमें कामदेवकी एक बूँदके रूपमें था। नौ-दस महीने गर्भमें रहा। इसमें हवाके धागेके समान आस है। यह उसीकी शक्तिये बना है, यदि कोई कहे कि इसे हमने बनाया, तो यह कहना मिथ्या है, एक नेत्र फूट जाय, हम नहीं बना सकते। जिसने ऐसा सुन्दर शरीर बनाया, जिसने सूर्य, चन्द्रमा आदि सभी पदार्थ बनाये, उसको इस शरीरमें आकर हमने भुला दिया। हमको यह भी मालूम नहीं कि हम कहाँसे आये हैं, कौन हैं, कहाँ जायँगे। जिस वक्तसे हमारा परमात्माने विछोह हुआ, हम उसे भूल गये। परमात्मा तो सब जगह व्यापक है।

हममें अनेक आकांक्षाएँ पैदा होती हैं। चाहे त्रिलोकीका वैभव प्राप्त हो जाय तो भी आगे कुछ और पानेकी इच्छा बनी ही रहती है।

जिसका बीज होगा, उसका वृक्ष होगा। गेहूँका बीज अंकुर होकर जलकी सहायतासे वृक्षके रूपमें परिणत होता है। वही बीज जल न मिलनेसे गरमीके कारण अंकुरकी जगह घुनका रूप धारणकर स्वयं अपनेको ही भक्ष्य करता है। फिर वह गेहूँ उग नहीं सकता।

इसलिये मनुष्यको ऐसा उद्योग करना चाहिये कि जिसमें वह सर्वव्यापक परमात्मामें मिल जाय; उसकी प्राप्ति साधन उपासना-कर्म-ज्ञान आदि हैं। सन्तोंके समागमसे वह मिल सकता है।

४-मैं आठ-दस वर्षका था, तभीसे श्रीमन्नागवत

आदिकी कथा बड़े प्रेमसे सुनता था। एक समय काठियावाड़ गुजरात गया, वहाँ बहुत दिन रहना हुआ। मेरे गुरुदेव बुन्देलखण्डकी ओरके थे। झाँसीकी लड़ाईमें वे अंगरेजोंसे लड़े थे। उनके हाथसे अठारह अंगरेज मारे गये थे। उसके बाद वे वैष्णव हो गये। उनको बुन्देलखण्डमें जानेकी इजाजत नहीं थी। उनके साथ मेरा खूब सस्संग हुआ। वहाँसे वे श्रीद्वारकाजी दर्शनके लिये गये। रास्तेमें उनका देहान्त हो गया। मैं अकेला ही श्रीद्वारकाजीकी ओर चल पड़ा। रास्तेमें श्रीबृन्दावन या श्रीअयोध्याजीका कोई मिलता तो मैं उससे प्रार्थना करता कि कोई ऐसा भजन कहे जिससे मुझे भगवान्के दर्शन हों, जब वे भजन कहते तब मैं खूब रोता। पहले भी प्रभुकी यादमें मैं बहुत रोया करता था। एक दिन एक जंगलमें दो-तीन मीलतक कोई गाँव नहीं था। जेठका महीना था। बड़े कड़ाकेकी धूप पड़ रही थी। एकादशीका दिन, मेरा व्रत था। आसपास ढाकके बहुत-से वृक्ष थे। मैं श्रीकृष्णसे मिलनेके लिये रोता जाता था। उसी समय देखता हूँ तो आगे एक श्याम रंगका पुरुष पाँच-सात लड़कोंको साथ लिये कोई पाँच-छः सौ गौघोंको चरा रहा है। एक फटा-सा कपड़ा लपेटे हुए है। मुझसे बोला, 'महाराज ! हमारे तिलक कर दो, हम तुम्हारे चले हो जायँगे।' फिर कहा कि, 'अपना यह छोटा हमें दे दो।' मैंने अपना लोटा उसे दिया। उसमें तीन सेर दूध आता था, तत्काल ही उसने वह लोटा दूधसे भरकर मुझे दे दिया और कुंजेकी मिट्टी दी, तदनन्तर बोला, 'हम गौ ले आवें।' बस, हतना कहकर वह अदृश्य हो गया। मैंने देखा, न वहाँ गौएँ हैं और न वे पाँच-सात बालक ही। यह देखकर मैं बहुत ही पछताया-रोया।

इसके बाद ब्रह्मचारीजी महाराजने कई अनुभवकी बातें कृपा करके और बतलायीं।



(६) स्वामी श्रीविलासपुरीजी महाराज

१-जीवमें पाँच क्लेश हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । ईश्वरमें इन दोषोंका अभाव है, उनकी कृपासे जीवके दोष दूर हो जाते हैं । अतः अपने दोष निकालनेके लिये ईश्वरको मानना चाहिये ।

२-ईश्वरके न माननेसे दोष बने ही रहेंगे । यह हानि है ।

३-प्रमाण तीन हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द । प्रत्यक्ष—नेत्रोंसे देखनेवाले इस कार्मण्डल सारे संसारका कोई कारण अवश्य है । इससे अधिक और प्रत्यक्षका वह विषय नहीं है ।

अनुमान—चित्रको देखते ही दो बातें सिद्ध होती हैं, एक उसके बनानेवाला कोई चित्रकार है और दूसरी स्याही—रंग है । इसी प्रकार जगत्को देखनेसे उसके

बनानेवाले ईश्वर (चित्रकार) और प्रकृति (स्याही) का अनुमान होता है ।

शब्द-प्रमाण—तो हम नित्य ही मानते हैं । किसीने आकर परदेशमें गये हुए पुत्रकी मृत्युका समाचार कहा, वहाँ प्रत्यक्ष और अनुमान न होनेपर भी कहनेवालेके शब्दको प्रमाण मानकर पिता-माता दुखी हो जाते हैं । ईश्वरके लिये शब्द-प्रमाण वेद, गीता तथा अन्यान्य शास्त्र हैं ।

४-ईश्वरकी कृपालुताका सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि ईश्वर कर्मोंका फल सुख-दुःख तो और योनियोंमें भी दे सकता है पर मनुष्य-योनि ही ऐसी है जिसमें शुभाशुभ जाननेकी और ईश्वरको पहचाननेकी शक्ति है । ईश्वरने वह ऐसी शुभयोनि देकर हमपर बड़ी ही कृपा की है ।



(७) स्वामी श्रीअनन्ताश्रमजी महाराज

प्रश्न सुनानेके पश्चात् विशेषरूपसे अनुभव कहनेकी प्रार्थना की गयी थी, उसपर आप बोले—

‘मेरा जन्म आळन्धरके निकट लुहार ग्राममें क्षत्रिय-कुलमें हुआ था, बचपनसे ही श्रीमद्भागवत आदिकी कथा सुननेमें मेरी बड़ी रुचि थी । कथामें मैंने एक दिन यह प्रसंग सुना कि गुरुके बिना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती । तबसे मुझे गुरु मिलनेकी लाजसा बढ़ने लगी । मेरा विचार था, संसारमें महात्मा तो बहुत हैं, पर ऐसे महात्मा बहुत कम हैं कि जिनसे वास्तविक लाभ मिल सके । दैवयोगसे एक बार गाँवके बाहर एक महात्मा आकर ठहरे । मैं तो उनके पास नहीं गया, पर और बहुत-से लोग उनके दर्शन और सत्संगके लिये वहाँ जाते । मेरे पिताजी बड़े शुद्ध आचारके तथा ईश्वरपरायण पुरुष थे । एक दिन लोग पिताजीको भी वहाँ ले गये । वहाँसे लौटकर कई लोगोंने मुझसे कहा, ‘महात्मा बड़े अच्छे दीखते हैं ।’ मैंने पूछा ‘आपने उनमें क्या अच्छापन देखा ?’ वे कहने लगे ‘वे हठरहित और निरभिसाग महात्मा हैं, किसी विषयपर उनसे बात हो रही थी, उधर समझ हमके

ठीक उनके विचारोंके विपरीत बात कही । यद्यपि हम जानते थे कि हमारा कथन ठीक नहीं है । इसपर भी वे अधिक वाद-विवाद न कर शान्त ही रहे और बोले ‘बही ठीक होगा ।’ यह महात्माका मुख्य लक्षण है ।

मैं उनके पास गया, मुझे भी उनके प्रति कुछ श्रद्धा-सी हो गयी । इस बार तो वे चले गये, कुछ दिनों बाद दूसरी बार आये, तब मैंने उनके सामने कुछ प्रसाद रखकर उनसे दीक्षाके लिये प्रार्थना की । वे कहने लगे ‘मैं कुछ नहीं जानता । गुरु सोच-समझकर करना चाहिये । बिना विचारे काम करके तुम पीछे पड़ताओगे ।’ इसप्रकार हिला-हिलाकर वे मुझे बहुत दिनोंतक जाँचते रहे और दूसरे-दूसरे महात्माओंके नाम गुरु-दीक्षा लेनेको बताते रहे । वे ज्यों-उ्यों मने करने लगे, त्यों-ही-त्यों मेरी श्रद्धा उनपर बढ़ने लगी । मैं उन्हींसे दीक्षा लेनेकी प्रार्थना करता रहा । एक दिन मैंने कहा ‘महाराज ! यों ही जीवनका अन्त हो जायगा और कुछ लाभ नहीं होगा ।’ वे बोले, ‘नहीं, ऐसा नहीं होगा ।’ तब उन्होंने मुझे कुछ साधारण-सी बात बतायी । मैं साठ वर्षतक उनके

आदेशानुसार साधन करता रहा। गुरुजी कभी-कभी ग्राममें आते, कभी बाहर दूसरी जगह विचरने चले जाते। सात वर्षके अनुष्ठानके बाद एक दिन मैं रास्तेसे आ रहा था कि यकायक मेरी अवस्था पलट गयी। शरीरकी दशा-का कुछ पता नहीं रहा। यह स्पष्ट अनुभव होने लगा कि मेरी ही सत्तासे सारा संसार परिपूर्ण है। पशु-पक्षी, जल-थल और पत्ते-पत्तेमें मुझे यह प्रतीति होती थी कि मैं ही इन सबको सत्ता दे रहा हूँ। यह अवस्था कई घण्टोंतक रही। फिर उसी प्रकार मेरी पूर्व-अवस्था हो गयी। उस समयके बाद मैं बराबर इसी साधनको करता रहा। जब सात वर्ष और बीत गये तब एक दिन मैंने गुरु महाराजसे कहा 'महाराज ! बारह वर्षों-में तो घुड़ेकी भी बदलती है, भगवान् सुन लेता है, मुझे चौदह वर्ष हो गये। अब तो कृपा करो।' तब उन्होंने मुझे असली बात बतायी। उसके मालूम होते ही अन्दरसे एकदम आनन्दके फवारे छूटने लगे। ऐसा मालूम होने लगा कि सारा जगत् आनन्दमें परिपूर्ण है। यह अवस्था बढ़ती ही चली गयी। यहाँतक कि मैं बहत्तर-बहत्तर घण्टे-तक इसी अवस्थामें रहने लगा, खाने-पीनेकी कुछ सुधि नहीं, उस समय मेरे पास होकर जो लोग निकल जाते

था मैं जहाँ होकर निकलता, आस-पासके लोग चकित रह जाते, उन्हें कुछ बड़े ही आनन्दका अनुभव होता, वे कहते 'यह क्या हो गया !'

इसके बाद श्रीस्वामीजी महाराजने अन्य कई महत्त्व-पूर्ण अनुभव सुनानेकी महती कृपा की। फिर कहा—

'मेरी बहत्तर घण्टेतक समाधिकी दशा रहती। निर्गुण रूपका अनुभव होता। सगुणका कभी-कभी हुआ। और तो कई लोगोंको मेरी दृष्टिसे दिव्यधामके दर्शन हुए। मेरे अन्दर जो-जो विलक्षण हालतें कई वर्षोंतक रह्यीं, उनको मैं कह नहीं सकता। उस समय ऐसी स्थिति रही कि मेरे पास होकर कोई आदमी निकल जाता तो वह एक अपार आनन्दमें डूब जाता। उस स्थितिमें मुझे भुधा-पिपासा आदि भी नहीं व्यापते थे। मेरी हालत ऊँची होती तो गुरुजी नीचे गिरा देते। तीन बार मेरी हालत गुरुजीने नीचे गिरायी। मैंने दुःखी होकर कहा 'महाराज ! ऐसा क्यों करते हो ?' तो कहा 'तुमने बहुत काम कराना है।' जब मैं कई लोगोंकी ऐसी अवस्था कर देता तो गुरुजी महाराज कहते 'ऐसा पागल नहीं बनाना' उन्होंने तीन बार ऐसा कहा और जिस दिन तीसरी बार ऐसा कहा उसी दिनसे मुझमें वह शक्ति नहीं रही।



(८) स्वामी श्रीचिदानन्दजी महाराज

इस वृन्दावनकी परिक्रमामें आ रहे थे। धूप बहुत पड़ती थी। एक जगह छाँहमें बैठ गये, और भी बहुत-से लोग बैठे थे। चित्तमें श्रीकृष्ण-दर्शनकी अत्यन्त आकांक्षा कई दिनसे लग रही थी। उसी समय बालरूपमें पीताम्बर पहिने, सिरपर मुकुट रक्खे, हाथमें वंशी लिये

प्रभुके दर्शन हुए। उसी क्षण एक बैदरियाका एक कुत्तेने पकड़ लिया। उसके कारण बड़ी खिझाहट-सी मच गयी। मेरा ध्यान भी उभर गया। फिर मैंने देखा तो वह मूर्ति नहीं दीख पड़ी।

(९) एक भावुक महानुभाव

(नाम प्रकट करनेकी अनुमति नहीं)

आज मुझे भजन करते समय यह प्रतीत हुआ कि ईश्वरके अस्तित्वका प्रबल प्रमाण मौत है, इससे बढ़कर और कोई प्रबल प्रमाण नहीं।

जिन्दगीभर तो बहुत-से अनुपम अपने पुरुषार्थपर निर्भर रहते हैं। यह पुरुषार्थ उनका है तो मरते समय वे

क्यों नहीं अपना पुरुषार्थ कर लेते ? यह निश्चय है कि बड़े-बड़े नामिक भी मरना और बड़ा होना नहीं चाहते।

जब बच्चे थे तब तो बड़ाने-घटानेकी शक्ति तुममें थी नहीं। यदि उसे भी पुरुषार्थसे बढ़ावा मानते हो तो फिर प्रयत्न करते भी शरीर क्यों क्षीण होता है ? नौजवानको पुरुषार्थ करते-करते क्यों बीमारी छाती है ?

कोई ऐसी शक्ति दुनियामें अवश्य है जो हमारी इच्छा और उद्योगके विपरीत हमको मरने-जीनेके लिये बाध्य करती है।

बड़े-बड़े पण्डित, कवि, गुणज्ञ दूरिद्रतामें क्यों रहते हैं? इससे सिद्ध है कि कोई शक्ति हमारे ऊपर रहकर शासन करती है।



(१०) सुखकी चोईवाले महात्मा

तीन रूप हैं—१ अस्ति (सत्), २ आस्ति (प्रतीति चेतनता), ३ प्रिय (प्यारा आनन्दमय) यह तीनों रूप सबमें एक-से रहते हैं।

घटको फोड़ दो तो उसका नाम, आकार चाहे न रहे पर अस्ति, आस्ति, प्रिय नष्ट नहीं होगा।

संसारके सभी आदमी सुख चाहते हैं और पूर्ण सुख जीवमें है नहीं, वह उस परमात्मामें है। इसलिये ईश्वरको मानना चाहिये। यदि तुम शून्यको नहीं जानते और कहते हो कि कुछ नहीं, तो तुम्हारा कहना नहीं बनता। और अगर जानते हो तो जो जाननेवाला है वही शुद्ध सच्चिदानन्दस्वरूप तुम हो।

अपने आपमें घटा को। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सब मैं हूँ। मैं सब अवस्थाओंको जानता हूँ। सबका ज्ञाता हूँ। जो मैं जाग्रतमें हूँ वही स्वप्नमें हूँ, जो स्वप्नमें हूँ वही सुषुप्तिमें हूँ। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तुम्हें नहीं जानते, तुम तीनोंको जाननेवाले हो।

तुम सबसे प्यारे हो, तुम्हारे ही प्यारको पाकर सब प्यारे प्रतीत होते हैं, खोंड़ जिसके साथ लगती है उसीको भीठा बना देती है।

मेरे निकटके गाँवमें एक कुआँ और मन्दिर था। वहाँ इस शरीरके एक सम्बन्धी विचार-सागर ग्रन्थ पढ़ते। मुझमें और तो कोई संस्कार था नहीं, परमात्मा है या नहीं, इसका भी कोई विशेष विचार नहीं था। ग्रन्थमें एक दिन गुरुकी महिमा सुनी, वह विषय चार दिन चला और उसे मैंने नित्य बड़े ध्यानसे सुना। वह कुछ उस समय मुझे कण्ठ-सा हो गया—

वेद अर्थकू मलै पिछने। आत्म ब्रह्मरूप इक जाने।
मेद पंथकी बुद्धि नसावे। अद्वय अनक ब्रह्म दरसावे॥
मव भिम्बा मुग-तुषा समाना। अनुकव इम मासत नहि आना।
सो गुव दे अदभुत उपदेशा। केदव सिखा न कुंभित केसा॥

एक दिन मैंने यह कथाबाचकजीको सुनायी, उन्होंने कहा, 'तुम्हारी बुद्धि बकी बखल है, तुम्हीं पढ़ा करो।' उस दिनसे मैं ही पढ़ता। पढ़ते-पढ़ते यह निश्चय-सा हो गया कि आत्मा सत्य है यह सब संसार मिथ्या है। जब मिथ्या है तो इसके लिये क्या यत्न करना है? तीन दृष्टियाँ हैं— १ शास्त्रीय, २ लौकिक और ३ ज्ञान।

शास्त्रीय दृष्टिसे तीनों काजमें संसार है ही नहीं, ज्ञान-दृष्टिसे वह अनिर्वचनीय है और लौकिक दृष्टिमें सत् है।

उस समय यह निश्चय हुआ कि यह सब ब्रह्मरूप है। वहाँ एक महात्मा प्रायः महीने-दो-महीनेपर आया करते थे। विद्या साधारण तो वहाँके पण्डितोंसे पढ़ी थी, उन महात्माके सहवाससे मेरी संन्यास लेनेकी इच्छा और बढ़ी। मैंने पण्डितजीसे आज्ञा माँगी। पण्डितजीने कहा 'हमारे कन्या है, उसकी शादी करके दस वर्ष बाद इकट्ठा संन्यास लेंगे, तभी तुम्हें पढ़ायी हुई विद्या सफल होगी। इस बीचमें अभ्यास करते रहें।' जो सन्त-महात्मा आते उनसे वे बार-बार साधनकी बातें पूछते रहते। इसप्रकार ग्यारह वर्ष बीत गये, तब मैंने पण्डितजीसे कहा, आपकी प्रतिज्ञा पूरी हो गयी, अब हम जाते हैं, आपने दस वर्षका बचन दिया था। उससे एक वर्ष और अधिक हो गया। इसप्रकार चासीस वर्षकी अवस्थामें मैं घरसे निकला। संन्यासकी इच्छासे मैं ऋषिकेश गया। गुरुजीके पास बराबर एक मासतक नित्य जाता, पर वे नेत्र नहीं मिलाते। एक दिन कृपा करके उन्होंने मुझे गंगाजोमें खड़ा किया और अपने ही हाथों मेरी शिखा उत्तार दी। तबसे आनन्दकी उपलब्धिका अभ्यास करता हूँ। जब आनन्दकी उपलब्धि होती है तभी संसारसे मन हटता है। जबतक आनन्द नहीं होता तबतक संसारसे मन नहीं हटता। अभ्यासके बलसे ऐसा अनुभव होता है कि सारा ब्रह्माण्ड मेरी ही सत्तासे स्थित है।

जानमें नित्य ही कुछ ऐसा विकलप्य प्रकाश हुआ

सूर्यो के समान होता है, जबतक ध्यान नहीं छूटता, वह नहीं मिटता ।

इसके बाद महात्माजीने अपने साधनकी तथा अनुभवकी कई विवृति बतलायी ।

(११) स्वामी परमहंसजी, राजघाट

मैं पन्द्रह वर्षोंसे अब पचहत्तर वर्षतक संन्यास-आश्रममें हूँ । बचपूँमें एक पवित्रतजी बड़े प्रेमसे दस बजेतक आगवत, रामायण कहते थे, उन्हीं पवित्रतजीके सत्संगसे मुझे पहले-पहल ज्ञान मिला । वे मेरे ही ग्रामके रहनेवाले थे ।

मैं लड़कपनसे ही आगवत-धर्मका आचरण करने लगा था । लड़कपनमें भगवद्भजनके अभ्यासका यह काल है कि इस दुःखावस्थामें भी कोई दुःख नहीं म्पापता है । ऐसे दयालु हरिके भजनकी क्या कहें, उन दयामयकी दयालुताका स्मरण आते ही हृदय गदगद हो जाता है (इस समय आपके अभ्युपात होने लगा) । प्रभो ! आपकी शरण हूँ । जब मनुष्य भगवान्की शरण ले लेगा तभी निर्भय भजन करेगा । भगवान् प्रेमसे प्रकट होते हैं । भक्त अपने स्वामीको प्रत्यक्ष देखकर प्रसन्न होता है । जहाँ भक्त स्मरण करता है, वहीं भगवान्का दर्शन होता है ।

किसी प्रकार वह मुक्ति दे भी दे, पर भक्तिका मिलना बहुत कठिन है । भगवान्की कृपा ही भगवद्-दर्शन है, उसीका ध्यान और मनन करें । जो वस्तु है, विद्यमानरूपसे सब भगवान् ही हैं । उन्हें प्रेमसे भजना चाहिये ।

जब भगवान्का चिन्तन-स्मरण किया जाता है तभी

वह दर्शन देते हैं, जैसे गौ बछड़ेकी रक्षा करती है, ऐसे ही भगवान्की महाकृपा रक्षा करती है और वही उसके दर्शन हैं ।

भगवान् भक्तके समीप रहते हैं, इसीसे हमें तो समीप ही प्रतीत होते हैं, जो कुछ है सब उन्हींका है । रात-दिन वे श्यामसुन्दर मुरलीधारी आँखोंके सामने रहते हैं ।

लड़कपनमें ही आगवतसे अधिक प्रेम रहा, इसीसे लोग मुझे परमहंस कहने लगे । जैसे बने जैसे मनको भगवान्में लगावे । दस-बारह वर्षकी बात है, रातको मैं जंगलमें सो रहा था, एक जीव मेरे चारों ओर डोहता रहा । एक दिन वह मेरे सिरमें टकराकर छोटने लगा । मैं जब जागा तो वह भाग गया । देखनेपर ऐसा मालूम हुआ जैसे गधेका बच्चा हो, पिछाई गधे-जैसी, मुँह सिंह-जैसा । उसे लोग भोकड़ कहते हैं, वह जीवित मनुष्यपर चोट नहीं करता । मेरी तो प्रभु रक्षा करते हैं । अब तो बल नहीं रहा, नहीं तो दिनमें श्रीमद्भागवत पढ़ता, ऊँचे स्वरसे भगवद्-नाम लेता, रात्रिको बड़े वेगसे कीर्तन करता । खूब ही प्रेम आता, बड़ा भारी आनन्द आता, अभुधारा बहने लगती । जैसे-जैसे नाम लेता हूँ, जैसे-ही-जैसे मंगलमयी श्यामसुन्दर मूर्तिके दर्शन होते हैं ।

(१२) स्वामी श्रीमत्तुलानन्दजी महाराज

१-जीवका असली स्वरूप ब्रह्म है, उसके साथ एकीभूत होनेके लिये ब्रह्म (ईश्वर) को मानना चाहिये । एकीभूत हुए बिना माया नहीं छूटेगी । मायाके न छूटनेसे जन्म-मरणरूप उपाधि बनी ही रहेगी ।

२-ईश्वरको न माननेसे आत्मस्वरूपका बोध न होगा, स्व-स्वरूपकी पहचान न होगी । अपने स्वरूपको पहचाने बिना जन्म-मरणके चक्रसे जीव नहीं छूट सकता ।

३-जीव जब माया-विषयका चिन्तन छोड़कर प्रभुका भजन करता है तब उसे अनुभव होता है, सच्चिदानन्द,

पूर्णानन्द, महानन्द ज्योतिर्मय स्वरूपका दर्शन होता है ।

सूर्य, चन्द्रमा, वायु, जल इन सबको कौन शक्ति देता है ? इन सबमें जिसका अस्तित्व है, इनको जो नियमानुसार चलाता है, वह ईश्वर है, यही ईश्वरका प्रबल प्रमाण है ।

४-धोड़ा-बहुत जो भजन करके देला है, उससे मुझे ऐसी चीज़ मिली है जिससे मैं कृतकृत्य हो गया हूँ, जिसे बतलानेकी शक्ति मुझमें नहीं है । ईश्वर-कृपा मुझे अनेक प्रकारसे प्राप्त हुई है ।

इस शरीरको नौ वर्षकी उम्रसे साकार मूर्ति श्रीकृष्ण, काकी, शिव आदिकी उपासनाका शौक था। वह उपासना सतरह-अठारह वर्षकी उम्रतक लगातार चलती रही। अठारह वर्षकी उम्रमें वैराग्य हुआ। यह इच्छा हुई कि ईश्वर साक्षात् मिलना चाहिये, पर वह कहाँ मिलेगा ?

पहाड़, नदी, जंगलमें कहाँ मिलेगा ? उसी समय गृहस्थ-को छुं ब दिया, विवेक-वैराग्य जागा। मैंने जंगल, गुफा, पहाड़ोंमें खूब भजन किया।

इसके बाद प्रार्थना करनेपर आपने अपने कठोर साधनकी कुछ बातें बतलानेकी कृपा की।

(१३) स्वामी श्रीलक्ष्मणसिंहजी

(इस समय आप नेत्रहीन हैं। अवस्था लगभग सत्तर वर्ष)

१-ईश्वरको अपने कल्याणके लिये मानना चाहिये। कल्याण दो प्रकारका है, संसार-दुःखकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति, यही मोक्षका स्वरूप है। क्योंकि संसारमें जन्म-मरण और नाना प्रकारके दुःख हैं, इन दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति ईश्वरके माने बिना नहीं होगी।

२-न माननेसे जन्म-मरणरूप दुःखसे कभी छुटकारा नहीं होगा। यही सबसे बड़ी हानि है।

३-ईश्वरके वेद और श्रुति आदि मुख्य प्रमाण हैं। संसारकी दृष्टिसे जैसे माता-पिताको मानते जाते हैं, उसी प्रकार वेद, श्रुतिके प्रमाणोंको मानना चाहिये।

४-वैराग्य आदि साधन अपेक्षित हैं, साधन बिना साध्य बस्तु नहीं मिलती। मनुष्य अनेक जन्मोंसे जब भजन करता चला आता है, तब परमात्माकी कृपासे उसे

कोई महात्मा मिल जाते हैं, वे समझा देते हैं कि जिसका पूजन करता है, वह आप ही हैं। जब सभी कुछ ईश्वर नजर आता है तब वह किसके साथ राग करे और किससे प्रेम करे ? यह भी शास्त्रीय बात है। अनुभव नहीं।

जो अनुभव है वह कहनेका विषय नहीं, मन-बाणी वहाँतक जा नहीं सकते।

संसारको असार जानकर ईश्वर आनेके लिये मनमें प्रवृत्ति हुई, मेरा जन्म जिला होशियारपुरसे तीस कोसपर एक स्थान दिसुआ मकरियामें हुआ था। पचीस-छब्बीस वर्षकी अवस्थामें यह वैराग्यकी भावना उठी, फिर गुरु मिले। यह संसार असार है, लोगोंके जन्म-मरणको देखकर भजनकी ओर प्रवृत्ति हुई थी। मुझ्के साथ जाते हैं, उस समय प्रायः सबको वैराग्य हो आता है, पर वह ठहरता नहीं, वैराग्य असली होना चाहिये।

(१४) श्रीज्वालासिंहजी

(आपने कृपापूर्वक अपनी आँखों-देखी दो घटनाएँ सुनायीं)

(क) संवत् ८८ के आश्विन-मासमें एक पागल शवधूत यहाँ पधारे, उन्हें प्रायः सभी पागल कहकर पुकारते। अवस्था देखनेमें तीस-बत्तीसकी होगी। रंग गेहूँआ, चेहरा प्रकाशयुक्त, होंठ लाल, ब्रह्मचर्यसे पूर्ण, दुपहरीमें आकर यहाँ खड़े हो गये। क्षेत्रसे लेकर भिक्षा की। यहाँसे चार कोसपर ध्यौरऊ गाँवके च।सेसिंह पहाड़वान कभी-कभी मेरे पास आते थे। वे ब्रजकी यात्राके मेरे मित्र थे। वे भी वहीं थे। उसी समय हरद्वारपुरका एक कोची आया और कहने लगा 'मेरी बी बहुत बीमार है, कुछ

दवा हो तो दे दो, उसकी पसलीमें बड़ा दर्द है।' पागल महाराज भी वहीं बैठे थे, लोभेकी बात सुनकर वह अचानक बोल उठे 'जा, देख अब दर्द नहीं होता।' लोभेने उसे बोँ ही पागलकी बात समझी और उसपर कुछ ध्यान नहीं दिया। मैंने कहा, 'महाराजकी बात है, तू घर जाकर एक बार देख।' वह घर गया और तुरन्त ही वापस लौटकर बोला, 'उसको आराम है, पहले दाहिनी पसलीमें दर्द था अब थोड़ा-सा बाई पसलीमें रहा है।' (उसके दर्दका बहुत दिनसे इलाज हो रहा था, पर फायदा नहीं होता था) यह सुनकर पागलने फिर कहा, 'जा देख, अब दर्द नहीं है।' कोची फिर घर गया और

आकर कहने लगा 'आराम है।' जोधेने पागलके चरण पकड़ लिये। पागल उठाकर मारकर मला हँसी हँसने लगा और बोला 'प्यारे कृष्ण! ऐसा धोखा न दिया करो, तुमने मेरे मुँहसे क्या निकलवा दिया?' मेरे मित्र पहलवान कहने लगे, 'महाराज! उस प्यारे कृष्णके हमें भी दर्शन कराइये, पर हम देखेंगे चतुर्भुजी रूप।' मैंने भी कहा 'महाराज, इन्हें करा दो, फिर हमें भी कराना।'।

मेरे मित्र पहलवान निरर्थक वास हजार नाम-जप किया करते थे। वे आश्रमके नीचे गंगामें पूज्य श्रीअच्युत मुनिजी महाराजकी जो नौका खाली खड़ी थी, उसमें भजन करने चले गये। एक बगटे बाद पागल भी वहीं पहुँचा। पहलवान नौकाके कमरेमें बैठे सन्ध्या कर रहे थे, पागलने जाकर कमरेके किवाड़ बन्द कर दिये, उस समय पहलवान-को श्रीकृष्णकी कई रंगोंकी एक अति भयानक आकृति दिखाई लगी। (पहलवानके बतलाये हुए उस समयके रूपकी याद आती है तो मेरे रोंगटे खड़े हो जाते हैं।) पहलवान उसे देखकर डर गये और लगे भागने। पागलने उनके दोनों पहुँचे पकड़ लिये और हाथ पीछे करके उन्हें जकड़कर बैठा लिया। पहलवान बिस्कुल बेहोश-से हो गये। तब पागलने उन्हें छोड़ा। थोड़ी देरमें जब उन्हें होश आया तो वे धर-धर काँपते मेरे पास आये और वहाँका वृत्तान्त कहने लगे। मैंने उन्हें डाँट दिया कि 'खबरदार, ऐसी बातें कहने योग्य नहीं हैं, तुम्हारे धन्य भाग्य हैं जो यह बात नसीब हुई।'।

पहलवान भाँग पीया करते थे, जब भागने लगे थे तो पागलने भाँगकी गोली पहलवानसे वहीं छीन ली थी। पागल वहाँसे चले गये और शामको भाँग पीये हुएकी-सी स्थितिमें आकर यहाँ पकड़े सीमेण्टके चबूतरेपर खड़े हो गये। पहले मैंने कहा था 'महाराज! इनको दर्शन करा दो, फिर हमें भी कराना।' पागल पहलवानसे कहने लगे 'अगर तू रक्षा-सहा चतुर्भुजी देखना चाहता है तो, या तो तू नहीं होगा या तेरा पुत्र नहीं होगा।' मुझसे कहा, 'तू भी दर्शन करना चाहता है?' मैंने कहा, 'आप नालुश न हों, हमें नहीं चाहिये। हम तो ऐसे ही मरे हैं।' पागल बोले, 'अच्छा, देखना चाहता है तो पहले श्रीकृष्णके काष्ठिय-नागको देना।' देखते-ही-देखते अकस्मात् एक बड़ा भयंकर काका सर्प आया (वहाँ पकड़े सीमेण्टके चबूतरेपर सर्प होनेकी या आनेकी किसी प्रकार भी सम्भावना नहीं हो सकती)

और मेरी जाँघतक दोनों पैरोंमें छिपट गया। मैं चौंक रह गया और एकदम झटका देता हुआ तड़ककर दूर जा खड़ा हुआ। सर्प मेरे पैरोंसे छूटकर वहीं पास ही देखते-ही-देखते लुप्त हो गया। बादमें देखा भी, पर कहीं पता नहीं लगा! पागल उस समय खिझाकर बोले, 'देखा, कृष्णका काष्ठिय-नाग और करेगा कृष्ण-दर्शन?' मैंने कहा, 'नहीं महाराज! आप क्रोध न करें, मुझे कृष्ण-दर्शन नहीं चाहिये।'।

मुझे बुझार हो गया, इसके चौथे दिन मैं और पहलवान रास और दर्शनोंकी इच्छासे वृन्दावनके लिये चल पड़े। वृन्दावन जाते समय मुझे १०२ डिग्रीका ज्वर हो गया। हम दोनों वृन्दावनके निकट जा रहे थे, देखते हैं, जयपुरवालोंके मन्दिरके पास एक पेड़की जड़में बड़ी पागल धोक दिये पड़े हैं। मैंने कहा 'पागल तो यह पड़े।' खैर, हमलोग वृन्दावन पहुँचे। दो-तीन दिन रास देखा, टिकारीवाली रानीके मन्दिरमें छोटेकाजकी मयबलीका रास होता था। हमलोग उसी मयबलीका रास देखते। तीसरे दिन वहाँ उसल-बन्धन-छीला थी। हम बड़े प्रेमसे सुन रहे थे, उसमें एक बात बड़ी उत्तम और विद्वान् भायी, जिसके कारण हमारा हृदय द्रवित होने लगा। जब मैया यशोदा ब्रजचन्दलाको पकड़नेके लिये दौड़ती है और लीलाघर छोड़ा करते हुए हाथ नहीं आते, तब मैया श्यामसुन्दरको खड़े रहनेके लिये सरय-युगके भक्तोंकी शपथ दिखाती है, पर प्रभु हाथ नहीं आते, फिर भेताके भक्तोंकी शपथ देती है, तो भी उन्हें नहीं पकड़ पाती, फिर द्वापरके भक्तोंकी शपथ देती है, इसपर भी वे हाथ नहीं आते, अन्तमें कलियुगके भक्तोंकी शपथ देती है। जिस समय कलिके भक्तोंकी शपथ महाराज सुनते हैं, उसी समय खड़े हो जाते हैं और मैया पकड़कर उन्हें उसलमे बाँध देती है। फिर उसल घरके सामनेके बूझोंमें अटक जाता है। यह लीला हो रही थी। भगवान्ने दोनों वृक्षोंको झटका देकर तोड़ा और उनमेंसे प्रकट हुए यमलाञ्जुन भगवान्की स्तुति करने लगे। उस समय भगवान्का चतुर्भुज रूप था। यमलाञ्जुन यह स्तुति कर रहे थे—

धन्य मुनिवर शाप दीनो अति अनुग्रह संकियो।

जसु सुर-त्रादि दुर्लभ नाथ। तुम दर्शन दियो॥

अब कृपा करि प्रभु देहु यह वर चरण-पंकज भति रहे।

जन्में जहाँ निज कर्मबश, तहाँ एक तुम्हरी रति रहे॥

जिस समय यह 'अन्ध मुनिवर शाप दीनो' शब्द कहे जा रहे थे, उस समय मैंने पहलवानकी तरफ मुड़कर देखा कि मेरे और पहलवानके सिरके ऊपरसे पीछेमे खड़े होकर पागल हाथ बढ़ाये हुए भगवान्‌के चतुर्भुजरूपकी ओर शंगुलीका इशारा कर रहे हैं और कहते हैं 'ले, कर ले दर्शन चतुर्भुजरूपके।' रास समाप्त हुआ तो पागल बोले, 'तूने हमें इतनी दूरसे परेशान किया।' यह कहकर वे तो चले गये—हजर रास समाप्त होते ही पहलवान बे-सुध-मे हो गये, वे प्रेममें विभोर हो गये, उस दिन पहलवानको बड़ा ही आनन्द आया। पहलवानने कहा कि 'आज कहीं ऐसा भाग्य हो जाय कि साथ (जो रासमें चतुर्भुज भगवान्‌ बने हुए थे) के चरणारविन्द इस मस्तकपर लग जायँ।'।

रास समाप्त होनेपर श्रीठाकुरजीको मैं ही अपने कन्धे-पर चढ़ाकर निवास-स्थानपर ले जाया करता (मैंने बहुत बड़ा खोज-बीनके बाद व्रजभरकी सभी रास-मण्डलियोंमेंसे चुनकर इस मण्डलीके श्रीठाकुरजी तथा महारानीजीके प्रति अपना सब कुछ अर्पण किया था)। उस दिन पहलवानके कन्धेपर बैठनेको श्रीठाकुरजीसे प्रार्थना की। श्रीठाकुरजी उल्लसकर पहलवानके कन्धेपर बैठ गये। पहलवान उनके दोनों चरणकमलोंको अपने हाथोंसे धामे अपार आनन्दमें मग्न होते हुए उन्हें निवास-स्थानपर ले गये। उस समयकी पहलवानकी आनन्दमयी स्थिति देखनेयोग्य थी। वहाँमे पहलवान मेरे पास छेदेपर आये और शेष रात्रिभर उनको नींद नहीं आयी, हँसते-हँसते प्रभात हो गया। दूसरे दिन हम दोनों औरियाको चल दिये। रास्तेमें मुझे भी ज्यादा तकलीफ हो गयी। मैं तो गाड़ीमें आया और पहलवान पैदल आये। वहाँ आकर पहलवानको छः लंघन हुए। परन्तु वह यहाँ मन्थिरमें जो नित्य कीर्तन हुआ करता था, उसमें जरूर जाते। एक दिन वह बोले, एक बालिशतमर ऊपरतक पहुँची जान निकल गयी है। दूसरे दिन बोले, दो बिन्ता पैर निर्जीव हैं। तीसरे दिन तीन, चौथे दिन चार, पाँचवें दिन पाँच, इस तरह कहते-कहते छठे दिन कहने लगे, अब सारे शरीरके प्राण निकल जा रहे हैं। अन्तिम समय कहने लगे कि 'जिसके लिये हम यह 'जी' काये थे, वह हमें मिल गया। अब यह शरीर रहे या न रहे, कोई बात नहीं।' अन्त समयमें मुझसे बोले 'भैया, राधारमणसे

हमारा चरण छूना कहना और कहना हमारे हेतु वे फिर राधारमण बनेंगे, हम फिर उन्हें इसी भावमें देखेंगे।' अन्त समयमें यह पद कहा—

जिस हालमें जिस वेशमें जिस देशमें रहूँ।

राधारमण राधारमण राधारमण कहूँ॥

इसप्रकार उस मनमोहनके प्रेममें मतवाले भक्तने अपने प्राण विसर्जन कर दिये।

उनकी स्थिति कुछ ऐसी हो गयी थी कि वे सोतेमें, जागतेमें प्रायः प्यारे मनमोहनकी अनेक लीलाएँ देखा करते। ऐसे-ऐसे पद सुनाते जो किसी पुस्तकमें देखनेको नहीं मिलते। यहाँतक कहते कि प्यारेके आनन्दमेंसे मुझको कोई जगा देता है और कहता है 'उठकर भजन कर।'।

काँई कहता, 'भजन क्यों नहीं करते?' तो कहते, 'भजनका जो फल है, वह प्यारे मेरे सामने खड़े हैं।' रास देखनेके बाद वे आठ-नी दिन जिये। वे कहते, एक बड़ा निमल शीशा है, उसके दाएँ-बाएँ सूर्य और चन्द्रमा हैं, बीचमें प्यारेकी मधुर मूर्ति है। व्रजमें रहते, तबतक वे प्रायः इसी पदको गाते रहते—

'माध पै मुकुट देख, चन्द्रिका चटक देख,

छनिकी डटक देख, रूपरस पीजिये।

(ख) एक ब्रह्मचारी आये थे, उन्होंने यहाँ आकर चालीस दिनोंका पुरश्चरण किया। क्षेत्रमें भोजन पा जाते और सारा समय गङ्गाकिनारे व्यतीत करते। डेढ़ मासके बाद जब अनुष्ठान समाप्त हो गया, सब वे यहाँसे व्रज-यात्राको जानेका विचार करने लगे। लर्चा उनके पास कुछ नहीं था। मैंने उन्हें एक रुपया दिया और कहा 'आप अलीगढ़तक पैदल जाइये, वहाँमे रेलमें बैठ जाइयेगा।' वह अलीगढ़ तो गये नहीं, राजघाट गये और स्टेशनपर जाकर उन्होंने अलीगढ़तककी टिकट लेनेका विचार किया, इतनेमें एक आदमी आया और बोला, 'महाराज! मधुरा तो नहीं जाओगे? मेरे पास एक टिकट है।' वह बोले 'हमारे पास इतने दाम नहीं।' परन्तु वह आदमी बिना दाम लिये ही टिकट देकर चला गया। उनकी भावना ऐसी थी कि सम्पूर्ण तीर्थ गिरिराजके दर्शन करनेपर भी यदि भगवान्‌ नहीं मिले तो और कहीं नहीं मिलेंगे क्योंकि श्रीराम और श्रीकृष्णकी प्राचीन निशानी है तो गिरिराज है। जब मुसलमान भक्त रसखान, आळम,

आदिल आदिने गिरिराजकी परिक्रमामें भगवान्के दर्शन किये हैं तो मैं तो हिन्दू हूँ, मुझको क्यों नहीं दर्शन होंगे ? यह मथुरा उतरे, वहाँसे गिरिराज पहुँचे । परिक्रमा-की कीमत एक रुपया जो उनके पास था, खर्च हो चुका था । एकादशीके व्रतका दिन था । इनका रात-दिनका समय भगवन्नाम-जपमें ही बीतता था । परिक्रमा कर चुके तो एकादशीके दोपहरके समय इन्हें एक लड़का मिला और बोला 'बाबा, तुम परिक्रमा कर रहे हो, आज तुमको भोजन नहीं मिला ?' वे बोले, 'नहीं मिला, हम तो कई परिक्रमा करने आये थे, यहाँ भिक्षाका ठीक नहीं है, प्यारेकी ऐसी ही मर्जी है, हम क्या करें ?' लड़का बोला, 'चलो, हम अपने घर खिळा लावें ।'—लड़का उन्हें एक ब्राह्मणीके घर ले गया । ब्राह्मणी बड़ी भक्त थी, एकादशीके दिन

फलाहार बनाये बैठी थी । लड़केने घरमें जाकर उन्हें पानी दिया । ब्राह्मणीका यह नियम था कि कोई साधु आता तो पहले उसे भोजन कराती फिर आप करती । ब्रह्मचारीजी बैठ गये, ब्राह्मणीने फलाहार परोसा । ब्रह्मचारीजी खाने लगे । लड़का चला गया । जब फलाहार कर चुके तो ब्राह्मणी बोली, 'महाराज ! मैं तो इसी आशामें थी कि कोई आये तो फलाहार कराऊँ । आपको कौन बुलाकर लाया ?' ब्रह्मचारी बोले 'तुम्हारा पुत्र खिळा लाया था, बोला 'यह घर मेरा है ।' बुदिया कहने लगी 'महाराज ! मेरे तो कोई पुत्र ही नहीं, इस लड़केको तो मैं जानती भी नहीं, कौन है !' यह सुनकर ब्रह्मचारीजी दंग रह गये और फूट-फूटकर रोने लगे । यह घटना स्वयं ब्रह्मचारीजीने वापस लौटनेपर मुझसे कही थी ।



(१५) स्वामी श्रीभोलेबाबाजी

बहुत-से लोगोंको कहने सुनता हूँ कि ईश्वर दूर है, मैं कहता हूँ, हाजिरा-हुज़ूर है, सर्वत्र भरपूर है । कई कहते हैं कि ईश्वर नहीं है, मेरा कहना है कि ईश्वर हर कहीं है । पासमे भी पास है, खामुल-खास है । सबका अपना आप है, निष्पाप है, निष्ठाप है, आनन्दका समुद्र बेमाप है, शान्तिका अचल पहाड़ है, उसमें न पढ़ा है न आढ़ है ! ईश्वर-रूपा बिना ईश्वरका ज्ञान नहीं होता, ईश्वरके ज्ञान हुए बिना मनुष्यका कल्याण नहीं होता । ईश्वरका ज्ञान हुआ कि क्षणभरमें जीवका कल्याण हुआ ! ईश्वर सन्मात्र है, चिन्मात्र है, सुखमात्र है, अमात्र है ! सन्मय है, चिन्मय है, आनन्दमय है, निरामय है ! शुद्ध है, बुद्ध है, निर्मुक्त है, अक्षय है, अक्षय है, अनिरुद्ध है, प्यारे-मे-प्यारा है, सर्व उपाधियोंमे न्यारा है, उजियारोंका उजियारा है ! न उसका रंग है, न रूप है, रंग-रूपमे रहित अरूप है, न उसमें छाया है न भूप है, उपमाहित अनूप है, निष्कल है, निरञ्जन है, भवभयमञ्जन है, झौंझोंको लोलनेवाला अद्भुत अञ्जन है, अपने जनोंके लिये सुखदाता रञ्जन है ! एक है, शान्त है, अद्वय है, अनन्त है, सब करुणामाँसे दूर है, सब नूरोंका नूर है ! अप्रत्यक्ष है, अचिन्त्य है, इन्द्रियोंसे पर मनमे रहित निश्चित है, अकृपणीय है, अनिर्वचनीय है ! पावनसे भी पावन है, शुद्धसे भी शुद्ध परम सुहावन है, प्रायोंका प्राण है, जानकी जान है, सत्य है, प्रज्ञा है, प्रज्ञान

है, न ग्राह्य है न स्याज्य है, न प्राप्य है न अप्राप्य है ! अपना आप होनेमे सर्वदा ही प्राप्त है, उसको जानकर कर्तव्य हो जाता समाप्त है ! एक है, अद्वितीय है, फिर भी मायामे मोहित पुरुषोंको भासता सद्द्वितीय है ! स्वयंज्योति है, सबको प्रकाशता है, सबसे प्रथम भासता है, स्वयंसिद्ध है, विद्वानोंको प्रसिद्ध है, अविद्वानोंको अप्रसिद्ध है, सब कुछ होता उसीसे सिद्ध है ! मिथ्या भी संसार ईश्वरकी सत्तामे सत्ता-सा प्रतीत होता है, अशुचि भी देह ईश्वरकी पवित्रता-मे पवित्र-सा दिखायी देता है, जैसे मृत्तिका सत्य है, घट कल्पित है, जैसे सुवर्ण वस्तु है, भूषण आरोपित है, जैसे लोहा परमार्थरूप है, स्वर्णादि अध्यत्म हैं, इसी प्रकार एक ईश्वर ही सत्य है और सर्व नाम-रूप जगत् उसमें अध्यारोपित है !

एक ईश्वर सर्वत्र परिपूर्ण है, न कहीं जाता है, न कहीं आता है, सर्वदा है, सर्वत्र है, सर्व है, मन समझता है कि मैं सबसे अधिक दौबनेवाला हूँ, मेरे समान कोई दौब नहीं सकता, परन्तु जब मन ईश्वरका दर्शन कर लेता है, तो समझता है कि मैं जहाँ-जहाँ जाता हूँ वहाँ ही ईश्वरको पाता हूँ, इसलिये मैं कोई बस्तु नहीं हूँ, ईश्वर ही मेरा स्वरूप है । ईश्वर न हिलता है, न डुलता है, न घटता है, न बढ़ता है, किन्तु सर्वदा एकरस है । इन्द्रियों ईश्वरतक नहीं पहुँच सकतीं, क्योंकि जहाँ-जहाँ इन्द्रियाँ जाती हैं, वहाँ-वहाँ

ईश्वर पूर्वसे ही विद्यमान है। अनेक विश्व ईश्वरमेंसे उत्पन्न हो-होकर लय हो जाते हैं, ईश्वर ज्यों-का-त्यों ही रहता है, ईश्वरमें विश्वका नाशनाश नहीं है, ईश्वरकी मायासे मोहित पुरुषोंको ईश्वरमें विश्व भासने हैं। परमार्थसे ईश्वर असंग है, अनंग है, निष्कल है, निरञ्जन है, गुणातीत है, मायातीत है, कायातीत है, सर्वातीत है, शेष है, निर्घोष है, निर्दोष है, ऐसे ईश्वरमें विश्वकी कल्पना ही नहीं हो सकती। यह विश्व ब्रह्माका रचा हुआ है, ऐसा शास्त्रकारोंका कथन है, यह उनका कथन ठीक ही है, परन्तु मन बिना यह विश्व देखनेमें नहीं आता, मनसे ही देखनेमें आता है, इसलिये विचार कर देखा जाय, तो यह विश्व मनका ही रचा हुआ है। जब मन बारम्बार ईश्वरानुसन्धान करता है तो मनको निश्चय हो जाता है कि मैं मन नहीं हूँ, किन्तु अक्षय, अव्यय, निरामय शिव ही हूँ। तब वह इसप्रकारका अनुभव करता है—

अहोहा ! मैं मन नहीं हूँ, अब मैं नाममात्रका मन हूँ, देखनेमात्र हूँ, संस्कारमात्र हूँ, जली हुई रम्मीके समान दूसरोंकी दृष्टिमें मनका आकार हूँ, वस्तुतः सच्चिदानन्द निर्विकार निराकार हूँ। शुद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, निरञ्जन हूँ, निर्मुक्त हूँ, चिद्वचन हूँ, शब्दसे रहित हूँ, स्पर्शसे वर्जित हूँ, रूपसे हीन हूँ, रससे विहीन हूँ, गन्धसे शून्य हूँ, सर्वसे पीन हूँ, शब्दका शब्द हूँ, स्पर्शका स्पर्श हूँ, रूपका रूप हूँ, रसका रस हूँ और गन्धका भी गन्ध हूँ। आकाशका आकाश हूँ, वायुका वायु हूँ, तेजका तेज हूँ, जलका जल हूँ और पृथिवीकी पृथिवी हूँ। पूर्वमें मैं हूँ, पश्चिममें मैं हूँ, दक्षिणमें मैं हूँ, उत्तरमें मैं हूँ। आग्नेयमें, नैऋत्यमें, वायव्यमें और ईशानमें मैं हूँ। नीचे मैं हूँ, ऊपर मैं हूँ, सर्वत्र मैं हूँ। सर्वका प्रकाशक हूँ, ज्योतिर्योका ज्योति हूँ, तमसे परे हूँ, आवि-अन्त-मध्यसे रहित हूँ, सर्व भेदोंसे वर्जित हूँ। सर्व नाम मेरे ही हैं, सर्व नामोंसे मैं रहित हूँ, तीनों देहोंसे रहित तीनों देहोंका साक्षी हूँ, तीनों लोकोंसे रहित तीनों लोकोंका प्रकाशक हूँ ! देहों और लोकोंका ही नहीं, उनके अभावका भी मैं साक्षी हूँ।

मैं ही एक सुखरूप हूँ, मेरे सिवा सब दुःखरूप है, मांसादिका बना हुआ स्थूल देह प्रत्यक्ष दुःखरूप है, वासनार्ण, सूक्ष्म शरीर कामादिका हेतु होनेसे दुःखरूप है और कारण-शरीर अज्ञानरूप होनेसे दुःखरूप है, तीनों गुण दुःखरूप

हैं, तमोगुण अज्ञानरूप होनेसे, रजोगुण विक्षेपरूप होनेसे और सत्वगुण परिणामी होनेसे दुःखरूप है। तीनों गुणोंका बना हुआ ब्रह्माण्ड दुःखरूप है, यद्यपि ब्रह्माण्ड दुःखरूप है परन्तु यह ब्रह्माण्ड मुक्त आनन्दस्वरूप आत्मामें अभ्यस्त होनेसे मुक्तसे इसका कुछ सम्बन्ध नहीं है, इसलिये मेरे विचारसे ब्रह्माण्डका आत्यन्तिक प्रलय हो गया है। आत्यन्तिक प्रलय ही ब्रह्मस्वरूप सुखरूप है, इसीका नाम मोक्ष है, यह ही कैवल्पपद है, यह ही निर्वाण है, यह ही मेरा स्वरूप है, इसलिये मैं शान्त हूँ, सुख हूँ, आनन्द हूँ, परमानन्द हूँ, अमृत हूँ, निरामय हूँ, निरञ्जन हूँ, भूमा हूँ, निर्विकार हूँ, निर्मय हूँ, निःशोक हूँ, निर्मोह हूँ, सदाशिव हूँ, देहातीत हूँ, आयातीत हूँ, निष्प्रपञ्च हूँ, अद्वय हूँ, एक हूँ, अपेक्षेय हूँ, अभेद्य हूँ, निरवयव हूँ, शब्दातीत हूँ। क्या कहूँ क्या हूँ, जो हूँ सो हूँ, सुखका अक्षय सागर हूँ, शान्तिका अचल पहाड़ हूँ, अखण्ड आनन्दका भण्डार हूँ, रसोंका रस हूँ, सारका सार हूँ, बाह गुरु ! बाह शास्त्र ! बाह ईश्वर ! मालामाल कर दिया, निहाल कर दिया, संसार-सागरसे पार कर दिया ! आप तीनोंकी कृपा बिना कोई अपने बलसे अथाह संसार-समुद्रका पार नहीं पा सकता, आपकी कृपा ही संसार-सागरसे पार करनेवाली और नरको नारायण बनानेवाली है ! सनकादि गुत्तोंको नमस्कार है ! करोड़ों बार नमस्कार है !! बारम्बार नमस्कार है !!!

शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

कुं०—नाना कुछ भी है नहीं, एक तत्त्व भरपूर।

सबका अपना आप सो, नहीं पास नहीं दूर।

नहीं पास नहीं दूर, सर्वमें एक समाया।

सच्चिद पुणं अखण्ड, भेद दिखाती माया।

भोला ! सो नर बन्य, तत्त्व जिसने पहि जाना।

सो नर है हतभाग्य, एकमें देखे नाना।

भूमा हो सुखरूप है, अल्प मोहि सुख नाहि।

अविच्छल सुख यदि इष्ट हो, लय हो भूमा माहि।

लय हो भूमा माहि, मोक्ष ले सुख भोगोंसे।

हो जा अपना आप, छूट जा सब रोगोंसे।

भोला ! भीतर देख, फिरे मत बाहर भूमा।

अल्प माहि सुख नाहि, मात्र केवल सुख भूमा।



(१६) पण्डितप्रवर श्रीपञ्चाननजी तर्करत्न

१ अपने मनुष्य-जन्मको सार्थक करनेके लिये ईश्वरको मानना चाहिये ।

व्याख्या—

जीवमात्र ही त्रिगुणात्मिका मायाके अधीन है । सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं; सत्त्वगुण ज्ञान और सुख-प्रधान है, रजोगुण कर्म और दुःख-प्रधान है एवं तमोगुण आवृतभाव और मोह-प्रधान है । सभी जीवोंमें न्यूनाधिक-रूपसे ये तीनों गुण अपनी शक्तिको प्रकट करते हैं । अन्यान्य जीवोंमें ज्ञानका विकास अल्प होनेके कारण ये तम-प्रधान हैं; मनुष्य कर्म होनेके कारण साधारणतः रज-प्रधान होने-पर भी उसमें जाति-वर्ण-भेदसे सत्त्वादि गुणोंका आपेक्षिक तारतम्य रहता है । इन तीनों गुणोंकी त्रितन्त्री-रज्जुसे जीव-मात्र बँधे हुए हैं । सत्त्व-प्रधान मनुष्य ज्ञान और सुखके बन्धनमें, राजस मनुष्य कर्म और दुःखके बन्धनमें और तामस मनुष्य निद्रा, प्रमाद, आलस्य और भयसे अभिभूत होनेके कारण इनके बन्धनमें बँधे हैं । इस बन्धनसे छुटकारा पानेका एकमात्र उपाय है—ईश्वरकृपा । भगवान्ने स्वयं कहा है—

मानव ये प्रपद्यन्ते मायामता तमन्ति ते ।

‘जो मेरी शरण होते हैं वे मेरी मायासे तर जाने हैं ।’ इस प्रमाणसे ही नहीं, जरा-सा प्रयत्न करनेपर इस बातको प्रत्यक्ष भी किया जा सकता है । मनकी कैसी भी अवस्था हो, कुछ देरतक बलात् बैठ जाओ और मनको अपने हृदय-कमलपर स्थित इष्टदेवके चरणोंमें लगा दो, थोड़ी ही देर क्यों न हो, फिर देखो, उस समय जो शान्ति मिलती है वह कितनी मधुर है ! इसप्रकार जितनी अधिक देर बैठ सकोगे, उतना ही शान्तिका आनन्दानुभव अधिक मिलेगा, इस प्रशान्त भावके स्थायी होनेपर, यदि इसी अवस्थामें देह-त्याग हो जायगा तो तुम सहज ही बन्धनसे मुक्त होने-के मार्गपर चले जाओगे । ईश्वरको न माननेपर यह शान्ति तुम्हें कभी नहीं मिल सकती । सम्भव है कि शराबके मदो-की भाँति तुम्हें कामिनी-काञ्चनमें उल्लास आनन्दका अनुभव हो, किन्तु वह शान्ति नहीं है, बन्धन-मुक्तिका मार्ग नहीं है । पता नहीं, संसार-नदीके प्रवाहमें बहते-बहते तुम किस भयानक अपाह्न सागरमें जाकर गिर पड़ोगे । ईश्वर-अधिक

इस भव-नदीके बीचमें एक आनन्द-द्वीप है, इस द्वीपका आश्रय मिल जानेपर नदीमें बहना नहीं पड़ता । नहीं तो, इस बातका कोई निश्चय नहीं है कि इस जन्मका मनुष्य दूसरे जन्ममें किस बानिको प्राप्त होकर पुनः भ्रमणके चक्रमें पड़ जायगा, ईश्वरका आश्रय लेनेपर ही मनुष्य-जन्म सार्थक होगा, तभी वह उल्टा बहकर संसार-सरिताके मूल-स्थानपर पहुँच सकेगा ।

२—ऐसी कोई हानि ही नहीं है जो ईश्वरमें अविश्वास करनेपर न हो ।

व्याख्या—

ईश्वरमें अविश्वासी मनुष्य नीतिके रूपमें सत्यनिष्ठाता-को ग्रहण कर सकता है परन्तु ऐसी अवस्थामें गुह्यरूपसे उसका सत्यनिष्ठामें गिर जाना बहुत सम्भव है । जिसका ईश्वरमें विश्वास नहीं है, जिसके मनमें भगवाणकृपा प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं है, वह कितना ही समाजसेवक क्यों न हो, केवल नीतिका आश्रय लेकर वह काम-क्रोधादि रिपुओंकी सामयिक उत्तेजनासे कभी नहीं बच सकता और उपर्युक्त शान्तिके मार्गकी ओर तब वह जा ही नहीं सकता । अतएव ईश्वरको न माननेमें सत्यमें गिरना, इन्द्रियसंयमका अभाव और शान्तिपथके अनुसन्धानमें असमर्थता आदि अनेक प्रकारकी हानियाँ होती हैं ।

३—ईश्वर समस्त प्रमाणाँमें अतीत है, ऐसा दार्शनिकगण कहते हैं, उनके इस कथनका क्या अर्थ है, इस विषयपर मैं कुछ भी नहीं कहना चाहता । पर मेरा अपना मत यह है कि ईश्वर सर्व-प्रमाण-सिद्ध है । एक मृणसे लेकर बड़े भारी ग्रह तक जिस ओर भी देखो, सभी ईश्वरका प्रमाण है । यह अनन्त विचित्रतामय विश्ववट कोई आकस्मिक नहीं है, अचेतनका विकास नहीं है, इसके अन्दर जो निपुणता भरी है, उसकी सर्वज्ञ और सर्व-शक्तियोंके स्वामीके अतिरिक्त और कोई नहीं दिखला सकता । इसके सिवा मैं अपने विश्वासपर यह भी कहता हूँ कि भगवान् मत्तके दृष्टिगोचर और वाक्य-प्रयोगके द्वारा अुतिगोचर भी हुआ करते हैं । शास्त्रप्रमाण तो है ही; मैं पुनः कहता हूँ कि ईश्वर सर्व-प्रमाण-सिद्ध है । उनको प्रत्यक्ष किया जाता है, अनुमानसे समझा जाता

हैं और आस-बासियोंसे जाना जाता है। ईश्वरकी सिद्धिके लिये प्रमाण नहीं ढूँढ़ना पड़ता।

४—प्रायः ३३-३४ वर्ष पहलेकी बात है। आषाढके कृष्णपक्षकी रात्रि थी, आकाश बादलोंसे आच्छादित था, मैं रातको घाट बजेकी ट्रेनसे, कलकत्तेसे अपने घर जा रहा था। हमारा मकान मट्टपट्टी गाँवमें कलकत्तेसे सारे बाईस मील उत्तरकी ओर है। बाईस मीलपर काँकनाड़ा स्टेशन है, स्टेशनसे उत्तर छः-सात मिनटके रास्तेपर हमारी पाठशाला है, उससे उत्तर तीन-चार मिनट चलनेपर हमारा घर मिलता है, रेकड़ी पटरीके नीचे इस समय स्टेशनसे लेकर हमारे घरके पासतक पक्की सबक बन गयी है। किन्तु उस समय पक्की सबक नहीं थी। बल्कि पाठशालाके सामने एक पुष्करणी थी और पूर्वकी ओर रेकके तार लगे हुए थे; पुष्करणीके पूर्वाश और तारोंके पश्चिमांशके बीचसे एक छोटी-सी पगडण्डी थी। ट्रेन आनेके समय भगवत्कृपासे मेरा मन उनके नाम-कीर्तनमें लग गया। जिस समय ट्रेन बारकपुर स्टेशनपर पहुँची, उस समय थोड़ा-थोड़ा पानी बरस रहा था, बारकपुरमें सारी गाड़ी खाली हो गयी। उच्छस्तरसे नाम-कीर्तनका सुयोग देखकर मेरे मनमें अत्यन्त आनन्द हुआ, परन्तु वर्षों और अन्धकारको देखकर कुछ क्षणोंके लिये मन जरा चञ्चल हो गया। रेकके किनारे रास्तेकी फिसलाहट और झँधेमें पुष्करणीके बीचसे होकर जानेमें क्लेशकी बात याद आ गयी, मनमें स्फुरणा हुई कि कहाँ तो यह आनन्द और कहाँ ट्रेनसे उतरते ही उतना क्लेश! परन्तु दूसरे ही क्षण यह विचार जाता रहा और मैं नाम-कीर्तनके आनन्दमें निमग्न हो गया। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उस समय मुझे बाह्यज्ञान नहीं था, क्योंकि काँकनाड़ा स्टेशन आते ही मुझे पता लग गया और मैं गाड़ीसे उतर पड़ा। अब नाम-कीर्तन बन्द हो गया। सब ओर अन्धकार छा रहा था, सीधे रास्तेमें बड़ी फिसलान है और दूरके राज-पथपर शराबियोंका उपद्रव है। अन्तमें मैंने सीधे रास्तेसे ही जाना स्थिर किया और धीरे-धीरे चल पड़ा। कुछ ही दूर चला था कि मैंने देखा, लालटेन लिये कोई आ रहा है और दक्षिणाक्षी ओर घोरसे आगे बढ़ रहा है, रास्तेके बगलमें आते ही मैंने देखा, मेरे ही दो विद्यार्थी हैं। मैंने विस्मित होकर उनसे पूछा 'तुम लोग कहाँ जा रहे हो?' उन्होंने कहा 'आपको केने।' मैंने

फिर पूछा 'तुम लोगोंको कैसे पता लगा कि मैं इसी ट्रेनसे आ रहा हूँ?' विद्यार्थियोंने उत्तर दिया—'अभी जो ट्रेन स्टेशनसे निकल गयी उसमेंसे आपही तो बड़े जोरसे हमलोगोंका नाम लेकर पुकारते हुए कह रहे थे कि रोशनी लेकर जल्दी स्टेशनपर आओ, इसीसे हमलोग दौड़े आये हैं।' 'ट्रेन स्टेशनमें उतरकी ओर गयी, फिर तुम दक्षिणकी ओर क्यों आये?' मैंने छात्रोंसे पूछा। उन्होंने कहा 'ठीक तो नहीं कह सकते कि ऐसा क्यों किया, परन्तु यह सोचा कि पहले काँकनाड़ा स्टेशन देखकर तब उत्तरके नैदाटी स्टेशन जायेंगे, इसीसे इधर चले आये।' मैंने सोचा, 'मैं कितना हतभाग्य हूँ, मुझे इस सामान्य क्लेशका झरन न होता, तो पता नहीं कितनी भगवत्-कृपा प्राप्त होती! उस समयकी मनकी स्थितिका क्या वर्णन करूँ? मेरी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बह रही थी। मैंने गद्गद-कण्ठ होकर दोनों छात्रोंसे कहा 'भरे, तुम बड़े भाग्यवान् हो, तुमने आज भगवान्‌के शब्द श्रवण किये, मैंने तुम्हें नहीं पुकारा था, यह पुकार तो उन्हींकी थी।'

ये दोनों ही छात्र अभ्यापक हुए। दोनोंने ही उपाधियों प्राप्त कीं। इनमेंसे मयुरेश तर्कतीर्थ तो निमज्जापाक-राज्यके सभा-पण्डित हुए; अब इनका परलोकवास हो गया है और दूसरे श्रीमान् रामरत्न तर्कतीर्थ इस समय मेदिनीपुर जिलेकी प्रधान चतुष्पाटीके प्रधान अभ्यापक हैं।

उस समय मुझे इसप्रकारकी कृपाके और भी अनुभव होते, किन्तु वयोवृद्धिके साथ-ही-साथ मेरी अवनति होती गयी। इस समय मैं प्रभुसे दूर हूँ। उनका परित्यक्त अपराधी भूत हूँ। ये सब बातें खोलनेकी नहीं थीं, किन्तु बहुत दिनोंसे मैं उन्हें भूल रहा हूँ, उनकी कृपाका अनुभव नहीं कर पाता हूँ, इसीसे निराश होकर आज यह लिख रहा हूँ।

चौथे प्रश्नका उपसंहार यह है कि मैं अपनी दस वर्षकी उम्रमें ही, केवल बाईस घण्टेके अन्दर पहले पितृ-हीन और फिर मानुहीन हो गया था, तबसे वही—'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।'—भगवान् मेरे पिता-माता बन गये और उन्होंने ही मेरी रक्षा और शिक्षाविकी सारी व्यवस्थाएँ कीं। इस सम्बन्धकी प्रत्येक घटना मेरे लिये उनके माता-पिता होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण है; किन्तु इन बातोंका केवल मुझको ही पता है, दूसरा

कोई साक्षी नहीं, इसीसे मैंने इनका उल्लेख न करके, केवल एक उसी घटनाका वर्णन किया है, जिसका एक अप्रमादी साक्षी अभी तक जीवित है। फाक्टैन लेकर स्टेशनपर छात्रोंको बुलाना मेरे उन पिता-माताका ही कार्य था, इसमें कोई सन्देह नहीं। कारण, छात्र मेरी पाठशालामें पढ़ रहे थे, अनेक छात्र थे, चकती हुई गाड़ीसे मनुष्यके पुकारनेपर उसका बाइरके छोर्गेद्वारा बुला जाना असम्भव है। यद्यपि हमारी पाठशाला रेलसे ५०-६० फुटकी दूरीपर ही थी, किन्तु चकती गाड़ीमे और मेरे ही स्वरसे पुनः-पुनः पुकारना भगवान्की लीलाके सिवा और कुछ भी नहीं हो सकता। छात्रोंने मुझसे कहा था कि 'हमलोग निःसन्देहरूपमे आपकी ही आवाज सुनकर दौड़े आये हैं। कौन्नाकामे उत्तर डेढ़ मीलकी दूरीपर नैहाटी स्टेशन है, आप यहाँ न मिलते तो हमलोग नैहाटी जाते, परन्तु यहाँसे छूटकर नैहाटीको जाती हुई गाड़ीसे आपकी आवाज सुनकर मी हम यहाँ क्यों आये,

इस बातका ठीक उत्तर हम नहीं दे सकते, प्रबल इच्छा हुई कि पहले यही स्टेशन देख लें।'

कृपाकी यह घटना अति क्षुद्र होनेपर भी उन माता-पिताने यह सोचकर कि, इस अँधेरी बरसातकी रातमें हमारा बचा क्लेशकर मार्गसे कैसे जायगा, उसका उपाय किया था। मेरे घर छौटनेका कोई समय निश्चित न होनेके कारण मैं पहलेसे कोई व्यवस्था न कर सका, किन्तु मेरे माँ-बापने वह व्यवस्था—प्रकाश लेकर सामने जानेवालेकी व्यवस्था कर दी।

इस समय मैं अकिञ्चन, कठिन-हृदय होनेपर भी, उसकी कृपाकी बातका स्मरणकर सचमुच मुग्ध हो जाता हूँ और भी कितनी ही बातें हैं, पर उन्हें कह नहीं सकता।

पोद्दारजी ! आप चिरजीवी हों, आपके इस प्रभये उस समयके भावने जाग्रत होकर क्षणकाळके किये मेरे हृदयको शीतल कर दिया।

(१७) रमण महर्षि

१—क्योंकि ईश्वर (आत्मा) हमारे लिये सबसे बढ़कर प्रिय है, इसलिये हम निश्चयपूर्वक उसमें विश्वास करते हैं तथा हमें उसमें विश्वास करना भी चाहिये। ईश्वर हमसे भिन्न नहीं है, बल्कि वह हमारा अन्तरनम आत्मा है। इसीलिये हम ईश्वरकी ओर आकर्षित होते हैं।

२—जो मनुष्य ईश्वरमें विश्वास नहीं करता, वह केवल जगत्के बाह्यस्वरूपके प्रत्यक्षमें ही निमग्न रहता है। और यह समस्त शोक और सन्तापका मूल कारण है। शान्ति और आनन्दके चाहनेवाले पुरुषको अपने भीतर ईश्वर अर्थात् सत्-चित्त-आनन्दको खोजना होगा।

३—अन्तर्ज्ञान-सम्बन्धी अनुभवके लिये किस प्रमाण—प्रबल प्रमाणाकी आवश्यकता है? प्रमाणकी अपेक्षा अन्तर-अनुभव कहीं अधिक विश्वसनीय होता है। ईश्वर है। केवल ईश्वर ही है और आप उसके अस्तित्वका प्रमाण माँगते हैं। इस विषयके बौद्धिक (तार्किक) प्रमाण भी हैं, वे शास्त्रोंमें मिलते हैं। परन्तु अन्तर्ज्ञान सबसे प्रबल प्रमाण है।

४—पहलेकी बात है, जब मैं अरबानी बेल्लूरके

मन्दिरमें गया, तो वहाँ कोई न था। इसलिये मैं सामनेके शिखरके समीप खड़ा-खड़ा प्रतीक्षा करने लगा। थोड़ी देरके बाद मन्दिरका द्वार खुला और मैंने अन्दर प्रवेशकर मण्डपमें स्थान ग्रहण किया, वही स्थान उस अँधेरे मन्दिरमें कुछ प्रकाशमय था। वहाँ बैठते ही मैं ध्यानमें मग्न हो गया। अचानक मुझको दिव्य प्रकाश दीख पड़ा जो प्रस्फुटित होकर अपनी दीप्तिसे चतुर्दिक् दीप्तिमान हो उठा। मैं अपने स्थानमे उठा और मैंने सोचा कि 'अवश्य ही भगवान्का यहाँ आविर्भाव होगा और यह देखनेके लिये कि कहीं प्रकाश अन्दरसे तो नहीं फूटा पड़ता है, मैं मन्दिरके गर्भगृहमें गया। परन्तु उस कोठरीमें ऐसा प्रकाश न पाकर मुझे विश्वास हो गया कि वह प्रकाश प्रतिमामे नहीं आया था। वह प्रकाश चाहे जो हो, वह तरङ्गण विहीन हो गया। इसके बाद मैं पुनः समाधिमें लीन हो गया। जिनमें विदेश जानना हो उन्हें श्री बी० बी० एन० स्वामी-लिखित 'Self-realisation' नामक ग्रन्थ-के पृष्ठ २०, २१, २३, २४, २५, २६, २६, ३०, ३१, ३२ को देखने चाहिये।

(१८) श्रीजयदयालजी गोयन्दका

ईश्वरके विषयमें जो प्रश्न किये गये हैं उनको सुनकर मुझको आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि यह विषय बुद्धिकी पहुँचके बाहरका है। आश्चर्य तो इसमें मानना चाहिये कि जो ईश्वरको मानते हुए भी नहीं मानते। ईश्वरके तत्त्वको न जानकर ईश्वरको माननेवाले कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, स्वायत्कारी, कर्मफलदाता, सत्य-विज्ञान-आनन्दधन है, इसप्रकार ईश्वरके स्वरूपको बतकाते हैं, पर ईश्वरके निर्माण किये हुए नियमोंका पालन नहीं करते। ऐसे पुरुषोंका मानना केवल कथनमात्र है, ऐसे ही मनुष्योंकी मूर्खताका यह फल है कि आज संसारमें ईश्वरके अस्तित्वमें सन्देह किया जाता है। ईश्वरको सर्वथा न माननेवालोंकी अपेक्षा अन्धश्रद्धासे भी ईश्वरके मानने-वालोंको उत्तम समझता हुआ भी मैं उनकी निन्दा इसलिये करता हूँ कि ऐसे अन्धश्रद्धावाले मनुष्य ही अनीश्वरवादके प्रचारमें एक प्रधान कारण हुए हैं। जो वास्तवमें ईश्वरको समझकर ईश्वरको मानते हैं, उन्हींका मानना सराहनीय है। क्योंकि जो ईश्वरके तत्त्वको जान जाता है उसके आचरण परमेश्वरको मर्यादाके प्रतिकूल नहीं होते, प्रयुक्त उसीके आचरण प्रमाणाभूत और आवर्णीय होते हैं। भगवान् कहते हैं—

मघदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुर्वे लोकस्तदनुवर्तते ॥

(गीता ३।२१)

श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं। ऐसे पुरुष ही ईश्वरवादके सच्चे प्रचारक हैं, मैं तो एक साधारण पुरुष हूँ। यद्यपि ईश्वर-विषयक प्रश्नोंके उत्तर देनेमें मैं असमर्थ हूँ, तथापि कठ्यायके पाठकोंके लिये साधु पुरुषोंके संग और अपने विचारसे उत्पन्न हुए भावोंका कुछ अंश अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार अपने अनो-विनोदके लिये उनकी सेवामें रक्खा हूँ। सज्जनगण मुझे बाळक समझकर मेरी झुटियोंपर चमा करेंगे। ईश्वरका विषय बड़ा गहन और रहस्यपूर्ण है, इस विषयमें बड़े-बड़े पण्डितजन भी मोहित हो जाते हैं, फिर मुझ-सरीखे साधारण मनुष्यकी तो बात ही क्या है।

१-(क) ईश्वर बिना ही कारण स्रष्टा करता है, प्रत्युपकारके बिना न्याय करता है और सबको समान समझकर सबसे प्रेम करता है। इसलिये उसको मानना कर्तव्य है और कर्तव्य पाछन करना ही मनुष्यका मनुष्यत्व है।

(ख) ईश्वरको बिना माने उसके तत्त्वकी खोज नहीं हो सकती और उसकी खोज हुए बिना उसके तत्त्वका ज्ञान नहीं हो सकता और ईश्वर-ज्ञानके बिना कल्याण होना सम्भव नहीं।

(ग) ईश्वरको माननेसे उसकी प्राप्तिके लिये उसके गुण, प्रेम, प्रभावको जाननेकी खोज होती है और उसके नामका जप, स्वरूपका ध्यान, गुणोंके श्रवण-मननकी चेष्टा होती है, जिससे मनुष्यके पापों, अधगुणों एवं दुःखोंका नाश होकर उसे परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है।

(घ) अच्छी प्रकारसे समझकर ईश्वरको माननेसे मनुष्यके द्वारा किसी प्रकारका दुराचार नहीं हो सकता। जिन पुरुषोंमें दुराचार देखनेमें आते हैं, वे वास्तवमें ईश्वरको मानते ही नहीं हैं। मूठे ही ईश्वरवादी बने हुए हैं।

(ङ) सच्चे हृदयसे ईश्वरको माननेवालोंकी सदासे जय होती आयी है। भ्रूव-प्रह्लादादि-जैसे अनेकों ज्वलन्त उदाहरण शास्त्रोंमें भरे हैं। वर्तमानमें भी सच्चे हृदयसे ईश्वरको मानकर उसकी शरण लेनेवालोंकी प्रत्यक्ष उन्नति देखी जाती है।

(च) सम्पूर्ण भूति, स्मृति आदि शास्त्रोंकी सार्थकता भी ईश्वरके माननेसे ही सिद्ध होती है। क्योंकि सम्पूर्ण शास्त्रोंका ध्येय ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है।

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।

आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते ॥

इसी प्रकार ईश्वरको माननेसे अनन्त लाभ है।

२-(क) क्योंकि अनुसार फल भुगतानेवाले सर्वव्यापी परमात्माकी सत्ता न माननेसे मनुष्यमें उच्छृंखलता बढ़ती है। उच्छृंखल मनुष्यमें झूठ, कपट, चोरी, जाली, हिंसादि पाप-कर्मोंकी एवं काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि अशुभगुणोंकी वृद्धि होकर उसका पतन हो

जाता है जिसके परिणाममें वह और महा दुखी बन जाता है ।

(ख) ईश्वरको न माननेसे ईश्वरके तत्त्वज्ञानकी खोज नहीं हो सकती और तत्त्वज्ञानकी खोजके बिना आत्माका कल्याण नहीं हो सकता ।

(ग) ईश्वरको न माननेसे कृतघ्नताका दोष आ जाता है, क्योंकि जो पुरुष सर्व संसारके उत्पन्न तथा पालन करनेवाले सबके सुखद् उस परमपिता परमात्माको ही नहीं मानते, वह यदि अपनेको जन्म देनेवाले माता-पिताको न माने तो क्या आश्चर्य है ? और जन्मसे उपकार करनेवाले माता-पिताको न माननेवालेके समान दूसरा कौन कृतघ्न है ?

(घ) ईश्वरको न माननेसे मनुष्यकी आध्यात्मिक स्थिति नष्ट हो जाती है और उसमें पशुपन आ जाता है । संसारमें जो लोग ईश्वरको नहीं माननेवाले हैं, गौर करके देखनेसे उनमें यह बात प्रत्यक्ष देखनेमें आती है ।

इसी प्रकार ईश्वरको न माननेमें अन्य अनेकों महान् हानियाँ हैं, पर विस्तारके अयमें अधिक नहीं लिखा गया ।

३-ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण पूछना कोई आश्चर्यजनक बात या बुद्धिमत्ता नहीं है । इस विषयमें प्रश्न करना साधारण है । स्थूलबुद्धिसे न समझमें आनेवाले विषयमें समझदार पुरुषको भी शंका हो जाती है, फिर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ? परन्तु विचारनेकी बात है कि जो परमात्मा स्वतःप्रमाण है और जिस परमात्मामे ही सबका प्रमाण सिद्ध होना है उसके विषयमें प्रमाण पूछना एक प्रकारका बालकपन है, जैसे किसी मनुष्यका अपने ही सम्बन्धमें वांका करना कि 'मैं हूँ या नहीं' स्वयं है, वैसे ही ईश्वरके विषयमें पूछना है । यदि कहो कि 'मैं तो प्रत्यक्ष हूँ, ईश्वर तो ऐसा नहीं है' सो यह कहा जा सकता है, परन्तु असल बात तो यह है कि परमात्मा इससे भी बढ़कर प्रत्यक्ष है । कोई पूछे कि 'इसमें बढ़कर परमात्माकी प्रत्यक्षता कैसी है ?' इसका उत्तर यह है कि जैसे स्वप्न-अवस्थाके अनुभव किये हुए पदार्थ और शरीर जाग्रत-अवस्थामें नहीं रहते, इसी बातको लेकर यह शंका हो सकती है कि यह जाग्रत-अवस्थामें दीखने-वाले पदार्थ और शरीर भी किसीका स्वप्न हो, क्योंकि स्वप्नके पदार्थोंका स्वप्न-अवस्थामें परिवर्तन देखते हैं, वैसे ही जाग्रत-अवस्थाके पदार्थोंका जाग्रत-अवस्थामें परिवर्तन

देखते हैं परन्तु जिससे इन सबकी सत्ता है और जो सबके नाश होनेपर भी नाश नहीं होता, जो सबका आधार और अधिष्ठान है, उस निर्विकार परमात्माकी प्रत्यक्षता हमारे व्यक्तिगत अस्तित्वकी अपेक्षा बहुत विशेष है, पर इसप्रकारकी प्रत्यक्षता उन्हीं महात्मा पुरुषोंको होती है कि जिनकी महिमा सब शास्त्र गाते हैं । जो सूक्ष्मदर्शी हैं वे ही सूक्ष्मबुद्धिके द्वारा परमात्माका प्रत्यक्ष साक्षात्कार करते हैं । इस विषयमें श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि शास्त्र और महात्मा पुरुषोंके वचन प्रमाण हैं । जिनको स्वयं साक्षात् करनेकी इच्छा हो वे भी श्रुति, स्मृति तथा महात्मा पुरुषोंके बताये हुए मार्गके अनुसार साधनके लिये प्रयत्न करनेसे परमात्मा को प्रत्यक्ष कर सकते हैं । परमात्माके अस्तित्वकी सिद्धिमें बुक्तिप्रमाण भी हैं । कार्यकी सिद्धिसे कारणके निश्चय करनेको युक्तिप्रमाण कहते हैं । संसारमें किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति और उसका सञ्चालन किसी कर्ताके बिना नहीं देखा जाता । इसीसे यह निश्चय होता है कि पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा और काल आदिकी रचना और नियमानुसार उनका सञ्चालन करनेवाली कोई बड़ी भारी शक्ति है, इसी शक्तिको परमात्मा समझना चाहिये । यदि कहो, 'बिना कर्ताके प्रकृतिमें ही अपने-आप सब उत्पन्न हो जाते हैं इसमें कर्ताकी कोई आवश्यकता नहीं, जैसे वृक्षमें बीज और बीजमें वृक्ष अपने-आप ही उत्पन्न होते हुए देखनेमें आते हैं' सो ठीक है, किन्तु यह कहना युक्तियुक्त नहीं है । प्रथम तो यह बात विचारनी चाहिये कि पहले बीजकी उत्पत्ति हुई या वृक्षकी ? यदि वृक्षकी कहाँ तो वृक्ष कहाँसे आया और बीजकी कहाँ तो बीज कहाँसे आया ? यदि दोनोंकी उत्पत्ति एक साथ कहाँ तो किसके द्वारा किससे हुई ? क्योंकि बिना किसी कारणके कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं । जिससे और जिसके द्वारा बीज, वृक्ष आदिकी उत्पत्ति हुई है वे ही परमात्मा हैं ।

दूसरा प्रश्न होना है कि यह प्रकृति जड़ है या चेतन । यदि जड़ कहाँ तो चेतनकी सत्ता-स्फूर्तिके बिना किसी पदार्थका उत्पन्न और सञ्चालन होना सम्भव नहीं और यदि चेतन कहाँ तो फिर हमारा कोई विरोध नहीं क्योंकि चेतन-शक्ति ही परमात्मा है, जिनके द्वारा इस संसारकी उत्पत्ति हुई है । केवल संसारकी उत्पत्ति ही नहीं, चेतनकी सत्ता बिना इस संसारका सञ्चालन भी नियमाबुसार

नहीं हो सकता। बिना यन्त्रीके किसी छोटे-से-छोटे यन्त्रका भी सञ्चालन होता नहीं दिखायी देता। किसी भी कार्यका सञ्चालन हो, बिना सञ्चालकके वह नष्ट-भष्ट हो जाता है अतएव जिसमे इस संसारका नियमानुसार सञ्चालन होता है, उसीको परमात्मा समझना चाहिये। जीवोंके किये हुए कर्मोंके फलोंका भी सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, परमात्माके बिना यथायोग्य भुगताया जाना सम्भव नहीं है, यदि कहो 'कर्मोंके अनुसार कर्ता पुरुषको किये हुए कर्मोंका फल अपने-आप मिल जाता है' तो यह कहना युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि कर्म जब होनेके कारण उनमें क्रियाओंके अनुसार फल-विभाग करनेकी शक्ति नहीं है और चेतन जीव बुरे कर्मोंका फल दुःख स्वयं भोगना चाहता नहीं। चोर चोरी करता है और चोरीके अनुसार राजा उसे दण्ड देता है परन्तु न तो वह चोर जेलखानेमें स्वयं जाता है और न वह चोरिरूप कर्मही उसे जेल पहुँचा सकता है। राजाकी आज्ञामें नियत किये हुए अधिकारी लोग ही चोरीके अपराधके अनुसार उसे जेलका दण्ड देने हैं, इसी प्रकार पाप-कर्म करनेवाले पुरुषोंको परमेश्वरके नियत किये हुए अधिकारी देवता पाप-कर्मोंका दुःखरूप दण्ड देते हैं। ऐसे ही यह जीव किये हुए मुकृत कर्मोंका फलरूप सुख भोगनेमें भी असमर्थ हैं। जैसे कोई राजाके कानूनके अनुसार चलनेवाले ध्यनिकी राजा या उनके नियत किये हुए पुरुषोंद्वारा कर्मोंके अनुसार नियत किया हुआ ही पुरस्कार मिलता है, उसी प्रकारमे मुकृत कर्म करनेवाले पुरुषोंको भी उसके कर्मोंके अनुसार परमेश्वरद्वारा नियत किया हुआ फल मिलता है। अज्ञानके द्वारा मोहित होनेके कारण जीवोंको अपने कर्मोंके अनुसार स्वतन्त्रतासे एक शरीरमे दूसरे शरीरमें जानेका सामर्थ्य और ज्ञान भी नहीं है।

इसके सिवा सृष्टिके प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र प्रयोजन देखा जाता है। ऐसी प्रयोजनवती सृष्टिकी रचना बिना किसी परम बुद्धिमान् चेतन कर्ताके नहीं हो सकती।

इस उपर्युक्त विवेचनसे यह बात सिद्ध होती है कि परमेश्वरके बिना न तो संसारकी उत्पत्ति सम्भव है, न सञ्चालन हो सकता है, न जीवोंको उनके कर्मफलका यथा-योग्य फल प्राप्त हो सकता है और न सप्रयोजन सृष्टि हो सकती है।

उपर्युक्त प्रमाण तो कर्तव्यवृत्त दिये गये हैं, वस्तुतः

ईश्वर 'स्वतःप्रमाण' प्रसिद्ध है, क्योंकि सम्पूर्ण प्रमायोंकी सिद्धि ईश्वरके प्रमाणसे ही सिद्ध होती है, इसलिये उसमें अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं।

ईश्वरके होनेमें शास्त्र भी प्रमाण है, सम्पूर्ण श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणोंका तात्पर्य भी ईश्वरके प्रतिपादनमें ही है। इसके लिये जगह-जगह असंख्य प्रमाण देख सकते हैं।

यजुर्वेद—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।

'इस जगत्में जो कुछ भी है वह सब-का-सब ईश्वर करके व्याप्त है।'

महासूत्र—

'उन्माद्यस्य यत्नः' 'शास्त्रयोनित्वात्'।

जिसमे उत्पत्ति, स्थिति और पालन होता है, वह ईश्वर है। शास्त्रका कारण होनेमें अर्थात् जो शास्त्रका उत्पादक है तथा शास्त्रद्वारा प्रमाणित है, वह ईश्वर है।

गीता—

सर्वस्य चाहं हृदि सनिविष्टो

मत्तः स्मृतिज्ञानमपोहनं च।

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो

वेदान्तकृद्वेदेवेन चाहम॥१५।१॥

'मैं ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्धानरूपमे स्थित हूँ तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और अपोहन होता है और सब वेदोंद्वारा मैं ही जाननेयोग्य हूँ तथा वेदान्तका कर्ता और वेदोंको जाननेवाला भी मैं ही हूँ।'

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥१८।६॥

'हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्धानी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमात्ता हुआ सब भूतप्राणियोंके हृदयमें स्थित है।'

उद्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।

ज्ञानं क्लेशं ज्ञानगमं हृदि सर्वस्य विहितम्॥११।२०॥

‘वह ब्रह्म ज्योतिर्लोक भी ज्योति एवं मायासे जति बरे कहा जाता है तथा परमात्मा बोधस्वरूप और आनन्द-बोध्य है एवं तत्त्वज्ञानसे प्राप्त होनेवाला और सबके हृदयमें स्थित है ।’

उक्तम्: पुरुषस्तन्मयः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विमलैर्व्यय ईश्वरः ॥ १५॥१७

‘उन (ईश्वर, अध्वर) दोनोंसे उक्त पुरुष तो अन्य ही है कि जो तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबका धारण-पोषण करता है, एवं अविभाशी परमेश्वर और परमात्मा, ऐसे कहा गया है ।’

योगदर्शन—

क्षेत्रकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबोध्यम् ।

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

(समाधिपाद २४-२५-२६)

‘अविद्या, अक्षिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश (भरण-भय) इन पाँच क्लेशोंमें, पाप-पुरुष आदि कर्मोंमें, सुख-दुःखादि भोगोंमें और सग्नर्या वासनाओंमें रहित पुरुष-विशेष (पुरुषोत्तम) ईश्वर है । उस परमेश्वरमें निरतिशय सर्वज्ञता है । वह पूर्वमें होनेवाले ब्रह्मादिका भी उत्पादक और शिष्टक है तथा कालके द्वारा उसका अवच्छेद नहीं होता ।’

उपनिषद्—

ब्रह्म वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जलानि जीवन्ति, वस्त्रयन्त्यमिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । (तैत्तिरीय ३.१.१)

‘जिससे सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हुए जीते हैं, नाश होकर जिसमें लीन होते हैं, उसको तू जान, वह ब्रह्म है ।’

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः

सर्वम्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।

कर्माप्यक्षः सर्वभूताविवासः

साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ॥

‘एक ही देव (परमात्मा) सब भूतोंके अन्तर्गतमें विराजमान है, वह सर्वव्यापी है, सब भूतोंका अन्तरात्मा

है । वही कर्मोंका अध्वर, सब भूतोंका निवासस्थान, साक्षी, चेतन, केवल और निर्गुण है ।

आगतमें श्रीभगवान् कहते हैं—

अहं ब्रह्मा च सर्वज्ञ जगतः कारणं परम् ।

आत्मेष्टर उपद्रष्टा स्वबन्धविशेषणः ॥

आत्ममाया समाविश्य सोऽहं गुणमयी द्विज ।

सृजनरक्षन् हरन् विश्वं दम्ने संज्ञां क्रियोचिताम् ॥

‘हे ब्राह्मण ! मैं ही ब्रह्मा हूँ, शिव हूँ और जगत्का परम कारण हूँ । मैं ही आत्मा और ईश्वर हूँ, अन्तर्यामी हूँ, स्वयं द्रष्टा हूँ तथा निर्गुण हूँ । मैं अपनी त्रिगुणमयी मायामें समाविष्ट होकर विश्वका पालन, पोषण और संहार करता हुआ क्रियानुसार नाम धारण करता हूँ ।

महाभारत—अनुरासनपर्वके १४६ वें अध्यायमें कहा है—

अनादिनिघनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम् ।

लोकार्थेषु स्तुतजित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत् ॥ ६ ॥

ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम् ।

लोकनाथ महद्भूतं सर्वभूतमबोद्धवम् ॥ ७ ॥

परमं यो महत्तजः परमं यो महत्तपः ।

परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम् ॥ ९ ॥

पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानाञ्च मंगलम् ।

देवतं देवतानाञ्च भूतानां योऽव्ययः पिता ॥ १० ॥

‘उस अनादि, अनन्त, सर्वलोकव्यापक, सर्वलोकमहेश्वर, सब लोकोंके अध्वरकी सदा स्तुति करनेवाला सब दुःखोंको काँच जाता है ।’ ‘जो परम ब्रह्मण्य, सब धर्मोंको आनन्द-वाले, लोकोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, लोकनाथ, सर्वभूतोंको उत्पन्न करनेवाले महान् भूत हैं ।’ ‘जो तेजके परम और महान् पुत्र हैं, जो बड़े-से-बड़े तपोरूप हैं, जो परम महान् ब्रह्मरूप हैं और आश्रयके परमधाम हैं ।’ ‘जो पवित्र वस्तुओंका पवित्र हैं, जो मंगलोंका मंगल-रूप हैं, जो देवताओंका परम देवता हैं और जो प्राणी-मात्रका अविभाशी पिता हैं ।’

वाल्मीकीय रामायण—

कतां सर्वस्य लोकस्य ओष्ठो ज्ञानविदां विभुः ।

अध्वरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव ।

लोकानां त्वं परो धर्मो निष्कसेनस्तुमुनः ॥

ब्रह्मा कहते हैं, 'हे देव ! आप समस्त लोकोंके कर्ता, ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ विभु हैं। आप ही सब लोकोंके आदि, मध्य, अन्तमें विराजित अक्षर ब्रह्म और सत्य हैं, आप सब लोकोंके परम-धर्म विध्वक्सेन चतुर्भुज हरि हैं।'।

जैन, बौद्ध और चार्वाक आदि कतिपय मतोंकी छोड़कर ऐसा कोई भी वेद-शास्त्र नहीं है जिसमें ईश्वरका प्रदिपावन न किया गया हो। यहाँतक कि मुसलमान, ईसाई आदि भी ईश्वरके अस्तित्वको मानते हैं। यथा—

कुरान—पूर्व और पश्चिम सब खुदाके ही हैं, तुम निजर भी अपना मुँह घुमाओगे, उधर ही खुदाका मुख रहेगा। खुदा वास्तवमें आखन्त ही उदार है, सर्व-शक्तिमान् है।

ईसाने कहा है—जिसका ईश्वरमें विश्वास है तथा जो भगवान्की शक्तिका आश्रित है, वह संसारसे तर जायगा, पर अविश्वासियोंकी बड़ी दुर्गति होगी।

४—अनुपपत्ति यदि विचाररहिमे देखे तो उसे न्याय-कारी और परमदयालु ईश्वरकी सत्ता और दयाका पद-पदपर परिचय मिलता है। प्राचीन और अवाचीन बहुत-से महारमाओंकी जीवनियोंमें इसप्रकारकी घटनाओंके अनेकों प्रमाण प्राप्त होते हैं। मैं अपने सम्बन्धमें इस विषयपर क्या लिखूँ ? अवश्य ही मैं यह विनय कर सकता हूँ कि सर्वशक्तिमान् विज्ञानानन्दधन परमात्माकी सत्ता और दयापर तथा उसमे होनेवाली महारमाओंकी जीवन-घटनाओंपर निश्चय करनेसे अवश्य लाभ होता है।



(१९) श्रीपरमहंस बाबा श्रीअवधविहारीदासजी महाराज, त्रिवेणीबाँध

१—ईश्वरको दो कारणोंसे माना जाता है। पहला कारण यह है कि जीव ईश्वरका अंश है और अंशका धर्म है अंशकी मानना, क्योंकि अंशकी बिना अंशका निर्वाह ही नहीं हो सकता है। अतः अंश यदि अपने धर्मका पालन करनेके लिये ईश्वरको (अंशकी) न मानेगा तो उसे माना प्रकारके दुःख उठाने पड़ेंगे। जीव ईश्वरका अंश है इसमें ये प्रमाण हैं—

ममैवांशो जीवलोके जीवमृतः सनातनः ।

(गीता)

ईश्वर अंश जीव अविनाशी । चेतन अमल सहज सुखराशी ॥

(रामचरितमानस)

दूसरा कारण है कि ईश्वरको माननेवाले ही त्रियोग कर सकते हैं। त्रियोग अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। इन्हींमेंसे किसीके द्वारा साधन करता हुआ जीव अपने जीवनके चरम लक्ष्य ईश्वरकी प्राप्त होकर जन्म-मरणके चक्रसे छूटकर अचल हो जाता है। ईश्वरके नहीं माननेसे अनुपपत्ति उद्धार कभी नहीं हो सकता है। प्रमाण यह है—

सरिता-जल-जल-निधि महुँ आई । होइ अचल जमि जिव हरि पाई ॥

अबः ईश्वरकी अचक्षु मानना चाहिये ।

२—ईश्वरको न माननेवालेको त्रियोग दुर्लभ है और योगसे अष्ट दूसरा कोई लाभ नहीं। इसमें प्रमाण है—

यं लब्ध्वा आपरं लाभं मन्यते नाधिक ततः ।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन याकन्या योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥

(गीता ४ । २२-२३)

लाम कि रघुपति भक्ति अकुण्ठा । × × × ×

लाम कि कलु हरिभक्ति समाना । ओहि गावहिं श्रुति संत पुराना ॥

(रामचरितमानस)

ईश्वरको न माननेवाले इसप्रकारके भक्तियोगसे वञ्चित रह जाते हैं, भक्तियोगसे रहित होनेके समान दूसरी कोई हानि नहीं है। इसका प्रमाण यह है—

हानि कि अग यहि सम कलु भाई । भजिय न रामहिं नरतनु पाई ॥

सारांश यह है कि ईश्वरको न माननेवाला अघोगसिद्धि प्राप्त होता है और इससे बढ़कर कोई हानि नहीं हो सकती है ।

१-पुराणोंमें यह बात स्पष्टरूपसे लिखी मिलती है कि समुद्रके मन्थन करते समय जब हलाहल विष निकला और उसके तेजसे देवता-दैत्य सब अलने लगे, तब शिवजीने भगवान्का नाम लेकर उसको पान कर लिया। भगवान्ने उनकी रक्षा की, उस हलाहल विषसे मृत्युके स्थानमें अमृतका फल उन्हें प्रदान किया। इससे ईश्वरका होना सिद्ध होता है। दूसरी एक कथा सबको विदित ही है। दुर्योधनकी समामें दुःशासनने द्रौपदीका चौर पकड़कर उसे नंगी करना चाहा। द्रौपदीने ईश्वरका स्मरण किया, दुःशासन चौर खींचते-खींचते हार गया, उसकी एक ओर चौरका पहाड़-सा हो गया, परन्तु द्रौपदीको वह नंगी न

कर सका। द्रौपदी वैसे ही चौर पढ़ने लगी रही। यह ईश्वरकी रक्षाका सुन्दर उदाहरण है, इससे ईश्वरके होनेमें कोई सन्देह नहीं रह जाता।

ईश्वरके होनेका तीसरा प्रमाण यह है कि गर्भगत शरीरमें प्राण-वायुका प्रवेश करना और पुनः शरीरसे उसका बाहर निकलना किसका खेल है? सिवा ईश्वरके ऐसी सामर्थ्य और किसीमें नहीं है। इससे भी ईश्वरका होना सिद्ध है।

४-ऐसी घटनाओंका वर्णन सर्वसाधारणके लिये नहीं किया जा सकता, यह कुछ अधिकारी पुरुषोंको ही बतलाया जा सकता है। हमलिये विवशता है।



(२०) श्रीआनन्दस्वरूपजी 'साहबजी महाराज'

१-हमें ईश्वरमें विश्वास करना चाहिये, क्योंकि ईश्वर आत्मतत्त्वके लिये सम्भवनीय आध्यात्मिक विकासकी सर्वोच्च अवस्था है।

२-यदि हम ईश्वरमें विश्वास न करेंगे तो या तो हम निरुद्देश्य जीवन बिताते रहेंगे या किसी लुब्ध विषयकी प्राप्तिमें हमने लगा देंगे, जिससे हमें जीवनकी सर्वोच्च अवस्थाका आनन्द प्राप्त नहीं हो सकेगा।

३-ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें मेरे पास दो प्रमाण हैं-व्यक्तिगत अनुभव और भगवद्प्राप्त महात्माओंके अत्यव्यक्तनीय प्रासवाक्य।

४-सन् १८९७ ई० में मैं अम्बालामे मैट्रिक्युलेशनकी परीक्षामें सम्मिलित हुआ था। सभी कहा करते थे कि मैं अनुत्तीर्ण हो जाऊँगा, क्योंकि मैं क्लासमें कमजोर था। मैं बहुत ही खिन्न रहा करता था और किंकर्तव्यविमूढ-सा हो गया था। मैं एक मिशन हाईस्कूलमें परीक्षामें बैठा था, उस स्कूलमें पढ़ाई प्रारम्भ होनेके पहले प्रतिदिन प्रातः ईश्वर-प्रार्थना हुआ करती थी, परन्तु कोई भी विद्यार्थी उसमें दिलचस्पी नहीं रखता था। परीक्षाफलके प्रकाशित होनेके एक दिन पहले, जो नियमतः लाहौरसे प्रकाशित होनेको था, जब मैं अत्यन्त खिन्न-सा हो रहा था, तब मेरे मनमें आया कि मैं भी तनिक प्रार्थना करनेकी तो चेष्टा करूँ। अपने अबोध बालसावसे मैं पाँच मिनटतक ईश्वरकी प्रार्थना करता रहा और तत्काल ही मुझे एक ऐसा आन्तरिक अनुभव हुआ, जिससे मुझे

निश्चय हो गया कि मेरा परीक्षाफल सर्वथा अनुकूल होगा, तब मुझे बहुत ही आश्चर्य और आनन्द हुआ। इस अनुभवसे मुझे स्वभावतः सान्त्वना मिली और मैं तमाम चिन्ताओंसे मुक्त हो गया। दूसरे दिन प्रातःकाल मैं पुनः प्रार्थनाके लिये बैठा तब फिर मुझे वही अनुभव हुआ, परन्तु जिस समय मैं आसनपर बैठा हमका आनन्द ले रहा था, मेरी उस कोठरीकी खिड़कीके नीचेसे किसीने पुकारकर कहा कि 'तुम अनुत्तीर्ण हो गये।' लाहौरमें मेरे एक सम्बन्धीका इसी आशयका तार आया था। मैं इस समाचारको सुनकर अवाक रह गया। मैं धीरेसे अपनी कोठरीके दरवाजेपर पहुँचा और बड़ी आशावासे उसे खोला परन्तु एक अन्तर्ध्वनि बलान् मुझे शान्त और निर्भय रहनेके लिये प्रेरित करने लगी। मैं तबकपर गया और तारको अपने हाथमें ले लिया। उसे एक, दो, तीन बार पढ़ा और भीतर-ही-भीतर बहुत दुःखी हुआ। मेरी बारी, जो वहाँ आ गयी थी, मुझे सांत्वना देने लगी परन्तु मैंने उसे यह कहकर चुप करा दिया कि मैं फेल नहीं हो सकता। मैं पोस्टाफिस गया जो मेरे घरमें दो फलांगकी दूरीपर था और वहाँ मैंने अपने सहपाठियों और उनके सम्बन्धियोंका जमघट देखा, जो अनुत्तीर्ण छात्रोंकी नामावलीकी प्रतीक्षा कर रहे थे। करीब ११ बजे पोस्ट-मास्टरने हमारे हाईस्कूलके एक प्रतिनिधिको एक बन्धु खिफाफा दिया। खिफाफा खोलकर नामावली निकाली गयी। उसके देखनेपर यह पता लगा कि मैं अनुत्तीर्ण

नहीं हुआ है बल्कि विचाराधीन (Under Consideration) रखा गया है। इस 'विचाराधीन' शब्दका अर्थ कोई भी नहीं समझा सका, क्योंकि यह शब्द प्रथम बार ही अनुसूचित जातों की सूची में आया था। एक ही

सप्ताहमें जब मुझे उत्तीर्ण होनेकी सूचना मिल गयी तो इस शब्दका अर्थ स्पष्ट हो गया।

यही मेरे जीवनकी पहली घटना है जिससे भगवान्के अस्तित्व और उसकी दयामें मेरा विश्वास दृढ़ हुआ।

(२१) श्रीज्योतिजी *

१-जो निरर्थक चैतन्यस्वरूप और सत्य वस्तु है उसमें विश्वास करना ही होगा। यह हमारे जीवनके साथ एक सूत्रमें प्रथित स्वतःसिद्ध विषय है। जब एक छोटा शिशु गाढ़ निद्रामें भौतिक संस्कारोंसे दूर रहता है तब वह अपने साथी प्राणारामके दर्शन कर हँसता है, रोता है और भौति-भौतिके खेलके भाव दिखाता है। इस धातु-को बहुतरे मनुष्य अपनी आँखोंमें देखते हैं। उसी प्रकार ईश्वरमें विश्वास भी हमकोगोंका स्वतःसिद्ध संस्कार है। अतएव यदि हम शिशुकी निद्राके साथीके समान उसको (ईश्वरको) साथी बनाना चाहें तो इसके लिये हमें कर्म, ज्ञान और भक्तियोगका अवलम्बन करना आवश्यक है। शिशु क्रमशः जितना ही पिता-माताके संस्कारसे आच्छुब्ध होता जाता है, उतना ही चैतन्य-सत्तामें वह दूर होता जाता है। यह विधनियन्ताका ही खेल है और हमी खेलमें आनन्द है। ईश्वर तो केवल निष्किय भोक्ता और दर्शक है। जबतक जीव किसी भी कौशलमें उसके समान नहीं हो जाता तबतक इस खेलका विराम नहीं है।

हमारे नेत्रोंके अगोचर मन नामक एक वस्तु है। उसे किसी प्रकार भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मनके पीछे वह विराट् चैतन्य-शक्ति वर्तमान है। उसीके प्रकाशसे मन प्रकाशित है। मन जब ज्ञान-शक्तिके अवलम्बनसे निश्चलताको प्राप्त होता है तब प्रत्यक्ष ही वह ईश्वरके छिपे अत्यन्त व्याकुल देखनेमें आता है। उस समय वह ईश्वरके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुको स्वीकार नहीं करना चाहता। उसकी बाणी रुक जाती है, नेत्रोंके जल (अश्रुप्रवाह) से उसका वहःस्थल प्रवाहित हो उठता है। परन्तु उस समय भी उसे ईश्वरके दर्शन

था उसकी उपलब्धि नहीं होती। यह अवस्था बहुत कुछ हमेशान-वैराग्यके सदृश होती है।

यदि कोई कहे कि 'मनसे केकर संसारमें जितने पदार्थ हैं, सभी प्राकृतिक नियमोंमें चले हैं, अतः ईश्वर नामक किसी शक्तिमान् पदार्थकी कल्पना करना व्यर्थ है' ऐसा कथन अमपूर्ण होगा। क्योंकि प्राणिजगत्में देखा जाता है कि मनुष्यके अतिरिक्त सभी प्राणी प्रकृतिके नियमोंमें चलते हैं, उनको 'मैं' का बोध नहीं है। मनुष्यको 'मैं' का बोध है। तथा उसी 'मैं' वस्तुका अन्वेषण करते-करते ही आरम-चैतन्य ईश्वरका पता लग जाता है। उसकी उपलब्धि साधनके द्वारा ही हो सकती है।

अनेकों कारणोंसे इस ईश्वरमें विश्वास करनेके छिपे बाध्य हैं। वास्तवमें यह विश्वास हमारे जीवन और जीवनके संस्कारोंकी समष्टि है। हमारा जीवन अनेक शक्तियोंका समन्वयस्वरूप है। इनका अच्छी तरह विश्लेषण करनेसे ईश्वरके अस्तित्वका पता लग जाता है। ईश्वरको न मानना अपने-आपको ही खो देना है। क्योंकि चार ही दिनों बाद हमलोगोंको अनिश्चित अवस्थामें जगत्से विदा होना होगा। केवल प्रकृतिको ही जीवनका आदि और अन्त मान लेनेसे जीवनके रहस्यका उद्घाटन नहीं होता। चैतन्य-सत्ताके बोध और अतीन्द्रिय-ज्ञानके द्वारा जीवनमें गम्भीर ज्ञान और आनन्दकी प्राप्ति होती है, इसकी भीमांसा केवल युक्तियोंसे नहीं हो सकती। क्योंकि युक्ति किसी अनुभवसिद्ध विषयका अवलम्बनकर अग्रसर होती है और वह विषय यदि मनकी अम-प्रमाद-पूर्ण अवस्थाका अनुभव है, तो उसका फल भी तदनु रूप होना निश्चित है। अतएव केवल अनिवचनीय चैतन्य-

* अर्थ पं० आंगीरीनाथजी कविराज पृष्ठ ० पं० से मालूम हुआ है कि श्रीज्योतिजीने एक संन्यासीजीकी कृपाने वाक्यकालमें ही बहुत विलक्षण-विलक्षण अनुभव प्राप्त किये हैं। ये वक्तात्म-तत्त्वमें एक विशेष अनुभवसम्पन्न पुरुष हैं, परन्तु छिपकर रहते हैं, इसीसे इनका असली नाम प्रकाशित नहीं किया गया।

सत्ताके स्पर्शसे ईश्वरमें विश्वास हो सकता है। इसके सिवा वास्तविक ईश्वर-विश्वासके लिये और कोई भी उपाय नहीं है।

२-ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें विश्वास न हो अथवा जीवनमें ईश्वरकी उपलब्धि न हो सके तो मनुष्य-जीवनमें इससे अधिक दुर्भाग्यकी बात क्या हो सकती है? क्योंकि प्राणिजगत्में मनुष्य श्रेष्ठ है, तथा एकमात्र मनुष्य ही धर्मका अवलम्बनकर ईश्वरतक पहुँच सकता है, इसीलिये मनुष्यकी इतनी श्रेष्ठता है। ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें ज्ञान न होनेसे सर्वापेक्षा अधिक हानि यही है कि हम पहले जिसप्रकार पूर्ण चैतन्यस्वरूप थे, उस अवस्थाको प्राप्त नहीं कर सकेंगे। स्वप्नमें दो भाव हैं—एक प्रकाश और दूसरा अन्धकार। इनमें अन्धकारका विकास नहीं होता, परन्तु प्रकाशमें विकास होता है। यदि ईश्वर-रूप पूर्णसत्ताकी उपलब्धि न हो सकी तो हमें सदाके लिये मोहप्रसक्त हो अन्धकारमें विज्रीन होकर रहना पड़ेगा। प्रश्न हो सकता है कि इसमें क्या हानि है? वस्तुतः इसमें हानि निश्चय है, क्योंकि चैतन्यकी आलोक और अन्धकार-मय जो दो अवस्थाएँ हैं उनमेंसे आलोकमें सङ्कोच और विकासकी क्रिया परिलक्षित होती है, परन्तु अन्धकार सदैव संकुचित रहता है। अतएव हम संकुचित और अवगुणित अन्धकारमय अवस्थामें पड़े रहनेसे कोई भी लाभ नहीं होता। अन्धकार अथवा जड़-अवस्थामें चैतन्य सुस्वरूपमें अवस्थित रहता है, उसमें किसी वस्तुके ज्ञान और शक्तिका विकास नहीं हो सकता। प्रकाशमें सभी वस्तुओंका विकास होता है। विकासमें आनन्द है। अतएव आनन्दकी कामना रखनेवालोंको प्रकाश प्राप्त करना आवश्यक है। जीवनमें तीन स्तर दिखायी देते हैं। प्रथम स्तरमें सुख-दुःख आदि किसी प्रकारका बोध नहीं होता, यह सुषुप्त अज्ञानावस्था है। द्वितीय स्तरमें सुख-दुःखका बोध है, मनमें चञ्चलता है, झुनझुन है। तृतीय स्तरमें पूर्णावस्था, अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्दका विकास है, यह पूर्ण स्वाधीनावस्था है, इसमें आत्म-चैतन्य देश और कालकी सीमा लाँचकर देदीप्यमान रहता है। यह अवस्था समरूप है। अतः यह सिद्ध है कि ईश्वरमें विश्वास न करनेसे हमें प्रथम अवस्थामें ही पड़े रहना होता है।

१-ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें मन ही स्वतःसिद्ध

प्रमाण है। परन्तु मन ईश्वर नहीं है। हम जो तीन वस्तु अर्थात् मन, बुद्धि और अहङ्कारको लेकर गर्व करते हैं, इनमेंसे कोई भी ईश्वर नहीं। बुद्धि और अहङ्कार मनके ही अनुचर हैं। फिर मन भी जो चाहता है वह कर नहीं सकता। मनके पीछे एक विराट् चैतन्य-सत्ता है जो जलमें रस-प्रदानकी भाँति निश्चल-भावसे सब कुछ दे रही है। उसीको हम प्रायाराम, ईश्वर अथवा ब्रह्म कहते हैं। मन माँहकी मादकतासे आच्छन्न होकर सांसारिक व्यापारमें किस्म होनेपर भी जीवनके अन्तिम कालमें ईश्वरको अस्वीकार नहीं कर सकता। उस समय सब भूँछें पकड़ी जाती हैं। मन जब देहरूप घटका आश्रयकर कार्य करने योग्य होता है तब भी ईश्वरकी सहायता न रहनेपर उसका कार्य सुचारुरूपेण सम्पन्न नहीं हो सकता। पक्षान्तरमें, यदि मनको ही ईश्वर माना जाय तो मनके लिये असाध्य कोई भी कार्य क्यों होना चाहिये? वस्तुतः हम यदि मनको शुद्ध कर सकें तो वह हमें ईश्वरके समीप पहुँचाकर स्वर्ग विज्रीन हो जाता है। उस समय मन नहीं रहता, बल्कि मनके अतीत एक बोधशक्ति रहती है। सारांश यह कि, चित्तके शुद्ध होकर क्रमशः स्थिर होनेपर पहले चैतन्यसत्ताकी परोक्ष तथा उसके बाद अपरोक्ष अनुभूति होती है। तब मनके द्वारा ही मनकी मूल एकता होती है और मनके लक्षण होते ही सत्यका प्रकाश होता है। ईश्वरके दर्शन ही ईश्वरके अस्तित्वमें प्रकाट्य प्रमाण है।

४-अपने जीवनकी ईश्वरोपलब्धि-सम्बन्धी बातें बतलानेमें श्रेष्ठ ज्ञाता है और वे ठीक-ठीक बतलायी भी नहीं जा सकती। यह कोई साधारण विषय नहीं है कि जिसको कहने अथवा लिखनेसे ही लोग समझ सकें। क्योंकि यह प्रत्येकके प्राणकी वस्तु है तथा मन ही इसका साक्षी है। इसके अतिरिक्त जिसने जिस भावसे ईश्वरको देखनेकी चेष्टा की, उसी भावसे उसने उसको देखा है। किन्तु पूर्णत्वकी दृष्टिसे देखनेपर ओङ्कारके चरित्र एवं उनके उपदेशका अवलम्बन करनेके सिवा कोई उपाय नहीं है। अन्य जो कुछ वर्तमान युगमें हो रहा है, सब उसीका चर्वित-चर्वणमात्र है। गीतामें उन्होंने जिस 'मै' शब्दका व्यवहार किया है, वह प्रत्येक जीवका 'मै' है, व्यक्तिगत 'मै' नहीं है। वर्तमान युगकी भाषामें कहा जा सकता है कि वह हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सबका 'मै' है। वह

चर्मका 'मैं', कर्मका 'मैं', ज्ञानका 'मैं' और भक्तिका 'मैं' है। उस पूर्ण वस्तु भगवान्‌को ही 'मैं' कहकर बर्णन किया गया है। अवरय अम्यान्व सामर्थ्यवान् प्रातःस्मरणीय महात्मजोंने ईश्वरकी उपलब्धि के विषयमें नामा प्रकारकी बातें कही हैं, किन्तु विषयरूपदर्शन कराकर ईश्वरकी उपलब्धि कोई करा सके हैं या नहीं, यह हम नहीं जानते। परन्तु श्रीकृष्ण-सखा शत्रुंनका मोह तो हटने-पर भी दूर नहीं होता। हा! हम कितने मूर्ख हैं कि आज बिना बाधा, बिना ही कष्ट परिहर्तों के समान केवल भाषापर निर्भर करके ईश्वर-तत्त्व समझानेकी चेष्टा करते हैं। अन्तु, भूमिकाको छोड़कर अपनी दो एक बातें कहता हूँ। विश्वास-अविश्वास मानव-जीवनकी नीति है। परन्तु इससे मेरी नीतिमें परिवर्तन न होगा। मैं जो हूँ वही रहूँगा।

संसारमें, ईश्वरमें विश्वासके विषयमें भिन्न-भिन्न महात्मा भिन्न-भिन्न मत प्रकाश करते हैं, तथा पृथक्-पृथक् मतोंका निर्देश कर गये हैं। जत और मार्गोंकी अभिन्नता कहीं भी नहीं पायी जाती। इसका वास्तविक कारण वही है, वह अनन्त, असीम और चैतन्यस्वरूप है। उनकी माता-पिता अथवा बन्धुके रूपमें उपलब्धि की जाती है; पिता-माता अथवा बन्धुके समान उनके साथ सम्बन्ध स्थापित किया जाता है; यही क्यों, उनके साथ कथा-वार्त्ता (बान्धीत) भी की जा सकती है। किन्तु इसप्रकार करनेसे कोई वैसा ईश्वर नहीं हो जाता। ईश्वरके विषयमें जो यह बात कही गयी है वह दो प्रकारसे सम्भव हो सकती है। (१) साधक मनकी दृढ़ताके ऊपर अवलम्बित कर विराट् चैतन्यके द्वारा इच्छानुरूप सृष्टिका विकास कर सकता है; अथवा (२) जो चैतन्य-सत्ता निरन्तर मनके पीछे रहती है, वह कभी-कभी दया करके भक्तको दर्शन देती रहती है। किन्तु जो ईश्वर हो जाते हैं, उनको फिर दर्शनकी आवश्यकता नहीं होती। वह पूर्ण वस्तुमें स्थित होकर पूर्ण ही हो जाते हैं, दूसरा कुछ रह नहीं जाता, वह सुषुप्त नहीं होते, पूर्ण बोधको प्राप्त-कर चैतन्यस्वरूप हो जाते हैं।

मैंने ईश्वर-दर्शनके सम्बन्धमें अपने जीवनमें जो अनुभव किया है, उनमेंहीसे दो-एक घटनाओंको संक्षेपमें विवेचन करता हूँ।

(क)

उस समय मेरी अवस्था बारह-तेरह वर्षकी थी। एक महारमाके अनुग्रहसे मैंने ईश्वरके अमिर्त्यके सम्बन्धमें सैकड़ों घटनाएँ देखी थीं। एक दिन देखता क्या हूँ कि वह महापुरुष मेरे समीप बैठे हैं, उन्होंने क्या किया, मुझे ज्ञात नहीं है। मैं देखने लगा कि आकाशसे एक उद्योतिमय पदार्थ मानो मेरे भीतर प्रवेश कर रहा है। उसके प्रवेश करते ही मैं देखने लगा कि 'मैं' रूपमें मेरा कुछ भी नहीं रह गया है। समीप ही एक बिल्ली बैठी थी। मैंने उसका ओर देखा तो जान पड़ा, मानो वह भी मैं हूँ। फिर तो जिस ओर मेरी दृष्टि जाने लगी, उसी ओर मैं प्रायेक वस्तुमें अपनेको देखने लगा, मानो एक आनन्दकी तरंग तरंगित हो उठी। उसी अवस्थामें अकस्मान् मैं सोचने लगा कि कहीं मेरा सन्निध तो विगड नहीं गया है? नहीं तो मैं ऐसा क्यों देखता हूँ? इसी अवस्थामें मैं बिल्लीको पकड़ने चला, जैसे ही मैंने बिल्लीको पकड़ा, मैं देखता हूँ कि मैं मानवी 'मैं' नहीं हूँ, तथा मैंने कभी पृथक् मनुष्यरूपमें जन्म लिया है, यह भी स्मरण नहीं है। मैं बिह्वी हो गया। बिल्ली होकर अधिक समयतक न रह सका। अपनी पूर्ववस्थामें लौट आया, किन्तु शरीरमें मानो अब भी एक नशा-सा जाया हुआ था। वह महात्मा हँस रहे थे। बोले—'इसके लिये मनुष्यको साधन करना पड़ता है, यह अत्यन्त ही कठिन है। विराट् चैतन्य तुम्हारी साधनावस्थामें यदि कृपा करे तो तुम इस अवस्थामें पहुँच सकते हो, नहीं तो नहीं पहुँच सकते।

ईश्वर-दर्शनकी सत्यताको प्रमाखित करनेके लिये एक प्रशस्त उपाय है। अपनेको आत्म-चैतन्यमें लीन करके भी उससे पृथक् रहनेका एक कौशल है अर्थात् द्वैतभावमें निर्बोधके समान दर्शकके रूपमें रहा जा सकता है। पश्चात् जब ज्ञान होता है, जब दर्शनीय विषयका पूर्ण ज्ञान होता है उस समय किसी प्रकार भीभूल-भ्रान्ति नहीं हो सकती है। (जो देखना नहीं जानते उनके लिये समझनेका कोई उपाय नहीं है; क्योंकि यह विषय साधनकी अपेक्षा रखता है।)

मनुष्यके जीवनमें जो विभूति-दर्शन होता है, उसमें ज्ञानतः कोई विशेषता न रहनेपर भी बहुत कुछ विचारणीय बातें रहती हैं।

(ल)

१९१७ ई० में जब मैं काशी आया, उस समय मैं बिस्कुल ही अपरिचित था। अगस्त्यकुलके एक गृहस्थके नाम एक सज्जनका एक पत्र लाया था, उसीके सहारे एक अपरिचित घरमें चला गया। भक्तान्-माहिक महानुभाव उपस्थित नहीं थे, उनकी कन्याने मुझे तीसरे तहलेका एक कमरा दिखा दिया। मैं अत्यन्त संकोचके साथ कपड़े-छत्ते रखकर, एक चटाईके ऊपर लेटे-लेटे बाबा विश्वनाथ और माँ अन्नपूर्णाका चिन्तन करने लगा, एवं अत्यन्त पवित्र भावसे उनके चरणोंमें प्रार्थना करने लगा। यही मेरा प्रथम काशी-दर्शन था। काशीके माहात्म्यसे मेरा हृदय पूर्ण था। परन्तु तिसपर भी पराधीन मन यह सोच रहा था कि यदि वस्तुतः परमेश्वर पूर्णरूपसे केवल यहीं रहते हैं तो जगत्के अन्यान्य प्राणोंके लोग किसप्रकार उन्हें प्राप्त करेंगे? मैं इसी विचारमें मग्न था, उसी समय देखता हूँ कि एक स्त्री गोदमें एक शिशुको लिये हुए नीचेसे सीढ़ियोंद्वारा मेरे पास आकर खड़ी हो गयी और बोली—‘बाबा! तुम जो सोच रहे हो वही ठीक है। परमेश्वर सर्वत्र विद्यमान हैं, भक्तोंने उनको भिन्न-भिन्न स्थानोंमें प्रकट कर दिया है।’ उसी समय एक दूसरी स्त्री उसी सीढ़ीसे आकर मुझसे कहने लगी—‘ज्ञान करके भोजनके लिये आइये।’ पहली स्त्री अब नहीं ठहरी, मेरे देखते-देखते ही वह सीढ़ीसे उतर गयी। दूसरी स्त्रीने मैंने पूछा—‘क्या आपने गोदमें बच्चोंको लिये एक स्त्रीको अभी जाते देखा है?’ उसने कहा—‘नहीं, मैंने तो नहीं देखा; हमारे घरमें तो बच्चोंको गोदमें लिये कोई भी स्त्री नहीं आयी।’ मैं आश्चर्यान्वित होकर मन-ही-मन सोचने लगा कि ‘वह पूर्ण ब्रह्ममयी माँ ही आयी थीं, क्योंकि उनकी गोदमें मैंने जिस शिशुको देखा, वह मेरे ही अनुरूप बालक जान पड़ता था, अर्थात् शिशुरूपमें मानो मैं ही था।’

ऐसे मनुष्य कम हैं जिनके जीवनमें ईश्वरके सम्बन्धमें इसप्रकारकी छोटी-छोटी घटनाएँ न होती हों; इन सब विमूर्तियोंमें कोई रहस्य न होता तो लोगोंके मनमें ईश्वरके प्रति विश्वास होना अस्वाभाविक हो जाता।

हमारे जीवनके कुछ स्तर हैं। वे स्तर स्थूल, सूक्ष्म, कारण एवं महाकारणद्वारा आवृत हैं। इनमें महाकारण पूर्णब्रह्मा है, कारण बीजावस्था है, सूक्ष्म स्थूलकी आवाक

समान अवस्था है और स्थूल चटावस्था भववा पिचडावस्था है। स्तर-वर्णोंके बिना जिसप्रकार व्यञ्जनका उच्चारण नहीं होता, इसी प्रकार यह परिदृश्यमान जगत् स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारणके बिना नहीं चल सकता; इन्हींके द्वारा जगत् आवृत है। अतएव हमारा जीवन भी स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारणके भीतर छिपा हुआ है। सूक्ष्म अर्थात् द्वितीय स्तरसे यह समस्त स्तर प्रत्यक्ष देखे जा सकते हैं। बगलके चित्रसे यह विषय समझमें आ सकता है।

इस चित्रमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारणके सम्बन्धमें वर्णन है। हमारे इस दृश्यमान जगत्के पीछे सूक्ष्म जगत् है, इस स्थूल जगत्में जो कुछ करते हैं, वही कर्मके फलरूपमें सूक्ष्म जगत्में जमा होता है। जिसप्रकार स्थूल देहके कर्मोंके फल सूक्ष्म देहमें जन्मान्तरके लिये अणुरूपमें स्थित रहते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्म जगत् स्थूल जगत्के अणुरूपमें सदा विराजमान है। यदि कोई अल्पकाळके लिये भी स्थूल जगत्से अलग होकर देखनेकी शक्ति प्राप्त कर लें तो उन्हें उस समय सूक्ष्म जगत्की अभिज्ञता और उसका आभास मिल सकता है। सूक्ष्म जगत् न तो गाढ़ अन्धकारमय है और न गाढ़ प्रकाशमय। चित्रमें जिसप्रकार रंग दीप्त पड़ता है, वह उसी प्रकारका है। उसका रंग कभी परिवर्तित नहीं होता। पृथ्वीको परिवेष्टित किये हुए सन्ध्याकाशीन मंचके समान उसका रंग होता है। वृष्टिके बाद जिसप्रकार आकाशमें इन्द्रधनुष पृथ्वीको परिवेष्टित करता है उसी प्रकार सूक्ष्म जगत् स्थूल जगत्को परिवेष्टित किये हुए है। सूक्ष्म जगत्से स्थूल जगत् अन्धकाराच्छन्न दीप्त पड़ता है। किन्तु प्रकृतिके नियमानुसार जब कोई जीव स्थूल जगत्के समीपवर्ती होता है तब अन्धकार और प्रकाश मिले हुए दीप्त पड़ते हैं। यह इन्द्रधनुषके समान परिवेष्टनके भीतरके ओरकी अवस्था है। सूक्ष्म जगत्में सूर्यका प्रकाश नहीं है। पृथ्वीमें आकर प्रवेश करनेसे सूर्यका प्रकाश मिलता है, तथा सूर्यके दर्शन होते हैं। आकाशमें इस जो ग्रह-नक्षत्रोंमें प्रकाश देखते हैं वह परस्पर एकके प्रकाशसे दूसरेमें फैला हुआ प्रकाशमात्र है। प्रथम अर्थात् आविर्प्रकाश कहाँसे आता है, इस बातको कोई नहीं बतका सकता। इसी प्रकार सूक्ष्म-जगत्का प्रकाश कहाँसे आता है, यह भी नहीं कहा जा

सकता । सूक्ष्म जगत् के उपर जो भव-नदी और अहङ्कार-रूप परीक्षा-क्षेत्र इत्यादि चित्रमें दिखाये गये हैं वे साधन-जगत् के विषय हैं; अर्थात् स्थूल जगत् के नाना विषयोंमें नैतिक जीवनकी परीक्षा देते-देते जब हमें यथार्थ ज्ञान होगा, तब हम सूक्ष्म जगत् को छोड़कर कारण जगत् के समीपवर्ती होंगे । वृक्षका कारण जैसे बीज है, सृष्टिका कारण भी वैसे ही कारण-जगत् है । वहाँ (कारण-जगत् में) सभी वस्तुओंकी मूर्तियाँ अंकित हैं । पृथ्वीसे शुद्ध सत्ताको लेकर कारण-जगत् में पहुँचना होता है । जहाँ पहुँचनेपर स्थूलमें और सूक्ष्ममें भटकनेका कारण समझमें आ जाता है । किन्तु बीचमें भव-नदी परीक्षा-क्षेत्र है और अहङ्काररूपी जल है जो चित्रमें दिखाया गया है, उसे एक प्रकारसे बीजमें जल, प्रकाश तथा हवा देनेके समान समझना होगा । क्योंकि जल, प्रकाश और हवाके न पानेपर बीज अंकुरित और प्रभुपुटित नहीं होता । भव-नदीमें परीक्षा देकर पार होनेके समय भी 'मैं' रूप अहङ्कारका त्याग करना पड़ता है । सूक्ष्म जगत् के पीछे एवं कारण-जगत् के मध्यवर्ती स्थानमें एक प्रकारका कम्पन है, वह देखनेमें समुद्रकी लहरोंके समान है । इसीलिये बोल-चालकी भाषामें उसे भव-नदी कहते हैं । उसीमें मनुष्यको महाराजा हरिश्चन्द्रके समान अपने पुण्यका चिन्तन करते-करते अहङ्कार आकर रोक देता है । भव-नदी-परीक्षा-क्षेत्रमें अहङ्काररूप जलकी लहरें सहज ही पार होने नहीं देती ।

यह कारण-जगत् क्या है ? सृष्टिकर्ताकी इच्छाका जहाँ विकास और स्फूर्ति देखी जाती है, उसे ही कारण-जगत् कहते हैं । वह प्रायः स्थिर है, उसमें चाञ्चल्य सामान्य ही होता है । वहाँ अनेक साधु-महात्मा वास करते हैं । योगसाधकगण योगके द्वारा, कर्मयोगी कर्म-योगद्वारा, ज्ञानी ज्ञानयोगके द्वारा, एवं भक्तजन भक्तिके द्वारा वहीं जाकर स्थिर हो सकते हैं । ये समस्त साधु-महात्मागण स्थूल जगत् के मङ्गलके लिये समय-समयपर पृथ्वीमें आते रहते हैं । सूक्ष्म जगत् और भव-नदी उनको रोक नहीं सकती । वह जहाँसे आते हैं, काम शेष होनेपर फिर सीधे वहीं लौट जाते हैं ।

महाकारण अथवा महाशक्ति चैतन्यकी पूर्ण अवस्था है । गम्भीर वस्तु नीलवर्ण प्रतीत हुषा करती है, इससे इसका भी वर्ण नील है । वह महाशक्ति सम्पूर्ण वस्तुओंको

लेकर धीर-स्थिर-भावसे द्रष्टाके रूपमें स्थित है । वही पूर्ण अवस्था है । मनुष्य इस अवस्थामें पहुँचनेपर ही सर्वथा पूर्ण हो जाता है । तब द्वैतभाव नहीं रह जाता, अर्थात् वह 'मैं' हो जाता है ।

ईश्वरकी पूर्णताकी उपलब्धि करनेके लिये हम समस्त स्थूल, सूक्ष्म और कारणके भीतरसे होकर महाकारण अथवा पूर्ण ईश्वर-तत्त्वमें पहुँचना होता है ।

(ग)

जब उस नितान्त बाह्यावस्थामें भगवद्दर्शनके लिये व्याकुल होकर मैंने संन्यास-जीवन बितानेका सङ्कल्प किया था, उस समय एक दिन हुगली जिलेके त्रिवेणीके तटपर जो घटना घटी थी, उसको किस भाषामें व्यक्त करूँ, यह समझमें नहीं आता । संन्यास शब्दका यदि कोई अर्थ है, और गीताके—

'सर्वबर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।'

—वाक्यमें यदि कोई सत्यता है, तो उस समय मुझको वही सत्यता प्राप्त हुई थी । मेरी उस समयकी अवस्था वस्तुतः ही सत्य है । दो दिन और दो रात वहाँ गङ्गा-जल पीकर और भूँजा खाकर बितायी । मैं सर्वथा निराश्रय और अपरिचित था । एक अपरिचित मनुष्य मेरे साथ थे, पर वह भी एक दिन रहकर ही चले गये थे, अतएव मैं अकेला था । तीसरे दिन रात्रिके शेष कालमें क्षुधाकी ज्वाला और मनके संतापमें लेटे-लेटे मैं विचार कर रहा था और प्रभात होनेकी बात देख रहा था, इसी समय एक स्त्रीने आकर मेरा नाम लेकर पुकारा । पुकार सुनते ही मैंने आँख खोलकर देखा, सचमुच एक लाल रंगकी साड़ी पहने एक स्त्री खड़ी हैं, उनके हाथमें एक रकबी है जो सोनेकी मालूम पड़ती थी । उनके शरीरमें निकलती हुई ज्योतिने उस स्थानको प्रकाशमय कर दिया था । दूसरी बार उनकी ओर आँख खोलकर देखनेकी मुझमें शक्ति नहीं रही, मैं आँखें मूँदे हुए ही उनके साथ बातें करने लगा । आँखें मूँदी रहनेपर भी मानो मेरे भीतरसे होकर प्रकाश आँखोंके द्वारा बाहर निकल रहा था, इसलिये मैंने दोनों हाथोंसे आँखोंको ढँक लिया था । वे मुझको पुकारकर बोलीं 'क्या गङ्गा-स्नान नहीं करोगे ? अवेर हो रही है ।' मैंने हाथकी भाँसे जरा-जरा आँख खोलकर देखा कि वह एक पालीमें फूल तोष रही हैं । मैं जहाँ था, वहाँ एक ताबके वृक्षके चारों ओर नाना प्रकारके फूलोंके पीछे

ही सम्पूर्ण व्यक्ति-शरीर एवं सम्पूर्ण प्रपञ्च है। जैसे खेतमें अकम-अकम क्यारे होते हैं और वह खेत सब क्यारोंमें अनुगत है; इसी प्रकार सब व्यक्ति शरीरोंमें ईश्वर अनुगत है। अब ईश्वरको न मानोगे तो अपनेको तथा इस जगत्को भी नहीं मानना चाहिये, क्योंकि यह सब ईश्वर करके ही व्याप्त है। ईश्वरके विषेयसे सबका विषेय होगा। अपना शरीर तथा जगत् प्रत्यक्ष प्रतीत होता है इसलिये उसका अभाव नास्तिकको भी इष्ट नहीं है, इस व्याप्तसे भी ईश्वरकी सिद्धि होती है। यदि कोई यह कहे कि जो प्रतीत होता है वही हुआ करता है, जो प्रतीत नहीं होता वह होता ही नहीं, उसके उत्तरमें ये आठ दृष्टान्त दिये जाते हैं।

‘दूर, समीप, इन्द्रियको हान। मन चञ्चल, सूक्ष्म, विवचान।
तिरोबान, सजती-सन्न। अष्ट हेतु चारों भित अन्न॥’

(१) दूर—जैसे पक्षी उड़ता हुआ आकाशमें दूर चला जाता है तब प्रतीत नहीं होता, परन्तु ऐसा नहीं कहा जाता कि पक्षी नहीं है।

(२) समीप—जैसे नेत्रोंमें अन्न अत्यन्त समीप है किन्तु अपनेको प्रतीत नहीं होता तो भी अन्न नहीं है यह नहीं कह सकते।

(३) इन्द्रियको हान—अन्धा रूपको नहीं देखता है तो भी रूपका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि नेत्रवाले रूपको देखते हैं।

(४) मन चञ्चल—मनके चञ्चल होनेसे पदार्थ प्रतीत नहीं होते तो भी पदार्थोंका अभाव नहीं कहा जाता, क्योंकि पदार्थ हैं।

(५) सूक्ष्म—सूक्ष्म परमाणु प्रतीत नहीं होते तो भी उनका अभाव नहीं कहा जाता क्योंकि परमाणु हैं।

(६) विवचान—जैसे राजमहलमें परदेके अन्दर रानी बैठी हुई प्रतीत नहीं होती, तो भी रानीका अभाव नहीं कहा जाता।

(७) तिरोबान—तारे दिक्में नहीं दीखते तो भी उनका अभाव नहीं कहा जाता क्योंकि सूर्यके प्रकाशसे वे नहीं दीखते।

(८) सजती-सन्न—बर्षाका जल जो ताझाब या नदीमें मिल जाता है जिससे उसकी अकम प्रतीति नहीं होती किन्तु वह नहीं कहा जाता कि कुछिका जल उबलें नहीं है।

इन सबको अन्य लोगोंके न देख सकनेपर भी बोसी पुरुष इन्हें देखता है।

इसी प्रकार विचाररूपी नेत्रोंसे रहित जो अनीश्वरवादी हैं, वे ईश्वरको नहीं मानते तो भी ईश्वरका अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि जो विचारवान् आस्तिक पुरुष हैं, वे ईश्वरको अपने आत्मरूपसे सर्वत्र देखते हैं।

गुरु-ग्रन्थ साहबमें भी ईश्वर-सिद्धिके छिपे अनेक प्रमाण स्पष्ट-स्पष्टपर दिये गये हैं, उनमेंसे कुछ दिग्दर्शन-मात्र नीचे लिखे जाते हैं।

‘यह जो दीखे अमर तारे, किन ओ चिते भीतन हारे।’

यह जो आकाशमें तारे लगे हैं वह किस चित्तेने चित्रित किये हैं, इस रीतिसे इनके कर्ता ईश्वरकी सिद्धि होती है।

‘तु कर्ता सप्पार मेंटा सैंदि।’

हे परमात्मन् ! तू सर्व जगत्का कर्ता है और सच्चा है अर्थात् साक्ष्यका है और मेरा स्वामी है। प्रारम्भमें अंगलाचरण करते हुए गुरु नानक साहब कहते हैं—

‘एक ॐ सतनाम कर्ता पुरुष निर्मल, निर्बैर।

अकलमृत अजुनि सैमं गुरुप्रसाद जप॥’

अर्थ—एक अद्वितीय ब्रह्म जो परमात्मा है वही हमारा उपास्य है, वह कैसा परमात्मा है कि वह ओम्स्वरूप है। अब उसका स्वरूप-लक्षण तथा तटस्थ-लक्षण कहते हैं। सतनाम अर्थात् सत्य हो स्वरूप जिसका ऐसा कहनेसे उसके स्वरूप-लक्षणका बोध हुआ और कर्तासे तटस्थ-लक्षण कहा, अर्थात् नाममात्र जो जगत् है उसका वह कर्ता है। यदि कर्ता प्रधान होगा तो इसका उत्तर यह है कि ‘नहीं’, पूर्व होनेसे पुरुष ही कर्ता है, उसीको उपादान-कारण भी कहते हैं। फिर वह कैसा है कि जिसको किसीका भय नहीं है और किसीसे बैर नहीं है। जिसका काजसे रहित स्वरूप है, जो सृष्टिका भी सृष्टु है। वह अजुनि यानी कारणसे रहित है। जिसका कोई कारण नहीं है और वह सबका कारण है। सैमं अर्थात् प्रकाशस्वरूप है। ‘गुरुप्रसाद’ यानी गुरुकृपासे ही प्राप्त होता है।

गुरु गोविन्दसिंहजी कहते हैं—

‘अनीश्वरके जगतके ईसा’ शोभाचमक सखबारका

चिह्न है जिसकी ध्वजामें, ऐसा सर्व जगत्का नियन्ता ईश्वर है।

गुरु गोविन्दसिंहका तबप्रसाद सबैबा—

‘दीननकी प्रतिपाल करे नित, सन्त उबार गनीमन गारे।
पक्षि पशू नग नाल नराविष, सर्व समै सनको प्रतिपारे॥
पोषत है जलमें बलमें, पकमें कलके नहीं कर्म विचारे।
दीनदयाल दयानिधि दोषन देखत हैं पर दैत न हारे॥’

मूल श्लोक सुखमनी सोलवाँ—गुरु नानक साहब कहते हैं—

‘आदि सच जुगादि सच है भी सच, नानक होसी भी सच।’

सृष्टिकी उत्पत्तिले प्रथम वह परमात्मा सत् था।

‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म’

(छान्दोग्य० ६।१।१)

सत्ययुग आदिके पूर्व इच्छा-कालमें वह परमात्मा सत् हुआ। ‘तदैक्षत बहु स्यान् प्रजायेय’ वह परमात्मा वर्तमान-कालमें भी सत् है और गुरु नानकजी कहते हैं वह अविध्यमें भी सत् ही रहेगा। इसी मूल-श्लोककी व्याख्यामें लिखते हैं—

‘चरण सत सत परसनहार, पूजा सत सत सेवदार।
दरशन सत सत पेखनहार, नाम सत सत ध्यानहार॥
आप सत सत सब चारी, आपे गुण आपे गुणकारी।
शब्द सत सत प्रबकता, सुरत सत सत जस सुनता॥
ब्रह्मनहारको सत सब होय, नानक सत सत प्रभु सेय।

इसप्रकार जाननेवालेको सर्वत्र सत् परमात्मा ही प्रतीत होता है; क्योंकि भूत, अविध्यत् और वर्तमान इन तीनों कालोंमें वह सत् है। और भी कहा है—

आद पूर्ण सब पूर्ण अन्त पूर्ण परमेश्वर है।
सिम्बरन्त सन्त सर्वत रमण, नानक अध नासन जगदीश्वर है॥

× × × ×

एक कृष्ण सर्व देवा, देव देवात आत्मा, आत्मा वासुदेवस्य।
वे को जाणे म्यो। नानक ताका दास है सोइ निरजन देव॥

× × × ×

वासुदेव सर्वत्रमे ऊन न कतहु उठाय।

अन्दर बाहिर सदा संग, नानक कहि डुराय॥

नानकजी कहते हैं कि जो सबमें निवास करता है अथवा जिसमें सब निवास करते हैं वह वासुदेव सर्वत्र है। किसी

जगह भी उसकी कमी नहीं है। क्योंकि वह अमर बाहर सदा संग रहनेवाला है। हे नास्तिक! ऐसे परमात्माको तुम क्यों छिपाते हो? वह परमात्मा तुम्हारे छिपानेपर छिप नहीं सकता। जैसे उल्लू सूर्यका अभाव कथन करता है परन्तु उल्लूके कहनेमात्रसे सूर्यका अभाव नहीं हो सकता। सूर्य तो अपना अभाव करनेवाले उल्लूको भी अपना प्रकाश ही देता है, इसी प्रकार सर्व-प्रकाशक ईश्वरका नास्तिक लोग अभाव करते हैं, यह उनकी भूल है, क्योंकि नास्तिकोंकी सिद्धि भी ईश्वरमे ही होती है। इसलिये ईश्वरको सदा मानना चाहिये।

जल थल मही अल पर्या, स्वामी सिरजनहार।

अनेक भौति होय पसरया नानक प्रकुंकार॥

जल, मरुभूमि, पृथ्वी, आकाशादि पञ्चभूतोंमें वह परमात्मा पूर्ण ही रहा है, वह परमात्मा सबका नियन्ता है और वह नाना रूपोंमे संसाररूप होकर विस्तृत हो रहा है, उसका अकार नाम है इसलिये ईश्वरमे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

वासुदेवः सर्वमिति। ... (गीता ७।१९)

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। ... (उपनिषद्)

४—जिस ईश्वरकी कृपासे हम आपलोगोंमेंसे निकल-कर इस वेधमें आये और आपलोग हमलोगोंको नमस्कार करते हैं तथा आपके परिचित लोग आपको भक्त जानकर नमस्कार करते हैं, यह सब ईश्वरकी ही दया है और ईश्वरमें विश्वास बढ़ानेवाकी ही बातें हैं।

घटनाएँ

(क) एक सन्त कई वर्ष पहले मुझे मित्र थे, उन्होंने अपने जीवनकी एक घटना मुझे सुनायी थी, जिससे ईश्वरकी सत्ता और उसकी दयामें विश्वास विशेष बढ़ता है।

वह सन्त ब्रह्मीनारायणके दर्शनार्थ गया था, वहाँसे छोटते समय रास्तेमें उसको दस्त बहुत लगाने लगे, जिससे वह बहुत निर्बल हो गया; तब वह एक गुफामें बेहोश होकर पड़ गया। इसके बाद एक पुरुष उसके पास आकर बोला कि ‘महात्माजी! यह दवा लाइये और इसका पथ्य हम भेज देंगे।’ तदुपरान्त दो घण्टे बाद वही और आत लेकर वही पुरुष आया और उस महात्माको देकर चला गया। इसी प्रकार तीन विमोक्त वह पुरुष ठीक

समयपर आकर दवाई तथा पथ्य उस महात्माको बराबर देता रहा। जब महात्माके शरीरमें कुछ शक्तिका सञ्चार हुआ तब वे एक दिन गुफासे बाहर निकले तो उनको अपने चारों ओर बर्फ-ही-बर्फ दिखायी दी। कहीं कोई मनुष्य या पशु-पक्षी आदि वस्तु नजर न आयी। तब तो उनको बड़ा आश्चर्य हुआ कि 'वह आदमी कौन है और मेरे लिये खानेको कहाँसे लाता है?' इसके बाद जब वह पुरुष खानेके लिये सामान लेकर आया, तब उससे महात्माने पूछा कि 'आप कौन हैं? कहाँसे आते हैं? कहाँ रहते हैं?' इसके उत्तरमें उस पुरुषने कहा कि 'आप खा लीजिये, इन प्रश्नोंसे क्या प्रयोजन है?' तब महात्माने बड़े आग्रहसे कहा कि 'आप अपना हाल बता देंगे तभी खायेंगे, नहीं तो नहीं खायेंगे।' इसके बाद वह पुरुष उस महात्माको उसी जगह चतुर्भुज विष्णु भगवान्‌के रूपमें दीखने लगा और बोला कि 'मैं भगवान् हूँ' तब वह महात्मा बोला कि 'तो आप यहाँ साक्षात्‌रूपसे सेवा करते हैं पर अन्य जगह आप साक्षात्‌रूपसे सेवा क्यों नहीं करते?' तब भगवान् बोले कि 'जहाँ कोई नहीं होता, वहाँ हम साक्षात्‌रूपसे सेवा करते हैं और जिस जगह अन्य कोई होते हैं वहाँ हम अपने भक्तोंके द्वारा सेवा कराते हैं।' इससे यही सिद्ध हुआ कि ईश्वर ही सबका योगक्षेम करता है—

अनन्याश्चिन्तमन्तो मां वे जना. पशुपासते ।

तथा नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ९।२०)

(ख) रियासत पटियालामें अमरगढ़ नामक एक कम्बा है। उसमें एक ब्राह्मण रहता था, जिसकी टोंगें जुड़ी हुई थीं, इसलिये वह लकड़ीके खड़ाऊँके सहारेसे बैठा-बैठा ही चला करता था। उसने अपने मनमें विचार किया कि मैं श्रीजगन्नाथ भगवान्‌के दर्शन करूँ तो मेरा जीवन सार्थक हो जाय। पश्चात् उसने अपने घरवालोंसे कहा कि 'मुझे श्रीजगन्नाथजी जानेके लिये खर्च दे दो, क्योंकि मुझे वहाँ दर्शन करनेके लिये जाना है।' घरवालोंने कहा कि 'तुम दिनभरमें एक मीलसे अधिक तो जा नहीं सकते फिर इतनी दूर श्रीजगन्नाथधाम कैसे आओगे?' उस समय रेलगाड़ी तो थी नहीं, इसलिये उसके सम्बन्धियोंने भी जानेकी राय नहीं दी। परन्तु उसने किसीकी बात नहीं सुनी। इसपर सब गाँववालोंने भी उसे जानेसे

बहुत रोका परन्तु वह अपने हृदय संकल्पसे जरा भी न झिगा और जानेके लिये तैयार हो गया। तब उसके घरवालोंने उसको रास्तेके लिये कुछ खर्च दे दिया और वह अपना थोड़ा-सा सामान पीठपर बाँधकर प्रभुका स्मरण करके घरसे चला पड़ा। चलते-चलते थोड़ी दूर जानेके बाद वह थक गया और जंगलमें एक वृक्षके नीचे जाकर छायामें विश्राम करने लगा। इतनेहीमें उसी जगह एक पुरुषने आकर उससे पूछा कि 'तुम कौन हो और कहाँ जा रहे हो?' इसके उत्तरमें उसने कहा कि 'मैं ब्राह्मण हूँ और श्रीजगन्नाथ भगवान्‌के दर्शनके लिये जा रहा हूँ।' तब उस पुरुषने कहा कि 'ब्राह्मण-देवता! तुम वहाँतक कैसे जा सकोगे, तुममें चलनेकी शक्ति तो है ही नहीं, अच्छा हो, तुम यहींमें लौट जाओ।' इसप्रकार उस पुरुषने बहुत मने किया तब ब्राह्मण बोला कि 'मैंने तो अपना शरीर श्रीजगन्नाथजीके अर्पण कर दिया है, इसलिये बिना उनके दर्शन किये मैं लौट नहीं सकता।' इसपर उस पुरुषने कहा कि 'यदि श्रीजगन्नाथजीके दर्शन तुम्हें इमी जगह हो जायें तब तो लौट जाओगे?' तब ब्राह्मण बोला कि 'हमको तो श्रीजगन्नाथजीके दर्शन करने हैं, कहीं-पर हो जायें।' तदनन्तर उस ब्राह्मणको वही पुनः भगवान् श्रीजगन्नाथजीके रूपमें दीखने लगा, ब्राह्मणने श्रद्धापूर्वक प्रणाम करके उनसे कहा कि 'हे नाथ! आपके दर्शन तो मुझे हो गये हैं, परन्तु मेरे गाँववाले हम बातका नहीं मानेंगे, इसलिये आप कोई चमत्कार दिखाइये जिससे उनके मनमें सन्देह न रहे' तब भगवान्‌ने उसकी पैंतीपर अपना चरण रखकर एक झटका देकर उसे सीधा, सुन्दर पुरुष बना दिया और स्वयं अन्तर्धान हो गये। तदनन्तर वह ब्राह्मण भगवत्प्रेमसे प्रभावित होकर उनकी अहैतुकी असीम दयाका तथा उनके माधुर्यरूपका चिन्तन करता हुआ अपने पैरोंमें चलकर घर पहुँचा और यह घटना सबसे कही, तब सब लोगोंने इस बातको मान लिया। इस घटनाको हुए करीब सत्तर-अस्सी वर्ष ही हुए होंगे। उस ब्राह्मणकी सन्तान उसी ग्राममें अभीतक मौजूद है। यह घटना भी ईश्वरकी सत्ता और उनकी विशेष दयाकी परिचायक है।

(ग) थोड़े ही वर्ष पहलेकी बहुत प्रसिद्ध घटना है, श्रीनारायण स्वामीजी एक बड़े प्रसिद्ध भक्त हुए थे, जिनके बनाये हुए बहुत-से पद तथा दोहे आजकल बहुत

प्रचलित हैं। उन्होंने महात्माकी एक अमृतसरमें रहने-वाली कुबड़ी शिष्या थी, वह प्रायः प्रतिवर्ष आवयके झूठोंके समय बुन्दावन जाया करती और वहाँपर नारायण स्वामीकी मँड़ीपर रास कराया करती थी। एक समय भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका स्वरूप बनेवालेसे रास-के समयमें उस कुबड़ी माईने प्रार्थना की कि 'भगवन् ! मधुरामें रहनेवाली कुबड़ीकी कूब तो भगवान्ने तत्काल दूर कर दी थी, आप भी भगवान् हैं, इसलिये मेरी कमर भी सीधी कर दीजिये।' इतनेमें जो भगवान्के रूप बने थे, उन्होंने आकर उस कुबड़ी माईके कमरमें एक हात मारी, जिससे तत्काल उसकी कमर सीधी हो गयी। यह थोड़े ही वर्षोंकी घटना है, जिये बहुत लोग जानते हैं। हमें भी एक महात्माने यह बात उस कुबड़ी माईकी जबानी सुनी हुई सुनायी थी। सिद्धान्तसे भी यह कोई असम्भव या दुर्घट बात नहीं है। यह घटना भी ईश्वरकी सत्ता एवं उसकी विशेष दयाको प्रकट करती है—तात्पर्य यह कि जिसका ईश्वरकी सत्ता और उसकी दयापर पूर्ण विश्वास है उसको उससे लाभ भी पूर्ण होता है। अनेक भक्तोंकी जिन घटनाओंका वर्णन सुना जाता है वे सब ध्रुव सत्य हैं। इसलिये ईश्वरमें और उसकी दयामें पूर्ण विश्वास रखना चाहिये। इसमें किञ्चित्-मात्र भी संशय नहीं करना चाहिये, क्योंकि भगवान्ने गीतामें कहा है 'संशयामा विनश्यति' (४।४०) संशयवाळा पुरुष विनाशको प्राप्त होता है।

(घ) सं० १९६०में हरिद्वारका कुम्भ था। यह हमारे आँखों-देखी बात है। रात्रिमें एक बेरीके वृक्षके नीचे हम-लोग नेत्र मूँद हुए ध्यानमें बैठे थे। उसी समय एक सिंह हमलोगोंके पास आ गया और गरजने लगा। हमने कभी सिंहकी गर्जना सुनी हुई नहीं थी, इसलिये हमें डर नहीं लगा और हमने अपने वस्त्रोंको हिलाकर घोषा शब्द किया, जिससे वह सिंह पीछे हट गया। इतनेमें वहाँ हल्का होने लगा, तब किसी महात्माने आकर हमसे कहा कि 'अभी यहाँ सिंह आया था।' इसी प्रकार कई दूके सर्प हमारे शरीरपर चढ़ गये, और भी हमारे पास आये। उस समय हमारी सहायता करनेवाला कोई व्यक्ति हमारे पास नहीं था और जब हमने ईश्वरका ध्यान किया तब उसने हमारी रक्षा की। इसलिये ईश्वर सत्य है ! सत्य है ! सत्य है ! ईश्वरपर अवश्य विश्वास करना चाहिये।

जब देवताओंकी अपनी विजय देखकर अभिमान हुआ तब उनका मान भङ्ग करनेके लिये उमादेवीके रूपमें वहाँपर ईश्वर प्रकट हुए, यह कथा 'केन उपनिषत्' में विस्तारपूर्वक वर्णन की गयी है। प्रजापतेके लिये वे अग्ने-मेंसे प्रकट हो गये, क्योंकि वे सब अगह्न्यास हैं। प्रौपरी, गजेन्द्र, ध्रुव आदिकी कथाओंको पढ़ने, सुनने, मनन करनेसे उनकी सत्ता तथा दयामें विश्वास अधिक होता है। जिस समय, जिस अगह्न इष्ट विश्वासपूर्वक उन्हें पुकारो उसी समय वहाँपर वह प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं।

एक ब्राह्मण बड़ा गरीब था, उसके पास कुछ भी नहीं था, किन्तु उसके मनमें यह इच्छा हुई कि मैं किसी प्रकारसे राजाके दर्शन करूँ। इसी चिन्तामें वह दिन-रात दुःखी रहा करता था। वह यह बात जानता था कि मुझ-जैसे कौलके राजाके पास कौन जाने देगा ? एक दिन वह एक महात्माके पास जाकर उनसे बोला कि 'महाराज ! मुझे राजाके दर्शन कैसे हों, मुझे इसी बातकी चिन्ता हर समय लगी रहती है।' तब उस महात्माने कहा कि 'भाई ! राजाका मकान बन रहा है, उसमें जाकर कुछ भी मजूरी न लेकर राजाके दर्शनके लिये मन लगाकर खूब डरसाह-पूर्वक काम करते रहो, ऐसा करते रहनेसे किसी दिन राजाके दर्शन भी हो जायेंगे। यह बात सुनकर वह पुरुष राजाके मकानमें प्रेमपूर्वक काम करने लगा, सन्ध्या-समय जब अन्य सब मजूरोंको मजदूरी दी गयी, तब उस ब्राह्मण-को भी बुलाकर मजूरी देने लगे, तब वह बोला कि 'मैं तो कुछ भी नहीं लूँगा, क्योंकि मैं तो केवल महाराजाके लिये ही काम करता हूँ।' जब इसप्रकारसे काम करते हुए कई दिन बीत गये तो परम्परा करके यह बात राजाके पास पहुँची कि 'एक मजदूर कुछ भी मजूरी न लेकर केवल आपके लिये ही काम करता है।' इस बातको सुनकर राजा बोला कि उस मजूरको मेरे पास ले आओ, जब वह ब्राह्मण राजाके सामने गया, तब राजाने उससे पूछा कि 'तुम मुझसे क्या चाहते हो ?' इसपर वह ब्राह्मण बोला कि 'हमको तो आपके दर्शनकी इच्छा थी, सो हो गये, अब कुछ भी इच्छा नहीं है।' राजाने उसको बहुत-से द्रव्यादि पदार्थ देने चाहे किन्तु उसने कुछ भी नहीं किया, तब राजाने उसको अपने बराबरका अधिकार देकर अपने सखा बना लिया।

दाहान्त इसप्रकार है कि जो लोग धन, मान, की,

पुत्रादि सांसारिक पदार्थोंकी कामना करके ईश्वरकी आराधना करते हैं वे तो राजाके मजदूरोंकी भाँति नियत किये हुए ऐसे पानेके ही अधिकारी हैं। पर जो निष्काम भक्त केवल ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये ही कर्म या उपासनादि करते हैं, परमेश्वर इस लोकमें भुव, प्रह्लादकी भाँति उनके इन्द्रोंकी निवृत्ति करके अन्तमें उन्हें अपने धाम या मोक्ष-पदकी प्राप्ति करा देते हैं।

इसलिये उन ईश्वरकी शरण होकर निष्काम आत्मसे उनकी भक्ति करनी चाहिये। कलियुगमें यही सबसे सरल और सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

जै प्राणा 'हौ' 'मै' तजी, कता राम पिछन।

कह नानक बह मुरु नर, पमन साबीजन ॥

जिस व्यक्तिने अपने मादे तीन हाथके शरीरके अहंकारको त्याग दिया है और सबके कर्ता ईश्वरको तत्त्वसे जान लिया है, गुरु नानकजी कहते हैं 'अरे मन! वह मनुष्य मुक्तस्वरूप ही है यह बात सत्य समझ।'।

एक राजा था, उसने अपने देशमें हिंदोरा पिटाया दिया कि 'जो व्यक्ति दो घण्टेके अन्दर हमारे पास आ जायगा उसको हम अपना राज्य दे देंगे।' ऐसा कहलाकर उस राजाने अपने बैठनेकी जगहके बीचके रास्तेमें पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धके उत्तम-से-उत्तम भोग्य पदार्थ अपने पास आने-वालोंको मुफ्तमें भोगनेके लिये रखवा दिये, जैसे अच्छे-अच्छे गायन गानेवाली सुन्दर अप्सराओंके सदृश युवती स्त्रियाँ तथा फोनोग्राफ, हारमोनियम, तम्बूरे, मितार, वीणा, मृदंग आदि अनेक वाद्य बजानेवाले प्रवीण लोग नाना प्रकारके गायनके साथ वाद्य बजाकर मनको मोहित करने लगे। मत्तमली गह्वोंकी शय्या एवं मनको लुभानेवाली इन्द्रकी अप्सराओंको भी अपने रूप-लावण्य और मन्द मुष्कानसे मात करनेवाली युवती स्त्रियाँ अपनी ओर आकर्षित कर रही थीं। अनेक प्रकारके नाटक, सिनेमा तथा नेत्रोंको मोहनेवाले सुन्दर-सुन्दर दृश्य पदार्थ रखवा दिये कि वे देखनेवालोंको दूर जाने ही नहीं देते। खानेके लिये मेवा, मिठाई, फल आदि इतनी सामग्री एकत्रित कर दी गयी कि उनकी संख्या ही नहीं गिनी जाती तथा उनके रसास्वादन किये बिना ही मुँहमें पानी भर आता है। इसी प्रकार सुगन्धके लिये अत्तर, फुल्लैह, एसेंस, पुष्प, बाग-बगीचे

ऐसे रचे गये कि वहाँसे हटनेको चित्त ही नहीं चाहता। यह तो इन्द्रियोंके कुछ विषय हुए। अब मनको फँसानेके लिये भी नाना प्रकारकी सामग्री एकत्रित कर दी गयी। इन सब मनोमोहक सामग्रियोंके उपभोगका आनन्द बिना ही कुछ दिये मन चाहे जितना करनेकी खुली आज्ञा राजाने सबके लिये दे दी। साथ ही यह भी कह दिया गया कि दो घण्टे पूरे होनेपर सबको जबरदस्ती बाहर निकाल दिया जायगा।

हजारों-लाखोंकी संख्यामें लोग राजासे मिलनेके लिये वहाँ एकत्रित हो गये। पर सबने अपनी-अपनी रुचिके अनुसार अपना मन उन भोग्य वस्तुओंके उपभोगमें लगा दिया, अधिकांश तो उनमें इतने निमग्न हो गये कि राजाके पास जाना ही भूल गये। कुछ बुद्धिमान् थे, उन्होंने विचार किया कि अभी तो समय बहुत है, इन पदार्थोंका उपभोग कर लें, ठीक समयपर राजाके पास पहुँचकर राज्य ले लेंगे। ऐसा विचारकर वे भी उन भोग्य सामग्रियोंमें ही लिप्त हो गये। उनमेंसे किसी एक अति बुद्धिमान् व्यक्तिने ऐसा विचार किया कि यह सब सामग्री तो राजाकी है और राजाके पास जानेसे जब हम स्वयं राज्यके मालिक ही हो जायेंगे फिर यह सब सामग्री आप ही हमारी हो जायगी, तब मनचाहा इनका उपभोग कर लेंगे, ऐसा विचार करके वह व्यक्ति किसी भी ओर जरा भी न ताक सीधा तेजीसे चलकर राजाके पास पहुँच गया। राजासे भेंट होते ही राजाने अपनी पूर्वप्रतिज्ञाके अनुसार उसको राज्य देकर स्वयं बनकी राह ली।

दार्ष्टान्त इसप्रकार समझना चाहिये कि ईश्वररूपी राजाने मनुष्योंके लिये सम्पूर्ण भोग्य पदार्थ रचकर उनको आज्ञा कर दी कि जो जीव मनुष्य-शरीरको प्राप्त करके इन सब पदार्थोंसे मोह इटाकर केवल मेरे परायण हो जायगा उसे मैं अपने परमधामका मालिक बना दूँगा या उसे परमपद यानी मोक्षपदकी प्राप्ति करा दूँगा। परम व्यासु ईश्वरकी ऐसी आज्ञा होनेपर भी मायामरीचिकामें मोहित रहनेवाले अधिकांश जीव मायिक पदार्थोंके उपभोगमें ही अपना जीवन नष्ट कर देते हैं, कुछ समझदार लोग ऐसा विचार करते हैं कि अन्त समयमें ईश्वरमें प्रेम करके संसारी पदार्थोंसे मोह इटा लेंगे किन्तु जैसे दो घण्टेकी

अवधि के समाप्त होते ही उन लोगोंको धक्के देकर निकाल दिया गया, इसी प्रकार आसोंकी अवधि पूरी होते ही इन जीवोंको कालदेव अबरवली यहाँसे ले जाकर उनके अपने-अपने कर्मानुसार चौरासी लाख योनियोंके चक्रमें भ्रमण करायेंगे। नविकेता के सहस्र कोई विरका ही वैराग्यवान्

पुरुष ब्रह्मलोकपर्यन्तके सम्पूर्ण भोग्य-पदार्थोंको नाशवान् समझकर उनमें दोषरहित करके ईश्वरके भजन-ध्यानसे परायण हो जायगा तो उसको इसी जन्ममें ईश्वरका साक्षात्कार होकर परमपदकी प्राप्ति हो जायगी।

हरिः ॐ तत्सत्

(२३) स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी 'कैलासाश्रम'

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्ताध्वक्षः सर्वभूताधिवासः
मासी चेतः केवलो निर्गुणश्च ॥

अर्थात् 'एक ही देवता सब भूतोंके भीतर है, वह सर्वव्यापी है, सब भूतोंका अन्तरात्मा है, कर्मोंका अध्वक्ष है, सब भूतोंका अधिवास है, साक्षी है, चेतन है, अद्वैत है और निर्गुण है।'।

मूलसे लेकर बड़े-बड़े विद्वान्तक, बड़े-बड़े, स्त्री-पुरुष सभी दिन-रात इस सायात्मक भौतिक प्रपञ्चकी विचित्रताका अनुभव करने हैं। सबकी प्रत्यक्ष दीखनेवाले इस अपूर्व व्यावहारिक संसारको कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। देहात्मवादी नास्तिकसे लेकर परम आत्मिक श्रद्धिनीय ब्रह्मवादी वेदान्तीक सभीने अपनी-अपनी प्रक्रियाके अनुसार इस कार्यरूपी जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका निरूपण किया है, तथा कार्य-कारण-पूर्वक ही हुआ करता है, इस लौकिक न्यायके अनुसार उन्होंने जगत् रूप कार्यके कारणका निरूपण करनेकी भी चेष्टा की है।

'भूतानीति च तद्विदः।'

'यज्ञा इति च तद्विदः।'

'पञ्चविंशक इत्येकं षड्विंश इति चापरं।'

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।

स्वप्नमायाम्बुक्षति सृष्टिर्न्यैर्विदिपता ॥

इच्छामात्र प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टे विनिश्चिता।

कालाप्रसूति भूतानी मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥

मंगाय सृष्टिरित्यन्ये क्रीडावमिति चापरे।

देवस्यायं स्वभावोऽयमात्मकामस्य का स्पृहा ॥

अर्थात् 'भूतवादी जगत्का मूलकारण पञ्चभूतोंको ही बतलाते हैं। याज्ञिक लोग यज्ञको कारण बतलाते हैं। कोई

पचीस तत्त्वोंको, कोई छत्तीस तत्त्वोंको कारण मानते हैं। कोई कहते हैं कि यह जगत् स्वप्नके समान अथवा माया-स्वरूप है। दूसरे कहते हैं भगवान्की इच्छामात्रसे जगत्की सृष्टि हो जाती है। कालवादी कहने हैं कि कालसे पञ्चभूतोंकी सृष्टि होती है। दूसरे कहने हैं कि सृष्टि भोगके लिये है और तीसरे कहते हैं कि यह जगत् भगवान्की लीला है। कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर आत्मकाम है, उनको इच्छा नहीं होती, सृष्टि करना उनका स्वभावमात्र है।'

इसप्रकार विभिन्न मतवादी अपने-अपने मतानुसार सृष्टिके कारणकी कल्पना करते हैं। यह सृष्टि चाहे जिस-प्रकार बनी हो, बुद्धिसामर्थ्यके लिये विचारणीय यह है कि इस अद्भुत जगत् रूपी शिल्पका शिल्पी कौन है? जिसप्रकार किसी प्रदर्शनीमें जानेपर वहाँके विचित्र शिल्प तथा कला-कौशलवादिको देखकर उनके रचयिताके अस्मिताकी स्फूर्ति दर्शकके चित्तमें स्वयमेव उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इस अनिर्वचनीय जगत् शिल्पके कर्ताके रूपमें ईश्वरकी अनुवृत्ति सबके चित्तमें स्पष्ट अथवा अस्पष्टरूपसे होती ही है। उपनिषद्ओंके अनुयायी ईश्वरको शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप मानते हैं। कपिलके अनुयायी आदि विद्वांसिद्धको ईश्वर कहा करते हैं। पतञ्जलि मुनिके अनुयायी क्लेश, कर्म-विपाकादि सम्बन्धसे रहित पुरुषविशेषको ईश्वर मानते हैं। याज्ञिक लोग यज्ञ-पुरुषको ईश्वर कहते हैं। तार्किक लोग नियोजन आदि अष्ट गुणोंसे विशिष्ट चेतन विभु कर्ताको ही ईश्वर मानते हैं। मीमांसक लोग भी उपास्यरूपसे ईश्वरको मानते हैं। चार्वाक लोग भी ईश्वरको व्यवहारसिद्ध मानते हैं। अधिक क्या—

जलपाषाणमृत्काष्ठवास्याकुहाकादयः ।

ईश्वराः सर्वे धैवेते पृथिताः पञ्चदायिनः ॥

अर्थात् 'जल, पत्थर, मिट्टी, काष्ठ, कोहरा, कुहाड़ आदि

यह सभी ईश्वर ही हैं, इनकी पूजा करनेसे ये अवश्य ही फल प्रदान करते हैं ।

इसप्रकार जब सबने किसी-न-किसी रूपमें ईश्वरको मापा है तो फिर ऐसे सर्वानुभव-प्रसिद्ध ईश्वरमें सन्देह ही कैसे हो सकता है ? और जब सन्देह ही नहीं तो उसके निरूपणकी क्या आवश्यकता है ? तथापि विभिन्न वादोंके पारस्परिक विरोधके कारण लोगोंके मनमें जो यह संशय होता है कि 'ईश्वरको क्यों माना जाय, उसके न माननेसे क्या हानि है तथा ईश्वर है इसका प्रमाण क्या है ?' इनके निवारणके लिये यत्किञ्चित् शास्त्रीय युक्तियोंकी सहायतासे यहाँ ईश्वर-सम्बन्धी विचार किया जाता है । यद्यपि ईश्वर श्रुति-स्मृति-अनुभव-प्रसिद्ध होनेके कारण सिद्ध ही है तथापि जबतक श्रुति-स्मृति-जन्य प्रमाण तर्कद्वारा उपपन्न नहीं किया जाता तबतक यथायथः वस्तु-विषयक प्रमा-ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती । जिसप्रकार घट-पट आदि कार्यके कारण कुम्भकार और तन्तुवाय (जुलाहा) आदि हैं, यह बात सबको अनुभवसिद्ध है, फिर यदि कोई अज्ञ पुरुष सन्देह करे कि घटात्मक कार्य है तो रहे, पर उसका कारण कुम्भकारको क्यों मानें ? इस संशयके निवारणके लिये यही युक्ति दी जा सकती है कि बिना किसी चेतन कर्ताके कम्बु-प्रीषा आदि आकारविशिष्ट घटात्मक कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि यदि घटादि कर्तृजन्य नहीं होगा तो वह कार्यरूपमें नहीं आ सकता, क्योंकि जो कार्य होता है वह कार्याभिन्न कर्ताके द्वारा ही होता है । इस सार्वत्रिक व्याप्तिके अनुसार अन्वया कार्य-कारण-भाव सम्भव नहीं है ।

देव, गन्धर्व, यक्ष, रक्ष, पित्र, पिशाचादि विचित्र; स्वर्ग, मर्त्य, पाताल, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्रादि विकल्पाः विविध प्राणियोंके उपभोगके योग्य स्थान और साधन आदि विशेषणोंने युक्त जगत्, जो परम अभिन्न, अत्यन्त कर्मकुशल शिल्पियोंसे भी रचा जाना असम्भव है, तथा जो सदा देश-काल-निमित्तके अनुसार एक महान् नियमका अनुवर्तन करते हुए प्रवृत्त और निवृत्त हो रहा है, अवश्य ही भोक्ता और कर्म तथा फलका विभाग जाननेवाले किसी पुरुषके प्रयत्नसे उत्पन्न हुआ है । लोकमें भी देखा जाता है कि गृह, प्रासाद तथा रथ आदिकी रचना इनका विभाग जाननेवाले किसी चेतन पुरुषके प्रयत्नपर निर्भर करती है । इसी प्रकार यह भी माना ही पड़ेगा कि इस

विचित्र जगत्की रचना भी किसी चेतन सर्वज्ञ पुरुषके द्वारा हुई है । इसी बातको प्रमाणकुशल नैयायिकोंने 'क्षित्य-कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्' इस अनुमानसे सिद्ध किया है । इसप्रकार जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी व्यवस्था अन्यथासिद्ध न होनेके कारण जगत्-कर्ता ईश्वरको स्वीकार करना ही पड़ता है ।

यहाँ यदि कोई नास्तिक शङ्का करे कि 'जब पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारों भूतोंके संचातरूप कारणसे ही जगत् उत्पन्न हो सकता है तो इनसे पृथक् ईश्वरको क्यों माना जाय ?' इसका उत्तर यह है कि 'भूतवर्ग स्वयं अचेतन हैं, अचेतन पदार्थमें स्वयं प्रवृत्ति नहीं बन सकती और प्रवृत्तिके न होनेसे इनका पारस्परिक सम्मिलन भी सम्भव नहीं; यदि सम्मिलन (संचात) नहीं तो सृष्टिकी उत्पत्ति ही कैसे हो सकती है ? यदि कोई कहे कि 'जड़-वायु तो स्वतः प्रवृत्त होकर अन्तरिक्षमें गूणादिको धारण करता है, इसी प्रकार ये सब भूत भी स्वतःप्रवृत्त होकर जगत्का हेतु बन जा सकते हैं ।' परन्तु यह दृष्टान्त ठीक नहीं, क्योंकि यदि जड़-वायु स्वतः प्रवृत्त होकर कार्य करता तो जड़स्वरूप साधारण धर्म-विशिष्ट द्रष्टा आदिमें भी स्वतः प्रवृत्ति होनी चाहिये थी परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता । यह सभी जानने हैं कि शकटमें गति चेतनद्वारा ही होती है । इसलिये यह मानना पड़ेगा कि जड़-भूतोंका पारस्परिक मिलन भी किसी चेतन पुरुषके ही अधीन है । भूति भी कहती है—

'योऽप्सु तिष्ठन् योऽपो अन्नरो यमयति ।'

(बृहदारण्यक ।

'मीमांसमाद् वातः पवते ।'

'तस्मिन्मपि मातरिश्वा दधति ।'

'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।' इत्यादि ।

भावार्थ यह है कि सर्वनियन्ता ईश्वर सबके अन्तर्गत अन्तर्धीमोरूपसे स्थित होकर सबको प्रेरणा कर रहे हैं ।

यदि कोई कहे कि यह जो विचित्र उपभोगों तथा प्राणियोंके विविध कर्मरूप साधनकी विलक्षणतासे पूर्ण जगत् है वह कर्मके द्वारा ही बना है, क्योंकि ईश्वरमें विषमता और निर्दुष्णता आदि दोषोंको दूर करनेके लिये कर्मनिष्ठ अविषम्य प्रभावको सर्व वादियोंने जगत्की

विचित्रताका कारण अङ्गीकार किया है, अतएव सर्ववादि-सम्मत कर्मको अपूर्व जगत्का कारण माननेसे यदि काम चलता है तो एक और निम्न सर्वश ईश्वरको जगत्का कर्ता मानना व्यर्थ है।

परन्तु यहाँपर विचारणीय यह है कि कर्म जड़ है या चेतन ? कर्मको स्वरूपमें अवश्य ही जड़ कहना होगा और वह जड़-कर्म स्वतन्त्र होकर किसी कार्यका कारण नहीं बन सकता। जिसप्रकार दण्ड, चक्र आदि सामग्रियोंके एकत्रित रहनेपर भी उनको प्रेरित करनेवाला कुम्भकार-रूपी कर्ता यदि न हो तो घटरूप कार्य नहीं बन सकता, उसी प्रकार कर्म आदि जड़-कारणोंके वर्तमान रहनेपर भी बिना कर्ता ईश्वरके इस विचित्रतासे पूर्ण जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अधिक क्या, एक रज-कण भी अन्तर्यामी ईश्वरके संकेत बिना अपने स्थानसे हिल नहीं सकता। फिर इस विशाल ब्रह्माण्डके उद्भव और प्रलयकी तो बात ही क्या है ?

क्योंकि जड़-कर्म कर्ताके अधीन होनेसे उसके प्रयत्नसे उत्पन्न होता है, तथा उस प्रयत्नके शान्त होनेके साथ ही शान्त हो जाता है, अतः कर्ताके प्रयत्नके उपरम होनेपर उपरत होनेवाला कर्म कालान्तर अथवा देशान्तरमें चेतन कर्ताके सिवा कैसे फलको उत्पन्न कर सकता है ? इसीलिये फलदाता चेतन पुरुषको मानना ही पड़ेगा और वही चेतन ईश्वर है।

पुनः यदि कोई शङ्का करे कि, 'कर्म यदि स्वतः फल-दाता न होनेसे जगत्की उत्पत्तिका कारण नहीं बन सकता तो कर्मकर्ता जीवको ही फलदाता क्यों न मान लिया जाय ? फिर जगत्-उत्पत्तिके जिनके कारणभूत एक पृथक् ईश्वरके माननेकी आवश्यकता ही नहीं होगी।' यह शङ्का भी बिल्कुल ही युक्तिहीन है, क्योंकि अल्पश और अल्प शक्तिमान् होनेके कारण जीव सब काल, सब देश, सब निमित्तों तथा तत्पुरुष फलों एवं उन फलोंके यथोचित विभागमें अभिज्ञ नहीं हो सकता, फिर वह फलदाता तथा जगत्निर्माता कैसे हो सकता है ? और यदि जीव ही स्वतन्त्ररूपसे कर्मनियन्ता, फलदाता और सर्वदेशकालादि-का ज्ञाता होता तो उसे कर्म अनिष्ट फलकी प्राप्ति होती ही नहीं। मला संसारमें ऐसा कौन मूर्ख है जो स्वेष्यसे स्वयं दुःख भोग करना चाहता हो, बल्कि—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-
जीनामधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

तथा—

'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' (श्रुति)

—इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीव (कर्म-फल-भोगमें) कदापि स्वतन्त्र नहीं है। इसलिये वह जगत्-कर्ता, फलदाता नहीं हो सकता। अतः कर्म और उसके फलोंका विभाग-कर्ता तथा सबका नियन्ता सर्वश सर्वशक्तिमान् स्वतन्त्र ईश्वरको मानना ही होगा।

यदि कोई कहे कि 'निर्निमित्तक कर्म ही फल प्रदान करनेमें प्रवृत्त होता है, यदि ऐसा मान लें तो अनिष्ट-फलाप्राप्तिरूप दोष भी नहीं आता है और ईश्वरको भी प्रेरकरूपमें निमित्त माननेकी आवश्यकता नहीं पड़ती है।' यह लाघव प्रदर्शित करनेवाला सिद्धान्त केवल अविचारमें ही सुन्दर दीख पड़ता है, क्योंकि इस संसारमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं जिसे निर्निमित्तक (बिना निमित्तके बनी हुई) कहा जाय। छोटी-से-छोटी वस्तुका विकार भी बिना निमित्तके नहीं हो सकता। अतएव लोकविरुद्ध तथा प्रमाणान्तरमें सिद्ध न होनेसे कर्म बिना किसी निमित्तके विकृत होकर फलरूपमें परिणत हुआ किसीका भोग नहीं बन सकता।

निरीश्वरवादी बौद्ध कहते हैं कि, 'जैसे अयस्कान्तमणि कदाचित् चेतनके द्वारा प्रेरित होनेपर कालान्तरमें भी लोहेका आकर्षक होता है, वैसे ही क्षणिक विज्ञानरूप आत्माका किया हुआ कर्म भी कालान्तरमें फलका प्रेरक बन सकता है। ईश्वर कोई वस्तु नहीं है।' परन्तु यह मत अश्रुतिमूलक है, क्योंकि कर्म सदा कर्ताके साथ रहता है और क्षणिक विज्ञानसे कालान्तरमें कर्ताका अभाव हो जाता है जिससे न तो कर्म ही रहता है और न उसका फल भोगनेवाला। यदि कोई कहे कि उस कर्मफलका भोक्ता दूसरे जन्ममें उत्पन्न हुआ दूसरा विज्ञानात्मा हो जाता है, तब तो अत्यन्त ही अन्यवस्था-दोषकी प्राप्ति हो जायगी। कर्म करेगा कोई एक और फल भोगेगा कोई दूसरा। इसप्रकार 'अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्रसंग' रूप महान् दोष उत्पन्न हो जायगा। कर्म क्षणिक होनेके कारण

बिना फल प्रदान किये ही नष्ट हो जायगा और यही 'कृतविप्रणाश' दोष है; तथा बिना ही किया हुआ कर्म फल देनेमें प्रयुक्त होगा जो 'अकृताभ्यागम' दोष है। ऐसी अव्यवस्था हो जानेसे फिर संसारमें कौन पुरुष फलकी इच्छामें कर्ममें प्रयुक्त हो सकता है? अतः कालान्तरमें फल आदिके व्यवस्थापकके रूपमें ईश्वरको अवश्य ही मानना चाहिये।

जरन्मीमांसक कहते हैं कि, 'फल आदिके व्यवस्थापक जब कर्म मौजूद ही हैं तो प्रमाणहीन ईश्वरके माननेकी क्या आवश्यकता है? वेद भी तो 'यजेत् स्वर्गकामः' इत्यादि वाक्योंमें स्वर्ग-फलको उद्देश्य करके यागादिका विधान करते हैं, इसमें स्पष्ट है कि यज्ञादि कर्म ही स्वर्गादि फलके उत्पादक हैं। फिर वेदने भी तो कहीं ईश्वरका प्रतिपादन नहीं किया है। यदि कोई कहे कि क्षणिक यागादि कर्म कालान्तरमें होनेवाले स्वर्गादि फलके उत्पादक कैसे हो सकते हैं, तो यह ठीक नहीं; क्योंकि यदि यागादि कर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति न हो तो वेदका वचन व्यर्थ हो जायगा और इसमें वेद अप्रामाणिक हो जायेंगे। किन्तु वेद अपौरुषेय निरपेक्ष स्वतःप्रमाणस्वरूप हैं अतः यागादि कर्म नाशवान् होनेपर भी स्वर्गादिका कारण बन सकता है।' इसपर यदि कोई आशेष करे कि 'कारण तो वह होता है जो कार्यके अव्यवहित नियत पूर्ववर्ती हो। स्वर्गादि फलरूप कार्यके उत्पन्न होनेके अव्यवहित पूर्व-क्षणमें तो यागादिरूप साधन कभी विद्यमान नहीं रहते फिर वह यागादि कर्म स्वर्गादिके कारण कैसे हो सकते हैं?' इसका मीमांसक उत्तर देते हैं कि 'क्षणिक ओषधिमंजनसे उत्पन्न हुआ स्थायी संस्कार जिसप्रकार कालान्तरगत आरोग्यका कारण होता है, उसी प्रकार यागादि कर्म नाशवान् होनेपर भी तज्जन्य अवान्तर स्थायी अदृष्टद्वारा स्वर्गादि फलको प्रदान करेगा। भाव यह है कि यागादि कर्मसे एक स्थायी अदृष्ट उत्पन्न होता है जो यागादिके नष्ट हो जानेपर भी नष्ट नहीं होता और वही कालान्तरमें यागादि अनुष्ठान करनेवालोंको स्वर्गादि फल प्रदान करता है। अतः ईश्वर फलदाताके रूपमें सिद्ध नहीं होता है। ईश्वरके सम्बन्धमें जो वेदवाक्य मिलते हैं वे अर्थवाद-रूप होनेसे इसमें प्रमाण नहीं हो सकते, अतः उनसे ईश्वरकी सिद्धि नहीं होती।'

मीमांसकोंकी यह कल्पना भी दुर्लभिच्छद्म है। इसके

अनुसार ही अदृष्टकी कल्पना हुआ करती है। दृष्टविरुद्ध कल्पना कभी आदर्शनीय नहीं हो सकती। लोकमें देखा जाता है कि जो-जो कर्म कालान्तरमें फल देनेवाले होते हैं उनके वे फल अवश्य ही चेतनप्रयुक्त होते हैं। कर्म दो प्रकारके होते हैं—एक तो दृष्ट फल देनेवाला और दूसरा अदृष्ट फल देनेवाला। इनमें पहला दृष्ट फल देनेवाला फिर दो प्रकारका होता है, एक तो तत्काल फल देनेवाला और दूसरा भविष्यत्वमें फल देनेवाला। रामन, भोजनादि कर्म प्राप्ति-वृत्ति आदि फल तत्काल ही प्रदान करते हैं; दूसरे कृषि, सेवा आदि कर्म ब्रह्मि, द्रव्य आदि फल भविष्यमें प्रदान करते हैं। तत्काल फल प्रदान करनेवाले कर्म फलदानके बाद नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् वे फलपर्वणी होते हैं और कालान्तरमें फल देनेवाले कर्म फल देनेसे पहले ही नष्ट हो जाते हैं अर्थात् वे उत्पन्न-प्रध्वंसी होते हैं। यह उत्पन्न-प्रध्वंसी कर्म चेतन कर्ताके बिना कालान्तरमें फलदायक नहीं हो सकता। लोकमें देखा जाता है कि राजा, सेन्यवृद्धिमें किये हुए सेवारूप कर्मके नष्ट होनेपर भी कालान्तरमें सेवानुरूप फल सेवकको प्रदान करता है। सेवा-कर्म स्वतः नष्ट होकर कालान्तरमें कदापि स्वतन्त्र फलदाता नहीं बन सकता और न सेवाजन्य अदृष्ट ही स्वतन्त्र फल दे सकता है। इसी प्रकार कृषि आदि कर्मोंके द्वारा उत्पन्न धान्य आदि फलको कालान्तरमें पकनेपर कृषकके घरपर न तो कृषकके छोड़े हुए हल आदि यन्त्र, न कृषि आदि कर्म और न तज्जन्य संस्कार ही पहुँचाते हैं, बल्कि किसी चेतनपुरुषके द्वारा ही उस धान्यरूप फलकी प्राप्ति कृषकको होती है। इस लौकिक दृष्टान्तके अनुसार उत्पन्न-प्रध्वंसी यागादि कर्म भी चेतन ईश्वरके बिना कालान्तरमें फलके पहुँचानेवाले नहीं हो सकते। अतः फलप्रदाताके रूपमें सर्वज्ञ नियम चेतन ईश्वरको माने बिना काम नहीं चल सकता।

मीमांसक यह भी शंका कर सकते हैं कि 'लौकिक कर्ममें यह नियम लागू होते हैं, तो वैदिक कर्मोंको इनके अधीन क्यों किया जाय?' यह शंका यहाँ ठीक नहीं, क्योंकि पदार्थ अपने स्वभावको कदापि नहीं त्याग सकता। जिसप्रकार किसी भी देश, कालमें अग्नि अपनी उष्णताको नहीं त्याग सकती, उसी प्रकार कर्म भी चाहे वह लौकिक हों या वैदिक, कर्मत्वधर्म सामान्य होनेके कारण अपने धर्म (अर्थात् कर्ताकी अपेक्षा फल-प्रदान)

को कभी नहीं त्याग सकते। अब रह गया कि 'याग अष्टके द्वारा कर्म-फलको प्रदान करेगा,' तो यह भी नहीं हो सकता। क्योंकि अष्टक व्यापार है और व्यापार कारणके आश्रित होता है। जैसे चक्रका अग्रादि व्यापार दृश्यके आश्रित और दृश्यजन्य होता है। अब अष्टक व्यापारवान् कर्म यागके आश्रित और यागसे उत्पन्न होता है, वह याग आदि कर्मके नाशसे आश्रयहीन होकर कहाँ उठर सकता है? और व्यापारवान् के नाशके साथ व्यापार-का नाश अवश्यम्भावी होनेके कारण यागादि कर्मोंके नष्ट होनेपर अष्टक स्थायी नहीं हो सकता, फिर वह स्वर्ग-का उत्पादक कैसे हो सकता है? अतएव अष्टके फलोत्पादक न होनेपर ईश्वरको कर्म-फल-दाता मानना ही पड़ेगा। अतएव सर्वलोकसाक्षी कर्म, कर्मफल और भोक्ता-को जाननेवाला क्लेशकर्मविपाकाशयमे रहित सर्वज्ञ ईश्वर सिद्ध होता है जो प्रसंग और निर्लेप रहकर जीव-जगत् का एकमात्र धाता, कर्ता और निबन्ता है। भगवान् स्वयं श्रीमुखासे कहते हैं—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृदयेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्राकृद्धानि मायया ॥

यहाँ यदि कोई शंका करे कि, 'निर्लेप सर्वान्तर्धानी ईश्वर ही सबका प्रेरक और नियामक है, तो निग्रहानुग्रह-का कर्ता होनेसे वह राग-द्वेषादिये युक्त हो जायगा और लोक अथवा वेदमें इसके प्रमाण भी मिलते हैं। क्योंकि लोकमें कुछ मनुष्य तो धन-गौलनके अधिकारी बनकर भौति-भौतिके अनोरस पदार्थोंका भोग करते हैं और दूसरे निरन्तर दुःख भोगते हुए हाय-हाय करने दिन व्यतीत करते हैं। वेदमें लिखा है—'स एष साधु कर्म कारयति।' तथा स्वयं भगवान् कहते हैं कि—

'तेषामहं समुद्धृता मृत्युमंसारसामरात् ।'

'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।'

—इसप्रकार ज्ञात होता है कि भगवान् किसीको तो अपना प्यारा मानकर सुख-भोग तथा मोक्ष-प्रदान कर अनुग्रह करते हैं और किसीको शत्रु मानकर घोर नरकमें डाल निग्रह करते हैं। इसप्रकार भगवान् में पक्षपातादि दोष आ जाते हैं; फिर अपने समान ही पक्षपातादि दोषमे युक्त भगवान् को माननेमे क्या लाभ?

ठीक है, परन्तु निग्रहानुग्रहके कर्ता होनेसे ही ईश्वरमें

पक्षपात तथा रागादि दोष नहीं आ सकते। लोकमें तो इसके बहुतरे दृष्टान्त मिलते हैं—माता-पिता अपने सन्तानोंके प्रति निग्रहानुग्रहकर्ता होनेसे न तो पक्षपाती कहे जा सकते हैं और न रागादिवान् ही कहे जा सकते हैं; क्योंकि वे निग्रहानुग्रह जो कुछ करते हैं, सन्तानके सर्वथा कल्याणके लिये ही करते हैं। इसी प्रकार कृपाळु परमपिता परमेश्वर भी निग्रहानुग्रहद्वारा भूतोंका कल्याण ही करते हैं।

इसपर यदि कोई शंका करे कि 'अज्ञ माता-पितामें यह दृष्टान्त घट सकता है, परन्तु सर्वान्तर्धानी ईश्वरमें यह कैसे घटेगा? अन्तर्धानी होनेके कारण समस्त होनेसे ईश्वरको सब भूतोंकी एकाकार प्रवृत्तिका कारण होना चाहिये; फिर जब वह आसकाम ही है तो 'आसकामस्य का स्पृहा' इस श्रौत-न्यायके अनुसार ईश्वरमें सुख-दुःख-का दान्त्व नहीं बन सकता।' ये शंकाएँ भी निराधार हैं, क्योंकि ईश्वरमें उत्सप्रकारका प्रेरकत्व नहीं है। शास्त्रमें अनादि कर्मोंकी वामनान्ते संश्लिष्ट अन्तःकरणमे उपहित चैतन्यके साक्षिण्यको ही अन्तर्धानी ईश्वरका प्रेरकत्व कहा गया है। जिसप्रकार शुम्भक केवल साक्षिण्यमे ही लोटेका प्रेरक होता है, इसी प्रकार प्रेरक होनेके कारण निर्लेप ईश्वरमें दोष नहीं आ सकता। अनादि कर्मवासनाके अनुरूप विज्ञानात्माका परिणाम ही ईश्वरकृत जीवकी प्रवृत्ति है। उन वासनाओंके अनुसार जीव जन्मे-जन्मे कर्म करता है, वैसे ही ईश्वर उमे फल देता है। जिसप्रकार राजा बुद्धको दण्ड देने तथा शिष्टको पालन करनेमे अन्यायी नहीं कहलाना उन्हीं प्रकार ईश्वर कर्मानुसार सुख-दुःखदाना होनेपर भी दोषका भागी नहीं हो सकता। इसमें अति-मृति आदिके अनेकों प्रमाण हैं।

'एष ह्येव साधु कर्म कारयति, एष उ एवाऽसाधु कर्म कारयति, 'पुण्यं वै पुण्येन कर्मणा प्रवति पापः पापेन' 'स वा एष महान् अत्र आत्मानादौ वमुदानः—इत्यादि श्रुतिः ।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव मजाम्यहम् ।'

'नद्धत्ते कस्यचित्पापं न चैव मुक्तं विमुः ।'

'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।'

—इत्यादि स्मृतिः

'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' 'वैषम्यनेवृण्यं न सांप्रदायात्तथा हि दर्शयति ।' 'फलमत उपपत्तेः ।' 'श्रुतत्वात् ।' 'पूर्वं तु नादरायणो हेतुम्यपदेशात् ।' —इत्यादि मन्त्रस्य

पुनः यह शङ्का होती है कि 'अपने उपभोगके साधनों-
के नियन्त्रा चेतन जीवके होते हुए भी जीवातिरिक्त किसी
ईश्वरको नियन्त्रा माननेसे, उस ईश्वरके लिये दूसरेको
नियन्त्रा मानना होगा और उस दूसरेके लिये तीसरेको
मानना होगा; इसप्रकार अनवस्था-दोषकी आपत्ति होगी,
अतः अनवस्था-दोषके परिहारके लिये जीवातिरिक्त नियामक
ईश्वरको मानना ठीक नहीं।' यह शङ्का भी युक्तियुक्त
नहीं। क्योंकि सबका प्रत्यक्षभूत ईश्वर सबका आत्मा
होनेके कारण जीवका भी आत्मा है। कल्पित औपाधिक
भेद रहनेपर भी ईश्वर जीवसे तत्त्वतः भिन्न नहीं है। अतः
अनवस्थादि दोषका लेश भी ईश्वर-सिद्धिमें बाधक नहीं
हो सकता। भगवती श्रुति भी ईश्वर और जीवकी अभिन्नता-
का प्रतिपादन करती है—

'स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।' 'तत्तृहवा तदेवानुप्राविशत्।'
'अनेन जीवेनात्मनानुप्राविश्य व्याकरवाणि।'

'कार्योपाधिर्मवेजीवः कारणोपाधिरीश्वरः।' —इत्यादि

सांसारिक जीवके आत्मभूत होनेसे ईश्वर भी सांसारिक
हो जायगा, ऐसी शङ्का भी ठीक नहीं होती; क्योंकि ईश्वर
सब धर्माधर्ममें असंस्पृष्ट होनेके कारण निर्लेप और निरवध
है। —असंगो ह्ययं पुरुषः। इसप्रकार ईश्वर केवल युक्तियोंसे
ही सिद्ध है, ऐसी बात नहीं। बल्कि वह शत सहस्र
श्रुति-स्मृति आदि प्रमाणोंमें भी प्रमाणित है—

सूर्यो यथा सर्वलोकाश्च चक्षु-
ने लिप्यते चाधुपैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥

(कठ०)

'विजरां विमृत्युः' 'जराभूत्युमत्येति'— (छान्दो०)
'सत्यकामः सत्यसंकल्पः एष सर्वेश्वरः पुण्यं कर्म कारयति।'
(छान्दो०)

'अननननयोऽभिजाकशीति' (मुण्डक, श्वेता०)
'पतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि' (बृहदारण्यक०)
'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'— (तैत्तिरीय०)
'सूर्यान्तरात्मा यथा पूर्वमकल्पयत्' (अथर्ववेद)
'विश्वतश्चभुवतः' 'आवामूमी अनयन्देव एकः।' (यजुर्वेद)
'विश्वस्य कर्ता मुनस्व गोप्ता।' 'अपाणिपादो जननो
ग्रहीता' (श्वेता०)

७२

'यः सर्वज्ञः सर्वभूतः' (मुण्डक०)
'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्यामी' (माण्डूक्य०)
'माया तु प्रकृति विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।' (श्वेता०)
'स पेश्वत लोकान्नु सृजा इति स इमोलोकानमृजत।' (ऐतरेय०)
'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति' (तैत्तिरीय०)
'तदैक्षत् बहु स्यामिति' (छान्दो०)
'तथाऽक्षरद्विधाः सौम्य मावा' (मुण्डक०)
'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' (बृहदारण्यक०)
'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।'
'यथा सर्वगतं सौख्यमात्'। 'प्रकृतिं स्वामिच्छाम।'
'मयाऽध्वंक्ष्ण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।'
'अहमादिर्हि भूतानां मध्यमन्तस्तथैव च।'
'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।' (गीता)
'जन्माद्यस्य यतः।' 'शास्त्रयोनित्वात्।'
'ईक्ष्णोनाशब्दम्।' 'स्वाध्यायात्।'
'नेतरोऽनुपपत्तः।' 'अन्तस्तद्भूमिपदेशात्।' (जगसूत्र०)
एक एव हि भूतत्वा भूते भूतं व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

(महाभारत मोक्षपर्व)

अतश्च संक्षेपमिमं शृणुध्वं नारायणः सर्वमिदं पुराणः।
स सर्गकाले च करोति सर्वं सहारकाले च तदति भूयः॥
(पुराण)
'जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्' (मीमांसागत)

इसपर यदि शङ्का की जाय कि उपर्युक्त वाक्य प्रमाण
नहीं माने जा सकते, क्योंकि यह केवल अर्थवादमात्र है;
तो यह कथन युक्ति-संगत नहीं हो सकता। क्योंकि अर्थवाद-
वाक्य उमे ही कहते हैं जो स्वार्थमें प्रमाणशून्य होकर
विधि-निषेधमें परे अर्थात् अज्ञानात्र हैं। परन्तु उपर्युक्त
प्रमाणवाक्य किसी स्पष्टिहित विधि या निषेधके शेषभूत
नहीं हैं, अतः यह अर्थवाद-वाक्य नहीं कहे जा सकते।
इन वाक्योंके समन्वयसे जिस अनन्यबोधक ईश्वर-सम्बन्धी
ज्ञानकी उत्पत्ति होती है उसका बाध देखनेमें नहीं आता।
इसलिये उपर्युक्त श्रुति आदिके वचन स्वार्थमें ही प्रमाण-
भूत हैं, अर्थवाद नहीं हैं।

दूसरा एक नियम यह है कि जिस शब्दसे अवाध्य
प्रमा उत्पन्न होती है वह शब्द भी स्वार्थमें प्रमाणभूत
होते हैं; अतः समस्त ईश्वर-सम्बन्धी वाक्य अवाध्य
ज्ञानजनक होनेसे स्वार्थमें प्रमाणभूत हैं, अर्थवाद कदापि
नहीं हैं।

ईश्वरके अस्तित्वमें अप्रतिषेध (निषेध वाक्यका अभाव) भी प्रमाण है। अर्थात् 'द्वे वाच ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं चेति'—इसप्रकार ईश्वर-स्वरूपका प्रस्ताव करके श्रुतिने 'नेति' 'नेति' से उस स्वरूपकी इयत्ताका निषेध किया है। ईश्वरकी प्रस्तावना करके श्रुतिने कहीं उसका प्रतिषेध नहीं किया है।

जो लोग केवल प्रधान (प्रकृति) को ही जगत्की उत्पत्तिका कारण मानकर ईश्वरका खयलम करते हैं, उनके इस सिद्धान्तमें भी अश्वयवस्थारूप दोष आता है। क्योंकि त्रिगुणारमिका प्रकृतिके गुणोंकी विषमताका निवामक ईश्वरको न माननेसे सदा ही सृष्टि तथा सदा ही प्रलयका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। इस बातका भगवान् वेदव्यासने 'ईक्षतेनाशब्दन्' 'गौणवैभवात्मशब्दात्'—इत्यादि अपने श्रुतिमूलक सूत्रोंके द्वारा भलीभाँति निर्णय किया है।

अतएव देश-काल-निमित्त-विषाक प्रभृतिके विभागाको जाननेवाले, मेवादि कर्मोंके अनुरूप फलको जाननेवाले, सब प्राणियोंके बुद्धि-कर्म-फल आदिके विभागाको जाननेवाले साक्षी सर्वभूतान्तराराम अन्तर्बामी एक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर सिद्ध हैं।

जिस सर्वान्तर्यामी सर्वान्तरात्मा ईश्वरकी सत्ताके बिना स्थावर-जङ्गमात्मक किसी पदार्थका अस्तित्व नहीं हो सकता है, जिसकी सत्तासे ही समस्त चराचरकी उत्पत्ति-स्थिति-लय निश्चित है और जिसकी कृपा ही एकमात्र सब जन्तुओंके भोगापवर्गका कारण है, ऐसे साक्षात् अपरोक्ष ईश्वरको क्यों माना जाय, उसे न माननेसे क्या हानि है, उसकी दृष्टान्ततामें अनुभव क्या है? इत्यादि शङ्काओंके लिये अवसर ही कहाँ है? इस निबन्धमें ईश्वर-सम्बन्धी जो विचार किये गये हैं, उनमें पाठकोंको विचारपूर्वक देखनेसे इन सब प्रश्नोंका समाधान हो जायगा।

अधिक क्या, ईश्वरको न मानना और अपनी सत्ताको अंगीकार न करना एक ही बात है। संसारमें ऐसा कौन मूर्ख और अज्ञत पुरुष होगा जो ईश्वरको न मानकर अपनी सत्ताको भी खो देगा। 'असद्वृत्तं चेदेदं स्वयमेव भवेत्सत्।' विद्वान्त पुरुषके बिना दूसरा कोई अपनी सत्ताका अपलाप नहीं करता—'म्वासत्त्वं तु न कस्मैचिद् रोचते विभ्रमं विना।

'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्त्राविर-गुह्यमपापविद्धं, कविर्मेनीषी परिभूः स्वर्गंभूयाथैतश्चरतिऽयान्वयदवाच्छाश्वतीम्यः समान्यः।'

(२४) स्वामीजी श्रीकेशवानन्दजी अवधूत

१—पिताको क्यों मानना चाहिये? यदि पिताको हम नहीं मानेंगे तो वर्णसंकर कहे जायेंगे। जो पिताकी रुचि देखकर वेदविहित कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, वह सुपुत्र है और जो पिताके कहनेमें कार्यमें प्रवृत्त होता है वह पूत है। भगवान् रामचन्द्रजी सुपुत्र हैं और नचिकेता पूत है और जो पिताकी आज्ञाको भी नहीं मानते वह कुपुत्र हैं; जैसे राजा ययातिके पुत्र।

अध्याकृत माया जिसके अधीन है, जो शुद्ध सर्वगुणवाला, सर्वका ज्ञाता और अन्तर्यामी है, जो प्रपञ्चकी वासना एवं संस्कारोंका आश्रय अधीन प्रेरणा करनेवाला है, सम्पूर्ण जगत्का उपादान और निमित्त-कारण है, जो हिरण्यगर्भ और विराट्का भी कारण है तथा व्यष्टि-समष्टि सबका अन्तर्बामी है, ऐसे प्रकाशस्वरूप सबके पिता, सबके प्रेरक, अन्तर्बामी ईश्वरको क्यों नहीं मानना चाहिये? बुद्ध, पत्थर, पृथ्वी, जला, सबमें वही एक ईश्वरकी

ज्योति झलमला रही है, ऐसे ईश्वरको क्यों नहीं मानना चाहिये? जो ऐसे ईश्वरको नहीं मानते हैं, वे वर्णसंकर हैं।

२—ईश्वरको न माननेवालेका जन्म लेना कृपा है, उससे पृथ्वीका भार बढ़ता है, उसको प्रत्यवायकी प्राप्ति होती है। जो पिताको न मानेगा, पिताको आज्ञाको न मानेगा वह (एक प्रकारसे) वर्णसंकर कहलावेगा। ईश्वर सबका पिता है, वीर्यरूप भी वही है, जीवनरूप भी वही है, जिसके अधीन प्राण हैं, जिसके अधीन जीवन है, उसको न मानकर सुखकी इच्छा करना कृपा है, क्योंकि सुखका कारण (उत्क्रम-स्थान) तो ईश्वर ही है। शास्त्रमें भी कहा है।

ईश्वरानुग्रहाद्देवात्पुंसामद्वैतवासना ।

महद्भयपरित्राणं विप्राणामुपजायते ॥

सगुण-निगुण दोनों रूप ईश्वरके ही हैं, ईश्वरके बिना

‘मै’ और ‘तू’ कोई नहीं है। नाम-रूप मिथ्या हैं। अस्ति, अस्ति, प्रिय ईश्वरका स्वरूप है। वह सच्चिदानन्द ईश्वर ही सत्य है, नाम-रूप जगाल है, जो नाम-रूपमें फँसे हुए हैं उनको सुख कहाँ है ?

३-वेद स्वतः प्रमाण हैं इसलिये ईश्वर स्वतःसिद्ध प्रमाण है, और सब परतः प्रमाण हैं, ईश्वरके अस्तित्वके लिये अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता ही क्या है ? १ प्रत्यक्ष, २ अनुमान (शब्द), ३ उपमान, ४ अर्थापत्ति, ५ अनुपलब्धि यह सब स्थूल वस्तुको ही प्रमाण करते हैं। ईश्वर अम्याकृत है, शुद्ध सत्त्वगुण ही प्रमाण है, वह निर्विकार है। ईश्वर अपने स्वरूपको कभी विस्मृत नहीं हुआ, इसलिये उसके लिये प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं है। वैसे तो वेद, श्रुति, स्मृति, पुराण आदि सब शास्त्र ईश्वरका ही प्रतिपादन करने हैं।

४-चक्रवर्ती राजा है, यौवन हृदय है, सब विद्याओंमें पूर्ण है, शत्रुओंमें रहित है, सब उसमें भयभीत होते हैं, सुन्दरी स्त्रियाँ उसके पीछे लकी होकर चँवर ढुला रही हैं, देह नीरोग है, पुष्ट और म्थूल शरीर है, यह पुरुष-मुख है। इसमें सौगुना मुख मानव-गन्धर्वको है, उसमें सौगुना मुख देव-गन्धर्वको है, उसमें सौगुना अजान-देवको है, उसमें सौगुना कर्म-देवको है, उसमें सौगुना मुख मुख्य देवोंको है—११ रुद्र १२ सूर्य व वसु ये मुख्य देव हैं—इनमें सौगुना मुख इन्द्रको है, इन्द्रमें सौगुना बृहस्पतिको है, बृहस्पतिमें सौगुना मुख प्रजापतिको है, प्रजापतिमें सौगुना मुख हिरण्यगर्भको है, हिरण्यगर्भमें सौगुना मुख ब्रह्मवैष्णवको है। ऐसा मुख जिन्होंने निष्काम कर्मके द्वारा अपने स्वरूपकी प्राप्ति की है, उनको प्राप्त है। वे स्फुरणारहित कृतिमें खेल रहे हैं। क्योंकि बुद्धिका कारण हिरण्यगर्भ है और हिरण्यगर्भ भी त्रिगुणोंके अन्दर है किन्तु जो ईश्वरको प्राप्त हो गया है वह तो गुणासीत है। वहाँ त्रिगुण-सगुणका भेद नहीं रहता। ब्रह्मवैष्णव अपने सुखकी महिमा अपने मुखमें वर्णन नहीं कर सकता क्योंकि उस सुखकी महिमा अकथनीय और उससे अभिन्न है।

[इसके बाद आपने जीवनके कई महत्त्वपूर्ण और

विलक्षण अनुभव सुनाये। फिर आगे कहा—] यदि देव-पूजा नहीं करोगे, ठाकुरहार, महात्माओंके पास तथा तीर्थोंमें न जाओगे तो खरण और देह पवित्र कैसे होंगे ? एक गंगाजी, दूसरे अवतारोंकी कथा, तीसरा साधु-संग यह तीनों संसारके जीवोंको तारनेके लिये हैं। जो इनका सेवन नहीं करते, वे मनुष्य अधम हैं। जो श्रीराम-कृष्ण आदि अवतारोंकी निन्दा करने हैं वे वर्णसंकर हैं। एक रोमकी भी निन्दा नहीं की जा सकती। कौन-सा ऐसा रोम है जिसमें वे पुर्या नहीं हैं ? क्या बनकर किसी निन्दा करते हो ? उस ब्रह्ममें भिन्न अपना रूप तो हमें बताओ ? परमात्मामें भिन्न कोई वस्तु हो, तब तो निन्दा की जा सके। वह तो रोम-रोममें भरा हुआ है। कारण-कार्य सब वही है। जो उसको नहीं जानते, वे ही निन्दा करते हैं। अपने पेटके लिये जो श्रुति-स्मृतिका उलटा अर्थ करने हैं वे शठ कहलाते हैं। उनका न भला होगा और न इसलोक तथा परलोकमें उन्हें सुख ही मिलेगा। उनकी युग-युगान्तरोंमें दुर्गति ही होगी। वे लोग भविष्यको नहीं विचारते। बुद्धिमान् वही है जो पहले कर्मका फल विचारे और फिर उसमें प्रवृत्त हो। जो परमार्थ सम्य है यह शुद्ध है, जो व्यावहारिक ईश्वर-रचित है वह सुख-दुःखका हेतु नहीं, जो प्रातिभासिक है वह मनोमय है, इसमें जो फँस जाते हैं उनका उद्धार कैसे हो सकता है ? वह सृष्टि मनोमयी है इसलिये जो ईश्वर-शरणमें आ पड़ते हैं, वे जन्म-मरणके दुःखमें कभी नहीं पड़ते। जो ईश्वर-शरणमें आते हैं, वे मूलमें सब दुःख गँवा देते हैं। जो अहंता-भ्रमताको छोड़ ईश्वर-शरणमें आते हैं, वे अपने स्वामीको हृदयमें पाते हैं। द्वैत-कल्पनाका मूल गँवाते हैं, एक ही अखण्ड नजर पाते हैं, मर्यादों सम्यरूप मिलाते हैं, फिर गर्भमें नहीं आते हैं; जो ईश्वरके गुण गाते हैं, वे हरदम अखण्ड सुख पाते हैं, वे ईश्वररूप हो जाते हैं, जो सुखकी महिमा गाते हैं, वे दुःखमें कभी न आते हैं। अन्तर-बाह्य आप समाना, सत्पुरुष पूरण परमाना। सब बस्ती सब ठौरमें, एको ब्रह्म पिङ्गाना। अन्तर बाह्य आप समाना, सब जगत जिन आप उपाया। जन्म-मरणका फिर मूल न थाया, ऐसा ईश्वर जिन्होंने हृदयमें गाया, संकट कटे परम पद पाया।



(२५) स्वामीजी श्रीकल्याणदेवजी

१-ईश्वरको इसलिये मानना चाहिये कि ईश्वरने हम जीवोंके लिये संसारमें अनेक प्रकारके भोग-पदार्थ और भोग भोगनेके स्थान और नाना प्रकारके शरीर निर्माण किये हैं। उनमें विशेष करके मनुष्य-देहमें पशु-पक्षियोंसे अधिक ज्ञान देकर हमारा बड़ा भारी उपकार किया है। तथा जलचर, स्थलचर और आकाशमें विचरनेवाले सब जीवोंका मनुष्यको राजा बनाया है।

ब्रह्मलोकपर्यन्त भोग और कैवल्यपर्यन्त मोक्ष—ये दोनों ईश्वरके आराधनामें ही प्राप्त होते हैं। इसलिये भोग और मोक्षकी इच्छावाले पुरुषोंको चाहिये कि ईश्वरको मानकर श्वास-श्वास उनका आराधना करे। जिसने गर्भमें तथा बाल्य-अवस्था आदिमें रक्षा की है, ऐसे ईश्वरको एक क्षण भी न भूलना चाहिये।

२-ईश्वरको न माननेमें महान् हानि वेदमें कही है—

असंज्ञव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेदं चेत ॥

(तैत्तिरीय०)

जिसने इतने उपकार किये उसको न मानना कृतघ्नता-रूप महापाप है। हिरण्यकशिपु, रावण, कंस, शिशुपाल आदि ईश्वरको न माननेवालोंकी कैसी दुर्दशा हुई है ? जो ईश्वरको नहीं मानता, उसे अपने आपको भी न मानना चाहिये। क्योंकि 'तत्सद्गुणं तदेवानुप्राविशत्' (तैत्तिरीय० ब्रह्म० ६) जीवरूप करके ईश्वरने ही प्रवेश किया है। ईश्वरको न माननेमें जन्म-मरण आदि सौरासी लक्ष योनिकी प्राप्तिरूप महा अनर्थकी प्राप्ति होगी। यह बात कठ-उपनिषद्में भी लिखी है—

'न साग्नरायः प्रतिमतिं बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमाहेन भूढम् ।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्दशमापद्यत ॥

(१ । २ । ६)

३-'मैं हूँ' यही ईश्वरके होनेमें प्रबल प्रमाण है। आत्मिकोंके लिये ईश्वरके होनेमें प्रमाण देनेकी जरूरत ही नहीं है, उन्हें तो सदा-सर्वदा ईश्वर प्रत्यक्ष ही भान होता है और श्रुति, स्मृति, सूत्र, इतिहास, पुराणादि शास्त्र ईश्वरकी सिद्धिके प्रबल प्रमाण हैं। क्या श्रुति—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति ।
यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति ।

(तैत्तिरीय० भृगु० १)

महासूत्र—

जन्माद्यस्य यतः (१ । १ । २) शास्त्रयोनित्वात् (१ । १ । ३)
अंशो नाना व्यपदेशादन्यथा चापि दाशकित्वादित्वमधीमत एकं ।

(२ । ३ । ४३)

श्रीमद्भागवद्गीता—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । (१० । ३)

ममैवाशो जीवलोको जीवभूतः सनतनः । (१५ । ७)

श्रीमद्भागवत—

ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवान् स्वयम् ।

(एकादश स्कन्धः)

अग्न्य शास्त्र—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-

जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।

कनापि देवेन हृदि स्थितेन

यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

चारों वेदोंके चार महावाक्य भी ईश्वरके प्रबल प्रमाण हैं, यथा—

'प्रज्ञानं ब्रह्म' ऋग्वेदीय—पेनरेयोपनिषत् (५ । ४)

'अहं ब्रह्मास्मि' यजुर्वेदीय—बृहदारण्यकोपनिषत्

(१ । ४ । १०)

'तत्त्वमसि' सामवेदीय—छान्दोग्योपनिषत् (६ । ८ । ७)

'अबमात्मा ब्रह्म' अथर्ववेदीय—माण्डूक्योपनिषत् (१)

४-अपने जीवनकी घटनाके सम्बन्धमें वास्तवमें तो उत्तर नहीं दिया जा सकता और वैसे ईश्वरकी दया तो सदा-सर्वदा अनुभव हुआ करती है। प्रत्येक वर्ष, प्रत्येक मास तथा प्रति मसाहमें कोई-न-कोई ऐसी घटना होती ही रहती है, जिसमें ईश्वरकी दयामें विश्वास विशेष बढ़े। क्योंकि अशुभ मार्गसे हटाकर शुभ मार्गमें सदा ईश्वर ही लगाना है। एकान्त स्थानमें रहनेकी रुचि उत्पन्न करके आत्मविष्मन्तमें तथा सत्संग और शाम्भू-विचारमें प्रवृत्त कराके प्रतिक्षण परमात्मा दयाका दान करता है; समय-समयपर योगक्षेम करता है; आत्मा-सु-

सम्भानको छोड़कर लौकिक कामना तो कभी सन्तको होनी ही नहीं चाहिये। ईश्वरकी दयामें इससे बढ़कर विश्वास ही क्या हो सकता है? मनुष्य-शरीरकी प्राप्ति, सबगुरुकी प्राप्ति, आत्मज्ञानकी प्राप्ति, शरीरकी निरोगता, मोक्षमार्गके सम्पूर्ण विघ्नोंकी निवृत्ति—यह सब ईश्वर-रूपासे ही होने हैं।

गुरु ग्रन्थ साहबमें लिखा है—

‘जो जो चितवै सन्त जन सो सेहता मान’

जैसे बच्चा अपने माता-पितामें कोई चीज माँगता है तो वह वस्तु उसे मिल जाती है, इसी प्रकार ईश्वरसे भक्त-जन जो-जो पदार्थ माँगता है ईश्वर उसे प्राप्त करा देता है। इससे बढ़कर ईश्वरकी दया क्या होगी?



(२६) स्वामी श्रीनिर्वाणप्रकाशजी

१—श्रीभगवान् गीतामें इसका उत्तर देते हैं—

जामरणमोक्षाय मामाश्रित्य मयन्ति ये ।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ ७।२०
मां हि पाथ्य व्यापाश्रित्य मेऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैदवास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ७।२१
अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ ७।२२

२—श्रीभगवान् गीतामें कहते हैं—

अश्रद्धावानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ७।२३
मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मन्त्रसादात्तारिष्यसि ।
अथ चेत्त्वमहङ्गाग्राज श्रोष्यसि विनक्ष्यसि ॥ ७।२४

३—यह प्रश्न त्रैतवाद्में किया जा सकता है। अद्वैतवाद्में न तो ऐसे प्रश्न बनते हैं और न उनका उत्तर ही बनता है, क्योंकि ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ ‘अयमात्मा ब्रह्म’—अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है, एक अद्वैत सत्तामात्र है।

यह सृष्टि ही ईश्वरके होनेमें प्रायश्च प्रबल प्रमाण है। कार्य स्वयं ही अपने कारणका प्रमाण होता है। जैसे घटमें प्रतीत होता है कि इसका कोई बनानेवाला (कर्ता) भी है। यदि प्रकृतिवादी कहें कि सृष्टि परम्परामें चली आती है, इसका कर्ता कोई नहीं है तो इसका उत्तर यह है कि प्रकृति तो स्वयं जब है, अतः इसका कर्ता अवश्य ही चेतन मानना पड़ेगा। जैसे यदि कोई लिखे हुए कागजको कहे कि इसके अक्षर स्वयं ही बन गये हैं, इनका लिखने-वाला कोई नहीं, तो यह बात नहीं बनती। इसका प्रमाण गीतामें इसप्रकार है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥ १०।८

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्मम दधाम्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ १४।३

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ १८।६१

४—एक बार मैं सपरिवार गंगोत्री, जमनोत्री तथा बदरीनारायणकी यात्राके लिये निकला। उस समय मेरी अवस्था करीब १८ सालकी थी। गंगोत्री पहुँचनेपर एक अत्यन्त शीतल स्वभावके महागम्भीर ब्रह्मचारी महात्माका दर्शन हुआ। मैं तीन दिनतक उनका सत्संग करता रहा। वह महात्मा पहले उत्तरकाशीमें निवास करने थे, बारह वर्षतक उन्होंने फलाहार किया, परन्तु आत्माको शान्ति न मिली, अन्तमें उनको वैराग्य हो गया और उन्होंने गंगोत्रीमें जाकर शरीर छोड़ देनेका विचार किया।

उत्तरकाशीमें वह महात्मा गंगोत्रीकी ओर चल दिये और वहाँमें चार मील ऊपर ब्रह्माके वनमें पहुँचे। उस वनमें जाकर एक गुफाके भीतर वह तीन दिन-रात निराहार पड़े रहे। तीसरी रातको एक अवभृत् भोजपत्रकी कौपीन पहने उनके सामने गुफामें उपस्थित हुआ और बोला—‘महात्मन् ! तू क्यों भूखा-प्यासा पड़ा है?’ महात्मा चौंक पड़े। सामने श्यामवर्ण अवभृत्को देखकर बोले कि ‘हे प्रभु ! आप कौन हैं?’ अवभृत्ने उत्तर दिया—‘मैं दत्त अवभृत् हूँ।’ महात्मा उनके चरणोंपर गिर पड़े और बोले—‘भगवन् ! मुझे इतने दिनोंके कष्ट सहन करनेपर भी शान्ति नहीं मिली, इसलिये मैं अब यह शरीर छोड़ देना चाहता हूँ।’ अवभृत् बोले—‘तुझे अवश्य शान्ति मिलेगी। तू

शान्तिस्वरूप ही है। अब अन्न ग्रहण कर। आजकल अन्नमें ही प्राण है। और यहाँसे शीघ्र चला जा।' इतना कहकर वह महात्मा घटस्थ हो गये।

वहाँसे वह ब्रह्मचारीजी गंगोत्री आये और तबसे महाशान्तरूप हो ब्रह्मानन्दमें मग्न हो रहने लगे। उन महारामने जब मुझे साक्षात्कार करनेका शुभ अवसर मिला और जब उनका समस्त वृत्तान्त सुननेमें आया तो मेरा विश्वास ईश्वरमें और अधिक बढ़ गया। घर आनेके थोड़े ही दिनों बाद मैंने भगवान् श्रीकृष्णजीकी शरण ली।

कहाँसे हो ?

बैराग्य नहीं है विषयोस तो मन उपराम कहँसे हो ?
शम आदि नहीं हैं साधन जो तो आत्मज्ञान कहँसे हो ?
त्रिसना न गमी तन-मन-धनसे तो अन्तर शान्ति कहँसे हो ?
जब अन्तर शान्ति न प्राप्त हुई तो सुख निर्वाण कहँसे हो ?

जो गुल ही नहीं हैं गुलशनमें तो गुल आबाद कहाँसे हो ?
जब अंकुश फिरंगी तबह हुआ तो फिर इन्साफ कहाँसे हो ?
बेफिक्र फकीरी नहीं करी तो फिर आजाद कहाँसे हो ?
जब कुँफ्र कि शब नहि दूर हुई निर्वाण-प्रकाश कहाँसे हो ?

करता-करता करि रह्या और करै नहि कोम।
साहब सब समरत्य है जो कुछ करै सो होय ॥
जो कुछ करै सो होय और नहि करनेहार।
हौं हौं मैं मैं करै अज्ञ नहि जाननहार ॥

बाजीगरका खेल कृष्ण गीतामें गाया।
ईश्वर प्रेरक इंदै सिधित भरमाबत माया ॥
कह निर्वाणप्रकाश आश है कृष्ण तुम्हारी।
जिउ भावै तिउ करौ लाज है तुम्हें हमारी ॥

(२७) स्वामी श्रीब्रह्मकेतुजी उदासीन

सं० १९९० विक्रमकी बान है। मैं श्रीहारकाशीश भगवान्का दर्शनकर श्रीहारका-धाममे यात्रा करना हुआ श्रीपुष्कर-तीर्थके निकट अजमेर-नगरमें पहुँचा। वहाँ सायंकालमें धानासागर-तालाबके तटपर बृद्ध योगिराज श्रीस्वामी सन्तरामजी उदासीन महारामके दर्शन हुए। उनसे बहुत कुछ कथा-वार्ता होनेके बाद मैंने पूछा कि 'भगवन् ! अपने जीवनकी कोई ऐसी घटनाका वर्णन कीजिये जिससे भगवान्की सत्ता और उसकी दयामें आपका विश्वास बढ़ हुआ हो।' महारामजी बोले— 'मैं युवावस्थामें घरसे निकलकर सरकारी फौजमें भरती हो, मीमाप्रान्तमें पेशावरके समीप एक छावनीमें रहता था। एक दिन हमारे सामने ही उधरके यवन लोग गोवध करनेके लिये तैयार हुए। मैंने उनको मना किया, इसपर वे लोग हमारे ऊपर बिगड़ खड़े हुए। मुझसे भी नहीं रहा गया और उनको प्राण-दण्ड देकर मैंने गो-माताका उद्धार किया। उनके सम्बन्धियोंने सरकारसे फरियाद की। मेरे ऊपर मुकदमा चला और मैं ईश्वरकी प्रार्थना करके अदालतमें गया। उसकी कृपासे मेरी रिहाई हो गयी और मेरा विश्वास भगवान्में खूब बढ़ गया। फिर तो मैंने नौकरी छोड़ दी और काशीमें जाकर कुछ दिनतक संस्कृत पढ़ी।

पीछे एक दिन भगवत्प्रेरणासे मैं श्रीरामेश्वरजीकी यात्राके लिये चल पड़ा।

राम्नेमें निजाम हैदराबादके राज्यमें श्रीगोदावरीके तटपर मैंने एक ब्राह्मणाके धाममें चातुर्मास बिताया। उस गाँवमें दो झीलकी वृीपर एक सुन्दर मनोहर वनमें एक बृद्ध महारामा रहते थे। वह महारामा पञ्जाबके रहने-वाले थे और लगभग तीस वर्षसे उस वनमें रहा करते थे। पड़ले जब आये थे तब उनमें संस्कृतकी गन्ध भी नहीं थी, परन्तु अब वह संस्कृत खूब बोलते थे। उनकी ख्याति सुनकर मुझे उनसे मिलनेकी अभ्यन्त भूत्ता हुई और मैं एक दिन उनके दर्शनके लिये वहाँ पहुँचा। वह गौर शरीर, ब्रह्मवर्चस-सम्पन्न, जटाजूट-संशोभित, शरीरमें विभूति लगाये सिद्धासनपर बैठे थे। उनकी आयु ७०-७५ वर्षके लगभगकी जान पड़ती थी। वह बौद्ध नामवाले मन्त्रकी निरन्तर धुनि लगाते रहते थे। मेरे वहाँ पहुँचने-पर मन्त्र-जप धीरे-धीरे करने लगा गये। मुझसे उस महारामने संस्कृतमें ही सम्भाषण हुआ। मैंने उनसे पूछा— 'भगवन् ! आपने संस्कृत कहाँ और किससे पढ़ी ?' महारामने कहा— 'यहाँ ईश्वरसे।' मैंने फिर पूछा— 'सो कैसे ?' महारामा बोले— 'सुनो, मेरा जन्म पञ्जाबमें हुआ था। मैं

बचपनसे ही घर-द्वार छोड़कर साधु-वेशमें निर्वाण-मण्डलीमें रहने लगा था। श्रीगोदावरी-कुम्भ-पर्व करनेके लिये मैं हजर आया। हजर संस्कृत जाननेवाले ब्राह्मणसे एक दिन बात-चीत हुई, उसने बात-ही-बातमें कहा कि 'तुम साधु लोग अपद होते हो।' यह सुनकर मेरा चित्त बड़ा ही दुखी हुआ और मैंने तीन दिन-रात अन्न-जल छोड़कर उदासीन भावसे काल व्यतीत किया। चौथे दिन प्रातःकाल स्वप्नावस्थामें महर्षि नारदके दर्शन हुए और उन्होंने कहा— 'साधो ! हरि-नामकी रात-दिन रटते रहो। अल्प कालमें ही विद्वान् हो जाओगे।' नारदजीके इसी उपदेशसे मैंने

हरि-नामकी रटन लगायी और उसीकी कृपासे मेरी इच्छा पूर्ण हो गयी।

महाराजने अपनी कुटियामें ले जाकर मुझे सिद्धान्त-कौमुदी, महाभाष्य तथा षड्दर्शन सभाष्य दिखलाये और कहा कि 'आजकल मैं अद्वैत-सिद्धिको विचारा करता हूँ।' इन्से सुनकर हृन्धरमें मेरा अत्यन्त ही विश्वास और प्रेम बढ़ा।

अब मेरे मनमें आस पुरुषोंके बचनोंपर अत्यन्त ही दृढ़ विश्वास हो गया है। 'भगवद्भक्त जो चिन्तन करते हैं उसे हृन्धर अवश्य पूर्ण करता है।' मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं रह गया है।

(२८) रायबहादुर लाला श्रीसीतारामजी बी० ए०

१—आप जानते हैं कि हमारे धर्ममें ईश्वर हमारी अपील तभी सुनता है जब हममें प्रीति, प्रतीति और गति तीनों होती हैं जो तुलसीदासजीने कृष्ण-गीतावलीमें लिखा है—

तुलसी निरखि प्रतीति, प्रीति, गति आरत-पाल कृपाल मुरारी।

बसन बेध राखी बिसेष लखि, बिरदावलि मूरति नर नारी॥ॐ

द्रौपदीजीकी सारीका बड़ जाना कपोलकल्पित घटना माननेवालोंको हम क्या कहें, परन्तु आजकलका विज्ञान आत्मबल (Will-force) की बड़ी महिमा बताता है। यही बल है जिसके कारण एक मुठोभर हड्डीका वृद्ध बड़े-बड़े शक्तिशालियोंको शङ्काके चक्करमें डाल देता है। उसके पास न कोई अस्त्र है न शस्त्र, न धन है न राज्य है, केवल

* जिन महाशयने कृष्णगीतावलीको नहीं पढ़ा है, उनके लिये पूरा पद लिखा जाता है—

कहा भयो कपट जुआ जो हाँ हारी।

महत्वीर रनवीर पाँच पति; क्यों देहँ मोहि होन उचारी ॥

राज समाज सभासद समरथ; भीषम द्रोण धर्मधुरचारी ॥

अबला अनघ अनवसर अनुचित; होत हेरि करहँ रक्खारी ॥

यो मन मुनित दुसासन दुरजन; तमक्यों तकि गहि दुहुँ कर सारी ॥

सकुनि गात गोवति कमठी ज्यो; हहरी हृदय निकल भइ मारी ॥

अपनेनिको अपनो बिलोकि बल; सकल आस निस्वास बिसारी ॥

हाथ उठाय अनाथ-नाथ सो; 'पाहि पाहि' प्रभु पाहि पुकारी ॥

तुलसी निरखि प्रतीति प्रीति गति; आरत-पाल कृपाल मुरारी ॥

बसन बेध राखी बिसेष लखि; बिरदावलि मूरति नर नारी ॥

यही एक आत्मबल अभिमानियोंका गर्व चूर करनेमें समर्थ हो जाता है। किसीकी हिम्मत नहीं पड़ती कि एक ही बारमें उसका काम तमाम कर दे। यह आत्मबल ही सही, परन्तु हम आत्मबलका सञ्चालक कौन है ?

मनुष्यका चित्त स्वभावसे अवलम्ब माँगता है।

किसीको चोट लगती है तो वह 'बाप-ने-बाप' चिल्लाता है, माँ बच्चेको पीटती है तब भी बच्चा 'माँ-ही-माँ' पुकारता है। इसका क्या कारण है ? बापको भरे बहुत दिन हो गये। अब वह सहायता करने कैसे आयेगा ? परन्तु बचपनमें जब बाप जीता था तो उसने बच्चेको कई बार बचाया था। वही बात बड़े होनेपर भी बच्चेके चित्तमें गह-सी गयी है या यों कहिये कि वह स्वभावहीसे एक अदृश्य अवलम्बन बँध रहा है। यूनानके प्रसिद्ध हकीम एपिकटिट्स (Epictetus) ने लिखा है कि अत्याचारी जिस रीतिसे प्राण-हरण करता है वह अत्यन्त सुगम है।

कभी किसी अत्याचारीने किसीका गला छुः महीनेमें नहीं काटा, परन्तु ज्वरग्रस्त होकर मरनेमें कभी-कभी बरसों लग जाते हैं। अत्याचारी अपने जीमें यह समझा करे कि हम प्रबल हैं, हमारा कोई क्या कर सकता है। परन्तु कितने अत्याचारी कुत्तोंकी मौत मरे हैं। प्राण निकल जानेपर उनकी वह शोखो कहाँ गयी ? उनका बल किसने हर लिया ? जिन लोगोंने उनका अत्याचार अपनी आँखों देखा है वे कहते हैं कि अण्णा हुआ जो वह कुत्तोंकी मौत मरा। और ईजिप्ट धर्मान्ध था। उसे पूरा विश्वास था कि मैं जो कुछ कर रहा हूँ वह हक्काम-धर्मके अनुकूल

है; मन्दिर तोड़ना, काफिरोंका वध करना परम धर्म है, इससे मुझको खुदावन्दताला बिहिरतमें सबसे ऊँचा स्थान देगा। परन्तु मरते समय उसकी मति किसने फेर दी और वह मरनेसे डर रहा है और कहता है—

हरचे बादबाद मा किशती दराब अन्दास्तम

अर्थ—जो चाहे सो हो, हमने तो अपना बेबा पानीमें डाल दिया।

उसके इस वाक्यपर विचार कीजिये। उसको प्रतीत होने लगा कि ऐसी प्रजाको सत्ताना, जिनका केवल धर्म उसमें भिन्न था, अच्छा काम न हुआ और उसकी बिहिरतमें परमपद पानेकी आशा सन्देहके आवर्तमें पड़ गयी। इसका क्या कारण हो सकता है? वही झूठा अवलम्ब।

जिनका अवलम्ब सच्चा है वे बड़े सुखमें संसारको छोड़ते हैं। जैसा कि बालिके विषयमें गोस्वामी तुलसीदासने लिखा है—

रामचरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।

मुमन-माल जिमि कण्ठत, गिरत न जानइ नाम॥

इसके पहले बालिका वाक्य भी सारगर्भित है—

मुनहु राम स्वामी सकल चलन चातुरी मारि।

प्रभु अजहूँ में पातकी अन्तकाल गति तेरि॥

इसमें कृष्णगीतावलीकी 'गति' भी आ गयी है, जिससे यह ध्वनि है कि तुमको छोड़कर मेरा और कहीं ठिकाना नहीं है और प्रीति तो दाँतेके प्रथम चरणोंमें है ही। इसी प्रीतिकी शुद्ध पराकाष्ठाको भक्ति कहते हैं।

इस प्रश्नपर पूरा-पूरा विचार करनेमें यह देख बहुत बढ़ जायगा। इससे एक ही बात और लिखी जानी है। फिजियालोजी (Physiology) में मस्तिष्क तथा मेरुदण्डमें अनेक केन्द्र (Centres) देखे गये हैं, जैसे सरके मस्तिष्कके एक भागमें बोलनेका केन्द्र है। उस भागके ऊपर खोपड़ीमें कड़ी चोट लगी तो उस केन्द्रका काम बन्द हो जाता है और मनुष्य बोल नहीं सकता। परन्तु इसके आगे विज्ञान काम नहीं करना और वेदकी वही भुति सिद्ध होती है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

अभी थोड़े दिन हुए हिंमन्तायके एक सुप्रसिद्ध ज्योतिष-विज्ञा (Spiritualism) के पंडित सर

आकिवर लाजने कहा था कि जीवन-विज्ञानमें अनेकों प्रसङ्ग ऐसे आते हैं जिसमें बुद्धि काम नहीं करती और यही मानना पड़ता है कि इस जीवकी सञ्चालन करनेवाली कोई शक्तिविशेष है जिसका हम अनुमानही कर सकते हैं।

इन्हीं दो बातोंमें अर्थात् मनुष्यका हृदय एक सच्चा अवलम्ब चाहता है और दूसरा यह कि विज्ञानकी इतनी उन्नति होनेपर भी अनेक बातें ऐसी हैं जो बिना एक अदृश्य सञ्चालक शक्ति माने हुए समझमें नहीं आ सकतीं, हम ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास करने हैं।

२—इसका पहला उत्तर तो प्रश्न (१) के उत्तरके अन्तर्गत है अर्थात् मनुष्य, जिसका हृदय अवलम्बन माँगता है, निरालम्ब हो जायगा और उसका जीवन दुःखमय होगा। हमने बहुत-से नास्तिकोंके चरित पढ़े हैं—जैसे डेविड ह्यूम (David Hume) जो बड़े सज्जन और बड़े उदार थे। बौद्ध-धर्मको भी लोग नास्तिक मानते हैं। परन्तु इसके धार्मिक और विनयसम्बन्धी सिद्धान्त बहुत बढ़े-चढ़े हैं। श्रीराहुल सांकृत्यायनकी रची पुस्तक बुद्धचर्याकी भूमिकामें लिखा हुआ है कि बुद्धदेवके उपदेश दो प्रकारके थे। एक साधारण धर्म और दर्शनके विषयमें और दूसरे भिक्षु-भिक्षुणियोंके नियम। पहलेको पालीमें 'धम्म' (धर्म) कहा गया है और दूसरेको विनय। धर्म धर्ममें तथा मीमांसकोंमें कर्म प्रधान है। पर इन्हीं कर्मकहो या नैयायिकोंके अनुसार कर्त्ता कहो, अथवा वेदान्तियोंके मनमें ब्रह्म मानो, हमारी समझमें केवल नाम-मात्रका अगड़ा है। एक अक्षर-शक्ति माननी ही पड़ेगी, चाहे उसे किसी नामसे पुकारो। साधारण जनतामें इतना आरमबल नहीं होता कि डेविड ह्यूमकी भाँति अपना चरित्र शुद्ध रखें। अभी तो यह है कि हमारे पापोंका पुक्स या राजकर्मचारी नहीं देखते परन्तु ईश्वर तो देखता है। मनुने मनुष्यके शरीरमें जो ईश्वरका एक प्रतिबिम्ब आत्मा है उसको हमारे कर्मोंका साक्षी माना है। मनुस्मृतिमें न्यायाधीशका धर्म है कि गवाहको यह समझा दे कि कूट मत बोलो। उसका एक वाक्य यह है—

अहमेव ह्यारमनः साक्षी गतिरात्मा तथात्मनः।

मावमस्याः स्वमारमानं नृणां साश्रिणमुत्तमम्॥

आत्मा ही आत्माका साक्षी है, आत्मा ही आत्माकी गति है। ऐसा जानकर तुम मनुष्योंके उत्तम साक्षी अपनी आत्माका अवलम्ब (कूट बौद्धिक) न करो।

सूक्ष्मकटिक-नाटकमें एक नीच दास यह कह रहा है कि चन्द्रमा और सूर्य साक्षी हैं, यह सब उसी सिद्धांत-को सूचित कर रहा है कि हमारे कर्मोंका देखनेवाला एक चरित्र पुरुष है जिसकी शक्तिको अगर हम समझें तो हमें पापकी प्रवृत्तिसे रोकता है। ऐसी शक्तिमें विश्वास न होनेसे साधारण जनता स्वच्छन्द हो जायगी, जिससे प्रजा-विप्लवकी सम्भावना है। यह हमारे ज्ञानमें बड़ी हानि है।

३-ईश्वर प्रमाणसे सिद्ध नहीं हो सकता। ईश्वर-सिद्धिके सारे प्रमाण उपमान (Analogy) ही हैं और कोई-कोई दार्शनिक उपमानको प्रमाण नहीं मानते। ऐसे उपमानका एक उदाहरण हम रोमन दार्शनिक एपिकट्टसके वाक्यसे उद्धृत करते हैं—

हमलोग संसारके कामोंमें ऐसे ही फँसे रहने हैं जैसे मेलेवाले मेजोंमें। मेजोंमें गाय-बैल बिकनेको आ रहे हैं। मेलेकी भीड़का अधिकांश क्रय-विक्रयके किये आया हुआ है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो केवल मेला देखने आये हैं और यह पृष्ठते हैं कि मेला कैसा लगा और क्यों लगा, किसने लगाया और किस प्रयोजनसे लगाया? इस संसारकी भी यही दशा है। इसमें कुछ तो पशु हैं, जिन्हें केवल अपने चारेकी चिन्ता है। थोड़े-से छांग यह जानना चाहते हैं कि संसार क्या है और इसका शासनकर्ता कौन है।

प्रश्न-क्या इसका कोई शासनकर्ता नहीं है ?

उत्तर-बिना शासनकर्ता और निरीक्षकके किसी भी राज्य या कुलका प्रबन्ध एक दिन भी नहीं चल सकता और इतना बड़ा संसार केवल संयोग (Chance) से कैसे स्थिर रह सकता है ? जब शासनकर्ताका अस्तित्व सिद्ध हो गया तो यह प्रश्न उठते हैं—

(१) इस शासनकर्ताके गुण क्या हैं ?

(२) उसके शासनकी रीति क्या है ?

(३) हमलोग जो उसके शासनमें रहते हैं, क्या हैं और किस प्रयोजनसे बनाये गये हैं ?

ऐसे विचार उन्हीं थोड़े-से दर्शकोंके चित्तमें उठते हैं जो इस मेलेका तन्त्र जाननेका प्रयत्न करते हैं और मेलेसे ऊँट जाते हैं परन्तु और मेलेवाले ऐसीपर हँसते

हैं। पशुओंमें भी समझ होती तो वे भी उनपर हँसते जिनको दाना-घास खोदकर और बातोंकी चिन्ता नहीं रहती है।

ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। परन्तु सबका खण्डन हो सकता है। इसीसे सांख्य-शास्त्रके आचार्य कपिलने कहा है कि—

ईशवासिद्धः

संसारमें साधारणतः और भारतवर्षमें विशेष करके अनेक सन्त हो गये हैं। इसका एक उदाहरण महात्मा सूरकिशोर हैं। सूरकिशोरजी मिथिलेश-नन्दिनीजीको अपनी बेटी मानकर भावना करते थे। अयोध्या आते थे तो सरयूके उत्तर तटपर ठहरने थे, क्योंकि जामातके नगरमें जाना निषिद्ध है। उनके पास सीताजीकी बड़ी सुन्दर मूर्ति थी, जिसका वे निरन्तर श्रृंगार और पूजा करते थे। एक दिन फूलोंके बड़े सुन्दर गहने बनाकर आपने मूर्तिका श्रृंगार किया और ध्यानमग्न हो गये। भावना करते-करते कहने लगे कि हमने तो अपनी बेटी महाराज दशरथके घर यह समझकर व्याही थी कि वे धनाढ्य हैं, पुत्रीको सोने-के गहने पहनायेंगे। इसी भावनामें वह अत्यन्त ध्याकुल हो गये और रोने लगे। श्रीजी भावनामें उनको दर्शन देकर बोलीं कि 'बाबा, सोच न करो, यहाँ गहनोंकी कमी नहीं है, गरमीके कारण सोनेके गहने उतार दिये और फूलके गहने पहन किये हैं।'।

क्या हम इनको मूढ़ा मक्कार और दगाबाज समझें ? या पागल मानें ? परन्तु और बातोंमें सम्यक्ता पागलपन देख नहीं पड़ता। इनके उपदेश समाजकी स्थितिके लिये अत्यन्त लाभकारी होते हैं। हजारों इनको पूजते हैं। इनमें कितने पढ़े-लिखे विद्वान् भी होते हैं। हम यह माननेको तैयार हैं कि धर्मके नामसे बड़े-बड़े अत्याचार हुए हैं, परन्तु इसमें धर्मका क्या दोष है ? दो-चार बने हुए सन्त स्वार्थी लोभी छम्पट जिकल गये तो इससे सारा सन्त-समाज कैसे कलंकित हो सकता है ? धर्म वही है जिसमें उपदेश ग्रहण करनेवालेके चित्तको शान्ति हो; दुःख सहन करनेकी क्षमता बढ़ जाय और ऐसे उपदेश सन्तोंहीसे प्राप्त हुए हैं। हम उनको मक्कार कैसे कह सकते हैं ? ईश्वरके अस्तित्वका यह बहुत पुष्ट प्रमाण नहीं है, परन्तु हमारे मतमें यह एक प्रत्यक्ष प्रमाण है।

कारसीमें एक पद्य प्रसिद्ध है—

मर्दाने खुदा खुदा न बाशन्द । लेकिन बकुदा खुदा न बाशन्द ॥

अर्थ—

हरिजन मदपि नहीं हरि भइहीं । हरिसे कबहुँ मिलन नहिं रहहीं ॥

परन्तु भक्त और भगवन्त दोनोंकी महिमा उसीके समझमें आ सकती है जिसमें श्रद्धा और भक्ति दोनों हों । मैं अयोध्यावासी हूँ । मेरे माता-पिता दोनों वैष्णव थे और अयोध्याके प्रसिद्ध महारामा बाबा रघुनाथदासजीके शरणागत थे । ये महापुरुष पहले बाबूशाही सेनामें राबर्ट (Robert) साहबकी पलटनके सिपाही थे । मैं इनका बहुत सुँहलगा था । मैंने इनसे पूछा 'बाबाजी, मैंने सुना है कि एक बार आपके बदले भगवान् ने पहरा दिया था ।' बाबाजी कहने लगे—'बच्चे, हम क्या जानें, किसीने हमारे बदले पहरा दे दिया होगा । हम तो दिन-भर अपनी बारकमें बैठे 'सीताराम, सीताराम' जपते थे । कुछ भक्त सिपाही भी हमारे पास आकर बैठ जाते थे और घण्टों रामधुन होती थी । एक बार हमने अपनी पलटनके कप्तान साहबके पास जाकर सलाम किया और उनसे कहा कि 'हम आपकी नौकरी न करेंगे ।' कप्तान बड़ा सज्जन था कहने लगा कि 'रघुनाथसिंह ! हम तुमको जानते हैं, तुम बड़े भक्त हो । तुम जहाँ जी चाहे रहो, तुम्हारी तनकबाह तुम्हारे पास भेजवा दी जायगी' बाबाजीने उत्तर दिया—'मनुष मजूरी देते हैं कैसे राखें राम ।' इसका अर्थ यह है कि 'हम आपके नौकर हैं, काम भी पूरा नहीं करते तब भी आप हमको खानेको देते हैं । जब हम भगवान् की सेवा करेंगे तो वह हमको कैसे भूखा रख सकते हैं ?' इतना कहकर बाबाजी जगन्नाथपुरीको चले गये । वहाँसे लौटनेपर कुछ दिन चित्रकूट रहे । फिर अयोध्यामें बासुदेव-घाटपर मौनीबाबाके शिष्य हुए और फिर आक्खीवन श्रीअयोध्यासे बाहर नहीं गये, मेरे माता-पिताको बाबाजीके चरणोंमें बड़ी भक्ति थी । मेरा नाम भी उन्हींका रखवा हुआ है । मेरे जितने संस्कार हुए सब बाबाजीकी आज्ञासे किये गये । जब मुण्डनका समय आया, तो पिताजीने बाबासे निवेदन किया कि बच्चोंका सँभल करना चाहिये । बाबाजी बोले 'कछ ले आओ, नाई भी साथ लेते आना ।' घर लौटकर जब मेरी मातासे कहा तो माता कहने लगी कि 'साहूत भी पूछ ली है ?' पिता-

जीने कहा कि 'बाबाजीकी आज्ञासे बढ़कर साहूत नहीं हो सकती ।'

दूसरे दिन हमलोग गनेशी नाईको साथ लेकर छावनीमें पहुँचे । बाबाजी उस समय सरयू-स्नान कर रहे थे । पिताजीको दण्डवत् करते देखकर अपने शिष्यसे बोले कि 'बह कटोरी उठा लाओ जिसमें हम शालग्राम नहकाते हैं ।' शिष्यने कटोरी लाकर नाईको दे दी और उसने उसमें सरयू-जल भर लिया । बाबाजीने कहा 'अच्छा मुँह दो ।' नाई पिताजीको देखने लगा और पिताजीने उसका अभिप्राय समझकर कटोरीमें कुछ रुपये डाल दिये । मुण्डन हो गया और हमलोग बाबाजीको दण्डवत्-प्रणाम करके घर लौट आये । नाई इसके पीछे बहुत दिनोंतक जिया और सदा यही कहता रहा कि 'भइया जबसे ई कटोरा मोरे घर आवा है, मोरे खायका नहीं घटा ।'

इसके थोड़े ही दिन पीछे पाँचवें वर्षमें विद्यारम्भ मिश्रय किया गया । हमलोगा कायस्थ हैं, हमारे यहाँ मौखवी बुझाये जाते थे और फातिहा पढ़कर 'बिसिख्ताह' कराया जाता था । परन्तु पिताजीकी भक्ति उन्हें फिर बाबाजीके चरणोंमें खींच ले गयी और बाबाजीकी आज्ञासे पाटी-बोरका लेकर हमलोग छावनी पहुँचे । बाबाजीने बोरके-में सरयूजीका कीचड़ घोलवाया और कसेहरी (एक प्रकारकी कच्ची किलक) मँगवाकर उसकी लेखनी बनायी गयी । फिर महारामाजीने मुझे अपने पास बिठा लिया और पाटीके ऊपर विनयपत्रिकाका एक पद्य लिखा । बाबाजी बोझते जाते थे और मैं दोहराता जाता था । पद्य समाप्त होनेपर वही पाटी, बोरका और कलम मुझे दे दिये गये और मुझसे कहा गया कि इसी लेखनीसे पाटीपर एक देशा खींच दो । बाबाजीका पकड़ाया हुआ कलम मत्सर बरस हो गये, अबतक मेरे हाथसे नहीं छूटा ।

जब स्कूलमें नाम लिखा गया तो जब-जब परीक्षा होती थी बाबाजीसे आज्ञा ली जाती थी । ५ बरस स्कूलकी और ४ बरस कालेजकी पढ़ाईमें कमी बिरला ही अवसर हुआ है जब वृजमें पहुँचते दूसरा नम्बर आया हो । अवधके स्कूलोंको मिलाकर जब परीक्षा हुई तो अवधमें सबसे ऊँचा नम्बर रहा । जब अवध और पश्चिमोत्तर देशके कालेजोंको मिलाकर इम्तिहान लिया गया तो उसमें भी अवध ही नम्बर रहा और जब बी० ए० की परीक्षा दी

गयी तो उस समय अकेला कलकत्ता-विश्वविद्यालय था जिसमें लंका (कोलम्बो), रंगून, पञ्जाब, मध्यप्रान्त और पश्चिमोत्तर देशों के छात्र सम्मिलित थे, उसमें भी सबसे ऊँचा नम्बर मिला, जो इस प्रान्तके रहनेवालेको न पहले कभी मिला था और न उसके पीछे कभी मिला । कलकत्ता-विश्वविद्यालयमें अबतक मेरी प्रतिष्ठा है और वहाँके सुप्रसिद्ध बाइस-चान्सलर सर आशुतोष मुखोपाध्याय मुझे One of my most distinguished fellow graduates for whom I have the highest respect लिखा करते थे ।

सीसरी घटना इसीके कुछ दिन पीछेकी है । जून १८७९ में मेरा विवाह हुआ । जब बरात समधीके द्वार-पर पहुँची और पालकी उतारकर रखी गयी, उन्हीं बाबाजीके दो चले फूलकी एक माला और दो बड़े-बड़े आम लिये हुए पिताजीके पास पहुँचे और बोले कि 'बाबाजी-ने बच्चेके लिये यह माला और दो आम भेजे हैं, पिताजी उनको लेकर मेरे पास आये । माला मेरे गलेमें डाल दी गयी और दोनों आम जैसे ही वैरागी मेरे हाथोंपर रखने लगा, पिताजी बोल उठे कि बाबाजीने तुम्हें इस विवाहसे दो पुत्र दिये । दोनों पुत्रोंमें ज्येष्ठ इस समय आबकारी कमिश्नर-का परसनल असिस्टेंट है और उसका छोटा भाई रजिस्ट्रार डिपार्टमेंटल इन्स्पेक्शनिनेशन्स है । इसके उपरान्त उनकी मानाने त्रिवेणी-वास लिया ।

मुझे भी वैष्णवी शिक्षाका प्रभाव पद-पदपर अनुभूत हुआ है । संसार काँटोंका वन है । यड़े-बड़े संकट मिलते पड़े हैं परन्तु इस शिक्षाने कबचका काम किया है । छोटे मुँह बड़ी बात है, परन्तु अनेक अवसरोंपर ऐसा अनुभव हुआ है कि धनुष-वाण लिये हुए सरकार मेरे पीछे खड़े हैं और कहते हैं कि 'सावधान, जबतक तू धर्मपथपर चलेगा, तेरी रक्षा की जायगी और तू विचलित होगा तो तू भी मार खा जायगा ।'

इस ७५वर्षके जीवनमें अनेक घटनाएँ ऐसी हुई हैं जिनसे बचनेके लिये ईश्वरको धन्यवाद दिया गया है । साहित्यक्षेत्रमें ही एक महाशयने हमारा अपमान करनेमें कोई कसर नहीं रखी परन्तु हमने कभी उनकी और

उनके साथियोंकी परवा न की । हमारे मित्रों और सहायकोंकी कमी नहीं थी परन्तु सबको रोक दिया और यही कहते रहे कि जो व्यर्थ हूँ या ईर्ष्याके बश इसपर बार कर रहा है उसके प्रत्युत्तरमें कोई जाम नहीं है, क्योंकि ईर्ष्या एक ऐसी अग्नि है जिसे मनुष्य आप ही उत्पन्न करता और आप ही उसमें मग्न होता है । और ईश्वरकी दयासे हमारी हानिको कौन कहे, लगातार उन्नति ही होती गयी । और हमें इस बातका सन्तोष है कि हम कुछ साहित्य-जीवियोंकी सहायता कर रहे हैं । इसके हम ईश्वरकी दया न कहें तो क्या कहें ?

एक घटना हम और लिखना चाहते हैं । सुरायाबादमें जब हम डिप्टीकलक्टर थे तो एक मण्डली ऐसी बनी हुई थी जो कहती थी कि हमसे मिलकर रहो, जितनी चाहो उतनी रिश्त लो । उस मण्डलीमें नित्य रचिहियोंका जलसा होता था । यह भी एक प्रलोभन था । परन्तु हमने अपने कर्तव्यके विचारसे उस मण्डलीमें सम्मिलित होना स्वीकार न किया । एक दिन २० वीं तारीखकी सूर्य अस्त होने लगा जब हम कचहरीमें उठे । विक्टोरिया-फिटनकी सवारी थी । सईसने कहा कि टप (Hoo!) गिरा दिया जाय, हमने कहा नहीं, देर हो गयी है घर चलो । जब हम शहरमें पहुँचे तो तहसीलके फाटकके सामने एक दुष्टने एक लाठी चलायी । लाठीका वार टपपर पड़ा और उसकी उछलती चोट हमारी शायें कनपटीपर लगी । इसके कारण वहाँ सूजन हो गयी । टप न उठा होता तो खोपड़ी चूर हो गयी होती । हमारा गूजर चपरासी कोचकसपरमे कूद पड़ा और उस दुष्टको पकड़कर कोतवाली ले गया । दूसरे दिन ज्वाइण्ट मजिस्ट्रेटने उसे झाड़ महीनेका कारावास दिया । हम जानते थे कि उसने यह काम किसकी प्रेरणासे किया है परन्तु ईश्वरको धन्यवाद देकर चुप रहे । इसे ईश्वरकी दया न कहें तो क्या कहें ?

आपने अपनी आँखोंसे देखा है कि हमने अपने मकानमें एक कमरा रामायण-मन्दिर बना रक्खा है । उसमें अनेक प्रकारके रामायण-ग्रन्थ और रामचरित-सम्बन्धी चित्र हैं । हम उसीमें रहते हैं । चौकीके सामने श्रीरामजानकीका एक सुन्दर चित्र लगा हुआ है । उसके दर्शनसे खोचन तृप्त रहते हैं ।

(२९) महामहोपाध्याय पं० श्रीप्रमथनाथजी तर्कभूषण

१—श्रीभगवान्को माननेसे मनुष्य परा-शान्ति और शाश्वत-स्थानकी प्राप्ति अधिकारी होता है। प्रमाण यह है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
आमयन् सर्वसूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ (गीता)

२—श्रीभगवान्को न माननेसे मनुष्य इस संसारमें सर्वथा वञ्चित होता है तथा बुराईका अनिष्ट करनेमें प्रवृत्त होता है। प्रमाण—

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहेतुकम् ॥
एतां दृष्टिमवदृश्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।
प्रभवन्त्युधकर्मणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥
कामाश्रित्य दुष्टपूरं दग्धमानमदान्विताः ।
मोहादगृहीत्वाऽसद्व्राह्मणवर्तन्तेऽशुचिप्रतापाः ॥ (गीता)

३—अनुमान और श्रुतिके द्वारा भगवान्का परोक्ष-ज्ञान होता है। उनकी कृपा होनेसे प्रत्यक्ष-प्रमाणद्वारा भी सर्वत्र उनकी सत्ताकी उपलब्धि हो सकती है।

प्रमाण—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ (गीता)
न्यायचर्चयमीशस्य अवगानन्तरागता ।
उपासनैव क्रियते मननव्यपदेशमाक् ॥
(न्यायकुसुमाञ्जलि)

तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि । (छान्दोग्योपनिषद्)

४—जीवनकी प्रत्येक विपत्तिमें ही ईश्वरकी सत्ता और कल्याण स्वरूपमें प्रकाशित होती है। जैसे—

विषदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरोः ।
ममतो दर्शनं यत्स्यादपुनर्ममदर्शनम् ॥

(श्रीमद्भागवत)

(३०) सर लल्लुभाई साँवलदास

३—जिन लोगोंने इस जगत्के कारण और प्रयोजन-को समझनेके लिये गम्भीरतापूर्वक विचार किया है उनको अर्वाचीन विज्ञानके द्वारा प्राप्त हुए परिणामों तथा अर्वाचीन और प्राचीन दार्शनिकोंके द्वारा निश्चित किये हुए सिद्धान्तोंके अध्ययनसे ज्ञात होता है कि विज्ञान और दर्शनकी अधिकार-सीमाके परे एक वस्तु है जिसकी क्रियाशीलता ऐसे दृष्टियोंमें व्यक्त हो जाया करती है जिनका रहस्योद्घाटन विज्ञानके द्वारा नहीं होता, तथा जिसका निर्णय तथा कथित वैज्ञानिक रीतिद्वारा नहीं किया जा सकता। उस शक्ति अथवा सत्ताके गुणोंका वर्णन वैदिककालीन ऋषियोंकी 'नेति-नेति' के द्वारा सम्यक् रूपसे होता है। उस शक्तिको परब्रह्म, हिरण्यगर्भ, ईश्वर, पुरुषप्रकृति, भगवान् अथवा दैव जिस नामसे मनुष्य चाहते हैं, पुकारते हैं। जब विज्ञान जगत्के रहस्य-के उद्घाटनमें असमर्थ होता है तब प्रायः हम सबके भीतर इसके समाधानकी उत्कण्ठ होती है, जो हमें

किम्मा दैवी शक्तिमें विश्वास करनेके लिये विवश करती है जिसे हम ईश्वर कहते हैं। मैं समझता हूँ कि ईश्वरकी सत्तामें विश्वास करनेमें यह सर्वश्रेष्ठ प्रबल प्रमाण है।

४—उक्त ब्राह्मण-वंशमें उत्पन्न होने तथा समाजकी देवी और देवताओंके विश्वासमें पाये-पोये जानेके कारण पाश्चात्य लेखकों तथा धार्मिक हिन्दू सुधारकोंके जगहन-मण्डनके सम्पर्कमें आनेपर मेरे हृदयको गहरी ठेस लगी। आगस्टस् कौट, हर्बर्ट स्पेंसर और हक्सलेके ग्रन्थोंको पढ़कर मेरी श्रद्धा मूलतः लब्धबाध गयी। चार्ल्स डार्विन और श्रीमती एनी बेसेन्टके लेखोंने मेरी बीस वर्षकी अवस्थामें ही मुझे संशयवादी (Agnostic) बना डाला। यद्यपि मैं खुले तौरपर ईश्वरको अस्वीकार करता था परन्तु बहुधा अपने विज्ञानके अपूर्व ज्ञानपर मैं निराश हो जाया करता था। जैसे-जैसे समय बीतता गया और जैसे-जैसे मुझे यह ज्ञान पड़ने लगा कि विज्ञान और अर्वाचीन दृष्टि परम ज्ञानके द्वारको नहीं

खोलते, वैसे-ही-वैसे मेरी निराशा बढ़ती गयी। इसी सन्निध मानसिक दशा में मेरे अद्वायपद गुरु श्रीरामकृष्ण भाग्यकार करने मेरे हाथ में William James की Verities of Religious Experience नामक पुस्तक दी। यहीसे मेरे धार्मिक जीवन में परिवर्तन प्रारम्भ हुआ।

विज्ञान और दर्शन के परे कोई शक्ति है, इस विश्वास-का बीज मेरी बड़ी लड़की की दुःसाध्य बीमारी के अवसर पर मेरी स्वर्गीय पत्नी की ईश्वरीय भावना के द्वारा पलविम हुआ। मेरी दूसरी लड़की ने जब अपनी दीर्घकालीन और दुःसाध्य बीमारी में अत्यन्त शारीरिक पीड़ा से दुःखित

रहते हुए भी अफि और अद्वा के पर्दों की रचना की तो उसके प्रभाव से मेरी ईश्वरस्त्विकी अद्वा और भी अधिक बढ़ गयी। इस प्रकार जिस अभूतपूर्व अद्वा में सम्पन्न हुआ, वह न तो मेरे वचन की अद्वा थी और न हमारे सहस्रशः देशवासियों की अद्वा थी, परन्तु मेरे प्रयोजन के लिये वह पर्याप्त थी। ईश्वर में इस प्रकार की आस्था का पुनर्बार होना उस प्रभु की महती दया का एक चिह्न है। मैंने उसकी कृपा तथा रक्षा के अनेकों प्रसंगों का अनुभव किया है, परन्तु वह मेरे व्यक्तित्व से इतना घनिष्ट सम्पर्क रखते हैं कि उनका उल्लेख न करना ही ठीक है। ॥



(३१) स्वामी श्रीअभेदानन्दजी, अध्यक्ष श्रीरामकृष्ण वेदान्त-आश्रम

१- ईश्वर हमारे प्राण एवं चेतना का अन्नन्त स्रोत है तथा हमारे आत्मा का आत्मा है। इसीलिये हमें उसके अस्तित्व में विश्वास करना चाहिये। हम उसी के अन्दर रहते हैं, उसी के अन्दर चलते-फिरते हैं और उसी के अन्दर जीते हैं। परन्तु हमें ऐसे ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करना चाहिये जिसके सम्बन्ध में वह कहा जाता है कि वह इस बाह्य जगत् को शून्य में ले उलट करता है और जो अपने धाम में सिंहासनासीन होकर पापियों को नरक की ज्वाला में अन्नन्त काल तक जलाता है और पुण्यारमाओं को अक्षय स्वर्ग-सुख की प्राप्ति कराता है। इस प्रकार का ईश्वर साम्प्रदायिक सिद्धान्तों एवं विधि-विधियों के पोषक प्रचारकों की कल्पना में ही रहता है।

ईश्वर वह महान् समष्टि है जिसके इस सारे जीव क्षुद्रातिक्षुद्र अंशमात्र हैं। वह सच्चिदानन्दस्वरूप है तथा क्षणिक एवं प्रातिभासिक बाह्य सत्ताओं के मूल में रहनेवाला वास्तविक तत्त्व है। इस प्रकार अंशका अस्तित्व अंशिके आधार पर है इसी प्रकार हमारी सत्ता ईश्वर के आधार पर है। इस प्रकार के ईश्वर को न मानने से हमारा जीवन व्यर्थ हो जायगा। ऐसी दशा में हमारे लिये न तो सदाचार की, न नीतिकी और न धर्म की आवश्यकता रहेगी

और हमारा जीवन पशुओं का-सा हो जायगा। दूसरे और तीसरे प्रश्नों का उत्तर भी इसी के अन्दर आ जाता है।

४- मैंने सारे संसार का भ्रमण किया है। मैं जिस समय संसार-यात्रा के लिये चला था, उस समय एक बिल्कुल अकिञ्चन संन्यासी था। मैंने लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क, सैन्फ्रान्सिस्को तथा अमेरिका के संयुक्त प्रदेश, कनाडा, अलास्का एवं मेक्सिको के अन्यान्य नगरों में आपण विये, अमेरिका के संयुक्त प्रदेश में धर्मोपदेशक के रूप में २५ वर्ष व्यतीत किये, अटलान्टिक महासागर को सत्रह बार पार किया। जापान, चीन एवं फिलिपिन्स द्वीप में भ्रमण किया और भारतवर्ष को लौटने पर मैंने पैदल हिमालय को पार किया और तिब्बत को गया और फिर २५ वर्ष तक केदारनाथ, बद्रीनाथ, गङ्गोत्तरी, जमनोत्तरी, अमरनाथ, हारका, रामेश्वर एवं अन्य तीर्थों में भ्रमण करता रहा। मेरे जीवन के इस दीर्घकाल में हजारों ऐसी घटनाएँ हुईं जिनसे मेरा ईश्वर की सत्ता में विश्वास दृढ़ होता गया और मुझे सर्वत्र उस सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की दया-हीन दया दीख पड़ी। जिसे ईश्वर में विश्वास होता है उसकी भगवान् स्वयं सारी अवस्थाओं में रक्षा करते हैं। वह जीवन्मुक्त हो जाता है और शरीर छोड़ने के बाद शाश्वत-सुख एवं ब्रह्म-भाव को प्राप्त हो जाता है।



* पहले और दूसरे प्रश्नों का भी आपने उत्तर लिखा था, पर किसी कारणवश उसको प्रकाशित नहीं किया गया। पूज्य वयोष्ठ, विद्वान् लेखक महोदय कृपया की नीतिकी समझकर क्षमा करेंगे। —सम्पादक

(३२) श्रीआनन्दधनरामजी

१-(क) क्योंकि, हमारे कल्याणके लिये प्रयत्न करनेवाले आत्म-पुरुषोंने ईश्वरमें विश्वास करनेके लिये कहा है।

(ख) क्योंकि, हमें एक ऐसी शक्तिकी आवश्यकता है जो हमें कल्याण प्रदान करनेवाली, उन्नतिमें सहायता पहुँचानेवाली हो।

(ग) सत्य और सामर्थ्यवान् शक्तिरूप ईश्वरका अस्तित्व है, इसलिये हमें उसमें विश्वास करना चाहिये।

२-(क) ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास नहीं करने-से हम श्रेष्ठ और महान् विभूतियोंके वचनोंका उल्लङ्घन करनेवाले अहंकारी होकर पतितवस्थाको प्राप्त हो जायेंगे।

(ख) हम कभी अपनी पूर्ण उन्नति नहीं कर सकेंगे।

(ग) ईश्वर एक श्रेष्ठ शक्ति है, ऐसा विश्वास न होनेसे उस शक्तिका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न नहीं हो सकता, और उसके सामर्थ्य और गुणका ज्ञान नहीं हुआ तो उसके साथ एकरवकी प्राप्ति न हो सकेगी, इससे हम अज्ञानी, सामर्थ्यहीन, हीन, हीन और क्षुद्र ही बने रहेंगे।

३-(क) पूर्वकालीन पुरुषोंमेंसे अधिकाधिक लोगोंने ईश्वरके अस्तित्वको स्वीकार किया है।

(ख) योगशास्त्रकर्ता महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

(१।२४)

अर्थात् क्लेश, कर्म, बन्ध आदि अविद्यामें रहित उद्धार करनेमें समर्थ पुरुष ही ईश्वर है।

तत्र निराशयं सर्वज्ञबीजम्। (१।२५)

अर्थात् उसमें असीम सर्वज्ञानका बीज है।

पूर्ववामपि गुरुः कलानानबन्धेदात्। (१।२६)

अर्थात् वह सर्वश्रेष्ठ और काल्पकी सीमाके परे है।

(ग) अति भी कहती है—

ब्रह्मैव स्वशक्तिं प्रकृत्यभिधेयामाश्रित्य लोकान्सुहृत्वा प्राविश्यान्तर्यामित्वेन ब्रह्मादीनां बुद्धीन्द्रियनिबन्तुत्वादीश्वरः।

(निराकम्बोपनिषद्)

अर्थात् जब ब्रह्म अत्यन्त कठिण प्रकृतिके योगसे सब

लोकोंको उत्पन्नकर उनके अन्तरमें प्रवेश करके सबकी बुद्धि, इन्द्रिय आदिका नियन्त्रण करता है, तब उसे ईश्वर कहते हैं।

(ख) श्रीमच्छंकराचार्य भी कहते हैं—

मानोपाधिस्तनीश्वर इत्युच्यते, अविरोधाधिस्तन्मात्रमा, जीव इत्युच्यते। (तत्त्वबोध)

अर्थात् ब्रह्म मायाकी उपाधिसे युक्त होकर ईश्वर कहलाता है तथा अविद्याकी उपाधिसे आत्मा अथवा जीव कहलाता है।

(ग) श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् ने कहा है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

(१८।११)

अर्थात् हे अर्जुन ! ईश्वर सब भूतोंके हृदयमें वास करता है।

यो लोकत्रयमाविश्य विमर्श्यैव य ईश्वरः।

(गीता १५।१७)

अर्थात् जो अविनाशी तीनों लोकोंमें व्याप्त होकर उनको धारण-पोषण करता है वह ईश्वर है।

इसप्रकार आत्म-वाक्य शब्द-प्रमाण है। अब अनुमान-प्रमाण लीजिये। जिसप्रकार वर्षाकी अनेक बूँदें जिस वज्रान्तर्यामिसे निकलकर आकाशमें आ पृथ्वीपर गिरती हैं उन्हींको समुद्र कहा जाता है। ये बिन्दु उसके घोलक होते हैं, उसी प्रकार यह अनन्त भूत जिससे निर्माण होते हैं वह ब्रह्माज्ञा ईश्वर ही है ऐसा अनुमानद्वारा व्यक्त होता है। अब प्रत्यक्ष-प्रमाणको लीजिये।

मैं हूँ। मैं ज्ञान, सुख और सत्ताका स्वयं अनुभव करता हूँ। मैं हूँ (अग्नि), इस विषयमें मुझे शङ्का ही नहीं है। मैं हूँ, इसकी ज्ञानस्फुरणा (अग्नि) मुझे ही होती है, मुझे सबसे अधिक प्रिय 'मैं' ही है। यही (सत् चित् आनन्द) सामर्थ्य, ज्ञान और आनन्दका पूर्ण शक्ति-स्थान अर्थात् ईश्वरका प्रत्यक्ष-प्रमाण है।

इस 'मैं' रूप सीमित सत्ता, सीमित ज्ञान और सीमित आनन्दका अहङ्कार प्रेमके द्वारा चित्तनी अधिक क्षीमामें एकरूप होकर ब्रह्मा जायगा तबना ही अधिक ईश्वरीय सात्त्विक अनुभव करने-करते समुच्च पूर्व

ईश्वरीय सत्ताके अनुभवका आनन्द प्राप्त करेगा। वह प्रत्यक्ष-प्रमाणका शास्त्रानुसृत अनुभव प्रत्यक्ष है।

४—इस प्रकारके उत्तरके लिये मेरी १५ वर्षकी अवस्थासे लेकर आजतक लगभग ७० वर्षके अनेक अनुभव मेरी शायरीमें दर्ज हैं, उनमें ५० शायरियाँ मेरे पास ऐसी हैं, जिनमें बड़े-बड़े लोगोंके अनुभव उनके हस्ताक्षरके साथ छिपे हुए हैं। तथापि उनमेंसे केवल ५ अनुभव संक्षेपमें यहाँ दिये जाते हैं।

(क) मेरे पिताजी छोटी अवस्थासे ही पुराण आदि ग्रन्थ बाँचा करते थे। जब वे पोथी बाँचने लगते तो मैं उनके पास बैठकर सुना करता था। परन्तु पीछे जब मैं शिक्षा प्राप्त करने लगा और कुछ साहित्यका मैंने अध्ययन किया तो उन कथाओंके विषयमें मुझे संशय होने लगे। ऐसी स्थितिमें ही मैं सन् १८८३ ई० में चित्रगढ़ी गाँव अपने ननिहालमें गया। एक दिन मैं गाँवके बाहर उसर भूमिमें जाकर बैठा था कि मुझे स्पष्टतः यह वाणी सुन पड़ी कि 'तू छः महीनेके अन्दर मर जायगा।' मैंने तभीसे पाठशाळा छोड़ दी और पढ़ना छिल्लना भी छोड़ दिया तथा शिवमन्दिरमें बैठकर दिन-रात भगवान्‌के ध्यानमें बिताने लगा। छः महीने बीतनेपर मुझे सन्तोष हुआ और तब इन्द्रियातीत ज्ञानका भी मुझे अनुभव होने लगा। सन् १८८४ के सितम्बरमें मेरे पिताका अचानक देहान्त हो गया। स्कूलमें मेरी शिक्षा मराठी पाँचवें वर्जेंतक हुई थी तथा अंगरेजी दूसरी पुस्तकसे मैंने दस पाठ पढ़े थे। सन् १८८५ ई० में मैं पटवारीगिरीकी परीक्षा पास करके पटवारीका काम करने लगा। किसी सुयोग्य सदगुरुद्वारा मन्त्र लेनेकी इच्छा मेरे मनमें उत्पन्न होने लगी, परन्तु खोजनेपर मुझे कोई योग्य गुरु न मिला। अचानक ता० ६-८-८० को एक पुरुषने स्वप्नमें मुझे मन्त्रोपदेश किया और अपनेको चैतन्य-सम्प्रदायका अनुयायी बतलाकर परानन्द और ब्रह्मानन्द नामक ग्रन्थ पढ़ने तथा नागपुरकी ओर साक्षात्कार होनेकी बात कहकर चला गया। जगनेपर मैंने बहुत दिनोंतक उन पुस्तकोंकी तलाश की। अन्तमें एक दिन एक बमियेके रही कागजोंके बोरेमें खोजनेपर मुझे अचानक वे ग्रन्थ मिल गये और उन्हें पाकर मुझे बड़ा ही आनन्द हुआ। फिर बीछे १६—१२—६३ ई०के दिन नागपुरकी ओर नादगाँव नामक ग्राममें स्वप्नमें दर्शन दिये हुए पुरुषके बोरे समझके छिपे

मुझको दर्शन हुए और उन्होंने मुझे स्वप्नकी याद दिलायी और फिर प्रसाद देकर वह कहीं निकल गये।

(ख) ता० ८—१२—६० ई० की बात है, मैं तासगाँवमें पटवारीका काम करता था। एक दिन कलक्टर मि० कैंडीने मुझे बाँधोंकी ओर फल्ल जाँच करनेके लिये बुलाया। वह काम किसी दूसरे पटवारीद्वारा हुआ था, उसके विषयमें मुझे कुछ जानकारी न थी, उस समय जो मैंने साहबके साथ स्पष्ट और खरी बातें कीं तो उसे मुझपर गुस्सा हो आया। छिटनबीस बलवन्त भास्कर लाँहेकरने उसे वस्तुस्थितिको खूब समझा दी थी, तथापि वह एक पत्थरको ठोकर मारकर मेरी ओर बेंत उठाकर छपका; मैं प्रभु-स्मरणमें ज्यों-कान्यों शान्त और निमग्न खड़ा था। मेरे समीप आकर उसने मेरे ऊपर उठाये हुए बेंतको वापस लिया और क्रोधित होकर चपरासीको बुलाकर उससे कहा—'उठाओ पत्थर, सिरपर दो।' चपरासीने पत्थर उठाकर अपने सिरपर रख लिया। साहेबने फिर एक-दो-बार उसे 'सिरपर दो, सिरपर दो' कहा; और चपरासीने दोनों ही बार उत्तर दिया—'ले लिया है साहब!' तब साहबने उमे दो बेंत छगाये और कहा 'कैंक दो' चपरासीने पत्थर फेंक दिया। इसप्रकार साहेब-के 'दो' शब्दको उसने 'लो' समझा और बेंत मेरे ऊपर न लगकर उसके ऊपर लगे।

(ग) ता० ४—९—६७ की बात है। मैं बेंदरी गाँवमें पटवारीके कामपर था। कागजात देखनेके लिये साँगलीके नायब-पदाधिकारीने मुझे बुलाया। उनके क्लर्कने कागजों-को देखनेके लिये मुझसे कुछ रुपये माँगे और बिना रुपये लिये कागजोंको देखनेमें इनकार कर दिया जिससे मैं लौट न सका। अन्तमें मैंने एक दिन सबेरे नायब-पदाधिकारी-के घरपर जाकर गुस्तरूपमें उससे सब बातें कह बालीं। दोपहरके वक्त कचहरी जाकर उसने मुझे बुलाया और सरकारी तौरपर मुझसे जवाब तलब किया और कहा कि 'जो कुछ तुमने मुझसे कहा है उसे सिद्ध करो, नहीं तो मेरे आफिसको बदनाम करनेके कारण तुमपर दावा किया जायगा।' मैंने कहा—'कोई गवाह तो मेरे पास नहीं है, उस क्लर्कको ही बुलाकर जवाब तलब कर लीजिये।' क्लर्कने उलटें मुझपर ही दोषारोपण किया और कहा कि, 'यही जल्दी लौटनेके गर्जसे कागजातको देखनेके लिये मुझे दो रुपये दे रहा था परन्तु मैंने क्रम आनेपर देखनेका दावा

किया था, इस बातको शिरगाँवका पटेल जानता है।' यह सुनकर मैंने उसकी ओर देखकर जोरसे पूछा—'क्या आपने मुझसे रुपये नहीं माँगे थे?' मेरे शब्दोंको सुनते ही वह बेहोश होकर ज़मीनपर गिर पड़ा। डा० गोंडवेको बुलाने चपरासी दौड़े, उनके आनेके पहले ही वह होशमें आया और अपने रुपये माँगनेके अपराधको स्वीकारकर उसने क्षमा माँगी। इसप्रकार उस प्रसङ्गमें प्रभुने मुझे बचाया।

(घ) ता० ११-६-१९०१ की बात है ड्रैगके कारखाने में कामकाज बाँसवीके खेतोंमें ओपबिधोंमें रहते थे तथापि मैं प्रतिदिन सौ-पचास ड्रैगके रोगियोंको देखकर उन्हें ओपबिध दिया करता था। इसी बीच मुझे और मेरी स्त्रीको बुलार चढ़ आया और तीन दिनतक इस पड़े रहे। डा० माधवराव सोनी रोज़ आकर हमें देख जाया करते थे। एक दिन मैं बिस्कुट बेहोश हो गया। घरके लोग सब काम छोड़कर मेरे पास बैठ गये। मेरा मानसिक जप चल रहा था। एक बजेके बाद तो मुझे कुछ भी होश न रहा, केवल मनोमय जपका स्मरण ही आता था। करीब तीन बजेके समय मेरी बार्थी और एक काली और भयङ्कर बड़ी आकृति आकर बैठ गयी और मेरी पीठके नीचेसे हाथ ड़ाककर उसने मुझे उठाना चाहा। इस समय मेरी आँखें खुँदी हुई थीं परन्तु वह स्वप्न नहीं था; इसी बीच आकाशमें एक लम्बी-सी सूक्ष्म आकृति सीख पड़ी और एक सूक्ष्म आवाज सुनायी देने लगी। वह आकृति मेरे समीप आने लगी और आवाज भी कुछ बुझने लगी। वह आकृति उस काली आकृतिकी अपेक्षा बड़ी थी, समीप आते ही वह पूर्णतया सीख पड़ने लगी। उसका शरीर उजला और मुँह जाल था, ऐसी श्रीहनुमान्-जीकी मूर्तिको मैंने देखा। वह उस काली आकृतिकी पकड़कर आकाशमें उड़ गयी। तब मुझे बाहरी होश हुआ, मुझमें ताकत आ गयी और मैं कपड़े पहनकर बाहर चला गया। लोगोंने कहा कि हमें सन्निपात हो

गया है, बाहर न जाने दो; परन्तु मैंने सबको अपने होशमें आनेका विश्वास दिलाया। मैं दो मीट दूर डा० सोनीके पास गया, उन्होंने देखा तो मुझे १०३ बुलार था। वहाँसे मैं और वह साथ-साथ मेरी ओपबिधको आये। मैं तो उसी क्षण अस्वा हो गया और मेरी स्त्री दूसरे दिन चंगी हुई।

(ङ) ता० २९-११-१९१० ई० की बात है। मैं नियमके अनुसार आनन्दपूर्वक काम-धन्धेमें लगा हुआ 'राम-नाम' स्मरण कर रहा था, उसी समय कुछ मित्र मुझसे मिलनेके लिये आये। बम्बईने आये हुए एक स्नेहीके दिये हुए फलको मैं अपने मित्रोंको ईश्वरार्पण-बुद्धिसे बाँटकर अन्तमें अपने मुँहमें दे ही रहा था कि इसनेमें मेरे सामने अन्तरिक्षमें नीलवर्ण प्रकाशमय वस्त्राभरणोंमें युक्त पैरोंमें पैजनी पहने सुरली बजाती और नृत्य करती हुई एक बिच्छीकी एक सजीव मूर्ति सीख पड़ी। अकस्मान् प्रकट हुई उस दिव्य मूर्तिको देखकर मैं चकित हो गया। मेरे नेत्रोंमें आनन्दक्षुब्ध भर आये, शरीरमें रोमाञ्च हो गया और मैं ललितभावमें उसकी ओर देखने लगा, वह मूर्ति वैसे ही नाचती हुई ऊपर उठती थोड़ी ही देरमें अन्तर्हित हो गयी। मैं उसके स्मरणके आनन्दमें संसारको भूलकर वहीं लब्ध हो गया। बोलते-बोलते अचानक मेरी ऐसी अवस्थाको देखकर मित्र-मण्डली विस्मित हो गयी। एक आत्मी डाक्टरको बुलाने गया। डाक्टरके आनेके पहले ही मैं उनके साथ आनन्दपूर्वक बातें करने लगा और मैंने इस चमत्कारको कह सुनाया।

इसप्रकार मानवी शक्ति तथा मानवी प्रयत्नके परे अनेक प्रकारके अनुभव प्रदानकर प्रभु मेरे मनको विकसितकर सदा-सर्वदा आनन्दपूर्वक हरि-स्मरण कराते हुए परदुःख-निवारण तथा ज्ञान-दानके कार्यमें जीवन बितानेके लिये योग्य सहायता करते रहते हैं।

(३३) रावबहादुर श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य एम० ए०, एल-एल० बी०

१-२—ये दोनों प्रश्न मेरी समझमें व्यर्थ हैं। ईश्वर हैं तो यह प्रश्न ही नहीं बनने। आप यदि चाहें तो यह मान सकते हैं कि जल, आकाश अथवा सूर्य कुछ भी नहीं है और वह भी मान सकते हैं कि इन सबकी सत्ताको न मानने में ही काज है। परन्तु आपके न माननेपर

भी इनकी सत्ता अवश्य है। इसके अतिरिक्त अपने मनमें के लिये ज़रूरी बातपर विश्वास करना बुद्धिमानकी काम नहीं।

यदि हमें यह निश्चय है कि ईश्वर हैं तो फिर आपके जानने और न जाननेसे कुछ बचता विनाशता नहीं।

३-यह प्रश्न है कि ईश्वरकी सत्ताको माननेके लिये आपके पास क्या प्रमाण है? बिल्कुल ठीक है। ईश्वरकी सत्तामें मुख्य तीन ही प्रमाण हैं, पहला अनुमान, दूसरा शब्द और तीसरा प्रत्यक्ष। हमारे जो म्बम सबे निकलते हैं उनके द्वारा ईश्वरकी सत्ता प्रत्यक्ष सिद्ध है। इन सब प्रमाणोंका विचार मैं अपने निबन्धमें कर चुका हूँ।

४-इस प्रश्नमें आप दो बातोंको भूलने एकमें ही रख देते हैं। आप मुझमें यह चाहते हैं कि मैं ईश्वरकी सत्ताके प्रमाणरूपमें अपने कुछ और अनुभव बताऊँ, परन्तु आप साथमें 'व्या' को भी जोड़ देते हैं। व्याका प्रश्न बिल्कुल भिन्न है। पाश्चात्य विद्वानोंके मनमें ईश्वर सर्वशक्तिमान् एवं व्यासागर है, किन्तु वेदान्त-दर्शनको यह सिद्धान्त मान्य नहीं है। महर्षि बादरायणने एक सूत्रमें कर्मके सिद्धान्तको माननेके लिये 'वैषम्यनैर्घृण्य-प्रसंगान्' इस कारणका निर्देश किया है। किन्तु हमारे सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यको उसके कर्मके अनुसार ही शुभाशुभ फल मिलता है। इस कर्मके सिद्धान्तको न माननेसे ईश्वरके अन्दर विषमता (वैषम्य) एवं निर्दयता (नैर्घृण्य) का दोष आता है। 'हिन्दुधर्माची तत्वे' इस विषयपर मैंने जो कोई निबन्ध लिखे हैं तथा व्याख्यान दिये हैं उनमें मैंने इस विषयका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। मैं ईश्वरके अस्तित्वके प्रमाणमें अपने एक स्वप्नका उल्लेख करूँगा। वह इसप्रकार है—अपनी हिन्दु-भारतका अन्त' नामक पुस्तकके मुद्रण-व्ययमें कुछ कमी पड़नेके कारण श्रीमान् महाराजा साहेब काश्मीरको इसे अर्पण कर उनसे कुछ द्रव्य प्राप्त करनेके उद्देश्यसे मैं

श्रीनगर गया और वहाँ आठ-दस दिन ठहरकर इसके लिये उद्योग करता रहा, किन्तु सफल नहीं हुआ। मेरे मित्र जिनके यहाँ मैं ठहरा था, मुझसे कहने लगे कि तुम कुछ दिन और ठहरो और काश्मीरकी सैर करो। वे मुझे किसी प्रकार भी जाने नहीं देते थे। एक दिन रातको प्रातःकालके करीब मैंने स्वप्नमें एक आवाज़ सुनी 'अरे, वैद्य ! तू यहाँ क्यों पड़ा है, दक्षिणको लौट जा।' दूसरे दिन प्रातःकाल ही एक जखरी तार मिला। बम्बईके निकट शासवने नामक ग्राममें एक वैद्यशास्त्रम है। यह तार उनके मुख्याध्यापकका भेजा हुआ था। उसमें लिखा था कि 'अमुक तिथिको इस आश्रमका वार्षिक समारम्भ है इसके लिये आप अध्यक्ष चुने गये हैं अतः अवश्य पधारिये।' इस तारको पढ़कर मेरे मित्रको आज्ञा देनी ही पड़ी। वय, फिर क्या था, मैं तुरन्त वहाँसे चल पड़ा। लौटती बार मैं इन्दौर होकर आया। वहाँ मेरे एक मित्र सरदार कीड़े साहब हैं, मैं उनसे मिला तो उन्होंने मुझसे पूछा कि आप काश्मीर क्यों गये थे? मेरे कारण बनलानेपर वे बोले 'आप इतनी दूर क्यों गये? मैं आपको हम हिन्दी पुस्तकके मुद्रणके लिये सरकारी प्रायदेम एक हजार रुपये देता हूँ।' यह कहकर उन्होंने रुपयोंका चेक भी उसी समय लिखकर दे दिया। मैं अपने इस स्वप्नपर आश्चर्य करने लगा और उस समय मुझे यह दृढ़ निश्चय हो गया कि ईश्वर केवल है ही नहीं, किन्तु वे सबके अन्तःकरणमें रहकर 'आमथन् सर्वभूतानि यन्प्रावृढानि मायया।' इस वचनके अनुसार सारे संसार-चक्रको यन्त्रवत् चला भी रहे हैं।



(३४) डा० तारापद चौधरी एम० ए०, पी-एच० डी०

१-क्योंकि ईश्वरमें विश्वास करना हमारा आन्तरिक स्वभाव है। देखा गया है कि मनुष्य जन्मसे ही ईश्वरमें विश्वास करता है। बिना किसी उपदेशके वह एक ऐसी वस्तुमें विश्वास करता है जो स्वयमेव अज्ञेय है तथा उसके नियमन और बुद्धिके परे है। कोई जन्मसे नानिक नहीं होता बल्कि बनाया जाता है। वह परिस्थितियोंसे निर्मित होता है तथा अपने अपने निर्णय (विकृत निगमन) के द्वारा ईश्वरकी यथार्थ भावना करनेमें असमर्थ होता है। हम अपने अस्तित्वके समान ही ईश्वरके अस्तित्वका निषेध नहीं

कर सकते। यद्यपि वह हमारी तर्कशक्तिकी पहुँचसे बहुत दूर है तथापि हमें उसकी उपस्थितिका पग-पगपर अनुभव होता है।

२-ईश्वरमें विश्वास न करनेसे यही हानि होती है कि हम एक ऐसे तथ्यकी जान-बूझकर भुला देने हैं जो हमें कभी नहीं भूलता। यह तो मार्गमें पड़े हुए ठोकर देने-वाले पत्थरोंका विचार न करके आँख मूँद करके दौड़नेके समान है। बल्कि साथ ही ईश्वरके दयालु स्वरूपके प्रति अज्ञाकी अवज्ञा करनेसे हम कृतज्ञ बन जाते हैं, और

स्वयमेव जीवनके इस भ्रम-जालमें निरन्तर सहायता करने-वाले एक मित्रकी सहायतासे काम उठानेसे वञ्चित रह जाते हैं।

३-ईश्वरकी भावना केवल अन्तर्ज्ञानसे होती है। ईश्वरसे एक ऐसी वस्तुका आन होता है जिसमें प्रत्येक वस्तुका समावेश हो जाता है। वह एक तत्त्व है जो आत्म और अनात्म—समस्त दृश्योंकी व्याख्या करता है। वस्तु स्वभावके अनुरूप, हमारी समस्त सत्ताके उसके अन्तर्गत होनेके कारण वह हमारी शारीरिक अथवा मानसिक किसी भी शक्तिका विषय नहीं बनाया जा सकता। बुद्धिके द्वारा उसे स्वीकृति, पृथ्वीपर रहकर इसके चक्करके देखनेकी चेष्टा करनेके समान है। यही कारण है कि बुद्धि उसे पूरा-पूरा नहीं समझ पाती और संशयके लिये कुछ-न-कुछ अवसर रह ही जाता है। परन्तु हम उसका अनुभव कर सकते हैं और यह अनुभव ही उसके अस्तित्वमें विश्वास करनेका दृढ़ आधार है। तथापि हम कुछ हेतु उपस्थित करते हैं जिनसे हमारा समाधान हुआ है तथा जो औरोंका भी समाधान कर सकते हैं।

(क) ईश्वरके किसी रूपमें विश्वास करना, चाहे वह रूप कैसा ही भद्दा क्यों न हो, हमारा जन्मजात स्वभाव है। देखा गया है कि अत्यन्त असभ्य जातिका मनुष्य भी किसी शक्तिमें विश्वास करता है जिसे वह अदृश्य समझता है और इसलिये उसकी अपने ही अद्भुत ढंगसे प्रसन्न करनेकी चेष्टा करता है। सुसभ्य पुरुषके मनमें ईश्वरके दूसरे ही स्वरूपका आन होता है जो सृष्टिके कल्याणके लिये सदा ही सावधान और चैतन्य रहता है। सुसभ्य पुरुष उसकी पूजा, उसकी महिमा और दयाका गुणगान करता हुआ उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है। इस प्रकार ईश्वरके दो स्वरूप हैं—अमानक और दयालु। पहले स्वरूपसे वह एक निरंकुश शासकके समान है, जिसके आदेशको पालन करना ही होगा। कोई भी, यहाँतक कि जड़-पदार्थ भी दृष्टमुक्त हो उसके आदेशोंकी अवहेलना करनेका साहस नहीं कर सकते। सूर्य, तारे, नक्षत्र, अग्नि, वायु और जल सभी नतसिर हो उसके आदिष्ट पथका अनुसरण कर रहे हैं। दूसरे स्वरूपमें वह अद्भुत पिता, स्नेही मित्रके समान है, जो महान्-से-महान् और तुच्छ-से-तुच्छ प्राणीकी समानरूपसे सुधि लेता है। वह शिशुके उत्पन्न होनेके पूर्व ही माताके स्तनोंमें दूध उत्पन्न कर देता

है, तथा जगत्को सब प्रकारसे सौम्य और सुसज्जित बना प्राणियोंके निवास योग्य बनाता है। यह दो स्वरूप जो जगत्के कोने-कोनेमें अभिव्यक्त दीख पड़ते हैं प्रायः सार्वभौम ईश्वर-विश्वासके मूल आधार हैं।

(ख) सभी युगों और देशोंके महात्माओंने, जिन्हें तत्काकीन पुरुषोंने बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टिसे अपनेसे बहुत ही श्रेष्ठ समझा था, ईश्वरमें विश्वास तथा उसकी दया और न्यायमें श्रद्धा रखनेकी शिक्षा दी है। एवं उनमें किसी अन्य प्रवृत्तिका आरोपण नहीं किया गया है। उनमें भ्रमका तो आशेष ही नहीं किया जा सकता, क्योंकि भ्रम या तो अत्यन्त भयमे उत्पन्न होता है या उत्कट अभिलाषासे। क्योंकि किसी मनुष्यका असत्य पीछे दौड़ना सम्भव नहीं है, और एक सच्चे पुरुषमें, जो सांसारिक ऐश्वर्यकी बिल्कुल भी परवा नहीं करता, अत्यन्त भयका होना स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिये यह परिणाम निकालना युक्तिसंगत है कि उन महात्माओंने अपने श्रेष्ठ अन्तर्ज्ञानके द्वारा, सांसारिक कार्यकलापकी क्षुब्धतायें मुक्त हो ईश्वरका प्रत्यक्ष अनुभव किया और दूसरोंको जो इससे वञ्चित थे, अपने निजी विश्वासद्वारा प्रोत्साहित करनेकी चेष्टा की।

(ग) यह जगत् प्रत्यक्षरूपसे सामञ्जस्य और असामञ्जस्यका सम्मिश्रण है। रचना और विनाश, अमृत और विष, जीवन और मृत्यु, प्रकाश और अन्धकार इस संसारमें साथ-साथ चलते हैं। तथापि संसारका प्रवाह चला जाता है, और विभिन्नतामें एकता, असामञ्जस्यमें सामञ्जस्य, क्षणभंगुरतामें निर्यता दीख पड़ती है। वह कौन-सी शक्ति है जो समस्त अव्यवस्थित शक्तियोंको नियमनमें रखती है, तथा समस्त भ्रमात्मक दृश्योंमें एक चरम सत्यका निश्चय कराती है? हम इस जगत्में प्रत्येक वस्तुको अपने स्थानमें पाते हैं, प्रत्येक वस्तुको अपने पूर्णरूपमें पाते हैं, प्रत्येक वस्तु परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया-में लगी हुई अपने निजी ढंगसे विकसित हो रही हैं, मानो सबका लक्ष्य एक ही है। मनुष्यके मनमें इससे श्रेष्ठ रचनाका चिन्तन नहीं हो सकता। वह कौन है जो इसप्रकार छोटे-से-छोटे अणुओंके द्वारा खेल रहा है? इसे कोई यहच्छा, प्रकृति अथवा अनन्त कालकी क्षुब्धता ही क्यों न कहे, हम तो इसे ईश्वर कहेंगे। केवल नाममें मतभेद हो सकता है, तथ्यमें सब ही एक मत हैं।

(घ) हममेंसे प्रत्येक अनुभव करते हैं कि हम हैं, और

अपने निजके अस्तित्वमें अपने विश्वासका आधार केवल अपनी चेतना होती है। अर्थात् इस अनुभवका विषय एक अद्वैत तत्त्व है जो शरीरमें बिल्कुल ही भिन्न है, यह जीवनकी विभिन्न परिवर्तनशील अवस्थाओं—बाल्य, युवा, वृद्धावस्था, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति प्रभृति सभीके अन्तर्गत अनुभूतिकी एकताके द्वारा तथा उस स्मृति-शक्तिके द्वारा सिद्ध होता है जो जीवनकी विभिन्न अवस्थाओंको एक सूत्रमें प्रथित करती है। हम जानते हैं कि हमारा शरीर भौतिक है, क्योंकि वह द्रव्योंके द्वारा अर्थात् रज-बीर्यके द्वारा निर्मित होता है, द्रव्यके द्वारा पोषण किया जाना है, और द्रव्योंकी कमीके कारण विनाशको प्राप्त होता है। हम यह भी जानते हैं कि समस्त भौतिक द्रव्य जड़ होते हैं, इसलिये किसी प्रकारके भी विनिमय अथवा मिश्रणमें द्रव्यके द्वारा चेतना नहीं उत्पन्न हो सकती, क्योंकि यह माना जाता है कि द्रव्यात्मक विभिन्न तत्वोंके मिश्रणके द्वारा हम केवल उनमें किसी विशिष्ट रीतिमें सहयोग करनेके लिये प्रेरित कर सकते हैं परन्तु इससे हम ऐसे किसी पदार्थको उत्पन्न नहीं कर सकते जिसका उनमें सर्वथा अभाव है। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि जिसे हम आत्मा या जीव कहते हैं वह सत्ता है, परिणाम नहीं है। इसलिये वह अनादि, अनन्त और नित्य है। तत्त्वतः शक्तिस्वरूप होनेके कारण, जो केवल अपनी उपस्थितिमें द्रव्यके रचनात्मक गुणोंको इसलिये प्रेरित करता है कि अपने आश्रयके लिये एक अस्थायी जीवन-गृह बना और उसकी रक्षा कर सके, वह तत्त्व एक तथा समस्त प्राण-आरियोंमें एक ही रूपमें है। उष्णता अथवा विद्युत्के समान प्रत्येक वस्तुओंमें इसे अन्तर्भूत मानना पड़ेगा जो उनके समान ही स्वयमेव कुछ अधिष्ठानोंमें जिसे हम सजीव कहते हैं अभिव्यक्त होता है, तथा निर्जीव पदार्थोंके द्वारा उनके आन्तरिक गुणोंका निर्धारण करते हुए क्रियाशील होता है। इस सर्वव्यापी, सर्वश, सर्वशक्तिमान्को हम ईश्वर कहते हैं।

अब यह प्रश्न होता है कि क्या द्रव्य (प्रकृति)

पूर्णतया आत्मा (पुरुष) में भिन्न है अर्थात् क्या ज्ञातासे ज्ञेय तत्त्वतः अलग है? यदि अलग है तो ज्ञानका प्राप्त करना कैसे सम्भव है, क्योंकि ऐसी कोई निर्दिष्ट प्रणाली नहीं जिससे एकका प्रवेश दूसरेमें हो सके? यह देखा जाता है कि द्रव्यके समस्त गुणोंका वर्गीकरण केवल रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द अर्थात् उन तत्त्वोंमें हो सकता है जो क्रमशः हमारी पाँच ज्ञानेन्द्रियोंद्वारा ग्रहण किये जाते हैं। हमारी छठी ज्ञानेन्द्रिय मन है जो इन पाँचोंका सम्मालन करता है, तथा इनके अनुभवोंको विचारसे संयुक्त करता है। यह माना जाता है कि गुण विशेषतः जब वे इन पाँच तत्वोंके रूपमें रहते हैं तब उस द्रव्यसे जिनमें उनका सम्बन्ध रहता है अलग नहीं किये जा सकते, तथा उनमें जो संवेदन हमारी तत्त्व इन्द्रियोंमें उत्पन्न होते हैं वह इन दोनों प्रकारके तत्वोंके सादृश्यके प्रत्यक्ष रूप हैं। दूसरे शब्दोंमें ज्ञानके साधन, स्वयं ज्ञान और ज्ञेय एक ही श्रेणी तथा एक ही प्रकारके हैं। मन जो उन्हें एकत्रित और संयुक्त कर सकता है उसमें उनके ग्रहण करनेकी शक्ति आवश्यक है और इस बातका बोध आत्मा में ही होना चाहिये जो केवल अपनी उपस्थिति-मात्रसे मनमें जीवन प्रदान करता है। इसप्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि ज्ञाता और ज्ञेयके इन दो विभिन्न स्वरूपोंमें केवल एक ही तत्त्व, ज्ञान अथवा चेतना है।

इसप्रकार स्पष्ट है कि 'ईश्वरका अस्तित्व' यह कथन केवल लौकिक प्रयोग है क्योंकि 'ईश्वर' और 'अस्तित्व' समानार्थक शब्द हैं।

४—मैंने अपने जीवनका एक अनुभव यह है कि चाहे कितनी ही अदृश्य कठिनाइयाँ उपस्थित हों, मुझे ईश्वरकी सहायता निश्चय ही प्राप्त होगी—शर्त यह है कि तुम उसकी कृपाके द्वारा प्राप्त अन्तःकरण और बुद्धिके अनुकूल काम करो, वह सहायता किसी श्र्लौकिक रीतिसे नहीं, बल्कि बहुधा ऐसे सामान्य निमित्तोंके द्वारा मिलती है कि तुम्हारे लिये यह जानना भी कठिन हो जाता है कि उसमें उपकार करनेवाले ईश्वरका हाथ है।



(३५) श्रीयादवजी महाराज, बम्बई

१-भगवान्‌को इसलिये मानना चाहिये कि—इस सारे नाशवान्‌ जगत्‌में एक वही अचल सत्य है। उसे मानना चाहिये अपूर्णमे पूर्णतामें पहुँचनेके लिये, असत्यमे निकलकर सत्यमें पहुँचनेके लिये, मृत्युमेंमे अमृतत्वकी प्राप्तिके लिये, देहमे छूटकर आत्माको पानेके लिये, मायाके पुराने बन्धनोंमे छूटकर मुक्त होनेके लिये, अधोगतिके घोर अन्धकारमय गहरे गहरेमे निकलकर देवताओंकी उच्च भूमिकाका दर्शन करनेके लिये, तिमिरमे निकलकर दिव्य ज्योति प्राप्त करनेके लिये, पाप-पथको परित्यागकर पुण्य प्रदेशमें प्रवेश करनेके लिये, मायासे मुक्त होकर महापद पानेके लिये और शोक, मोह, क्लेश, सन्ताप, रोग, जरा, मरण आदि दुःखोंमे छूटकर परमधाममें—परब्रह्मके अनन्तकालीन अलौकिक दिव्य सुख, शाश्वती शान्ति एवं अखण्ड आनन्दमें विहरनेके लिये।

इसप्रकार अपने श्रेयके लिये, हितके लिये या कल्याण-के लिये परमेश्वरको मानना पड़ता है।

२-मनुष्य अपने प्रत्येक कर्मके जिम्मेवार है, इन्साफ‌के समय उसे प्रभुके सामने हिसाब पेश करना पड़ेगा। यही समझकर संसारमें सारे पापोंको छोड़कर मनुष्य पुण्यमार्ग-पर चलता है।

परन्तु जब मनुष्य अमवश यह मान लेता है कि परमेश्वर ही नहीं है, अपने किसी भी कर्मका जवाब पछने-बाला ही कोई नहीं है, तब उसके लिये पाप-पुण्य-जैसी कोई चीज रहती ही नहीं। उसके लिये पाप-पुण्य दोनों समान हैं। धर्म-अधर्म, नीति-अनीति, सत्य-असत्य आदिमें आत्मिकके मनमें जो भेद रहता है, वह नात्मिकके मनसे निकल जाता है। वह उच्छृङ्खल हो जाता है।

ऐसा मनुष्य, किस समय, किस सुहृत्‌में कौन-सा दुष्कर्म नहीं कर बैठेगा, वह कहना असम्भव है। ऐसे मनुष्य देश, समाज और कुटुम्ब ही नहीं। अपने लिये भी भयङ्कर होते हैं।

क्योंकि ज्यों ही मनुष्य धर्मकी मर्यादा और बन्धनों-में छूट जाता है, त्यों ही वह स्वेच्छाचारी हो जाता है। फिर मनमानी करनेको उसके लिये दसों दिशाएँ खुली हो जाती हैं।

उसे दोष तो लगता नहीं, उसके सिरपर कोई इन्साफ‌ करनेवाला है इस बातको वह मानता नहीं, अन्तमें अपने कृत्योंके लिये कहीं जवाब तलब होगा यह बात उसे स्वीकार नहीं। फिर किसीका धन हर लेनेमें क्या आपत्ति है? किसीके पास कोई अच्छी चीज देखी और उसको छूट लिया, इसमें क्या खराबी है? किसीकी स्त्रीको उड़ा लेनेमें क्या हर्ज है? और यदि किसीके साथ झगड़ा हो जाय, वैमनस्य या वैर हो तो उसे मर्दाके लिये हटा देनेमें—मार डालनेमें, काट डालनेमें ही कौन-सा दोष है? कुछ नहीं।

सचमुच, मनुष्य जब यह मानने लगता है कि 'परमेश्वर नहीं है', तब वह मनुष्य न रहकर राक्षस बन जाता है। ऐसे नात्मिक जहाँ बढ़ जाते हैं, उस स्थानमें और नरकमें कोई विशेष भेद नहीं होता।

परमेश्वरको न मानना सर्वनाशको निमग्नण देना है।

३-शून्य अव्यक्तमेंसे व्यक्त सृष्टि कहाँमे पैदा हो गयी? मांस-मृत् और विष्टामें मनुष्य बन जाता है, उसमें जीव आ जाता है, फिर देखो तो वह अपार विचारवान्‌, अगाध-बुद्धि और अत्यन्त चतुर होता है। यह सब बाने कहाँमे आयीं?

एक ही वीर पुरुष रणक्षेत्रमें सहस्रों मनुष्योंको मार देता है, उसमें यह शक्ति कहाँमे उत्पन्न हो गयी? फिर जब वही बल पड़ता है, तब उसे शमशानमें ले जानेके लिये उठानेको उल्टे चार आदमी बुलाने पड़ते हैं; अब उसकी वह शक्ति कहाँ चली गयी?

एक राजा लाखों मनुष्योंपर हुकूमत चलाता है। परन्तु मरनेपर उसकी कीमत भी मिट्टी बराबर हो जाती है। उस समय वैद्योंको बुलाइये, वे कपालपर हाथ रखकर कहेंगे,—मरे मनुष्यपर हमारी दवा कोई काम नहीं करती। जबतक जीव होता है, तभीतक दवाएँ कारगर होती हैं। वैद्य यदि जिला सकते हों अथवा उनकी दवाओं-में यदि जीवन देनेकी शक्ति हो तो मृत देहपर उनका असर क्यों नहीं होता? क्या उस समय औषधका तत्त्व निकल जाता है? क्या वैद्योंकी होशियारी मारी जाती है?

अन्धेरेमें दीपक झलमलाता है, वैसे ही शून्यमेंसे वकायक चेतन प्रकट होता है। और जैसे दीपकके बुझने

ही अन्धकार छा जाता है, वैसे ही चेतनके निकल जानेके साथ ही देहके लिये समस्त सार वस्तुएँ असार हो जाती हैं। ऐसे वह जीवन-तत्त्व क्या वस्तु है ?

पञ्चभूतोंसे प्राणी बनते हैं, वैज्ञानिक कहते हैं कि हमने पाँच तत्वोंपर विजय प्राप्त किया है, उनको अपने वशमें कर लिया है। पवन, जल, अग्नि और आकाशी तत्त्व आज मनुष्यके दास बनकर नौकरीकी भाँति काम कर रहे हैं यह हमारा प्रताप है।

इन वैज्ञानिकोंसे पूछिये, क्या आप इन तत्वोंसे प्राणियोंकी रचना कर सकते हैं ? क्या आप मृत देहको जीवित कर सकते हैं ?

जीव क्या है ? कहाँसे आता है ? किस तरह जाता है ? देहमें कब और कैसे प्रवेश करता है ? मरनेके समय वह देहमें निकलकर कहाँ जाता है ? इन प्रश्नोंका निश्चित उत्तर आप दे सकते हैं ? हमारी नजरके सामने मनुष्य मरने में परन्तु किमीने जीवकों जाने देखा है ? उसे रोकनेकी शक्ति किसीमें है ? देहमेंसे निकलनेके बाद कोई वापस उसी देहमें प्रवेश कर सकेगा ? दुनियामें बड़ी-बड़ी खोज

हुई है, हजारों नये हुनर और सहस्रों गुप्त कलाएँ मनुष्यके हाथलगी हैं, यह सत्य है, परन्तु बड़ी-बड़ी बीग हाँकने-वाले वैज्ञानिक, बहुमुख्यवान् ओषधियाँ रखनेवाले प्राणाचार्य वैद्यराज, एवं चतुर कलाकार आदिसे यह प्रश्न है कि क्या आप जीवन-मरणके भेदका पता पा सके हैं ? उसका सञ्चालन-सूत्र क्या आपके हाथमें है ? आप इस विषयमें अपनी इच्छानुसार कर सकते हैं ? आप इसका उत्तर दे सकते हैं ? सभी सिर हिलाकर अपनी असमर्थता प्रकट करेंगे। सभी कबूल करेंगे कि हमारा ज्ञान अपूर्ण है, हम अपर्याप्त हैं, हमारी समझ अभी अधूरी है।

इसप्रकार हार मानकर जहाँ मनुष्यमात्र अपनी असमर्थता घोषित करते हैं, वहाँ हमें निश्चय विश्वास होता है कि इस विश्वका सञ्चालक और नियन्ता कोई है। जगत्में नित्य होनेवाली अज्ञुत घटनाएँ इस महासमर्थ प्रभुके अमिष्वकी साक्षी दे रही हैं और हरयमें क्रीड़ा करनेवाला समस्त क्रीड़ाओंका सूत्र उस सर्वशक्तिमान् महान् परमात्माके हाथमें है, इस बातको साबित कर रही हैं।*

(३६) पण्डितवर श्रीमायारामजी वेदान्ततीर्थ

अपनी बुद्धिसे इन प्रश्नोंका उत्तर देना मुझे बहुत ही कठिन मालूम होता है। ईश्वरान्तर-विषयक विचारार्णव अत्यन्त ही गम्भीर है, उसका धाह हमारे परम पूज्य महर्षि वशिष्ठ, वामदेव, भृगु, अंगिरा आदि तथा अर्वाचीन विद्वन्-श्रेष्ठ उद्दयनाचार्य, गंगेशोपाध्याय प्रभृति भी नहीं पा सके हैं। अतः इस विषयका यदि सम्यक् विवेचन मैं न कर सकूँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? इसलिये मेरे इस विचारमें जो त्रुटियाँ हों उनका समाहित चिन्तसे समाधान कर दयालु विद्वद्बृन्द समा प्रदर्शित करेंगे। क्योंकि समा ही सगुरुओंका भूषण है।

जगत्में दो पदार्थ हैं—चेतन और अचेतन। अचेतन-पदार्थके ग्रहण, त्याग अथवा नाश आदि व्यापार चेतन-जन्य ही होते हैं; जैसे घट-पट आदिकी उत्पत्ति, स्थिति,

तथा उनका व्यवहार और नाश यह सभी जीवरूपी चैतन्यके प्रयत्नद्वारा होता है। परन्तु पृथ्वी आदि पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय जीव-चैतन्यके प्रयत्नमें नहीं होता, क्योंकि जीवमें पृथ्वी आदि उपादानविषयक अपरोक्ष ज्ञान, चिकीर्षा और कृति नित्यरूपका नहीं है। अतः एक ऐसे पदार्थकी कल्पना आवश्यक है, जिसमें यह नित्यरूपसे रहते हों। पृथ्वी आदि पदार्थ घट आदिकी तरह अन्य हैं और जीव उनका कर्ता नहीं हो सकता, अतः इनके कर्तारूपमें जीवातिरिक्त एक चेतनकी आवश्यकता है और वही चेतन ईश्वर है। ईश्वर अनुमान और शब्द-प्रमाणसे सिद्ध होता है। हमारे देशके प्राचीन विद्वानोंने अनुमान-प्रमाणमें कार्यत्व आदि निम्नलिखित हेतुओंसे ईश्वरकी सिद्धि दिखलायी है। जैसे—

* पूज्य चरण श्रीयादवजी महाराज अब इस संसारमें नहीं रहे, उन्होंने सारी उग्र हरि-भक्ति और हरि-नामका जप, कीर्तन और प्रचारका जीवनका परम लाभ प्राप्त किया। ऐसे पुण्य-पुरुषोंका ही संसारमें जन्म लेना सार्थक है। —सम्पादक

कार्यमोजनधृत्वादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः ।

वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्या विश्वविद्वयः ॥

(कुसुमाञ्जलि ५ : १)

अर्थात् कार्यत्व, आयोजनत्व, धृतिमत्त्व, पद, प्रत्यय, श्रुति, वाक्य, संख्याविशेषमे विश्वविद् ईश्वरकी सिद्धि होती है ।

कार्मत्व—(क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तुं कार्यत्वात् घटवत्)

अर्थात् जिसप्रकार घट-पटादिकार्यं सकर्तृक है, उसी प्रकार पृथ्वी और शंकर आदि भी कार्य होनेमे सकर्तृक हैं, और वह कर्ता पृथ्वी आदि उपादान-गोचर अपरोक्ष ज्ञान, चिकीर्षा और कृतियुक्त ईश्वरके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता ।

आयोजनत्व—(संगोष्ठकासीनद्वयगुणकारमपरमाणुद्वयसंयोग-जनकं कर्म चेतनप्रत्यक्षपूर्वकं कर्मेत्वात् अस्मदादिशरीरक्रियावत्)

अर्थात् जिसप्रकार हमारे शरीरकी क्रियाएँ चेतनके व्यापारसे ही उत्पन्न होती हैं, उसी प्रकार सृष्टिके आदि कालमें द्वयगुणकमे लेकर परमाणुद्वयसंयोगपर्यन्त जो कर्म हैं वह चेतनके प्रत्यक्षमे ही उत्पन्न हुए हैं । परन्तु यहाँ चेतन-पदमे जीवका ग्रहण न होकर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वरका ही बोध होता है ।

धृतिमत्त्व—(ब्रह्माण्डादि पतनप्रतिबन्धकी मूलप्रत्यक्षवदधिष्ठित धृतिमत्त्वात् विनियति विहङ्गमधृतकाष्ठवत्)

अर्थात् जिसप्रकार आकाशमें पक्षियोंके द्वारा मुँहमें धारण किये जानेपर काष्ठानि स्थित रहने हैं, उसी प्रकार धारण किये जाने (धृतिमत्त्व होने) के कारण ब्रह्माण्डादि भी अपने पतनके प्रतिबन्धकरूप किन्हीं प्रत्यक्षवान्में अधिष्ठित हैं, और वह प्रत्यक्षवान् ईश्वरके अनिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता ।

पद—(पटादि सम्प्रदायव्यवहारः स्वतन्त्रपुरुषप्रयोज्य-व्यवहारत्वात् आधुनिकलिप्यादि व्यवहारवत्)

अर्थात् जिसप्रकार आधुनिक लिपि आदिका व्यवहार स्वतन्त्र पुरुषके द्वारा होता है उसी प्रकार व्यवहार होनेके कारण घट-पट आदि पदोंका प्रथम व्यवहार स्वतन्त्र पुरुषके द्वारा ही प्रयोगमें आया होगा और क्योंकि जीवको सृष्टिके आदिमें घटपटादिविषयक ज्ञान सम्भव नहीं, इसलिये

घटादि पदोंको प्रथम व्यवहारमें प्रयुक्त करनेवाला ईश्वरके अतिरिक्त दूसरा नहीं हो सकता ।

प्रत्यय—(वेदजन्यज्ञान कारणगुणजन्यं प्रमात्वात् प्रत्यक्षादि-प्रमावत्)

अर्थात् जिसप्रकार प्रत्यक्षादि प्रमा कारणगुणजन्या अर्थात् किसी चेतनमे होती है, उसी प्रकार प्रमा होनेके कारण वेदजन्य ज्ञान भी कारणगुणजन्य अर्थात् किसी चेतनद्वारा होना चाहिये और वह चेतन जीव नहीं हो सकता, क्योंकि वेदजन्य ज्ञानका उपादानविषयक अपरोक्ष ज्ञान उमे नहीं है । इसलिये तद्वत् ज्ञानविशिष्ट केवल ईश्वर ही सिद्ध होता है ।

श्रुति—(वेदः पौरुषेयो वेदत्वात् आयुर्वेदवत्)

अर्थात् जिसप्रकार आयुर्वेद पुरुषप्रणीत होता है उसी प्रकार वेदवत्के कारण वेद भी पुरुषप्रणीत है और वह पुरुष जीव नहीं हो सकता, क्योंकि वेद महाज्ञानकल्प है, इसलिये जीवातिरिक्त ईश्वर ही वेदप्रणेता सिद्ध होता है ।

वाक्य—(वेदः पौरुषेयो वाक्यत्वात् भारतवन् वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मदादिवाक्यवत्)

अर्थात् जिसप्रकार महाभारतादि वाक्य पुरुषप्रणीत हैं उसी प्रकार वाक्य होनेके कारण वेद भी पौरुषेय हैं, परन्तु वेदके महाज्ञानकल्प होनेके कारण चेतन जीव उसके प्रणेता नहीं हो सकते, अतः तद्विषयक उपादानज्ञानयुक्त ईश्वर ही वेदवाक्यप्रणेतृ सिद्ध होता है ।

संख्या-विशेष—(द्वयगुणपरिमाणं सङ्ख्याजन्यं परिमाण-प्रत्ययान्वयत्वे सति जन्यपरिमाणत्वात् प्रकृष्टतादृशकपालसदृश-कपालद्वयारव्वघटपरिमाणवत्)

अर्थात् जिसप्रकार प्रकृष्टकपालद्वयगत परिमाणमे उत्पन्न घट-परिमाण है उसी प्रकार परिमाणप्रत्ययके अनादि होनेमे जन्यपरिमाणके कारण द्वयगुण-परिमाणगत द्वित्व-संख्याकी उत्पत्ति हमारे बुद्धिद्वारा नहीं हो सकती, क्योंकि उस समय तृतीयक्षय अथवा चतुर्थक्षय-ध्वंसप्रतियोगिनी बुद्धिका अभाव है । अतः इसप्रकारकी संख्याका उत्पादक निश्चय बुद्धिवाला ईश्वर सिद्ध होता है ।

२—ईश्वरको यदि न माना जाय तो अचेतन कर्मोंका फलवाला किसी-न-किसीको मानना ही पड़ेगा । यदि कोई

कहे कि अचेतन कर्म स्वयं फल देते हैं, तो यह बात युक्त न होगी। क्योंकि यदि कर्म किसी चेतन्यके नियन्त्रणके बिना स्वयमेव फल प्रदान करें तो कर्मोंका फल सब समयमें ही मिलना चाहिये, परन्तु ऐसा जगत्में नहीं देखा जाता; अतः कर्मोंका फलप्रदाता ईश्वर है। पुनः यदि शङ्का की जाय कि 'मान जें, यदि कर्मफलदाता ईश्वर है, और जगत्में किसी मनुष्यका सुख-विलाससे पूर्ण तथा किसीको दीन-हीन अकिञ्चन बना देता है जैसा कि देखा जाता है, तो इससे ईश्वरमें वैषम्य-नैर्घृण्य दोष आ जाता है।' परन्तु ऐसी शङ्का युक्त नहीं; क्योंकि ईश्वर कर्मफल देनेमें स्वतन्त्र है और जीवोंको उनके कर्मानुसार ही फल प्रदान करता है, अतः उसमें पक्षपात-दोष नहीं आ सकता। इसलिये ईश्वरको माने बिना सांसारिक व्यवस्था प्रमाणित नहीं हो सकती।

३-ईश्वरास्तित्वमें अनुमान-प्रमाण किञ्चित् प्रदर्शित किया गया, जिसे विशप जाननेकी इच्छा हो वह श्रीवदयनाचार्यकृत 'कुसुमाञ्जलि', श्रीगंगेशापाध्यायकृत 'ईश्वरानुमान-चिन्तामणि', कद्वजीकारकृत 'ईश्वरानुमान-कदली' आदि ग्रन्थोंको देखें जिनमें अनुमानसे नाना प्रकारकी युक्तियोंद्वारा ईश्वरका सिद्धि की गयी है।

अब ईश्वरकी सिद्धिमें ईश्वरोक्त वेद भी प्रमाणित हो जाता है। जैसे—

'द्यावाम्भी जनयन्देव एकः

विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।'

अर्थात् 'स्वर्ग और पृथ्वीको बनानेवाले वह एक ही देव (परमात्मा) सबकी रक्षा करते हैं।' तथा—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं

यो वै वेदोश्च प्रहिणोति तस्मै।

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं

मुमुक्षुवै शरणमहं प्रपद्ये॥

अर्थात् 'सृष्टिके आदिमें ब्रह्माको उत्पन्नकर जो वेद-ज्ञान प्रदान करता है, उस आत्मबुद्धिके प्रकाशरूप देवके शरणमें मैं मुमुक्षु जाता हूँ।' इसप्रकार अनेक श्रुतियाँ ईश्वरके अस्तित्वमें प्रमाण हैं।

अगवान् वेदव्यासने अपने ब्रह्मसूत्रमें 'जन्माद्यस्य यतः' तथा 'प्रकृतिश्च प्रतिशानिरोधात्' इत्यादि सूत्रोंसे स्पष्टतः ईश्वरको सिद्ध किया है।

परम कारुण्याग्रगण्य भगवान् महर्षि पतञ्जलिजी भी कहते हैं कि—

'कृताकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'

अर्थात् 'कृते-कर्म-विपाकादिसे असंस्पृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर है। तथा भगवान् गौतमने भी अपने इस सूत्र— 'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मसाफल्यदर्शनात्' अर्थात् पुरुषके कर्मोंके साफल्यसे उनके कारणरूपसे ईश्वर सिद्ध होता है।'—से ईश्वरकी सिद्धि की है। महर्षि कणाद भी 'संज्ञा-कर्मत्वस्मद्दिशिष्टानां किङ्ग प्रत्यक्षप्रवृत्ततया संज्ञाकर्मणः'— इत्यादि सूत्रोंमें ईश्वरकी आवश्यकता बतलाते हैं।

सांख्यसूत्रके पञ्चमाध्यायमें यद्यपि ईश्वरको अन्यथा सिद्ध किया है तथापि उसके कर्पकप्रणीत होनेमें सन्देह है। यदि सांख्यसूत्र कर्पकप्रणीत है तो 'ईश्वरसिद्धेः' सूत्रको प्रौढवादमात्र माना जा सकता है और यदि नहीं है तो इसकी प्रामाणिकता ही नहीं मानी जा सकती। वाचस्पति मिश्रने अपनी सांख्यतत्त्वकौमुदीमें 'न च क्षीरप्रवृत्तेरपीश्वराधिष्ठाननिबन्धस्त्वेन साध्यस्वाज्ञ साध्येन' इत्यादिद्वारा ईश्वरमें कर्तव्यका खण्डन किया है और बतलाया है कि किसी भी कार्यमें कारुण्य और स्वार्थसे ही प्रेरणावरपुरुषकी प्रवृत्ति होती है। सृष्टिकी उत्पत्तिके पूर्व जीवोंको सुख-दुःखके साधक इन्द्रियादि नहीं होते, क्योंकि उस समय इन्द्रियादिका आश्रय शरीर नहीं रहता है अतः उस समय उन्हें सुख-दुःख भी नहीं होते। इसलिये जब दुःख ही नहीं तो जीव दुःख-परिहारक कारुण्य ईश्वरमें कहाँसे आ सकता? अर्थात् कारुण्यसे ईश्वरद्वारा सृष्टि सिद्ध नहीं होती। यदि कोई कहे कि सृष्टि होनेके बाद जीवोंके दुःखसे करुणावश ईश्वर उनपर दया करता है, तो यह भी सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि जीवोंमें दुःख होनेसे तत्परिहारक ईश्वरमें कारुण्यका होना तथा ईश्वरमें कारुण्यके होनेसे जीवोंमें दुःखका होना अन्योन्याश्रय-दोष पूर्ण हो जाता है। अतः कारुण्यसे सृष्टिमें ईश्वरकी प्रवृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। दूसरे ईश्वरके पूर्णकाम होनेके कारण भी अपने स्वार्थके उद्देश्यसे सृष्टिमें प्रवृत्त नहीं हो सकता, अतः ईश्वर कदापि जगत्का कर्ता नहीं है, किन्तु प्रकृति ही जगत्कर्त्री है।

परन्तु सांख्यवादियोंकी यह बात युक्तियुक्त नहीं है, अगवान् वेदव्यासकृत ब्रह्मसूत्रके 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रोंसे सांख्यमतका निराकरण होता है। महर्षि जैमिनि

तथा कुमारिह भइ प्रभृति पूर्व-मीमांसकोंने भी अपने शास्त्रोंमें ईश्वरकी चर्चा नहीं की है, कर्मकी प्रधानता दिखलाना ही उनकी इस प्रवृत्तिका कारण है।

उपर्युक्त संक्षिप्त प्रमाणोंद्वारा ईश्वरको अनेक नामोंवाला कहा गया है—

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रूयति वेदान्तिनां

बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्मेति नैयायिकाः ।

अद्वैतित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः

सोऽयं नो विदधातु बाष्पितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

अर्थात् 'जिस ईश्वरको शैवयोग 'शिव' मानकर उपासना करते हैं और वेदान्तीजोग जिन्हें 'बुद्ध' मानते हैं, बौद्ध 'बुद्ध' मानते हैं, प्रमाणपटु नैयायिकगण जिन्हें 'जगत्कर्ता' मानते हैं, जैनीजोग जिन्हें 'अहम्' मानते हैं और मीमांसक जिन्हें 'कर्म' मानते हैं, ऐसे त्रिलोकीनाथ हमारी रक्षा करें।' यदि सब पूछा जाय तो संसारमें कोई ऐसा पुरुष न होगा जो ईश्वरको न मानता हो। महानात्मिक चार्वाकादि भी किसी-न-किसी तरह ईश्वरको मानने ही हैं; श्रीठक्पनाचार्यजी कुसुमाजलिमें लिखते हैं—

इह यं कमपि पुरुषार्थमर्थयमानाः शुद्धबुद्धस्वभाव इति औपनिषदाः; आदिविद्वान् सिद्ध इति कापिलाः; क्लेशकर्मविपाका-शयैरपरासृष्टा निर्माणकार्यमविष्टाय सम्प्रदायप्रद्योतकोऽनुग्राह-कञ्चेति पातजलाः; लोकवदविरुद्धैरपि निर्लेप. स्वतन्त्रञ्चेति महापाशुपताः; शिव इति शैवाः; पुरुषोत्तम इति वैष्णवाः; पितामह इति पौराणिकाः; यज्ञपुरुष इति याज्ञिकाः; निरावरण इति दिगम्बराः; उपास्यत्वेन देशित इति मीमांसकाः; बाबदुको-पपन्न इति नैयायिकाः; लोकव्यवहारसिद्ध इति चार्वाकाः; किं बहुना कारवोऽपि यं विश्वकर्मणि उपासते तस्मिन्नेवं जातिगोत्र-प्रवरचरणकुलधर्मादिवदासंसारं प्रसिद्धाऽनुभावे भगवति सन्देह-पव कुतः ? किं निरूपणीयमिति ।

अर्थात् इस संसारमें किसी भी पुरुषार्थके चाहनेवाले पुरुष ईश्वरको मानते हैं। जैसे अद्वैतवादी ईश्वरको शुद्ध-बुद्ध स्वभाववाका मानते हैं, कपिलमतवाले उमं आदि विद्वान और सिद्ध मानते हैं, पातञ्जल उमं क्लेशाद्विरहित और निर्माणकार्याधिष्ठित सम्प्रदायप्रद्योतक और अनुग्राहक कहते हैं, महापाशुपत छांग लोक-वेद-विरुद्धमे निर्लेप और स्वतन्त्र मानते हैं, शैव उसे शिव कहते हैं, वैष्णव पुरुषोत्तम कहते हैं, पौराणिक पितामह कहते हैं, याज्ञिक उसे यज्ञ-

पुरुष कहते हैं, दिगम्बर (जैन) उसे वच्चा-रहित कहते हैं, मीमांसक उसे उपासनामे प्रसिद्ध कहते हैं, नैयायिक जगत्कर्ता कहते हैं, चार्वाक लोकव्यवहारसिद्ध कहते हैं, अधिक क्या कहें शिष्यशास्त्र भी जिसे विश्वकर्मा कहते हैं उस गोत्र-प्रवरदिके समान समस्त संसारमें प्रसिद्ध परमात्मामें सन्देह कहाँसे हो सकता है ?

ईश्वर वेदोंके द्वारा हिताहित उपदेशोंकी देनेवाला जगत्का परमपिता है। उमं नैयायिकलोग जगत्का निमित्त-कारण तथा अद्वैतवादी अभिन्न निमित्तोपादान-कारण मानते हैं। इसी प्रकार समस्त आचार्य ईश्वरको जगत्का कारण मानते हैं। ईश्वर पितृवत् दयालु है, कोई भी दुश्चरित पुरुष उसकी शरण लेता है, तो वह परमेश्वर उमं पुनीतकर सबोच्च बना देता है। जीव भगवान्की शरण लेकर ही उसकी कृपामें इस महादुःस्वरूप संसारमें तर जाते हैं। एक उपासक कहना है—

अपराधमद्वलभाजन पतित भीमभवाणोवांरे ।

अमति शरणगान मत्र कृपया केवलमात्मसाःकुट ॥

अर्थात् 'हे भगवन् ! इस भयङ्कर संसारमें गिर हजारों अपराधोंका पात्र बना हुआ मैं दूसरे किसी मार्गको न देखकर आपके शरणको प्राप्त होता हूँ। नाथ ! अब आप कृपाकर मुझे अपनाइये ।'

४- मुझे भगवान्की अकारण परमदयालुतापर विश्वास है, वह अनेक अवसरोंपर मेरे अपराधोंका विचार न कर मेरी चित्त-वृत्तियों अपनी ओर लगाता हुआ जगत्के नाना प्रकारके दुःस्वोंस श्राण करता है। भगवान्के समान दूसरा कोई भी कल्याणील तथा परमेश्वर नहीं है। भगवान् स्वयं श्रीमुखमे कहते हैं—

अपि चरमुद्गुहाचारो मज्जेत मामनन्यभाक् ।

माधुर्गव स मन्तव्यः सम्मग व्यवसितो हि सः ॥

क्षिप्रं मरति धर्मात्मा शशच्छान्तिं निगच्छति ।

कीन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणम्यति ॥

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

क्षियो वैवशस्तथा शृद्रास्तेऽपि यासि परां गतिम् ॥

मेरा पूर्ण विश्वास है कि यदि सब कर्मोंको छोड़कर भगवान्के अनन्य शरण हुआ जाय तो बिना किसी भी क्रियाके मनुष्यका उद्धार हो सकता है। भगवान् कहते हैं—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

जब-जब विष्णोपादि दोषोंसे भेरा मन विक्षिप्त होता है तब-तब उस परमात्माके नामस्मरणसे भेरे चित्तमें शान्ति आती है । उसके स्मरण और ध्यानसे मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है । मैं तो श्रीहरिको संसाररूपी बटका बीज मानता हूँ—

भव एव बटः प्रोक्तः तत्पतिः परमेश्वरः ।

तं भव नौमि देवेशं श्रींश्च बटपतिं प्रभुम् ॥

अर्थात् संसार ही बट है और उसका पति परमेश्वर हैं अतः उस देवेश लक्ष्मीपति प्रभु बटपतिको मैं नमस्कार करता हूँ ।

इन बटपति भगवानको मैं शिवेश या श्रीशयं अभिषेक

मानता हूँ, यही मेरा सगुण-ब्रह्मके सम्बन्धमें निश्चय है,—

हृत्वीको ह्यनिर्मित बटपत्यष्टकमे मैनै ह्यसप्रकार लिखा है—

निराकारं स्वामिजयतु तव रूपं श्रुतिनृतं

अहं तु त्वां मन्ये करचरणयुक्तं गुणनिधिम् ।

शिवेशः श्रीशो वा भवतु न भिदा यत्र तमहं

नमामि श्रीनाथं भवमयहं श्रीवटपतिम् ॥

भगवान्की अपरम्परा सहिष्माकी मुक्त-जैसा मन्दप्रज्ञ मनुष्य क्या वर्णन कर सकता है ? पर हरिचरण-सेवी भगवन्-भक्तोंकी कृपासे जो कुछ सुना था, लिख दिया है । अब हमें—

यत्करोषि यदवनासि यज्जहोषि ददासि यत् ।

यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुव मदर्पणम् ॥

इस श्लोकके अनुसार प्रभु-चरणोंमें समर्पण करता हूँ ।

(३७) स्वामी श्रीशिवानन्दजी

१ प्रत्येक मानव-प्राणीके लिये ईश्वरमें विश्वास करना अनिवार्य है । इसके बिना मनुष्यका चल ही नहीं सकता । अविद्या अथवा अज्ञानके प्रभावसे मनुष्यको दुःख सुख-सा प्रतीत होता है । जगत् दुःख, शोक, विपत्ति और क्लेशोंसे पूर्ण है । जगत् आगका गोला है । राग-द्वेष, क्रोध-ईर्ष्या और मत्सरसे भरा दुष्ठा अन्तःकरण जलती हुई भट्टी है । विषयी पुरुष भ्रमके कारण मोहमें पड़ रहे हैं । जन्म-मृत्यु, जरा-रोग और शोकसे हमें स्वयमेव मुक्त होना है । यह केवल ईश्वरमें विश्वास करनेसे ही हो सकता है । हमारा कोई उपाय नहीं है । धन और ऐश्वर्यसे हमें यथार्थ सुख नहीं मिल सकता । यहाँतक कि यदि हमें सार्वभौम राज्यकी भी प्राप्ति हो जाय तो उससे भी हमें चिन्ता, क्लेश, दुःख, शोक, भय और निराशा आदिसे छुटकारा नहीं मिल सकता । केवल ईश्वरमें श्रद्धा तथा ध्यानके द्वारा भगवद्-प्राप्ति होनेसे ही यथार्थ शाश्वत सुखकी प्राप्ति हो सकती है तथा हम सब प्रकारके भय और चिन्तानलसे प्राण पा सकते हैं, जो प्रतिक्षण हमें जलाते रहते हैं । ईश्वरमें श्रद्धा होनेसे हम उसका सतत चिन्तन करनेके लिये तथा उसका ध्यान करनेके लिये प्रेरित होते हैं और फलतः हमें भगवत्प्राप्ति ही जाती है ।

ईश्वरमें और ईश्वर-प्राप्तिमें श्रद्धा रखनेसे हमें परम शान्तिकी प्राप्ति होगी, उस शान्तिके प्राप्त होते ही समस्त दुःख निर्मूल हो जायेंगे । फिर हमारा भटकना बन्द हो जायगा । हम कर्मके बन्धनसे छूट जायेंगे । हम अमर हो जायेंगे । हमें शाश्वत दिव्य ज्ञानकी प्राप्ति होगी । हम एक ऐसी पदवी प्राप्त होंगे जहाँसे पुनः इस दुःखमय लोकको लौटना न होगा, क्योंकि दिव्य ज्ञानके द्वारा हमारे पापोंका नाश हो जायगा । हमारा मन सदा समाहित रहेगा । फिर हमें न तो सुखकी प्राप्तिमें हर्ष होगा और न दुःखकी प्राप्तिमें विषाद ही होगा । हमारा अन्तःकरण हिमवत् शीतल हो जायगा और हम दिव्य चेतनामें सदा अवस्थित रहेंगे । हमें अक्षय सुखकी प्राप्ति होगी । हम ईश्वरके साथ एकरस हो जायेंगे तथा हमें नित्य, अनन्त, अक्षय आनन्दकी प्राप्ति होगी । दिव्य चेतनामें अवस्थित होनेपर हम भारी-से-भारी दुःखमें भी विचलित न होंगे । हमें अतीन्द्रिय आनन्दकी प्राप्ति होगी ।

यदि हम अनन्य चित्तसे दृढ़तापूर्वक भक्तिभावसे ईश्वरकी अर्चना करेंगे तो वह हमें पूर्ण अभय प्रदान करेंगे । ईश्वर हमें बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिसके द्वारा हम उन्हें सुगमतासे प्राप्त कर सकें । हमारे ऊपर कृपायुक्त ही वह हमारे अज्ञानान्धकारको ज्ञानव्योतिके प्रकाशद्वारा

नष्ट कर देते हैं। यदि हम रूढ़ भक्ति और श्रद्धापूर्वक अपने मनको उसमें लगावें तो वह संसार-समुद्रसे शीघ्र ही हमारा उद्धार करते हैं। हम तीनों गुणोंको पार कर जाते हैं तथा जन्म-मृत्यु, जरा-शोकसे छुटकारा पाकर अमर-सुखाका पात्र करते हैं। उनमें विश्वास करनेसे भक्ति और श्रद्धाके द्वारा हम उन्हें तत्त्वतः जानेंगे तथा उसमें प्रवेश करेंगे। उनकी कृपासे हम मार्गमें आनेवाली समस्त बाधाओंको दूर करेंगे तथा परमपद—परमधामको प्राप्त होंगे।

२—यदि हम ईश्वरमें विश्वास न करेंगे तो हमें इस संसारमें बारम्बार जन्म लेना पड़ेगा तथा नाना प्रकारके दुःख सहने पड़ेंगे। अज्ञानी, श्रद्धाहीन तथा संशयारम्भा पुरुष विनाशको प्राप्त होते हैं। उन्हें तनिक भी सुखकी प्राप्ति नहीं होती। संशयारम्भाके लिये न तो इहलोक है और न परलोक। जो पुरुष ईश्वरमें विश्वास नहीं करता, वह सत्य और असत्यको नहीं पहचान सकता, उसे विवेक-शक्ति नहीं रहती। ऐसे पुरुष असत्यवादी, अभिमानी और अहंकारी होते हैं। उन्हें अतिशय काम, क्रोध और लोभ होता है। वे गृहित उपायोंमें धनका अर्जन और संग्रह करते हैं। वे आसुरी स्वभावके मनुष्य बन जाते हैं। वे नाना प्रकारके घोर पाप करते हैं। उनके जीवनका कोई आदर्श नहीं होता, वे आसुरी योनिको प्राप्त होते हैं, तथा जन्म-जन्मान्तर मूढताको प्राप्त हो हीनतम नरकमें गिरने हैं।

३—द्वितीय प्रश्नका उत्तर 'ब्रह्म' शीर्षक लेखमें आ गया है।

४—लगभग डेढ़ सौ वर्ष हुए, दक्षिण-भारतके त्रिचनापल्ली-जिलेमें कात्त-स्थानके समीप नेल्ल-ग्राममें सदाशिवब्रह्म इन्द्र सरस्वती नामके एक बहुत ही प्रसिद्ध ज्ञानी-योगी रहते थे। उन्होंने ब्रह्मसूत्रवृत्ति, आत्मविद्या-विकास तथा अन्य बहुतेरे ग्रन्थोंका प्रणयन किया था तथा नाना प्रकारके चमत्कार दिखलाये थे। एक बार जब वे कावेरीके तटपर समाधिग्रस्त थे कि बादमें बहकर किसी दूसरे स्थानमें चले गये और बालुके नीचे गड़ गये। मजदूर स्नान जोतनेके लिये गये और उन्होंने योगीके सिरपर आघात किया और उससे कुछ रक्त निकल आया। उन्होंने वहाँ खोदना शुरू किया और एक योगीको समाधिस्थ देखकर वे अत्यन्त चकित हुए।

दूसरी बार एक समय वह अवलोकके रूपमें गंगे की

एक मुसल्मान-सरदारके जनाना-स्त्रीमें बुरा गये। वह सरदार महात्माके ऊपर बहुत ही गुस्सा हुआ और उसने क्रोधमें उनकी एक बाँह काट डाली। सदाशिव ब्राह्मण बिना ही कुछ कहे-सुने वहाँसे चल दिये, उनके ढंगसे मालूम होता था कि उन्हें तनिक भी कष्ट नहीं है। सरदार महात्माकी इस अद्भुत अवस्थापर अत्यन्त ही चकित हुआ। उसने विचार कि यह मनुष्य अवश्य ही कोई महात्मा है। उसे बड़ा ही पश्चात्ताप हुआ और उसने महात्मासे क्षमा माँगनेके लिये उनका पीछा किया। सदाशिवको पता ही न था कि उनकी बाँह कटी हुई है। जब सरदारने कैम्पकी सारी घटना उनसे कह सुनायी तो सदाशिवने कह दिया कि हमने तो क्षमा कर ही रखी है और उन्होंने अपनी कटी हुई बाँहको छू दिया। वहाँ तत्काल नयी बाँह निकल आयी।

इस महात्माके जीवन-चरित्रको जाननेमें मेरे मनपर गहरा प्रभाव पड़ा। मुझे रूढ़ विश्वास हो गया कि मन और इन्द्रियोंकी क्रीडामें तथा विषयोंमें परे एक स्वतन्त्र दिव्य जीवन है। वह महात्मा जगत्में नितान्त अनजान रहते थे। जब उनकी बाँह कट गयी थी तो उन्हें तनिक भी उसका अनुभव नहीं हुआ था। वह दिव्य चेतनामें सराबोर थे। माधारण पुरुष शरीरमें एक सूर्यके चुम्बनेमें भी चीत्कार कर उठता है। आस पुरुषोंके द्वारा जब महात्मा सदाशिवकी इस अद्भुत घटनाको मैंने सुना और जब मैंने इसे पुनःकॉमें पढ़ा तब मेरे मनमें एक रूढ़ विश्वास हो गया कि एक देवी सत्ता तथा देवी शाश्वत जीवन है जहाँ समस्त दुःख विकीन हो जाते हैं, समस्त कामनाएँ परिशुद्ध हो जाती हैं तथा मनुष्यको परम आनन्द, परम शान्ति तथा परम ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

ईश्वरकी दया

निम्नलिखित विचारोंमें मुझे सदा ईश्वरकी असीम दयाका अनुभव होता है।

माताके गर्भमें कलल और भ्रूणका पाकन तथा दस मासतक उनकी रक्षा कौन करता है?—ईश्वर! शिशुके उत्पन्न होनेके पूर्व माताके मनोमें दूधका प्रबन्ध कौन करता है?—ईश्वर! भोजनको रस और रक्तके रूपमें कौन परिशुद्ध करता है?—ईश्वर! रक्तको हृदयसे धमनी-में कौन प्रवाहित करता है?—ईश्वर! मकड़ों तमाम

अंतर्द्वारोंमें अधोभागमें कौन पहुँचाता है ?—ईश्वर ! उस मेंढकको जो अस्खल्य चष्टानके भीतर रहता है भोजन कौन पहुँचाता है ?—ईश्वर ! वह शरीरके भीतर मेहतरका काम करता है, वह बाह्य जगत्में स्त्ररका रूप धारणकर प्राकृतिक मेहतरका काम करता है। वह नारंगी-अंगूरका रूप धारणकर तुम्हारे सुखे गलेकी प्यास बुझाता है। वह एक सावधान नौकरके समान तुम्हारी आँखोंके पलकोंको बन्द कर देता है जिससे उनमें धूल न पड़ने पावे। वह तुम्हारे लिये सब कुछ करता है। उसकी

असीम शक्तिक्रिया प्रत्येक वस्तुमें, सृष्टिके प्रत्येक परमाणुमें वीक्ष्य पड़ती है। एक छोटेसे अपराधके करनेपर भी तुम्हें अपने नौकरको क्षमा करना बहुत ही कठिन जान पड़ता है। तुम कितना क्रोध प्रकट करते हो, परन्तु परमात्मा असंख्य जन्मोंके तुम्हारे करोड़ों घोर अपराधोंको क्षमा कर देता है। वह कैसा शत्रुत घंघरवान् है ? उसकी अपूर्व कल्याणको तो देखो ! उसका सतत चिन्तन करते रहो। उम्मे मदा स्मरण करो। श्रद्धा और भक्तिके साथ उसके हरि, राम, नारायण, शिव प्रभृति नामोंका जाप करो।

(३८) श्री-श्रीभीमचन्द्र चटर्जी वी० ए०, वी० एल०, वी० एस-सी, एम० आइ० इ० इ०, एम० आइ० इ०

ईश्वरानुग्रहकी प्राप्ति-मुझे अपने जीवनमें ईश्वरानुग्रहकी प्राप्ति कब हुई है, यह बात पूछी गयी है। अपने विषयमें कुछ कहना यद्यपि शिष्टाचार-विरुद्ध होगा तो भी मैं जीवनकी कुछ घटनाओंको संक्षेपमें लिख रहा हूँ। इसमें जहाँ कहीं अहङ्कारका भाव आये, उसपर पाठक कृपया ध्यान न दें।

बचपनमें ही पितृहीन होनेके बादमे आजतक मैं बराबर ईश्वरकी कृपाका उपभोग करता आ रहा हूँ। अतएव उसकी कृपाका कौन-सा नमूना आपको बतलाऊँ, यह समझमें नहीं आता। अनेकों घटनाएँ साधारण दृष्टिसे देखनेपर अशुभ जान पड़ें थीं, परन्तु कुछ दिनों बाद यह बात समझमें आ गयी कि शिव कभी अशिव नहीं हो सकते। मैं दसईं वर्षका शिशु जब पितृहीन हुआ, उस समय मेरी माता कहती थी कि 'जब नुमलोगोंको कोई अभाव हो, तभी शिवको स्मरण करना, वह सर्व-व्यापी है, अतः जिस अवस्थामें तुम जहाँ उन्हें पुकारोगे, वे सुनिश्चय और जो अच्छा होगा, करेंगे। शिव अशिव नहीं हो सकते। उनको केवल अपनी अवस्था जना देना, क्या चाहिये तथा क्या नहीं चाहिये, इसको वह आप समझ लेंगे।' यह 'मातृ-आदेश' ही हमलोगोंकी मूल सम्पत्ति (Capital) है, जीवनभर हम इसीको लेकर उथल-पुथल करते रहे हैं।

जन्मके बाद ही मेरा श्वास बन्द (Suspended respiration) हो गया और शरीरपर मिट्टी-सी छगे रहनेके कारण धायने मृत शिशु समझकर उसको फेंक देनेके

लिये गमलेमें बाँध लिया और सूतिकागृहको साफकर मुझे ले जानेको तैयार ही थी कि उसी समय मेरी चाची-ने 'पुत्र हुआ किन्तु मरा हुआ' सुनकर विस्मित और दुःखित हो सूतिकागृहमें प्रवेश किया; उसने मुझे खोलकर मेरे शरीरमें मिट्टी हटाकर देखा कि शरीरका लाल रंग है तथा सब जानेपर जो दुर्गन्ध होती है, वह भी नहीं है। उन्होंने सन्देह करके शरीरका सब मेल हटाया और पैरोंपर, मुँहमें गोल मिर्च छपायी तथा और क्या-क्या किया, मुझे मालूम नहीं। फल यह हुआ कि मैं रोने और श्वास लेने लगा। भगवान्की कृपासे उस समय गंगा-यात्रा नहीं करनी पड़ी। चाची बहुधा मुझे मेरा जन्म-वृत्तान्त सुनाया करती थीं।

मेरी अवस्था लगभग चार वर्षकी और मेरे बच्चे आठवीं सात वर्षकी थी, उस समय मेरे अत्यन्त कठिन रोग हो गया। माताने कोई उपाय न देख श्रीश्रीबाबा वैद्यनाथजीके यहाँ धरना दिया। बाबा भोक्तेनाथकी कृपा-प्रार्थना करती हुई वह बिना कुछ खाये-पिये मन्दिरमें रहने लगीं। इस दोनों भाइयोंने पहले दिन बाजारसे खरीदकर कुछ खा लिया, दूसरे दिन भात न मिलनेसे हमें कष्ट जान पड़ा और हमने भात बनाया, किन्तु उतारनेके समय भातसे अरी डाँडी उलट गयी और हम बिना खाये ही रह गये। हमने शिवसे प्रार्थना की कि 'हमें बहुत ही भूख लगी रही है, आप शीघ्र ही हमारी माताको आदेश देकर कृतार्थ कीजिये।' कहनेकी आवश्यकता नहीं कि बाबा शिवने उसी रातको हमारा क्रन्दन सुना और माताको आदेश

देकर कृतार्थ किया। बाबू को जब मेरा रोग बहुत बढ़ गया, तब कलकत्ते के प्रसिद्ध डाक्टर R. L. Dutta ने जवाब दे दिया तथा मुझे तीन दिन घरसे बाहर तुलसीके तले रखवा गया। उस समय माताने कहा कि 'वत्स साहेबने जवाब दे दिया है परन्तु बाबा वैद्यनाथने आदेश किया है कि तुम्हारा पुत्र अकालमें ही काळके गालमें नहीं जायगा, इस आदेशकी बात मेरे द्वारा कहजाकर माताने मुझे दूसरे डाक्टरको दिखानेके लिये कहा और साथ ही यह भी कहा कि 'कोई भी डाक्टर इलाज करे, मेरा लड़का अवश्य बच जायगा। तो मैं एक डाक्टरका इलाज कराना चाहिये—' 'निमित्तमात्रं भव सत्यसाधित्।' इसी समय एक दिन डाक्टर बाबूने मेरे बेड़ेकी टिचर मालिश करनेकी व्यवस्था की, परन्तु कम्पाउण्डरने भूलसे उसे खानेकी दवा बनलाकर भेज दिया। मेरी माता अंगुलीसे दवा उठाकर मुझे खिलाना चाहती थी, परन्तु दवामें अत्यन्त दुर्गन्ध पाकर डाक्टरकी बिना दिखाये खिलाना उचित नहीं समझा और उसको अलग रख दिया। कहना नहीं होगा कि भगवत्कृपासे इस बार भी मेरे प्राण बच गये। उनके इस विश्वासकी तथा मेरे बचनेकी यह बात आज भी मेरे हृदय-पटपर अंकित है। शिवने हमारी पुकार सुनी। बाल्यकालमें ही उनकी कृपापर मेरा हृदय विश्वास हो गया, ग्यारह महीने रोग भुगतकर मैंने पट्य लिया। और भगवत्कृपासे मैं अबतक जीवित हूँ।

परिश्रमका अभ्यास—अत्यन्त गरीब होनेके कारण ज्योतिषियोंने तथा दो एक आरम्भीय स्वजनोंने कहा—इसके नसीबमें विद्या नहीं है, यह कभी इन्ट्रैस भी पास नहीं कर सकेगा, इसप्रकार कई तरहकी असुविधा होनेके कारण मैं पढ़ना छोड़कर तेरह वर्षकी अवस्थामें New Glens वायवागानमें नौकरी करने जलपार्हगुड़ी चला गया। पाँच महीने बिना वेतन काम सीखनेपर १५) महीना वेतन हुआ। उसमेंसे १०) मैं माताको भेजता था और ५) मैं अपना सारा काम चलाता था। मैंने सिर्फ़ इस महीने यह नौकरी की। सुबह ६ बजेसे ११ बजेतक, फिर १२ बजेसे ८ बजेतक तथा पुनः रातको ६ बजेसे २ बजेतक काम करता था। इसप्रकार १८ वरदा कैण्टरीमें चाय तैयार करता था। वेतन केवल १५) मासिक था। भगवान्की यह विशेष कृपा थी क्योंकि इसीके कारण मुझमें परिश्रम करनेकी शक्ति आ गयी और अभ्यास हो गया।

लक्षकपनमें यदि इसप्रकार परिश्रम करनेका अभ्यास न होता तो मैं कभी इतना कार्य नहीं कर सकता।

ईश्वर-निर्भरताकी शिक्षा—स्वकीमें कोई अनुचित कार्य न करनेपर भी तीन वर्ष अध्ययन करनेके बाद मुझपर मिथ्या दोषारोपण कर मुझे कालेजसे निकाल दिया गया। एक सप्ताहके बाद ही मुझे गारण्टीड नौकरी मिलनेवाली थी, इसी समय मुझपर यह आघात लगा। मैंने लाचार होकर गवर्नर जनरलके समीप मेमोरियल भी भेजा परन्तु कोई फल न हुआ। भगवान्की ह्छा दूसरी ही थी। घर-द्वार-सर्वस्व बन्धक रखकर ऋण लेकर पढ़ने गया था, सोचा था कि निश्चय ही कृतकार्य होऊँगा। इहाँ ऐसा क्यों हो गया, उस समय मैं बहुत संचिन्तेपर भी नहीं समझ सका। ऐसी अवस्थामें मेरे मनमें धर्मश्रद्धा या आत्महत्या करनेकी बात न आयी हो, ऐसी बात नहीं है। सम्भवतः मुझसे पहले कोई भी छात्र कालेजमें इसप्रकार अपमानित नहीं हुआ होगा, इसप्रकारकी तुलनामूलक धारणा मुझे और भी अधीर बनाये डालती थी। किन्तु 'शिव अशिव नहीं हो सकते' इस हृदय विश्वासके सहारेमे ही मैंने धैर्य धारण किया, किसी कर्मफलका भोग था, हो गया। 'भोगानेव क्षयः' 'भोगनेमे भोगोंका नाश होता है,' इस विचारसे मुझे विशेष साम्बलना मिली। मैं उत्साहके साथ पढ़ने-लिखने एवं अन्यान्य कर्मोंमें लग गया। मुझे भगवान्के ये शब्द याद आ गये—

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यत्मचेतसा।

निराशासिर्मीमा भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः॥

(गीता ३।३०)

अर्थात् 'मुझमें समस्त कर्मोंको अध्यात्म-चिन्तने निरूपे करके, आशा-समता-रहित तथा शोक-शून्य होकर युद्ध करो।'

कर्मण्येवाधिकारं मा पदेतु कदाचन।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥

(गीता २।४७)

अर्थात् 'तुम्हारा कर्ममें ही अधिकार है, कर्मफलमें कदापि नहीं। तुम कर्मफलके हेतु न बनो और न कभी कर्म न करनेमें ही तुम्हारी प्रवृत्ति हो।'

आगे चलकर भगवान् श्रीकृष्णकी कृपासे मैं पुनः-पुनः इसी कालेजके Final अर्थात् अन्तिम परीक्षाका परीक्षक

निर्वाचित होता रहा। एवं इसी स्कूली-कालेजके प्रिंसिपल एवं डायरेक्टर आफ् पब्लिक इन्स्ट्रक्शन्स् स्कूलीके इलेक्ट्रिकल इंजिनियरिंगके शिक्षकको इलेक्ट्रिकल इंजिनियरिंगकी शिक्षा किसप्रकार देनी चाहिये यह जाननेके लिये मेरे पास भेजा।

सरकारी नौकरीमें कुछ दिनोंतक पाप-क्षय करके मैं निर्विघ्न जीवन बिताता तथा कुछ पैंजी भी इकट्ठी कर लेता। बीच-बीचमें भीखकी झोली नहीं उठानी पड़ती। परन्तु स्कूलीमें नौकरी न मिलना बहुत अच्छा हुआ, ऐसा करके भगवान्ने मुझपर कितनी कृपा की, सो कहा नहीं जा सकता। मैं कालेजसे निकाले जानेके बाद वहाँ एक सर्टिफिकेट लेने गया था, परन्तु प्रिंसिपल महोदयने वह भी नहीं दी। उन्होंने 'मैं उस कालेजमें तीन वर्ष पढ़ चुका हूँ' इसका भी प्रमाणपत्र न देकर मुझे Non-Engineer बनाकर संसार-यात्रा-निर्वाह करनेके लिये संसारमें भेज दिया। परन्तु भगवत्कृपासे मैंने आगे चलकर लन्दनकी M. I. E. E. (Chartered Electrical Engineer) और M. I. E. उपाधिप्राप्त की जो इंग्लैण्ड और भारतका श्रेष्ठ Professional recognition है। अबतक इस उपाधिवाले भारतमें सिर्फ पाँच ही सज्जन हैं, जिनमें जान पड़ता है कि बिना विधायत गये यह भगवत्कृपा मुझपर ही हुई है। भगवान् कृपा करके नाना प्रकारकी शिक्षा देने हैं, चायबगरीचंका मजदूर कहाँतक सीख सकेगा इस बातको शिव जानने थे। शिवकी इच्छा वैसी नहीं थी। अपने पैरोंपर खड़े होना होगा। साहसपूर्वक परिश्रम करना होगा। देशके दुःखदारिद्र्यकी ओर देखकर चलना होगा, अहङ्कार और अभिमानको उतार फेंकना होगा। मैं कालीकी उपासना करनी हूँ तो उसका वाहन शवरूप महादेव होना होगा अर्थात् देहात्मज्ञानको बिल्कुल ही त्याग करना होगा, तभी मैं हमारे वक्षःस्थलपर नाचेंगी, ऐसा न करनेसे मैं हमारी कन्यारूपिणी होनेके कारण छोटी बालिका पास आनेमें डरेगी। अन्यथा हिलने-डुकनेसे माँको भय लगता है, इसलिये सर्वथा शव या स्तुरूप (अहङ्कार-ग्रन्थ) होनेकी शिक्षा दी गयी है।

उनकी कृपासे असम्भव सम्भव हो जाता है—

त्वामाश्रितानां न विपजराणा-

न्त्वामाश्रिताः प्राश्रयतां प्रयान्ति ॥

(चण्डी)

मैं जिस समय स्कूलीमें पढ़ता था, उस समय वहाँकी पढ़ाईकी प्रयासे मेरी श्रद्धा बहुत ही उठ गयी थी, वहाँ गुरु-शिष्य-सम्बन्ध भी नहीं रह गया था। हमारे साहब शिक्षकगण कुत्ते-बिल्लीके समान भी नहीं समझते थे। यह सब देखकर मैंने स्वयं एक इंजिनियरिंग-विद्यालय खोलनेका विचार किया था। इस विषयमें मेरे परम बन्धु श्रीयुत प्रमथनारायण विश्वास (Retired Divisional Engineer) महाशय जो अभी जीवित हैं, साक्षी दे सकते हैं। परन्तु धन कहाँसे आवे? भगवान्के राज्यमें धनके लिये कोई संस्कार्य स्का नहीं रह सकता। इसी विश्वासपर मैं कम करने लगा। इस उद्देश्यसे मैंने पन्द्रह वर्ष परिश्रम करके जो ग्रन्थ लिखा, उसका तृतीयांश सात स्वयंकी आयः ३००० पृष्ठोंमें प्रकाशित हुआ है। मैंने सन् १९१३ में पूज्यपाद श्रीमान मदनमोहन मालवीयजीको इंजिनियरिंग-कालेजका प्रथम Estimate दिया जो २८७००० का था। १९१६ में मैंने जो दूसरा Estimate दिया था वह ५००००० का था। इसी वर्ष हिन्दू-युनिवर्सिटी ऐक्ट (Hindu University Act) पाम हुआ। महाराज पटियालाके ५००००० संजरी देनेपर सन् १९१८ में पूजनीय मालवीयजीने मुझसे एक और Estimate चाहा, उसे मैंने ४२ विश्वविद्यालयोंके Prospectus पढ़कर ज़ः महीनेमें तैयार किया, वह ८१०००० का था। इस Estimate के रूप जानेपर मालवीयजीने विज्ञाँकी सम्मेलिका (Expert opinion) संग्रह किया तथा सबकी सम्मतिके अनुसार यह कालेज १९१८ में संस्थापित हुआ। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने मेरे स्वप्नको कार्यरूपमें परिणतकर अपनी असीम दया प्रकट की। मेरी १८ वर्षकी वासना पूर्ण हुई तथा १६ वर्षकी साधना सिद्ध हुई। यह कार्य भी भगवत्कार्य ही है। मैं इसप्रकारकी कृपाका पात्र होनेमें सर्वथा अयोग्य होनेपर भी कभी-कभी यह स्मरण हो जाता है कि उन्होंने मुझपर कितनी दया की है, जो मुझे अब कोई कामना नहीं रह गयी है और न किसी प्रकारकी चिन्ताका ही कारण रह गया है।

भगवत्कृपासे माँकी दया होती है—मेरे स्कूलसे विफल-मनोरथ होकर लौटनेके बाद एक दिन माताजी अकेली बैठी मन-ही-मन कुछ कह रही थीं। इतनेमें ही मैं उनके पास चला गया। मैंने पूछा—'आप क्या बोल रही थीं?'

उन्होंने उत्तर दिया, 'देख, आज मैं तुमको एक आदेश देती हूँ। इसीको तुम मेरी यथार्थ आज्ञा समझना। दूसरे समय यदि मनकी दुर्बलताके कारण मैं और कुछ कहूँ तो उसे न मानना। सदा अरुण रहना कि यही मेरी यथार्थ आज्ञा है।' फिर उन्होंने कहा—'इसप्रकार हमजोगोंके अत्यन्त अर्थाभाव है, इस अर्थाभावके कारण यदि कुत्ते-सियार मेरे हाड़-भांसको खा जायँ तो भी तुम मेरी ओर देखकर पटना छोड़ धनकी चेष्टा न करना। अभी कम-से-कम बीस वर्ष और पटना। मैं एक ही गरुड़ प्रसव करना चाहती हूँ, अरुणकी मौलि कच्चे अण्डे तोड़कर निकले हुए बच्चोंका दल नहीं।'।

मेरी माताने २१ बार रामायण और १६ बार महाभारत और हितोपदेशका पारायण किया था। भगवत्कृपासे ही ऐसी मौ मुझे मिली थीं।

भगवान्पर निर्भरताकी शिक्षा—कलकत्तेमें मेरे बड़े लड़केको टाइफायड हो गया था। ८२ दिनके बाद उसे पथ्य दिया गया था। उस समय मैं बंगाल-टेकनिकल स्कूलमें काम करता था। वहाँ मुझे ११०) मासिक वेतन मिलता था। लड़केकी बीमारीके समय मेरे पास एक कौड़ी भी नहीं थी। एक दिन मेरी स्त्रीने कहा—'आज मैंने कानकी बाली बन्धक रखकर डाक्टरकी फीस दी है; कल डाक्टरके आनेपर क्या बूँगी?' मैंने अपने माथे काम करनेवाले परम बन्धु धीरुका पृथ्वीन्द्र गङ्गोपाध्याय (जो आज शिवपुर-इंजिनियरिंग-कालेजके अमिस्ट्रैट प्रोफेसर आफ मेकनिकल-इंजिनियरिंग हैं) महारायसे यह बात कही। उन्होंने कहा—'मेरे पास एक सोनेकी घड़ी है, उससे मेरी स्त्री नहीं जानती, वह मैं आपको देता हूँ, आप उसको बन्धक रखकर अथवा बँचकर अपना काम चलाइये, पीछे देला जायगा।' उनकी इस बातको सुनकर मैंने उन्हें आन्तरिक चिन्त्यवाद देकर कहा—'आई, कल आवश्यकता पड़नेपर ले जाऊँगा।' यह कहकर मैं वहाँसे चला आया क्योंकि मुझे उस समय भगवान्की यह वाणी याद हो आयी थी—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

(गीता ५। २२)

अर्थात् 'अनन्यभावसे चिन्तित करते करते जो लोग

मेरी उपासना करते हैं, उन अपनेमें नित्ययुक्त हुए पुरुषोंका मैं योगक्षेम वहन करता हूँ।' दूसरे मनुष्योंको पुरुषार्थकी आवश्यकता पड़ती है। भगवान्के ऊपर यथार्थरूपसे निर्भर करनेसे ही मेरे पुरुषार्थका अन्त हो गया, फिर मेरे छिये जो श्रेय होगा, वह प्राप्त ही करें। उस समय शिवके ऊपर अभिमान हो आया और मैंने मनमें निश्चय कर लिया कि उन्हींके भरोसे रहूँगा, जो कुछ होना होगा, हो जायगा। वह सर्वज्ञ प्रभु मानो मेरे निवेदनकी ही बात देखते थे। अभी एक घण्टा भी नहीं बीता था कि इतनेमें एक मनुष्यने मुझे पुकारकर कहा—'महाराजा कासिमबाजार आपको बुला रहे हैं।' मैंने दूसरे दिन प्रातःकाल उनसे मेट की, उन्होंने मुझसे पूछा कि 'आपका वेतन कितना है और कबसे हमारे यहाँ कार्य (Vice-Principal Polytechnic Institute of Maharaja Kasimbazar में) कर रहे हैं। मैंने उनसे कहा कि 'मैं छः माससे कार्य कर रहा हूँ। फिर उनके यह पड़नेपर कि कितने रुपयेमें मेरा काम चल सकता है, मैंने कहा कि २००) मासिक मेरे लिये यथेष्ट होगा। उन्होंने कृपा करके मुझे डेढ़ सौ रुपये मासिक देनेके लिये कहा। मेरा सब दुःख दूर हो गया। इस वेतन-वृद्धिसे मेरा Credit बढ़ गया, लोग मुझे ऋण देनेपर राजी हो गये, क्योंकि मेरी आमदनी अब ११०) से १५०) हो गयी थी। घण्टेभरके निवेदनसे ही यह कार्य हो गया। दूसरे लोग हमें काकतालीय संयोग कह सकते हैं। किन्तु जिसका अपनी स्त्रीके साथ ऐसी बातचीत होनेपर पुरुषार्थकी असाध्य जानकारी हमप्रकारके निवेदनसे फल मिल गया वह प्रभुकी कृपाके सम्बन्धमें कदापि अविश्वास नहीं कर सकता। यही मेरी माताकी शिक्षा है। मैंने बारम्बार इसको अजमाया और अन्ततः कभी विफलमनोरथ नहीं हुआ। किन्तु यह याद रखना चाहिये कि प्रभु करेंगे वही, जो मङ्गलजनक होगा। हमारी प्रार्थना हमारे इष्टके प्रतिकूल भी हो सकती है। शिव हम बातको समझते हैं, हम नहीं समझते। इसीलिये बहुधा हम अपने इच्छानुसार फल न पानेपर उस सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्की दोष देने लगते हैं।

१६१६ ईस्वीके ग्रीष्म कालमें मेरे बड़े आई साहेबने मुझे एक शाखग्रामकी मूर्ति देकर कहा कि 'भारायणकी पूजा करनेसे एक ही महीनेमें विशेष मङ्गल होगा तथा यथार्थतः कोई असङ्गल न होगा।' मैं पूजा करने लगा, पर

मङ्गल अमङ्गलकी बात भूल गया, जिस दिन एक महीना समाप्त हुआ उस दिन मेरी जीने सवरे ही मुझसे कहा— 'जेठजीके कथनानुसार आज एक महीना पूरा हो गया परन्तु कुछ भी तो नहीं हुआ।' मैंने कहा— शाकग्रासजीकी मूर्तिये मेरे भगवान्का नामकीर्तन तो हुआ ही है, यही मङ्गलमय है। तथा—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।

स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥

(गीता १।२१)

अर्थात् 'श्रेष्ठ व्यक्ति जो-जो आचरण करते हैं, साधारण लोग भी वही-वही कर्म करते हैं। वह जो प्रमाणित करता है इतर लोग उसीका अनुवर्तन करते हैं।'।

'मैं नारायणकी सेवा करता हूँ, हुये देखकर हमारे बाल-बच्चे भी भगवत्कीर्तन करेंगे, यही परम लाभ है। तथा वह बात भी याद रखनी चाहिये कि मैं प्रभुके शरणागत हूँ, अतएव यह भी हो सकता है कि उनकी विशेष कृपासे मैं किसी महान् विपत्तिये बच गया हूँ। विपत्ति आकर चली गयी हो और उनकी कृपासे मुझे उसका कुछ पता भी न लगा हो। अतएव भाई साहबके वचन सभी प्रकारसे सत्य ही तो हुए हैं।' ये बातें हो ही रही थीं कि मेरा बच्चा लड़का आया और गङ्गा-स्नानको जानेके लिये मुझसे अनुमति माँगने लगा। इसके बाद दूसरे और तीसरे लड़केने भी आकर गङ्गा-स्नानके लिये अनुमति चाही। मैंने कहा, 'आज मेरा मन तुमलोगोंको स्नान करनेके लिये जाने देना नहीं चाहता।' इसी बीचमें मेरे टाइपिस्ट श्रीलेन बाबू आ पहुँचे तथा अपने साथ लड़कोंको गङ्गा-स्नानके लिये भेजनेका अनुरोध करके वे उन्हें साथ ले गये। लगभग दो घण्टे बाद देखता हूँ कि मेरे लड़के तथा श्रीलेन बाबू धूलि-धूसरित शरीरसे मेरे सामने आ खड़े हुए। पृष्ठनेपर उन्होंने कहा कि हमारे अगस्तकुण्डकी एक गलीके कोनेपर आते ही एक चार-तला मकान हमारे सामने ही फटकर क्षणमात्रमें गिर पड़ा और दो-चार सेकण्ड भी यदि हम आगे बढ़े होते तो चारों आदमी दब गये होते और घरभरको सड़के लिये शोकसागरमें डूबना पड़ता। उस मकानके गिरनेसे तीन आदमी, एक बच्चा और एक सौंठे से पाँच प्राणी मर गये।

शाकग्रासजीकी पूजाका सुफल प्रत्यक्ष हो गया। यह क्लृप्त समय मैंने अपने दूसरे और तीसरे लड़केको अलग-अलग ले आकर पूछा कि बौं तो भगवान् सदा ही मुझपर दया करते हैं किन्तु कब उन्होंने सबसे अधिक कृपा की है? इसके उत्तरमें दोनोंने बिना एक दूसरेसे पूछे इसी घटनाको सर्वप्रधान कृपापूर्ण बतलाया।

आज छः वर्ष हुए मेरा एक लड़का कृष्णनारायण १ वर्ष १० मासकी उम्रमें काशी-लाभकर मुक्त हो गया। मेरी जीने उसके शोकमें आहार त्याग दिया। एक ग्लास शर्बत और आधमेर दूधपर दो वर्ष रहनेके बाद उन्हें भवानक बीमारी हो गयी। मुखसे अत्यन्त दुर्गन्धमय कार निकलने लगी। सारे सन्निधस्थान केशके समान काले हो गये; यहाँतक कि जीभतक काळी हो गयी। यहाँके सभी अच्छे-अच्छे डाक्टर देखकर कुछ भी नहीं निश्चित कर सके। कलकत्तेके भी खास-खास डाक्टरोंने देखा परन्तु कुछ भी फल न हुआ। दिनमें जब दो-तीन बार नाकी छूट जाया करती थी, ऐसे समय काशीके प्रसिद्ध साधु महात्मा श्रीहरिहरबाबाके उपदेशके अनुसार एक दिन शनिवारके प्रातःकाल मैंने जीने कहा—'तुम यदि एक काम करो तो उससे आज ही कोई ऐसा अच्छा डाक्टर, कविराज अथवा अच्छी औषध प्राप्त हो जायगी, जिसमें तुम्हारा श्रेय होगा वही होगा।' उनके यह पृष्ठनेपर कि मुझे क्या करना होगा, मैंने कहा कि, 'बस, केवल राम राम जप करो।' उन्होंने समझा कि शायद मेरा सृष्ट्यु-समय समीप होनेके कारण ही यह ऐसा कह रहे हैं। किन्तु मैंने उस भावसे नहीं कहा था। मैं जानता हूँ भगवान् कहते हैं—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।

आर्तो बिद्धानुश्रयोर्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥

(गीता ७।१६)

अर्थात् 'हे भरतर्षभ ! हे अर्जुन ! सुकृतिशास्त्री चार प्रकारके व्यक्ति मुझे भज्ना करते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी।' मुझ-जैसे संसारी मनुष्य Priviledge अथवा अधिकार केवल आर्त होनेपर ही है। श्रीरामने मुझको इससे ऊँचा अधिकारी नहीं बनाया। हमारे न चाहनेपर भी वे कृपा करते हैं, इसपर हम उनकी ओर नहीं देखते। कारण यही है कि अत्यन्त तमभावने हमको घेर रक्खा है, अतः अब कोई उपाय नहीं है।

मध्याह्नके ११ बजे उनकी नाड़ी छूट गयी। अब उनको रामनाम लेनेमें भी असमर्थ देखकर मैंने सारी अवस्था श्री-रामके प्रति निवेदन कर दी। इसी ताड़ी छोड़नेकी अवस्थामें सन्ध्याके समयमें अचानक Captain J. M. Gupta M. B. महाशय (जिनके साथ अबतक केवल दो ही दिनका परिचय था) मोटरसे आये और मकानमें ऊपर आकर मुझमें कहने लगे—'I came to you as a friend and not in my professional capacity' 'आपके एक द्वात्रके द्वारा मैंने सुना कि आपकी बी अत्यन्त पीड़िता है, इसे सुनकर मुझमें रहा नहीं गया। मनमें आया कि आप निश्चय ही डाक्टरको दिखलाते हैं, ऐसी अवस्थामें Professional etiquette के लिये बिना बुलाये जाना उचित नहीं है, परन्तु भीतरमें एक ऐसी आवाज आयी जिससे मैं रुक न सका। इसीलिये मैं उन्हें देखनेके लिये आया हूँ।' मैंने तत्काल अपने बन्धु डाक्टर अमरनाथ बन्दोपाध्याय महाशयको भी बुला लिया। दोनोंने मेरी बीको देखा और गुप्त महाशयने कहा—'भीमबाबू क्या चाहते हैं?' मैंने कहा—'इन्हें लखनऊ ले जाया जा सकता है या नहीं।' उन्होंने उत्तर दिया Pulse (नाड़ी) ही नहीं है, दरवाजेमें बाहर निकालते ही Heart fail हो जायगा और मणिकर्णिकाको जाना होगा। मैंने कहा कि 'आप जो अच्छा समझें वही करें।' फिर गुप्त महाशयने कहा—'मैंने परिचर्या करनेवालोंमें पूछा था, उन्होंने बतलाया कि आज कुल एक तोछा पेशाब हुआ है, और एक तोछा दूध भी नहीं पिया है। कई दिनोंसे नींद नहीं आयी, अतएव जिसमें नींद आवे और प्रातः कुछ भूख लगे, वही उपाय करना उचित है।' तत्काल ही उन लोगोंने विचारकर औषध दी और उसी सन्ध्याको नींद आ गयी। दूसरे दिन प्रातः रोगिणी भूखके कारण कुछ खानेके लिये भाँगने लगीं। डाक्टर गुप्त दूसरे दिन प्रातः-काल आकर बोले कि 'कल बीमारीको बिना ही समझे दवा दी थी। अब यह देखना चाहता हूँ कि क्या बीमारी है और इसमें कौन-सी औषध देनी चाहिये।' मैंने उनको पहले दिनकी सारी बातें कह सुनायी और कहा 'कल भगवान्ने औषध दी है, अब आप भूख भी उठाकर दे देंगे तो यह बच जायगी।' उन्होंने परीक्षा करके कहा कि रोग Typical Scarvey है। कहना नहीं होगा कि बीरामकी कृपासे और उनकी चिकित्सामें मेरी बी अत्यन्त शीघ्र रोगमुक्त हो गयी। मेरी बी बीरामकी कृपासे ही अन्ध

हुई, इस बातको डाक्टर अमरनाथ बाबू भी मुक्तकरके स्वीकार करते हैं। क्योंकि उस अवस्थामें रोगीको अच्छा करना मनुष्यके लिये असाध्य था।

मनुष्यका मन अत्यन्त दुर्बल तथा साधारणतः अकृतज्ञ है। इसलिये जो हो गया है उसे बहुतेरे Chance या काकतालीय संयोग कहेंगे। परन्तु इसी विश्वासके ऊपर अर्थात् भगवत्कृपाके ऊपर मैंने एक ग्रन्थ लिखा है जो ग्रन्थ किसी प्रकार भी मुझमें नहीं लिखाया जा सकता था। प्रभुने यदि बने अंगलजनक समझा और मुझमें वास्तविक लोक-हित-व्रत देखा तो यह ग्रन्थ प्रकाशित हो जायगा। वे यदि समझेंगे कि उसमें सफल नहीं होगा तो वे सफलमय प्रभु इसको कदापि प्रकाश नहीं करेंगे। सहजधा प्रार्थनीय मेरे शिव कभी अशिव न होंगे। अतएव इसके प्रकाशित होनेपर भी रामकी कृपा, और प्रकाशित न होनेसे भी राम (भगवान्) की कृपा समझकर मैं धन्य होऊँगा। ग्रन्थ आयुर्वेदकी औषध और वृक्षलतादि-सम्बन्धी (Ayurvedic Materia Medica and Pharmacology) है, अभी छपानेसे अनुमानतः १५-१८ खण्डोंमें (प्रत्येक खण्ड ५०० पृष्ठ) समाप्त होगा, इसके लिये मैंने विन्याचल दो वर्ष, हिमालयमें चार वर्ष और अन्यत्र स्थानोंमें प्रायः १२ वर्षतक शास्त्रिक भेषजोंका अनुसन्धान किया है। मैंने इसमें सम्मननः २० वर्षतक १९ घण्टा तथा कुछ वर्ष (प्रायः ५ वर्ष) बीम घण्टे प्रतिदिन परिश्रम किया है। इसप्रकार परिश्रम करना मैंने चायबागानमें सीखा था। इतिनिघर होते हुए आयुर्वेदकी औषध-सम्बन्धी पुस्तक लिखनेमें मेरा प्रयोजन केवल भगवान्-इच्छा ही है। इसके लिये पहाड़की कन्दराओंमें छः वर्ष घूमना पड़ा। उनकी कृपा न होनेसे इसप्रकार परिश्रम-साध्य विषयमें कभी मैं योग नहीं दे सकता था।

परम भावसे विश्वास करनेसे ही वह जीवनको आकर्षण कर लेता है और तभी सत्किरी प्राप्ति होती है। इसमें भक्तिकी मात्रा बहुत ही कम है किन्तु यही होमियो-पैथिक हाई डेक्लेशनके समान कार्य करती है, इस बातको मैंने प्रत्यक्ष देखा है। अनाथ-बन्धु भगवान् नीनोंके ऊपर बर्षा दया करते हैं, मैं जानता हूँ कि मेरे कोई सहारा नहीं है, इसीसे प्रभुने इतनी कृपा की। मैंने देखा कि आयुर्वेदीय औषधियोंमें बड़ी गड़बड़ मची है, एकके स्थान-में दूसरी ही चीज व्यवहारको लायी जाती है, इसीलिये

ओषधि-निर्णयका भार भगवान् ने मेरे ऊपर दे दिया । यही समझकर यह परिश्रम किया गया । मैंने कभी सोचा ही नहीं कि मेरी पुस्तक प्रकाशित होगी या नहीं, अथवा इसे कोई पढ़ेगा या नहीं । पीछे जब पुस्तक प्रायः समाप्त हो चली तो मैंने देखा कि इस पुस्तकको सवित्र प्रकाशित करनेमें चार लाख रुपये लगेंगे । तब मैं कई देशी नरेशोंके पास गया परन्तु कहीं भी सफलता नहीं हुई । मैंने समझा कि मेरा काम अभी श्रीरामके मन-सायक नहीं हुआ । कुछ और धारा तथा परिश्रम नहीं करनेसे साधना सिद्ध होनेवाली नहीं है । किन्तु यदि मैं पहले जानता कि चार लाख रुपये न होनेसे यह ग्रन्थ प्रकाशित न होगा तथा

यदि मुझे इस ग्रन्थके प्रकाशनसे यश किंवा अर्थ-प्राप्तिकी आशा रहती तो कदापि इस ग्रन्थके लिखनेमें इतना कठोर परिश्रम नहीं करता । भगवान् की कृपासे ही इसप्रकारके भाव मेरे मनमें नहीं उठे थे । उनके प्रीत्यर्थ ही मैंने इस काममें हाथ डाला था, प्रकाशित होनेके लिये नहीं ।

शिवने चायबागानसे लौटे हुए कुलीके द्वारा ३० खयबों-में ऐसे ग्रन्थ लिखवाये, जिनके छपनेपर १५००० पृष्ठ हो सकते हैं । इसके लिये मैं उनको सहस्रों बार प्रणाम करने हुए कहता हूँ कि—

मूकं कराति वाचले पंगुं लंघयंत गिरिम् ।

यत्कृपा तमहं बन्दे परमानन्दमाधवम् ॥

(३६) श्रीनलिनीमोहन सान्याल एम० ए०

१—इस विश्व-संसारके प्रत्येक अंशका—चाहे वह जड़-जगत् हो, चाहे जीव-जगत्, चाहे मनुष्य-समाज—अभीर्भाति निरीक्षण करनेसे हमें इस बातका अनुभव होता है कि यह ठाट किसी विराट् सत्ताका प्रकाश है । इसके छोट-से-छोटे पदार्थके भीतर भी जो सृष्टि-कौशल, रचना-नैपुण्य तथा अनिवार्य नियमका परिचय मिलता है, उससे स्पष्ट उपलब्ध होता है कि किसी विचारशील सत्ताके द्वारा यह सारा जगत् नियन्त्रित हो रहा है । अतएव हमारे सुख-दुःख उसीके अधीन हैं । जब इस बातकी अनुभूति होती है, तब बच्चे जैसे माताकी गोदका आश्रय मिलनेसे अपने आपको मय-धुन्य तथा परम सुखी समझते हैं, वैसे ही इस विपद्-संकुल अव-सागरमें हमारा एक आश्रयदाता है, यह समझकर हम निःशङ्क हो जाते हैं और सन्तोष अनुभव करते हैं, अतएव हमें ईश्वरपर विश्वास रखना अत्यन्त आवश्यक है ।

२—यदि ज्ञान-बुद्धि-विचार-सम्पन्न कोई महान् सत्ता इस विश्वकी चालक न हो, तो क्या यह अनियमसे ही चल रहा है, क्या यह आकस्मिकताका ही कौल-क्षेत्र है ? यदि ऐसा ही होता, तो मनुष्यकी नैतिक तथा धार्मिक बुद्धि अर्थ-हीन हो जाती और मनुष्य-समाजकी उन्नतिकी राहपर चलनेकी आवश्यकता न रहती ।

३—ईश्वर-विश्वास मानव-मनकी एक तीक्ष्ण आकांक्षा है । सभीमें यह मनोभाव पाया जाता है । जब मनुष्य अपने आपको असहाय, निःशङ्क वा व्यथित समझता है, तब वह ऐसे एक देवताको खोजता है, जो उसके दुःखका मोचन कर सकता हो—जिसपर वह निर्भर कर सकता हो । इस देवताकी शरणमें आकर उसे सान्त्वना तथा बल मिलते हैं ।

मनुष्य यह भी चाहता है कि इस जीवनके कष्टोंको झेलते हुए और सत्य तथा शुद्ध राहपर रहते हुए वह उस पार पहुँचेगा तब उसे भविष्य-जीवनमें भी उस देवताका आश्रय मिलेगा, जिससे वह शान्ति और आनन्द-का उपभोग कर सकेगा ।

४—आयुकी वृद्धिके साथ-साथ ईश्वरपर मेरा विश्वास दृढ़तर हो रहा है, और आहन्ते उनके आश्रयमें रहनेकी आकांक्षा बढ़ती जा रही है । मेरे जीवन-कालमें मेरी बहुत-सी प्रार्थनाएँ उन्हींने पूर्ण की हैं । आप भले ही हँसें, परन्तु मैं धीरे-धीरे श्रीकृष्ण भगवान् को हर वस्तुमें अनुभव करने लगा हूँ, यद्यपि मैं अभीतक रिपुओंके वशमें हूँ ।

(४०) श्रीप्रज्ञानपादजी

आपके प्रश्नोंके जवाब देनेके पहले 'ईश्वर' के अर्थके सम्बन्धमें सुस्पष्ट धारणा होनी चाहिये । 'तत्त्व' या 'सत्य' को 'ईश्वर' का 'प्रत्यय' वाचक समझनेसे 'सत्' ही है और वह है 'एक' और 'अद्वितीय' जिसका लिंग—मैं हैं । शास्त्रीय-भाषामें कहनेसे—

‘एकमेवाद्वितीयम्’

‘सैऽहमस्मि ।’

अ. भी कुछ कहा जाय, सब कहनेके मूलमें, सब अपेक्षिक (Relative) सत्यके आधार-स्वरूप, मैं हैं निरपेक्ष (Absolute), पारमार्थिक सत्य । मेरे अस्तित्व-के ऊपर ही 'सब कुछ' (मुझमें अलग, आग्नेतर) का अस्तित्व निर्भर करता है । मैं ही 'सब कुछ' की 'पृथ्वी' हूँ । मैं अपनी 'महिमा' में (स्वे महिम्नि) मैं स्थित हूँ । परिहरय-मान 'संसार' या 'भव' के भीतर ओतप्रोत होकर 'स्थिर' या 'अचञ्चल' मैं स्थित हूँ । सुतरां मुझमें 'अलग' कुछ है नहीं, जो सब मात्स्य होते हैं—वे सब ही सिर्फ 'मानो' हैं—'हैं नहीं', सिर्फ 'मानो' हैं । सब कुछ मेरी ही 'महिमा' है । मैं जैसा चाहूँ (यदि मैं चाहूँ तो) वैसा ही हो जाय, क्योंकि मेरे अतिरिक्त और कुछ न रहनेके कारण मेरे संकल्पके विरुद्ध कुछ बाधा हो नहीं सकती । मेरा प्रभाव अप्रतिहत है । जब मैं कुछ 'चाहने-वाला' 'सङ्कल्प करनेवाला' मालूम होता हूँ—उस समय मेरे क्रियाशील रूपका उद्भव होता है,—अर्थात् 'मन' का उद्भव होता है । वह मन 'अहम्' का अभिमान करता है, अतः उसके साथ 'अहंकार' युक्त रहता है; यही अहंकार अथवा मन 'अभिविवेश' के कारण क्रमशः अपने 'व्यापक' रूपमें हटते-हटते मानो सीमावद्ध स्वरूपको प्राप्त होता है । उस समय वह अपने व्यक्त, खण्ड, बुद्ध रूपको ही अपना सत्य रूप समझकर अपने अव्यक्त, अनन्त, वृहत् सत्य रूपको भूल-सा जाता है । अतः वह अपनी असहाय, उपाधिभुक्त अवस्थामें विह्वल होकर अपनेमें अतिरिक्त, आग्नेतर किसी सर्वशक्तिमान् तयाकथित ईश्वरकी कल्पना करता है और उसमें 'शक्ति', 'दया', 'बल' आदिके लिये प्रार्थना करना है । परन्तु वह कभी भी अपनी सत्य स्थितिमें, जो कि अनन्त, अप्रतिहत-शक्ति है, अलग न हो सकनेके कारण, अभी उसके अन्दर 'वीज संकल्प'

थयवा किसी विषयके लिये 'तीव्र इच्छा' का उद्भव होता है, तभी उसके सारे अस्तित्वके अंगोंमें शक्तिका स्फुरण होता है,—उस शक्ति-स्फुरणसे, उस इच्छासे उसका अव्यक्त, अनन्तशक्ति, सर्वव्यापक मन जग जाता है और उसकी उस 'तीव्र इच्छा' के अनुसार काम हो जाता है । सुतरां काम वह स्वयं ही करता है—पर, अपने अज्ञानके कारण, अपने अव्यक्त रूपका ज्ञान न रहनेके कारण वह उस कामका कर्ता अपनेमें अलग, आग्नेतर ईश्वरको समझ लेता है—यदि वह काम प्रिय हो । कामके 'अप्रिय' होनेसे उसका कर्ता ईतान है, ऐसा समझ बैठता है । इस रीतिमें अपने अज्ञानके कारण, अर्थात् अपने अव्यक्त सत्य रूपके सम्बन्धमें अज्ञानके कारण ही आग्नेतर ईश्वर और ईतानकी कल्पना हो जाती है । किन्तु तत्त्वतः मन ही सब कुछ करता है—सब कुछ मन ही है—'सर्व मन एव' और यह मन सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, अनन्त आदि गुणोंमें (जिन गुणोंका आरोप अज्ञान आग्नेतर ईश्वरपर करता है) भूषित है—जिसका दिग्दर्शन 'शिवसंकल्पसूत्रों' में ['तन्मे मनः शिवसंकल्प-मन्तु'] यजुर्वेद करता है । थोड़ेमें—

मैं हूँ,—ईश्वर मैं ही हूँ । मुझमें अलग और कुछ नहीं है । अतः मैं जैसा चाहता हूँ वैसा ही होता है ! अबश्य यह चाहना मेरा होना चाहिये । इसमें 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' में विरोध न होना चाहिये । 'अव्यक्त' की इच्छाके अनुसार सब कुछ हो रहा है । इस विषयका ज्ञान न रहनेके कारण 'व्यक्त' उसको अपना काम समझ नहीं पाता ।

प्रश्नोंका उत्तर—

१. २. ३—ऐसे ईश्वरपर विश्वास न करना निरर्थक है । अपने अस्तित्वके सम्बन्धमें किसका सन्देह है ? 'सब कुछ' पर सन्देह हो सकता है, परन्तु सन्देह करनेवाके 'मैं' के अस्तित्वपर सन्देह कौन करेगा ?

४—'दया' शब्द निरर्थक है, आशिक दृष्टिका, अज्ञान-का फल है । दया-निष्ठुरता आदि सभी कुछ स्वरूप-दृष्टिमें होते हैं । इस जीवनकी प्रत्येक घटना अपनी तात्कालिक इच्छा (अव्यक्त) से ही सम्भव हुई और हो रही है—यह बात अब सुस्पष्ट है ।

(४१) ह० भ० पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पाण्डारकर बी० ए०, सम्पादक 'मुमुक्षु'

ईश्वर-विश्वास प्रकाश है, और अविश्वास अन्धकार है; इसमें एक भावात्मक वस्तु है और दूसरी इसके विपरीत केवल अभावात्मक। मैंने अपने सारे जीवनमें प्रायः प्रकाशमें चलनेकी चेष्टा की है और इसीलिये अन्धकार-पर विचार करना भी मेरे लिये अत्यन्त कठिन है। ईश्वर-में विश्वास ईश्वर-प्राप्तिकी पहली सीढ़ी है। यह वाणीका विषय नहीं, बल्कि रहस्यमय आनन्दका विषय है; और इस विषयमें मैं अपनी असमर्थताका अनुभव करता हूँ। तथापि उस मराठी कविके अनुसार कि 'पक्षिगण विमृत् आकाशमें अपनी शक्तिके अनुसार ही उड़ते हैं, उसी प्रकार मनुष्य भी अपनी शक्तिके अनुसार (अनन्तशक्तिसम्पन्न) भगवान्‌का चिन्तन अथवा गुण-कीर्तन करते हैं' मेरे समान पामर जीव उस प्रयत्नमें लगनेका साहस करता है, जिसमें तुलसीदास और तुकाराम-जैसे महान् सन्त असमर्थता प्रकट करने हैं! भगवन्-सङ्गति या प्रार्थना आरम्भका मंगल-मुर है, उससे गायक भक्त पवित्र और तहोनी हो जाता है।

मेरे सामने चार प्रश्न रखे गये हैं—

इनमेंसे पहले तीन प्रश्न एक-मे हैं और आत्मिकता अथवा नात्मिकतासे सम्बन्ध रखते हैं; चौथा प्रश्न वैयक्तिक है और अधिक उत्कृष्ट है। मेरे विचारमें तर्क, युक्ति अथवा हेतुबोधोंमें नात्मिक पुष्ट आत्मिक नहीं बनाये जा सकते; और न तर्कद्वारा आत्मिक ही आत्मिकताकी ओर बढ़ता है। तर्कद्वारा हम प्रेम नहीं करते। हम विश्वास या प्रेम इसीलिये करते हैं कि वसा क्रिये बिना हम रह नहीं सकते। माता-पितामें हमारे प्रेमका कारण तर्क नहीं है। प्रेम सम्भवतः एक अन्तर्भाव है, जिसकी कुछ मनुष्य साथ लेकर जन्मते हैं और कुछ बिना साथ लिये। भक्त प्रह्लाद-के विषयमें कहा जाता है कि भगवान्‌में उनका स्वाभाविक प्रेम था—'तस्य नैसर्गिकी रतिः' एकनाथ महाराज कहते हैं कि वह जन्मसे भक्त थे, जन्मसे ही वह भगवत्-प्रेमी और भगवान्‌के सेवक थे। सम्भव है वह पूर्व जन्मोंके सुकर्मोंका फल हो। शुद्ध, स्वाभाविक और निर्दोष प्रेम एक (ईश्वरप्रदत्त) उपहार है। कहा जाता है कि कवि वीर और दार्शनिक उत्पन्न होते हैं, बनाये नहीं जाते। इसलिये विशिष्टरूपसे भगवान्‌का प्रेमी भी प्रेमको साथ

लेकर ही उत्पन्न होता है। इससे यह कदापि नहीं समझना चाहिये कि अविश्वासी पुरुष कभी विश्वासी बन ही नहीं सकता। मैं एक ऐसे मनुष्यको जानता हूँ जिसने पचास वर्षोंतक ईश्वरकी उपासना करते हुए पापमय जीवन बिताया। अचानक उसका परिवर्तन हुआ और अपने जीवनके अन्तके दस वर्षोंको उसने यथार्थतः ही सन्त-जीवनके रूपमें बिताया। मेरा विचार है कि कष्टर मे-कष्टर नात्मिक भी ईश्वरमें विश्वास, यहाँतक कि प्रेम भी कर सकते हैं। कोई भी ऐसा पापी नहीं हो सकता जो सन्मार्गपर न आ सके और कोई ऐसा नात्मिक नहीं हो सकता जो आत्मिकताकी ओर न लौट सके। ऊपर जिस मनुष्यका मैंने सङ्केत किया है, उसे अचानक एक धर्मात्मा योगिके सत्सङ्गता सुभ्रवसर मिला और वह छः महीने उनके साथ रहा, अन्तमें एक दिन प्रातः-काल वह पापी एक सन्तके रूपमें परिणत हो गया। मेरा कथन यह है कि नात्मिक पुरुष तर्क और युक्तियोंमें नहीं बल्कि ईश्वर-प्रेमी और धर्मात्मा पुरुषोंके सहवासमें ही आत्मिक बन सकता है। सत्यज्ञ या भगवत्प्रेमी पुरुषोंका सहवास एक महती क्रियात्मिक शक्ति है जो चट्टानोंका तोड़-फोड़कर उसपर पवित्र जलका सोता बहा देती है। अजामिल, अघासुर, वज्रवधू, बकासुर, पिगला प्रभृति इसके उदाहरण हैं। रामायणके प्रणेता महर्षि वाल्मीकि इसके सुन्दर उदाहरण हैं। यहाँतक कि गोस्वामी तुलसीदासजी भी अपनी स्त्रीके उपालम्भमें सत्यधको प्राप्त हुए हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने ठीक ही कहा है कि—

‘बिनु सत्सङ्ग विवेक न हार्द’।

ईश्वरमें विश्वास करना ईश्वर-प्राप्तिकी प्रथम सीढ़ी है। श्रद्धा, भाव, विश्वास, निष्ठा इन सबका एक ही अर्थ है—ईश्वरके अस्तित्वमें अचल विश्वास। श्रद्धाहीनता ईश्वर-प्राप्तिके समस्त साधनोंपर पानी फेर देती है। विश्वाससे भगवान्‌में भक्ति, रति या प्रेम होता है। भगवान् और भगवान्‌की सृष्टिमें प्रेम ही भक्ति है। श्रद्धा ही ईश्वरीय ज्ञानका द्वार है—‘श्रद्धाबोद्धमते ज्ञानम्’ कहा है, ‘तर्कवान् लभते ज्ञानम्’ कदापि नहीं। समस्त तर्क और युक्तियाँ उसके सामने क्षीण हो जाती हैं, अथवा उसमें लीन हो जाती हैं, वह इन सबसे परे है—‘यो बुद्धेः परतस्तु सः’।

वह बुद्धि, मन तथा इन्द्रियोंसे परे है। जब तुम एक बार उन्हें प्राप्त कर लो, तब बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ और शरीर, यही क्यों, अखिल विश्व उसके द्वारा परिचालित तथा उसीमें स्थित अनुभूत होगा। वस्तुतः प्रभुके सिवा कुछ ही ही नहीं। बस, केवल एकमात्र ईश्वर ही हैं। वही सब कुछ हैं। अपने आपको उसमें मिटा देना ही ईश्वर-प्राप्ति है। श्रवणिका 'नासदीयसूक्त' और भगवद्गीताका 'ज्ञेय' (अध्याय १५ श्लोक १२ से १८) जहाँतक शब्दकी शक्ति है वहाँतक ईश्वरके परम सत्य भावको अभिव्यक्त करते हैं। यद्यपि ईश्वर भावना नहीं बहिक सत्य तत्त्व है। उसकी प्राप्तिके लिये उच्चतम साधना आवश्यक है। उसके लिये मनुष्यको किसी मार्गका अनुसरण करना होगा। केवल जानने और विचारनेसे ही काम नहीं चलेगा, बहिक जीवन और आचरणमें उसमें होना और बनना पड़ेगा। भक्ति या प्रेमके द्वारा आप उस सगुण और निर्गुणस्वरूप परमात्मामें एकत्वको प्राप्त हो सकते हैं। एक ही अनेक है और अनेक ही एक है। अच्छा, वह मार्ग कौन-सा है? आपको कहाँ मिलेगा? कौन उसे दिखावेगा? जो उस मार्गमें जाकर वहाँ पहुँचे हैं, उनके सिवा कौन उस मार्गको दिखा सकता है? केवल सन्त-महर्षि ही उस मार्गको दिखा सकते हैं। स्वानुभवके बलपर वह बतलाते हैं कि ईश्वर तुम्हारे भीतर है, उसको खोजो। मार्ग और साध्य दोनों एक ही हैं। उपनिषद्, गीता, भागवत, संसारके समस्त धर्मग्रन्थ, तथा साधु-महर्षिओंके लिखे ग्रन्थोंका व्याख्यान, नियम दैनिक सन्ध्या, पवित्र मन्त्रों और तीर्थोंका दर्शन करना, वृषित ग्रन्थों, मनुष्यों और सम्भाषणोंमें बचना—यह समस्त साधकोंके लिये (विशेषकर प्रारम्भिक साधकोंके लिये) कुछ आवश्यक साधनाएँ हैं। इनमें आत्मा पवित्र होता है, बहिक यह प्रतीति होती है कि आत्मा सदा ही पवित्र है। ईश्वरका स्वागत करनेके लिये अपने हृदयरूपी मन्दिरका द्वार खोल दो और फिर देखो कि वह वहाँ पहुँचने ही मौजूद है। तुम्हारे शरीर-यन्त्रका सञ्चालक भी तो वही है। जैसे भक्त भुव कहते हैं—'जो मेरी रसनामें वाणीका सञ्चार करता है, हाथ और पैरोंको चलाता है, मुझे शब्द-श्रवणके योग्य बनाता है, तथा मेरे समस्त शरीरमें व्याप्त है उसको मैं देखता हूँ—उसके लिये मेरा नमस्कार हो।' ईश्वर हमारे भीतर है और

बाहर भी। समस्त धर्म साधन हैं। यहूद्वारको नष्ट करके यह अनुभव करना कि केवल वही एक है और वही सब कुछ है, साधन कहलाता है। वही व्यापक और व्याप्य है, वह साकार है और निराकार है। वह सगुण है और निर्गुण है। वही उपास्य और उपासक है। वही सब कुछ है। वह 'सत्यं शिवं अत्रैतं' है। विश्वास, श्रद्धा, प्रेम तथा अनुभूति आत्माके लिये अत्यन्त ही शक्तिप्रद और आनन्दप्रद होते हैं। ईश्वर-विश्वासी सहज ही आन्तरिक शत्रुओंका सामना करता है और शक्तिसम्पन्न होता है। नास्तिकका अवलम्बन क्या हो सकता है? तन, धन, जन और मित्र समय पड़नेपर नहीं ठहरते। बेचारा नास्तिक अकेला पड़ जाता है? आस्तिकके लिये भगवान् उसकी शक्ति तथा आनन्दके लग्न होते हैं। 'संशयात्मा विनश्यति' और 'न मे भक्तः प्रणश्यति' ये दो दिशाएँ हैं, इनमेंसे तुम जो चाहो, चुन सकते हो।

भगवान् ने दुनियाके महान् ग्रन्थ भगवद्गीतामें अपने अर्थोंको बहुत-से आध्यात्मन-वाक्य दिये हैं—

- (१) 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' १/१२/२२
- (२) 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' (१०/१०)
- (३) 'तेषामज्ञानं तमः—नाशयाम्यसमावृत्यः' (१०/११)
- (४) 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्' (१२/५)
- (५) 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' (१८/११)

आत्मिकके लिये स्वयं श्रीभगवान् इसप्रकार अपने ऊपर जिम्मेवारी लेते हैं। परन्तु नास्तिकके लिये कोई आधार नहीं है! उसे किसके द्वारा और कहाँसे सहायता मिल सकती है? आस्तिकके लिये भगवान् के ये आध्यात्मन क्लेशनिर्मुक्तिके समान हैं और वह इनके भीतर जगत्प्रभुके द्वारा रचित हुआ सुखमें विश्राम करता है। भगवद्भक्त और भगवन्-प्रेमी माता-पिताकी सन्तान होनेके कारण धार्मिक वातावरणमें पाले-पोसे जाने तथा अपनी सुदूर और विस्मृत यात्राओंमें धार्मिक पुरुष-स्त्रियोंके सत्सङ्गमें रहनेके कारण, एवं आध्यात्मिक साहित्यके अध्ययनका व्यवसाय होनेके कारण मुझे कभी ईश्वरके अस्तित्वमें विश्वास

करनेके लिये तर्ककी आवश्यकता नहीं पड़ी। मैं सदा ही अपने शरीरके रंग-रगमें उसके अस्तित्वका अनुभव करता था। उसकी द्वा मेरी मूल-सम्पत्ति है, उसकी कस्या मेरा कवच है, उसका चिन्तन मेरा परम आनन्द है, तथा उसके भक्तोंके साथ सम्भाषण मेरा स्वर्ग है! क्या मछली-की पानीसे प्रेम करनेके लिये शिक्षा देनेकी आवश्यकता है? मैं कह चुका हूँ कि भक्त प्रह्लादका ईश्वरके प्रति नैसर्गिक (स्वाभाविक) प्रेम था। अपने लिये ऐसा कहना असंभव जान पड़ता है; परन्तु इसमें सत्यताकी कुछ भी कमी नहीं। जिसप्रकार जलकी धाराके साथ पुष्प बढ़ता जाता है उसी प्रकार मेरा मन भक्ति-गङ्गाके प्रवाहमें प्रवाहित होता चला जा रहा है। मैं भगवान्में विश्वास और भक्ति रखता हूँ। सम्भव है कि मुझे कट्यकी प्राप्ति देरमे हो, परन्तु सन्त-महारमाओंद्वारा सम्मोहित भगवद्भक्तोंकी सेनाका एक तुच्छ सिपाही होनेमें ही मुझे पूरा सन्तोष है। मेरी गाड़ी जो मार्गच्युत हो गयी थी, अब दुरुस्त हो गयी है और अब मैं अपनेको उसकी क्षत्रछायामें सुखी और सुरक्षित पाता हूँ जो मेरी जीवन-रूपी गाड़ीका गाई और ड्राइवर दोनों है। मेरे समस्त तर्क, युक्तियाँ और हेतु बहुत पहले अज्ञाते पात्रमें विलीन हो गये हैं। मेरे मन, बुद्धि तथा आत्मापर उन्होंने अधिकार कर लिया है। बस वही, केवल वही, एकमात्र धकेला वही रह गया है, उसके सिवा और कुछ भी नहीं है। ओह! उसके चिन्तन और प्रेममें कैसा आनन्दका सागर उछल रहा है! कैसा परमानन्दका झोल बढ़ता है!

अब मैं यह स्पष्ट करना चाहता हूँ कि मैं नास्तिकताके चक्करमे किसप्रकार बचा। सन् १८९४ ई० में मैं पूना फर्ग्युसन-कालेजमें पढ़ता था, वह एक परिवर्तनका युग था। प्राचीनताका स्थान नवीनता ग्रहण कर रही थी। हमारे अधिकांश शिक्षित पुरुष पाश्चात्य आचार-विचारसे प्रभावित हो रहे थे। पच्चीस वर्षतक महागङ्गाके शिक्षितोंके मनपर मिस्र, स्पेन्सर और हक्सले शासन करते रहे। हमारे छात्रजी और साजिक (तर्कशास्त्र) के अध्यापक फर्ग्युसन-कालेजके प्रिंसिपल श्रीयुक्त भागरकर महाशय थे। वह एक महान् सज्जन पुरुष थे, तथा सामाजिक सुधारके कर्णधार समझे जाते थे। वह अपने कालेजके विद्यार्थियों तथा साधारण जनतामें अपने सर्वप्रिय पत्र 'सुधारक' द्वारा नवीन भावनाओंका प्रचार करते थे।

उन्होंने प्राचीन साहित्य और प्राचीन आचार-विचारोंसे मुक्त मोड़ लिया था। वह देश-भक्त थे, परन्तु पाश्चात्य सभ्यताका उनके ऊपर पूर्ण प्रभाव था। मुझे विद्यार्थीके रूपमें उनके साथ छः वर्षोंतक रहना पड़ा। वह सुलभसुलहा नास्तिकवादका प्रचार करते थे। हिन्दू-धर्म, शास्त्र और प्रत्येक प्राचीन बातके प्रतिकूल उनके लेखोंका नवयुवकोंके ऊपर बड़ा ही प्रभाव था और अन्ततः नैतिकता के उनके प्रधान अन्त थे और उनके द्वारा बड़ी ही निष्ठुरतासे उन्होंने प्राचीन आचार-विचारके ऊपर आक्रमण किया था। उनकी प्रेरणासे अविश्वास (नास्तिकता) का जादू मुझपर भी काम कर गया। मैंने सोचना आरम्भ किया कि संसार बिना ही ईश्वरके निरालम्ब है। मेरा मन ईश्वर-विश्वास और अविश्वासके बीच विचलित होने लगा। मेरे घर और कालेजके प्रभावोंमें परस्पर युद्ध मच गया। नास्तिकताकी गोदमे अज्ञानकी ओर जाते समय एक वर्ष-तक मुझे व्याकुलता और विषादका अनुभव होता रहा। मैं निराश, संशयग्रस्त और किंकर्तव्यविमूढ़ बना रहा। परन्तु मैं तो अज्ञा, सन्तोंके जीवन और सन्त-साहित्यके प्रचार तथा पुनरुद्धारके लिये नियुक्त किया गया था, अतएव भगवान्ने मुझे नास्तिकताके मार्गसे निकालना चाहा। एक दिन सायंकालके समय मैं पूनासे ३० मील दूर एक पहाड़ीके शिखरपर ध्यान कर रहा था, मैं अचानक इस परिवर्तनशील दृश्य जगत्की नश्वरतामे निकलकर निर्यथ निर्विकार ब्रह्मावस्थामें जा पहुँचा। आधे घण्टेतक मैं अपने आपको पूर्णतया भूल गया और पूर्णानन्दमें निमज्जित हो उठा। वह एक प्रकारकी समाधि थी। यहीं मेरे अन्तर्जीवनमें परिवर्तन हो गया। मुझे एक नवीन जन्म प्राप्त हुआ। यह समाधि-दशा मुझे अकस्मात् और केवल भगवान्की दयासे प्राप्त हुई थी। क्योंकि उस समय मैं अपनी ओरसे कोई चेष्टा करनेयोग्य न था। और न वह वह समाधि थी जो योगाभ्यासके द्वारा प्राप्त होती है। मैं पथभ्रष्ट हो रहा था। दयालय प्रभुने मुझे बचाया। मैं अनुभव करने लगा कि प्रभुने अपने आपको सदाके लिये मेरे सामने प्रकट कर दिया। मुझे विश्वासके लिये एक आश्रय मिल गया और मैंने अपने खोये हुए विश्वासको पुनः पा लिया। दूसरे ही दिन मैंने रामदास और तुकारामके ग्रन्थ खरीदे और नवीन दृष्टिमे उनकी भावनाओंमें प्रविष्ट किया। सबसे नीचा और भागबल, ज्ञानेश्वर और एकनाथ,

रामदास और तुकाराम मेरे उरसाह-बन्धक साथी हो गये। अध्ययन और ध्यान, तथा धार्मिक महात्मजोंके सस्पर्शसे मैं अपनेमें शक्तिका अनुभव करता हूँ। मैं उस सुन्दर पथका पथिक हूँ जो ईश्वरत्वकी ओर ले जाता है। मैं आज भी अपने उस पुराने प्रोफेसरको अद्भुत तथा प्रेमकी दृष्टिसे देखता हूँ। मेरे विषयमें किसीको आग्नि न हो, इसलिये मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ कि मुझे अभीतक ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हुई है। मैं अभीतक अपनी उपासनाको ईश्वरीय दयाके साथ दृढ़तापूर्वक बढ़ानेमें समर्थ न हो सका हूँ। इस बातमें मैं अस्थिर और अपराधी हूँ। परन्तु मैं इतना कह सकता हूँ कि विश्वाससे अद्भुतकी ओरका तथा अद्भुतसे ईश्वर-प्राप्तिकी ओरका मार्ग सौम्य, सुखप्रद और आनन्दमय है। ईश्वर सचमुच महान् और दयालु है; हम उसे जितना चाहते हैं उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वह हमें संसार-सागरसे उद्धार करनेके लिये चिन्तित रहता है। वह समस्त दीन-दुखी और विपद्ग्रस्त जीवोंको प्यार करता है, उनके लिये उसकी कृपाका पार नहीं। हमारे अपने कष्टायुक्त लिये वह हमलोगोंमें पूर्ण आत्म-समर्पणकी आशा करता है। वह विवक्षा गोपियोंमें-निःस्वार्थ प्राणियोंमें, जिन्होंने कामनारूपी समस्त वस्त्रोंको दूर फेंक रक्खा है, सदा प्रेम करता है। वह अनुग्रहमें पूर्ण है और माताके वात्सल्य-प्रेमसे भी अधिक प्रेमपूर्वक हमारी ओर देखता है। हमें अपनी ओर बढ़ते हुए देख, वह सदा सहायता करनेके लिये तैयार रहता है। हमें आगे अर्थात् अन्ताराम्याकी ओर बढ़ना चाहिये। वह हमारे समीप है, हमारे भीतर और बाहर है तथा सृष्टिके प्रत्येक रूपमें अभिव्यक्त हो रहा है। वह हमारी उन्नतिकी निगरानी करता है, और हमें अपनी ओर ले जाता है। हम समस्त प्राणियोंके रूपमें उसके साथ प्रेम करना सीखें। हमें आनन्दित होना चाहिये कि हम उस प्रभुके हैं और उसके मोनर हैं। उपनिषद् कहते हैं कि वह आनन्दस्वरूप है—'रसो वै सः।' भगवान् तुकाराम कहते हैं कि वह आनन्द-सिन्धु है।

मुझे अपने प्रारम्भिक जीवनकी एक घटना याद आती है जिसमें ईश्वर-प्रार्थनाकी महत्ता सिद्ध होती है। उस समय मैं केवल आठ वर्षका था। मेरे पिता रामभाट आश्रम धर्मात्मा पुरुष थे। वह प्रतिदिन प्रातःकाल चार

बजे उठते, स्नान करते और फिर गोपहरतक पूजामें बैठे रहते। वह प्रतिदिन सम्पूर्ण गीताका पाठ और विष्णु-सहस्रनामके दस पाठ करते थे। आधुनिक पुरुष उन्हें सम्भवतः शिक्षित 'educated' न कहें, क्योंकि वह ग्रामीण थे और केवल दूरी-फूटी संस्कृत जानते थे, अंग्रेजीसे बिल्कुल अनजान थे। परन्तु जीवनकी पवित्रता तथा धारमाकी अतिक्रि दृष्टिसे वह अद्वितीय थे। उस समय हम पूनामें १६ मील पश्चिम और आलन्दीमें लगभग १२ मील उत्तर एक गाँवमें रहा करते थे। वह वही आलन्दी तीर्थ है जहाँ गीताके प्रसिद्ध भाष्यकार और महाराष्ट्रके प्राचीन कवि और वाशंनिक ज्ञानेश्वर महाराजकी समाधि है। उस आठ वर्षकी अवस्थामें मैं मूच्छाके रोगसे आक्रान्त था, दिनमें मुझे आठ या दस बार मूच्छा आ जाती थी। मेरी माता तथा मेरे दूसरे सम्बन्धी मेरे जीवनमें निराश हो गये थे। मेरे पिता बहुत ही निःस्पृह थे। एक बार वह लोगोंके बहुत कहने-सुननेपर बाध्य होकर पूनाके चतुर डाक्टरोंको दिखलानेके लिये मुझमें ले चले। उन्होंने मुझे बैलगाड़ीमें बिठाया और गाड़ीवानमें पूनाके बदले आलन्दी ले चलनेके लिये कह दिया। इसप्रकार हम आलन्दी पहुँचे। पवित्र इन्द्रायणीमें स्नान किया और ज्ञानेश्वरके मन्दिरमें गये। मेरे पिताने अकिंचन पूजा की और मेरे मिरको श्रीज्ञानेश्वरके चरणोंमें रख दिया, तथा आँखोंमें आँसू भरकर हृदय भरकर जोरमें प्रार्थना करने लगे—'हे ज्ञानेश्वर ! हे मेरी माता ! मैं इस लड़केको तुम्हारे चरणोंमें रखता हूँ। मैं तुमसे बढ़कर कोई उत्तम वेष नहीं जानता और न तुम्हारे चरणतीर्थमें बढ़कर उपयोगी कोई औषध ही जानता हूँ। मैं इस लड़केको तुम्हारी सेवामें अर्पण करता हूँ। तुम्हीं इसके माता-पिता और रक्षक हो, यदि तुम्हारी इच्छा हो तो हमकी रक्षा करो। यह तुम्हारी दयापर छोड़ दिया जाता है।' सच्चे और यथार्थ प्रार्थनाकी प्रार्थना मानी जाती है, उसकी कामना पूरी होती है। मैं शपथपूर्वक यह घोषित करता हूँ कि सबसे मुझे इस भौतिक शरीरमें एक बार भी मूच्छा न आयी। इसप्रकार मैं अपने जीवनमें एक दुष्ट रोगसे बचा था और बचपनमें ही अपने पृथ्वी पिताके द्वारा महाराष्ट्रके अवतार और प्रधान सन्त ज्ञानेश्वर महाराजके चरणोंमें मैं अर्पण कर दिया गया था। ज्ञानेश्वर माताकी जय !



(४२) पण्डित श्रीमदनमोहनजी शास्त्री, प्रि० मारवाड़ी-संस्कृत-कालेज, काशी

(१)

४—यह उस समयकी घटना है जब मैं चौदह वर्षका था । पञ्जाब गया था । वहाँ मेरे ननिहालके लोग आये और मुझे घोड़ेपर सवार कराकर ले चले । मैंने अपने ठाकुरजीको भी साथ ले लिया था । रास्तेमें मेरे अन्य साथियोंने अपने-अपने घोड़े दौड़ाये । मेरा घोड़ा भी उनके पीछे दौड़ने लगा । मुझे सबारी करनेका पूरा अभ्यास न था, इसलिये मैं घोड़ी ही दूर जाकर घोड़ेसे गिर पड़ा । पास ही एक नहर बहने लगने लगी थी, मेरे ठाकुरजी उसमें जा गिरे ।

उठनेके बाद मैंने सबसे पहले ठाकुरजीको खोजा । बहुत छान-बीन की, पर पता न लगा । फिर तो मैं अधीर हो उठा । मेरे साथियोंने मुझे बहुतेरा समझाया-बुझाया, पर मेरी अधीरता बढ़ती ही गयी । वह लोग मुझे समझा-बुझाकर अपने घर गये और मैं अपने मामाके घर गया । परन्तु ठाकुरजीका वियोग मुझे असह्य था । मैं अनाथके समान व्याकुल होकर रोता रहा । मुझे खाने-पीनेकी इच्छा ही नहीं होती थी । मेरे मामाके घरमें सब लोग मेरी इस अवस्थाने बहुत ही उदास हो गये । भोजनके लिये जब उन लोगोंने आग्रह किया तो मैंने कह दिया कि अब तो जबतक ठाकुरजी न मिलेंगे, शराब ग्रहण न करूँगा ।

सन्ध्याको मेरे माता-पिता भी आ गये । मुझे रोता हुआ देखकर उन्होंने मुझे आश्वासन दिया और जबरन दूध पिलाया । दूधके घूँट बड़ी कठिनाईसे मेरे गलेके नीचे उतरने लगे । रोते-रोते सन्ध्या हो आयी और रोते-ही-रोते मैं रातको सो गया ।

सोनेपर मुझे एक स्वप्न द्रष्टव्य पड़ा । एक सुन्दर पुरुष मेरे ठाकुरजीको हाथमें लिये हुए आया और उसने मुझसे कहा—‘‘को अपने ठाकुरजीको । पहचानो तो, यही न तुम्हारे ठाकुरजी ?’’ मैंने उनके हाथसे अपने ठाकुरजीको ले लिया और मैं मन-ही-मन आनन्दित हो उठा । परन्तु नींदके दृष्टे ही न तो वह अनुपम ही रहा और न ठाकुरजी ही मेरे पास रहे । मैं पछताने लगा और फिर मुझे निराशाने आ बेरा ।

दूसरे दिन प्रातःकाल दो घण्टे दिन खदनेपर खबर मिली कि ठाकुरजी मिल गये । घटना इसप्रकार हुई कि जिस समय मेरे ठाकुरजी नहरमें गिरे थे, उस समय उसमें बाढ़ आयी थी । फिर पीछे पानी कम हो गया । वहाँ एक स्त्री अपने एक लड़केको साथ लेकर वस्त्र धोनेके लिये गयी । ठाकुरजीको खोने और मेरे रोनेकी खबर तो पैर ही रही थी, बावजूबत ठाकुरजीको किनारे पाया और उस स्त्रीने उसने उन्हें लेकर एक धाड़मीके द्वारा शीघ्र ही मेरे पास भेजवा दिया ।

अपने खोये हुए ठाकुरजीको पुनः पाकर मुझे जो आनन्द हुआ उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । फिर तो ठाकुरजीकी पूजा करके और उनका प्रसाद पाकर मैं कृतार्थ हो गया । मुझे इस घटनाका वर्णन भोजन समय कर रहा है, कहीं मैं दृग्बन्धीय न बनूँ ।

(२)

करीब साठ वर्षकी बात है । बाबू शिवदयालजी अपनी पत्नीको साथ ले पञ्जाबसे काशी पहुँचे और वहाँ जाकर उन्होंने यह निश्चय किया कि परमात्मा जैसे रक्षक, वैसे ही रहकर निर्वाह करेंगे पर भोक्तृदायिनी काशीको न छोड़ेंगे । महत्ता नीची ब्रह्मपुरीमें उन्होंने एक छोटा-सा मकान खरीदा । साधारण कारोबार शुरू किया और सदाचारपूर्वक सरलतासे भगवान्का भजन करते हुए भगवत्-शरण होकर जीवन बिताने लगे ।

एक दिन रात्रिको उन्हें एक स्वप्न हुआ । आनन्द-कन्द नन्द-नन्दन मुरलीमनोहर श्रीकृष्णचन्द्रजीने उन्हें दर्शन देकर कहा—‘‘भाई ! मैं तुम्हारे सकानकी दीवालमें हूँ । पास ही नाली बह रही है । उसमें बड़ी दुर्गन्ध आती है । मुझे यहाँसे निकालो ।’’ इस स्वप्नके देखते ही शिवदयालजीकी आँखें खुल गयीं । सामने देखा तो वह परम मनोहर मूर्ति गायब है । इस विचित्र स्वप्नसे उन्हें बड़ा ही कुतूहल हुआ । नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प मनमें उठने लगे । सबेरा होते ही उन्होंने कुछ विद्वानोंसे इस विषयपर सम्मति माँगी । एक विद्वान्ने कहा—‘‘भाई ! स्वप्नकी बात है, इसमें क्या कहा जाय ? हाँ, आज भगवान्की प्रार्थना करके सोना, यदि पुनः वैसा ही

स्वप्न हुआ तो कुछ विचार किया जायगा ।' पवित्रताजीको विश्वास नहीं हुआ, उन्होंने यह कहकर सरल शिवदयालु-जीको टाल दिया ।

उन्होंने वैसा ही किया । सोनेके पूर्व पवित्रतापूर्वक शुद्ध हृदयसे भगवान्की प्रार्थना करके सोनेपर पुनः वैसा ही स्वप्न हुआ । भगवान्ने पुनः उसी मनोहर मूर्तिसे दर्शन दिया और बोले—'तुम दूसरे लोगोंसे क्यों पूछते हो ? क्या मैं तुम्हें ब्यर्थ ही आदेश देता हूँ ?'

बस, क्या था ! शिवदयालुजी चौंककर उठ बैठे और भगवत् स्मरण करते हुए उन्होंने ज्यों-ज्यों रात बितायी । प्रातः होते ही राजाजीको बुलाकर मकान खुदवाना शुरू कर दिया । उनके इस कामको देखकर पड़ोसके लोग तरह-तरहकी बातें करने और हँसने लगे । इतनेमें एक मजदूरने जैसे ही दीवालमें एक झटका मारा, वैसे ही शूनेके एक डेलेमें सटी हुई भगवान् बुन्दावन-विहारीछालकी एक मनोहर स्वर्ण-मूर्ति बकायक नीचे गिरी । उस समय वहाँ कितने ही स्त्री-पुरुष-बच्चे खड़े थे । श्रीशिवदयालु-जीकी छोटी कन्या भी, जिसका नाम मुक्तादेवी था, वहाँ खड़ी थी, उसकी निगाह उस डेलेमें चिपकी हुई मूर्तिके ऊपर पड़ी और उसने शीघ्र ही कहा—'देखिये बाबूजी, वह क्या चीज है ?'

शिवदयालुजीने जो भगवान्की उस स्वर्णमयी मनोहर मूर्तिको देखा, वह आनन्दसे उछल पड़े । उनके हृषका पारा-वार न रहा । वह प्रेम-गह्वर हो उठे, झौंझोंसे अश्रुधारा बह लगी । भगवान्की उस मूर्तिको डेलेसे अलग करके बिहानोंको बुलाकर उन्होंने विधिपूर्वक पूजा करके एक घरमें स्थापित किया । उसी दिनसे दरपति श्रीभगवान्की सेवामें तब-मन-धनसे लग गये । दिन-रात ठाकुरजीकी चर्चा और अर्चामें बीतने लगे ।

अब भगवान्की कृपासे उनके व्यवहारमें भी उन्नति होने लगी । कुछ ही दिनोंमें उनके पास काफी सम्पत्ति हो गयी । उन्होंने उस मकानकी चूने ढंगसे बनवाया । चौमासा, सर्दी, गर्मीके छिये ठाकुरजीके निमित्त भौंति-भौतिके सामान, शृङ्गार आदिके समारोहमें ही उनके दिन बीतने लगे । अब तो उनकी निष्ठा इतनी बढ़ी कि जो कुछ करना होता सब भगवान्के आगे निवेदन करते और उनसे जो आदेश होता उसीके अनुसार आचरण करते ।

सुख-दुःख, शादी-गमी सब प्रकारके व्यवहारमें ठाकुरजीकी आज्ञाका पालन करते हुए उन्होंने अपने जीवनमें अन्त समयतक भगवान्की सेवामें ही शान्ति लाभ किया । ॥

(४३) स्वामी श्रीसत्यानन्दजी तीर्थ

१-धर्म, अर्थ, काम, मोक्षस्वरूप चतुर्वर्गकी प्राप्तिके लिये ईश्वरको मानना चाहिये । आर्त्त, जिज्ञासु, अर्धार्थी और ज्ञानी चारों प्रकारके मनुष्य अपने-अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये ईश्वरका आराधन करते हैं । सर्वतोभावेसे समाराधन क्रिये गये भगवान् अपने आराधकके बशीभूत होकर उसके सकल अनुरोधोंको पूर्ण करते हैं । भगवान्की मुष्टि भगवान्को नहीं माननेसे नहीं हो सकती, अतः भगवान्की सन्तुष्टिके लिये भगवान्को मानना चाहिये तथा भगवान् ही केवल सत्य, आनन्द और ज्ञानस्वरूप हैं । तदतिरिक्त निखिल प्रपञ्च असत्य, दुःखमय और लब्ध है अतः सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् ही माननेयोग्य हैं । अथवा भगवान् ही सब प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामिरूपसे विराजमान होकर उनकी अपनी वासनानुसार उन्हें

शुभाशुभ-मार्गमें प्रेरणा करते हैं अतः वह शुभ-मार्गमें ही हमारी बुद्धिबुक्तियोंको प्रेरणा करें—एतदर्थ भी भगवान्की अनुकूलता-प्राप्तिके लिये भगवान्को मानना चाहिये । जिसके अज्ञानसे यह संसार-जाल बिजृम्भमाण हो रहा है और जिसके ज्ञानसे इससे मुक्ति होती है, उस आत्म-तत्त्वके साक्षात् अपरोक्ष ज्ञानकी प्राप्तिके लिये भी भगवान्के शरण ही शरण है । अतएव यह कहा गया है—

यद्धंजनाम चरणेष्वणयोरुभयकथा

चेतोमलानि विषमेद्गुणकर्मजानि ।

तस्मिन् विगुह्य उपलभ्यत आत्मतत्त्वं

साक्षाद्दयामलदशोः सवितृप्रकाशः ॥

२-पूर्वप्रश्नोत्तरमें ईश्वरको माननेसे जो-जो लाभ

॥ पूज्य शास्त्रीजी महाराजने कृपा करके काशीमें मुझे भगवान्की हस्त मूर्तिके दर्शन कराये थे । —इनुमानप्रसाद बोहार

वर्णन किये गये हैं ईश्वरको न माननेसे उनका अकारण ही प्रथमतः हानि है। केवल यही नहीं, किन्तु आसुरभाव-प्राप्ति-पूर्वक घोरतर नरककी भी प्राप्ति होती है, एवं इष्ट-नाश और अनिष्ट-प्राप्तिरूप हानिसे बचनेके लिये भी ईश्वर आराधनीय है। ईश्वरको न माननेवाले हिरण्यकशिपु, रावण, कंस प्रभृति आसुर जगत्की अशान्तिरूप हेतु हुए हैं

अतः ईश्वरको न माननेसे जगत्की अशान्तिरूप हानि भी होती है।

३-ईश्वरके अस्तित्वमें सबसे प्रबल प्रमाण श्रुति (वेद) है। अतएव श्रीभ्यास भगवान् उत्तर भीमांसामें 'शास्त्र-योनिस्थात्' इस सूत्रमें शास्त्र (श्रुति) की ही परमात्मा-के विषयमें प्रमाणरूपसे उपन्यास करते हैं, तथा शास्त्रका कारण भी परमात्माकी ही निरूपण करते हैं। × × × ×



(४४) श्रीमहम्मद हाफिज सय्यद एम० ए०, लन्दन

१-क्योंकि ईश्वरमें विश्वास करना अक्षय शान्ति और सुखका ध्रुव मार्ग है। जिन लोगोंको इस बातका ज्ञान है कि शरीर, मन और बुद्धि नहीं है, बल्कि इनकी अपेक्षा कोई एक महान् वस्तु है, उन्हें अनुभव होने लगता है कि उनके पास मन और बुद्धिकी अपेक्षा कोई अधिक स्थायी वस्तु है जो उनके अन्दर निवास करती है। यह आत्मा है जो विकास, ध्वंस अथवा मृत्युको नहीं प्राप्त होता। यह सदा सत्य रहता है। इस आत्माके ज्ञान तथा अनुभवसे मनुष्य कालान्तरमें भगवत्प्राप्ति करता है। अब भगवत्प्राप्ति का जाता है तब मनुष्य शान्ति, विभूति और आनन्द—सब कुछ पा जाता है जो मानवी प्रयत्नका प्रधान लक्ष्य होता है। हम इन्द्रियोंके विषयरूपी जङ्गलमें इसीलिये भटकते रहते हैं, लज्जित और तृष्ण वस्तुओंके पीछे दौड़ते रहते हैं—कि कहीं क्षणभरके लिये भी हमें सुख मिल जाय परन्तु जब हमको उनसे सन्तोष नहीं होता, तब हम उनकी अपेक्षा अधिक स्थायी वस्तुकी खोज करते हैं। तब हमारा ध्यान अन्तर्मुख होता है और हम देखते हैं कि हमारे अन्वेषणका विषय हमारा अपना ही आत्मा है। आत्माका वास्तविक स्वभाव आनन्द है इसलिये जो मनुष्य अपने आत्मामें ही रममाण रहना सीखते हैं वह स्वभावतः प्रभूत आनन्दको प्राप्त करते हैं। हमारा ही आत्मा सत्यका आत्मा है। आत्मा एक ही है जो समानरूपसे सबके हृदयमें निवास करता है। यही आत्माओंका आत्मा और प्राणोंका प्राण है, यही जीवन है और आभ्यन्तरिक प्रकाश है। इस एक आत्माको जानना ही सबको, ब्रह्मको, परमात्माको जानना है। आत्मा जीवामाके रूपमें तबतक कदापि यथार्थ शान्ति और सुखका अनुभव नहीं कर सकता, जबतक उसे परमात्माका प्रत्यक्ष नहीं होता।

जब मनुष्य अपने दैहिक जीवनमें अपनी वास्तविक सत्ता अर्थात् आत्माका अनुभव करता है तभी उसे परमात्माका प्रत्यक्ष ज्ञान, विश्वास और निष्ठा होती है।

२-इस प्रश्नका उत्तर भी पहले प्रश्नके उत्तरमें ही आभासित हो चुका है। जैसे दृष्टिकोणसे ईश्वरमें विश्वास नहीं करनेसे ईश्वरका कुछ नहीं बिगड़ता, बल्कि उस मनुष्यकी ही हानि होती है जो विश्वास न रखनेके कारण अपनी सत्ताके शाश्वत श्रोतके साथ सम्बन्ध रखने तथा उसके ज्ञानके द्वारा प्राप्त होनेवाली शक्ति, शान्ति और आनन्दसे वञ्चित रह जाता है। निम्न तथा विकासके दृष्टिकोणसे कोई हानि नहीं है। मनुष्यके विश्वास या अविश्वासके द्वारा ईश्वरकी वास्तविकता अथवा शाश्वत सत्ताका ह्रास या विकास नहीं होता।

ईश्वरकी सत्ताका चाहे कितना ही खण्डन अथवा निषेध किया जाय इससे उसमें किञ्चिन् भी कमी नहीं आ सकती। वह सदा ही विद्यमान रहता है। आज जो ईश्वरमें विश्वास नहीं करते वह कल या दूसरे जीवनमें अपना मत बदल सकते हैं। समय आनेपर सबको विकसित, प्रसरित और उन्नत होना पड़ेगा। मनुष्य जैसे ही विकसित होता जाता है वैसे ही क्रमानुसार ईश्वरकी सत्तामें उसका विश्वास भी बढ़ता जाता है।

३-कोई नहीं, क्योंकि ईश्वरके अस्तित्वके समर्थनमें जो हेतु या प्रमाण सामान्यतः उपस्थित किये जाते हैं वे सन्तोषप्रद नहीं होते। कार्य-कारण-भाव, कर्तृत्व, नियामकता तथा पाप-पुण्य-सम्बन्धी हेतु ईश्वरमें निष्ठा खानेके लिये पर्याप्त नहीं होते। इनपर गम्भीर आक्षेप हो सकते हैं। उनका यहाँ विस्तृत विवेचन नहीं किया जा सकता। एकमात्र और अत्यन्त निश्चित प्रमाणका

आविर्भाव मनुष्यके मनमें सब होता है जब वह उस आत्मानुभवके मार्गपर चलने लगता है जिसका उल्लेख उपर्युक्त पंक्तियोंमें किया जा चुका है।

४-ईश्वरकी दयासे सम्बन्ध रखनेवाली अपने जीवनकी किसी घटनाका वर्णन मैं नहीं करना चाहता, इसप्रकारकी घटनाएँ मेरे लिये सदासे प्रचुर प्रमाणमें होती आयी हैं।

(४५) हनुमानप्रसाद पोद्दार

हनु प्रश्नोंपर बहुत बड़े-बड़े प्रातःस्मरणीय पूज्य-चरण महाराजों और विद्वानोंने उत्तर लिखने-लिखवानेकी कृपा की है, फिर सुख-सरीखा व्यक्ति क्या लिखे? पहले तीन प्रश्नोंपर तो कुछ लिखनेकी आवश्यकता ही नहीं। कारण, प्रथम तो ईश्वरके स्वरूप और तत्त्वका यथार्थ ज्ञान भगवत्-प्राप्त-पुरुषोंको ही होता है। और जिनको होता है वे भी वाणी-द्वारा उसका निर्वचन नहीं कर सकते। दूसरे 'ईश्वर' में और हनु प्रश्नोंके उत्तरमें यथेष्ट बातें कही जा चुकी हैं। तीसरे मेरा कोई अधिकार भी नहीं। वास्तवमें अनुभवकी दृष्टिसे तो ऐसे प्रश्न ही नहीं बन सकते। इसके सिवा ईश्वरका जो कुछ वर्णन होता है, वह अपूर्वा ही होता है। वर्णनका विषय ईश्वर, यथार्थ ईश्वर-स्वरूपसे बहुत ही नीचे उतरा हुआ होता है। जो बुद्धि-मन-वाणीके परेकी चीज है, उसका कोई क्या वर्णन करे? निर्गुण रूप स्वसंवेद्य है। सगुण-साकार रूप ऐसा मनमोहक और पागल बना देनेवाला है, जिसको देखकर जनक-जैसे ज्ञानी राजर्षि चकित और डरमत्त हो जाते हैं। भगवान् श्रीराम-लक्ष्मणको पहले पहल देखकर राजर्षि जनक, महर्षि श्रीविश्वामित्रसे कहते हैं—
कहहु नाथ मुन्दर दंड बालक। मुनि-कुल-तिलक कि नृप-कुल-पालक॥
सहज विरागरूप मन मोर। यकित दंड जिमि चन्द चकोर॥
इन्हि बिलोकत अति अनुराग। बरवस ब्रह्ममुहूर्ति मन लाग॥

अतएव हनु प्रश्नोंपर मैं कुछ भी न लिखकर, चतुर्थ प्रश्नके उत्तरमें कुछ लिखनेकी चेष्टा करता हूँ।

सच्चिदानन्द्वन श्रीभगवान्की सत्ताका प्राणीमात्रको पल-पल और पद-पदपर प्रत्यक्ष होता है। भगवान्की सत्तासे ही सबकी सत्ता है। कहनेऔर सुननेवाला चेतन-सत्ता-धारी प्राणी भगवान्की सत्ताको अस्वीकार कर ही नहीं सकता, जो करता है वह डरमत्त प्रकट करता है और प्रकारान्तरसे भगवत्-सत्ताकी ही शोषणा करता है।

इसी प्रकार, हम जिस स्थितिमें स्थित होकर इस समय किया कर रहे हैं, उस स्थितिमें, ईश्वर केवल सच्चिदानन्द्वन होनेपर भी, ईश्वरकी दयाका भी बीसे ही

पल-पल और पद-पदपर प्रत्यक्ष होता है जैसे उनकी सत्ताका। भगवान्की दयासे मनुष्य अपने जीवनमें ऐसे-ऐसे महान् विलक्षण अनुभव करता है जिनके सम्बन्धमें सहसा सर्वसाधारणके सामने कहना-सुनना मोहवश अविश्वासके उपादान करनेके सिवा और कुछ फल उत्पन्न नहीं करता। जिन दिव्य और अलौकिक रहस्योंको भगवत्-कृपामें भगवत्-प्रेमी जान पाता है, कहा जाता है कि वे इतने शुद्ध, इतने सूक्ष्म और इतने गम्भीर होते हैं कि न तो उनकी किसी लौकिक प्रमाणासे सिद्ध की जा सकती है, न किसीकी लौकिक बुद्धिमें वे बातें आ सकती हैं और न उनके प्रकट करनेकी कोई आवश्यकता ही होती है।

इतना सब होनेपर भी वे बातें इतनी सत्य, इतनी प्रत्यक्ष और इतने तथ्यकी होती हैं कि दूसरेको समझाने और उनके सत्य सिद्ध करनेका साधन या उपाय दृष्टिगोचर न रहनेपर भी, जिसको वे प्राप्त होती हैं, उसके लिये वे उतनी ही अपरोक्ष हैं जितना अपने लिये अपना आराम। एक मनुष्यको किसी अत्यन्त एकान्त स्थलमें किसीके द्वारा अमर फल प्राप्त हो जाय और वह उसके महान् स्वादका अनुभव करनेके साथ ही उसे खाकर अमर हो जाय और फिर वह चाहे इस बातको प्रमाणोंसे, युक्तियोंसे सिद्ध न कर सके तो इससे न तो उसका अनुभव मिथ्या होता है और न उसे दूसरेको समझाकर उससे सचाईका प्रमाण-पत्र लेनेकी आवश्यकता ही रहती है। इसी प्रकारकी अनेकों रहस्यमयी बातें भगवत्-कृपासे भक्तोंके अध्यात्म-जीवनमें हुआ करती हैं, पर उनका पता उनको और उनके भगवान्को ही होता है। भगवान् कहते हैं—

साधवो हृदयं मद्धं साधूनां हृदयं त्वहम्।

मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि॥

ज्यों-ज्यों मनुष्य भगवत्-कृपाका अधिकाधिक प्रत्यक्ष करता है त्यों-ही-त्यों वह भगवत्-रहस्यके राज्यमें प्रवेश करता है, परन्तु—

‘भगवतरसिक रसिककी बातें,
रसिक बिना कांठ समुद्रि सके ना ।’

ऐसी रहस्यकी बातोंके विषयमें मैं क्या लिखूँ ? मेरी तो बड़ी प्रार्थना है कि दैवीसम्पदासम्पन्न प्रेमी महापुरुषोंके जीवनकी ऐसी, ईश्वरकी दयासे होनेवाली दिव्य घटनाओंकी सत्यतापर पूर्ण विश्वास करनेमें ही लाभ है ।

सांसारिक विषयोंमें तो भगवान्की दया स्वीकृत्यमें भी दर्शन देती रहती है । परन्तु मनुष्योंको यह एक महाभ्रम हो रहा है कि धन-जन-मान आदि सांसारिक वस्तुओंकी रक्षा और प्राप्तिमें ही वे भगवान्की दया समझते हैं, उनकी अप्राप्ति और विनाशमें नहीं । वास्तवमें भगवान्की दया दोनों ही प्रकारसे होती है । कई बार मनुष्यके जीवनमें ऐसी घटनाएँ होती हैं जो उस समय देखनेमें बड़ी भयानक, अवाञ्छित, दुःखदायिनी और अपनी इच्छाके प्रतिकूल प्रतीत होती हैं और उस समय मनुष्य भ्रम-वश नारदके मोहकी भाँति भगवान्को कोसने भी लगता है, परन्तु जब उनका अन्तिम परिणाम प्रकट होता है, तब मोह-निशाका नाश होता है और भगवद्-नुग्रहरूप भुवनभास्करके दिव्य प्रकाशसे उसका मन-पद्म प्रफुल्लित हो उठता है । उस समय उसके रोम-रोममें अपने-आप ही भगवान्के प्रति हार्दिक कृतज्ञताकी ध्वनि निकलने लगती है, चित्त उस चिन्ताहरण चतुर-ब्रह्ममणि-के चिन्तनमें संलग्न हो जाता है । वास्तवमें विषयी पुरुषोंकी दृष्टिमें जो अशुभ घटनाएँ हैं, वही परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें ईश्वर-दयाका एक प्रकारका प्रकाश है, जो साधक-के यथार्थ कल्याणके लिये ही संबंद्धित होती है ।

मनुष्यके जीवनमें इसप्रकारकी अवाञ्छित और अनो-चाङ्छित फलके रूपमें प्रकट होनेवाली दयाके दर्शन अगणित बार होते हैं; मेरे जीवनमें भी ऐसी अगणित घटनाएँ हुई हैं और हो रही हैं । परन्तु न तो उन सबका स्मरण ही रहता है और न, जिनका स्मरण है उन सबके प्रकाश करनेका स्थान, सुप्रबसर और संकल्प ही है । यहाँ सिर्फ मौतके मुँहसे बचनेकी तीन घटनाओंका वर्णन करना चाहता हूँ, जिनसे भगवान्की सत्ताका कुछ पता लगता है ।

(क) सन् १८९६ ई० में आसाममें मयानक भूकम्प हुआ था, उस समय मेरी उम्र लगभग चार वर्षकी थी । शिलांग (आसाम) में हमारा कारबार था । मेरे दादाजी कनीरामजी वहाँ रहते थे । पिताजी

कलकत्ताका कारबार संभालते थे । माताजीकी बहुत छोटी उम्रमें मृत्यु हो जानेसे मेरी दादीजीने मुझको पाका । उनका मुझपर जो खेह था एवं उन्होंने मेरे लिये जितने कष्ट सहे, उसका बदला मैं हजार जन्म सेवा करके भी नहीं चुका सकता । उनके जीवित रहते मैंने इस ओर पूरा ध्यान नहीं दिया, अब पछतानेसे कोई लाभ नहीं । जिनके माता-पिता आदि जीते हैं, उन्हें बड़ा सौभाग्य प्राप्त है, वे जीभर उनकी सेवा करके आनन्द लूट लें, नहीं तो पीछे मेरी तरह पश्चात्तापके सिवा प्रयत्न सेवाका और कोई साधन नहीं रहेगा । अस्तु । मैं दादीजीके पास शिलांगमें रहता था । मेरी एक बूआ भी वहाँ आयी हुई थीं, उनके दो सन्तान थीं—एक कन्या और एक पुत्र । वे दोनों मेरे समवयस्क थे । हम तीनों साथ-साथ खेला करते । भूकम्पके दिन हमारे निकटवर्ती श्रीभजनलाल श्रीनिवासके यहाँ किसी ब्रतका उद्यापन था । उनके यहाँ हमें भोजन करने जाना था । बूआजीके दोनों बालकोंने जानेसे इन्कार कर दिया, मैं अकेला ही गया, वे घरपर रह गये । सन्ध्याका समय था, लगभग पाँच बजे होंगे । मैंने श्रीभजनलाल श्रीनिवासके गोठेके पीछे रसोईमें जाकर भोजन किया, रसोईसे निकलकर गोठेमें घुस ही रहा था कि चरती बड़े जोरसे काँप उठी, मैं चिन्ताया और मेरे आस-पास पथरोंकी वर्षा होने लगी । सारा सकान मिनटोंमें ही ध्वंस हो गया । मैं दब गया । परन्तु आश्चर्य ! मेरे चारों ओर पथर हैं, उनपर एक तल्ला था गया और उसके ऊपर पथरोंका पहाड़ । मैं मानो खोहमें—झाली गुफामें पड़ गया । पता नहीं, वायुके आने-जानेका रास्ता कैसा रहा, परन्तु मैं मरा नहीं । भूकम्प बन्द होनेपर मूसलधार वर्षा हुई और उसी समय हमारे बगलके एक गोठेमें आग लग गयी, चारों ओर हाहाकार मचा था । कौन दबा, कौन बचा, कुछ पता नहीं । दादाजी हम तीनों बालकोंकी खोजमें लगे । मेरी बूआके दोनों बालक गोठेके पथरोंके नीचे मरे मिले । मेरी बड़ी बूआजीके पौत्र मुझसे कुछ वर्षों उम्रके श्रीराम गोयनकाकी भी लाश मिली, ढूँढ़ते और पुकारते दादाजी भजनलाल श्रीनिवासके गोठेके पास आये । वे बड़े जोरसे पुकार रहे थे ‘मब् मब् ।’ मैंने आवाज सुन ली । जन्हा-सा बालक था, भयभीत था, रो रहा था, परन्तु न माऊँस किस प्रेरणासे मैंने अकस्मिक ओरसे

बत्तर दिया, 'यहाँ हैं, जल्दी निकालिये।' पत्थरोंका डेर हटाया गया। मैं निकलकर दादाजीके गोदी चढ़ गया, उन्होंने हृदयमे लगा लिया। दोनों रोने लगे। उनके रोनेके कई अर्थ थे। दादीजी तबतक अपने इष्ट श्रीहनुमान्जीकी याद कर रही थीं। हनुमान्जीने उनकी पुकार सुनी,— बूआजीके बालकोंने दबनेका दुःख भ्रमभरके जिये कुछ हल्का हो गया।

तबमे शिलांगमें पत्थर-चूनेसे मकान नहीं बनते। तल्ले और टीनोंके ही होते हैं।

(ख) सन् १९१९ की बात है मैं बम्बईमें रहता था। रातको अपने फूफाजी श्रीलक्ष्मीचन्दजी कोहियाके घरपर, जो बम्बईमे कुछ दूर बी० बी० एण्ड सी० आई० रेलवेके शान्ताक्रुज-स्टेशनके पं० श्रीशिवदत्तरायजी वकीलके बँगलेमें रहते थे, जाकर खाया और सोया करता था। एक दिनकी बात है। रातको करीब ८ बजे थे, कृष्णपक्षकी अँधेरी रात थी। मैं लोकल ट्रेनमे जाकर शान्ताक्रुजके प्लेटफार्मपर उतरा। अब तो दोनों ओर प्लेटफार्म हैं, उस समय एक ही ओर था और रोशनीकी भी प्रबन्ध नहीं था। न इजिनके सर्वलाइट थी। श्रीशिवदत्तरायजीके बँगलेमें जानेके लिये रेलवे लाइन लाँचकर उस ओर जाना पड़ता था। मैंने बेवकूफी की। दौड़कर इजिनके सामनेमे लाइन पार करने चला। लोकल ट्रेन एक ही मिनट ठहरती है। मैं नया था, मैंने समझा, गाड़ी छूटनेमे पहले ही मैं लाइन पार जाऊँगा। परन्तु ज्यों ही मैंने लाइनपर पैर रखला त्यों ही गाड़ी छूट गयी, परन्तु ईश्वरीय प्रेरणा और प्रबन्धमे उसी समय, किसी अज्ञात पुरुषमे मेरा हाथ पकड़कर जोरमे खींच लिया। मैं दूसरी लाइनपर जाकर गिर पड़ा, गाड़ी सराँटेसे निकल गयी। तीन काम एक साथ हुए—मेरा लाइन लाँचने जाना, गाड़ी छूटना और अज्ञात व्यक्तिद्वारा खींचा जाना। एक-ही-ही सेकण्डके विलम्बमें मेरा शरीर चकनाचूर हो जाता। परन्तु बचानेवाजे प्रभुने उस अँधेरी रातमें उसी जगह पहले ही मुझे बचानेका प्रबन्ध कर रक्खा था। मैं थर-थर काँप रहा था, ईश्वरकी दयालुतापर मेरा हृदय गदगद हो रहा था। आँखोंसे आँसू बह रहे थे। मैंने स्टेशनके पुँचजे प्रकाशमें देखा, एक नौजवान बोहरा मुसलमान चढ़ा ईस रहा है और बड़े प्रेमसे बह रहा है—'आइन्दा ऐसी गलती न करना,

आज भगवान्ने तुम्हारे प्राण बचाये।' मैंने मूक अभिनन्दन किया, कृतज्ञता प्रकट की। लाइनपर रोशनी गिरा था, परन्तु दाहिने पैरमें एक रोड़ा जरा-सा गड़नेके सिवा मुझे कहीं चोट नहीं लगी। मैं दौड़कर घर चला गया। और ईश्वरको याद करने लगा।

(ग) सन् १९२६ की बात है। मैं लक्ष्मणगढ़ (जयपुर) के भाई श्रीलच्छीरामजी चूड़ीवालाके धन और परिश्रमसे स्थापित ऋषिकुलके उरसवमें शरीक होनेको बम्बईसे जा रहा था। अहमदाबादमे दिल्ली-एक्सप्रेसके द्वारा रवाना हुआ। मैं सेकण्ड क्लासमें था, मेरे साथ एक छोटा ब्राह्मण-बालक ऋषिकुलमें भर्ती होने जा रहा था। मैं इधरकी एक सीटपर सोया था और सामनेकी सीटपर वह सोया था। दूसरे दिन सुबह अन्दाज पाँच बजे थे। ब्यावर-स्टेशनपर एक टी० टी० महोदय हमारे डिब्बेमें सवार हुए। मैं जिस सीटपर सोया था, उसीपर मेरे पैरोंके पास वे बैठ गये। मैं जग रहा था, अपने पैरोंके पास किसीका बैठना मुझे अच्छा नहीं लगा, इससे शिष्टाचारके नाते मैं उठ बैठा। सोया था तब मेरा सिर सीटकी अन्तिम तीसरी खिड़कीके पास था, जागकर बैठा तो वह खिड़की खाली हो गयी, मैं बीचकी खिड़कीके पास बैठ गया और टी० टी० महोदय इधरकी तीसरी खिड़कीके पास बैठे थे। तीनों खिड़कियाँ बन्द थीं, मैं टी० टी० महोदयके साथ बातें कर रहा था। इतनेहीमें पीछेसे बड़े जोरकी आवाज हुई और दूसरी सीटपर सोये हुए ब्राह्मण-बालकने एक चीख मारी। हमलोग भीचकें रह गये। पीछे घूमकर देखा तो मालूम हुआ कि एक बहुत बड़ा पत्थर खिड़कीके काँचके लगा, खिड़कीका बहुत मोटा काँच चूर-चूर हो गया और उसके टुकड़े उड़ल-उड़लकर सब तरफ बिखर गये। उसीका एक जरा-सा टुकड़ा बालकके सिरमें लगा था, इसीसे उसने चीख मारी थी, मैं सोया होता तो अवश्य ही खिड़कीके पास मेरा सिर रहता और वह जरूर ही पत्थर और काँचकी चोटसे टूट जाता। परन्तु बचानेवाजेने टी० टी० महोदयको भेजकर मुझे प्रेरणा की, मैं बैठा हो गया और बच गया। यह घटना अजमेरके पास मकरेरा और सरचना स्टेशनके बीचकी है। टी० टी० महोदयने कहा कि यहाँ अन्तर ऐसी घटनाएँ हुआ करती

हैं। छजमेरमें टी० टी० महोदयने कमरा साफ करवाया। और उन्हींकी कृपासे मैं शीशा तोबनेके इलजामके बखेबसे सहज ही बच गया।

अपने ही सम्पादकत्वमें निकलनेवाले पत्रमें, अपने ही

किये हुए प्ररनोंके उत्तरमें, अपने ही जीवनकी घटनाओंका वर्णन लिखना छटता है। लिखना नहीं चाहता था, परन्तु कुछ मित्रोंकी हृष्ट्या देखकर अन्तमें संक्षेपमें दो-चार बातें लिख दी हैं। विद्वान् गुरुजन और पाठकगण क्षमा करें।

चित्र-परिचय

भगवद्गाराधन—(रङ्गीन) ऊपरका मुखपृष्ठ, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, राजा-प्रजा, साधु-संन्यासी, स्त्री-पुरुष सब भक्तिभावसे भगवान्की अर्चनामें रत हैं।

भगवान् श्रीकृष्णरूपमें—(रङ्गीन) पृ० (३५) भगवान् श्रीकृष्णरूपमें बाँसुरी लिये विराज रहे हैं। ध्यान करनेयोग्य अग्र्यन्त ही मनोहर छवि है।

महर्षि वेदव्यास—(सादा) पृ० ८, महर्षि वेद-व्यास प्रस्थानत्रयीकी रचना कर रहे हैं।

महर्षि पतञ्जलि—(सादा) पृ० ८, योगसूत्र, व्याकरण, महाभाष्य आदि शास्त्रोंके रचयिता महर्षि पतञ्जलि समाधिस्थ बैठे हैं।

भगवान् मत्स्यरूपमें—(रङ्गीन) पृ० २४, भगवान् मत्स्यावतारके रूपमें हैं। विशेष विवरणके लिये 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

महर्षि कपिल—(सादा) पृ० ४०, सांख्यशास्त्रके निर्माता महर्षि कपिल वनमें नदीके तटपर तप कर रहे हैं।

महर्षि जैमिनि—(सादा) पृ० ४०, मीमांसा-शास्त्रके रचयिता महर्षि जैमिनि मण्डपमें बैठे यज्ञ-कुण्डमें हवन कर रहे हैं।

भगवान् कूर्मरूपमें—(रङ्गीन) पृ० ५१, भगवान् कूर्मावतारके रूपमें हैं 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

महर्षि कणाद—(सादा) पृ० ७३, वैशेषिक-शास्त्रके प्रणेता महर्षि कणाद अपने आश्रमके समीप बैठे प्रवचन लिख रहे हैं।

महर्षि गौतम—(सादा) पृ० ७२, न्यायदर्शनके रचयिता महर्षि गौतम अपने आश्रममें बैठे शास्त्रार्थ कर रहे हैं।

भगवान् वराहरूपमें—(रङ्गीन) पृ० ८०, भगवान् वराहावतारके रूपमें हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

देवर्षि नारद—(सादा) पृ० ११, देवर्षि नारदजी

भगवान्के प्रेममें भक्त हुए धीया बजाते हुए हरि-नाम-कीर्तन कर रहे हैं और भगवान् वृद्धकी ओटमें छिपे अपने भक्तकी भावना देखकर मुग्ध हो रहे हैं।

महर्षि शाण्डिल्य—(सादा) पृ० १६, महर्षि शाण्डिल्य भगवान्की आराधना करके सामने बैठे भक्ति-सूत्र लिख रहे हैं।

भगवान् श्रीनृसिंहरूपमें—(रङ्गीन) पृ० १०४, भगवान् श्रीनृसिंहावतारके रूपमें हैं। भक्त प्रह्लादको गोदमें लेते ही आपका क्रोध शान्त हो गया है और बड़ी ही स्नेहभरी दृष्टिसे आप उसे देख रहे हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

राजा जनक और शुकदेव मुनि—(सादा) पृ० १२०, राजा जनक सिंहासनपर आसीन हैं। बालयोगी श्रीशुकदेव मुनि उनके यहाँ ब्रह्मज्ञान सीखने गये हुए हैं। राजाने उन्हें अपने सामने सुन्दर जैँचा आसन दिया है। शुकदेव मुनि आसनपर बैठे विदेह महाराज जनकका उपदेश श्रवण कर रहे हैं।

भगवान् वामनरूपमें—(रङ्गीन) पृ० १२८, भगवान् वामनावतारके रूपमें हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

भगवान् परशुरामरूपमें—(रङ्गीन) पृ० १२९, भगवान् परशुरामावतारके रूपमें हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृ० ४६३ देखिये।

भगवान् श्रीरामरूपमें—(रङ्गीन) पृ० १७१, भगवान् श्रीरामावतारके रूपमें हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृ० ४६३ देखिये।

भगवान् श्रीबलरामरूपमें—(सादा) पृ० ११२, भगवान् श्रीबलरामजीके रूपमें हल और मूलख लिये विराजमान हैं। पृष्ठ ४६३ देखिये।

नन्दनन्दन—(रङ्गीन) पृ० २००, भगवान् नन्दनन्दन गौके समीप लगे वंशी बजा रहे हैं। कैसी मनोहर छवि है !

महर्षि वाल्मीकि—(सादा) पृ० २०८, महर्षि वाल्मीकिजी वनमें सुगन्धालापर बैठे ध्यान कर रहे हैं, उनके पास वनके हरिण, सिंह, मोर और गौ आदि अपने स्वभावको भूलकर प्रेमपूर्वक विचर रहे हैं।

भगवान् बुद्धरूपमें—(रङ्गीन) पृ० २२४, भगवान् श्रीबौद्धावतारके रूपमें हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

भक्त-रक्षा—(सादा) पृ० २४०, द्रौपदीका चौर दुःवासन खींच रहा है, भगवान् अन्तरिक्षसे चौर बड़ा रहे हैं, प्रसिद्ध कथा है।

भगवान् कल्किरूपमें—(रङ्गीन) पृ० २४८, भगवान् श्रीकल्कि-अवतारके रूपमें हैं। 'दशावतार' शीर्षक लेख पृष्ठ ४६३ देखिये।

श्रीशङ्कराचार्य—(सादा) पृ० २१४, आचार्यप्रवर श्रीआद्य शङ्कराचार्य महाराज अपनी शिष्य-मण्डलीको उपदेश दे रहे हैं।

श्रीविष्णु भगवान्—(रङ्गीन) पृ० २७१, भगवान् विष्णुरूपमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये कमलासन-पर स्थित हैं।

आदर्श हिन्दू-नारी—(सादा) पृ० २८८, सांसारिक भोग-विलासमें मन न लगानेवाली गृह-कार्यमें दक्ष हिन्दू-रमणी आत्मान्त प्रेमपूर्वक भगवान्की पूजा कर रही है। ऐसी देवियोंमें ही हिन्दू-गृहकी शोभा बढ़ती है। धन्य है वह परिवार, जहाँ इसप्रकारकी भगवद्भक्तिपरायणा सुशीला नारी निवास करती है।

श्रीनामदेवजी—(सादा) पृष्ठ २८१, महाराष्ट्रके परम भक्त श्रीनामदेवजीने रोटीयाँ बनाकर रखी थीं, आप लघुशंकाको गये थे कि हूतनेमें कुत्ता रोटी लेकर भाग चला। श्रीनामदेवजी, जो सबमें भगवान् देखते थे, उसके पीछे यह कहते हुए दौड़ रहे हैं कि 'भगवान् रोटीयाँ रखी हैं, मुझे भी लगाने दीजिये तब भोग लगाइये।' भगवान्ने कुत्तेका रूप त्यागकर शङ्ख-चक्र-गदा-पद्म धारण किये हुए अपने चतुर्भुजस्वरूपसे उन्हें दर्शन दिया।

श्रीभगवान् शंकर—(रंगीन) पृष्ठ २१६, भगवान् शंकररूपमें सुगन्धालापर ध्यानस्थ बैठे हैं।

श्रीरामानुजाचार्य—(सादा) पृष्ठ ३०४, वेदान्त-विशिष्टाद्वैत-मतके संस्थापक, गीता, प्रश्नोपनिषद् और ब्रह्मसूत्रके प्रमुख भाष्यकार श्रीस्वामी रामानुजाचार्य बैठे भगवान्की पूजा कर रहे हैं।

श्रीवल्लभाचार्य—(सादा) पृष्ठ ३०४, वेदान्तके शुद्धाद्वैत-मतके संस्थापक, श्रीस्वामी वल्लभाचार्यजी बैठे हुए हैं।

श्रीमध्वाचार्य—(सादा) पृष्ठ ३०४, वेदान्तके द्वैत-मतके संस्थापक, स्वामी श्रीमध्वाचार्यजी शास्त्र-मनन कर रहे हैं।

श्रीनिम्बार्काचार्य—(सादा) पृष्ठ ३०४, वेदान्तके द्वैताद्वैत-मतके संस्थापक स्वामी श्रीनिम्बार्काचार्य।

भगवान् शक्तिरूपमें—(रंगीन) पृष्ठ ३२०, भगवान् दशभुजाधारिणी शक्तिके रूपमें महिषासुरका नाश कर रहे हैं।

श्रीचैतन्य महाप्रभु—(सादा) पृष्ठ ३३१, श्रीगौराङ्ग महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य हरि-नाम-कीर्तनमें तन्मय हो रहे हैं। श्रीचैतन्यदेवकी विम्लत जीवनी गीताप्रेससे निकल रही है। चैतन्य-चरितावलीके नामसे पहला भाग निकल चुका है।

स्वामी नित्यानन्द—(सादा) पृष्ठ ३३१, महाप्रभु चैतन्यदेवके साथी परम भक्त श्रीनित्यानन्दजी सबकपर हरि-नाम-कीर्तन करते हुए चले जा रहे हैं।

अद्वैताचार्यजी—(सादा) पृष्ठ ३३७, श्रीचैतन्य महा-प्रभुके साथी अद्वैताचार्यजी हरि-नाम-कीर्तनमें मग्न हो रहे हैं।

भक्त हरिदासजी—(सादा) पृष्ठ ३३७, श्री-भगवद्धामके मतवाले यवन हरिदासजीको धर्मान्ध मुसलमान मार रहे हैं, वे शान्तिसे मार सहते हुए जोर-जोरसे हरि-नाम उच्चारण कर रहे हैं।

भगवान् गणपतिरूपमें—(रंगीन) पृ० ३४४, भगवान् श्रीगणेशजीके रूपमें आसीन हैं।

स्वामी श्रीरामानन्दजी—(सादा) पृष्ठ ३१०, उत्तर-भारतमें भगवद्भक्तिके प्रचार करनेवालोंमें अग्रगण्य स्वामी श्रीरामानन्दजी विराजमान हैं।

श्रीकबीरसाहब—(सादा) पृष्ठ ३१०, हिन्दू और मुसलमानोंमें समानरूपसे सार्विक भगवद्भक्तिका प्रचार करनेवाले श्रीकबीरसाहब गद्दीपर आसीन हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी—(सादा) पृष्ठ ३१०, भक्ताग्रगण्य, कविकुल-सुधामणि श्रीरामचरित-मानस-जैसे अमृत ग्रन्थके रचयिता महारमा गोस्वामी श्रीतुलसीदास-जी राम-नाम-परायण हो शास्त्राधिकार कर रहे हैं।

श्रीपयहारीजी और पृथ्वीराज—(सादा) पृष्ठ ३९० ।

श्रीज्ञानेश्वर—(सादा) पृष्ठ ३९१, महाराष्ट्रके सन्तों-में अग्रगण्य गीताकी ज्ञानेश्वरी टीकाके रचयिता भगवान् श्रीज्ञानेश्वर महाराज आसनपर विराजमान हैं ।

श्रीएकनाथ—(सादा) पृष्ठ ३९१, महाराष्ट्रके परम वैष्णव, कवि सन्त श्रीएकनाथजी सृगचर्मपर बैठे ध्यान-मग्न हैं। सर्प ऊपर चढ़ रहा है। एकनाथजीका जीवन-चरित्र अभी गीताप्रेससे निकला है ।

श्रीतुकाराम—(सादा) पृष्ठ ३९१, महाराष्ट्रके परम भक्त श्रीतुकारामजी महाराज बैठे हरिगुणगानमें रत हो रहे हैं ।

समर्थ श्रीरामदास—(सादा) पृष्ठ ३९१, महाराष्ट्रमें भक्ति, ज्ञान और वैराग्यके साथ देशभक्तिका प्रबल प्रचार करनेवाले और छत्रपति महाराज शिवाजीके गुरु समर्थ श्रीरामदास हाथमें माला छिये भगवन्नामका जप करते जा रहे हैं ।

भगवान् सूर्यरूपमें—(रंगीन) पृष्ठ ३९८, भगवान् श्रीसूर्यनारायणके रूपमें रथपर बैठे हैं। रथमें सात घोड़े जुते हुए हैं। सारथि अरुण घंड़ोंको हाँक रहे हैं ।

भगवान् ब्रह्मारूपमें—(रंगीन) पृष्ठ ३९९, भगवान् चतुरानन श्रीब्रह्माजीके रूपमें कमलासनपर बैठे हैं ।

गुरु नानकजी—(सादा) पृष्ठ ४००, पञ्जाबमें भक्ति-का प्रचार करनेवाले हिन्दू और मुसलमानोंको समानरूपसे भगवान्के भजनकी शिक्षा देनेवाले सिक्खोंके आदिगुरु नानकजी गद्दीपर बैठे भगवान्का स्मरण कर रहे हैं ।

श्रीश्रीचन्द्रजी—(सादा) पृष्ठ ४००, गुरु नानकजीके पुत्र तथा उदासीन-सम्प्रदायके संस्थापक श्रीश्रीचन्द्रजी आसनपर बैठे हुए हरिनाम-जप कर रहे हैं ।

श्रीगुरु गोविन्दसिंहजी—(सादा) पृष्ठ ४००, हिन्दू-जातिके रक्षक तथा सिक्ख-सम्प्रदायके संस्थापक गुरु गोविन्दसिंहजी गद्दीपर बैठे हैं ।

श्रीधनजण्डीजी—(नेपालवाले)(सादा) पृष्ठ ४०० ।

स्वामी श्रीरामतीर्थजी—(सादा) पृष्ठ ४०१, जगत्में व्यावहारिक वेदान्तकी शिक्षा देनेवाले प्रसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ स्वामी रामतीर्थजी आसनासीन हैं ।

स्वामी सहजानन्दजी (स्वामिनारायण)—(सादा) पृष्ठ ४०१, स्वामिनारायण-सम्प्रदायके संस्थापक ।

स्वामी मङ्गलनाथजी—(सादा) पृष्ठ ४०१, ऋषि-केशके ब्रह्मलीन महात्मा ।

स्वामी सियारामजी—(सादा) पृष्ठ ४०१, हिमाच्छ-प्रदेशके ब्रह्मलीन महात्मा ।

भगवान् अग्निरूपमें—(रंगीन) पृष्ठ ४१९, भगवान् श्रीअग्निदेवके रूपमें बकरेके पीठपर आसीन हैं ।

श्रीरामकृष्ण परमहंस—(सादा) पृष्ठ ४२२, परम-भागवत ब्रह्मनिष्ठ महात्मा श्रीरामकृष्ण परमहंसको कौन नहीं जानता । बंगालमें भक्तिभावपूर्ण बेदान्त-धर्मके आप सुप्रसिद्ध उपदेष्टा हो गये हैं ।

श्रीप्रभु जगद्गन्धु—(सादा) पृष्ठ ४२२, बंगालके एक महापुरुष ।

श्रीस्वामी विवेकानन्द—(सादा) पृष्ठ ४२२, परमहंस रामकृष्णके शिष्योंमें स्वामी विवेकानन्द सर्वश्रेष्ठ हैं, इन्होंने बेदान्त-धर्मकी कीर्ति-पताका संसारमें, विशेषकर अमेरिका-में फहराकर हिन्दू-शास्त्रोंके प्रति लोगोंमें अज्ञातका प्रसार किया है ।

प्रभुपाद श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी—(सादा) पृष्ठ ४२२, बंगालके प्रसिद्ध महात्मा जटिया बाबा ।

स्वामी विशुद्धानन्द—(सादा) पृष्ठ ४२२, काशीके एक प्रसिद्ध विद्वान् महात्मा हो गये हैं ।

स्वामी भास्करानन्द—(सादा) पृष्ठ ४२२, काशीके एक परम विद्वान् संन्यासी हो गये हैं ।

तैलङ्ग स्वामी—(सादा) पृष्ठ ४२२, काशीके एक सुप्रसिद्ध महात्मा हो गये हैं, आपने २५ वर्षसे अधिक उन्नतक जीवित रहकर इस संसारका त्याग किया ।

सिद्धारूढ़ स्वामी—(सादा) पृष्ठ ४२३, महाराष्ट्र-देशके प्रसिद्ध महात्मा ।

भगवान् दत्तात्रेयरूपमें—(रंगीन) पृष्ठ ४४०, भगवान् श्रीयोगिराज दत्तात्रेयके रूपमें विराज रहे हैं ।

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी—(सादा) पृष्ठ ४५९, याज्ञवल्क्य-जी संन्यास लेकर घरसे जाने लगे तब उन्होंने अपनी दोनों पत्नी कात्यायनी और मैत्रेयीको घरका सामान आधा-आधा बाँट दिया, कात्यायनी तो कुछ नहीं बोली, परन्तु मैत्रेयीने कहा कि 'भगवन् ! क्या इस धनसे मुझे शान्ति मिल जायगी । यदि नहीं तो मुझे वह धन दीजिये, जिससे शान्ति मिले ।' बृहदारण्यक उपनिषद्में यह कथा बड़ी ही उपदेशप्रद है ।

श्रेयार्थी नविकेता और धर्मराज—(सादा) पृष्ठ

४२६, कठोपनिषद्की कथा है। यमराजने ब्राह्मण-बालक नचिकेताको बहुत-से भोग-पदार्थ देने चाहे, परन्तु उसने आरम-तत्त्व जाननेके सिवा और कुछ भी लेना न चाहा, अन्तमें यमराजने उसे ज्ञानोपदेश किया।

गायत्री देवी-(रंगीन) पृष्ठ ४६४, प्रसिद्ध है।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर-(सादा) पृष्ठ ४८८, बंगालके एक महापुरुष।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर-(सादा) पृष्ठ ४८८, ब्राह्मणसमाजके संस्थापकोंमें आप बंगालमें महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर नामसे प्रसिद्ध हैं।

रुद्रामी दयानन्द-(सादा) पृष्ठ ४८८, प्रसिद्ध आर्य-समाजके संस्थापक।

केशवचन्द्र सेन-(सादा) पृष्ठ ४८८, नवीन ब्राह्मण-समाजके संस्थापक।

ऋषि-आश्रम-(रंगीन) पृष्ठ ४९६, वनमें सरिताके तटपर ऋषियोंका आश्रम सुशोभित हो रहा है। ऋषिचन्द्र अपनी-अपनी कुटियोंके सामने बैठे ध्यान कर रहे हैं। एक ऋषि पुष्पपात्र हाथमें लिये पुष्प-चयन कर रहे हैं। आश्रममें एक सिद्ध अपनी हिमक वृत्ति छोड़कर घंटा हुआ है, एक ऋषि-बालक उसके पास बैठा हुआ खेल रहा है। एक दूसरा बालक प्रेमपूर्वक हिरण्यको पकड़े हुए है। दो और बालक हवनकुण्डके समीप कुछ दूरीपर बैठे घंटे पढ़ रहे हैं। पुष्पोंमें आश्रमकी छटा अपूर्व हो गयी है। आश्रमकी दूसरी ओर नदीकी उज्ज्वल धारा अपनी निराली छटासे बह रही है। प्राचीनकालके आश्रमोंका कैसा सुन्दर और मनोहर जीवन होता था, उसका कुछ आभास इस चित्रमें मिलता है।

महात्मा ईसा (सादा) पृष्ठ ५०४, ईसाई-धर्मके संस्थापक और पाश्चात्य देशोंमें भक्तिका प्रचार करनेवाले।

महात्मा ज़रथोश्त्र (सादा) पृष्ठ ५०४, महात्मा ज़रथोश्त्र पारसी-धर्मके संस्थापक।

सुहरान-(सादा) पृष्ठ ५०५, यूनान-देशके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता।

एमर्सन-(सादा) पृष्ठ ५०५, अमेरिकाके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता एमर्सन।

टॉलस्टॉय-(सादा) पृष्ठ ५०५, रूस-देशके प्रसिद्ध

तत्त्वज्ञानी।

जेम्स एलन-(सादा) पृष्ठ ५०५, आधुनिक युगमें इंग्लैण्डमें जेम्स एलन एक प्रसिद्ध व्यावहारिक तत्त्वज्ञानी हो गये हैं।

मीरा-(रंगीन) पृष्ठ ५२१, भगवान्की भक्तिमें लन-मन-प्राण व्योढ़ाकर करनेवाली जगत्की प्रातःस्मरणीया नारियोंमें अग्रगण्य मीराको कान नहीं जानता। यह उसी भक्तिमती मीराका चित्र है। मीरा बीणा हाथमें छिये हरि-गुण-गान कर रही है।

भक्त-वत्सलता-(सादा) पृष्ठ ५३०, महाभारत-युद्ध समाप्त होनेपर दिग्विजय-पराजित भगवान्ने अर्जुनको पहले रथमें उतारनेको कहा, रथमें उतरते ही घोड़ासमेत रथ जल गया, हनुमान्जी आकाशमें उड़ गये। भगवान्ने कहा, रथ तो द्रोण-भिक्षात्रिके वाणोंमें पहले ही जल गया था, हने तो मैंने भस्म होनेसे बचा रक्खा था। महाभारतमें कथा है।

विश्वामो भक्त भूव-(रंगीन) पृष्ठ ५४६, बाळक भूव वनमें मृग-चर्मपर बैठे तप कर रहे हैं।

जगन्-चतुष्टय (रंगीन) पृष्ठ ५५६, वर्णन श्री-ज्योतिषीके लेख पृष्ठ ५५६ में देखिये।

सेंट फ्रांसिस-(सादा) पृष्ठ ५७८, ईसाई महात्मा। भक्ताकमें जीवनी छप चुकी है।

सेंट लुई-(सादा) पृष्ठ ५७८, ईसाई महात्मा।

सेंट कैथेरिन-(सादा) पृष्ठ ५७८, ईसाई भक्त स्त्री, भक्ताकमें जीवनी छप चुकी है।

सेंट एलिजाबेथ-(सादा) पृष्ठ ५७८, ईसाई भक्त-स्त्री, कल्याणमें जीवनी निकल चुकी है।

सेंट गेयो-(सादा) पृष्ठ ५७८, ईसाई-भक्त-महिला।

सेंट टेरेसा-(सादा) पृष्ठ ५७८, ईसाई-भक्त-महिला।

प्रेमी भक्त मुरदास-(रंगीन) पृष्ठ ५८४, भगवान्के महात्मा मुरदासजी तम्बूरा और तबला बजाते हुए हरि-गुण-गानमें मत्त हो रहे हैं।

गजराज-उद्धार-(सादा) पृष्ठ ६१०, गजराजको उबारनेके लिये भगवान् गम्ब छोड़कर आये हैं और ग्राहको जकद्वारा मारकर उसका भी उद्धार कर रहे हैं।